(63)

T.L. No = 3676

Ambala

Kurnala

Gali No 4 = Amritsar

Pawan Kumar

Thakur

Shri Jai Narain Library
Date 10-2-60
No 347
Shri Ranbir Charitable Trust
Jammu

No 347

कल्याण

वर्ष ३०

संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—मुनि-यज्ञ-रक्षा [कविता]	७०५
२—कल्याण ('शिव')	७०६
३—एक महात्माका प्रसाद	७०७
४—धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७०९
५—पहले अमृत-सा, पीछे जहर-सा (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई देसाई)	७१४
६—श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	७१६
७—मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी (परशुराम-पुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्त-श्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीश्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)	७२०
८—सात्त्विकी बुद्धि (श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)	७२२
९—श्रीराधिका-वन्दना [कविता] (श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराणतीर्थ)	७२६
१०—प्रार्थना [कविता] (श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०)	७२६
११—शान्तिकी शक्ति (संत श्रीविनोबाजीका आंध्रमें एक प्रवचन; प्रेषक—बाबा श्रीराघवदासजी)	७२७
१२—इस दैवी सिनेमाका संचालक कौन है ? [कविता] (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, 'ललाम')	७३१
१३—शान्ति कैसे मिलती है ? (अनिकेत अनन्त श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)	७३२
१४—आस्थाकी सायामें [गद्य-काव्य] (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा)	७३७
१५—प्रभु-पद, रज और पाँवरी (पं० श्रीगोविन्द-प्रसादजी मिश्र)	७३८
१६—मन चेत करो [कविता] (भक्त श्रीदीहलजी)	७३९
१७—मैं और वह (डा० शचीन सेनगुप्त)	७४०
१८—परोपकारी झरगद [कहानी] (श्रीवीर-बहादुरसिंहजी चौहान, बी० ए०, प्रभाकर)	७४१
१९—धिक्कार है [संकलित—श्रीधरस्वामी]	७४३
२०—हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार (ठाकुर श्रीसुदर्शनसिंहजी)	७४४
२१—राम-भरोसा [कविता] (श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')	७५०
२२—पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते (श्रीजयेन्द्ररायजी भ०दूरकाल एम्० ए०)	७५१
२३—सात्त्विक वृत्ति (श्रीसुरेशचन्द्रजी)	७५३
२४—तब निश्चित तेरा कल्याण [कविता] ('बन्धु' ब्रह्मानन्द)	७५४
२५—श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७५५
२६—सत्कथा (१) राम-जपके सम्बन्धमें स्वयंकी अनुभूतियाँ (आचार्य श्रीभगवानदासजी झा, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)	७५७
(२) कौन कहता है भगवान् आते नहीं? (श्री-सुरेन्द्रस्वरूपजी श्रीवास्तव बी० ए०)	७५९
२७—कामके पत्र	७६०
२८—राम ज्यौं राखै त्यौं रहिये [कविता] (भक्त श्रीमेहरदासजी)	७६४
२९—माघमासमें भगवान्‌की विशेष सपर्या (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	७६५

चित्र-सूची

तिरंगा

१—मारीच-सुबाहुपर कृपा-कोप	७०५

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Shastri Library & Reading Room
No. 339
Date 27.4.56

K. P. SABHA AMBPHALLA
LIBRARY
No .....
Date.....
JAMMU

मारीच-सुबाहुपर कृपा-कोप

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

Sarika Library & Reading Room
No. 331
Date 27.4.56

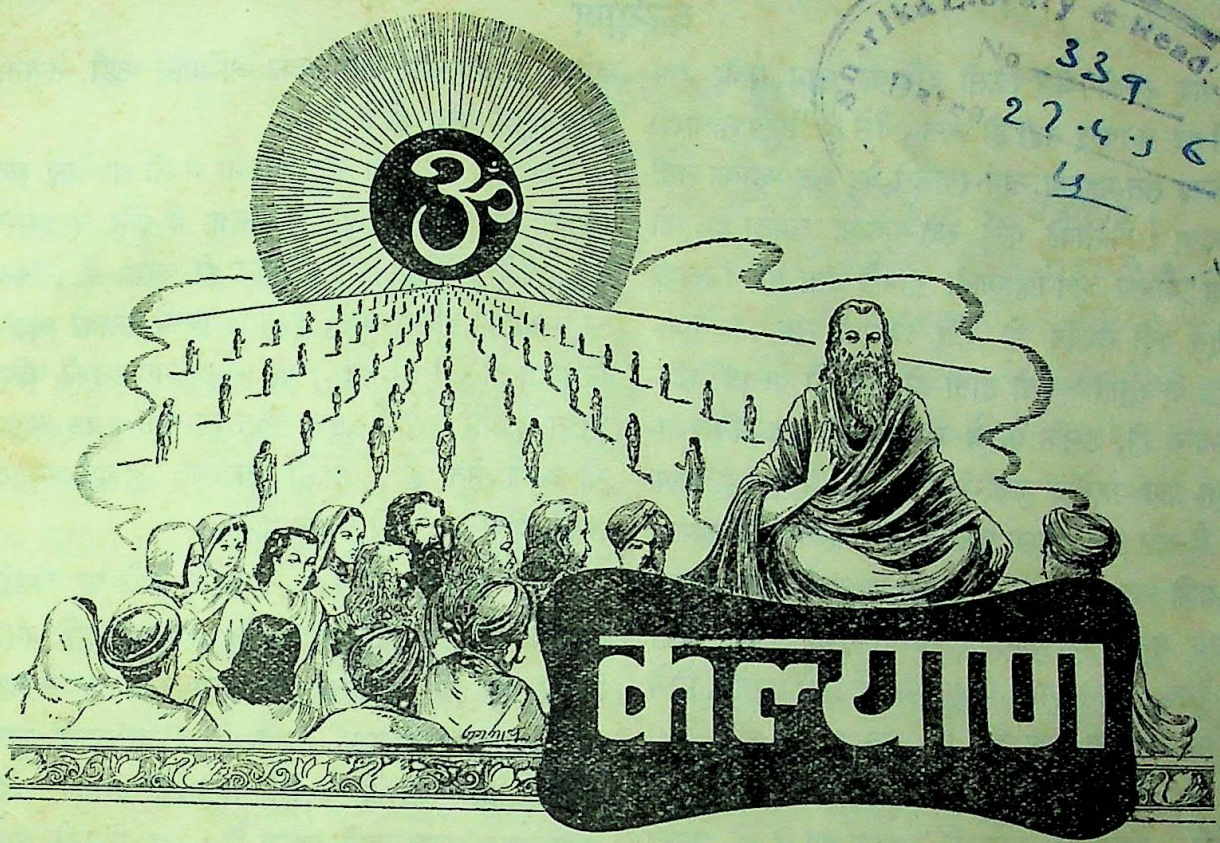

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६ | संख्या २ पूर्ण संख्या ३५१

मुनि-यज्ञ-रक्षा

राम-लखन नृप सुअन दोउ राजत कौसिक संग ।
रूप-सुधा-सौंदर्य-निधि उमगत अंग सुअंग ॥
दामिनि-बारिद-बर बरन, तेज-पुंज रस-रंग ।
नखसिख सुंदर निरखि छवि मोहे अमित अनंग ॥
धनु-सर कर, केहरि-ठवनि, कटि पटपीत-निषंग ।
मुनि मख-राखन, भय-हरन, बिरमत सदा असंग ॥
विकट कुटिल मारीच मति नीच सुबाहु भुअंग ।
उभय जीति, मुनि जग्य कौं सफल कर्‌यो सब अंग ॥

याद रक्खो—जैसे किसी दरिद्रका नाम कुबेर रख देनेसे वह धनवान् नहीं हो जाता, वैसे ही किसी साधारण व्यक्तिका संत-महात्मा नाम रखनेसे वह संत-महात्मा नहीं हो जाता। किसीको कोई संत-महात्मा कहता हो, जो अपना परिचय संत-महात्माके नामसे देता हो, जिसकी जगत्में बड़ी ख्याति हो और जिसकी सब ओर पूजा-प्रशंसा या स्तुति-प्रार्थना होती हो, पर जो वस्तुतः संत-महात्मा न हो; उसके कहने-कहलानेका या ख्याति-पूजा-प्रार्थना प्राप्त करनेका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह धोखा देता है और स्वयं धोखा खाता है। इसलिये संत-महात्मा कहलाओ मत, अपनेको संत-महात्मा मानो मत—संत-महात्मा बनो। जो जगत्में प्रशंसा-पूजा पानेके लिये भोग-वैभव, मान-सम्मान या यश-कीर्ति प्राप्त करनेके लिये संत-महात्मा बना हुआ है, वह संत-महात्मा नहीं है।

याद रक्खो—संत वह है जो सब जगह सर्वदा सत्को—भगवान्को देखता है, महात्मा वह है जो समस्त चराचरमें वासुदेवके दर्शन करता है; जो स्वयं भगवद्-भावको प्राप्त है, जगत्में भगवद्भाव देखता है और सबको भगवद्भाव प्रदान करता है।

याद रक्खो—जो अपने भगवद्भावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्भाव ला देता है, उनके अंदर सोये हुए भगवान्को जगा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बड़ी सेवा करता है। इसके विपरीत, जो अपने आसुरीभावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्विरोधी असुरभावको उत्पन्न कर देता है, उनके अंदर सोये हुए शैतानको प्रबुद्ध कर उसे बढ़ा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। इसलिये सदा-सर्वदा अपनेको भगवद्भावसे युक्त रक्खो और संसारमें पद-पदपर भगवान्को प्रबुद्ध करते रहो। तभी संत-महात्मा बन सकोगे।

याद रक्खो—संत-महात्मामें अभिमान या गर्व होता ही नहीं, जो संत-महात्मापनका—पारमार्थिकता या आध्यात्मिकताका गर्व करता है, वह सच्चे परमार्थ और अध्यात्मसे बहुत दूर है। धन और अधिकारके अभिमानकी अपेक्षा परमार्थ और अध्यात्मका अभिमान कहीं भयानक पतनकारक सिद्ध होता है।

याद रक्खो—सच्चा संत-महात्मा न तो अपनेको संत-महात्मा मानता है, न घोषित करता है और न दूसरेके द्वारा कहे जानेपर उसे स्वीकार ही करता है। विनय या नम्रताकी दृष्टिसे नहीं, वस्तुतः सच्चे संतको अपनेमें विशेषता दीखती ही नहीं। वह सर्वत्र भगवान्की महिमा देखता है और उसीमें सहज स्थित रहता है। वह त्यागका भी त्यागी होता है। किसी प्रकारका गर्व-दर्प-अभिमान उसके पास भी नहीं फटक पाता।

याद रक्खो—सच्चा संत प्रचारके लिये या किसीके उद्धारके लिये अभिमानपूर्वक कोई प्रयास नहीं करता, विचार भी नहीं करता। वह तो सदा अपने-आपमें रमण करता, आत्माराम रहता है अथवा स्वान्तःसुखाय उसके द्वारा उसके अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीति-सुधा-रसका प्रवाह बहने लगता है। वह संसारके उद्धार-के लिये कोई आग्रह या प्रयत्न नहीं करता, उसका वह आत्मरमण अथवा उसकी वह स्वतः प्रवाहित प्रियतमकी प्रीति-सुधा-रसकी मधुर धारा संसारके सम्पूर्ण दुःख-दावानलको, सारी मृत्युकी विभीषिकाको, समस्त ज्वाला-यन्त्रणाको हरकर उसे सच्चे सुखके शुभ दर्शन करवाकर आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि करा देता है। इसीमें संतका सहज संतपन है, यही महात्माका माहात्म्य और महत्त्व है।

याद रक्खो—सच्चे संत-महात्मा वासना, कामना, ममता, आसक्ति एवं दर्प-अभिमानसे सर्वथा रहित होते हैं, इससे न तो उन्हें स्वयं अपने संतपनका स्मरण रहता है और न वे दूसरोंको ही इसकी स्मृति दिलाते हैं। अतः उनके द्वारा ऐसा कुछ कार्य होता ही नहीं, जिसमें संत कहलानेकी उनकी छिपी वासना भी हो। कहलाना वही चाहते हैं, जो हैं नहीं; जो हैं, वे तो हैं ही। अतएव इन सच्चे संत-महात्माओंका आदर्श सामने रख-कर तुम सच्चे संत-महात्मा बनो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(वर्ष २९ पृष्ठ १४५० से आगे)

(६३)

साधकको चाहिये कि किसी भी कालमें और किसी भी परिस्थितिमें उस अनन्तकी कृपा-शक्तिके आश्रयका त्याग न करे। इसके लिये साधक जो कुछ कर सके करे अर्थात् उनकी कृपासे जो कुछ विवेक, शक्ति और योग्यता प्राप्त है, उसका सदुपयोग करनेमें अपनी ओरसे असावधानी न करे। उसके बाद जब अपनी कमजोरीका अनुभव हो, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाय।

वास्तवमें कृपाशक्तिका आश्रय अपनी कमजोरीका अनुभव होनेपर ही लिया जाता है। पुरुषार्थका बल रहते हुए कोई कृपा-शक्तिका आश्रय नहीं ले पाता।

कभी-कभी पुरुषार्थ और कृपाशक्तिके आश्रयमें द्वन्द्व प्रतीत होता है। जब पुरुषार्थ करते हैं और उसमें सफलताका दर्शन होता है, तब न तो कृपा-शक्तिकी ओर दृष्टि जाती है और न अपनी असमर्थता ही दीखती है। एवं जब असफलता सामने आती है, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेते हैं। पर वास्तवमें इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य भी उनकी कृपाका ही फल है और उसके बाद कृपा-शक्तिका आश्रय है, अतः महिमा सब कृपाशक्तिकी ही है। तथापि साधारण मनुष्य इस रहस्यको नहीं समझते। इसीसे उनको विरोध-सा प्रतीत होता है।

विचार करनेपर प्रतीत होता है कि मनुष्यके जीवनके सुखकालमें प्रभु-कृपाका अनुभव, अपने भाग्यका महत्त्व या पुरुषार्थके फलका उपभोग—ये तीन बातें आती हैं।

जो मनुष्य सुखमें अपने पुरुषार्थका फल मानता है वह यदि दुःखमें अपनेको अपराधी मानकर दुखी होता है तो उसकी यह मान्यता एक प्रकारसे ठीक है। इसी प्रकार जो सुखको अपने भाग्यका फल मानता है वह यदि दुःखमें भी अपने भाग्यकी निन्दा करता है, अपनेको अभागा मानता है तो वह भी ठीक है।

पर यदि किसीको सुखमें तो प्रभुकी कृपा मालूम होती हो और दुःखकालमें न होती हो, उस समय पुरुषार्थकी कमी मानकर या अन्य किसी कारणसे अपनेको अपराधी मानता हो तो यह मानसिक संतुलन नहीं है, द्वन्द्वात्मक स्थिति है। ऐसी हालतमें साधकको समझना चाहिये कि सुखमें तो प्रभुकी कृपा मानना और दुःखमें उनकी कृपा न मानकर अपनेको अपराधी मानना—इसका यह अर्थ है कि भीतरसे तो मुझे अपने पुरुषार्थका भरोसा है और ऊपर-ऊपरसे मैं प्रभु-कृपाका नाम लेता हूँ। यही भूल है; क्योंकि यदि सचमुच प्रभु-कृपाका भरोसा होता तो दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन होता।

जो सुखकालमें पुरुषार्थका या भाग्यका फल मानता है, उसे दुःखकालमें भी उनको ही हेतु मानना चाहिये और जो सुखकालमें प्रभु-कृपा मानता है उसे दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन करना चाहिये। सुखमें एक बात और दुःखमें दूसरी बात मानना चित्तकी अशुद्धिका प्रमाण है। अतः साधकको सुख और दुःख दोनोंमें ही एक बात माननी चाहिये। भाव यह कि हरेक परिस्थितिमें हर समय प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करते रहना चाहिये; क्योंकि सुखकी अपेक्षा दुःखकी परिस्थिति लाख गुना महत्त्वकी है।

दुःखके दो भेद हैं—एक दुःख तो सजीव होता है और दूसरा निर्जीव होता है। सजीव दुःख तो वह है जो परिस्थिति-ज्ञानसे होता है और निर्जीव दुःख वह है जो मनकी बात पूरी न होनेपर होता है। सजीव दुःखसे साधक परिस्थितियोंसे असङ्ग होता है और निर्जीवसे साधारण व्यक्तियोंके चित्तमें क्रोध, भय और क्षोभ आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं।

अतः साधकके जीवनमें निर्जीव दुःख नहीं होना चाहिये।

सजीव दुःख तभी होता है, जब मान्यतामें द्वन्द्व नहीं रहता। एक अंशमें भाग्यवादी होना और दूसरे अंशमें भाग्यवादी न होना, एक अंशमें आस्तिकवाद और दूसरे अंशमें भौतिकवादकी मान्यता—यही मान्यताका द्वन्द्व है। इस द्वन्द्वके रहते चित्त अशुद्ध रहता है; क्योंकि इस प्रकारका द्वन्द्व चित्त-अशुद्धिका कारण है।

अतः साधकको चाहिये कि दुःख और सुख दोनोंको ही प्रभुकी कृपा समझे।

यदि कोई कहे कि दुःखको प्रभुकी कृपा कैसे समझें तो कहना होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो परिवर्तनशील हैं, वे तो जैसे आती हैं वैसे ही चली जाती हैं, पर दुःख साधकको परिस्थितिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान कराता है। यही उनकी कृपा-शक्तिका प्रभाव है।

साधकको समझना चाहिये कि रोगके मूलमें किसी-न-किसी प्रकारका राग (आसक्ति) है।

राग करुणा आदि गुणोंसे और स्वार्थ तथा अवगुणोंसे भी होता है, अर्थात् इन दोनोंसे ही रागका सम्बन्ध है।

जब गुणोंके आघातसे राग होता है, तब तो मनुष्य शान्त और अन्तर्मुख होता है; पर जब दोषोंके प्रभावके आघातसे राग होता है, तब वह क्रोधी और ईर्ष्यालु बन जाता है।

अतः मनुष्यको सुख और दुःखका कारण एकको ही मानना चाहिये।

जो दोनोंका कारण प्रारब्धको मानता है वह सुख और दुःख दोनोंको भोगकर मिटा देता है, सुख-दुःखकी चाह नहीं करता; क्योंकि उसकी मान्यताके अनुसार जो कुछ प्रारब्धके फलरूपमें होना है, वही होगा। चाह करनेसे कोई परिवर्तन नहीं होगा। यह समझकर वह चाहरहित हो जाता है।

जो पुरुषार्थको दोनोंका कारण मानता है वह भी समझता है कि चाहसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा। अतः वह जाने हुए दोषको सहन नहीं कर सकेगा, उसे मिटानेके लिये पुरुषार्थ करेगा।

आस्तिककी मान्यतामें दुःख और सुख दोनों ही साधन सामग्री हैं, जो कि प्रभुकी अहैतुकी कृपाका पुरस्कार है। अतः वह दोनोंका ही प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सदुपयोग करेगा, इसीलिये हर हालतमें उसकी दृष्टिमें आनन्द-ही-आनन्द है।

साधकको चाहिये कि दुःखकी परिस्थिति आते ही आश्चर्यान्वित होकर देखे कि मेरा प्रियतम इस परिस्थितिके द्वारा मुझे कौन-सी नयी चीज देना चाहते हैं और सुखमें यह देखना कि वे कौन-सी वस्तुका अपनी प्रसन्नताके लिये मुझसे उपयोग कराना चाहते हैं। इस प्रकार विचार करनेपर जैसी प्रेरणा मिले वैसा ही करना चाहिये और निरन्तर अपनेको उनकी गोदमें स्थित देखकर निश्चिन्त और निर्भय रहना चाहिये।

दुःखके कालमें आस्तिक साधकके चित्तमें तीन प्रकारके विचार उसकी साधनाके अनुसार हुआ करते हैं—

(१) दुःखके स्वरूपमें हमारे प्रियतम ही आये हैं।

(२) दुःख हमारे प्यारेका भेजा हुआ पुरस्कार है।

(३) दुःखमें हमारा कल्याण भरा है।

पहला भाव सबसे ऊँचे साधकका होता है जो कि कृपा-शक्तिकी सिद्धावस्थाका परिचायक है, दूसरा कृपा-शक्तिपर निर्भरताका लक्षण है और तीसरा कृपा-शक्तिके साधनके प्रारम्भकालका भाव है। इन सबका फल है अपने प्रीतमके प्रेमका अधिकारी हो जाना।

धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्काम-भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं। वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते। अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये। धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएं धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। उन्नतिके कई प्रकार हैं। उनमें शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक—ये प्रधान हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना चाहिये। ऐसा भोजन क्या है? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिस्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मोसम्बी, नासपाती, सेव आदि फल; आलू, अरबी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं, शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्रायः सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं। इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमितरूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है। इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अतः उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, घरकी सफाई करना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना, अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है। इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीके द्वारा वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्ट सिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्‌के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंके दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको बुरी दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर

देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये। मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है। किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेपदोष है। अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है। निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है। ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गंभीरता बढ़ती है तथा विषयोंमें वैराग्य और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है। इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्‌ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।' इस मानस-तपके आचरणसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं। अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये। सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीता अ० १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

'पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये। हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थत्याग, निष्कामभाव, उदारता और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका हित हो। व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये। वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये। इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, ब्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये। बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न

तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों। व्यवसायके समय परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी छोड़ना, बिनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशनी करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची है, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, उसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रक्खें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिक-रूपसे आदर्श हितकर सत् शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रक्खा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगका अधिक-से-अधिक हित करें तथा अधिकारियोंके प्रति सदा सद्भाव रक्खें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और

मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रक्खें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये बिना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न बिना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पञ्च बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्च पदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी तथा अन्यान्य सरकारी अफसरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम धर्म है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६। ९२)

'१ धैर्य रखना, २ क्षमा करना, ३ मनको वशमें रखना, ४ चोरी न करना, ५ बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६ इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७ सात्त्विक बुद्धि, ८ सात्त्विक ज्ञान, ९ सत्य वचन बोलना और १० क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारु रूपसे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२वेंसे ४४वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८वेंसे ९१वें श्लोकतक किया गया है, उसे देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। (देखिये महाभारत महाप्रास्थानिकपर्व अ० ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका

त्याग नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा, बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी नीति, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जाके मन माहीं। ता कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
(गीता १२। ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्कामभावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थसिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

पहले अमृत-सा, पीछे जहर-सा

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई देसाई)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८। ३७)

इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिये जगत्‌में सुख क्या है यह जानना चाहिये। सुख दो प्रकारका है। एक भोगसुख है यानी प्राणी-पदार्थके संसर्गसे मिलनेवाला सुख और दूसरा सुख है आत्मसुख। अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' इस भावनासे मिलनेवाला सुख।

भोगसुखमें भोक्ता अपनेको अपूर्ण मानता है और जिस वस्तु या प्राणीसे अपनेको सुख होता है, वह समझता है कि उसके बिना वह रङ्क है, उसके बिना वह दीन और दुखी है। वह उसके परतन्त्र है, उसके अधीन रहता है। भोगसुखकी इच्छा करनेवाले सदा पराधीन हैं। उसकी सुख-शान्ति या आनन्द दूसरेके हाथ है। उसको कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। जिसका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, वह पराधीन है। 'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।' मनुष्यको सुख और आनन्दकी पल-पलमें जरूरत है। प्राणी पानी, भोजन और कपड़ेके बिना कुछ समय गुजार सकता है और वह भी स्वसंतोष और आनन्दसे। हवा बिना भी कुछ मिनट निभा लेता है, परंतु प्राणिमात्रका आनन्दके बिना, सुखेच्छाके बिना काम नहीं चलता।

प्राणिमात्र यह इच्छा करता है कि सुख और आनन्द मुझसे एक पलके लिये भी अलग न हों। सुख और आनन्द प्राणीका जीवन है। अपना सर्वस्व देकर भी

प्राणी सुखकी इच्छा करता है। ऐसा सुख प्राणी-पदार्थसे मिलता है। इस विश्वासपर जिसको जीना हो, उसको प्राणी-पदार्थको अपने अधीन करने और अपने वशवर्ती बनानेके लिये श्रम और चिन्ता रहेगी ही। अतएव इस प्रकार सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेमें उसका नाश ही होता है। ऐसा प्राणी-पदार्थ, जिससे सुख पानेकी जीव कल्पना करता है, वह देखा भी जा सकता है और भोगा भी जा सकता है। वैसे प्राणी-पदार्थकी प्राप्तिमें श्रम है। उसकी रक्षा करनेमें श्रम और दुःख है। परंतु उसको देखना, जानना, भोगना—इन्द्रियोंसे और मनसे होता है। इसलिये उनसे प्राप्त होनेवाला सुख इन्द्रियगम्य माना जाता है। यह प्राणी-पदार्थसे प्राप्त होनेवाला सुख भोगते समय अमृतके तुल्य लगता है। उसमें जीव लीन हो जाता है। इसके भोगकालमें जीवको विचित्र शान्ति और आनन्द प्रतीत होता है। परंतु उस भोगके अनुभवकालके पूर्व और पश्चात् तो श्रम, दुःख, चिन्ता और क्लेश ही रहते हैं। वह प्राणी-पदार्थ भोगके एक क्षणके लिये तो सुख देता है और भोगके पहलेके और पीछेके अनन्त क्षणोंके लिये, दीर्घकालके लिये अखण्ड दुःख देता है। इसलिये इन्द्रिय और मनके भोग पहले अमृत-जैसे और पीछे विष-जैसे हो जाते हैं। जैसे विष मिठाईमें मिले रहनेसे खानेमें मीठा लगता है और पचाने—हजम करनेमें दुष्कर तथा मृत्युदाता हो जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगकालमें अमृत-जैसे और परिणाममें विष-जैसे होते हैं। विष जीवनका नाश करता है। खूब विचार करने और अनुभव करनेसे जान पड़ता है कि प्रत्येक भोग जीवनका ही नाश करता है।

यह बात इस प्रकार समझमें नहीं आती। अन्तिम भोगका उदाहरण लीजिये। विषयभोग अति मात्रामें मिलनेपर उससे क्षय हो जाता है और रोगी मरता है। जो फल अति मात्रामें है, वह अल्पसे भी अल्प मात्रामें है। प्रत्येक विषयभोग शक्ति और प्राणका नाश करता है। यही बात दूसरे भोगोंकी भी है। भोगमात्र आयु और शक्तिका नाश करते हैं। यानी भोग विषवत् है। इसीसे भोग भोगकालमें अमृतवत् आनन्द देनेवाले जान पड़ते हैं और परिणाममें जीवन हरनेवाले विष-रूप होते हैं। संसारमें जितने सब रोग हैं, संसारमें जितने सब दुःख, क्लेश, झगड़े हैं, उन सबके माँ-बाप ये भोग हैं। भोगोंका त्याग किये बिना अखण्ड सुख होता ही नहीं। भोगसुखके विषयमें अखा भगतने एक सरस दृष्टान्त दिया है—

अखा माया करे फजेत। खाताँ खाँड ने चाबताँ रेत॥

'अखा भगत कहते हैं कि माया फजीहत करती है। भोगते समय तो चीनीके समान मीठी लगती है, परंतु चबाते समय अनुभव होता है कि मैं रेत चबा रहा हूँ।

इससे विपरीत आत्मसुख है, जो पहले विषके सदृश लगता है; परंतु परिणाममें अमृतके समान जान पड़ता है।

आत्मसुख वह है कि जिसमें पहले लगता है कि इसमें क्या है। परंतु जैसे-जैसे उसका रस चक्खा जाता है, वैसे-वैसे आनन्द मिलता है। भोगसुख शुरूमें अमृतरूप और परिणाममें विषरूप कैसे है? इसको अखा भगतने उपर्युक्त दोहेमें समझा दिया है।

अब आत्मसुख शुरूमें विषवत् और परिणाममें अमृत किस प्रकार होता है, यह बात इस लौकिक दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है। कन्या माँ-बापके घरसे जब पहले-पहल अपने पतिके घर जाती है, तब पतिके घरका सुख उसे पहले विषवत् लगता है, पर जैसे-जैसे वह वहाँ रहने लगती है वैसे-वैसे ही पतिसुख छोड़नेका मन नहीं होता। सहवास बढ़नेपर पिताके घरका सुख विष-जैसा और पतिके घरका सुख उसको अमृत-जैसा लगता है।

चित्तका आत्मा पति है और विषय नैहर है। मैं आत्मा हूँ, यह भावना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही चित्त आनन्दकी लहरोंमें स्नान करता है। यह आनन्द एक

अद्भुत आनन्द है। हठयोगकी समाधिका आनन्द तो कुछ भी नहीं है। जीते-जागते, जिसको दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान और अनुभव होता है कि मैं नित्य आत्मस्वरूप असङ्ग चेतन हूँ, उसको जो अपार आनन्द होता है, उस आनन्दको वही जानता है।

जब आत्मबुद्धि होती है, तब वह स्वतन्त्र होता है। वह ब्रह्माण्डके किसी भी प्राणी-पदार्थके परतन्त्र, दीन, अधीन नहीं होता। स्वयं सुखस्वरूप है। इसलिये वह किसीसे सुखकी इच्छा नहीं करता।

गरीब, धनवान्, महाराजा, राजा, सम्राट्, देव, इन्द्र आदि चाहे जितने ऐश्वर्यसम्पन्न हों, यदि वे रात-दिन प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी इच्छा करते हैं तो उनके हृदयमें सदा अशान्ति और संताप होता है। ब्रह्माण्डमें कोई प्राणी-पदार्थ ऐसे नहीं हैं कि जिनके मिल जानेपर दूसरी किसी वस्तुका मिलना बाकी न रह जाता हो और जबतक किसी वस्तुका प्राप्त करना बाकी रहता है, तबतक अशान्ति और असुख ही रहता है। जिसको कुछ प्राप्त करना नहीं है, वह सदा आनन्दमें रहता है। शरीरबुद्धि या जीवबुद्धिमें प्राप्त करना रहता है। आत्मबुद्धिमें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्ण है और उससे अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसे सुख प्रदान करे। आत्मा अविनाशी है, अविकारी है और इस कारण जगत्के असंख्य विनाशी और विकारी पदार्थोंसे असंख्य गुना अमूल्य और सर्वथा विलक्षण है। पत्थरकी स्त्रीकी पुतलीकी अपेक्षा जैसे सच्ची स्त्री असंख्य गुना मूल्यकी और सर्वथा विलक्षण होती है, उसी प्रकार सारे विनाशी ब्रह्माण्डकी अपेक्षा हमारा अविनाशी आत्मा अनन्त मूल्यवान् और विलक्षण है। जैसे पीपलको जितना ही घोंटा जाता है, वह उतनी ही गुणप्रद होती है, इसी प्रकार मैं आत्मा, असङ्ग, चेतन हूँ—यह जैसे-जैसे निश्चय होता जाता है, वैसे-वैसे ही आनन्दका अनुभव होता जाता है। हरिः ॐ तत्सत्

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(८३)

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे। ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया; उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं। अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी। अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता। दूरसे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं। किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्यौछावर हों। वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो! अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट

नहीं होता। जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता। इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है। अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं। किंतु प्रपञ्चके जीवो! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं। उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना। देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती। किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हृत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है। स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी। देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे; धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे; इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते। किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। मर्यादा टूट जाती है, सुमार्ग छूट जाता है और निर्बाध स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे। अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं। वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है। ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता, पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं, विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं। नीलसुन्दरके विहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरण-नखचन्द्रको ही। किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे!—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥
(श्रीमद्भा० १०।२०।१०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता। उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराइ। देह, गेह, धन, संपति पाइ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरीतिमा लहलह कर रही है। कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है। फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं। इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥
(श्रीमद्भा० १०।२०।११)

बुढ़ी लुढ़ी जु हरित भई धरनी। उच्छिलींध्र छबि फबि हिय हरनी॥

जनु कोउ भूपति उतर्‌यौ आइ । छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ ॥

× × ×

त्रन अंकुर संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं ।
जिमि सुकृतिन के पुन्य पुराकृत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं ॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै ।
जिमि नरनाह राजसी राजति सुंदर सुखमा साजै ॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है । उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है; व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है। क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं । वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं । वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा । और उनका अधिपति है कंस । जहाँ उसकी छत्र-छाया है, वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १२)

निपजे छेत्र कागुनी धान । तिनहिं निरखि हरखे जु किसान ॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं । दैवाधीन सु जानत नाहीं ॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं । सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही । कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं । संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर-थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं । पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था ? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं ? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्ण-चन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है । यह तारतम्य भले कोई कर ले । हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्‌के जलज-स्थलज प्राणियो ! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो । संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो । बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा । देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रिताप-संतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होते ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १३)

जलके, थलके बासी जिते । जल-सोभा करि सोभित तिते ॥
जैसैं हरि-सेवा करि कोई । रुचिररूप अति राजत सोई ॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किधर किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची ऊँची तरङ्गें उठ रही हैं ? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टि देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे सङ्गमित हो जाता है । फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है । सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है । आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुर-धराके राशि-राशि रजकण बटोरकर, रविनन्दिनी आयी हैं । सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है—वह निधि जिसके लिये पितामह तर

रहते हैं। स्वयं यमुना जब इन रजकणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियों-को, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुर-वासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छ्वलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके; व्रजाङ्गनाओं-के चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका। इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है! अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमा-को तो तुम्हें भी भान होता—यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयङ्गम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्यागकर, यथायोग्य साधनानुष्ठान-में संलग्न होते तो क्रमशः इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधना-नुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा। इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्त्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। कहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छबिको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके सङ्गम-की ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु। उमगि ऊरमी, ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक्व जोगी चित धाइ। विषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥

मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी

(लेखक—परशुरामपुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीश्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

राधापते ! नन्दतनूज ! कृष्ण !
गोविन्द ! गोपाल ! मुकुन्द ! मित्र !
गोपीश ! वृन्दावनरासलासिन् !
जिह्वात आर्तस्वरतस्स्फुरत्वम् ॥

(श्रीऔदुम्बराचार्यजी)

आजसे हजारों वर्ष पूर्वका वृत्तान्त है जब कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सच्चिदानन्दघन, दिव्यमङ्गल-विग्रह, आनन्दकन्द नन्दनन्दन, श्रीश्यामसुन्दरके परम-प्रिय आयुध कोटिसूर्यसमप्रभ चक्रराज श्रीसुदर्शन श्रीप्रभुसे समादिष्ट हो भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यके रूपमें इस अवनितल-पर अवतरित होकर सद्धर्मका प्रचार-प्रसार कर रहे थे ।

इन्हीं भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अभिनव वपु चक्रावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्रके अनेकों शिष्योंमेंसे प्रमुख दो शिष्य थे—प्रथम पाञ्चजन्य शङ्खावतार भाष्यकार श्री-निवासाचार्यजी तथा द्वितीय मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी। श्रीनिम्बार्क भगवान्के अन्तर्हित होनेपर आचार्य-पदपर भाष्यप्रणेता श्रीनिवासाचार्यजी अभिषिक्त हुए और ये औदुम्बराचार्यजी अपना अधिक समय तीर्थ-सेवन, भगवदाराधन तथा सनातन धर्मके विपुल प्रचारमें लगा-कर श्रीभगवत्संनिधिको प्राप्त हुए ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जीवनगाथा बड़ी ही विलक्षण, चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयोत्पादक है । ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे, अन्य प्राणियोंकी भाँति इनका उत्पत्ति-वृत्तान्त नहीं मिलता, ये उदुम्बर (गूलर) वृक्षके फलसे प्रकट हुए थे, इसीसे औदुम्बराचार्य नामसे विख्यात हुए । इनके प्रकट होनेकी यह पुण्यप्रद गाथा बड़ी ही सुन्दर उत्कृष्ट तथा इनकी विलक्षणताको अभिव्यक्त करनेवाली है ।

एक समय सनातनधर्म-प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए किसी एकान्त स्थलमें श्रीभगवदाराधनमें स्थित श्रीनिम्बार्क भगवान्पर अविद्याग्रसित खलसमूहने आकर उपद्रव करना आरम्भ किया । उनके चारों ओर उन दुष्टोंने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, पर श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र तनिक भी भयाकुल नहीं हुए । वे उस समय उस गूलर वृक्षके नीचे श्रीसनकादि महर्षियों-द्वारा परिसेवित अतिप्राचीन गुञ्जाफल-सदृश अतिसूक्ष्म श्रीशालिग्रामविग्रह श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी सेवामें तल्लीन थे । अकस्मात् जिस गूलर वृक्षके नीचे आप विराजमान थे, उसका एक परिपक्व फल श्रीआचार्यचरणोंके संनिकट आ गिरा और आपके पावनतम चरणनखका स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्याकृति तथा अमित प्रभावपूर्ण श्रीनिम्बार्काचार्यजीके सदृश ही गुण-रूपवान् परम सुन्दर पुरुषके रूपमें प्रादुर्भूत हो गया । इस परम विलक्षण चमत्कारको देखकर खलसमूह भयभीत हो तुरंत ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे कि सूर्यके उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजी प्रकट होकर श्रीनिम्बार्क भगवान्के अनिर्वचनीय दिव्यस्वरूपका दर्शन कर उनके अद्भुत प्रभावका अनुभव करने लगे । श्रीनिम्बार्क भगवान्ने इनको भ्रमण-कालमें अपने साथ ही रक्खा । कुछ दिनों बाद जब ये अपनी परम प्रिय व्रजधाम श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी तरेटी (निम्बग्राम) तपस्थलीमें, जहाँ तपश्चर्या करते थे, औदुम्बरमुनिसहित पधार आये तब मुनिवर भी उनकी सेवामें यहीं रहने लगे ।

इस उपर्युक्त पुण्यगाथाका संक्षिप्त उल्लेख स्वयं श्रीऔदुम्बराचार्यजीने स्वरचित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति' नामक ग्रन्थमें भी इस प्रकार किया है—

यत्स्पृष्ट आत्मीयसखो बभूव
ह्यौदुम्बरो जन्तुरिवात्मरूपः ।
कृष्णस्य यद्वत्कृकलाससर्पौ
गन्धर्वमुख्यावतिचित्ररूपौ ॥
श्रीधर्मसूनोरिव सर्पराजो
रामस्य यद्वच्च शिला त्वहल्या ।

देदीप्यमाना सुविमानविष्टा
तस्मै नमस्ते समरूपदात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ९०-९१)

'जिस प्रकार भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंके संस्पर्शसे गिरगिट और सर्प--ये दोनों क्रमपूर्वक नृपति एवं गन्धर्व बनकर सम्मुख स्थित होकर स्तुति करने लगे थे तथा महाराज युधिष्ठिरके चरणस्पर्शसे सर्प और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणारविन्दकी परमपावनी रजके स्पर्शसे शिला--ये दोनों क्रमशः दिव्याकृति मनुष्य तथा ऋषि-पत्नी अहल्याके रूपमें प्रादुर्भूत हो स्तुति कर विमानोंमें स्थित होकर दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार ऊपरसे पड़ा हुआ गूलरका फल आपके पादपद्मोंका स्पर्श होते ही अपने ही रूप और आकृतिके समान रूप तथा आकृतिमान्, आपका कृपापात्र औदुम्बराचार्य (मैं ग्रन्थप्रणेता) अकस्मात् आविर्भूत हुआ। इस साधारण तुच्छ जड पदार्थको अपने ही सदृश स्वरूप-प्रतिभादि प्रदान करनेवाले आपके पादपद्मोंमें मैं नमस्कार करता हूँ।'

यद्यपि श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जन्मतिथि, मास, वर्ष एवं आयु और उनके पावनतम जीवन-चरित्रका विशेष वृत्त समुपलब्ध नहीं है; क्योंकि आचार्य-उत्सव उन्हीं आचार्यचरणोंका मनाया जाता है, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यपीठासीन होते आये हैं। श्रीऔदुम्बराचार्यजी आचार्य पीठारूढ़ नहीं हुए थे, इसीलिये उनके जन्मोत्सव आदिका पूरा वृत्त आजतक प्राप्त नहीं हो सका है तथापि उनके निजनिर्मित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' ग्रन्थसे यह अवश्य निश्चयात्मक रूपसे ज्ञात होता है कि ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे तथा उन्हीं सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान्के तेजःपुञ्जविशेषांश थे, अतएव बिना ही अध्ययन किये निखिल निगमागमके पूर्ण ज्ञाता, आत्म-परमात्म आदि तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले उद्भट विद्वान् थे।

ये औदुम्बराचार्य जिस प्रकार सहसा प्रकट हुए उसी प्रकार तत्क्षण ही तिरोहित नहीं हुए, इन्होंने बहुत समयतक श्रीनिम्बार्क भगवान्की सेवामें रहकर तथा भारतके अनेक पुनीत स्थलोंपर परिभ्रमणकर सनातन धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरायी, बहुत-से स्थानोंपर तो प्रतिमापूजन-प्रणालीकी सुदृढ़ताके लिये बड़े-बड़े भव्य मन्दिरोंका निर्माण करवाकर श्रीभगवत्प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करायी। इन्होंने जिन मन्दिरोंका निर्माण करवाया था, वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुरुक्षेत्रके सन्निकट 'पपनावा' नामक ग्राममें एक मन्दिर अद्यावधि भी विद्यमान है। यदि अन्वेषण किया जाय तो इनके द्वारा निर्माण कराये गये मन्दिर तथा इनका विशद जीवन-चरित्र भी सम्भवतः प्राप्त हो सकता है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है। 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' 'श्रीऔदुम्बरसंहिता' आदि ग्रन्थ तो सम्प्राप्त हैं। प्रथम ग्रन्थमें इन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्यामसुन्दरकी जो बड़ी ही सुन्दर रसमयी वन्दना की है, उसे यहाँ उद्धृत करते हुए इस चरित्रको यहीं समाप्त करते हैं--

मत्स्याय कूर्माय वराहभासे
श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्षाय रामाय रघूत्तमाय
भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय ॥
बुद्धाय वै कल्किन एवमादि-
नानावतारौघधराय नित्यम्।
सच्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने
कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ५-६)

'श्रीमत्स्य, श्रीकूर्म, श्रीवाराह, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीपरशुराम, श्रीदाशरथि राम, श्रीबलराम, श्रीबुद्ध, श्रीकल्कि आदि अवतारोंके उद्गमस्थान तथा बुधजनविचिन्त्य निज अद्भुत अनिर्वचनीय शक्तिसे परम गूढ़ महिमावाले एवं समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके करनेवाले ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीनन्दनन्दनको बारंबार प्रणाम है।'

सात्त्विकी बुद्धि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे बहुत लोग श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन, पठन तथा श्रवण करते हैं, यह बड़े ही आनन्दकी बात है; पर उसके श्लोकोंका हम मनन करें और इस बातको समझें कि हमारे जीवनके साथ किस श्लोकका क्या सम्बन्ध है और हम अपने जीवनको वर्तमानमें ही किस प्रकार भगवान्‌के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं, तब उसका हम पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी भावसे प्रेरित होकर मैं आपसमें इस प्रकार विचार-विनिमय करनेके रूपमें एक श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ। आशा है कि गीतास्वाध्यायी सज्जनगण इसके उत्तरमें अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करेंगे और मेरी गलतियोंको क्षमाकर उनका सुधार करनेके लिये उचित परामर्श देंगे। मेरा अनुमान है कि इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमयसे साधकोंको लाभ होगा। श्लोक इस प्रकार है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(गीता १८। ३०)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कार्य और अकार्यको, भय और अभयको एवं बन्धन और मोक्षको जानती है, वह सात्त्विकी है।'

इस श्लोकमें चार युग्मोंमें आठ बातें जानने योग्य बतलायी गयी हैं और इनको जाननेवाली बुद्धिको सात्त्विकी कहा गया है। विषयके आरम्भमें यह बात भी भगवान्‌ने कह दी है कि बुद्धिके भेद मैं तुम्हें अशेषतासे अर्थात् पूर्णतासे कहूँगा, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन संक्षिप्त है।

इससे यह मान लेना होगा कि सात्त्विकी बुद्धिके द्वारा जो कुछ जानना चाहिये और जो कुछ भी जाना जा सकता है, वह इन्हीं आठ भेदोंके अन्तर्गत आ जाना चाहिये। इस दृष्टिसे तो इस श्लोकके भावकी व्यापकता बहुत अधिक हो जाती है, पर मैं अपने विचार संक्षेपमें ही प्रकट करता हूँ। पाठकगण इन्हें संकेतमात्र मानकर समझनेकी चेष्टा करें, यही मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है। पहला युग्म है—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

हरेक व्यक्तिके जीवनमें कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति प्रतिदिन होती रहती है। किसी कार्यमें लगे रहना प्रवृत्ति है और कोई काम न करना ही निवृत्ति है, यह सभी जानते हैं; किंतु इन दोनोंका जो सात्त्विकी बुद्धिद्वारा जानना है, वह ऐसा जानना नहीं है। वह है इन दोनोंका सदुपयोग करके अपने जीवनको हरेक अवस्थामें साधनसम्पन्न बनाये रखना अर्थात् इनका यथार्थ जानना। अतः हमें जानना चाहिये कि प्रवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार अपने जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है और निवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार?

साधारण व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति किसी-न-किसी कामनाकी पूर्तिके लिये ही हुआ करती है। उसके अन्तमें शक्तिका ह्रास होता है, मिलता कुछ भी नहीं; क्योंकि अभावका अभाव नहीं होता। प्रवृत्तिमें आसक्ति होनेके कारण परतन्त्रता और जडताकी अनुभूति होती है। उस कामनायुक्त प्रवृत्तिके अन्तमें जो स्वाभाविक निवृत्ति आती है, उससे शक्तिका संचय तो होता है, पर उसके होते ही प्राणी आसक्तिके कारण या तो परिस्थितिके चिन्तनमें या पूर्ववत् प्रवृत्तिमें लग जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिका चक्र चलता रहता है। इसके परिणाममें शान्ति नहीं मिलती। इस अनुभूतिका आदर करनेसे साधकके मनमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे अतीतके जीवनकी आवश्यकता और उसे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् होती है। उसकी पूर्तिके लिये साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका सदुपयोग करके उन दोनोंके रागका अन्त कर दे।

विचार करनेपर जान पड़ता है कि अपनी-अपनी योग्यता, विश्वास और साधननिष्ठाके अनुसार इनके सदुपयोगमें अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं, पर यह सभीको मान्य होगा कि साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति उसे अपने साध्यकी ओर ले जानेवाली, प्रवृत्तिकी आसक्तिको मिटानेवाली और सर्वहितकारी होनी चाहिये। ऐसी किसी भी प्रवृत्तिके लिये साधकके जीवनमें स्थान नहीं है जिससे कर्म करनेकी आसक्ति बढ़े, जो किसी भी अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिविषयक या प्रतिकूल

परिस्थितिकी निवृत्तिविषयक किसी प्रकारकी भोगवासनाको बढ़ानेवाली हो अथवा जिसमें किसीका अहित भरा हो। अतः प्रवृत्तिका सदुपयोग करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जब साधकके मनमें कोई काम करनेका संकल्प उठे, तब तत्काल यह विचार करे कि मेरी जो मान्यता है, जिस वर्ण, आश्रम, विचारधारा और धर्मको मैंने स्वीकार किया है, जिन व्यक्तियोंके साथ इस कर्मका सम्बन्ध है उनसे मैंने जो सम्बन्ध स्वीकार कर रक्खा है, मेरी उस स्वीकृतिके अनुरूप मेरे लिये जो विधान है उसमें इस कर्मके लिये स्थान है या नहीं। विचार करनेपर यदि यह निर्णय हो जाय कि यह कर्तव्य है, इसमें किसीका अहित नहीं है अपितु दूसरोंके अधिकारकी रक्षा है तो उस कामको प्राप्त विवेकके प्रकाशमें बड़ी सावधानीके साथ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी दी हुई सामर्थ्य-सामग्रीसे उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार पूरा करके रागसे रहित हो जाय। उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा या कामना न करे तथा किसी प्रकारके अभिमानको भी स्थान न दे। इस प्रकार किये हुए कर्मका स्वरूप बाहरी दृष्टिसे प्रवृत्ति होनेपर भी उसका परिणाम वही होगा, जो अच्छी-से-अच्छी वासनारहित निवृत्तिके सदुपयोगसे होना चाहिये।

इसी प्रकार जब साधक कर्तव्यकर्मसे निवृत्त हो, जब उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं हो, उस समय न तो मनमें व्यर्थ संकल्पोंका उदय होने दे और न बुरे संकल्पोंका ही। जो संकल्प उठें, उनमें जो उस समय पूरा करनेका हो उसे तो पूरा करके मिटा दे, जो भविष्यमें करने योग्य हो उसको नोट करके मिटा दे और जो व्यर्थ हो उसे विचारके द्वारा मिटा दे। इसके अतिरिक्त जो बुरे संकल्प हैं, जिनमें किसीके भी अहितकी भावना है उनके लिये तो साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। उनकी तो उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिये। भावकी शुद्धिसे व्यर्थ और बुरे संकल्प अपने आप मिट जाते हैं। अतः साधकको अपना भाव शुद्ध करना चाहिये। अनावश्यक, व्यर्थ और बुरे संकल्प मिटते ही अपने इष्टकी स्वाभाविक मधुर स्मृति या सहज शान्ति प्राप्त होगी। उस निवृत्तिजनित सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टकी स्मृति उसकी प्रीतिके रूपमें और शान्ति परम उपरतिके रूपमें बदलकर अपने इष्टसे मिला देगी। यही प्रवृत्ति और निवृत्तिको वास्तविक जानना है और यही उनका सदुपयोग है। दूसरा युग्म है—

कार्य और अकार्य

जो करने योग्य है, जिसके करनेका विधान है वह कार्य है और जो करने योग्य नहीं है, विधानमें जिसका निषेध है वह अकार्य है। यह कार्य और अकार्यका साधारण अर्थ है।

अब विचार यह करना है कि साधकके लिये कौन-सा कर्म करने योग्य है और उसे किस भावनासे करना चाहिये तथा कौन कर्म करने योग्य नहीं है और उसको किस भावसे नहीं करना चाहिये। विचार करनेपर विदित होता है कि जो कुछ किया जाय, वह प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकके प्रकाशमें किया जाना चाहिये। प्राप्त विवेकका अनादर कभी किसी भी परिस्थितिमें नहीं करना चाहिये। प्राप्त विवेक हमें यह सिखाता है कि हम जो कुछ अपने प्रति दूसरोंसे करवाना चाहते हैं, वही हमें दूसरोंके साथ करना चाहिये और जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते, वह हमें भी किसीके साथ नहीं करना चाहिये। जैसे हम सम्मान चाहते हैं, तो हमें दूसरोंका सम्मान करना चाहिये, किसीका भी अपमान नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक विषयमें समझ लेना चाहिये। यह नियम है कि दूसरोंके प्रति की हुई भलाई ही अपने प्रति कई गुनी अधिक होकर आती है और दूसरोंके प्रति की हुई बुराई ही अपने प्रति कई गुनी बुराई होकर आती है। दूसरोंके हितमें ही अपना हित निहित है; अतः ऐसा कोई भी काम किसी भी परिस्थितिमें साधकके लिये करने योग्य नहीं है जिसमें किसीका भी अहित होता हो। इस दृष्टिसे करने योग्य कर्म वही है जो हमारी मान्यताके अनुरूप, विधानके अनुसार हमारा कर्तव्य हो, जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमें प्राप्त हो और जिसके करनेकी वर्तमानमें ही आवश्यकता हो तथा जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो। भाव यह कि प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता आदिका सदुपयोग ही कार्य अर्थात् कर्तव्य है। जैसे वाणीको प्रिय, हितकर और सत्य भाषणमें तथा प्रभुके नाम-जप, कीर्तन, उनके गुणोंके और चरित्रोंके वर्णन करनेमें लगाना, शरीरको दुखियोंकी सेवामें लगाना, मनको प्रभुके स्मरणमें लगाना और बुद्धिको दृश्यसे असङ्ग होनेमें और भगवान्‌पर विश्वास करनेमें लगाना। इसी प्रकार हरेक इन्द्रियोंका, वस्तुका और योग्यता आदिका यथायोग्य उपयोग करना ही कार्य है। इन सब कामोंको भी निष्कामभावसे अर्थात् उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुखभोगकी इच्छा न रखकर प्रभुकी प्रसन्नताके

लिये उत्साह और धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये; अवहेलनापूर्वक या उतावलेपनसे नहीं। इस प्रकार किया हुआ कर्तव्यपालन क्रियाशक्तिके वेगको तथा करनेकी आसक्तिको नाश करके साधकके चित्तको शुद्ध कर देता है। उसमें नवीन राग अङ्कुरित नहीं होने देता, अतः कालान्तरमें उस विषयके संकल्प नहीं उठते।

इसी प्रकार न करने योग्य कर्म वह है जो हमारी मान्यताके अनुसार हमारा कर्तव्य न हो। या जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमारे पास न हो अथवा करना आवश्यक न हो और जिससे किसीका अहित होता हो। ऐसे कामका त्याग भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होना चाहिये। उसमें न तो अपनेमें किसी गुणके अभिमानको स्थान देना चाहिये, न द्वेषको तथा न सुखके लालचको या दुःखके भयको ही; क्योंकि अभिमान और द्वेषपूर्वक किये हुए त्यागके संस्कार भी अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाले और कर्ताको सुख-दुःखके जालमें आबद्ध करनेवाले ही होते हैं।

उपर्युक्त रहस्यको समझना ही कार्य और अकार्यको समझना है; क्योंकि इसीमें बुद्धिकी सार्थकता है। तीसरा युग्म है—

भय और अभय

अब विचार करना है कि 'भय' किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कहाँसे होती है और उसका नाश कैसे हो तथा 'अभय' क्या है, वह कब और किस प्रकार प्राप्त होता है; क्योंकि भय किसीको भी अभीष्ट नहीं है और अभय मानवमात्रकी स्वाभाविक आवश्यकता है।

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि अनुकूल परिस्थितिके वियोगकी और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेकी शङ्का होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है उसको भय कहते हैं। इसकी उत्पत्तिका कारण भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर और वर्तमान परिस्थितिका दुरुपयोग ही है। या यों समझो कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुख-भोगकी आशा करना, उनको अपना मानना और उनके संयोग या वियोगकी इच्छा करना है। जब मनुष्य विवेकका अनादर करके शरीरमें 'मैं' भाव कर लेता है, शरीरको ही अपना स्वरूप मान लेता है, जो विचार करनेपर सर्वथा अपनेसे भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, तभी वस्तु, व्यक्ति और अवस्था आदिके संयोग और वियोगमें सुखकी आशा और दुःखका भय उत्पन्न होता है। प्राप्त विवेकके प्रकाशमें विचार करनेपर यह सहज ही समझमें आ सकता है कि बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और इनका समूह यह शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सभी परिवर्तनशील हैं और मैं नित्य हूँ। ये सब जाननेमें आनेवाले और परप्रकाश्य हैं, मैं इनको जाननेवाला और स्वप्रकाश हूँ। ये जड हैं और मैं चेतन हूँ। ये विनाशशील हैं और मैं अविनाशी हूँ। अतः न तो शरीरके साथ मेरे स्वरूपकी एकता है और न जातिकी ही। इस कारण इसका और मेरा किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यह न तो मैं हो सकता हूँ और न यह मेरा ही हो सकता है। जब शरीर ही मेरा नहीं हो सकता, तब अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिसे मेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है।

इस विवेकका आदर करनेपर जब साधक इन सबसे सर्वथा निराश हो जाता है। इनपर जो अविवेकपूर्वक विश्वास कर लिया था, इनको अपना मान लिया था, वह नष्ट हो जाता है, तब उसका अपने नित्य साथी परम सुहृद् भयहारी भगवान्‌पर संदेहरहित अविचल विश्वास हो जाता है। विश्वास होते ही सब प्रकारके भयका सदाके लिये नाश हो जाता है; क्योंकि जो अपना नित्य साथी है, जिसके साथ साधककी जातीय और स्वरूपकी एकता है, उसके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेपर, उसको अपना मान लेनेपर प्रेमका प्राकट्य हो जाता है। फिर साधकको हरेकमें अपना प्रेमास्पद ही दिखायी देने लगता है, तब भय किससे और कैसे हो।

भयके अभावका ही नाम अभय है। साधारणतया मनुष्य प्राप्तबलके द्वारा भयका नाश करनेकी आशा और चेष्टा करता है, पर वास्तवमें सफल नहीं हो सकता। तथापि यह अभिमान कर लेता है कि 'मैं अभय हो गया हूँ, मुझे अमुक सामर्थ्य प्राप्त है। अतः मुझे किसीसे भी कोई भय नहीं है।' उस समय वह यह नहीं सोच सकता कि उस अभिमानके रहते हुए मैं अभय कैसे हो सकता हूँ जो भयका मूल है। यह भी नहीं समझता कि जिन वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्बन्धसे भय उत्पन्न हुआ है एवं जिनका वियोग अनिवार्य है उनके बलपर भला कोई अभय हो ही कैसे सकता है। अतः वह न तो भयहारी प्रभुका आश्रय ले पाता है और न निर्भय ही हो पाता है।

अतः साधकको चाहिये कि उस भयहारी भगवान्‌का आश्रय लेकर भयका समूल नाश कर दे और अपनेमें किसी प्रकार भी ऐसे अभिमानको स्थान न दे कि मैं अभय हो गया। यही भय और अभयका यथार्थ जानना है।

यदि यह प्रश्न उठे कि भयका सदुपयोग क्या है ?

इसका यह उत्तर हो सकता है कि 'मुझसे किसी भी प्राणीका अहित न हो जाय। मैं भूलसे भी किसीके प्रतिकूल व्यवहार न कर बैठूँ'—इस बातको लेकर डरता रहे अर्थात् सावधान रहे। किसीको भयभीत करना अर्थात् भय देना ही मानो भयका बीज बोना है जिसका फल भय होना अनिवार्य है। प्राणिमात्रको अभयदान देनेवाला स्वयं अभय हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है और यह भी नियम है कि निर्भयताका अभिमानी दूसरोंके लिये भयप्रद होता है। अतः वह कभी निर्भय नहीं हो सकता। इसलिये साधकके जीवनमें कभी किसी भी परिस्थितिमें निर्भयताका अभिमान नहीं होना चाहिये। भाव यह कि जीवनमें निर्भयता तो अचल और अखण्ड हो, पर 'मैं अभय हो गया हूँ' ऐसा भास न हो प्रत्युत निर्भयता स्वभाव हो जाय। इसीमें अभयकी अर्थात् भय-रहित होनेकी सार्थकता है। चौथा युग्म है—

बन्ध और मोक्ष

अब विचार यह करना है 'कि बन्धन क्या है, वह क्यों हुआ, उसका कारण क्या है तथा उसका नाश कैसे हो और मोक्ष किसको कहते हैं, उसकी प्राप्तिका क्या महत्त्व है?'

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि हमें जो करना चाहिये वह नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिये उसे छोड़ नहीं सकते। दुःख भोगना नहीं चाहते; किंतु भोगना पड़ता है। सुख भोगना चाहते हैं; किंतु मिलता नहीं। इस प्रकार-की जो पराधीनता है यही बन्धन है, जिसके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिलती। सदैव क्रोध, लोभ और मोह आदिके आक्रमणोंसे आक्रान्त रहते हैं। इस बन्धनका एकमात्र कारण असावधानी यानी प्राप्त विवेकका अनादर और प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग है। दूसरे शब्दोंमें इसीको अज्ञान या अविवेक भी कहा जा सकता है। यह बन्धन कहीं बाहरसे नहीं आया है, हमने स्वयं ही शरीर, वस्तु और व्यक्ति आदिमें अहंता, ममता करके अपनेको वासनाओंके जालमें जकड़ रक्खा है। अतः इस बन्धनका नाश भी हम स्वयं ही कर सकते हैं और वर्तमानमें ही कर सकते हैं।

प्राप्तका सदुपयोग ही इसके नाशका सहज उपाय है जिसके करनेमें किसी प्रकार भी हम पराधीन या असमर्थ नहीं हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'हमें प्राप्त क्या है, और उसका सदुपयोग करना क्या है?' तो विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका समूह यह शरीर तथा वस्तु, व्यक्ति और योग्यता आदि जिनको हमने अपना मान रक्खा है, ये सभी प्राप्तके अन्तर्गत हैं। ये सब वास्तवमें उसी अनन्तके हैं जिसका यह समस्त विश्व है। तथापि हमने इनको अपना मान लिया है, अतः इनको वापस लौटा देनेपर अर्थात् इनका सदुपयोग करके इनसे असङ्ग हो जानेपर और इनमें ममतारहित होनेपर ही हम इनके बन्धनसे छूट सकते हैं। ये सब जिसके हैं उसीकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उसीकी प्रसन्नताके लिये इन्हें लगा देना ही इन सबका सदुपयोग है, जिसका विस्तृत विवरण 'कर्तव्य'के विवेचनमें आ गया है।

यह नियम है कि हम जिनकी सेवा करते हैं उनकी ममता छूट जाती है। यद्यपि साधारण व्यवहारकी दृष्टिसे यह प्रतीत होता है कि सेवा करनेसे ममता बढ़ती है, घटती या छूटती नहीं, पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर अनुभवमें आ सकता है कि ममता बढ़नेका कारण उनसे सुख-भोगकी आशा करना अर्थात् उन्हें सुख-भोगकी वस्तु मानकर उनकी रक्षा और पोषण करना है, सेवा करना नहीं। सेवा तो वह है कि जिसकी सेवा की जाय उसके हितमें रति हो, उसे सुन्दर और निर्मल बनानेका भाव हो। इस दृष्टिसे शरीर और इन्द्रियोंकी सेवा श्रम, संयम और सदाचारमें, मनकी सेवा शुभ संकल्पोंमें और उसे विकल्परहित बनानेमें, बुद्धिकी सेवा उसे सम बनानेमें और अहंकी सेवा समर्पण भावमें निहित है; क्योंकि ऐसा करनेसे ही शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ, सुन्दर और निर्मल रह सकती हैं तथा मन भी शुद्ध और शान्त हो जाता है। बुद्धि स्थिर और वास्तविक निश्चय तथा निर्णय करनेमें समर्थ हो जाती है। फिर इन सबसे ममता नहीं रहती। इसी प्रकार जिन-जिन व्यक्तियोंको हम अपना मानते हैं, उनकी सेवा करनेसे और उनको सुखोपभोगका साधन न बनानेसे उनमें भी ममता नहीं रहती; क्योंकि सेवामें देना-ही-देना है, लेना नहीं है। किसीके अधिकारकी रक्षाके लिये तथा सुख देने और सम्मान देनेके लिये जो लेना है, वह देना ही है। अतः वह सेवा ही है। पर जो मान, बड़ाई या अन्य किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशासे तथा अधिकार, लालसा और अभिमानपूर्वक दिया जाता है वह देना भी लेना ही है, अतः वह सेवा नहीं है। इस कारण उससे ममताका नाश नहीं होता, अपितु ममता और आसक्ति बढ़ती है तथा बन्धन दृढ़ होता रहता है। जो यह समझते हैं कि सेवासे ममता बढ़ती है वे सुख-भोगको सुरक्षित रखनेके लिये किये जानेवाले कर्मका ही नाम सेवा रख लेते हैं।

कर्तव्यपालन अर्थात् प्राप्तका सदुपयोग जब सुख-भोगकी आशाका सर्वथा त्याग करके किया जाता है, तभी सेवा होती है। उससे ममताका बन्धन टूट जाता है। ममताका नाश होते ही राग और द्वेषका अन्त हो चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

चित्त शुद्ध होते ही संसारका सम्बन्ध छूटकर भगवान्‌से नित्य सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे सब प्रकारके विश्वास नष्ट होकर एकमात्र प्रभुपर ही अटल और संदेहरहित विश्वास हो जाता है, जिससे अहं गलकर उनके प्रेमके रूपमें बदल जाता है।

बन्धनसे छूट जाना ही मोक्ष है और इसके भी सुख-भोगकी आशा न करना मोक्षका सदुपयोग है। इसीको गीतामें मोक्षसंन्यास कहा है। इसका फल विशुद्ध प्रेम है।

मोक्षकी प्राप्तिका महत्त्व यही है कि उसके होते ही साधक अपने साध्यको पा लेता है, अर्थात् सीमित अहंभाव गलकर उस अनन्तमें मिल जाता है, जिसके किसी एक अंशमें यह समस्त विश्व है।

इस प्रकार गीताके श्लोकोंका मनन करके यदि साधक अपना साधन निश्चित कर ले और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो सहजमें ही सब प्रकारके बन्धनोंका नाश हो सकता है। साधकको चाहिये कि साधनमें सफलता देखकर न तो किसी प्रकारका अभिमान करे और न उसके सुखमें रमण ही करे; क्योंकि साधनजनित सुखमें रमण करनेसे साधनमें शिथिलता आ जाती है, साधनमें प्रगति नहीं होती और अभिमानसे अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होने लगती है, जिससे चित्त शुद्ध नहीं हो पाता तथा लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। इस कारण साधकको चाहिये कि सफलताको उस परम दयालु, परम हितैषी प्रभुकी कृपा समझकर उनका कृतज्ञ होता रहे। बार-बार अपने दोषोंकी ओर देखकर प्रभुकी महिमाकी ओर आकर्षित हो मनमें समझे कि उस प्रभुका कैसा मृदुल स्वभाव है जो कि मुझ-जैसे अधमपर भी वे इतनी कृपा करते हैं।

ऐसा करनेसे हृदयमें प्रेमकी लहर उमड़ेगी। हृदय पिघलेगा और निर्मल होकर प्रभुके प्रेमसे भरा रहेगा। जीवनकी सफलता इसीमें है कि शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदयमें प्रेमकी गङ्गा लहराती रहे और स्वयं अभिमानशून्य हो जाय। अर्थात् अपनेमें अपना कुछ न रहे।

श्रीराधिका-वन्दना

(रचयिता—श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराणतीर्थ)

वन्दौं श्रीवृषभानु किसोरी।
रूप शील लावण्य खानि गुन नागर नटवर चन्द्र चकोरी।
नेति नेति जेहि वदति सतत श्रुति गिरिधर अधर सुधारस बोरी॥
विकसित कनक कुसुम दल शत दुति रतिपति विरति निरख तन गोरी।
मृगमद बिंदु-भाल मधि भ्राजत नील निचोल अरुण सिर खोरी॥
शिव शुक अज सनकादिक दुर्लभ हरिरस सिन्धु मगन मन भोरी।
अभिनव गौर रमणि मणि मंडित राधारमण मनोहर जोरी॥

प्रार्थना

(रचयिता—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०)

प्रभो, दिखाओ अपना धाम।
जहाँ नहीं है क्रोध, लोभ, मद, ममता, मत्सर, काम॥
जहाँ नहीं है क्षुधा, पिपासा, स्वेद, शीत औ घाम।
जहाँ नहीं है काल-संकलित रात्रि, दिवस औ याम॥
जन्म-मरणके सतत भ्रमणसे जहाँ मिलै विश्राम।
जहाँ मुक्त जन गाया करते दिव्य गुणोंका ग्राम॥
जहाँ एकरस अक्षय धन है देव! तुम्हारा नाम।
जहाँ तुम्हारे दर्शनका सुख नाथ सदा उद्दाम॥

शान्तिकी शक्ति

(संत श्रीविनोबाजीका आंध्रमें एक प्रवचन)

आंध्रदेशके निवासियोंके हृदयमें कितनी शक्ति पड़ी है इसका भान हमें रोजकी प्रार्थनासे होता है। हर रोज बच्चे, बड़े सब पाँच मिनटतक अत्यन्त शान्तिसे मौन चिन्तन करते हैं। यह एक बड़ी शक्ति है। अपने खुदपर काबू रखनेकी शक्तिसे बढ़कर दुनियामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। दुनियाको जीतनेवाले बड़े बहादुर कहलाये गये; लेकिन अपनी इन्द्रियाँ तथा मन आदिको जीतनेवाले, उनको वशमें करनेवाले वीर नहीं बल्कि महावीर होते हैं। यह जमाना ऐसा आया है कि इसमें इन्द्रियनिग्रह और मनःसंयमका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आज अगर हम अपनी कृतिको काबूमें रखते हैं और ठीक विचारसे काम करते हैं तो सारी दुनियाकी सेवा कर सकते हैं। आज दुनियाके देशोंके बीच परस्पर सम्बन्ध इतना दृढ़ हो गया है कि किसी देशके मनुष्यकी अच्छी कृति सीमित नहीं रहेगी, बल्कि देश-देशमें फैल जायगी और अगर हम अपनेपर काबू नहीं रख सकेंगे, कुछ गलत काम कर लेंगे तो वह गलती और वह पाप भी सीमित नहीं रहेगा, व्यापक हो जायगा। ऐसी हालतमें हरेक देशके नागरिकोंपर और ग्रामीणोंपर व्यक्तिगत और सामूहिक तौरपर बड़ी भारी जिम्मेवारी आती है।

खास करके हिंदुस्थानके नागरिकों और ग्रामीणोंपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी आती है। इस देशकी प्रसिद्धि है कि इसके इतिहासभरमें जिस प्रकारकी वृत्ति दीखती है उसके परिणामस्वरूप यहाँपर जो आजादीकी लड़ाई लड़ी गयी, वह भी एक विशेष ढंगसे लड़ी गयी। और उसके बाद हमारे नेताओंने विश्वशान्तिके लिये सतत प्रयत्न किया। इस तरह भारतका विशेष प्रकारका इतिहास, आजादीकी अहिंसात्मक लड़ाई और स्वराज्यप्राप्तिके बाद इस देशका विश्वशान्ति और हरेक देशकी आजादीके पक्षमें आवाज उठाना—ये तीनों चीजें हमारी जिम्मेवारी बढ़ाती हैं और उसके कारण हमारे देशमें बड़ी ताकत बढ़ेगी बशर्ते कि हम इस महिमाको समझ सकें। इसलिये हम अपने भाइयोंसे बार-बार कहते हैं कि आप छोटे नागरिक नहीं हैं, आप विश्वनागरिक हैं। वैसे हिंदुस्थान स्वयं कोई छोटा देश नहीं है। यह तो एक विश्व-समाज है, विश्वमें जितनी विविधताएँ मौजूद हैं उतनी भारतमें मौजूद हैं। तो इतनी विविधताओंके साथ अगर हमने ठीक कदम उठाया जिससे कि हमारा समाज शान्तिके तरीकेसे उन्नति प्राप्त कर सके तो उसका दुनियापर बहुत असर होगा। दुनियापर भला या बुरा, दोनों प्रकारका असर डालनेकी शक्ति आज हिंदुस्थानमें है। यह भी कबूल करना पड़ेगा कि यद्यपि हम विश्वशान्तिकी आवाज उठाते हैं फिर भी हमारे देशमें समस्याएँ कम नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि ऐसी समस्याएँ मौजूद हैं, इसीलिये हमारी विश्वशान्तिकी इच्छाकी कीमत बढ़ती है। अगर समस्याएँ नहीं होतीं तब तो स्वाभाविक ही शान्ति रहती। जब सारा समाज सुखी है, किसी प्रकारकी विषमता नहीं है, सब लोगोंमें परस्पर सहयोग है, उच्च-नीचता नहीं है, समृद्धि है तब तो देशमें शान्ति रहना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जहाँ विषमता मौजूद है, सामाजिक उच्च-नीचता भी पड़ी है, मजदूर-मालिकका भेद पड़ा है, एक तरफ बड़े-बड़े अमीर और दूसरी तरफ गरीब दुखी लोग मौजूद हैं, पैदावार कम है—ऐसी हालतमें अगर हम शान्ति रखते हैं तो उस शान्तिकी बहुत कीमत है।

जब मैं शान्तिकी बात कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि समाजमें इतने दुःख होते हुए भी सहन करते चले जाना, गरीबोंके प्रति सहानुभूति नहीं रखना, अड़ोसी-पड़ोसियोंकी परवा नहीं करना और समस्याओंके हलका उपाय नहीं ढूँढ़ना, बल्कि मैं ऐसा कहूँगा तो कोई मेरी बात मानेगा भी नहीं। यह असम्भव वस्तु है कि समाजमें अनेक प्रकारके दुःख और विषमता मौजूद होते हुए भी उसके लिये कोई प्रयत्न न करें तो भी समाजमें शान्ति रहेगी। अगर ऐसा सम्भव हुआ और बुरी हालतमें भी समाज शान्त रहा तो मैं उसे तमोगुणी समाज, जड समाज, मानवतासे गिरा हुआ समाज कहूँगा। मैं जानता हूँ कि हिंदुस्थानमें ऐसे वेदान्ती मौजूद हैं जो कहते हैं कि ये सारे सुख-दुःख मिथ्या ही हैं। इसलिये उनकी परवा क्यों करते हो? हमेशा शान्त रहना चाहिये। लेकिन ऐसे जितने लोग मैंने देखे हैं उनके खाने-पीनेका ठीक इन्तजाम होता था। या तो वे समाजमें भिक्षा माँगते थे और समाज इतना दुखी होनेपर भी ऐसे पुरुषोंके लिये आदर रखता था और उन्हें खिलाता था। या तो उनमेंसे कुछ अमीर होते हैं या उनके हाथमें ऐसे धंधे हैं कि वे इधर समाजको चूसते रहते हैं और उधर

दुनियामें शान्तिका और निवृत्तिका पाठ गाते रहते हैं। हम समझते हैं कि यह वेदान्त नहीं है। यह वेदान्तके बिल्कुल विपरीत भाव है। यह तो दम्भकी पराकाष्ठा है—ऐसा हम समझते हैं। इसमें या तो आत्मवञ्चना है या परवञ्चना। वेदान्ती तो वह होगा जो कि खुद शान्त रहकर सारे समाजके दुःख-निवारणके लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो अपने स्थानमें खाने-पीने बैठा है, कुछ सेवाकार्य नहीं करता है, उसे हम वेदान्ती नहीं समझते हैं; बल्कि हम समझते हैं कि वह भारभूत प्राणी है। जो सचमुचमें आत्मानुभवी पुरुष होता है वह तो निरन्तर कृति करता रहता है। कहा गया है 'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।' वसन्त ऋतुके समान लोक-हितके लिये सतत घूमता रहता है। अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता है। सेवा करनेमें ही समाधान चाहता है। फलकी आकाङ्क्षा नहीं रखता है और सब लोगोंके दुःख-निवारणमें मातृवत् वात्सल्यसे लगा रहता है। इतनेपर भी जिसके चित्तमें आसक्ति नहीं रहती है, जब ऊपरसे बुलावा आता है, तब खुशीसे जानेके लिये प्रस्तुत रहता है। ऐसा जो निरन्तर सेवक है, वही निवृत्तिमार्गी है, वेदान्ती है। जैसे कोई मनुष्य अत्यन्त वेगसे चलता हो तो हमें भास होता है कि वह स्थिर है। वैसे ही जो निरन्तर कर्मयोगी सेवक है वह निवृत्त मालूम होता है। अगर कोई यन्त्र काम ही न कर रहा हो, ऐसे ही पड़ा हो तो वह निकम्मा हो जाता है। उसपर जंग चढ़ता है और वह बैठे-बैठे ही खत्म हो जाता है। हम अपने घरमें ऐसे ही बैठे हों तो भी बारह बजे भूख लगती है। बैठे-बैठे ही पाँव थक जाते हैं तो चलनेकी इच्छा होती है। चलते-चलते थकान मालूम होती है तो फिर बैठनेकी इच्छा मालूम होती है। फिर सोनेकी इच्छा होती है। फिर सोनेकी भी थकान मालूम होती है; क्योंकि सोनेमें भी काम होता है, शरीरमें खूब क्रियाएँ चलती हैं, पचन-क्रिया चलती है। इस तरह शरीरसे निरन्तर कर्म चल रहा है। खाना-पीना नहीं रुक रहा है। सिर्फ गरीबोंकी चिन्ता छोड़ दी, इसे क्या वेदान्त कहते हैं? इसलिये हिंदुस्थानमें निवृत्तिका जो गलत अर्थ किया जाता है, हम समझते हैं कि समाजके लिये यह खतरा है। निवृत्तिमार्गियोंके शिरोमणि शङ्कराचार्य हिंदुस्थानभर घूमते रहे। गाँव-गाँव और घर-घर जाकर लोगोंमें ज्ञान बाँटते रहे। इस तरह निरन्तर परिश्रम करके बत्तीस सालकी उम्रमें वे चले गये।

हिंदुस्थानमें शान्तिका यह जो गलत अर्थ निकला है वह शान्ति नहीं है, बल्कि जडता है। पत्थर यों ही पड़ा है, उसमें कोई ऊर्मि नहीं उठती, तो क्या वह शान्त है? मैंने कई दफा कहा है कि शान्ति तो विष्णुभगवान्‌के-जैसी होनी चाहिये। 'शान्ताकारं भुजगशयनम्।' साँपकी शय्यापर सोते हुए भी वे शान्त रहते हैं। रूईकी गद्दीपर सोकर शान्त रहनेमें क्या शान्ति है? जहाँ समस्याएँ मौजूद हैं और उन समस्याओंके निवारणके लिये कोशिश की जा रही है, वहींपर शान्तिकी कीमत है। अगर शान्तिका अर्थ यह हो कि स्टेट्‌सको रखना, आजके-जैसे समाजको कायम रखना तो वह शान्ति बिल्कुल निकम्मी है। हिंदुस्थानमें इतनी समस्याएँ, दुःख और विषमता मौजूद हैं तब भी मैं आपको शान्ति रखनेके लिये कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप दुःख सहन करते रहें बल्कि उसका अर्थ यह है कि आपको वीर पुरुषके समान उनका मुकाबला करना चाहिये। लेकिन उन समस्याओंका निवारण शान्तिके तरीकेसे करना चाहिये और यह दिखा देना चाहिये कि शान्तिमें शक्ति पड़ी है और उससे समस्याएँ हल हो सकती हैं। आजतक लोगोंने माना है कि अगर शान्ति है तो समस्याएँ जारी रहती हैं, हल नहीं होती हैं और अगर उन्हें हल करनेकी कोशिश होती है तो खूनकी नदियाँ बहती हैं। यानी जहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न होता है, वहाँ शान्ति नहीं रहती है और जहाँ शान्ति रहती है वहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न नहीं होता है। इस तरह दोनोंमेंसे एक चीज होती है—यह मानना बिल्कुल गलत विचार है। समस्या-निवारणके साथ शान्ति होनी चाहिये, शान्तिके तरीकेसे समस्याओंका हल निकालना चाहिये या दूसरी भाषामें हम कहेंगे कि शान्ति आक्रमणकारी होनी चाहिये। यानी वह शान्ति किसी एक हृदयके अंदर छिपी हुई नहीं रहनी चाहिये। मेरे नजदीक बैठे हुए किसी मनुष्यको बिच्छूने काटा और मैं वैसे ही बैठा रहा, मुझे कुछ करनेकी प्रेरणा नहीं हुई तो वह कोई शान्ति नहीं है। यह तो करुणाका अभाव है, निष्ठुरता है, जरा सोचनेपर कहेंगे कि यह स्वार्थ है, आलस्य है और आगे बढ़कर मैं कहूँगा कि यह दम्भ है। मुझे दुखियोंकी सेवामें दौड़ना चाहिये और दौड़ते हुए भी मनमें शान्ति रखनी चाहिये। यह सच्ची शान्ति होगी।

शान्तिके तरीकेसे दुःखनिवारणकी कोशिश करेंगे, समस्याएँ हल करेंगे तो हम शान्तिकी शक्तिको प्रकट करेंगे, तब शान्तिका राज्य होगा। मैंने कई दफा कहा है कि आज

दुनियामें शान्ति नहीं है सो बात नहीं; परंतु शान्ति स्वामिनी नहीं है, वह दासी है। आजकी समाज-रचनामें भी कुछ सेवाका काम चलता है, लेकिन बिल्कुल गौणरूपसे चलता है। इधर लड़ाइयाँ चलती हैं और उधर सेवा-शुश्रूषा करनेवाला थक भी जाता है। हम कबूल करते हैं कि उसमें दया है, सेवा है; लेकिन उस दयामें शक्ति नहीं है। वह दया युद्ध-निवारण नहीं कर सकती। वह तो युद्धका एक अङ्ग ही है। इस तरह दासीके तौरपर आज भी शान्तिका, दयाका, सेवाका कुछ काम चलता है। परंतु हम चाहते हैं कि शान्ति, सेवा और दया स्वामिनीके सदृश काम करें, उनका राज्य हो। हिंदुस्थानमें कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें दुखियोंका दुःख देखकर या सुनकर दया आती है और उनकी आँखोंसे आँसू भी बहते हैं; लेकिन उन्हें दुःखनिवारणके लिये दौड़ जानेकी प्रेरणा नहीं होती। हम कहना चाहते हैं कि वह दया बिल्कुल आरम्भ की है, वह करुणा नहीं है। जिसमें करनेकी प्रेरणा होती है, वह करुणा है।

बुद्धभगवान्‌को चालीस उपवासके बाद दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि आसमानमें परमेश्वरकी करुणा फैली हुई है। यह आसमान परमेश्वरकी कृपाका लक्षण है। वह चुप नहीं बैठता। दिखता तो है बड़ा शान्त, लेकिन हमारे लिये पानी बरसाता है, सूरजकी किरणें भेजता है। हवाको इधरसे उधर दौड़ाता है। अगर वह यह सब नहीं करता तो हमारी क्या हालत होती? इसलिये इस आकाशको हम परमात्माका चिह्न समझेंगे; क्योंकि वहाँपर अत्यन्त व्यापक करुणा फैली हुई है। बुद्धभगवान्‌को यह दर्शन हुआ, फिर उन्होंने तपस्या छोड़ दी और वे घूमने निकल पड़े। गाँव-गाँव जाकर वे लोगोंकी सेवा करते थे, उन्हें उपदेश देते थे। एक दिन उनका एक शिष्य एक आदमीको उनके पास ले आया और उसने भगवान्‌से कहा कि इसे उपदेश दीजिये। भगवान् बुद्ध उस जमानेके परम ज्ञानी थे और उनके मुखसे हमेशा करुणामय उपदेश स्रवित होता था; लेकिन उन्होंने उस मनुष्यके चेहरेकी तरफ देखकर पूछा कि 'क्या इसने खाना खाया है?' और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसने नहीं खाया है तो उन्होंने शिष्योंसे कहा कि 'इसे खाना खिलाओ।' जब शिष्योंने उसे खाना खिलाकर भगवान्‌के सामने उपस्थित किया, तब भगवान्‌ने उसे प्रणाम करते हुए कहा कि 'आप अब जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ जा सकते हैं।' शिष्योंको बड़ा आश्चर्य लगा कि भगवान्‌ने उसे बोधामृत क्यों नहीं दिया। तो भगवान्‌ने उनसे कहा कि भूखेको अन्न खिलाना—यही बोध-दान है। उन्होंने बोध-दान अपने शिष्योंको दिया। उनसे कहा—'तुमलोग कितने मूर्ख हो कि भूखेको, दुखीको देखकर उपदेशकी बात करते हो। भूखेको खाना खिलाओ तो एक शब्द बोले बिना उसे ज्ञान हो जायगा। जिसका हमारे साथ कोई रिश्ता नहीं है, ऐसा एक मनुष्य प्रेमसे हमारी सेवा करता है तो वह सेवासे बोध देता है, वह सेवा ही बोलती है।' इसलिये भगवान्‌ने शिष्योंसे कहा कि 'तुम्हारे लिये बोध है और उसके लिये अन्न। तुम्हें अन्न मिल रहा है, लेकिन उसे नहीं मिल रहा है; इसलिये उसके लिये पहला बोध है अन्न।'

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'। गुरुने शिष्यको पहला बोध दिया कि अन्न ही ब्रह्म है। मैं यहाँपर कोई आधुनिक अर्थ-शास्त्रका वाक्य नहीं कह रहा हूँ। मैं तो ब्रह्मविद्याका, उपनिषद्‌का वाक्य सुना रहा हूँ। ब्रह्मविद्याके ऋषि उपदेश देते हैं—'अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्' खूब अन्न पैदा करो। इन दिनों हमारी सरकार भी 'अधिक अन्न उपजाओ' कहती है। उपनिषद् भी यही बात कह रहा है; क्योंकि उपनिषद् जानता है कि ब्रह्म क्या है। ब्रह्म यानी भ्रम नहीं है, ब्रह्म वस्तु है। इसीलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्राप्ति होती है। समाजकी समस्याएँ अगर शान्तिसे हल होती हैं तो समाजको ब्रह्मदर्शन होता है, समाज ऊपर उठता है। फिर समाजमें चोरियाँ नहीं होतीं। चोरियोंको दूर करनेके लिये उपदेशकी—किताबोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि इस बातकी जरूरत है कि हम अपनेको समाजका अंश समझें और अपनेमें सारे समाज-को देखें। बहुत-से लोग कहते हैं कि हम अपनी मुक्तिकी कोशिश करते हैं; लेकिन हम उनसे कहते हैं—जहाँ आपने 'हमारी' कहा, वहाँ मुक्ति आपसे दूर भाग गयी। क्या तुम बँधे हुए हो? तुम तो मुक्त ही हो। जहाँ मुक्तिकी कोशिश की जाती है, वहाँ वह दूर भागती है। हमारा एक मित्र तपस्या करनेके लिये जंगल गया, लेकिन बीचमें मेरे पास आकर दस रुपये माँगने लगा। कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि उपनिषद्‌की पुस्तक खरीदनेके लिये रुपयेकी जरूरत है। यानी ब्रह्मविद्या भी दस रुपयेके शरण आयी; क्योंकि उसने समझा कि मुझे इतना ज्ञान सम्पादन करना है। हम कहते हैं कि तुम अपनी निजकी चिन्ता छोड़ दो और समाजकी सेवामें लग जाओ। 'मेरे शरीरकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है। 'मेरे मनकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है; 'मुझे खूब पढ़ना-लिखना सीखना है' यह कहना भी बन्धन है।

'मुझे खूब शान्ति मिलनी चाहिये' यह कहना भी बन्धन है। 'मुझे' और 'मेरा' यह सब छोड़ दो, समाजकी सेवामें लग जाओ; मेरे पास जो कुछ है, वह समाजका है, मेरा नहीं है—ऐसा समझें। हम खायेंगे, पीयेंगे, सोयेंगे समाजकी सेवाके लिये। इस तरह हर चीज समाजकी सेवाके लिये हो, अपने लिये हम कुछ भी न करें। मेरा जो यह शरीर है, वह भी मेरा नहीं है, समाजका है। वह समाजमेंसे निर्मित हुआ है। वह उसीकी सेवामें लगेगा और उसीमें क्षीण हो जायगा। यह शरीर जन्मेगा, काम करेगा और मरेगा; वह जाने और समाज जाने। मेरा इस शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको मुक्ति कहते हैं। जहाँ मुक्तिके लिये प्रयत्न होता है, वहाँ वह भी एक स्वार्थ बनता है। इसलिये हम अपनेको शून्य समझें, समाजमें खुदको लीन कर दें, तब हमारा बेड़ा पार होगा और समाजका भी बेड़ा पार होगा। गीतामें कहा है 'अनिकेतः स्थिरमतिः।' जिसकी बुद्धि आत्मविचारमें स्थिर हो गयी है और शरीर निरन्तर सेवाका कार्य करता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंके कार्यके परिणामस्वरूप शान्तिमें शक्ति आयेगी और शान्तिसे समाजकी समस्याएँ हल होंगी। तो फिर हमें भी मुक्ति प्राप्त होगी और समाजको भी मुक्ति प्राप्त होगी।

हमें समझना चाहिये कि अब हमारे देशको एक बड़ा मौका मिला है, जैसा पिछले दो हजार वर्षोंमें नहीं मिला था। हमें ऐसा मौका मिला है कि जिसमें हम दुनियाकी सेवा कर सकते हैं और अपनी आवाज दुनियामें पहुँचा सकते हैं, कुल दुनियाको परमेश्वरका निवासस्थान बना सकते हैं। यह मौका भी है और साथ-साथ जिम्मेवारी भी है। इसलिये आप भूदान-यज्ञकी तरफ इस दृष्टिसे मत देखिये कि इसमें भूमिका मसला हल होनेवाला है, बल्कि इस दृष्टिसे देखिये कि मसला हल करनेके लिये शान्तिका तरीका जब हाथ आ गया, तब विश्व-शान्तिकी कुंजी हाथ आयेगी और आत्मशान्तिकी भी कुंजी हाथ आयेगी। इसलिये हम हरेकसे कहते हैं कि तुम्हारे पास जो कुछ जमीन, सम्पत्ति, बुद्धि आदि है, उसका एक हिस्सा अपने पड़ोसीके लिये दान दे दो तो जिसको वह दिया जायगा, उसकी भी समृद्धि बढ़ेगी और तुम्हारी भी बढ़ेगी; किसीको दुःख नहीं होगा, दोनों सुखी होंगे। हम साढ़े चार सालसे यही संदेश सुनाते हुए घूम रहे हैं; लेकिन हम जाहिर करना चाहते हैं कि हमें कोई थकान महसूस नहीं होती। हम यह भी कहना चाहते हैं कि हमें परिपूर्ण शान्ति लब्ध है। लेशमात्र भी चिन्ता हम नहीं महसूस करते। रातको बिस्तरपर पड़ते हैं तो निद्रा आनेमें दो मिनट भी नहीं लगते। हमारा उत्साह दिनोंदिन बढ़ रहा है। हमें यह अनुभव इसलिये हो रहा है कि इससे अपने देशकी और दुनियाकी समस्याएँ हल हो रही हैं, लोगोंमें शान्तिकी शक्ति बढ़ रही है।

उधर दुनियामें—दूसरे देशोंमें अशान्तिकी शक्तियाँ बढ़ रही हैं, ऐटम और हाईड्रोजन बम बन रहे हैं; लेकिन अशान्तिकी शक्ति एक दूसरेको अशान्त ही बनाती है। दोनों आग लगायें तो दोनोंकी आगसे पानी नहीं पैदा होता बल्कि आग बढ़ती है। इसलिये अब दुनियाके उन लोगोंके मनमें भी शङ्का पैदा हो रही है, जो कि अशान्तिमें विश्वास रखते थे। अब वे कहने लगे हैं कि शस्त्र छोड़ने चाहिये, शान्तिकी जरूरत है; परंतु दोनों कहते हैं कि सामनेवाला छोड़ेगा तो हम छोड़ेंगे। अबतक वे ऐसी बातें भी नहीं बोलते थे, लेकिन अब कम-से-कम एक टेबलपर आमने सामने बैठकर बात तो करते हैं। बुल्गेनीन भारतमें शान्तिके लिये आये थे। वैसे रशियाकी तुलनामें हिंदुस्थानके पास कोई ताकत नहीं है, लेकिन वे प्रेमसम्पादन करनेके लिये यहाँ आये थे। यद्यपि वे भयके कारण ही प्रेमसम्पादन करने आ रहे हैं फिर भी हम उन्हें दोष नहीं देते; क्योंकि अबतक वे भयके कारण द्वेष ही करते थे। भय तो पहले भी था और आज भी है। लेकिन पहले भयसे प्रेरित होकर द्वेष करते थे और अब प्रेम करने लगे हैं तो हमें अच्छा लगता है। हम कहते हैं कि ठीक है, बच्चा अब बोलने लगा है। बोलते बोलते किसी दिन करने भी लगेगा। लेकिन जब वे भय छोड़ेंगे और प्रेम करेंगे, तब शान्तिकी शक्ति पैदा होगी।

आज हम बहुत कमजोर हैं। फिर भी हम देखते हैं कि हमारी प्रार्थनामें हर रोज सब लोग पाँच मिनट मौन रखते हैं। दुनियाभरमें कहा जाता है कि बच्चे तो बंदरकी जातिके होते हैं। लेकिन हमारे देशके बच्चे भी पाँच मिनट मौन रखते हैं। यही हमारे देशकी शक्ति है, जिसको हम विकसित करना चाहते हैं। दुनियाके लोगोंको आश्चर्य लगता है कि बाबाको माँगनेसे जमीन कैसे मिलती है। यह दान इसलिये मिलता है कि प्रेमसे माँगा जाता है। प्रेमसे माँगनेपर हृदय खुलता है और हृदयकी ज्योति दूसरे हृदयमें फैलती है। हिंदुस्थानमें यह जो प्रेम है, उसे हम अपनी शक्ति समझते हैं और उस शक्तिको विकसित करना चाहते हैं, प्रकाशित करना चाहते हैं, उसे बाहर लाना चाहते हैं।

(प्रेषक—बाबा श्रीराघवदासजी)

इस दैवी सिनेमाका संचालक कौन है ?

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

संध्या-कलवारिन का आना ,
दिन ढलते दुकान लाना ;
लाल-लाल अपनी मदिरा का ,
विज्ञापन वह झलकाना ।
मेघों का भी छैला बन-बन ,
इधर-उधर आ डट जाना ;
वायु-सखी का सेवा करना ,
दौड़-धूप निज दिखलाना ॥१॥

धीरे-धीरे महफ़िल में फिर ,
निशा-नटी का भी आना ;
संध्या का आगे बढ़ना ,
सोने का प्याला रख जाना ।
लाकर प्याला अधर-पुटों तक ,
निशा-नटी का नखराना ;
हँस-हँस फिर स्वर्गीय लाल ,
रस का वह प्याला पी जाना ॥२॥

क्षण में दृश्य बदलना सब ,
फिर रंग निशा पर चढ़ आना ;
महफ़िल का भी तन्मय होना ,
निशा-रंगमें रँग जाना ।
रङ्गभूमि में उतर निशा का
रूप-जाल वह फैलाना ;
समयोचित सब साज साज कर ,
कला अलौकिक दिखलाना ॥३॥

झम-झम मोती के झुप्पे
सिर पर चम-चम चमकाना ;
झमक-झमक कर झरनों से ,
सरिताओं पर पग थिरकाना ।
घुमड़-घुमड़ वह हवा बीच
फिर नाच दिखाना मस्ताना ;
हरकर सब की सुध-बुध सब पर
जादू-सा कुछ कर जाना ॥४॥

चंद्र-कुँअर के चित्त-पटल पर
निशा-रूप वह गड़ जाना ;
प्रेम-पाश में पड़कर उसका
दिन-दिन घुलते दिखलाना ।
फूलों का खिल-खिल हँसना
कलियोंका उँगली चटकाना ;
लतरों का भी इतरा-इतरा
कर अपनी कटि मटकाना ॥५॥

पुत्र चंद्र की देख दशा यह
सिन्धुदेव का घबराना ;
हा हा कर आगे को बढ़ना ,
फिर पछाड़ खा गिर जाना ।
शैलों का तब धैर्य बँधाना ,
दृढ़ता के गुण समझाना ;
देख दशा यह दसो दिशाओं
का चित्रित-सा रह जाना ॥६॥

इधर निशा का नाटक सारा
अब समाप्ति पर आ जाना ;
चंद्र देव का निशा-विदाई
पर व्याकुलता दिखलाना ।
दोनों का जी भर-भर रोना ,
सौ-सौ आँसू ढरकाना ;
फिर दोनों का अपने उतरे
चेहरे ले-ले घर जाना ॥७॥

आखिर उषा-कुमारी का फिर
किरणों की झाड़ू लाना ;
गगनाङ्गण के बिखरे सब
मोती बटोर कर ले जाना ।
फिर अन्तिम प्रणाम प्राची का
स्वर्णाक्षर में दिखलाना ;
औ प्रकाश होते ही सब में
चहल-पहल-सी मच जाना ॥८॥

यों स्वर्गीय सिनेमा के सब खेल मनोहर |रोजाना ;
कौन दिखाता है बैठा माया-मशीन पर वह स्याना ।
है वह कौन अदृश्य, दृश्य जो दिखलाता यह मनमाना ;
कभी उधर भी दृष्टि फिरी क्या, कभी उसे भी पहचाना ॥ ९ ॥

शान्ति कैसे मिलती है ?

(लेखक—अनिकेत अनन्त श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। जो लोग इसे पाते हैं, वे धन्य हैं। मानव-जन्म मिलनेपर भी इष्टकी भक्ति और भी दुर्लभ बतायी गयी है; इसलिये बिजलीकी तरह चञ्चल परंतु दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भक्तिपूर्वक इष्टका भजन करना चाहिये। जबतक बुढ़ापा नहीं आता, मृत्यु भी जबतक नहीं आ पहुँचती और इन्द्रियाँ जबतक शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक इष्टकी आराधना कर लेनी चाहिये। यह शरीर नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है। विचारवान् मनुष्य इसपर कभी विश्वास न करें।

'बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते ?'

मृत्यु सदा निकट रहती है। धन-वैभव अत्यन्त चपल है तथा शरीर कुछ ही समयमें मृत्युका ग्रास बन जानेवाला है। संयोगका परिणाम वियोग ही है। यहाँ सब कुछ क्षणभङ्गुर है—यह विचारपूर्वक निश्चितरूपसे जानकर जन्म-मृत्यु-हर इष्टकी पूजामें तत्पर रहना चाहिये। वे इष्ट ही अज्ञानी जीवोंको अज्ञानमय बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। इष्टके भजनसे सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा मनकी शुद्धि होती है। इष्टके पूजित होनेपर मनुष्य परम मोक्षतक प्राप्त कर लेता है।

सब कर्मोंको सिद्ध करनेवाले मानव-जन्मको पाकर भी जो मनुष्य इष्टकी सेवा नहीं करता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है। 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः'। सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः' के रहते हुए भी मनुष्य ज्ञानरहित होकर नरकोंमें पकाये जाते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! जिससे मल-मूत्रका स्रोत बहता रहता है, जिसे प्रतिदिन बहुत बार जल एवं मिट्टीसे साफ करते रहनेपर भी जो साफ नहीं रहता, ऐसे इस मलिनताके घर शरीरमें अज्ञानी मनुष्य महान् भोगेच्छासे आच्छन्न होनेके कारण शोभनताकी भावना करते हैं और इस क्षणभङ्गुर शरीरमें नित्यताका निश्चय करते हैं! जो मनुष्य मल, मूत्र, मांस तथा रक्त आदिसे भरे हुए इस अपवित्र शरीरको पाकर संसार-बन्धनका नाश करनेवाले इष्टका भजन नहीं करता, वह तो गजमूर्ख है और महान् अभागा तथा महापातकी है। मूर्खता या अज्ञान अत्यन्त कष्टकारक है, महान् दुःख देनेवाला है; परंतु इष्टके भजनद्वारा चाण्डाल भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त करके महान् सुखी हो जाता है। ज्ञानशून्य मनुष्य पशु कहे गये हैं। अतः संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये इष्टके भजनद्वारा परम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानशून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्तिताः।
तस्मात् संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत्॥

जो अध्यात्मज्ञानसे सम्पन्न तथा इष्टरूपी परमात्माकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे पुनरावृत्तिरहित परमधामको प्राप्त लेते हैं। जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, जिनसे चेतना पाकर यह जीवित रहता है और भोगावसानमें जिनके भीतर ही इसका लय होता है, वे परमात्मा ही संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले हैं। जो अखण्ड अनन्त परमेश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण-से प्रतीत होते हैं, उन परमात्माकी आराधना करके मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर अखण्ड शान्ति पा जाता है।

कर्मसे देह मिलता है। देहधारी जीव भोगोंकी कामनासे बँधता है। कामनासे भोग प्राप्त करनेके लिये वह लोभके वशीभूत हो जाता है और लोभकी वस्तु प्राप्त करनेमें बाधा प्राप्त होनेसे क्रोधके अधीन हो पड़ता है। क्रोधसे हिताहित-विवेकका नाश होता है। हिताहित-विवेकके नाशसे बुद्धि बिगड़ जाती है और जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप करने लगता है। अतः देह ही पापकी जड़ है तथा उसीकी पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह इस देहात्मबुद्धिका परित्याग करके अखण्ड चेतनात्म-बुद्धिमें स्थित होकर परम शान्ति (अभय) प्राप्त करनेके लिये इष्टरूपी परमात्माका भजन करे। जो ब्रह्माजीके रूपमें सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, विष्णुरूपसे पालन तथा रुद्ररूपसे संहार करते हैं; जो तीन रूपोंसे लीला करते हैं, जिनके प्रभावसे महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, उन नित्यानन्दस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माको ही मोक्षदाता जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये। सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनसे भिन्न नहीं है—जैसे स्वर्णालङ्कार स्वर्णसे भिन्न नहीं होता, तथा जो रोग, शोक, जरा और मृत्युसे सदा परे हैं, उन स्वयं-प्रकाश एकरस सदानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके मनुष्य दुःखसे मुक्त होकर चिर शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो विकाररहित, अजन्मा, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निरञ्जन, ज्ञानरूप तथा सच्चिदानन्दघन हैं, देवगण जिनके अवतार-स्वरूपकी सदा आराधना करते हैं, वे परमात्मा ही मोक्षदाता हैं—यों जान-

कर उनकी आराधना करनेपर जीव नित्यशान्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है। जो निर्गुण होकर भी सम्पूर्ण गुणोंके आधार हैं; लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य आदि विविध रूप धारण करते हैं और सबके हृदयाकाशमें क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान तथा मृत्पात्रोंमें मृत्तिकावत् सर्वत्र परिपूर्ण हैं; अद्वितीय होनेके नाते जिनकी कहीं भी उपमा नहीं है तथा जो सबके आधार हैं ठीक जिस प्रकार जल तरङ्गोंका आधार है, उन परमात्माकी शरणमें जाकर जीव अपनी खण्डबुद्धि खोकर परम शान्ति प्राप्तकर धन्य हो सकता है। जो अद्वैत, निर्गुण, नित्य, अद्वितीय, अनुपम, परिपूर्ण तथा ज्ञानमय ब्रह्म हैं; जो आनन्दस्वरूप, जरारहित, परमज्योतिर्मय, सनातन तथा परात्पर ब्रह्म हैं, उन्हींको साधुपुरुष परम शान्तिका—मोक्षका साधन मानते हैं। जो सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करनेवाला, शम-दम आदि गुणोंसे युक्त और काम आदि दोषोंसे रहित है, ऐसा योगी योगमार्गकी विधिसे उस परम तत्त्वकी उपासना करके परमात्माका सुप्रसिद्ध परमपद प्राप्तकर परम शान्तिको पा लेता है।

इस असार संसारमें केवल परमात्मा इष्टकी आराधना ही सत्य है। यह संसार-बन्धन अत्यन्त दृढ़ है और महान् मोहमें डालनेवाला है। इष्टभक्तिरूपी कुठारसे इसको काटकर जीव अत्यन्त सुखी हो सकता है। वही मन सार्थक है, जो इष्टके चिन्तनमें लगता है तथा वे ही दोनों कान धन्य हैं, जो इष्टकथामृतकी सुधाधारासे परिपूर्ण रहते हैं। जो आनन्दस्वरूप, अक्षर और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे रहित तथा हृदयगुहामें सदा विराजमान हैं, उन्हीं परमात्माका निरन्तर भजन करनेवाला जीव चिरशान्ति पा लेता है। यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् केवल भावनामय है और बिजलीके समान चञ्चल है। अतः इसकी ओरसे विरक्त होकर परमात्माका भजन करना चाहिये। जिनमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्ष्याका त्याग तथा दया—ये सद्गुण विद्यमान हैं, उन्हींपर परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

शरीर मृत्युसे जुड़ा हुआ है। जीवन अत्यन्त चञ्चल है। धन-वैभवपर राजा आदिके द्वारा बराबर बाधा आती रहती है और सम्पत्तियाँ क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली हैं। आधी आयु तो नींदसे ही नष्ट हो जाती है और कुछ आयु भोजन आदिमें समाप्त हो जाती है। आयुका कुछ भाग बचपनमें, कुछ विषय-भोगोंमें और कुछ बुढ़ापेमें व्यर्थ बीत जाता है। बचपन और बुढ़ापेमें परमात्माकी आराधना नहीं हो पाती, अतः अहंकार छोड़कर युवावस्थामें ही धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये—

युवैव धर्मशीलः स्याद् वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥

यह शरीर मृत्युका निवासस्थान है, विपदाओंका सबसे बड़ा अड्डा है, रोगोंका घर है, मल-मूत्र आदिसे सदा दूषित रहता है। फिर भी मनुष्य इसे सदा रहनेवाला समझकर व्यर्थ पाप करते हैं—'किमाश्चर्यमतः परम्!' यह संसार असार है। इसमें नाना प्रकारके दुःख भरे हुए हैं। अतः इससे सुख-शान्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिये। देह-बन्धनकी निवृत्तिके लिये शरीर और संसारकी तुच्छताका विचार करते हुए भोगेच्छासे रहित होकर इष्टके भजन बिना दूसरी गति नहीं है। संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं। केवल भगवान् श्रीइष्ट नित्य माने गये हैं। अतः अनित्य वस्तुओंका परित्याग करके नित्य श्रीइष्टका ही आश्रय लेना चाहिये। जो भोगोंसे विरक्त नहीं होता, वह संसारमें फँस जाता है। जो मानव जगत्के अनित्य पदार्थोंमें आसक्त होता है, उसके संसार-बन्धनका नाश कभी नहीं होता। अतः अभिमान और लोभ त्यागकर, काम-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षकी इच्छा रखकर सदा परमात्माका भजन करना सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कर्तव्य है; क्योंकि मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—'नहिं ऐसो जनम बारंबार'।

वैराग्य और अभ्यास—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण मोक्ष-साधन बनते हैं; केवल वैराग्य या केवल अभ्यास पूर्ण साधन नहीं है। केवल वैराग्य-साधनसे मनुष्य अभिमानका शिकार और वाचिक ज्ञानी बन बैठता है और केवल अभ्याससे जीव हठी, सम्प्रदायी तथा राग-द्वेष और संग्रहके वशीभूत होकर स्थानधारी बन जाता है तथा—

'अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥'

—बननेके अधिकारसे वञ्चित रह जाता है। इसी कारण श्रीभगवान्ने कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

अभ्यास और वैराग्य—इन दोनोंके द्वारा मन वशीभूत होता है। जबतक शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं। 'अभ्यास' किसे कहते हैं ?—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' चित्तकी स्थिरताके

लिये किया जानेवाला जो यत्न है, वह 'अभ्यास' है। स्वाध्याय, पूजन, जप, प्राणायाम, ध्यान, तत्त्वविचार, कीर्तन आदि नाना रूपोंसे यह यत्न किया जाता है। परंतु यह अभ्यास दीर्घकाल-तक, निरन्तर और आदरपूर्वक सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है। 'वैराग्य' का लक्षण क्या है?—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है अर्थात् दृष्ट और श्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका जो अत्यन्त अभाव है, वह 'वैराग्य' है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

अर्थात् 'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' आगे अठारहवें अध्यायमें भी ध्यानयोगका वर्णन करते हुए कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(१८।५१-५२)

अर्थात् विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक एवं नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और पवित्र देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणा-शक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके तथा भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय करके ध्यान-योगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है)। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानयोगकी सिद्धि बिना वैराग्यके नहीं हो सकती।

ज्ञानयोगीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। इसलिये श्रीभगवान्‌ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

(गीता १३।८-९)

अर्थात् इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।

भक्तियोगकी सिद्धिके लिये तो संसार, शरीर और भोगों से तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक (अव्यभिचारिणी भक्तिसे) श्रीभगवान्‌की ही सर्वप्रकारसे शरण ग्रहण करना परम आवश्यक होता है। इसलिये श्रीभगवान्‌ने संसाररूप वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य करने और परमेश्वरके शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५।३-४)

अर्थात् इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भली-भाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुषके मैं शरण हूँ—(इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये)।

कर्मयोगका साधन भी बिना वैराग्यके नहीं हो सकता। आसक्तिके त्यागसे ही कर्मयोगनिष्ठाकी सिद्धि होती है। इसलिये श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३।१९)

अर्थात् इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतएव सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। विवेकपूर्वक वैराग्यके बिना किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

परंतु ये सब साधन-भजन तभी ठीकरूपसे चल सकेंगे, जब हम प्रतिदिन शुद्ध आहार ग्रहण करेंगे। जो परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, अंदरका असली आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, किसी भी योग-साधनके अधिकारी बनना चाहते हैं, उन्हें तो शुद्ध आहार अवश्य ग्रहण करना पड़ेगा। उन्हें तो मांस, मछली, अंडे, प्याज, लहसुन, शलगम, गाजर आदि सभी तामसिक पदार्थ तथा मिर्च, मसाला, तेल, खटाई, मिठाई, अचार, मुरब्बा और घी, तेल आदि चिकनाईमें तली-भूनी चीजें (पूड़ी, कचौरी, हलुआ, मोहनभोग, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, लड्डू, पेड़ा, रबड़ी, मलाई आदि राजसिक पदार्थ) छोड़ने होंगे; इनके त्यागे बिना कुछ भी नहीं होगा। हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर, उसकी सात्त्विकतापर जो इतना जोर दिया गया है, वह किसलिये ? केवल इसलिये कि उससे सात्त्विक विचार उत्पन्न होंगे, पवित्र विचार बनेंगे, जीवन पवित्र बनेगा, बुद्धि शुद्ध होगी, रज और तमसे छुटकारा मिलेगा और सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी। 'जैसा खावै अन्न, तैसा बनै मन।' भोजनके पदार्थोंका चित्तपर पूरा संस्कार पड़ता है।

शुद्ध आहारके तीन अर्थ हैं— (१) अन्न ईमानदारीकी कमाईका होना चाहिये अर्थात् जिससे अन्न खरीदा गया हो वह धन किसीका भी खून चूसकर या किसीको भी किसी प्रकारकी हानि पहुँचाकर न कमाया गया हो। पवित्र विचारोंके लिये अर्थशुद्धि भी जरूरी है। (२) भोजनके बनानेमें पूरी शारीरिक पवित्रता और पूरी मानसिक पवित्रता बरती गयी हो यानी वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मौन रहकर इष्ट-नाम जपते हुए प्रसन्नतापूर्वक शुद्धतासे बनाया गया हो। और (३) बलिवैश्वदेवके पश्चात् अतिथिका अन्न आदिसे भलीभाँति सत्कार करनेके बाद भोजन इष्टको निवेदन करके उसे प्रभु-प्रसादी समझकर मौन रहकर इष्टका स्मरण करते हुए प्रत्येक कौरको इतना चबाना चाहिये कि वह लारके साथ मिलकर एक हो जाय और केवल इतना प्रसाद ग्रहण करना चाहिये कि पेट न तो खाते समय भारी लगे और न खानेके बाद। सनातनी हिंदू भोजनको भी भजन जानते हैं, भोजनको प्राणाग्निहोत्र-यज्ञ जानते हैं; 'यदश्नासि तत् कुरुष्व मदर्पणम्'—इस भगवदादेशका स्मरण रखते हुए मौन रहकर प्रभु-स्मरणके साथ प्रसाद पाकर उसे अमृत बना लेते हैं; वे पशु-पक्षीकी भाँति जीभके रास्ते भोजन-पदार्थ सिर्फ पेटमें ठूँसते नहीं। उनका भोजन सात्त्विक, पौष्टिक, सादा और संतुलित होता है।*

दूषित भावनाओंवालेके द्वारा बनाये अन्नमें मनको बिगाड़नेका प्रभाव रहता है। मांसाहारीके हाथका, हर-किसी मनुष्यके हाथका भोजन करनेसे भी मन दूषित हो जाता है। नौकरों इत्यादिके द्वारा बनाये गये या होटलोंमें बनाये गये भोजनमें पवित्र भावनाएँ नहीं होतीं; इसीलिये होटलोंमें खानेवालोंकी मानसिक अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती चली जाती है और उनका घोर मानसिक तथा शारीरिक पतन हो जाता है। भूलकर भी भारी जमातोंमें बना, हलवाइयों और होटलोंका बना, बाजारोंमें बना और चाहे जिसके हाथका बनाया भोजन कभी भी नहीं खाना चाहिये। अन्नदाताका तथा अन्न बनानेवालेका मानसिक भाव अन्नके जरियेसे अन्न खानेवालेमें

* कहा गया है—

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम्।
असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत्॥
अहोमी च कृमीन् भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते।
(विष्णुपुराण ३।११।७१-७२)

अर्थात् जो मनुष्य स्नान किये बिना भोजन करता है, वह मल खाता है। जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त-पीब पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्र पीता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले भोजन करता है, वह विष्ठाहारी है। इसी प्रकार बिना होम किये भोजन करनेवाला मानो कीड़े खाता है और बिना दान किये खानेवाला विषभोजी है।' अतः अन्नको सात्त्विक और अमृतस्वरूप बना लेनेके लिये भोजनसे पहले स्नान करना, जप-पूजादि करना, बलिवैश्वदेव करना, बालक-वृद्ध-रोगी-गर्भिणी आदिको खिलाना और गौ, कुत्ते, काक, चींटी आदिके लिये अन्न छोड़ना परमावश्यक है।

संचारित हो जाता है। इसलिये अन्न ग्रहण करनेमें यह अवश्य देख लेना चाहिये कि अन्न कहाँसे आ रहा है और किसके द्वारा बनाया गया है। जैसे अभ्यास और वैराग्य—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण साधन बनते हैं, वैसे ही शुद्ध भावना और शुद्ध अन्न—ये दोनों मिलकर ही मोक्षका अधिकारी बनाते हैं। सदा स्मरण रखना चाहिये—'जिते रसे सर्वं जितं भवति' रसनाजित् होनेपर अर्थात् सात्त्विक एवं परिमित, लघु आहारका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। रसनाको जिसने सचमुच रस+ना बना लिया, उसने आधा जग जीत लिया। मादक पदार्थोंको तो पास भी न आने देना चाहिये। शराब, ताड़ी, आसव, गाँजा, भाँग, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट ही नहीं, यथासाध्य चाय भी नहीं पीना चाहिये। ये सभी चीजें नशीली हैं। मादक द्रव्यका व्यवहार तथा धूम्रपान क्षय-रोगका एक बड़ा कारण है। इसीलिये यह जरूरी है कि न तो असात्त्विक (अपवित्र) पदार्थ खाये-पिये जायँ और न ऐसे लोगोंका सङ्ग किया जाय, जिनके विचार संकीर्ण हैं, गंदे हैं, मलिन हैं, अशुद्ध हैं, और जो नशेके वश हैं।

मनुष्य आशासे कष्ट पाते हैं। आशाबद्धके लिये मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है। शरीरको 'मैं' माननेसे और सम्बन्ध रखनेवालोंको 'मेरा' माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन-जिनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, उनमें आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं और वह भोगोंके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। जबतक यह भाव रहता है—अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिमें सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है और जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोग-वासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं। अपनेको चेतन-स्वरूप जानकर देहसे असङ्ग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। इस समय देखनेमें आता है कि एक समूहके लोग, जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान्‌का भक्त कहते हैं। उनमें अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, आश्रम, अखाड़े, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े धनी मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य या भक्त हैं, उनका बड़ा सम्मान है, उनकी निजी मोटर है,—इस प्रकार बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे भोगोंकी चाह उत्पन्न होने और उनके पूर्ण होनेको ही सुख मानते हैं। ये सब चाहके दास हैं। ये त्यागीका वेष लेकर संग्रहमें लगे रहते हैं, अपने वित्त-त्यागीका चपरास लेकर भी धनवान् हैं, वित्तशाली हैं, धन-जन-स्थानके गौरवी हैं। इन्होंने 'घर' नामक स्थान छोड़ा और आश्रम नामक स्थान बनाकर ये उसमें रहने लगे। पहले घरका अहंकार था, अब आश्रमका हो गया। पहले घरमें ममता थी, अब आश्रममें हो गयी। पहले घरके प्राणि-पदार्थोंको लेकर राग-द्वेष था। अब आश्रमके प्राणि-पदार्थोंको लेकर हो गया। परिवर्तन केवल नामका हुआ, वस्तुस्थिति वही रही। त्याग वस्तुतः कुछ भी नहीं हुआ। बल्कि त्यागका मिथ्या अभिमान और छा गया। इनके लिये ही कहा गया है—'न घरका न घाटका'। इन्होंने इष्टा-पूर्त्त* कर्मोंका परित्याग करके तो चतुर्थ आश्रमका वेष धारण किया था; परंतु अब ये

*'इष्ट'=अग्निहोत्र, वैश्वदेव, वेदपाठ, आतिथ्य आदि वैदिक कर्म; 'पूर्त्त'=स्मृतिविहित कूप-तड़ागादि दानरूप तथा बाग लगाना, रास्ता-घाट, धर्मशाला, मन्दिरादि निर्माणरूप कर्म। ये अर्थ तथा वित्तसाध्य कर्म गृहस्थाश्रमीके लिये विहित हैं; क्योंकि वे अर्थ और वित्तके संग्रहके शास्त्रोक्त अधिकारी हैं।

मुण्डकोपनिषद्‌में कहा गया है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'

(१।२।१०)

अर्थात् स्त्री-पुरुष-वित्तादिमें आसक्तिवश मोहयुक्त मनुष्य इष्टा-पूर्त्त कर्मको सर्वोत्कृष्ट मानकर उससे अतिरिक्त और कुछ भी कल्याण-साधन अर्थात् आत्मज्ञान नहीं जानते। वे मूढ़ मनुष्य सकाम कर्म-लब्ध स्वर्गके उपरिभागमें अर्थात् इन्द्रलोकमें पुण्यफल भोगकर [पुण्य क्षीण होनेके साथ ही] इस मर्त्यलोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें अर्थात् पश्वादिके शरीरमें किंवा नरकमें प्रवेश करते हैं। रहस्यको जानकर विवेक-वैराग्यवान् पुरुष इष्टापूर्त्त-कर्ममय गृहस्थाश्रम त्यागकर परमात्माकी अपरोक्षानुभूतिके लिये आत्मज्ञानलाभार्थ यत्न करते हैं। अतः जो लोग गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश कर चुके हैं, उनके पक्षमें पुनः इष्टापूर्त्त-कर्ममें प्रवृत्त होना अयुक्त है, वान्त-भोजनके समान श्व-वृत्ति है।

इष्टा-पूर्त्त कर्मोंके जरियेसे विश्व-कल्याणके नामपर लोगोंसे सुख-सुविधा, मान-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि नीच स्वार्थ-साधन तथा शरीर और इन्द्रिय-तृप्तिके प्रयासमें ही लगे हुए हैं और अपने ही कर्मोंसे अपने-आपको धोखा दे रहे हैं। ये गैरिक वसनका कलङ्क हैं। ये स्वधर्म-त्यागी एवं परधर्मग्राही हैं, अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेवाले हैं। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी॥
(काशीखण्ड पूर्वार्ध ४१। २५)

अर्थात् संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है, यह सनातन श्रुति है। साधु-संन्यासी होकर 'कञ्चन-कामिनी'के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना उसके लिये कलङ्क है। साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवानेसे, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करनेसे और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है।

जबतक कुछ बननेकी या कुछ करनेकी इच्छा है, तबतक विषयोंमें आसक्ति है, भोगोंकी वासना जीवित है; तबतक कोई बूढ़ा हो या जवान, उसे अनात्मविचार घेरेंगे ही। माथा मुड़ा लेनेसे, कपड़ा रँग लेनेसे, घर-बार छोड़ देनेसे, परिग्रहसे छुटकारा ले लेनेसे, धर्मोपदेशक, कथावाचक, साधु-संन्यासी, मुल्ला-पादरीका चोगा पहन लेनेसे विषयोंकी वासना जाती रहेगी—ऐसा सोचना भी गलत है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही छोटी-सी लँगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रह सकती है। चाहे घरमें रहा जाय या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। जरूरत है इस आसक्तिको मिटानेकी। फिर कहीं भी रहा जाय—घरमें या जंगलमें। इस कारणसे कहा गया है—

नातः सुखतरं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
वीततृष्णस्य कामेभ्यो मुक्तसङ्गस्य यत् सुखम्॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तद् भवेत् परितापाय सर्वं सम्पद्यते तदा॥

बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है, अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है। बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय। चाहरहित न होनेतक अभावका दुःख भोगना ही पड़ता है। नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुखी कर दिया है। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्तिका जागरण होता है और चित्त शुद्ध और शान्त होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

अर्थात् जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

आस्थाकी सायामें

जब कभी अन्तरतमकी गहराईमें झाँकता हूँ।
उद्विग्नताका वेग कम हो जाता है।
चिन्ताका साया हट जाता है।
और—
डगमग विश्वास जम जाता है।

तब—
आस्थाकी सायामें
संकल्प, वेगवान हो,
हमराही पवनवत;
हमराही हिलोरवत,
मेरे कदमोंको
मंजिलकी ओर बढ़ा देता है।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रभु-पद, रज और पाँवरी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

पैर तो प्राणिमात्रके होते हैं, पद होना चाहिये—पद भी पद्मपाद हों, फिर उनकी रज। तुलसीदासजी उन्हीं 'सरोज-चरण-रज'की ओर इङ्गित कर कह रहे हैं—

'श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।

केवल अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही इतनी सावधानी बरतनेकी आवश्यकता क्यों थी ?·····

वैसे तो श्रीरामचरितमानसमें अयोध्याकाण्ड विशिष्ट है। उसमें भी (विशिष्ट) स्थल चित्रकूट है, जहाँ रघुवर-विमल-यश तथा भरत-सुयशका वर्णन स्वयं एक साधना थी तथा वहीं यदि श्रीरामके द्वारा भरतको दीक्षा दी गयी हो तो विवेचन अधिक दुर्गम हो जाता है। कवि तुलसी भरतकी साधनाका वर्णन तो कर गये; किंतु उसे सर्वजनगम्य फिर भी नहीं बना सके। चित्रकूटमें भरत-राम-दर्शन और मिलन हुआ—तुलसीने इसीलिये उसे वैशिष्ट्य प्रदान किया और स्वयं उन्हें भी रामदर्शन वहीं हुआ, ऐसा कहा जाता है।

'तुलसिदास चंदन घिसें तिलक देत रघुबीर।'

तुलसीदासजीके इष्ट—श्रीरामचन्द्रजी और गुरु महामना भरतके इष्टके विषयमें शङ्का किसीको हो नहीं सकती; इसलिये प्रमाण अनावश्यक है। तथापि भरतके गुरु होनेका प्रमाण देना होगा—

अयोध्याकाण्डके अन्तमें वे कहते हैं—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को।'

जीवको ईश्वरके सम्मुख करना सरल कार्य नहीं—

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।'

फिर भी जीव ईशके सम्मुख नहीं होता, परंतु तुलसीको भरतजीने रामके सम्मुख कर दिया—

'बलिहारी गुरुदेव की जिन गोबिंद दिये बताय।'

भगवान् विभीषणकी शरणागतिके समय कहते हैं—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भरतजीने तुलसीके कोटि जन्मके अघ नाश कर दिये और अपनी साधनाका क्रम उपलब्ध करा दिया। यह केवल गुरु ही कर सकता है। पारस लोहेको सोना बनाता है, परंतु 'गुरु करें आपु समान' यह रजोपासना उन्हीं महामना भरतको प्रदत्त थी।

जिस समय भरतको जगत्‌ने उपेक्षित करना चाहा, किया, उस समय भरतने केवल एक ही आश्रय ग्रहण किया, वह था—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

भरत कहते हैं—मेरे हृदयमें जलन है, भवतापसे मैं द हुआ जा रहा हूँ। बिना सरोज-चरणके देखे जलन शान्त न हो सकती। इस जलनका उपचार करनेके लिये तपस्वी भ नग्न-पद, कण्टकाकीर्ण मार्गसे चले जा रहे थे; साथमें अयोध्याका समाज, जो अब अपना दृष्टिकोण परिवर्तित भरतकी रजोपासनाका अनुसरण कर रहा था। यह क कर कि—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

और भरत उस मार्गका अनुसरण कर रहे थे, जि मार्गसे राम गये थे। पद-चिह्न देखकर भरत जलन मिटा- हर्षित होकर—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका।
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

यह थी रजोपासना ! प्रभु, इष्टदेव, गुरुके दर्शनोंके लि चरणरजसे सिर, हिय और नयन परिमार्जित, प्रकाशयु बनाये जा रहे थे। इस साधनाके क्रमपर देव बलिहार रहे थे। कहि सुपंथ 'सुर बरषहिं फूला।' इसी चरणकी र गङ्गा पावन हुई थी और केवट इस रजको विनोदमें ही कर पी गया था। भरतने तो अपनी जलनका बाह्य उप किया, परंतु केवटने तो पीकर।

'पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।'

इसी चरण-रजसे अहल्या तर गयी—

'पद रज परसि तरी मुनि नारी।'

भरतकी रजोपासनाके अनुयायियोंका रामचरितमान एक सम्प्रदाय ही बन गया। भरतजीने अपनी साध

क्रममें इसे प्रथम स्थान दिया। जलन मिटानेके लिये चरण-रजोपासनाका द्वितीय क्रम आरम्भ होता है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

जिन चरणोंके देखनेके लिये दारुण दीनता बतलायी थी, वे सरोज-चरण समक्ष थे। उन्हींके नहीं, अवधवासियोंके समक्ष भी थे। चरण-सरोजपर सिर रखने और रखानेका उत्सव ही चित्रकूटमें मनाया जा रहा था। राम, लक्ष्मण, सीता महारानी माताएँ, गुरु, अयोध्यावासी शत्रुघ्न आदि चरणोंके 'दरसन-परसन'का आदान-प्रदान कर रहे थे।

इसके अनन्तर तीसरा अध्याय भरतकी आराधनाका आरम्भ होता है। जब यह निर्णय हो गया था—राम वनसे नहीं लौटेंगे, तब इतना लंबा अवधिका समय पार करनेके लिये अवलम्बन चाहिये। माँगा तो—

'प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं'

प्रभु-चरण-रजसे परिमार्जित स्वर्णमण्डित पाँवरी प्रभुने दे दी। भरतजी उन्हें अपनी साधनासे पारस बनानेके लिये अपने सिरपर धारणकर ले चले।

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
आखर जुग जनु जीव जतन के॥

चरण-रजसे मँजी हुई, सुधरी हुई स्वर्णमण्डित पाँवरी अयोध्याके राजसिंहासनपर सुशोभित हुई। भरतजी उसे अपने सिरपर रख राजमार्गसे राजसी वैभवको ले गये। उन्होंने जगत्को यह साधनाका क्रम बतलाया। पद, रज, चरणसरोज और कृपापाँवरी 'नित पूजत प्रभु पाँवरी' और इतनी शक्तिका समावेश उनमें कर दिया कि—

'मागि मागि आयसु करत—राजकाज .....,

ऐसी पद-रजसे विशुद्ध साधनाका क्रम। यह था, 'पद-रजाभिषेक'—न कि 'राज्याभिषेक'।

दुःख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषण-भव-ताप-अपहरणका कारण बनी यह साधना—

मुनिमन-अगम यम-नियम, शम-दम, व्रत कौन कर सकता था और—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को ?।'

बालकाण्डके आरम्भमें कह चुके हैं—

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक।

स्वामी रामतीर्थका कथन सर्वथा सत्य है—पुस्तकोंके पठनसे ज्ञान मिलता है परंतु अध्यात्मशक्तिका अरुणोदय तो गुरु-चरण-रज लगानेसे होता है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद कहते हैं—

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।'

(७।५।३२)

राजा रहूगण (स्कन्ध ५, अध्याय १२, श्लोक १२ में) कहते हैं—

'नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।'

'महत्-पद-रजके लगानेसे ही मानव-जातिके हृदय, सिर और नेत्र प्रकाशयुक्त होते हैं। इस रजोपासनाकी साधनाका क्रम महामना भरतकी साधनामें क्रमबद्ध है। भव-तापकी आँचसे जब जीवके हृदयमें भयंकर जलन होती है, तब रज शीतलता लाती है, पद आनन्द देते हैं। पद-पाँवरी साधना-को स्थैर्य प्रदान करती है। और पाँवरी-पूजनके समय—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

यह दशा हो जाती है। यही साधनाका क्रम महाराज जडभरतका भी था।

—अनुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्य.....

(श्रीमद्भा० ५।७।१२)

नयनसे जलधार बहने लग जाती है।

साधना नयी नहीं, क्रमागत है,
सरल है, सर्वजनगम्य है।

मन चेत करो

दस मास रहे जब गर्भ महीं, तब ही प्रभु सौं तुम कौल किया।
अब बाहर ह्वै हरि-भक्ति करौं, तेहि कारन तोहि निकारि दिया॥
इत आय वहै तुम भूलि गये, तेहि तें दिन रात भये दुखिया।
कवि 'दीहल' हे मन ! चेत करौ, भज राम-सिया जिन जन्म दिया॥

—भक्त श्रीदीहलजी

मैं और वह

(लेखक—डा० शचीन सेनगुप्त)

मैं—तुम छिपे क्यों रहते हो ?

वह—छिपकर तुम्हें देखना मुझे अच्छा लगता है ।

मैं—तुम तो मुझे देख पाते हो, पर मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता । तुम्हारे और मेरे बीचमें आड़ है, इसीसे मैं तुमको नहीं देख पाता ।

वह—उस आड़को तुम हटा दो ।

मैं—वह मेरे हटानेसे हटेगी ?

वह—बार-बार प्रयत्न करो, मन-प्राण लगाकर भिड़ जाओ, एक दिन वह आड़ हट जायगी ।

मैं—यह तुम्हारा छल है । मुझे दर्शन नहीं देना है, इसीसे ऐसी बात कह रहे हो ।

वह—नहीं-नहीं, सत्य कहता हूँ—एक दिन यह आड़ हट जायगी—लगे रहो ।

× × ×

वह—तुम रो रहे हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हारे और भी समीप सरक आया हूँ । अब मुझे देखो ।

मैं—कहाँ ? मुझे तो नहीं दिखायी देते ।

वह—और भी समीप चला आया हूँ । तुम्हारे अन्तरके एकान्त कोनेमें चुपचाप खड़ा हूँ । अब मुझे देख पाते हो ?

मैं—न, मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता ।

वह—अब मैं बाहर निकलकर ठीक तुम्हारी आँखोंके सामने खड़ा हूँ । देख पा रहे हो ?

मैं—नहीं, मैं तो नहीं देख पाता । तुम मेरी आँखोंका रंग बदल दो । इन आँखोंसे मैं तुम्हें नहीं देख पाऊँगा ।

वह—तुम मुझे क्यों इतना देखना चाहते हो ?

मैं—इसलिये कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ ।

वह—अच्छा तो, क्या बिना देखे प्रेम नहीं किया जा सकता ?

मैं—मैं तुमसे अत्यन्त प्रेम करता हूँ, इससे तुम्हें सदा ही देखना चाहता हूँ ।

वह—मुझे केवल देखना ही चाहते हो ?

मैं—तुम्हारा दरस चाहता हूँ, तुम्हारा परस चाहता हूँ । अरे, मैं तुम्हें चाहता हूँ । तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकता ।

वह—अच्छा तो, मुझे तुम भूल गये थे—अब फिर मुझे क्यों चाहते हो ?

मैं—तुम्हारे बिना मेरा दम घुटा आ रहा है । मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता ।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करते हो ?

मैं—तुम जो मुझसे प्रेम करते हो, इसीलिये तुमसे मैं इतना प्रेम करता हूँ ।

वह—तुमसे तो और भी कितने ही लोग प्रेम करते हैं ।

मैं—वे स्वार्थके काँटेपर प्रेमको तौलकर प्रेम करते हैं; तुम इसलिये प्रेम करते हो कि तुम्हें प्रेम करना ही है ।

वह—वाह ! तुम्हारी बात तो बड़ी मीठी है ।

मैं—तुम मेरे पास हो इसीसे । इसके सिवा, तुम्हीं तो मेरी बातोंका योग लगा देते हो, इसीसे तो मेरी बात मीठी है । तुम जो कितने अधिक मीठे हो, इसे तुम क्या नहीं जानते ?

वह—अच्छा तो, मैं तुम्हारे पास-पास ही रहूँगा । कभी दूर नहीं जाऊँगा । फिर भी मुझे देखना क्यों चाहते हो ?

मैं—मैं तुमको सर्वदा मेरा बना लेना चाहता हूँ । मैं

तुमको सदा अपनी आँखोंके सामने रखना चाहता हूँ।

वह—मेरे और भी कितने काम हैं ?

मैं—फिर तुम छल करने लगे।

वह—तुम फिर रोने लगे ? अच्छा तो यह लो; तुम्हारी आँखोंका रंग बदल दिया। अब देखो तो।

मैं—वाह ! वाह ! कैसा विचित्र मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ। क्या रूप है तुम्हारा ? जिधर देखता हूँ, उधर ही तुम्हें देखता हूँ। सभी तुम्हारे रूप हैं, कैसा सुन्दर रूप है। सारा विश्व केवल तुम्हारे ही अपरूप रूपसे जगमगा रहा है। रूपकी कैसी बहार है····· ···।

वह—अब जरा अपनी ओर तो देखो !

मैं—अपनेको तो मैं देख ही नहीं पाता—यह तो तुम-ही-तुम हो।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम करते हो, इसीसे मैं भी आज तुम-ही-तुम हो गया हूँ।

—उज्जीवन

परोपकारी झरगद

(कहानी—सच्चे तथ्योंके आधारपर)

(लेखक—श्रीवीरबहादुरसिंहजी चौहान, बी० ए०, प्रभाकर)

झरगद शान्त और गम्भीर स्वभावका बालक था। अन्य लड़कोंकी भाँति चपलता तथा उच्छृङ्खलता उसमें नाममात्र-को न थी। वह उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ था; किंतु माँ-बापकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः उसकी शिक्षा प्राइमरी स्कूलके बाद जारी नहीं रह सकी।

झरगद चौदह वर्षका नहीं हो पाया था कि अकस्मात् उसके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। झरगद अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। उसके कोई अन्य भाई-बहिन नहीं थे। चाचा-ताऊ भी नहीं थे। यहाँ तक कि सम्बन्धियोंमें भी कोई न था। वह संसारमें अकेला था। पैतृक सम्पत्तिके नाम उसके पास केवल दो बीघा भूमि थी। यही उसके उदर-पोषणका अवलम्बन था। गाँववालोंको दया आ गयी, वे उसकी सहायता करने लगे।

कुछ दिनों बाद गाँवमें एक महात्मा आये। वे तीन दिन ठहरे। महात्माजीने उपदेश देते हुए कहा—'यह जीवन नश्वर है। इसपर अभिमान मत करो। भगवान्‌ने तुम्हें किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पैदा किया है। वह उद्देश्य है—सेवा। प्राणिमात्रकी अधिक-से-अधिक सेवा। क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याका—जहाँतक हो सके—त्याग करो। एक दूसरेके साथ सहयोग और सद्भावना रक्खो। संसार तुम्हारा है और तुम संसारके हो। तुम्हारा संसारमें कुछ नहीं है और संसारका तुममें कुछ नहीं है। सोच-विचारकर काम करो। केवल समझ-का अन्तर है। समझकर काम करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्माजीके इस उपदेशने झरगदके हृदयको छू लिया। उसने प्रतिज्ञा की—मैं अपना जीवन संसारके अधिक-से-अधिक हितमें लगाऊँगा; क्योंकि यह मनुष्य-देह मेरे लिये नहीं, मेरी मौज-शौकके लिये नहीं, बल्कि दूसरोंकी सेवाके लिये मुझे दी गयी है।

—और उसकी जिंदगी एक विशेष दिशाकी ओर मुड़ गयी।

वह दिनभर काम करता। शामको मन्दिरमें सामूहिक प्रार्थना और कीर्तनमें शामिल होता। वह बिना नागा मन्दिरमें जाता। यदि किसी दिन शामको देर हो जाती और समयपर मन्दिर न पहुँच पाता तो वह जहाँ भी होता, वहीं बैठकर प्रार्थना और कीर्तन करने लगता। उसका कहना था—बिना भगवान्‌को याद किये उसका मन बेचैन रहता है और उसे शान्ति नहीं मिलती।

यह क्रम वर्षों चलता रहा।

अब झरगद अपनी जीविका स्वयं उपार्जन करता था। वह किसीके सहारे न था। वह महीनेमें सिर्फ दस दिन काम करता और इतना कमा लेता जिससे कि शेष बीस दिन बैठ-कर खा सके। इन बीस दिनोंका उसका विचित्र कार्यक्रम रहता। वह निठल्ला नहीं बैठता था। और दिनोंकी अपेक्षा इन दिनोंमें वह अधिक व्यस्त दिखायी देता।

गाँवोंमें अधिकतर रास्ते ठीक नहीं होते। नालियाँ गंदी रहती हैं। झरगद पुराने रास्तोंपर उगी हुई घास-फूस और काँटों-कंकड़ोंको साफ करके उनकी मरम्मत करता तथा नये-नये रास्ते बनानेमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करता। उसे गंदी नालियोंकी सफाईमें आनन्द आता था। गाँवके अंदर या बाहर जहाँ भी अच्छी जमीन दिखायी देती, वहाँ वह पेड़ लगा देता और उन वृक्षोंकी सम्यक् देखभाल करनेमें कभी ढील नहीं करता तथा गरमीकी दोपहरीमें जब चील अंडा छोड़ती और लोग खसकी टट्टियोंके अंदर बिजलीके पंखोंके नीचे पड़े बर्फसे गला तर करके गरमीकी तपनको मिटाते, तब झरगद एक लँगोटा लगाये दूर-दूरसे पानी लाकर वृक्षोंकी जड़ोंमें सींचता और कहता 'ये वृक्ष हमें फल देंगे, छाया देंगे और पानी बरसनेमें मदद करेंगे। ये किसी एककी सम्पत्ति नहीं हैं, सबके हैं।' जैसे निःस्वार्थ सेवा ही उसकी जिंदगी हो गयी हो।

एक बार गाँवमें जोरोंका प्लेग फैला। काफी संख्यामें आदमी मरने लगे। झरगदको न दिनमें चैन मिलता और न रातमें आराम। उसे नींद हराम हो गयी। वह रात-दिन एक करके रोगियोंकी परिचर्यामें लगा रहता। बाजारसे दवा लाकर रोगियोंको पिलाता और उनका सब प्रकारसे ध्यान रखता। वह असहाय और अनाथोंकी ओर ज्यादा गौर करता। प्लेग बड़ी भयंकर बीमारी है, उसने स्पष्ट देख लिया। जो आदमी एक घंटा पहले स्वस्थ था, उसके अचानक गिल्टी निकली, बुखार आया और दूसरा घंटा तब बीता, जब उसका दम निकल गया। उसने जीवनकी क्षणभङ्गुरताके साक्षात् दर्शन किये। वास्तवमें इस जिंदगीका कोई ठिकाना नहीं है। निश्चय ही यह पानीके बुलबुलेकी भाँति है, जो एक क्षणमें उठता है और पलभर ठहरकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है।

आजकल कुछ ऐसा रिवाज हो गया है कि स्कूलके अधिकांश विद्यार्थी बीड़ी पीने लगे हैं और कालेजके सिगरेट। झरगद लड़कोंको बीड़ी या सिगरेट पीते देखता तो समझाता—'बुरी आदत है। इससे कलेजा जलता है। मुँहमें बदबू आती है। पैसा बर्बाद होता है सो अलग। मत पिया करो भाई! भविष्यमें नहीं पियोगे न!' और उसकी वाणी कुछ ऐसी सरस, मधुर और प्रभावोत्पादक थी कि विद्यार्थी एक बार धूम्रपान न करनेकी बात जरूर कह देता।

गाँवमें दो शराबी थे। झरगद उन्हें बहुत समझा चुका था, पर वे मानते न थे। उनकी घरकी हालत बिगड़ती जाती थी। कभी अनाज न रहता, कभी कपड़ा। कभी औ नमक-तेल-लकड़ीके लिये बैठी रहतीं, कभी साग-सब्जी लिये। पुष्ट भोजनके अभावमें बच्चे पीले पड़ गये थे। उ के पेट निकल आये थे। झरगद इनकी काफी मदद क और शराबियोंकी आदत छुड़ानेके लिये विभिन्न उपाय का लाता। एक दिन दोनों शराबी नशेकी हालतमें बक-झ रहे थे। आपसमें गाली-गलौज कर रहे थे। इसी समय झरग आ पहुँचा। उसने मना किया। शराबियोंको गुस्सा गया। दोनों झपट पड़े। झरगदको खूब पीटा। उसका सि फूट गया। टाँगमें भी चोट आयी। अन्य लोगोंको मा हुआ तो उन्होंने झरगदसे कहा—'झरगद! तुम कहो तो उन दोनोंका नशा उतार दें। इतना पीटें कि कचूमर नि जाय। तब अपने-आप ठीक हो जायँगे।'

'नहीं, भाई!' झरगदने नम्र स्वरमें जवाब दिया। 'ऐसा करना। वे नहीं जानते थे कि हम क्या कर रहे हैं। उन्हें सम होती तो वे ऐसा नहीं करते। मेरी समझमें कोई आदमी समझ लेनेपर कि यह काम बुरा है, उसे करनेको कभी तै नहीं होगा।' और इस घटनाका प्रभाव ऐसा पड़ा कि उ दोनोंने हमेशाके लिये शराब छोड़ दी। थोड़े दिनोंमें उन गृहस्थी फलती-फूलती दिखायी देने लगी।

झरगद सबका प्रिय हो गया था। बच्चे उसे दा कहते। समवयस्क उसे भाई कहकर पुकारते। अधि उम्रवाले उसे अपने लड़केकी तरह प्यार करते। वह स हिल-मिलकर चलता। उसकी बातचीत और व्यवहारसे लोग प्रसन्न थे।

झरगदने पक्का विचार कर लिया था कि वह विवाह न करेगा। उसकी कुछ ऐसी धारणा हो गयी थी कि उसने विवाह किया तो उसे सेवाके विस्तृत क्षेत्रसे वञ्चित जाना होगा। लोग कहते—'झरगद! तुम जल्दी विवाह डालो। अपनी गृहस्थीकी देखभाल करो। तुम्हें कभी-क तो सूनापन महसूस होता ही होगा।'

वह जवाब देता—'गाँवमें इतने लोग हैं। कोई बाबा कोई चाचा है, कोई ताऊ है। भाई-भतीजे हैं। स्त्रियोंमें दाद चाची, भावज और बहुएँ हैं। बहिनें तथा भतीजियाँ हैं। गाँव ही मेरा परिवार है। इतने जनोंके बीच मेरा स आसानीसे कट जाता है। मुझे पत्नीका अभाव जरा भी न खलता।'

और उसने विवाह नहीं किया।

देखा गया है झरगद-सरीखे सीधे-सच्चे किंतु उच्च विचार-आचार और क्रिया-कलापके मनुष्योंको दीर्घ आयु नहीं प्राप्त होती। पर वे अल्प समयमें ही इतना काम कर जाते हैं जिससे उनकी स्मृति अमर हो जाती है।

गरमीके दिन थे। रात आधी बीत चुकी थी। अचानक एक मकानमेंसे आवाज आयी—'चलो, जल्दी चलो। आग लग गयी।' लगभग समूचा गाँव जमा हो गया। मकानके अंदर आगकी लपटें उठ रही थीं। छतोंसे धुएँके गुब्बारे निकल रहे थे। लोग पानी फेंककर धूल उछालकर आग बुझानेका यत्न कर रहे थे। तभी एक स्त्रीकण्ठ सुनायी दिया—'हाय, हाय! मैं लुट गयी। मेरा लड़का आँगनमें सोता रह गया। अरे, है कोई जो मेरे बच्चेको बचाये। अब मैं क्या करूँ?' गाँववाले एक दूसरेका मुँह ताकने लगे। किसीकी हिम्मत नहीं हो रही थी कि जलती आगमें कूद पड़े। इससे पहले कि लोग किसी निश्चयपर पहुँचें, उन्होंने देखा झरगद भागकर मकानमें घुस गया। दस मिनट बाद वह बच्चेको कपड़ेमें लपेटकर बाहर निकाल लाया। बच्चा बच गया। उसका बाल बाँका न हुआ। लेकिन झरगद बुरी तरह जल गया। उसके मुँह, हाथ-पैर काफी जल गये थे। वह कराहता हुआ जमीनपर गिर गया।

आगपर काबू पानेके बाद लोगोंका ध्यान झरगदकी तरफ गया। उसकी हालत बिगड़ रही थी। उसे अस्पताल ले चलनेकी तैयारी की जाने लगी। झरगदने सुना तो बोला—'अरे भाई! क्यों नाहक परेशान होते हो। अब यह मिट्टीका पुतला मिट्टीमें मिलने जा रहा है। देर नहीं है। मुझे अफसोस इस बातका है कि मैं आपलोगोंकी कुछ भी सेवा न कर सका। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ वे मुझे फिर पैदा करें तो बस, इसी गाँवमें पैदा करें, जिससे मैं आपके कुछ काम आ सकूँ। आपलोगोंसे मेरी विनती है कि जिस तरह सब हिल-मिलकर अभीतक रहते आये हैं, वैसे ही भविष्यमें भी रहनेकी कोशिश करें। लड़ाई-झगड़ा शुरूमें दुःखदायी होता है और अन्तमें भी। प्रेमसे मिल-जुलकर रहनेमें ही भलाई है। सहयोगसे काम करें। एक दूसरेके प्रति सहानुभूति रक्खें और सबसे बड़ी बात याद रखनेकी यह है कि चौबीस घंटेमें कम-से-कम एक बार ईश्वरका भजन-कीर्तन, जप-ध्यान अवश्य कर लिया करें। इससे बड़ी शान्ति मिलती है। भगवान् सबको सुखी रक्खे।'

कुछ देर और टिमटिमाकर झरगदका जीवन-प्रदीप बुझ गया।

इस समय गाँवके सभी लोग, बालक-युवा-वृद्ध और स्त्रियाँ उस जगह एकत्र हो गयी थीं। जो इतने वृद्ध और शिथिल थे कि चलने-फिरनेसे लाचार थे, वे भी गिरते-पड़ते जैसे-तैसे झरगदको देखने आ पहुँचे थे। बड़ी भीड़ थी। सिसकते हुए बच्चोंने कहा, 'हमारा दादा चला गया।'

झरगदके साथी बोले—'हमारा सच्चा दोस्त साथ छोड़ गया।'

वृद्ध पुरुष कहने लगे, 'हमारे बुढ़ापेका सहारा छूट गया।'

वृद्ध स्त्रियाँ बोलीं, 'हमारी आँखोंका तारा प्यारा बेटा उठ गया।'

सभीकी आँखोंसे आँसू झरझर बह रहे थे।

धिक्कार है

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥

(श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्ण-लीला-सुधा-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान् (उन्हें धिक्कार है! धिक्कार है, धिक्कार है!)—ऐसा कहता है।

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक--ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एक संस्कृति, जिसकी परम्परा अनादि है, सदा एक-से आहार-व्यवहार रख सके--ऐसा सम्भव नहीं है। अभी विगत शताब्दियोंमें मुसल्मानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें हमारे आचारपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे हमारे यहाँके वेष-भूषा, भोजन, गृहनिर्माण, वस्त्रादि सज्जा तथा रीति-रिवाजोंमें भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे प्रभाव चाहे पहले इस रूपमें न पड़े हों, परंतु कुछ तो पड़े ही होंगे। इतनेपर भी प्रत्येक संस्कृति अपना एक मौलिक मापदण्ड अवश्य रखती है अपने आचारके लिये और जैसे ही काल-क्रमसे क्षीण हुई उसकी शक्ति लौटती है, वह पुनः अपने आदर्शकी ओर जानेका प्रयत्न करती है। इस स्थितिमें बाह्य प्रभाव निरस्त हो जाते हैं। अवश्य ही यह बात उन समाजोंके लिये नहीं है, जो अविकसित हैं और जिन्हें दूसरों-से कुछ सीखना है।

'हिंदू-संस्कृति' एक पूर्ण संस्कृति है। हमारे समाजके लिये प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके कर्तव्य शास्त्रोंने निश्चित कर दिये हैं। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' आचारकी रक्षा प्रथम धर्म प्रतिपादित हुई है। समाज जबतक दुर्बल है—अपने विकारोंसे आक्रान्त है या विवश है, वह भले बाह्य प्रभावों और आचारोंको ग्रहण किये रहे; किंतु जैसे ही बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टिसे समाज स्वतन्त्र होगा—समर्थ होगा, उसे स्पष्ट दिखायी देगा कि शास्त्राचारके पालनमें ही उसकी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति है। शास्त्रीय आदेश जीवनकी प्रत्येक स्थिति एवं दशाको नियन्त्रित करते हैं। जीवनमें ऐसा कोई भाग नहीं, जहाँ शास्त्राचारसे भिन्न प्रभाव स्थिर रह सके। हिंदू-समाज ही नहीं—सम्पूर्ण मानव-समाज—पूरा विश्व अपनी विकृत मनोवृत्तिसे त्राण पा ले तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्यका कल्याण हिंदू-समाजके आचारके पालनसे ही हो सकता है। यह इसलिये भी सत्य है कि आदिकालमें सम्पूर्ण मानव-जाति हिंदू ही थी। आदि संस्कृति ही पूर्ण एवं निर्दोष थी, यह तो अब सिद्ध हो चुका है।

हिंदू ?

यहीं 'हिंदू' शब्दपर भी विचार कर लेना है। कहा जाता है कि हिंदुओंके यहाँ उनके समाजमें राष्ट्रकी और जातिकी भावना नहीं थी। न तो उन्होंने पूरे राष्ट्रका कोई नाम रक्ख और न जातिका। 'हिंदू' शब्द तो अर्वाचीन है। एकांश ये बातें सत्य हैं। किसीके नामकरणकी आवश्यकता दूसरे अपेक्षासे होती है। अनेक पशुओंके ढेरमें गाय, बकरी, घोड़ा- ये भेद किये जाते हैं। अनेक रंगोंकी गायोंमें रंगसे भेद हो है और अनेक गायें एक रंगकी हों तो उनका नामकर करना पड़ता है। जहाँ केवल गायें हैं, वहाँ उनको 'गाय यह नाम देना व्यर्थ होता है। आदि संस्कृति वैदिक संस्कृ है और दूसरे सब धर्म कुल तीन सहस्र वर्षोंके भीतर उत्पन्न हुए हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जब विश्वमें एक धर्म था, तब धर्मकी दृष्टिसे उसका नामकरण क्यों आवश्य होता ? उस समय जिन शास्त्रोंने नामकरण किया, उन्हों क्या सम्पूर्ण समाजको मनुष्य नहीं कहा ? क्या य 'मनुष्य' नाम उसी प्रकार मनुकी संतति, अनुयायीक सूचक नहीं, जिस प्रकारके नाम ईसाई और मुसल्मान हैं उस समय मनुष्यको विश्वके शेष प्राणियोंसे ही भिन्न ना देना था। मनुष्य-समाजमें धर्मगत भेद नहीं था। आचा गत भेदके कारण आर्य, दस्यु, म्लेच्छ, यवन प्रभृति ना पड़े ही थे। जातिगत भेद और व्यवसायगत भेदके कार भी ये नाम पड़े।

'हिंदू' यह--नाम जैसे कि आजकल कहा जाता है कि विदेशियोंने हमारी जातिको दिया, यह बात ठीक न होने भी मान लें तो हानि क्या है। यह नाम हमारी जातिक मुसल्मानोंने दिया—यह भ्रम जिन्हें हो, वे पारसी-धर्मग्रन्थ देखें। वहाँ 'पूर्वी हिंदू' और 'पश्चिमी हिंदू' शब्द स्पष्ट आ हैं। साथ ही यह भी कि यदि हिंदू-शब्दका कोई निन्दि अर्थ होता तो पारसी-धर्म ग्रन्थ अपनेको पश्चिमी हिंदू कहते। पीछेके ईरानी कोषकारोंने 'हिंदू' शब्दका अर्थ डाकू दास, सेवक, पहरेदार दिया है और इसीसे हमारे यहाँ लोग चौंकते हैं; परंतु शत्रुताके कारण एक जातिका ना दूसरी जातिमें घृणासूचक हो जाता है—यह तो 'देव' औ 'असुर' शब्द ही बतलाते हैं। 'देव' शब्द संस्कृतमें जि सात्त्विकता, तेजका सूचक है, पारसी ग्रन्थोंमें 'असुर' शब्द उसी अर्थमें आता है। हमारे यहाँ 'असुर' जिस अर्थमें है फारसी-अंग्रेजीमें 'देव' शब्द उसी अर्थमें है।

पारसी-धर्मके ग्रन्थोंमें तथा ईरानके प्राचीन साहित्यमें भारतीय एवं पारसीक दोनों जातियोंको हिंदू कहा गया है। रही विदेशियोंद्वारा नामकरणकी बात सो सदा दूसरे ही नाम लेकर पुकारते हैं। आज अमेरिकामें भारतसे हिंदू जाय या ईसाई, सब हिंदू ही कहे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व जिस देश और जातिको जर्मनी तथा जर्मन कहता है, वे स्वयं अपनेको डोइट्श और देशको डोइट्शलैण्ड कहते हैं। अंग्रेजोंको हम फिरंगी तो कहते ही हैं। प्रत्येक विदेशी जाति दूसरेको स्वेच्छानुसार नाम देती है और इसका उसे अधिकार है। यह सब होकर भी 'हिंदू' नाम स्वयं हमने अपनी जातिका रक्खा है, यह दूसरेका दिया हुआ नाम नहीं है।

वेदोंमें 'नेता सिन्धूनां' तथा 'पतिः सिन्धूनां' ये मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि हमारे देशका नाम 'सिन्धु' है और यही जातिका नाम भी है। सिन्धु नदीके उत्तरी भागमें सिन्धु और सरस्वतीके मध्यमें ब्रह्मावर्त ही मानव-जातिकी प्रारम्भिक निवास-भूमि है। उसी सिन्धुके कारण देशको सिन्धु कहा गया। वेदोंमें ही 'स' का परिवर्तन 'ह' हो जाता है। श्रुतियोंमें 'शिरा' और 'हिरा' दोनों नाम नाडियोंके लिये आये हैं। अतएव सिन्धुका 'हिन्दु' आदिकालमें ही हो गया। पारसी धर्मने वैदिक पद्धतिका एक अंश ले लिया; क्योंकि यह धर्म वैदिक धर्मसे ही पृथक् हुआ है। वेदोंमें 'स' का 'ह' कार रूपमें प्रयोग है; यह पद्धति विकृत हुई और पारसी भाषामें सप्ताह भी हप्ताह हो गया; पर 'सिन्धु' को 'हिंदु' उन्होंने किया है, यह मानना ठीक नहीं है। यह परिवर्तन स्वयं संस्कृतिके नियमानुसार हुआ है। आज हिंदीमें ग्यारह, बारह, तेरह आदि क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदशके रूप हैं और सबमें 'स' का रूप 'ह' हो गया है। प्राकृत भाषामें भी 'स' का उच्चारण 'ह' बहुत स्थलोंपर हो जाता है।

इस तरह जैसे 'हिंदू' नाम अपनी जातिको हमने स्वयं दिया और इसलिये दिया कि आचारसे च्युत जातियोंसे मूल जातिका पार्थक्य किया जा सके, उसी प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें भारतसे ही क्षत्रिय जाति जाकर बसी, उस समय पूरी पृथ्वी ही एक राष्ट्र थी, समस्त देशोंके लोग अपने आचारका आदर्श यहींसे ग्रहण करते थे, विश्वमें एक ही संस्कृति थी और भारतीय सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती होते थे, इस प्रकार जाति-धर्म-आचार तथा शासनकी दृष्टिसे राष्ट्र-भेदकी कल्पना शक्य नहीं थी, फिर भी भारत पुण्यभूमि है—यह भावना अनादि कालसे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है। इस पुण्यभूमिकी एकता, स्वरूप आदिके सम्बन्धमें तनिक भी संशयको अवकाश नहीं है।

आचारका आदर्श

हमने अपनी जातिका नाम 'सिन्धु' के आधारपर 'हिंदू' रक्खा क्यों? संस्कृतमें तो कोई शब्द निरर्थक नहीं होता और न कोई परिवर्तन व्यर्थ किया जाता। 'हीनं दूषयतीति हिंदुः' यह मेरु तन्त्रकी परिभाषा है। झूठ बोलनेवाला, शास्त्रीय कर्मोंसे द्वेष करनेवाला, उपस्थान (संध्यादि कर्म) न करनेवाला, निरुत्तर (अपने असत् तर्कपर हठ करनेवाला) और आमन्त्रित करके आये व्यक्तिका अपमान करनेवाला—ये पाँच प्रकारके लोग 'हीन' कहे गये हैं। जो इन्हें अपने समाजसे निकाल दे, वह हिंदू कहलाता था। यह हमारे समाजका आदर्श था। इस शब्दकी दूसरी व्याख्या है—हिन्-हिंसां दुनोति—हिंसाका नाश करनेवाला—अहिंसक। यही शब्द यूनानीमें 'ह' का लोप होनेसे 'इन्दु' बन गया और उससे 'इण्डिया' अंग्रेजीमें बना। जातिके नाममें ही हमारे समाजका आदर्श निहित है और नामकरणकी हमारी सनातन प्रणाली भी यही है।

हिंदू-समाजका समस्त आचार इस आदर्शको सम्मुख रखकर चलता है कि प्राणियोंको कष्ट न हो। मनुष्य अन्तर्मुख बने। बहिर्मुख प्रवृत्ति असंतोष एवं संघर्ष उत्पन्न करती है। उससे प्राणियोंको कष्ट होता है और जीवनमें दुःखोंकी ही वृद्धि होती है। शान्तिका मार्ग है अन्तर्मुख होना। दूसरोंके लिये अधिक-से-अधिक त्याग और अपने लिये कम-से-कम संचय तथा उपभोग—हिंदू आचारका यह मुख्य आदर्श है। विश्वमें सुख एवं शान्तिकी स्थापनाका इससे सुलभ मार्ग कुछ हो नहीं सकता।

जीवन इतना ही नहीं है। वह अनादि और अनन्त है। यह लौकिक जीवन उस जीवनका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इतनेपर भी मनुष्यका जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है। यह कर्मयोनि है। इसी योनिके कर्म शेष समस्त जीवनोंमें भोगने हैं। यह उपार्जनका स्थान है। सत् या असत् जैसे भी कर्म किया जायगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। सम्पूर्ण जीवोंमें केवल शरीर-भेद है। हम आगे किसी भी जीवके यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि कौन हमारा पूर्वजन्मका

सम्बन्धी है और आगे कौन बनेगा। इस प्रकार प्राणिमात्रसे आत्मीयता तथा सत्कर्मकी प्रेरणाको जितना व्यापक, सुदृढ़, पूर्ण आधार हिंदू-संस्कृति देती है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। इसी आधारपर हिंदू-समाज प्रतिष्ठित है।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥
(मनु० ८। २८५)

'जो व्यक्ति वनस्पतियोंको जिस-जिस प्रकारके कष्ट दे, राजा उसकी इस हिंसाका दण्ड उसे उसी-उसी प्रकारसे दे।' यह आज्ञा स्पष्ट घोषित करती है कि जीव-हिंसा तो दूर रही, वृक्षादि काटना भी अपराध माना जाता था और उसका बड़ा कठोर दण्ड मिलता था। मनुस्मृतिमें ईंधनके लिये गीले पेड़को काटना और अपवित्र भोजन एक कोटिके पाप माने गये हैं। ब्राह्मण भी यदि आवश्यकतावश विवश होकर किसी फल या पुष्प देनेवाले वृक्ष या लताको काटे-छाँटे तो उसे एक सौ ऋचाओंका जप करके इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, ऐसा निर्देश है।

इसमें किसीको कहीं शङ्का नहीं है कि हिंदू-संस्कृति धर्म-प्राण है। धर्माचारसे ही लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है, यह शास्त्रोंका स्पष्ट घोष है। अतएव समस्त हिंदू आचार धर्मको प्रधान मानकर चलता है। मनुष्यके सामाजिक जीवनमें अर्थ और काम ही प्रधान हैं। वर्तमान शब्दोंमें मनुष्यकी समस्या रोटी और संतानोत्पादन है। हिंदू-समाजने इन दोनों आवश्यकताओंको स्वीकार तो किया, किंतु गौण रूपसे। ये मुख्य आवश्यकताएँ नहीं हैं। मनुष्यका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष। वह इस कर्मक्षेत्रमें इसलिये आया है कि यहाँ उद्योग करके जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाय। भोजन तथा संतानोत्पादन तो कीड़े भी करते हैं। मनुष्य भी इसीमें लगा रहा तो उसमें विशेषता क्या हुई। मोक्षको प्रधान उद्देश्य माननेपर धर्म प्रधान हो गया। धर्मके द्वारा ही अन्तः-करणकी शुद्धि होगी और तभी ज्ञानोदय होकर मोक्ष होगा। अतएव समाजके व्यवहारमें धर्म प्रधान बना। धर्मसे अविरोधी (धर्मसम्मत) 'अर्थ' तथा 'काम' का सेवन तो हिंदू-समाजमें विहित है; किंतु धर्मके लिये जीवनतकका त्याग करनेको प्रस्तुत रहना चाहिये। धर्मके तनिक भी विरुद्ध पड़नेवाले अर्थ या काम सर्वथा त्याज्य हैं; फिर वे चाहे जितने भी महान् क्यों न हों।

प्रत्येक समाज अपने रहन-सहन अपने आदर्शके अनुकू ही स्थिर करता है। व्यक्तिको अपना जीवन अपने आदर्श अनुसार बनाना ही पड़ेगा, यदि वह आदर्शको पाना चाह है। हिंदू-समाजका आदर्श मोक्ष है—अन्तर्मुखता है। अतए उसका आचार सर्वथा धर्मसे नियन्त्रित है। उसमें तनिक प्रमाद या उच्छृङ्खलताके लिये स्थान नहीं। उसमें प्रत्ये कृत्यका मूल्य धर्म-अन्तर्मुखतासे निर्धारित होता है। संग्रह अपेक्षा त्याग वहाँ आदर पाता है। बिना इस बात हृदयंगम किये हिंदुओंके आचार, रीति-रस्म आदिका मह तथा उनकी सार्थकता समझमें आ नहीं सकती।

युगानुरूप आचार

हिंदू-आचारका आधार धर्म है और धर्म नित्य अतएव हमारे आचारशास्त्र भी नित्य हैं। आज कहा ज है कि धर्म समयके अनुसार परिवर्तित होता रहता है, आ परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं। वस्तुतः धर्म तो क बदलता ही नहीं। अग्निका धर्म उष्णता है, वह स उष्ण रहेगी। आचारका आदर्श भी बदलता नहीं है परिस्थितिके अनुसार जितना परिवर्तन आचारमें आवश्यक उन परिवर्तनोंका भी शास्त्रोंमें विधान है। प्रकृतिमें परिव अनियमित रूपसे नहीं होते। परिवर्तनके भी नियम है अतः परिस्थिति भी सहसा नहीं बदलती। वह भी नियमानु ही उपस्थित होती है। इन नियमोंको जानकर प्रत्येक यु लिये शास्त्रोंने आचारमें, साधनमें कुछ भेद बतलाये हैं। परिवर्तन शास्त्रीय सीमामें ही होते हैं। शास्त्रको छोड़ जो परिवर्तन समाजमें हो गये हैं, वे परिवर्तन नहीं, वि हैं। उनके द्वारा समाजका पतन हुआ है—हो रहा है।

हिंदू-समाजके आचारका नियन्त्रण स्मृतियाँ करती हैं प्रत्येक युगके लिये स्मृतियोंने कुछ विशेष आदेश दिये हैं सामान्य आदेश तो सभी युगोंमें पालन करने ही हैं, विशेष आदेश ही युगाचार कहे जाते हैं। इन स्मृति अतिरिक्त गृह्यसूत्र हैं। ये कुलाचारका आदेश देते हैं। युगाचार और कुलाचारोंपर ध्यान दिये बिना जो लोग पु रीति-रिवाजोंको ढूँढ़ने बैठते हैं, वे बहुत भ्रममें पड़ते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य मनुष्यको अन्तर्मुख क है। युगाचार इसीको लेकर आदेश देते हैं। मनुष्य शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है, यह बात शारी एवं मानसिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है। विश्वमें साध

नियम है कि सबलकी अपेक्षा दुर्बलको संयम अधिक करना पड़ता है और श्रम कम । एक योग्य चिकित्सक स्वस्थ, सबल व्यक्तिपर आहारादिके उतने बन्धन नहीं लगाता, जितने एक रोगीपर लगाता है; क्योंकि उसका उद्देश्य स्वास्थ्यको बनाये रखना है । रोगी—निर्बल व्यक्ति सहज ही रुग्ण हो जायगा; परंतु सबल व्यक्ति उन्हीं कार्योंसे सुख प्राप्त करेगा । उसके स्वास्थ्यपर प्रभाव नहीं पड़ेगा । दूसरी ओर सबल व्यक्ति जितना श्रम कर सकता है, निर्बल उतना कर नहीं सकता । मनुष्यकी मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हुई है । जैसे निर्बल शरीर शीघ्र ही रुग्ण हो जाता है और कठिनतासे आरोग्य प्राप्त करता है, पर सबल शरीरसे रुग्ण भी हुआ तो शीघ्र आरोग्य लाभ करके पूर्व शक्ति प्राप्त कर लेता है । वैसे ही निर्बल मानस अल्प विकारोंको प्रश्रय देकर ही बहिर्मुख हो जाता है और फिर उसे अन्तर्मुख करना बहुत कठिन होता है । सबल मनःशक्ति होनेपर यदि बहिर्मुखता—विषयप्रवृत्ति हुई भी तो वह सरलतासे निवृत्त हो जाती है और फिर पूर्ववत् अन्तर्मुखवृत्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है । हम वर्तमान मनुष्यके जीवनको देखें और पुराणोंके ऋषि-चरित्रोंका गम्भीरतासे मनन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी । इसीलिये शास्त्रोंने क्रमशः संयमकी सीमाएँ प्रत्येक युगमें कड़ी की हैं । निर्बल-रुग्ण-मानस मानवके लिये यह परमावश्यक है । जहाँ संयमकी सीमाएँ कठोर-से-कठोरतर होती गयी हैं, वहीं आध्यात्मिक साधन सरल और सुलभ होते गये हैं । निर्बल मानवके लिये श्रमकी सीमाएँ घटायी गयी हैं । हमारे सामाजिक आचार, शासन, गृह, नगर, यातायात प्रभृति सबपर युगाचारका प्रभाव है । अतः प्राचीन अन्वेषणमें यह बात बराबर ध्यान रक्खे बिना विवेचन भ्रमपूर्ण ही रहेंगे ।

शास्त्रीय जीवन

युगानुरूप आचार एवं साधनोंमें परिवर्तन मनुष्यकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तिके ह्रासको दृष्टिमें रखकर किया गया है, यह ठीक है । ऐसी दशामें सहज ही प्रश्न उठता है कि हिंदू-समाज अपने लिये पूर्ण जीवन कौन-सा मानता है ? यों तो रोगी और दुर्बलके लिये पूर्ण जीवन वही है, जिसका चिकित्सक उसे आदेश दें । सबल पुरुषका जीवन उसकी स्पृहाकी वस्तु हो सकती है, पर आचरणकी वस्तु नहीं । वह उस प्रकार आचरण करके हानि ही उठायेगा । इसी प्रकार आजके युगके लिये शास्त्रोंने जो आचार एवं साधन निर्दिष्ट किये हैं, आज तो वे ही आचरणीय हैं । वैसे मनुष्यका पूर्ण जीवन एवं आचार आदियुगका ही है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

हिंदू-संस्कृति अरण्यानी-संस्कृति है । स्वच्छन्द तपोवनोंमें रहनेवाले त्यागी महर्षिगणोंने इसे पोषित किया है । वे तपोमूर्ति ही इस समाजके आदर्श हैं । आजकल पाश्चात्त्य जगत्में प्राकृतिक जीवनपर बल दिया जाने लगा है; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि तपोवनोंके संयमपूर्ण शास्त्रीय जीवन और प्राकृतिक उच्छृङ्खल पशुजीवनमें बहुत अन्तर है । पाश्चात्त्य जगत्की यह बात तो ठीक है कि मनुष्यका प्राचीन वन्यजीवन ही अच्छा था । वर्तमान नागरिक जीवनने उसे हीनशक्ति बनाया है; परंतु उनका यह मानना ठीक नहीं कि पुराना जीवन पशुओं-जैसा प्राकृतिक जीवन था । प्राकृतिक जीवन जो पशुजीवन है, वह हिंदू-समाजको न कभी अभीष्ट था और न हो सकता है ।

पाश्चात्त्य जगत्के प्रकृतिवादी प्रत्येक कार्यमें पशुओंका उदाहरण देने लगते हैं । डार्विनके विकासवादने उन्हें भ्रान्त कर दिया है । वे नहीं देखते कि आजकी जंगली जातियाँ मांसाहारी ही अधिक हैं और क्रूर, मूर्ख तथा असभ्य हैं । मनुष्यको पशु बनना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता । यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवनको अपनानेके फेरमें शिक्षा-दीक्षा छोड़ बैठे तो मूर्ख तथा असभ्य हो जायगा । पशुओंमें अपने आहारको पहिचाननेकी स्वाभाविक शक्ति है, वे संतानोत्पादनके सम्बन्धमें निश्चित समयपर प्रवृत्त होनेका स्वभाव रखते हैं, भोजन-प्राप्ति तथा आत्मरक्षणके साधन उन्हें जन्मजात प्राप्त होते हैं । मनुष्यका बालक बिना सिखाये न बंदरकी भाँति तैर सकता और न पेड़पर चढ़ सकता है । वह यह पहिचाननेकी भी शक्ति नहीं रखता कि कौन-सा आहार उसके लिये लाभप्रद है और कौन-सा हानिकर । ऐसा निर्बल प्राणी यदि अपनेको प्रकृतिपर छोड़ देगा तो नष्ट हो जायगा । वन्य जातियोंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार बहुत कुछ अप्राकृत व्यवहार करना पड़ता है; यदि वे पूर्णतः पशुओंकी भाँति प्रकृतिपर रहना चाहतीं तो अब उनका पता भी न होता ।

भारतीय आचार तपोवनोंको महत्ता देता है, परंतु उसका अर्थ त्याग है, पशुत्व नहीं । वनोंमें वे महर्षि रहते थे, जो विद्या एवं कलाके प्रज्वलित प्रकाशरूप थे । उन्हींसे सम्पूर्ण

विश्वने अपने लिये आचार, कला, ज्ञानका आदर्श प्राप्त किया। पाश्चात्त्य विवेचक यह भूल जाते हैं कि सत्य सदा समान रहता है। नियम एक-से ही सब कहीं होते हैं। मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका क्रमशः ह्रास हुआ है, यह तो वे मान लेते हैं; पर मानसिक-बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है, इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे इस सत्यको देख सकें कि बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है तो शारीरिक शक्तिकी प्राप्तिके लिये पशुत्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान नागरिक यान्त्रिक जीवन मनुष्यने अज्ञानवश—मोहवश स्वीकार किया है। इससे परित्राण पानेका मार्ग ज्ञानका वास्तविक विकास है। मनुष्यको पशु नहीं—पूर्ण मानव बनना है उसे। शास्त्रीय जीवन प्राप्त करना है। प्राकृतिक जीवन और शास्त्रीय जीवनका भेद ध्यानमें रक्खे बिना हिंदू-समाजके आचारका रहस्य उलझनमें रह जाता है।

हमारे गृह, ग्राम और नगर

हिंदुओंका आचार शास्त्रीय जीवनको आदर्श मानता है, यह निश्चय हो जानेपर निवासका प्रश्न आता है। हिंदू-समाजकी व्यवस्था चार व और चार आश्रमोंको लेकर है। चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन आश्रम वनमें रहनेके हैं। गृहस्थाश्रम इसलिये स्वीकार करनेका विधान है कि वह शेष तीनों आश्रमोंका आश्रय है। ब्रह्मचारी और संन्यासीका सत्कार करना गृहस्थका परम कर्तव्य है और अतिथि-सत्कार तो सर्वप्रथम धर्म है ही। गृहस्थाश्रमका जो आदर्श है, उससे विपरीत उसका आचार होना नहीं चाहिये। जब गृहस्थ शेष तीन आश्रमों तथा अतिथिके सत्कारके लिये ही गृह बनाता है, तब उसका गृह ऐसा होना चाहिये जिसमें इन आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुविधा मिल सके, वे वहाँ निःसंकोच रह सकें। आज एक सात्त्विक व्यक्ति भी नगरोंमें रहनेसे ऊबता है, बड़े-बड़े विशाल भवन आज ऐसे नहीं कि उनमें कोई तपस्वी रहकर प्रसन्न हो। प्राचीन निवास सात्त्विकताको प्रश्रय देनेवाले थे, उसे उद्विग्न करनेवाले नहीं।

सत्ययुगमें तो निवासका प्रश्न ही नहीं था। उस समय ग्राम और नगर नहीं थे। जो जहाँ चाहता वह वहीं—वृक्षोंके तले या गुफाओंमें तपस्या और ध्यान करता। पृथ्वी वनपूर्ण थी और वनोंमें मनुष्यकी क्षुधाको शान्त करनेके लिये पर्याप्त फल, मूल तथा कन्द थे। सबसे पहला अकाल महाराज पृथुके समयमें पड़ा। महाराज पृथुने पृथ्वीके विषम भागोंको करायाः, खेतीकी प्रथा प्रचलित की और नगर तथा बसाये। खेतीके विषयमें मनु महाराजके वचन हैं—

> कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
> भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
> (मनु० १०।८

'खेती अच्छी है, ऐसा लोग मानते हैं; परंतु सज्जनों इस वृत्तिकी निन्दा करते हैं। क्योंकि लोहे लगे काष्ठके कृषिकर्म भूमि और भूमिमें रहनेवाले जीवोंको मारता है

> 'हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।'
> (मनु० १०।८

'हिंसासे युक्त पराधीन (मजदूर, वर्षादिपर निर्भर कृषिकर्मको यत्नपूर्वक छोड़ दे।' यह आज्ञा ब्राह्मण क्षत्रियके लिये है और कहा गया है कि वे आपत्तिका वैश्यके दूसरे कर्म तो कर लें, पर कृषि न करें।

महाराज पृथुद्वारा प्रचलित होनेपर भी कृषिकर्म हि समाजमें बहुत कालतक निन्दित ही माना गया। ब्राह्मण द्वापरके अन्ततक नगर और ग्रामोंमें रहना स्वीकार न किया। वे वनोंमें रहते थे। उनके आश्रम थे। वसि विश्वामित्र, अत्रि, सांदीपनि, कण्व प्रभृतिके तपोवनों महाभारत तथा पुराणोंमें वर्णन है। ये सब ऋषि गृहस्थ थे गृहस्थ होनेपर भी उन्हें नगर और ग्रामकी आवश्यकता न थी। ब्राह्मण भारतमें सदा ज्ञानमूर्ति और तपस्वी रहे। सदा वनोंमें निवास, ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करते रहे गृहस्थोंके बालक उन्हीं तपोवनोंमें अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत करते थे। निरन्तर निर्बाध गुरुसेवा करके वहीं विद्याध्ययन करते थे।

चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोगोंको—चाहे वे वन एकाकी रहें या नगर या ग्राममें—जलाशयकी आवश्यकता थी। स्नान-संध्या-तर्पण करना प्रत्येक द्विजातिके लि अनिवार्य था। अतएव सरिताओंके किनारे ही आवास लि होते थे। बहुत विस्तृत सरोवर भी आवासके लिये मध्य स्थल मान लिये जाते थे। किसी हिंदूशास्त्रीय ग्रन्थ शौचालय तथा भंगी या भंगीके कर्मका वर्णन नहीं है। यह स्पष्ट करती है कि मनुष्य मनुष्यसे इतना घृणित कार्य करा यह हिंदू-समाजको अभीष्ट नहीं था और हमारी समाजरचना उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। ग्राम हों या नगर,

इस प्रकार नहीं बसाये जाते थे कि जलाशयसे उनका विस्तार दूर हो जाय और नित्यकर्मके लिये मनुष्योंको घरोंमें व्यवस्था करनी पड़े।

मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है कि ग्रामके चारों ओर एक सौ धनुषतक वन होना चाहिये और नगरोंके चारों ओर तीन सौ धनुषतक। नगरोंमें एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेके मध्यमें भी उपवनोंकी व्यवस्था थी।

सत्ययुगके अन्तमें जब नगर और ग्राम बनाये गये, तब भी मनुष्य अरण्यसंस्कृतिका प्रेमी बना रहा। यों तो हमारे समाजके संचालक सदा वनोंमें ही रहे। उन तपोधन विप्रोंकी छायामें रहकर प्रत्येक बालक जीवनका पाठ अरण्यमें ही पढ़ता था। परंतु आरम्भमें जो नगर और ग्राम बने, वे बहुत सादे बने—लकड़ीकी दीवारें तथा फूसके छप्पर। दो, चार, छः, आठ या दस छप्परवाली शालाओंका वर्णन प्राचीनतम वर्णनोंमें है। मनुने आज्ञा दी है कि राजाको चाहिये कि असुरोंके पत्थरोंसे बने नगर तोड़ दे। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि पत्थरके भवन बनानेका ज्ञान ही लोगोंको नहीं था। अग्निमें पकी ईंटों (इष्टकाओं) से यज्ञकुण्ड अनादिकालसे बनते आये हैं। पाषाणी और आयसी (लोहेके बने भवनोंकी) पुरियोंका वर्णन भी है। विमान भी बनते ही थे। किंतु यह सब बाह्य भोग अभीष्ट नहीं था। सीधे-सादे छप्परोंके भवन ही आदर्श माने जाते थे।

त्रेताके प्रारम्भमें ही बड़े-बड़े विशाल भवनोंका वर्णन प्राप्त होता है। भारतमें स्फटिक-रत्नादि बहुमूल्य अवश्य माने जाते थे; किंतु उनकी बहुमूल्यता ऐसी नहीं रही जो आज समझी जाती है। भवनोंमें स्फटिक, मणि, स्वर्ण—सबका उपयोग होता था—बहुलतासे होता था। भवन खूब ऊँचे होते थे और उनका आकार ऊपर कंगूरोंसे युक्त होता था। कंगूरोंपर स्वर्णकलश और पताकाएँ शोभित होती थीं। गृहद्वारके दोनों ओर केलेके वृक्ष लगाये जाते थे, यह मङ्गलसूचक चिह्न था। द्वारको तोरणसे नित्य सजाया जाता था।

वर्तमान सभ्यताके झंझावातसे जो प्राचीन भवन अब भी बचे हैं, उनमें हिंदुओंके दो चिह्न मिल जायँगे। भवनके बीचमें प्राङ्गण और उसके मध्यमें तुलसीचबूतरेपर तुलसीका पौधा, भवनमें एक मन्दिरकी भाँति बना पूजागृह। प्राचीन कालसे पूजागृह चला आता है। द्वापरके अन्ततक द्विजाति यज्ञोपवीत-संस्कारसे लेकर संन्यासी होनेतक अपने प्राजापत्य अग्निकी रक्षा करता था। उसमें वह नित्य हवन करता था। प्रत्येक व्यक्तिके पास हवन-कुण्ड होता था। वह यदि गृहसे कहीं जाता और हवन-कालतक लौटना न होता तो अपना हवनकुण्ड साथ ले जाता। सम्मान्य व्यक्तिके आनेपर अपनी अग्निको लेकर खड़े होकर उसका आदर किया जाता था। इस अग्निकी बहुत सावधानीके साथ रक्षा की जाती। उसका बुझना अत्यन्त अपशकुन समझा जाता।

नगरोंके चारों ओर खाई बनाना तो पुरानी परिपाटी है ही, खाईसे भीतर परिखा होती थी। मार्गोंके निकासपर द्वार बनते थे। भवनोंका निर्माण भी नगरों-जैसा होता था—विशेषतः राजभवनोंका। मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता और भीतर घेरेदार अनेक प्रकोष्ठ होते। एकसे दूसरे द्वारको पार करके तब मध्यमें मुख्य स्थानतक पहुँचा जा सकता था।

प्रत्येक भवन सूक्ष्म कला-कृतियोंसे सजाया जाता था। भित्तियोंमें मूर्तियाँ बनती थीं और चित्र भी। गृहद्वारके समीप नित्य प्रातः रंग-बिरंगे अन्नचूर्ण, हल्दी आदिसे 'चौक' बनाये जाते। महाराष्ट्रमें यह प्रथा अबतक है। हिंदुओंके समाजमें उल्लास, ऐश्वर्य—ये दोनों भरे थे; परंतु थे वे सात्त्विकतासे नियन्त्रित। नगरोंमें पक्के राजमार्ग थे और वे बराबर सींचे (धोये) जाते थे। वह भी साधारण जलसे नहीं—सुगन्धित जलसे। स्थान-स्थानपर उपवन एवं क्रीड़ोद्यान तथा क्रीड़ा-पर्वत होते थे। कृत्रिम झरने उन पर्वतोंसे झरा करते। घरोंमें निरन्तर सुगन्धित धूप जला करती। वातायनोंसे यह धूम्र निकला करता। रात्रिमें राजपथ पूर्णतः प्रकाशित किया जाता और दिनमें पूरे मार्गपर वस्त्रोंसे छाया की जाती। स्नान, संध्यादि जलाशयके तटपर किये जाते, जहाँ पक्के घाट बने होते थे।

वेष-भूषा

हिंदू-समाजमें ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थके लिये बाल बनवाना मना है। मूँजकी मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म—ये दोनोंके वस्त्र हैं। ब्रह्मचारी हाथमें पलाश-दण्ड रखते हैं। ताड़के पत्रोंका छत्ता और खड़ाऊँ—ये वस्तुएँ ब्रह्मचारीको वानप्रस्थसे पृथक् करती हैं। संन्यासी या तो मुण्डित रहें या जटा धारण करें, ऐसा निर्देश है। संन्यासी वल्कल-वस्त्र, मञ्जिष्ठमें रँगे या गैरिक वस्त्र धारण करें। सलिङ्ग संन्यासी दण्ड धारण करता है। अलिङ्ग संन्यासी (अवधूत) के लिये कोई वेश निश्चित नहीं है।

गृहस्थोंमें मस्तकपर पूरे बाल रखने या शिखा रखकर शेषको मुड़वा देनेकी प्रथा थी। आजकी भाँति पुरुष कभी

आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी। अधिकांश ब्राह्मण जटा रखते थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था। ब्राह्मण वल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर वल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे। अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे। धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट, पगड़ी या साफा—यही हिंदूवेश है। सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था। जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था। युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे; किंतु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि ये कवच भी इस प्रकारके नहीं बनते थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय। आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया। बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया। यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे। सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है। स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं। यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊपरसे उत्तरीय डाल लेती थीं। स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुत-से ग्रामोंमें ऐसी ही है। केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है। स्त्री और पुरुष दोनों रंगीन वस्त्र धारण करते थे। शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे। अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परंतु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

आभूषण-धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री-पुरुष आभूषण धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिए आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे; भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे। पूरे समाजका एक बहुत भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। सामग्रीके लिये संघर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कु हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अङ्गुलीय (अँगू किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आ आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है, यह वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होन यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दी उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्य फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अ सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनान विन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राच उनसे हिंदू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

राम-भरोसा

धन-पति, पद-पति, बुद्धि-पति, जग-पतिसों लिय भीख।
इन मंगन सों माँगु नहिं, प्रभु सों माँगन सीख॥
मँगिबो परत न राम सों, जानत जन-हिय-पीर।
जाति दौरि शिशु के निकट, जननि पियावत क्षीर॥

—श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय जी भ० दूरकाल एम्० ए०)

प्रत्येक मन्तव्य या सिद्धान्तमें जिस वस्तुको प्राधान्य दिया जाता है, उसके अनुसार ही उसका नाम पड़ता है। इसी प्रकार पूँजीकी मुख्यता होनेके कारण इसका नाम पूँजीवाद चल पड़ा है। फ्रांसकी १७८९ की क्रान्तिमें ईश्वर और धर्मको उड़ा देनेकी रणभेरी बजी, इससे अर्थ और कामका जोर बढ़ा। अर्थका सही अर्थ यह है कि जिससे संसार चले, और इसकी आवश्यकता पूरी हो। आवश्यकताओंके दो मुख्य भेद हैं—व्यक्तिकी और समाजकी। व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं—खान-पान आदि। समाजकी आवश्यकता है—राज्य। धर्मके संयम, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह आदिके आदर्शोंको शिथिल करनेके साथ ही मौज-शौकका प्राधान्य आ गया और उसमें 'छूट'—स्वच्छन्दताके सिद्धान्तसे दुराचारकी दुर्वासना भी प्रविष्ट हो गयी। मौज-शौकके लिये धन चाहिये, इसलिये धनका प्राधान्य आया। धनका 'उत्पादन' करनेमें श्रम चाहिये, इसलिये श्रमका—मेहनतका—क्रियाका प्राधान्य आया। जैसे नेपोलियनके नेतृत्वके अधीन फ्रांस राज्यसत्ताकी गेंद-उछालका केन्द्र बन गया, वैसे ही वह यूरोपमें मौज-शौकके अड्डोंका, नाइट-क्लबोंका, फराक और पेटीकोटके फैशनका केन्द्र हो गया। इसके प्रभावसे सारे यूरोपमें मौज-शौक और धनके लिये उन्माद या आतुरता फैल गयी। धनको बढ़ाने, धनको खूब इकट्ठा करने और धनको ऊँचा उठानेके आदर्श, प्रयत्न और कानून बनने लगे। धन या पैसा जो पहलेके धर्मराज्योंमें थूका मैल समझा जाता था, उसे शुक्रकी महादशा आ गयी। धन या लक्ष्मी स्वयं तो कोई बुरी वस्तु नहीं है; उसके लालचमें पड़कर द्वेष, दुराचार और दुर्वासनामें फँसना बुरा है। यह तो विष्णुकी महामाया है; इसलिये बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी काम-पन्थमें भटक गये। इसकी फिलॉसफी निकली और नये अर्थशास्त्र बने। इसको सम्मति और पोषण देनेवाली तानाशाहीकी राज्य-रचनाका आविर्भाव हुआ। फ्यूडलिज्म—अमीर और सरदार जो मोटे कपड़े पहनकर हजारों आदमियोंका निर्वाह करते थे, राजा और सरदार जो संग्राममें आगे बढ़कर पहले अपना बलिदान देनेके लिये तैयार होते थे, धार्मिक सत्ताके अधिकारी, जो लोगोंको संयम और दान-धर्मका उपदेश देकर अपने ठिकानेपर रखते थे, उन सबपर आ बनी। सरदारों और अमीरोंको उड़ा देनेमें होशियारी मानी जाने लगी। बड़ी-बड़ी तनख्वाहवाली सेनाओंका बारहों महीनेका करोड़ोंका खर्च और इस कारण स्वभावतः अनायास संग्राम और लड़ाइयाँ बढ़ने लगीं और रविवार-के पुण्यके बदले पुतलीघरोंमें पैसे उड़ने लगे और देव-मन्दिरोंकी संख्या कम होने लगी। बर्क-जैसे दूरदर्शी विद्वान् सहसा चिल्ला उठे और इंगलैंड-जैसे देश क्रान्तिकी नागफाँससे बच गये। वहाँ तथा अमेरिकामें धर्मका थोड़ा-बहुत जोर होनेके कारण दुराचारमें कुछ रुकावट आयी। परंतु धनेच्छा और लोलुपता वहाँ भी बढ़ी और पूँजीवाद प्रविष्ट हो गया। इसके पीछे लोगोंकी दरिद्रताकी अपेक्षा धनलिप्सा ही अधिक बलवान् थी। किस प्रकार दूसरोंसे धन लेना, खींचना या रोक रखना—यह उसका मुख्य प्रेरक बल हो गया। इसके लिये बड़े-बड़े कारखाने, नये-नये आविष्कार, विज्ञानके विश्वविद्यालय बढ़ने लगे। इसके साथ इसके अङ्गस्वरूप मजदूरोंका पूर्ण जोरदार, संख्याबद्ध वर्ग बनने लगा, पूँजीपति बढ़ने लगे और वर्ग-संघर्षके भी नारे लगाये जाने लगे। बर्कने कह दिया था कि अब सिरको हथेलीमें लेकर प्रजाकी तथा महिलाओंकी रक्षा करनेके लिये कूद पड़नेका युग चला गया और उसकी जगहपर तर्कवादी, अर्थवादी और पैसे-पैसेका हिसाब करनेवालोंका युग आ गया है और देशकी यशस्विता सदाके लिये बिदा हो गयी है। परंतु यूरोपका वातावरण इस कूद-फाँदसे इतना अधिक बिगड़ चला था कि कार्लाइल-जैसे महान् विचारक भी अंशतः भूलमें फँस गये और इस क्रान्तिकी निन्दा करते हुए भी 'परिश्रम' और क्रिया (लेबर)का राग अलापने लगे। सच बात तो यह थी कि दुनियाँमें जितना खाने-पीनेके लिये चाहिये, उतना तो होता है मनुष्यकी असली जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं। परंतु नयी विचारधारा तो यह कहती थी कि हमें तो मौज-शौक चाहिये, मौज-शौकके लिये धन चाहिये और धनके लिये श्रम चाहिये। इस प्रकार मजदूरी आकर पूँजीवादके पल्ले बँध गयी। यह सब जोर देकर कौन कराये—पूँजीपति या मजदूर? और दोनोंके ऊपर हुकूमत कौन चलाता है?—राज्य; दूसरा कौन? इससे राज्यकी हाकिमी आयी। राज्यकी हाकिमी कौन करे? यह समुदाय हुकूमत

भोगे या वह दल भोगे ? संत भोगें या ये षड्यन्त्रवाले भोगें ? संतोंको यह कहकर उड़ा दिया कि संसारको समझते नहीं। राजाओंको यह कहकर किनारे किया कि तुम तो संयम और सदाचारके लिये सबको दबाते हो, इसलिये तुमसे हमारा काम नहीं चलेगा। अब बच गये लोकशाहीवाले क्रान्तिकारी। उनमें भी फिर अनेक पक्ष हो गये—जिनमें दो स्पष्ट बहुमतवाले और अल्पमतवाले हैं। दोनों ही अपनी बातको सोलहों आने ठीक मानते हैं। कौन किसके लिये सहे या अपने विचारको हटाकर या दूसरेकी विचारधाराको मानकर समाधान करे ? और क्यों समय नष्ट करे ? जिन साधनोंसे सफलता नहीं मिल सकती, ऐसी प्रार्थनाओंको अथवा लोगोंका बहुमत प्राप्त करनेके निरर्थक प्रयत्नको क्यों अपनाये रहें ? यह परिस्थिति उत्पन्न होने और सहज ही समझमें आनेके कारण त्रासवाद आया, बमबाजी शुरू हुई और अणु-बम तथा हाइड्रोजन-बम भी धर्मके बिदा होनेके कारण और धर्मक्षेत्रके चौकमें रीजन (तर्कवाद) का पुतला खड़ा करनेके फलस्वरूप बिना माँगे, बिना बुलाये, अनेक बार आड़े हाथ करनेपर भी ये आ पहुँचे। धर्मविहीन राज्यकी नास्तिक फिलॉसफी राज्यमें, शिक्षामें, आदर्शमें और भाषामें भी आ पहुँची। 'सब समान'का असत्य सिद्धान्त पुनरावर्त्तनसे फैशनमें आ गया और सब कुछ किनारे रखकर 'अब तो भाई दुनियाकी रोटी पूरी करो'—इसकी योजना करनेका शोर मचने लगा और इसका सीधा उपाय—जिनके पास पैसे हों, उनसे ले-लेकर जरूरत पूरी करो—यह सूझा। इस रोटीकी दुनियामें एकाएक चमत्कार हो गया और मेहनतके बावजूद रोटियोंका अकाल एकाएक कहाँसे आ गया, इसका उत्तर खोजनेकी खटपटमें कौन पड़े ? ऐसी आजकी मानस-भूमि बन गयी। इसके लिये खूब उत्पादन करो, खूब उत्पादन करो—यह आवाज चारों ओर फैल गयी। उत्पादनमें सफलता नहीं हुई, हजारों मन काफी फेंक देनी पड़ी, पाट आदि बहुतेरी चीजोंके उत्पादनकी कीमत इतनी भी न हुई कि उससे लगत वसूल हो सके। अनाज सस्ता न होने पाये, इसके लिये बनावटी रुकावटें पैदा की गयीं। घी-दूध, अनाज आदिमें मिलावट और बनावट बढ़ गयी। दूसरी ओर कपड़ेकी तथा दूसरी मिलोंमें करोड़ों रुपयोंका माल भरा रहने लगा। महँगा माल कौन ले ? मालकी महँगाईके साथ रुपयेकी भी बढ़ती गयी। तीसरी ओर दुर्घटनाओं, दगेबाजियों युद्धोंके परिणामस्वरूप करोड़ों रुपयोंके जहाज, वायुयान इमारतोंका नाश होने लगा। जर्मनीने तो अपना काफला ही बिजलीके बटन दबाकर उड़ा दिया। इस दूसरी ओर देखो तो महँगाई और मौज-शौककी तथा की वृद्धि और धंधे-रोजगारकी स्वतन्त्रताके लिये होनेका परिणाम यह हुआ कि मजदूरीकी तैयारी होने बेकारी बढ़ती गयी। इसलिये बेकारीकी पुकार भी अव्यवस्थामें बढ़ गयी। सारांश यह कि जैसे शतरंजकी में गलत या भूलभरी चाल चलनेसे खेलाड़ी फँस अथवा सोचे हुएसे उलटा ही परिणाम आ जाता है हालत इस नये प्रयोगके खेलाड़ियोंकी भी हुई। और प्रकृतिके ईशकी सत्य, अहिंसा, संयम इत्यादि विधि-निषेधके विरुद्ध स्वतन्त्रता खोजते-खोजते पीनेतककी परतन्त्रता आ पड़ी। पूज्यकी पूजामें करके और संत तथा शैतानको समान समझनेवाले दुनियामें उलटे ऐटम बमवाली और दुष्ट हथियारोंकी व्यापी लड़ाई सिर आ पड़ी। अर्थ और धनके पीछे मूँदकर दौड़ती प्रजामें अधिक बेकारी और ऋणभार गया। लोकशाहीकी राज्य-पद्धतिसे, दुनियाका उद्धार डालनेकी प्रवृत्तिसे उन-उन राज्योंमें ही स्वतः अव्य भेद, अन्तर्युद्ध, बमका उपयोग, आग लगानेकी तथा पारस्परिक द्वेष और बड़े-बड़े अपराध बढ़ गये सारी बातें इतनी स्पष्ट और प्रत्यक्ष देखनेमें आती कोई भी देखनेवाला इन्हें देख सकता है। अवश्य पंथमें अबतक लोग इतना आगे बढ़ गये हैं कि अब हटना बहुत कठिन है। तमससे प्रकाशमें जाना भी महाक्रान्ति ही है।

इस प्रकार १७८९ से इसकी पश्चाद्-भूमिका वर्तमान भूमिकाका दिग्दर्शन करानेके बाद हम पूँजी दोष और विपरिणामको भी देख लें।

(अ

ईश्वरने यह तन दिया करनेको दो काम।
तन-धनसे सेवा करें, मनसे सुमिरें राम॥

सात्त्विक वृत्ति

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी)

"रामायणको मैं जीवनकी पुस्तक मानता हूँ और मेरा ऐसा विश्वास है कि जबतक हम उसको इस भाँति समझनेका प्रयत्न नहीं करेंगे, 'राम-राज्य'की स्थापना हमारे शरीर, मन तथा बुद्धिमें नहीं हो सकती। हजारों वर्षोंसे रामायणका पाठ घर-घरमें हो रहा है परंतु रामायणकी जो गारंटी—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

—है, वह रामायणका पाठ करनेवालोंके जीवनमें चरितार्थ होती नहीं पायी जाती। उनके शरीर रोगसे ग्रसित हैं, मन विकारयुक्त हैं तथा बुद्धि अज्ञानसे परिपूर्ण है। इसका क्या कारण है? क्या रामायण गलत है? नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि इसके आधारपर साधनाद्वारा बहुत-से व्यक्ति अपना जीवन सफल बना चुके हैं। तो फिर हमारी असफलताका क्या कारण है? मेरे विचारसे हमलोग रामायणको एक धर्मकी पुस्तक-मात्र मानते हैं और उसका हमारे दैनिक जीवनसे भी कोई सम्बन्ध है—यह विचार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

"पार्वतीने तप किया, मनु-शतरूपाने तप किया, भरत तथा अयोध्यावासियोंने साधना की। क्या ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ मात्र हैं अथवा एक पौराणिक ग्रन्थकी उन गाथाओंमेंसे हैं, जिनका क्रियात्मक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या हम भी उसी परिपाटीपर चलकर वही प्राप्त नहीं कर सकते, जो उन्होंने किया?

"देश, काल तथा पात्रके अनुसार इस साधनाके रूपमें परिवर्तन हो सकता है; परंतु मूल सिद्धान्त वे ही होंगे। यदि ऐसे कुछ साधक तैयार हों, जो रामायण को भाँति समझने और उसका क्रियात्मक उपयोग करनेको प्रस्तुत हों या कर रहे हों, तो बड़ा लाभ हो सकता है। मेरा यह निवेदन है कि लोग सत्सङ्गकी समाप्तिके बाद रुक जायँ और हमलोग आपसमें बैठकर अपने अनुभव तथा कठिनाइयोंको बतायें तथा नवीन सुझाव स्वतःप्राप्त विवेकके प्रकाशमें रक्खें, जिनसे लाभ उठाकर हम एक-दूसरेकी सहायता कर सकें और अपनी साधनामें अग्रसर हो सकें।" इतना कहकर योगीजी शान्त मुद्रासे बैठ गये।

कुछ लोग उठकर चले गये, लगभग पचीस व्यक्ति बैठे रहे। योगीजीने कहा—'मेरा ऐसा अनुमान था कि पाँच-छः व्यक्ति ही रुकेंगे; परंतु बात मेरी आशाके विपरीत हुई।'

दो-तीन सज्जन एक साथ बोल उठे कि 'साहब! हमलोग तो आपके मुखसे और अधिक सुननेके लिये ही बैठे हैं। कुछ करने-धरनेवालोंमें नहीं हैं।'

योगीजी हँसने लगे—उपस्थित लोगोंकी मनोवृत्ति-पर! वहाँपर पुलिसके एक बहुत ऊँचे अफसर भी बैठे हुए थे, जो योगीजीके अनुयायी थे तथा उनके सिद्धान्तोंपर चलकर पर्याप्त लाभ उठा चुके थे। उनके मुखपर पुलिसके अधिकारियोंकी-सी निरङ्कुशता न थी, अपितु धार्मिक पुरुषोंका-सा माधुर्य तथा कोमलता थी। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर भगवान्‌का स्मरण करते थे। भोजनमें अन्नका परित्याग लगभग एक वर्षसे किये हुए थे और दिनमें केवल एक बार कंद-मूल-फल तथा शाकका आहार करते थे। योगीजीके सत्सङ्गमें आनेवाले सभी व्यक्ति उन्हें श्रद्धा तथा आदरकी दृष्टिसे देखते थे। उन्होंने कहा—"वैसे तो मेरा कोई विशेष अनुभव नहीं है, किंतु आज प्रातःकालकी एक घटना उल्लेखनीय है—

"मेरे घरके बाहरी कमरेमें एक लड़का रहता है, जो विश्वविद्यालयमें एल्-एल्० बी० में पढ़ता है। धनाभावके कारण वह अपनी शिक्षा आगे बढ़ानेमें असमर्थ था, वह

मेरे पास आया और उसने अपनी कठिनाइयाँ मेरे सामने रक्खीं। मैं उसको अपने साथ रखनेपर राजी हो गया और उसको रहनेके लिये अपने घरका बाहरी कमरा दे दिया। घरपर ही उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी।

"आज प्रातः लगभग पाँच बजे जब वह दाढ़ी बना रहा था, तब उसने पानीका लोटा खिड़कीमें रख दिया। एक आदमी उस लोटेको उठानेकी नीयतसे खिड़कीके पास आया, पर अंदर एक व्यक्तिको देखकर लौट गया। उस कमरेके बाहर दरवाजेके पास एक टूटा हुआ उगालदान पड़ा था। वह उसको उठाकर नौ-दो ग्यारह हुआ। उस लड़केने देखा कि कोई व्यक्ति खिड़कीके पास आया और उसको देखकर दरवाजेकी ओर गया और वहाँसे कुछ उठाकर चला गया। वह कमरेके बाहर निकल आया, ठीक उसी समय मैं भी घरसे बाहर निकला। मुझे देखते ही उसने प्रणाम किया और उस घटनासे सूचित किया। मैंने तुरंत अपने अर्दलीको उस आदमीको पकड़ लानेका आदेश दिया।

"लगभग आधे घंटेमें वह व्यक्ति पकड़कर मेरे पास लाया गया। उस अर्दलीने पकड़ते समय ही उसकी काफी मरम्मत कर दी थी। तो भी कोठीपर आते ही और लोगोंने उसकी पूजा शुरू कर दी। मेरे अंदर भी कुछ तामस वृत्तिका प्रादुर्भाव हुआ और मैंने चौकीसे दो कान्स्टेबलोंको बुलाकर उनकी सुपुर्दगीमें उस व्यक्तिको दे दिया।

"किसी क्रूर तथा अनिष्टकारक कर्म करनेके बाद ग्लानि होती है और शीघ्र ही कोमल भावनाओंका होता है और तब उस व्यक्तिसे, जिसके साथ हमने अ किया है, सहृदयताका बर्ताव करनेकी इच्छा होती है

"जब कान्स्टेबल उसे ले जाने लगे, तब मैंने नरमीसे कहा—

'तुम कौन हो और तुमने चोरी क्यों की?'

'मैं उड़ीसाका एक गरीब ब्राह्मण हूँ। बाढ़से घर तथा खेती नष्ट हो जानेपर मैं भागकर गोरखपुर और वहाँ रेलवेमें मजदूरी करने लगा। दुर्भाग्यसे छ वहाँसे भी निकाल दिया गया और अब कई दि यहाँपर हूँ।' उसकी तलाशी लेनेपर कुछ ऐसे प्रमाण जिससे उसकी बातोंकी पुष्टि हुई। उसको देख मालूम होता था कि कई दिनोंका भूखा है।

"मुझे उसपर बहुत दया आयी और मैंने कान्स्टे को उसे छोड़कर चौकी लौट जानेका आदेश दिया उस व्यक्तिको भोजनकी सामग्री देकर विदा किया।

"मेरे जीवनमें यह पहला अवसर था कि एक व्यक्ति चोरी करते हुए पकड़े जानेपर भी मैंने छोड़ दिया तो भी मुझे कोई मलाल नहीं हुआ, अपितु एक आनन्दकी अनुभूति हुई। मैंने ऐसा अनुभव किया यह इस सात्त्विक वृत्तिका प्रभाव था, जिसका प्रादु मेरे जीवनमें संयम एवं नियमके द्वारा हुआ है, जो साधनाके विशेष अङ्ग हैं।"

'तब निश्चित तेरा कल्याण'

हत्यारा आएगा सम्मुख, लेनेको तेरे प्रियप्राण।
कहना होगा उसे भावसे, 'हो भाई! तेरा कल्याण!'
काक, कबूतर, चींटी तकके, ऊपर भी न फेंक पाषाण।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण॥

शत-शत फूल चढ़ा उस जनपर, जो फेंके तुझपर पा
अपने प्राण गँवा करके भी, बचा किसी प्राणीके प्रा
दीन, दुखी, पापी, पतितोंका, कर स्वागतपूर्वक शुभ
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्या

—'बन्धु', ब्र

श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह प्रश्न होता है कि श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है ? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है ? इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे। इस हिसाबसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है।

यदि कहें 'कि एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्—(११ । ३५)।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था।*

---

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही हुआ था। प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है। प्रख्यात ऐतिहासिक स्व० श्रीचिन्तामणिराव वैद्यने मार्गशीर्ष शु० १३ को गीताकी जन्मतिथि बतलाया है—'सम्पादक'

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर १३०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३। २)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकलतीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥
(भीष्मपर्व ४३। ५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका फल तो अधिक-से-अधिक स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है। यों गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

सत्कथा

(१)

राम-जपके सम्बन्धमें स्वयंकी अनुभूतियाँ

(लेखक——आचार्य श्रीभगवानदासजी झा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

जीवनके शैशव-कालसे ही मेरे अबोध मनपर मेरे पिताजीकी भक्ति एवं उनके द्वारा निर्देशित राम-नाम-जपकी महत्ताके संस्कार आजतक बनते चले आ रहे हैं। मैं पाँच वर्षका था। मेरे पिताजी चाहते थे कि मैं पढ़ने बैठ जाऊँ। पर मेरा मन पढ़नेसे उसी प्रकार कोसों दूर भागता था, जिस प्रकार किसी संसार-विषयासक्तका भगवन्नामसे। पिताजी बड़े चिन्तित रहते थे। सोचते थे कि इसके भाग्यमें विद्या है ही नहीं। अन्तमें उन्होंने प्रतिदिन इसीके निमित्त 'ओम्'का जप किया। हरि-इच्छासे मेरा मन पढ़नेके लिये व्याकुल होने लगा और बार-बार उचटनेकी स्थितिके बाद भी मैं प्रत्येक कक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता रहा। जब मैं सन् १९३८ में मिडिल-परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ, तब मुझे ऐसा भासित होने लगा कि जिस राम-नामने मुझे इतनी विद्या दी, वह इससे आगे भी देगा। अस्तु, घरका त्याग करके मैं हाई-स्कूलकी परीक्षा उत्तीर्ण करने दतिया आ गया। जीवन-क्रम बढ़ता गया और इसी क्रममें ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे मेरे मनमें राम-नाम-जपकी महिमाका प्रभाव तीव्रतर होता गया। अधिक न कहकर मैं उन घटनाओंको लिपिबद्ध करता हूँ, जो यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त हैं कि ओम् या राम-नाम-जपसे सब विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

घटना-क्रमाङ्क १

बात सन् १९४३ की है। घटना झाँसी, उत्तरप्रदेशकी है। मैं उस समय इंटरमीजियट, प्रथम वर्षका विद्यार्थी था। राजकीय इंटरमीजियट कालेज, झाँसीके छात्रावासमें वास करता था। कमरा क्रमाङ्क १० था। प्रथम वर्षकी वार्षिक परीक्षा निकट आ रही थी। सभी विद्यार्थी रात्रिके चार बजेसे विद्याध्ययनमें लग जाते थे। छात्रावासमें विद्युत्-प्रकाशकी व्यवस्था नहीं थी। अतएव लालटेन जलाकर कार्य किया जाता था। एक रात्रिकी घटना है। मैं प्रातः चार बजे उठा। कमरेसे बाहर निकलकर लघु-शङ्काका समाधान किया। तत्पश्चात् कमरेकी देहरीपर खड़ा हो गया। आदतके अनुकूल महात्मा सूरदासका पद—

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो·····

—गुनगुनाने लगा। एक पदकी समाप्तिके बाद दूसरा पद—

मैया मैं तो चंद-खिलौना लैहों·····

—अधिक उच्च स्वरसे गाने लगा। अन्धकारकी रात्रि थी। इसलिये यह कुछ पता नहीं कि मेरी स्वरलहरीको कोई सुननेवाला भी था या नहीं। दस मिनट बाद लालटेन जलानेके लिये कमरेके भीतर गया। शौचके लिये लोटा उठाया, लालटेन हाथमें ली, ताला उठाया और चला देहरीकी ओर। लालटेन पृथ्वीपर रखने लगा कि अचानक भयके मारे लालटेन हाथसे छूट गयी और दूसरे हाथका लोटा बाहर दूर जा पड़ा। देखा—जहाँ खड़ा मैं दस मिनटतक गाता रहा, वहीं मेरे पैरोंसे एक सेंटीमीटरकी दूरीपर ही एक विषधर मेरी स्वर-लहरीको सुन रहा था। किंतु उसने काटनेकी तो कौन कहे ऊपर उठे हुए फनका मेरे पैरसे भी स्पर्श नहीं किया। चिल्लाया। साथी जाग पड़े और सर्पका वध कर दिया गया। मैं सोचने लगा—यह हरि-नामका ही प्रभाव है कि जो सूरके पदके रूपमें मेरी रक्षाका निमित्त बना। सर्प पाँच-छः फुट लंबा और महान् विषैला था। इसमें किसीको संदेह नहीं था कि यदि वह मुझे डस लेता तो छात्रावाससे लगभग तीन मीलकी दूरीपर स्थित औषधालयतक रात्रिके चार बजे पहुँचनेके पूर्व ही मेरी ऐहिक जीवनलीला समाप्त हो जाती। पर भगवान् जो साथ थे।

घटना-क्रमाङ्क २

बात सन् १९४८ की है। इलाहाबाद नगरसे सम्बन्धित घटना है। मैं गवर्नमेंट ट्रेनिंगकालेजमें एल्०टी० का विद्यार्थी था। वार्षिक परीक्षाके दिन निकट थे। कालेजमें प्रथम श्रेणीकी प्राप्तिके लिये भयंकर होड़ें लग रही थीं। मैं तिमाही और छःमाही परीक्षामें प्रथम उत्तीर्ण हुआ था। अतएव अब सभी विद्यार्थियोंका यही प्रयत्न था कि मैं अबकी प्रथम श्रेणी

न प्राप्त कर सकूँ। आठ-दस विद्यार्थी मेरी प्रतियोगिताके क्षेत्रमें कूद पड़े। वे रातों-दिन एक करने लगे। इधर रातके बारह बजेतक पढ़ते और उधर प्रातः चार बजे उठ बैठते। पर मेरी स्थिति भिन्न थी। रातको जगनेकी आदत नहीं थी। नौ बजे सो जाता और प्रातः सात बजे उठता। यह क्रम कई दिनोंतक चलता रहा। सबने समझ लिया कि अब यह विद्यार्थी क्या बराबरी करेगा। पढ़ता तो है नहीं। सोता रहता है। बात सोलह आने सच थी। पर मैं सोनेके पूर्व लगभग पंद्रह मिनटतक संस्कारवश 'ओम्'का जप अवश्य कर लेता और उठनेके साथ ही तुलसीकृत रामायणका यह दोहा गुनगुनाने लगता—

भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

परीक्षा हुई और समाप्त हो गयी। जूनमें परीक्षा-फल घोषित हुआ। मैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों परीक्षाओंमें प्रथम-प्रथम उत्तीर्ण हुआ। ओम्के जपने मेरी मनःकामना पूर्ण की। संसार इसका रहस्य कदाचित् न समझ सका हो।

घटना-क्रमाङ्क ३

बात सन् १९५२ की है। स्थान जावरा, मध्यभारत था। मैं साइकिलसे स्टेशन लकड़ीकी गाड़ी लेने गया था। साइकिल बहुत पुरानी थी। लकड़ी लेकर चल दिया। मार्गमें मैं संत तुलसीदासका पद—

गाइए गनपति जग बंदन। संकर सुवन भवानी नंदन॥

—गाता हुआ द्रुततम गतिसे बढ़ने लगा। किसीको यह पतातक नहीं कि मेरी साइकिलके आगेके पहियेका चिमटा टूट चुका है; पर मैं बढ़ता ही आया। ठीक घरके द्वारपर आनेपर जैसे ही मैं साइकिलसे नीचे उतरा, पहिया साइकिलसे पृथक् हो गया। मैं बाल-बाल बच गया। मैं सोचने लगा—यदि यही बात जोरोंसे साइकिल चलाते समय घटती तो ग्वालियरकी एक घटनाकी भाँति मैं वक्षःस्थलके बल भूपर गिरता और सदैवके लिये आँखें बंद हो जातीं। पर गणपतिकी वन्दनाके पढ़ने मेरे जीवनकी रक्षा की। तभी तो श्रीगणपतिजी सकल-विघ्न-विनाशक माने जाते हैं।

घटना-क्रमाङ्क ४

बात सन् १९५५ की है। स्थान नरसिंहगढ़, मध्यभारत था। मैं नगरसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित एक एकान्त बँगलेमें निवास करता हूँ। अचानक दिनाङ्क चार अप्रैल, ५५ मेरी सबसे छोटी कन्याकी आँखें चढ़ने लगीं। सायंकाल छः बजेका समय होगा। मैं तब बैडमिंटन खेल रहा मेरी धर्मपत्नी चिल्ला पड़ीं। नौकर घरके भीतरसे दौड़ा आया। कहने लगा—'बेबीकी तबीयत बिगड़ रही है।' का मैदान बँगलेके पास ही था। मैं खेल छोड़कर गया। देखा—छः मासकी बच्ची आँखें चढ़ा गयी है अन्तिम साँस ले रही है। मैंने सोच लिया कि अब प्राणोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। मैं रोने लगा। बच्चीके हाथोंसे चला जाना कितने दुःखकी बात थी। केवल सायंकाल चार बजे हल्का-सा बुखार आ गया दाँत निकलनेकी थोड़ी-सी शिकायत थी। उपचार आदि कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। पर जब बच्चीकी बिगड़ने लगी, तब मेरे साथी खिलाड़ियोंने बच्चीको गोद ले लिया और मैं साइकिलसे डाक्टरके पासके लिये दौड़ा मार्गमें एक कार मिल गयी। मैंने विनय करके कार और उसे पीछे लाकर बच्चीको उसमें बिठाकर औषध लाया। डाक्टरसाहबने केवल यही कहा कि मलेरिया शिकायत है; मैं एक इंजेक्शन लगाये देता हूँ और दवा खानेको दिये देता हूँ। तबतक बच्ची, जो अभी मूर्छित थी, चेतनतामें आ गयी थी। सोचा—अब टला। बच्चीको लेकर घर लौट आया। धर्मपत्नीको पिलानेके लिये बच्ची दी। एक क्षणमें ही बच्ची उसी में पुनः आ गयी। हम दोनों घबरा गये। पर तबतक चली गयी थी। अब क्या किया जाय। साथी भी चले थे। दो नौकर पास थे। मैं बच्चीको लेकर आँगनके आया और खुले मैदानमें उच्च स्वरसे 'ओम्'का जप लगा। जप आधे घंटेतक चला। इस अवधिमें जीवन और मृत्युके संधि-स्थलपर थी। मैं धैर्य बाँधे हिचकी लेती हुई कन्याको गोदमें लिये जोरसे जप कर था। मैंने धर्मपत्नीसे भी जप करनेको कहा; पर वे व्याकुल थीं कि अनेक प्रयत्न करनेपर भी थोड़ी ही कर सकीं। बच्चीने होश सँभाला। वह रोने लगी। चली गयी। मैंने तुरंत गायत्री-मन्त्रका जप आरम्भ दिया। बच्चीने आँखें खोल दीं। सबको धैर्य बँध फिर क्या था। सभी 'ओम्'का जप और साथ गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। मैंने जप आठ बजेसे बजे राततक चलाया। प्रातःकालतक बच्ची पूर्ण स्वस्थ बच्चीकी दशासे यह स्पष्ट ज्ञात होता था कि वह मृत्युके

से अभी हालमें ही वापस आयी है।

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके बलपर मैं यह कहनेमें समर्थ हूँ कि राम-नामके जप और 'ओम्'के जपसे सभी विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति की जा सकती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह विश्वासकी बात है और यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त है कि जब हम आर्तरूपमें हरिकी शरणमें सच्ची आस्था लेकर जाते हैं, तब दीनदयाल, भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् हमारी रक्षा अवश्य करते हैं। भगवान् दम्भके विरोधी हैं पर सच्चे स्नेहके भूखे हैं।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(२)

कौन कहता है भगवान् आते नहीं ?

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रस्वरूपजी श्रीवास्तव बी० ए०)

आजसे दस-बारह वर्ष पूर्वकी बात है। ठीक-ठीक समय तो याद नहीं; परंतु इतना अवश्य याद आ रहा है कि जन्माष्टमीसे एक-दो मास पूर्वकी यह घटना है।

मैं जजीमें एक कर्मचारी हूँ और उस समय अपरेन्टिस था। एक दूसरे कर्मचारीके त्यागपत्रपर मेरी नियुक्ति जजीके मोहाफिजखानेमें हुई थी और मेरा वेतन अठारह रुपयेसे कदाचित् पचीस रुपये हो गया था। मेरे साथ चार अन्य कर्मचारी काम करते थे और प्रत्येकके अधिकारमें एक-एक न्यायालयकी निर्णीत मिसलें रहा करती थीं।

एक दिन एक प्रार्थनापत्र आया, जिसके द्वारा एक निर्णयकी प्रतिलिपि माँगी गयी थी। प्रार्थनापत्र मेरे पास भेजा गया; क्योंकि वह मेरे विभागसे सम्बन्धित था। मैंने मिसल देखी, परंतु वह मेरे पास न निकली। इधर-उधर ढूँढ़ा, न मिली। अपने साथियोंसे पूछ-ताछ की, परंतु कहीं पता न चला। ऐसा लगा मानो पैरोंतलेसे जमीन निकल गयी। मिसल पुरानी थी, अतः रद्दीमें भी देखी गयी; परंतु मिसल न मिलनी थी, सो न मिली। बात गुप-चुप भी रक्खी जाती तो कितने दिन। होते-होते बात काफी फैल गयी और सबको पता चल गया। प्रार्थीने एक दूसरे पत्रद्वारा जजसाहबसे प्रार्थना की कि अमुक मिसल जजीके मोहाफिजखानेसे गायब है और ऐसा अनुमान होता है कि अमुक कर्मचारीने दूसरी ओरसे कुछ रकम लेकर मिसलको गायब कर दिया है।

अब क्या था—तू चल और मैं चल। कागजी घोड़े दौड़ने लगे। मेरा भी उत्तर लिया गया और आदेश हुआ कि दो सप्ताहके अंदर मिसल ढूँढ़कर पेश की जाय। मिसलका न मिलना या कागजका खो जाना काममें लापरवाही ही नहीं, वरं एक गम्भीर अपराध भी है।

मिसल ढूँढ़ी, सारे दफ्तरमें ढूँढ़ी। परंतु पता न लगना था सो न लगा। जज साहबसे एक सप्ताहका अवकाश और माँगा गया और वह भी मिल गया। उस सप्ताहमें केवल चार दिवस ही काम करना था; क्योंकि रविवार और जन्माष्टमीको मिलाकर तीन दिनकी छुट्टी पड़ती थी। इन चार दिनोंमें अब जमीन और आसमानके कुलाबे मिला देना था। खोज हुई, सामर्थ्यसे अधिक हुई। एक-एक करते चारों दिन बीत गये, परंतु मिसल अन्धकारके परतमें ही रही। एक मिसल हो तो ढूँढ़ी जाय; हजारोंमें एकका मिलना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

मुसीबतमें कोई किसीका साथ नहीं देता—कम-से-कम यह कहावत मेरे साथ झूठी निकली। सबने तन-मनसे मेरा सहयोग दिया था। पर सफलता नहीं हुई।

रोमके जलते समय नीरो बंसरी बजा रहा था। जहाँ मुझे मेरे साथी इतना सहयोग दे रहे थे, वहाँ कुछ लोग मुझपर भाँति-भाँतिके लाञ्छन भी लगा रहे थे। कोई कहता—देखनेमें तो सीधा है, परंतु अंदरसे पूरा घाघ है। कोई कहता, रुपये देखकर किसकी नीयत नहीं डोल जाती·····।

मुझे इन सब बातोंको सुनकर बड़ी पीड़ा होती। मिसल न मिलती तो नौकरीसे निकाल ही नहीं दिया जाता, लाञ्छन-के ये काले धब्बे मेरी जिंदगीको सदैवके लिये बरबाद कर देते।

चार दिन बीत गये। जन्माष्टमीकी छुट्टी पड़ी, परंतु हृदयमें कोई उत्साह न था। भगवान्का जन्म मनाया गया, प्रसाद भी बँटा; परंतु मेरा मन तो और ही कहीं था। मनमें रह-रहकर मैं गिड़गिड़ाता—'भगवन्! मुझे किस अपराधका यह दण्ड मिल रहा है? आप भी क्या नहीं जानते कि मैं निर्दोष हूँ? हे नाथ! कल तो मेरी नौकरी भी चली जायगी, फिर मैं क्या करूँगा? दुनिया क्या कहेगी·····?'

प्रसाद लेकर कुछ सूक्ष्म भोजनके उपरान्त मैं पड़ रहा। न जाने क्या-क्या सोचता रहा और नींद आ गयी। वह एक पावन रात्रि थी। सोचा करता हूँ, क्या ऐसी रात्रि मेरे जीवनमें एक बार फिर आयेगी? देखा कि एक श्यामवर्ण साधु मेरे निकट आया है और मुझसे उठनेको कह रहा है। उसकी छवि अद्भुत थी। मैं उठा, वह मुझे कचहरीकी ओर ले गया और मोहाफिजखानेके अंदर ले जाकर खड़ा कर दिया तथा संकेतसे कहा—'यह बस्ता खोलो।' मैंने वैसा ही किया। बस्ता खोलकर एक-एक करके मिसलें टटोलने लगा। जितनी ही देर मिसलके मिलनेमें हो रही थी, उतनी ही मेरी विकलता बढ़ती जा रही थी; परंतु वह साधु मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। एक-एक करके सारी मिसलें लौट डालीं। अन्तमें मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने वह आखिरी मिसल वहीं पायी, जिसकी इतने दिनोंसे खोज हो रही थी। खुशीसे मेरा हृदय हो गया और मैं इतने जोरसे हँसा कि मेरी आँख गयी। देखा सूर्यकी किरणें फूट रही थीं। पत्नी मेरी पर चकित थी और मैं भी कुछ हक्का-बक्का-सा लग रहा स्वप्नपर विश्वास हो भी रहा था और नहीं भी। ईश्वर तर्कमें होड़ थी; परंतु हाँ, मुझे अपने हृदयमें एक शान्तिका अनुभव हो रहा था।

अब चैन किसे थी। सोचता था जल्दीसे दस बजे मैं कचहरी पहुँचूँ। दस बजे और मैं कचहरी भागा। एक मिनट घंटेसे अधिक प्रतीत हो रहा था। जैसे कचहरी पहुँचा और वही बस्ता देखा। मेरे आश्चर्यकी न रही, जब मैंने देखा कि मिसल ठीक उसी स्थानपर थी, जहाँ मैंने पिछली रात स्वप्नमें उसे देखा था। मेरी अश्रु थे—हर्षके, और अब भी मैं हक्का-बक्का था

कामके पत्र

(१)

पुत्रशोकमें धैर्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका करुणापूर्ण पत्र मिला। आपके सुशील और आज्ञाकारी पुत्रकी दुर्घटनाके निमित्तसे मृत्यु हो गयी, यह पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। सुयोग्य सुपुत्रकी दुर्मृत्युसे माता-पिताको मार्मिक पीड़ा होना स्वाभाविक ही है। आपका यह कष्ट वास्तवमें अवर्णनीय है। मेरी आपके इस दुःखमें हार्दिक सहानुभूति है। श्रीभगवान् आप दोनोंको धैर्य तथा आपके सुपुत्रको सद्गति और शान्ति दें। यही संसारका रूप है। यहाँ संयोग-वियोगका चक्र अनवरत चलता रहता है। जो मिला है, उसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा भाँति-भाँतिके दुःख-ताप—यही इस संसारकी देन है। मनुष्यको चाहिये कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको परमात्माकी धरोहर समझकर उसमें ममता तथा आसक्ति न करे। वह पुत्र जिसकी चीज थी, जिसने सार-सँभालके लिये आपको दी थी, उसीने अपनी चीज ले ली। मालिककी चीज; मालिक अपने इच्छानुसार उसे चाहे जब चाहे जहाँ भिजवा दे। इसी प्रकार यह यह जीवन भी उसीने दिया है, उसीकी वस्तु है; वह चाहे जब स्थानान्तरित कर सकता है, अपने बुला सकता है। धन-पुत्रादि पदार्थ भी उसके और आप सभी उसके सेवक। वे इन दोनोंको चाहे जहाँ सकते हैं, रख सकते हैं। इसमें दुखी होनेका कोई उचित कारण नहीं है। वे भक्तवत्सल भगवान् जीवमात्रके एकमात्र सुहृद् एवं सम्बन्धी हैं। सबके अपने आत्मीय या सगे हैं। संसारके प्राणिपर हमारा जो प्रेम है, उसे वहाँसे हटाकर भगवान् लगाना चाहिये। भगवान् जबतक इस लोकमें उनका सतत चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके उनकी सेवा समझकर सब काम करने चाहिये और उनके आज्ञानुसार स्थानान्तरमें जाने या उनके जानेके लिये तैयार रहना चाहिये। हम भगवान्के भगवान् हमारे हैं, हम मरकर भी उन्हींके पास जीते-जी भी उन्हींके होकर रहेंगे।

आपका पुत्र अपने सद्गुणोंके कारण भगवान्का

ही रहा है और अब भी भगवान् उसपर प्रेम करते रहेंगे, सहज सुहृदता उनका स्वभाव है। आपको चाहिये उसकी सद्गतिके लिये भगवन्नामजप, विष्णुसहस्रनामका तथा गीताका पाठ करें तथा गयाश्राद्ध करवा दें। सर्वोत्तम तो है उसको अपने मनसे सहर्ष भगवान्‌के अर्पण करके 'उसको भगवान् अपना पार्षद बना लें'—यह भगवान्‌से प्रार्थना करें। बार-बार विनय करें।

आपके एक लड़की है, उसीको लड़का समझें। इस लड़कीसे जो लड़का होगा, वह आपके लिये श्राद्धादिका अधिकारी होगा। कन्याके रहते हुए आप यह न समझें कि मेरे कोई पुत्र या संतान नहीं है। पुत्र और कन्यामें क्या भेद है? असलमें तो आप तथा आपका सब कुछ भगवान्‌के ही हैं। आपको भगवान्‌के भजनमें मन लगाना चाहिये। जीवनका कोई ठिकाना नहीं। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय, पर वह चाहे जब आवे, आप उसको भगवच्चिन्तन करते हुए ही मिलिये। आपकी शेष आयुका एक क्षण भी भगवान्‌की स्मृतिके बिना न जाय, फिर निश्चय ही आपको भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण करके तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

शेष भगवत्कृपा।

(२)

बंदरोंपर क्रूरता और गाँधीजी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। बंदर फसलको नुकसान पहुँचाते हैं—यह सत्य है; परंतु जीवित रहनेका हक जितना मनुष्यको है, उतना ही बंदर तथा दूसरे जानवरोंको भी है। वर्तमान कालमें मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि वह अपने लाभके लिये किसी भी जीवकी हत्या करनेमें जरा भी संकोच नहीं करता। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाके लिये नये-नये अनुसंधान करता है और उसमें बेचारे प्राणियोंकी बुरी तरहसे हत्या की जाती है। भारतसे बंदरोंका कितना निर्यात होता है, इस सम्बन्धमें गोहत्या-निरोध-समितिके मन्त्री लाला हरदेवसहायजीने लिखा था कि भारत सरकारकी विदेशी व्यापार-रिपोर्ट मार्च १९५५ के अनुसार १९५२-५३ तक बंदरोंका निर्यात नहीं हुआ। विगत दो वर्षोंमें यह निर्यात शुरू हुआ और बढ़ा है। दो वर्षोंके अङ्क इस प्रकार हैं—

साल	बंदरोंकी निर्यात-संख्या	मूल्य
१९५३-५४	१६२८१	२९७३०३)
१९५४-५५	९११६१	१८१८३४१)

इन अङ्कोंके अनुसार सन् १९५३-५४ की अपेक्षा गत वर्ष पाँचगुना अधिक संख्यामें बंदरोंका निर्यात हुआ। ये सब बंदर नवीन अनुसंधान एवं दवा आदिके लिये प्रायः अमेरिका भेजे गये हैं। इन बेचारे बंदरोंकी बड़ी निर्ममताके साथ हत्या की जाती है। यह मनुष्यका एक बड़ा पाप और कलङ्क है।

आपने लिखा कि 'भारतके शासनमें अहिंसाकी दुहाई दी जाती है तथा अपनेको महात्मा गाँधीका अनुयायी बतलाया जाता है। तो क्या यह हिंसा नहीं है? क्या बंदरोंपर इस प्रकारका अत्याचार करना महात्मा गाँधीजीको स्वीकार था।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि हमारे मतसे यह अवश्य हिंसा है और खोजते-खोजते इस सम्बन्धमें महात्माजीका निम्नलिखित स्पष्ट मत दर्शनमें छपा मिल गया है। वे लिखते हैं—

'विविसेक्शन (Vivisection) अर्थात् जीवित प्राणियोंके अवयवोंको काट-काटकर किया जानेवाला अनुसंधान-प्रयोग, मेरी रायमें, इस समय मनुष्य जो

ईश्वर और उसकी सुन्दर सृष्टिके प्रति भीषण पाप कर रहा है, उनमें एक भीषणतम पाप है। सुख-दुःखकी संज्ञावाले प्राणियोंके प्राणोंको तड़पानेवाली यन्त्रणा यदि हमारे जीवनका मूल्य हो तो ऐसे जीवनसे हमें इन्कार कर देना चाहिये।' *

महात्माजी इससे अधिक और क्या लिखते। वे ऐसे अत्याचारपूर्ण प्रयोगोंके मूल्यपर जीवन-धारणतक करना नहीं चाहते। यह तो मनुष्यका महान् पतन है, जो वह अपने जीवनके मिथ्या मोहमें ईश्वरकी सृष्टिके निर्दोष जीवोंकी हत्या करने और उनपर निर्दय अत्याचार करनेमें नहीं हिचकता। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह पाप बंद हो।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

गोपीहृदयमें प्रेम-समुद्र

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'कल्याण'में श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। वास्तवमें ये गोपरमणियाँ प्रेम-जगत्की तो परम आदर्श हैं ही। नारी-जगत्में भी इनकी कहीं तुलना नहीं है। विश्व तो क्या भगवत्-राज्यमें भी किसी भी नारीके चरित्रमें नारी-जीवनकी महिमामयी सेवाकी ऐसी आदर्श मनोहर सहज मूर्तिका विकास नहीं हुआ। सावित्री, अरुन्धती, लोपामुद्रा, उमा, रमा—किसीकी उपमा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ नहीं दी जा सकती। आत्मसुख-लालसाकी गन्धसे रहित होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही जीवन धारण करना, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष सब कुछ भूलकर प्रियतम-की रुचिके अनुसार अपने जीवनकी क्षण-क्षणकी स क्रियाओंका सहज सम्पादन करना ही गोपी-प्रेम है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनमें किसी भी वास कामनाका अलग अस्तित्व नहीं है, पर वे परम प्रेमा भगवान् श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेम-सुखका आस्वादन क कराने के लिये अपने भगवत्स्वरूप मनमें नित्य नयी विचित्र वासनाओंका उदय करते हैं और भगवान्की प्रतिक्षण उदय होनेवाली नित्य नवीन वासनाओंके कूल अपनेको निर्माण करके भगवान्को सुख पहुँ केवल श्रीगोपाङ्गनाओंके ही शक्ति-सामर्थ्यसे सम्भव है, प्रियतमकी रुचिको—चाहको पूर्ण करना ही जीवनका स्वरूप है, जिनकी प्रत्येक स्फुरणामें, प्र संकल्पमें, प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक शब्दमें और प्र क्रियामें केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमजनित वा पूर्तिका ही सहज सफल प्रयास है। उन श्रीगोपाङ्गना तुलना कहीं, किसीसे भी नहीं हो सकती।

श्रीगोपाङ्गनाओंमें मधुर भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति इस मधुर भावसे ही मधुर रसका प्राकट्य होता है। महात्माने बताया है कि यह मधुर रस तीन प्रक होता है। तीनों ही अत्यन्त मूल्यवान् हैं, पर एककी अ दूसरा अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे साधारण चिन्तामणि और कौस्तुभ मणि। साधारण मणिका साधारण मूल्य होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके प्रति कु प्रीतिका मूल्य साधारण है। श्रीकृष्ण-सम्पर्कसे महाभाग पर भी उसमें श्रीकृष्णकी सेवा करके केवल अपने ही सु संधान था। इसीसे उसे 'दुर्भगा' कहा गया। कि मणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। उसका मू बहुत अधिक है। सब लोग उतना मूल्य दे ही सकते; ऐसे ही श्रीकृष्णकी पटरानियोंकी दिव्य प्रीति श्रीकृष्णका भी सुख और अपना भी सुख—उनमें प्रकारका उभय सुखी भाव बना रहता है, इसलिये उ इस रतिका नाम समञ्जसा है। श्रीगोपाङ्गनाका

* 'Vivisection, in my opinion, is the blackest of all black crimes that man is at present committing against God and his fair creation. We should be able to refuse to live, if the price of living be the torture of sentient beings'.
—Mahatma Gandhi

साक्षात् कौस्तुभ मणिके सदृश है। चिन्तामणि तो दस-बीस भी मिल सकती है, पर कौस्तुभ मणि तो एक ही है और वह केवल श्रीभगवान्‌के कण्ठकी ही भूषण है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलती। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाकी प्रीति भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली व्रजके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। ऐसा प्रेम श्रीगोपाङ्गना ही जानती है, कर सकती है। और वह प्रेम, इस प्रेमके एकमात्र पात्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है। इस दिव्य प्रेम-सुधारसका अनन्त अगाध समुद्र नित्य-नित्य लहराता रहता है—गोपीहृदयमें। इसीसे वह अनुपमेय, अतुलनीय और अप्रमेय है।

शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्‌की नासमझी नहीं, उनकी उदारता और करुणा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है—

(१) अजामिल जातिके ब्राह्मण थे। सदाचारी थे। परंतु एक शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीमें आसक्त होकर उसीके साथ रहने लगे। उन्होंने अपने छोटे पुत्रका नाम नारायण रक्खा था। मृत्युके समय यमदूतोंके भयसे उन्होंने अपने पुत्रको ही 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा था। परंतु किसी भी निमित्तसे यदि भगवान्‌का नाम जीवनके अन्तिम श्वासमें मुखसे निकल जाय तो भगवान् उसका निश्चय कल्याण करते हैं। नामके इस सहज गुणका और अपने विरदका निबाह करनेके लिये भगवान्‌ने 'नारायण' नामका उच्चारण होते ही अपने दूत उनके पास भेज दिये और उन्होंने यमदूतोंके हाथसे अजामिलको बचा लिया। इसको भगवान्‌की नासमझी बतलाना अपनी 'नासमझी'का परिचय देना है। इसमें तो आपको वस्तुतः भगवान्‌के स्वभावकी सहज उदारता और अकारण करुणाके दर्शन होने चाहिये।

(२) गीताका पाठ तथा उत्तम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेवाला भी यदि क्रोध न छोड़ सके, तो यह उसकी दुर्बलता ही है। क्रोध-त्यागका उपाय है—निज दोष-दर्शन और सर्वत्र भगवद्दर्शन। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जीव श्रीभगवान्‌का स्वरूप है, ऐसा समझने-देखनेसे विरोधभाव शान्त हो जाता है।

(३) श्रीहनुमान्‌जीने जब मशक-समान रूप धारण किया, तब अँगूठी कहाँ रही? वास्तवमें श्रीहनुमान्‌जीका महत्त्व न जाननेसे ही मनमें इस प्रकारकी कुशङ्का उत्पन्न होती है। जो श्रीहनुमान्‌जी अपने पर्वताकार शरीरको मच्छरके समान अत्यन्त छोटा बना सकते हैं, वे उस अँगूठीको भी इतनी छोटी बना सकते हैं कि मच्छर होनेपर भी लिये रह सकें। इतनी साधारण-सी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिये।

(४) स्त्री-जातिको 'अबला' उनका तिरस्कार करनेके लिये नहीं कहा गया है। वह प्रेममयी पत्नी है और स्नेहमयी माँ है। अपने पति-पुत्रोंके सामने कभी बलका प्रदर्शन नहीं करती। निरन्तर उनकी मङ्गलकामना करती हुई प्रेममयी और स्नेहमयी बनी रहती है। विश्व-विध्वंसकारी क्रोधमें भरे अमित बलवीर्य-सम्पन्न भगवान् नृसिंह शिशु प्रह्लादके सामने आते ही सारे बलको भूलकर तथा क्रोधरहित होकर उसे गोदमें ले लिये और चाटने लगे। रणरङ्गिणी दुष्टदलनकारिणी भगवती दुर्गा अपने स्वामी शङ्करके सामने सदा विनम्र रहकर अबला-सी बनी रहती हैं। इसमें बलका अभाव नहीं है, बलके प्रदर्शनका अभाव है।

शेष भगवत्कृपा

(५)

सद्गुरुका महत्त्व

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र मिला । आपका लिखना सर्वथा सत्य है । अज्ञानान्धकारसे हटाकर भगवत्स्वरूपके पुण्यप्रकाशमें पहुँचा देनेवाले गुरुका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक माना जाता है । पता नहीं, सद्गुरुकी कृपासे कितने प्राणी दुराचारका त्याग करके नरकानलसे बच गये हैं और बच रहे हैं । गुरु भगवत्स्वरूप ही हैं । ऐसे सद्गुरु बड़े ही पुण्यबल और भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होते हैं । सद्गुरुके चरणोंमें बार-बार नमस्कार ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महान् ईश्वर महादेव हैं, गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुके चरणोंमें नमस्कार । ज्ञानाञ्जनकी सलाईसे अज्ञानतमसे अंधेकी आँखोंको खोल देनेवाले गुरुके चरणोंमें नमस्कार ।' गुरुकी महिमा अवर्णनीय है । जगत्‌के समस्त विकारोंका नाश करनेके लिये ऐसे सद्गुरु ही संजीवन-सुधा हैं । घोर पाप-तापके प्रचण्ड प्रवाहमें बहते हुए प्राणीकी रक्षाके लिये स्वयं गुरुदेव ही सुदृढ़ जहाज और वे ही उसके कर्णधार इसलिये गुरुका विरोध करना साधारण पाप ही सीधा नरकको निमन्त्रण है । पर वस्तुतः यह शिष्यके अज्ञान एवं पाप-तापादिका हरण क सद्गुरुकी ही है, कामिनी-काञ्चनके लोभी गुरुओंकी नहीं । गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा । एक न सुनइ एक नहिं
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुर घोर नरक महुँ

आजकल चारों ओर गुरुओंकी भरमार है, सद्गुरु हैं, कौन नकली हैं—इसका पता सहज नहीं है । इस स्थितिमें किसी अंधेके लकड़ी पकड़ा देनेवाले अंधेकी जो दुर्दशा होती वही इन गुरु-शिष्योंकी होती है । अतएव समयमें गुरुकरण बहुत ही जोखिमकी चीज है । सहज जगद्गुरु हैं, उन्हींका आश्रय ग्रहण चाहिये ।

आज जिस प्रकारका दम्भ-छल-कपट चल चारों ओर जो अधःपतनकी धूम मची है, किसीको गुरु स्वीकार करके उसे अपना सर्वस्व उसकी एक-एक बातको ईश्वर-वाक्य मानकर करना और उसे तन-मन-धन सौंप देना बुद्धि काम नहीं है । इसमें बहुत अधिक धोखेकी स है । खास करके, स्त्रियोंको तो इससे अवश्य बचना चाहिये ।

राम ज्यौं राखै त्यौं रहिये ।
जो प्रभु करै भलो कर मानो, मुख तें बुरो न कहिये ।
हरि होनी अनहोनी कर दे, सो सब सिर पर सहिये ॥
करै कृपा हरि नाम जपावै, सो अंतर लै गहिये ।
'मेहरदास' हरि-हुकुम मानिये, यह सेवक कौं चहिये ॥

—भक्त मेहरदासजी

माघमासमें भगवान्‌की विशेष सपर्या

(लेखक--पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस दुस्तर अगाध भयानक भवसागरमें भगवान्‌के चरण ही एकमात्र दृढ़ पोत हैं। जहाँ उनकी विस्मृति हुई फिर तो इस भारी भवसागरका पारावार कुछ भी नहीं सूझता। अतः जिस किसी भी उपायसे हो सके, मन-मिलिन्दको उनके चरणोंमें ही बनाये रखना चाहिये। थोड़ी भी व्याकुलता तथा तन्मयतासे उनका स्मरण किये जानेपर इस दुस्तर भवसागरका संतरण सुकर हो जाता है, यह गोवत्सपदवत् हो जाता है और इसकी विभीषिका तुरंत समाप्त हो जाती है।

यों तो भगवान्‌की आराधना सदा, सर्वत्र, सर्वाभीष्टप्रद ही जाती है--

सर्वान् कामानवाप्नोति समाराध्य जगद्गुरुम्।
तन्मयत्वेन गोविन्दमित्येतद् दाल्भ्य नान्यथा॥
(विष्णुधर्म०)

हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत।
पुत्रमित्रकलत्रादि राज्यं स्वर्गापवर्गदम्॥
(स्कन्द० काशी० २१। ५३)

आराध्य विधिवद् देवं हरिं सर्वसुखप्रदम्।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यत् प्रार्थयते फलम्॥
(गरुड० पूर्व० २२६। ४९)

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शां० ३४८, ७१)

यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुड० २२२। १२)

तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि।
(श्रीमद्भा० ८। १२। ४७)

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥
(लिङ्गपुराण)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० १। २। १२; गरुड० पूर्व० ५१। १९; आनं० रा० मनो० कां० ९। ६८; पद्मपु० स्वर्ग० ५७। ४२)

यद्भ्रूवर्तनवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः॥
(स्कन्द० काशी० १९। ११५)

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं विधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥
(काशीखण्ड)

सम्यगाराधितो विष्णुः किं न यच्छति देहिनाम्।
(आनन्दरामा०)

भागवतकारके शब्दोंमें तो अपने शरीर, पुत्रादिकोंके लिये किया गया सारा कर्मजाल व्यर्थ ही हो जाता है; किंतु वे ही मन, वचन, प्राण, शरीर आदिसे किये गये कर्म यदि भगवान्‌के लिये किये जायँ तो सर्वथा सत्-सफल हो जाते हैं--जैसे वृक्षके मूलका सेचन।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥
(८। ९। २९)

जिस प्रकार वृक्षके मूल निषेचन (जड़ पटाने) से उसकी शाखा, टहनी, स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल सब निषेचित--तृप्त हो जाते हैं अथवा मुखमें भोजन करनेसे सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, उसी प्रकार अच्युतकी अर्हणा—इज्या-पूजासे सारे संसारके जीवोंकी, सारे विश्वकी, पूजा हो जाती है।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(४। ३१। १४)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(८। ५। ४९)

एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय।
रहिमन मूल ही सींचिये फूलै फलै अघाय॥

पद्मपुराणमें भगवान् शङ्करका वचन है कि जगदीश्वर भगवान् विष्णुके पूजित होनेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा हो जाती है।

नृसिंहपुराणका कहना है कि पुरुषसूक्तमन्त्रसे भगवान्‌पर कोई एक फूल अथवा जल ही क्यों न डाल दे, उसने त्रिलोकीकी पूजा कर ली[1]।

पद्मपुराणमें कालभेदसे पूजाभेदका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करने कहा है कि देवदेवेश्वर श्रीविष्णुके पूजित हो जानेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् केशवका चैत्र मासमें प्रयत्नपूर्वक चम्पा और चमेलीसे पूजन

---

१. दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
अर्चितं स्याज्जगत्सर्वं तेन वै सचराचरम्॥
(नृसिंहपुराण ६३। ९)

करना चाहिये। चैत्रमें कमलपुष्प, कोई लाल रंगका पुष्प, दौना, कटसरैया और वरुणवृक्षके पुष्पोंसे भी पूजा करनी चाहिये। वैशाख मासमें केतकी (केवड़ा) के पत्तेसे महाप्रभु श्रीविष्णुका पूजन करना चाहिये। जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान्‌का पूजन कर लिया उनके ऊपर श्रीहरि संतुष्ट रहते हैं। ज्येष्ठ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। आषाढ़ मासमें कनेरके फूल, लाल फूल अथवा कमलपुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। कदम्ब-पुष्पसे पूजित होनेपर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। घनागमके समय जो घनश्याम-को कदम्बपुष्पोंसे पूजित करता है, भगवान् प्रलयपर्यन्त (एक-एक कर १४ इन्द्रोंके पर्यवसानतक) उसकी कामनाओंको पूरी करते रहते हैं। भगवान्‌को जितनी पद्मालया लक्ष्मीको प्राप्तकर प्रसन्नता होती है, उतनी ही कदम्बपुष्पको पाकर प्रसन्नता होती है। तुलसी, श्यामा तुलसी तथा अशोकके द्वारा तो भगवान्‌की नित्य पूजा करनी चाहिये। जो लोग श्रावण मास आनेपर अलसीका फूल लेकर अथवा दूर्वादलसे भगवान् जनार्दनकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् प्रलयकालतक मनोवाञ्छित भोग प्रदान करते हैं। भादोंके महीनेमें चम्पा, श्वेत पुष्प, रक्तसिन्दूरक तथा कह्लारके पुष्पोंसे पूजन करके मनुष्य सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। आश्विन मासमें जूही, चमेली तथा नाना प्रकारके शुभ पुष्पोंद्वारा प्रभुकी पूजा करनी चाहिये। कमलपुष्पसे आश्विनमें भगवान्‌की पूजा करनेवालोंको चारों पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। कार्तिक मासमें भी यथासुलभ सभी पुष्प भगवान्‌को अर्पण करने चाहिये। तिल और तिलके फूल भी चढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है। जो कार्तिकमें छितवन, मौलसिरी और चम्पाके फूलोंसे श्रीजनार्दनकी पूजा करते हैं वे मनुष्य नहीं देवता हैं। मार्गशीर्षमें नाना प्रकारके पुष्पों, नैवेद्यों, धूपों तथा आरती आदिके द्वारा भगवान्‌की पूजा करे। पौष मासमें नाना प्रकारके तुलसीदल तथा कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा पूजन करना कल्याणदायक माना गया है। माघ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा करे। उस समय कपूरसे तथा विविध उपचारों एवं नैवेद्योंसे भी भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये। फाल्गुनमें नवीन पुष्पों अथवा सभी प्राप्त पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये।

(पद्म० उत्तरखण्ड ८९। १-२७)

तथापि भगवान् विष्णुके पूजनमें इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि शिरीष, धतूर, मदार, कनकचम्पा, सेमर तथा मोतियाके फूलों एवं अक्षत उनपर कभी न चढ़ाना चाहिये। (इसी प्रकार भगवान् शङ्करपर पलाश, शिरीष, जूही, मालती और केतकी कभी न चढ़ाना चाहिये। गणेशजीको तुलसी नहीं चढ़ती, दुर्गाकी पूजामें दूबका उपयोग नहीं होता। सूर्यकी पूजा अगस्तके फूलोंसे नहीं की जाती। भगवान् विष्णुपर पलाशका फूल भी नहीं चढ़ाते[1]।)

माघमें विशेष

परदेश, कालके योगसे सत्क्रियाओंका प्रभाव बढ़ता है। माघ मासके सम्बन्धमें कहा गया है कि स्नान-ध्यान भगवान्‌की आराधनाके लिये यह सर्वोत्तम महीना है। मन्त्रोंमें ओंकार है, छन्दोंमें गायत्री है, पक्षियोंमें गरुड़ हैं, वैष्णवोंमें भगवान् शङ्कर श्रेष्ठ हैं, ऋतुओंमें वसन्त श्रेष्ठ है वैसे ही महीनोंमें यह माघ मास उत्तम है। नदियों जैसे गङ्गा उत्तम हैं, देवताओंमें भगवान् श्रीहरि श्रेष्ठ, वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है, पशुओंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही यह माघ मास है। अन्य मासोंसे कार्तिक हजारगुना देनेवाला कहा गया है और माघ कार्तिकसे लाख फल देनेवाला कहा गया है, यह साक्षात् भगवान् नारायणका निर्णय है—

कार्तिकं सर्वमासेभ्यः सहस्रफलदं विदुः।
तस्मात् कोटिगुणो माघ इति प्राह जनार्दनः॥

(वायुपुराणका माघ-माहात्म्य, अध्याय १। २२)

अतः माघमें किसी पवित्र नदी या जलाशयमें स्नान कर विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

यों तो पूजाके ६४ उपचार भी होते हैं पर इतना न हो सके तो कम-से-कम १६ उपचार तो होना ही चाहिये। माघ मासके पूजनके सम्बन्धमें कहा गया है कि विधिपूर्वक स्नान-से निवृत्त होकर क्लेशहारी केशवका श्रद्धापूर्वक तन्मय होकर पूजन करे। माघमें जो एक फूलसे भी भगवान्‌की पूजा करता है, वह करोड़ों कुलके साथ विष्णुमन्दिरमें आनन्दित

---

१. शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः।
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाक्षतैः॥
जपाकुन्दशिरीषैश्च यूथिकामालतीभवैः।
केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दुर्गया।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत्॥
(पद्म० उत्तर० ९४। २६-

है[2]। अतएव पहले पुष्प लेकर भगवान्‌का ध्यान करे फिर पुरुषसूक्त[3] तथा पौराणिक, तान्त्रिक मन्त्रोंसे उपचारोंको निवेदित करता जाय। सम्भव हो तो कर्माङ्ग दीप तथा सुगन्धित पूजाके आरम्भमें ही प्रज्वलित किया जा सकता है। फिर ताली बजाकर या शङ्खध्वनिसे भगवान्‌को जगाना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय निवेदन कर स्नान कराना चाहिये। पञ्चामृतसे स्नान करानेका बड़ा महत्त्व है। पञ्चामृतमें दूध, दही, घी, मधु और शक्कर रहते हैं। पञ्चामृत स्नान तथा प्रत्येक उपचारके अन्तमें आचमनीय जल देनेकी भी पद्धति है। पञ्चामृत स्नानोंके साथ तो प्रति बार शुद्धोदक स्नान भी चलता है। स्नान कराते समय ताम्रपात्रमें तुलसीदल आदिपर विराजमान कराकर शंखमें जल लेकर चन्दन-पुष्प-मिश्रित जलसे पुरुषसूक्तके मन्त्रोंको पढ़ते हुए घण्टा बजाकर स्नान कराना चाहिये। साथमें 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' तथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे' आदि मन्त्र भी पढ़ने चाहिये। शालग्राम शिला, ताम्रपात्र, जल, शङ्ख, पुरुषसूक्त, चन्दन, घण्टानाद तथा तुलसी—इन आठ वस्तुओंके सहारे चरणामृत-तीर्थ बनता है। स्नानोपरान्त, वस्त्र तथा यज्ञोपवीत अर्पण करना चाहिये। तदनन्तर तुलसी-मिश्रित चन्दन, अगरु, कर्पूर, कस्तूरी, रोचनामिश्रित गन्ध चढ़ाना चाहिये। माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति दस पूर्वके पुरुषों तथा दस पीछे उत्पन्न होनेवाले अपने वंशजोंके साथ विष्णुलोकमें कई पद्म कल्पोंतक वैकुण्ठमें आनन्द प्राप्त करता है।

श्रीखण्डचन्दनोन्मिश्रं कृष्णागुरुसमन्वितम्।
तुलसीचन्दनोन्मिश्रं यो गन्धं विष्णवेऽर्पयेत्॥
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च।
वैकुण्ठं मोदते नित्यं दशपूर्वैः दशापरैः॥
(वा० मा० मा० २। ६८। ६९)

स्त्री-शूद्रादिकोंको ब्राह्मणसे भगवान्‌की पूजा करानी चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्राह्मणैः कारयेत् पूजां स्त्रीशूद्रादि द्विजोत्तम।'
(मा० मा० २। ६२)

माघ महीनेमें जो १०० तुलसी-पत्रोंसे भगवान्‌की पूजा करता है, उसका पुण्य वर्णन करना कठिन है। इसी प्रकार कमलपुष्पसे भी भगवान्‌की पूजा करनेवालेके घर कमला (लक्ष्मी) का वास होना कहा गया है। पर बिना पुष्पके माघ मासकी पूजा हानिकर होती है। ऐसा करनेवाला अपने पुण्यसे हाथ धोता है—

अपुष्पं पूजयेद् यस्तु माधवं माघवल्लभम्।
कुलनाशो भवेत् तस्य पुण्यं चापि विनश्यति॥
(मा० २। ६०)

माघ मासमें अगस्तके फूलसे पूजा करनेसे भगवान् विष्णुकी १०० वर्ष पूजा करनेका फल प्राप्त हो जाता है।*

कमलसे पूजित होनेपर भगवान् बत्तीस प्रसिद्ध अपराधोंको क्षमा कर देते हैं और तुलसीसे पूजित होनेपर तो हजारों अपराधोंको क्षमा कर डालते हैं—

अर्चितस्तुलसीपत्रैर्माधवो भक्तवत्सलः।
अपराधसहस्राणि क्षमते नात्र संशयः॥
(मा० मा० २। ७५)

पर तुलसीहीन पूजा कभी न करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला मानो अपने कुलको रुधिरोदकमें गिराता है[1]। इसी प्रकार चन्दन और धूपके बिना भी की गयी पूजा नरकप्रद होती है। माघमासमें धूप देनेवालेको मोक्ष कहा गया है—

दशाङ्गं गुग्गुलं धूपं योऽर्पयति विष्णवे।
न तस्य संततेर्हानिर्न पापी जायते कुले॥
स्वयं मोक्षमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।
(मा० मा० २। ८३)

---

१. पुष्पेणैकेन माघे तु माधवं पूजयेद् यदि।
कुलकोटिसमायुक्तो मोदते विष्णुमन्दिरे॥
(वायु० माघ० मा० २। ६१)

२. पुरुषसूक्तके १६ मन्त्र शु० यजुर्वेदमें (३१। १—१६) तक हैं।

* तुलसी—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' इस मन्त्रसे चढ़ाना चाहिये।

माधवं मुनिपुष्पैस्तु यः पूजयति मानवः।
तेन वर्षशतं विष्णुः पूजितः स्यान्न संशयः॥
(मा० मा० ४। ४६)

१. यः पूजां तुलसीहीनां माघे मकरगे रवौ।
कुर्याद् यदि विमूढात्मा हृदये शल्यमर्पितम्॥
कुलानि पातयेत् सत्यं नरके रुधिरोदके।
(मा० २। ६४)

स्नान, धूप, नैवेद्य तथा आर्तिक्यके समय घण्टानाद अवश्य करना चाहिये । ऐसा करनेवाला देवगणोंसे पूजित—प्रशंसित होकर विष्णुलोकको जाता है—

घण्टानादं तु यः कुर्यात्···
स्तूयमानो देवगणैर्विष्णुलोके महीयते । (८४)

माघमासमें भगवान्‌के सम्मुख दीपदान करनेवाला साक्षात् भगवान्‌का दर्शन पाता है ।

दीपदानं तु यः कुर्यात्·····।
·····साक्षात् पश्यति तं हरिम् ॥
(८६)

सुना जाता है कि पितृगण कहा करते हैं कि—'क्या हमारे खानदानमें कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जो माघमें भगवान्‌के सामने क्षणभर भी दीप जलायेगा । ऐसा होता तो हम तर जाते ।

श्रूयते पितृगाथापि दीपदाने मुनीश्वर ।
यः कोऽस्मत्कुले जातो माघे मासि हरेः पुनः ॥
दद्याद् दीपं क्षणं वापि स नः संतारयिष्यति ।
(८७-८८)

अधिक क्या, जो दीप जलानेके लिये तेल, घी, बाती या कपास भी श्रद्धापूर्वक अर्पण करते हैं वे स्त्री हों या पुरुष, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

तत्पश्चात् विविध प्रकारके नैवेद्य अर्पण करने चाहिये । नैवेद्यसे माघमासमें भगवान्‌की पूजा करनेवाला प्राणी मोक्ष पाता है—

निवेदयति नैवेद्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते । (९२)

साथ ही बिना नैवेद्यकी पूजा करनेवाला व्यक्ति कुम्भीपाकमें घोर नरकाग्निसे पीड़ित होता है ।[1] अतः नैवेद्य लगाना न भूले ।

तत्पश्चात् आचमन कराकर ताम्बूल देकर कर्पूर एवं पाँच या सौ या सहस्र वर्तियोंसे नीराजन (आर्तिक्य) करना चाहिये । माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति करोड़ों बार सार्वभौम राजा होता है—

'कोटिवारं सार्वभौमः सर्वसम्पत्समावृतः' (१...

आरतीके समय सिरपर शंखोदक[2] धारण करना चाहि... इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । फिर पूजाके अन्तमें स्तो... पाठ तथा नमस्कार करना चाहिये । पूजा तन्मयतापू... करनी चाहिये । पूजा करते समय जो सांसारिक वार्ता... भी करता रहता है वह घोर नरकमें जाता है[3], जो स्तो... विहीन पूजा करता है वह उन्मादी होता है, अतएव इ... बचना चाहिये । फिर प्रदक्षिणा[4] करनी चाहिये । भ... भगवान्‌की प्रदक्षिणा करनेवालेको पग-पगपर अश्वमेध य... फल प्राप्त होना कहा गया है—

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयः ।

पूजाके अन्तमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवालेको स... अश्वमेध अनुष्ठानका फल होता है । अतएव साष्टाङ्ग प्र... करना चाहिये । अन्तमें निम्न श्लोकोंसे क्षमापन क... चाहिये—

अज्ञानाद् वा प्रमादाद्वा वैकल्याद् साधनस्य च ।
यन्न्यूनमतिरिक्तं वा तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥
द्रव्यहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं मयान्यथा ।
कृतं यत् तत् क्षमस्वेश कृपया त्वं दयानिधे ॥
यन्मया क्रियते कर्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्सर्वं तावकी पूजा भूयाद् भूत्यै च मे प्रभो ॥
भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम् ।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वर ॥
अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व जगतां पते ॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥
(नारदपुराण पूर्व० ६७ । ११०—११...

सम्भव हो तो इसी प्रकार तीनों काल पूजा करनी चाहि...

---

१. विदधाति हरेः पूजां विना नैवेद्यमल्पधीः । कुम्भीपाके महाघोरे पच्यते नरकाग्निना ॥ (मा० मा० २ । ९...
२. शङ्खमध्येस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि । अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ (मा० मा० ४ । २...
३. लोकवार्ता प्रसङ्गेन यः कुर्याद् देवतार्चनम् । तप्तायसि महाघोरे यमः पातयति स्वयम् ॥ (९३)
४. भगवान् विष्णुकी प्रदक्षिणा चार बार, गणेशजीकी तीन बार, सूर्यकी सात बार तथा भगवान् शंकरकी आधी ही करनी चाहि...

श्रीहरिः

विनीत प्रार्थना

'कल्याण' का प्रायः सारा सम्पादन-विभाग तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें चला गया है। अतएव इस बीचमें पत्रव्यवहार बड़ी कठिनतासे हो सकेगा। अतः सबसे प्रार्थना है कि बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ही सम्पादकके नाम या सम्पादन-विभागको पत्र लिखें और उत्तर देरसे पहुँचे तो क्षमा करें। पहलेके भी बहुतसे सज्जनोंके पत्र आये रखे हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया जा सका है। वे भी कृपापूर्वक क्षमा करें। यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

गीताप्रेस तथा कल्याणके सभी प्रेमियोंसे निवेदन

गीताप्रेस-तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेन

गीताप्रेस एक आध्यात्मिक संस्था है और यह सम्पूर्ण विश्वकी निधि है। इसका उद्देश्य है—विश्वमें सार्वभौम वैदिक संस्कृतिका प्रचार, उपलब्ध एवं अनुपलब्ध आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक साहित्यको जनता तक अत्यन्त सुलभ मूल्यमें पहुँचाना, प्राचीन धार्मिक ग्रंथोंकी खोज, उनका प्रामाणिक-रूपमें मुद्रण तथा उनके द्वारा लोगोंमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, सहिष्णुता आदि-आदि सद्गुणों-का प्रसार, सत्संगके द्वारा सात्त्विक जीवनको प्रोत्साहन-दान, विविध रूपोंमें जनता-जनार्दनकी सेवा। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर उक्त संस्थाकी ओरसे एक तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेनका आयोजन किया गया है, जो २७ जनवरी, १९५६ शुक्रवारको काशीधामसे प्रस्थान कर चुकी है। तीन महीने तक तीर्थोंका भ्रमण करके वापस २६ अप्रैलको बनारस पहुँचनेका कार्यक्रम है। इसमें ६०० से अधिक यात्री हैं। किस तिथि-को किस स्थानपर पहुँचेगी, इसकी सूची नीचे दी जा रही है। जिन-जिन स्थानोंमें यह गाड़ी जा रही है, उन-उन स्थानोंके प्रेमी महानुभावोंसे निवेदन है कि वे यात्रियोंकी सुविधाके लिये ट्रेनके कार्यकर्ताओंको यथासाध्य सहायता दें, अपने यहाँके समाचारपत्रोंमें पहलेसे ही सूचना अवश्य छपवा दें और सत्संग-कीर्तन आदिका संक्षिप्त आयोजन भी करें। इस ट्रेनमें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार तथा कल्याण-कल्पतरुके सम्पादक—श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री भी जा रहे हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी तीर्थयात्रा-गाड़ी

संवत् २०१२ (सन् १९५६)

मार्ग-सूची तथा समय-सारिणी

१—बनारस कैन्ट	पौष शुक्ल	१५ शुक्र	२७—१—५६	६—हरद्वार	माघ कृष्ण	६ गुरु	२—२—५६
२—करवी (चित्रकूट)	माघ कृष्ण	१-२	२८-२९ जनवरी	७—कुरुक्षेत्र	,,	७ शुक्र	३—२—५६
३—इलाहाबाद (प्रयाग)	,,	३ सोम	३०—१—५६	८—मथुरा	,,	८-९-१०	४—५—६ फरवरी
४—अयोध्या	,,	४ मंगल	३१—१—५६	छोटी लाइन बदलेगी			
५—नैमिषारण्य	,,	५ बुध	१—२—५६	९—उज्जैन	,,	११-१२	७—८ फरवरी

१०—इन्दौर	माघ कृष्ण	१३ गुरु	९—२—५६
११—ओंकारेश्वर	”	१४ शुक्र	१०—२—५६
१२—चित्तौड़गढ़	”	३० शनि	११—२—५६
१३—उदयपुर	माघ शुक्ल	१ रवि	१२—२—५६
१४—नाथद्वारा	”	२ सोम	१३—२—५६
१५—अजमेर	”	३ मंगल	१४—२—५६
१६—सिद्धपुर	”	४ बुध	१५—२—५६
१७—ओखापोर्ट (बेट द्वारका)	”	५ गुरु	१६—२—५६
१८—द्वारका	”	६-७	१७-१८ फरवरी
१९—पोरबन्दर	”	८ रवि	१९—२—५६
२०—वेरावल	”	९ सोम	२०—२—५६
२१—जूनागढ़ (गिरनार)	”	१०-११	२१-२२ फरवरी

बड़ी लाइन बदलेगी

२२—वीरमग्राम	”	१२ गुरु	२३—२—५६
२३—अहमदाबाद	”	१३ शुक्र	२४—२—५६
२४—डाकोर	”	१४ शनि	२५—२—५६
२५—बड़ौदा	”	१५ फा० कृ० २	२६—२७ फरवरी
२६—भरूच	फाल्गुन कृष्ण	३ मंगल	२८—२—५६
२७—सूरत	”	४ बुध	२९—२—५६
२८—बम्बई	”	५-६-७	१-२-३ मार्च
२९—नासिक	”	८-८	४-५ मार्च
३०—कुर्डुवाड़ी (पंढरपुर)	”	९-१०-११	६-७-८ मार्च

छोटी लाइन बदलेगी

३१—सोलापुर	”	१२ शुक्र	९—३—५६
३२—बदामी	”	१३ शनि	१०—३—५६
३३—होस्पेट	”	१४-३०	११-१२ मार्च
३४—मैसूर	फाल्गुन शुक्ल	१-२	१३—१४ मार्च
३५—श्रीरंगपत्तन	”	३ गुरु	१५—३—५६
३६—मद्दूर	”	४ शुक्र	१६—३—५६
३७—बंगलोर	”	५-६	१७-१८ मार्च
३८—कालहस्ती	”	७ सोम	१९—३—५६
३९—तिरुपती	”	८ मंगल	२०—३—५६
४०—तिरुवणमल्लै	फाल्गुन शुक्ल	९ बुध	२१—[illegible]
४१—श्रीरंगम्	”	११ गुरु	२२—[illegible]
४२—त्रिचनापल्ली	”	१२ शुक्र	२३—[illegible]
४३—श्रीविल्लीपुट्टूर	”	१३ शनि	२४—[illegible]
४४—टेनकाशी	”	१४-१५	२५—२६
४५—तिन्नावेली	चैत्र कृष्ण	१-२-३	२७—२८-२[illegible]
४६—मदुरा	”	४ शुक्र	३०—[illegible]
४७—धनुषकोटि	”	५ शनि	३१—[illegible]
४८—रामेश्वरम्	”	६-७	१—[illegible]
४९—रामनद	”	८ मंगल	३—[illegible]
५०—तंजोर	”	९ बुध	४—[illegible]
५१—कुंभकोणम्	”	१० गुरु	५—[illegible]
५२—मन्नार गुडी ५३—तिरुवल्लुर	”	११ शुक्र	६—[illegible]
५४—वेदारण्यम्	”	११ शनि	७—[illegible]
५५—मायावरम्	”	१२ रवि	८—[illegible]
५६—सियाली	”	१३ सोम	९—[illegible]
५७—चिदम्बरम्	”	१४ मंगल	१०—[illegible]
५८—पाण्डिचेरी	”	३० बुध	११—[illegible]
५९—चिंगलपेट	चैत्र शुक्ल	१ गुरु	१२—[illegible]
६०—कांजीवरम्	”	२ शुक्र	१३—[illegible]

बड़ी लाइन बदलेगी

६१—मद्रास	”	४-५	१४—[illegible]
६२—विजय वाड़ा	”	६ सोम	१६—[illegible]
६३—राजमहेन्द्री	”	७ मंगल	१७—[illegible]
६४—सिंहाचलम्	”	८ बुध	१८—[illegible]
६५—पुरी	”	९-१०	१९—[illegible]
६६—कटक	”	११ शनि	२[illegible]
६७—भुवनेश्वर	”	१२ रवि	२[illegible]
६८—हबड़ा	”	१३-१४	२३—[illegible]
६९—वैद्यनाथ धाम	”	१५ बुध	२[illegible]
७०—बनारस	वैशाख कृष्ण	१ गुरु	२[illegible]

कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–अन्त मति सो गति [कविता] ...	७६९
२–कल्याण ('शिव') ...	७७०
३–एक महात्माका प्रसाद ...	७७१
४–मानव [कविता] (श्रीकृष्णलालजी वर्मा)	७७३
५–श्रद्धा-विश्वास (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	७७४
६–राम-भरोसा [कविता] (श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')	७७९
७–भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७८०
८–सच और झूठ [कविता] (श्रीहरिकृष्णजी गुप्त 'हरि')	७८२
९–जीवनका लक्ष्य [कविता] (श्रीहरिकृष्णजी गुप्त 'हरि')	७८२
१०–विश्व-वशीकरण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	७८३
११ श्रीकृष्णका मित्र-वात्सल्य [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')	७८६
१२–महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य [पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक] (सेठ श्रीगोविन्ददासजी)	७८७
१३–ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती) ...	७९६
१४–महारास [कविता] (श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी ओझा 'मुक्त')	८०२
१५–रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी 'रामायणी')	८०७
१६–आपके अभाव और अधूरापन (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ...	८११
१७–हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी) ...	८१४
१८–पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते (श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल, एम्० ए०)	८२१
१९–श्रीसीतारामसे निवेदन [कविता] (श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ...	८२४
२०–मुझे कोई पुकारता है [कहानी] (श्री'चक्र')	८२५
२१–सत्कथा (१) ईश्वरीय प्रेरणा [सच्ची घटना] (श्रीसुखदेवविहारीलालजी माथुर)	८२८
(२) मानसमें कथा (श्रीघासीरामजी भावसार, विशारद) ...	८२९
(३) जहाँ नास्तिक भी आस्तिक बन जाते हैं (श्रीविश्वनाथजी कुलश्रेष्ठ)	८३०

चित्र-सूची

तिरंगा

१–अन्त मति सो गति ७६९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Shankar Mandir, Kalkaji
Date
No.
J.N.M.U.
Shankar Library & Read. Room
No. 21.4.72
Date 340
4

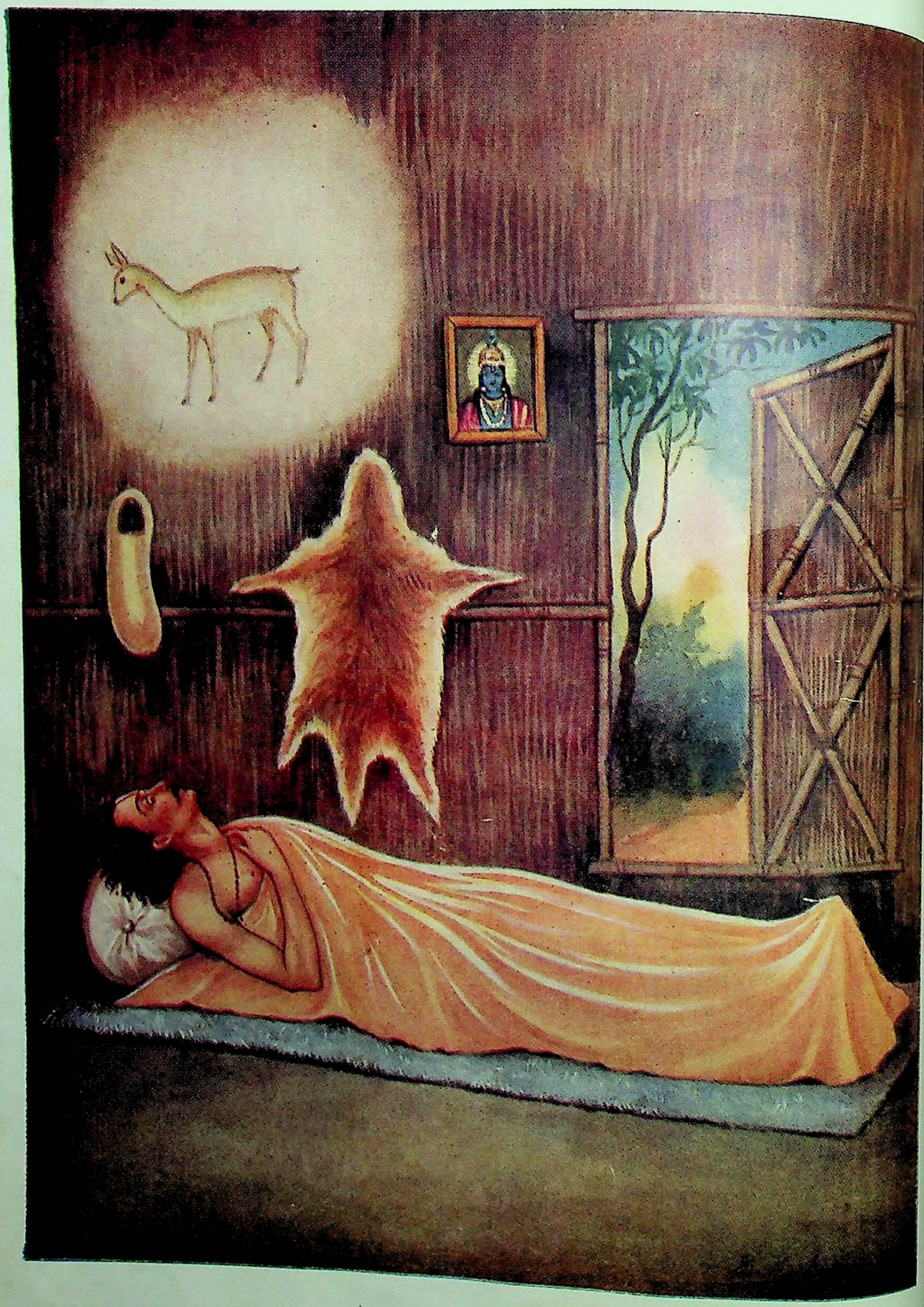

अन्त मति सो गति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

Sharika Library & Reading Room
No. 340
Dated 27.5.56

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० | गोरखपुर, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६ | संख्या ३ पूर्ण संख्या ३५२

अन्त मति सो गति

मानव जिसका सदा स्मरण करता जीवनमें ।
अंतकालमें वही वस्तु रहती है मनमें ॥
वही दीखती ऊपर-नीचे बाहर-भीतर ।
उसी वस्तुको पाता निश्चय मानव मरकर ॥
भरत अंतमें दर्शन पाते हैं शिशु-मृगका ।
इसीलिये पायेंगे ये शरीर फिर मृगका ॥
इससे जो नर सर्वकाल भजता नरहरिको ।
अर्पितकर मन-मति निश्चय वह पाता हरिको ॥

याद रक्खो—जब यह संसार और संसारके प्राणिपदार्थ इस रूपमें नहीं थे, तब भी भगवान् थे और अब, जब कि संसारकी ये वस्तुएँ विभिन्न रूपोंमें प्रकट हैं, तब भी भगवान् हैं तथा जब ये पुनः नहीं रहेंगी, तब भी भगवान् रहेंगे। ऐसा कोई देश, काल या वस्तु है ही नहीं, जिसमें भगवान् न हों, वरं देश, काल, वस्तु ही भगवान्में हैं। भगवान्के बिना किसीका भी कभी भी कोई अस्तित्व नहीं है। भगवान् सबमें भरे हैं, भगवान्में ही सब हैं, भगवान् ही भगवान् हैं।

याद रक्खो—संसार और संसारके प्राणिपदार्थमें कोई दोष नहीं है, दोष है—तुम्हारी विषयवासनामें, भोगकामनामें और इन्द्रियासक्तिमें। यदि तुम्हारे मनमें भोगोंकी वासना, कामना और उनमें आसक्ति नहीं है तो कोई भी भोग तुम्हें न तो बाँध सकता है, न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट ही कर सकता है।

याद रक्खो—भोगसेवनमें आसक्ति न हो, भोग-सुखकी कामना न हो तो प्रत्येक भोग भगवान्की पूजन-सामग्री बन जाता है और फिर वह अपनी नगण्य सत्ता-को भगवान्की महान् तथा अनन्त सत्तामें खो देता है। सुख-शान्ति तो फिर स्वरूपगत हो जाती है।

याद रक्खो—तुम सुख-शान्ति चाहते हो। सभी चाहते हैं। पर सुख-शान्ति जहाँ है, वहाँ कोई नहीं जाना चाहता। वरं उल्टे उसके विपरीत मार्गपर चलता है। समस्त सुखोंके, शान्तिके मूल केन्द्र हैं श्रीभगवान्। जो उनको अपना सुहृद् मान लेता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिल जाते हैं। जो सारी कामना-स्पृहा तथा ममता-अहंकारको भगवान्में समर्पितकर भगवान्का हो जाता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिलते हैं। पर यदि तुम भगवान्को भूलकर केवल भोगोंसे ही सुख-शान्ति चाहोगे तो तुम्हें निराश ही होना पड़ेगा।

याद रक्खो—भगवान्से रहित जितने भी भोग हैं, एक बार चाहे भ्रमवश वे सुखरूप दिखायी दें, परिणाममें उनसे दुःख ही मिलेगा; क्योंकि वे दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे घरमें आग लगनेपर बार बड़ा प्रकाश दीखता है, परंतु परिणाममें वह घर नाशक होता है; इसी प्रकार भोग-सुख भी एक मधुर तथा उल्लासप्रद लगता है, परंतु परिणाम कि और भयानक दुःखप्रद होता है।

याद रक्खो—तुम जो भोगपदार्थोंको पाकर बार भूल जाते हो और अपनेको सुखी अनुभव क हो, सो तुम्हारा वह सुख ऐसा ही है, जैसा शराबी शराबके नशेमें अनुभव होनेवाला सुख। शराबी नालीमें पड़ा सुखके गीत गाता है, वैसे ही तुम भोगमदमें चूर हुए भोगसुखका बखान करते हो।

याद रक्खो—वस्तुकी प्राप्ति वहीं होती है, वह होती है। बालूसे तेल नहीं निकलता, जलसे नहीं निकलता। सूर्यसे अन्धकार नहीं निकल चन्द्रमासे अग्नि नहीं निकलती। वैसे ही सुख-श भगवान्के बिना और कहींसे नहीं मिल सकती; क और कहीं भी वह है नहीं।

याद रक्खो—भगवान्में जो स्वरूपभूत सुख-श है, वही असली सुख-शान्ति है। संसारके सुख-शान्ति ऊपरसे मधुर प्रतीत होते हुए जहरभरे लड्डू ही जो अंदर जाकर एक भीषण जलन उत्पन्न कर देते तथा सर्वस्वका विनाश करते हैं।

याद रक्खो—जो लोग भगवान्में ही लगे हैं, भगवान्से ही सुख-शान्ति चाहते हैं, जिनका ऐसा विश्वास है कि सुख-शान्ति भगवान्के सिवा और कहीं ही नहीं, उनका भगवान्को छोड़कर न तो और मन जाता है, न श्रद्धा ही होती है। उनके सम आनेवाले सारे विषय—विषयासक्तिके पदार्थ न रह भगवान्की दिव्य अनुभूति करानेवाले बन जाते हैं।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

दुःखका स्वरूप है किसी-न-किसी प्रकारके अभाव-का दर्शन। उस अभावकी पूर्तिके लिये प्राणी आदरके रूपमें, प्यारके रूपमें या वस्तुके रूपमें दूसरोंसे आशा करते हैं, जो स्वयं दुखी हैं—अर्थात् प्राणी उनसे आदर, प्यार और वस्तुएँ चाहते हैं, जो स्वयं अभावमें आबद्ध हैं। यह एक नवीन दुःखकी तैयारी है। भाव यह कि व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके द्वारा प्राणी अपने दुःखको घटाना या नष्ट करना चाहता है पर ये सभी स्वयं दुःखमें ग्रस्त हैं (परिवर्तनशील होने-के कारण अनित्य और अभावरूप हैं)। इसलिये इनसे दुःखकी निवृत्तिकी आशा करना अर्थात् अभावपूर्तिकी आशा करना नये दुःखकी तैयारी है; क्योंकि आशा ही ो दुःख (अभाव) का कारण है।

अतः साधकको चाहिये कि इनसे निराश हो ाय। पर जो निराशा शोक उत्पन्न कर देती है, वह ाधकके कामकी नहीं है।

साधारण प्राणी जब आशाकी पूर्ति नहीं होती, तब राश होकर अपनेको अभागा समझते हैं अथवा सरोंको दोष देने लगते हैं। उक्त प्रकारसे समस्त गत्से निराश होकर अपने व्यक्तित्वकी आशा रखना सरोंमें वैरभाव उत्पन्न कर देता है। व्यक्तित्वके बलपर सरोंसे निराश होनेवालेमें मिथ्याभिमान पैदा हो ता है।

अतः साधकको चाहिये कि पहले व्यक्तिभावसे राश हो जाय। मन, प्राण, बुद्धि और इन्द्रियोंका समूह व्यक्तित्व है। अतः साधकको इन सबकी आशा ा करके इनसे विमुख हो जाना चाहिये। भाव यह ये सब स्वयं अभावपूर्ण हैं, अतः इनसे अभावपूर्तिकी ा करना प्रमाद है, अतः साधकको सबसे निराश जाना चाहिये।

हरेक कार्य करते समय साधकको समझना चाहिये कि मैं यह अपने प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। यदि कोई कमरेमें झाड़ू लगानेका या उससे भी तुच्छ दूसरा कार्य करे तो भी समझे कि यह मेरे प्रियतमका आदेश है। यह समझकर उसके प्रेममें विभोर हो जाय। विधानके अनुसार कार्यमें भेद होना अनिवार्य है, पर प्रीतिमें भेद नहीं होना चाहिये। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि अमुक कार्य तो छोटा है, मेरी योग्यताके अनुरूप नहीं है।

किसी भी सुखरूप परिस्थितिकी प्राप्तिमें साधकको यह नहीं समझना चाहिये कि यह मेरी योग्यताका प्रभाव है, योग्यताका प्रभाव मानते ही अभिमान और आसक्ति उत्पन्न हो जायँगे, जिनसे चित्त अशुद्ध हो जायगा।

साधकको समझना चाहिये कि उस अनन्तने कृपा करके मेरे स्वार्थभावको गलानेके लिये, सेवाके लिये यह साधन प्रदान किया है; भाव यह कि मेरा स्वार्थ गलानेके लिये ही उन्होंने स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण होते हुए भी अपूर्णताका वेष धारण किया है और मुझे सेवा करनेका अवसर दिया है।

इस प्रकार समझकर यदि साधक प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी महिमाका दर्शन करे और अन्तमें उनका दिया हुआ सब कुछ उनके समर्पण कर दे तो समर्पणकालमें प्रीति-का उदय तथा वस्तु और इन्द्रिय आदि प्राप्त शक्तिके उपयोग-कालमें उनकी सेवा—इस प्रकार ये दोनों दायें-बायें पैरकी भाँति प्रेममार्गमें चलनेके लिये साधन बन जायँ। ऐसा होने-पर साधकको सचमुच उनकी कृपाका अनुभव हो जाता है और वह उनके प्रेममें निमग्न हो जाता है।

प्रवृत्ति अर्थात् प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग प्रीतिका उपयोगकाल है और निवृत्ति उसका उदयकाल है।

भाव यह कि निवृत्तिकालमें नित्य नयी प्रीतिका उदय होता है और प्रवृत्तिकालमें वह दृढ़ होती है। प्रवृत्तिके अन्तमें निवृत्ति निश्चित है, अतः साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिकालमें उपर्युक्त प्रकारसे वह निरन्तर उनके साथ रहनेका, उन्हींमें रमण करनेका स्वभाव बना ले। अर्थात् हर समय यह अनुभव होता रहे कि मैं उनका प्रीतिपात्र होकर उन्हींके साथ हूँ। यही चित्तकी शुद्धि है।

यदि साधकको यह भासता है कि कभी तो मैं उनके साथ हूँ और कभी किसी दूसरेके साथ हूँ तो उसे समझना चाहिये कि व्यक्तित्वका मोह है। इस मोहका प्रकाशन दूसरे व्यक्तियोंके द्वारा तब होता है, जब साधक दूसरे व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करते समय समझता है कि मेरा इनमें मोह हो गया है; क्योंकि वह उस समय किसीसे तो मिलना चाहता है और किसीसे अलग होना चाहता है। यही द्वन्द्व है।

चित्त शुद्ध करना हो तो साधकको चाहिये कि प्रत्येक परिस्थितिके द्वारा उस अनन्तको लड़ाता रहे अर्थात् प्रीतिका रस प्रदान करता रहे। भाव यह कि उनका खिलौना बना रहे।

भूल यह होती है कि प्राणी अनेक साथी बनाता रहता है, केवल उस अनन्तका होकर नहीं रहता; अतः उन साथियोंके द्वारा प्यार और तिरस्कार, आदर और अनादर आदि द्वन्द्व मिलते रहते हैं। इस प्रकार प्राणी इस साधनयुक्त मानव-जीवनको नष्ट कर देता है।

चित्त शुद्ध करके जीवनको सफल बनाना हो तो साधकको चाहिये कि एकमात्र उन्हींके होकर रहने और उन्हींकी सेवा करनेको अपना उद्देश्य बना ले। सेवककी दृष्टिमें सेवाका सम्बन्ध अपने सेव्यसे ही रहता है, संसारसे नहीं।

सेवा करते समय साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवाका फल सेवा ही है, उसका कोई दूसरा फल नहीं है; अतः सेवा ही साध्य है और सेवा ही साधन है। भाव यह है कि जबतक स्वार्थ सर्वथा नहीं गल तबतक तो सेवा साधन है, जब स्वार्थ सर्वथा जाता है, तब वह सेवा ही साध्य बन जाती है साधकका प्रियतमसे नित्य नव-मिलन होता रहता स्थायी मिलन तो ज्ञानसे होता है जो निर्विशेषके होता है।

नित्य नव-मिलन प्रीतिका हेतु है। यह प्र परिस्थितिमें रसमय है। इसमें नीरसताका अत्यन्त हो जाता है। उस समय जो भी अभावयुक्त है सबसे सम्बन्ध टूट जाता है।

अपना व्यक्तित्व ही अभावयुक्त है, इससे स टूटते ही चित्तमें शुद्धि और शान्ति आ जाती शान्तिसे सामर्थ्य और शुद्धिसे सरसता आ जाती शान्ति और शुद्धि साथ-साथ रहती है। शान्ति स की प्रतीक है। सामर्थ्यसे दोषोंकी निवृत्ति होती शुद्धि शान्तिको पुष्ट करनेवाली है। इस प्रकार दोनों दूसरेकी वृद्धिमें हेतु हैं। शुद्धिका प्रतीक है कि बुरा न चाहना और शान्तिका प्रतीक है चाह होना। दोनोंमेंसे कोई भी पहले हो सकती है। एकके दूसरी अपने-आप आ जाती है।

सुखमय परिस्थितिमें सर्वहितकारी भाव आ जाय दुःखमय परिस्थितिमें चाहरहित भाव आ जाय तो और शुद्धि अपने-आप आ जाती हैं। दोनोंमें सम्बन्ध है। दोनोंकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है।

जीवनमें अशुद्धि बढ़ती है अपने प्रति बुराई वालेका भला न चाहनेके कारण। यदि साधक करनेवालेका भला चाहने लग जाय तो सहजमें उसका चित्त शुद्ध हो जाय। यह चित्तशुद्धिके लिये उच्चको साधन है।

शान्तिकी प्राप्ति तब होगी, जब साधक किसी कुछ न चाहेगा। भाव यह कि जगत्से, समाजसे, और शरीरसे भी कुछ न चाहे; इतना ही नहीं भाग

ी कुछ न चाहे । इस प्रकार चाहरहित होनेपर शान्ति और सामर्थ्य अपने-आप सिद्ध हो जायँगी ।

कोई कहे कि भगवान्‌से क्यों नहीं माँगना चाहिये ? ो इसका उत्तर यह है कि भगवान् बड़े उदार हैं । इस जो कुछ माँगेंगे वह उससे कम ही होगा जो बिना माँगे उनकी ओरसे अपने-आप मिलेगा । इस दृष्टिसे माँगनेमें घाटा ही है, अतः माँगनेकी अपेक्षा न माँगना ही अच्छा है ।

इस विषयमें यह आशङ्का मनमें नहीं करनी चाहिये कि मुझे किसीसे कुछ नहीं माँगना चाहिये—इस भावको लेकर अभिमान हो जायगा; क्योंकि अभिमानका जन्म परके सम्बन्धसे होता है । जिसको अपने शरीर, इन्द्रिय और मन आदिसे भी कुछ नहीं लेना है, उनको भी जो पर समझकर उनके सम्बन्धका त्याग कर चुका है, उसको अभिमान किस बलपर होगा और कैसे होगा ।

साधकको चाहिये कि जो कुछ है वह दे दे और चाहे कुछ नहीं ।

चाहयुक्त भक्तसे प्रभु उसकी चाह पूरी करके जल्दी छुटकारा पा जाते हैं । पर चाहरहित भक्तसे छुटकारा नहीं पाते ।

उनका हृदय अत्यन्त कोमल है । वे इस बातको देखते रहते हैं कि 'मेरा भक्त क्या चाहता है, यदि वह कुछ चाहे तो उसे दे दूँ ।' पर जो कुछ नहीं चाहता उसके पीछे-पीछे वे फिरते हैं । इतना ही नहीं, चाहरहित भक्तके वे स्वयं भक्त बन जाते हैं । अतः साधकको चाहिये कि किसीसे कुछ माँगे नहीं, प्रभुका प्रेमी बनता चला जाय । बस, नित्य नव-प्रेम बढ़ता रहे । चाह-रहित होनेपर शान्ति अपने-आप मिलेगी । शान्तिसे सामर्थ्य प्राप्त होगी । सामर्थ्यसे सेवा बनेगी । सेवासे प्रभुमें प्रीति बढ़ेगी और प्रीतिसे प्रभुको रस-प्रदान करते रहना यही जीवनकी सफलता है ।

मानव

(रचयिता—श्रीकृष्णलालजी वर्मा)

है हितैषी जगज्जनका, दोष जो नहिं देखता ।
है न ईर्षा-भाव जिसमें, राग-द्वेष न पोषता ॥
इंद्रियाँ आधीन जिसके, निःस्पृही औ शांत है ।
है वही मानव सही, यह सत्य औ निर्भ्रांत है ॥१॥

देह, वाणी और मनसे दुःख प्राणीको न दे ।
निर्विकारी, अल्पतोषी, जीवको सुख-शांति दे ॥
सज्जनोंका मित्र हो जो, दूर दुर्जनसे रहे ।
सत्कथा सुनता-सुनाता, जग उसे मानव कहे ॥२॥

सात्त्विकी हो बुद्धि जिसकी, भक्तजनका भक्त हो ।
भगवानका जो भक्त हो, जगमें नहीं आसक्त हो ॥
बाप-माँकी सेवकाई नम्र हो करता रहे ।
है वही मानव, हृदयसे जिसके करुणा-जल बहे ॥३॥

साधु सेवक औ सहारा दीन जनका जो रहे ।
सत्य, हित, मित, वाक्य बोले, दूर पापोंसे रहे ॥
हो सदा ग्राहक गुणोंका, मेल दुर्गुणसे न हो ।
स्वात्म सम समझे सभीको, है वही मानव अहो ॥४॥

मित्र-अरिमें भावना हो एक-सी जिसकी सदा ।
निंद्य कामोंमें न होवे कामना जिसकी कदा ॥
देख सुख-वैभव पराया हर्ष मनमें मानता ।
चाहता जगका भला, मानव उसे जग जानता ॥५॥

रात-दिन प्रभु-ध्यानमें जो नम्र होकर लीन हो ।
दुःख दुखियोंका मिटानेमें सदा तल्लीन हो ॥
लालसा जिसको न छूए, गर्वसे जो पर रहे ।
उस मनुजके हेतु जगमें प्रेमका झरना बहे ॥६॥

[एक संस्कृत-पद्यका भावानुवाद]

श्रद्धा-विश्वास

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

श्रद्धा और विश्वासस्वरूप शङ्कर और पार्वतीकी मैं वन्दना करता हूँ । यदि किसी योगीने सिद्धि प्राप्त की हो और इससे वह सिद्ध भी कहलाता हो तथापि जबतक वह श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ज्ञानसाधन नहीं करता, तबतक उसे हृदयमें स्थित आत्मदेवका दर्शन नहीं होता ।

आत्मज्ञानके साधन तो तप, तीर्थाटन, दान, सेवा, पाठ-पूजा, यज्ञ-याग, भक्ति, ज्ञान आदि अनेकों हैं; परंतु ये सब साधन ही हैं । इनके साथ श्रद्धा और विश्वास न हो तो कोई भी साधना सफल नहीं होती ।

श्रद्धा और विश्वासका पृथक्करण एक कविने बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया है, वह जाननेयोग्य है । आस्तिकताका स्वरूप समझाते हुए वह कहता है—

मैं हरिका, हरि मेरे रक्षक, यही भरोसा बना रहे ।
जो हरि करते वह हित मेरा, यह निश्चय ही सदा रहे ॥

ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, इसलिये मैं ईश्वरका हूँ । ईश्वर ही सृष्टिका पालन, पोषण तथा रक्षण करता है, इसलिये मेरी रक्षा भी वह करेगा ही । ईश्वरमें ऐसा भरोसा अर्थात् ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये । इस प्रकारकी श्रद्धाके फलस्वरूप, ईश्वर जो कुछ करता है, वह मेरे भलेके लिये ही होता है—ऐसा अटल निश्चय हो जाता है । यही ईश्वरमें विश्वास कहलाता है । ऐसी अविचल भावना, ऐसी अडिग श्रद्धा और विश्वास जिसका ईश्वरमें हो, वही सच्चा आस्तिक कहलाता है ।

आस्तिक और नास्तिककी विचारसरणिमें अन्धकार और प्रकाश-जैसा भेद है । कुछ दिनों पूर्व, जहाँ मैं रहता था, वहाँ गृहस्वामीका एक बारह-तेरह वर्षका लड़का झूलेसे झूलते समय गिर पड़ा । परंतु भाग्यसे उसे कोई गहरी चोट न लगी । गृहस्वामीने कहा कि 'प्रभुने लाज रक्खी । यदि डोरी न टूट गयी होती तो वह चित्त गिरता और इस सीढ़ीका कोना सिरमें लगता, तब क्या होता, यह कहा नहीं जा सकता । इस प्रकार ईश्वर शूलीके विघ्नको सूई गड़ाकर दूर कर देता है, इसका यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त है ।'

उनके साथ एक कालेजवाला था, उसने कहा—'तुम तो वैसे-के-वैसे ही रह गये ! लड़का गिर गया और लगनेकी कोई चीज न रही, इस कारण चोट न लगी, बहुधा कहीं अधिक चोट लगती भी नहीं । इसमें ईश्वर रक्षा करनेकी बात कहाँसे टपक पड़ी ? हाँ, कहना ही है तो यह कह सकते हो कि 'ईश्वरने उसको गिरा दिया, परंतु ऐसा हुआ कि चोट न लगी ।'

सूक्ष्मदृष्टिसे देखिये तो पता लगेगा कि श्रद्धा विश्वासकी जननी है । परंतु माता और पुत्र निरन्तर एक ही साथ रहनेके कारण एकार्थवाची हो गये हैं । जहाँ श्रद्धा है वहाँ विश्वास रहता है और जहाँ विश्वास है, वहाँ उसके मूलमें श्रद्धा होती ही है ।

हम किसी अज्ञात गाँवमें जा पहुँचे और वहाँ एक परिचित मिला, हमने उससे पूछा कि 'भाई ! बतलाओ, इस गाँवमें भला और ईमानदार दूकानदार कौन है, जिससे जरूरी चीजें खरीद ली जायँ ।' उस भाईने किसी एक दूकानकी ओर संकेत किया और उसको हमने ध्यानमें रख लिया । चार दिनोंके बाद थोड़ी चीजें खरीदनेकी जरूरत पड़ी । हम उस दूकानपर पहुँचे तथा उस दूकानदारसे कहा 'अमुक-अमुक वस्तुएँ अच्छी देखकर इतनी-इतनी दे दो' उसने तदनुसार ठोगोंमें बाँधकर चीजें दे दीं और जितने पैसे माँगे उतने पैसे हमने चुका दिये । रास्ते चलते जाते संदेहवृत्ति—संदेह करनेका स्वभाव जाग्रत् हुआ और उसने कहा—'अच्छा, आँखें मूँदकर पैसे तो चुका दिये, अब दूसरी दो दूकानोंमें भाव-ताव पूछकर खातिरी तो कर लें, कहीं ठगा तो नहीं गये ।' तुरंत ही रास्तेमें जो दूकान आयी वहाँ भाव पूछकर देखा तो एक वस्तुका वही भाव था, दूसरी वस्तुका बहुत तेज भाव दूकानदारने बताया । आगे जाकर दूसरी दूकानमें पूछ-ताछ की तो वहाँ भी वैसा ही उत्तर मिला । अब विश्वास हो गया कि ठगाये तो नहीं । घर आकर वस्तुएँ घरमें दीं, उनको देखकर गृहिणीने कहा—चीजें सभी अच्छी हैं ।

यहाँ हमने एक साधारण जान-पहचानवाले मनुष्यके वचनके ऊपर श्रद्धा रक्खी और उस श्रद्धाके बलसे दूकानदारके ऊपर विश्वास रक्खा । दूसरी दूकानोंपर पूछा

खातिरी कर ली कि उसने हमको ठगा नहीं। इससे वह विश्वास दृढ़ हो गया। इस प्रकार श्रद्धा विश्वासकी जननी है।

एक विद्यार्थी पाठशालामें पढ़नेके लिये बैठा। शिक्षकने उसकी पाटीपर एकका अङ्क लिख दिया और कहा कि इसको 'एक' कहते हैं। यदि वह विद्यार्थी शिक्षकके वचनमें श्रद्धा न रक्खे और उलटा प्रश्न करे कि इसको 'एक' क्यों कहते हैं? घोड़ा क्यों नहीं कहेंगे?—ऐसी अवस्थामें वह विद्यार्थी पढ़ ही नहीं सकेगा। इस प्रकार जगत्में सभी कार्योंका आरम्भ श्रद्धासे ही होता है और वही श्रद्धा परिपक्व होकर विश्वासमें परिणत होती है।

बालक जब जन्मता है, तब बिल्कुल अज्ञानकी हालतमें रहता है और उसको सारा ज्ञान केवल मातामें श्रद्धा रखनेसे ही मिलता है। माता कहती है, 'मैं तेरी माँ हूँ और ये तेरे पिता हैं।' बालक श्रद्धासे विश्वास कर लेता है कि सचमुच ऐसी ही बात है। वह यदि ऐसा कहे कि 'इसका क्या प्रमाण है कि तू ही मेरी माँ और यही मेरे पिता हैं? प्रमाण देकर सिद्ध करके बतला तभी मैं मानूँगा, नहीं तो, नहीं मानूँगा।' ऐसा हो तो उस लड़केका जीवन व्यर्थ जाता है; क्योंकि जिसको माताके वचनमें श्रद्धा नहीं, उसको जगत्-व्यवहारमें क्या श्रद्धा हो सकती है?

हम कुछ सौदा लेने किसी दूकानपर गये। वहाँ दूकानदारको यदि यह श्रद्धा होगी कि उसके मालका दाम हम चुका देंगे, तभी वह दाम मिलनेके पहले माल देगा। वैसी श्रद्धा न होगी तो पहले दाम माँगेगा और कहेगा कि पैसे मिलनेके बाद माल दूँगा। हमको भी यदि उसमें श्रद्धा न हो और हम ऐसा विचार करें कि दाम लेकर माल न दिया तो?—इसी हालतमें हम माल लेनेके पहले पैसे नहीं देंगे। सब जगह ऐसी ही गाँठ बँध जानेपर तो फिर कोई व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। दूकानदार दाम लेनेके पहले माल न दे और हम माल लेनेके पहले दाम न दें, तब फिर सौदा क्योंकर हो? इसलिये श्रद्धाके बिना कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें श्रद्धाके ऊपर बहुत जोर दिया है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७। ३)

अपने अन्तःकरणके संस्कारके अनुसार मनुष्यमें श्रद्धा होती है। मनुष्यमात्रका जन्म अज्ञान दशामें ही होता है, इसलिये जो संस्कार पहले जाग्रत् होता है, उसीके अनुसार उसकी श्रद्धा बन जाती है। अतएव मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी श्रद्धाका होना स्वाभाविक है। इस प्रकार पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, उसके अनुसार उसका आचरण होता है। इस प्रकार श्रद्धा मनुष्यमात्रमें एक नैसर्गिक धर्म है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

जिस मनुष्यके मनमें ईश्वरपर श्रद्धा है और इस कारण सद्गुरु तथा सत्-शास्त्रमें जिसे विश्वास है, इस प्रकारका साधक इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे साधन करते हुए ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है और ज्ञानका उदय होनेपर तत्क्षण उसको मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तथा वह परम शान्तिका अनुभव करता है।

इसके विपरीत, जिसमें ऐसी श्रद्धा नहीं होती, उसकी क्या दशा होती है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४)

जो मूर्ख है, किसीमें श्रद्धा नहीं रखता—ऐसा मनुष्य संशय और विपर्ययमें ही गोते खाया करता है और परिणामस्वरूप विनाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके निश्चय-विहीन मनुष्यको इस लोकमें भी सुख-शान्ति नहीं मिलती, तो फिर परलोकमें मिलनेकी तो आशा ही कैसे की जा सकती है? इसलिये श्रद्धा ही फलती है, यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

श्रद्धाके बिना किये हुए यज्ञ-यागादि, दिये हुए दानादि, की हुई तपश्चर्या, यहाँतक कि श्रद्धाके बिना किया हुआ कोई भी कर्म कोई फल नहीं देता, वह व्यर्थ जाता है। अर्जुन! उससे इस लोकमें कोई सिद्धि नहीं मिलती, फिर भला परलोकमें कैसे मिल सकती है? यानी नहीं मिलती।

यहाँतक हमने यह आलोचना की है कि श्रद्धा और विश्वास तो मनुष्यमें साधारणतः होते ही हैं। ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य इनको विकसित नहीं करता, वह इस लोकमें तो सुख पाता ही नहीं, उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

श्रद्धा और विश्वासके विषयमें इतना सुनकर अपनेको सुधरे हुए तथा प्रत्यक्ष विज्ञानको माननेवाले आधुनिक पुरुष कहेंगे कि 'इस प्रकारके अन्धविश्वाससे ही हमलोगोंका सर्वनाश हो गया है। इस प्रकारकी अन्धश्रद्धासे ही हमलोगोंको दूसरोंकी गुलामी करनी पड़ी और हमने स्वतन्त्रता खो दी। इस प्रकारके अन्धविश्वाससे समाज निर्बल बनता है और व्यक्ति भी अपनी शक्ति गवाँ बैठता है। इसलिये तुम जो श्रद्धा-विश्वासकी बात करते हो वह तो अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास है। देखो, तुम्हारे मनु महाराजको हुए आज कितने वर्ष हो गये, तथापि आज भी उनके बनाये नियमोंसे चिपटे रहना अन्धश्रद्धा नहीं तो और क्या है? मनुने कहा कि स्त्रियोंको रजस्वला-धर्मका पालन करना चाहिये। उस समयके देश-कालके अनुसार वह कदाचित् लाभदायी हो सकता था, परंतु आज भी उसको पकड़े रहना अन्धानुसरण नहीं तो और क्या है?

'मनुने कहा—'ईश्वर है और उसीने इस सृष्टिकी रचना की है और वही पालता है।' पर इस बातमें आज वैज्ञानिक दृष्टिसे सत्य नहीं दीखता है, फिर भी इसको सत्य ही मानते रहना अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है? मनुने जो नियम बनाये थे, वे उन दिनोंके लिये ही थे। आज इस प्रगतिके युगमें उनको पकड़े रहनेमें क्या लाभ है? उन्होंने कहा है—'विधवाका ब्याह फिर नहीं होना चाहिये।' 'एक गोत्रके पुरुष-स्त्रीमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।' 'वर्णान्तरमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये तथा लड़कीको पैतृक सम्पत्तिमें उत्तराधिकार नहीं मिलना चाहिये।' हम इन सब बातोंको आज भी ऐसे ही मानते रहें तो फिर पशुमें और हममें अन्तर ही क्या है? पशु भी जैसे हाँको वैसे ही चलता है और हम भी, आज इस विज्ञानके युगमें भी, मनु महाराजके हाँकनेके अनुसार चला करें तो फिर हम नर-पशु ही न कहलायेंगे? बाबू! अब युग बदल गया है। आज मनुष्य उन्नतिके शिखरपर खड़ा है, (सच कहा जाय तो अवनतिकी अन्तिम सीढ़ीपर है) ऐसी स्थितिमें तुमको ईश्वर और शास्त्रमें श्रद्धा रखनेकी बात मुँहसे निकालते शर्म नहीं आती?'

अन्धविश्वास अवश्य हानिकारक है और इससे नहीं करना चाहिये। अन्धा जिस प्रकार दृष्टि-शक्ति होकर जहाँ-तहाँ धक्के खाता फिरता है, उसी प्रकार दृष्टिका उपयोग किये बिना सुनी या देखी हुई व्यवहारके ऊपर दृढ़ विश्वास कर लेनेका नाम अन्ध है और ऐसा विवेकशून्य विश्वास अवश्य अनिष्ट देता है।

विश्वास बहुत उत्तम वस्तु है और इसके बिना चल भी नहीं सकता। तथापि यदि यह अपात्र या कुपात्र किया जाय तो विनाशकारी सिद्ध होता है। जैसे दूध अमृत होता है, फिर यदि उसको छाछके बर्तनमें डाल दिया तो वह विकृत हो जाता है, फिर उसको पीनेसे लाभके बदले हानि होती है। शुद्ध बर्तनमें रक्खा हुआ दूध बालक पीता है तो उसके अङ्गकी पुष्टि होती है, परंतु दूध यदि सर्प पी ले तो वह विषरूप बन जाता है। मनुष्यका प्राण ले सकता है। इसी प्रकार विश्वास एक वस्तु है और इसके बिना कोई व्यवहार नहीं चलता भी, उसमें यदि विवेकबुद्धिका उपयोग न हो तो लाभके हानि करता है। मनुष्यकी विशेषता तो विवेकका उपयोग करनेमें ही है।

हम एक अपरिचित गाँवमें जाते हैं। किसी स्थानपर कई मोड़ आते हैं और हम सामने आनेवाले भी आदमीसे पूछते हैं, वह जिधर मुड़नेके लिये है, हम उसी दिशामें जाते हैं। सम्भव है कि वह हो और हमें हैरान करनेके लिये विपरीत बता तथापि हम उसकी बातपर विश्वास रखकर उस दिशा पड़ते हैं। यह अन्धविश्वास है या और कुछ?

अपने घर एक रसोइया है। वह जब रसोई तब उसपर कोई ध्यान भी नहीं रखता। फिर भी बनायी रसोई हम रोज खाते हैं। सम्भव है कि विचारसे शून्य लोभी-लालची हो और हमारा कोई सौ-दो सौ रुपये देकर हमारे भोजनमें विष मिलवा लोभके वश वह आदमी ऐसा कर भी बैठे। ऐसा होनेपर भी, हम उस रसोइयेमें दृढ़विश्वास रखते अन्धविश्वास है या और कुछ? हम अपने घर दर्द शुरू हुआ और दस्त होने लगे। हमने बुलानेके लिये फौरन एक आदमी भेजा। हमारा

डाक्टर गाँवसे बाहर गया था। यह समाचार पाकर हमने किसी दूसरे अपरिचित डाक्टरको बुला लिया और उसकी दी हुई दवा विश्वासपूर्वक खा ली। उससे हम अच्छे भी हो सकते हैं और नहीं भी—इसका नाम अन्धविश्वास है या और कुछ ?

अब विचार करके देखिये। इस संसारके किसी भी काममें विश्वासके बिना काम नहीं चलता और हम सहज भावसे जहाँ-तहाँ विश्वास करते भी हैं। उसमें सभी आदमी विश्वास-योग्य नहीं भी होते, यह जानते हुए भी हमको उनपर विश्वास करना पड़ता है; क्योंकि किसी-न-किसी मनुष्यके ऊपर विश्वास रक्खे बिना जीवन-निर्वाह हो नहीं सकता। इस प्रकार विवश होकर हम सबके ऊपर विश्वास करते हैं, फिर भी ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम अन्धविश्वास नहीं करते।

अब जरा और विचार कीजिये। ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर विश्वास करना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है ? ईश्वर सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है, वह प्राणिमात्र-का परम सुहृद् है, इसलिये उसपर विश्वास करनेसे ठगे जानेका भय रहता ही नहीं, बल्कि एक सच्चा अवलम्बन होनेसे हमारा जीवन सुखरूप बन जाता है। सद्गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं, उनको कोई लोकैषणा या वित्तैषणा है ही नहीं, जिससे वे हमको ठग सकते हों। अपने स्वार्थके बिना मनुष्य कभी किसी दूसरेको नहीं ठगता। सद्गुरुके लिये तो जगत्का कल्याण करना ही स्वार्थ है। इसके सिवा उनका कोई दूसरा लौकिक ध्येय नहीं होता। इसलिये ईश्वर और सद्गुरुके ऊपर विश्वास रखना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है ? फिर, तपस्वी तथा जगत्के कल्याणकी ही कामनावाले, ईश्वरका साक्षात्कार प्राप्त किये हुए आप्तकाम और त्रिकालदर्शी ऋषियोंने जिन सत्-शास्त्रोंकी रचना की है, उनके ऊपर यदि विश्वास न करें तो फिर अन्य किसके ऊपर विश्वास करें ? इनसे अधिक विश्वसनीय दूसरा क्या हो सकता है ? इस प्रकार ईश्वर, सद्गुरु तथा सत्-शास्त्र हमारे हितैषी हैं तथा सर्वज्ञ हैं और इस कारण सच्चा मार्ग-दर्शन करानेवाले हैं। इसलिये इनपर विश्वास करनेको यदि अन्धविश्वास कहा जाय तो वह दुराग्रह और मूढ़ताके सिवा और क्या है ?

परंतु आजका बुद्धिमान् (?) मनुष्य उलटी ही राह चलता है, जो अत्यन्त विश्वसनीय है, वहाँ विश्वास करते डरता है तथा जहाँ विश्वास करनेका तनिक भी अवकाश नहीं, वहाँ आँखें मूँदकर विश्वास करता है और कहता है कि हम कहीं भी अन्धविश्वास नहीं करते। भलीभाँति न्यायपूर्वक देखें तो आजका मानव अन्धविश्वासमें ही जीवनयापन करता है और परम श्रद्धेय एवं विश्वसनीय स्थानमें वह विश्वास नहीं करता।

आजका सुशिक्षितवर्ग आधुनिक भौतिक विज्ञानमें ही जो अचल श्रद्धाका सेवन करता है और उसके विधानमें पूर्ण विश्वास रखता है, वह अन्धविश्वास है या नहीं, यह देखना चाहिये। पहले विश्वकी उत्पत्तिके लिये नेबुलाके सिद्धान्तको लीजिये। सूर्य एक धधकता हुआ गोला था और उसमेंसे अलग निकले हुए कुछ टुकड़े आजके हमारे सूर्यलोक हैं, यह सिद्धान्त माना जाता है और इसको हम आँखें मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं। अब यदि तनिक विचार करें तो जान पड़ेगा कि यह बात मनकी एक निरंकुश कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं है। फिर इस विश्वासको क्या कहा जाय, इसे पाठक ही निश्चय करें।

एक दूसरे सिद्धान्तको चार्ल्स डार्विनने विकासवाद कहकर पुकारा और यह निश्चय किया कि यह विशाल प्राणि-जगत् एक कोषवाले एक क्षुद्र जन्तुसे विकसित होते-होते बना है और वे मानवको वानरोंका वंशज मानते हैं। केवल समान आकृतिको लेकर ही एकमेंसे दूसरी जाति उत्पन्न होती है, ऐसा मानें तो फिर छिपकली, गिरगिट, चन्दनगोह, पाटागोह और छोटे-बड़े मगर आदि सब करीब-करीब एक ही आकृतिके प्राणी हैं; पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि विकासक्रमसे एकसे दूसरेका निर्माण हुआ है। डार्विनने बड़ा परिश्रम करके एक पूरी शृङ्खला तैयार की और जहाँ-जहाँ बिचली कड़ी नहीं मिली, वहाँ-वहाँ वे जातियाँ लुप्त हो गयीं, ऐसा मान लेनेका निश्चय किया। अब इस कपोलकल्पित सिद्धान्तमें कोई विश्वास करे तो उसको क्या कहेंगे, इसका निर्णय भी पाठक ही करें।

विश्व-विद्यालयके एक वर्तमान उपाधिधारी वैज्ञानिकने कुछ दिनों पहले यह प्रकट किया था कि मूँगफलीका मक्खन और उसका दूध बहुत अच्छा होता है, इसका उपयोग करना चाहिये। इसको बनानेकी रीति भी उन्होंने बतायी थी। उनको पहले पानीमें भिगोकर उसका लाल छिलका उतार ले और तब उसको महीन कूटकर पीस ले और उसका लौंदा बना ले। बस, मक्खन बन गया और उस लौंदेको पानीमें

घोल ले तो वह दूध बन जायगा। जो मक्खन-जैसा दीख पड़े वह सब मक्खन और जो दूध-सा दिखायी दे वह दूध। यदि ऐसी ही बात हो तो पानमें खानेको जलाया हुआ चूना मक्खनकी अपेक्षा भी अधिक मुलायम और गाढ़ा होता है और उसको यदि थोड़े पानीमें घोल दिया जाय तो वह प्रवाही दूधकी अपेक्षा भी अधिक सफेद और गाढ़ा होता है। इन वैज्ञानिकोंने इस (चूनेके) मक्खन और दूधके लिये आग्रह क्यों नहीं किया, यह समझमें नहीं आता। इस बातको जिसने सच्चा समझा हो, उसको अन्धा कहें या आँखवाला, इसका विचार भी आप ही करें।

अपनेको मनोवैज्ञानिक कहनेवाले श्रीफ्रायड महाशयने कहा है कि 'पशु इन्द्रियसंयमका पालन नहीं करते, इससे उनको कोई रोग नहीं होता और वे जीवनभर तन्दुरुस्त रहते हैं। इसलिये मनुष्यको भी यदि तन्दुरुस्त रहना हो और रोगोंको न आने देना हो तो इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरण करने देना चाहिये।' यह बात हमारे शास्त्रोंसे ठीक उलटी है और फिर भी आँखें मूँद करके इसे हमने सच्ची मान ली है। इसके फलस्वरूप अपने पवित्र देशमें आज अनाचार, दुराचार और यौन रोग बढ़ते जा रहे हैं। इस विश्वासको क्या कहें ?

सारांश यह है कि हमारा चश्मा ही उलटा हो गया है, जिससे अच्छी वस्तु बुरी दीखती है और जो अन्धविश्वास है, वह सच्चा विश्वास दिखायी देता है। प्राथमिक शिक्षामें ही हमको यह सिखाया गया है कि हमारे बाप-दादे तो बिल्कुल जंगली थे। इस कारण उनके रचे शास्त्रोंमें कोई भी बात सच्ची हो ही नहीं सकती। हम भी ऐसे जंगली हैं कि इस बातको सच्ची मान बैठे। इसीका यह परिणाम है कि आज ईश्वर तथा सत्-शास्त्रोंमें हमारा विश्वास नहीं रहा। हम यह कहना सीख गये हैं कि हमारे यहाँ जो कुछ लिखा गया है, वह सब झूठ और निराधार है तथा अंग्रेजीमें जो लिखा जाता है, वह सच्चा और विश्वसनीय ही है।

डाक्टरी जगत्का ही एक विषय लीजिये। उसके मुख-पत्र 'लान्सेट'में जो लिखा गया हो, वह ब्रह्माके वाक्यसे भी अधिक विश्वसनीय है, ऐसा डाक्टर लोग मानते हैं। किसी कम्पनीने कोई दवा तैयार की, उसने किसी प्रतिष्ठित डाक्टर या वैज्ञानिकको राजी करके उससे एक प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया और 'लान्सेट'में उसके विषयमें एक सुन्दर लेख लिखकर भेज दिया। बस, उसके प्रकाशित होते ही डा लोग आँख मूँदकर उस दवाका प्रयोग करने लगते हैं ढेर-का-ढेर वह माल हमारे देशमें आकर उतरने लगता पीछे भले ही, भूतकालमें जैसा हुआ वैसे ही, भविष्यमें दवा भी हानिकारक सिद्ध हो जाय, परंतु वर्तमान काल कम्पनीका पाकेट गरम हो ही जायगा। इसका नाम विश्वास नहीं तो और क्या है ?

विलायतके डाक्टरने कहा कि 'खूब साग-भाजी तथा साथ ही कच्चा कचुम्बर खाते जाओ तो आरोग्य रहेगा।' बस, हमारे डाक्टरोंने इसे आँख मूँदकर मान है। सच है—'आज्ञा गुरूणामविचारणीया।' हमारे डाक्ट तो वे ही गुरु हैं, इसलिये उनके वचनपर विचार भी किया जा सकता। इस प्रकार हमारे डाक्टरोंने बहुत सा साग खानेवाले बना दिये और अर्थकष्ट बढ़ा दिया।

अब देखिये, वे लोग तो मांसाहारी हैं। मांसके यदि रेशेवाले पदार्थ पर्याप्त मात्रामें नहीं खाये जायँ तो अँतड़ियोंमें ही सड़ने लगता है और इससे मनुष्यकी हो जाती है। यह एक ही तथ्य इतना प्रमाणित पर्याप्त है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणी नहीं है। तथापि जातियोंमें मांस-भक्षणके विषयमें इतनी बड़ी अन्धश्र कि उसके बिना तो वे जी ही नहीं सकते—ऐसा वे हैं। इस कारण वे मांस खाना छोड़ नहीं सक बुद्धिसे तो यह बात समझते हैं, परंतु अन्धविश्वासके मांस खाना उनसे छूटता नहीं।

इस प्रकार अधिक साग खानेकी बात मांस खा लोगोंके लिये सोलहों आने सच्ची है; परंतु साथ ही उतनी ही सच्ची बात है कि हम निरामिषभोजियोंके साग-भाजीकी इतनी आवश्यकता नहीं है। परंतु डाक्टरोंके ध्यानमें ही नहीं आयी। अन्धानुकरण जो टेव पड़ गयी है, इससे स्वतन्त्र विचार ही सकता। थोड़ा भी विचार करनेसे यह ज्ञात हो जाता हम जो गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मकई आदि अनाज तथा मोठ, उड़द, अरहर, चना आदि दाल खाते हैं, वे सब कोटिमें ही हैं। आज भी गाँवोंमें 'साबित उड़दका बनाया था' 'मूँगकी दालका साग किया था' इस शब्दप्रयोग सुननेको मिलते हैं। हम जो घी, तेल आदि खाते हैं, वह बहुत ही अल्प परिमाणमें होता है

वह योगवाही ढंगसे ही काम करता है। इस प्रकार हमारे लिये साग-भाजी निरर्थक है, फिर भी डाक्टरोंने इसका भूत ऐसा घुसेड़ दिया है कि साग-सब्जीका उपयोग बढ़ता जा रहा है और उसी परिमाणमें निर्धनता भी बढ़ती जा रही है।

अरे अविश्वासी मनुष्य! ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर तो तुम विश्वास रखते नहीं तथा इस प्रकारके विश्वास-को तुम अन्धविश्वास मानते हो। परंतु विश्वासके बिना तो तुम्हारे जीवनका निर्वाह भी नहीं होता, यानी तुमको अति तुच्छ और पामर प्राणियोंपर विश्वास करना पड़ता है। यह क्या अन्धविश्वास नहीं है? इसलिये मानव! अब भी जरा चेत जाओ और अपना कल्याण चाहते हो, दुःखके समुद्रसे निकलना चाहते हो तथा अखण्ड सुख-शान्ति एवं आनन्दमय जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अब भी ईश्वरमें, गुरुमें तथा ऋषिप्रणीत अपने शास्त्रोंमें विश्वास करो। यह अन्धविश्वास नहीं है। परंतु इसके अतिरिक्त, दूसरे प्राणि-पदार्थोंमें किया गया विश्वास ही अन्धविश्वास है; क्योंकि वे राग-द्वेषसे भरपूर होते हैं, इसलिये कब दगा देंगे—यह कहा ही नहीं जा सकता। उनमें जहाँ स्वार्थपरता है, वहाँ इनमें परार्थपरता है।

जिस मनुष्यका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, उसका जीवन बिना लंगरके जहाजके समान है। जिस जहाजमें लंगर नहीं होता, वह हवाके झकोरोंसे चारों दिशाओंमें जहाँ-तहाँ थपेड़े खाया करता है और जो जहाज लंगर डाल देता है वह अपनी जगहपर अचल टिक सकता है। इसी प्रकारसे जिस मनुष्यको ईश्वरमें दृढ़ श्रद्धा है और उसके विधानमें अविचल विश्वास है उसका जीवन सुख-दुःखके झपेटेके बीच भी निश्चल और शान्त रह सकता है तथा जिस मनुष्यका ईश्वरके ऊपर विश्वास नहीं, वह पग-पगपर सुख-दुःखमें डोला करता है और कहीं भी शान्तिसे विश्राम नहीं पाता। अन्तमें जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता हुआ अनन्त कालतक अपार क्लेश भोगता रहता है!

अब विचार तो करो। धूपमें चलता हुआ मुसाफिर एक वृक्षका आश्रय लेता है। वृक्ष तो जड है तथापि उसको शीतल छाया देता है तथा ऋतुके अनुसार फल-फूलसे भी संतुष्ट करता है। किसी गृहस्थ या राजाकी शरणमें जानेपर वह भी मनुष्यकी यथाशक्ति सहायता करता है तथा उसके दुःख दूर करनेमें सहायक बनता है।

परम दयालु परमात्मा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रक्षक, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर—ऐसे विश्वम्भर जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् और हितैषी हैं, उनके ऊपर श्रद्धा रखकर, उनके विधानमें विश्वास करके, उनकी शरणमें जानेवाला मनुष्य निहाल हुए बिना रह ही नहीं सकता। उसके सारे पाप-ताप तत्काल ही निवृत्त हो जाते हैं और उसको अखण्ड आनन्द तथा अविचल शान्ति मिलती है। इसीलिये भगवान्‌ने प्रत्येकको आग्रहपूर्वक कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

राम-भरोसा

सुमिरत जाके जगत मति,
जगे न फिरि मन जोर।
राम-चरन शुचि कल्पतरु,
फलत मनोरथ मोर॥
राम-सिया-पद-कल्पतरु,
करै 'सिरस' मन शांत।
प्रात प्रभाकरकी प्रभा,
प्रसरत पृथ्वी-प्रांत॥

नरपति, सुरपति, लोकपति,
अधिपति अधिक कि चाह।
राम-चरन अनुराग रँगि,
आन रंग उड़ राह॥
दृग न दिख्यों, दुख जो हरत,
छिपे छिपत हिय छाप।
नवल-वधू घूँघट कढ़ो,
कब त्यागे वह झाँप॥

—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उत्तम गुण और उत्तम आचरण शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। उत्तम गुणोंसे अभिप्राय है—हृदयके उत्तम भाव और उत्तम आचरणोंसे अभिप्राय है—मन, वाणी और शरीरकी उत्तम क्रिया। इनमें उत्तम क्रियाओंसे उत्तम भावोंका संगठन होता है और उत्तम भाव होनेसे उत्तम क्रियाएँ स्वाभाविक ही होती हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं। फिर भी क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है। जैसे कोई मनुष्य दूसरोंके अनिष्टके लिये यज्ञ, दान, तप आदि करता है तो उसकी वह क्रिया तामसी है और वही क्रिया यदि पुत्र, स्त्री, धन और स्वर्ग आदिके लिये की जाती है तो राजसी है तथा निष्कामभावसे संसारके हितके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ करनेपर वही क्रिया सात्त्विकी हो जाती है। क्रिया एक होते हुए भी भाव उत्तम होनेसे वह उत्तम फलदायक बन जाती है। इसलिये क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है।

जो दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थकी क्रियाएँ हैं, वे सब तो नरकमें ले जानेवाली हैं, उनकी तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं है। वे तो सर्वथा त्याज्य हैं। जो कल्याणकारक आचरण हैं, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा की जाती है। वे सब आचरण भी निष्कामभावसे किये जानेपर ही कल्याण करनेवाले होते हैं। इसलिये शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये। उत्तम क्रियाएँ कौन-कौन-सी हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

सबके साथ सरलता, विनय, प्रेम और आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना।

शरीरको जल और मृत्तिकासे शुद्ध और स्वच्छ रखना तथा घर और वस्त्रोंको भी शुद्ध और स्वच्छ रखना।

ब्रह्मचर्यका पालन करना। किसी भी सुन्दरी स्त्रीका अथवा पुरुष या बालकका अश्लीलभावसे भाषण, स्पर्श, चिन्तन, एकान्तवास आदि कभी न क

मन, वाणी, शरीरसे किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र भी प्र किसी भी निमित्तसे किञ्चिन्मात्र भी कभी दुः पहुँचाना, बल्कि अभिमानका त्याग करके नि भावसे सबका सब प्रकारसे परम हित ही करते रहे कोई अपना अनिष्ट भी करे तो भी उसका हित ही क

वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका प्रेम और आदर निरन्तर जप करना तथा सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं जो सत्य और प्रिय हो तथा जिसमें सबका हि ऐसा कपटरहित सरल वचन बोलना।

सदा शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना। भारी से कष्ट पड़नेपर भी लज्जा, भय, लोभ, काम अथवा भी कारणसे—मर्यादाका त्याग नहीं करना।

महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा-सत्कार, नमस्कार और उ आज्ञाका पालन करना इत्यादि।

इस प्रकारके उत्तम आचरणोंको निःस्वार्थ करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की हो जाती है।

इसके सिवा, जिनके कान भगवान्‌के नाम, रूप, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनते-सुनते नहीं, जिनके नेत्र केवल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये ही और चकोरकी भाँति लालायित रहते हैं, जिनकी प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका ही गान करती रहती जिनकी नासिका भगवान्‌के स्वरूप तथा भगवा अर्पण किये हुए पुष्प, चन्दन, माला, तुलसी, आदिकी गन्धको लेकर मग्न होती रहती है,

जिह्वा भगवान्‌के अर्पण किये हुए प्रसादका ही आस्वादन करती है तथा जो नर-नारी भगवान्‌के अर्पण करके ही और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌का प्रसाद समझकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो मनुष्य अपने शरीरसे ईश्वर, देवता और ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, गुण, पद और अवस्थामें जो अपनेसे बड़े हों, उनका प्रेम और विनयपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करते हैं, जो एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहकर हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करके मुग्ध होते हैं, जो भगवान्‌के लीलाविग्रहों और उनके भक्तोंके दर्शनार्थ ही चरणोंसे तीर्थोंमें जाते और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनमें स्नान करते हैं, जो भगवान्‌के मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करते हैं, जो शास्त्र-विधिके अनुसार नित्य दान, श्राद्ध, तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं, जो माता, पिता, स्वामी, आचार्य आदि गुरुजनोंको भगवान्‌से भी बढ़कर समझते तथा उनकी सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक सेवा, सत्कार और पूजा करते हैं—इस प्रकार जो केवल भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तिसंयुक्त उपर्युक्त आचरण करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

जिनके हृदयमें सम्पूर्ण दुर्गुणोंका अभाव होकर सद्गुण प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं।

जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार-अभिमान, मद-मत्सर, दम्भ-दर्प, राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-क्षोभ, आलस्य-प्रमाद, भोगवासना और विक्षेप आदिका अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सबके हेतुरहित प्रेमी, सबके हितमें रत, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-अलाभमें सम हैं, जिनके मनमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, जो निरन्तर भगवान्‌के ही शरण हैं, जिन्हें भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे हैं, जिनका भगवान्‌में ही अनन्य विशुद्ध प्रेम है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्वामी, गुरु, धन, विद्या, प्राण—सर्वस्व एक भगवान्‌को ही मानते हैं, जो परनारीको माताके समान और पराये धनको विषके समान समझते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंके सुखसे ही सुखी रहते हैं, जो दूसरोंके अवगुणोंको नहीं देखते, उनके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, जो गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंके हितमें रत हैं, जो नीतिमें निपुण हैं, जो अपनेमें जो कुछ अच्छाई है, उसे भगवान्‌की कृपा समझते हैं और अपनेमें जो बुराई है उसे अपने स्वभावका दोष मानते हैं, भगवान्‌के भक्तोंमें जिनका प्रेम है, जो जाति, पाँति, धन, घर, परिवार, धर्म, बड़ाई आदि सबमें आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌को ही हृदयमें धारण किये रहते हैं, जिनकी दृष्टिमें स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान हैं, जो सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते रहते हैं, जो मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के ही सच्चे सेवक हैं और जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत जिनका एकमात्र भगवान्‌में ही स्वाभाविक निष्काम प्रेम है, ऐसे मनुष्योंके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

यों तो भगवान् सब जगह समानभावसे व्यापक हैं ही, किंतु जिनके हृदयका भाव उपर्युक्त प्रकारसे उत्तमोत्तम सद्गुण और भगवत्प्रेमसे युक्त है, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे विराजमान हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें भगवान् अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हैं, इसलिये उनका सबमें समभाव है और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित हैं तथापि भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी अनन्य भक्तिके कारण ही होता है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि—स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता तथापि उसमें विषमता नहीं है; वैसे ही भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे विराजमान होनेपर भी भगवान्‌में विषमता नहीं है।

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है, जो क्षमाशील हैं, अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिये हैं, जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता, जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होकर परम शुद्ध हो गया है, जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं, जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं, जिनमें कर्मोंके कर्त्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभ हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है, वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें मिट्टी-स्वर्णमें समान भाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समभ रहता है, जो भगवान्‌के विधानमें हर समय सं घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं, जिनकी स्थिर है और जो परमात्माके ज्ञानमें ही नित्य स्थि ऐसे भक्तिसंयुक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न भगवान्‌के भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रि को उत्तम-से-उत्तम बनावें। वास्तवमें भाव उत्तम क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने ल उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं। अ लोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्ति सब प्रकारसे ईश्वरकी शरण होकर निष्काम प्रेम ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोगवासना, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त होकर परम कल्याणकारक विवेक और वै सद्गुण-सदाचार स्वतः ही आ जाते हैं।

सच और झूठ

(रचयिता—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

पग-पग भयसे पद-दलित,
'झूठ' बिचारा हाय।
'सच' बैठा भय-शीश पै,
निर्भय बीन बजाय॥

जीवनका लक्ष्य

तत्व-चिन्तन निरन्तर करना,
मन उन्नत भावों से भरना।
लक्ष्य जीवनका बस यही है—
किसी तरह तम-सागर तरना।

विश्व-वशीकरण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका कहना है कि मधुर वचनसे सर्वत्र सभीको सुख मिलता है, यह प्रत्यक्ष ही वशीकरण-मन्त्र है। अतएव कटुवचन छोड़ देना चाहिये।

तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन यह मंत्र है परिहरु बचन कठोर॥

श्रीवाराहमिहिराचार्यने अपनी बृहत्संहितामें कहा है कि प्रियभाषी मनुष्य अभिमानियोंसे भी अपना कार्य बड़ी सुगमतापूर्वक करा लेता है, यद्यपि अहंकारीका वशीकरण अन्य किसी प्रकारसे होना दुष्कर ही है—

कृच्छ्रेण संसाधयतेऽभिमानी
कार्याण्यथाल्पेन वदन् प्रियाणि।
(बृहत्सं० ७५। ६)

भावुकोंका आक्षेप

इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि मधुर भाषण धूर्तोंका कार्य है। वे ही चाटुकारितासे अपना कार्य सिद्ध कर पीछे विश्वासघाततक कर बैठते हैं। इसलिये 'मीठी बोली गाबाजकी निशानी' समझनी चाहिये। (कुलटा) स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध ही है कि उनकी बोली अमृत-जैसी पर उनका हृदय छुरेकी धार-जैसा होता है—

सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्[1]॥

(श्रीमद्भा० माहा० ५। १५; श्रीमद्भा० ६। १८। ४१; ।१४। ३७)

इसी प्रकार दुष्टोंके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है कि वे मोरके समान मीठा बोलते हैं, पर पीछे अपना काम साधनेके लिये प्राणतक लेनेमें नहीं हिचकते—

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥
पर दायक खल की प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥

दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥
(हितोपदेश विग्र० २३)

इसलिये खरे संतोंकी पहचान ही यह है कि वे ऊपरसे कठोर ही बोलते हैं, पर उनका हृदय गरी-जैसा कोमल होता है, परिणाम बड़ा मधुर निकलता है—

नारिकेलफलाकारा दृश्यन्ते सज्जना जनाः।

बचन परम हित सुनत कठोरे। कहहिं सुनहिं ते नर जग थोरे॥

अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।
(वाल्मीकि० युद्धकांड)

अन्यथा दुष्ट चाटुकारोंकी दुनियामें क्या कमी है, वे तो सर्वत्र सुलभ हैं ही—

प्रिय बानी जे कहहिं जे सुनहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।
(वाल्मीकि० युद्धकांड०)

उचित मार्ग कौन ?

पर मनु आदि स्मृतिकारोंने स्पष्ट ही सत्य तथा प्रिय बोलनेकी सम्मति दी है। कटु सत्य—कानेको काना कहनेकी मनाही भी की है—

'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'
(४। १।३८)

साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि साधुका कटु-भाषण ही धर्म है या साधु केवल नारियल-जैसा ही हो सकता है या मधुर उपदेश हितावह हो ही नहीं सकता या हितकर बात कठोर होगी ही; क्योंकि 'सुनत मधुर परिनाम हित'में स्वयं तुलसीदासजीने ही मधुर हितावह बात कैकेयीको विप्र-पत्नियोंसे कहलायी है। और—

'परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं'

—यह साधुका लक्षण भी उन्होंने स्पष्ट ही बतलाया है। अतएव कटुभाषण तो साधुका लक्षण कभी नहीं हो सकता।

अधिक क्या, कटुभाषणको तो कहीं-कहीं सबसे भयानक पाप बतलाया गया है। 'श्रीमद्भागवत'में भिक्षुकाख्यानके

---

१. शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा० ६। १८। ४१)

प्रसङ्गमें बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि मर्मभेदी बाणोंसे भी हृदयको उतना ताप नहीं होता, जितना कठोर वचनरूपी तीखे बाणोंसे होता है—

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥
(११ । २३ । ३)

उत्तररामचरितकार भवभूतिके शब्दोंमें उन्मत्त एवं प्रमत्तकी तीखी वाणीको राक्षसी वाणी कहा गया है और उसे सभी वैरों, कलहों तथा अनर्थोंकी जड़ कहा गया है—

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥
(५ । ३०)

विदुरने भी धृतराष्ट्रको समझाते हुए कहा था कि जिन वाग्बाणोंसे व्यथित प्राणी रात-दिन व्याकुल रहता है, ऐसी वाणीको पण्डित कभी भी दूसरेपर प्रयोग न करे—

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥
(उद्योग० ३४ । ८०; अनुशा० १०३ । ३२)

भीष्मने भी राजधर्मोंको समझाते हुए युधिष्ठिरसे कहा था कि जिससे दूसरोंको क्लेश, उद्वेग पहुँचे ऐसी रूखी बात पापलोक—घोर नरकमें ले जानेवाली है, उसे कभी भी राजा मुँहसे न निकाले—

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुशतीं पापलोक्याम् ॥
(अनु० १०४ । ३१)

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन पुनः अङ्कुरित हो जाता है, पर दुर्वचनरूपी शस्त्रसे किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥
(अनु० ३३)

कर्णि, नालीक और नाराच—ये यदि शरीरमें लग जायँ तो निकाले जा सकते हैं, किंतु कटुवचनरूपी भयंकर बाण निकाला जाना असम्भव है। वह तो सदा हृदयमें रहता है—

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥
(महा० अनु० १०४ ।)

इसलिये अंधे, काने, छाँगुर, निपढ़, निन्दित, कुरूप धर्महीन मनुष्योंको वैसा कहकर खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिये—(३५) ।

अन्यत्र भी कहा गया है कि जो मनुष्य मर्मको छेदनेवाली, कठोर और रूखी वाणी बोलता है और जैसे वचनोंसे मनुष्योंको दुःख पहुँचाता है, उसे अमङ्गलयुक्त तथा मृत्युको ही मुँहमें धारण करने समझना चाहिये। रूखे और तीखे वचन मनुष्योंके अस्थि, हृदय और प्राणोंको जला देते हैं, अतएव पुरुषको तीखी एवं रूखी वाणीका सदा-सर्वदा त्याग चाहिये—

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम् ।
तस्माद् वाचमुषतीमुग्ररूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥
(कुन्द)

जो यह कहा जाता है कि सच्चे साधु-महात्मा कटु ही बोलते हैं, सो भी ठीक नहीं। बाहर-भीतरसे पवित्र तथा अत्यन्त मृदु होना ही वास्तविक साधुता है, साधुपुरुष कभी भी उद्वेजक वेदविरोधी मार्ग भला कैसे कह सकता है? उसके मुँहसे तो भगवन्नाम-यश तथा सदुपदेश सूक्ति-सुधाकी ही वर्षा होती है—कुटिल, तीक्ष्ण, मर्मभेदी विषैले बाण तो दुष्टोंके ही मुँहसे निकल सकते हैं। कवियोंकी ही सूक्ति है—

कुटिल बचन सबसे बुरा, जारि करै तन छार ।
साधु बचन जल रूप है बरसे अमृत धार ॥

दुर्जनको मुँह बिवर है निकसत बचन भुजंग।
ताकी औषध मौन है डसै न एको अंग॥
(तुलसीदास)

मनमें रहना भेद न कहना बोलिबा अमृत बानी।
आगिला अगनी होइबा अवधू तो आपन होइबा पानी[1]॥
(गोरखनाथ)

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो साधुओंके लिये स्पष्ट लिखा है कि वे शम-दमकी नीतिसे नहीं विचलित होते और न कभी भूलकर परुष वचन ही बोलते हैं—

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

उलटे वे सभीको बड़े आदर-मानसे सत्कृत करते हैं—

'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'

मृदुभाषण और राजनीति

राजाके लक्षणोंमें मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, कामन्दक, कौटल्य, राम, भीष्म—सभीने 'नम्रता, अक्रूरता तथा मधुर भाषण'का समावेश किया है। अधिक क्या, नीतिके चार चरणोंमें प्रथम 'साम' ही है और वह 'साम' चार प्रकारका होता है और उन चारोंमें 'मृदु पूर्वभाषण' अनुस्यूत है। कटुवचनकी कटु निन्दा सभी राजनीतिज्ञोंने की है—'अग्निपुराणमें श्रीरामका कहना है कि वाक्पारुष्य महान् अनर्थकर तथा लोकोद्वेजक होता है, इससे सारे प्राणी शत्रु बन जाते हैं—

वाक्पारुष्यं परं लोके उद्वेजनमनर्थकम्।
भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम्।
विरुद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते॥
(अग्निपुराण २४१। ३६-३८)

शुक्रका कहना है कि राजाको चाहिये कि मनोहर वाणीसे वह सदा संसारको प्रसन्न रक्खे। अन्यथा, कटुवाणीसे तो कोई कुबेरके समान भी राजा क्यों न हो, वह प्राणियोंको कम्पित कर डालता है। अतएव किसी भी अवस्थामें राजा इसे कटु शब्द न निकाले—

नित्यं मनोऽपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत्।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग् धनदोऽपि सन्।
पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत्॥
(शुक्रनीति १। १६५-६६)

सज्जन, स्वजन एवं शत्रुओंसे भी जो सर्वदा शिष्ट एवं प्रियभाषण करता है, वह सबको प्रिय होता है—विद्वान्की वाणी तो हंस, कोकिल और मोरसे भी मनोहर होती है—

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः।
हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम्॥
(शुक्रनीति १। १६८)

जो लोग सर्वदा मधुर बोलते हैं और स्वजनोंका सत्कार करते हैं, वे वन्द्यचरित्र स्वनामधन्य पुरुष मनुष्यके वेशमें साक्षात् देवता ही हैं—

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः॥
(शुक्रनीति १। १६९)

सभी जीवोंपर दया, प्राणियोंसे मित्रता, दान तथा मधुर भाषण—इन चारोंसे बढ़कर कोई वशीकरण इस विश्वमें नहीं है—

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥
(शुक्रनीति सा० १। १७०)

'कामन्दक'का कहना है कि प्रिय बोलना, सत्य बोलना, दया करना, दान देना, दीनोंकी रक्षा करना, सत्पुरुषोंकी सङ्गति करना तथा सच्चरित्र होना—ये सात सत्पुरुषोंके व्रत हैं। अतएव राजाको चाहिये कि वह विश्वको वश करनेके लिये सभीसे बिना कुछ खर्चके प्रसन्न करनेवाली प्रिय वाणीका प्रयोग करे—। इतना कहकर ये पूर्वोद्धृत शुक्रके सभी वचनोंको लिख जाते हैं और फिर अन्तमें कहते हैं कि 'कहाँ तो राजवर्ग और कहाँ प्रजाका संग्रह; पर मधुर वचनमें कुछ ऐसा ही वशीकरण है कि उसके योगसे प्रजा वशमें आ जाती है और वह मर्यादासे एक डग भी विचलित नहीं होती—

क्व च नरपतिवर्गः संग्रहः क्व प्रजानां
मधुरवचनयोगाल्लोकमाह्लादयीत।
मधुरवचनपाशैरानतो लालितः सन्
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति॥
(कामन्दकीय नीतिसार ३। ३९)

[1] बराबर स्वरूपावस्थितिमें रहना चाहिये, अपना अनुभव सभीको नहीं बताना चाहिये, अमृत वाणी बोलनी चाहिये। मनेका मनुष्य यदि आगबबूला हो जाय तो साधकको पानीके समान नम्र हो जाना चाहिये।

मृदुभाषणसे पुण्य

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके तृतीयखण्डका सम्पूर्ण २९४ वाँ अध्याय ही प्रियभाषण—प्रियंवद-प्रशंसात्मक है और उसके अन्तमें कहा गया है कि प्रियवादियोंको यहाँ भी सुख मिलता है और मरनेपर वे स्वर्गमें जाते हैं। प्रियंवदोंको सब कुछ मिल जाता है, इसलिये सदा मधुर प्रिय-भाषी होना चाहिये—

प्रियंवदाः सौख्यमिहाप्नुवन्ति
प्रियंवदा नाकमथ प्रयान्ति।
प्रियंवदाः सर्वमथाप्नुवन्ति
प्रियंवदः स्यादत एव नित्यम्॥
(श्रीविष्णुधर्म० ३। २९४। ७)

इसी प्रकार भविष्यपुराण ब्राह्मपर्वका कहना है कि मनुष्यके हृदयको न तो शीतल जल ही इतना आह्लादित कर सकता है और न चन्दन अथवा शीतल छाया ही, जितना उसे मधुरभाषिणी वाणी आह्लादित करती है (अतएव सत्य मृदुभाषणका पुण्य कहना कठिन है)—

न तथा शीतलसलिलं
न चन्दनरसो न शीतला छाया।
आह्लादयति च पुरुषं यथा
मधुरभाषिणी वाणी॥
(भविष्य, ब्राह्मपर्व, ७३। ४८)

मङ्गलजनक और वशीकरण

ऊपर हम शुक्रके 'न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते' इन शब्दोंमें मधुरभाषणको तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम वशीकरण कह आये हैं। 'श्रीविष्णुधर्म'में हंसरूपी भगवान्‌ने भी यही उपदेश किया है—

प्रियवाक्यात् परं लोके नास्ति संवननं परम्।
(३। २९४। ६)

वहीं यह भी कहा गया है कि यह सारा संसार ही प्रियवादियोंके वशीभूत हो जाता है—

प्रियंवदानां सकलं जगदेतत् स्थितं वशे।
(३। २९४

उत्तररामचरितमें कहा गया है कि सुनृतवाणी है, वह सारे कामनाओंको पूर्ण कर डालती है, दरिद्र कुरूपताको दूर कर डालती है। वह यश बढ़ाती तथा शमन करती है, धीर पुरुषोंने इस मङ्गलमयी समस्त मङ्गलोंकी माता-जननी-प्रसविनी कहा है—

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्त्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥
(उत्तरराम० अंक ५।

उपसंहार

वास्तवमें कटुवचन बोलना, चुगली करना, असत अंट-संट बोलना—ये चार प्रकारके वाचिक पाप कहे गये

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
(काशीखं० २७।

साथ ही कटुवादन क्रोधका ही परिणाम अथवा लक्ष और क्रोधको पापका मूल ही कहा गया है। अतएव अवश्य बचना चाहिये। गीतामें भक्तसाधुके लक्षणोंमें—

'यस्मान्नोद्विजते लोको'
(१२।

'जिससे लोक जरा भी उद्विग्न न हो' ऐसा कहा गया ऐसी दशामें साधकको भूलकर भी स्पष्टवादिताके कटुभाषणको प्रश्रय न देना चाहिये। भगवान्‌की वाणीका भगवन्नाम-यश गाने तथा सभी जीवोंको भगवत्‌रूप मानकर उनके सम्मानमें ही उपयोग करना चाहिये तभी उसकी सफलता है।

श्रीकृष्णका मित्र-वात्सल्य

सखा द्वार आये या कि जीवन-अधार आये द्वारका-धनीने दौड़ उरसे लगाया है।
दीनता अगाध देख निज-अपराध मान करुणा-निधानके दृगोंमें जल छाया है॥
रंक मित्र मेरा हो कलंक है असह्य यह वेर नहीं क्षणमें कुबेर-सा बनाया है।
चाह भर चावलोंको चावसे चबाया या कि द्विजकी दरिद्रताको दाँतोंमें दबाया है॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

मुख्यपात्र, स्थान, समय

मुख्यपात्र [नाटकमें प्रवेशके अनुसार]

(१) इल्लम्मागारू—श्रीवल्लभाचार्यकी माता ।
(२) लक्ष्मणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके पिता ।
(३) श्रीवल्लभाचार्य—नाटकके नायक ।
(४) नारायणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके गुरु ।
(५) विद्यातीर्थ—विजयनगरके स्मार्तोंके नेता ।
(६) व्यासतीर्थ—विजयनगरके वैष्णवोंके नेता ।
(७) कृष्णदेवराया—विजयनगरके राजा ।
(८) बिल्वमंगलाचार्य—विष्णुस्वामी सम्प्रदायके आचार्य ।
(९) श्रीगोवर्धननाथजीका स्वरूप ।
(१०) कृष्णदास मेघन
(११) वासुदेवदास छकड़ा
(१२) माधोभट्ट काश्मीरी
(१३) दामोदरदास हरसानी
(१४) जादवेन्द्रदास कुम्हार
} श्रीवल्लभाचार्यके साथ रहनेवाले शिष्य ।
(१५) सद्दू पाण्डे—जिन्हें श्रीनाथजीके सबसे पहले दर्शन हुए ।
(१६) कुम्भनदास—श्रीनाथजीके पहले कीर्तनियाँ तथा अष्टछापके एक कवि ।
(१७) सूरदास—अष्टछापके कवि ।
(१८) परमानन्ददास— ,,
(१९) कृष्णदास— ,,
(२०) अक्काजी—(महालक्ष्मी) श्रीवल्लभाचार्यकी पत्नी ।
(२१) रजो—एक वैष्णव, जो अक्काजीके संग रहती थी ।
(२२) विट्ठलनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके छोटे पुत्र ।
(२३) श्रीगोपीनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठ पुत्र ।
(२४) जगन्नाथपुरीके राजा—
(२५) पुरोहित श्रीकृष्णगुच्छीकार—जगन्नाथपुरीके राजाके पुरोहित ।
(२६) श्रीचैतन्य महाप्रभु—(बंगालके महापुरुष)
(२७) रूप—श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य ।
(२८) सनातन— ,,
(२९) जीवगोस्वामी— ,,

स्थान—चम्पारण्य, काशी, विजयनगर, झारखण्ड, गोवर्धनपर्वत, गोकुल, अड़ेल, जगन्नाथपुरी, वृन्दावन ।

समय—विक्रमीय संवत् १५३५ से १५८७ तक ।

उपक्रम

स्थान—चम्पारण्य

समय—प्रातःकाल

[घना जंगल दिखायी पड़ता है । जंगलमें चम्पाके वृक्षोंकी बहुतायत है, जो सीधे ऊपरको चले गये हैं । एक वृक्षके नीचे एक नवजात शिशु लेटा हुआ अपने पैरके अँगूठेको पी रहा है । शिशुका वर्ण मेघके सदृश श्याम है । शिशु अत्यन्त सुन्दर है । सिरपर बड़े-बड़े लहराते हुए बाल हैं और सबसे अधिक आकर्षक हैं शिशुके विशाल लोचन । शिशुके चारों ओर परंतु उससे कुछ दूर आग लगी हुई है, जिससे जान पड़ता है कि शिशु एक अग्नि-कुण्डके मध्यमें है ।]

[लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारूका प्रवेश । लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारू दोनों ही प्रौढ़ अवस्थाके हैं । भट्टजी कुछ साँवले वर्णके और इल्लम्मागारू गेहुँए वर्णकी । दोनों न बहुत ऊँचे हैं और ठिगने, न बहुत दुबले और न मोटे । भट्टजीके सिरपर चौड़ी शिखा है और मुखपर मूँछें। शिखा और मूँछोंके केश श्वेत हो चले हैं। वे श्वेत धोती धारण किये हुए हैं, ऊपरके शरीरपर श्वेत उत्तरीय है। ललाटपर तिलक लगा हुआ है । इल्लम्मागारू रंगीन साड़ी और चोली पहने हैं। उनके ललाटपर टिकली है । इल्लम्मागारू और लक्ष्मणभट्टकी दृष्टि एकाएक शिशुपर पड़ती है ।]

इल्लम्मागारू—हैं···हैं···यह···यह क्या !·····

लक्ष्मणभट्ट—(बीचमें ही) यहीं तो तुमने कल रात्रिको पुत्र प्रसव किया था ।

इल्लम्मागारू—पर···पर, वह···वह तो अठमासा होनेके कारण मृत था ।

लक्ष्मणभट्ट—मृत था, तुम निश्चयपूर्वक कह सकती हो !

इल्लम्मागारू—जहाँतक मेरा अनुमान है ।

लक्ष्मणभट्ट—ऐसा तो नहीं है कि रात्रिके अन्धकारके कारण तुम्हें वह मृत जान पड़ा हो ?

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) हो सकता है, क्योंकि आपके पूर्वज जो सोमयज्ञ करते आ रहे थे, आपके द्वारा उनके शतककी पूर्त्ति हुई। भगवान्‌ने आपको स्वप्न दिया कि वे मेरे इस गर्भमें प्रविष्ट हो अवतार धारण करनेवाले हैं। कल रात्रिको जब अठमासा पुत्र हुआ, मेरा हृदय खेदसे भर गया। सौ सोमयज्ञकी पूर्त्तिपर जो वरदान आपको मिला था, उसका यह कैसा परिणाम—बार-बार मेरे मनमें उठने लगा। पर भगवत्-गतिका कौन पार पा सकता है—यह सोचकर मैं चुप रही।

लक्ष्मणभट्ट—परंतु तुम्हारे प्रसव और मृत पुत्रकी उत्पत्तिपर भी न जाने क्यों मेरे चित्तमें खिन्नता न आयी थी, वरं प्रातःकाल होते-होते तो न जाने किस प्रकारके एक विलक्षण उत्साहसे मेरा मन भर गया था।

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) थोड़ी देरकी खिन्नताके पश्चात् वह तो मेरे मनकी भी दशा हुई थी, (कुछ रुककर) तो···तो मेरा वही···वही पुत्र तो यह नहीं है, जिसे मैंने मृत मान लिया था ?

लक्ष्मणभट्ट—परंतु कहीं तुम किसी दूसरेके पुत्रको तो अपना पुत्र नहीं मान रही हो ?

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) यदि, ऐसा···ऐसा होता तो माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति जो अलौकिक स्नेह रहता है, वह इसे देखते ही मेरे मनमें न उमड़ता।

लक्ष्मणभट्ट—इसकी तो परीक्षा हो सकती है।

इल्लम्मागारू—कैसे ?

लक्ष्मणभट्ट—शिशुके चारों ओर अग्नि लगी हुई है, बढ़ो आगे, यदि हमारा पुत्र होगा तो अग्नि तुम्हें मार्ग दे देगी।

इल्लम्मागारू—इस अग्निको तो, मेरे स्तनोंसे जो दूध झरने लगा है, उसकी धाराएँ ही बुझा देंगी।

[इल्लम्मागारू शिशुकी ओर आगे बढ़ती हैं। उनके स्तनोंसे सचमुच ही दूधकी धाराएँ निकलने लगती हैं, जिसके कारण अग्निका इतना भाग बुझ जाता है, जिससे वे शिशुके निकट पहुँच सकें। नेपथ्यसे गीतकी ध्वनि आती है।]

आजु बधाई मंगलाचार।
गावत मंगल गान जुवति-जन
बसन साज सिंगार॥
मंगल कनक कलस सुभ मंगल
बाँधी बंदनवार।
मंगल मोतिन चौक पुराये
पंच सब्द गृह द्वार॥
घरघर मंगल महा महोच्छव
श्रीवल्लभ अवतार।
हर जीवन प्रभु महापुरुष श्रीलक्ष्मण
भूप कुमार॥

(यवनिका)

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—काशीमें एक गुरुकुलके सामनेका मैदान।

समय—संध्या।

[पीछेकी ओर गुरुकुलके भवनके बाहरी भागका कुछ हि दिखायी देता है। मैदानमें आमके वृक्षोंका बाहुल्य है, जो बल कारण मौरोंसे लदे हुए हैं। इन वृक्षोंकी वजहसे यह मैदान सुन्दर अमराई बन गया है। मैदानमें वल्लभ अपने सहपाठि साथ बैठे हुए हैं। वल्लभकी अवस्था ग्यारह वर्षकी है। सं रंगके होनेपर भी वे अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वेष ब्रह्मचारि है। बढ़े हुए केश, ऊपरका शरीर खुला हुआ, नीचेके शरी मूँजकी मेखलामें कौपीन, एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्ड उनके सहपाठी उनकी अवस्थासे बहुत अधिक अवस्थाके हैं। इ अवस्था १८ वर्षसे २३ वर्षके बीचमें है। कोई गौर, कोई और कोई श्यामवर्णके। वेश-भूषा वल्लभके सदृश।]

एक विद्यार्थी—तो·····तो, वल्लभ ! तुम इस गुरुकु कल·····कल प्रातःकाल सदाके लिये छोड़ दोगे ?

दूसरा—छोड़ न देंगे तो अब ये यहाँ करेंगे ही क्या !

तीसरा—हाँ, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद, ब्राह्म वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पु सबमें पारंगत हो गये।

चौथा—जो इनके पूर्व आये हुए हममेंसे एक भी न पाया।

पाँचवाँ—यह कैसे·····कैसे हुआ, वल्लभ ?

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–यह तो मैं नहीं जानता कि कैसे हुआ ! पर हुआ अवश्य है ।

पहला–आश्चर्य ! महान् आश्चर्यकी बात हुई है ।

तीसरा–हाँ, इस अवस्थामें इस प्रकार समस्त वेद-विद्यामें पारंगत होना आश्चर्यकी बात नहीं तो और क्या है ? इसीलिये तो हमलोग तुम्हें बाल-सरस्वती, वाक्पति, वैश्वानरावतार आदि सम्बोधनोंसे सम्बोधित करते रहते हैं ।

चौथा–हाँ, ऐसी प्रतिभा तो आश्चर्यकी बात ही है ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

वल्लभ–कुछ आश्चर्यकी बात हो सकती है, पर महान् आश्चर्यकी बात तो मैं इसे नहीं मानता ।

दूसरा–यह कैसे ?

वल्लभ–अभी-अभी सुननेमें नहीं आया कि अमुक बालक बोलना आरम्भ करते ही कुछ श्लोक भी बोलने लगा, अमुक बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्गीता कण्ठस्थ हो गयी ।

पाँचवाँ–कभी-कभी ऐसी बातकी भनक कानमें अवश्य पड़ती है । पर यह होता कैसे है ?

चौथा–हममेंसे कोई भी तुमसे कम परिश्रम नहीं करता, तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक समयसे यहाँ पढ़ रहे हैं ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ ।

चौथा–पर, तुमने जितना सीख लिया उसका शतांश भी हम न सीख पाये ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ शतांश भी नहीं ।

पाँचवाँ–बताओ न, यह कैसे हुआ ? जिस बालकके मुखसे बोलना आरम्भ करते ही श्लोक निकलने लगे, जिस बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्-गीता कण्ठस्थ हो गयी, वह भी कैसे हुआ ?

कुछ विद्यार्थी–हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–मैं भी नहीं कह सकता कि इस सबका क्या रहस्य है, पर हुआ यह अवश्य । पूर्वजन्मके संस्कार और भगवत्-कृपा ही कदाचित् इसके कारण हों ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

पहला–तो·····तो बालसरस्वती, वाक्पति, वैश्वानर·····;

वल्लभ–(मुसकराकर) और भी अनेक सम्बोधन बना डालो न !

तीसरा–जितने भी ऐसे सम्बोधन बनाये जा सकते हैं, बनाना ही चाहिये ।

पहला–मैं कह रहा था वल्लभ ! कल तुम चले अवश्य जाओगे ।

दूसरा–मैंने कहा न, कि अब ये यहाँ रहकर क्या करेंगे !

चौथा–और·····और कितना सूना हो जायगा यह गुरुकुल ऐसी महान् और दैवी प्रतिभाको खोकर !

तीसरा–और·····और कैसे नीरस हो जायँगे हम सबके जीवन भी वल्लभके बिना ?

वल्लभ–मित्रो ! यह सारा जगत्-जीवन यथार्थमें नदी-नाव संयोग ही है, पर यथार्थमें देखा जाय तो न किसीका संयोग होता और न वियोग । तुम जानते हो मैंने वेद-विद्याको तोतेके सदृश रटा नहीं है; उसे समझा भी है ।

पहला–इसमें भी कोई संदेह है ?

दूसरा–यदि समझा न होता तो हम सबको इस प्रकार समझा सकते थे !

वल्लभ–देखो, मित्रो ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ, तुम वही हो जो मैं और मैं वही हूँ जो तुम । और यह समस्त सृष्टि वही है जो तुम और मैं । अर्थात्—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । कहो तो !

सब विद्यार्थी–(एक साथ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ।

पहला–पर कहनेसे क्या होता है ?

दूसरा–और समझनेसे भी क्या होता है ?

तीसरा–हाँ, अनुभव होना चाहिये ।

वल्लभ–कहते-कहते समझते-समझते अनुभव भी होने लगेगा ।

चौथा–तुम्हें होता है ?

वल्लभ–निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, पर·····पर कदाचित्·····(चुप हो जाते हैं) ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) होता है, होता है ।

वल्लभ–अच्छा, समझनेका यत्न करो । मैंने कहा न ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है । पर कोई भी एकाकी खेल नहीं खेल सकता । उसके लिये दूसरेकी

आवश्यकता रहती है, इसलिये भगवान्‌ने अपनी लीलाके निमित्त अनेक रूप धारण किये। परंतु जैसे कुण्डलाकार बना सर्प दण्डाकृतिको लेकर भी विकारयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करके भी विकारी नहीं है।

पहला—पूरा समझमें नहीं आया।

वल्लभ—कुछ उपमाएँ और लो! स्वर्णके भूषण बनाये जानेपर भी स्वर्ण स्वर्ण रहता है, मृत्तिकाके पात्र बनाये जानेपर भी मृत्तिका मृत्तिका रहती है, जलमें ऊर्मियाँ उठनेपर भी जल जल रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म ही रहता है।

तीसरा—अब समझमें आया, पर अनुभव नहीं होता।

वल्लभ—यह ब्रह्म चैतन्य है, निराकार होनेपर भी उत्पत्ति-पक्षकी दृष्टिसे इच्छाद्वारा साकार हो जाता है। जीव इसका एक अंश है। माया भी उससे पृथक् नहीं। खेल खेलनेके लिये जिस प्रकार एकसे अनेककी आवश्यकता होती है, उसी तरह मायाकी। अतः मैं श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावाद और इस कथनको कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को नहीं मानता। जगत् ब्रह्मका ही रूप होनेसे मैं जगत्‌को भी सत्य मानता हूँ और इसीलिये मेरा वाद है—'ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत'।

पहला—तो तुम कोई नया वाद चलानेवाले हो?

वल्लभ—मैं नहीं जानता। तुम मित्रोंके सामने जो अनुभव करता हूँ, वह रख रहा हूँ।

दूसरा—और जो हमारे सामने रख रहे हो, वही सारे संसारके सामने भी रखोगे?

वल्लभ—हो सकता है।

[नारायणभट्टका प्रवेश। नारायणभट्ट लगभग ६४ वर्षकी अवस्थाके हैं। वर्ण गेहुँआ, कद ऊँचा, शरीर दुबला, श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। नारायणभट्टको देख वल्लभ और सब विद्यार्थी खड़े हो जाते हैं।]

नारायणभट्ट—तो···तो, वल्लभ! तुम कल प्रातःकाल ही अब इस गुरुकुलको सूना कर रहे हो?

वल्लभ—(सिर झुकाकर) क्या कहूँ, गुरुदेव!

नारायणभट्ट—और आज तुमने मुझे कही थी गुरु-दक्षिणाकी बात?

वल्लभ—यह तो हमारी संस्कृतिकी परम्परा है।

नारायणभट्ट—दोगे मुझे गुरुदक्षिणा?

वल्लभ—यदि मेरे सामर्थ्यकी बात होगी!

नारायणभट्ट—तो, यही···यही गुरुदक्षिण माँगता हूँ मुझे गुरुके नामसे प्रसिद्ध न करना। तुम्हारे सच्चे गु वेदव्यास और तुम इस कालके होगे जगद्गुरु।

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय—तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर मन्दिरका शिखर दिखायी देता है। तीन मन्दिरकी दालानका कुछ हिस्सा और बीचमें आँगन। इस बिछावनके ऊपर काशीके अनेक पण्डित बैठे हुए हैं, इनकी अव भिन्न-भिन्न हैं, परंतु इनमें प्रौढ़ और वयोवृद्ध अधिक हैं, युवा के तो बहुत कम। कोई गौर वर्णके, कोई गेहुँए और कोई कोई मोटे, कोई दुबले और कोई न मोटे न दुबले। कोई ऊँचे, ठिगने और कोई न ऊँचे न ठिगने। वेशभूषा भी अनेक प्र है। धोती तो सभी पहने हैं, पर किसीका ऊपरका अंग खु कोई ऊपरके अंगपर भिन्न-भिन्न रंगके उत्तरीय डाले हैं और ऊपरके अंगमें अँगरखा पहने हैं। सिर किसीका खुला है, कि चौड़ी शिखा है और कोई-कोई सिरपर पगड़ी बाँधे हैं। अधिकांश त्रिपुण्ड्र लगाये हैं, किसी-किसीके ललाटपर सिन्दूरकी भी लगी है। सब मिलकर दाहिने हाथको हिला-हिलाकर कर रहे हैं।]

ॐ द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। दृतुभिरिष्यत। (यजु० २६।

सविता त्वा सवानाᳬ सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬ वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशु मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। (यजु० ९।

न तद्रक्षाᳬसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथम ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणᳬ हिरण्यᳬ स देवेषु कृणुते मायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। (यजु० ३४।

उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद्भूम्याददे। उग्रᳬ महि श्रवः। (यजु० २६।

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवां इयक्षते।

(यजु० ३३।

एक पण्डित–(वेदपाठ पूर्ण होनेपर) मैंने कहा था न कि वह वल्लभ वेदपाठमें सम्मिलित होनेको कदापि न आयगा।

दूसरा–आपका अनुमान सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ।

पहला–अनुमानका आधार था न, बन्धु !

तीसरा–कैसा ?

पहला–मैं जानता हूँ कि वह चाहे कितनी ही डींग क्यों न हाँके और चाहे उसके समर्थक उसको ऊँचा उठानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, वह वेद पढ़ा ही नहीं है। वेदकी एक ऋचाका भी स्वरमें वह शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।

चौथा–ऐसा ?

पहला–निश्चित बात है। अन्यथा आता नहीं।

पाँचवाँ–ठीक तो है। काशी जो संस्कृतविद्याका केन्द्र है, उसमें भी जब सद्गुरु बारह वर्षतक घुटवाते हैं तब कहीं विद्यार्थी एक संहितामें पारङ्गत होता है और यह वल्लभ ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण—सबमें पारङ्गत हो गया ?

कुछ पण्डित–(एक साथ) हो नहीं सकता, हो नहीं सकता।

पहला–मुझे तो आश्चर्य होता है, उस नारायणभट्टपर !

दूसरा–हाँ, कैसे कह दिया उसने कि वल्लभ समस्त वेद-विद्यामें निपुण हो गया है।

पहला–और फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही उसने अपना नया वाद निकाला है !

छठा–(अट्टहासकर) ब्रह्मवाद !

सातवाँ–शुद्धाद्वैत !

पहला–नाम तो बड़े आकर्षक हैं ! ब्रह्मवाद—शुद्धाद्वैत !

आठवाँ–ग्यारह वर्षकी अवस्थामें विद्याध्ययन पूर्ण करते ही यह वाद निकाल काशी और आस-पास घूम-घूमकर वह अपना और अपने वादका प्रचार कर रहा है।

नवाँ–और धृष्टता तो देखो ! जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादका खण्डन कर अपने ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तका मण्डन कर रहा है।

दसवाँ–परंतु, यह कहना कि उसके कथनमें तथ्य ही नहीं है, कदाचित् उनके साथ अन्याय करना होगा।

पहला–अच्छा ! कम-से-कम यहाँ भी उसका एक समर्थक तो निकल आया।

दसवाँ–इस मण्डलीमें उनका चाहे मैं एक ही समर्थक क्यों न होऊँ, पर काशी और काशीके आस-पास उनके बहुत-से समर्थक हैं।

पहला–काशी और काशीके आस-पास क्या सब विद्वान् ही रहते हैं, मूर्ख नहीं ?

दूसरा–हाँ, समर्थक तो हरेकको मिल ही जाते हैं, क्योंकि संसारमें कहीं मूर्खोंकी कमी नहीं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्य।

[वल्लभका प्रवेश। उनके आनेपर केवल दसवाँ पण्डित खड़ा होकर उनका स्वागत करता है, शेष सब लोग बैठे रहते हैं। वल्लभ हाथ जोड़ सिर झुका समस्त पण्डितोंका अभिवादन करते हैं।]

पहला–पधारिये, श्रीमद्वल्लभाचार्य ! मायावादका खण्डन कर ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतके प्रवर्तक !

[पण्डितोंका अट्टहास]

वल्लभ–विद्वद्वर ! कुछ विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। (बैठ जाते हैं।)

पहला–विलम्बसे तुम जान-बूझकर आये हो !

वल्लभ–जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ·····अर्थात् !

पहला–जान-बूझकर विलम्बसे आनेका अर्थ तो जान-बूझकर विलम्बसे आना ही होता है। क्या इतने सरल शब्द भी समझमें नहीं आते ? इतने सरल शब्दोंका अर्थ करनेकी और इतने सीधे वाक्यका अन्वय करनेकी भी आवश्यकता है ?

[पण्डितोंका पुनः अट्टहास]

वल्लभ–मैंने, अर्थात् शब्दका उपयोग शब्दोंके अर्थ और वाक्यके अन्वयके लिये नहीं किया था।

पहला–तब ?

वल्लभ–आपने यह कहा था कि मैं जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ, इसलिये मैंने अर्थात् शब्दका उपयोग किया।

पहला–जान-बूझकर तो विलम्बसे आये ही हो, क्योंकि

चार वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, स्मृतियों और इतिहास, पुराण, शास्त्रोंमें पारङ्गत होनेकी डींग मारनेवाला जब वेदकी एक ऋचा भी स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेमें समर्थ न हो तो वेदपाठके अवसरपर ठीक समयमें कैसे उपस्थित हो सकता है ?

कुछ पण्डित—(एक साथ) अवश्यमेव, अवश्यमेव ।

वल्लभ—(सभी पण्डितोंकी ओर देखते हुए) विद्वद्वर ! मैं आपकी सेवामें अपनी परीक्षा देने या इस प्रकारके विवादमें पड़नेके लिये नहीं आया हूँ । अध्ययन करते-करते मेरे मनमें कुछ बातें उठीं, उनपर अध्ययनके साथ मैंने मनन किया, इस अध्ययन और मननसे कुछ निष्कर्षपर पहुँचा, इन विचारोंको मैं अन्योंके सदृश आपकी सेवामें भी उपस्थित करना चाहता हूँ । विद्वान् हंसके समान होते हैं । दूध और पानी यदि हंसके सम्मुख रक्खा जाता है तो वह पानीका दूध ग्रहण कर लेता है और पानीको छोड़ देता है । उसी प्रकार मेरे कथनमें यदि कोई सार हो तो आप ग्रहण कर लीजिये और यदि मेरा कथन निस्सार हो तो उसे छोड़ दीजिये ।

दसवाँ—हाँ, विद्वानोंको तो अपने मानसके कपाट खुले रखने चाहिये ।

वल्लभ—तो सेवामें कुछ निवेदन करूँ ?

[कोई कुछ नहीं बोलता । कुछ देर निस्तब्धता ।]

दसवाँ—हाँ, हाँ ! आप कहिये ।

वल्लभ—देखिये, विद्वद्वर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ ।

पहला—इस सूत्रको सबसे महान् कौन नहीं मानता ।

कुछ पण्डित—(एक साथ) सभी इसे सबसे महान् मानते हैं, सभी इसे सबसे महान् मानते हैं ।

वल्लभ—अब यदि सब ब्रह्म हैं, तो जगत् मिथ्या कैसा ? 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह विचार ही नहीं ठहरता, इसलिये मायावाद, विचारवाद नहीं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके आधारपर मेरा वाद है ब्रह्मवाद । इसे मैं शुद्धाद्वैत कहता हूँ ।

पहला—यह बालकी खाल निकालनेका पाखण्ड है ।

कुछ पण्डित—(एक साथ) पाखण्ड ! बड़ेसे बड़ा पाखण्ड !

वल्लभ—केवल पाखण्ड कहनेसे तो प्रश्नका हल नहीं होता । विचारोंसे मुझे परास्त कर दीजिये ।

पहला—पाखण्डीके साथ कैसा विचार ! जो निर्ल यहाँतक घोषित करता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्था सारी वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, उससे बड़ा अस पाखण्डी हो सकता है ?

कुछ पण्डित—(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं ।

वल्लभ—इस विषयमें तो आप मेरे गुरुदेव श्रीनारा से बात करें, मैं आपका समाधान किस प्रकार कर सक

पहला—नारायणभट्टकी इस पाखण्डमयी घोषणा काशीके विद्वत्समाजमें उनका आदर था, पर तू उ अपने साथ ले डूबा ।

वल्लभ—मैं समझता था काशीका विद्वत्समा व्यक्तियोंका समाज है ।

पहला—(अत्यन्त क्रोधसे चिल्लाकर) अरे, कलका तू हमें अशिष्ट कहनेकी भी धृष्टता कर सकता है !

वल्लभ—मैंने किसीको अशिष्ट नहीं कहा और बात आपने सुन्दर कही । क्या संस्कृतकी एक आपको स्मरण दिलाऊँ—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वय

दूसरा—जो श्रीमच्छङ्कराचार्यको कुछ नहीं स उसका हमारे प्रति क्या आदर हो सकता है !

तीसरा—तू जानता है, आजतक इस समस्त शङ्कराचार्यसे बड़ा कोई दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता नहीं

चौथा—उन्हें संसारमें जगद्गुरुकी पदवीसे विभूषित गया था ।

पाँचवाँ—और उनकी गद्दीपर बैठनेवाले आ जगद्गुरु कहलाते हैं ।

छठा—जबतक यह सृष्टि है, वे ही जगद्गुरु रहेंगे ।

वल्लभ—श्रीमच्छङ्कराचार्यपर जितनी श्रद्धा और आपलोगोंकी है, उससे मेरी कम नहीं । परंतु यहाँ उनके महान् व्यक्तित्वका न होकर उनके वादका है ।

पहला—जो उनके वादपर श्रद्धा नहीं रखता, भक्ति रखता, वह उनके व्यक्तित्वमें कैसे श्रद्धा और भक्ति सकता है ? (जोरसे) उठो पण्डितगण, उठो ! जहाँ गुरु शङ्कराचार्यका अनादर होता है, वहाँ क्षणमात्रको भी पातक है । (उठता है)

अन्य पण्डितगण—(उठते हुए) पातक ही नहीं, घोर पातक है, घोर पातक ।

दसवाँ—यह तो शास्त्रार्थ न होकर कुछ और ही हो गया ।

पहला—कैसा शास्त्रार्थ, किससे शास्त्रार्थ ! ऐसे पाखण्डी-से ? (प्रस्थान)

[वल्लभ और दसवेंको छोड़कर, अन्य सब पण्डित जाते हैं]

दसवाँ—महानुभाव ! जो कुछ हुआ उसपर मुझे अत्यन्त खेद है । मुझे आपसे अत्यधिक सहानुभूति भी है । परंतु, आप जानते हैं, मानव सामाजिक प्राणी है, सभी अपने-अपने समुदायमें रहते हैं । मैं भी अपने समुदायको तो नहीं छोड़ सकता । (प्रस्थान)

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ—(विचारमग्न मुद्रामें दोनों हाथोंको इस तरह उठाया कि दृष्टि हाथोंपर पड़ती है । फिर ऊपर देखते हुए)

भगवन्·····भगवन् ! पण्डित-समाजमें इतनी····· इतनी असहिष्णुता ! वह·····वह भी काशीपुरीमें ! पर·· पर यदि मेरा वाद ठीक है, ठीक विचारपर आश्रित । साथ ही उसमें आपके चरणोंमें श्रद्धा है, भक्ति है, तो·····तो आपकी पुष्टि आपका·····आपका अनुग्रह तो मुझे प्राप्त होगा ही और·····और उस पुष्टि·····उस अनुग्रहके पश्चात् फिर·····फिर किसकी·····किसकी तुष्टिकी आवश्यकता रह जाती है । (कुछ रुककर) अभी·····अभी काशीनिवासी और·····और उनमें पण्डितमण्डलीको ठिकानेपर आनेमें कदाचित् कुछ समय लगेगा । ····· विद्वान्, शीघ्र किसकी·····किसकी मानते हैं ! विचार न कर केवल तर्क करते हैं, तर्कका कभी कोई अन्त नहीं । पहले पृथ्वीपरिक्रमा कर डालूँ । आपका अनुग्रह पाकर इस ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका अन्यत्र प्रचार कर लूँ, काशीको अन्तमें देखूँगा ।

[नेपथ्यमें एक गानकी ध्वनि आती है, वल्लभका ध्यान उस गानकी ओर जाता है ।]

मन तू समझ सोचि बिचारि ।
भक्ति बिनु भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकारि ॥
साधु संगति डारि पाँसा फेरि रसना सारि ।
दाव अब के पर्‌यो पूरो कुमति पिछली हारि ॥
राखि सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मारि ।
डार दे तू तीन काने चतुर चौक निहारि ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—विजयनगरके राजभवनका आलय ।

समय—अपराह्न ।

[आलय पाषाणका बना हुआ है, तीन ओर पाषाणकी भित्तियाँ हैं, जिनपर दक्षिणभारतके दर्शनीय स्थलोंके, जिनमें मन्दिरोंकी प्रमुखता है, रंगीन चित्र लगे हुए हैं । आलयकी छत पाषाणके विशाल स्तम्भोंपर स्थित है, स्तम्भोंकी नीचे और ऊपरकी चौकियोंपर सुन्दर खुदावका काम है । आलयकी भूमिपर रंग-बिरंगी बिछावन है, जिसपर आसनोंपर देशके सभी विभागोंके पण्डित विराजमान हैं । ये पण्डित देशके विभिन्न विभागोंके हैं, यह इनके भिन्न-भिन्न रूपों और वेषभूषासे ज्ञात होता है । पीछेकी भित्तिके संनिकट एक सर्वोच्च आसन है, जो रिक्त है । इसी आसनके निकट एक आसनपर कृष्णदेवराया बैठे हुए हैं । कृष्णदेवराया अभी युवक हैं, वर्ण साँवला, कद ऊँचा, शरीर न मोटा और न दुबला । वे राजसी वेशमें हैं । जरीका लम्बा अँगरखा पहने हैं, जिसपर जरीका उत्तरीय है । अँगरखेके नीचे जरीकी किनारीकी धोती, अङ्गोंमें स्वर्णके रत्नजटित आभूषण हैं । सिरपर दक्षिणी ढंगकी टोपीके सदृश ऊँचा स्वर्णका रत्नजटित मुकुट है । कृष्णदेव-रायाके आसनके पीछे कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े हुए हैं । शास्त्रार्थ चल रहा है ।]

विद्यातीर्थ—(कृष्णदेवरायासे) तो राजन् ! आपने माध्व, निम्बार्क और रामानुज सम्प्रदायके अनुयायी वैष्णवोंकी ओर-से पण्डित व्यासतीर्थ तथा शाङ्कर, शैव, शाक्त आदि सिद्धान्तों के अनुयायियोंकी ओरसे मेरे समस्त तर्कोंको सुन लिया । सात दिनसे यह शास्त्रार्थ चल रहा है और अब तो कदाचित् कोई नये तर्क आपके सम्मुख रखनेको शेष नहीं हैं । (व्यास-तीर्थसे) कहिये, पण्डितवर ! आपका क्या कथन है ?

व्यासतीर्थ—हाँ, मुझे भी अब कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है ।

विद्यातीर्थ—जब मुझे और पण्डित व्यासतीर्थ दोनोंको ही कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है, तब आप निर्णय कर लीजिये कि आपको कौन सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है । सात दिनतक शास्त्रार्थके ध्यानपूर्वक श्रवण करनेके पश्चात्

मैं समझता हूँ आप स्वीकार करेंगे कि श्रीमच्छङ्कराचार्यका मायावाद ही सर्वश्रेष्ठ वाद है ।

[प्रतिहारीका प्रवेश]

प्रतिहारी—श्रीवल्लभ पधार रहे हैं ।

[वल्लभका कुछ शिष्योंके साथ प्रवेश । अब उनकी अवस्था चौदह वर्षकी है, परंतु देखनेमें वे सोलह-सत्रह वर्षसे कमके दिखायी नहीं देते । कद ऊँचा हो गया है । शरीर कुछ भर गया है और ऊपरके ओंठपर रेख निकल आयी है । वेश अभी भी ब्रह्मचारीका है । मेखलामें कौपीन, एक हाथमें कमण्डलु और दूसरेमें दण्ड । वल्लभाचार्यका एक अद्भुत प्रकारके तेजसे युक्त स्वरूप इतना प्रभावशाली है कि उनके प्रवेशसे ही सारी सभा उठ खड़ी होती है । कृष्णदेवराया आगे बढ़ उनका स्वागत करते हैं और जो सर्वोच्च आसन रिक्त था, उसपर उन्हें बैठाते हैं ।]

कृष्णदेवराया—भगवन् ! इस सभामें आपका पदार्पण तो राजा बलिकी सभामें भगवान् वामनके पधारनेकी बहुश्रुत घटनाका स्मरण दिलाता है । असीम कृपा की है मुझपर आपने यहाँ पधारकर ।

वल्लभ—राजन् ! मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ यहाँ आने और समस्त देशके इस विद्वत्समाजके दर्शन करनेके कारण ।

[सारी सभा एकटक वल्लभकी ओर देखती रहती है; कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ—वैष्णवों और स्मार्तोंका यह शास्त्रार्थ कितने समयसे चल रहा है राजन् ?

कृष्णदेवराया—एक सप्ताहसे प्रभु !

वल्लभ—और अबतक कोई निर्णय नहीं हो पाया ?

विद्यातीर्थ—(व्यासतीर्थकी ओर संकेत कर) पण्डित व्यासतीर्थने वैष्णवोंकी ओरसे तथा मैंने स्मार्तोंकी ओरसे इस शास्त्रार्थमें प्रमुखरूपसे भाग लिया है । आपके आनेके पूर्व हम दोनोंने ही राजा कृष्णदेवरायासे निवेदन कर दिया था कि अब हमें कोई नये तर्क उपस्थित नहीं करने हैं । निर्णय कदाचित् श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादके पक्षमें ही होनेवाला था कि आपका शुभागमन हुआ । इन दिनोंमें सुना था, बहुत समयसे आप त्रिमदी बालाजीमें निवास कर रहे थे । अब आपको भी यदि कुछ कहना हो तो कह दीजिये, तत्पश्चात् निर्णय हो जायगा ।

वल्लभ—विद्वद्वर ! वैष्णव और स्मार्त—सभी वैदिक अनुयायी हैं । मेरी दृष्टिसे सभी पूजनीय हैं, श्रीमच्छङ्कर मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य—सभीमें असीम श्रद्धा और भक्ति है ।

सभासद्—धन्य है, धन्य है ।

वल्लभ—परंतु इन आचार्यचरणोंने जो कुछ उ किया है, उसपर विचार करना हमारे लिये इस हेतु आ हो जाता है कि वैदिक धर्म हमें अन्धविश्वास नहीं सि कहिये, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं ?

अधिकांश सभासद्—ठीक, सर्वथा ठीक ।

वल्लभ—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं स सूत्र मानता हूँ । कहिये, इसमें तो किसीका मतभेद न

विद्यातीर्थ, व्यासतीर्थके सहित समस्त सभासद्—कि नहीं, किसीका नहीं ।

वल्लभ—अब इस सूत्रके आधारपर उन समस्त आ चरणोंके वादोंपर विचार कीजिये । यहाँ मैं 'विचार' प सबसे अधिक बल देता हूँ । विचार साधार है, मीमांसा कहा जाता है, तर्क निराधार है, अतः अनुमान जाता है । मीमांसाके आधार वेद और वैदिक शास्त्र हैं तर्कका आधार बुद्धिके अतिरिक्त और कुछ नहीं मीमांसाका अन्त है, तर्कका अन्त नहीं । अतएव वि प्रामाण्य है, तर्कको नहीं । इसलिये वेदको प्रमाण मान विद्वानोंने विचारका आश्रय लिया है, तर्कका नहीं । मी वेदवाक्य प्रधान और उपजीव्य होते हैं और विचार तात्पर्य तथा सिद्धान्तका उपजीवन करता है । तर्क प्रधान रहता है और वेदवाक्य उसके पीछे लगा दि हैं । कितने ही ग्रन्थकारोंने तो स्पष्ट कह दिया है—'ए मा अप्यनुसंधेयाः ।' कहिये, इससे किसीका मतभेद है

समस्त सभासद्—किसीका नहीं, किसीका नहीं ।

वल्लभ—तो अब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आ श्रीमध्वाचार्यके द्वैत, निम्बार्काचार्यके द्वैताद्वैत रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतपर विचार कीजिये और कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार ये वाद ठीक-ठीक हैं या नहीं ?

विद्यातीर्थ—सर्वथा नहीं ।

कुछ सभासद्—हाँ, सर्वथा नहीं ।

वल्लभ—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार अद्वैत ही ीक बैठता है।

विद्यातीर्थ—धन्य है, धन्य है।

कुछ सभासद्—धन्य है, धन्य है।

वल्लभ—परंतु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के साथ अद्वैतका तिपादन करते-करते जब श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'ब्रह्म त्यं जगन्मिथ्या' और इसपर जब वे अपने मायावादको प्रति-ादित करते हैं, तब वे भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रसे दूर ोते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यदि सब कुछ ब्रह्म है तो जीव ौर माया भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं तथा यह जगत् भी सत्य मिथ्या नहीं। इसीलिये मेरा वाद है—ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत।

अधिकांश सभासद्—धन्य है, धन्य है।

विद्यातीर्थ—मैं भी आपके विचारको स्वीकार करता हूँ।

समस्त सभासद्—(एक साथ ऊँचे स्वरसे) धन्य है, न्य है।

[कृष्णदेवराया उठकर वल्लभके चरणोंमें गिर पड़ते हैं।]

कृष्णदेवराया—(उठकर) प्रभो! यह शास्त्रार्थ आरम्भ रनेके समय मैंने संकल्प किया था कि जो शास्त्रार्थमें जयी होगा, उसका सौ मन स्वर्णसे कनकाभिषेक करूँगा। तः अब मैं इस संकल्पकी पूर्तिकी आज्ञा चाहता हूँ।

[वल्लभाचार्य कुछ न कह केवल मुसकरा देते हैं]

कृष्णदेवराया—(अपने आसनके पीछे जो कुछ राजकर्मचारी र भृत्य खड़े थे, उनमेंसे प्रधान राजकर्मचारीसे) लाओ भिषेककी समस्त सामग्री।

[राजकर्मचारीका प्रस्थान और पुरोहित तथा भृत्यके हाथमें भिषेकके लिये पूजाकी सामग्रीके साथ पुनः प्रवेश। इस जकर्मचारी, पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाले भृत्यके पीछे उन त्योंकी पङ्क्ति लग जाती है, जो एक-एक अपने सिरपर एक-एक मन र्ण थालमें उठाये हुए हैं। पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाला त्य वल्लभके आसनके निकट पहुँचते हैं। पुरोहित खड़ा हो पूजा-सामग्रीमेंसे स्वर्णका कलश उठा कुशसे वल्लभका मार्जन करता। पुरोहितके अभिषेक करनेको खड़े होनेके कारण जिन भृत्योंके रपर स्वर्णके भरे हुए थाल रखे थे, उनकी पङ्क्ति रुक जाती है और नमेंसे कुछ ही दिखायी पड़ते हैं।]

पुरोहित—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
ततो विराडजायत विराजोअधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः संभृतम्पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥
इत्यादि।

(मन्त्र समाप्त होनेपर एक आसनपर बैठ जाता है)

कृष्णदेवराया—अब, भगवन्! इस सुवर्णको ग्रहण करनेकी कृपा करें।

वल्लभ—राजन्! मैंने आपकी संकल्प-पूर्तिमें बाधा नहीं डाली। कनकाभिषेकका आपका संकल्प पूर्ण हो गया, परंतु अब मेरे भी एक संकल्पकी पूर्त्ति आपको करनी पड़ेगी, स्वीकार है न?

कृष्णदेवराया—आपकी कोई भी आज्ञाका अब मैं जीवनभर उल्लङ्घन कर सकता हूँ?

वल्लभ—मेरा संकल्प है स्वर्ण और उसकी समीपस्थ सभी वस्तुओंसे जितनी दूर रहा जा सकता है, उतनी दूर रहा जाय। अतः यह सौ मन सोना मेरे कामका नहीं। इस सबको निर्धनोंमें बँटवा दीजिये।

सारा उपस्थित जनसमुदाय—(उच्च स्वरसे) धन्य है, धन्य है।

कृष्णदेवराया—(गद्गदस्वरसे) जैसी आज्ञा। (राज-कर्मचारीसे) ले जाओ, इस स्वर्णको और वितरण कर दो निर्धनोंमें।

[राजकर्मचारीका स्वणके थाल उठाये हुए भृत्योंके साथ प्रस्थान। बिल्वमङ्गलका प्रवेश। बिल्वमङ्गल अत्यन्त वृद्ध हैं, परंतु उनके मुखपर एक विलक्षण प्रकारका तेज है। गौरवर्ण, ऊँचा पर दुबला शरीर और सिर तथा दाढ़ी-मूँछोंके बढ़े हुए श्वेत केश। बिल्वमङ्गल श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। बिल्वमङ्गलके स्वागतके लिये स्वयं वल्लभ खड़े होते हैं। उनके खड़े होते ही सारी सभा खड़ी हो जाती है। बिल्वमङ्गलको वल्लभ अपने आधे आसनपर बिठाते हैं। सब लोग पुनः अपने-अपने स्थानपर बैठ जाते हैं।]

बिल्वमङ्गल—मैं विष्णुस्वामी-सम्प्रदायका आचार्य बिल्वमङ्गल हूँ। मैं जब अधिक वृद्ध हो गया और मैंने जब विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके भार वहन करनेयोग्य किसी शिष्यको नहीं देखा तथा इस कारण जब मेरी विकलता बढ़ी, तब मुझे भगवत्-आज्ञा हुई कि यह भार आपको समर्पित करूँ। आप आजसे विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके आचार्य।

सारा जनसमुदाय—श्रीवल्लभाचार्यकी जय।

कृष्णदेवराया—और, महाप्रभु! इस सम्प्रदायके आचार्य होनेपर प्रथम दीक्षा मुझे दीजिये।

वल्लभाचार्य—(मुसकराकर) स्वीकार है।

जनसमुदाय—महाप्रभु, वल्लभाचार्यकी जय!

कृष्णदेवराया—अब गुरुदक्षिणाके रूपमें तो आपको कुछ स्वीकार करना ही होगा महाप्रभु! (शीघ्रतासे प्रस्थान और एक भृत्यके सिरपर एक सहस्र मोहरोंका थाल लेकर पुनः प्रवेश।)

[कृष्णदेवराया भृत्यके सिरपरसे थाल उठा स श्रीवल्लभाचार्यके चरणोंमें रखते हैं]

वल्लभाचार्य—(थालमेंसे सात मोहरें उठाकर) राज द्रव्यमेंसे ये सात मोहरें ही दैवी द्रव्य है, जो मैं उ हूँ; यह कभी भगवत्सेवाके काम आयगा।

जनसमुदाय—धन्य है, धन्य है। महाप्रभु वल्लभाचा

[बिल्वमङ्गल आशीर्वचनके रूपमें एक गीत आरम्भ जिसे सारा जनसमुदाय उनके साथ दोहराता है।]

कांकरवारे तेलंग तिलक द्विज बंदो श्रीमद् लक्ष्मणः
श्रीबृजराज सिरोमनि सुंदर, भूतरु प्रगटे वल्लभ
अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधाभक्ति रत्न रस
दर्सन करत प्रसन्न होत मन प्रकटे पूरन परमा
कीर्ति बिसद कहाँ लौं बरनौं गावत लीला श्रुति सुर
सगुनदास प्रभु षड्गुन संपन कलिजन उधरन आनँद

(यवनिका)

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

सप्त भूमिकाएँ ज्ञानकी सिद्धि अथवा आत्मानुभूतिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ—अवस्थाएँ (Singas or grades) हैं। कक्षाके भेदसे साधनमें भेद हो जाता है, जिससे इन भूमिकाओंमें अद्वैतमार्गीय साधन-क्रमका भी निर्देश पाया जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इनमें साधककी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके आधारपर उसकी स्थिति तथा तदनुकूल साधनका भी निर्देश है; अतः इन ज्ञान-भूमिकाओंमें अद्वैत-साधनाका साररूपसे क्रमानुसार निर्देश है। इसलिये इनका विवेचन अत्यन्त उपयोगी है; मानो ब्रह्म-विद्यालयकी ये सात कक्षाएँ हैं।

इस विद्यालयमें प्रविष्ट होनेका अधिकार साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासुको ही है। विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा ही प्रवेशाधिकारकी परीक्षा हो सकती है। अन्य वर्ण, आश्रम, शारीरिक बल, सौन्दर्य, धन, वैभव, ऐश्वर्य, राज्य, शास्त्र-पाण्डित्य, बुद्धिकी चतुरता आदि सामान्य गुणमात्र ब्रह्मविद्यामें विशेष उपयोगी नहीं हैं। जब साधनचतुष्टयसामग्रीकी प्रचुर मात्रा हो, तब मनुष्य प्रथम कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। तदनन्तर प्रथम कक्षाके साधनके द्वारा उस कक्षामें उत्तीर्ण होनेपर ही दूसरी कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। अर्थात् तभी वह उसके अनुरूप साधना करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार धैर्यसे श्रोत्रिय ब्रह्मनि आदेशानुसार पूर्ण श्रद्धासे साधना करता हुआ ज्ञानकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके परमानन्दरूप तथा विदेहमुक्तिको प्राप्त करता है।

प्रथम	कक्षाकी	साधना	श्रवण
द्वितीय	,,	,,	मनन
तृतीय	,,	,,	निदिध्यासन
चतुर्थ	,,	,,	अखण्ड ब्रह्माकार अपरोक्ष वृ तुर्यातुर्य आत्मदर्शन।

५ से ७ भूमिकाओंमें चतुर्थ भूमिकामें उपलब्ध आ की युक्तिके द्वारा भूमारसानुभूतिरूप जीवन्मुक्ति।

श्रवण-अधिकारके लिये केवल संस्कृत-भाषा न्याय-तर्कका बोध ही पर्याप्त नहीं। जिज्ञासुके गुरुकी उपस्थित होनेपर जब गुरु उसे स्वीकार करता है, ज्ञानका जन्म है; अथवा गुरु जिज्ञासुको शिक्षारूपी धारण करता है। पहली, दूसरी तथा तीसरी अव गर्भकी अवस्थाएँ समझनी चाहिये। चतुर्थमें त होनेपर मानो ज्ञानरूपी बालक पूर्णाङ्ग होकर गुरु बाहर आता है। अब इसे गुरुकी शिक्षाकी आ नहीं रहती। सप्तम कक्षामें ज्ञान प्रौढ़ अवस्थाको प्रा

है, यही इसकी अन्तिम—चरम स्थिति है। प्राणीके समान ज्ञानका अन्त मृत्युसे नहीं होता; क्योंकि यह तो अमृतस्वरूप है। बुद्धिके द्वारा इस अमृतके स्पर्शमात्रसे प्राणी अमर हो जाता है, अतः यह मृत्युकी मृत्यु है।

जिज्ञासाके आधार-वचन

१. विवेक, वैराग्य, जिज्ञासा, ब्रह्मनिष्ठ गुरु

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
(मुण्डक० १।२।१२)

ऋग्वेदादि अपर विद्यारूपी कर्म तथा उपासनाके अनुष्ठानके द्वारा अविद्या, काम तथा कर्मरूप दोषोंसे युक्त पुरुषको दक्षिण तथा उत्तरमार्गके द्वारा जिस पितृलोक तथा देवलोककी प्राप्ति होती है, तथा आसुर प्रकृतिवाले मनुष्यको शास्त्र-प्रतिषिद्ध आचरण करने तथा शास्त्रविहित आचरणका अनुष्ठान न करनेसे जिन नरक, तिर्यक्—कीट-पतङ्ग तथा तरूप लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंकी तथा स्वरूपकी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा ब्रह्मविद्याके अधिकारी ब्राह्मणको भली प्रकार परीक्षा करनी चाहिये कि ये जन्म, व्याधि, जरा आदि अनन्त संकटोंसे युक्त हैं, केलेके खंभेके समान निस्सार हैं, मायारचित गन्धर्वनगर, स्वप्न तथा जलके बुद्बुद तथा फेनके समान प्रतिक्षण नाशवान् हैं; इसलिये सद्-असद्विवेकीको उपर्युक्त त्रिविध लोकोंकी अविद्याजन्य तृष्णा त्याग देनी चाहिये। सम्पूर्ण लोक कर्मोंका फल है, अतः अनित्य हैं; अथवा अनन्त आयाससाध्य लोकोंसे कुछ सिद्धि नहीं होती, इसलिये अभय, शिव तथा नित्यपदकी प्राप्तिके लिये जिज्ञासुको शास्त्रविहित मर्यादाके अनुसार समिधा लेकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

२. यज्ञ, दान, तप (निष्काम गृहस्थ-धर्म)का फल जिज्ञासा—तत्पश्चात् संन्यास-विधान

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन, एतमेव···प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ (बृह० उ० ४।४।२२)

'नित्य ब्रह्मकी जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिये ब्राह्मण वेदका स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा तपका अनुष्ठान करते हैं। परिव्राजकों, संन्यासियोंके इस नित्य ब्रह्मलोककी प्राप्तिकी इच्छासे ब्राह्मण गृहस्थाश्रमसे प्रव्रजन करते हैं, संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हैं। पूर्वकालमें भी विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा अर्थात् कर्म एवं अपर ब्रह्मविद्याका, जो इहलोक, पितृलोक तथा देवलोकका साधन है, अनुष्ठान नहीं करते थे; क्योंकि उपर्युक्त तीनों लोकोंके साधनरूप प्रजा आदि साधनोंसे उनका क्या प्रयोजन, है? वे तो आत्मलोककी आकाङ्क्षा करनेवाले हैं। इसलिये वे पुत्र, वित्त तथा लोकसम्बन्धी त्रिविध एषणाओंसे व्युत्थानकर—उन्हें त्यागकर भिक्षाव्रत—संन्यासका अनुष्ठान करते हैं।'

३. षट् सम्पत्तिका विधान

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।·····तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति॥
(बृह० उ० ४।४।२३)

'ब्रह्मवित्की महिमा ब्रह्मके समान नित्य है, न पुण्यसे इसमें वृद्धि होती है, न पापसे ह्रास। ब्रह्म अथवा ब्रह्मवित्की नित्य महिमामें श्रद्धा रखनेवाला शम, दम, तितिक्षा, उपरति तथा समाधानरूप सम्पत्तिसे युक्त होकर अपने अन्तःकरण (बुद्धि) में ही आत्मसाक्षात्कार करता है। सम्पूर्ण संसारको अपना रूप ही जानता है अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं देखता।'

४. प्रथम तीन साधन-भूमियों तथा चतुर्थ ब्रह्मविद्-भूमिके आधार-वचन

···न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥ (बृह० उ० ४।५।६)

'अरी मैत्रेयि! पति, जाया, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण आदि जाति, सप्तलोक, उनके अधिपति देवता तथा वेदादि सब पदार्थ स्वतन्त्ररूपसे प्रिय नहीं होते, आत्माकी हितकामनाकी दृष्टिसे प्यारे लगते हैं; क्योंकि आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ तथा परमानन्दस्वरूप है, इसलिये आत्माका ही उपनिषदादिके द्वारा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन एवं दर्शन करना चाहिये।'

५–७ भूमियोंके आधार-वचन

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ४)

जो प्राणोंका प्राणरूप ब्रह्म है, वही ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सर्वभूतोंमें आत्मरूपसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे भास रहा है। जो इस सर्वभूतव्यापी ब्रह्मको आत्मरूपसे जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वह आत्मासे भिन्नरूपसे किसका वर्णन करे; क्योंकि आत्मासे भिन्न वह न देखता है, न सुनता है, न जानता है, अर्थात् जो कुछ दीखता है, जो सुनायी देता है, जो कुछ भी जाना जाता है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उसका निश्चय है। ऐसे ज्ञानीकी आत्मामें ही क्रीडा होती है न कि संसारी पुरुषके समान पुत्र-दारा आदि लौकिक पदार्थोंमें; उसकी आत्मामें ही रति-प्रीति होती है; ज्ञान-ध्यानमात्र ही उसकी क्रिया शेष रह जाती है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ होता है। यहाँ (१) आत्मक्रीड़ा, (२) आत्मरतिः, (३) क्रियावान्, (४) ब्रह्मविदां वरिष्ठः—द्वारा, ४,५,६,७ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाओं-का निर्देश किया गया है। ज्ञान-भूमिकाओंमें ज्ञान-साधना तथा सिद्धिका साररूपसे निर्देश है; इसलिये इनका विशद विवेचन उचित है।

ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका विशद विवेचन

अन्य प्रकरणोंमें इस विषयका विस्तृत विवेचन हो चुका है कि ब्रह्म आदिके विषयमें वेद आदि सत्-शास्त्र ही अपूर्व प्रमाण हैं। 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह०) 'उस पुरुषके विषयमें पूछना चाहता हूँ, जिसका ज्ञान उपनिषद्के द्वारा होता है।' स्वतन्त्र मानवीय बुद्धि तर्कके द्वारा इसके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर सकती। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' वेदको न जाननेवाला उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मके विषयमें कुछ तर्क नहीं कर सकता। पक्षपातरहित सच्चा जिज्ञासु यदि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी संनिधिमें उपनिषदोंके निम्नलिखित वचनोंका अध्ययन करे—

ऐत० उ० १,३,१२; ३,१–३; कठ० ४, ११,१४, १५; ईश ७; प्रश्न ४,८–१४; ६,५; मुण्डक १,२,११; ३,१,३; माण्डूक्य २,७; तै० उ० २,६,७; छान्दो० ६,८–१५,७, (२४,१; २५,१–२) ८, १२, १–३; ८,१४,१; केन १,१२; १,५; बृ० उ० १,४,२; ७,१०; ३,४,१; ४,३ (१५,१६,२१–३२) (५,६, १२,१९), ४,५ (६,१३–१५), ३,७,२३

—तो सर्वोपनिषदोंके परम सिद्धान्तका निस्संदिग्ध होगा कि स्थूल आदि तीन शरीरोंसे भिन्न इनका चिन्मात्र आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस प्रत्यगभिन्न साक्षात्कारसे शोक, मोहरूप मिथ्या संसारकी निवृत्ति परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मसे भिन्न रूपात्मक जड चेतन जगत् मिथ्या है, ब्रह्मात्मामें अ है। ब्रह्मसे भिन्न संसारकी सत्ताका नितान्त अभ त्रिविध भेदरहित अखण्ड चिन्मात्र आत्मा ही पर है, परमार्थ-दृष्टिसे यही यथार्थ ज्ञान है। भेद-दृष्टि अ सब उपनिषदोंका समन्वय इस अखण्ड अद्वितीय में ही है। इसी यथार्थ दृष्टिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ भूमिकाएँ हैं। भूमिकाओंके विवेचनमें हम देखेंगे अभेदरूप यथार्थ दृष्टि-ज्ञानका क्रमशः विकास हो है। प्रथम तीन भूमिकाएँ साधना अथवा जिज्ञासु कक्षाएँ या अवस्थाएँ हैं। शेष चतुर्थसे सप्तमतक श्रेणियाँ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाएँ हैं। यद्यपि इन सबमें सत्य (ब्रह्मात्मा) का अपरोक्ष ज्ञान एक-सा होता जगत्-मिथ्यात्वकी दृष्टिमें क्रमशः विकास होता जाता है

प्रथम भूमिका शुभेच्छा-जिज्ञासा

प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही निरपेक्ष, परमार्थ, शुभ, नि अभय पद है; अन्य सब भेद अशुभ एवं भयरूप द्वितीयाद् वै भयं भवति—अपनेसे भिन्न द्वितीयसे भयकी आशङ्का बनी रहती है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप इच्छा या जिज्ञासा ज्ञानकी प्रथम भूमिका है। यज्ञ, द हठयोग, शब्दयोग, कुण्डलिनीयोग, सांख्य, भक्तियोग, आत्मसमर्पण आदि भिन्न-भिन्न साधनाएँ उपयोगी हैं; परंतु इनका फल जिज्ञासाकी उत्प इन सब साधनाओंका उपयुक्त स्थान शास्त्र तथा महात्माओंके आदेशानुसार जिज्ञासा अथवा ज्ञान भूमिकासे पूर्व ही है। उसके बाद इनका कुछ उप है। शास्त्रके परम तात्पर्यकी दृष्टिसे इनका मूल अर्थात् अज्ञान है और ज्ञान-साधनामें अखण्ड ब्रह्मात्मतत्त्वके यथार्थ बोधद्वारा इस भेददृष्टिका ना अभीष्ट है। इसलिये हठयोगादि उपर्युक्त साध

भेददृष्टिको बनाये रखती हैं, अखण्डात्मसाक्षात्कारमें प्रतिबन्धक तथा ज्ञान-साधनाकी विरोधिनी हैं। ये द्वैत तथा अद्वैतमूलक साधनाएँ ध्येय आदिमें अन्धकार और प्रकाशके समान परस्पर-विरोधी हैं। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कभी ऐसा निर्देश नहीं कर सकता और कोई साधक इनके तथ्य तात्पर्य तथा लक्ष्यको जानते हुए एक कालमें इनका अनुष्ठान नहीं कर सकता। यदि इन साधनोंके लौकिक फलके आकर्षणके कारण इनके तथ्यस्वरूप आदिके ज्ञानका अभाव न हो तो इनका समकालीन सम्पादन सम्भव नहीं होता। विवेक-वैराग्य आदि साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु ही अखण्ड ब्रह्मज्ञान-साधनाका अधिकारी है। वही प्रथम भूमिकामें प्रवेशकर उस भूमिकाकी साधना यथार्थ रूपसे कर सकता है।

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद् व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिः, न सांख्यशास्त्राभ्यासः, न मन्त्रतन्त्रव्यापारः, नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्येतरास्ति। अस्ति चेच्छवालंकारवत् कर्माचारविद्यादूरः, न परिव्राण्नामसंकीर्तनपरो यद्यत् कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत् सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्, न बाह्यदेवताभ्यर्चनं कुर्यात्॥ (संन्यासोप० २, ५९)

'आत्मस्वरूप-चिन्तनसे भिन्न शास्त्राभ्यास उष्ट्रके कुङ्कुमके भारके समान व्यर्थ है। यतिकी न भेदवादी योगशास्त्रमें प्रवृत्ति होती है, न सांख्यशास्त्रमें, न मन्त्र-तन्त्र-व्यापारमें, न अन्य भेदवादी शास्त्रोंमें। यदि ऐसी प्रवृत्ति हो तो वह शवके अलंकारके समान है। कर्माचार विद्यासे दूर—उसका विरोधी है। यतिको न तो निज नाम-महिमाका संकीर्तन करना चाहिये, न प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावनासे शून्य भेददृष्टिसे किसी ब्रह्मनामका संकीर्तन करना चाहिये। मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उस-उसके फलको पाता है। एरण्डतैलके फेनके समान इन सब भेदमूलक लौकिक तथा शास्त्रोक्त व्यवहारको त्याग दे। देवताके प्रसादको न ले, न बाह्य देवताकी पूजा करे।

अधिकारी संन्यासी

ज्ञान-साधनाके आरम्भमें ब्रह्मलोकपर्यन्त जगत्-बन्धनका सत्यत्व परंतु अनित्यत्व बुद्धि होती है। इस जगत्से छूटना उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। मोक्ष-आकाङ्क्षाके साथ किसी अन्य लौकिक लक्ष्यका सामञ्जस्य बन ही नहीं सकता। जगत्के किसी एक पदार्थमें एक ही कालमें इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धिका हो सकना असम्भव है। श्रेय तथा प्रेय तम और प्रकाशके समान नितान्त भिन्न एवं विरोधी हैं। जब मोक्ष ही लक्ष्य हो, तब सम्पूर्ण प्रयत्न तथा व्यवहार इसीके लिये होना चाहिये। गृहस्थाश्रम, जो कि कर्म-प्रधान तथा प्रायः काममूलक होता है, ऐसी दशामें असम्भव है। जिज्ञासाकी तीव्रता ही उसकी कर्तव्य-कर्म-बुद्धिको शिथिल कर देती है। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस दिन लौकिक भोगसे वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थाश्रमसे प्रस्थान कर संन्यासाश्रममें प्रवेश करे। यह शास्त्र-वचन उसे गृहस्थसे छुट्टी ही नहीं देता, प्रत्युत अनिवार्य रूपसे उसके त्यागका विधान करता है और अन्य शास्त्रवचनोंके मनमाने अर्थोंके आधारपर गृहस्थाश्रमको सर्वश्रेष्ठ कहकर कर्तव्यबुद्धिके आधारपर गृहस्थसे मरते दमतक चिपटे रहनेकी अनुमति नहीं देता है। जिसके अन्तःकरणकी कलुषताको वैराग्यने धो डाला है, वह साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें मोक्षके उपायोंका निरन्तर अनुष्ठान करनेके लिये ज्ञानप्रधान संन्यास-आश्रममें प्रवेश करता है। आभ्यन्तर संन्यास वैराग्य एवं जिज्ञासाका कारण है और शास्त्रविधिके अनुसार बाह्य संन्यास जिज्ञासाका परिणाम—फल है। तथ्य आभ्यन्तर संन्यासके बिना तथ्य जिज्ञासा असम्भव है। जिज्ञासाके उपयोगी श्रवणके अतिरिक्त संन्यासीका कोई स्वतन्त्र लक्ष्य अथवा साधन नहीं रहता। जो व्यक्ति संन्यासाश्रममें श्रवणादिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करता है, उसमें जिज्ञासाकी न्यूनता है। निर्विघ्न श्रवणके लिये अनिवार्य भिक्षादि शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जिज्ञासुका एकमात्र अवलम्ब प्रारब्ध तथा ईश्वरविश्वास होता है। वह साधारण योगक्षेमकी चिन्ता और उसके लिये ओषधि, जन्तर, मन्तर, कथा-वार्ता, यौगिक सिद्धि आदि व्यवसायोंमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर तथा प्रारब्धके आश्रयपर वह सब कठिनाइयों तथा बाधाओंका प्रतीकार करता है, अथवा अन्य उपाय न करता हुआ ही जीवन व्यतीत करता है। श्रवण आदि साधनोंमें बाधा पड़नेपर भी वह ईश्वरके आधारको छोड़कर उपर्युक्त अन्य किसी उद्यममें प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि वह यह दृढ़ भावना रखता है कि कष्ट-सहनरूपी तपसे पूर्वकर्मजनित बाधाएँ शिथिल होती हैं। उसकी ऐसी दृढ़ धारणा होती है कि संन्यासीके लिये शास्त्र-विरुद्ध अन्य उपायोंसे योग-क्षेम करके निर्विघ्न श्रवण आदि

साधन करनेकी भावना तथ्य नहीं है। वह साधनाभासमात्र है। उपर्युक्त तथ्य तितिक्षा, ईश्वरपरायणता आदिके सहित यत्किञ्चित् शास्त्र-श्रवणादि साधन ही यथार्थ साधन है। अन्य श्रवण शास्त्रोक्त श्रवण नहीं है; उससे लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होती।

शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः।
अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्॥
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥
(नारद उ० ४। ५—७)

'यतिके लिये शिल्प, व्याख्यान देना, योग, काम, राग, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, चिकित्सा, धर्मके लिये साहस-कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मन्त्र, औषध और अन्यको आशीर्वाद देना—ये सब निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेसे यति पतित हो जाता है।'

ऐसे जिज्ञासुके लिये संन्यास-आश्रम ही मुख्य है। परंतु यदि वह किसी उपयुक्त कारणवश गृहस्थ-आश्रममें ही रहे, तो उसका सम्पूर्ण जीवनव्यवहार निष्कामबुद्धिसे होता है। गृहस्थमें रहते हुए साधक अथवा ब्रह्मज्ञानीका ढोंग रचकर लौकिक कर्मोंको तो करते रहना और शास्त्रोक्त देवयज्ञ आदि कर्मोंको त्याग देना धृष्टतामात्र है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(गीता ३। २६)

'कर्मके फलमें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिको उनके उपर्युक्त अधिकारोचित कर्ममार्गसे विद्वान् उन्हें विचलित न करे। उन सबको शास्त्रकर्मोंमें ही प्रवृत्त करे और स्वयं अनासक्त योगबुद्धिसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करे।'

शास्त्रके विधानके अनुसार किया हुआ कर्मका त्याग अथवा ग्रहण उन्नतिका कारण होता है; ऐसे विद्वान्की शारीरिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें केवल निर्वाहमात्रपर दृष्टि होती है। इससे अधिकको वह वासनाकी दासता तथा परिग्रह समझता है।

साधना-क्रम

ऊपर वर्णन हो चुका है कि त्रिविध भेदरहित अखण्ड, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानके द्वारा शोक-मोह, जन्म-मृत्यु तथा संसारचक्रके मूल भेददृष्टिरूपी अज्ञानका नाश एवं ज्ञानसाधन मनुष्यजीवनका एकमात्र शास्त्रोक्त ध्ये यह भी निर्देश किया गया है कि उपनिषद् आदि क ही इस विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं और आ पुरुष ही शास्त्रके रहस्यको ग्रहण करता है; इसलिये चतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु अन्य सम्पूर्ण कर्तव्यों तथा यो चिन्तासे मुक्त संन्यासी—उपनिषदोंके श्रवणके लिये ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें उपस्थित होता है। जैसे अङ्गोंका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसी श्रवण आदिका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये कालमें भी एक दूसरेसे नितान्त पृथक् नहीं हो शास्त्र-तात्पर्य-निर्धारणरूपी श्रवणके षट्-लिङ्गोंमें ही उप निर्देश है; जिसका यह अभिप्राय है कि युक्ति अनुमानके बिना शास्त्र-तात्पर्यका निर्धारण नहीं हो इसीलिये मूल उपनिषदोंमें भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूपी सत्यकी सिद्धिके लिये अनेक उपयोगी युक्तियोंका दृष्टा निरूपण है और तीव्रतम जिज्ञासुका उनसे ही समा जाता है। आत्मप्रत्ययका प्रवाहरूप निरन्तर अर्थात् मनन भी एक दृष्टिसे निदिध्यासन ही है। उपनिषदोंके श्रवणमें ही शेष दो—मनन तथा निदि साधनोंका समावेश हो जाता है। इसलिये दृष्टिसे इन साधनोंके स्वरूप अथवा कालक्रमके वर्णन नहीं बन सकता। जैसे गर्भस्थ शिशुके सम्पू गर्भके आरम्भसे ही उपस्थित होते हैं, परंतु भि अङ्गोंका विकास भिन्न-भिन्न मासोंमें होता है; इसी ज्ञानसाधनारूपी शिशुके भिन्न-भिन्न अङ्ग बीजरूपसे प्र विद्यमान होते हुए भी इनका विकास क्रमशः होता है

इसका विशद विवेचन अन्यत्र यों दिया गया (१) साधनचतुष्टयसहित जिज्ञासा, (२) श्रवण, मनन, (४) निदिध्यासन तथा (५) आत्मदर्शनमें जिज्ञासुके अतिरिक्त साधारणतया कारणकार्य अविनाभाव आदि सम्बन्ध है, जिससे इनके क्र अवधि-फलका ज्ञान होता है। अर्थात् तथ्य जि अनन्तर ही शास्त्रोक्त श्रवण सम्भव होता है। तथ्य अथवा निरन्तर श्रवणकी योग्यताका होना जिज्ञासा फल अथवा अवधि है। श्रवणके अनन्तर ही उपपत्तिसे भिन्न मननकी अनिवार्य आवश्यकता जँचती जैसे जिज्ञासाके अनन्तर ही श्रवणके महत्त्वका पता है, ऐसे ही श्रवणके परिपक्व हो जानेपर मननका और

पश्चात् निदिध्यासनका महत्त्व है। ज्ञानसाधनामें श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनका यही क्रम है। जैसा कि श्रवण आदि साधनाका विधानसम्बन्धी (बृह० उ० २, ४, ५, ६)क्रम पाया जाता है, इसमें क्रमका उल्लेख तात्पर्यशून्य नहीं है। इस वचनमें वेदान्त-साधनाके पथका रहस्यपूर्ण संग्रह है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥'

प्रथम भूमिकाका साधन श्रवण

पूर्वमीमांसामें शास्त्र-तात्पर्यके निर्धारणमें उपयोगी षड्लिङ्गोंका वर्णन है—(१) उपक्रम-उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद तथा (६) उपपत्ति। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें इन षड्लिङ्गोंद्वारा उपनिषदादि ब्रह्मविद्याविषयक शास्त्रोंके परम तात्पर्यका निर्धारण करना श्रवण कहलाता है। परमतत्त्वके सम्बन्धमें अनेक विकल्प हैं—(१) जड है अथवा चेतन, (२) विशिष्ट चेतन है अथवा चिन्मात्र, (३) कर्ता, भोक्ता है अथवा अकर्ता, अभोक्ता, (४) त्रिविध भेदयुक्त चेतन है अथवा अखण्ड चेतन, (५) विभु है, अणु है अथवा मध्यम परिमाण। इन भिन्न-भिन्न विरोधी सिद्धान्तोंका प्रकरणानुसार वर्णन उपनिषदादि सच्छास्त्रोंमें उपलब्ध होता है, जिसके आधारपर वेदान्तके सम्प्रदायोंमें भी कई भेद हैं। इसीलिये शास्त्रवचनोंमें भी विरोध-सा प्रतीत होता है, जिसके कारण संशय हो जाता है और श्रुतिप्रमाणमें आस्था भी शिथिल होने लगती है। यदि पुण्यबलसे कुछ श्रद्धा बनी रहे, तो भी बुद्धि इस परस्पर विरोधको सहन नहीं कर पाती। यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाय तो भी कुछ फलकी सिद्धि नहीं होती। फल किसी निर्णीत सत्यके अनुष्ठानके द्वारा प्राप्त हो सकता है; इसलिये उपर्युक्त परस्पर-विरोधका समन्वय अनिवार्य है।

श्रवणकी सफलता

परमतत्त्वके निर्णयके द्वारा तथा तद्विरोधी शास्त्रवचनोंके उपयुक्त अर्थके द्वारा शास्त्रके विरोधी वचनोंका समन्वय करनेमें श्रवणकी सफलता है। मुख्य या प्रधान विरोध यह है कि परमतत्त्व त्रिविध भेदरहित अखण्ड चेतन है अथवा जड-चेतन-भेदयुक्त चेतन है। दोनों प्रकारके वचन उपनिषदोंमें पाये जाते हैं। अभेदपरक कुछ वचन ऊपर उद्धृत किये गये हैं। कुछ भेदवचन भी पाये जाते हैं; जैसे कठ० ३, १; ६, ७-८; ईश० ८-१४; प्रश्न० ५, १; मुण्डक० ३, १; १-३; तैत्तिरीय० ३, १; ऐतेरय० १, १-२; बृह० ३, ७, ३-२३ इत्यादि।

द्वैत तथा अद्वैत वचनोंका समन्वय

इसी प्रकार परमतत्त्वविषयक अन्य भी अनेक विरोध पाये जाते हैं। श्रवणके द्वारा इन परस्पर विरोधी वचनोंका गौण, मुख्य आदि भेदोंसे समन्वय करना अनिवार्य है। यहाँपर विशेष विवेचनका अवकाश नहीं। यहाँ तो केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि इस परस्पर-विरोधरूपी आपत्तिका निराकरण श्रवणके द्वारा हो सकता है। सूक्ष्म, एकाग्र तथा पक्षपातरहित बुद्धि ही आचार्यके सहयोगसे शास्त्रके तथ्य तात्पर्यका निर्णय कर सकती है। षड्लिङ्गोंसे उपनिषदोंके तात्पर्यकी समीक्षा करनेसे यह निर्णय करना सहज होता है कि अद्वैतपरक वचन ही मुख्य हैं। अन्यथा ये सब वचन निरवकाश हो जाते हैं और श्रुति प्रामाणिक नहीं ठहरती। यदि शरीर-शरीरिभाव तथा प्रेम-भावना आदिके द्वारा इनके गौण अर्थ किये जायँ, तो भी श्रुतिकी अपूर्वता खण्डित हो जाती है। कहा जा सकता है कि सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्मका ज्ञान शास्त्रसे ही हो सकता है; परंतु एक बार जगत्-नियामक चेतन सत्ताको स्वीकार कर लेनेपर, उपर्युक्त गौण अभेदके उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् यदि शास्त्रका परम तात्पर्य द्वैतको स्वीकार किया जाय तो अद्वैतपरक वचन निरवकाश हो जाते हैं। यदि इस दोषकी निवृत्तिके लिये अद्वैतके गौण अर्थ किये जायँ, तो श्रुतिकी प्रामाणिकताके भङ्ग हो जानेकी आपत्ति आती है। इसी प्रकार श्रुतितात्पर्यनिर्णायक षड्लिङ्ग भी अन्य अनेक आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं। इसलिये परमार्थ अद्वैतपरक वचन मुख्य हैं। जीव-ईश्वरका अभेद मुख्य तथा परम सत्य है और द्वैतपरक वचन लौकिक व्यवहारके अनुवादमात्र हैं तथा कर्म उपासनापरक हैं। ये वचन उनके लिये हैं, जिनकी बुद्धि स्थूल—प्राकृत है और परम अद्वैतको ग्रहण कर सकनेमें असमर्थ है। उनके लिये अधिकारोचित उपासनाकी साधनाके लिये भेद तथा उपासना आदिका निरूपण सापेक्ष सत्य है। साधनचतुष्टयसम्पन्न तीव्र-बुद्धिवाले जिज्ञासुके लिये ये वचन नहीं हैं।

इसी प्रकार विरोधी प्रतीत होनेवाले अन्य शास्त्रीय वचनोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके प्रसादसे हो जाता है और शास्त्रोक्तियोंमें परस्पर विरोध नहीं रह जाता। शब्दप्रमाणका समन्वय होनेके साथ ही यह निश्चय हो जाता है कि अध्यात्मविषयक श्रुतिका मुख्य

तात्पर्य अभेदमें है । शब्दप्रमाण भेदको मिथ्या बताता है । भेदके प्रतीत होनेपर भी शब्दप्रमाण अभेदको ही सिद्ध करता है; इस विषयमें संदेह नहीं रहता ।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनका यही सार है कि साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासु प्रथम भूमिकाका अधिकारी है । ब्रह्मज्ञान-साधनाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण व्यवहारकी निवृत्तिरूपी संन्यास जिज्ञासुके लिये स्वाभाविक तथा निरन्तर ज्ञान-साधनाके लिये परमोपयोगी एवं अनिवार्य है । प्रवृत्ति और ज्ञान-साधनाका तम और प्रकाशकी भाँति परस्पर विरोध है । प्रथम कक्षाका प्रधान साधन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे उपनिषद् आदि ब्रह्मविषयक शास्त्रोंका श्रवण करना है । उपनिषद्के द्वैत तथा अद्वैतपरक वचनोंके तथ्य तात्पर्यके (१) उपनिषद्वचनोंके अन्तर्गत विरोधका समन्वय तथा (२) त्रिविध भेदरहित अखण्डचिन्मात्र आत्मभावेन निःसंदेह निर्णय करना श्रवणसाधनाका परम फल तथा अवधि है । इस अवस्थाके प्राप्त जिज्ञासुको उपनिषद् आदि ग्रन्थों तथा इन ग्रन्थोंके भागोंका विशेष स्वाध्याय करनेकी आवश्यकता नहीं जिनमें प्रधानतया आस्तिक बुद्धिवालोंके लिये परम वर्णन है । उसे श्रवणका फल प्राप्त हो चुका है; शब्दका परम तात्पर्य अद्वैतका निश्चय हो चुका है; इससे श्रवणका कुछ लाभ नहीं और इसीलिये वैसे साधककी रुचि नहीं रहती है; क्योंकि उसका प्रमाणगत संशय हो गया है ।

महारास

(रचयिता—श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी ओझा 'मुक्त')

समवेत गान

कैसी आज जुन्हाई !
कैसी अनुपम शोभा छितिपर छबि-छाई छहराई ॥
कैसी आज मनोहर राका,
भरा धरापर स्वप्न विभाका,
उतर अवनिपर, किरण-डोर धर, विधु-दीधिति सकुचाई ॥
उत्कंठा जागी जन-जनमें,
जागा मधुर मनोरथ मनमें,
तन-तनमें सिहरन भरनेको शशि-लेखा मुसकाई ॥
नभका हास-विलास मनोरम,
भू-अधरोंपर आज रहा थम,
लास-भरी धरती विलाससे लेती है अँगड़ाई ॥

सूत्रधार

चंद्रिका खिल उठी मिल धराके गले,
व्योममें सोमका स्निग्ध संचार है ।
वात सहमा हुआ, रात ठिठकी हुई,
रुद्ध-सा लोकका शोक-संभार है ॥
हिल रही वल्लिका, मल्लिका खिल रही,
भर रहा हर दिशा अमित आमोद है ।
व्योमके वक्षपर, सोमके पक्ष-सा
लक्ष्यको जा रहा श्वेत पाथोद है ॥

स्वर्गसे भूलकर भूमिकी धूलपर
यह विभाकी कुमारी चली आ रही ।
लाजके व्याजसे आज या मेदिनी
शुभ्र घूँघट निकाले भली आ रही ।

या रसाके लिये विधु स्वयं व्योमसे
हँस सरस, सोम-रस-धार बरसा रहा ।
या कि मृत्पात्रहीमें महीके कहीं
कामधुक्का धवल क्षीर भर-सा रहा ।

चंद्रिका चंद्रका हास लेकर चली,
आ अवनिके वदनपर बिखर-सी गई ।
विष्टपोंके असित अंग उत्संगमें
कौमुदी भर स्वयं ही निखर-सी गई ।

तेजके तीरकी पीर गंभीर जो
देह दिनभर धराकी तपाती रही ।
चंद्रिका शीत-करसे उसीपर सदय
स्नेह-आलेप निशि-भर लगाती रही ॥

चंद्र-आलोक भी कोकके शोकको
रोक पाया नहीं, वह कलपता रहा ।
कौन जाने कि किस शापसे रातभर
विरह-उत्तापमें आप तपता रहा ॥

सरस रस-लोभसे रहसमें बैठकर
अलि नलिन-कोषमें हो गया बंद है ।
कौमुदीमें मुँदी पंखड़ीको खड़ी
देखती दूर भ्रमरी निरानंद है ॥
वेणु-वनमें कहीं सो रहा स्वर मुखर
मर्म मर्मर विपिनका कसक-सा रहा ।
हर लहरपर हहर जो बही जा रही
उस सरितका तरल मन मसक-सा रहा ॥
गंधकी साँसमें रुद्ध उच्छ्वास-सा
छोड़कर कुसुम कमनीय झरने लगे ।
पर सुहागों-भरी वल्लरीके अधर
विद्रुमों-से द्रुमोंपर सिहरने लगे ॥
आज वृंदा विपिन मग्न हैं मोदमें
छबि अमर लोककी ज्यों छनी आ रही ।
आजकी यामिनी कामिनीके लिये
सहज अनुगामिनी है बनी आ रही ॥
आजके क्षण विलक्षण, सिहातीं खड़ी
भूमिका भाग्य देवांगना, स्वर्ग भी ।
आजका काल ऐसा कि सिर धुन रही
साधना, मल रहा हाथ अपवर्ग भी ॥
शांत आकाश है, शांत वातास है,
इंदु-कर भूमिपर शांति जड़-सा रहा ।
आज यमुना-किनारे खड़े कृष्णके
चित्तमें रास-रस है उमड़-सा रहा ॥
ईशकी कामनासे बना विश्व यह
आज रह-रह बुलाता उन्हें पास है ।
धर अधरपर मुरलिका मधुर, श्यामने
इसलिये ही बजाई अनायास है ॥

समवेत गोपी-गान

यमुनाके तीर कौन बाँसुरी बजाता ?
अंग-अंग है उमंग–संग बहा जाता ॥
स्वरके रसकी हिलोर
तन-मनको रही बोर
सिहर यह शरीर है अधीर हुआ जाता ।
मनको मन्मथ ललाम
मथता-सा हाय राम
बरबस इस याम हमें कौन है बुलाता ?
बंसी यह टेर रही
किसका पथ हेर रही
लोक-लाज आज भला है किसे सुहाता ?
गोपियाँ लग्न थीं गेहके नेहमें
वेणुका स्वर सुना, भ्रांत-सी हो गईं ।
कृष्णके प्रेमको क्षेमकर जानकर
देह-मन खो, मगन हो, बिजनको गईं ॥
वेणुकी तानमें गान जो प्राणका
चित्तको खींचकर वह बुला-सा रहा ।
अमित आनंद–संदोहके पालने
ब्रह्म ज्यों जीवको है झुला-सा रहा ॥
यह घड़ी है बड़ी भाग्यशाली कि जो
श्यामने आप ही है पुकारा हमें ।
कर कृपा-कोर चितचोरने चावसे
आज ही तो प्रथम है निहारा हमें ॥
व्यर्थ असमर्थताका न कुछ अर्थ है
त्यागकर दर्प अर्पण स्वयंको करें ।
आज आत्मा मिले तत्त्व परमात्मसे
हम अमर लोकका रस रसामें भरें ॥
सोचकर इस तरह रह सकीं चिर न फिर
श्यामकी लालसासे मचलने लगीं ।
तोड़ बंधन सभी, मोड़ मुँह मोहसे
गोपियाँ घर-नगरसे निकलने लगीं ॥
धेनु पय-भारसे राँभती रह गई
बह गई छाछ फिर दूर गिर पात्रसे ।
सुध बिसरकर, सिहरकर, किधर जा रहीं
बस्त्र-भूषण गिरे स्वस्त हो गात्रसे ॥
कंठलग्ना स्वपतिकी नवोढ़ा निकल
चल पड़ी हो बिकल तिलमिलाती हुई ।
स्तन्य छूटा सरल शिशु मचलता रहा
माँ चली मोदसे गीत गाती हुई ॥

जो सती थी व्रती मतिमती, कांतकी
चरण-आराधना छोड़ वह चल पड़ी ।
घर सँजोती बिलोती हुई दूध जो
काजसे आज मुँह मोड़ वह चल पड़ी ॥
एक थी राँधती, एक लट बाँधती,
एक अंजन नयनमें लगाती रही ।
देरसे हेरती पंथ प्रिय पांथका
एक थी नीर दृगसे बहाती रही ॥
एक खाती रही, एक गाती रही,
एक रोता हुआ शिशु सुलाती रही ।
त्यागकर सब जहाँका तहाँ, चल पड़ीं
गोपियाँ, वेणु जिनको बुलाती रही ॥
सासकी ताड़ना, नन्दका वारना,
रोष पतिका उन्हें रोक पाया नहीं ।
देख सम्मुख सिसकता सलोना सुवन
गोपियोंने तनिक शोक पाया नहीं ॥
बावली-सी गलीमें चली जा रहीं,
जा मिलीं तरणिजाके तरल तीरपर ।
चित्तमें छबि छिपाये विमल श्यामकी
कर निछावर तरुण प्राण आभीरपर ॥
बाँसुरीमें भरे प्रेमके स्वर मुखर
गूँजते घर-नगर, सरि-लहरपर रहे ।
भूमिको चूमकर, झूमकर जो उठे
शून्य आकाशमें हास भरकर रहे ॥
गोपियाँ देह-सी आ गईं पास, पर
प्राण-सी राधिका रुक गईं मानसे ।
हरि हँसे हेरकर, टेरकर बाँसुरी
फिर पुकारा उन्हें योग्य सम्मानसे ॥

राधा-माधव-संवाद

श्रीकृष्ण–
राधा राधा राधा !
हरिका हृदय तुम्हींने अपने प्रेम-रज्जुसे बाँधा ॥
मैंने सबको सहज पुकारा,
पर तुमने ही मुझे बिसारा,
नहीं जानती हो क्या, तुमसे रहित रहा मैं आधा ॥
राधा राधा राधा !

राधा–
लो, आई माधव, मैं आई, अब न रही कुछ बाधा ॥
महा मिलनका रास रचाकर,
किंतु मुझे ही नहीं बुलाकर,
तुमने दी पीड़ा, मैंने उस व्रीड़ासे चुप सा
पर आई माधव, यह आई, अब न रही कुछ बा

श्रीकृष्ण–
तुम हो मेरे रोम-रोममें,

राधा–
तुम अणु-अणुमें, धरा-व्योममें,

दोनों–
तुम मुझमें हो, मैं तुममें, दोनोंकी प्रीति अगा
एक दूसरेसे अभिन्न हैं दोनों माधव-रा

श्रीकृष्ण–
है अनादिसे तुमने मुझको प्रेम-रज्जुसे बाँ

राधा–
भव-भावन नारायणके चरणोंमें नत है रा

श्रीकृष्ण–
आओ, हिलमिल रास रचाएँ,

राधा–
स्वर्ग उतार धरापर लाएँ,

राधा–
नरसे नारायण मिल जाएँ, बरसे शांति अबा
हे माधव, मुकुंद, मधुसूदन !

श्रीकृष्ण–
राधा, राधा, राधा !
बह रहा नील नभके तले नील जल
नीलरुचि शुचि शिलापर समासीन हैं।
रम रहे कोटि ब्रह्मांड हैं रोममें
पर स्वयं वे अहंसे उदासीन हैं।
बाँसकी बाँसुरी है अधरपर धरी
जो विधुर लोकमें स्वर मधुर भर रही।
प्रीतिकी बेलिको केलिसे सींचकर
गोपियोंके हियोंको विमल कर रही।
बाँधकर दल सकल गोपियाँ आ गईं
घेरकर कृष्णको नाचने लग गईं।
लास-उल्लासमें, हास-परिहासमें
वासना त्यागकर प्रीतिमें पग गईं।

नूपुरोंके रणन, किंकिणीके क्वणन,
स्वन चरणके मधुर ताल देने लगे।
अंगकी भंगिमाको मिली गति चपल
तन तरल तंतुसे लहर लेने लगे॥

मोदमें मग्न होकर कहीं गोपियाँ
तालसे स्वर मिला गीत गाने लगीं।
कंठके नीड़से मीड़-खगको मधुर
मूर्च्छना-ग्राम-संयुत उड़ाने लगीं॥

नृत्य-संगीतकी यह मनोहर छटा
देखकर देवगण भी सिहाने लगे।
मेनका-उर्वशी भी ठगी-सी रहीं
पुष्प गंधर्व-किन्नर गिराने लगे॥

रास-गीत

यमुना-तट रासका विलास-लास छाया।
गोकुलमें उमड़ आज यह हुलास आया॥
आज मत्त-मोद-भरी
विविध विधि विनोद-भरी
शारदीय शर्बरी, झरी प्रफुल्लताया।
नटवर नरके समान
नाच रहे बन अजान
फैल रहा लोक-ओकमें सुयश सुहाया।
पायलकी छूम-छनन
मुरली-सुरलीन विजन
प्रकृतिमें पुरुष पुराण प्राण-सा समाया।
उडुगण, ग्रह, सूर्य, सोम,
धरा, अंतरिक्ष, व्योम,
नाच रहे तमस्तोममें प्रकाश-छाया।
इंद्र, वरुण, यम, कुबेर
नृत्य-निरत रहे हेर
नाच स्वयं शेषने समस्त जग डुलाया।
नर्तित खग-मृग-निकाय
शैल-विटप विपुलकाय
भव यह शीतलच्छाय रास-रस-नहाया।
गोपियोंका परम भाग्य थीं हेरती
स्वर्गमें मुग्ध देवांगनाएँ खड़ी।
सोचतीं, क्यों न व्रजमें मिला जन्म जो
कृष्णका संग पातीं सहज दो घड़ी॥

गोपियोंने विचारा कि त्रैलोक्यमें
रूप हम-सा किसीको मिला ही नहीं।
कांति-सरमें अमर-लोकके भी कभी
छबि-नलिन आजतक है खिला ही नहीं॥

रूपके गर्वसे गर्विता गोपियाँ
नृत्य-श्रम-स्वेद क्रमसे बहाने लगीं।
मंद होने लगी गति सहज चरणकी
आभरण खोलकर वे गिराने लगीं॥

रुक गये कृष्ण तब छद्मसे हो चकित
देखकर गोपियोंको थकित इस तरह।
भक्त-अनुरक्त आसक्त कब आत्ममें
पर अपरकी व्यथा कब नहीं है असह?

चर-अचरमय सकल सृष्टि है दृष्टिका
एक इंगित सहज सच्चिदानंदकी।
भासती मात्र लीला उसीकी यहाँ
ज्योति उसकी बनी सूर्यकी, चंदकी॥

प्राणका दंभ करने चली पुत्तली
कृत्य कर्ता स्वयंको लगा मानने।
सर्वमय खर्व करते सदा गर्वको
जन्म जिसको दिया असत्-अज्ञानने॥

देख आरंभ यह दंभका ईशने
एक कौतुक किया बात ही बातमें।
खो गये, हो गये दृष्टिसे दूर जो
थे अभीतक सभीके समुद साथमें॥

गोपियोंकी पलक भी झिपीतक न थी
फिर छिपी वह मनोहारिणी छवि कहाँ?
हो गईं वे विकल जल भरे नैनमें
रह गईं सब ठगी-सी जहाँकी तहाँ॥
क्या हुआ यह अरे, हे हरे, क्या करें
दीन हैं हम अकेली विपिनमें यहाँ।
ज्योति ज्यों लोचनोंकी गई हो, हमें
छोड़कर तुम भला हो सिधारे कहाँ?

देहका मोल क्या प्राणसे हीन जो
मीन जलसे बिछुड़कर जिये किस तरह।
चातकी स्वातिकी बूँद पाये न तो
अन्य जल वह अनल-सा पिये किस तरह॥

लक्ष नक्षत्र ले अंक निःशंक हो
सोम यह व्योमपर राजता है अभी।
इन लता तन्वियोंका तुनुक भार ले
वृक्ष सज्जा नई साजता है अभी॥

यह सलिलवाह लेकर तरंगें अमित
मोदसे मत्त गाता चला जा रहा।
क्या हुई भूल जो शूल-सा यह विरह
है हमें ही रुलाता चला जा रहा॥

एक क्षण था मिला क्षीण सौभाग्यका
अल्प हो, कल्प-सा ही लगा यों हमें।
स्वप्नने सत्यका रूप ले, मूर्त हो
धूर्त बनकर अचानक ठगा यों हमें॥

यह निशा यह दिशाओं-भरी चंद्रिका
चंद्र निस्तंद्र यह, घोर है यह विपिन।
हा सकें पा कहाँ ढूँढ़ लें जा कहाँ
रह सकें सह विरह किस तरह यह कठिन॥

यों बिलखती विविध भीतिके भावसे
घोर वनमें विकल हो सकल टेरतीं।
घेरकर भूमिको घूमतीं, ढूँढ़तीं
हो विफल हारकर शून्यको हेरतीं॥

दो दृगोंने गिरा जल विमल कर दिया
गोपियोंका हिया, प्रभु प्रकट तब हुए।
राधिकाने गही बाँह, उन्मादिनी
गोपियोंने शरणके चरण जा छुए॥

गोपी-गीत

नमो नमो पूर्णकाम हे नमो नमो
तुम विकार-रहित ब्रह्म जीवमें रमो।
त्याग सकल देह-धर्म
पावें हम आत्म-मर्म
हे सुकर्म चर्म-अंतरायको दमो।
जरा-मरण-भय अतीव
सहते हैं सभी जीव
मुक्त करो भीतिसे न अब तनिक थमो।
पाप-ताप दैन्य-दुरित
दूर जायँ सभी त्वरित
तोषयुक्त ! दोष दीनके सभी क्षमो।
देह-दंभ दमन करो
कृपा-कोर कम न करो
शमन करो विरह प्राण-प्राणमें रमो।

यों महारास-रस है बरस-सा रहा
है सरस यह रसा डोलती लोल-सी
आजकी चाँदनीसे छनी यामिनी
है महीपर रहीं मत्तता घोल-सी
नाचते राधिका-संग माधव मुदित
नाचती सृष्टि सारी निहारी गई
सोम रविके सहित स्वर्गकी छवि अमित
आज यमुना-किनारे उतारी गई
कृष्ण हैं एक ही, एक ही राधिका
किंतु आराधिका गोपियाँ हैं बहुत
श्याम-उत्संगमें राधिका-अंगको
देखकर संगको व्यग्र-सी हैं बहुत
किंतु सहसा हुई एक घटना नई
हरि सभी गोपियोंके सहित हो गये
एक ही ब्रह्म सब जीवमें रम रहे
गोपियोंके हृदय मल-रहित हो गये
नाचने-सी लगी यह रसा रासमें
अब्धिमें दूरतक पूर आने लगा
स्वर्गमें यक्ष-गंधर्व-किन्नर-निकर
मत्त हो नाचने और गाने लगा
नाचने लग गये ग्रह-उपग्रह सभी
रह सके जड न, जड आज चेतन बने
दूरकर देहका दाह देही रहा
विजित जगमें सजग मीनकेतन बने

रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी 'रामायणी')

(१)

आज श्रीअवधके प्रत्येक नर-नारियोंकी म्लान मुखश्री देदीप्यमान हो उठी है। प्रत्येकके हृदयमें आशाकी सुवर्णमयी किरणें चमक उठी हैं। सभी विभिन्न कार्योंमें संलग्न हैं। कोई हस्तियोंके पृष्ठभागपर मनोरम कनकमय हौदे सुसज्जित कर रहे हैं। कोई जीन रच-रचके चपल तुरंगोंको सुशोभित कर रहे हैं। इसी प्रकार नगरके गृह-गृहमें जनसमुदाय नाना प्रकारके वाहनोंको समुद्यत कर रहा है। सब-के-सब श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणकमलकी संनिधि प्राप्त करनेकी त्वरामें हैं। श्रीभरतलालकी सराहना करनेके साथ-साथ नागरिक परस्परमें कहते हैं कि आज बहुत विशाल कार्य सम्पन्न हो गया—

कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलै कर साजहिं साजू॥

इधर श्रीभरतलालने भी विश्वासपात्र अनुचरोंको घर सौंपकर श्रीवसिष्ठको, विप्रवृन्दको, श्रीकौसल्यादि माताओंको और श्रीरामप्रेमोन्मत्त नागरिकोंको आदरपूर्वक स्थान कराकर श्रीसीतारामजीके मङ्गलमय चरणसरसिजोंका स्मरण करके श्रीरघुनाथपददर्शनार्थ प्रस्थान किया—

सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम सिय चरन तब चले भरत दोउ भाइ॥

आज श्रीभरतलालकी काननयात्राका चतुर्थ दिवस है—श्रृंगवेरपुर दिखायी पड़ रहा है। किंचित् दिवस पूर्व श्रीराघव भी यहाँ एक रात्रि विश्राम कर चुके हैं। निषादराजने प्रभुकी सम्पूर्ण सेवा की थी। परंतु आज भरतका आगमन सुनकर वे ही श्रीरामसखा निषादराज भरतके लिये स्वागत-सामग्रियोंका संकलन नहीं कर रहे हैं। वे उनसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित नहीं हो रहे हैं, अपितु इन सब क्रियाओंके प्रतिकूल कटकसहित श्रीभरतका आगमन सुनकर श्रीनिषादराजको अपने प्रेमास्पद श्रीराघवके अनिष्टकी आशंका हुई और वे लगे सविषाद विचार करने—

कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥

श्रीरामके वनगमनमें तो कारण था, परंतु श्रीभरतके काननगमनमें क्या कारण है? कारणरहित कार्य नहीं होता। अवश्य ही इनके मनमें कुछ कपट-भाव है। यदि श्रीभरतके मनमें कुटिल भावना न होती तो साथमें कटक लेनेकी क्या आवश्यकता थी? साथमें कटक लेना ही कुटिलताका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अवश्य ही चौदह वर्षके वनवाससे इनको संतोष नहीं प्राप्त हो सका। वे यह समझ रहे हैं कि राज्यपथमें कंटकस्वरूप श्रीराम-लक्ष्मणको सर्वदाके लिये दूर हटाकर सानन्द राज्य-सुखका उपभोग करेंगे।

श्रीनिषादराजने केवल विचार ही नहीं किया, अपितु वे भी श्रीभरतसे समर करनेके लिये संनद्ध हो गये—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥

श्रीभरतके साथ प्रत्यक्ष लोहा मैं लूँगा और जीते जी गङ्गा उतरने न दूँगा।

केवल श्रीनिषादराज ही समरोद्यत नहीं हुए, अपितु उनकी समस्त सेना भी अपने स्वामीके साथ श्रीराम-कार्यमें अपने प्राणोंका बलिदान करनेको कटिबद्ध हो गयी। श्रीगुहराजकी ललकार सुनकर वीर सुभटोंने रोषपूर्वक जिन शब्दोंको वदनच्युत किया है, वे शब्द कितने ओजस्वी हैं—

राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥
जीवत पाउ न पाछें धरहीं। रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं॥

नाथ ! श्रीराघवेन्द्रके प्रचण्ड प्रतापसे एवं आपके बलसे हमलोग श्रीभरतकी सेनामें एक भी योद्धा तथा एक भी अश्व जीता न छोड़ेंगे । विश्वकी कोई भी शक्ति हमलोगोंको निष्प्राण किये बिना आगे बढ़नेमें नितान्त असमर्थ होगी । हम भगवती वसुन्धराको रुण्डमुण्डसे आच्छादित कर देंगे ।

देखा आपने श्रीभरतलालके प्रति गुहराज एवं उनके सुभटोंके द्वारा की गयी कुत्सित धारणाको—

यद्यपि यह ठीक है कि श्रीरामसखा निषादराज एवं उनके सम्पूर्ण सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे । उनका प्रेम तो उनके वचनोंसे और उनकी क्रियाओंसे ही स्पष्ट है । श्रीगुहराजके कितने मार्मिक, उपदेशपूर्ण और श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत ये वचन हैं ।

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा । राम काजु छनभंगु सरीरा ॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू । बड़ें भाग असि पाइअ मीचू ॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें ॥
साधु समाज न जाकर लेखा । राम भगत महुँ जासु न रेखा ॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू । जननी जौबन बिटप कुठारू ॥

श्रीगुहराज श्रीभरतसे समराङ्गणमें समर करके विजय-प्राप्तिका ध्यान भी मनमें नहीं लाते; वे तो यह समझते हैं कि भरतसे युद्ध करनेमें मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है । किंतु मेरी मृत्यु भाग्यवान्‌की मृत्यु होगी; क्योंकि युद्ध-भूमिमें मरनेसे वीरगति प्राप्त होती है । दूसरी बात यह है कि लोकपावनी गङ्गाके पवित्र तटपर मेरी मृत्यु होगी । तीसरे, क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाला यह शरीर श्रीराघवेन्द्र सरकारके कार्यमें आ जायगा । इससे अच्छा और क्या होगा ? कहाँ तो श्रीरामके भ्राता भरत और कहाँ मैं नीच जन; फिर श्रीभरत नरेन्द्र भी तो हैं ? बड़े भाग्यसे ऐसी मृत्यु मिलती है । मैं अपने राघव सरकार-के लिये समरभूमिमें युद्ध करूँगा और अपने यशसे चौदहों लोकोंको धवलित कर दूँगा । श्रीरघुनाथजीके निमित्त प्राणत्याग करूँगा । मेरे दोनों हाथोंमें आनन्दके हैं । अर्थात् मेरा लोक-परलोक दोनों सुधर ज सज्जनोंके समाजमें जिसकी गणना न हो और भक्तोंमें जिसकी रेखा न हो, वह इस जगत्‌में व्य है । वह पृथ्वीपर भारस्वरूप है और उसके उत्पन्न उसके माँका यौवन अकारण ही नष्ट हुआ । अ

श्रीगुहराजके भक्त सुभटोंकी भी कितनी भ उक्ति है । श्रीरामके प्रतापमें उनका कितना विश्वास है । वे पृथ्वीको रुण्ड-मुण्डमय बना प्रतिज्ञा करते हैं, किंतु यदि उनसे पूछा जाय कि इतनी प्रचण्ड शक्ति विद्यमान है कि तुम ऐसा कार्य कर सको ? तो वे कहते हैं ना भैया ना इतनी शक्ति कहाँ जो मैं तिनका भी उठा सकूँ कार्यके सम्पन्न होनेमें तो श्रीरामचन्द्रका प्रताप ही निमित्त होगा—

'राम प्रताप नाथ बल तोरे'

अहा ! कितनी उत्कृष्ट भावना है ! श्रीराम कितनी अविचल श्रद्धा है !

श्रीगुहराजने श्रीभरतके प्रत्यक्ष समराङ्गणमें उपस्थित करनेका विचार किया, परंतु शस्त्रास्त्रसे होनेके पूर्व श्रीराघवेन्द्रका ही मङ्गलमय स्मरण क रहे हैं—

'सुमिरि राम मागेउ तुरत तरकस धनुष सन

श्रीनिषादराजके भक्त सुभटगण भी शस्त्रास्त्रसे होनेके पूर्व कितना सुंदर स्मरण करते हैं—

'सुमिरि राम पद पंकज पनहीं'

विशेष—वीर सुभटोंने धनुष, तरकस, शिरस्त्राण, परशु, भाले, बरछे और तलवार आ युद्धोचित सामग्रियोंका संकलन किया शस्त्रास्त्रोंसे अपने शरीरको सुसज्जित किया, क्या ? युद्धका एक प्रधान अस्त्र दिखायी नहीं

जिसके अभावमें शत्रुके प्रचण्ड आघातसे अपनेको सुरक्षित रखना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य होता है। उस अस्त्रका नाम है 'चर्म' अर्थात् 'ढाल'। कुछ महानुभाव 'एक कुसल अति ओड़न खांडे'के 'ओड़न' शब्दको 'ढाल'के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। कुछ विद्वान् समालोचक यह कह दिया करते हैं कि वे सुभटगण तलवारके आघातको अवरुद्ध करनेमें इतने समर्थ थे कि उन्हें ढालकी आवश्यकता ही न थी। इसी प्रकार अनेक मतोंकी अनेकानेक विचारधाराएँ हैं। मैं सबका सम्मान करता हूँ। परंतु मेरे परमपूज्य आदरणीय गोमहाराजजी कहा करते थे कि सुभटोंने इस परमावश्यक अस्त्रसे अपनेको सर्वप्रथम सुसज्जित किया था। इनकी 'ढाल' बड़ी विशाल थी। जिस ढालके ऊपर विश्वके बड़े-बड़े अस्त्र टकराकर उसी भाँति निष्फल सिद्ध होते हैं, जिस भाँति पादपोन्मूलन शक्तिवाला युका वेग पर्वतोन्मूलनमें व्यर्थ सिद्ध होता है। वह ढाल' थी श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणसरसिजोंकी कमलमयी 'पनहीं'। कितनी सुन्दर ढाल है। 'ढाल'को 'चर्म' कहते हैं। 'पनहीं' भी चर्मकी ही होती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि यद्यपि श्रीनिषादराज उनके वीर सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे, परंतु विचारना तो यह है कि श्रीभरतलालके भावको उन्होंने कितना विपरीत समझा। जिन श्रीभरतके रोम-रोममें राम रम रहे थे, जिनका जीवन ही अपने श्रीरामके लिये था, जिन्हें अहर्निश अपने प्रेमास्पद श्रीरामकी याद रहती थी, जिन्होंने देवदुर्लभ अवधराज्यका त्याग कर अपने श्रीराघवके लिये मुनिवेष धारण किया उन श्रीभरतके प्रति इनकी की गयी धारणा कितनी असंत धारणा थी। यह भी ठीक है कि निषादगण-कृत निषादराज अपने श्रीरामके लिये प्राणोत्सर्ग करने-को उद्यत है; परंतु विचारना तो यह है कि क्या भरत भी उनके प्राण लेनेकी धारणा करते हैं? ध्यानसे मनन करें कि आज परिस्थिति श्रीभरतके कितनी प्रतिकूल है। आज उनके प्रेमी हृदयको वनकी रहने-वाली जाति भी कपटमय समझ रही है। परंतु श्रीभरत-के लिये तो श्रीनिषाद, श्रीरामके मङ्गलमय सखा हैं। सखाकी श्रेणी समानताकी है। अतएव श्रीभरतके हृदयमें तो इनके लिये महान् आदर है।

श्रीनिषादनाथने वीरोंके सुसज्जित दलको देखकर समरवाद्य वादित करनेकी आज्ञा दे दी। वीरोंमें उमङ्ग भी था। श्रीराम-कार्यके लिये बलिदान हो जानेका उत्साह भी था। श्रीनिषादनाथकी आज्ञा भी थी। परंतु युद्ध नहीं हुआ। सम्पूर्ण वीरसेना चित्र लिखी-सी खड़ी रह गयी। आगे बढ़ भी कैसे सकती थी? इन लोगोंने श्रीराघवेन्द्रके लोकोपकारक मनोहर चरणोंमें ध्यान जो लगाया था। श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनके स्मरणके पश्चात् भी दो श्रीरामभक्तोंका पारस्परिक संग्राम कैसे हो सकता था? क्योंकि यह कार्य अमर्यादित होता। श्रीरामके प्रतापका स्मरण करके कोई श्रीराम-भक्त, श्रीरामप्राणप्रिय, श्रीरामप्रेमास्पद श्रीभरतलालके साथ विरोध-जैसा जघन्य कार्य कर भी कैसे सकता था? अतएव 'जुझाऊ ढोल' सुवादित करनेकी आज्ञा देनेके साथ-साथ श्रीनिषादनाथको शकुन-विचारकर्ताओंकी शरण लेनी पड़ी।

एतना कहत छींक भइ बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥

सगुन विचारकर्ताने छींकका फल बताया—

बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं॥

एक बूढ़ेने शकुन विचारकर कहा कि भरतजीसे मिलाप होगा, उनसे मिलिये, युद्ध न होगा। श्रीभरत श्रीरामचन्द्रको मनाने जाते हैं। शकुन ऐसा कह रहा है, अर्थात् हम अपने मनसे नहीं कहते, शकुन ही ऐसा बता रहा है कि श्रीभरतके मनमें विरोधभाव नहीं है।

शकुनफलश्रवणानन्तर भी परीक्षक गुहराजकी आशंका दूर न हुई। उन्होंने प्रेममय श्रीभरतलालको निष्कपट न माना। वे परीक्षा लेनेकी भावनाका परित्याग न कर सके। उन्होंने अपने वीरोंको सम्बोधित करते हुए अपनी भावनाको व्यक्त किया—

गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तस तब करिहउँ आइ॥

सबलोग सिमिटकर घाटको रोकनेका ठाट ठटो। मैं जाकर श्रीभरतसे मिलकर उनका भेद लूँ कि श्रीराघवेन्द्रके प्रति इनके मनमें विरोधभाव है या मित्रभाव है अथवा समानभाव है। श्रीनिषादने परीक्षण-सामग्रियोंका संकलन किया और विधिवत् संकलन किया। उनकी परीक्षण-सामग्रियाँ थीं भेंट-सामग्री। उन्होंने तीन प्रकारकी भेंटें एकत्रित कीं। ये तीनों प्रकारकी सामग्रियाँ भावपूर्ण सामग्रियाँ थीं और क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी द्योतिका थीं। पाठक सामग्रियोंपर ध्यान दें—

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥

श्रीनिषादराज भेंटका साज सजाने लगे। कन्द, मूल, फल, पक्षी और मृग मँगाये और कहाँर मोटी तथा पुरानी पहिना मछलियोंके भार भर-भरकर लाये।

विशेष—श्रीनिषादनाथ गुह भी बड़े अच्छे राजनीतिज्ञ थे। मित्र, शत्रु, मध्यगति-परीक्षणकी कितनी विचित्र युक्ति है? भेंटसे राजाके प्रति अपने कर्त्तव्यका निर्वाह भी हुआ; क्योंकि 'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं भिषजं गुरुम्' और उधर राजनीतिकी चाल भी चली गयी कि यदि श्रीरामके प्रति मित्रभावना होगी तो सत्त्वगुणी पदार्थ कंद-मूल-फल स्वीकार करेंगे; क्योंकि सत्त्वगुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति कन्द-मूल-फल ही रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं। सम्भवतः मुनिसमूह कंद-मूल-फलसे प्रेम इसीलिये करते हैं। यदि अरिभावना होगी तो रजोगुण पदार्थ खग-मृग स्वीकार करेंगे; क्योंकि रजोगुणी प्रकृतिवाले व्यक्तियोंका खग-मृगकी ओर झुकाव स ही है। इसीलिये राजाओंके राजोद्यानमें ख बहुलता रहती है। यदि उदासीनता होगी तो पदार्थ मीन-पीन-पाठीन पुराने स्वीकार करेंगे; घोर तामसिकोंका आहार है 'मीन पीन पाठीन सच्छास्त्रोंने मत्स्य-मांसको गर्हित बताया है। सर्वमांसादः।' अस्तु—

श्रीनिषादनाथने मिलन-वस्तुओंको सजाकर लिये प्रस्थान किया तथा श्रीवसिष्ठको देखकर शिष्टाचारपूर्वक दण्ड-प्रणाम करके आशीर्वचन प्राप्त

आइये श्रीभरतलालकी अनुरागमयी भावना झाँकी करें।

श्रीवसिष्ठने श्रीभरतलालको समझाकर कहा उपस्थित हुआ व्यक्ति श्रीरामसखा गुह है। इस शब्दको सुनते ही श्रीभरत पुलकित हो उन्होंने रथका परित्याग कर दिया और प्रेमम हुए निषादकी ओर चल पड़े—

रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अ

श्रीनिषादको दण्डवत् करते देखकर उठाकर उनको हृदयसे लगा लिया, मानो मिल गये हों। हृदयमें प्रेम अँटता नहीं—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर ला
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समा

श्रीभरतलालकी भावनासे भावित होकर तो बात ही क्या अन्तरिक्ष भी आनन्दमय हो देवगण श्रीनिषादके भाग्यकी सराहना करके पु करने लगे—

धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरसहिं

जनसमुदाय ईर्ष्यापूर्वक श्रीभरत-प्रीति-रीतिकी कर रहा है—

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम

श्रीभरतके निष्कपट प्रेमालिङ्गनको प्राप्तकर श्री-निषादराज प्रेममय हो गये। क्यों न होते? प्रेमीका मिलन होता ही ऐसा है। तभी तो प्रेमियोंसे मिलनेके लिये प्रभु भी उतावले रहते हैं। श्रीनिषाद श्रीभरत-मिलनसे तो केवल प्रेममय ही हुए थे, किंतु भरतकी अनुरागसानी वाणी सुनकर तो भूल गये अपने-आपको एवं संकलन की हुई परीक्षण-सामग्रियोंके अर्पित करने-की सुधिको—

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

धन्य है श्रीभरतलालकी प्रेममयी वाणी एवं भावनाको तथा उनके सौशील्यको। जिसके कारण श्रीभरतको कपटी एवं कुटिल समझकर परीक्षा लेनेकी भावनासे आये हुए निषाद भी श्रीभरतलालकी शील, स्नेह और त्यागमयी त्रिवेणीमें डूब गये।

आपके अभाव और अधूरापन

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥'

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ।'

आपके जीवनमें अतृप्ति, अभाव एवं असंतोष उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आप अपनी स्थिति और जीवनको, अपने गुण या अभावोंको दूसरोंसे विशेषतः अपनेसे अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति एवं अधिक योग्यतावालोंसे तथा हैसियतमें उच्च पद पानेवालोंसे तुलना करते हैं।

आप दूसरोंके समान उच्च स्थिति, सुन्दर वस्तुएँ और अपना समृद्धियाँ तो ले नहीं पाते, उलटे अपनेको तुच्छ, निर्बल, दीन-हीन समझने लगते हैं। अपनी अपेक्षा उच्च स्थिति, बड़े ओहदे और समृद्धिवालोंसे तुलना करनेपर मनमें ईर्ष्याभाव उत्पन्न होता है। हम उनकी सुन्दर वस्तुएँ, उन्नत स्थिति और जीवनकी सुविधाएँ देखकर ईर्ष्याकी अग्निमें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं।

आपका मन चुपचाप आपसे कहा करता है, 'हाय! मैं न हुए बड़े-बड़े मकानोंके मालिक! जमीनों, जायदादोंके अधिपति, मोटरकार और रेडियोके स्वामी। हे परमेश्वर! इस दुनियामें एक-से-एक बड़ा आदमी पड़ा है, किंतु क्या हमारे भाग्यमें यही गरीबी, यही बेबसी और अभाव लिखा है। हमारा यह पड़ोसी मजेमें रोज मेवा-मिष्ठान्न उड़ाता है, फलोंके ढेर लगे रहते हैं; इसके यहाँ एक-से-एक उत्तम वस्त्र और फैशनेबल वस्तुएँ हैं और इसकी पत्नी कितनी सुन्दर है। हमारे भाग्यमें फूहड़ नारी ही लिखी है। हमारे पास ठीक तरह लज्जा ढकनेतकको वस्त्र नहीं हैं, दूसरा दर्जनों कपड़ोंको संदूकोंमें सड़ा गला रहा है; उफ् हमारी कैसी विषम स्थिति है। हमारे पड़ोसीके दो पुत्र हैं, उधर हमारे तीन-तीन पुत्रियाँ हैं और सो भी निम्न मानसिक गुणोंवाली। हमारे चारों ओर वैभवका अमित भण्डार बिखरा दीखता है, किंतु हमारे भाग्यमें टूटा मकान और रूखी-सूखी रोटियाँ ही बदी हैं। काश! हम भी ऐसे ही ऊँचे पद, ऐसे ही समृद्धिके स्वामी, ऐसे ही स्वस्थ, सर्वगुणसम्पन्न, अमीर, प्रतिष्ठित और वैभवशाली होते।'

आपके इन उद्गारोंमें ईर्ष्या बोल रही है। सावधान! आप अपनी निम्न स्थितिको—जो आपके वशकी बात नहीं है—दूसरोंकी अच्छी स्थितिसे मिलाकर हीनत्वकी भावनाका अनुभव कर रहे हैं। सम्भव है, उनकी समृद्धिका कोई ऐसा गुप्त कारण हो, जो आपके वशकी

बात नहीं है। अनेक गुप्त कारणोंसे चली आती हुई उस समुन्नत स्थितिसे तुलनामें आप अपनेको साधारण पाकर दुखी हो रहे हैं। तुलना करनेमें आप उनकी केवल अच्छाई-ही-अच्छाईको तथा अपने जीवनकी बुराई-ही-बुराईको देख रहे हैं। आपका निर्णय एकपक्षीय है।

अभाव, बुराइयाँ और निर्बलताएँ किसमें नहीं होतीं? कौन हर दृष्टिसे पूर्ण है? ये कमजोरियाँ मनुष्यमात्रमें सर्वत्र हैं। किसीमें शारीरिक, किसीमें नैतिक तो किसीमें मानसिक या बौद्धिक निर्बलताएँ हैं। आपने अपनी अच्छाइयों, उत्तमताओं और गुणोंको छोड़ अपने विषयमें तुच्छ तथा उसके मुकाबलेमें दूसरेके साधारण-से गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर देख लिया है।

दूसरेका धन आपको बढ़-चढ़कर दीखता है तो अपनी गरीबीमें अभाव-ही-अभाव नजर आता है। दूसरेके पैसोंमें भी आपको अशर्फियाँ दीखती हैं, तो अपने रुपयोंमें भी पाइयाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं।

दूसरेके साधारण स्वास्थ्यमें भी आपको पहलवान दीखता है। दूसरेके बच्चे आपको बल, पराक्रम और शक्तिसे भरे-पूरे नजर आते हैं तो अपने कुशाग्रबुद्धि बच्चे मन्दबुद्धि दीखते हैं। उनमें कोई बुद्धि, सौन्दर्य अथवा विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

दूसरेकी साधारण-सी पत्नीमें आप उच्चकोटिका सौन्दर्य, नवीनता, अपूर्व आकर्षण देखकर मुग्ध हो उठते हैं, तो अपनी शील-गुणसम्पन्न, सती-साध्वी धर्मपत्नीमें फूहड़पन, अशिक्षा और मूर्खता देखते हैं। उसके द्वारा बनाया हुआ भोजन, सफाई, शिष्टाचार, बोलचालमें आपको कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

अपना पेशा आपको सबसे बुरा, नीरस और श्रमसाध्य प्रतीत होता है; किंतु दूसरोंके कठोर पेशे भी बहुत अच्छे, आमदनीसे परिपूर्ण और आरामदायक लगते हैं। हम चाहते हैं कि दूसरों-जैसे हम भी सुख और सुविधाओंसे पूर्ण रहें। हम संगीतज्ञ संगीतपर विमुग्ध हो उठते हैं और स्वयं चाहते ही गाया करें, जब कि उनके द्वारा उठाये और बलिदानका हमें कोई ज्ञान नहीं होता।

संक्षेपमें यों कहें कि दूसरा व्यक्ति, उसका परिवार, साधन, स्वास्थ्य, बाल-बच्चे आदि आकर्षक प्रतीत होते हैं। उसका जीवन हमें सर्वगुणविभूषित, सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रतीत होता है हमें अपना सब कुछ अति साधारण, तुच्छ और प्रतीत होता है। वास्तवमें ऐसा नहीं है। अपने अपने परिवारके प्रति आप कितना बड़ा अत्या रहे हैं—यह आप नहीं जानते।

हम दूसरोंके जीवनके बाह्य पहलूमात्रको हैं। हमारा निर्णय एकपक्षीय होता है। ह ऊपरी निगाहसे कुछ तत्त्वोंको देखकर दूसरोंके बहुत ऊँची-ऊँची भ्रमात्मक कल्पनाएँ करने लगते हैं आँखें दूसरोंकी खूबियोंमें मस्त हो जाती हैं। त्रुटि यह है कि हमारी वृत्ति बहिर्मुखी है। ह जीवन और साधनोंको दूसरोंके मापदण्डोंसे नाप दुखी होते रहते हैं। अभाव और ईर्ष्याकी निरन्तर दग्ध होते रहते हैं।

तुलनात्मक दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाले दुः चिन्तासे मुक्त होनेका एक उपाय पुराने शा इस प्रकार बतलाया है—

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्ति

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ हैं तो कहीं कुछ।'

वास्तवमें हर दृष्टिसे पूर्ण संसारमें कोई भी नहीं पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य सभीमें एक सुन्दर

गुण है, तो कई अवगुण भी हैं। मोर कितना सुन्दर पक्षी है। उसके सुन्दर रंगोंको देखकर मन अनायास ही प्रसन्न हो उठता है, किंतु तनिक उसके पाँव देखिये, कितने गंदे और कुरूप होते हैं। मुर्गेके सिरकी कलँगी कितनी रंगीन और शानदार प्रतीत होती है, पर कैसा घृणित है उसका भोजन। वह अभक्ष्य पदार्थ खाता है। बारहसिंगेके सींग कितने अच्छे मालूम होते हैं, पर वह कैसा दुर्बल होता है। सिंहका चर्म खूबसूरत, धारियाँ मुलायम देखने योग्य होती हैं, पर उसका खूँखारपन हिंसक दुष्प्रवृत्ति भयावह है। हाथीकी चाल शानदार है, पर उसका आलस्य निन्दनीय है। निष्कर्ष यह कि संसारके हर जानवरमें (और इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें भी) कोई-न-कोई अभाव है। एक अच्छाई है तो दो बुराइयाँ भी हैं। पूर्णरूपसे सुन्दर और उपयोगी कोई नहीं है। परंतु इन अभावोंके बावजूद अपने विशिष्ट गुणके कारण सब पशु-पक्षी प्रसन्न रहते हैं और अपने गुणप्रदर्शनसे दूसरोंके नैराश्यको दूर करते हैं। खेलते-कूदते, मधुर संगीतका उच्चारण करते और मस्त रहते हैं।

मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अभावसे पूर्ण है। किसीके पास स्वस्थ शरीर है तो सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य है तो शक्ति नहीं है। शक्ति है तो चरित्र नहीं है। चरित्र है तो खाने-पीनेके लिये पैसा नहीं है। सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्च पद नहीं है। कोई शरीरसे स्वस्थ है तो अनेक पारिवारिक अड़चनोंमें डूबा हुआ है। किसीको बच्चोंकी शिक्षा, विवाह आदिकी चिन्ता है तो किसीके बाल-बच्चे हैं ही नहीं। किसीको सौ-सौ बीमारियाँ लगी हुई हैं। कोई समाजमें निम्न वर्णमें पड़ा सवर्णोंसे ईर्ष्या कर रहा है। कोई नौकरीके लिये परेशान है तो किसीका व्यापार नहीं चल रहा है। किसीमें अच्छी स्थिति होते हुए भी बचत नहीं है, समृद्धि नहीं है। कोई मादक द्रव्योंके मादक संसारमें सुखके लिये भटक रहा है। जितने मनुष्य हैं, उतने ही उनके अभाव हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें कहीं-न-कहीं अधूरापन है। अपूर्णता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वगुणसम्पन्न हो, चिन्तामुक्त हो, सर्वोत्तम स्थितिमें हो या हमेशा प्रतिष्ठित रहा हो।

जीवनका पथ समतल भूमि नहीं है। कहीं उसमें सपाट भूमि है तो कहीं कंकड़-पत्थर, काँटे बिखरे हुए हैं; कहीं पुष्पोंसे युक्त सुन्दर सुगन्धित हरे-भरे वृक्ष हैं तो कहीं काँटोंसे भरे बीहड़ जंगल भी हैं। कहीं कठिनाइयोंके दुर्वह पर्वत हैं तो कहीं सुख-सुविधा-प्रतिष्ठाके सुन्दर रमणीक दृश्य भी हैं।

अपने अभावोंको ही देखते रहना और अपनी दुर्दशापर रोना-कल्पना, गिरी हुई स्थितिपर कुढ़ना, दोष देना अपनी उन्नतिमें बाधा उपस्थित करना है। अपनी दुर्बलता देखनेसे दुर्बलता और दोषोंकी ही वृद्धि होती है। अभाव, दुःख, कमजोरी, गरीबीके कुविचारोंसे वैसी ही दुःखदायक विषम स्थिति उत्पन्न होती है। अपना सत्-चित्-आनन्दस्वरूप—आत्मरूप—ही देखना न्याय है।

ईश्वरको धन्यवाद दीजिये कि आपके पास स्वास्थ्य है, शक्ति है, सामर्थ्य है, रूप और गुण है। निश्चय जानिये, आपकी योग्यताएँ बहुत हैं। केवल उनपर आलस्य, कुविचार और अज्ञानका गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। आपको ऊँचा उठकर सद्विचार, सद्ग्रन्थावलोकन, शुभचिन्तन और दृढ़ संकल्पद्वारा अपनी गुप्त शक्तियोंको पहचानना है, विकसित करना है। आप अपने सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियोंको देखिये और उसी दिशामें अपना विकास कीजिये।

अधूरापन, अभाव तथा अशान्ति दूर करनेके लिये

आप अपनेसे नीचेवालोंकी स्थितिसे अपनी तुलना कीजिये । उनसे तुलना करनेपर आपको अपनी शक्तियों, सुविधाओं और अच्छाइयोंका ज्ञान हो सकता है। आपके भाग्यमें उच्चतम शक्तियाँ आयी हैं । इनके लिये परमपिता परमेश्वरको धन्यवाद देते हुए आगे बढ़ने, विकसित होनेके लिये निरन्तर संघर्ष कीजिये ।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छ
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसू

अर्थात् 'उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको निद्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—इन छः त्याग कर देना चाहिये ।'

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

आहार

आहार-शुद्धिपर हिंदू-समाजने बहुत अधिक ध्यान दिया है । आहारमें स्वरूप-दोष, संसर्ग-दोष और भाव-दोष—ये तीन प्रकारके दोष माने गये हैं । इन तीनों दोषोंसे रहित आहार ही ग्राह्य है । आहार-शुद्धिसे ही सत्त्वशुद्धि होती है और सत्व-शुद्धिसे अन्तर्मुखता प्राप्त होती है, अतएव अन्तर्मुखता जिस समाजका लक्ष्य है, उसका पूरा ध्यान आहार-शुद्धिपर हो, यह स्वाभाविक है ।

आहार सात्त्विक होना चाहिये । कन्द-मूल-फल और गोरस तथा मधु—ये पूर्ण सात्त्विक आहार हैं । अन्न राजस आहार है और मांसादि तामस । समष्टिरूपसे यह भेद होनेपर फिर इनमेंसे प्रत्येकमें भी सात्त्विक, राजस, तामस-भेद होते हैं । आदि युगमें मनुष्यका आहार पूर्ण सात्त्विक था । द्वापरके अन्ततक राजस और तामसमेंसे भी उनका सात्त्विक भाग ही ग्रहण किया जाता था । जैसे अन्नमें गेहूँ आदि सात्त्विक हैं, परंतु बासी, कटु, अत्युष्ण आदि होनेपर वे तामस या राजस हो जाते हैं । आदर्श तो यह है कि सात्त्विक आहारपर ही रहा जाय; परंतु यदि ऐसा न हो सके तो राजसके भी सात्त्विक-रूपसे ही काम चलाना चाहिये । अन्न, फल प्रभृति भी गंदे स्थानों और गंदे जलसे उत्पन्न हों तो उन्हें शास्त्रने त्याज्य बतलाया है । आज डाक्टर स्वीकार करते हैं कि गंदे नालेके जलसे सींचे वृक्षोंके फल तथा शाक और गंदी खादसे उत्पन्न अन्न अनेक बीमारियोंके कारण होते हैं । इतनेपर भी आज वैज्ञानिक खादोंकी प्रशंसा होती है । गंदगीको खादके उपयोगमें लेनेकी योजनाएँ बनती हैं । उस गंदगीसे उत्पन्न अन्नादिका भोजन करके मनुष्य चाहता है कि वह स्व उसका मन पवित्र रहे । देखकर भी वह नहीं दे अन्न, फल, शाकमें वे तत्त्व आये विना रह नहीं स उस भूमिमें हैं; जिसमें वह अन्न उत्पन्न हुआ है । अ विद्वान् जानते हैं कि अयुक्त स्थलपर उत्पन्न ओषधि होती है और कभी-कभी विपरीत परिणाम भी कर देती है ।

कनेरके श्वेत फूलोंको डंठलसहित तोड़ लीजिये डंठलको ऐसे पात्रमें डुबो दीजिये, जिसमें लाल या नी जलमें मिला हो । कुछ घंटोंमें पुष्पोंपर वह रंग स्पष्ट लगेगा । यह बात सिद्ध करती है कि भूमिके सब तत्त्व बदल नहीं जाते । कुछ उसमें पहुँचते ही हैं । अ लोग मधुमक्खियाँ पालते हैं । आसपास शीरेके पी देते हैं । मक्खियाँ वह शीरा ले जाकर छत्तेमें भर दे जैसे इस प्रकारके छत्तेका मधु शुद्ध मधु नहीं है और ह वैद्यक ग्रन्थोंमें नगरोंमें लगा तथा जहाँ हलवाइयोंकी दू वहाँ लगा मधु गुणकारी नहीं कहा गया है, वैसे ही कृत्रि गंदी खादोंसे उत्पन्न फल तथा अन्न भी शुद्ध नहीं शारीरिक रोग और मानसिक विकृति उत्पन्न करते हैं ।

आहारमें दूसरा दोष संसर्गज होता है । यह तीन प्र है—सजातीय, विजातीय, और स्वगत । एक पदार्थ समयके पश्चात् दूषित हो जायगा, यह अमुक समयमें हानि करेगा, उसका स्वगत विकार है । अमुक पात्रमें या रखनेसे, अमुक पदार्थके साथ अमुकके मेलसे, पदार्थ अमुकके पास रखनेसे हानिकर हो जायगा,

जातीय भेद है। अमुक व्यक्ति या भोज्य पदार्थोंसे भिन्न स्तुके स्पर्शसे जो विकार आते हैं, वे विजातीय विकार हैं। ाज डाक्टर कीटाणु-विज्ञानको लेकर स्वच्छतापर अत्यन्त ल देते हैं। बात-बातमें गर्म पानी और साबुनसे हाथ धोना ंहें आवश्यक प्रतीत होता है; परंतु भारतीयके बार-बार ाथ धोनेका उपहास किया जाता है। कीटाणु तो समझमें ाते हैं और स्वच्छता आवश्यक जान पड़ती है; परंतु प्रत्येक दार्थ एवं व्यक्तिसे निरन्तर परमाणु निकलते हैं एवं समीपस्थ था संसर्गमें आनेवाली वस्तुओंमें प्रवेश करते हैं, यह बात रण नहीं होती। इन परमाणुओंमें उस पदार्थ या व्यक्तिके रीरगत एवं विचारगत सब गुण-दोष होते हैं, यह बात मझमें आ जाय तो हिंदूकी पवित्रता तथा स्पृश्यता-स्पृश्यताका रहस्य समझनेमें कठिनाई नहीं होगी।

भोज्य-पदार्थमें एक दोष भावका होता है। सब जानते हैं कि दि भोजनके समय भोजनके प्रति रुचि न होकर घृणा हो ाय तो उसका पाचन ठीक नहीं होता। यह बात अपने-क ही सीमित नहीं है। दूसरेकी भावना भी यदि हमारा ोजन देखकर खराब होगी तो भोजन हमें अनुकूल फल हीं देगा। उससे हानि हो सकती है। अतएव भोजन कान्तमें करनेका विधान है और ऐसे पदार्थ त्याज्य माने ये हैं जो अपनी आकृति आदिके कारण कोई अयुक्त भाव त्पन्न करते हैं।

आहारमें एक बात और भी परम आवश्यक मानी गयी , वह है द्रव्य-शुद्धि। अन्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त किया आ आहार मन और बुद्धिको बिगाड़ता तथा वृत्तिको सर्वथा हिर्मुख कर देता है।

जहाँतक भोजनोंकी विविधताका प्रश्न है षड्रस एवं तुर्विध भोजन (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय) मेंसे प्रत्येकमें अनेक कार प्रचलित थे। छप्पन प्रकारके व्यंजन तो इस देशमें सिद्ध ही हैं; परंतु हिंदू-समाजमें यह सब विस्तार जिह्वाकी सिके लिये विहित नहीं है। वानप्रस्थ तो वन्य कन्द, मूल था मुन्यन्नोंपर निर्वाह करे, ऐसी आज्ञा है। संन्यासी जहाँतक सके वानप्रस्थके यहाँसे भिक्षा करे और गृहस्थके यहाँसे क्षा लेना हो तो सबके भोजन कर चुकनेपर तीसरे प्रहरके रम्भमें भिक्षाटन करने जाय। ब्रह्मचारी कच्चे अन्नकी क्षा ले और उसे गुरुदेवके सम्मुख रख दे। गुरु जो उसके ये उपयुक्त समझकर उसे दें, उससे क्षुधा-शान्ति कर ले। न आश्रम तो ये तपस्याके आश्रम हुए और ब्राह्मण गृहस्थ वनवासी थे ही। गृहस्थके लिये कहा गया है कि यदि वह केवल अपने लिये भोजन बनाता है तो पाप खाता है। अतिथिके लिये, आराध्यको निवेदित करनेके लिये वह विविध व्यंजन प्रस्तुत करता है। बलिवैश्वदेव करके अतिथि, ब्राह्मण, सेवकादिको देकर जो बचे, वह यज्ञशेष है। वही उसका भाग है। जिह्वाकी तृप्तिको उसमें अवकाश नहीं।

स्वागत-सत्कार

शिष्टाचारकी बात तो पृथक् ही वर्णन करनेयोग्य है; परंतु स्वागत-सत्कारमें और भी बहुत-सी बातें हैं। हिंदू-समाजमें अतिथि तो आराध्यका रूप है। उससे जाति, कुल, उद्देश्य पूछनेकी आज्ञा नहीं। घरपर अतिथि आवे तो गृहस्थका सौभाग्य। उसे मानना चाहिये कि स्वयं उसके आराध्य पधारे हैं। इसी दृष्टिसे सब सेवा-सत्कार उसे करना चाहिये। हिंदू-समाजमें सुगन्धित अर्घ्य देने और चरण धुलवाने या धोनेकी अत्यन्त सुरुचिपूर्ण, स्वास्थ्यप्रद प्रथा थी। दुर्भाग्यसे अर्घ्यका लोप हो गया।

अतिथिके समान ही ब्राह्मण भी पूज्य होते हैं। द्वापरतक कहीं किसीके घरमें जानेके लिये ब्राह्मणको पूछना नहीं पड़ता था। राजाके अन्तःपुरसे झोंपड़ीतक कोई ब्राह्मण चाहे जब अबाध जा सकता था।

किसी अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति या राजाके निकलनेपर, उत्सवोंके समय घरोंके ऊपरसे पुष्प, लाजा (धानकी खीलें) बालिकाएँ और स्त्रियाँ डालती थीं। द्वारोंपर मङ्गल कलश और प्रदीप सजाये जाते थे। दूर्वा, अक्षत, केसर तथा दधिके द्वारा एक दूसरेका अभिषेक करते थे। मार्गपर वस्त्र (पाँवडे) बिछाये जाते थे, उस सम्मान्य जनके आनेके लिये।

हाथी, घोड़े ये भारतीय स्वागत-सत्कारमें भाग लेते। वृषभ और गोमाता सदासे हिंदुओंकी पूज्य हैं और नाना प्रकारके भेरी, नफीरी, वंशी आदि वाद्य स्वागतसमारोहमें प्रयुक्त होनेपर भी हमारा मङ्गल-वाद्य शङ्ख ही है। शङ्ख हिंदू-समाज और हिंदुस्थानका राष्ट्रिय वाद्य है। वह मङ्गलवाद्य एवं युद्धवाद्य भी है।

मनोरञ्जन

किसी भी जातिकी आन्तरिक प्रवृत्ति उसके मनोरञ्जनके साधनोंमें स्पष्ट होती है। हिंदू-समाजके मनोरञ्जनके साधनोंमें एक ओर ललित कलाएँ हैं। उन चौसठ कलाओं-

मेंसे अब बहुतोंका लोप हो गया है। कुछके अपूर्णांशको लेकर ही आजके महान् कलाकार धन्य हो जाते हैं। इनमें काव्य, चित्र, नृत्य, गान, वाद्य प्रभृति सभी कलाएँ हैं। प्राचीन समयमें ये सब कलाएँ आदरकी दृष्टिसे देखी जाती थीं। इन सबमें मनुष्यको अन्तर्मुख करनेकी प्रेरणा ही कलाकी सार्थकता मानी जाती थी। इनके अतिरिक्त अनेक साधन मनोरञ्जनके थे, जो अपने वर्णधर्मकी शिक्षामें सहायता देते थे। आजका प्रसिद्ध बौद्धिक खेल शतरंज पुराने 'शत्रुंजय' क्रीड़ाका ही एक सरल रूप है। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस क्रीड़ाका जो वर्णन है, वह आज समझना भी कठिन है।

कन्दुक-क्रीड़ा—गेंद खेलना, यह खेल पहले बच्चों और स्त्रियोंके योग्य ही माना जाता था। इसमें जितना साधारण शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम होता है, वह शिशुओं या नारियोंके लिये तो ठीक है, पर शक्तिशाली पुरुषका व्यायाम उससे होता नहीं। आजकलके कोमलकाय, हीनशक्ति पुरुषोंकी बात मैं नहीं कहता। हिंदू-समाजका जो पुरुष खुली भूमिपर केहरीको खाली हाथों मल्लयुद्धके लिये ललकार सकता था, उसकी क्रीड़ा मल्लयुद्ध या तैरना या आखेट ही हो सकती थी। राजकुमार घोड़ोंपरसे एक प्रकारकी कन्दुक-क्रीड़ा करते थे। उसका जो वर्णन है, उससे जान पड़ता है कि वह वर्तमान 'पोलो' से मिलता-जुलता कोई खेल होगा।

मनोरञ्जनकी दूसरी विधि होती है समाजके सामूहिक समारोह। हिंदू-समाज इस सम्बन्धमें आज भी विश्वमें सबसे आगे है। यहाँ 'सात वार नौ त्योहार' प्रसिद्ध कहावत है। इन सब पर्वों तथा उत्सवोंमें पूजा, पाठ, जप, देवयात्राहीका विधान होता है। जीवनका प्रत्येक अंश यदि अन्तर्मुख होनेके प्रयत्नसे सार्थक न हो, तो संस्कृतिका उद्देश्य कैसे पूर्ण होगा।

हिंदू-संस्कृतिने कभी शरीरको महत्त्व नहीं दिया और कभी मृत्युको जीवनसे अधिक महत्त्वशाली नहीं माना। हमारे यहाँ शरीरका मोह त्याज्य है, हेय है। अतएव हमारे उत्सवों, प्रथाओंमें ऐसा कोई भाव नहीं, जिससे शरीर या मृत्युको महत्ता मिले। जो असुर शरीरको महत्त्व देनेवाले थे, वे हमारे शास्त्रोंमें तिरस्कृत हुए। इसीलिये हमारे यहाँ आत्मकथा, अनुपयोगी जीवनियाँ, अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखने-लिखानेकी परिपाटी कभी नहीं थी। मृत पुरुषोंकी न तो समाधियाँ बनायी जाती थीं, न स्मारक। मरण-तिथि मनाना तो मृत्युको जीवनपर महत्त्व देना है। हिंदू-समाजने जन्मतिथि तथा विजय-दिवस मनाना श्रेयस्कर माना।

पाश्चात्त्य संस्कृति शरीरको महत्त्व देती है। वहाँ बहुत बड़ी घटना है। शरीरको सुरक्षित रखने ही कब्र, समाधि आदि बनवाती है और आगे वृत्तिसे प्रेरित स्मारक बनते हैं। आत्मकथा या जीवनी वृत्तिका दूसरा रूप है। इसी प्रकार अभिनन्दन-ग्रन्थ अनेक प्रणालियाँ पाश्चात्त्य देशोंकी अब भारतीय स्वीकार करता जा रहा है। भगवान् बुद्धके समय समाधि बनने लगी थी। हिंदू-समाजपर यह आक्षेप जाता है कि हम महान् व्यक्तियोंका उपयुक्त आदर नहीं जानते और इतिहास नहीं रखते। प्रश्न तो कोई व्यक्ति चाहे जितना महान् हो, उसके प्रति सच्चा क्या है? उसके जीवनवृत्तको गाना, उसकी मूर्तियाँ करना या उसने जिस सत्य, मङ्गल-तत्त्वका साक्षात्कार उसे अपना लेना? लेनिनका शरीर रूसमें सुरक्षित उसके सिद्धान्त? भारतमें महात्मा गान्धीजीके प्रति बहुत किया जाता है, पर उनके अनुयायी कितने आदर्शका पालन कर रहे हैं?

हिंदू-समाजकी मान्यता है कि शरीर नश्वर है। स्मरण कोई अर्थ नहीं रखता। ध्यान एवं चिन्तनमें भगवान्‌के नित्य दिव्य शरीर और उनके अवतार हैं। भगवान्‌के भक्तोंका ध्यान तथा उनके चरित भी पावन करते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्ति अपने या शरीरको महत्ता दे, यह वृत्ति बहिर्मुखताको उत्तेजित है। महान् व्यक्ति कैसे रहते थे, क्या खाते थे, कहाँ यह सब तो उनके नश्वर शरीरको महत्ता देना है। ही उनके जीवनमें जो घटना हमारे लिये कल्याणकर शिक्षा देती हो, वह सुरक्षित रखनी चाहिये। उन महा जिस तथ्यको समाजके लिये अर्पित किया है, वही शाश्वत शरीर है। वही आदरणीय है। हिंदू-समाज बाणभट्ट, वररुचि, वाराहमिहिर, कालिदास, पतञ्जलि कणाद, गौतम आदिके शारीरिक जीवनको न जाने हमारे हृदयोंमें वे चिरजीवी हैं। उनके मङ्गलप्रयत्नोंको आपत्तियोंमें जितनी कठिनाइयोंसे रक्षित रक्खा गया है हमारी श्रद्धा प्रकट करनेके लिये पर्याप्त होना चा कालके सहस्रों युगोंके विस्तारमें दूसरे स्मरण स्थिर

सम्भव हैं क्या ? शरीर नाशवान् है तो उसके स्मारक नाशवान् न होंगे ? फिर शरीरको महत्ता दी क्यों जाय ? आज यदि शेक्सपियरके नाटक गुप्त हो जायँ ? उसका एक चित्र या जूता रहा तो और न रहा तो। चाहे जितने उपाय हों वह एक दिन तो नष्ट होगा ही। अमृतपुत्र मानव नश्वर पदार्थोंको महत्त्व दे, यह ज्ञानका लक्षण नहीं है। एक महापुरुष, जो 'शरीर' और 'नाम' की सीमाको लाँघकर अमृतराज्यमें प्रवेश कर चुका है, उसके शरीर और 'नाम' की पूजा तो एक प्रकारसे उसके ज्ञानस्वरूपका तिरस्कार ही है।

आज प्रत्येक राष्ट्र अपने इतिहासका इस प्रकार निर्माण करना चाहता है, जिसमें देशकी भावी संतति राष्ट्रके माने हुए उद्देश्योंकी ओर अग्रसर हो सके। घटनाओं तथा व्यक्तियोंकी अपेक्षा उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह ऐतिहासिक विद्वान् अब मानने लगे हैं। हिंदू-समाजका उद्देश्य वर्तमान पाश्चात्त्य-विचारधारासे सर्वथा भिन्न है, यह दूसरी बात—परंतु अनादिकालसे अपने उद्देश्यके अनुरूप हमने अपने इतिहास-का संकलन किया है। हम जिसे व्यर्थ मानते हैं, वही दूसरेके लिये ग्राह्य हो तो बात भिन्न हो जाती है। आजकी शिक्षा ही प्राचीन शिक्षासे भिन्न है।

हिंदू-समाजकी शिक्षा-पद्धति

बालकोंकी शिक्षा उसी प्रकार होनी चाहिये, जिस प्रकार समाजमें आदर्श व्यक्ति बन सकें। समाजका आदर्श जैसा होगा, शिक्षाका आदर्श भी वैसा ही बनेगा। आजका समाज भोगप्रधान है। आजका आदर्श पुरुष है पर्याप्त धनी, बड़ा विद्वान्, महान् वक्ता या लेखक अथवा वैज्ञानिक। मनुष्यने अर्थको प्रधानता दे दी है और अर्थको पानेके लिये बौद्धिक विकास उसका आदरणीय है। आजके समाजमें आचरणका महत्त्व ही नहीं है। समाजके अग्रगण्योंके व्यक्तिगत आचार अनेक बार सामान्य जनके लिये आश्चर्यजनक होते हैं। वरं यहाँतक कहा जाता है कि किसीका 'सामाजिक जीवन' देखना चाहिये। 'व्यक्तिगत जीवन' चाहे कैसा ही हो ! मनुष्यकी इस आचारहीनताको सोचतक नहीं सकते। फलतः आजकी शिक्षामें व्यक्तिके आचरणकी कोई महत्ता नहीं है। शिक्षाका अर्थ है अर्थोपार्जन-की युक्तियाँ सीखना और बुद्धिका विकास।

आजकी शिक्षामें आचार्यका कोई महत्त्व नहीं है। जब शिक्षामें शीलकी भावना ही नहीं तो 'गुरु' की क्या आवश्यकता ? आज तो केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना है। अध्यापक 'वेतनभोगी सेवक' हैं और मूल्य देकर घरपर उन्हें बुलाकर पढ़ा जा सकता है। आजकी शिक्षामें दोष भी बहुत-से हैं; वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उचित नहीं है। उससे योग्यताकी परीक्षा नहीं होती। विद्यार्थीको उसकी रुचिके विपरीत शिक्षा देनेसे उसका बौद्धिक विकास मारा जाता है। ये ऐसे दोष हैं, जिन्हें समाजने समझ लिया है। इन्हें दूर करनेके प्रयत्न अनेक देशोंमें हुए हैं। मुख्य प्रश्न तो उद्देश्यका है। आजके समाजका उद्देश्य है—अनियन्त्रित भोग। सहशिक्षा आचारके रहे-सहे बन्धनको भी समाप्त कर देगी। आजके छात्रोंका शील तो उनके अध्यापक जानते ही हैं; जिन्हें निरन्तर अपने शिष्योंके द्वारा पीटे जानेकी आशंका बनी रहती है और उपहास तथा अपमान तो नित्यकी सेवा-पूजा है !!

हिंदू शिक्षा-पद्धतिके पाठ त्याग, संयम, श्रम, सेवा और श्रद्धासे प्रारम्भ होते हैं। पुस्तकीय बौद्धिक ज्ञान तो गौण वस्तु है। पाँचसे बारह वर्षके मध्यमें ही द्विजातियोंके बच्चोंका यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाता था। माता-पितासे दूर बच्चे वनमें भेज दिये जाते थे। यह पहला पाठ मिलता था मोह-त्यागका। सम्राट्से लेकर भिक्षुकतकके बालक एक वेशमें, एक स्थानपर वर्षोंतक साथ रहते थे। यह समताका पाठ था। 'गुरुदेव ही आराध्य हैं, उनकी सेवा-आज्ञापालन ही सब कुछ है।' यह श्रद्धा थी और ब्रह्मचर्याश्रमके त्यागमय जीवनका तो पूछना ही क्या। छोटे-छोटे बालक मूँजकी मेखला पहिनते, वनसे समिधाएँ और फल एकत्र करते। भूमिपर सोते। हवन करते। भोजनके लिये भिक्षा माँग लाते और गुरुदेवके सम्मुख रख देते। गुरुदेव उसमेंसे जो उपयुक्त समझते, वह दे देते और शेष रख लेते। बाल बनवाना, तेल लगाना, शृङ्गार करना, दर्पण देखना, व्यर्थ हास-परिहास करना, खेल-तमाशे देखना, नाच गान करना, जूते पहनना आदि सब मना और रहना था दिन-रात गुरुदेवके समीप। संयम, सादगी, सदाचार, कष्ट-सहिष्णुता यही तपोवनकी शिक्षा थी। (आजके बोर्डिंगहाउसोंका रहन-सहन और कालेजकी शिक्षा इससे ठीक विपरीत है।)

शिक्षा ? किसीको पूछनेका अधिकारतक नहीं कि गुरुदेव कुछ पढ़ायेंगे भी या नहीं। बौद्धिक शिक्षाका क्या अर्थ ! गुरुदेवके आश्रमका निवास ही तो शिक्षा है। जब कभी

किसी छात्रपर गुरुदेव प्रसन्न होते; समझ लेते कि यह अमुक बौद्धिक ज्ञानका अधिकारी हो गया है। उसे ठीक-ठीक समझनेकी क्षमता इसमें इस समय है और यह इसका दुरुपयोग नहीं करेगा तो उस प्रकारके ज्ञानके सूत्र शिष्यको सुना देते। शिष्य उतनेसे धन्य हो जाता। ठीक समय जब बुद्धि ग्रहण करनेको प्रस्तुत हो, उसमें क्षमता हो, किया गया उपदेश पूर्णतः ग्रहण हो जाता है। मस्तिष्कपर भार नहीं पड़ता। इसके साथ प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों हो सकता है। आज विज्ञानके आविष्कारोंका दुरुपयोग हो रहा है। तपोवनोंमें रुचि, अधिकार, क्षमताके अनुसार ही शिक्षा मिलती थी। समाजका भावी जीवन जिन तरुणोंपर अवलम्बित था, वे गुरुगृहसे श्रद्धा, संयम, त्याग, तितिक्षा, कष्टसहिष्णुता और श्रम करनेका स्वभाव लेकर आते थे। उनके समीप उनकी रुचि, योग्यताके अनुरूप ज्ञान होता था।

शिक्षा प्राप्त करके तरुणने समाजमें प्रवेश किया। वह गृहस्थ बना। उसे स्मरण रखना है कि यह गृह उसका वास्तविक गृह नहीं है। वह जिस तपोवनसे लौटा है, वैसे ही तपोवनमें उससे अधिक तपके लिये उसे पुनः लौट जाना है। दूसरी बार न उसके वे दयामय संरक्षक गुरुदेव होंगे और न वे सहृदय साथी। उसे एकाकी रहना होगा। यह उसे विश्रामका एक समय मिला है। इसमें यदि वह अपने स्वभाव एवं अभ्यास बिगाड़ लेगा तो बड़ा कष्ट पायेगा। तपोवनकी शिक्षा भूलनेका अवसर ही नहीं है उसके लिये।

हिंदू-समाज तरुणोंका समाज है। बालकोंको शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। जब शरीरकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब आसक्ति बढ़ती है। जीवनके प्रति मोह बढ़ता है। शरीरकी, स्वास्थ्यकी चिन्ता बढ़ती है। इस समय समाजमें मनुष्य रहेगा तो वह आसक्त, शरीरसेवी, बहिर्मुख बन सकता है। अतः उसे तपोवन चले जाना चाहिये। तपस्याके द्वारा शरीरासक्तिपर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिये। समाजके संचालनका अधिकार सक्षम, सशक्त, परिश्रमी, बुद्धिमान् तरुणोंके हाथमें ही रहना चाहिये। यह स्वस्थ सबल हिंदू-समाजका स्वरूप है।

कुछ भी हो; मनुष्य बहिर्मुख न बने और न आचारका त्याग करे। जो नियम, संयम अपनी शक्तिके बाहर हों, उनका संकल्प लेकर दम्भ और प्रमादको आश्रय न दिया जाय। शास्त्रोंने कलियुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमोंका निषेध किया है। इनके नियम आजकी तथा मानसिक दुर्बलताके कारण पालन नहीं किये जा शास्त्रोंकी शिक्षाका उद्देश्य है—अन्तर्मुख बनाना शक्तिके अनुसार त्यागमय जीवन व्यतीत करना।

समाजका आधार

आजका समाज अर्थपर निर्भर है, अतः अर्थ बात आज सोची ही नहीं जा पाती। आजके आर्थिक साम्य उपस्थित करना चाहते हैं। वे पुराने 'सामन्तवादी समाज' कहते हैं। जैसे आधुनिक श्रुतियोंका समय निर्धारित करने बैठते हैं और कु वर्ष मानवसभ्यताका काल मानकर संतोष कर वैसे ही आजके राजनीतिक एवं अर्थशास्त्री विद्वा समाज-निर्माणको समझनेमें असमर्थ होकर उसे सा राज्यतन्त्र आदि कहने लगते हैं। वे उस समयके गठनको समझ ही नहीं पाते।

हिंदू-समाजकी रचना समझनेके लिये हमें य बात सदा ध्यानमें रखनी होगी कि शास्त्रोंने और भी अर्थ और कामको यहाँ कभी प्रमुखता नहीं दी दो आजके प्रगतिवाद या साम्यवादके मूलाधार भाव हिंदू-समाजमें ये गौण माने गये हैं। हिंदू-समाजने धर्मको दी है। धर्म ही मुख्य है और उससे अविरो तथा कामका उपभोग किया जा सकता है। वह भी दूसरोंके लिये त्यागा जा सके तो श्रेष्ठ है। इ त्याग श्लाघ्य माना गया और समाजकी प्रतिष्ठा आधारपर हुई।

महाभारतमें एक कथा आती है। उसका संक्षि यह है कि महर्षि अगस्त्यको एक बार यज्ञ करनेमें द्रव्यकी आवश्यकता हुई। वे अयोध्यानरेशके यहाँ महाराजने उनका सत्कार किया और अभीष्ट द्रव्य चाहा। महर्षिने इच्छा प्रकट की कि वे प्रजाके अ व्ययसे बच रहनेवाला द्रव्य ही लेंगे। हिसाब देखा ज्ञात हुआ कि आय-व्यय समान है। एक कौड़ी बचती महर्षिको दया आयी कि महाराजके पास अपने उप द्रव्य ही नहीं। वे अपने साथ महाराजको भी लेकर महाराजको भी कुछ दिलाना चाहते थे। एक-एक मिथिला आदि अनेक राज्योंके प्रसिद्ध राजाओंके पास

बके यहाँ वही आय-व्यय समान, सबको वे साथ लेते ये। अन्तमें असुर इल्वलके यहाँ उन्हें द्रव्य मिला।

इस कथामें हिंदू-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाका सुन्दर पष्टीकरण है। समाजके संचालक राजा नहीं—तपोवनमें हनेवाले महर्षिगण थे। वे सम्पूर्ण प्रजाके लिये पूज्य, आराध्य । अतः प्रजाका धन उनकी सेवामें लगे, यह सबसे प्रथम स धनका उपयोग है। उन ज्ञानात्माओंकी तुष्टि समाजका थम कर्तव्य है। परंतु यदि आय-व्यय देखना हो तो राजा तो क प्रजासेवकमात्र है। आय-व्यय बराबर है वहाँ।

प्रिंस क्रोपाटिकनने कल्पना की है—शासनहीन समाज- ी। अराजकतावादियोंके इस अग्रणीने अपने आदर्श माजकी रूप-रेखा उपस्थित की है। उसका कहना है कि नुष्यका स्वभाव है कि वह श्रम किये बिना रह नहीं कता। यन्त्रोंकी इतनी उन्नति हो जाय कि मनुष्य विनोद- लिये जितना श्रम करे, उतनेसे ही समाजकी आवश्यकताएँ री हो जायँ तो शासन-संस्था आवश्यक न होगी। लोग शंसाके लिये भी श्रम करेंगे। साम्यवादी कहते हैं कि बको आर्थिक सुविधा समान मिलनी चाहिये; परंतु जो सा श्रम करे, उसे समाजमें वैसा सम्मान प्राप्त होना ाहिये। मनुष्यमें सम्मान पानेकी वृत्ति लोभसे प्रबल है, तः यशकी इच्छाको लेकर समाजका गठन हो ही सकता है।

मनुष्यकी भोगेच्छा कभी तृप्त नहीं होती। प्रिंस ापाटिकनने यहीं भूल की कि मनुष्य यन्त्रोंके अमुक पादनसे तुष्ट हो जायगा और संघर्ष नष्ट हो जायगा। म्यवादी यह नहीं देखते कि यशकी इच्छा धर्मसे बँधी है। क बार वासनाकी तृप्ति अनिवार्य मान ली जानेपर मनुष्य र्लज्ज हो जाता है; जैसा कि साम्यवादियोंकी ही साहित्यिक धारा ातिवादमें उच्छृंखल भोगवृत्तिका प्रदर्शन गौरवास्पद ना जाने लगा है। भोगको प्रधानता देकर यशपर माजगठन सदा स्वप्न ही रहेगा।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥

(मनु० १२। ३८)

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका अर्थ और सत्त्व- गका धर्म है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

उत्तम पुरुष मानकी इच्छा करते हैं और मान प्राप्त ा है धर्मसे। हिंदू-समाजका गठन इस धर्मपर ही अवलम्बित था। वहाँ अधिकारका प्रश्न ही नहीं था। अधिकार प्राप्त था धर्ममूर्ति तपस्वियोंको। राजा कार्य-संचालक-मात्र था और प्रजाको संतोष था कि समाजमें जो सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण हैं, वही हमारी व्यवस्थाके नियन्त्रक हैं। जब भी राजा इस व्यवस्थामें अपनेको प्रधान मानकर हस्तक्षेप करता, उसे वेनकी भाँति च्युत होना पड़ता।

राजाकी आवश्यकता क्या? इस सम्बन्धमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि निवृत्तिप्रधान तपस्वी केवल आदेश दे सकते थे। धर्मका मूल रूप निवृत्ति है। अतः प्रवृत्तिमें रहकर पूर्णतः समय मिलना शक्य नहीं। राजा एक सक्षम प्रतिनिधि था। यह उसी प्रकार, जैसे प्रधान सेनापतिकी आवश्यकता युद्धसचिव पूरी नहीं कर पाते, पर प्रधान सेनापतिका संचालन वे ही करते हैं।

यातायात

समाजकी पूरी व्यवस्था उसके यातायातपर निर्भर है। सामग्री, शिक्षा और विचारोंका पारस्परिक विनिमय आवागमनसे ही होता है। भारतीय आवास जलाशयोंके किनारे थे; अतएव यातायातके सबसे सुलभ मार्ग जलीय थे। वर्तमान सभ्यताकी पिछली शताब्दीतक भारतीय व्यापार नौकाओंद्वारा होता था। अब भी वह अनेक प्रदेशों-में चलता है। इस जलयात्राकी सुविधाके लिये सारे देशमें नहरें थीं। उनमेंसे कईके चिह्न अबतक वर्तमान हैं। इतिहासके अन्वेषक जानते हैं कि जब भारतमें रेलोंके प्रचलनका प्रश्न आया, तब ब्रिटिश पार्ल्यामेंटमें अनेक सदस्योंने इसका विरोध किया। उनका मत था कि इस विशाल कृषिप्रधान देशमें रेलोंकी अपेक्षा नहरें अधिक उपयोगी होंगी। आज भी सरकार सोच रही है कि बाढ़से रक्षा और अकालसे बचावके लिये नहरें आवश्यक हैं। यूरोपके कुछ स्थानोंमें रेलोंका काम नहरोंसे लिया भी जाता है; परंतु भारतमें रेलोंका विस्तार इंगलैंडके लिये लाभप्रद था, अतः हुआ।

नौकाओंके अतिरिक्त समुद्री यानोंद्वारा भारतीय व्यापार यूरोपतक विस्तृत था। भारतीय वस्तुओंका पृथ्वीके सभी भागोंमें पाया जाना समुद्री व्यापारका प्रमाण है। समुद्रयात्रामें संध्यादि नित्य-कर्मोंमें बाधा पड़ती थी, दूसरे देशोंकी स्थिति-के कारण अपना आचार व्यवस्थित नहीं रह पाता था, अतः ब्राह्मण समुद्रयात्रा प्रायः नहीं करते थे। क्षत्रियनरेश भी रथोंसे ही यात्रा करते थे। भूमिपर यात्रा एवं सामान

ढोनेके लिये घोड़े, हाथी, ऊँट, खच्चर, बैल सभीका उपयोग प्राचीन ग्रन्थोंमें है; परंतु मुख्य यात्राका साधन रथ था। इन रथोंमें घोड़े जोते जाते थे। उनमें पहिये होते थे। इतनेपर भी ये रथ पृथ्वीपर, जलपर, आकाशमें भी समान रूपसे चलते थे। महाराज प्रियव्रत अपने रथमें बैठकर पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक दिन-रातमें कर सकते थे और वह पृथ्वी वर्तमान पृथ्वी नहीं है। वर्तमान पृथ्वी तो उसका एक भाग जम्बूद्वीपमात्र है। महाराज पृथुका रथ पर्वतों, नदियों, जंगलों, समुद्रों और नभमें अबाधगतिसे चल सकता था। प्राचीन रथोंके सम्बन्धमें कल्पना उसी प्रकार अभी कुण्ठित है, जैसे पचास वर्ष पूर्व विमानोंकी कल्पना नहीं थी।

रथोंके अतिरिक्त विमान भी होते थे; परंतु यन्त्रमय होनेके कारण प्रायः असुर ही उनका व्यवहार करते थे। महायन्त्र जिनमें अनियन्त्रित हिंसाकी सम्भावना रहती है, हिंदू-समाजमें कभी आदरणीय नहीं रहे। वैसे तो भारतमें कभी रेल भी थी और रेलमें पत्थरका कोयला जलाया जाता था, एक राजाका यह आज्ञापत्र कई स्थानोंमें पत्थरपर खुदा हुआ मिला है।

आचारका आधार

सब प्रकारसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-समाजके आचारका आधार प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति है। जीवनमें उपभोगके लिये जो थोड़ा-सा काल छोड़ा भी गया है, उसमें भी सब ओर धर्मके नियन्त्रण हैं। वैधभोग ही समाजमें विहित हैं। दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके, प्राणियोंको कष्ट देकर जो भी भोग उपलब्ध होते हैं, वे सब निषिद्ध एवं त्याज्य माने गये हैं।

मनुष्यको पशुओं, वृक्षों आदिको उपयोगमें लेनेका अधिकार वहींतक है, जहाँतक वह उनका पालन एवं रक्षण करता है। जाति-विपर्यय करके, उनके स्वाभाविक भोगसे उन्हें वञ्चित करके और उनकी आयुका ह्रास या नाश करके उनका उपयोग करना हिंसा है। हिंसासे प्राप्त भोग निषिद्ध होते हैं। परीक्षण करके देखा गया है कि जिस शेरके बच्चेको बचपनसे भरपेट मांस दिया जाता है, उसके पिंजरेमें बकरा छोड़ देनेपर भूखा होनेपर भी वह आक्रमण नहीं करता। पशु भी तभी हिंसा करता है, जब क्रोधित होता है या क्षुधातुर। जंगलोंके ह्राससे, मानवकी हिंसासे पशुओंको विवश होकर हिंसा सीखनी पड़ी और आज जब हम पढ़ते हैं कि ऋषियोंके आश्रमोंमें, पवित्र तीर्थोंमें पशु परस्पर द्वेष नहीं तब तर्क जाग्रत् होता है। पशु, पक्षी बहुलतासे होंगे, बहुत थे और तब मांसाहारी प्राणी मृत शरीरोंसे काम चला लेनेमें कठिनाईका अनुभव न करते होंगे, समझमें ही आज नहीं आती। आज तो मनुष्य हो गया है। वनस्पतिजगत् उसने उजाड़ दिया है पक्षियोंको उदरस्थ करता जा रहा है। हिंसक पशु न करें तो कैसे जीवें, यह वह सोच ही नहीं पाता।

किसी प्राणीको कष्ट न दिया जाय; कोई प्राणी पूरी आयु और भोगसे वञ्चित न हो, किसीकी जाति नष्ट इतना ही नहीं; सभी प्राणियोंका मनुष्यके उपार्जनमें है। कुत्ते, पक्षी, चींटी सबको मनुष्यके उपार्जनमेंसे प्राप्त होना चाहिये। इनके अतिरिक्त भावजगत्के भी मनुष्यसे ही आशा करते हैं। उन सबका भी होना चाहिये। हिंदू-समाजने विश्वके समस्त प्राणियोंको ही परिवारका माना है और सबके लिये यथोचित भाग विधान किया है।

हमारे शास्त्रीय कृत्योंमें घृणा और हिंसाका आरोप वाले भूल जाते हैं कि हिंदू-शास्त्र भौतिक भोग और देहको महत्त्व नहीं देता। अतिथिकी तृप्तिके लिये शरीरका मांस देने या अपने पुत्रको आरेसे चीरनेके हमारे ही इतिहासमें हैं। इन दृष्टान्तोंमें बताया गया सामान्यतः किसी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं चाहिये। सब पुत्रके समान ही स्वजन हैं। अपने स्वार्थसे, अपने प्रमादसे प्राणियोंको पीड़ा देना पाप है जहाँ आत्मकल्याण, आत्मोन्नतिका प्रश्न हो, वहाँ तुच्छ हैं। यदि कोई शरीर नष्ट होकर किसीकी अन्तरात्मा में, आत्मोन्नतिमें कुछ भी सहायता करता है तो वह सफल हो गया। उसमें स्थित जीव उन्नत हुआ। इसी शारीरिक अहंकारवश घृणा या द्वेष पाप हैं, परंतु आत्मा लिये असंसर्ग आवश्यक कर्तव्य है। हिंदू-समाजके इस बोधको प्राप्त करके ही उसके आचारोंका समुचित सम्बन्ध प्राप्त होता है। वैधभोग वे हैं जो आत्मोन्नतिमें बाधक हों; किसीकी हिंसा या कष्टसे उपार्जित न हों अन्तर्मुखतामें सहायक हों; इनसे विपरीत सब निषिद्ध हैं। इसी आधारपर समस्त आचार व्यवस्थित होता है।

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

पूँजीमें आसक्ति बुरी है

(१) हमको पहले ही यह समझ लेना चाहिये कि धन अथवा लक्ष्मी कोई बुरी वस्तु नहीं है, अन्यथा पूँजीवादी या साम्यवादी और संसारवादी सब-के-सब इसके पीछे क्यों दौड़ते ? बुरा है इस मायामें आसक्त होना, इसमें लिपटे रहना । कहते हैं कि लोहेकी बेड़ियोंसे तो कदाचित् मनुष्य छूट सकता है, परंतु स्त्री-धन आदिके बन्धनमें पड़कर छूटना कठिन है । महात्मा ईसा भी इसी अर्थमें कहते हैं कि 'सूईके छेदमेंसे ऊँट निकल सकता है, पर धनाढ्य व्यक्ति स्वर्गके द्वारमें प्रवेश नहीं पा सकता ।' इसलिये पूँजीको बड़ी करनेवाला और उसपर मुग्ध होनेवाला पूँजीवाद ठीक नहीं है । इसी कारण सभी धर्म संन्यासको, त्यागको, फकीरीको ही आदर्शरूप मानते हैं, धनको नहीं ।

धनासक्तिसे राज्य और प्रजाका पतन

(२) धन प्रभुकी एक अटपटी माया अथवा इन्द्रजाल है इसलिये इसके सङ्गसे मनुष्य इसमें फँसता जाता है और फिर अनेक प्रकारके राग-द्वेषमें फँसकर उसका पतन हो जाता है, वह जीवनकी सच्ची, महान् भावनाओंसे वञ्चित—दूर रह जाता है । इसलिये मनुष्यको पतनके मार्गमें ठेलनेवाला पूँजीवाद ग्राह्य नहीं है । धनके आधारपर जीवनकी नीति, योग्यता, प्रशंसा और प्रगतिका निश्चय करना अथवा वर्गसृष्टि करना—इसके समान दूसरी कोई भूल नहीं हो सकती । मनुष्यको खाने-पीने इत्यादिकी जरूरतें बहुत थोड़ी होती हैं, इससे अधिक धनको पूँजी कह सकते हैं—इसमें जो अभिमान रखता है वह राग-द्वेष, क्रोध और कर्मोंमें जा पड़ता है । इसलिये पूँजीवाद तथा पूँजीका केन्द्रीयकरण, दोनों ही बुरे हैं । एक व्यक्तिको और दूसरा समाजको बिगाड़ता है । कहावत भी है कि लक्ष्मी देखकर किसका मन भी चलायमान हो जाता है । राज्यक पास अधिक धन-सम्पत्तिके साधन बढ़ाना राज्यका पतन साधन करना है, यह कहना बहुधा सच होता है ।

मनुष्यका सच्चा विकास या प्रगति धनसे नहीं

(३) आज जिसको प्रगति या विकास कहते हैं, वह धनलालसाके विस्तारसे उत्पन्न होनेवाले अनुसंधान, आयात-निर्यात, पैसा इकट्ठा करनेकी प्रक्रिया, विज्ञापन और मौज-शौकके साधनोंका परिणाम है । आजकलके रेलवे, जहाज, वायुयान, प्रयोगशालाएँ, सिनेमागृह, आमोदप्रमोद, दवा-दारू, मिल-फैक्टरियाँ, नल-नहर, अनेकों मंजिलोंके मकान इत्यादिमें एक भी चीज ऐसी नहीं कि जिसके लिये सदाचार आवश्यक हो, अथवा जिसे दुष्ट मनुष्य बनवा न सकते हों, अथवा जिससे मनुष्यके मानसकी सच्ची उन्नति होती हो । नैतिक विकास और नैतिक प्रगति ही वास्तविक विकास और वास्तविक प्रगति है । धन तो वास्तविक सुख-शान्तिको बढ़ानेवाली वस्तु भी नहीं है । पूँजीवादके इतने प्रचार और पूँजीकी वृद्धि तथा स्वार्थसाधकोंकी बहुलता होनेपर भी जीवन सरल और शान्तिमय न हो सका, लोगोंके रोग कम न हुए, संघर्ष और धक्का-धक्कीमें कमी न आयी, सुलह-समझौता बढ़ा नहीं, मानव-परिश्रम कम न हुआ । बढ़े हैं—धन खींचने, लूटने, सफाईसे पाकेट मारनेके साधन । जिनका इनमें स्वार्थ है, वे इसको प्रगति कहते हैं; और यह क्षम्य है पर सत्य नहीं है ।

पूँजीवादसे महँगाई, खर्च और कर्ज बढ़ जाता है

(४) पूँजीवादसे लोगोंमें यह भ्रम फैल जाता है कि पूँजी ही प्राप्त करने योग्य वस्तु है, इसलिये सब इसको प्राप्त करनेकी माथापच्चीमें पड़ जाते हैं । प्रत्येक मनुष्यको अधिक पैसे चाहिये, इसलिये मजदूरी और माल, दोनों ही महँगे हो जाते हैं । जीवन अति कठिन बन जाता है और दया, परोपकार, दान आदिके स्रोत साधनाहीनताके कारण दुर्बल बन जाते हैं । राज्यका खर्च बढ़ जाता है और इससे लोगोंके ऊपर एक पौंडमें १५से१७ शिलिंगतक कर लग जाते हैं । सीधे करोंका लोग विरोध करते हैं, इसलिये आड़े-टेढ़े करोंके द्वारा पैसे खींचनेकी राज्यकी दूसरी निष्णात युक्तियाँ बढ़

जाती हैं और राज्यका ऋणभार भी बढ़ जाता है एवं बढ़ता रहता है। 'किसके बापकी दीवाली' इस कहावतके अनुसार घाटेके बजटका भी फैशन चल पड़ता है। विविध प्रकारसे प्रजाकी प्रतारणा चलती रहती है। प्रतिनिधि तो विदा हो जाते हैं, परंतु भार प्रजाकी कमरके ऊपर या सिरपर आ पड़ता है।

पूँजीवादकी समर्थक सारी फिलासफी गलत है

(५) कतिपय बड़े राज्योंमें प्रजाके व्यवहारमें और अन्ताराष्ट्रिय कारोबारमें पूँजीवादके प्रविष्ट हो जानेके कारण इनमें नयी फिलासफी और परिभाषाएँ उपस्थित कर दी गयी हैं। वह भी अधिकांश भ्रामक यानी भ्रममें डालनेवाली है। जैसे मौज-शौकके साधन अथवा लड़ाईके हथियार या शीघ्र यातायातके साधन—ये प्रगतिके माप हैं; परंतु वस्तुतः ये लूटनेवाली, मारनेवाली या आँखोंमें धूल डालकर धन छीननेवाली प्रगतियाँ हैं। फिर 'राज्यका प्रभुत्व लोगोंका है' यह फिलासफी, जो लोकतन्त्रके लिये खड़ी की गयी है, वह भी गलत है। लोग तो बेचारे शोर मचा सकते या बलवा कर सकते हैं अथवा बेचारे राजाको धमकी-घुड़की देकर हटा देते हैं, परंतु सत्ताधीश लोकशाहीको वे हटा नहीं सकते। वे (बर्नार्ड शाके कथनानुसार) राज्य भी नहीं चला सकते, उनके नामसे पार्टीबाज लोग राज्यको हस्तगत कर लेते हैं और लोग ताकते रह जाते हैं। राज्यकी, देशकी और लोककी प्रभुता तो प्रभुकी है, वही क्षणभरमें दुनियाकी सृष्टि और संहार कर सकते हैं। लोग तो बेचारे भोले-भाले, अज्ञानी, ठगे जानेवाले बहुसंख्यक और प्रतिदिन बदलते रहते हैं, उनकी प्रभुता बतलाना तथा यह कहना कि 'तुम्हीं राजा हो, अफसर तुम्हारे नौकर हैं, तुम्हींको राज्य चलानेका अधिकार प्राप्त है'—इत्यादि मत लेने या धन खींचने तथा राज्यसत्ता बढ़ानेकी नयी युक्ति है। इसको एक प्रकारकी धोखाधड़ी भी कह सकते हैं। भूमि, राज्य, देश—ये राजाके भी नहीं हैं, ये तो प्रभुके ही हैं। यह वास्तविकता है। इसलिये ईश्वर ही सारे देशका सर्वकालमें और सब पदार्थोंका स्वामी है। मनुष्य तो समय पड़नेपर अपनी एक इन्द्रियको या अपनी नाडीको या एक तिनकेको भी हिला नहीं सकता। इसलिये प्रभुका नियम ही सच्चा नियम है, प्रभुकी सत्ता ही सच्ची सत्ता है और प्रभु ही सबका सम्राट् है। लोगोंकी प्रभुता कहना और लोगोंको उलटे पाटेपर चढ़ाना बराबर है। लोग तो बेचारे जानते हैं कि अपने शरीरपर ही अपनी प्रभुता नहीं है, फिर देशके ऊपर कैसे हो सकती है? फिर, एक दूसरा यह भी भ्रम फ कि 'राज्य सर्वसत्ताधीश है और इसीको मजबूत चाहिये।' ईश्वरको भूल जानेके बाद तो राज्य ही रहा। धर्मराज्यका नियम तो जहाँ धर्म है, वहाँ लोगोंके राज्यमें तो लोकसभाकी जैसी इच्छा होती ही कानून बनता है। इस प्रकारकी सत्ताधीश्वरताको बनाना तो अंधे भैंसेका खेल है और यदि इसमें दो होता है, भ्रष्टाचार फैलता है, हरामका चस्का लोगोंको राज्यके सामने हाथ फैलाना पड़ता है, करड़ है और अनधारी लड़ाइयाँ फूट निकलती हैं तो इसमें की क्या बात है? राज्य व्यापार करता है, पूँजीके बार-बार आर्थिक नीति बदलता है, इच्छाके अनुसार सहायता, महसूल, चुंगीमें परिवर्तन करता है, यानी अधिक अव्यवस्था, उद्विग्नता और परेशानियाँ ल जाती हैं। यह भी जानी हुई बात है। राज्यके दो मुख्य हैं—प्रजाकी संस्कृति (या संस्कृतियों) की बाहरी रक्षा करना तथा प्रजाकी आन्तरिक व्यवस्थाके तोड़ विरुद्ध न्याय-व्यवस्था करना। दूसरे सारे कर्त्तव्य आगन्तुक उनमें राज्यके ऊपर कठिन नियन्त्रण होना चाहि नियन्त्रण करनेवाली शक्तियोंमें धार्मिक शासनविधान महात्माओंकी प्रेरणा और लोकसभाके अल्पमत दलका होता है। संस्कृति साध्य है और राज्य उसका केवल है। परंतु इस नये वादने संस्कृतिकी परिभाषा ही बदल है। वस्तुतः जीवात्माकी उन्नतिके लिये कार्य-विधि साधारणतः संस्कृति समझी जाती थी और धर्म संस्कृ प्रधान प्रेरक माना जाता था। उसके बदले अब चि नृत्यकला, संगीत, स्थापत्य—इन सबको संस्कृतिके बना दिया गया है और इनका समूह ही संस्कृति है साथ सात्त्विक धर्म, कर्म, क्रिया, कला, ज्ञान और किनारे करके इन सब राजसी-तामसी रूपोंको प्राधान्य जाने लगा है; क्योंकि रजोगुणमें राग, तृष्णा, क्रियाका प्राधान्य स्वभावतः होता है और वही आ पूँजीवादकी वासनाओंका मूल है।

पूँजीवादका समर्थन

(६) पूँजीवादका समर्थन करनेवाले प्रधान तत्त्वविद में डा० गार्विन एक मुख्य विद्वान् हैं। वह पूँजी

आधुनिक दुनियाकी प्रगतिके प्रेरक बलोंमें प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। परंतु उसकी सारी प्रगति भौतिक, मायिक और धनवृद्धिरूप है, जिसे दुनियाके महापुरुषों और महात्माओंने बहुत गौण स्थान प्रदान किया है। पूँजीवादके समर्थक पूँजीवादके दो मुख्य तत्त्वोंको व्यक्तिके भावनाबलका विकास करनेवाला बतलाते हैं—(१) वैयक्तिक सम्पत्ति तथा (२) साहस करनेकी स्वतन्त्रता। वैयक्तिक सम्पत्तिको जीवनके एकमान्य और उपकारक तत्त्वके रूपमें मानना ठीक है, यह हम कह सकते हैं। केवल इसका अतिलोभ, लोलुपता और प्रधानता मनुष्यको उल्टे रास्ते ले जाता है, इसलिये हम इसको छोड़नेके लिये कहते हैं। किसी कड़वी ओषधिके समान तत्त्वको स्वीकार करना इसके परित्यागके लिये है। दूसरा तत्त्व है—साहसकी स्वतन्त्रता। इसमें एक बड़ा भयका कारण यह है कि दुनियामें कोई बहुत अच्छा साहस नहीं करता। दुष्टको दुष्ट साहस, मूर्खको मूर्ख साहस अथवा अज्ञानीको अन्धकारसे साहस करनेकी स्वतन्त्रताका आदर्श अनिष्ट और दूषित आदर्श है और इस अंधे भैंसेकी क्रीड़ाके आदर्शसे ही दुनियाकी आज अव्यवस्था, निष्फलता और हानी आ गयी है। चाहे जिस वस्तुके लिये धनके पीछे पट्टी बाँधकर आँखें मूँदकर श्वास बिना लिये दौड़ो तो वह चीज प्राप्त होती है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। पर सवाल यह है कि वह वस्तु इतनी कीमती है या नहीं? बुद्धिमान् लोगोंका कहना है कि—'जर, जमीन और जोरू, ये तीनों तकरार बटोरू'—इन तीनोंके पीछे दौड़नेवाले तकरार, क्लेश और झंझट बटोरते हैं। इसलिये इनका सङ्ग धैर्यमात्रके लिये रखना चाहिये—ऐसा पक्के अनुभवी लोग कहते हैं और वे हँसते-हँसते कहते हैं। फिर इनका अधिक संग्रह करना हो तो मनुष्य स्वयं जोखिम उठावे और खर्च करे। डॉ० गार्विन पूँजीवादके पदार्थों, प्रक्रियाओं और खोज तथा विशेषण उत्पन्न करनेवाली प्रजनन-शक्तिकी प्रशंसा करते हैं, यह सबकी वास्तविकताके विरुद्ध भी बहुत कहना नहीं है। खानें, उनका उत्पादन करनेवाली मिलें और उनकी मशीनें बढ़ गयी हैं, इसमें संदेह नहीं है। परंतु यह सारी अभिवृद्धि मानवजातिके सारे महान् आदर्शों और प्रक्रियाओंके मार्गमें रोड़ा अटका रही है और इसने इनपर प्रतिबन्ध लगा रक्खा है, यह बात सत्यके तत्त्वदर्शी लोगोंके लिये विचारणीय है। इतनी महँगाई-के साथ मजदूरीका दर बढ़ा, इतनी अधोगतिके साथ मौज-शौकके साधन बढ़े, इतने भयस्थानोंके साथ विज्ञान बढ़ा। फिर इसकी क्या कीमत रही? मानवके जीवनकी रक्तधारा और ज्ञान-तंतुजाल तो इसके हृदयमेंसे और इसके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे फैलते हैं, हाथ-पैरसे नहीं निकलते। हाथ-पर तो इनके संवादक, संवाहक और परिचारक बनकर जीवनको चिरंजीवी करते हैं। बल्कि आजकल प्रजनन-शास्त्र-विद् बहुत सृजन-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं देखते। प्राणी और पदार्थोंकी जनसंख्या तो बहुत बढ़ गयी है और फिर यदि दुनिया दुखी होती है तो प्रजामें सारासारका विवेक करके, भेद-भावको समझकर बुरेका नियमन और भलेका सृजन करना ही भलमनसाहत समझी जा सकती है। पूँजी और मजदूरके बीच कोई स्वाभाविक विरोध नहीं। मजदूर और मिलमालिक, नौकर और मालिक दोनोंमें पहले तो पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध था। नौकर व्यापारीकी कोठीमें आनन्द, ममता और प्रेमसे नौकरी करते थे, मजदूर मिलमालिकोंको नौकरी देनेवाला, सवाई रोजी देनेवाला अन्नदाताके रूपमें मानते जानते थे, इन सबके बीच मधुर सम्बन्ध था। पहलेकी गुलामी भी आजकलकी विषैली प्रवृत्ति और पैसा ऐंठनेवाली गर्हित मनोदशाकी अपेक्षा हजार दर्जे अच्छी थी और इसीलिये बर्क-जैसा मनोवैज्ञानिक उसकी मुक्तकण्ठसे और विलापके स्वरमें प्रशंसा करता है। लोगोंको चढ़ाकर और लड़ाकर सत्ता प्राप्त करना और उनका मत प्राप्त करना तो लोकशाहीमें चालू रहता है। इन सारे वादोंके झगड़ेकी जड़ तो वहाँ है। जैसे संतति-नियमनके प्रचारकोंको दुनियाके भविष्यकी कोई चिन्ता नहीं होती, उनको तो वर्तमानमें दवा बेचनेकी फिक्र होती है। उसी प्रकार इन वाद-विवादवालोंको दुनियाके भावी उद्धारका ठीका लेनेकी कुछ पड़ी नहीं होती, उनके लिये तो वर्तमान सत्ता—राज्यसत्ता हस्तगत करनेके लिये लोगोंको फँसाये रखना ही मुख्य प्रश्न होता है। इसमें पूँजीवादी और साम्यवादी सब पिल पड़े हैं और जरूरत पड़नेपर इसके लिये सत्यके ऊपर, हितके ऊपर और श्रेयस्के ऊपर पर्दा डाल रहे हैं। इसलिये इन सब बुराइयोंकी जड़ है 'सब मनुष्योंकी समानताका मूल्याङ्कन' तथा बहुमत जो कहे उसके अनुसार राज्य चलानेका सिद्धान्त। इसका हम यहाँ पुनरावर्त्तन करके फिर आगे विवेचन करेंगे।

महाचक्र, महासंख्या और मौज-शौककी हानियाँ

(६) पूँजीका अति मोह, उसकी आवश्यकता और उसके प्रलोभनोंमें तीन चीजोंका समावेश हो सकता है—महाचक्र,

बड़ी मजदूरोंकी संख्या और मौज-शौक। अधिक पैसा हो तो अधिक मौज-शौक किया जाय—जैसे मोटरकार, बिजलीका पंखा, रेडियो, सिनेमा, नाटक, वायुयानयात्रा, सुन्दर भवन, मनोरम वस्त्र, सौन्दर्य-साधन इत्यादि। बड़े चक्केवाले कारखानों-से बड़ी पूँजी तथा बड़ी संख्याके मजदूरोंकी जरूरत पड़ती है और उसके परिणामस्वरूप लड़ाई, झगड़ा, हड़ताल, ताला-बंदी और फिर लाठीचार्ज, सत्याग्रह और गोली चलना आदि उसके सगे साथी आ पहुँचते हैं; क्योंकि 'लोभमें रोक नहीं' और 'लाखकी पत' जोखिममें डालती है, इसलिये बड़ी दीख पड़ती है। पुनः राज्य जिसको अधिक मान देता है, उसका और मान बढ़ता है और राज्यको अधिक गरज पैसेकी होती है, इसलिये वह पैसेदारको, पूँजीपतिको महत्त्व देता है, इससे भी पूँजीका मोह बढ़ता है। परंतु राज्य कहाँतक जाय? महँगाई, बेकारी और बहुत धनका जखेड़ा इतना बढ़ता जाता है कि पूँजीवादमें उसको राज्य भी पूरा नहीं कर सकता। पहले महाचक्रसे चीजें या यात्रा अथवा मेहनत बहुत सस्ती जान पड़ती है। परंतु महाचक्र धनकी वृद्धिसे ही उत्पन्न होनेके कारण, उसके कार्यकर्त्तागण लोगोंको शोषण करनेकी टेव पड़नेके कारण उसका भाव बढ़ानेसे नहीं चूकते। फिर बहुतेरी चीजोंमें तो भावकी समानता भी नहीं होती। ताड़का पंखा तीन पैसेका होता है और बिजलीका पंखा तीन सौ रुपयेका। बग्गी तीन सौमें आती है तो मामूली मोटर तीन हजारकी आती है। कलम पैसेकी तीन और टाइपराइटर नौ सौ रुपयेका एक। इन सारी मौज-शौककी आवश्यकताओंसे गरीबीकी, अन्यायकी और उत्पादनकी आवश्यकताकी भी कुछ अंशोंमें भ्रान्ति हो जाती है और लोगोंको अधिक मजदूरी करनी पड़ती है या बेकारी सहन करनी पड़ती है। इससे यह पूँजीवादका आरा आते भी काटता है और जाते भी काटता है। म कराता है और महँगाई भी लाता है। किंतु यह सारी घटना ऐसी बेकाबू होने लगी है कि कम्युनिस्ट— उसके ऊपर शस्त्रक्रिया करनेके लिये तैयार हो गये पूँजीवादी उसको गाँवमें (कुछ सुख-शान्तिवाली फैलाकर सारी दुनियाको उसके फंदेमें डालकर तैय हैं कि फिर कोई बोलनेवाला न रहे। इस प्रकार और समाजवादके दोनों कण्टक एक दूसरेके वि करनेके लिये तैयार हो गये हैं, तब लोगोंको हस्त है और जो अधिक लोभ दिखलानेवाला साहित्य तै है, उसमें वे फँसते और बरबाद होते जा रहे हैं। राज्य भी अब अपनी प्रशंसाका प्रचार करने लगे ओरसे सब पशुओंको एक बाड़ेमें भरनेकी नासमझी वर्ण-वर्ग, जात-पाँत, संस्कार, खान-पान सबका वि किनार करके सब मनुष्योंको एक बाड़ेमें करनेसे सूत्रमें, बुद्धिमान् तथा सुख-शान्ति युक्त हो जा रासायनिक प्रयोगवाला बनावटी कल्याण-राज्य- स्टेटका पथ' भी चला है और दूसरे पन्थ भी बढ़ हैं। 'क्योंकि—

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'

—तथा 'अक्लसे कोई हीन नहीं होता और कोई पूर्ण नहीं होता' इन कहावतोंके अनुसार सबको करके अन्तमें कहना यह है कि 'अरे भाई, तो आगे, और मेरी गाड़ीका मुँह आगे'—'पाँच और जोड़ करनेवालेको खरा उत्तर है बारह;' परंतु बारह गलत उत्तरका क्षेत्र अनन्त आकाश-जैसा, अथवा पीनेमें मिलावट-जैसा विशाल है। (शेष आगे)

श्रीसीतारामसे निवेदन

सवैया

जकड़े जग-जाल बिहाल फिरैं,
सबही बड़ छोट जो जीव की कोटी।
नहिं पावत ढूँढ़े पता—प्रभु कौं,
अनुमान लगावत हैं मति-मोटी।
कितनोई उपाय करौ बल-बुद्धि सों,
सिन्धु समात न पम्प की टोंटी।
कवि "श्रीरस" फाँदति है फुदकी,
उड़ि कै कहुँ शैल-सुमेरु की चोटी॥

घनाक्षरी

देतो दान जौन जन लेतो फेरि नाहिं
जोरतो है नात-नेह नित्य नव
श्वान कौं बुलावतो है स्वामी जो सनेह
देतो कौर भरपूर फिरि नाहिं
दीन-हीन-सिरस कौं सरस कियो है
करुना करहु देखौं मुख माहिं
दीबे हेत दरस के खोलि द्वार दीन्हो
सीताराम-सुरति न दिन रैन

—शिवरत्न

मुझे कोई पुकारता है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'मुझे कोई कष्ट नहीं है, कोई भय नहीं है, कोई रोग नहीं है।' किसी चिकित्सकके पास, चाहे वह मनोवैज्ञानिक कित्सक ही क्यों न हो, ऐसा व्यक्ति कदाचित् ही आया गा। 'मुझे केवल जानना है। मनोविज्ञानका एक अन्वेषक के कारण मैं आपसे सहायता पानेकी आशा करता हूँ।'

'आप भी मनोवैज्ञानिक हैं?' चिकित्सकमें आदरका व आ गया। पहिले वे इस प्रकार मिले थे, जैसे अपने ती नवीन रोगीसे मिलते हैं। परंतु अब तो स्थिति बदल ी थी। उनके सामने उनके समान ही मनोविज्ञानका एक ा था—उनका सहव्यवसायी न सही; किंतु उनका मित्र वह अपनेको कह ही सकता था। नम्रतासे डा० उपाध्याय ठ—'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

'मैं मनोवैज्ञानिक तो नहीं हूँ; किंतु मनोविज्ञानका ार्थी अवश्य अपनेको मानता हूँ।' उसने बताया—ने पाश्चात्त्य मनोविज्ञानके अतिरिक्त भारतीय मनोविज्ञानका कुछ अध्ययन किया है और मुझे तो भारतीय मनोविज्ञान क पूर्ण लगता है। परंतु इस समय तो मैं एक दूसरे यमें आपकी सम्मति और सहायता चाहता हूँ।'

'हम सभी विद्यार्थी हैं।' डा० उपाध्याय ठीक कह रहे विज्ञान विषय ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक आजीवन का नन्हा छात्र ही रहता है।

'मुझे कोई पुकारता है—जब मैं गाढ़ निद्रामें होता हूँ कोई मेरा नाम लेकर स्पष्ट मुझे पुकारता है।' उसने ाया—'सदा वह मुझे केवल दो बार पुकारता है, उत्तर-ओरसे लगभग बीस-पचीस फीट दूरसे पुकारता है।'

'आपको स्मरण है, आप उस समय कैसे स्वप्न देखते डा० उपाध्यायने पूछा।

'मैं कोई स्वप्न नहीं देखता महोदय!' वह हँसा—'आप पूरी बात सुन लें, यह अच्छा होगा। यह अन्तर्मनका नहीं है। मैंने इस विषयमें बहुत सोचा है।'

'अच्छा!' डाक्टरका स्वर स्पष्ट कह रहा था कि उनसे छ कहा जा रहा है, उसपर वे पूरा विश्वास नहीं करते। वे माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है।

'मैं वैसे भी बहुत कम स्वप्न देखता हूँ। परंतु यह पुकार प्रायः तब आती है, जब मैं गाढ़-निद्रामें होता हूँ।' उसने विवरण दिया—'मुझे अच्छी निद्रा आती है। इतनी गाढ़ी नींद सोता हूँ कि सिरके पास ढोल बजता रहे तो भी मेरी निद्रामें बाधा नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़नेपर मुझे पुकारकर जगानेवाले पुकारते-पुकारते प्रायः झल्ला उठते हैं।'

डाक्टर कुछ बोले नहीं! वे चुपचाप सुन रहे थे। अवश्य ही अपने सदाके अभ्यासके अनुसार उनके हाथमें पेन्सिल थी और मेजपर पड़े कागजपर वे कुछ शब्द नोट कर लेते थे बीच-बीचमें।

'मुझे स्वयं आश्चर्य है, जब यह पुकार आती है, मेरी गाढ़ी निद्रा पहिली ही पुकारमें टूट जाती है।' उसने बताया 'परंतु नेत्र खोलने या सिर उठानेसे पूर्व ही दूसरी बार पुकार आती है। दूसरी बारका पुकारना मैं सदा जागकर पूरी सावधानीमें सुनता हूँ।'

'जब आप उठते हैं, आपको कैसा लगता है?' डाक्टरने बीचमें पूछा।

'अच्छी निद्रासे उठनेपर एक स्वस्थ व्यक्तिको जैसी स्फूर्ति तथा ताजगीका अनुभव होता है।' डाक्टरकी आशाके सर्वथा विपरीत उसने बताया—'मुझे उस पुकारसे उठनेपर न कभी भय लगा, न आलस्य जान पड़ा। मन प्रसन्न रहता है, शरीरमें स्फूर्ति रहती है, जैसे मैं जगाया नहीं गया हूँ, निद्रा पूरी होनेपर स्वयं उठा हूँ।'

'दुबारा नींद आनेमें कितना समय लगता है?' डाक्टरने फिर पूछा।

'यह सर्वदा मेरी इच्छापर रहा है।' उसने फिर डाक्टरकी आशाके विपरीत उत्तर दिया—'कभी मैं लघुशंकादि कर दस-पंद्रह मिनट बाद सोता हूँ, कभी केवल सिर उठाकर देखकर एक मिनट बाद सो जाता हूँ और कभी तो नेत्र भी नहीं खोलता; क्योंकि अभ्यस्त होनेसे

यह बात तुरंत मनमें आ जाती है कि यह वही पुकार है। नेत्र बंद करके सो जानेका प्रयत्न करते ही निद्रा आ जाती है—पहलेकी भाँति स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा।'

'समस्या टेढ़ी है।' डाक्टरने गम्भीरतासे कहा—'मैं पूरा इतिहास सुनना चाहता हूँ।'

'मैं लगभग पाँच वर्षका होऊँगा जब पहली बार यह पुकार मुझे सुनायी पड़ी' उसने बतलाना प्रारम्भ किया—'ग्राममें अपने घरके बाहर सो रहा था। मेरे द्वारपर चहार-दीवारीसे घिरी पर्याप्त भूमि थी। पिताजीके साथ उनके पलंगसे लगी मेरी छोटी खाट थी। सामने २०–२५ फीट दूर उत्तरकी ओर दूसरे मकानकी पिछली दीवार पड़ती है, जिसमें कोई खिड़की नहीं। गाँवोंके लोग घरोंकी पिछली, बाहरी दीवारोंमें खिड़कियाँ नहीं बनाते। चोरीसे रक्षाके लिये यह पद्धति ठीक ही है। रात्रिके तीसरे प्रहरमें सामनेके मकानकी दीवारसे सटकर जैसे किसीने मुझे पुकारा।'

डाक्टर उपाध्याय चुपचाप सुनते रहे और नोट करते रहे। 'स्पष्ट स्वरमें केवल मेरा नाम लेकर पुकारा गया। मेरे नेत्र खोलनेसे पहले दूसरी बार मेरा नाम लिया गया। मैं उठ बैठा। पिताजीको जगाकर मैंने बताया। उन्होंने केवल आश्वासन दिया कि 'डरनेकी कोई बात नहीं।' परंतु भय तो मेरे मनमें उस समय तनिक भी नहीं था। वैसे मैं बचपनमें अँधेरेमें जाते बहुत डरता था; किंतु उस पुकारसे जगनेपर मुझे कभी भय नहीं लगा।'

डाक्टर इस प्रकार देख रहे थे जैसे अभी और कुछ सुनना चाहते हों। वह कहता गया—'पहली पुकारपर मैं प्रायः 'क्या है? कौन है?' आदि बोल पड़ता था। परंतु धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जानेके कारण अब तो केवल 'हूँ' या 'जी' कहकर रह जाता हूँ। पुकारका वह स्वर मुझे कभी नहीं भूलेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नारीका कण्ठस्वर नहीं है। परंतु पुरुषका कण्ठस्वर गम्भीर और कोमल भी होता है—यह उस पुकारके अतिरिक्त मैं सोच ही नहीं सकता। वैसा स्वर कभी कहीं सुननेको मिलेगा, ऐसी आशा नहीं।'

× × ×

[२]

'आपके कुलमें किसीको सोते-सोते चलनेका रोग रहा है?' डाक्टर उपाध्यायने बहुत देर मस्तक झुकाकर सोचा और तब वह अद्भुत प्रश्न किया।

'रहा है' उसने बताया—'मेरे पिताजी बत[illegible] पहले किसी समय कुछ महीनोंतक उनकी यह [illegible] कि पलंगपर सोते थे और सबेरे उठनेपर देखते थे [illegible] सामने घास-भूसा डालनेकी चरनी (लम्बे कच्चे [illegible] लेटे हैं?'

'यह रोग कैसे दूर हुआ?' डाक्टरने पूछा।

'पिताजी तो इसे रोग मानते ही नहीं थे। वे भग[illegible] उपासक थे और मानते थे कि देवीका ही यह को[illegible] है।' उसने निःसंकोच बतलाया—'उनका रोग जैसे [illegible] प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही अकस्मात् अपने आप च[illegible] और दुबारा फिर कभी नहीं लौटा।'

'आप जानते हैं कि मनोविज्ञान भूत-प्रेत तथा देव[illegible] में विश्वास करके नहीं चलता।' डाक्टरने उसकी [illegible]

'मैं भी सोचता हूँ कि किसी प्रकार निर्णायक [illegible] स्वप्नावस्थामें जाग्रत् हो जाता था।' उसने कहा।

'आपकी बात मैं ठीक समझ नहीं सका।' [illegible] बाधा दी।

'पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक मनके दो भाग करते हैं—[illegible] और अन्तर्मन। परंतु भारतीय मनोवैज्ञानि[illegible] भाग मानते हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार [illegible] अपनी व्याख्या सुनायी—'जाग्रत् अवस्थामें हम संक[illegible] हैं और उसके अनुसार कार्य करें या न करें, यह [illegible] करते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञान इन दोनोंको ही [illegible] कार्य मानता है; किंतु भारतीय मानते हैं कि संक[illegible] मनका कार्य है और निर्णय करना बुद्धिका। इस [illegible] नाम आधुनिक मनोविज्ञानके शब्दोंसे मेल बैठानेके [illegible] 'निर्णायक मन' रख लिया है।'

डाक्टरको अभी कुछ बोलना नहीं था। [illegible] गया—'अन्तर्मनको भारतीय चित्त कहते हैं। उसके [illegible] और कार्यकी मान्यतामें कोई मतभेद नहीं। वह संस्कार [illegible] स्मृतियोंका कोषागार है। स्वप्नके समय वही कार्य [illegible] परंतु उसमें निर्णयकी शक्ति न होनेसे स्वप्नोंमें [illegible] कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्नमें ऊँटके धड़पर [illegible] सिर या बकरीके हाथी-जैसी सूँड़ इसी अव्यवस्था[illegible] दीखती है।'

अब भी डाक्टर कुछ बोले नहीं। वे गम्भीर[illegible] रहे थे। उसने बताया—'यहीं भारतीय मनोविज्ञान[illegible]

कि मनके चार भाग हैं—बहुत महत्त्वकी जान पड़ती है। सामान्य अवस्थामें बहिर्मन (मन) और निर्णायक मन (बुद्धि) दोनों सो जाते हैं साथ ही। यदि अन्तर्मन भी सो जाय तो गाढ़ निद्रा आ जायगी। अन्तर्मन जागता रहे तो स्वप्न देखेंगे। परंतु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मनके साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत्के समान व्यवस्थित रूपमें कार्य करने लगेगा। अन्तर्मनमें संस्कार तो हैं ही, निर्णायक मन उन्हें व्यवस्था देकर शरीरको उनके अनुसार चलाने लगता है।'

'मैंने ऐसी घटनाएँ बहुत पढ़ी हैं कि लोगोंने निद्रासे उठकर लेख या पत्र लिखे हैं, दुर्गम यात्राएँ की हैं। यह सब उन्होंने अनजानमें सोते-सोते किया है।' डाक्टर उपाध्याय अब बोले—'इससे आपकी व्याख्या—आपका मनोविभाजन तो ठीक लगता है; परंतु अहंकार आप किसे कहते हैं?'

'वैज्ञानिकके लिये—विशेषतः यूरोपीय वैज्ञानिकके लिये इसे समझना बहुत कठिन है। वह यही जानता है कि शरीरमें रक्तका प्रवाह तथा हृदयकी गति अपने आप होती है। मनका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।' उसने समझाया—'परंतु आप भारतीय हैं, आपने देखा भले न हो; किंतु यह जाना होगा कि योगी जब समाधि लगा लेता है, तब हृदयकी गति तथा रक्तका प्रवाह भी बंद हो जाता है। समाधिका अर्थ है—सम्पूर्ण मनोनिग्रह अर्थात् मनके सब कार्यालयोंको बंद कर देना। मनके निरोधसे जो कार्य रुक जाते हैं, उनका संचालन मनके द्वारा होता है, यह समझना कठिन नहीं है। शरीरका पूरा अन्तर्बहिःसंचालन मनके द्वारा ही होता है। मनके इस संचालक भागको, जो गाढ़ निद्रामें भी सदा जाग्रत् रहता है, अहंकार कहते हैं। आप सुविधाके लिये चाहें तो इसे संचालक मन कह सकते हैं।'

'हम अपने वास्तविक विषयसे बहुत दूर चले आये, यद्यपि मुझे इससे लाभ ही हुआ।' डाक्टर उपाध्याय बोले—'मैं आपके इस विवेचनको और समझना चाहूँगा यदि आप समय देंगे।'

'परंतु मेरी समस्या इससे किसी प्रकार सुलझती नहीं।' उसने कहा—'मैं बहुत सोचकर थक गया हूँ। जो पुकार आती है, वह मानव-कण्ठसे इतनी भिन्न होती है कि उसके संस्कार मेरे भीतर होंगे, यह विश्वास करनेकी बात नहीं है। मैं स्वप्नावस्थामें उसे सुनता तो वह मेरे अन्तर्मनका कार्य हो सकता था, पर मैं तो घोर निद्रामें उसे सुनता हूँ। कब सुनूँगा यह समय भी निश्चित नहीं। चार दिनसे लेकर महीनोंतकके अन्तर पड़े हैं उसे सुननेमें।'

'मेरी समझमें कुछ नहीं आया, यह कहनेमें मुझे कोई लज्जा नहीं है।' डाक्टर उपाध्यायने बड़ी सरलतासे कह दिया। 'परंतु यहाँ गङ्गा-किनारे एक विरक्त संत आये हैं दो दिनसे। मुझे तो अच्छे साधु लगते हैं। आप उनके दर्शन कर आयें। जहाँ विज्ञान असफल होता है—इन महात्माओंकी शरण वहाँ अनेक बार सफल होते देखी गयी है।'

× × ×

[३]

'महाराज! मुझे कोई पुकारता है।' वह आस्तिक है और जब एक अच्छे मनोवैज्ञानिक किसी साधुकी प्रशंसा करते हों, तब उन महापुरुषके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा किसको नहीं होगी। वह सायंकाल महात्माके दर्शन करने पहुँच गया। वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे थे। एकान्त देखकर उसे प्रसन्नता हुई। प्रणाम करनेके पश्चात् अपनी समस्या उसने सुना दी।

'विश्वका कण-कण चञ्चल हो रहा है।' संतने अपने ढंगसे बात प्रारम्भ की—'प्रत्येक अणु गतिशील है। प्रत्येक प्राणी आकुल है कुछ करनेके लिये, कुछ पानेके लिये। इस गतिका, इस क्रियाका, इस आकुलताका एक ही अर्थ है—कोई पुकार रहा है। उसके पासतक जाना है। उसे पाये बिना विश्राम नहीं है। उसतक पहुँचे बिना सुखसे सोया नहीं जा सकता।'

'परंतु मुझे तो कोई नाम लेकर पुकारता है। मैं उसकी पुकार सुनता हूँ।' उसने फिर पूछा—'वह क्या चाहता है? क्यों पुकारता है मुझे? कौन है वह?'

'वह तो सभीको पुकार रहा है। यह सारी व्यग्रता उसकी पुकारकी ही प्रतिध्वनि है।' संतने अपनी ही बात कही—'उसकी पुकार कहाँ प्राणी सुनते हैं। वह पुकारता है, वह चाहता है कि इस अपूर्णतासे उस परम पूर्णकी गोदमें लोग पहुँचें। वह कौन है, यही तो जानना है। उसे जान लो बस, काम पूरा हो गया।'

'महाराज !' उसका समाधान नहीं हो रहा था। परंतु संतने बीचमें ही रोककर बात समाप्त कर दी—'उसकी पुकार सुनो ! इसमें तुम्हारा परम सौभाग्य है कि यह स्मरण रक्खो कि तुम्हें कोई पुकारता है।'

बड़े अद्भुत होते हैं ये साधु। बाबाजी तो उ खड़े हुए। वह दो क्षण खड़ा रहा उनको जाते हु व्यर्थ था अब उनके पीछे जाकर कुछ पूछना। मस्तीमें चले जा रहे थे। लौट आया वह; किंतु...

सत्कथा

(१)

ईश्वरीय प्रेरणा

[सच्ची घटना]

(लेखक—श्रीसुखदेवविहारीलालजी माथुर)

मेरे पुत्र भुवनेश्वरीशङ्करकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वह एफ्० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके पश्चात् डाक्टरीका अध्ययन करे। उसने एफ्० ए० में बायलाजी विषय लिया था। संयोगवश कथित परीक्षामें वह तृतीय श्रेणीमें पास हुआ।

उसने डाक्टरीका अध्ययन करनेके लिये प्रार्थना-पत्र श्रीप्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, जयपुर एवं बीकानेरको दिया, परंतु उक्त श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेसे उसका प्रवेश कालेजमें नहीं हो सका एवं उसकी मनःकामना, जो अत्यधिक थी, पूर्ण न हो सकी। अन्तमें उसे बी० एस्-सी० में अध्ययन करनेके लिये विवश होना पड़ा।

ईश्वरीय प्रेरणावश मैं एक महीनेके पश्चात् जयपुर गया। मेरे एक परम मित्र श्रीहरिकृष्णदयालजी जज साहब मेरे मकानपर मुझसे मिलनेके लिये आये। उस समय मैं आमेर गया हुआ था। आमेरसे लौटनेपर मुझे मालूम हुआ कि जज साहब मुझसे मिलने आये थे। मैं उसी समय उनके घर पहुँचा। पहुँचनेपर मालूम हुआ कि वे मेड़ता जानेके लिये स्टेशन गये हैं। उनके घरपर चाय-पान करनेका आग्रह किया एवं मैं अत्यधिक थका हुआ था; परंतु ईश्वरीय प्रेरणावश वहाँ नहीं ठहरकर उसी क्षण स्टेशन पहुँचा। संयोगवश गाड़ी पंद्रह मिनट लेट हो गयी। जज साहब मुझसे परस्पर वार्तालाप हुआ। उन्होंने अपने पुत्र चर्चा की कि मेरा पुत्र बीकानेर मेडिकल अध्ययन कर रहा है। यह सुनकर मुझे अ ध्यान आया। मैंने उनसे कहा कि 'भुवनेश्वरी मेडिकल कालेजमें प्रवेश न होनेसे उसको बी सी०में भर्ती होना पड़ा।'

११ अगस्त ५५ को जज साहबके पु टेलिग्रामद्वारा सूचित किया कि भुवनेश्वरीशङ्क बीकानेर भेज दीजिये। मेरा लड़का दू बीकानेर चला गया। १३ अगस्त ५५ को प्र वह मेडिकल कालेजमें प्रिंसिपल महोदयके पास हुआ और उन्होंने ही उसका दाखला कर दिया

कुछ समय व्यतीत होनेपर मालूम हुआ साहबने मेरे स्टेशनपर मिलनेके पश्चात् अप पत्र लिखा कि माथुर साहबके लड़केकी कालेजमें भर्ती नहीं हुई है। जज साहबके पु की पूरी जानकारी प्राप्त की कि कालेजमें एक की जगह खाली है, बादमें मुझको तार दिया।

इस सारी घटनाका वर्णन करनेका उद्देश्य जिस कार्यको मनुष्य असम्भव समझता है सदृश मान लेता है, वह कार्य भी ईश्वरीय

पूर्ण हो जाता है। जिस प्रकार मेरे पुत्रकी आशा निराशामें परिणत हो गयी थी, परंतु अकस्मात् उसका प्रवेश मेडिकल कालेजमें हो गया जो कि स्वप्न-सदृश मिथ्या हो चुका था !

(२)

मानसमें कथा

(लेखक—श्रीवासीरामजी भावसार, विशारद)

सावधान

जातिसे शूद्र किंतु श्रद्धा-भक्तिसम्पन्न वृद्धा शबरी-की कुटियापर पधारे हैं, पतितपावन भगवान् श्रीराम। धर्मपरायणा तापसीके तो आनन्दका पार न रहा। नाच-नाचकर वनके पके हुए मूल एवं मधुर फल अर्पण करने लगी—

'अधम हूँ ! अधमसे भी अधम जड़मति नारी हूँ।'

'स्त्री है तो क्या हुआ ? भिल्लनी है तो क्या हुआ ? प्रबल सम्बन्ध तो भक्तिका है, भामिनी ! शूद्रों तथा नारियोंके लिये नवधा-भक्तिका स्वरूप, साध्वी ! सावधान* होकर सुन—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

संतोंका संग और भगवत्-कथाका श्रवण।

* सावधान सुनु धरु मन माहीं। श्रीरामचरितमानसमें, जहाँतक हमने खोज की, भगवान् रामको कहीं भी, किसी भी पात्रको किसी भी प्रसंगमें सावधान करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, वैसे तो जो संत होते हैं, वे सदा ही सावधान रहते हैं—

'सावधान मानद, मदहीना।'

असावधानी, प्रमाद अथवा आलस्य संतोंसे कभी नहीं होता, किंतु स्त्रियोंका स्वभाव चपल होनेके कारण उन्हें यदा-कदा सावधान करनेकी आवश्यकता होती है। भगवान् शिवने पार्वतीजीको मानसकथावर्णनमें बार-बार सावधान किया है यथा—

'सावधान सुनु सुमति भवानी।'

× × ×

'सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।'

उपर्युक्त प्रसंगमें शबरीको जो सावधान करके कहा गया है वह न केवल त्रेता ही वरं कलियुगके शूद्रों तथा स्त्रियोंके लिये भी माननीय है।

साँपके बिल

भक्तिके अनेकानेक प्रकारोंमें—कहीं-कहीं सर्व-प्रथम—आता है 'श्रवण'। श्रुति अथवा कानके माध्यम-द्वारा सभी प्रकारके शब्द अन्तस्तलमें प्रविष्ट होते हैं, धन्य हैं वे कर्ण-गह्वर, जिनमें निरन्तर हरिनामका प्रवेश होता रहता है। हरिकथा सुननेवाले कान सार्थक हैं; वे चर्म-श्रोत्र नहीं—

'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना।
श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥

श्रीरामकी कथा

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम हैं सर्वगुण-सम्पन्न; फिर उनकी कथामें कौन-सा गुण न होगा ? शुभ, सुन्दर, मधुर, पावन, विशद, विमल, सुखद, सुहाई, विचित्र, अलौकिक, मंगलकरनि आदि-आदि सभी कुछ तो हैं—

'सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।'

× × ×

'राम कथा सुंदर करतारी।

× × ×

'तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।

× × ×

'कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी।

× × ×

'पूँछिहु रामकथा अति पावनि।

× × ×

'कहहु राम के कथा सुहाई।

× × ×

'मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

× × ×

सुरधेनु-सम

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्! यह तो हुई काशीके विश्वनाथ बाबाकी पण्डितोंको मिली हुई सम्मति। अब रामकथाकी जिज्ञासु भगवती पार्वतीसे भगवान् क्या कहते हैं। सुनिये—

'राम कथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख दानि।'

संसारके सभी प्रकारके सुख प्रदान करनेवाली मानसकी कथा!

ठीक है, दुःख मिलते हैं विषयमननसे—विषय-सेवनसे। और मानसमें—

'इहाँ न बिषय कथा रस नाना।'

विषयकथाका नितान्त अभाव। यही इसका दोष है, अवगुण है। आलोचकोंकी धारणा जो ठहरी।

'प्रभु पर प्रीति न सामुझि नीकी।
तिन्हहिं कथा सुनि लागहि फीकी॥'

फीकापन! होगा ही। सुप्यारी (सुपारी) प्रीतिके बिना कथा (कत्था) का रसपान (ताम्बूल) कैसा?

'कल्याण'ने गत वर्ष संत-वाणी-अङ्क निकालकर संतोंका सङ्ग—सत्सङ्ग कराया था। इस वर्ष भक्तिके दूसरे अङ्ग कथा—सत्कथाओंका प्रकाशनकर मानव-कल्याणके पथमें एक पग और आगे बढ़ाया है, जो स्तुत्य है।

'बिनु सतसंग न हरि-कथा तेहि बिनु मोह न भाग।'

(३)

जहाँ नास्तिक भी आस्तिक बन जाते हैं

(लेखक—श्रीविश्वनाथजी कुलश्रेष्ठ)

यह विगत द्वितीय महायुद्धकी एक सच्ची घटना है। एक विमानचालक शत्रुदेशकी स्थितिके चित्र लेनेके लिये रवाना हुआ। पर अपने गन्तव्यपर पहुँचनेसे पूर्व ही विमानभेदी तोपकी गोलियाँ उसके विमानमें लगीं। इससे उसके दोनों इंजिन बेकार हो गये। उस समय वह विमान भूमध्यसागरके ऊपर उड़ रहा था। इंजिन बेकार होनेपर विमान नीचेकी ओर गिरने इस समयतक चालकको पूरा होश था और विमानकी इस दुर्घटनाका एक-एक विवरण स्मरण था। इसके बादकी घटनाके बारेमें उसे नहीं; क्योंकि सम्भवतः उसका विमान समुद्रमें तत्काल डूब गया होगा और उसके साथ वह चालक और उसके साथी भी समुद्रके अतल चले गये होंगे।

इसके बादकी दूसरी, जिस घटनाका उसे था, वह यह है कि वह चालक समुद्रकी तैर रहा है और अपनेको डूबनेसे बचानेकी कोशिशमें लगा हुआ है। पर उसका घुटनेके पाससे कट गया है। उसके पैरसे मात्रामें रक्त बह रहा है और ऐसा लगता मानो वह पानीके बजाय रक्तके सागरमें ही हो। उसके पैरसे इतनी तेजीसे खून निकल कि उसकी प्राणशक्ति लगातार घटती जा रही उसे लग रहा था कि वह कुछ ही क्षणोंका है। अचानक उसके शरीरसे लकड़ीका एक टकराया। यह विमानमें लगी हुई प्लाईवुडका था और आश्चर्यकी बात यह थी कि इस ऊपर 'फर्स्ट एड चिकित्सा' का वह बक्सा भी हुआ था जो उसके विमानमें रक्खा रहता था। जिस किसी तरह फर्स्ट एडके बक्सेको खोल उसमेंसे कपड़ेकी पट्टी निकालकर अपनी जाँघपर बाँध ली, जिससे खूनका बहना रुक गया। इतने ऊपरसे एक विमान उड़ता हुआ गुजरा। विमान हुए व्यक्तिने समुद्रकी लहरोंसे संघर्ष करते व्यक्तिको देखा तो अपने विमानसे हवा भरा हुआ एक पहिया नीचे गिरा दिया। लहरोंसे संघर्ष चालकने उस पहियेको पकड़ लिया और उसके वह लहरोंपर तैरने लगा। थोड़ी देर बाद पानी

जहाज वहाँसे गुजरा और उसने उस चालकको अपने ऊपर चढ़ा लिया। अकल्पनीय घटनाओंकी सृष्टि करने और आसन्न मृत्युके मुखमेंसे भी बचा निकालनेकी सामर्थ्यवाले सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ताके प्रति कृतज्ञतासे अभिभूत होकर उस विमानचालकका मुख आँसुओंसे भीग गया।

एक दूसरे विमानचालककी आपबीती सुनिये। यह चालक शत्रुओंपर बमवर्षा करके अपना बमवर्षक विमान लेकर स्वदेश लौटा। पर बमवर्षा करते समय एक छोटा बम उसके विमानके पंखेके पास बिना फटे हुए अटक गया था। वापस लौटकर जब उसका विमान जमीनपर उतरा तो जमीनसे छूनेपर हल्का-सा धक्का लगा, जिससे पंखेके पास अटका हुआ वह बम धड़ाकेके साथ फटा। बमका फटना था कि विमानकी टंकीमें भरे हुए पेट्रोलने आग पकड़ ली और पलभरमें बिजलीकी टार्चकी भाँति सारे विमानमें आग लग गयी। चालक खिड़की खोलकर भागनेका प्रयत्न करने लगा, पर वह सीटसे बेल्टोंद्वारा बँधा हुआ था। वह बेल्टें खोलने लगा। चारों ओर आग लगी हुई थी, जिससे उसकी हाथोंकी अँगुलियाँ प्रतिपल शिथिल होती जा रही थीं। इसके पूर्व कि वह बेल्टोंको खोल पाये, वह संज्ञाहीन हो गया। इसके बाद उसे पता नहीं कि क्या हुआ। अन्तिम बात जो उसे याद थी, वह यह कि उसने अपना अन्त आया देखकर भगवान्से प्रार्थना की थी—'हे भगवन्! मेरी मदद कर।' दूसरी बात जो उसे याद थी वह यह कि वह अस्पतालमें रोगियोंकी चारपाईपर लेटा हुआ है और डाक्टर उसके ऊपर झुका हुआ है। किसीको भी यह पता नहीं कि जलते हुए विमानके भीतरसे उसे कब और किस प्रकार जीवित बाहर निकाला गया। उसने कहा कि मुझे यह विश्वास हो गया कि भगवान्ने मेरी आर्त पुकार सुनी और मुझे तत्क्षण बाहर निकाल लिया।

अधिकांश युवक जिस समय विमानचालककी ट्रेनिङ्ग लेनेके लिये भरती होते हैं, उस समय वे नास्तिक होते हैं। उनका विश्वास होता है कि चालकका कार्य मनुष्यमें असाधारण साहस और वीरताकी अपेक्षा करता है—ईश्वर नामकी काल्पनिक सत्ताकी अदृश्य शक्तिपर भरोसा करना चालकके पेशेके साथ मेल नहीं खाता। पर ये युवक ट्रेनिङ्ग लेनेके बाद जब विमान लेकर उड़ते हैं, तब ऐसी-ऐसी अदृश्य परिस्थितियाँ सामने आती हैं और वे ऐसे कल्पनातीत परिणामोंमें बदल जाती हैं कि चालकोंके मन अदृश्य शक्तिके प्रति बलात् आस्थावान् हो जाते हैं। अपने पेशेका व्यावहारिक अनुभव इनमें यह विश्वास पैदा कर देता है कि ऐसी परिस्थितिमें जहाँ कोई सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती, वहाँ भगवान्का सहारा काम आता है और दुर्घटना होनेपर केवल उसकी ही सहायतासे मनुष्यका उद्धार सम्भव है। जैसे-जैसे ये अकल्पित घटनाएँ दोहराती चलती हैं, वैसे-वैसे विमानचालकके मनमें ईश्वरकी सत्ताके प्रति आस्था दृढ़ होती जाती है।

एक विमानचालकने, जो उस समयतक नास्तिक था, अपने जीवनको मोड़ देनेवाली एक घटना सुनायी। यह भी विगत महायुद्धके समयकी ही घटना है। यह चालक रसद लेकर अपने वायुयानमें बैठा हुआ जा रहा था कि अचानक सामनेसे आते हुए जर्मन बम-वर्षकोंका काफिला दिखलायी दिया। शत्रुके विमानोंका बड़ा भारी काफिला देखकर वह अकेला विमानचालक इतना घबरा गया कि उसका मस्तिष्क आगे कुछ ही नहीं देख पाया। इतनेमें पास ही बैठे हुए उसके सहयोगी गनर (विमानमें लगी हुई मशीनगन चलानेवाला) ने जोरसे कहा, 'विमानको मोड़ो'। पर उस समयतक शत्रुके बम-वर्षक बहुत समीप आ गये थे। यदि वह विमान मोड़ता भी तो भी उन बम-वर्षकोंकी गोलीकी मारके दायरेसे बाहर नहीं जा सकता था।

अतः कोई चारा न देखकर वह मौन होकर भगवान्‌से रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगा। गनर अपना गला फाड़कर पुनः चिल्लाया—'अरे सुनता नहीं, विमानको तत्काल मोड़।' पर विमानचालक एकदम मौन रहा। यह देखकर अपनी अन्तिम घड़ी निकट आयी जान वह गनर भी मौन होकर अपने पापोंके लिये भगवान्‌से क्षमा करनेकी प्रार्थनामें लीन हो गया। पता नहीं क्यों, उन जर्मन बम-वर्षकोंके काफिलेके नेताके दिमागमें क्या विचार आया कि सारा-का-सारा काफिला कुछ ही क्षणोंके भीतर मुड़ा और जिस ओरसे आ रहा था उसी ओर भागने लगा और समस्त बमवर्षक क्षणोंमें ही दृष्टिसे दूर होते हुए ओझल हो गये। पर उस विमानचालक और उसके सहयोगी गनरको यह विश्वास हो गया कि उनकी सच्चे मनसे की गयी प्रार्थनाने ही उन्हें मौतके मुखमेंसे बाहर निकाल लिया।

एक चालक शत्रुके प्रदेशपरसे गुजर रहा था कि उसका विमान शत्रुकी विमानभेदी तोपोंकी मारके भीतर आ गया। तत्काल उसने अपने विमानको आकाशकी ओर मोड़नेकी चेष्टा की, पर विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना बंद कर दिया। उधर भूमिपरसे विमानभेदी तोपोंसे गोलियाँ छूटने लगीं। अन्त समय निकट आया देखकर विमानचालकने आर्त वाणीमें भगवान्‌से निवेदन किया—'हे भगवन्! सिर्फ इसी बार मुझे बचा ले, चाहे फिर न बचाना।' पलभरमें न मालूम क्या हुआ कि विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना प्रारम्भ कर दिया और चालक विमानको मोड़कर तत्काल दूर आकाशमें उड़ गया।

एक चालकको अपना पेशा प्रारम्भ करनेके कुछ समय बाद अपनी पत्नी और बाल-बच्चोंकी चिन्ता रहने लगी। वह यह सोचता रहता कि यदि मैं किसी में समाप्त हो गया तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी कैसे होगी। वह इसी सोच-विचारमें रहा करता एक दिन उसे लड़ाईके मोरचेपर जानेका आ गया। अब तो उसकी जान बचना लगभग ही हो गया। उसे अपने मृत पिताका कहा वचन याद आया कि जब विश्वमें सब सहारे स जाते हैं, तब भगवान्‌का सहारा ही काम दे चालकको यद्यपि भगवान्‌में आस्था नहीं थी, प ढाढ़स देनेके लिये भी कोई वस्तु न थी। नितान्त निःसहाय पाकर उसके मनमें अपने उक्त वचन बार-बार याद आने लगा। अन्तमें मोरचेपर चलने लगा, तब उसने दीन होकर प्रार्थना की—'हे भगवन्! यदि तू वास्तवमें तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी मदद करना। मैं तेरे ही उन्हें छोड़े जाता हूँ।' यह प्रार्थना कई बार पश्चात् वह लड़ाईपर चला गया। लड़ाई समाप्त वह सुरक्षितरूपसे वापस लौट आया। तबसे प्रति उसका विश्वास निरन्तर बढ़ता गया।

एक अमरीकी विमानचालकने अपने कमरे प्रकारके वाक्य लिखकर टाँग रखे थे—'जब तुम होओ, तब भगवान्‌से सहायताके लिये प्रार्थना करो इसमें सीमासे अधिक उदार है। जब तुम कष्टमें न तब भी उसे स्मरण करना न भूलो। उससे प्र किया गया आत्मनिवेदन व्यर्थ नहीं जाता। भगवा एकमात्र ऐसा अति सहृदय व्यक्ति है जो कि समय और किसी भी परिस्थितिमें सहायताके लिये रहता है—अन्य किसीमें इतनी अधिक उदारता न

और यही भावनाएँ अधिकांश विमान-चाल बन जाती हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

बृहदारण्यकोपनिषद्

(मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १३८४, सुन्दर ६ तिरंगे चित्र, हाथकर्घेसे बने कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य ५॥) मात्र । डाकखर्च २।=) ।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयिब्राह्मणके अन्तर्गत है । कलेवरकी दृष्टिसे यह समस्त उपनिषदोंकी अपेक्षा 'बृहत्' है तथा अरण्य (वन) में अध्ययन-की जानेके कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं । इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम बृहदारण्यक हुआ है । यह बात भगवान् भाष्यकारने ग्रन्थके आरम्भमें ही कही है । वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार करते हैं—'बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ।' (सं० वा० ९) भाष्यकारने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यकपर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद्पर नहीं लिखा । उपनिषद्-भाष्योंमें इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं ।

इस उपनिषद्की प्रतिपादन-शैली बहुत ही सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त है । इसमें कुल छः अध्याय हैं । इसमें दो-दो अध्यायोंके मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंज्ञक तीन काण्ड हैं । इनमेंसे मधु और खिल काण्डोंमें प्रधानतया उपासनाका तथा याज्ञवल्कीयकाण्डमें ज्ञानका विवेचन हुआ है । भाष्यकारने इसकी व्याख्या करते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया है । ग्रन्थमें देवताओंका उद्गीथके द्वारा असुरोंका पराभव करना, गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-संवाद, जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद, आत्माका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके साधन, आत्मज्ञानकी स्थिति, प्रजापतिका देव, मनुष्य और असुरोंके प्रति उपदेश, प्राणोपासना, गायत्री-उपासना आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर विषय हैं । ग्रन्थके अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है ।

सं० १९९९ में पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। पुनः कई कठिनाइयोंके कारण दूसरा संस्करण प्रकाशित न हो सका । अब यह ३००० प्रतियोंका नया संस्करण छापा गया है । पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने यहाँके विक्रेतासे पूछ लेना चाहिये; जिससे भारी डाक-खर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

विनीत प्रार्थना

तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें अवकाश न मिलनेके कारण पत्रोंका उत्तर नहीं दिया जा रहा है । कृपया क्षमा करें और अत्यन्त आवश्यक कारण छोड़कर दो महीनेतक पत्र न लिखनेकी कृपा करें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

JAMMU

मासिक महाभारतके ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये

महाभारतके चार अङ्क ग्राहकोंकी सेवामें पहुँच चुके हैं। स्थान-स्थानसे जो पत्र आ रहे हैं, उनसे पता लगता है कि अधिकतर महानुभावोंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाया है। ग्राहक भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। ग्राहकोंकी माँग इतनी अधिक संख्यामें लगातार आ रही है कि तीन ही मासमें प्रथम संस्करण-के तीनों अङ्क प्रायः समाप्त हो गये हैं तथा उनका दूसरा संस्करण शीघ्र ही छापनेका प्रयत्न किया जा रहा है। चौथे अङ्कसे इसका संस्करण बढ़ाकर ड्योढ़ा कर दिया गया है। यही इसकी उपयोगिताका प्रमाण है।

यह पञ्चम वेद माना गया है। ऐसा कोई भी उपयोगी विषय नहीं है, जो इसमें न आया हो। अतएव हम पाठकों और सभी महाभारतके प्रेमियोंसे निवेदन करते हैं कि वे स्वयं ग्राहक बनें और अपने इष्ट-मित्रोंको ग्राहक बनानेकी चेष्टा करें। इतना सस्ता हिंदी-भाषानुवादसहित सचित्र संस्करण इस समय कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यदि यह संस्करण भी समाप्त हो गया तो पुनः नये संस्करणका निकट भविष्यमें छपना कठिन है; अतः ग्राहक महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

मासिक महाभारतके ग्राहक कार्तिक (नवम्बर) से आश्विन (अक्टूबर) तकके पूरे वर्षके लिये बनाये जाते हैं। पूरा महाभारत अनुवादसहित तीन सालमें सम्पूर्ण निकल जानेकी आशा है।

इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित २०) है। प्रत्येक अङ्क रजिस्टर्ड पोस्टसे भेजा जायगा। प्रतिमास रजिस्टर्ड पोस्टसे अङ्क भेजे जानेके कारण अङ्कोंके खोनेका भय प्रायः नहीं रहेगा।

एक मासिक अङ्कके दाम २) हैं। जो लोग नमूनेका अङ्क मँगवायेंगे उन्हें भी रजिस्ट्रीके द्वारा ही २) में अङ्क भेजा जायगा।

व्यवस्थापक—महाभारत-मासिकपत्र, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

वर्ष ३०

अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१३, अप्रैल १९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–पिताकी गोदमें शिशु श्रीराम [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')	८३३
२–कल्याण ('शिव') ...	८३४
३–युगल-नामाराधनसे योग-क्षेम (श्री-श्रीकान्तशरणजी) ...	८३५
४–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ...	८३८
५–भक्ताचरण [कविता] (श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')	८४५
६–श्रीरामभद्रका स्वभाव (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	८४६
७–आदर्शका बल (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०). ...	८४९
८–जीवन्मुक्ति-रहस्य (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ...	८५२
९–भारतीय संस्कृतिकी विश्वको देन—दान (श्रीसीतारामजी सहगल) ...	८५९
१०–मान-बड़ाई—मीठा विष (तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें एक स्थानपर हनुमानप्रसाद पोद्दार-द्वारा दिये गये भाषणका कुछ अंश) ...	८६२
११–दूसरोंके साथ	८६४
१२–महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य [नाटक] (सेठ श्रीगोविन्ददासजी)	८६५
१३–हमारा पतन (पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)	[illegible]
१४–भोजनमें महान् ईश्वरीय शक्तिका प्रवेश कीजिये (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)	[illegible]
१५–आत्मोत्सर्ग [अमृतपद] (श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्-टी०)	[illegible]
१६–संत स्पिनोजा (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-ला, विद्यावारिधि)	[illegible]
१७–तीर्थयात्रा [कहानी] (श्री 'चक्र') ...	[illegible]
१८–दोष किसका ? (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा)	[illegible]
१९–ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)	[illegible]
२०–आत्रेय दर्शन (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)	[illegible]
२१–स्त्रियोंके लिये चार आवश्यक नियम (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	[illegible]
२२–कामके पत्र	[illegible]
२३–'सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा' [कविता] (श्रीहरिशङ्करजी शर्मा) ...	[illegible]

चित्र-सूची

तिरंगा

१–रघुनन्दन पिताकी गोदमें ... ... [illegible]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Shaikha Library & Reading Room
No 341
Date 27.4.06
Jaipur
Shaikha Library & Reading Room
Bandar, Rehana

रघुनन्दन पिताकी गोदमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

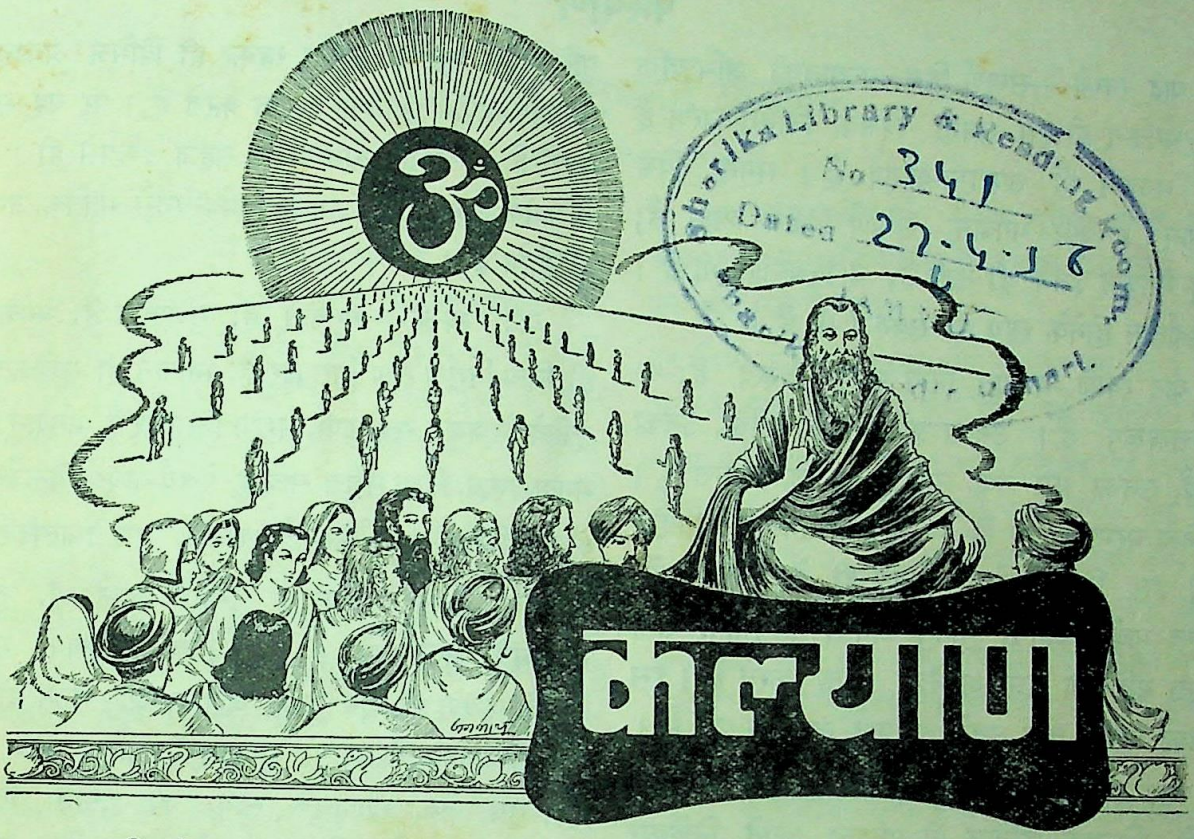

Library & Reading Room
No. 341
Date 27-5-56

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१३, अप्रैल १९५६ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३५३

पिताकी गोदमें शिशु श्रीराम

बंदौं बाल-बपु रघुनंद ।
हेरि मुख-छबि चंद लाजत, होत मनसिज मंद ।
गोद पितुके मोद भरि उर लसत आनँद-कंद ,
धरि रुचिर सिसु रूप राजत मनहु परमानंद ।
हँसत किलकत अरत उछरत प्रनतजन-प्रतिपाल ,
भक्तजन-मन-हरन मूरति धन्य दसरथ-लाल ।
रूप-रासि निहार बेसुध भूपके मन-प्रान ,
निरखि कोसल-चंद उमगत नेह-सिंधु महान ।

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

याद रक्खो—सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌की अभिव्यक्ति है। भगवान् ही इस समस्त विश्वके निमित्त-कारण हैं और भगवान् ही उपादान-कारण हैं। समस्त विश्व भगवान्‌में है और भगवान् सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं; परंतु भगवान् इतने ही नहीं हैं, वे विश्वातीत भी हैं। वे सर्वातीत होनेके साथ ही सर्वरूप भी हैं।

याद रक्खो—भगवान् नित्य परिपूर्ण-स्वरूप हैं;—अनन्तस्वरूप हैं। उनका ज्ञान, उनकी शक्ति, उनका ऐश्वर्य, उनका प्रेम तथा उनका आनन्द अनन्त है। वे नित्य परमानन्दमय हैं—सच्चित्-परमानन्दमें प्रतिष्ठित हैं। इस चिदानन्दके स्वभावसे ही वे अनन्त रूपों, अनन्त भावों, अनन्त कर्मों, अनन्त विभूतियों तथा अनन्त महिमाके द्वारा अपनेको व्यक्त करते हैं। इस सृष्टिका प्रत्येक कण उनके परिपूर्ण स्वरूपसे पूर्ण है।

याद रक्खो—परिवर्तनशील विविध रूपमय सृष्टिके रूपमें अभिव्यक्त होनेपर भी भगवान् अपने निर्विकार परिपूर्ण स्वरूपसे कभी लेशमात्र भी च्युत नहीं होते। उनकी सृष्टि-विधायिनी अनन्त शक्तिमें, उनके अनन्त ज्ञानमें, उनके अनन्त प्रेममें, उनकी अनन्त सत्तामें, उनके अमित ऐश्वर्यमें तथा उनके असीम प्रेममें कभी जरा भी संकोच नहीं होता। यह सारी सृष्टि उनका आत्मप्रकाश, आत्मविनोद और आत्मसम्भोग है।

याद रक्खो—वे ही भगवान् अपने आनन्दमय स्वभाव या इच्छासे दिव्य साकार रूपमें प्रकट होते हैं, उनको कोई उत्पन्न नहीं करता, वे किसी कर्मसे बाध्य नहीं होते, वे पाञ्चभौतिक शरीरको धारण नहीं करते। वे अजन्मा होकर ही जन्म ग्रहण करते हैं, वे नित्य-सहज-निर्विकार रहकर ही नाना प्रकारकी विकार-लीला-को स्वीकार करते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंके नियामक, सर्वलोकमहेश्वर रहते हुए ही साधारण मानवके सदृश व्यवहार करते हैं, वे देश-कालसे अतीत रहकर ही देश-कालके भीतर अपनेको प्रकट करते हैं, वे समस्त परिणामोंसे सहज अतीत रहकर ही विभिन्न प्रकार परिणाम-रूपोंमें अपनेको व्यक्त करते हैं। पर यह करते हैं—अपनी आनन्दमयी सहज इच्छासे ही वे कर्मसे बाध्य हैं, न उनका कर्मबन्धनसे भौतिक ही होता है।

याद रक्खो—भगवान् ही गुणातीत हैं, भग ही नित्य-निर्गुण तथा निराकार हैं, भगवान् ही सृष्टि सृष्टिके नियामक, सर्वव्यापी, सगुण निराकार हैं, भगवा भगवत्स्वरूप, दिव्य सगुण साकार, ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्द अनन्त निधि, अपार करुणावरुणालय, परम प्रेमास्प

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारे अपने हैं, भगवान्‌के अपने हो। इस नित्य-आत्मैक्यको जानेके कारण ही तुम दुखी, अशान्त और संतप्त यह भी भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान्‌की विचित्र ली है। तुम जब भगवान्‌के साथ, जो तुम्हारा अभिन्न सम्बन्ध है, उसे समझ लोगे, तब फिर लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उनके आनन्दमय स्व अनुभव होगा। तुम्हारा जीवन तब अपने आन सहज स्वरूपको प्राप्त करके आनन्दस्वरूप हो जाय

याद रक्खो—जबतक तुम भगवान्‌के इस सहज अभिन्न आत्मसम्बन्धको नहीं जान लोगे, तक तुम सहज आनन्दस्वरूप होनेपर भी अ दुःखानलसे दग्ध होते रहोगे। अशान्तिकी अग्निमें जलते रहोगे।

याद रक्खो—तुम्हारा यह अभावदुःख जा किसी भी परिस्थिति, अवस्था, पदार्थ या प्राणीसे मिटेगा। तुम यहाँ खोजते-खोजते एकके बाद मोहजालमें फँसते रहोगे तथा नये-नये अभावकी अ जलते रहोगे। अतएव भगवान्‌को तथा अपनेको समझ 'भगवान् तुम्हारे तथा तुम भगवान्‌के' इस त अनुभव करो।

'शिव'

युगल-नामाराधनसे योग-क्षेम

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

'कल्याण' वर्ष २७ के ५-६ अङ्कोंमें 'युगल-उपासना-रहस्य' शीर्षक मेरा एक लेख छप चुका है। वहाँ विवेचन-पूर्वक सप्रमाण दिखाया जा चुका है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी तत्त्वतः एक हैं। माता-पिता रूपोंसे आश्रित जीवोंके कल्याण करते हैं। श्रीसीताजी प्रथम उपासित होकर आश्रितको निर्मल बुद्धि (सदसद्विवेकिनी बुद्धि) दे मुमुक्षु-योग्यता प्रदान करती हैं और अपने प्रधान कृपारूपगुणसे अपने अनुकूल स्वामीमें भी कृपा उद्दीप्त कर उससे आश्रितके दोषोंको ढँक देती हैं। कृपाप्रधान चित्तसे स्वामी इसके दोषोंको न देखकर इसको अपनाना अपना कर्तव्य मान लेते हैं। तत्पश्चात् श्रीरामजी उपासित हो अपने आनन्द-सिन्धु स्वरूपका अनुभव कराकर इसे कृतार्थ कर देते हैं।

युगल नामोपासनामें भी वही बात है। रूपके ही गुण नामाराधकके प्रति वैसा ही कार्य करते हैं। अतः प्रथम 'सीता' नामसे श्रीसीताजीके गुणोंका और फिर 'राम' नामसे श्रीरामजीके गुणोंका लाभ होता है।

नामाराधन-रहस्यके परम ज्ञाता श्रीशिवजीने इससे आश्रितोंके योग-क्षेमकी व्यवस्था स्पष्ट कही है। यथा—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥
(रामचरितमानस बाल० ३१४)

अर्थात् जिनका नाम लेते ही जगत्में समस्त अमङ्गलके कारण ही नष्ट हो जाते हैं तथा चारों पदार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष अनायास प्राप्त हो जाते हैं, ये वही श्रीसीतारामजी हैं—ऐसा कामारि शिवजीने कहा है। समस्त अमङ्गलोंके कारण ही नष्ट हो जाते हैं, इससे भविष्यमें फिर कभी भी इनकी शङ्का नहीं रह जाती और चारों पदार्थ करतल हो जाते हैं, इस कथनमें अनायास प्राप्त होनेके अतिरिक्त औरोंको हाथसे देते रहनेके सामर्थ्यकी प्राप्तिके भाव भी हैं, ये भाव आगे स्पष्ट होंगे।

'कहेउ कामारी'—इससे ग्रन्थकारने सूचित किया है कि श्रीशिवजीने इसी नामके 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को।' इस लक्ष्यार्थसे अपने अग्नि, सूर्य और चन्द्र—इन तीनों नेत्रोंमें परम ज्योति प्राप्त की है, जिस अग्निनेत्रसे उन्होंने सारे विकारोंके मूल कामको भस्म कर रक्खा है।

समस्त अमङ्गलोंके मूल जीवोंके दूषित कर्मोंसे सम्पन्न काल, कर्म, गुण और स्वभाव हैं, इन्हींके द्वारा नाना क्लेश प्राप्त होते रहते हैं; यथा—

तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा॥
(रामचरितमानस उत्तर० १२, ४३)

श्रीरामनामके द्वारा इन काल-कर्म आदिसे होनेवाले अमङ्गलोंका नाश होना और साथ ही चारों फलोंका अनायास प्राप्त होना श्रीरामचरितमानस बालकाण्ड १८ के पश्चात्की अर्द्धालियोंसे प्रकट किया जाता है—

कालबाधारक्षण और मोक्षफलदातृत्व

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥

अर्थात् यह राम-नाम, जिसका श्रीशिवजी जप किया करते हैं, महामन्त्र है। श्रीकाशीजीमें मरणकालमें जीवमात्रके मुक्त होनेमें इसका उपदेश ही कारण है; तथा—

कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
(रामचरितमानस बाल० ११८)

इसी नाम-जपके प्रभावसे श्रीशिवजी अमङ्गल-साजमें भी मङ्गलराशि हैं—

'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥'
'मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥'
(रामचरितमानस बाल० २५, ९)

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि श्रीराम-नामसे श्रीशिवजीका अमङ्गल निवृत्त हुआ, वे दूसरोंके लिये भी मङ्गलभवन हो गये। स्वयं कालबाधासे निवृत्त हो अविनाशी हुए। औरोंको भी काशीमें मरते समय उपदेश दे मुक्त कर कालबाधासे बचाते हैं। इस प्रकार नाममें अपरिमित मोक्षफलदातृत्व है जिससे नाम-जप करनेवाला भी औरोंको मोक्ष देनेमें समर्थ हो जाता है।

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा शिवजीके नेत्र हैं, इन दृष्टियोंसे उन्होंने श्रीराम-नामके 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' इस तत्त्वार्थका प्रकाश प्राप्त कर काण्डत्रय (कर्मफल-वैराग्य, ज्ञान

और भक्ति) का तात्पर्य या वैसा लाभ पाया है। वैसे ही जपकर्ताके जिह्वापर भी अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका निवास है। इनमें भी अपने परम कारणरूप इस नामसे वैसा ही प्रकाश प्राप्त होकर वैसा ही लाभ होगा, यथा—

जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽमलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥

(योगियाज्ञवल्क्यकृत गायत्री-भाष्य)

रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते।
अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥

(महारामायण)

कर्मबाधा-रक्षण और कामफलदातृत्व

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

अर्थात् जिस श्रीराम-नामकी महिमा श्रीगणेशजीने जानी है, उसीके प्रभावसे वे (सब देवोंमें) प्रथम पूजे जाते हैं। यथा—

राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराउ कही आपनी करनि।

(विनय-पत्रिका २४७)

अहं पूज्योऽभवं लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात्।
अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्तनं सर्वदोचितम्॥

(गणेशपुराण)

एक समय प्रथम पूज्यपद-प्राप्तिके लिये समस्त देवगण ब्रह्माण्डभरकी प्रदक्षिणा करने चले। निश्चित था कि जो पहले आ जायगा, उसे ही यह पद मिलेगा। श्रीगणेशजीका वाहन चूहा है, इससे वे पिछड़ गये। भगवान्‌की दयासे श्रीनारदजी मिले, इन्हें उदास देखकर कहा कि पृथ्वीपर श्रीरामनाम लिखकर इसीकी प्रदक्षिणा कर लो, यह सर्व-ब्रह्माण्डमय है। गणेशजीने वही किया। देवताओंने सर्वत्र चूहेका पदचिह्न आगे-आगे पाया, इससे वे स्वयं उदास हुए और श्रीगणेशजी प्रथम पूज्य हुए।

श्रीगणेशजीको समस्त सुकृत्योंका फलरूप पद प्राप्त हुआ, इससे उनकी कामना-पूर्ति हुई और वे औरोंके शुभ-कर्मोंमें प्रथम पूजित होकर सबकी कामनापूर्ति किया करते हैं एवं सभीकी कर्मबाधाएँ दूर किया करते हैं, इस लक्ष्यसे मुमुक्षु श्रीराम-नामको बुद्धिरूपी पृथिवीमें अंकितकर परिक्रमा करनेके समान हृदयस्थ करे तो इसे भी कर्मयोगके फल-स्वरूपमें स्वरूपकी ध्याननिष्ठा और तीनों ऋणोंकी निवृत्तिसे त्रैलोक्यपूज्यत्वकी प्राप्ति हो, यही इसे उत्तम कर्म-प्राप्ति है—गीता २। ४१ देखिये। तथा—

अनुराग सो निजरूप जो जगते बिलच्छन देखिये,
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी कही।

(विनय-पत्रिका)

गुणबाधारक्षण और अर्थफलदातृत्व

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

अर्थात् श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामनामका प्रताप जान उन्होंने इसका उल्टा जप करके शुद्धि प्राप्त की है।

श्रीवाल्मीकिजी ब्राह्मण थे। कोलोंके संगसे वनमें हिंसा से रहते थे। सप्तर्षियोंके उपदेशसे इन्होंने उल्टे नामसे भी शुद्धि पायी है। वैसे ही मुमुक्षु जीव ब्रह्मका अंश ब्राह्मण है। यह राजस अहङ्कार (मन)के वश हो कोलोंके संगसे हिंसक हो गया है। गुण-संगसे यह अपनी को बार-बार चौरासी लाख योनियोंमें भेज-भेजकर हिंसा है; यथा—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।'

(गीता १३।)

एक-एक कल्परूप दिनमें यह बहुत बार मनुष्य पाकर भी चौरासीको जाता है, यही मनका बहुत-सी करना है। वाल्मीकिजी उल्टे नाम-जपकी भी निरन्तर से शुद्ध हो गये। वैसे ही यह भी वैषयिक (उल्टी) भी यदि जन्मभर नाम-रटनकी ठान ले तो शुद्ध हो जाय श्रीरामजी अपने नामकी लज्जा रखते हुए इसे शुद्ध कर कल्याण २८। ३ में 'नाम-महिमा' शीर्षक लेखमें यह समझाया गया है।

शुद्ध द्रव्योंसे सम्पादित करोड़ों यज्ञोंसे भी ऐसे पापोंकी होनी कठिन है, वह नामके द्वारा सहजमें हो गयी। यहाँ नामका उत्तम अर्थफलदातृत्व है। श्रीवाल्मीकिजी अपनी रामायणके द्वारा औरोंके पापोंकी शुद्धि कर रहे हैं;

'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।'

(वाल्मीकि० माहा

इस रीतिसे इस वाल्मीकि-प्रसङ्गसे नामके द्वारा गुण-रक्षण और अर्थफलके उत्तम परिणामरूप शुद्धिकी सिद्ध है।

स्वभाव-बाधा-रक्षण और धर्मफलदातृत्व

स नाम सम सुनि सिव बानी । जपति सदा पिय संग भवानी ॥
हेतु हेरि हर ही को । किय भूषन तिय भूषन ती को ॥

अर्थात् विष्णुसहस्रनामके समान (एक राम-नाम-जपका व है, ऐसी) शिवजीकी वाणी सुनकर श्रीपार्वतीजी सदा के साथ इसका जप किया करती हैं । श्रीशिवजी उनके यकी प्रीति देखकर प्रसन्न हुए और पतिव्रताशिरोमणि स्त्री ीपार्वतीजी)को अपना भूषण बना लिया है । अर्थात् ें आधे अङ्गमें धारणकर भूषण-धारणकी भाँति उनसे नी शोभा मानी है । पद्मपुराणमें कथा है कि एक समय र्वतीजी विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रही थीं । श्रीशिव- उन्हें साथ भोजन करनेके लिये बुलाया और कहा कि बार 'राम' यह नाम कहकर आओ भोजन करो । उन्होंने ही किया । पीछे पूछा कि आपने मेरा नियमित पाठ क्यों दिया है ? तब श्रीशिवजीने कहा—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनामतातुल्यं रामनाम वरानने ॥

अर्थात् एक 'राम' नाम विष्णुसहस्रनामसमूहके समान यहाँ 'सहस्रनाम' पदके साथ 'ता' प्रत्यय 'समूह' अर्थमें 'जनता' पदके समान । तबसे शिवजीके साथ ही इस -भवन अमङ्गलहारी नामका जप उमाजी सदा किया हैं (ऊपर प्रमाण आ गया है) ।

श्रीशिवजीको श्रीपार्वतीजीकी इस रामनाममें प्रीति और वचनमें प्रतीतिपर बड़ी प्रसन्नता हुई । इससे इन्हें अपने अङ्गमें धारणकर शोभा मानी है । स्वभावदोषका सुधार बड़ा कठिन है—

'स्वभावो दुरतिक्रमः ।' (वाल्मीकि० ६ । ३६ । ११)

—ऐसा रावणने कहा है । ज्ञानियोंको भी बहुत अंशोंमें पराधीनता रहती है; यथा—

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।'
(गीता ३ । ३३)

ती-शरीरमें श्रीपार्वतीजीका स्वभाव बड़ा कठिन था—

सती तव नारि सुभाऊ । संसय अस न धरिअ उर काऊ ॥
कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ । देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ ॥
(रामचरितमानस बाल० ५०, ५२)

सी स्वभावदोषपर शिवजीने सतीजीका त्याग किया था। इस नाममें प्रीति होनेसे वह दोष नहीं रह गया । इसपर प्रसन्न हो शिवजीने उन्हें अपने आधे अङ्गमें ही मिला लिया । यह नामका स्वभावदोषनिवारण फल है ।

पतिलोककी प्राप्ति पतिव्रतधर्मका फल है, वह इन्हें इसी लोकमें हो गयी, स्त्रियोंके लिये यही एकमात्र धर्म है और वह असिधारपर चलनेके समान कठिन है । नामद्वारा ऐसे धर्मका भी परमोत्तम फल प्राप्त हो गया और फिर ये भी अपने आश्रित स्त्रियोंको इस धर्मफलका दान किया करती हैं । इतना बड़ा धर्मफलभण्डार इन्हें प्राप्त है कि वह कभी घटता नहीं । तथा—

एहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहिं पतिब्रत असि धारा ॥
(रामचरितमानस बाल० ६६)

यह महत्त्व श्रीनारदजीने हस्तरेखा देखकर कहा है, आगे नाम-निष्ठासे इसकी सम्पन्नता हुई है ।

यहाँतक विवेचनसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामनामके जापक स्वयं काल, कर्म, गुण और स्वभावके दोषोंसे रक्षा पाते हैं और अपने आश्रितोंके भी इन दोषोंका निवारण करते रहते हैं तथा स्वयं चारों फल अनायास पा जाते एवं औरोंको भी लुटाया करते हैं, चारों फलोंका अटूट भण्डार घटता नहीं ।

अन्य साधनोंके लिये मोक्षफल तो परम दुर्लभ है, पर रामनामजपपरायण शिवजी वही फल कीट-पतंगतकको काशीमें लुटाया करते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभाव है ।

अन्यत्र उपर्युक्त प्रभावके स्पष्ट प्रमाण भी बहुत हैं, कुछ लिखता हूँ—

काल, कर्म, गुन, सुभाव सबके सीस तपत ।
राम नाम महिमा की चरचो चलै चपत ॥
(विनय-पत्रिका १३०)

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि ।
बेद-पुरान पुकारत, कहत पुरारि ॥
कामधेनु हरि नाम, कामतरु राम ।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥
(बरवै रामायण ५६, ६२)

राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान, वेद, पंडित, पुरारि रे ॥
(विनय-पत्रिका ६७)

उपर्युक्त प्रभाव विचारकर 'सीता-राम' इस युगल नाम-का जप एवं कीर्तन कर उक्त लाभसे कृतार्थ होना चाहिये ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरि-स्मरण। तुम्हारा पत्र व्यवस्थापक गीताप्रेसके नामसे दिया हुआ मिला। संसारको अनित्य, क्षणभङ्गुर, मानवशरीरको दुर्लभ, विषयोंको विषवत् एवं भजन-साधनको अमृतवत् समझते हुए भी तुम्हारी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आधिपत्य जमाये बैठे हैं लिखा, सो ज्ञात किया। बुद्धिका भ्रम दूर हो एवं काम, क्रोध, लोभ, मोहका समूल नाश हो जाय—नामोनिशान न रहे, इसके लिये ईश्वरका भजन-ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे भ्रमका नाश होकर काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी समाप्त हो सकते हैं। गीता-तत्त्वाङ्क (गीतातत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ९ श्लोक ३०-३१ और अध्याय १० श्लोक ९-१० और ११ की व्याख्या देखनी चाहिये।

मनकी चञ्चलताके विषयमें कई बातें लिखीं और लिखा कि भगवन्नाम-जप करते समय भी मन इधर-उधर चला जाता है, सो मालूम किया। इसके लिये भगवान्‌की शरण होकर रो-रोकर करुणभावपूर्वक भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। जप करते समय मन इधर-उधर चला जाय तो इसके लिये सच्चा और वास्तविक दुःख होना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप तथा अनित्य समझकर इससे घृणाबुद्धि करनी चाहिये एवं भगवान्‌को सर्वगुणसम्पन्न तथा आनन्द और शान्तिस्वरूप समझकर उनमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मन धीरे-धीरे संसारसे हटकर परमात्माकी ओर लग सकता है। इन्द्रियोंका तो इधर-उधर भागनेका स्वभाव ही है, वे प्रमथनस्वभाववाली हैं; किंतु उनपर अधिक-से-अधिक सावधानीपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये। मन-इन्द्रियोंको अभ्यास और वैराग्यसे वशमें करना चाहिये। गीतातत्त्वाङ्क (गीतातत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की व्याख्या देखनी चाहिये।

अपने स्वरूपको पहचानने एवं शान्ति मिलनेका उपाय पूछा, सो इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के सात और 'परमार्थ-पत्रावली'के चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं, [illegible] करना चाहिये। इनके अध्ययनसे आपकी [illegible] हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

(२)

सप्रेम राम-राम! आपका दिनाङ्क [illegible] मिला। आपने कई शङ्काएँ कीं, उनका [illegible] प्रकार है—

१. गरीबोंको भगवान् ही बनाते [illegible] लिखना ठीक है। जो जैसा कर्म करता है, [illegible] भगवान् भुगताते हैं एवं उनकी सेवा करनेके [illegible] हैं। भगवान्‌ने ही गरीबोंको बनाया है। इस[illegible] नहीं है कि वे बेचारे तकलीफ पाते रहें एवं [illegible] न की जाय। सेवाका काम अपने लोगोंके [illegible] कोई चोरी-डकैती या बदमाशी करता है [illegible] गवर्नमेंट उसे पर्याप्त मात्रामें दण्ड दिलवाती [illegible] दोषीके कहीं घाव हो जाता है तो मलहम-[illegible] उचित व्यवस्था रहती है। मार-पीटकर ही [illegible] जाता। इसी प्रकार भगवान् उन्हें दण्ड [illegible] गरीबी देते हैं। उनकी सेवाका काम दूसरोंके [illegible] सेवा करता है, उसे उसका अच्छा फल [illegible] सेवा करनेवालेको तो कर्तव्य समझकर [illegible] करनी चाहिये।

२. आपने मित्रभाव रखनेवाले एक [illegible] दिया। आपने उसे दूकान करवायी और वह [illegible] चम्पत हो गया, सो मालूम किया। इस घटना[illegible] जो यह धारणा हो गयी है कि किसीके साथ [illegible] भी बुरा ही होता है, यह ठीक नहीं है। [illegible] बुराईका व्यवहार करे तो आपको बुरा नहीं [illegible] आपको तो उसके साथ अच्छे-से-अच्छा [illegible] चाहिये। आपको अपने अच्छे कर्मका [illegible] बुरा कर्म करनेवालेको पाप भोगना पड़ेगा।

'जा तोकूँ काँटा बुवे ताहि बोय तूँ [illegible]

आपको इस उपर्युक्त पद्यवाक्यके [illegible] चाहिये। साथ ही धोखा देनेवालोंसे सावधान [illegible]

काँटा बने तो बने, आपको तो फूल ही बनना चाहिये।

३. आप कल्याण-अङ्क तथा गीताप्रेससे पुस्तकें मँगाकर र पढ़ते हैं, सो बहुत उत्तम बात है। यह भी लिखा कि नहीं हो रहा है, सो संतोष हो इसके लिये भगवान्‌के का जप, स्वरूपका ध्यान, गीता-रामायणका पाठ, स्तुति- ना श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करते चाहिये। इससे संतोष हो सकता है।

४. गीता पढ़नेके लिये आपकी हार्दिक इच्छा है एवं लिये आप प्रयत्नशील भी हैं, सो उत्तम बात है। तका आप शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं, तो इसके संस्कृतके किसी पण्डितसे गीताका शुद्ध उच्चारण करना लेना चाहिये। नहीं तो, संस्कृत श्लोकोंको छोड़कर भाषा-ही-भाषा पढ़ लेनी चाहिये।

× × × ×

आपकी शङ्काओंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार दे दिया गया है। और भी कोई बात आप पूछना तो निःसंकोच पूछ सकते हैं।

(३)

सादर हरिस्मरण !

तुम्हारा पत्र मिला। समाचार लिखे सो मालूम किये। बारह वर्षके लड़केकी मृत्यु हो गयी, इससे तुमने को असहाय समझा, सो इस प्रकार लड़केकी मृत्यु होने- न्ता-फिक्र बिल्कुल ही नहीं करनी चाहिये। लड़केका और उसकी मृत्यु प्रारब्धवश ही होते हैं। जन्ममें और मृत्युमें दुःख करना यह अज्ञान ही है। इस अज्ञान- अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर करना चाहिये। के मरनेपर चिन्ताकी तो कोई बात है ही नहीं। न्ने अपनेको जो चीज धरोहररूपमें दी थी, उसे वापस या अथवा दूसरे शब्दोंमें भगवान्‌की चीज भगवान्‌के पास गयी, ऐसा ही समझना चाहिये। चिन्ता-फिक्र करनेकी त ही क्या है ? हाँ, मृतक आत्माको शान्ति मिले, लिये भजन-ध्यान एवं भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना अवश्य चाहिये।

भुका नाम लेते-लेते तुम्हें पंद्रह दिन हो गये, किंतु नहीं मिली, सो मालूम किया। श्रद्धा-विश्वास, प्रेम मनसे भगवान्‌का नाम लेना चाहिये तथा भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये; तभी शान्ति मिल सकती है। अभी शरीरका मोह लिखा, सो शरीरमें मोह नहीं करना चाहिये; यही अशान्तिका कारण है। अनन्यभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये।

तुम ठंडे जलसे स्नान नहीं कर पाती हो तो कोई बात नहीं है, स्नान गर्म पानीसे कर लेना चाहिये। पर स्नान रोज करना चाहिये। सरदी-जुखाम, बीमारी आदिमें स्नान न हो तो बात दूसरी है।

तुम बिस्तरपर लेटे-लेटे नामजप करती हो सो कोई बात नहीं है; बिस्तरपर लेटे-लेटेकी तरह हर समय काम करते हुए भी नाम-जप करनेका अभ्यास डालना चाहिये। निरन्तर भजन, ध्यान, स्मरण करनेसे अपने-आप ही सब पापोंसे छुटकारा मिलकर परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। खूब दृढ़ता एवं विश्वासपूर्वक अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य इसीको मानकर तत्परता एवं उत्साहसे कटिबद्ध होकर इस काममें लग जाना चाहिये। अपने मृतक पुत्रके लिये चिन्ता- को छोड़कर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये चिन्ता करनी चाहिये, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधर जायँ। लड़केके लिये चिन्ता-फिक्र करना तो हानिकर और बाधक है।

अपने ग्राममें सत्सङ्गका अभाव लिखा एवं दुःख- निवृत्तिके लिये कुछ दिन अपनी शरणमें रखनेके लिये तुमने हमें लिखा, सो तुम्हारा लिखना ठीक है; किंतु हम तो दूसरी स्त्रीको अपने पास नहीं रखते हैं। शरणमें किसीको लेनेकी न तो हमारी सामर्थ्य ही है और न अधिकार ही है। शरण- के लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे शरणागतवत्सल हैं, हम सबको उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। तुम्हें सत्सङ्ग नहीं मिलता तो सत्सङ्गके अभावमें सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी दूसरे नंबरमें सत्सङ्ग ही है। उनमें भगवद्विषयक बातें पढ़नी चाहिये। गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-चिन्तामणि, गीता-तत्त्व- विवेचनी-टीका एवं परमार्थ-पत्रावली, भगवच्चर्चा, भक्तगाथा तथा गीता, रामायण, भागवत आदि पढ़ने चाहिये। चैत्रसे आषाढ़तक चार मास ऋषिकेश, गीताभवनमें सत्सङ्ग होता है। हम वहाँ जाया करते हैं; बहुत-सी स्त्रियाँ भी अपने घरके आदमियोंके साथ आया करती हैं; वहाँ तुम भी आना चाहो तो किसी घरके आदमीको साथ लेकर आ सकती हो।

तुमने कई बातें पूछीं, उनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१. कई लोग गुरु बनकर अपने नामका जप करवाते

हैं, उस प्रकार मनुष्यके नामका कभी भी जप नहीं करना चाहिये। तुम्हारी गुरु-मन्त्रमें ही अधिक श्रद्धा है तो भगवान्‌को परम गुरु मानकर उनके नामका जप करना चाहिये—यही सर्वश्रेष्ठ है।

जप न करनेकी अपेक्षा बैठे-बैठे या लेटे-लेटे बिना स्नान किये भी जप करना ठीक ही है। किंतु आसन लगाकर स्नान करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानसहित जप करना ही सर्वश्रेष्ठ है। विस्तारसे गीता-तत्त्वविवेचनी-टीका (गीता-तत्त्वाङ्क जो कि गीताप्रेसमें प्राप्य है) अध्याय ६ श्लोक ११ से १४ की व्याख्या देखनी चाहिये।

२. माला पूरी होनेपर आचमनीसे जल डालनेपर तुम्हें भगवान्‌के ध्यानमें विघ्न होता है तो ऐसा करना कोई जरूरी नहीं है। जैसे तुम्हारे भजन-ध्यानमें सुविधा हो वैसा ही करना चाहिये।

३. तीन-चार दिनोंतक स्त्रियाँ जब कि वे अशुद्ध रहें यानी मासिकधर्ममें हों, उस अवधिमें वे भगवान्‌के नामका मानसिक जप कर सकती हैं, इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। भगवान्‌के नामका जप करनेमें तो लाभ ही है।

४. हिंदुओंके जितने व्रत-त्यौहार आदि होते हैं, उनको मनानेमें लाभ-ही-लाभ है, कोई नुकसानवाली बात नहीं है।

५. मृत पुत्रके प्रति कर्तव्य पूछा सो उसकी आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

६. दिनचर्या लिखकर भेजनेके लिये लिखा, सो पहले अपनी वर्तमान दिनचर्या लिखनी चाहिये। तुम्हारे लिखनेपर उसमें आवश्यक संशोधन किया जा सकता है।

सबसे यथायोग्य।

(४)

सादर हरिस्मरण। गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेसे दिया हुआ आपका पत्र मुझे यथासमय मिल गया था, किंतु समयाभावके कारण पत्रका उत्तर देनेमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पास पत्र बहुत आते हैं। अतः उत्तर देनेमें प्रायः विलम्ब हो ही जाया करता है।

आपने संत-शिरोभूषण, माननीय, सम्माननीय, महाराज आदि प्रशंसाद्योतक विशेषण हमारे नामके आगे-पीछे लिखे एवं 'चरणोंमें शतशः साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणिपात' इस प्रकार लिखा, सो ऐसा लिखकर हमें संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, मुझे तो श्री लिखना ही काफी है।

आपने हमारी तत्त्व-चिन्तामणि पढ़ी परिचय न होनेपर भी हमें संत मानकर सेवा करनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो बात है; किंतु मैं इस योग्य नहीं हूँ। जिन सेवासे कल्याण हो जाय, ऐसे संतोंको हमारे

भक्तिमती श्रीमीराबाईका चरित्र सुनकर यन्त्रको प्राप्त कर उसे बजाते हुए भजन आपको इच्छा हुई एवं आपने वाद्ययन्त्रके प्रार्थना की तथा दिलरुबा नामक वाद्ययन्त्र कृपासे आपको मिल गया, अब आप उसपर भजन-कीर्तन नहीं करते हैं, सो ज्ञात किया। तो आपको करने ही चाहिये। भजन-कीर्तन कोई विघ्न आता हो तो उसके नाशके भगवान्‌से रो-रोकर करुणभावसे स्तुति-प्रार्थना भगवान् बड़े दयालु हैं। साधककी मदद हर समय तैयार रहते हैं। उनसे विश्वास करनेभरकी देर है।

आपने अपने लिये अहंकारी, अज्ञानी आदि शब्दोंका प्रयोग किया एवं हमारे लिये कृपालु, दयालु, ज्ञानी आदि शब्द लिखे, हमारी प्रशंसा एवं अपनी निन्दाके शब्द नहीं लि

हमारी प्रशंसा करते हुए आपने लिखा कि एवं आपके विचार कितने अच्छे हैं कि तत्त्व भरतजीका विरह पढ़ते-पढ़ते नेत्रोंमें आँसू तथा इसके लिये हमें धन्यवाद दिया, सो इसमें देनेकी बात ही क्या है? भरतजीका प्रसङ्ग ही तो भरतजीके ही त्याग और प्रेमकी महिमा है।

आपकी बीस वर्षकी अवस्था है, आपकी शादी होनेवाली थी, भगवान्‌की भक्ति करनेसे आपने शादी करनेसे इन्कार कर दिया, इसपर तथा और लोगोंने आपको नपुंसक कहा आदि मालूम कीं, आपकी इच्छा भगवान्‌की भक्ति बहुत उत्तम है; किंतु विवाह करनेमें कोई दोष है। माता-पिताका आग्रह हो तो आप विवाह

आपके माता-पिताने आपका नाम कृष्णदास

लोग भी आपको इसी नामसे पुकारते हैं; किंतु कृष्णकी एक भनट भी चाकरी नहीं होती, इसलिये कृपा करनेको लिखा, सो मालूम किया। हममें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ? कृपा करनेवाले तो एकमात्र भगवान् ही हैं, उनकी कृपा है ही, जो कि उन्होंने मनुष्यका शरीर कृपा करके प्रदान किया एवं अपने कल्याणके लिये साधन भी अवगत करा दिया। अब अपना कर्तव्य समझकर नित्य-निरन्तर निष्काम-भावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेकी ही कमी है। इसके लिये तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये।

आपने भगवान्‌के भक्तोंकी प्रशंसा की, सो उनकी प्रशंसा जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है; किंतु ऐसे भगवद्भक्त बहुत थोड़े ही होते हैं, उनकी पहचान करना जरा कठिन है। हम तो साधारण आदमी हैं।

आप कल्याणके ग्राहक हैं एवं बराबर कल्याण पढ़ते हैं, सो अच्छी बात है।

आपने अपनेको विषयरूप त्रिगुणात्मक अन्धकारमें लिखा है, सुबोध तरणी होकर बचानेके लिये लिखा, सो ठीक है। इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। वे ही बचानेवाले हैं।

आपने लिखा कि गुरु मिलते हैं, किंतु सद्गुरु नहीं मिलते, सद्गुरु भगवान् हैं ही। उन्हें माननेकी ही कमी है। उन्हें गुरु मानकर और समझकर उनकी शरण होकर साधन करना चाहिये।

आपने ऋषिकेश-सत्सङ्गमें सम्मिलित होनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो उत्तम बात है। ऋषिकेशमें लगभग अप्रैल-जुलाईतक गीताभवनमें सत्सङ्ग हुआ करता है। आप वहाँ जा सकते हैं।

सबसे यथायोग्य।

(५)

सप्रेम राम-राम! आपका पत्र मिला। समाचार लिखे मालूम किये। आपके चित्तमें अशान्ति रहती है एवं घरकी ओर बारंबार मन जाता रहता है, सो मालूम किया। घरमें आसक्ति और ममता होनेके कारण ही बारंबार इधर-उधर जाता है। संसारके पदार्थोंसे आसक्ति और ममता हटाकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌का नाम-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेसे ही शान्ति मिल सकती है। इनमें मन नहीं लगे तो एकान्तमें बैठकर रो-रोकर करुणभावसे बारंबार भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं। उनकी कृपाके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। इस बातपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य एवं दुःखरूप समझकर गीता अध्याय ५ श्लोक २२, अध्याय ६ श्लोक २६, ३५ और ३६ का अर्थ गीतातत्त्वविवेचनीटीकामें समझकर उसके अनुसार साधन करनेकी खूब तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये। भजन-ध्यान न होनेपर मृत्युको नजदीक और समयको अमूल्य समझकर मनमें सच्चा दुःख एवं सच्चा पश्चात्ताप होना चाहिये तथा आत्मोद्धारकी इच्छाको खूब तीव्र करना चाहिये। परमात्माकी शरण लेकर उन्हींकी कृपाके बलपर साधनको खूब बढ़ाना चाहिये। यही सच्चा एवं वास्तविक रास्ता है। इस प्रकार करनेसे ही सच्ची शान्ति एवं सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

मनके प्रतिकूल कार्य होनेपर दुःख होता है, यह अज्ञान ही है। इस अज्ञानरूपी अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर कर देना चाहिये। भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय ही समझना चाहिये एवं प्रतिकूलतामें भगवान्‌की विशेष कृपाका अनुभव करके खूब प्रसन्न होना चाहिये।

गीता अध्याय ४ श्लोक ११ में भगवान् जो बात कहते हैं वह बिल्कुल ठीक है। उसका मतलब यह नहीं कि भगवान्‌को एक बार याद कर लिया तो फिर बार-बार याद करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। भगवान्‌को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर याद रखना चाहिये। गीता अध्याय ८ श्लोक ७ और १४ की तत्त्वविवेचनीटीका देखनी चाहिये। उसमें अनन्यभावसे भजन करनेका महत्त्व बताया गया है।

आपने लिखा कि गीता अध्याय ९ श्लोक २७ के अनुसार सब काम श्रीभगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करनेपर भी बहुत कामना हो जाती है, सो मालूम किया। जबतक कामनाएँ रहती हैं, तबतक शरण होनेमें ही कमी है। आपके कामनाएँ होती हैं तो आप अभी वाणीसे ही भगवान्‌के शरण हुए हैं, मनसे नहीं। मनसे सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उनके शरण होनेपर फिर कामनाएँ नहीं हो सकतीं। यह सिद्धान्तकी बात है।

× × ×

साधनकी बात लिखनेके लिये लिखा, सो ठीक है।

भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान निरन्तर निष्कामभावसे विश्वास और प्रेमपूर्वक करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। यह जो मनुष्य-शरीर मिला है, यह भगवान्‌की बड़ी भारी दयासे ही मिला है। इसके रहस्यको समझकर भगवान्‌के आदेशानुसार इसे अच्छे-से-अच्छे काममें ही लगाकर जीवनको सफल बनाना चाहिये। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम बढ़ाने चाहिये।

सबसे यथायोग्य !

(६)

सप्रेम राम राम !

आपका पत्र मिला। समाचार सभी मालूम किये। आपके पत्रका क्रमशः उत्तर नीचे दिया जा रहा है—

आप·····के प्रथम श्रेणीके मैजिस्ट्रेट हैं, सो ज्ञात किया। आपने अपने इस कामको घोर तामसिक काम लिखा एवं पूछा कि आदर्श मैजिस्ट्रेट कैसे बना जाय? सो ठीक है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं सब प्रकारके आरामका त्याग करके किसीके दबाव या प्रभावमें न आकर, बिना कुछ भी लिये सत्यता और समताका बर्ताव करनेसे आप एक आदर्श मैजिस्ट्रेट बन सकते हैं। आपको लोभ और मोहसे कोसों दूर रहना चाहिये। इनके फंदेमें नहीं फँसकर प्रेम, विनय, उदारता और सत्यता आदिको अधिक-से-अधिक अपनाना चाहिये। इनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जहाँ अपने किसी भी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ आदर्शता आ सकती है।

आपने लिखा कि मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, अहंभावना बनी है। दूसरोंकी त्रुटियाँ देखनेमें सुख मिलता है, सो सब मालूम किया। आखिर ये अवगुण कबतक रहेंगे। आपने पूछा सो ठीक है। इन्हें जब वास्तवमें अवगुण मानकर इनसे घृणा की जायगी, तब इनका स्वयमेव ही अभाव हो सकता है। संसारमें आसक्ति रहनेसे ही तरह-तरहके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं अनित्य समझकर उससे वैराग्य करना चाहिये। 'अहम्'—'मैं हूँ' इस अहं-भावनामें अज्ञान ही कारण है, जिसका नाश ज्ञान होते ही हो जाता है। ईश्वरविषयक ज्ञानके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये एवं गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। उन्हें समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। दूसरोंके दोषोंको देखनेमें सुख मिलता है, यह भी अज्ञान ही है। जिसका परिणाम बहुत बुरा दूसरोंके अवगुण देखनेसे वे अवगुण अपनेमें आ जिसके अवगुण देखे जाते हैं, उससे द्वेष बढ़ इसलिये सबमें गुणोंका दर्शन करना चाहिये ताकि प्रेम बढ़े एवं अपनेमें गुणोंका ही प्रवेश हो। जबतक प्राप्ति नहीं होती है, तबतक ये अवगुण किसी-न-कि रह ही जाते हैं। वास्तवमें ये अवगुण ही भगवान्‌ बाधक हैं। इसलिये इन अवगुणोंका परित्याग ईश्वरकी प्राप्ति करनेके लिये जीतोड़ परिश्रम करना

आपके चाचाजी डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज थे पत्नी तथा छः छोटे-छोटे बच्चोंको छोड़कर सिधार गये, सो संयोगकी बात है। जो जन्मता है दिन निश्चय ही मरना पड़ता है। आपने लिखा कि १०००) मिलता था। इस दुःखको किस प्रकार सह चाहिये, सो ठीक है। इसे भगवान्‌का विधान संतोष करना चाहिये एवं आपके चाचीजीका कल्या इसके लिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और स्तुति-प्रार्थ चाहिये। चाचीजी आदिको कम-से-कम खर्चा लगे प्रार्थना करनी चाहिये एवं उन्हें पेंशन मिल सके, इ कोशिश करनी चाहिये।

जैन-दर्शन एवं वैष्णव-दर्शनका अन्तर आपने ठीक है। जैनियों तथा वैष्णवोंके मतमें काफी दोनोंका विभिन्न मार्ग है। सब बातें पत्रमें नहीं सकतीं। कभी आपसे मिलना होगा तो आपके पूछने जा सकती हैं। पुनर्जन्म एवं कर्मफलको दोनों मानते हैं एवं प्रकृतिका कार्य जड है, यह भी दोनों ही मानते बातोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैनीलोग सृष्टि कर्मफलदाता ईश्वरको नहीं मानते। वे जितने हो गये हैं, उन्हें ही ईश्वरका पद देते हैं; इसलिये इ उनके बहुत-से ईश्वर हो जाते हैं। किंतु वैष्णवोंके ही हैं। आपने पूछा कि क्या जैनी साधुओं एवं मुक्ति नहीं मिलेगी ! सो मुक्ति कैसे मिल सकती है! वे वर्तमान देश-कालमें मुक्ति मानते ही नहीं हैं दृष्टिमें तो मुक्ति है ही नहीं। वैष्णवलोग मुक्ति उसके लिये चेष्टा भी करते हैं; तब उनकी मुक्ति भी है। जैनियोंके दृष्टिकोणके दोष आपने पूछे, सो वे लोग वर्तमान देश-कालमें मुक्ति अथवा एक भगवान मानते, यही उनमें दोष है। आपने जो यह लिखा है

साधुलोग जैसा तप एवं संयम करते हैं वैसा बड़े-बड़े वैष्णव साधुओंमें नहीं मिलता, सो आपका लिखना बहुत ठीक है। जहाँतक तप एवं संयमका प्रश्न है, जैनी साधु वैष्णवोंसे काफी बढ़े हुए हैं; किंतु उपर्युक्त कमियाँ जैनियोंमें हैं; और भी बहुत अन्तर है। 'वैष्णव-धर्मको छोड़कर जैन-धर्म स्वीकार कर लिया जाय तो क्या हानि है?' पूछा सो ठीक है। अपने धर्मको छोड़नेमें तो हानि-ही-हानि है। 'परधर्मो भयावहः' दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है। दूसरी बात यह भी है कि जैनमत माननेवालोंकी इस देश-कालमें इस जन्ममें मुक्ति भी नहीं होती। दूसरे देश एवं कालमें कभी मुक्ति हो सकती है; किंतु वैष्णवधर्मके माननेवालोंकी इस देश-कालमें इस जन्ममें भी मुक्ति हो सकती है, इसलिये अपना धर्म छोड़कर दूसरेके धर्मको ग्रहण करनेकी आवश्यकता ही क्या है? धर्म तो वैष्णव ही उत्तम है। अगर इसका पालन किया जाय तो शीघ्र ही मुक्ति हो सकती है; किंतु जैन साधु इस देश-कालमें इस जन्ममें मुक्ति मानते ही नहीं। तो फिर अपने धर्मका पूर्णतः पालन करनेपर भी मुक्ति कैसे मिलेगी! आप जरा विचार करनेकी कृपा करें।

आपकी सास अर्चिका है, उसके उपवास आदिको देखकर आपको चकित होना पड़ता है सो ज्ञात किया। 'पत्नी तथा बच्चोंको उनके सत्सङ्गमें जाने देना चाहिये या नहीं?' आपने पूछा सो उनके सत्सङ्गमें जानेमें कोई फायदा तो नहीं है; क्योंकि उनके उपदेशसे मुक्ति तो हो नहीं सकती। वे आपको या आपके बच्चोंको कोई चीज दें तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है। चीजें उनकी प्रसन्नताके लिये लेनी चाहिये, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

आपने लिखा कि मेरे-जैसे जीवकी गति आप-जैसे संतोंकी चरणरजसे होगी, सो निगाह किया। मैं तो एक साधारण आदमी हूँ। गति तो भगवान्‌की कृपासे ही हो सकती है।

सबसे यथायोग्य।

(७)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण!

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आपको झूठ बोलने और पाप करनेमें जो हिचक नहीं होती और डर नहीं लगता, इसका तो यह कारण है कि उनसे होनेवाले परिणामपर आपका विश्वास नहीं है तथा वर्तमानमें झूठ बोलकर और पाप करके आप किसी-न-किसी प्रकारकी भोगवासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं, पर वास्तवमें यह बड़ी भारी भूल है। सुखभोगकी इच्छा कभी भी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि भोगोंकी प्राप्ति इच्छासे नहीं होती। वे तो कर्मफलके रूपमें मिलते हैं और जैसे-जैसे मिलते हैं, इच्छाको बढ़ाते रहते हैं; इस परिस्थितिमें इच्छाकी पूर्ति कैसे हो। उसकी तो विचारद्वारा निवृत्ति ही हो सकती है।

आपने लिखा कि धर्म क्या है और पाप क्या है? उसका मुझे ज्ञान नहीं है, सो ऐसी बात नहीं है। ज्ञान तो आपको अवश्य है पर आप उस ज्ञानका आदर नहीं करते। आप समझते हैं कि झूठ बोलना बुरा है—पाप है। झूठ नहीं बोलना चाहिये—ऐसा दूसरोंसे कहते भी हैं। यदि कोई बोलता है तो उसका झूठ बोलना आपको बुरा भी लगता है, तथापि आप झूठ बोलनेके लिये विवश हो जाते हैं, यही अपने ज्ञानका अनादर करना है। यदि आप जितना जानते हैं उतने धर्मका पालन करना आरम्भ कर दें तो आवश्यक जानकारी स्वयं प्राप्त हो सकती है; यह भगवत्कृपाकी महिमा है।

'भगवान् क्या हैं'—यह जानना नहीं बनता; क्योंकि भगवान् मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके बाहर हैं। भगवान्‌पर तो विश्वास किया जा सकता है, उनको माना जा सकता है, उनकी महिमा और प्रभावका दर्शन कर, सुनकर, समझकर और मानकर उनपर निर्भर हुआ जा सकता है। ऐसा करनेपर साधक कृतकृत्य हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भगवान् अकारण ही कृपा करनेवाले हैं, यह ध्रुव सत्य है, तभी तो आप और हम सब लोग जो कि उनको नहीं मानते वे भी और जो उनको मानते हैं वे भी उनकी बनायी हुई हवा, अग्नि, जल, प्रकाश आदिका बिना ही किसी प्रकारका मूल्य दिये उपभोग कर पाते हैं। यदि वे अकारण कृपालु नहीं होते तो क्या इनपर रोक नहीं लगा देते, क्या टैक्स नहीं बाँध देते पर वे ऐसा नहीं करते; क्योंकि वे उदारचित्त हैं।

जो यह बात मान लेता है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं वह तो उन्हींका होकर रहता है, वह फिर उनको भूल ही कैसे सकता है।

आप लिखते हैं कि मुझे भगवान्‌को पानेकी इच्छा नहीं

है, इससे तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि न तो आपको यह विश्वास है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं, न उनकी महिमाका ही ज्ञान है और न उनकी सत्तापर ही पूरा विश्वास है; क्योंकि जो यह समझता है कि भगवान् किसको कहते हैं, वह क्या कर सकते हैं, क्या कर रहे हैं, उनमें क्या-क्या गुण हैं, उनको प्राप्त होना क्या है ? इस रहस्यको जाननेवाला भला उनको बिना प्राप्त किये कैसे रह सकता है।

आपकी जो यह मान्यता है कि बिना छल, कपट और चालाकीके मुसीबत नहीं टलती, यह सर्वथा निराधार है। छल, कपट और चालाकीका ही परिणाम तो मुसीबत है, इसी कारण एक टलती है तो दूसरी आ जाती है। छल, कपट और चालाकीका सर्वथा त्याग कर देनेपर ही वास्तवमें मुसीबत सदाके लिये टल जाती है, यह समझना चाहिये।

आपने लिखा कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ, यह समझमें नहीं आता। इसका तो यह अर्थ होता है कि वास्तवमें आप इसे समझना ही नहीं चाहते। मुसीबत जिसपर आती है, जो उसे टालना चाहता है, जिसे मुसीबतका ज्ञान है वही आप हैं।

आपने लिखा कि 'विश्वम्भर, करुणानिधान, दयासिन्धु, दयालु, प्रभु इस प्रकारके शब्दोंका तो प्रयोग ही नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं—सो यह आप किस आधारपर लिखते हैं जब कि आपको यही पता नहीं है कि मैं कौन हूँ।

आपकी इच्छा पूर्ण नहीं होती यह तो उचित ही है, यदि आपकी या इसी प्रकारके भाववाले अन्य मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण होने लगे तो संसारमें सारा काम अव्यवस्थित हो जाय; क्योंकि आपकी इच्छाओंमें तो दूसरोंका अहित और अपना स्वार्थ भरा हुआ है, तभी तो आप पापपूर्ण कर्म और भले-बुरे सभी मनुष्योंकी निन्दा करते हैं।

यदि आपको अपने जीवनसे घृणा होती है, आपके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है तो समझना चाहिये कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। सुधार चाहनेवालेका सुधार होना कठिन नहीं है, दुःखोंसे छूटनेका उपाय तो यही ठीक मालूम होता है कि उस दुःखहारी प्रभुकी शरण ग्रहण करके उनके दिये हुए विवेकका आदर करें तथा वह काम करें जो हम दूसरोंसे चाहते हैं और वह कभी न करें जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते। अर्थात् जिसको हम अपने लिये अच्छा समझते हैं, उसको सबके लिये समझें और जिसे हम अपने लिये बुरा समझते हैं, उसे लिये बुरा समझें।

(८)

सादर हरिस्मरण ! आपके दो कार्ड एक साथ समाचार ज्ञात हुए। आप पटना पधारे पर मुझसे नहीं हो सका, यह संयोगकी बात है, अभी मेरा बाँकुड़ामें ही ठहरनेका विचार है। पटनामें तो आना रास्तामें ठहरा जाता है, इस कारण समय कम ही बाहर जाना होनेपर समयपर याद रहे तो सूचना सकती है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार

१. भगवान् रामके स्वभावको जान लेनेका भजन अपने-आप हुआ करता है, उसे करना नहीं प्रत्युत वह उसे भूल नहीं सकता। यहाँ भजनसे भगवान्‌की स्वाभाविक मधुरस्मृति है। 'भज्' धातु सेवा है, वह 'सेवन' स्मृतिके ही अन्तर्गत है। जप-ध्यान आदिको भी भजन कहा जाता है। योग और ज्ञानको भी कोई भजन कहे तो कोई है; क्योंकि भगवान्‌के स्वभावको जानना भी तो है, जो कि भजनका हेतु है।

२. 'मामनुस्मर युध्य च' इसमें मन, वाणी और द्वारा ऊपरसे क्रियाका भेद दीखनेपर भी वास्तवमें है। जहाँ अपने कर्मोंद्वारा उस प्रेमास्पदकी ही जाती है, वहाँ सभी क्रियाभेदोंमें अपने प्रियतमका गोपियोंकी भाँति निरन्तर रहता है, यह स्वाभाविक है। अतः उसे मनसे कुछ और करना और शरीरसे और करना नहीं कहा जाता। बिना मनके क्या क्रिया की जा सकती है ? कदापि नहीं। मन तो भी पूरा-पूरा लगाना पड़ता है, पर जो साधक अपने को सर्वत्र देखता है उससे वह छिप कैसे सकता है अध्याय ६ श्लोक ३०-३१ देखें। इस तत्त्वको समझ बाद अड़चन और शङ्का नहीं रहती। इसीलिये उ के उत्तरार्धमें कहा है कि 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'।

३. 'यतो यतो निश्चरति' यह श्लोक एकान्त करनेके समयका है, कर्मयोगका नहीं। दोनोंके एकसे नहीं होते। पूर्वोक्त साधन अभ्यासयोग नहीं भगवत्-परायण प्रेमी भक्तका साधन है।××××

४. निष्काम कर्म यदि भगवदर्थ हो तो उसमें स्मरण भी । उसके कर्म स्मरणके विरोधी नहीं होते । स्मरणका म्बन्ध प्रेमसे है, क्रियासे नहीं ।

५. कामनाकी निवृत्ति और निष्काम कर्मका अर्थ समझ नेसे यह उलझन मिट जाती है । जिस कर्ममें अपने खभोगकी और पद एवं अधिकार-पूर्तिकी कामनाका त्याग , जो दूसरोंके अधिकारकी पूर्तिके और उनकी हितपूर्ण सन्नताके लिये कर्तव्यपालनके रूपमें किया जाता है या यों मझें कि जो प्रभुकी प्रसन्नताके लिये, उन्हींकी आज्ञा और रणाके अनुसार उन्हींकी कृपासे प्राप्त सामर्थ्य-सामग्रीके द्वारा या जाता है, वह कर्म निष्कामकर्म है । इस प्रकारका कर्म धकके अन्तःकरणको शुद्ध करता है, राग-द्वेषका नाश करता और भगवान्‌के प्रेमको प्रकट करता है । कामनाकी पूर्ण वृत्ति जिस ज्ञानसे होती है, वह निष्कामकर्मयोगका फल है, ही ज्ञानयोगका भी फल है; गीता अ० ४ श्लो० ३८, ३९ देखें ।

बिना तत्त्वज्ञानके किया जानेवाला कर्म वही अवर है जो ल-कामनापूर्वक किया जाता है, निष्कामकर्म नहीं । गीता ० २ श्लो० ४९ देखें । साधन नाम उसीका है जिसे र्वसाधारण मनुष्य कर सके । प्रकृति, विश्वास, योग्यता र रुचिके भेदसे साधनमें प्रकार-भेद हो सकता है ।

६. बुरे लोगोंके साथ रहना भी कुसंगतिका एक अङ्ग परंतु परिस्थिति-परिवर्तन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं अतः वह अपनी ओरसे किसी सुखके लालचसे या दुःखके से बुरे लोगोंका सङ्ग न करे तथा उनसे द्वेष और घृणा भी न करे, उनका भी हित ही करे । पर उनसे उदासीन रहे । यही साधक कर सकता है । संयोगवश यदि प्रभुविमुख मनुष्यों-के साथ रहना पड़े तो साधकको उसे भगवान्‌का कृपामय विधान मानकर समझना चाहिये कि भगवान् मुझसे इन दुखियों-की सेवा कराना चाहते हैं । इसीलिये इनके साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा है—यह समझकर बल, बुद्धि, योग्यता आदिके द्वारा उनकी धर्मानुकूल सेवा करता रहे, उनसे न तो द्वेष करे न घृणा, न अपनेमें ऐसे अभिमानको स्थान दे कि मैं तो अच्छा हूँ, भगवान्‌का भक्त हूँ और ये लोग नीच हैं तथा न उनसे किसी प्रकारके सुखकी आशा करे । ऐसा करनेसे उनसे ममता और उनमें आसक्ति नहीं रहेगी । ममता और आसक्तिका न रहना ही वास्तविक सङ्गत्याग है ।

७. सङ्गत्यागके लिये न तो आश्रम बदलना आवश्यक है और न अपने आप न्याययुक्त प्राप्त हुए संयोगका त्याग ही । आजका समाज चाहे जैसा भी हो, साधकके लिये तो वह साधनसामग्री है । उसीकी सेवा करके अपने प्रियतमकी प्रसन्नता प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये । समाजके साथ ममता और आसक्ति न रहनेपर उसके संयोग और वियोग साधकके लिये हानिकर नहीं हो सकते । इस रहस्यको समझनेवाला साधक अनायास ही वर्तमान परिस्थितिमें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है । इसमें कोई कठिनाई नहीं है । कठिनाइयाँ सब साधकने स्वयं ही बना रखी हैं । उसमें न तो समाजका दोष है, न सरकारका और न ईश्वरका ही । दूसरोंके मत्थे दोष मँढ़कर अपनेको निर्दोष मानना अपने आपको धोखा देना है ।

भक्ताचरण

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

अड़े दीखते हों चाहे कर्म-खेतमें सचेत,
मर्म यही है कि कर्म उनके झड़े हुए ।
गड़े दीखते हों चाहे लोक-व्यवहार बीच,
किंतु मोह-कीचसे हैं पैर उखड़े हुए ॥
पड़े दीखते हों चाहे मस्त मेदनीकी राहें,
अंग तो समस्त प्रेम-फंद जकड़े हुए ।
खड़े दीखते हों चाहे दृष्टिमें हमारे वे तो—
सृष्टिसे किनारे प्रभु-पदमें पड़े हुए ॥

श्रीरामभद्रका स्वभाव

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

परम तत्त्ववेत्ता सिद्ध, साधु, संत महात्माओंका कहना है कि कोई यदि श्रीरघुनन्दन, रामभद्र राघवेन्द्रके स्वभावको ठीक-ठीक जान जाय तो वह कभी भी उनके स्मरणके अतिरिक्त अन्य कार्य पसंद नहीं कर सकता—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अर्थात् भगवान् शंकर पराम्बा जगज्जननी भगवती पार्वतीसे कहते हैं—'उमा ! जिन सौभाग्यशाली महानुभावोंने प्रभु श्रीरामभद्रका स्वभाव जान लिया है, उन्हें भजन छोड़कर दूसरा कोई कार्य अच्छा नहीं लगता—उन्हें किसी क्रिया किंवा दिव्यातिदिव्य लोकोत्तर सुखभोगोंमें भी सरसता नहीं प्रतीत होती। राम-भजन, राघवेन्द्रके क्रीतदास बन जानेके लिये वे आतुर हो जाते हैं। इसके बिना उन्हें चैन नहीं। भगवद्भजनके सामने उन्हें सारा स्वर्गापवर्ग फीका दीखता है, इसलिये वे कहीं कुछ भी न देख-सुनकर सीधे भजन-समाधिमें ही डूब जाते हैं।

काकभुशुण्डि भगवान् रामके स्वभावको स्मरणकर हर्षसे विह्वल होकर कहते हैं कि गरुड़जी ! ऐसा स्वभाव न कहीं देखता हूँ, न सुनता ही हूँ, फिर उनके-जैसा किसी दूसरेको क्योंकर मानूँ ?—

अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज तो श्रीराघवेन्द्रके स्वभावपर न्यौछावर ही हो गये हैं और कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी अधिकांश रचनामें भगवान्-के कोमल स्वभावका ही वर्णन है और उनका अणु-अणु, रोम-रोम प्रभुके मृदुल स्वभावके द्वारा क्रीत-सा प्रभावित अनुप्राणित हो रहा है। वे तो कहते हैं कि भगवान् श्रीसीतानाथ, कौशलकिशोर रामभद्रके स्वभावको सुनकर जिसका मन प्रसन्न न हुआ (मानसिक क्लेश मिट न गया), शरीर पुलकित न हुआ, नेत्रोंमें [illegible] वह आदमी अच्छा होता गली-गलीमें धूल फाँकता [illegible] भाव यह है कि ऐसा आदमी हो ही नहीं सकता [illegible]

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेह [illegible]

एक दूसरी जगह वे ही कहते हैं—

तुलसीराम सुभाव सील लखि जो न भगति [illegible]
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुन [illegible]

भरतजीके द्वारा भगवान्‌का स्वभाव वर्णन [illegible] उनकी कविता-शक्ति तो रसका मूर्तिमान् रूप [illegible] लेती है। उसे ध्यानसे पढ़ने, मनन करने [illegible] समाधि-सी लगने लगती है, सब सुध-बुध भूलने [illegible]

पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहिं [illegible]
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय [illegible]
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन [illegible]
अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि [illegible]
सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन [illegible]
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदु [illegible]

वास्तवमें शीलसिन्धु रघुनन्दनके स्वभाव [illegible] सबको मानना पड़ा है। 'प्रसन्न राघव' नाटकके [illegible] जयदेव तो कहते हैं—'जिसे देखो वह रामायण [illegible] लिखता है। कुछ लोग कहेंगे कि इन भारतीय [illegible] दूसरा कुछ आता ही न था। पर वास्तवमें इसमें [illegible] दोष नहीं, दोष तो उन गुणगणोंका है, जो [illegible] रामभद्रके स्वभावको ही अपना आवास बनाने [illegible]

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुकुलतिलकमेकं कल [illegible]
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवस [illegible]
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव [illegible]
त्यसावेकश्चक्रे सततसुखसंवासव [illegible]

वस्तुतः भगवान् रामका स्वभाव शब्दोंके परे है। गवतकार उन्हें 'साधुवादनिकषण' कहकर नमस्कार रते हैं और कहते हैं कि उन आत्माराम, पूर्णकाम, म निष्काम परमात्माके स्वभावको क्या कहा जाय। नमें न कोई बड़प्पन था, न सुगमता थी, न ऊँचे लमें जन्म था, न विद्या थी, न बुद्धि, न आकृति और कोई धन, बल, सेवा आदिके संतोषकर भाव ही, न वानरोंसे भी रामभद्रने प्रेम किया और अपनेसे भी धिक उनका ध्यान रक्खा—

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥
(५।१९।७)

ा सबरि निसिचर भालुकपि किये आपु ते वन्दित बड़े।
पर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े।

देवता, असुर, नर, वानर जिस किसीने भी उन्हें सी भी प्रकार स्मरण कर लिया उसको सर्वस्व—मोक्षतक डाला, अपने-आपको दे डाला—

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत् कोसलान् दिवम्॥
(५।१९।८)

'गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्र इतने लु हैं कि जिन राक्षसोंने उन्हें द्वेषके कारण भी ी स्मरण कर लिया था, उन्हें भी स्मरण करनेके नाते कर रहे हैं—

राम मृदुचित करुना कर। बैर भाव सुमिरहिं मोहि निसिचर
परमगति अस जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भावानी॥

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि राघवका कोई नाम का एक भी उपकार कर दे तो उसे वे आजन्म ण रखते हैं, पर अपकार कोई उनका सैकड़ों कर तो भी ध्यान नहीं देते—

कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
(२।१।११)

मिलनेपर वे पहले ही मधुर शब्दोंमें बड़ी मीठी बात कहकर बोल देते हैं। दयाके तो मूर्तिमान् रूप ही हैं—

बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवान् शुचिः॥
(२।११।१३; १६)

गोस्वामी तुलसीदासजी तो 'प्रभु मूरति कृपामयी है।' कहकर बतला देते हैं कि मानो करुणा साक्षात् मूर्तिमान् होकर राघवेन्द्रके रूपमें अवतरित है।

एक दूसरी जगह वे—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती' कहकर प्रभुकी लोकोत्तर कृपाका वर्णन करते हैं। दोहावलीमें एक जगह वे लिखते हैं कि भौंहोंका टेढ़ा होना भाग्यवान् महापुरुषोंका एक सामुद्रिक लक्षण है, और सारे लक्षण अपनी सफलता—सार्थकता सिद्ध करनेके लिये भगवान्में बस गये ही हैं, अतएव भगवान् राघवकी भौंहें भी टेढ़ी ही हैं। पर जब वे अपना मुख-मण्डल दर्पणमें देखते हैं तो अपनी टेढ़ी भौंहोंको देखकर चिन्तामें पड़ जाते हैं कि अरे कई लोग तो मुझे नाराज समझ कर डर जायँगे[1]। पर यथार्थ बात यह है कि वे कभी क्रुद्ध नहीं हुए। उनका चन्द्रमा-जैसा प्रफुल्लित मुख-कमल किसीके द्वारा आबाल्यकालसे अन्ततक कभी भी रिसियाया-सा नहीं देखा गया—

सिसुपनते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाऊ।
कहत राम विधुवदन रिसौहें सपनेहु लख्यौ न काऊ॥

वे खेलमें अपने हारे हुएको भी जीता हुआ बतलाते हैं—

'हारेहु खेल जितावहिं मोही।'

महर्षि वाल्मीकिके शब्दोंमें राघवमें सत्य, दान, तप,

१. मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहिं दै दोष।
तुलसी से सठ सेवकन्हिं लखि जनि परहिं सरोष॥

त्याग, मैत्री, पवित्रता[1], सरलता, विद्या तथा सेवाका भाव ये गुण निश्चय ही हैं—

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥
(२।१२।३०)

अक्रूरता, सहानुभूति, श्रुत, शील, शम, दम—ये छः गुण पुरुषोत्तम राघवको सर्वदा सुशोभित करते हैं—

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषोत्तमम्॥
(वाल्मी० अयो० ३३।१२)

भगवती सीताके शब्दोंमें राघवेन्द्रमें उत्साह, पौरुष, सत्त्व, अनृशंसता, कृतज्ञता, विक्रम और प्रभाव—ये सभी गुण हैं—

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।
विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे॥
(वा० सु० २७।१५)

उनका प्रेम कभी घटता नहीं, अनुदिन बढ़ता ही जाता है—

नाइ नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥

वे अपने मित्रों, सहवासियोंके दोषों-चूकोंको अपने हृदयमें तनिक भी स्थान नहीं देते—

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥

वे गयीको बहुरानेवाले, दीनानुकम्पी, सबल किंतु अत्यन्त सरल हैं—

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

यद्यपि वे स्वामी बहुत बड़े लोकपालों, ईश्वरोंके भी अधीश्वर हैं, तथापि वे बड़े सुशील, सुन्दर हैं। ऐसे तो उनका ध्यान भगवान् शंकरके कठिन है, पर वे निषादको भी छातीसे लगाया

ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल
ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यौ केवट

दान और उदारताकी तो वे पराकाष्ठा ही

'एकै दानि सिरोमनि साँचौ।
जेहि जाँच्यौ सो जाँचकता बस फिरि बहु नाच

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ

सब कोई देकर गर्व करता है तो श्री शर्माते हैं—सकुचाते हैं—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघु
'अति सकुच सहित हरि दीन्ही।'
दर्शनाद् रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभी
(हनु०

वे नाहीं-नाहीं कहनेपर भी देते ही हैं, न भी बिना कुछ लिये देते हैं—

जो कछु कहा सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा
यदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ
अस कहि राम तिलक तेहि सारा।

अपने शम-दमादि नियमोंके लिये तो वे अधिक कठोर हैं, पर भक्तोंके लिये कुसुमसे भी

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहुँ
चित्त खगेस अस राम कर समुझि परै कहु
वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुम
लोकोत्तराणि चेतांसि को हि विज्ञातु
(उत्तररा

अस्तु! गोस्वामीजी कहते हैं कि इन कहे के स्वभावको जब कोई हृदयमें ठिकानेसे लाये उसकी चिन्ता मिट जायगी, वह निश्चिन्त हो और भगवान्‌की उसपर कृपा हो जायगी—

---

१. 'हनुमन्नाटक' कारने रामभद्रकी पवित्रताका इतना प्रभाव बतलाया है कि रावणने जब कपटसे रामका वेष बनाया, तब उसकी पापवासना ही भाग गयी—

लंकाभटोऽथ रघुनन्दनवेषधारी
पापो जगाम पुरतो जनकात्मजायाः।
नाम्नापि यस्य कुत इच्छति तस्य रूपा-
दन्याङ्गनापहरणे न मनः कदाचित्॥
(हनु० १०।१९)

'स्वामीको सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहै।
सोच सकल मिटि हैं, राम भलो मन मानिहैं॥
(विनय-पत्रिका १३५ । ५)

वास्तवमें प्रभुका स्वभाव वाणीसे परेका विषय है। जिसे उसकी तनिक भी झलक मिल गयी, भला वह इधर-उधर कैसे उलझेगा? उनके-जैसा दूसरा है ही कौन, जिसमें वह उलझ सके और जो उसे उलझा सके! बस ठीक ही है—

उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

आदर्शका बल

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनमें आदर्शका बल बहुत ही बड़ा होता है। मनुष्य आदर्शके लिये जीता है और आदर्शके लिये मरता है। मनुष्य स्वयं जाने या न जाने, वह स्वयं एक तत्त्ववेत्ता तथा विचारक है, जो अपने विचारोंकी भित्तिपर अपने जीवनका किला खड़ा करता है। उसके जीवनकी धारा, उसके कार्योंका प्रवाह, उसके चित्तका ध्यान किसी-न-किसी विचारको ही आश्रय मानकर सदा चला करता है। गीताका कथन है कि **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** अर्थात् जिस मनुष्यकी जैसी श्रद्धा होती है, जिस आदर्शको वह जीवनका आधार-पीठ बनाता है, वह तद्रूप बन जाता है—इस सिद्धान्तमें तनिक भी संदेह नहीं है। आदर्शके बलपर मनुष्य अनेक अनहोनी तथा असम्भावित घटनाओंके सम्पादनमें भी कृतकार्य होता है, परंतु इसके लिये होना चाहिये ऊँचा आदर्श तथा उस आदर्शमें दृढ़ निश्चय। तभी तो मनुष्य हिमालयके दुर्लङ्घ्य शिलापुञ्जोंको पारकर उसकी अगम्य चोटीपर अपना पैर रखनेमें समर्थ होता है। जिस चोटीको दुर्लङ्घ्य जानकर वह विचलित होता आया है, उसे ही वह अपने वशमें करनेमें स्वतः कृतकार्य होता है। इसमें आदर्शका बल ही उसके शरीरमें नवीन बलका, नूतन उत्साहका तथा अभिनव स्फूर्तिका संचार करता है। दुर्बल मनुष्य भी अपने आदर्शके अनुगमन करनेसे उत्पन्न अन्तर्बल—भीतरी बलके कारण अपनेको नितान्त शक्तिसम्पन्न मानता है तथा ऐसे कार्योंको अनायास कर लेता है जिसके सम्पादनका कभी वह स्वप्न भी नहीं देखता था, सिद्धिकी तो कथा दूर रहे।

एक बार शुद्ध हृदयसे मानवको निश्चय कर लेना चाहिये कि इस मानव-जीवनका चरम लक्ष्य उस परम कारुणिक भक्तवत्सल भगवान्‌के चरणारविन्दमें अपने जीवनको समर्पित करना है और इस आदर्शको चरितार्थ करनेके लिये उसे नित्यप्रति सचेष्ट होना चाहिये। चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते इस आदर्शको—इस आत्मविश्वासको कभी भूलना न चाहिये। वह स्वयं अन्तःस्फूर्तिका अनुभव करेगा कि एक विचित्र शक्ति हृदयके स्रोतसे प्रवाहित होकर उसके सारे शरीरको, समग्र इन्द्रियोंको आप्यायित कर रही है। जिससे वे अपने कार्यके साधनमें दुगुने जोशसे लगे रहते हैं। उन्नत विचार ही मानवको अग्रसर करनेके लिये, ऊपर चढ़नेके लिये निसेनीका काम करते हैं, परंतु विचारोंको जमा कर रखनेकी जीवनमें जरूरत है। शास्त्रका निर्णीत सत्य है तथा संतत उपदेश है—**'महानिति भावयन् महान् भवति।'** जो मनुष्य महान् होनेकी सदा भावना किया करता है, वह एक दिन अवश्यमेव महान् बन जाता है। महापुरुषोंके द्वारा सम्पादित कार्योंका बीज बहुत ही छोटा होता है, परंतु उनका महनीय आदर्श उस बीजको अङ्कुरित तथा पल्लवित कर अन्तमें फलसम्पन्न बना देता है—इसमें किसी प्रकारका संदेह करनेका अवकाश नहीं है।

शास्त्रोंमें आदर्श तथा आत्मविश्वासकी दृढ़ताकी महनीय शक्तिकी परिचायक अनेक आख्यायिकाएँ दी हुई हैं। एक ऐसी ही सुन्दर कथा पाण्डवोंके विषयमें मिलती है। उस समय पाण्डवलोग अपनी धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ किसी जंगलमें निवास करते थे। एक दिन द्रौपदीने विस्मयभरे नेत्रोंसे देखा कि आँवलेके पेड़में एक सुन्दर आँवला लटक रहा है। आँवला पूरे पेड़के ऊपर एक ही था और बहुत ही पुष्ट तथा सुन्दर प्रतीत हो रहा था। द्रौपदीने भीमसे उसे तोड़कर लानेकी प्रार्थना की। प्रार्थना सुनते ही भीमने उसे तोड़कर ला दिया, जिसे पाकर द्रौपदीको बड़ी प्रसन्नता हुई तथा वह उसे खानेके ही विचारमें थी कि भगवान् श्रीकृष्ण आ पहुँचे। आते ही उन्होंने उसे रोका और कहने लगे कि यह किसी साधारण मनुष्यका आँवला नहीं है, प्रत्युत परम क्रोधी मुनि दुर्वासाका है। वे इसी जंगलमें घोर तपस्या कर रहे हैं तथा सालमें एक बार ही फलाहार करते हैं और सो भी इसी आँवलेसे। वे उस पेड़पर न पाकर अत्यन्त क्रुद्ध हो जायँगे। यह बात सुनते ही सब लोग सन्नाटेमें आ गये और दुर्वासाके क्रोधके कारण भावी अनर्थोंका भयानक चित्र उनकी आँखोंके सामने झटपट आ खड़ा हुआ। प्रतीकारकी बात पूछनेपर श्रीकृष्णने कहा कि यदि यह आँवला अपने स्थानपर पूर्ववत् चला जाय तो उनके क्रोधका शमन किया जा सकता है। किसी डोरेसे उसे बाँध आनेकी युक्तिको श्रीकृष्णने स्वीकार नहीं किया कि इससे दुर्वासाको उसके तोड़नेकी घटनाका पता चल जायगा और उस सूखे बासी फलको वे कभी नहीं खायेंगे।

बड़े असमंजसकी बात थी। आग्रह करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रने बतलाया कि हम सब लोग अपने आत्मविश्वासका सच्चे हृदयसे वर्णन करेंगे, तो यह आँवला धीरे-धीरे उठकर उसी पेड़की डालीमें फिर लग जायगा। यही बात तय हुई और पाण्डवलोग अपने निश्चित जीवन-तत्त्व तथा आत्मविश्वासको प्रकट करनेके लिये एकत्र हो गये। युधिष्ठिरने आत्मविश्वास इस श्लोकमें प्रकट किया—

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥

'मेरी दृष्टिमें ये ही छः मेरे सगे-सम्बन्धी हैं। मेरी माता, ज्ञान पिता, धर्म भाई, दया मित्र, पत्नी तथा क्षमा मेरा पुत्र है।' यह सुनते ही आँवलेका फल एक फुट ऊपर उठ गया। तब अपना आदर्श प्रकट किया—

प्राणं वापि परित्यज्य मानमेवाभिरक्षेत्।
अनित्यो भवति प्राणो मानस्त्वाचन्द्रतारकम्॥

'मनुष्यको चाहिये कि वह प्राणोंकी परवा न करे, बल्कि प्रतिष्ठा, आत्मसम्मानकी ही रक्षा करे। प्राण अनित्य ठहरा, आज रहा कल नहीं रहा, परंतु प्रतिष्ठा तथा ताराओंके आकाशमें रहनेतक बनी रहती है।'

भीमका वचन सुनते ही वह फल एक फुट ऊपर उठ गया। तब अर्जुनने कहना आरम्भ किया—

आमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
भर्त्रागमोत्सवा नार्यः सोऽहं कृष्ण रणोत्सवः॥

'श्रीकृष्ण! ब्राह्मण न्योता पाकर आनन्दोत्सव मनाते हैं, गायें नयी घास मिलनेसे प्रसन्न होती हैं, स्त्रियाँ पतिके घर पधारनेपर उत्सव मनाती हैं और मैं युद्ध मिलनेपर उत्सवकी भाँति प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ।'

इस आदर्श वाक्यको सुनकर फल ऊपर उठ गया। नकुलने इस पद्यके द्वारा अपना आदर्श बतलाया—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पण्डितः॥

'वही मनुष्य वस्तुतः देखता है' जो दूसरोंकी स्त्रियोंको माताके समान, दूसरेके द्रव्यको मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोंको अपने समान देखता है।'

इसे सुनकर वह फल एक फुट और ऊपर उठ गया। तब सहदेवकी बारी आयी और उन्होंने अपने स्वभावके समान ही अपना विश्वास प्रकट किया—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

'शरीर अनित्य ठहरा। धन भी सदा रहनेवाला नहीं है। मृत्यु हमेशा पास ही विद्यमान है। वह हमेशा मनुष्योंके सिरपर मँडराया करती है। ऐसी दशामें मनुष्यका एक ही कर्तव्य है—धर्मका संग्रह। जितना हो सके, उसे अनित्य शरीरसे नित्य धर्मका संचय करना चाहिये।'

द्रौपदीने अपना विश्वास इस प्रकार बतलाया—

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, भलीभाँति अलंकृत युवा, धनी अथवा रूपवान् चाहे जैसा पुरुष हो, मेरा मन अपने पतियोंको छोड़कर उसकी ओर नहीं जाता।

द्रौपदीका वचन सुनकर वह फल अवश्यमेव ऊपर उठा, परंतु अभी उस डालके पास पहुँचनेमें बड़ा व्यवधान था। तब श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने आत्म-विश्वासको इन शब्दोंमें स्वीकार किया—

दुर्भिक्षे चान्नदातारं सुभिक्षे च हिरण्यदम्।
चतुरोऽहं नमस्यामि रणे धीर मृणे शुचिम्॥

'मैं इन पुरुषोंको नमस्कार करता हूँ। वे पूज्य तथा आदरणीय हैं—एक तो वह जो अकालके समय लोगों-को अन्न दान करता है; दूसरा वह जो सुभिक्ष होनेपर सम्पत्तिके समय लोगोंको अपना धन देता है; वह वीर जो युद्धमें धीरतासे लड़ता है तथा वह व्यक्ति जो ऋणके विषयमें भी पवित्र रहता है अर्थात् जिसका आचरण ऋणके लेन-देनके समयमें किसी भी भाँति बुरा नहीं होता।'

फल तो एक फुट और भी आगे उठा, परंतु कृष्णने देखा कि अभी भी फल तथा शाखाके बीच कई फीटका अन्तर बना हुआ था। इसे देखकर श्रीकृष्णने सोचा कि अभी एक व्यक्तिको अपने विश्वासके प्रकट करनेकी आवश्यकता बनी हुई है, परंतु वह व्यक्ति हो तो कौन हो? पाण्डवोंको भी चिन्ता उत्पन्न हो गयी, इस विषम स्थितिका निवारण हो तो कैसे हो? श्रीकृष्णने कहा कि मैं कर्णके पास जाता हूँ और तुमलोगोंकी ओरसे उनसे प्रार्थना करूँगा। उनकी स्वीकृति इस कार्यको अवश्य सिद्ध कर देगी। श्रीकृष्णकी आज्ञा पाते ही कर्णने अपना जीवन-दर्शन तुरंत कह सुनाया—

विप्रहस्ते धनं दद्यात् स्वभार्यासु च यौवनम्।
स्वामिकार्येषु च प्राणं विद्यान्मम माधव॥

'माधव! मेरा सिद्धान्त तो यह है कि ब्राह्मणके हाथमें धनका दान देना चाहिये अर्थात् धनका उपयोग देवोपयोगी कार्योंमें करना चाहिये। जवानी अपनी भार्याके ही लिये देनी चाहिये तथा स्वामीके कार्यके लिये अपने प्राणोंको न्योछावर करना चाहिये।'

इतना सुनते ही वह आँवलेका फल उछलकर अपने पहले स्थानपर जा पहुँचा और पाण्डवोंकी इस कार्यसे महती चिन्ता दूर हुई।

इस पौराणिक कथाके भीतर प्रवेश करनेसे स्पष्ट है कि इन आठों व्यक्तियोंने अपने जीवनके आदर्शको शुद्ध हृदयसे अपने-अपने श्लोकोंमें प्रकट किया। उन आदर्शोंको, जिनको उन्होंने अपने जीवनमें उतारा था तथा जिन्हें उन्होंने अपने कार्योंसे पूर्णतया सिद्ध किया था। इस आत्मविश्वासके प्रभावसे उत्पन्न अनहोनी घटनाको पढ़कर हमें चमत्कृत होनेकी आवश्यकता नहीं है। आदर्शका बल ही इतना महान् है, जिससे अघटित घटना भी सुघटित हो जाती है। हम भी अपने आध्यात्मिक आदर्शको ऊँचा बनावें तथा उसकी पूर्ण निष्ठासे उपासना करें। विश्वास रखें, वह आदर्श सिद्ध होकर रहेगा। आदर्शमें सचमुच बड़ा बल होता है।

जीवन्मुक्ति-रहस्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

जीवन्मुक्तिके विषयमें विशेष विचार करनेके पहले, मुक्तिके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य मुनिने उसके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्नबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। दृष्टान्तद्वारा इस बातकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जैसे निद्रासे जागनेके सिवा स्वप्नके नाशका दूसरा कोई उपाय नहीं होता। भाव यह है कि निद्रासे जाग उठना और स्वप्नावस्थाका लय हो जाना—ये दोनों जिस प्रकार समकालीन होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होना और मुक्ति प्राप्त होना—ये दोनों समकालीन ही होते हैं; क्योंकि जागनेके पश्चात् जैसे स्वप्नके नाशके लिये दूसरा कोई यत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेके बाद मुक्तिकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई प्रयत्न करनेके लिये नहीं रहता। और स्पष्टतः कहना हो तो कहेंगे कि जैसे निद्रासे जागना और स्वप्नका बंद होना—एक ही स्थितिके दो विभिन्न नाम हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होना और मुक्त होना—ये दोनों एक ही स्थितिके विभिन्न शब्द-प्रयोग हैं।

और यदि मुक्तिको तत्त्वज्ञानका फलरूप माने तो भी तत्त्वज्ञान तात्कालिक फल देता है, इस प्रकार मुक्ति और ज्ञानके समकालीन होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। निद्रारूपी अविद्याके दूर होनेपर स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यद्यपि इसमें निद्राका भङ्ग होना कारण है और स्वप्नका नाश उसका फल है, तथापि दोनों एक ही कालमें होते हैं, यह सबके अनुभवकी बात है। दीपक जलाना कारण है और अन्धकार-का नाश फल है, फिर भी दोनों ही समकालीन होते हैं; क्योंकि दीप जलाते ही अन्धकार कहाँ चला गया, इसकी खबर नहीं पड़ती, इसको भी हम रोज अपनी आँखों देखते हैं।

इस बातको गीतामें भगवान्‌ने इस प्रकार दिखलाया है—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

यहाँ भगवान्‌ने 'अचिरेण' शब्दका प्रयोग किया है, इसका भाव यह है कि ज्ञानके होते ही तत्काल पुरुष परम शान्तिको पाता है, यानी मुक्ति प्राप्त करता है। परम शान्तिका सच्चा स्वरूप है; क्योंकि जबतक का बन्धन है, तबतक शान्ति कहाँ? परम शान्तिकी ही क्या? इसलिये यहाँ भगवान् विशेष स्पष्टरूपसे कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और मुक्तिलाभ समकालीन हैं। इसलिये ज्ञानकी प्राप्ति करनेके बाद मुक्तिके लि कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

इस विषयमें 'आर्या पञ्चाशीति' में श्रीशेष वचन इससे भी अधिक स्पष्ट है—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देह
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोक

ज्ञानी पुरुष जब अनुभव करता है कि 'मैं तो और इस कारण 'देहके जन्म, मृत्यु, जरा, धर्मोंसे परे हूँ' तब और उसी क्षण वह मुक्त हो मुक्ति ज्ञानके समकालीन ही होती है। अर्थात् मनुष्य अपने स्वरूपका निश्चय करता है, उसी क्ष हो जाता है। ज्ञान होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई नहीं करना पड़ता। ज्ञान और मुक्ति—ये दो शब्द दोनों एक स्थितिके वाचक हैं। इस प्रकारके (शरीरकी) मृत्युके समय जब स्मृतिका नाश हो तब उसका शरीर तीर्थमें पड़ा हो या चाण्डालके घ इससे उसको कोई हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि ऐसे ज्ञानोदयके समय ही शोक-मोहके कारणोंको जीत इससे ज्ञानी पुरुष शरीरके गिर जानेपर कैवल्य करता है।

यहाँतक हमने देख लिया कि (१) ज्ञ होती है (२) और मुक्तिको ज्ञानका फलस्व भी ज्ञान और मुक्ति—दोनों समकालीन ही होते हैं

अब यह विचारना है कि मुक्ति किसे चाहि स्पष्ट है कि जिसे बन्धन है, उसे बन्धनसे छूटनेकी चाहिये। अर्थात् बन्धनकी निवृत्तिका नाम ही इसलिये अब बन्धनका स्वरूप जानना चाहिये, जि निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया जाय।

कोई आदमी एक कमरेमें बैठा है, उस कमरे

नहीं, बल्कि नौ-नौ दरवाजे हैं और फिर सभी दरवाजे खुले हैं। एक भी बंद नहीं है। ऐसी अवस्थामें उस मनुष्यकी दृष्टि दरवाजेकी ओर नहीं जाती, इस कारण वह चिल्लाकर कहता है कि 'मुझे यहाँ बंद कर रक्खा है, कोई आकर मुझे छुड़ाओ।' आस-पासके मनुष्य दौड़कर जाते हैं और देखते हैं कि नौ दरवाजे खुले हुए हैं और वह आदमी व्यर्थ ही 'छुड़ाओ-छुड़ाओ' की शोर मचाकर सारे मुहल्लेको परेशान कर रहा है।

कोई समझदार आदमी उसके पास जाकर कहता है कि 'भाई! रास्ते तो सभी खुले हैं। तुम्हें किसीने बंद नहीं कर रक्खा है। तुम्हें अच्छा लगे उसी द्वारसे बाहर जा सकते हो। व्यर्थ शोर मचाकर सारे मुहल्लेको क्यों परेशान करते हो।' इसका उत्तर देते हुए वह आदमी कहता है—'तुम्हारे चित्तको भ्रान्ति हो गयी है, नहीं तो, ऐसा नहीं बोलते। मुझे तो एक भी द्वार नहीं दीखता और तुम नौ द्वारकी बात करते हो।'

इस प्रसङ्गमें बन्धनकी कल्पना है—नौ-नौ द्वार खुले हुए हैं, फिर भी अपनेको बन्धनमें मानना कल्पना नहीं तो और क्या है? ऐसी अवस्थामें उसको कौन मुक्त कर सकता है? आँखें रहते हुए जो अंधा बना हो, उसको कौन मार्ग दिखला सकता है? जब सच्ची समझ आती है और बन्धनका भ्रम छोड़ देता है, तभी बन्धनकी निवृत्ति होती है। ऐसी बात नहीं है कि बन्धन सच्चा है और उसको तोड़ना है, परंतु बन्धनका जो भ्रम हो गया है, उस भ्रमकी केवल निवृत्ति करनी है। भ्रम छूट जाय तो मुक्त तो वह था और है ही।

अब एक अधिक स्पष्ट और विस्तृत दृष्टान्त लीजिये, जिससे बन्धनका रहस्य ठीक-ठीक समझमें आ जाय।

सुदर्शन नामका एक मनुष्य एक नाटक-कम्पनीमें नौकरी करता है। सूत्रधार उसको बराबर पुरुषका ही पार्ट देता है। इसलिये उसको कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। एक समय ऐसा आया कि स्त्रीपार्ट लेनेवाला एक अभिनेता छुट्टीपर जाने लगा और उसने आठ दिन पहले ही इसकी सूचना सूत्रधारको दे दी। सूत्रधारने सुदर्शनको बुलाकर कहा कि 'यह आदमी आठ दिन बाद छुट्टीपर जानेवाला है, इस कारण इसका स्त्रीका अभिनय तुम्हें करना पड़ेगा; इसलिये आठ दिनमें इससे स्त्री-अभिनयकी सारी शिक्षा तुम ले लो।' इन आठ दिनोंतक उसको दूसरा कोई काम नहीं सौंपा गया। सुदर्शन बहुत ही चतुर अभिनेता था। उसने स्त्रीके पार्टका बहुत ध्यान देकर अभ्यास किया। समय आनेपर वह अपने स्त्रीवेशमें सज-धजकर रंगभूमिमें उपस्थित हुआ और इतनी दक्षता और चातुरीसे अभिनय किया कि सारे दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। स्वयं सूत्रधार कुछ देरतक यह निश्चय न कर सका कि वह अभिनेता सचमुच कोई स्त्री है या सुदर्शन ही है।

नाटक समाप्त हो गया। दर्शक स्त्रीपात्रकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर गये। सूत्रधारने सुदर्शनको शाबाशी देनेके लिये बुलाया। सुदर्शन जवाब देने न गया और कहला भेजा कि 'मैं तो रत्नावली मालिन हूँ, मैं कोई सुदर्शन नहीं हूँ।' सूत्रधार उसके पास गया और समीप बैठकर बोला—'तुम तो सुदर्शन हो, रत्नावली मालिनका तो तुमने केवल अभिनय किया था। अब नाटक समाप्त हो गया, इसलिये ये कपड़े उतार डालो और अपने वस्त्र पहन लो।' सुदर्शनने कहा—'मैं तुम्हारे फुसलावेमें आनेवाली नहीं हूँ। मैं तो बीकानेरकी मालिन हूँ, तुम मुझसे दूर बैठो।' 'मैं सुदर्शन हूँ'—यह बात सुदर्शन भूल ही गया और 'मैं रत्नावली मालिन हूँ'—यह बात दृढ़ हो गयी।

सूत्रधारकी चिन्ताका पार न रहा। उसने सबेरे ही अच्छे-से-अच्छा वैद्य बुलवाया। वैद्यराज उसके पास गये। नाड़ी देखी, थोड़ी-बहुत बातचीत की और फिर सूत्रधारके कमरेमें आये। उसको अपना अभिमत बतलाते हुए बोले—'सुदर्शनका चित्त भ्रान्त हो गया है, इसलिये कुछ दिन उसको एकान्तमें आरामके लिये रखना जरूरी है, यदि तुम चाहो तो इसकी मैं व्यवस्था करूँ।' सूत्रधारकी स्वीकृति मिलते ही वैद्यराजने ठीक व्यवस्था कर दी और सुदर्शनको अपने साथ लेते गये। उसे 'रत्नावली मालिन' कहकर ही पुकारते थे और एक परायी स्त्रीके साथ जो सभ्यता वर्तनी चाहिये, उस सभ्यतासे उसको रखने लगे। बड़ा सुन्दर मकान था और आस-पासके स्थान स्वच्छ और रमणीय थे। पहले तो सुदर्शनने निष्काम कर्म करना सीखा। पक्षियोंको दाना चुगाता, मछलियोंको आँटेकी गोलियाँ बनाकर देता, पशुओंको अपने हाथों घास काटकर खिलाता, देवपूजाके लिये भाँति-भाँतिके पुष्प तोड़कर लाता, उनकी मालाएँ बनाता—इत्यादि। इस प्रकार निवृत्तिमय प्रवृत्ति करते हुए सुदर्शनकी बुद्धि स्वच्छ तथा एकाग्र होने लगी। वैद्यराजके साथ वह प्रेम और भावपूर्वक बोलने-चालने लगा।

पश्चात् वैद्यराजने धीरे-धीरे उसको 'पुरुषके कौन-से लक्षण होते हैं, उसका स्वभाव कैसा होता है' इत्यादि समझाना शुरू किया। पुरुषके विषयमें इस प्रकार बहुत कुछ समझा गये और वे सारी बातें सुदर्शनकी बुद्धिमें स्थिर हो गयीं। फिर उसने स्त्रीका लक्षण, स्वभाव आदि विस्तारपूर्वक समझाया। ये दोनों बातें उसकी बुद्धिमें स्थिर हो गयीं। पश्चात् वैद्यराजने उसको इस प्रकार समझाना शुरू किया—

'देखो, यह पुरुषका लक्षण है, क्या यह तुममें है?' उत्तर मिला—'हाँ!' इसके बाद दूसरा लक्षण बतलाया और पूछा कि वह उसमें है या नहीं। उत्तर स्वीकारात्मक मिला। इस प्रकार पुरुषके एक-एक धर्मको उसने चुन-चुनकर सुदर्शनके सामने रक्खा और सुदर्शनने सबको अपनेमें स्वीकार किया। इसी प्रकार एक-एक करके स्त्रीके धर्मोंको गिनाना प्रारम्भ किया और वे धर्म उसमें हैं या नहीं, यह प्रश्न किया। प्रत्येक बार सुदर्शनने नकारात्मक उत्तर दिया।

फिर वैद्यराजने उससे पूछा—'सो अब बतलाओ कि तुम क्या हो?' सुदर्शनने उत्तर दिया—'मैं पुरुष हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं पुरुष हूँ।'

यहाँतक तो हमने देखा कि बन्धन कोई सच्ची वस्तु नहीं होती है। अज्ञानके कारण बन्धनकी कल्पना हो जाती है। जब वह कल्पना छूटती है, तब बन्धनकी निवृत्ति होती है, इसलिये अब यह देखना है कि यह बन्धनकी कल्पना किस प्रकार हो जाती है।

इस प्रसङ्गमें श्रीयोगवासिष्ठमें लिखा है कि—

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः॥

भाव यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण शूद्र स्त्रीकी कामना होनेपर उसके सम्भोग, सहवास आदिकी मलिन इच्छासे अपने उचित, सात्त्विक ब्राह्मणधर्मको धीरे-धीरे भूलकर अधिक कालतक शूद्रप्राय बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं ईश्वररूप है फिर भी लिङ्ग-देहके सङ्गके कारण, विषय-भोगकी आशासे अपने शुद्धस्वरूपको भूल जाता है और जीवभावको अङ्गीकार कर लेता है। (अजामिलका दृष्टान्त प्रसिद्ध है।) अब देखो, मनुष्य जब भोजन करने बैठता है, तब थाली उसके स्थूल शरीरके पास रक्खी जाती है। हाथसे ग्रास उठाकर मुँहमें रखता है। दाँत चबानेका काम करते हैं, जीभ स्वादका अनुभव करती है। प्राण तृप्ति प्राप्त करते हैं और मन-बुद्धि सारी क्रियाका आनन्द लेते हैं। आत्मा उ[illegible] से यह सब कुछ देखता है। प्रतिदिन मन-बुद्धिको [illegible] लेते देखकर आत्मा उसमें ललचा जाता है और [illegible] इस आनन्दका भोक्ता मान लेता है। मन-बुद्धि[illegible] तादात्म्य हो जानेपर प्राणके साथ वह तादात्म्य-स[illegible] बैठता है और क्षुधा-तृषासे प्राणके व्याकुल होने[illegible] व्याकुलताका अनुभव करता है। ऐसा करते-करते [illegible] साथ और उसके बाद वह सारे शरीरके साथ तादात्म्य-[illegible] में बँध जाता है। परिणामतः स्थूल शरीरके जन्म-[illegible] अपना जन्म-मरण मान बैठता है। सूक्ष्म शरीरके [illegible] योनियोंमें होनेवाले भ्रमणको अपना भ्रमण मानता है। सूक्ष्म शरीरके कर्ता-भोक्ता होनेपर भी अपनेको कर्ता मानकर जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ जाता है। इस प्रकार कुछ बन्धन है, वह सब कल्पित है। तथापि जब भ्रम छूटता नहीं, तबतक आत्मा जन्म-मरणके चक्रमें [illegible] करता है। इस प्रकार भ्रममें पड़ा हुआ आत्मा ही [illegible] कहलाता है और इस प्रकार शरीरके साथ [illegible] तादात्म्य-सम्बन्धको 'देहाध्यास' कहते हैं।

अब यह देखना है कि देहाध्यासके द्वारा आत्मा[illegible] किस प्रकार दृढ़ हो जाता है। इस बातको [illegible] हुए वालि-वधके बाद अध्यात्मरामायणमें भगवान् [illegible] ताराको सान्त्वना देते हुए कहा है—

यथा विशुद्धस्फटिकोऽलक्तकादिसमीपगः
तत्तद्वर्णयुगाभाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम्।
बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्
कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः॥

स्फटिकमणि स्वभावतः ही श्वेत रंगका होता है। [illegible] लाह आदि पदार्थोंके पास जानेपर उन-उन रंगोंवाला [illegible] है। हरे पत्तोंके पास हरा और पीले पुष्पके पास [illegible] दीखता है, परंतु उन उपाधियोंको दूर हटा देनेके बाद [illegible] दीख पड़ता है। इसलिये वस्तुतः उसमें कोई रंग नहीं [illegible] केवल उपाधिसे रंग दीखता है। इसी प्रकार मन-बुद्धि [illegible] इन्द्रियोंके सांनिध्यसे आत्माको बलात्कार संसारकी [illegible] होती है, वह मनको प्राप्त होकर विषय भोगता है, [illegible] बँध जाता है और परवशतासे जन्म-मरणके चक्रमें [illegible] करता है।

जैसे पानीको चौकोर बर्तनमें डालो तो वह [illegible]

ाकारका बन जाता है और गोल बर्तनमें डालो तो वह ोलाकार बन जाता है। इसी प्रकार जब बुद्धि निश्चय करनेका ाम करती रहती है, तब आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता और स्वयं ही निश्चय करता है—ऐसा मानता है। जब न संकल्प-विकल्प करता होता है, तब आत्मा उसके साथ द्रूप बन जाता है; स्वयं संकल्प-विकल्पवाला अपनेको मानता । जब चित्त किसी प्राणी-पदार्थका चिन्तन करता रहता है अहंकारवृत्ति अपना काम करती रहती है, तब आत्मा न वृत्तियोंके साथ एकरूप बन जाता है और अपनेको ही न-उन क्रियाओंका करनेवाला मान लेता है। इस प्रकार द्ध आत्मामें जीवभाव आता है और उससे देहाध्यास दृढ़ जाता है।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि परमात्माके ही शस्वरूप आत्मामें देहाध्यास आता है किस प्रकार? क्यों ाता है? कैसे आता है?—इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर यह है कि स प्रकारके प्रश्न उठते ही नहीं; क्योंकि सृष्टिकर्ताने उसका भाव ही ऐसा बनाया है। कोई पूछे कि नीमका पत्ता ड़वा होता है और आमका क्यों नहीं होता? अथवा आँवलेके त्ते नन्हे-नन्हे होते हैं, रेंड़के क्यों नहीं होते? शतालूके पत्ते ड़वे होते हैं, फिर उसमें लगे फल कड़वे क्यों नहीं होते?—त्यादि अनेकों प्रश्न पूछे जा सकते हैं। इन सबका एक ही त्तर होगा कि सृष्टिकर्ताने इनका स्वभाव ही ऐसा बनाया और हरेकको अपने स्वभावके अनुसार बर्तना चाहिये, सृष्टिका नियम है।

× × ×

परमात्मा योगनिद्रामें सोये थे। जागकर देखा तो कुछ दीख न पड़ा। स्वयं अनेक रूप होकर रमनेकी इच्छा ते ही उन्होंने अपनी प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी रचना की, यं अपने अनेक अंशोंसे उसमें प्रवेश किया—'तत् सृष्ट्वा त्वानु प्राविशत्'—उसी समयसे आत्मामें जीवभाव आ ा, इस कारण जिस-जिस शरीरमें उसने प्रवेश किया, स-उस देहके अध्यासवाला वह हो गया। देहाध्यासके वरणसे युक्त आत्मा 'जीव' नामसे पुकारा जाता है। इस कार यदि आत्मामें देहाध्यास न हो तो सृष्टिका क्रम ही चले; क्योंकि जबतक देहाध्यास है, तभीतक जन्म-मरणरूप सार है। इसके लिये परमात्माने अपनी मायाकी चादर त्माके ऊपर डाल दी, इसी कारण वह अपनेको जीव ता रह गया।

यह देहाध्यास यद्यपि अनादि कालसे चला आ रहा है, तथापि दूर किया जा सकता है। मुक्तिका द्वार प्रभुने प्रत्येकके लिये खोल रक्खा है। जो युक्ति वैद्यराजने सुदर्शनके लिये काममें लायी थी, वही युक्ति हमको आत्माका देहाध्यास छुड़ानेमें लगानी है। पहले तो अन्तःकरणको शुद्ध कर लेना चाहिये; क्योंकि जबतक अन्तःकरणमें वासनाएँ हैं, तबतक वह स्थिर नहीं हो सकता। अन्तःकरणको शुद्ध करनेके बाद जिस बुद्धिके द्वारा आत्मा अपनेको शरीररूप माने रहता है, उसी बुद्धिकी सहायतासे अपने स्वरूपको समझ लेना चाहिये। इसके लिये उसको पहले तो द्रष्टा आत्माके धर्म और स्वरूप-को समझना चाहिये। ये दोनों ठीक समझमें आ जायँ तो उससे पूछे कि 'तू कौन है?' उत्तर इस प्रकार मिलेगा—

'मैं सत्, चित्, आनन्दरूप आत्मा हूँ। मैं सत् हूँ, इससे मेरा जन्म-मरण नहीं होता। मैं चित् हूँ, अतएव ज्ञानस्वरूप हूँ। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुझे कोई यत्न नहीं करना पड़ता तथा मैं आनन्दस्वरूप हूँ, इसलिये सुखकी प्राप्तिके लिये मुझे भटकना नहीं पड़ता।'

'और मैं देह नहीं हूँ, इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि देहके धर्म मुझको दुःख नहीं दे सकते। मैं प्राण नहीं हूँ, इसलिये प्राणके धर्म—भूख और प्यास आदि मुझको सता नहीं सकते। मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, इसलिये इन्द्रियाँ और उनके विषयोंके साथ संयोग-वियोगजन्य भोग मुझको स्पर्श नहीं कर सकते और मैं अन्तःकरण नहीं हूँ, इसलिये उसके धर्म सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि मुझतक पहुँच नहीं सकते।'

देखनेमें तो यह सारी युक्ति आसान और सहज साध्य-जैसी जान पड़ती है, परंतु वह वस्तुतः वैसी नहीं है। अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये सबसे पहले तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता है। प्रबल वैराग्य उत्पन्न होना, दो-चार दिनका काम नहीं है। परंतु अनेकों जन्मोंकी साधनाके परिणामस्वरूप प्रबल वैराग्य उत्पन्न होता है। 'अनेकजन्मसंसिद्धः'का यही भाव है। इसलिये आत्मकल्याणकी साधना करनेवालोंको अतिशय धीरज रखनेकी आवश्यकता है। अधैर्यसे काम नहीं चलता है।

इस विषयको समझानेवाला एक प्रसङ्ग श्रीयोगवासिष्ठमें आता है। श्रीरामचन्द्रजी (मानवलीलाकी दृष्टिसे मानो अपने-को साधारण मनुष्य मानकर) गुरु वसिष्ठसे पूछते हैं—'भगवन्! आप-जैसे गुरु और मेरे-जैसे मुमुक्षु साधकके होनेपर

भी मुझको बोध क्यों नहीं होता ?' इसका उत्तर देते हुए (मनुष्यभावसे ही) वसिष्ठजी कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥

रामचन्द्र ! तुमको बोध होनेमें देर लग रही है, इसमें तुम्हारी कोई त्रुटि नहीं, या मेरी कोई उपेक्षा नहीं है । बल्कि तुमने अनेक जन्मोंसे संसारको दृढ़ कर लिया है, यानी अनादि कालसे जीवभावको दृढ़ करते चले आ रहे हो, इसलिये तुमको जीवभाव दूर करके अन्तःकरणमें आत्मभावनाको स्थिर करनेमें लंबा समय जरूर चाहिये । धैर्यपूर्वक साधन करते जाओ, निष्ठा परिपक्व होनेपर उसका फल अवश्य दीख पड़ेगा ।

इसी प्रसङ्गको श्रीविद्यारण्य मुनिने अपनी पञ्चदशीमें इस प्रकार समझाया है—

कालेन परिपच्यन्ते कृषीगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥

जैसे बीज बोनेपर तुरंत उससे अङ्कुर नहीं निकलता और जैसे माताके पेटमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय अपेक्षित होता है, उसी प्रकार देहाध्यासका त्याग करके आत्मभावनाको परिपक्व करनेमें अवश्य ही समय लगता है । इसलिये समझदार मनुष्यको श्रद्धा और भावपूर्वक अपने साधनमें प्रवृत्त रहना चाहिये ।

यहाँतक हमने यह देख लिया कि (१) ज्ञान और मुक्ति समकालीन होते हैं; इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिसे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है । (२) जिससे मुक्त होना है, वह बन्धन कभी सच्चा नहीं हो सकता; बल्कि वह कल्पनामात्र है । इस कल्पनाके छूटनेपर बन्धन छूट जाता है । (३) यह भ्रम अनादिकालसे चला आता है और वह अज्ञानमूलक होनेके कारण ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है और (४) साधकको धैर्यपूर्वक और तत्परतासे श्रद्धा रखते हुए साधनमें लगे रहना चाहिये ।

अब हमें यह देखना है कि यदि अज्ञानको दूर करके ज्ञानकी प्राप्ति करनी है तो वह कैसे हो सकती है ? ज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिद्वारा हो सकती है; क्योंकि मैं आत्मा हूँ, यह निश्चय करना बुद्धिका ही कार्य है; परंतु यह बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये । बुद्धिका स्थान अन्तःकरणमें है और उसके रहनेके लिये शरीरकी आवश्यकता है । अर्थात् यदि बुद्धिसे काम लेना है तो उसके लिये शरीर तो होना ही चाहिये, परंतु शरीर स्वस्थ होना चाहिये और इन्द्रियाँ भी कार्यक्षम होनी चाहिये । प्राण भी व्याकुल न होने पावें, इसके लिये नीरोग होना चाहिये । इतनी सुविधा हो तो [illegible] निश्चय कर सकती है । इससे यह सिद्ध होता है [illegible] कार्यक्षम हो तभी ज्ञानका साधन हो सकता है और [illegible] हो, तब मुक्ति होती है । इसका अर्थ यह हुआ कि [illegible] अस्वस्थ या नष्ट हो जानेपर मुक्ति नहीं होती । [illegible] यह निकला कि जीते ही जीव मुक्त हो सकता है ।

मुक्ति तो जीते-जी ही होती है । फिर उसके [illegible] चाहे पाँच पल, पाँच दिन, या पाँच वर्ष रहे । [illegible] इस सिद्धान्तमें अन्तर नहीं आता कि मुक्ति जीते [illegible] है । मुक्तिके होने या न होने और शरीरके जीने [illegible] साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, जिससे यह आग्रह [illegible] सके कि जीते-जी या मरनेके बाद ही मुक्ति होती है [illegible] होने या न होनेका आधार अपरोक्ष तत्त्वज्ञानके उदय [illegible] शरीरके जीने या मरनेका आधार प्रारब्ध भोगके [illegible] ज्ञान हो या नहीं, प्रारब्धका भोग समाप्त हो जाने [illegible] तत्काल छूट जाता है—वह कभी ज्ञान होनेकी [illegible] देखता तथा ज्ञान हो जानेके बाद—मुक्तिकी [illegible] जानेपर भी यदि प्रारब्ध भोग शेष होता है तो उसके [illegible] होनेतक शरीर टिका ही रहता है । इसलिये शरीर [illegible] या मरण मुक्तिके अधीन नहीं और मुक्तिकी प्राप्ति [illegible] रहते ही हो सकती है । इसीलिये मानव-शरीरको [illegible] कहा गया है ।

यह बात एक श्लोकद्वारा इस प्रकार समझाते हैं [illegible]

कुम्भे विनश्यति चिरं सनवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य न हि कोऽपि विशेष लेश [illegible]

घटाकाश जब यह निश्चय कर ले कि मैं महा[illegible] ही हूँ, तब फिर घट अभी फूट जाय या चिरकाल [illegible] फूटे, उससे घटाकाशके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं [illegible] क्योंकि उसने तो घटके रहते हुए ही अपने महाकाश [illegible] का निश्चय कर लिया है । इसी प्रकार मनुष्यका शरीर [illegible] ही नाशको प्राप्त हो या कल्पान्तमें नाशको प्राप्त हो [illegible] उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

जीवितावस्थामें ही मुक्ति हो सकती है यह लिख [illegible] गया, इससे यह समझमें आ जाता है कि जीवन्मुक्ति [illegible] विदेहमुक्ति—ये दोनों एक ही मुक्तिके दो विभिन्न [illegible] हैं । वह केवल यह बतानेके लिये है कि मुक्त पुरुष [illegible]

रब्धको भोगनेके लिये जीता है या शान्त हो गया है। इन नोंमें दूसरा कोई तारतम्य नहीं दीखता।

अब जीवन्मुक्तिकी व्याख्या देखिये। ऐसी अनेकों ाख्याएँ हैं, जो सबको अनुकूल हो सकती हैं, परंतु उनसे झको 'अद्वैतसिद्धि' में दी हुई श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी ाख्या बहुत ही हृदयङ्गम लगती है। वह इस प्रकार है—

जीवन्मुक्तस्तु तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽपि अनुवृत्त-ादिप्रत्ययः।

अर्थात् जिसने तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याजनित सारे षित संस्कारोंको निवृत्त कर डाला है, इतना होते हुए भी सका शरीर विद्यमान है और इस कारण उसके द्वारा ः योग्य कर्म करते जाता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। ेपमें कह सकते हैं कि जिसके चित्तके ऊपरसे सारे संस्कार ट गये हैं और शरीरसे व्यवहार करते रहनेपर भी नये कार नहीं पड़ते, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। उसका वन प्रवाह-पतित पत्तेके समान निरपेक्ष भावसे चलता ता है और वह स्वयं अखण्ड आनन्दमें मग्न रहता है।

एक संत जीवन्मुक्तकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— ीतेजी मर जाय, वह जीवन्मुक्त है।' अर्थात् शरीर भले जीवित हो तथा उससे यथायोग्य व्यवहार भी होता हो, स्वयं उस ओर निरपेक्ष भावसे द्रष्टा रूपमें रहता हो।

अब इस विषयमें सामान्यतः उठनेवाला एक प्रश्न है, के विषयमें थोड़ा विचार करना चाहिये। मुक्त पुरुषके र विधि-निषेधका बन्धन नहीं होता, इससे मुक्त पुरुष षिद्ध आचरण कर सकता है या नहीं? ऐसा प्रश्न उठाने- कारण यह बतलाया जाता है कि शास्त्रमें ऐसा कथन है "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः?" ात् तत्त्वज्ञ पुरुषके ऊपर विधि-निषेधका नियम लागू नहीं ा, इस कारण वह निषिद्ध आचरण करे तो भी उसका उसको नहीं लगता है।

इसके उत्तरमें दो प्रकारसे विचार करना चाहिये। पहला यह है कि इस प्रकारके जो श्लोक हैं उनमें 'अतिशयोक्ति ङ्कार' है। उनका अक्षरार्थ या शब्दार्थ न करके केवल ार्थ समझना चाहिये, इस वस्तुको समझनेके लिये अति- क्ति अलङ्कारका स्वरूप देखिये। भर्तृहरिको इस अलङ्कार- खूब ही शौक है और उन्होंने इसका अनेकों प्रसङ्गोंमें ग किया है। एक नमूना देखिये। वे कहते हैं—

'बालूको पेरनेसे कदाचित् तेल निकल जाय, मृगतृष्णाके जलसे कदाचित् प्यास बुझ जाय और वन-वन खोजनेपर कदाचित् शशकका शृङ्ग भी प्राप्त हो जाय। ये सभी बातें मान लो कि कदाचित् हो जायँ, तथापि मूर्ख मनुष्य कभी अपना हठ नहीं छोड़ता।' यहाँ यदि शब्दार्थ लीजिये तो भर्तृहरि स्वयं मूर्ख समझे जायँगे; क्योंकि बालूसे तेल कभी निकल नहीं सकता तथा मृगतृष्णाका जल कोई जल नहीं है, जिससे किसीकी प्यास बुझे और शशकको सींग उगते ही नहीं, तब फिर मिल कहाँ सकते हैं? इसलिये इसका भाव समझना चाहिये। मूर्ख आदमी यदि हठीला हो तो वह किसी प्रकार भी नहीं समझता, इसी बातको बलात् समझानेके लिये यह आलङ्कारिक प्रयोग है।

अब ज्ञानीविषयक अतिशयोक्ति अलङ्कारका एक श्लोक देखिये। 'आर्या पञ्चाशीति' में श्रीशेषभगवान्का वचन है—

हयमेधसहस्राणि अथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः॥

अर्थात् तत्त्वज्ञानी पुरुष हजारों अश्वमेध यज्ञ करे, अथवा वह लाखों ब्रह्महत्या करे, तथापि यज्ञका पुण्य तथा हत्याका पाप उसको नहीं लगता। ज्ञानी पुरुषको कोई इच्छा ही नहीं होती है, अतः वह अश्वमेध यज्ञ क्यों करेगा? ज्ञानी तो सर्वात्मभाववाला होता है, इसलिये उससे ब्राह्मणकी तो क्या, किसीकी भी हिंसा कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं होती है। इसलिये ज्ञानी पुरुषका व्यवहार लोकोत्तर होता है, इतना ही इस श्लोकसे समझना चाहिये।

अब यह प्रश्न यदि उठे कि ज्ञानी पुरुषसे निषिद्ध आचरण होता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानीके लिये ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि उसको तो कोई कामना ही नहीं रहती। उसको तो ज्ञान होनेके पहले ही अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही कामनामात्रको तिलाञ्जलि दे देनी पड़ती है और कामनाके बिना निषिद्ध आचरण हो ही नहीं सकता, ऐसा गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है। शुभकर्म निष्काम भावसे हो सकता है, परंतु अशुभ तो कामनाकी प्रेरणा—भोगकी इच्छाके बिना हो ही नहीं सकता। यदि अशुभ आचरण होता दीख पड़े तो समझना चाहिये कि वह मनुष्य तत्त्वज्ञानी नहीं, केवल ज्ञानका आडम्बरमात्र करता है।

इस कथनकी साक्षी देते हुए शास्त्र कहता है कि—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो न भिक्षामाकाङ्क्षते यथा ।
एवं लब्धपरानन्दो क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति ॥

जिसको त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो गया हो, वह जिस प्रकार भिक्षाकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जिसको आत्मानन्दका अनुभव है, वह ज्ञानी विषयोंके क्षुद्र आनन्दकी ओर ताकता भी नहीं । यह बात 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में बहुत ही जोर देकर कही गयी है । वह इस प्रकार है—

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेच्छाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥

अर्थात् जिसने अद्वैततत्त्वको जान लिया है अर्थात् जो यथार्थ तत्त्वज्ञानी है, वह भी यदि यथेच्छ आचरण करता है—निषिद्ध या अशुभ आचरण करता है, तो फिर अशुचि-भक्षण करनेमें एक कुत्ते और तत्त्वज्ञानीमें क्या भेद रह जायगा ? इन सारे विवेचनोंका सारांश यह है कि 'ज्ञानी विधि-निषेधके कैदमें नहीं'—इस प्रकारके वचनोंको केवल आलङ्कारिक समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानीसे कभी कोई अशुभ आचरण नहीं हो सकता । शुभ व्यवहार करना या न करना उसके स्वभावपर अवलम्बित रहता है । जिस ज्ञानीने अपने साधनकालमें निष्काम कर्म खूब किया है, वैसा ज्ञानी स्वभाववश निष्काम कर्म करता ही रहता है और जिस ज्ञानीने विचारका ही मुख्य अवलम्बन लिया हो, वह तो शुभ निष्काम कर्म भी नहीं करता ।

निबन्ध आवश्यकतासे अधिक लंबा हो गया है । अब जीवन्मुक्तके लक्षणके सम्बन्धमें कुछ कहकर इसको समाप्त करेंगे । जीवन्मुक्तका लक्षण गीताके दूसरे अध्यायमें 'स्थित-प्रज्ञ'के लक्षणके रूपमें दिया गया है । बारहवें अध्यायमें 'भक्त'के लक्षणके रूपमें वर्णित है तथा चौदहवें अध्यायमें 'गुणातीत' पुरुषके लक्षणके रूपमें दिया गया है । उपनिषद्-में भी ब्राह्मणके लक्षणके रूपमें जीवन्मुक्तका वर्णन है तथा अन्य स्थलोंमें अतिवर्णाश्रमीके जो लक्षण वर्णित हैं, वे भी जीवन्मुक्तके लक्षण हैं ।

मुझे तो गीताके दूसरे अध्यायके ७० वें श्लोकमें दिया हुआ जीवन्मुक्तका लक्षण बहुत ही हृदयङ्गम जान पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि जीवन्मुक्तका जीवन वैसा ही होता है ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।

चारों ओरसे नदियोंका जल उमड़ता हुआ आ है और वह समुद्रमें मिलता है, तथापि समुद्र जरा भी प्राप्त नहीं होता । यहाँतक कि अपनी मर्यादा छो नहीं । इसी प्रकार ज्ञानीके अन्तःकरणमें भी प्रारब्धके लिये तो इच्छाएँ स्फुरित होती हैं, परंतु स्फुरित हो जहाँ-की तहाँ शान्त हो जाती हैं । इस प्रकार इच्छ संस्कार उसके ऊपर नहीं पड़ता और इससे वह शान्तिको प्राप्त करता है; परंतु जो मनुष्य कामनाके उसकी प्राप्तिके लिये यत्नशील होता है, उसके चित्त संस्कार पड़ता है और इससे वह मनुष्य शान्ति नहीं

ज्ञानी-अज्ञानीमें बस इतना ही भेद है कि ज्ञानीके चि संस्कार नहीं पड़ते, क्योंकि वह कामनाके वश नहीं और अज्ञानी कामनाके वशमें होकर बर्तता है, इसलि चित्तके ऊपर उन कामनाओंका संस्कार पड़ता है संस्कार ही भावी बन्धन प्रदान करता है ।

इस निबन्धका सार इतना ही है कि मुक्ति जीवितावस्थामें ही हो सकती है, इसलिये समझदार चाहिये कि जबतक शरीर कार्यक्षम है, इन्द्रियाँ काम मन-बुद्धि भी बलवान् हैं और प्राण भी स्थिर हैं मुक्ति प्राप्त कर ले । मनुष्य-शरीर देव-दुर्लभ है सार्थकता मुक्ति प्राप्त कर लेनेमें ही है । भर्तृहरिजी देते हुए कहा है—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायु
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृ

यह कायारूपी घर जबतक अच्छी स्थितिमें है दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति भी क्षीण नहीं हुई है तथा अभी शेष है, तबतक समझदार मनुष्यको आत्मक लेना चाहिये; क्योंकि शरीरका नाश होनेपर कुछ सकता । मरते समय प्रयास करना, यह तो आग बाद कूप खोदनेके समान हास्यास्पद है ।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम् ।

भारतीय संस्कृतिकी विश्वको देन-दान

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

विश्वके इतिहासका यदि परिशीलन किया जाय तो बार हमारे मनमें दानके इतिहासकी जिज्ञासा पैदा ी है। संसारमें सर्वप्रथम किस राष्ट्रने इस मानवीय तत्त्व- खोजा और जनकल्याणके लिये इसका विकास ा रूपमें किया गया। तदनन्तर लोकसंग्रहकी परम्परा ा प्रकार प्रचलित हुई।

यदि तुलनात्मक दृष्टिसे इस समस्यापर विचार करें यह मानना पड़ेगा कि संसारमें कोई ऐसा देश नहीं जो इस तत्त्वको मानवीय कल्याणके लिये आवश्यक मानता। ईसाई, इस्लाम आदि अनार्य धर्मोंने दानकी माको हृदयसे सराहा है, इस्लामका जन्म लगभग वीं शताब्दीमें हुआ; परंतु भारतीय साहित्य तथा ति ईसाकी छठी शताब्दीसे पूर्व अपनी चरम सीमा- पहुँच चुकी थी। इस्लाम-धर्मके प्रचारकोंने अपने क प्रवचन 'ला इलाह इल्लिहा' जरथुस्त्रके वचन ा एज़द मगर यज़मन' पर आधारित किया। गवेषकों- ी यह सिद्ध किया है कि कुरानका प्रत्येक अध्याय 'बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम' शब्दोंसे आरम्भ होता है 'बनाम यज़दन बक्षिशे गर ददर' आदि जरथुस्त्रियोंके ोंसे मिलता है। 'जिन्दा अवेस्ता' ऋग्वेद-साहित्यसे तरह प्रभावित है यह विज्ञ पाठकोंसे छिपा नहीं इससे स्पष्ट है कि इस्लामने इस तत्त्वको भारतीयोंसे ाया।

इसी तरह ईसाई-मतावलम्बियोंने भी यह माना है भारतीय वेद संसारके आदि ग्रन्थ हैं। स्वर्गीय डा० ानलने ऋग्वेदके बारेमें अपने विचार प्रकट करते कहा कि विश्वमें ऋग्वेद आर्योंकी प्रथम ज्ञान- क है। इससे पुराना ग्रन्थ दूसरा नहीं है। इसमें ादित तत्त्व संसारमें सबसे पुरातन है, इसमें कोई नहीं।

ऋग्वेद-संहितामें यजमान और प्रतिग्रहीताकी परम्परा सुसंगठित रूपमें मिलती है। देनेवालेको 'दाश्वान्' कहा गया है। व्याकरणकी प्रक्रियाके अनुसार 'दाश्' धातुसे 'क्वसु' प्रत्यय लगानेपर यह रूप निष्पन्न होता है। 'क्वसु' प्रत्यय शीलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इस पदका ऋग्वेदमें सम्भवतः एक सौ बारह बार प्रयोग हुआ है और 'दाशुषे' अर्थात् चतुर्थी विभक्तिका रूप ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। दाश्वान्का अर्थ केवल देनेवाला ही नहीं, अपितु सब प्रकारका बलिदान करनेवाला भी है। जो व्यक्ति मनसा, वाचा तथा कर्मणा वस्तुओंका त्याग करता है अर्थात् जिसमें अपरिग्रहकी भावना है, वह दाश्वान् कहलाता था। इसके साथ जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, वे उस समयकी झाँकीको और भी अधिक स्पष्ट करते हैं। सबसे अधिक प्रयोग जो ऋग्वेदमें मिलता है वह है 'दाशुषे मर्त्याय'। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहता था तो उसके लिये दान एक पक्का लाइसेन्स था, वह जितना दान करता था उतने ही धन, वसु तथा रत्न उसे मिलते। उससे शत्रु स्वयमेव समाप्त हो जाते। शत्रुताका कारण है जरूरतसे अधिक धनका संग्रह करना। शास्त्रीय परिभाषामें हम इसे लोभ कह देते हैं।

'दाश्वान्' का एक और विशेषण है 'विप्र'। तपः-पूत क्रान्तदर्शी ऋषिने कहा है—

स त्वं विप्राय दाशुषे
रयिं देहि सहस्रिणम्
अग्ने वीरवतीमिषम्

(८, ४३, १५)

अर्थात्—

'हे अग्निदेव! तुम हव्यदाता मेधावीको सहस्रसंख्याक धन और वीर पुत्रादिसे युक्त अन्न दो।'

उस समय समाजमें दानियोंकी होड़ लगती होगी और प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति दान करता होगा। समाजके कल्याणके लिये भारतीय मनीषाने इसे सबसे पहले परखा। आचार्य यास्क, जो उस समयकी परम्पराको अच्छी तरह समझते थे, एक स्थलपर 'द्रविणोदाः' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'दातृतमः'—यह सबसे अधिक देनेवाला है। अन्य दो स्थलोंपर आचार्यने कहा है 'दानमनसो मनुष्यान्' अर्थात् दानकी निष्ठासे युक्त मनुष्य।

जो व्यक्ति समाजमें अधिक दान करता था, उसे उपाधियाँ दी जाती थीं। यह थी सम्मानित 'भोज'। अथर्ववेदमें 'कृष्ण' नामक ऋषिने कहा है—

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः।
(२०, ८९, ३)

'हे दानशील इन्द्र! क्या तुम्हें लोग 'भोज' कहते हैं।' इसके बाद 'भोज' राजा-पदका समानार्थक समझा जाने लगा। महाभारतके शान्तिपर्वमें निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होता है—

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्त्वां नार्चितुमर्हति॥

अर्थात् 'राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दोंसे जिसकी स्तुति होती है भला, उसकी समाजमें कौन प्रतिष्ठा नहीं करता।'

उषा-सूक्त (ऋग्वेद ६, ६५) में दान देनेवालेको 'वीराय दाशुषे' कहा है। जिसका शब्दार्थ है कि वह शूरवीर समझा जाता था। दान करनेवालेकी आत्मा स्वयं पवित्र हो जाती है। वह स्वतःप्रकाश होकर आत्मिक बलसे ऊपर उठता है। समाजमें जो तमोगुण फैला हुआ होता है, वह स्वयमेव दूर हो जाता है। ऋग्वेदमें इन्द्र, सविता, राका, ऋभु, मित्रावरुणौ अश्विनौ तथा सोम आदि सभी देवताओंसे प्रार्थनाएँ की गयी हैं कि वे दानी व्यक्तियोंके स्वास्थ्य तथा [illegible] बनाये रखें।

भारतीय संस्कृतिके आदिम स्रोत ऋग्वेदमें कात्यायनने अपनी सर्वानुक्रमणीमें बाईस ऐसे उल्लेख किया है जिनमें दान-स्तुतियाँ हैं। [illegible] भारतके आधुनिक विद्वानोंने ऐसे अड़तीस सूक्तों की है जो दान-स्तवनोंसे भरपूर हैं। इनमें [illegible] नवर्ग, गेल्डनर, ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य [illegible] तथा डा० मणिलाल पटेल, युधिष्ठिर मीमांसक [illegible] संशोधकोंने स्पृहणीय गवेषणा की है। [illegible] स्तुतियाँ इस प्रकार हैं—प्रस्तोता सामश्रवा [illegible] स्तुति, सुदास पैजवनकी दानस्तुति, अध्यावती [illegible] दानस्तुति, सौवर्णीकी दानस्तुति। ऋग्वेदके आठ [illegible] सबसे अधिक दानस्तुतियोंकी सामग्री निहित [illegible] मन्त्रमें प्रातःस्मरणीय ऋषिने कहा है—'[illegible] पृच्यते' अर्थात् परमेश्वरदेवको ज्ञान देकर भर [illegible] एक और मन्त्रमें कहा है—हे वसुदेव! [illegible] दानके लिये शिक्षित करते हैं उसके धन [illegible] पदार्थ कभी नहीं घटते। भाव यह है कि [illegible] कल्याणकी भावना निहित है।

अब उन व्यक्तियोंकी बात सोचें, जो समा[illegible] नामसे कोसों दूर भागते थे। ऐसे मनुष्यों [illegible] समान ही समझा जाता था, ऋग्वेदमें 'अरा[illegible] अर्थ है अ+राति अर्थात् न देना। वेदमें [illegible] एकतालीस बार आया है। कंजूसका जो आज [illegible] है वही उस समय भी था। एक मन्त्रमें कहा [illegible]

हे देव! मुझे पाप, शत्रु और कंजूस [illegible] है। दूसरे शब्दोंमें इन तीनोंका समाजमें [illegible] था। प्रार्थनामें यह कहा गया है कि इन्हें [illegible] रक्खा जाय। उत्तरकालीन साहित्यमें यह 'अ[illegible] इतना कुत्सित अर्थमें प्रयुक्त होने लगा कि [illegible]

र्यवाचक बन गया। इसके बाद दर्शनशास्त्रोंमें न्तरिक छः शत्रुओंको अराति कहा जाने लगा। स बड़े इतिहासका कारण था, दान न देना। सरे शब्दोंमें अपनेको समाजके प्रति कर्तव्यसे वञ्चित बना। इस सामाजिक ऋणका प्रतिशोध न करना एक हान् पाप समझा जाता था। आधुनिक पद्धतिके अनुसार ग्वेदके दशम मण्डलमें एक सौ सतरहवाँ सूक्त सम्भवतः सारकी पहली रचना है जिसमें पुण्यश्लोक भिक्षुराङ्गिरस षिने दानका स्तवन किया है। इस सूक्तमें नौ मन्त्र जिनमेंसे हम तीन मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं—

इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
रमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

अर्थात्—

अन्नकी इच्छासे किसी दुर्बल व्यक्तिके भिक्षा माँगने-जो अन्न-दान करता है, वही दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और वह शत्रुओंमें भी मित्र पा लेता है।

एक और मन्त्रमें कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥

अर्थात्—

'दुर्बुद्धि मनुष्य व्यर्थ ही अन्नकी सामग्रीको एकत्र ता है। मैं सत्य कहता हूँ कि आवश्यकतासे अधिक ो-विलासकी सामग्री उसके लिये मृत्युका कारण होती। ऐसा मूर्ख बुद्धिवाला मनुष्य न तो अर्यमादि देवों-आहुति देता है और न अपने साथियोंकी सेवा ही ता है।

अकेला खानेवाला व्यक्ति केवल पापका ही भागी ता है। पंजाबीमें एक कहावत है कि जो कल्ला अकेला) खादां है (खाता है) ओ (वह) डड्ड खांदां है (पाप खाता है)। ऋग्वेदका मूल स्रोत उसी रूपमें बह रहा है। श्रुतिके शब्द कितने स्पष्ट हैं कि जो संसारकी भोग-सामग्रीको अकेला भोगता है और दूसरोंको कभी बाँटकर नहीं खाता, वह नाशकी ओर चलता है। मूलका अप्रचेताः शब्द सार्थक है, जो मनुष्य स्वादपूर्वक मिष्टान्नसे पेट भरता है, सुन्दर खाटपर सोता है और अपने साथियोंकी परवा नहीं करता, वह सम्भवतः अप्रचेताः कहलाता था। ऐसे मनुष्यके विरुद्ध सभी युगोंमें विद्रोह होता रहा है। इसी तत्त्वकी अगले मन्त्रमें ऋषि व्याख्या करते हैं—

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः। (४)

अर्थात्—

जो अपने साथ रहनेवाले साथियोंको अन्न बाँटकर नहीं खाता, वह उनका मित्र नहीं है। संस्कृत साहित्य-में ऐसे मनुष्यको किंसखा नाम दिया है। समाजमें उसके लिये एक शब्द गढ़ा गया। व्याकरणके आचार्य पाणिनिको भी 'किमः क्षेपे' (पा० २।१।१६) एक सूत्र बनाना पड़ा।

मानव-कल्याणके लिये दानका प्रशस्त मार्ग सर्व-प्रथम भारतीयोंने दिखलाया। महर्षियोंने इसका तीन प्रकारसे विश्लेषण किया, जिसे हम मनसा, वाचा, कर्मणा त्याग कहते हैं। हिंदुओंमें आज भी यह परम्परा उपलब्ध होती है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

अर्थात्—जितने काम्य कर्म हैं, उनके त्यागको ज्ञानीलोग 'संन्यास' समझते हैं। समस्त कर्मोंके फलोंके त्यागको पण्डितलोग 'त्याग' कहते हैं।

मान-बड़ाई—मीठा विष

(तीर्थयात्राके प्रसंगमें एक स्थानपर हनुमानप्रसाद पोद्दारद्वारा दिये गये भाषणका कुछ अंश)

मनुष्य जहाँ सर्वजीवोंकी अपेक्षा विलक्षण शक्ति-सामर्थ्ययुक्त है, वहाँ वह एक ऐसी दुर्बलताको धारण करता है, जो पशु-पक्षी, कीट-पतंगोंमें नहीं है। वह दुर्बलता है—मान-बड़ाईकी इच्छा, यश-कीर्तिकी कामना। यह बड़े-बड़े त्यागी कहलानेवालोंमें—माने जानेवालोंमें और अपनेको महान् त्यागी समझनेवालोंमें भी प्रायः पायी जाती है। इसको लोग दोषकी वस्तु नहीं मानते और इतिहासमें नाम अमर रहनेकी वासना रखते और कामना करते हैं। यह मीठा विष है, जो अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है; परंतु परिणाममें साधन-जीवनकी समाप्तिका कारण बन जाता है। मान-बड़ाई किसकी? शरीरकी और नामकी! जो शरीर और नामको अपना स्वरूप मानता है और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा, उनका नाम-यश चाहता है, वह 'नाम-रूप'में अहंभाव रखनेवाला ज्ञानी है या अज्ञानी? यह प्रत्यक्ष है कि 'शरीर' माता-पिताके रज-वीर्यका पिण्ड है और माताके गर्भमें इसका निर्माण हुआ है। यह आत्मा नहीं है और 'नाम' तो प्रत्यक्ष कल्पित है। जब यह माताके गर्भमें था, तब तो यही पता नहीं था कि लड़की है या लड़का। प्रसव होनेके बाद नामकरण हुआ। वह नाम अच्छा नहीं लगा, दूसरा बदला गया, तीसरा बदला गया। न मालूम कितनी बार परिवर्तन हुआ। ऐसे शरीर ('रूप') और 'नाम'में अहंता कर, उनको आत्मा मानकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठाकी कामना करना प्रत्यक्ष अज्ञानकी जयघोषणा है। अपने अज्ञानका साक्षात् परिचय है। परंतु किससे कहा जाय और कौन कहे? कुएँ जो भाँग पड़ी है। बड़े-बड़े त्यागी महात्मा अपने जीवन-कालमें ही अपनी पाषाण या धातुमूर्तिका निर्माण करवाकर, छायाचित्रोंको देकर उनकी पूजा करवाते हैं; अपने नामका जप-कीर्तन करवाते हैं! अपने या 'भगवान्' कहाते और स्वयं कहते जरा नहीं होते, वरं इसमें गौरव तथा महत्त्वका अ हैं। मेरी समझसे तो यह मोह है और शीघ्र भंग होना अत्यन्त आवश्यक है।

आपलोगोंने जिस अकृत्रिम स्नेह, वात्स आत्मीयता, शील, सौजन्य तथा उदारताके लोगोंके प्रति जो आदर्श बर्ताव किया है और प्रत्येक यात्रीको सुख-सुविधा देनेका जो म किया है, उसके लिये हम सभी आपके कृत तो आपके आदर्श निष्काम तथा विशुद्ध प्रेमसे कृतार्थ हो गया हूँ और आपने सदाके लिये मुझे बना दिया है। मेरे पास शब्द नहीं हैं, जि मैं अपने हृदयके भाव प्रकट कर सकूँ। मैं आ ऋणी हूँ। वास्तवमें प्रेमका कोई बदला हो सकता। मैं आपके प्रेमकी पवित्र भावनासे सदा-स हृदयको पवित्र बनाये रखना चाहता हूँ। इस सुधा-सिंचनसे हृदयको हरा-भरा रखना च

परंतु आपको जो मुझमें गुणसमूहके हैं और जिनका आपलोगोंने मधुर शब्दोंमें है, वे वस्तुतः मुझमें नहीं हैं। यह मैं कहता हूँ। आपको गुण दीखते हैं—इसमें प्रति अकृत्रिम प्रेम ही कारण है अथवा यह सद्गुणदर्शिनी दृष्टिका परिणाम है। किसीमें देखकर कोई दूसरा उसका वर्णन करता है, प्रायः तीन ही बातें होती हैं—(१) वह है कि उसे जगत्में सर्वत्र वैसे ही केवल गुण हैं, जैसे ब्रह्मदर्शी ज्ञानीको अथवा भगवत्प्रेमीको या भगवान्की ही अनुभूति होती है। (२

गुणोंके साथ दोष भी दीखते हैं पर वह केवल गुणोंको ही ग्रहण करता है। दोषको ग्रहण करता ही नहीं। और (३) अथवा उसे दोष-गुण दोनों दीखते तो हैं पर वह दोषका वर्णन न करके केवल गुणका ही वर्णन करता है। इन तीनों ही बातोंमें गुण वर्णन करनेवालेका महत्त्व है, यह उसका आदर्श गुण है। गुण सुननेवाला यदि गुण वर्णन करनेवालेके इस महत्त्वको न समझकर बिना ही हुए अपनेमें उन गुणोंका आरोप कर लेता है, अपनेको उन गुणोंसे सम्पन्न मान लेता है, तो वह अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करता है। यह उसकी मूर्खतामात्र है, क्योंकि किसीके द्वारा गुण बताये जानेसे गुण तो आ नहीं गये। किसी कंगालको यदि कोई करोड़पति बता दे तो इससे वह करोड़पति हो नहीं जाता। हाँ, यदि वह मान लेता है तो अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता अवश्य करता है। आपलोग अपनी सद्भावनासे मुझे यह बल दें कि मैं आपलोगोंके सद्भावका हार्दिक सम्मान करता हुआ भी, आपके इस महत्त्वपूर्ण गुणसे शिक्षा लेता हुआ भी अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता न कर बैठूँ।

आपलोगोंने मेरा जो परिचय दिया, यह तो आपके सद्भाव तथा सदाचारका पवित्र परिचय है। मेरा यथार्थ परिचय तो मुझको है और वह यह है कि जगत्में करोड़ों मनुष्य हैं, उन्हींमेंसे मैं भी एक हूँ। जैसे सबमें अनेक दुर्बलताएँ भरी हैं, वैसी ही मुझमें भी हैं। उनसे किसी भी बातमें बढ़कर नहीं हूँ। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राणिमात्रके सहज सुहृद् श्रीभगवान्की अनन्त कृपा मुझपर है; वह कृपा तो सभीपर असीम है, उसकी कृपासे ही मुझे उस कृपाके दर्शन होते हैं। पर इसमें भी अकारण कृपालु भगवान्का ही महत्त्व है। मेरा क्या है?

आपलोगोंने मुझे मालाएँ पहनायीं, सुगन्धित पुष्पोंका सुन्दर हार पहनाये—यह आपकी बड़ी ही कृपा है। जिस समय मैं हार पहन रहा था, अपनी प्रशंसा सुन रहा था, उस समय मेरे मनमें आया कि हम गीतामें रोज पढ़ते हैं—

'मानापमानयोस्तुल्यः' 'तुल्यनिन्दास्तुतिः'

—तो इस प्रशंसा तथा फूलोंके हारोंके स्थानपर गालियाँ सुननेको मिलतीं और पुष्पहारके बदले जूतोंके हार मिलते तो क्या मेरा वही भाव रहता, जो प्रशंसा सुनने और हार पहननेके समय रहा है। यदि नहीं तो, फिर यह समताकी बातें पढ़कर मैंने क्या लाभ उठाया? सच तो यह है कि मैं मान-बड़ाईका विरोध तो करता हूँ, परंतु मेरे मनमें मान-बड़ाईकी छिपी वासना है, उसीकी पूर्ति हो रही है। यदि वासना न होती और सुख न मिलता, मान-बड़ाईमें गाली तथा जूतोंके हारकी भावना होती तो मैं यहाँसे भाग जाता और आप मुझे न तो हार ही पहना सकते, न मेरी प्रशंसा ही कर पाते। पर यह मेरी ही दुर्बलता है। आपलोगोंका तो श्लाघ्य गुण ही है। हमारे स्वामीजी रामसुखदासजी तथा स्वामी चक्रधरजी हार नहीं पहनते तो उन्हें कौन पहना सकता है? कौन कह सकता है मेरे मान-बड़ाईका विरोध करनेमें भी मान-बड़ाई पानेकी छिपी वासना काम न कर रही हो।

दूसरी बात है—हारोंमें व्यर्थ खर्चकी। ये हार किसी भी काममें नहीं आते। एक बार पहने कि उतारकर रख दिये। इनसे भगवत्पूजन या देवपूजन होता तो इनकी कुछ सार्थकता भी थी। नहीं तो ये सुन्दर पुष्पवाटिकाकी शोभा ही बढ़ाते। हमारा देश अब भी बड़ा दरिद्र है। जहाँ करोड़ों भाई-बहिन भरपेट भोजन नहीं पाते, अङ्ग ढकनेको वस्त्र नहीं पाते, रहनेको छायादार घर नहीं पाते; वहाँ तो अच्छा खाना-पहनना, अच्छे मकानोंमें रहना, गलीचोंपर और सोफोंपर बैठना ही बड़ा अनुचित है, फिर पुष्पहारोंमें पैसा खर्च कराना तो उचित कैसे कहा जा सकता है। यह भी मेरा ही दोष है। मैं क्या कहूँ।

अब रही छायाचित्र (फोटो) की बात। सो हाड़-मांसके इस शरीरका चित्र क्या महत्त्व रखता है। चित्र

तो भगवान् या संतोंके लाभदायक होते हैं। मुझ-जैसे मनुष्योंका चित्र उतरवाना तो सर्वथा उपहासास्पद ही है।

महाभारतमें भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया था कि बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा करना उनकी हत्या करना है और अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है। यह बड़ा ही गर्हित कार्य है। जैसे अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है, ऐसे ही अपने कानोंसे अपनी बड़ाई सुनना भी आत्महत्याके ही सदृश है। पर यह आत्महत्या तो हम बड़े शौकसे करते हैं। क्या कहा जाय।

आपलोगोंने जो इतना मान-सम्मान किया, बड़ाई की, गुणगान किये, इसमें निश्चय ही आपका अकृत्रिम प्रेम ही प्रधान कारण है। और मैं इस प्रेमका हृदयसे सत्कार करता हूँ, परंतु आप सब मेरे परम हि आत्मीय बन्धु हैं, भक्तिभाजन तथा श्रद्धाके पा अतएव साथ ही प्रार्थना भी करता हूँ कि मुझे न दीजिये, जिसका मेरे मनमें छिपा प्रलो भी, जो मेरे लिये हानिकारक हो। यदि म मेरा मन ललचा जायगा तो फिर मैं जहाँ भी जिससे भी मिलूँगा, मेरे नेत्र और मेरा मन म खोजमें लगा रहेगा। भगवत्-सम्बन्धको भूल जहाँ मान-बड़ाई अपेक्षाकृत कम मिलेगी मिलेंगी, वहाँ मन कहेगा कि 'यहाँ नहीं हैं।' यों मुझसे व्यर्थ सज्जनोंपर दोषारो होने लगेगा, आपलोग कृपापूर्वक इस प बचायें, यह मेरी आप सबसे हाथ जोड़कर प्र

दूसरोंके साथ

दूसरोंको आराम दो, स्वयं आराम मत चाहो।
दूसरोंको सुविधा दो, स्वयं सुविधा मत चाहो।
दूसरोंको सम्मान दो, स्वयं सम्मान मत चाहो।
दूसरोंको सेवा दो, स्वयं सेवा मत चाहो।

अपने आप सबको आराम मिलेगा।
अपने आप सबको सुविधा मिलेगी।
अपने आप सबको सम्मान मिलेगा।
अपने आप सबको सेवा मिलेगी।

दूसरोंकी आशा भरसक पूरी करो,
दूसरोंसे आशा मत करो।
दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करो,
अपना अधिकार त्याग दो।
दूसरोंके साथ उदारता बरतो,
अपने साथ न्याय बरतो।
दूसरोंके छोटे दुःखको बड़ा समझो,
अपने दुःखकी परवा मत करो।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[नाटक]

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—झारखण्डमें एक झोपड़ेका छोटा-सा शयनागार।

समय—रात्रिका तीसरा पहर।

[शयनागारमें दीपकका मन्द प्रकाश है। जिससे शयनागार और उसकी कुछ वस्तुएँ धुँधली-धुँधली दिखायी देती हैं। शयनागारकी तीन ओरकी खुरदरी कच्ची दीवालें हैं। पर वे सफेद धुईसे स्वच्छ पुती हुई हैं। झोपड़ीकी छावनी फूसकी है। एक ओर एक खटियापर वल्लभाचार्य निद्रामग्न हैं। निकट ही एक झारीमें पानी रक्खा हुआ है और उसी झारीके निकट पानी पीनेका एक पात्र। एकाएक पीछेकी दीवालपर प्रकाश दिखायी पड़ता है। इस प्रकाशमें गोवर्धन पर्वतका एक भाग और उस भागमें श्रीनाथजीका श्यामस्वरूप। इस स्वरूपके सामने हाथ जोड़े और सिर नवाये हुए श्रीवल्लभाचार्य दीख पड़ते हैं। श्रीनाथजीका स्वरूप वैसा ही है, जैसा इस समय नाथद्वारेमें विराजमान है। श्रीवल्लभाचार्य अब नीचेके अङ्गमें धोती और ऊपरके अङ्गपर उत्तरीय धारण किये हुए हैं। स्वरूप मुसकराते हुए बोलता है।]

स्वरूप—वल्लभ! तुम्हें ·····तुम्हें अपने स्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं, परंतु तुम्हारे पिताको स्वप्न-सूचना देकर मैं ही तुम्हारे रूपमें प्रकट हुआ हूँ।

वल्लभाचार्य—यद्यपि प्रभो! सभी जीव आपके ही अंश हैं, परंतु मुझमें आपका यह पूर्ण प्रतिबिम्ब मुझपर आपके अनुग्रहका ही द्योतक है।

स्वरूप—मेरी गीताकी—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

—घोषणाका तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ। यह जगत् मेरी लीलाके निमित्त है और इस लीलामें जब मेरी आवश्यकता होती है, तब इस घोषणाके अनुसार मैं स्वयं अवतीर्ण होता हूँ। इस समय यह अवतार तुम्हारे रूपमें हुआ है।

वल्लभाचार्य—आपकी कुछ विलक्षण शक्ति मुझे प्राप्त है, यह तो मैं जानता हूँ। उन्हीं शक्तियोंके कारण मैं ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, चौदह वर्षकी अवस्थामें विजयनगरके शास्त्रार्थमें विजयी हुआ। ये साधारण बातें नहीं हैं, अलौकिक बातें हैं एवं बिना आपकी शक्ति और अनुग्रहके ये साधारण जीवोंको अप्राप्य हैं; परंतु यह जानते हुए भी आप मेरे स्वरूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह मुझे आज ज्ञात हुआ।

स्वरूप—वल्लभ! प्रिय वल्लभ! मेरी इस लीलामें आज तुम्हारी आवश्यकता थी। तुम्हारा ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ही आज दैवी जीवोंका त्राण कर सकता है। तुमने अपने वाद और सिद्धान्तोंको ठीक रूपमें उपस्थित किया है और जिस विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके तुम आचार्य बने हो, वही सम्प्रदाय इस समय दैवी जीवोंका कल्याण कर सकता है। इस सम्बन्धमें दर्शनशास्त्र जहाँतक जा सकता है, वहाँतक तुम उसे ले गये; परंतु इतना ही यथेष्ट नहीं है।

वल्लभाचार्य—तब?

स्वरूप—मानव मस्तिष्क और हृदय दोनोंसे शासित होनेवाला प्राणी है। दर्शन मस्तिष्कका विषय है, हृदयके लिये कुछ और आवश्यकता है।

वल्लभाचार्य—उस सम्बन्धमें भी आज्ञा दीजिये, नाथ?

स्वरूप—उसके लिये तुम अपने सम्प्रदायके द्वारा भक्तिमार्गका प्रवर्तन करो।

वल्लभाचार्य—वह तो प्रभो! मेरी इच्छा थी ही और मैंने उसे आरम्भ भी कर दिया है।

स्वरूप—तुम उसे और आगे बढ़ाओ। इसीलिये मैं उस व्रजमें, जिसमें भागवतकार व्यासके कथनानुसार ज्ञान और वैराग्य वृद्ध हो गये हैं और उनकी माता भक्ति तरुण, गोवर्धन पर्वतपर गोवर्धननाथके रूपमें प्रकट होना चाहता हूँ।

वल्लभाचार्य—(गद्गद स्वरमें) इससे अधिक आनन्द एवं उल्लासकी और कौन बात हो सकती है, नाथ?

स्वरूप—तुम्हारे आविर्भावका काल समीप जान गोवर्धन-

पर पहले मैंने अपनी भुजा प्रकट की । फिर जिस दिन तुम अवतीर्ण हुए, उसी दिन मैंने अपना मुख प्रकट किया, अब मैं सम्पूर्णरूपसे प्रकट होना चाहता हूँ ।

वल्लभाचार्य—(उसी प्रकारके गद्गद स्वरमें) इस प्राकट्यसे अधिक संसारके लिये और कौन-सी कल्याणकारी बात हो सकती है ?

स्वरूप—तुम अपनी इस पृथ्वी-परिक्रमाको कुछ कालके लिये स्थगित करो और सीधे व्रजमें गोवर्धनपर पहुँचो । सद्दू पाण्डेकी गाय धूसरने सर्वप्रथम गोवर्धनपर मेरा पता पाकर अपना दुग्ध अपने-आप मेरे लिये स्रवण करना आरम्भ किया, उसकी कन्या नरो तथा अन्य व्रजवासियोंको मेरा पता लगा । यहाँ मैं देवदमन, इन्द्रदमन और नागदमनके नामसे प्रसिद्ध हो गया हूँ ।

वल्लभाचार्य—धन्य भाग्य उस गोमाताका, उस सद्दू पाण्डेका, उसकी कन्या और व्रजवासियोंका !

स्वरूप—गोवर्धन आकर तुम मेरा प्राकट्य करा मुझे पाट बैठाओ और मेरी सेवाकी समस्त व्यवस्था करो ।

[एकाएक पीछेकी दीवालका यह सारा दृश्य विलुप्त हो जाता है । वल्लभाचार्य हड़बड़ाकर अपनी शय्यासे उठते हैं । उसी समय नेपथ्यसे एक गीतकी ध्वनि आती है । वल्लभाचार्य शय्या त्यागकर खड़े होते हैं और अत्यन्त भावपूर्ण मुद्रासे इस गीतको सुनते हैं । अब वल्लभाचार्य नीचेके अङ्गमें धोती धारण किये हुए हैं । दीपकके मन्द प्रकाशमें भी एक अद्भुत प्रकारका आनन्द और उल्लास उनके मुखपर दृष्टिगोचर होता है ।]

चकई री चल चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ सो सायर रस जोग ॥
जहाँ सनक सिव हंस मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुवास ॥

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—झारखण्डमें वल्लभाचार्यके झोपड़ेके निकटका मैदान ।

समय—प्रातःकाल ।

[एक ओर दूरपर झोपड़ेके बाहरी भागका कुछ अंश दिखायी देता है । मैदानमें पलासके वृक्षोंकी बहुलायत है, उनमें वसन्तके कारण पत्ते न होकर केसरी रंगके फूल-ही-फूल हैं । पलासके इस मैदानमें दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, काश्मीरी और जादवेन्द्रदास कुम्हार बैठे हुए होली गा रहे हैं । पाँचों युवक हैं । वासुदेवदास छकड़ाको छोड़ शेष चारों स्वस्थ और साधारण शरीरके हैं । वासुदेवदास छकड़ा खूब हट्टा-कट्टा और मोटा-ताजा व्यक्ति है । सभी नीचेके शरीरपर धोती और ऊपरके शरीरपर बगलबंदी धारण किये हुए हैं ।]

बृजमें हरि होरि मचाई ।
इततें आई सुघर राधिका उत तें कुँअर कन्हाई ।
हिल मिल फाग परस्पर खेलैं सोभा बरनि न जाई ॥
नंद-घर बजत बधाई ॥ १
बाजत ताल मृदंग बाँसुरी बीना ढफ सहनाई ।
उड़त अबीर गुलाल कुमकुमा, रह्यो सकल बृज छाई ।
मानो मघवा झर लाई ॥ २
ले ले रंग कनक पिचकारी सम्मुख सबै चलाई ।
छिरकत रंग अंग सब भीजै झुक-झुक चाचर गाई ।
परस्पर लोग लुगाई ॥ ३
राधाने सेन दई सखियनको, झुंड-झुंड घिरि आई ।
लपट झपट गई स्यामसुँदर सौं, परबस पकड़ लै आई ।
लालजीको नाच नचाई ॥ ४
छीन लई मुरली पीताम्बर सिर तें चुनरि उड़ाई ।
वेनी भाल नयन बिच काजर नकबेसर पहराई ।
मानो नई नार बनाई ॥ ५
मुसकत हो मुख मोड़-मोड़ कै कहाँ गई चतुराई ।
कहाँ गये तेरे तात नंदजी, कहाँ जसोदा माई ।
तुम्हें अब ले न छुड़ाई ॥ ६
फगुआ दिये बिन जान न पाओ कोटिक करो उपाई ।
लैहूँ काढ़ कसर सब दिनकी, तुम चितचोर कन्हाई ।
बहुत दधि माखन खाई ॥ ७
रास बिलास करत बृंदाबन जहाँ तहाँ जदुराई ।
राधा स्याम जुगल जोरी पर दास सबै बलि जाई ।
प्रीति उर रही समाई ॥ ८

कृष्णदास मेघन—(गीत पूरा होनेपर) वासुदेवदास, कहो छकड़ा ! तुम्हें तो अब भूख लग ही आयी होगी ।

वासुदेवदास छकड़ा—भूख तो मुझे सदा रहती है ।

माधोभट्ट काश्मीरी—इतना अधिक खानेपर भी ?

वासुदेवदास छकड़ा—यह तो अपनी-अपनी

शक्तिका विषय है। फिर मैं शरीरसे कितना काम करता हूँ! तुम तो बैठे-बैठे लिखा करते हो। जब कभी अधिक चलनेका काम पड़ जाता है, तब तुम्हारा मुख देखने योग्य होता है!

दामोदरदास हरसानी—हाँ, भाई! इतना तो मानना ही होगा कि यह छकड़ा, जितना बोझ छकड़ा ढो सकता है, उतना ढोता है।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और छकड़ेके दो बैल मिलकर भी जितना नहीं खा सकते, उतना यह अकेला खा भी जाता है।

वासुदेवदास छकड़ा—देखो, भाई! इस सम्बन्धमें बात न किया करो। तुममेंसे किसीकी भी यदि मेरे खानेपर नजर लग गयी तो मेरी भूख बंद हो जायगी। यदि भूख बंद हुई तो खा न सकूँगा। यदि खा न सका तो इतना बोझ लेकर चल न सकूँगा और यदि मैं न चल सका तो यह पृथ्वी-परिक्रमा समाप्त हो जायगी।

दामोदरदास हरसानी—पृथ्वी-परिक्रमा क्यों समाप्त हो जायगी! यदि मनुष्यका छकड़ा साथ न रहा तो बैलोंका छकड़ा साथ हो जायगा।

वासुदेवदास छकड़ा—पर जहाँ मनुष्यका छकड़ा चलता है, वहाँ कभी बैलोंका छकड़ा चल सकता है! कैसे-कैसे बीहड़ मार्गोंसे चलते हुए यह पृथ्वी-परिक्रमा हो रही है।

कृष्णदास मेघन—हाँ, इसमें तो संदेह नहीं।

दामोदरदास हरसानी—और देखो तो! इस पृथ्वी-परिक्रमाके लिये हम पाँचोंका कैसा समुदाय इकट्ठा हुआ है और कैसा हमारा भाग्य चमका है!

कृष्णदास मेघन—हाँ, वासुदेवदास छकड़ा सारा शारीरिक कार्य करते हैं। माधोभट्ट काश्मीरी समस्त बौद्धिक कार्य, लेखक ठहरे न! भोजनमें भोज्य-पदार्थोंके पश्चात् सबसे अधिक आवश्यक पात्र होते हैं, वे नित नये बनाते हैं जादवेन्द्रदास कुम्हार! और हरसानीजी आप तथा मैं·····

वासुदेवदास छकड़ा—(बीचहीमें) दोनों सर्वथा निरर्थक!

दामोदरदास हरसानी और कृष्णदास मेघन (हँसते हुए एक साथ) ऐसा!

वासुदेवदास छकड़ा—इसमें भी कोई संदेह है! आप दोनोंका काम ही क्या है!

जादवेन्द्रदास कुम्हार—महाप्रभुके संग रहना क्या छोटा काम है!

माधोभट्ट काश्मीरी—फिर हरसानीजीको तो महाप्रभुने कितना सुन्दर नाम दिया है·····दमला! और महाप्रभु कहते हैं कि पुष्टि-सम्प्रदायका यह मार्ग ही उन्होंने दमलाके लिये प्रकट किया है।

दामोदरदास हरसानी—यह तो महाप्रभुकी कृपा, उदारता और महानता है।

कृष्णदास मेघन—हाँ, ऐसे कृपालु, उदार और महान् इस विश्वमें कौन हैं!

दामोदरदास हरसानी—वर्तमान कालमें ही नहीं; भूतकाल-में भी संसारमें कौन ऐसे कृपालु, उदार और महान् हुए!

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और भविष्यमें भी कोई होनेवाले नहीं हैं।

माधोभट्ट काश्मीरी—फिर कितना सादा जीवन है उनका!

वासुदेवदास छकड़ा—बिना पदत्राणोंके कठिन-से-कठिन पर्वत-पथोंतकको पार करना।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—हर प्रकारकी ऋतुमें एक धोती और एक उपरना।

कृष्णदास मेघन—थोड़ा-सा प्रसादी भोजन।

दामोदरदास हरसानी—पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं अवतीर्ण हुए हैं।

माधोभट्ट काश्मीरी—और इस सादगीके साथ महान् विद्वत्ता।

कृष्णदास मेघन—और विद्वत्ताके सङ्ग असीम भगवत्प्रेम!

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और भगवत्प्रेमके साथ अपूर्व भक्तवत्सलता!

दामोदरदास हरसानी—इसी··इसी कारण तो हम साथी ही उनपर मुग्ध नहीं हैं, परंतु जहाँ पधारते हैं, सारा जनसमुदाय मुग्ध होकर बावरा-सा हो जाता है।

वासुदेवदास छकड़ा—हाँ, दर्शन पाते ही आबालयुवा-वृद्ध नर-नारी सब बावरे हो जाते हैं!

[वल्लभाचार्यका प्रवेश]

वल्लभाचार्य—साथियो! हमारी पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित हो गयी।

दामोदरदास हरसानी—(आश्चर्यसे) स्थगित हो गयी!

कृष्णदास मेघन—(आश्चर्यसे) पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित हो गयी!

दामोदरदास हरसानी—यह क्यों···यह क्यों, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—दमला ! स्वप्नमें भगवदादेश हुआ है—पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित कर व्रजमण्डलमें गोवर्धनपर आनेका ।

माधोभट्ट काश्मीरी—(उत्सुकतासे) भगवदादेश, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—हाँ, भगवदादेश ।

दामोदरदास हरसानी—प्रयोजन !

वल्लभाचार्य—गोवर्धनपर भगवान् स्वयं श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूपमें प्रकट हो रहे हैं ।

पाँचों—(आनन्दातिरेकसे एक साथ) ऐसा, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—हाँ, साथियो ! मुझे आदेश हुआ है—गोवर्धनपर जाकर गोवर्धननाथजीके प्रकट कराने, उनके पाट बैठाने और उनकी सेवाकी व्यवस्था करनेका ।

पाँचों—(उसी मुद्रामें फिर एक साथ) धन्य है, धन्य है, महाप्रभु !

वासुदेवदास छकड़ा—और हम सब धन्य नहीं हैं !

माधोभट्ट काश्मीरी—सारा संसार इससे धन्य हो जायगा ।

[वल्लभाचार्य आनन्दातिरेकके कारण स्वयं गाते हैं, जिसे उनके पाँचों साथी दुहराते हैं ।]

जो पै चोंप मिलनकी होय ।
तो क्यों रह्यो परौ बिनु देखे लाख करो किन कोय ॥
जो पै विरह परस्पर ब्यापै तौ कछु जिये बनै ।
लोक-लाज कुलकी मर्जादा एको चित न गनै ॥
कुम्भनदास जाहि तन लागी और न कछू सुहाय ।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखे पल छिन कल्प बिहाय ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर ।

समय—प्रातःकाल ।

[पीछेकी ओर गोवर्धनपर्वतका कुछ भाग दिखायी पड़ता है । उसके आगे श्रीनाथजीके मन्दिरका कुछ हिस्सा दृष्टिगोचर होता है । मन्दिरके बाहर खुली जगह है, जिसमें मन्दिरके निकटकी जगहका थोड़ा-सा भाग रिक्त है, इसके आगेकी जगहमें मन्दिरकी ओर मुख किये दर्शनार्थियोंका एक समुदाय एकत्रित है । इनमें नर और नारियाँ दोनों हैं । श्रीनाथजीके मन्दिरके पट इस समय बंद हैं । दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधोभट्ट काश्मीरी, वासुदेवदास छकड़ा तथा जादवेन्द्रदास कुम्हार आदि दर्शनार्थियोंका जो जनसमुदाय एकत्रित है, उसीमें बैठे हैं । इनके बाद सद्दू पाँड़े आते हैं । सद्दू पाँडे अत्यन्त वृद्ध हैं, गेहुँए वर्णके ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं, परंतु शरीर दुर्बल हो गया है । नीचेके शरीरपर धोती और ऊपरके शरीरपर बगलबंदी है, उत्तरीय सिरपर बाँधे हैं । ललाटपर मोटा वल्लभसम्प्रदायका का लाल तिलक है, जिसके बीचमें गोपीचन्दनके श्वेत तिलक हैं । प्रकार आड़े ढंगसे खड़े हो, जिससे मन्दिरकी ओर पीठ न होती और जनसमुदायको वे तथा जनसमुदाय उन्हें देख सके । व्रजवासिनको, भइया हो, बड़ो भाग है । नन्दनन्दन व्रजभूमि ऐसी प्रिय हती कि उनने कह्यो हतो 'अनत न जाहि हौं' सो भइया हो, नन्दलाल सदा याही ठौर रहत रहे । अब वे श्रीनाथजीके प्रगट भये हैं । तुम सब जानत हो संवत् १४६६ की सुदी ५ को मोकूँ सर्वप्रथम श्रीनाथजीकी ऊर्ध्व दर्शन भये हते । ये दर्शन भये हते मेरी धूसर गौ सों । या दर्शनके पाछे मैं आन्योरगाँवके वृद्ध जन ठौर ले गयो, जहाँ श्रीनाथजीकी ऊर्ध्व भुजा प्रकटी फेर हम सबनने दुग्ध सों वा भुजाके स्नान कराये सब या निर्णयपर पहुँचे कि यो वोही देव है जाने गिरिराजको अँगुरीपर धार या बूड़त व्रज और व्रजवासिनकी रच्छा करी हती । फेर संवत् १५३१ के कृष्ण एकादशीको हम सबनकौ श्रीनाथजीने स्वतः मुख के दर्शन दये । ता पाछे यहाँ स्वामी माधवानन्दजी पधारे और उनहूँने बहुत दिनाँतक कन्दरामें श्रीनाथजीकी सेवा कीनी । या संवत् १५४९में जब परिक्रमा करत करत श्रीआचार्यजी महाप्रभु पहुँचे, तब फाल्गुन सुदी एकादशीको श्रीआचार्यजी महाप्रभुनकों स्वप्नमें दर्शन दे यह कि वे गोवर्धन आयके श्रीनाथजीको सगरो स्वरूप उन्हें यहाँ पाट बैठायें । भइया हो, आज हम व्रजवा अहौभाग्य कि श्रीनाथजी पाट बैठे हैं और नन्द व्रजमें पुनः प्रकट होइबे पै वैसो ही नन्दमहोत्सव जैसो द्वापरमें गोकुलमें भयो हतो । भोग सरि रहे प्रथम कुम्भनदासजी कीर्तन करिहैंगे जिन्हें श्रीमहाप्रभुने श्रीनाथजीके प्रथम कीर्तनियाँ नियुक्त करे

[सद्दू पाँडेका प्रस्थान और कुम्भनदासजी तथा

ठ वाद्य-वादकोंके संग पुनः प्रवेश । कुम्भनदासजी अधेड़ स्थाके कुछ साँवले रंगके ऊँचे पूरे किंतु दुबले शरीरके व्यक्ति । वेशभूषा सद्दू पाँडेके सदृश । मन्दिरके सम्मुखके रिक्त स्थानके ओर कुम्भनदासजी तँबूरा लेकर बैठते हैं । उनके साथी -वादक उनके पीछे बैठते हैं । सद्दू पाँडे जनसमुदायमें बैठ जाते कुम्भनदासजी कीर्तन आरम्भ करते हैं । कुम्भनदासजीके नका प्रथम शब्द उच्चारित होते ही श्रीनाथजीके मन्दिरके खुलते हैं और श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं । श्रीनाथजीका वही प है, जो इस समय श्रीनाथद्वारेमें प्रतिष्ठित है । श्रीनाथजीके केशरी रंगके हैं । सारे आभूषण गुंजाके हैं । सिरपर मोरपंख श्रीनाथजीकी मूर्तिके सम्मुख एक छोटा-सा काष्ठका पालना जिसमें श्रीनाथजीकी गोदके ठाकुरजी झूल रहे हैं । इस पालनेके ओर नन्दराय और यशोदाके वेषमें दो वैष्णव बैठे हुए पालना रहे हैं । वल्लभाचार्यजी खड़े हुए पंखा झल रहे हैं ।]

जनसमुदाय—श्रीगोवर्धननाथकी जय । महाप्रभु ल्लभाचार्यकी जय ।

[बार-बार उच्च स्वरसे जयघोष होता है ।]

भयो सुत नन्द कें चलो ब्रजजन सबै ।
होत मंगल, सकल जगत कौ तिमिर मिटि गयो,
तन कौ त्रिबिध ताप सुन्यौ काननि जबै ॥
उड़त नवनीत, दूध, दधि, हरद, तेल,
बहि चली आतुर सिंधु सरिता सबै ॥
'दास कुंभन' प्रगट गिरिवरधरन
यहै सुख कोउ दिन भयो नाहीं कबै ॥

[वृजनारियाँ सुन्दर शृंगार किये हुए हाथोंमें थाल लिये श्री-यजीको बधाई देने आती हैं । इस समय कीर्त्तन हो रहा है ।]

चली हैं बधावन नंद महर घर सुंदर ब्रजकी बाला ।
थार हार चंचल छबि कहि न परत तिहि काला ॥
मुख कुमकुम रँग रंजित राजत रसके ऐना ।
पर खेलत मानो खंजन, अंजन जुत बने नैना ॥
कंठ पदिक मनि कुंडल नवल प्रेम रँग बोरी ।
गति मानो चंद उदै भये, धावत लिखित चकोरी ॥
खसि परत सुमन सीसनते, उपमा कहा बखानौ ।
चलन पर रीझि चिकुरबर, बरखत फूलन मानौ ॥
गीत पुनीत करत जग, जसुमति मंदिर आई ।
बिलौकि बलैयौ लै लै, देत असीस सुहाई ॥
कलस निकट दीपावलि ठाँय ठाँय देख मन भूल्यो ।
आगम नंद सुवनके सुवन फूल बृज फूल्यो ॥

[इन्हीं ब्रजनारियोंके साथ ब्रजके गोप-ग्वाल काँवरोंमें हरदी-मिश्रित दधिसे भरे हुए मटके ले-लेकर आते हैं और हाथमें दूब भी लाते हैं । नन्दरायजीको दहीका टीका करके दूब बधाई स्वरूप भेंट करते हैं । फिर आपसमें दही छिड़कते हैं । नन्द-यशोदा सबको बधाईमें वस्त्र आदि बाँटते हैं । तदनन्तर ब्रजाङ्गनाएँ और ग्वाल आपसमें झूमर खेलते हैं और खूब नाचते हैं । इस समय गान होता है ।]

सब ग्वाल नाचें गोपी गावै । प्रेम मगन कछु कहत न आवै ॥
हमारे राय घर ढोटा जायो । सुनि सब लोग बधाये आयो ॥
दूध दही घृत काँवरि ढोरी । तंदुल दूब अलंकृत रोरी ॥
हरद दूध दधि छिरकत अंगा । लसत पीत पट वसन सुरंगा ॥
ताल पखावज दुंदुभि ढोला । हँसत परस्पर करत कलोला ॥
अजिर पंक गुलफन चढ़ि आये । रपटत फिरत पग न ठहराये ॥
वारि बारि पट भूषण दीने । लटकत फिरत महारस भीने ॥
सुधि न परे को काकी नारी । हँसि हँसि देत परस्पर तारी ॥
सुर विमान सब कौतुक भूले । मुदित त्रिलोक विमोहित फूले ॥

[इतनेमें ही ढाढी अपनी ढाढिनको लिये हुए आते हैं और नन्दरायजीके वंशका बखान करते हुए बधाई माँगते हैं तथा नृत्य-गान करते हैं ।]

हौ बृज माँगनो जू बृज तज अनत न जाऊँ ।
बडडे भूपति भूतल महिमा दाता सूर सुजान ॥
कर न पसारौं सीस न नाऊँ, या बृज के अभिमान ॥
सुरपति नरपति नाग लोकपति, मेरे रंक समान ।
भाँति भाँति मेरी आसा पूजी, ये बृज जन जिजमान ॥
मैं ब्रत करि करि देव मनाये, अपनी घरनि सपूत ।
दियो बिधाता सब सुखदाता, गोकुलपतिके पूत ॥
हौं अपनौ मनभावो लैहों, कित बौरावत बात ।
औरन को धन घन ज्यों बरखत मो देखत हँसि जात ॥
अष्ट सिद्धि नव निधि मेरे मंदिर तुव प्रताप बृज ईस ।
कहत कल्यान मुकुंद लाल की कमल धरो मम सीस ॥

[इसी उत्सवके बीच शिवजी श्रीकृष्णके दर्शनार्थ पधारते हैं । उनका डरावना रूप देखकर यशोदा अपने अंचलसे श्रीनाथजी और पालनेके ठाकुरको छिपा लेती हैं । शिवजी गाते हैं ।]

बाला मैं जोगी जस गाया ।
धन्य जसोमति तेरे तन का जिन ऐसा सुत जाया ॥
गुनन बड़ा छोटा जिन जानौ, अलख पुरुष घर आया ।
जाको ध्यान धरत हैं मुनि जन निगम खोज नहिं पाया ॥

[शिवका गान सुनकर यशोदा कहती हैं—]

जो चाहो सो लीजिये राउर करौ आपनी दाया ।
देहु असीस मेरे या सुत को बाढ़े अविचल काया ॥
[शिव कहते हैं—]
ना हौं लैहौं पाट पटंबर, ना लैहौं कंचन माया ।
अपने सुत के दरस दिखावो जो मोय गुरुने बताया ॥
[यह सुनकर यशोदा विनय करती हैं—]
विनती करत हो हाथ जोड़ मैं सुन योगिन के राया ।
देखन न देहूँ तोहि दिगंबर, बालक जात दिठाया ॥
[शिव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं—]
जाकी दृष्टि सकल जग ऊपर सो क्यों जाय दिठाया ।
अलख पुरुष है मेरा स्वामी सो तैंने भवन छिपाया ॥

[अन्तमें यशोदा अपना आँचल हटा शिवको श्रीनाथजी और पलनेके ठाकुरजीके दर्शन कराती हैं । शिव श्रृंगीनाद करते हैं और सब जाते हैं । अब वल्लभाचार्य आरती करते हैं । आरतीके समय गान होता है ।]

रानी तेरो चिर जीयो गोपाल ।
बेगि बढ़ो बड़ होय विरह लट महरि मनोहर बाल ॥
उपजि पर्‌यो यह कूखि भाग्यबल समुद्र सीप जैसे लाल ।
सब गोकुल के प्रान जीवन धन, बैरिन के उर साल ॥
नाथ कितो जिय सुख पावत है, निरखत स्याम तमाल ।
रज आरज लाग्या मेरी अँखियन, रोग दोष जंजाल ॥
रानी तेरो० ॥

(यवनिका)

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—गोकुलमें ठकुरानीघाटपर वल्लभाचार्यकी बैठकका शयनागार ।

समय—रात्रिका तीसरा पहर ।

[शयनागारमें दीपकका मन्द प्रकाश है, जिससे शयनागार और उसकी कुछ वस्तुएँ दीख पड़ती हैं । शयनागारके तीन ओरकी भित्तियाँ स्वच्छ पुती हुई हैं, एक ओर एक चारपाईपर वल्लभाचार्य निद्रामग्न, उन्हींके निकट भूमिपर दामोदरदास हरसानी सो रहे हैं । पीछेकी भित्तिपर एकाएक प्रकाश फैलता है, उस प्रकाशमें श्रीनाथजीका स्वरूप दिखायी देता है । इसके सामने हाथ जोड़े नतमस्तक वल्लभाचार्य दीख पड़ते हैं । स्वरूप बोलता है ।]

स्वरूप—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार समस्त सृष्टिमें मेरे दर्शनके अनन्तर ब्रह्मवाद सिद्धान्तका प्रस्थापन कर अपने शुद्धाद्वैतवाले पुष्टिमार्गीय विद्वान् दार्शनिकोंके मनमें प्रतिष्ठित कर दिया । बिछुड़े जीवके लिये मुझे पुनः प्राप्त करनेका भक्ति ही है, यह भी सिद्ध कर दिया । वह भक्ति की हो तो यह भक्तिमार्ग और सरल हो जाता तुमने प्रियवल्लभ ! प्रतिपादित किया तथा उस के लिये मेरे आदेशानुसार गोवर्धनपर आ मुझे भी बैठाया । परंतु वल्लभ ! अब और आगे कहो

वल्लभाचार्य—क्यों प्रभो ! क्या गोवर्धन सेवामें कोई त्रुटि हो रही है ?

स्वरूप—नहीं, नहीं । मेरी सेवा सब प्रकार पाङ्ग है ।

वल्लभाचार्य—तब, नाथ !

स्वरूप—तुम्हारे सम्प्रदायके 'श्रीकृष्णः शरणं' अर्थ तो जीवका मेरे शरण आना ही है न !

वल्लभाचार्य—अवश्य ।

स्वरूप—तो प्रिय वल्लभ ! इस शरणकी व्याख्या आवश्यक है ।

वल्लभाचार्य—अर्थात् ।

स्वरूप—अर्थात्, यह कि मेरी लीलाके लिये जगत् है और जिसे तुम सत्य कहते हो, मेरी ही मायासे व्याप्त मेरा ही अंश यह जीव अपनेसे सम्बन्धित समस्त वस्तुओंका 'त्वदीयं तुभ्यमेव समर्पयेत्' उक्तिके अनुसार मुझे ही भगवद्गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण के लिये 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रके आगे एक व्याख्यावाले आत्मनिवेदनके मन्त्रकी आवश्यकता (कुछ रुककर) और·····और इसीके साथ आवश्यकता है ।

वल्लभाचार्य—वह क्या, प्रभो !

स्वरूप—मेरी लीलाके लिये जो यह सृष्टि है ऊँचा और कोई नीचा नहीं । खेलके लिये जड और चेतन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है सर्वश्रेष्ठ रचना मानव है । मानवोंमें यह जीव पुरुष नारीके रूपमें आता है और जाता है । अलग-

लिये भिन्न-भिन्न वर्णों और रूपोंमें उत्पन्न होता है । अतः मानवोंमें जो पुरुषोंका ऊँचा और नारियोंका नीचा स्थान माना जाता है, कुछ वर्णोंका ऊँचा और कुछ वर्णोंका नीचा स्थान समझा जाता है और नारियाँ तथा जो वर्ण नीचे माने जाते हैं, उन्हें जो वेदोंके अधिकारसे वञ्चित रक्खा गया है, यह भेदभाव तुम्हारी दीक्षाओंमें नहीं रहना चाहिये ।

[पीछेकी दीवालका सारा दृश्य लुप्त हो जाता है । चारपाईपर लेटे हुए वल्लभाचार्य हड़बड़ाकर उठते हैं और आँखें मलते हुए सामने सोये हुए दामोदरदास हरसानीको कहते हैं ।]

वल्लभाचार्य—दमला·····दमला !

दामोदरदास हरसानी—(हड़बड़ाकर उठते हुए) महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—कुछ सुना ?

दामोदरदास हरसानी—हाँ, महाप्रभु ! नींदमें ही कानमें कुछ भनक पड़ी ।

वल्लभाचार्य—कैसी ?

दामोदरदास हरसानी—आपका किसीसे कोई संवाद हो रहा था !

वल्लभाचार्य—किससे ?

दामोदरदास हरसानी—सो नहीं कह सकता !

वल्लभाचार्य—किस विषयपर ?

दामोदरदास हरसानी—यह भी नहीं समझा ।

वल्लभाचार्य—केवल भनक पड़ी, किससे संवाद हुआ था क्या, यह पता नहीं ?

दामोदरदास हरसानी—हाँ, कृपानाथ ! केवल कुछ भनक, परंतु समझा नहीं ।

वल्लभाचार्य—जैसी आज्ञा झारखण्डमें श्रीनाथजीने प्रकट होकर अपने स्वरूपको प्रकटा पाट बिठानेकी दी थी वैसी ही दूसरी आज्ञा हुई 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रकी विशद और व्यापक व्याख्या करनेके लिये आत्मनिवेदनके मन्त्रकी ।

दामोदरदास हरसानी—धन्य हैं, आप महाप्रभु ! और किसके कारण धन्य हो जायगी यह समस्त सृष्टि ।

वल्लभाचार्य—और·····और, दमला ! एक आज्ञा हुई है !

दामोदरदास हरसानी—वह कौन-सी नाथ !

वल्लभाचार्य—मानव-मानवमें कोई विभेद न रखनेकी । पुरुषों और स्त्रियों तथा समस्त वर्णोंको समान अधिकार देनेकी ।

दामोदरदास हरसानी—मैंने कहा न, कृपानाथ ! यह समस्त सृष्टि आपके कारण धन्य हो जायगी । आजतक किस आचार्यने भेदरहित समान दीक्षाका प्रतिपादन किया था ?

वल्लभाचार्य—परंतु, दमला ! मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवद्-आज्ञासे ।

दामोदरदास हरसानी—यही तो इस सोनेमें सुगन्धका कारण है ।

वल्लभाचार्य—अब मैं इस आत्मनिवेदनके मन्त्रका निर्माण करूँगा, इसका नाम होगा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र और जानते हो इसकी दीक्षा सर्वप्रथम किसे दी जायगी ?

दामोदरदास हरसानी—कौन वह बड़भागी है, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य—किसी उच्चवर्णके ब्राह्मणको नहीं ।

दामोदरदास हरसानी—तब ?

वल्लभाचार्य—तुम्हें दूँगा, तुम्हें ! श्रीनाथजीके सांनिध्यमें ।

दामोदरदास हरसानी—(गद्गद स्वरसे) मैं·····मैं ऐसा भाग्यशाली !

वल्लभाचार्य—मैंने अनेक बार कहा नहीं दमला ! यह पुष्टिमार्ग मैंने तेरे लिये प्रकट किया है ।

[नेपथ्यमें गानकी ध्वनि आती है ।]

वल्लभाचार्य—उषःकाल हो रहा है, ये नये कीर्तनियाँ सूरका स्वर है ।

दामोदरदास हरसानी—इस सूरमें तो विलक्षण प्रतिभा है, कृपानाथ !

वल्लभाचार्य—क्या पूछना है । (कुछ कहकर) सुनो, थोड़ा ध्यानसे सुनो, सूर क्या गा रहे हैं ?

[नेपथ्यका गान स्पष्ट होता है]

भज सखि भाव भाविक देव ।
कोटि साधन करौ कोऊ, तौ उन मानै सेव ॥
धूमकेतु कुमार माँग्यो कौन मारग नीति ।
पुरुष तैं त्रिय भाव उपज्यो, सबै उलटी रीति ॥
बसन भूषन पलट पहरे, भाव सौं संजोय ।
उलट मुद्रा दई अंकन, बरन सूधे होय ॥
बेद विधि को नैम नाहीं, प्रीति की पहचान ।
ब्रज बधू बस किये मोहन, सूर चतुर सुजान ॥
भज सखि ॥

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर।

समय—प्रातःकाल।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा दूसरे अङ्कका तीसरा दृश्य था। श्रीनाथजीके मन्दिरके पट इस समय बंद हैं। दृश्य खुलते ही पट खुलते हैं और श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं। श्रीनाथजीके स्वरूपका वैसा ही गुंजा और मोरपंखका शृङ्गार है जैसा दूसरे अङ्कके तीसरे दृश्यमें था। पट खुलते ही वल्लभाचार्य और दामोदरदास हरसानी आते हैं और श्रीनाथजीको दण्डवत् करते हैं। इसके पश्चात् वल्लभाचार्य दामोदरदास हरसानीको संकेतसे हाथ धोनेकी आज्ञा देते हैं। हरसानीके हाथ धोनेके पश्चात् वल्लभाचार्य उन्हें बैठनेका संकेत करते हैं। हरसानी बैठ जाते हैं। हरसानीके बैठनेके पश्चात् वल्लभाचार्य उन्हें तुलसीदल हाथमें देते हैं और मन्त्र बोलते हैं, जिसे हरसानी दुहराते हैं। वल्लभाचार्यका स्वर धीमा होनेके कारण सुनायी नहीं देता, पर हरसानीका सुन पड़ता है।]

दामोदरदास हरसानी—अनन्त वर्षोंसे मैं आपसे विलग हूँ। इस विरहकी वेदनाके कारण जिस ताप और क्लेशका मुझे अनुभव होना चाहिये एवं आपके स्वरूप-प्राप्ति-सम्बन्धी जिस आनन्दका, इन दोनों अनुभवोंसे मैं वञ्चित हूँ। सांसारिक ताप और क्लेश तथा सांसारिक आनन्दसे मैं परिप्लावित हूँ, अतः सच्चे ताप एवं क्लेशकी और सच्चे आनन्दकी अनुभूतिके लिये हे भगवान् कृष्ण! मैं आपको देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण और इनके धर्म तथा स्त्री, गृह, पुत्र, अपने इष्ट-मित्र, सम्बन्धी एवं धन, इहलोक, परलोक, इन सबको अपनी आत्माके साथ समर्पित करता हूँ। हे प्रभो! मैं आपका दास हूँ, आपका हूँ, आपका हूँ, आपका हूँ।

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर।

समय—रात्रि।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा दूसरे अङ्कका तीसरा और इस अङ्कका दूसरा दृश्य था। मन्दिरके बाहरकी खुली जगहमें एक ओर सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास और कृष्णदास कीर्तनियोंके रूपमें बैठे हैं। चारों प्रौढ़ हैं, वेश-भूषा चारोंकी एक-सी। ऊपरके अंगपर बगलबंदी, नीचेके अंगपर धोती, सिरपर व्रजवासियोंका छोटा टोपा और ललाटपर वल्लभसम्प्रदायका लाल कुमकुमाका तिलक, जिसके बीचमें गोपीचन्दनके श्वेत छापे। सूरदासजीके चारों कीर्तनियोंके पीछे उनके साथी वाद्य-वादक हैं। [illegible] की जगहका कुछ भाग छोड़ शेष भागमें मन्दिर[illegible] किये दर्शनार्थी बैठे हैं। इनमें नर-नारियाँ दोनों [illegible] दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधोभट्ट [illegible] दास छकड़ा, यादवेन्द्रदास कुम्हार, सद्दू पाँड़े आदि भी [illegible] मन्दिरके पट बंद हैं। आकाशमें पूर्णचन्द्र [illegible] प्रकाशसे सारा दृश्य आलोकित है। दृश्य खुलते ही [illegible] खुल श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं। शरत्पूर्णिमा [illegible] श्रीनाथजीके वस्त्र श्वेत हैं। पट खुलते ही सूर[illegible] आरम्भ होता है और मन्दिरके सामनेकी खुली जगहमें [illegible]

घोष नागरी मंडल मध्य नाचत गिरधारी [illegible]
लेत गति अनेक भाँति चरन [illegible]
गिडगिडता गिडगिडता ताता तत तत [illegible]
थेई थेई बीच बीच अधर मधुर मुरलि[illegible]
भुज सों भुज जोर जोर लेत तान नवकि[illegible]
गावत श्रीराग मिल श्रीव[illegible]
सूरदास प्रभु सुजान नंद नंदन कुँवर [illegible]
मदन मोहन छबि निरखत काम [illegible]

[सूरदासके गानके पश्चात् परमानन्ददास, कुं[illegible] कृष्णदासके गान होते हैं और इन गायकोंकी भाव[illegible] हावभावपूर्ण रास चलता रहता है।]

नर्तत मंडल मध्य नंदलाल।
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर गुंज [illegible]
ताल मृदंग संगीत बजत, ततथेई बोल[illegible]
उरप तिरप तान लेत नटनागर गंधर्व गुनि [illegible]
बाम भाग बृषभान नंदिनी गजगति मंद [illegible]
परमानंद प्रभुकी छबि निरखत मेटत उरके [illegible]
चलहु राधिके सुजान तेरे हित गुन निधान [illegible]
कान्ह तट [illegible]
नर्तत जुवती समूह रास रंग अति कौतूह बाजत रस [illegible]

बंसी बट निकट जहाँ परम रमन भूमि तहाँ सकल [illegible]
मलय [illegible]
जाती ईषद विकास कानन अतिशय सुवास, [illegible]
मास [illegible]
कुंभनदास प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि [illegible]
सीम [illegible]

लसो भुज ग्रीव मेलि भामिनी सुख सिंधु झेलि गोवर्द्धन धरन
केलि जगत बंदिनी ॥

× × ×

रास विलास रच्यो नागर नट ।
र मंडल नर्तत ब्रज बनिता, नवल निकुंज सुभग जमुनातट ॥
पजत तान बँधान सप्त स्वर बाजत ताल मृदंग बीन रट ।
नमुख है नाचत पिय प्यारी, लेत सुधंग चाल गति अटपट ॥
सिक बिहार निरख ससि हार्यो, सरद निसा भूल्यो अपनी अट ।
ष्णदास गिरधर श्रीराधा, राजत मेघ मानौ दामिनि घट ॥

[चौथे गानके समाप्त होते ही रास बंद हो जाता है । फिर-सूरदासजीका कीर्तन आरम्भ होता है और इस कीर्तनके अन्तिम चरणके गाये जाते समय वल्लभाचार्य आकर श्रीनाथजीकी आरती करते हैं—]

नटवर गति नृत्यत हैं, भक्तन उर परसत हैं,
पुलकित तन हरषत हैं, रासमें लाल बिहारी ।
बाजत ताल मृदंग उपंग बाँसुरी बीना स्वर तरंग
ग्रग्रता ग्रग्रता थुंग थुंग लेत छंद भारी ॥
काटि काछिनी पीत सुरंग मोर मुकुट अति सुधंग
राख्यो अर्धभाग ललित सीस पेच सँवारी ॥
आरति वारत जसोदा माय लेत कंठ उर लगाय
देखत सुर नर मुनि और रामदास बलिहारी ॥

(यवनिका)

हमारा पतन

(लेखक— पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

निःसंदेह इसमें किसीका भी मत-भेद न होगा कि त्रोंमें दुराचारकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, यानी भावी रत दुराचारी हो रहा है । दुराचार याने राष्ट्रका न ! किसी भी राष्ट्रका इतिहास देख लीजिये— राचारके बलपर अभ्युदय और दुराचारसे पतन दिखायी । जो बात व्यक्तिके लिये है, वही राष्ट्रके लिये । क्तियोंकी समष्टि ही तो राष्ट्र है न !

यों राष्ट्र पतनकी ओर जा रहा है और हम ढोल कर विज्ञापन कर रहे हैं कि राष्ट्रकी उन्नति हो रही ! बढ़िया सड़कें और विनोद-गृह हमें बचा न लेंगे, दुराचार जर्जरताकी स्थितिमें एक भी दुर्दैवका ा लग जायगा ! हमें ये चमचमाती बढ़िया सड़कें जगमगाते भवन न बचा लेंगे । खतरेसे सावधान ना ही राजनीति है ।

अनुशासनहीनता ?

परंतु आज हम दुराचारका निरोध कैसे हो, यह सोचकर केवल 'अनुशासन-हीनता' की बात करते लोग बड़े चिन्तित हैं कि छात्र अनुशासन-हीन होते जा रहे हैं ! मतलब इतना कि छात्र चाहे जो करें, हमें मतलब नहीं; केवल शिक्षा-संस्थाओंके संचालनमें गड़बड़ी न डालें और संचालकोंकी व्यवस्थामें बाधा न दें ! परंतु यह भूल जाते हैं कि अनुशासन भी सदाचारका एक अङ्ग है । यह नहीं हो सकता कि विविध दुराचारोंमें फँसे हुए छात्र अनुशासनका आदर करें । वे तभीतक अनुशासन मान सकते हैं, जबतक उनकी मौज-बहारमें कोई रुकावट न पैदा की जाय । किसी छात्रावासका व्यवस्थापक यदि आँखें दूसरी ओर कर देता है, तब तो ठीक; किंतु यदि उसने जरा भी बाधा दी तो उसकी खैर नहीं । यही हाल अध्यापकोंका और प्रधानाध्यापकोंका है । तब अनुशासन कैसे रहे ?

दुराचारके अनन्त रूप हैं । परीक्षाओंमें जो छल-बल चल रहा है और जिसके कारण कई कितने ही अध्यापक प्रतिवर्ष बुरी तरह अपमानित किये जाते हैं, वह भी एक दुराचार है; परंतु इस तरहके दुराचारोंका मूल कारण विलासिता है, जो सिनेमाओं और सह-शिक्षाके कुप्रभावका दुष्परिणाम है । अब एक और

चीज सामने आ रही है। प्रति वर्ष नई दिल्लीमें, देश भरसे, सहस्रोंकी संख्यामें प्रौढ़ छात्र-छात्राओंको इकट्ठा किया जाता है। ये सब साथ-साथ रहकर मौज करते हैं, आनन्द लेते हैं। खूब नृत्य-सङ्गीत चलता है। एक छात्राने एक छात्रको सार्वजनिक रूपसे केवल इसलिये धन्यवाद दिया कि उसकी नाकको इसने 'बहुत सुन्दर' कह दिया था। सन् १९५५ के जमघटका वर्णन करते हुए दिल्लीके एक प्रतिष्ठित समाचार-पत्रने लिखा था—'तालकटोरेपर इस समय जीवन थिरक रहा है। छात्राएँ अपने दकियानूसी माता-पिताओंकी आँखोंसे दूर हटकर यहाँ इस समय जीवनका प्रतिक्षण आनन्द ले रही हैं!' स्थितिकी कल्पना कीजिये! ये छात्र-छात्राएँ हैं, जिनसे अनुशासनमें रहनेकी अपील नेतालोग अपने भाषणोंमें करते हैं! आगमें मिट्टीका तेल उड़ेलते हैं और फिर कहते हैं कि आगको भड़कना न चाहिये।

सो, गंदे उपन्यास, गंदे सिनेमा, सहशिक्षा और विशेषतः ये विलास-यात्राएँ छात्र-छात्राओंको कुमार्गकी ओर ले जाते हैं। ऐसे साँचेमें ढले छात्रोंको फिर अनुशासनमें रखना कैसे सम्भव है? दूसरे देशोंकी पूरी-की-पूरी नकल हमें डुबो देगी, इसमें संदेह नहीं। यह भारतवर्ष है। यहाँकी अपनी परम्परा है, अपनी पद्धति है। उस पद्धतिका आधार संयम और सदाचार है। उसकी उपेक्षा करके आप अनुशासनमें छात्रोंको नहीं रख सकते।

शिक्षकोंका प्रभाव

शिक्षा-संस्थाओंमें शिक्षकोंका भी कोई अच्छा प्रभाव छात्रोंपर नहीं पड़ता। यह बात अंग्रेजी राज्यके समयसे ही चली आ रही है कि नियुक्तिके समय केवल सार्टिफिकेट-डिप्लोमा देखे जाते हैं, 'पास' होनेकी श्रेणी देखी जाती है, पढ़ानेका अनुभव देखा जाता है और बस! यह नहीं देखा जाता कि इसका आचरण कैसा है श्रेणीका एम्० ए० चाहिये, चाहे फिर वह आचरणका क्यों न हो! कहते हैं—'हमें व्यक्तिगत जीवनसे क्या मतलब!' ऐसे शिक्षक सदाचारी बनायेंगे? ये लोग धनी-मानी लोगोंके को जान-बूझकर कुमार्गमें फँसाते हैं कि अपना बनेगा। मैं जानता हूँ—पचीस वर्षतक अध्या किया है—शराबी शिक्षकोंने न जाने कितने शराबी बना दिया। इसके साथ सभी कुछ शिक्षक 'पापुलर' कहलाते हैं।

कौन बोले? ये 'शिक्षक' भी इन्हीं भूतों हैं! परम्परा चल रही है। कोई छात्र अपनेको रहे, यह भाग्यकी बात। अच्छे अध्यापक चुप देखते रहते हैं। बोल नहीं सकते। बोलें, जायँ और अपनी दुर्गति करा लें। सम्भव है शिक्षकोंमें कोई कुछ वैसे निकल भी आयें, होता क्या है? अपनी दुर्गति और करा लेंगे। 'सुधार' का शिकार हूँ।

हरिद्वारके हाई स्कूलमें संस्कृतका अध्या कुछ बड़े और 'नामी' लड़के कुछ छोटे लेकर निकल गये। घण्टों नहरके किनारे जङ्ग मारे फिरते रहे, न जाने क्या करते रहे। बात थी; परंतु मेरे 'पीरियड' में भी एक दिन रहे। मुझे मौका मिल गया। बहुत दिनसे था। मैंने बड़े लड़कोंको तो डाँट-फटकार दिया; परंतु छोटे लड़कोंके हाथोंपर पतली मार भी लगायी और यह कहलाकर छोड़ा आगे फिर कभी ऐसा न होगा।'

पढ़ाई-लिखाईके बारेमें कभी भी छड़ीसे नहीं लिया; जब कि दूसरे सभी अध्यापक छात्रोंको ठोंकते-पीटते थे और आज भी यह

है; परंतु मेरी उस एक दिनकी छड़ी ही आफत बन गयी ! शोर मच गया—'वाजपेयीने छात्रोंको छड़ीसे मारा !' बात यहाँतक बढ़ी कि म्यूनि० बोर्डके अंग्रेज अध्यक्ष मि० कुक तक शिकायत पहुँची और उसने मुझे नौकरीसे निकाल दिया। यह बात सन् १९३९ की है। इस घटनाने मेरी आँखें खोल दीं। मैंने सोचा, अंग्रेजी राज्यमें सुधार होना कठिन है। अध्यापकीसे मन हट गया। सोचा, न आँखों कुछ देखूँगा, न जलन पैदा होगी। तबसे ऐसे ही कुछ लिख-पढ़कर काम चला रहा हूँ।

परंतु स्वराज्य आनेपर वह दशा बदसे बदतर होती जा रही है। हद हो गयी है। क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, एक बात मैं कह सकता हूँ। सरकार यदि चाहे, तो सब कुछ हो सकता है—'राजा कालस्य कारणम्।' शासन समयको, युगको, बदल सकता है। गंदे सिनेमा एक हुक्मसे बंद हो सकते हैं; गंदे उपन्यास रातोंरात भट्ठीमें जलाये जा सकते हैं और अच्छे सदाचारी अध्यापक रक्खे जा सकते हैं; दूसरी तरहके अध्यापकोंको भी बदला जा सकता है। रोटीका डर सबको भला बना सकता है।

परंतु सरकार वैसा कुछ क्यों नहीं करती ? इसका उत्तर मैं क्या दूँ ! एक बात बड़े जोरसे मैं कह सकता हूँ कि आपका अनुशासन तबतक नहीं जम सकता, जबतक छात्रोंमें सदाचारके सभी अङ्गोंकी प्रतिष्ठा न हो जायगी।

भोजनमें महान् ईश्वरीय शक्तिका प्रवेश कीजिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

अर्थात् शुद्ध आहार ग्रहण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःशुद्धिसे स्मृतिरूप ध्यान निश्चल हो जाता है और निश्चल ध्यानकी सिद्धिसे तप-यज्ञ सिद्ध होता है।

जो भोजन हम खाते हैं, केवल उसीके द्वारा हमारे शरीरका पोषण और नव निर्माण नहीं होता, प्रत्युत भोजन करते समय हमारी जो मनःस्थिति होती है, हमारा मन जैसे सूक्ष्म प्रभाव फेंकता है और जिन संस्कारों या वातावरणमें हम भोजन ग्रहण करते हैं, मनोभाव, विचार एवं भावनाएँ अलक्षित रूपमें भोजन और जलके साथ हम ग्रहण करते हैं, वे हमारे शरीरमें जाते और मांस-रक्त-मज्जा आदिका निर्माण करते हैं। अतः भोजन करते समय हमारे कैसे विचार और भावनाएँ हैं, इस तत्त्वपर हिंदू-शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व दान किया गया है। भोजन करते समयकी आन्तरिक मनःस्थितिकी स्वच्छता आवश्यक मानी गयी है। जैसी अच्छी-बुरी हमारी मनःस्थिति होगी, उसका वैसा ही प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ेगा।

स्मरण रखिये, उत्तम-से-उत्तम भोजन दूषित मनःस्थितिसे विकार और विषमय हो सकता है। क्रोध, उद्वेग, चिन्ता, चिड़चिड़ापन, आवेश आदिकी उद्विग्न मनःस्थितियोंमें किया हुआ भोजन विषैला हो जाता है। पुष्ट करनेके स्थानपर उलटा शरीरको हानि पहुँचाता और पाचन-क्रियाको विकारमय कर देता है। क्रोधकी स्थितिका भोजन न ठीक तरह चबाया जाता है, न उचित रीतिसे पचता ही है। इसी प्रकार चिन्तित मनःस्थितिका भोजन नसोंमें घाव उत्पन्न कर देता है। हमारी कोमल पाचन नलिकाएँ शिथिल हो जाती हैं। इसके विपरीत प्रफुल्ल मुद्रा एवं शान्त मनोऽवस्थामें खाया हुआ अन्न हास्य तथा प्रसन्नताके वातावरणमें

लिया हुआ भोजन शरीर और मनके स्वास्थ्यपर जादू-जैसा गुणकारी प्रभाव डालता है। अन्तःकरणकी शान्त सुखद वृत्तिमें किये हुए भोजनके साथ-साथ हम प्रसन्नता, सुख-शान्ति और उत्साहकी स्वस्थ भावनाएँ भी खाते हैं, जिसका स्वास्थ्यप्रद प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है। आनन्द एवं प्रफुल्लता ईश्वरीय गुण हैं, क्लेश, चिन्ता, उद्वेग आसुरी प्रवृत्तियाँ। इन दोनों प्रकारकी चित्तवृत्तियोंके अनुसार ही हमारा दैनिक भोजन दैवी या आसुरी गुणोंसे युक्त बनता है।

क्या तुमने ध्यानसे देखा है कि हँसते-हँसते दूध पीनेवाला प्रशान्त, निर्दोष शिशु किस सरलतासे साधारण-सा दूध और मामूली अन्न खा-पचाकर कैसा मोटा-ताज़ा, सुडौल, सात्त्विक और निर्विकार बनता जाता है। उसके मुख-मण्डलपर सरलता खेलती है। उसी प्रकार निर्दोष, शान्त, प्रफुल्ल, निर्विकार वृत्तिसे आनन्दपूर्वक किया हुआ भोजन हमारे शरीरको आनन्द, आरोग्य और स्वास्थ्य दे सकता है।

हमारे जीवनके विकासके साथ-साथ हमारे गुप्त मनका भी विकास चलता रहता है और गुप्त मन हमारे शरीरमें अज्ञात रूपसे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ किया करता है। इन प्रतिक्रियाओंका प्रभाव निरन्तर चलता रहता है। पोषण, रुधिराभिसरण, मलविसर्जन, नवनिर्माण, नूतन शक्तिका उत्पादन आदि सभी कार्य-व्यापार अन्तर्मनसे होते रहते हैं।

सुन्दर स्वास्थ्यके लिये प्रथम आवश्यक तत्त्व है निर्लेप, भव्य और उत्तम मनःस्थिति। भव्य मनःस्थितिके बिना उन्नत स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता। क्लान्त, भयपूर्ण या उद्विग्न मनःस्थितियोंमें भोजन करना रोग, शोकको निमन्त्रण देना है।

थियोसोफिकल सोसाइटीके प्रसिद्ध नेता महात्मा लेडबीटरने 'वस्तुकी आन्तरिक दशा' नामक एक बहुत ही खोजपूर्ण पुस्तक इस विषयपर लिखी है। उन्होंने एक स्थलपर लिखा है, 'जो कुछ भोजन हैं, वह पाचनके उपरान्त शरीरका एक भाग है। उस भोजनपर जिस प्रकारके सूक्ष्म प्रभाव जाते हैं, वे भी हमारे शरीरमें बस जाते खाद्य वस्तुओंकी केवल बाहरी सफाईपर किंतु वे यह भूल जाते हैं कि बाहरी सफा देना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक उसकी आन्तरिक स्वच्छतापर ध्यान देना है।

भारतवर्षमें भोजनकी आन्तरिक स्वच्छता महत्त्व दिया जाता है। हिंदूलोग अ विचारके लोगोंके हाथका बना हुआ या बैठकर खाना इसलिये नापसंद करते हैं कि हीन विचारोंसे प्रभावित होनेसे भोजनकी पवि रहेगी। विलायतमें लोग बाहरी सफाईको समझते हैं। वे नहीं जानते कि केवल भोज्यपदार्थ उत्तम गुणवाले नहीं बन जाते।

भोजनपर सर्वप्रथम तो बनानेवाले व्यक्ति प्रभाव पड़ता है। अतृप्त, भूखा, लालची निम्न जातिका या गंदा रसोइया अपने भोजनको दूषित कर देता है। एक तो वह वस्त्रोंसे स्वच्छ नहीं होता और उसके शरीर अस्वच्छता ही भोजनको दूषित कर देती है उसकी लालची मनोवृत्ति, स्वयं भोजन ग्रह इच्छा निरन्तर भोजनपर विषैला प्रभाव डाला बाजारू भोजन, दूकानोंपर बिकनेवाली नमकीन, दूध इत्यादिपर असंख्य अतृप्त भूखे लुब्ध दृष्टियाँ पड़कर उन्हें दूषित बना देती वे न पचती हैं, न शरीरको ही लाभ पहुँ होटलोंमें रसोइया या परोसनेवाले व्यक्ति सहानुभूतिशून्य बन जाते हैं। अतः भोजनसे कोई लाभ नहीं।

सावधान रहिये, भोजन सात्त्विक वृत्तिके व्यक्तिका बनाया हुआ हो। वह तृप्त तथा स्वच्छ हो। निर्विकार हो अर्थात् रोगी न हो। वह स्नान कर, शरीरको स्वच्छ कर स्वच्छ वस्त्र धारण किये रहे और प्रेमपूर्ण मनःस्थिति-में भोजन तैयार करे। माता, पत्नी, बहिनोंके द्वारा बनाये हुए भोजनमें प्रायः ये शुभ वृत्तियाँ मिल जाती हैं।

भोजन स्वच्छ स्थानपर शान्तिपूर्वक प्रसन्न मुद्रासे ग्रहण करें। जो कुछ रूखा-सूखा प्राप्त हुआ है, उसे भगवान्‌का प्रसाद मानकर ग्रहण करें। भोजन जब सामने आये, तब नेत्र मूँद ईश्वरीय चिन्तन करते हुए धीरे-धीरे यह मन्त्र उच्चारण करें—

'तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः।'

(वेद)

अर्थात् हे अन्न! तुम (तेज) वीर्य हो। तुम उत्साह हो। तुम बल हो। तुम दीप्ति हो। तुम ही चराचर विश्वरूप हो। तुम ही विश्वके जीवन हो।

'ॐ द्यौस्त्वा परिददातु ॐ पृथिवी त्वा गृह्णातु।'

अर्थात् हे अन्न! आकाश तुझे देता है और पृथ्वी तुझे ग्रहण करती है।

'ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः प्र प्रदातारं तारिष उर्जन्नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।'

अर्थात् हे अन्नपते अग्ने! इस यज्ञका भाग हमें दीजिये। यह अन्न (जो हम ग्रहण कर रहे हैं) नीरोग और बलयुक्त हो। हे अन्नपते! हमारे परिवारके लिये और गौ आदि पशुओंके लिये बलकारी अन्न दो।

'अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।'

अर्थात् अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वर देव हैं।

इस प्रकार मनमें शुभ भाव धारण कर ब्रह्मार्पण करके जो भोजन किया जाता है, वह मनमें शुद्ध, सात्त्विक संस्कार उत्पन्न करता है। ईश्वरत्वके तत्त्वोंका समावेश करनेसे साधारण रूखा-सूखा भोजन भी आश्चर्य-जनक शक्ति उत्पन्न करता है। ईश्वरीय वातावरण तथा मनमें सात्त्विक मनोभाव रखनेसे शुद्ध रक्त और पौष्टिक तत्त्व चारों ओर पहुँचता रहता है। यदि ईश्वरीय चिन्तन साथ है तो रूखे-सूखे भोजनमें ही सुख है, आनन्द है और सब कुछ है।

आत्मोत्सर्ग

अमृत-पद

(कीर्तन-ध्वनि)

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्-टी०)

बोलो सब प्रेम सहित बोलो राधे कृष्ण राधे कृष्ण।
रसनासे अमृत-रस घोलो राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
मिल जाओ प्रभो! मिट जाऊँ मैं, काया न रहे, माया न रहे।
'मैं' 'तू' न रहे, तुमही तुम हो, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
बन्धन न रहे, तन-मन न रहे, कूटस्थ सनातन बन जाऊँ।
मैं तुममें रमूँ, तुम मुझमें रमो, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
मिलना न रहे तुमसे मिलकर, करना न रहे कुछ शेष मुझे।
उस आत्मानन्दका अनुभव हो राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
तुम पारस हो, चिन्तामणि हो, मैं विषयानल संतप्त प्रभो।
अपना-सा कर लो बेकलको, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥

संत स्पिनोज़ा

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-ला, विद्यावारिधि)

बरूच डी स्पिनोज़ाकी गणना उन संतोंकी श्रेणीमें होने योग्य है, जिनके लिये भर्तृहरिकी उक्ति 'सन्ति सन्तः कियन्तः' सार्थक होती है। उनके पिता पुर्तगालके यहूदी थे और हौलेंडके एमस्टर्डम नामक नगरमें आ बसे थे। इसी नगरमें सन् १६३२में स्पिनोज़ाका जन्म हुआ। उनका निधन १६७७ में हुआ। यद्यपि उनके समयमें गेलीलियो और न्यूटनके भौतिकवादका प्रसार था, तथापि उन्होंने निज दर्शन-शास्त्रद्वारा प्राज्ञ पुरुषों-को प्रभु-प्रेमका पीयूष पिलाकर विमुग्ध कर डाला। वास्तवमें वे 'साँईके सुरंग राते' थे, अतएव कैथोलिक कवि और दार्शनिक नोवालिस (Novalis) उन्हें 'The God-intoxicated man' अर्थात् प्रभुका मतवाला मनुष्य कहा करता था।

निज धर्मग्रन्थोंका अध्ययन करनेके बाद वे अपने स्वतन्त्र विचारद्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचे कि सत्ता एक ही है और वह ईश्वरीय सत्ता है। श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतके सदृश वे चित् या जीव (thought) और अचित् या जड (extinsion) को इसी सत्ताके गुण (attributes) मानते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त-का ऐसी अकाट्य युक्तियों और निर्भीकतासे प्रतिपादन किया कि यहूदी धर्माचार्योंके आसन डगमगा उठे। उन्हें यह प्रलोभन दिया गया कि यदि वे प्रकटरूपसे यहूदी-धर्मके मतका खण्डन न करें तो उन्हें प्रतिवर्ष विपुल द्रव्य दिया जाता रहेगा। पर सत्यके उस पुजारीने इस प्रस्तावको ठुकरा दिया। फिर उन्हें मार डालनेकी धमकी दी गयी और वह कार्यमें इस प्रकार परिणत हुई कि एक दिन जब वे शामको घर लौट रहे थे किसी धर्मान्ध यहूदीने उनकी गर्दनपर छुरेसे आक्रमण किया। उस वारसे छुरा उनके कोटको फाड़ता हुआ चमड़ीपर खरोंट लगा सका। जब ये प्रयास विफल हो यहूदी जातिसे सविधि बहिष्कृत कर दिये गये के आश्रयसे वे विहीन हो गये और घरसे निकाले गये। पर वे अपने सिद्धान्तपर अटल रहे। 'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'

गृहहीन और बन्धुविहीन वे अपना समय चिन्तनमें बिताने लगे। उस अवस्थाका वर्णन अपने एक मित्रके पत्रमें इस प्रकार किया अपने दिन आहें भरने और शोक करनेके शान्ति, चिन्तन और आनन्दमें बिता रहा प्रतिकूल परिस्थिति समझा जाता है, वही इतनी अनुकूल सिद्ध हुई कि उन्होंने ग्रन्थोंकी रचना कर डाली, जिनमें नीतिशास्त्र का प्रमुख स्थान है। फ्रांसके तत्कालीन साहित्यकार अनातोले फ्रांस कहा करते थे नेपोलियनमें स्पिनोज़ा-सरीखी क्षमता होती कारागारके कालमें चार पुस्तकें लिख डालते।

स्पिनोज़ाके रहन-सहनकी सादगी देखकर पुरुष मुग्ध हो जाते थे। जिस प्रकार वैशेषिक के रचयिता महर्षि कणाद खेतोंमेंसे कण-कण कर अपना निर्वाह कर लेते थे, उसी प्रकार आदि यन्त्रोंके लिये काच तैयार कर अपने संतुष्ट रहते थे। उनका प्रतिदिनका भोजन चार आनेसे अधिक नहीं होता था। किसी दावतमें अनेक व्यंजनोंका आस्वादन करनेके अपने सादा भोजनको ही पसंद करते थे। जैसी कमाई होती थी, उसीसे सारा खर्च किसी कविकी उक्ति कि 'जब आवत सब धन धूलि समान' उनके जीवनमें चरितार्थ

एक बार उनका साइमननामक धनिक शिष्य उन्हें क सहस्र स्वर्णमुद्राएँ भेंटमें देने लगा। इस भेंटको विनय अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि मुझे धन हीं चाहिये, क्योंकि वह मेरा मन विकृत कर देगा। र वह भी ऐसा गुरुभक्त था कि उसने अपनी सारी पुल सम्पत्तिकी वसीयत उनके नाम कर डाली। यह माचार मिलते ही वे शिष्यके पास पहुँचे और उसे मझाकर उसके सहोदरके नाम वसीयत करवाकर अपने मकी वसीयतको फाड़ डाला। जब उनकी बहिनोंने ताकी सम्पत्तिसे उन्हें वञ्चित करना चाहा तो न्यायालय-निर्णय उनके पक्षमें हो चुकनेके बाद उन्होंने अपने गको उन्हें उपहारमें देकर उदारताका ज्वलन्त उदाहरण स्थित किया।

उनके स्वतन्त्र विचार और पावन जीवन-चर्याकी र्चा सर्वत्र फैलने लगी। फ्रांसके महान् सम्राट् चौदहवें उन्हें बहुत बड़ी पेन्शन इस शर्तपर देने कि वे अपने अगले ग्रन्थको उनके नामपर समर्पित , पर स्पिनोज़ाने ऐसा करना सविनय अस्वीकार कर या। कारण यह था कि वे अपने किसी ग्रन्थकी गरिमा-द्रव्यके सम्पर्कसे दूर ही रखना चाहते थे। वे तो द्रनारायणके सच्चे पुजारी थे।

विचारोंकी वेदीपर वे सर्वस्व बलि देनेको सदा कटि-रहते थे। सन् १६७३ में हीडलवर्ग विश्वविद्यालयके नाचार्यका आसन उन्हें दिया जाने लगा, पर शर्त थी कि राज्यके धार्मिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें वे कोई न कहें। विचार-स्वतन्त्रतामें बाधा उपस्थित होनेकी शंकासे इस महान् पदको वे स्वीकार न कर सके और नी असमर्थता प्रकट करते हुए लिखा कि इस समय जो स्थान प्राप्त है, उससे, बढ़कर अन्य कोई पद मुझे ारमें दिखायी नहीं देता और अपने ही विचारोंमें मुझे जो शान्ति प्राप्त है, वह मुझे और किसी जगह नहीं मिल सकती।

संत स्पिनोज़ा कथनी और करनी दोनोंके धनी थे। जैसे उच्च उनके विचार थे, वैसे ही पवित्र उनके कार्य थे। ऐसे महान् पुरुषका प्रभाव यूरोपमें व्यापक होना स्वाभाविक था। उनके अद्वैतवाद या ईश्वरवादने अनेक विचारवान् पुरुषोंको प्रेरणा प्रदान की। उनके इस सिद्धान्तने कि 'ईश्वर ही सब कुछ है और जो कुछ है वह सब ईश्वरमय है, सारे यूरोपमें हलचल मचा दी।' जर्मन कवि लेसिंगका वचन है कि स्पिनोज़ाके दर्शन-शास्त्रके सिवा अन्य कोई दर्शन नहीं है और प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) कहता है कि स्पिनोज़ामें मुझे वह दर्शन देखनेको मिला जिसके लिये मेरा मन बरसों-से प्यासा था। प्रकाण्ड जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) तो यहाँतक कहता है कि तत्त्वविद् बननेके लिये प्रथम स्पिनोज़ाके दर्शनका अनुशीलन करना अनिवार्य है। इंग्लैंडके कवि कोलरिज, वर्डस्वर्थ और शैलेके काव्योंमें स्पिनोज़ाके अद्वैतवादकी झलक है। दो सौ वर्ष बाद जब हेंगमें उनका स्मारक बनाया गया तो संसारके प्रत्येक भागसे चन्दा प्राप्त हुआ और उस समयके प्रमुख भाषणके अन्तिम शब्द ये थे कि यदि किसीको ईश्वरका सत्यतम दर्शन मिला तो इस महात्माको प्राप्त हुआ। कविका निम्न कवित्त इस संतपर कितना फबता है—

छोडे सुत नारी तात मात भ्रात गोत नात,
झूठ ना सोहात बात कै बिबेक बोलहीं।
काम क्रोध बोध भये, सील व संतोष लये,
कर्मबीज भूँजि बोये, कायामें कलोलहीं॥
धरनी सुहाते हिये साँईके सुरंग राते,
राव रंक ते निसंक तौलि तौलि बोलहीं।
काहू ते न शत्रुता न काहू ते सनेह नेह,
प्रभुके पियारे ते निरारे पंथ डोलहीं॥

तीर्थयात्रा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'भगवन् ! हमलोग आज कहाँ हैं ?' एक काषाय-वस्त्रधारी तरुणने पूछा। यात्रियोंके इस दलमें संन्यासी कोई नहीं है; किंतु तीर्थयात्री होनेके कारण सभी काषाय-वस्त्र पहनते हैं। सबके मस्तक तथा दाढ़ी-मूँछके बाल बढ़ गये हैं, नख लंबे हो गये हैं और वस्त्र मलिन हो रहे हैं, घरसे सब सम्पूर्ण केश मुण्डित कराके चले थे; किंतु केश तो घासकी भाँति बढ़ते हैं और ये ठहरे तीर्थ-यात्री, घर छोड़े इन्हें कई मास हो गये। अभी तो कई मास और लगने हैं इन्हें। तीर्थयात्रामें न क्षौर कराया जा सकता, न वस्त्र धुलवाये जा सकते और न तैल-मर्दन ही उपयुक्त है।

'भगवान्‌के मार्गमें भद्र ! तुम आकुल क्यों होते हो ? हम मार्ग भूल गये हैं; किंतु ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसमें वह नहीं है। वह जानता है कि हम उसकी ओर चले हैं।' बड़ा स्थिर स्वर, बड़ी भव्य शान्ति थी त्रिपुण्ड्र-मण्डित भव्य भालपर। हाथमें लाठी और कमण्डलु, कंधेपर झोला और कटिके वस्त्रोंको समेटकर ऊपर बँधा एक वस्त्रखण्ड। सबसे वृद्ध होनेपर भी यात्रामें वे सबसे आगे चल रहे थे।

'बाबा ! आज हम कहाँ ठहरेंगे ?' कृषक-जैसे दीखते एक व्यक्तिने पूछा, जो सम्भवतः थक चुका था। उसकी आधी पकी मूँछोंपर धूलि जम रही है और भौंहोंके केश ललाटके बहे पसीने और धूलिसे मिलकर कीचड़में लथपथ-से लगते हैं, इसकी ओर उसका ध्यान नहीं था। उसके श्वासकी गति बढ़ी हुई थी। दूसरों-की भाँति उसके पैर भी बिवाइयोंसे चिथड़े हो रहे थे और उन बिवाइयोंमेंसे निकली रक्तकी बूँदे धूलिमें सनकर जम गयी थीं।

'जहाँ कहीं जल मिलेगा, वहीं हम [illegible] विश्राम करेंगे। तनिक पैर दबाये आओ [illegible] चलनेवाले वृद्धने केवल क्षणभरको गति मन्द [illegible] फिर वे शीघ्रतासे चल पड़े। उनकी त्वरा [illegible] योग्य है। भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिज [illegible] चुके हैं। घंटेभरमें वनमें अँधेरा हो जायगा [illegible] आगे बढ़ना शक्य नहीं रहेगा। 'रात्रिके आग [illegible] एक जलस्रोत मिल जाय या सरोवर····· चरण बढ़ते जा रहे थे।

'हम इस वनमें ही रात्रि व्यतीत करेंगे। [illegible] पीछे चलनेवाले तरुणने चारों ओर देखा। [illegible] आया—चलते समय उसके दोनों पुत्र फूट-फू [illegible] थे। दोनों पुत्रवधुएँ घूँघटके भीतर हिचकि [illegible] थीं और उसका नन्हा पौत्र उसकी गोदसे [illegible] नहीं चाहता था। यह घोर कानन—आज [illegible] चीतेकी गन्ध मिली है। रीछ दीखा है [illegible] वृक्षपर बेर खाता और वाराहयूथ आगे-आगे [illegible] यह बात तो रौंदे तृणों तथा तत्काल खोदी भू [illegible] अनुमान की जा सकती है। इस वनमें रात्रि [illegible] परंतु दूसरा कोई मार्ग तो दीखता नहीं।

'भद्र ! भयका तो कोई कारण नहीं है [illegible] आह्वान किया है, वही अपने श्रीचरणों [illegible] पहुँचायेगा। वह ग्राममें है और वनमें नहीं [illegible] सोचते हो ?' आगे चलनेवाले वृद्धकी श्रद्धा [illegible] उनकी श्रद्धाका ही बल है, जो यह दल [illegible] आ रहा है।

'जो कुछ था डाकुओंने ले लिया और मा [illegible] ऊपरसे। अब तो मृत्यु ही रही है, उसे [illegible]

वह भी आ जाय !' एक यात्री कुछ स्थूल शरीर है। स्वभावतः चलनेमें उसे अधिक श्रम होता है। वह झुँझला उठा है। इधर उसके स्वभावमें चिड़चिड़ापन भी अधिक आ गया है।

'डाकू आये, यह तो हमारा ही पाप था।' आगे चलनेवाले वृद्धने तनिक रुककर पीछे देखा—'तीर्थयात्री स्वर्णमुद्रा लेकर चलेगा तो दस्यु आयेंगे ही। हमारे पास कलके लिये भी संग्रह रहे तो हम विश्वम्भरपर विश्वास कहाँ करते हैं। संग्रह न हो तो छीनने कोई क्यों आये ?'

'महाराज ! वैसे तो यह शरीर भी संग्रह है और वनमें उसे छीनकर पेट भरनेवाले प्राणी भी आ ही सकते हैं !' स्थूल पुरुषने व्यंग किया।

'भैया ! भगवान् मल्लिकार्जुन मृत्युञ्जय हैं। उनके चरणका दर्शन करने जो चला है उसकी आयु पूरी हो जाय मध्यमें, तो भी मृत्युको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' वृद्ध कुछ पद लौट आये और स्नेहपूर्वक उन्होंने उस पुरुषके कंधेपर हाथ रख दिया—'तीर्थयात्राका अर्थ कहीं जाकर जलमें डुबकी लगा लेना और किसी प्रतिमा मात्रके दर्शन कर लेना नहीं है। यात्राका अर्थ है तितिक्षा—कष्ट-सहिष्णुता, त्याग, भगवत्स्मरण और एकमात्र प्रभुका आश्रय। जो प्रभु श्रीशैलपर विराजमान हैं, वे ही प्रत्येक प्राणीमें, प्रत्येक वन्य पशुमें हैं। हमपर आपत्ति आती है तब, जब हम प्रमाद करते हैं, जब हम यात्राके नियम भंग करके कोई सुख-सुविधाकी व्यवस्था करते हैं अथवा संग्रह करने लगते हैं। यदि हम प्रमत्त न हों तो प्रलयङ्करके आश्रितोंकी ओर रोग, शोक आदि कोई नेत्र उठाकर देख नहीं सकता।'

× × ×

बात कई शताब्दी पहलेकी है। देशमें सड़कें नहीं थीं। रेल और मोटरोंका स्वप्न भी मनुष्यने नहीं देखा था। फलतः मनुष्य आज-जैसी धोखा-धड़ी एवं छल-प्रपञ्चसे भी अपरिचित था और आजके रोगोंसे भी। उसका शरीर स्वस्थ था, सुदृढ़ था और उसका मानस श्रद्धा-परिपूत था।

मध्यप्रदेशके एक छोटे-से ग्रामके एक वृद्ध ब्राह्मण-के मनमें लालसा जाग्रत् हुई तीर्थयात्राकी। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और कई सहयोगी मिल गये। लगभग डेढ़ वर्ष लगा यात्राके लिये प्रस्तुत होनेमें। सभी सगे-सम्बन्धियोंसे मिल लेना था। घरकी पूरी व्यवस्था कर देनी थी। सबसे विदा ले लेनी थी। तीर्थयात्राका अर्थ था घर न लौटनेको प्रस्तुत होकर जाना। मार्गमें वन थे—लंबे-चौड़े व्यापक अरण्य। वनोंमें हिंस्र जन्तु भरे थे और उनसे भी हिंस्र दस्यु तथा वन्य मानव मिलते थे। जब दीर्घकालतक अनिश्चित भटकना हो तो कौन कह सकता है कि कोई कब अस्वस्थ हो जायगा। तीर्थयात्री तो मृत्युको चुनौती देकर ही यात्रा प्रारम्भ करता है।

मुहूर्त निश्चित हुआ। यात्रियोंने अपने वस्त्र गैरिक कर लिये, झोले सिलवा लिये, मुण्डन कराया और हवन हुआ। अन्तमें ग्राम-परिक्रमा करके पूरे ग्रामके लोगोंने ग्रामसीमातक जाकर जयजयकार करते हुए उन्हें विदा दी।

हाथोंमें लाठियाँ और जलपात्र, कंधेपर झोले, मुण्डित मस्तक, नंगे पैर यात्रियोंका दल चल पड़ा। जहाँतक ग्राम-सीमा मिलती रही, बड़ा उत्साह रहा सबमें। प्रत्येक ग्राममें उनका स्वागत हुआ, उनकी पूजा हुई, सोल्लास उनका आतिथ्य हुआ; परंतु वन आना था और वह आया। वनकी यात्रा चलती रही और एक दिन दस्युओंने उन्हें घेर लिया। बिना पूछे तड़ातड़ डंडे पड़ गये दो-दो चार-चार सबपर।

'अरे! किसीके पास कुछ हो तो दे क्यों नहीं देते।' अग्रणी वृद्धने अपने साथियोंको पुकारा। साथमें एक

कुछ स्थूलकाय श्यामवर्ण वैश्य यात्री थे। उनकी धोतीमें दो स्वर्णमुद्राएँ छिपी थीं। डाकुओंकी मार भी अधिक उनपर ही पड़ी। अन्तमें वे मुद्राएँ डाकुओंको प्राप्त हो गयीं।

'धन्यवाद बन्धुओ !' वृद्ध ब्राह्मणने दस्युओंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया—'तुम हमारे प्रभुके भेजे आये हो। यह पाप था हमारे साथ, जिससे तुमने हमें मुक्त कर दिया। आओ भाई! अब हमारी यात्रा निरुपद्रव हो गयी। अमङ्गल बहुत कम उपद्रव करके विदा हो गया।' स्थूलकाय वृद्धको उन्होंने आश्वासन दिया।

इस धमाचौकड़ीमें यात्रियोंके साथ जो मार्ग-दर्शक था, वह भाग चुका था। दस्यु स्वर्णमुद्राएँ लेकर ऐसे अदृश्य हुए जैसे शशकके सिरसे सींग। यात्रियोंको अब अपने अनुमानके आधारपर आगे बढ़ना था। घोर वनमें कोई क्या अनुमान करे। वे भटक गये और भटकते ही चले गये। वनके कन्दों तथा पत्तों और सरोवर या निर्झरके जलपर कई दिन काट दिये उन्होंने और तब एक दिन ऐसा आया जब मध्याह्नोत्तर चलनेपर उन्हें जल मिलना भी कठिन हो गया था।

× × ×

'हम श्रीशैलकी ही ओर जा रहे हैं ?' तरुण भी अत्यन्त श्रान्त हो चुका था। उसकी श्रान्ति इतनी अधिक थी कि आगे भटकनेकी अपेक्षा वन्य पशुओंद्वारा आखेट हो जाना उसे कम भयप्रद प्रतीत होने लगा था।

'भगवान् आशुतोष जानते हैं कि हम श्री चाहते हैं, इसलिये हम श्रीशैल ही जा रहे हैं निश्चय पहुँचेंगे।' अग्रणी वृद्धका विश्वास अ वैसे न वे मार्ग जानते थे और न उन्हें कि श्रीशैल उनके सम्मुख है या पीठकी ओर

'इस जन्ममें तो पहुँचते नहीं।' स्थूलका लिये चलना अब अत्यन्त कठिन हो रहा खड़ा हो गया और देखने लगा कि 'कोई वृक्षकी जड़ भी मिल जाय तो उसीपर बैठ

'हम इसी जीवनमें पहुँचेंगे और····।' अधिक बोलना नहीं पड़ा। कोई आ रहा सम्मुखकी दिशासे। सबका ध्यान आगन्तुक आकृष्ट हो गया था।

'आप सब श्रीशैलपर ही हैं।' दूरसे ही ने यात्रियोंकी थकावट, व्याकुलता तथा समझ ली और आश्वस्त करनेके लिये बोल भटक जानेके कारण आप विपरीत दिशासे कुछ दूर आगे बढ़ते ही आपको शिखरकी दर्शन होंगे।'

'भगवान् मल्लिकार्जुनकी जय !' यात्रियों उत्साह आ गया। उन्हें यह पता नहीं लगा मार्ग बताने जो कृपा करके पधारे थे, वे थे उत्साहके इन क्षणोंमें सहसा किधर अदृश्य हो

दोष किसका ?

मालिकने कब डूबने दिया ?
मालिकने कब बिगड़ने दिया ?
आस्था डगमगाये और तुम निर्द्वन्द्व न रह सको,
तो—दोष किसका ?

—बालकृष्ण बलमुवा

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

[द्वितीय भूमिका—विचारणा]

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

अधिकारी

जिस जिज्ञासुको बुद्धिकी उपयुक्त सूक्ष्मताके अभावके कारण अथवा अन्य प्रतिबन्धोंके कारण श्रवणमात्रसे अखण्ड चिन्मात्र तत्त्वका प्रत्यक्ष नहीं हुआ और न श्रवणके अन्तर्गत सामान्य उपपत्तिरूप लिङ्गसे उसके बुद्धिगत असम्भावना दोषकी निवृत्ति हुई। जिसे उपनिषद्के परम तात्पर्यके विषयमें संदेह नहीं; परंतु इस परम तात्पर्यके विषयमें अनेक विरोधी युक्तियाँ स्फुरित होती हैं। शास्त्रका निर्णय निश्चित होनेपर भी युक्त प्रतीत नहीं होता; जीव-ईश्वरका एकत्व, जगन्मिथ्यात्व असम्भव दीखता है। अब शास्त्रान्तर्गत विरोधी वचनोंके कारण उनमें परस्पर विरोध नहीं दीखता, शास्त्रमें समन्वय हो चुका है, शब्द-प्रमाणमें कोई संदेह नहीं; परंतु शब्दप्रमाण तथा अनुमानमें परस्पर विरोध भासता है। दोनों भिन्न-भिन्न राग अलापते प्रतीत होते हैं। शब्दप्रमाण अभेदका निर्णय करता है तो तर्क-अनुमान-भेदको सिद्ध करता दीखता है। ऐसा जिज्ञासु ही ज्ञानकी दूसरी कक्षाका अधिकारी है।

साधन

मनन इस कक्षाका मुख्य साधन है, जैसा कि इस भूमिका-का विचारणा नाम प्रकट करता है। उसकी शास्त्रमें अश्रद्धा नहीं होती; यदि ऐसा हो तो मनन-साधनाका हो सकना असम्भव हो। शास्त्र-तात्पर्यमें जो असम्भावना उसे प्रतीत होती है, उसका कारण वह अपनी बुद्धिके दोषको समझता है। इसलिये शास्त्र-तात्पर्यके अनुकूल युक्तिप्रधान ग्रन्थोंका वह दिन-रात गुरु-संनिधिमें मनन करता है। उसे शास्त्रमें इतनी दृढ़ श्रद्धा होती है कि जबतक कोई विरोधी युक्ति स्फुरण करती है, तबतक मननका त्याग नहीं करता। शास्त्रनिर्णयमें उसकी पूर्ण श्रद्धा होती है। ऐसी नहीं कि विरोधी युक्तिके आधारपर नास्तिकके समान शास्त्रमें ही अश्रद्धा कर दे अथवा अखण्ड-चिन्मात्र ब्रह्मरूप परम तात्पर्यसे भिन्न संसारमें प्रचलित अन्य अनेक सिद्धान्तोंका आश्रय ले ले। उसके पूर्वपुण्यजन्य संस्कार ऐसे सहकारी होते हैं कि परमतत्त्व अद्वैत-सिद्धान्तकी विरोधी युक्ति उपस्थित होनेपर और तत्काल उसका कोई उत्तर न सूझनेपर भी उसकी यथार्थ जिज्ञासा तथा अद्वैत-तत्त्वमें श्रद्धा बनी रहती है। ऐसी तीव्र तथा शुद्ध बुद्धि भी नहीं होती कि अद्वैत तत्त्व झट जँच जाय। परंतु ऐसी मूढ़ श्रद्धा भी नहीं कि बिना सोचे-विचारे झट स्वीकार कर ले। श्रद्धा भी है और सोचता भी है। शास्त्रविरोधी युक्तिका निराकरण भी बुद्धिमें शीघ्र नहीं टिकता; परंतु फिर भी अश्रद्धा नहीं होती, यत्न नहीं छोड़ता; इसमें अपनी बुद्धिका ही दोष समझता है और मननमें तत्पर रहता है, जबतक कि अद्वैत-सिद्धान्त युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार शास्त्रानुकूल अनेक युक्तियोंका निरन्तर आलोडनरूप मनन करता रहता है। यथा—

(क) जीव-ईश्वर चेतनोंमें उपाधिकृत भेद-प्रतीति है, वास्तवमें अभेद है। जैसे घटाकाश-मठाकाशका उपाधिकृत भेद है।

(ख) अन्वयव्यतिरेक युक्ति—चेतन आत्माके परमार्थ अखण्ड चेतन स्वरूपके निर्धारणके लिये।

(ग) स्वप्न-अध्यास आदिके समान किसी पदार्थके अस्तित्वमें सामान्य प्रतीतिमात्र अकाट्य युक्ति नहीं है।

(घ) दर्पणमें प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे सजातीय भेदका खण्डन।

(ङ) स्फटिक मणि तथा जपाकुसुमके दृष्टान्तसे स्वगत-भेदका खण्डन।

(च) सजातीय-विजातीय भेद-प्रतीतिका मूल कारण स्वगत-भेदकी मिथ्या प्रतीति है इत्यादि। इस प्रकार वेदान्त शास्त्रके परम तात्पर्य अभेदकी अनुकूल युक्तियोंसे विरोधी युक्तियोंके खण्डनरूप शास्त्रोक्त मननको चालू रखता है; जबतक कि कोई भी विरोधी युक्ति शेष रहती है। इस विरोधको निर्मूल करना ही मननका कार्य-फल या अवधि है। शब्द-प्रमाणका निश्चित असंदिग्ध निर्णय तथा अनुमान-प्रमाणका इससे विरोधसे इस भूमिकाका आरम्भ होता है। अर्थात् उपर्युक्त स्थितिवाला जिज्ञासु ही द्वितीय विचारणा

कक्षाका अधिकारी है । मनन इस कक्षाका प्रधान साधन है । शास्त्रानुकूल युक्तियोंसे विरोधी युक्तियोंका निराकरण करना मननका स्वरूप है । शब्द-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाणमें परस्परविरोधके परिहारके द्वारा समन्वय करना इसका लक्ष्य है । यह समन्वय ही इस कक्षाकी परमावधि है । अनुमानका शास्त्र-निर्णीत सिद्धान्त अभेदका समर्थन करना ही मननका फल है । इसके सिद्ध हो जानेपर जिज्ञासुको युक्ति-प्रधान शास्त्रकी भी आवश्यकता नहीं रहती और न उसकी मननमें रुचि रहती है, जैसे कि प्रथम भूमिकाके अन्तमें श्रवणमें रुचि नहीं रही थी; क्योंकि मननका कारण जिज्ञासामात्र तथा प्रमेयगत असम्भावना दोष ही था । मननका शास्त्र-व्यसन, धन, वैभव, मान-प्रतिष्ठा आदि कोई लौकिक प्रयोजन नहीं था जो कि उस असम्भावना दोषके निवृत्त हो जानेपर भी मनन चलता रहे ।

तीसरी तनुमानसा भूमिका—लक्ष्य तथा अधिकारी

प्रथम भूमिकामें श्रवणके द्वारा शब्दप्रमाणान्तर्गत विरोधका परिहार हो चुका, मननके द्वारा शब्दप्रमाण तथा अनुमान-प्रमाणके विरोधका परिहार भी हो गया । दोनों प्रमाणोंसे अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्का निर्णीत बोध होता है; परंतु फिर भी बुद्धि इतनी सूक्ष्म, शुद्ध तथा एकाग्र नहीं हुई कि परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाय । कोई प्रतिबन्ध विद्यमान है । प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत असम्भावना दोषकी निवृत्ति प्रथम दो भूमिकाओंमें उपयुक्त साधनाद्वारा हो गयी । परंतु अभीतक साधकके निज प्रत्यक्षमें भेद-सत्यत्वबुद्धि तथा देहादिमें आत्मत्वबुद्धिके कारण शास्त्र तथा अनुमानके द्वारा निर्णीत अभेदसे विरोध विद्यमान है । **अखण्ड तत्त्वके प्रत्यक्षके बिना उपर्युक्त वर्णित रीतिसे शोक-मोहकी निवृत्ति तथा परमरसकी उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि शोक-मोहका मूल कारण भेदकी प्रत्यक्ष प्रतीति विद्यमान है । शास्त्र तथा अनुमानजन्य अभेदविषयक परोक्ष बुद्धि इसका उन्मूलन नहीं कर सकती और न मनुष्यकी बुद्धि इस विरोधको सहन कर सकती है । यदि यह शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्षका आपसमें भेद विद्यमान रहे तो अशान्तिका एक प्रबल कारण सदा उपस्थित रहता है । संदेह होनेपर किसी व्यवहारका भी फलकी सिद्धिका होना असम्भव है ।**

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्य-
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
(गीता ४)

'आत्माके यथार्थ स्वरूपसे अनभिज्ञ, गुरु तथा वाक्यमें अश्रद्धा करनेवाले तथा संशयात्माका विनाश जाता है, उसके किसी लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होती। संशयमें सबसे अधिक आपत्ति तो यह है कि ऐसे अभागे तथा पापीको न तो इस लोकमें और न कहीं भी सुख नहीं मिलता है ।'

यद्यपि विचारवान् अनुभवी महात्माओं तथा जिज्ञासुओंकी दृष्टिमें परमार्थ विषयमें परम तथा अ श्रुति (शब्द) ही है; परंतु केवल श्रद्धासे परम सिद्धि नहीं हो सकती । परमानन्दकी प्राप्ति उस चिन्मात्र आनन्दस्वरूप तत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभूति सकती है । किसी स्वादु पदार्थके श्रवणसे ही तृप्ति नहीं इसमें संदेह नहीं कि श्रवणमात्रमें भी प्रत्यक्षानुभूति करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है । परंतु किसी पूर्वोक्त कारण अखण्ड तत्त्व प्रत्यक्ष अनुभूत नहीं होता। बुद्धिके सामञ्जस्य तथा फलसिद्धिके लिये अखण्ड प्रत्यक्ष जरूरी है । शब्द तथा अनुमान और प्रकृत भेदविषयक प्रत्यक्ष प्रमाणके विरोधका परिहार करना भूमिकाका काम है । इस विरोधसे युक्त जिज्ञासु ही की इस कक्षाका अधिकारी है और प्रत्यगभिन्न ब्रह्म प्रवाहरूप निदिध्यासन ही इस कक्षाका मुख्य साधन बुद्धिको साधनाद्वारा क्रमशः सूक्ष्म करके अखण्ड साक्षात्कारके योग्य बनाना इस साधनाका काम है । इस कक्षाके 'तनुमानस' निर्वचनसे ही स्पष्ट है । इसकी अवधि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मात्मसाक्षात्कारके द्वारा अज्ञान उसके कार्यभेदकी निवृत्तिरूप मनुष्यजीवनके परम है । इस साधनासे शब्दप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा **प्रमाणमें विरोधके परिहारके द्वारा समन्वय सम्पादन इसके पश्चात् ज्ञानके तीन प्रमाणोंका कोई विरोध नहीं सम्पूर्ण साधनाके लक्ष्य अखण्डात्मतत्त्वके दर्शनके द्वारा कृतकृत्य हो जाता है । कोई साधना शेष नहीं रहती** जिज्ञासु सिद्ध ज्ञानी होकर चतुर्थ भूमिका 'सत्त्वापत्ति' करता है ।

प्रथम तीन साधन-भूमियाँ

अभेद-दृष्टिके क्रमशः विकासका द्वार होनेके तीन भूमियाँ ज्ञानकी साधना-भूमियाँ कहलाती हैं ।

न्मात्र परमार्थ तत्त्व (सत्य) की यथार्थ अनुभूति ही य परम ज्ञान है। भेद-अनुभूति अयथार्थ भ्रान्त है। सलिये ऐसी अवस्था अज्ञान-भूमि कही जाती है। प्रथम मिमें शब्द-प्रमाणके द्वारा परमार्थ अखण्ड तत्त्वका परोक्ष न होता है; यद्यपि अनुमान तथा प्रत्यक्षके द्वारा भेद सिद्ध ता है, यह न्यूनता रहती है; परंतु पूर्वके समान नितान्त द-प्रतीति नहीं होती; अतः इसे ज्ञानकी भूमि कहा गया। यद्यपि उपर्युक्त कमीके कारण इसकी निवृत्तिके लिये भी और साधना आवश्यक है। श्रवणसाधनाके द्वारा र्युक्त परोक्ष अभेद-बुद्धि प्राप्त होती है, इसलिये इसे साधन-मि कहा जाता है। द्वितीय भूमिमें मननके द्वारा अनुमान-ाणसे भी अखण्ड तत्त्वका परोक्ष बोध होता है, अतः यह ज्ञानकी साधन-भूमि है। प्रत्यक्षसिद्ध भेदकी जो भ्रान्ति रह गयी थी, वह भी इस भूमिमें निदिध्यासनके द्वारा साक्षात्कारसे निवृत्त हो जाती है, अतः यह भी साधन-म है। इसके बाद अब साधनाका अन्त हो जाता है और से ७ तककी भूमियाँ सिद्ध ज्ञानीकी भूमियाँ हैं।

निदिध्यासन-साधन

तृतीय भूमिके साधन निदिध्यासनके विषयमें आवश्यक चन शेष रहता है। (इसका विस्तृत विवेचन निदिध्यासन-साधना-खण्ड तथा ब्रह्माकारवृत्ति आदि अन्य प्रकरणोंमें गा।) उनका ही साररूपसे संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया है। तृतीय भूमिके अधिकारी, कार्य तथा फलका चित् निर्देश ऊपर हो चुका है। इन सबके विवेचनसे सिद्ध होता है कि निदिध्यासन अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका नहीं है; क्योंकि तीसरी कक्षाका अधिकारी ही वह है, जिसे कि प्रथम तथा दूसरी कक्षाके साधन श्रवण तथा के द्वारा प्रत्यगभिन्न अखण्ड ब्रह्मका परोक्ष बोध है; **बुद्धिकी उपयुक्त सूक्ष्मताके अभाव आदि प्रतिबन्धकोंके वृत्ति ब्रह्मसे संस्पृष्ट होकर साक्षात् ब्रह्माकार नहीं होती, ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान हो। श्रवण तथा मननके द्वारा** ड ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञानमें संदेह-कालिमा नहीं रही; देह आदि विशिष्ट चेतन-जीवका ही प्रत्यक्ष होता है। विपरीत भावना दृढ़ है। प्रत्यगभिन्नविषयक प्रवाहरूप ध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये उपयुक्त सूक्ष्मता सम्पादन-मित्त है। जिसके द्वारा विपरीत भावना दूर हो। इस नसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि तीसरी भूमिकाके जिज्ञासुको ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान तो है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इसके प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये ही निदिध्यासन इस तीसरी भूमिकाका साधन है और अपरोक्ष ज्ञान इस भूमिकाका साध्य है—लक्ष्य है। निदिध्यासन-साधनका आरम्भ परोक्ष ज्ञानसे होता है और ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान निदिध्यासनका परिपाक-फल है।

किसी प्राणीको भी आत्मा सर्वथा अज्ञात नहीं है; क्योंकि आत्मा प्राणीका अपना आपा है और अपने आपसे कोई भी नितान्त अनभिज्ञ नहीं होता। इसके अतिरिक्त चेतन अथवा चेतनता किसी-न-किसी रूपमें आत्माके रूपमें सबको इष्ट है। औपनिषद अखण्ड तत्त्व भी चेतन है। प्रत्येक प्राणी चेतन अथवा चेतनताको किसी रूपमें जानता है; इसलिये औपनिषद अखण्ड चेतन आत्मा नितान्त अज्ञात नहीं है, विशिष्ट चेतनरूपसे प्रत्यक्ष है, अखण्ड चेतनरूपसे प्रत्यक्ष नहीं। तृतीय कक्षामें परोक्षरूपसे अखण्ड चेतन आत्मा ज्ञात है, परंतु अपरोक्षरूपसे अज्ञात है। इस दृष्टिसे अज्ञानीको भी तो चेतन अथवा चेतनता एक प्रकारसे प्रत्यक्ष है, नितान्त परोक्ष तो नहीं। परंतु सामान्य अज्ञानीका तो कहना ही क्या, ज्ञानकी तृतीय भूमिकामें भी जिज्ञासुको भी अखण्ड चेतन प्रत्यक्ष नहीं है।

जैसे ऊपर वर्णन किया गया है कि चेतन आत्मा एक दृष्टिसे अज्ञात अथवा अप्रत्यक्ष कभी भी नहीं है। यथा किसीको अनुमान या शब्द-प्रमाणसे अग्निका परोक्ष ज्ञान होता है; आत्माका ऐसा सर्वथा परोक्ष ज्ञान कभी भी किसीको नहीं होता; प्रत्युत एक अंशमें तो आत्मा प्रत्यक्ष भी है। आत्माके विषयमें प्रत्यक्षकी ही भ्रान्ति है। परोक्ष-भ्रान्ति नहीं है। प्रत्यक्ष-भ्रान्तिमें पदार्थ प्रायः सामान्यरूपसे ज्ञात-प्रत्यक्ष होता है और विशेषरूपसे अज्ञात होता है। विशेष अंशमें ही भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार औपनिषद प्रत्यग-**भिन्न ब्रह्म चेतनरूपसे तो ज्ञात—प्रत्यक्ष है; विशेष अखण्ड अंशमें अज्ञात—अप्रत्यक्ष है। विशेष अंशमें ही भ्रान्ति है। (अखण्ड आत्माके सामान्य तथा विशेष अंश होना असम्भव है, भेदयुक्त विशिष्ट आत्माकी दृष्टिसे तथा उसकी अपेक्षासे अर्थात् आरोपकी दृष्टिसे अंशोंका निरूपण किया जा रहा है।)** आत्मा देहादि उपाधि-भेदसे विशिष्ट प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार चेतनरूपसे आत्मा सबको प्रत्यक्ष है; परंतु उपनिषद्-निर्दिष्ट परमार्थ अखण्डरूपसे अज्ञात—अप्रत्यक्ष है। इसी विषयमें सामान्य मनुष्यकी भ्रान्ति है और इस

भूमिकावाले जिज्ञासुको अखण्डरूपसे परोक्ष है, नितान्त अज्ञात नहीं है।

इस दृष्टिसे ऐसे जिज्ञासुके लिये कहा जा सकता है कि उसे अखण्ड चेतनरूप परमार्थ आत्मा नितान्त अप्रत्यक्ष नहीं। तीसरी भूमिकावालेको भी सब प्राणियोंके समान ही चेतनरूपसे प्रत्यक्ष है, अखण्डरूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। (दृष्टान्त) जैसे सूर्यको लें, इसके विषयमें हम सबकी यही धारणा है कि सूर्यका हमें यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है। परंतु विचार करनेपर हमारी यह धारणा अयथार्थ सिद्ध होती है। यह बात ठीक है कि सूर्य हमें नितान्त अज्ञात या अप्रत्यक्ष नहीं है। वह स्वतः प्रकाशरूपसे तो हम सबको प्रत्यक्ष है; परंतु उसके आकारके विषयमें प्रत्यक्ष भ्रान्ति है। ज्योतिष-शास्त्रके विज्ञ यन्त्रों तथा अन्य विचारके आधारपर यह निर्णय करते हैं कि सूर्य पृथिवीके आकारसे भी लगभग लाख गुना अधिक बड़ा है; परंतु (एक प्रकारसे) ज्योतिषियोंको अथवा उनके द्वारा अन्य साधारणको होनेवाला यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है। चक्षुके द्वारा जो प्रत्यक्ष-अपरोक्ष ज्ञान होता है, वह इसके अल्प आकारका ही होता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि सूर्य हमारे लिये नितान्त अप्रत्यक्ष नहीं, भौतिक स्वतःप्रकाश-रूपसे तो प्रत्यक्ष है, परंतु तथ्य महान् आकाररूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष-अपरोक्ष नहीं है। (दार्ष्टान्त) ठीक ऐसे ही आत्मा स्वतः चेतन प्रकाशरूपसे सबको प्रत्यक्ष है; परंतु अखण्डरूपसे साधारणजनोंको अज्ञातमात्र है। न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष। परंतु तृतीय भूमिकामें शब्द तथा अनुमान-प्रमाणके आधारपर अखण्ड-रूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। परंतु सूर्य तथा आत्माके ज्ञानमें एक अन्य महान् विलक्षणता है कि सूर्यके विशेष तथ्य आकारके विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञानका हो सकना प्रायः असम्भव है; क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष ज्ञानकी भ्रान्तिका कारण दूरी है, जिसका निवारण नहीं किया जा सकता। यदि हम निष्पक्षभावसे विचार करें तो आकारके ज्ञानके विषयमें हमारी यह भ्रान्ति सम्पूर्ण आकारोंके ज्ञानमें सम्भव है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थके आकारका ज्ञान जब द्रष्टाको होता है, तब द्रष्टासे उस पदार्थकी कुछ-न-कुछ दूरी रहती ही है। इस प्रकार हमारा आकारविषयक सम्पूर्ण ज्ञान सापेक्ष है, अतः अविश्वसनीय है; क्योंकि हम सबको ही यह भ्रान्ति है, इसलिये हम इस भ्रान्त ज्ञानको नहीं समझते और सब-के-सब इस भ्रान्त ज्ञानको ही ठीक मानते हैं। यदि किसी अलौकिक विशेषताके कारण कोई इस निरपेक्ष आकारका [illegible] सके, तो हम अपने आपको—साधारण जनके [illegible] तथा इस विशेष व्यक्तिके ज्ञानको अयथार्थ कहें [illegible] ही स्थिति प्राकृत जन तथा ब्रह्मवित्के आत्मसम्[illegible]

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति [illegible]
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो [illegible]
(गीता [illegible])

'साधारण मनुष्यों तथा अन्य सम्पूर्ण प्रा[illegible] आत्मतत्त्व रात्रि है, जिसके विषयमें उनकी बुद्धि [illegible] जाती है। संयमी, जितेन्द्रिय, अन्तर्मुखी, सूक्ष्मदर्[illegible] अखण्ड आत्मतत्त्व दिन है—प्रत्यक्ष है और [illegible] भोग तथा अनात्मदेह-अभिमानको प्राणी—प्राकृत [illegible] मानते हैं, ब्रह्मवित् मुनिकी दृष्टिमें वह अत्यन्त [illegible]

एक और विलक्षणता यह है कि सूर्यवि[illegible] ज्ञान सदा ही सापेक्ष-सत्य अथवा भ्रान्त ही [illegible] अनुभवियोंका कथन है कि आत्माका द्रष्टासे नि[illegible] है, किसी प्रकारकी दूरी नहीं है। निदिध्या[illegible] आत्माके विशेष अखण्ड चिन्मात्ररूपका प्र[illegible] ज्ञान हो सकता है।

समाधिके भेद

उपर्युक्त विवेचनका सार यही है कि आ[illegible] चेतनरूपके परोक्ष-प्रत्यक्षका प्रवाह ही निदिध्यास[illegible] विषयक समाधिके दो भेद हैं—(१) सविकल्प [illegible] निर्विकल्प। सविकल्प समाधिरूपी निदिध्यासन [illegible] विषयक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि परोक्ष प्रत्ययहीक[illegible] प्रवाह है, अपरोक्ष प्रत्ययका प्रवाह नहीं। अभी [illegible] अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह हो सकना अस[illegible] कल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—(१) अखण्ड [illegible] ज्ञानसे युक्त तथा (२) आत्माके परोक्ष ज्ञानसे [illegible] कल्प समाधि 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका केवल निरोध [illegible] योगदर्शनको भी असम्प्रज्ञातके अनेक भेद अभि[illegible] आत्मज्ञानशून्य विदेह तथा प्रकृतिलयरूपी अ[illegible] पातञ्जल-अभिमत चिन्मात्र आत्माकी स्वरूपि[illegible] अनुभूतिरूप असम्प्रज्ञात; क्योंकि किसी अ[illegible] आत्मविवेकख्याति-प्रत्यय (वृत्ति) के निरोध[illegible] म्प्रज्ञात लाभ हो सकती है। असम्प्रज्ञात होनेकी [illegible] समाधियोंमें समानता है; क्योंकि इनमें आत्म [illegible]

वयक प्रज्ञा-वृत्तिका अभाव होता है; परंतु विदेह तथा प्रकृतिलय एक प्रकारसे आत्माके स्वरूपज्ञानसे शून्य हैं र विवेकख्यातिके निरोधके द्वारा प्राप्त पातञ्जल-अभिमत सम्प्रज्ञात चेतनात्मा अथवा चिन्मात्र ज्ञानस्वरूप है। इसी कार परोक्ष अथवा अपरोक्ष 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तियोंके निरोध-वेदान्तसम्मत निर्विकल्प समाधिका लाभ हो सकता है। लिये इन दोनोंमें भेद-बीज भाव तथा अभाव सम्भव है। ीय कक्षाके साधकको यदि निर्विकल्प समाधिका लाभ हो जाय, तो भी भेदका बीज बना रहता है; क्योंकि तृतीय समें परोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहरूप निदिध्यासन-धि—का अभ्यास होता है। परोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिके हरूप निदिध्यासनसे जब बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है, तब रोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिसे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उदय है। यह निदिध्यासनका परिपाक है। यदि इस अपरोक्ष के होनेसे पूर्व ही परोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिलय हो जाय अखण्ड चेतनाकार निर्विकल्प समाधिका लाभ नहीं । ऐसी निर्विकल्प समाधि ज्ञान-साधनकी तृतीय भूमिमें होती। निदिध्यासनके परिपाकस्वरूप अपरोक्ष ब्रह्माकार-के उदय होनेपर जब ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब क सिद्धज्ञानी हो जाता है। तब वह सत्त्वापत्ति नामवाली भूमिमें प्रवेश कर जाता है। अर्थात् अखण्ड चेतनाकार कल्प समाधि चारसे सात तककी सिद्ध ज्ञानभूमियोंमें होती यह समाधि कैसे लाभ होती है, इसका निरूपण उन-उन काओंके प्रसङ्गमें किया जायगा। इस स्थानपर केवल इस का संक्षिप्त विवेचन करना है कि अपरोक्ष ब्रह्माकार-के प्रवाहका हो सकना सम्भव नहीं। (इसका विशद न ब्रह्माकारवृत्तिके प्रकरणमें दिया गया है।)

(१) शुद्ध, उपाधिरहित, ब्रह्म निर्व्यवहार है, वाङ्-गोचर है। वह स्वयंप्रकाश है तथा आवरणरहित अन्य सब जड-चेतन जगत्के अस्तित्वका अधिष्ठान तथा प्रकाशका कारण है। शुद्ध ब्रह्म सबकी सत्ता-स्फूर्तिका है। इसलिये स्वतःप्रकाश, निरावृत, निर्व्यवहार ज्ञानके लिये परोक्ष अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिमेंसे का कोई उपयोग नहीं और न इन वृत्तियोंमें यह र्य है कि ये ब्रह्मका प्रकाश कर सकें; क्योंकि इन परोक्ष अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तियोंकी सत्ता-स्फूर्तिका कारण द्ध ब्रह्म है। जैसे कि वह अन्य जगत्के पदार्थों अथवा वृत्तियोंकी सत्ता-स्फूर्तिका कारण है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तियोंका विषय अज्ञानावृत आत्मा ही है। इन दो-में भेद इतना ही है कि परोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति मूलाज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती और अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति इस मूल अज्ञानको निवृत्त कर देती है। इन वृत्तियोंके प्रकाशका हेतु भी शुद्ध ब्रह्म ही है। शुद्ध ब्रह्मके प्रतिबिम्ब-आभास-के द्वारा प्रकाशित होती हुई ये ब्रह्माकारवृत्तियाँ किसी रूपमें अज्ञानावृत ब्रह्मको तो प्रकाशित करती हैं; परंतु ये अपने प्रकाशित करनेवाले शुद्ध ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

वृत्तिका स्वरूप तथा कार्य

वृत्तिमात्रके सदैव दो भाग होते हैं—(१) चेतन—यह अखण्ड-चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब आभास होता है। (२) अचेतन—यह जड अन्तःकरण—मन—का विकार होता है, जो जड विषयके अनुरूप होता है। वृत्ति अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा स्वच्छ होती है; और इसमें चेतनका प्रतिबिम्ब सहज पड़ता है। वृत्ति कभी अज्ञात नहीं होती। वृत्तिका कार्य चेतन तथा अचेतनका संयोग करना है। वृत्ति-का अचेतन भाग घट, पट आदि अज्ञात विषयोंके अज्ञानरूपी आवरणको अभिभव करता है और वृत्ति-आरूढ़ चेतन भाग जडविषयका प्रकाश करता है।

स्वतःप्रकाश चेतन (ब्रह्म) तथा जड घट, पट-विषयक वृत्तियोंके कार्यमें भेद

यह पहले कहा गया है कि शुद्ध निरुपाधिक ब्रह्म अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका विषय नहीं हो सकता। अज्ञानोपहित—अज्ञानावृत—ब्रह्म ही अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका विषय है। घट, पट स्वयं जड हैं, इसलिये उनके प्रकाश—ज्ञान—के लिये वृत्तिके जड तथा चेतन दोनों भागोंकी आवश्यकता है। जैसे पूर्व प्रकरणमें वर्णित हुआ है कि अज्ञानोपहित ब्रह्ममें मूल अज्ञानका आवरण है; परंतु चेतन स्वयंप्रकाश है। इसलिये आवरण-निवृत्तिके लिये ब्रह्माकारवृत्तिके जड भागका तो उपयोग है; परंतु जब आवरणकी निवृत्ति ब्रह्माकारवृत्तिके जड भागसे हो चुकी, तब उसके पश्चात् ब्रह्मके निरावरण हो जानेके कारण स्वतःप्रकाश ब्रह्मके लिये वृत्ति आरूढ़ चेतन भागका कोई उपयोग नहीं। यही कारण है कि शुद्ध ब्रह्मको वृत्तिका अविषय कहा गया है; क्योंकि वृत्तिका केवल आवरणकी निवृत्तिमें ही उपयोग है और आवरणसे रहित शुद्ध ब्रह्मके लिये वृत्तिके किसी भागका उपयोग नहीं है।

आत्रेय दर्शन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

महर्षि आत्रेयका उपदेशामृत चरकसंहितामें मिलता है। वे संसारबन्धनसे मुक्त, आत्मज्ञानी और लोकसंग्रही महर्षि थे, ऐसा उनके अनुभवपूर्ण वचनोंसे विदित होता है। महर्षि आत्रेय और ब्रह्मसूत्रकार महर्षि बादरायण समकालीन होंगे, यह ब्रह्मसूत्र 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेय' अ० ३।४।४४। के उल्लेखसे विदित होता है।

जिस तरह न्याय आदि षड्दर्शनोंने ईश्वर-आत्मा, पुण्य-पाप, कर्मवाद और पुनर्जन्म आदिकी मीमांसा की है, उसी तरह चरकसंहितामें भी पारमार्थिक विषयोंकी विचारणा की है।

षड्दर्शनोंके विषय और विचार-धारामें मर्मात्मक मतभेद रहा है। उसी तरह आयुर्वेदके विषय और विचार-धारा भी पृथक् हैं, फिर भी सब दर्शनोंने जिस तरह श्रुतिप्रमाणको स्वीकार किया है, उसी तरह आयुर्वेदने भी श्रुतिप्रमाणको स्वीकार किया है।

श्रुतिने आत्माको नित्य माना है, उसके अनुरूप आयुर्वेदने भी आत्माकी नित्यताको स्वीकार किया है। देहकी मृत्यु होनेपर आत्मा जीवित रहता है, या आत्माका भी नाश होता है, यह इन्द्रियोंद्वारा या बाह्य प्रमाणोंद्वारा विदित नहीं हो सकता, इस हेतुसे महर्षि आत्रेयने कहा है—

तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद् विचिकित्सां च, कस्मात्, प्रत्यक्षं ह्यल्पमनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदा आगमानुमान-युक्तिभिरुपलभ्यते यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि। (सू० ११।७)

आत्मा नित्य है या अनित्य ? आत्माका नाश होता है या नहीं, इस सम्बन्धमें बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि नास्तिक-बुद्धि और संशयको त्याग दें। कारण, प्रत्यक्ष, जो हम अनुभव कर सकते, हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनद्वारा वह स्वल्प है, अप्रत्यक्ष जो है वह अत्यधिक—सीमारहित है, उसका अनुभव (ज्ञान) श्रुति-अनुकूल अनुमानप्रमाण और युक्तिसे होता है, जो ये शब्द, स्पर्श आदि विषय प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहे हैं, ये सब प्रत्यक्ष अप्रमाणरूप हैं, यह तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेपर ही विदित होता है।

जैसे सम्मोहन विद्या (Mesmerism) द्वारा विधेयक-को वशमें करके अफीम खिलानेपर वश करनेवालेके संकल्पानुसार वह मधुर मिश्रीरूप भासता है, स्वाद मिश्रीका आता है, अफीमकी हानि (विषप्रकोप चिह्न) प्रतीत नहीं होती और मिश्रीका गुण ही प्राप्त होता है, वैसे इस संसारके जीवोंको 'मायया संनिरुद्धः' अर्थात् अविद्याके वशीभूत (श्वेता० ४।९) मान-कर उक्त वचन महर्षिजीने कहा है।

श्रुतिवचनोंके अर्थोंको आँख मूँदकर स्वीकार किंतु श्रुति-अनुकूल अनुमानप्रमाण और युक्ति करें, यह भी महर्षिजीने स्पष्ट कह दिया है।

चरकसंहिताके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर दार्शनिक मिलता है, इनमें विशेष महत्त्वका स्थान शारीरस्थान अध्याय है, वहाँ प्रश्नोत्तररूपसे महत्त्वके विषयोंका है। प्रारम्भमें अग्निवेशाचार्यने बारह श्लोकोंमें हैं, उनमेंसे पहले दो श्लोकोंमें पूछे हुए प्रश्नोंका लेखमें की जायगी।

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन किं पुरुषं कारणं कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निर्ज प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य

१. पुरुष (आत्मा) के धातु-भेदसे कितने
२. जन्म-मरणरूप संसारका प्रधान कारण माना है ?
३. पुरुषकी उत्पत्ति किससे होती है ?
४. पुरुष अज्ञानी है या ज्ञानी ?
५. पुरुष नित्य है या अनित्य ?
६. प्रकृति किसे कहते हैं ?
७. विकार कितने हैं ?
८. पुरुषका चिह्न क्या है ? इस देहमें चेतन है, यह कैसे जाने ?

उक्त सब प्रश्न अद्वैतवादके सिद्धान्तके अनुकूल हैं, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य और पूर्वमीमांसा-के सिद्धान्तोंमें आत्मा अनेक है एवं उत्तरमीमांसा-रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभ-भिक्षु आदिके मतमें भी आत्मा नाना माना शङ्कराचार्यके मतानुसार उत्तरमीमांसाके समर्थन किया है।

महर्षि आत्रेय शङ्कराचार्यजीसे अनेक शताब्दी हैं, अतः भाष्यकार शङ्कराचार्यके वचनोंका है, ऐसा नहीं मान सकेंगे, किंतु सूत्रकारके श्रुतिकथित अद्वैतवादका अनुसरण किया है।

यह भी यहाँ दर्शा देता हूँ कि भगवान् भगवान् धन्वन्तरिजी, दोनोंकी विचारधारा आत्रेयजी दृढ़ अद्वैतवादी हैं, एक आत्माको किंतु धन्वन्तरिजी सांख्य-दर्शनके अनुयायी

आत्मा मानते हैं, इस सम्बन्धमें आगे जहाँ-जहाँ मतभेद होगा, वहाँ स्पष्टीकरण किया जायगा।

आत्माके दो स्वरूप

प्रश्न १—पुरुषके धातुभेदसे कितने प्रकार हैं? इसके उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥
(शारीर० १।१४)

बुद्धियुक्त पञ्चभूतात्मक देह तथा चेतना (पञ्चप्राणात्मक, चेतनाधार आत्मा) इन छःका सम्मिलन (संयोग) होनेपर पुरुष (संयोगपुरुष, राशिपुरुष, जीव, कर्मजपुरुष) कहलाता है और केवल चेतना धातु एकको भी पुरुष (निर्विशेष पुरुष, ब्रह्म, ईश्वर, पर आत्मा) संज्ञा दी है।

जीवका स्वरूप कठोपनिषद्के वचन—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (१।२।४) तथा भगवद्गीताके (अ० १३।२१) के अनुरूप लिखा गया है।

सुश्रुतसंहिताकारने भी 'अस्मिञ्शास्त्रे पञ्चमहाभूतसमवायः पुरुष इत्युच्यते' (सू० १।२२।)से उपर्युक्त बात ही दर्शाया है।

ऊपर महर्षि आत्रेयने पुरुष शब्द एकवचनमें लिखा और धन्वन्तरिजीने शारीरस्थान (अ० १।१६) में इन कर्मपुरुषोंको इस शास्त्रकी मर्यादाके अनुरूप नाना कहा है।

निर्विशेष आत्मा

चरकसंहिताकारने निर्विशेष आत्माके लक्षण सूत्रस्थान (अ० १।५५) में निम्न शब्दोंमें दर्शाया है—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥

देहमें उपस्थित बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियोंसे यह चेतन पुरुष निर्विकार, पर (प्रकृतिसे श्रेष्ठ), आत्मा (प्राणिमात्रके अन्तरमें चैतन्यरूप), कारण (सृष्ट्युत्पत्तिका निमित्त कारण) रूप, नित्य (तीनों कालोंमें समभावसे रहनेवाला), द्रष्टा (कर्मोंका साक्षी) और सर्व क्रियाओंको देखता रहता है।

नित्य शब्दकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्तने सांख्यदर्शनके सिद्धान्तके अनुरूप संदेह-वचन उपस्थित कर समाधान किया है। आत्मा नित्य है और आत्माका गुण क्या अनित्य है? समाधान करते हैं कि ज्ञानरूप यदि अनित्य—उत्पत्ति-नाशवाला माना जायगा, तो (ज्ञान) की अनित्यताके साथ आत्मा (धर्मी) को भी अनित्य मानना पड़ेगा, अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान नित्य है।

महर्षिजीने शारीरस्थान (अ० १।८३,१।१००-१०१) के इन वचनोंसे बुद्धिके वृत्तिजन्य ज्ञानको पृथक् करके ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव (शा० १।१५१ में) स्पष्ट दर्शाया है।

महर्षि धन्वन्तरिजीने—

'तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।'

(शा०१।१७ से) ज्ञान आदि गुणोंको कर्मपुरुष-(चैतन्य) आश्रित माना है, ऐसा सांख्यदर्शनने भी नहीं माना; किंतु यह अनुकरण न्यायदर्शनके विचारका किया गया है।

महर्षि आत्रेयने दार्शनिक विचारोंकी छान-बीन गम्भीरतासे की है, किंतु धन्वन्तरिजी दार्शनिक चर्चामें अधिक नहीं उतरे हैं। धन्वन्तरिजीने लिखा है—

बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाऽबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।

(शा० १।९) अर्थात् पुरुष नाना, चेतनावान्, निर्गुण (सत्त्व आदि गुणसे रहित), अबीजधर्मी (प्रलयकालमें महत्तत्त्वादि जिसमें लय होते हैं, वह बीजधर्मी, ऐसा न हो वह अबीजधर्मी), अप्रसवधर्मी (युगारम्भमें जिसमेंसे महत्तत्त्वादिकी सृष्टि होती है, वह प्रसवधर्मी, ऐसा न हो वह अप्रसवधर्मी) और मध्यस्थधर्मी (साक्षी) रूप है।

यह वचन सांख्यशास्त्रके अनुरूप है। सांख्यकारिकाके—

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।
तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य॥

आर्या १८-१९ के ठीक अनुरूप सिद्धान्त स्थापित किया है। शारीरस्थानमें आगे पुनः दर्शाते हैं—

तत्र पूर्वं चेतना धातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति।
(शा० ४-८)

मन-बुद्धिरूप करण (अन्तःकरण) युक्त संयोगपुरुष गुणोंके कार्यरूप महाभूतोंके ग्रहणार्थ प्रवृत्ति करता है, यथार्थमें वही चेतन धातु हेतु (समवायी या उपादान कारण), निमित्त कारण, अक्षर (अविनाशी), कर्ता—

'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'

वचनसे यही क्रियाओंका कर्ता), मन्ता (देहमें अहंताके कारण मनन करनेवाला), वेदिता (जाननेवाला), बोध्य (बुद्धिरूप कारणके संयोगसे विषयोंका ज्ञाता), द्रष्टा (निरीक्षण करनेवाला), धाता (धारण करनेवाला), विश्वरूप (सर्वस्वरूप), पुरुष (प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें चैतन्यरूप), प्रभव (विविध रूपमें उत्पन्न होनेवाला या विश्वोत्पादक), अव्यय (सर्वदा सम अवस्था और सम परिमाणमें रहनेवाला), नित्य (उत्पत्ति-नाशरहित), गुणी (सत्त्वादिगुणमयी प्रकृतिको धारण करनेवाला), ग्रहण (प्रकृतिका आश्रय), प्रधान (मुख्य आधाररूप), अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे अतीत), जीव (जीवभावको प्राप्त), अज्ञ (अज्ञानी भी वही चैतन्य), पुद्गल (परमाणुसंघ या देहमय), चेतनावान्, विभु, भूतात्मा (प्राणिमात्रके अन्तरमें साक्षीस्वरूप), इन्द्रियात्मा(इन्द्रियोंका स्वामी) और अन्तरात्मा भी वही है । संक्षेपमें निर्विशेष आत्मा है, वही संयोग-पुरुष भी है । तथापि पुनः भ्रान्तिके निराकरणार्थ कहते हैं—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषसत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः । (शा० ४ । ३४)

प्राणिमात्रके हृदयमें अवस्थित यह श्रेष्ठ (निर्विशेष) आत्मा निर्विकार बुद्धि-शरीर आदिके हेतुसे सुख-दुःखाकार विशेष वृत्तिवाला प्रतीत होता है, किंतु विवेक करनेपर इन कारणों या हेतुसे ही विशेष था, यह निर्णय हो जाता है ।

श्रीचक्रपाणि आचार्यने भी परमात्माको निर्विकार और प्रतीत होनेवाले विकारोंको मनके धर्म दर्शाये हैं ।

महर्षि आत्रेयने यह अद्वैतात्माका ग्रहण श्रुतिवचनोंके अनुरूप ही किया है । श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तड्डिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो
जातानि भुवनानि विश्वा ॥

(अ० ४-२-४)

निर्विशेष आत्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, शुक्र, शुद्ध ब्रह्म, जल और प्रजापति हैं । हे देव ! तू स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी रूप धारण करता है, वृद्ध होकर दण्ड धारणकर भ्रमोत्पन्न कराता है, विश्वरूपसे उत्पन्न होनेपर तू ही 'एकोऽहं बहु स्याम' इति श्रुतिकथनके अनुरूप अनेक रूप हो जाता है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके १३वें अध्यायमें भी पु[illegible] (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप) बन गया है, ऐसा स्पष्ट [illegible] है, उसीके अनुरूप महर्षि आत्रेयने संयोगपु[illegible] दर्शाया है ।

प्रश्न २—संसारका प्रधान कारण पुरुषको [illegible] जाय ? इसके उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

रजस्तमोभूयां युक्तस्य संयोगो यमनव[illegible]
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या नि[illegible]

([illegible]

रजोगुण और तमोगुणयुक्त राशिपुरुषका सं[illegible] है (पुनः-पुनः जन्म-मरण देनेवाला है) । जब [illegible] तमोगुणकी प्रधानता निवृत्त होती है, सत्त्व[illegible] होनेसे मनोनाश, वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानकी [illegible] तब संसारसे मुक्ति मिलती है ।

राशिपुरुषोंके दो प्रकार हैं—ज्ञानी और अ[illegible] वृद्धिके कारण सत्त्व, रज, तमोगुणके कार्यरूप [illegible] को आसक्ति नहीं होती । इस हेतुसे आगे १४[illegible] १४९ श्लोकमें मोक्षप्राप्ति दर्शायी है ।

शेष जो अज्ञानी रहे, वे मोह, सुख, दुःख, [illegible] इन व्यावहारिक वृत्तियोंमें अहंता-ममता करके [illegible] और सुख-दुःखरूप फल भोगते रहते हैं । ([illegible]

भगवान् धन्वन्तरिजीने भी कर्मज पुरुष[illegible]

'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरु[illegible]

([illegible]

—इस वचनसे दिया है एवं शारीरस्थान अ[illegible]

'न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वग[illegible] नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्य[illegible] हेतुमुदाहरन्ति; आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षे[illegible] तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमि[illegible] मानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता [illegible] सन्निपातेष्वभियुज्यन्ते, यतोऽभिहितं 'पञ्च[illegible] समवायः पुरुषः, इति' स एष कर्मपुरुषश्चिकित्स[illegible]

उक्त वचनसे चरकसंहिताके संयोगपुरुष[illegible] पुरुषकी व्याख्या की है, निर्विशेष पुरुषोंकी [illegible] दर्शनके अनुरूप करनेके हेतुसे इस प्रकार [illegible] पड़ा है ।

प्रश्न ३—पुरुषका उत्पत्ति-कारण क्या [illegible] उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते पुरु[illegible]
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेष[illegible]

([illegible]

'प्रभवः पुरुषस्य कः' इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि पर आत्मा अनादि (आदिरहित) है, राशिपुरुष मोह, इच्छा, द्वेष आदि पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंसे धर्माधर्मका फल भोगनेके लिये देह धारण करता रहता है।

आत्माको सब दर्शनकारोंने नित्य माना है, महर्षि आत्रेयने वेदान्तदर्शनका अनुसरण किया है। वेदान्तदर्शनमें विश्वोत्पत्तिके पहले ब्रह्म, माया (प्रकृति), ईश्वर (सत्त्वगुण-प्रधान माया-उपहित चैतन्य), जीव (रजस्तमोगुणप्रधान अविद्याविशिष्ट चैतन्य), इनका सम्बन्ध और भेद—ये छः अनादि माने हैं अर्थात् पहलेसे ही उपस्थित थे। इनमेंसे ब्रह्म-को अनादि अनन्त कहा है, शेष पाँचको अनादि सान्त माना है। मायाकी अनादि व्याख्या—

'अनादेरीश्वरस्य शक्तित्वात् प्रकृतिरनादिः, पुरुषोऽपि तदंशत्वादनादिरेव।'

—इस वचनसे ब्रह्मकी अनादि व्युत्पत्तिसे पृथक् व्युत्पत्ति की है।

राशिपुरुषकी देहका जन्म-मरण ऊपर कहे हुए 'मोहेच्छा-द्वेषकर्मजः' के समान भगवद्गीताकारने निम्न वचनसे गुणसङ्ग दर्शाया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(१३ । २१)

प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिके गुणों (शब्द, स्पर्श आदि विषयों) को भोगता है, इसका कारण सत्त्व आदि गुणों (विषयों) में आसक्ति है। इस हेतुसे सद् और असद् योनियोंमें पुनर्जन्म लेता रहता है।

यथार्थमें आत्मा क्रिया नहीं करता। लोह-चुम्बकसे लोहके समान इस आत्मासे मन सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करके क्रियावाला बन जाता है। मन जड होनेसे उसे कर्तापन नहीं दिया गया। इसलिये राशिपुरुषको कर्ता कहा है। (चरक शा० १ । ७३-७४)।

प्रश्न ४—पुरुष अज्ञानी है या ज्ञानी ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है—

लक्षणो मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान् मनसो ज्ञानं सांनिध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमपि चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥
(शा० १ । १६-१७)

ज्ञान (वृत्तिज्ञान) का भाव और अभाव—यह लक्षण मनका है, आत्मा, इन्द्रिय और विषयका संनिकर्ष होनेपर भी मनका यदि असंयोग हो, तो ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, इसके विपरीत मनका भी संयोग-सहयोग, तभी ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। मन अण्ड है और प्रत्येक शरीरमें एक-एक है। ये दो गुण मनके हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनके अनुसार आत्मासे मन और विषयोंका संयोग होनेपर आत्मामें ज्ञानगुणकी उत्पत्ति होती है। सांख्य, योग और वेदान्त—इन तीनों दर्शनोंने आत्माको अविकारी, निर्गुण (गुणातीत) और समावस्थामें स्थित रहनेवाला माना है। इसलिये तीनोंके मतमें वृत्तिज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिको होती है, यद्यपि तीनोंकी समझानेकी शैलीमें अन्तर है; तथापि विनाशी (वृत्तिजन्य ज्ञान) किसीने निर्विशेष आत्मा-का गुण नहीं माना।

चरकसंहिताकार और सुश्रुतसंहिताकारने ज्ञान गुण (या वृत्तिजन्य ज्ञान) राशिपुरुषमें ही प्रतीत होनेवाला माना है, निर्विशेष पुरुषको ज्ञानस्वरूप माना है।

ऊपर १९ वें श्लोकमें मनको अणुरूप और प्रत्येक देहमें एक-एक, ये दो गुणयुक्त कहा है, उनमें अणु गुण न्याय-दर्शनके अनुरूप कहा है। वेदान्तदर्शनमें अन्तःकरणका परिमाण शरीर जितना फैला हुआ माना है, एक समयमें एकाधिक विषयोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये स्थूल दृष्टिसे अणुरूप यहाँ मान लिया है।

मन और इन्द्रियोंके सम्बन्धमें सूत्रस्थान इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (अ० ८) में विशेष विचार किया है।

मनके विषय—चिन्त्य (कर्तव्य या अकर्तव्यरूपसे चिन्तवन योग्य, विचार्य (युक्तिपूर्वक विचार करना), ऊह्य (भविष्यमें होनहारका विचार), ध्येय (ज्ञानप्राप्तिका विषय—लक्ष्य), संकल्प्य (ग्रहण-त्याग या धारण योग्य) और ज्ञेय (इन्द्रिय-निरपेक्ष शेष ग्राह्य विषय)—ये सब मनके विषय हैं, पहले मन इन्द्रियोंके संनिकर्षद्वारा करने योग्य कार्य करता है तथा अपना निग्रह; ऊह (आलोचन-सामान्यरूपसे ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंको जानना सांख्यकारिका २८ के अनुरूप) और विचार (हेयोपादेयरूपसे संकल्प) करना है, फिर बुद्धि उस सम्बन्धमें प्रवृत्ति करती है। (चरकशा० १-१८-१९)

आगे बुद्धिके विषयका भी अधिक स्पष्टीकरण किया है, आत्मा ज्ञानी है या अज्ञानी ? इस प्रश्नके उत्तरमें पहले आत्मा-को ज्ञानस्वरूप कहा है, फिर व्यावहारिक ज्ञान अथवा पारमार्थिक ज्ञान किसे होता है, इसका स्पष्टीकरण किया है। राशिपुरुष (बुद्धिविशिष्ट जीव) ज्ञानी या अज्ञानी है, यह प्रश्न उपस्थित हुआ है, निर्विशेष पुरुषके लिये यह प्रश्न पूछना अनुचित है।

प्रश्न ५—पुरुष नित्य है या अनित्य ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा॥
(शा० १।५७)

वह अनादि पुरुष नित्य है। इसके विपरीत जो किसी कारणसे उत्पन्न होते हैं, वे विनाशी होते हैं। जो कारणरहित सत् (तीनों कालमें समस्वरूपमें रहनेवाला) है, वह नित्य ही रहता है। इसके विपरीत हेतुज हैं, वह अनित्य होते हैं।

यह भाव छान्दोग्य श्रुतिके 'कथमसतः सज्जायेत' (अ० ६।२।२) और भगवद्गीताके 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (अ० २।१६) के अनुरूप दर्शाया है।

सांख्यदर्शनकारने सत्कार्यवाद माना है। उनके मतके भी अनुकूल है। उन्होंने प्रकृतिको परिणामी किंतु नित्य माना है। नित्य नूतन आकार धारण करनेपर भी उसके मूलतत्त्वका नाश नहीं होता।

प्रश्न ६—प्रकृति किसे कहते हैं? इसके उत्तरमें महर्षि कहते हैं—

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।
तस्माद् यदन्यद् व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम्॥
(शा० १।५९)

आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय (न्यूनताको प्राप्त न होनेवाला) है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है, उसे अव्यक्त और व्यक्त प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति, महत्तत्त्व आदिका अनुभव यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा नहीं होता तथापि लिङ्ग-ग्राह्य (अनुमानप्रमाणसे ग्रहण करने योग्य) होनेसे वह व्यक्त और अव्यक्त कहलाती है।

चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता दोनोंमें विश्वका मूलतत्त्व अव्यक्त प्रकृति है, तथापि दोनोंकी दर्शायी हुई प्रकृति पृथक्-पृथक् है। सुश्रुतसंहिताकार स्पष्ट शब्दोंमें सांख्यदर्शित प्रकृतिका ही ग्रहण करते हैं, तब चरकसंहिताकारने आत्माकी अपरा प्रकृतिका ग्रहण किया है, यह निम्न वचनसे विदित होता है—

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते।

यथा—

प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति। ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः।
(शा० ४।८)

निर्विशेष आत्मा गुणों (भूतों) का ग्रहण करनेके समय पूर्वतर (पहले ही) इतर गुणोंसे अन्तरिक्ष (आकाश) का ग्रहण करता है। जैसे प्रलयके अन्तमें महाभूतोंकी सृष्टिकी रचना करनेकी इच्छावाला अविनाशी आत्मा सत्त्व (पराप्रकृति या महत्तत्त्वरूप) रूपोपादान कारणसे युक्त होकर पहले आकाशकी उत्पत्ति करता है। फिर क्रमशः आ[illegible] बनकर वायुकी, वायु-उपाधिको धारणकर [illegible] तरह आगे जल, पृथ्वी आदिकी सृष्टिका निर्माण [illegible]

छान्दोग्यश्रुतिके 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' ([illegible] २।३) कथनके अनुरूप ईक्षणपूर्वक रचना [illegible] महर्षि आत्रेयने 'अणुना-कालेन भवति' इस [illegible] कालमें सृष्टिकी रचना हो जानेका दर्शाया है, एवं [illegible] भी तैत्तिरीयश्रुतिकथित 'तस्माद् वा एत[illegible] आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, [illegible] अद्भ्यः पृथ्वी।' (ब्रह्मा० वल्ली २।१) के अनु[illegible] है। सांख्यदर्शनके समान प्रकृतिके परिणामरूप नहीं [illegible]

प्रश्न ७—'विकाराः के' इस प्रश्नका उ[illegible] लिये महर्षिजी कहते हैं—

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्ट[illegible]
मूलप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोड[illegible]
(शा० १[illegible])

पञ्च सूक्ष्म महाभूत, बुद्धि, अपराप्रकृति, अहंक[illegible] तथा १६ विकार (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, [illegible] आदि विषय और मन), ये २४ तत्त्वोंके संघ[illegible] संज्ञा दी है, इनमें प्रकृतिको अन्य विकारोंका मूल [illegible] २३ रहे, वे सब कार्य विकार हैं।

यह कथन मुण्डकश्रुति (२।१।३) तथा [illegible] (अ० ७।४) के अनुरूप दर्शाया है, सांख्यका [illegible] लिया है।

प्रश्न ८—पुरुषका चिह्न क्या है? इस [illegible] अविकारी नित्य चैतन्य है, यह कैसे जान सके? [illegible] में महर्षिजी कहते हैं—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो [illegible]
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च [illegible]
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं [illegible]
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्त[illegible]
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना [illegible]
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्म[illegible]
(शा० १।[illegible])

प्राणापानौ (श्वासग्रहण और निःश्वासत्याग) [illegible] न्मेष, जीवन (देहमें सतत होनेवाला नैसर्गिक [illegible] मनकी गति, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें गमन, प्रेरणा, [illegible] (विपरीत विषयोंकी निरोधकवृत्ति), स्वप्नमें [illegible] (देहके भीतर नूतन उत्पत्ति करके उस ओर गमन [illegible] ४।३।१०), स्वप्नमें मृत्युकी प्राप्तिका अनु[illegible] आँखसे देखे हुएका बायीं आँखको बोध (स[illegible]

त्यभिज्ञानात्, न्या० ३।१।७ के अनुरूप), इच्छा, द्वेष, ख, दुःख, प्रयत्न, चेतना (सामान्य ज्ञान या चेतनावस्था), ति (मन, प्राण, इन्द्रियोंकी क्रियाका धारण, गीता अ० ८।३३), बुद्धि (निर्णय करनेवाली शक्ति), स्मृति और हंकार,—ये सब चिह्न जीवितावस्थामें विदित होते हैं (इनके तिरिक्त देहमें उष्णताकी भी प्रतीति होती है—अस्यैव पपत्तेरेष उष्मा—ब्रह्मसूत्र ४।२।१०)। भगवान् धन्वन्तरिजीने कर्मपुरुषके जीवित देहके निम्न १६ गुण दर्शाये हैं—

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः। (शा० १।१७)

कर्मपुरुषका अस्तित्व होनेपर सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, श्वासग्रहण, श्वासत्याग, निमेषोन्मेष, निश्चयात्मक ज्ञानरूपवृत्ति, संशयात्मकवृत्ति, संकल्प, विचारणा (हित-अहित सोचना), स्मरण, विज्ञान (विविध कलाओंका अनुभूत ज्ञान), अध्यवसाय (बुद्धिका व्यापार) और शब्दादि विषयोंको जानना—ये १६ गुण प्रतीत होते हैं।

उक्त प्रश्नोंके समान आगे अग्निवेशाचार्यने अन्य प्रश्न भी पूछे हैं; उनका विचार अन्य लेखमें किया जा सकता है।

स्त्रियोंके लिये चार आवश्यक नियम

तीर्थयात्रा स्पेशलट्रेनके प्रसंगमें एक जगह एक भ्रान्तकुलकी महिलाने आकर मुझसे कहा—'मैं आपसे बात पूछना चाहती हूँ। मैं चार चीजोंसे परहेज ती हूँ—(१) किसी महात्माका जूँठा प्रसाद नहीं ती, (२) किसी महात्माका चरण धोकर नहीं ी, (३) किसी महात्माका चरण-स्पर्श नहीं करती (४) किसी भी पर-पुरुषको माला या हार नहीं ाती। मेरे साथकी बहिनें तथा भाई इसको मेरा बड़ा दोष बतलाते हैं और कहते हैं कि 'तुम पाप करती हो। तुम्हारी शरीरपर दृष्टि है, तुम ाका महत्त्व नहीं मानती इत्यादि।' उस बहिनने यह कर पूछा कि क्या यह पाप है ? क्या मैं ऐसा करके करती हूँ ?'

मैंने उस बहिनसे कहा कि 'तुम्हारी चारों ही बातें र्श और शास्त्रसम्मत हैं। इनमें कोई भी दोष या नहीं है। हाँ, इनके विपरीत करना दोष या पाप य हो सकता है। किसी भी पुरुष या स्त्रीका खाना और उसका चरणधोवन पीना उचित नहीं इससे नाना प्रकारके रोग फैलते हैं; अनाचारका होता है। मिथ्यावादी तथा ढोंगी लोगोंको सीधे-नर-नारियोंको फुसलाकर अनुचित लाभ उठानेका र मिलता है।

रहा चरण-स्पर्श और माला पहनाना, सो माता-का चरण-स्पर्श करना, अपने स्वामीका चरण-स्पर्श करना तथा पत्नीकी हैसियतसे पतिको माला पहनाना अथवा आशीर्वादरूपसे पुत्रको माला पहनाना दोषकी बात नहीं है। बहिन भाईको भी माला पहना सकती है, परंतु आर्यनारीका आदर्श यही है कि वह न किसी परपुरुषका कभी स्पर्श करे, न किसी परपुरुषको माला ही पहनाये। ये भी अनाचारके सहायक सिद्ध हुए हैं।

अतएव इन चारोंका परहेज करके तुम बहुत ही श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित कर रही हो और अपने धर्मका पालन कर रही हो।

रही शरीरदृष्टिकी बात। सो शरीरदृष्टि तो असलमें गलेमें माला पहनने, चरण-स्पर्श कराने, चरणधोवन पिलाने तथा जूँठन खानेको देनेमें ही है; क्योंकि कण्ठ, चरण तथा मुख—ये अपवित्र, विनाशी तथा पाञ्चभौतिक शरीरके ही अङ्ग हैं।

मेरी इन बातोंसे बाई बहुत प्रसन्न हुई और फिर कई बाइयोंने इस बाईका अनुकरण करनेका नियम लिया। मैं समझता हूँ 'कल्याण'की पाठिका प्रत्येक माता-बहिनको इन चारों नियमोंका ग्रहण करना चाहिये—

१—परपुरुषका चरण-स्पर्श न करे।

२—परपुरुषका चरण-धोवन न पीवे।

३—किसीकी भी जूँठन न खाय।

और

४—परपुरुषके गलेमें हार न पहनावे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कामके पत्र

(१)

भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित हैं—

मैं भगवान् श्रीकृष्णको अखिल विश्वव्यापी, विश्वातीत, सर्वसद्गुणसागर, सर्वगुणाधार, गुणातीत, निर्गुण, निराकार, भगवत्स्वरूप, दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यसुधाम्बुधि, सच्चिदानन्दघन परात्पर पूर्ण ब्रह्म मानता हूँ ।

उनको जो नारायणका, महाविष्णुका अवतार मानते हैं, वे सब यथार्थ ही मानते हैं । पूर्ण ब्रह्ममें सबका समावेश होता है ।

श्रीकृष्णको जो साक्षात् भगवान् या पूर्ण पुरुषोत्तम न मानकर महापुरुष मानते हैं, उनसे मेरा विरोध नहीं है । वे अपनी मान्यताके अनुसार मान सकते हैं । परंतु उनकी मान्यता सब लोग स्वीकार कर लें, यह आग्रह क्यों होना चाहिये ? स्वामीजी श्रीदयानन्दजी भगवान् श्रीकृष्णको महापुरुष मानते हैं, यह सत्य है और महात्मा गाँधीजी श्रीकृष्णके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें संदेह करते हैं, यह भी सत्य है । ये अपनी-अपनी मान्यतामें स्वतन्त्र हैं । इसी प्रकार दूसरे भी स्वतन्त्र हैं । वरं श्रीकृष्णको भगवान् या अवतार माननेवालोंका पक्ष इनकी अपेक्षा निश्चय ही प्रबल है; इनकी केवल अपनी मान्यता भर है, उनके पास शास्त्र-प्रमाण है; क्योंकि जिन महाभारत और पुराणादि ग्रन्थोंमें श्रीकृष्णके लीलाचरित्रोंका वर्णन है, उन सभीमें उनको साक्षात् भगवान् या अवतार बतलाया गया है । गीतामें तो स्पष्ट ही उनकी भगवत्ताका वर्णन है । गीतापर जितने भी भाष्य या टीकाएँ संस्कृतमें हुई हैं, सभीमें उनको भगवान् या अवतार स्वीकार किया गया है । जिन ग्रन्थोंके आधारपर श्रीकृष्णका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, उन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर उन्हें भगवान् मानना भी अनिवार्य है । एक ग्रन्थकी एक बात मानी जाय और दूसरी नहीं, यह कदापि न्यायसंगत नहीं है ।

स्वामीजी श्रीशङ्कराचार्यजीने भगवान् स्पष्ट रूपसे अवतार तथा भगवान् माना है उनके गीताभाष्यमें यह बात नहीं मिली, है । श्रीशङ्कराचार्यके स्तोत्रग्रन्थोंमें भी साक्षात् भगवान् मानकर सैकड़ों जगह है । गीताभाष्यमें देखिये—

भाष्यभूमिकामें श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—

'...स आदिकर्ता नारायणाख्यो ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां अंशेन किल सम्बभूव ।'

× × ×

'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यसदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं लक्ष्यते ।'

'....वे आदिकर्ता नारायण नामक श्री भूलोकके ब्रह्म (ब्राह्मण) के ब्राह्मणत्वकी लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीमें अपने अंश रूपमें प्रकट हुए ।'

'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी भूतोंके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह और लोगोंपर अनुग्रह करते-से दीखते हैं ।'

गीता चतुर्थ अध्यायके पञ्चम श्लोककी श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

'या वासुदेवे अनीश्वरा सर्वज्ञाशङ्का परिहरन् श्रीभगवानुवाच यदर्थो हि अर्जुन

'भगवान् वासुदेवके सम्बन्धमें (आदि) मूर्खोंकी जो ऐसी शङ्का है कि सर्वज्ञ नहीं हैं तथा जिस शङ्काको दूर

अर्जुनका यह प्रश्न है, उसका निवारण करते हुए भगवान् बोले ।

इससे स्पष्ट है कि श्रीशङ्कराचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको ईश्वर तथा अवतार माना है । इसी प्रकार अन्यान्य सभी आचार्योंने इन्हें भगवान् माना है । महात्मा श्रीगाँधीजीने नहीं माना, इसलिये पूर्वाचार्यों, प्रकाण्ड विद्वानों एवं अनुभवी भक्तोंके अनुभवकी तथा अपनी मान्यताकी अवहेलना करके सब लोग श्रीकृष्णको भगवान् मानना छोड़ दें—यह कथन तो श्रीगाँधीजीको भी स्वीकार नहीं हो सकता ।

महात्मा श्रीगाँधीजीने श्रीकृष्णको भगवान् क्यों नहीं माना, इसका उत्तर तो वे ही दे सकते हैं । मैं क्या उत्तर दूँ ।

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रको भी मैं श्रीकृष्णकी भाँति ही पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान् मानता हूँ । रामचरितमानसको पढ़कर भी महात्मा गाँधीजी श्रीरामको भगवान् स्वीकार क्यों नहीं करते, इसका उत्तर मैं क्या दूँ । श्रीगाँधीजीके राम निर्गुण निरञ्जन राम हैं—यह सत्य है । श्रीतुलसीदासजीके राम भी निर्गुण निरञ्जन राम हैं, पर वे साथ ही दशरथनन्दन कौसल्यासुवन सीतापति श्रीरामभद्र भी हैं—

श्रीतुलसीदासजीके समस्त ग्रन्थ इस सिद्धान्तसे परिपूर्ण हैं—श्रीरामचरितमानसके निम्नलिखित कुछ शब्दोंपर आप कृपया ध्यान दीजिये—

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नाएहु माथ ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥
सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥
बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥
ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

ऐसे सैकड़ों प्रमाण-वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं ।

इसी प्रकार प्राचीन संस्कृतके रामायण ग्रन्थोंमें, पुराणोंमें, महाभारत आदिमें भी श्रीरामचन्द्रको साक्षात् भगवान् या अवतार कहा गया है ।

संसारमें मनुष्य उन्नति करते-करते जब उच्च शिखरपर पहुँच जाता है, तब उसे 'अवतार' कहने लगते हैं, यह बात ठीक नहीं है । 'अवतार' शब्दसे ही यह सिद्ध नहीं होता । अवतारका अर्थ है—अवतरण—उतरना और चढ़नेको कहते हैं आरोहण ।

रही आपकी बात सो आप अपने इच्छानुसार मान सकते हैं; परंतु मेरी समझसे तो भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीरामको सच्चिदानन्दघन साक्षात् परब्रह्म मानना ही यथार्थ मानना है । आपने मेरे विषयमें पूछा, सो मैं ऐसा ही मानता हूँ । लोग मुझे अन्ध-विश्वासी और अज्ञानी कहेंगे, तो कहें—इसके लिये मैं क्या कर सकता हूँ ।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

चमत्कारसे सावधान रहिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि जो लोग आपका गुणगान करते हैं, आपके अनुकूल ही सब बातें करते हैं, आपकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं, आपको व्यसनोंमें लगाते हैं, आपको इन्द्रिय-सुख तथा सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिका प्रलोभन देते हैं अथवा चमत्कार दिखाकर तुरंत भगवान्‌को मिला देनेकी बात कहते हैं—उनसे सदा सावधान रहना चाहिये ।

आपने जो चमत्कारकी बातें लिखी हैं—भगवान्‌का

प्रत्यक्ष प्रसाद मँगा देना, भगवान्‌के साक्षात् दर्शन कराना, भगवान्‌की दिव्य-ज्योतिके दर्शन कराना, भगवान्‌की आरती दिखाना और खास करके तरुणी स्त्रियोंको ही इन सब भगवत्कृपाओंकी अधिकारिणी बताना—मेरी समझसे तो धोखामात्र है। मुझे ऐसे कई प्रसङ्गोंका पता है, जहाँ लोग ऐसे चमत्कारोंके नामपर बुरी तरह ठगे गये हैं। आपको सावधान हो जाना चाहिये तथा अपने यहाँके लोगोंको खास करके स्त्रियोंको सावधान कर देना चाहिये। नहीं तो वे बुरी तरह चमत्कारके चंगुलमें फँसकर अपने धन-धर्मका नाश कर सकती हैं।

वे महात्मा पूजा करवाते हैं, धन भी प्रकारान्तरसे खूब लेते हैं। लोग उन्हें भगवान् मानते हैं—यह सब भी खतरेकी चीजें हैं।

साधु-सेवा करना तथा साधुसङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजनमें प्रवृत्त होना तो मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक कर्तव्य है, पर जहाँ स्त्री तथा शरीर-पूजाकी माँग हो, वहाँ सावधान हो जाना चाहिये, चाहे वहाँ भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करानेकी ही बात कही जाती हो।

संध्या-वन्दन प्रतिदिन कम-से-कम तीन करना चाहिये। कम-से-कम एक माला गायत्री द्विजमात्रको करना चाहिये। जो महात्मा गायत्रीके त्याग, सदाचारके त्याग तथा [illegible] माननेका आदेश देते हैं, उनसे भी सावधान चाहिये। फिर जो असत्य तथा छलका उपदेश सदाचारके त्यागको तथा यथेच्छाचारको ही [illegible] हों, भगवान्‌के नामके बदले अपने नाम तथा [illegible] स्वरूपके बदले अपने स्वरूपका ध्यान करने कहते हों, उनसे तो विशेष सावधान रहना है।

समय कलियुगका है। सभी ओर दम्भ [illegible] भेड़की खालमें भेड़िये घुसे हैं, संतके नामपर लालची सर्वत्र फैल रहे हैं, साहूकारके नामपर बाजार चल रहा है। इस समय विशेष सावधानी

बस, भगवान्‌का भजन कीजिये, [illegible] पालन कीजिये। माता-पिताकी सेवा कीजिये प्रीत्यर्थ घरका काम सचाई, ईमानदारी तथा [illegible] कीजिये। इसीमें कल्याण है, शेष भगवत्कृपा।

'सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा'

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

कर-कर तुम सुखकी याद व्यर्थ रोते हो,
भौतिक भावोंपर क्यों गति-मति खोते हो,
निज कर्मोंपर अधिकार तुम्हें रखना है,
कर्मानुसार ही निश्चित फल चखना है,
यह कर्मवादका स्रोत सदैव बहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

जीवनमें सुख-दुखका समान डेरा है,
यों हर्ष-विषादोंने यह जग घेरा है,
अज्ञानी व्याकुल होते—घबराते हैं,
ज्ञानी जन कष्टोंमें भी सुख पाते हैं,
है वीर वही जो द्वन्द्व सहर्ष सहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

व्याकुल होनेसे कष्ट न कट सकते हैं,
रोने-धोनेसे नेक न बट सकते हैं,
जो भोग-भाग्य है, उससे कौन बचा है,
वह तो निज कर्मोंने ही स्वयं रचा है,
क्यों व्यथित हो रहा, कायर जगत बना,
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

कष्टोंका स्वागत करो कसौटी जानो,
दृढ़ता, सहिष्णुताका महत्त्व पहचानो,
तप-त्याग साधना संकटमें मुसकाओ,
सुख-दुख दोनोंमें समता भाव दिखाओ,
है कौन न जो इस गतिको धन्य कहेगा,
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

जनवरी १९५६ का नया विशेषाङ्क सत्-कथा-अङ्क

अभीतक मिलता है। ग्राहक बनने-बनानेवालोंसे प्रार्थना है कि वार्षिक चंदा ७॥) मनीआर्डरसे भेज दें अथवा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेकी आज्ञा देनेकी कृपा करें। सजिल्दका मूल्य ८।।।) है।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य नौ विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क—(पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६॥), सजिल्द ७।।।)।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

१८ वें वर्षका संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ५३६, रेखाचित्र १३७ (फरमोंमें), सुन्दर बहुरंगे चित्र १४, इकरंगे हाफटोन सुन्दर चित्र ११, मूल्य ५≡), सजिल्द ६≡)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७॥) मात्र।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७॥)।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७॥), सजिल्दका ८।।।)।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ ८००, चित्र सुनहरी ४, तिरंगे ८०, संतोंके छोटे चित्र १४०, मूल्य ७॥)।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका चैत्रकृष्ण ६ तारीख १ अप्रैलके लगभग ऋषिकेश पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति उनका आषाढ़तक वहाँ ठहरनेका विचार है। सत्सङ्गके लि स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें, जो उन्हें रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पान प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

प्रेमी ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, उनको रजिस्टर्ड-पोस्टसे जनवरी अङ्क तथा मार्चतकके दो साधारण अङ्क प्रायः भेजे जा चुके हैं। जिनको अबतक न मिले पत्र लिखें। पत्रमें रुपये भेजनेवालेका नाम-पता वही लिखें, जो मनीआर्डरमें लिखा था। तारीख भी अवश्य लिखें। रुपयोंकी रसीद अथवा उसकी नकल भेज सकें तो शीघ्र पता रसीद न मिली हो तो डाकखानेमें जरूर शिकायत कर दें।

(२) जिनके रुपये नहीं आये थे, उनको 'सत्कथा-अङ्क' वी० पी० द्वारा भेजा गया जिनके वी० पी० के रुपये हमें मिल गये, उनको मार्चतकके दोनों अङ्क भेजे जा चुके हैं। हों तो अपने डाकखानेमें पता लगावें तथा हमें भी कृपया तुरंत सूचना दें।

(३) पुराने ग्राहकोंको भेजी हुई जो वी० पी० वापस लौटी हैं, उनमेंसे कुछ तो सूचनातक ग्राहकोंको डाकखानेसे नहीं मिली थी कि उनके नाम कोई वी० पी० आयी है कि ग्राहक महोदय संयोगवश डाकखाने एक दो दिन देरसे पहुँचे और तबतक वी० पी गयी। ऐसे ग्राहक प्रायः कल्याण पढ़ना चाहते हैं, इसलिये उनसे निवेदन है कि वे ७॥) मनीआर्डरसे भेजकर 'सत्कथा-अङ्क' के ग्राहक बन जायँ या हमें वी० पी० से भेजनेका आदे

(४) कुछ सज्जन थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये पता बदलवाते हैं, इससे बार-बार ग्राहक-रजिस्टरका पृष्ठ भद्दा हो जाता है; पहलेसे छपे हुए पतेकी स्लिपको अङ्क भेजते स पड़ता है, जरा भी भूल रह जाती है तो ग्राहकको अङ्क नहीं मिलता। अङ्क गुम हो जा असंतोष होता है तथा शिकायत मिलनेपर हमें दुबारा अङ्क भेजना पड़ता है। इसलिये स बहुत लंबे समयके लिये स्थान-परिवर्तन करनेपर ही पता बदलवाना चाहिये। पता बद देते समय ग्राहक-नंबर, पुराना और नया पता पूर्णरूपसे साफ अक्षरोंमें कम-से-कम अवश्य लिखना चाहिये। थोड़े समयके लिये पता बदलवाना हो तो अपने डाकखाने चाहिये। या पता न बदलवाकर अपने स्थानीय सुहृद्-बन्धुसे कहकर व्यवस्था करा लेनी

कृपाकर ग्राहकनंबर नोट करना न भूलें।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें हम बार-बार प्रार्थना करते आये हैं कि वे अपना-अपना ग्राहक-नंबर नोट कर लें और पत्र-व्यवहार करते या रुपया भेजते समय अवश्य लिखें, परंतु अब भी कई पत्र और मनीआर्डर बिना ग्राहकनंबरके आते हैं। अतः हमारी पुनः-पुनः विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनंबर जो 'कल्याण' के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है अवश्य नोट कर लें और पत्र-व्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें।

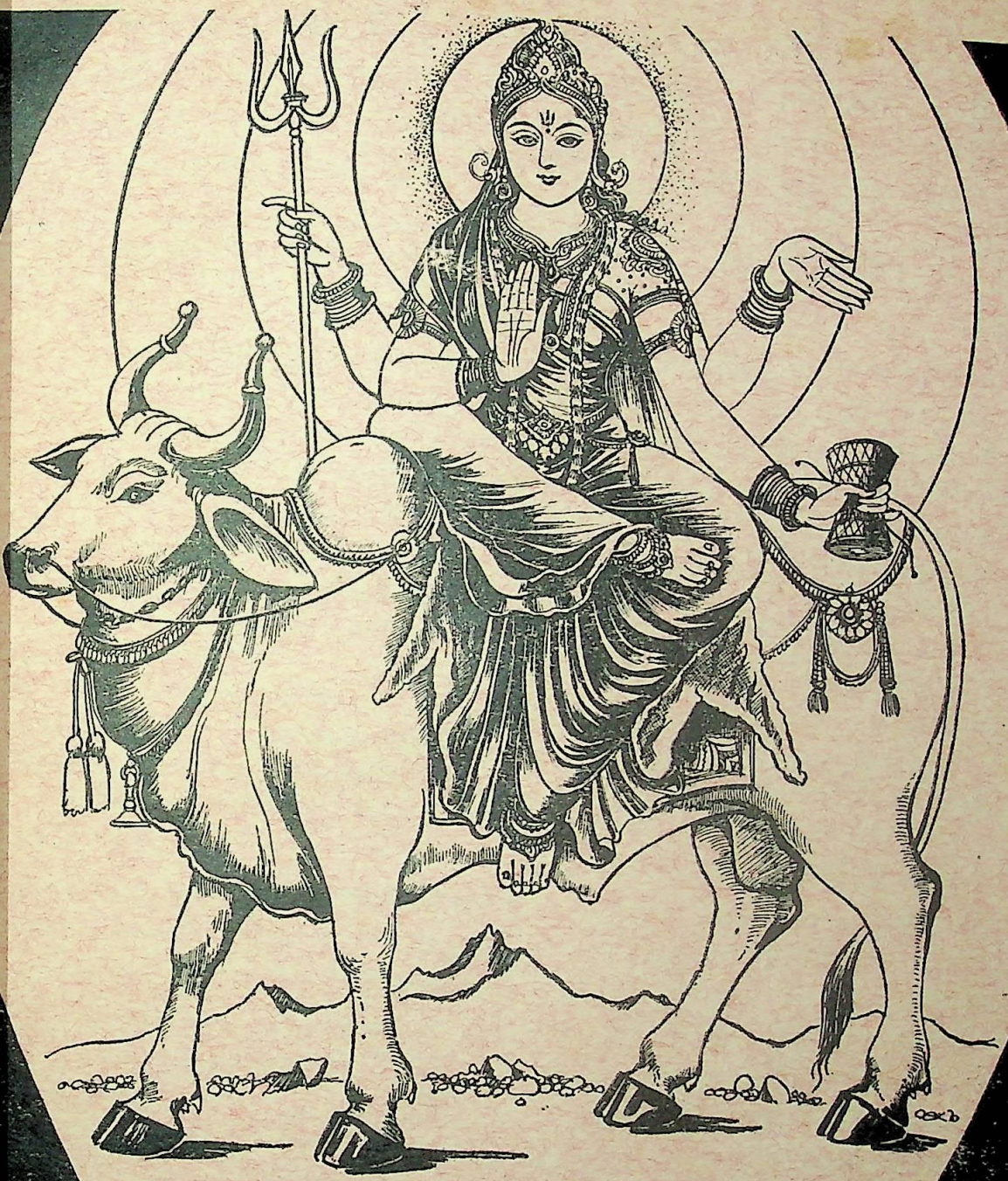

कल्याण

वर्ष ३०
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१३, जून

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–घुटनोंके बल चलते हुए बाल राम [कविता]	९६१
२–कल्याण ('शिव')	९६२
३–विचार-साधना (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)	९६३
४–राम-नाम (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ...	९७०
५–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)	९७१
६–दिव्य चरणकमल-रज (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९७६
७–ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती) ..	९७९
८–महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य [नाटक] (सेठ श्रीगोविन्ददासजी) ...	९८६
९–गूँगेका गुड़ [कविता] (श्रीसूरदासजी)	९९१
१०–वैदिक-उपासना-विमर्श (पं० श्रीबेचू मिश्रजी शास्त्री, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०)	९९२
११–संतानका सुख एक मृगतृष्णा (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ...	९९५
१२–नरकरूप जीवन [कविता] (श्रीतुलसीदासजी)	९९७
१३–भगवान् श्रीरामके दत्तक पुत्र (श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)	९९८
१४–रामके समान दूसरा कौन है? [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ...	[illegible]
१५–पतनोन्मुख मानव-समाजकी रक्षा कैसे हो? (हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानका अंश)	[illegible]
१६–सच्चा धर्म–प्रेम और सेवा (श्रीभगवानदासजी केला)	[illegible]
१७–धर्मके स्तम्भ (पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)	[illegible]
१८–ममता तू न गयी मेरे मन तें! (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	[illegible]
१९–झूठी प्रीति [कविता] (गुरु नानकजी)	[illegible]
२०–दिव्य-दर्शन (श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')	[illegible]
२१–कल्याणकारी प्रेरणा (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	[illegible]
२२–श्रद्धाकी विजय [कहानी] (श्री 'चक्र')	[illegible]
२३–कामके पत्र	[illegible]
२४–प्रभु राम वही घनश्याम वही [कविता] (श्रीसूर्यबलीसिंहजी दसनाम, एम्० ए० साहित्यरत्न)	[illegible]
२५–भद्रा मुद्रा (श्रीजशवन्तराय जयशङ्कर दाधी)	[illegible]

चित्र-सूची

तिरंगा ...

१–घुटरुन चलत रामचंद्र बाजत पैंजनिया ...

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Amphalea

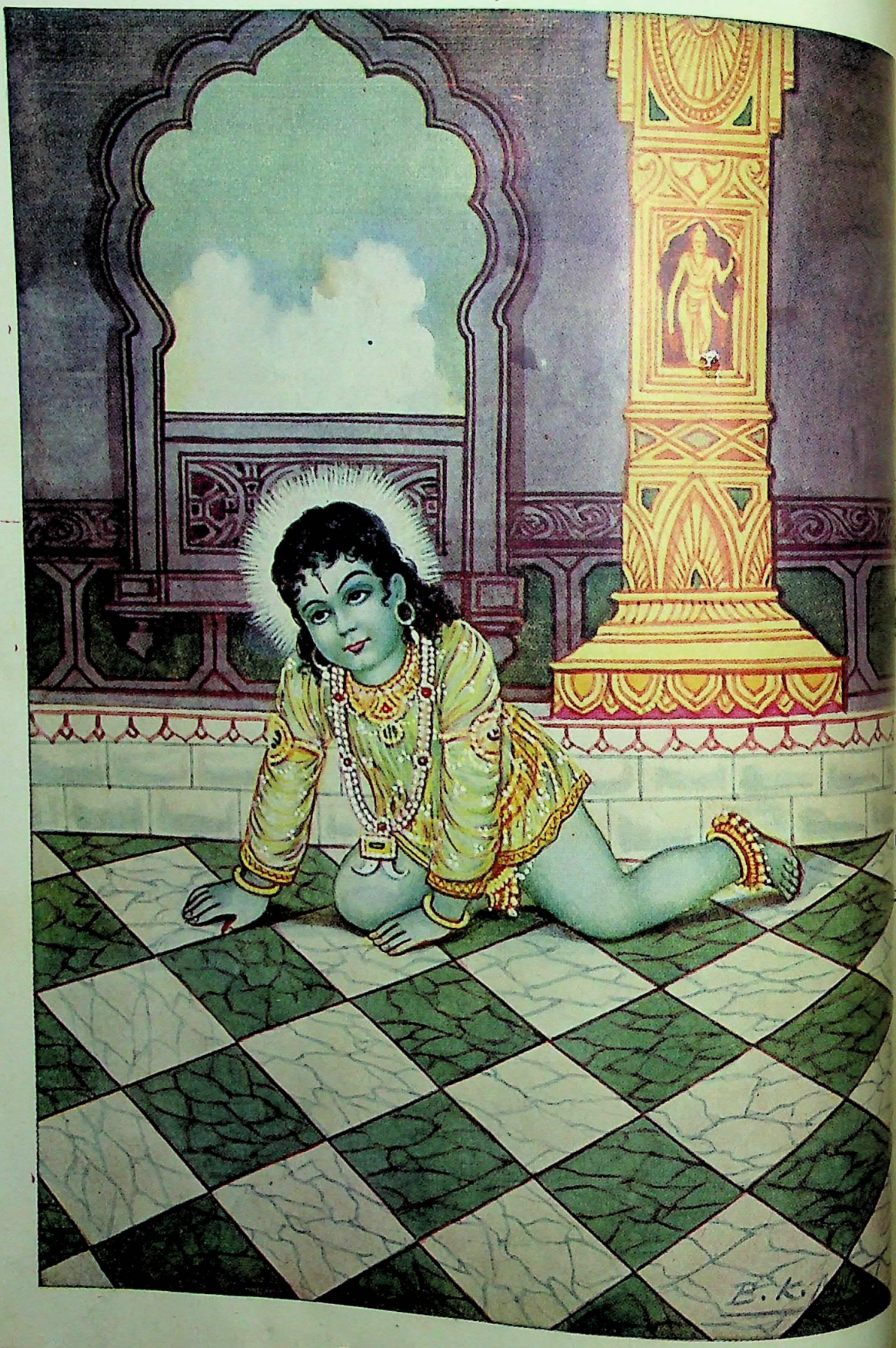

घुटरुन चलत रामचंद्र बाजत पैंजनिया

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

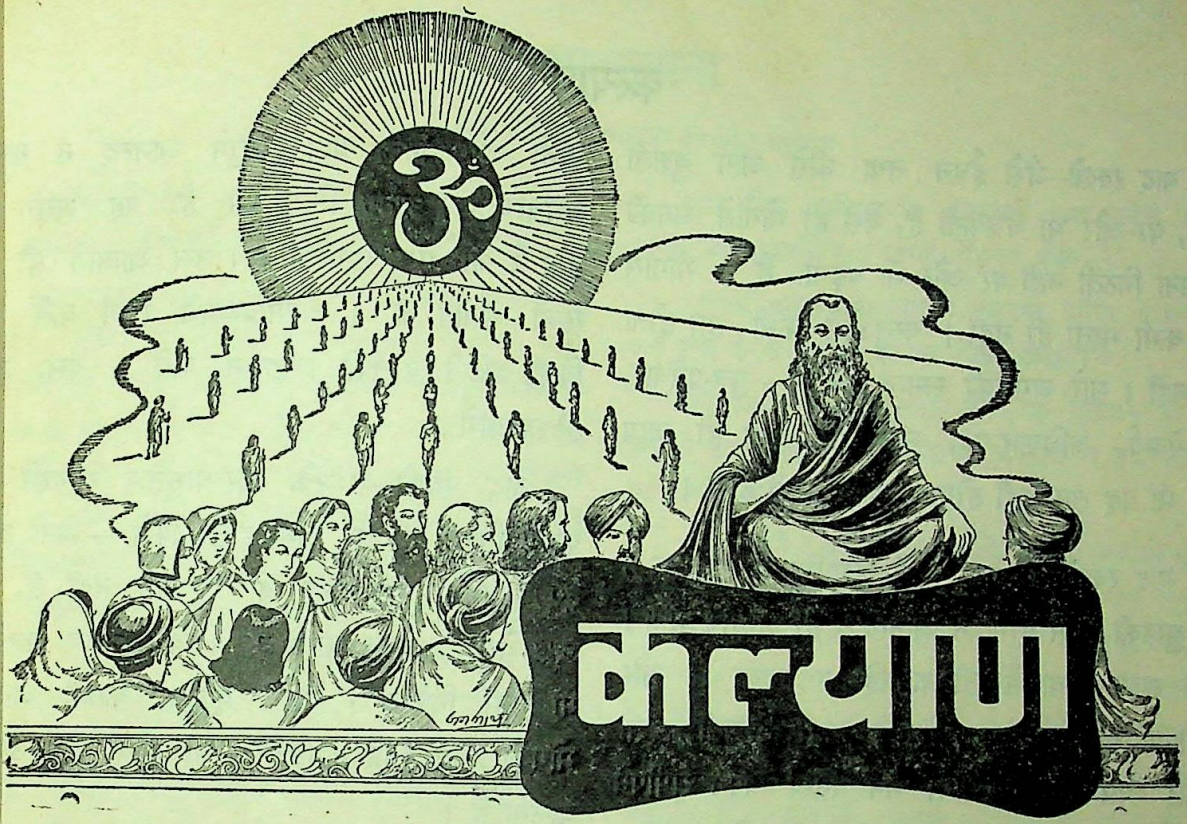

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर आषाढ २०१३, जून १९५६ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ३५५

घुटनोंके बल चलते हुए बाल राम

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गभीर जान जेहिं देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हियँ हरि नख अति सोभा रूरी ॥
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा ॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥

कल्याण

याद रक्खो—जैसे ईंधन तथा घीसे आग बुझती नहीं, पर और भी धधकती है, वैसे ही भोगोंसे मनकी कामना मिटती नहीं वरं और भी बढ़ती है। भोगोंसे मन कभी भरता ही नहीं। वस्तुओंसे कभी तृप्त होता ही नहीं। सारे जगत्‌की समस्त वस्तुएँ—पुत्र-परिवार, धन-ऐश्वर्य, अधिकार-पद, मान-कीर्ति प्राप्त हो जाय तब भी वह तृप्त नहीं होगा—शान्त नहीं होगा।

याद रक्खो—जबतक मनमें अशान्ति है, तबतक न तो सुखकी प्राप्ति होगी, न आनन्दका ही अनुभव होगा। जैसे अशान्त वायुमें दीपक हिलता रहता है और समीपकी वस्तु भी यथार्थरूपमें नहीं दीखती; इसी प्रकार व्यग्र और अशान्त मन नित्य अपने समीपमें स्थित परम वस्तु भगवान्‌को और उनके अखण्ड सुख-स्वरूपको नहीं देख पाता तथा बाहर सारे जगत्‌में खोजता फिरता है। इसलिये मनको इच्छारहित करनेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—संतोषसे ही इच्छाका नाश होता है। संतोष न तो आलस्यका नाम है, न उद्यमहीनताका और न असफल-जीवनकी निराशाका ही। वस्तुकी बड़ी चाह थी, प्रयत्न करके थक गये—नहीं मिली, चलो संतोष करो—यह संतोष नहीं है। मनमें इच्छा बनी है तबतक संतोष कैसा। संतोष तो सुख तथा आनन्द-की अनुभूतिका परम साधन है, जो भगवान्‌के मङ्गल-विधानपर विश्वास करनेसे या आत्माकी नित्य-सुखरूपतामें स्थित होनेसे प्राप्त होता है।

याद रक्खो—अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम ही असंतोष है। अप्राप्त वस्तुके लिये आतुर रहना और नित्य प्राप्त वस्तुमें आनन्द न मानना असंतोष है। आत्मा नित्य प्राप्त है, वह असंग है, मुक्त है और परम सुखरूप है। उस आत्मामें ही तृप्त रहना संतोष है। आत्मस्वरूपमें रमण करो और किसी बाहरी वस्तुकी इच्छा न करो। बस, सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—शरीरके प्रारब्धानुसार संसारमें जो पदार्थ मिलना है, वह बिना इच्छा किये—बिना आतुर हुए भी मिलेगा ही और जो प्रारब्धमें नहीं है, वह लाख रोने, आर्तनाद करने या त्रिविध उपाय करनेपर भी नहीं मिलेगा। अपने पूर्वकृत कर्मके अनुसार भोगकी प्राप्ति होगी। वस्तुतः जो बोया है, उसीको काटना है।

याद रक्खो—परम सुखकी प्राप्तिके लिये इच्छामात्रका ही त्याग करना आवश्यक है। परंतु सम्पूर्ण इच्छा-त्यागका अभ्यास करनेवालेको पहले दूसरेकी निन्दा, दूसरेका अहित, परधन, परस्त्री, दम्भ, दुराचार, वैर, चोरी, संग्रह-परिग्रह और परायी वस्तुमात्रकी इच्छाका त्याग करना चाहिये। जितनी ही बुरी इच्छाओंका नाश होगा, उतनी ही सदिच्छा उत्पन्न होगी; फिर उन सदिच्छाओंको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना होगा।

याद रक्खो—इच्छा जितनी ही कम होगी, उतना ही सुख बढ़ता जायगा। जो वस्तु अप्राप्त है, उसकी इच्छा न करो और जो प्राप्त है, उसका उपयोग अपने सुखके लिये न करके जगत्‌के लिये करो। इससे इच्छाका दमन होगा। जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, यह दृढ़ भावना करो। इससे इच्छाका त्याग सहज ही हो सकेगा।

'शिव'

विचार-साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

इस जगत्‌में ज्ञान-जैसी पवित्र करनेवाली वस्तु दूसरी नहीं। यहाँ यज्ञ, दान, तप, सेवा, पाठ-पूजा, व्रत-उपवास, जप-ध्यान आदि जितने अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले साधन हैं तथा गङ्गा आदि तीर्थ भी जो पापका नाश करके मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं, इनमें कोई भी ज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकते। ये सभी चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञान उत्पन्न करनेमें साधनरूप होनेके कारण पवित्रकारक माने जाते हैं। तप, पाठ-पूजा, तीर्थाटन आदि साधनमात्र हैं, परंतु ज्ञान साध्य है। तप आदिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इतनी ही इनकी चरितार्थता है; क्योंकि अन्तःकरणके निर्मल होनेके बाद ज्ञानके लिये कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता। अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ज्ञान तो अपने-आप प्रकट होता है; क्योंकि वह स्वयंभू है। शरीरमें सर्वत्र व्याप्त आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है और अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर आत्माका प्रतिबिम्ब उसमें ठीक-ठीक पड़ता है। यह आत्मदर्शन ही ज्ञान है।

यह प्रसङ्ग चल रहा था कि इतनेमें वहाँ एक वयोवृद्ध पुरुष आये। प्रसङ्गकी समाप्ति तक बैठे-बैठे सुनते रहे। फिर बोले—'स्वामीजी! आप जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो कोई सहज साध्य वस्तु नहीं दीखती। मैंने तो बहुत अध्ययन किया, बहुत अभ्यास किया, योगवासिष्ठ पढ़ा, विचारसागर बाँचा, पञ्चदशी भी देखी और उपनिषद्‌का भी स्वाध्याय किया, परंतु ज्ञान क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है—यह बात अभी समझमें नहीं आयी। तब फिर ज्ञानसे जन्म-मरणका बन्धन दूर होता है, यह बात कैसे समझमें आ सकती है? इनके पढ़नेसे शब्दज्ञान जरूर हुआ और तर्कसे दूसरोंको अद्वैत ज्ञान भी समझा सकता हूँ, परंतु मेरे मनका समाधान नहीं होता कि वह ज्ञान क्या वस्तु है? और उससे भव-बन्धन कैसे कटता है? आप कृपा करके यह बात समझा दें तो मैं आया करूँ।' उस दिन तो समय हो गया था, इसलिये दूसरे दिन जरा पहले आनेके लिये कहकर मैंने उनको विदा किया, और उसके बाद दूसरे सत्सङ्गी भी धीरे-धीरे जाने लगे।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ पहुँचे और उचित शिष्टाचारके साथ सामने बैठकर बोले—

'आपकी आज्ञाके अनुसार मैं समयपर हाजिर हो गया। अब कृपा करके मुझको ज्ञानका विषय समझाइये।'

मैंने कहा—देखिये, कल मैंने यह बतलाया था कि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता; अन्तःकरण शुद्ध होनेपर वह अपने-आप प्रकट हो जाता है।

अब देखिये! प्रत्येक वस्तु अपने असली स्वरूपमें दीख पड़े—इसीका नाम ज्ञान है और इसके विपरीत जब वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें न आये तो उस स्थितिको अज्ञान कहते हैं। इस अज्ञानको शास्त्र 'अविद्या' नामसे भी पुकारते हैं और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेमें यह बाधक होती है। इस अविद्याका मूल चार प्रकारका है और उनमें फिर कितने ही दूसरे भेद उत्पन्न होते हैं। जो अपना स्वरूप नहीं है उसे अपना स्वरूप मानना। अर्थात् जो 'मैं' नहीं, उसको 'मैं हूँ'—ऐसा कहना; और जो 'मैं' है उसको 'मैं' नहीं,—ऐसा कहना। जो स्वभावतः अपवित्र है उसको पवित्र मानना और जो सदा ही पवित्र है उसको अपवित्र समझना। जो अजन्मा और अविनाशी है उसको जन्म-मरणके विकारसे युक्त मानना और जो निरन्तर क्षयशील है, उसको अजर-अमर बनानेका प्रयत्न करना। जो नित्य सुखरूप, आनन्दरूप है उसको दुखी मानना और जो कभी सुखरूप नहीं हो सकता, उसको सुख पहुँचानेमें जीवनको बर्बाद करना। यह अविद्या है। ज्ञान नित्य है, उसको उत्पन्न करना नहीं पड़ता, तथापि इस अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण ज्ञानका अनुभव नहीं होता। यह बात समझाते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'

अज्ञानके द्वारा ज्ञानके ढँक जानेपर प्राणी मोहको प्राप्त होते हैं। भगवान् कहते हैं कि ज्ञान नित्य है, फिर भी अविद्याका पर्दा पड़ जानेके कारण मनुष्य अज्ञानमें भटका करता है। बादलके आ जानेपर जैसे सूर्य दीखता नहीं और न दीखनेपर कोई यह नहीं मानता कि सूर्य है ही नहीं, इसी प्रकार ज्ञानका दर्शन करनेके लिये ही अविद्याका

आवरण दूर करना है, ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना पड़ता।

इस आवरणको दूर करनेके लिये योगवासिष्ठने विचारको मुख्य साधन बतलाया है। श्रीशङ्कराचार्य भी इसी साधनको बतलाते हुए कहते हैं—

'नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।'

पण्डितजी—हाँ, यह मैं जानता हूँ, यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है।

मैं—अच्छा तो उसका अर्थ भी आप ही कीजिये।

पण्डितजी—ज्ञानं विना विचारेण (वा) अन्यसाधनैः (किञ्चित्) नोत्पद्यते। अर्थात् ज्ञानके बिना वस्तुके विचारमात्रसे या दूसरे साधनोंसे कुछ उत्पन्न नहीं होता, यह इसका अर्थ है।

मैं—वाह पण्डितजी वाह! अपने नामको आपने सार्थक कर दिया। पण्डा सूक्ष्मबुद्धिः अस्य अस्ति स पण्डितः—जिसकी सूक्ष्म बुद्धि है वह पण्डित है। पण्डितजी! जरा विचारिये तो, आप स्वयं कहते हैं कि यह श्लोक 'अपरोक्षानुभूति' का है। अनुभूतिका अर्थ है यथार्थ ज्ञान और वह भी परोक्ष नहीं, अपरोक्ष—अर्थात् अनुभवमें आया हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान। अब जहाँ अपरोक्ष ज्ञानका विषय चलता हो वहाँ साग-भाजी उत्पन्न करनेकी तो बात ही नहीं होनी चाहिये। आपने तो ऐसा ही अर्थ कर दिया। यहाँ तो ज्ञानकी बात है और अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता है, यह समझाना है। प्रसङ्गके अनुसार पदका अर्थ करना चाहिये, न कि अपनेको जैसा ठीक लगे वैसा। इस श्लोकार्द्धका यह अन्वय है—

'विचारेण विना अन्यसाधनैः ज्ञानं न उत्पद्यते।'

'विचारके बिना अन्य किसी भी साधनसे ज्ञानका उदय नहीं होता।' अविद्याका आवरण हटे, तब ज्ञानका उदय हो, इसलिये आवरणकी निवृत्तिके लिये भी विचार ही मुख्य साधन है।

आपको जो कठिनाई पड़ रही है वह यही है—'स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः'—जहाँ अपने-आप ही पोथी पढ़कर धीर गम्भीर विद्वान् हो जानेकी संतुष्टि होती है, वहाँ उसका ऐसा ही फल निकलता है। इसका परिणाम क्या होता है—यह आपको अज्ञात नहीं है, अतः आपको साधनसम्पन्न होना चाहिये।

विचारकी स्थिरताके लिये कुछ आश्रय चाहिये, बिना उसके वह कहाँ स्थिर रहेगा? अन्तःकरणमें तो विविध भोग-कामनाएँ भरी रहती हैं, तब फिर विचार स्थिर कहाँ रहेगा?

मान लीजिये कि आप यात्रामें निकले हैं। पासमें एक लोटा है, उसमें आपने मट्ठा भर रक्खा है। अब आपको दूध लेना है। यदि आप मट्ठेके साथ दूध लेंगे तो दूध बिगड़ जायगा और इससे मट्ठा भी खाने योग्य नहीं रहेगा। इसलिये या तो आपको दूध पीनेका विचार छोड़ देना चाहिये या मट्ठेका मोह त्यागना चाहिये। दोनों चीजें एक पात्रमें नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार यदि तत्त्वज्ञान रूपी दूध पीना है तो अन्तःकरणमें भरे हुए भोगकामनारूपी मट्ठेको त्याग देनेसे ही छुटकारा है। यदि कामनाओंको न छोड़ सकें तो फिर तत्त्वज्ञानसे हाथ धोना पड़ेगा। दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

इसीलिये हमारे शास्त्रोंने साधन-चतुष्टयको ज्ञान-साधनमें आवश्यक बतलाया है। इसलिये पहले तो विवेकके द्वारा सम्पूर्ण वैराग्ययुक्त बने, वैराग्ययुक्त होकर षट्सम्पत्ति प्राप्त करे; क्योंकि वैराग्य न होगा तो षट्सम्पत्तिका दम्भ भी हो सकता है, अतएव वैराग्य तो प्रमुख साधन है। इसके बाद सच्ची मुमुक्षुता जाग्रत् होगी और तब थोड़े ही साधनसे आपको ज्ञानका साक्षात्कार हुए बिना न रहेगा।

फिर, विचारके लिये बुद्धिको एकाग्र तथा तीक्ष्ण बनाना चाहिये। इसके लिये मल और विक्षेप—इन दो दोषोंको दूर करना चाहिये। इन दोनों दोषोंके दूर होनेपर सूक्ष्मविचारसे आवरण भङ्ग सहज ही हो जायगा।

पहले जो करना चाहिये, वह किया नहीं और बारंबार पढ़नेमेंही लगे रहे, इससे भला ज्ञान स्थिर कहाँसे होगा! वाचनमें आनन्द अवश्य मिलता है, परंतु वह विषयोंके आनन्द-जैसा ही है। विषय जैसे भोग-कालमें ही आनन्द देते दीखते हैं और पूर्व-उत्तरकालमें तो केवल ग्लानिका ही अनुभव होता है, इसी प्रकार अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता है, इसलिये जबतक बाँचते रहें या चर्चा करते रहें, तभीतक ज्ञानका आनन्द मिलता है, पूर्व-उत्तरकालमें ग्लानि ही रहती है, जैसे इस समय आपको दीखता है, वैसे ही।

अब देखिये पण्डितजी! इस भावको श्रीशङ्कराचार्यने इस प्रकार वर्णन किया है—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥

वाणीके द्वारा धाराप्रवाह भाषण, या शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशलता तथा विद्वान् पुरुषकी विद्वत्ता मुक्ति प्रदान नहीं कराती, बल्कि केवल संसारके मायिक भोगोंको प्राप्त कराती है ।

अस्तु, विद्वत्ता और ज्ञानके बीच एक और महान् अन्तर है, वह भी समझने योग्य है । विद्वत्ता श्रमसाध्य है, प्रयत्नसे पुरुष उसको प्राप्त कर सकता है। सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप उसकी प्राप्ति हो सकती है ; परंतु ज्ञान कृपासाध्य है । जब ईश्वरकी और गुरुकी कृपा होती है, तभी विशुद्ध अन्तःकरणमें स्वयं ज्ञानका स्फुरण होता है । रूपकसे समझावें तो ज्ञान स्वयम्भू है और विद्वत्ताकी प्रतिष्ठा परिश्रम करके करनी पड़ती है ।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रबल पुरुषार्थकी या बहुत-से ग्रन्थोंके बाँचनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तःकरणको निर्मल करके दृष्टिको सम करनेकी ।

अब ज्ञान क्या है, यह समझनेकी चेष्टा करें । मैंने पहले कहा था कि वस्तुका सम्यग्दर्शन होना ही ज्ञान है । इसलिये मैं देह हूँ—और इस कारण देहके सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी—पदार्थ मेरे हैं—यह अज्ञानका स्वरूप है । और 'मैं आत्मा हूँ'—यह ज्ञानका स्वरूप है । 'मैं ब्रह्म हूँ' या 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा केवल बोलनेसे ही आनन्द नहीं मिलता, बल्कि इसका पक्का निश्चय हो जाना चाहिये और वह जीवनमें उतर जाना चाहिये । यह बात श्रीअध्यात्म-रामायणमें इस प्रकार समझायी गयी है—

बुद्धिप्राणमनोदेहाहंकृतिभ्यो विलक्षणः ।
चिद्रूपमात्मा हं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम् ॥
येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे ।
विज्ञानं च तदेवैतत् साक्षादनुभवेद् यदा ॥

जिस (ज्ञानके) साधनके द्वारा 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और बुद्धि, प्राण, मन, शरीर और अहङ्कारसे विलक्षण हूँ'—ऐसा निश्चय होता है, वही 'ज्ञान' का स्वरूप है, यह श्रीरामचन्द्रजी स्वमुखसे कहते हैं । इस विलक्षणताका जब साक्षाद् अनुभव होता है, जीवनमें जब यह बात उतर आती है, तब वह 'विज्ञान' कहलाता है ।

'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चित हो जानेपर 'मैं सत्-चित्-आनन्दरूप हूँ'—यह निश्चय हो जाता है । यह निश्चय हो जानेके बाद ऐसा अनुभव होने लगता कि 'मैं सत् हूँ'—इसलिये मेरा जन्म-मरण नहीं होता है; 'मैं चित् हूँ'—इसलिये चेतनस्वरूप होनेके कारण ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुझे भटकना नहीं है तथा मैं आनन्दस्वरूप हूँ, अतएव सुखकी प्राप्तिके लिये भोगसाधन इकट्ठा करना भी नहीं है ।

इसी प्रसङ्गको भगवान्ने उत्तरगीतामें इस प्रकार समझाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

जो योगी ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त हो गया है और इस प्रकार उसे जो करना था वह सब कर चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञानीको कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । यदि यह समझे कि कुछ कर्तव्य शेष रह गया है तो वह यथार्थ तत्त्वज्ञानी नहीं है । उसका ज्ञान परोक्ष है । अनुभव होनेके बाद तो कर्तव्यभ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है ।

इस प्रकार मैं आत्मा हूँ—यह अनुभव होनेके बाद तो बस आनन्द-ही-आनन्द, चतुर्दिक् आनन्द ही है ! शरीर अपने प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोग भोगता है । यह हमें द्रष्टाभावसे देखते रहना है । इससे हमको कोई सुख-दुःख नहीं होता ।

आज हमने ज्ञान क्या है अर्थात् ज्ञानका सच्चा स्वरूप क्या है, इस सम्बन्धमें विचार किया और इस निर्णयपर पहुँचे कि 'मैं आत्मा हूँ' इतना ही ज्ञानका स्वरूप है, । ऐसा अनुभव होनेके बाद ज्ञानी सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है ।

कल हमलोग ज्ञानसे जन्म-मरणरूपी बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है इसका विचार करेंगे । इस बीचमें आप इस विषयपर खूब विचार करके देखें और कुछ समझना हो तो फिर पूछ लें ।

दूसरे दिन पण्डितजी यथासमय आ गये और हमलोगोंने अपनी बात शुरू की । यह प्रसङ्ग कलकी अपेक्षा भी अधिक ध्यानसे समझने योग्य है, क्योंकि इसमें सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है । अतः ठीक सावधान होकर सुनिये ।

अब यह विचार कीजिये कि कौन जन्म लेता है । यह

स्थूल शरीर ही जन्म लेता है, यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, जब शरीर उत्पन्न होता है उस समय उसका कोई भी नाम नहीं होता। नाम तो हम अपने व्यवहारकी सुविधाके लिये पीछेसे रखते हैं। पश्चात् वही शरीर बड़ा होता है तो वह जवान कहलाता है और फिर जीर्ण होने लगता है तब वृद्ध कहलाता है। कालक्रमसे वह शरीर मृत्युको प्राप्त होता है, तब कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया। आप तो शरीरकी इन सारी अवस्थाओंको देखनेवाले हैं, अतएव शरीरसे भिन्न हैं। जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न होता है और घड़ारूप नहीं होता; उसी प्रकार आप भी शरीरको देखनेवाले हैं, इसलिये शरीरसे भिन्न हैं और किसी कालमें आप शरीर नहीं हैं। आप प्रतिदिन व्यवहारमें कहते हैं कि आज मेरा शरीर ठीक नहीं है, आजकल मेरा शरीर दुबला हो गया है, मेरा शरीर अब वृद्ध हो गया आदि। जैसे अपनी कलमसे या अपने कोटसे आप भिन्न हैं, इसी प्रकार अपने शरीरसे भी आपको भिन्न ही होना चाहिये। यह बात शास्त्रमें इस प्रकार समझायी गयी है। अतः इसका मनन करके, 'मैं शरीरसे भिन्न हूँ और मैं शरीररूप हो सकता ही नहीं' ऐसा निश्चय कर लें —

घटद्रष्टा घटाद् भिन्नः सर्वथा न घटो यथा।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारयेत्॥

जब आप ऐसा निश्चय कर लें कि (निश्चय होना चाहिये, केवल बोलनेसे काम नहीं चलता) 'मैं शरीर नहीं, किंतु शरीरका द्रष्टा हूँ' तब फिर शरीरके जन्म लेने और मरनेसे आपको क्या लेना-देना है ? कुत्ता अपनी पूँछ हिलाये या स्थिर रक्खे, इसमें देखनेवालेको जैसे कोई हानि या लाभ नहीं, उसी प्रकार शरीर जन्मे या मरे, इसमें आप देखनेवालेकी भला क्या हानि या लाभ हो सकता है, जो इसके जन्म-मरणका आप निवारण करें ?

फिर, शरीरके जन्म-मरणके निवारणका कोई उपाय ही नहीं है, क्योंकि शरीरकी अवधि तो उसके जन्मके पहले ही निश्चित हो गयी होती है। श्रीभागवतकार स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्तेऽपि मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्॥

अतः शरीरके जन्म-मरणकी निवृत्ति होनेवाली नहीं है। शुम्भ-निशुम्भ, रावण-हिरण्यकशिपु आदि तो महाबलवान् थे और मृत्युके निवारणके लिये उन्होंने अथक परिश्रम भी किया था, तथापि उनको भी मृत्युकी शरण लेनी ही पड़ी। इस प्रकार शरीरका जन्म-मरण रोका नहीं जा सकता। फिर आप तो शरीरके जन्म-मरण आदि षट् विकारोंके केवल देखनेवाले हैं, इसलिये आपका अपना तो जन्म-मरण है ही नहीं, अतः उसकी निवृत्तिके लिये आप परिश्रम क्यों करें ?

पण्डितजी—अब मैंने समझा कि शरीर ही जन्मता है और शरीर ही मरता है, इसलिये मेरा जन्म-मरण है ही नहीं; परंतु आपने मुझको शरीरका द्रष्टा बतलाया तो फिर शरीरके व्यवहारको देखनेवाला मैं हूँ कौन ?

मैं—पण्डितजी ! बहुत अच्छा प्रश्न किया ? द्रष्टाका स्वभाव शास्त्रोंने जो समझाया है उसे सुनिये—

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ।
दृग्ब्रह्म दृश्यमायेति सर्ववेदान्तडिण्डिमः॥

अर्थात् इस जगत्में दो ही पदार्थ हैं और दोनों एक दूसरेसे भिन्न स्वभाववाले हैं। एक द्रष्टा है और दूसरा दृश्य। द्रष्टा यानी ब्रह्म या परमात्मा अथवा आत्मा और दृश्य यानी माया अथवा उसका कार्य यह नामरूपात्मक जगत्। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, भगवान् आदि शब्द भिन्न-भिन्न हैं, परंतु ये सभी एक ही परम तत्त्वके वाचक हैं। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि आप आत्मा हैं, फिर आपका जन्म-मरण कैसे हो सकता है, जो आपको उसकी निवृत्ति करनी पड़े ?

पण्डितजी—'अब मैंने समझा कि मैं आत्मा हूँ। तो फिर कर्म कौन करता है ? शरीर तो जड है, और आत्मा निष्क्रिय तथा शान्त है। फिर उन कर्मोंका फल भोगनेवाला कौन है ? तथा उन कर्मोंको भोगनेके लिये उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेनेवाला कौन है ? ये प्रश्न उलझे ही रह जायँगे। अतएव इन प्रश्नोंका जबतक समाधान नहीं होता, तबतक 'मैं आत्मा हूँ'—यह निश्चय कैसे हो सकेगा ?'

मैं—'वाह ! पण्डितजी वाह ! अब आपकी गाड़ी लीकपर आ गयी और ऐसा लगता है कि आपने बातको ठीक समझ लिया है। यह प्रसङ्ग पूर्वके प्रसङ्गकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः ठीक एकाग्र होकर सुनिये।

देखिये, शरीर मरता है तब क्या होता है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। जबतक प्राण अपान होकर वापस लौटता रहता है तभीतक शरीर जीवित रह सकता है, परंतु जब प्राण वापस नहीं लौटता

और चला ही जाता है, तब शरीर नाशको प्राप्त होता है। प्राणको जाते हुए तो आप आँखोंसे देखते हैं, परंतु दूसरे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ भी उसके साथ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं, वे आँखोंसे नहीं दीखते। प्राण पाँच हैं और उनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि—इस प्रकार कुल सत्रह पदार्थ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सत्रह पदार्थोंके समूहको 'सूक्ष्म-शरीर' या 'लिङ्ग-देह' कहते हैं।

अब इस सूक्ष्म-शरीरका स्वभाव समझिये, जिससे आपके प्रश्नका उत्तर मिल जायगा। यह सूक्ष्म शरीर भी स्वभावसे स्थूल-शरीरके समान जड ही है, परंतु पञ्च महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बने हुए लोहे या काठके समान अत्यन्त जड नहीं है। इनमें भी मन-बुद्धि शुद्ध सात्त्विक अंशोंसे बने हैं। अतएव वे स्थूल शरीरके समान बिल्कुल जड नहीं तथा आत्माके समान स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, परंतु मध्यभाववाले हैं। इस कारण वे आत्माके चैतन्यको अपनेमें ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार मन-बुद्धि आत्माके चैतन्यके द्वारा चेतनयुक्त होकर उस चेतनको प्राणद्वारा इन्द्रियोंमें पहुँचाते हैं और इस तरह सारा सूक्ष्म-शरीर चेतनयुक्त होकर स्थूल-शरीरको चेतनयुक्त कर देता है, क्योंकि सूक्ष्म-शरीर सारे स्थूल-शरीरमें व्याप्त होकर रहता है।

अब आप अपने प्रश्नोंका उत्तर एक-एक करके समझिये। यहाँसे मन-बुद्धि दो शब्दोंके स्थानमें केवल 'मन' शब्दका प्रयोग किया जायगा और उसमें दोनोंको साथ-साथ समझ लीजियेगा। आपका पहला प्रश्न है कि कर्मका कर्ता कौन है? अब देखिये—स्थूल-शरीर तो कर्मका कर्ता हो नहीं सकता; क्योंकि यदि वह कर्मका कर्ता होता तो प्राण निकल जानेके बाद भी वह कर्म करता हुआ दीख पड़ता, परंतु वैसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये स्थूल-शरीर तो कर्ता है ही नहीं।

तब क्या प्राण कर्ता है? यदि प्राणको कर्ता मानें तो स्वप्नावस्थामें या सुषुप्तिमें तथा मूर्च्छामें प्राण तो मौजूद रहता है, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। इसलिये प्राण भी कर्ता नहीं है।

तब क्या इन्द्रियाँ कर्त्ता हैं? यदि इन्द्रियोंको कर्त्ता मानें तो स्वप्न तथा सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ तो रहती हैं, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। जाग्रत् अवस्थामें भी इन्द्रियाँ मनके सहयोगके बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं—यह प्रतिदिनके अनुभवकी बात है। आँखें खुली हों, तथापि यदि मन अन्यत्र लगा हो तो आँखें कुछ नहीं देखतीं तथा हम अनेकों बार कहते हैं कि 'मेरा मन अन्यत्र था इससे तुम्हारी बात मैं सुन न सका।' इसलिये इन्द्रियाँ भी कर्ता नहीं हैं।

अब बचे मन और बुद्धि, इसलिये वे ही सच्चे कर्ता हैं। एक बढ़ईके पास जैसे अपना काम करनेके लिये बँसूला, रन्दा, कुल्हाड़ी आदि साधन होते हैं, उसी प्रकार ये दस इन्द्रियाँ मनके साधनमात्र हैं और इसीसे इनका एक अर्थसूचक नाम भी है—करण। करण अर्थात् हथियार, औजार या साधन। जैसे बढ़ई लकड़ी गढ़नेके समय बँसूलेका उपयोग करता है और उसको चिकना करनेके लिये रन्देका प्रयोग करता है, उसी प्रकार मनको देखना होता है तो आँखका, सूँघना होता है तो नाकका और सुनना होता है तो कानका तथा चलना होता है तो पैरका और लेना-देना होता है तो हाथका उपयोग करता है। प्राणद्वारा वह सब इन्द्रियोंमें शक्ति पहुँचाता है, जिससे वे अपना-अपना काम ठीक कर सकें।

अब आपका दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मका फल कौन भोगता है? बिल्कुल दीपक-जैसी स्पष्ट बात है। व्यवहारमें बलराम माल मँगावें और प्राणलाल जकात दें, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार अम्बालाल दवा पियें और वासुदेवको जुलाब लगे, यह भी नहीं बनता; वैसे ही परमार्थमें भी जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, जैसे जो चोरी करता है वही जेल जाता है।

अब मन-बुद्धि ही कर्मका फल भोगते हैं, इस बातको युक्तिसे सिद्ध करें। जाग्रत् अवस्थामें मन बहिर्मुख होता है, इससे सुख-दुःखादि प्रपञ्च बाहर दीख पड़ते हैं। जब नींद आ जाती है, तब मन अन्तर्मुख हो जाता है और तब शरीरके अंदर ही जाग्रत् प्रपञ्चके-जैसा ही स्वप्नप्रपञ्च दीखता है। जब गाढ़ निद्रा आ जाती है, तब मन अपने उपादानमें लीन हो जाता है, यानी उस समय सुख-दुःखादि कोई भी प्रपञ्च नहीं दीखता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ मन उपस्थित होता है, वहीं प्रपञ्चका अनुभव होता है और उसकी अनुपस्थितिमें वह अनुभव नहीं होता। अन्वय यानी जहाँ मन है, वहाँ सुख-दुःखका भान होता है, जाग्रत्-स्वप्नमें मन उपस्थित रहता है, इसलिये वहाँ क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं; जब सुषुप्ति अवस्थामें मन लीन हो

जाता है, तब वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार सुख-दुःखरूपी कर्मफलका भोगनेवाला मन ही है।

यह बात बहुत ही महत्त्वकी है, इसलिये एक उदाहरण-से समझिये। एक व्यक्तिके हाथपर फोड़ा हो गया। और उसकी वेदनासे वह चिल्लाता है और खूब व्याकुल होता है। यों करते-करते थक जाता है और नींद आ जाती है, तब शान्त हो जाता है। नींद आनेपर वह स्वप्न देखता है कि वह जिस घरकी छतपर है उसमें आग लग गयी है। उससे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़ धूप करता है, परंतु कहीं भी नीचे उतरनेका रास्ता नहीं दीखता। अन्तमें एक खिड़की दीख पड़ती है और इस प्रकार जलकर मरनेकी अपेक्षा खिड़कीसे कूदना ठीक समझकर जैसे ही कूदता है, वैसे ही वह जाग जाता है। जागते ही आग तथा वह घर अदृश्य हो जाते हैं और वह अपनेको चारपाईपर सोता हुआ पाता है। अब विचारिये कि जब उस व्यक्तिको नींद आ गयी थी तो क्या फोड़ेकी वेदना मिट गयी थी? नहीं, वह तो ज्यों-की-त्यों थी; परंतु नींदमें वेदना भोगनेवाला मन वहाँ उपस्थित न था और इस कारण उस समय वेदनाका अनुभव नहीं होता था, केवल इतनी ही बात थी। उसी प्रकार स्वप्नगत आग-का दुःख और जल जानेका भय भी मन अन्तर्मुख था तभीतक लगता था, मनके जाग्रदवस्थामें आ जानेपर वह दुःख और भय अदृश्य हो गया; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला मन बहिर्मुख हो गया, अतः स्वप्न-प्रपञ्चके साथ उसका सम्बन्ध छूट गया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मका कर्त्ता जैसे मन-बुद्धि हैं, वैसे ही उस कर्मके फलको भोगनेवाले भी वे ही हैं।

आपका तीसरा प्रश्न यह है कि उच्च-नीच योनियोंमें जन्म कौन धारण करता है? फलभोगकी तरह यह स्पष्ट है कि जिसको सुख-दुःख भोगना होता है, वही उन भोगोंके अनुरूप देह धारण करता है। इसमें तो कुछ सिद्ध करना ही नहीं है। एक शरीरका प्रारब्धभोग पूरा होते ही सूक्ष्म-शरीर उसको छोड़ देता है, क्योंकि फिर उस शरीरमें रहनेका उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर नये प्रारब्धको भोगने-के लिये उस भोगके अनुरूप वह दूसरा स्थूल-शरीर धारण करता है और उस शरीरके द्वारा भोग भोगता है। इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमन तो सूक्ष्म-शरीरका होता है, परंतु आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण भ्रमवश अपनेको उसके साथ आता-जाता मान बैठा है। मन-बुद्धिको कर्म करते तथा उसका फल भोगते देखकर आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और उसके कर्त्ता-भोक्तापनको अपनेमें मानकर स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार स्थूल देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानकर उसका दुःख भोगता है। जब प्राण क्षुधा-तृषासे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं व्याकुलताका अनुभव करता है। आत्माके इस प्रकारके भ्रमको शास्त्रोंने 'देहाध्यास' अथवा 'जीवभाव' कहा है। प्रकृति या मन-बुद्धिके साथ एकात्मताका भ्रम ही जीवभाव है। इसीसे उसमें कर्ता-भर्तापन प्रतीत होता है। इस देहाध्यास या जीवभावको छुड़ाना हो तो आत्माको उसका स्वरूप समझना चाहिये, जिससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाय।

कुछ लोग पूछते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आत्मामें यह जीवभाव आया कहाँसे? और कब आया? यह बात तो सृष्टिके आदिसे है। हम विश्वको अनादि मानते हैं, इसलिये वह कब उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं जानता; क्योंकि जिसने देखा है उसने विश्वको चलते ही देखा है। अतएव आत्मामें जीवभाव भी अनादिकालसे ही चला आ रहा है।

आकाशसे जब पानी गिरता है, तब वह पूर्ण स्वच्छ होता है, परंतु पृथिवीका संग होते ही उसमें दोष आ जाता है। यह दोष पानीमें स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि स्वभावसे तो वह निर्मल था। अतएव यह मलिनता आगन्तुक होनेके कारण, फिर उस पानीको निर्मल किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे तो निर्मल ही है, परंतु विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही उससे विविध शरीरोंका संग होता आ रहा है, इस कारणसे उसमें इन शरीरोंकी मलिनता आ गयी है और इसी कारण उसमें 'जीव' भाव दृढ़ हो गया है। परंतु यह जीवभाव आगन्तुक होनेके कारण स्वरूपगत नहीं है, इसलिये जीवभावकी निवृत्ति हो सकती है और मानव-शरीरकी सार्थकता भी इसीमें है।

इसलिये अब देहाध्यास या जीवभावकी निवृत्ति कैसे करें—यह देखना बाकी रहा। श्रीशङ्कराचार्य इस बातको इस प्रकार समझाते हैं—

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥

यह रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है और इसी कारण रस्सी सर्परूप दीखती है। इसी प्रकार आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, इसी कारण शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित करके वह अपनेको जन्म-मरणवाला जीव मान बैठा है। अब यदि कोई आप्त पुरुष तेज प्रकाश लाकर हमें दिखलाये कि 'भाई! तुम जिसे सर्प मानते थे वह तो रस्सी है' तो उसी क्षण सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाय। उसी प्रकार यदि वेद-शास्त्र तथा गुरु-वचनसे आत्माका वह स्वरूप समझमें आ जाय तो उसी क्षण निश्चय हो जाय कि जीव होनेका तो भ्रम था। मैं तो शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलस्वरूप आत्मा हूँ।

अब आत्माको उसका स्वरूप कैसे समझावें, इसकी एक अद्भुत युक्ति श्रीअष्टावक्रजीने बतलायी है, उसे देखिये। वेद कहता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् यह जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप है, यह पहले निश्चय करे। फिर कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेन्नाहं ब्रह्मेति धी कुतः ।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत् किमसंतोषकारणम् ॥

यह सब ब्रह्मरूप है, ऐसा निश्चय करनेके बाद 'मैं ब्रह्मरूप नहीं हूँ' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'मैं' का समावेश 'यह सब' में हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हुए बिना रहता ही नहीं; और तब आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस बातको संक्षेपमें कहना हो तो न्यायके एक ही सावयव-पदसे इस प्रकार कह सकते हैं—

यह सब ब्रह्मरूप है, मैं इस सबके अन्तर्गत हूँ। इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

विद्वान् पण्डितजी! यहाँतक तो हमने यह समझ लिया कि ज्ञान क्या वस्तु है तथा उससे जन्म-मरणरूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है—यह भी देख लिया; परंतु इतना जान लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। इस विचारको स्थिर करनेके लिये साधन करना चाहिये, जिसकी रूप-रेखा संक्षेपमें बतलायी जा रही है, ध्यान देकर सुनिये।

पहले तो वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्ग योगवासिष्ठसे ठीक-ठीक समझ ले और फिर उसके अनुसार अभ्यासमें लग जाय। मैं समझता हूँ कि (लगे रहे तो) करीब पाँच वर्षोंमें चित्तशुद्धि हो जायगी। आप पाँच वर्ष सुनते ही चमक कैसे उठे? इसमें चमकनेकी बात कोई नहीं है। आप देखिये, व्यवहारमें एक विद्यार्थीको मैट्रिक होना हो तो पूरे ग्यारह वर्ष और बी० ए० होना हो तो पंद्रह वर्ष तन तोड़कर परिश्रम करना पड़ता है और उसका फल क्या होता है?—केवल इतना ही कि भाग्यमें हो तो नौकरी मिल जाय और पेट भरता रहे। जब यहाँ तो आपको अपनी जीविकाके लिये उद्यम करते हुए साधन करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अबतक आपने आजीविकाको मुख्य काम माना था, उसके बदले उसको गौण मानकर अब साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य मानें, फिर इसका फल देखें तो अनन्त और अविनाशी है—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परम आनन्दकी प्राप्ति। इसकी सिद्धिके लिये पाँच वर्ष तो क्या पाँच जीवन भी देने पड़ें तो भी सौदा महँगा नहीं, ऐसा समझ लीजिये।

अब अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस सम्बन्धमें योगदर्शनका एक सूत्र सुनकर उसे ध्यानमें रखिये।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

इसलिये अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक करते रहना चाहिये। फिर अभ्यास सतत तथा धाराप्रवाह करना चाहिये। चार दिन करें और दो दिन न करें—ऐसा करनेसे काम नहीं चल सकता। तथा अभ्यास भाव और प्रेमसे होना चाहिये, सिरसे भार उतारनेके समान नहीं। इस प्रकार अभ्यास हो, तभी वह फलदायी होता है।

अब आप अभ्यासमें प्रगति कर रहे हैं या नहीं— इसे जाननेके लिये यह कुंजी ध्यानमें रखिये—

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः ।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नता ॥

उस भाग्यशाली साधकका अभ्यास सफलतापूर्वक चल रहा है, यह कैसे जानें ? यदि उसकी भोगवासना दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिये कि अभ्यास ठीक हो रहा है।

अब यह जानना है कि सिद्धि प्राप्त होनेतक अभ्यास किस लिये करना चाहिये। बहुधा मनुष्य अधीर हो जाता है और निश्चित समयमें थोड़ा भी फल नहीं दीख पड़ता तो अभ्यास छोड़ देता है। ऐसे प्रसङ्गोंमें अधिकतर अभ्यास करनेमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है और बहुधा दोष निवृत्त होनेमें देर लग जाती है। इसलिये सिद्धिपर्यन्त धीरजके साथ अभ्यास चालू रखना चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठसे कहते हैं, 'महाराज ! समर्थ गुरु और श्रद्धाशील मुमुक्षु साधक होनेपर भी मुझको बोध होनेमें देर क्यों होती है ?' उत्तर देते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

जीवभाव दृढ़ करते-करते आप अनेक जन्म लेते आ रहे हैं, इसलिये अब उस जीवभावको निवृत्त करके उसके स्थानमें आत्मभाव स्थिर करना है, इसमें दीर्घकाल तो लगेगा ही, इसलिये धीरजसे साधन करते जाइये।

लौकिक दृष्टान्त देकर अच्छी तरह समझाते हुए श्रीपञ्चदशीकार कहते हैं—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥

खेतमें बीज बोनेपर कहीं वह तुरंत ही जम नहीं जाता, परंतु उसके अंकुरित होनेमें देर लगती है। बेरके बीजके समान कठिन बीज हो तो अधिक समय लगता है और अनाजके समान नरम बीज हो तो कम समय लगता है। इसी प्रकार माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय चाहिये। हाथी-जैसे बड़े प्राणीके लिये अधिक और बिल्ली या चूहे-जैसे छोटे प्राणीके लिये कम समय चाहिये। वैसे ही आत्मभावना भी धीरे-धीरे कालक्रमसे परिपक्व होती है। उसमें अधीर होनेसे काम नहीं चलता। इस प्रकार सतत अभ्यास कीजिये तो मुझे विश्वास है कि इसी जन्ममें आप कृतकृत्य हो जायँगे।

सत्संग पूरा हुआ, पण्डितजी महाराज परम संतोष तथा कृतज्ञता प्रकट करते हुए चले गये।

ॐ नमो नारायणाय।

राम-नाम

गर्मीके दिन थे और मैं रात्रिमें शयनार्थ अपने मकानकी छतपर लेटा हुआ था। ग्यारह बजेका समय होगा कि यकायक पासके पड़ोसी जुलाहेके नवयुवक लड़केकी दाढ़में या आँखोंमें·····ठीकसे याद नहीं रहा—घोर दर्द हो गया। बेचारा बड़े जोरसे 'हाय ! हाय !!' करने लगा। उसकी चीख सुनकर मैं सिहर उठा ! लगभग आधा घंटातक यही हाल रहा !

पता नहीं, उसके मनमें क्या आया कि उसने 'हाय ! हाय !!' का क्रम तोड़कर—'हे भगवान् !—हे भगवान् !!' की रट लगानी शुरू कर दी और वह भी बड़े जोरोंसे एवं बड़ी लगनसे ! ऐसा भी लगभग आधा घंटातक ही करता रहा।

परिणाम यह हुआ कि उसकी दुर्दमनीय पीड़ा काफूर हो गयी और वह बड़े उल्लाससे एवं हर्षातिरेकके साथ अपने पितासे बोला—'चाचा ! दर्द हट गया है ! मैंने भगवान्‌का नाम लिया था उसीने हटा दिया है।'

उन दिनों रान्हू पिताके इस वाक्यमें कि 'राम-नाम' सकल रोगोंकी अचूक ओषधि है—मेरी श्रद्धाका प्रादुर्भाव हुआ होगा। मैंने आजमाइश भी की थी और यह प्रयोग सफल पाया था। उक्त घटनासे मेरी यह आस्था और भी दृढ़ हो गयी कि सचमुचमें राम-नाम सकल रोगोंकी अमोघ ओषधि है।

उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त जुलाहेका लड़का अनपढ़ है और पता नहीं क्यों उसने अपने रोगमें भगवन्नाम-जपका प्रयोग किया—।

कुछ भी हो, असहनीय वेदनामें प्रभुको स्मरण करनेपर आपत्तिसे अवश्य ही मुक्ति मिलती है। इसीलिये तो कहा गया है—'When pains are highest, God is nighest' अर्थात् दुःखकी चरम अनुभूति होनेपर ही श्रीपरमेश्वरका निकटतम सान्निध्य प्राप्त होता है।

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

आपने ईश्वरका अस्तित्व नहीं होनेका जो यह कारण बताया कि आजतक कोई उसतक पहुँच नहीं पाया, सो यह आप किस आधारपर लिख रहे हैं । उनतक पहुँचनेके लिये वास्तविक खोजमें लग जानेवालोंमेंसे अधिकांश लोग वहाँ पहुँचे हैं और आज भी पहुँच सकते हैं । अतः आपका यह तर्क सर्वथा निराधार है ।

आपने लिखा कि लाखों-करोड़ों वर्षोंतक तपस्या करके भी पार नहीं पाया जा सकता । पर यदि कोई गलत रास्तेसे प्रयास करे या किसी दूसरी वस्तुको पानेके लिये प्रयास करे और वह ईश्वरको न पा सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वरं गीतामें तो भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'साधक पराभक्तिके द्वारा मैं जो हूँ और जैसा हूँ तत्त्वसे जान लेता है और फिर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है (गीता अ० १८ श्लोक ५५)।' तथा वे पहले भी कह आये हैं कि 'पहले ज्ञानतपसे पवित्र हुए बहुत-से साधक मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं (गीता ४ । १०)।' 'इस ज्ञानको जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं इत्यादि (गीता १४ । १-२)।' अतः आपका यह कहना कि उसे कोई नहीं जान सका, निराधार सिद्ध होता है ।

उसका आदि, अन्त और मध्य न जाननेकी जो बात कही गयी है, वह तो उस तत्त्वको असीम और अनन्त बतानेके लिये है । वेदोंने जो 'नेति नेति' कहा है, उसका भी यही भाव है कि वह जितना बताया गया उतना ही नहीं है, उससे अधिक भी है । अतः इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता ।

आप गम्भीरतासे विचार करें । वैज्ञानिकलोग जो प्रकृतिका अध्ययन करके नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, क्या वे कह सकते हैं कि हमने प्रकृतिको पूर्णतया जान लिया है, अब कोई आविष्कार शेष नहीं रहा है ? यदि ऐसा नहीं कह सकते तो क्या इतनेसे यह मान लेना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं है ?

बात तो यह है कि किसी भी असीम तत्त्वकी सीमा कोई निर्धारित नहीं कर सकता । यदि कोई कहे कि मैं उसे पूर्णतया जान गया तो उस सीमित व्यक्तिका ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा ? और इस कसौटीपर असीम तत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकार करना भी कहाँतक युक्तिसङ्गत है, इसपर भी आप विचार करें ।

आपने लिखा कि जो है भी और नहीं भी है—ऐसी ईश्वरकी व्याख्या है, सो ऐसी व्याख्या कहाँ है ? यह कौन कह सकता है कि अमुक वस्तु नहीं है; क्योंकि यह निश्चय करनेवाला भी तो कोई सर्वज्ञ ही होना चाहिये । 'अमुक वस्तु है या नहीं' ऐसा संदेह तो कोई भी कर सकता है पर 'नहीं है' यह कहनेका किसीका भी अधिकार नहीं है । फिर ईश्वरके बारेमें यह कहना कि 'वह नहीं है'—यह तो सर्वथा अनुचित है ।

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, साकार और निराकार भी है—यह कहना ठीक है और सर्वथा युक्तिसङ्गत है ।

शास्त्रोंमें जो यह कहा गया है कि ईश्वर सत् भी है और असत् भी है—वह 'सत्' शब्द कार्यका वाचक है और 'असत्' शब्द कारणका वाचक है । 'असत्' शब्द अभावका वाचक नहीं है । यह आपके

ध्यानमें रहना चाहिये। तभी शास्त्रके वचनोंका भाव समझमें आ सकता है।

आपने लिखा कि ईश्वर कुछ नहीं है, केवल कल्पना है; क्योंकि 'सब कुछ' का अर्थ 'कुछ नहीं' अर्थात् 'शून्य'—होता है, सो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ईश्वरको कल्पनासे अतीत बताया गया है। गीता अध्याय ८ श्लोक १० में उसे 'अचिन्त्य रूप' कहा गया है।

आगे चलकर आपने लिखा कि 'क्या जो चैतन्य रूप दीखता है यही ईश्वर है?' इसका उत्तर यह है कि जिस हलचल और शक्तिको लक्ष्य करके आपने चैतन्यकी व्याख्या की है इसका नाम चेतन नहीं है। शब्द तो आकाश-तत्त्वका गुण है, शक्ति बिजलीका गुण है, वेग वायुका गुण है। ये सभी जड तत्त्व हैं। इनमें कोई भी चैतन्य नहीं है। चैतन्य तो वह तत्त्व है, जो इन सबको जानता है और इनका निर्माण भी करता है। जो वस्तु निर्माण की जाती है, किसीके द्वारा संचालित होती है, वह चैतन्य कैसे हो सकती है? यदि चेतनकी व्याख्या आप ठीक-ठीक समझ पाते तो सम्भव है आपको ईश्वरकी सत्ताका कुछ अनुभव होता। मनुष्यको ईश्वरका पता लगानेके पहले यह सोचना चाहिये कि मैं जो 'ईश्वरकी सत्ता है या नहीं' इसका निश्चय करना चाहता हूँ, वह मैं कौन हूँ। जिसमें जाननेकी अभिलाषा है और जो अपने-आपको तथा अपनेसे भिन्नको भी जानता है, प्रकाशित करता है, वही चेतन हो सकता है। यह समझमें आ जानेपर आगेकी खोज आरम्भ होगी।

आपने कल-कारखानोंकी बात लिखी, कोयले और पानीके मिश्रणकी, उसकी शक्तिकी बातोंपर प्रकाश डाला, फिर बिजलीकी महिमाका वर्णन किया सो तो ठीक है, पर उनका आविष्कार करनेवालोंकी महिमाकी ओर आपका ध्यान नहीं गया। आप सोचिये, क्या वे कल-कारखाने बिना कर्ताके सहयोगके कुछ भी चमत्कार दिखा सकते हैं? यदि नहीं तो विशेषता उनको बनाने और चलानेवालेकी ही सिद्ध हुई।

आपने मानव-शरीरको पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ बताया, यह तो ठीक है। शरीर तो सभी प्राणियोंके पाँच तत्त्वोंके संघातसे ही बने हैं। पर पाँच तत्त्वोंका संघात तो केवलमात्र यह दीखनेवाला स्थूल शरीर ही है। मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन तत्त्व इसके अंदर और हैं तथा इन सबको जानने और प्रकाशित करनेवाला एक इनका अधिष्ठाता संचालक भी है। उसकी ओर भी आपका ध्यान आकर्षित होना चाहिये। उसके बिना इन सब तत्त्वोंके सभी चमत्कार बेकाम हो जाते हैं। वह कौन है?—इसपर विचार कीजिये।

आगे चलकर आपने सूर्य, चन्द्र, तारा आदिके विषयमें विज्ञानके आधारपर लिखा कि ये सब अपने-आप हो रहे हैं, परंतु आपने गहराईसे विचार नहीं किया। करते तो आप यह भी समझ सकते कि कोई भी जड पदार्थ बिना किसी संचालकके बहुत कालतक नियमित रूपसे नहीं चल सकता। जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार है—जैसे अणु बम, रेडियो, बिजली और स्टीमसे होनेवाले काम, हवाई जहाज आदि; क्या कोई भी यन्त्र अपने-आप बन जाता है या उसका संचालन अपने-आप हो जाता है? यदि नहीं, तो फिर ये सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, तारा आदि यन्त्र अपने-आप कैसे बन गये और अपने-आप नियमित रूपमें कैसे संचालित होने लगे?

आपने लिखा कि 'जहाँ बुद्धि काम न दे, वहाँ ईश्वरको मान ले' सो ऐसी बात नहीं है। बुद्धि तो मनुष्यकी प्रकृतितक भी नहीं पहुँच पाती पर उस जड प्रकृतिको शास्त्रकारोंने ईश्वर नहीं मान लिया। उस प्रकृतिके आंशिक संचालक और प्रकाशकको भी ईश्वर

नहीं माना; हाँ, ईश्वरका अंश तो माना है। अतः उसकी सत्तासे ही ईश्वरकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

अज्ञानका नाम ईश्वर नहीं है। जो ज्ञान और अज्ञान—दोनोंको जाननेवाला है, उसका नाम ईश्वर है।

मायाकी व्याख्या तो श्रीतुलसीदासजीने इस प्रकार की है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

अतः जाननेमें न आनेवाली वस्तुका नाम माया नहीं बताया गया है।

आपने धर्मग्रन्थ और मत-मतान्तरोंपर आक्षेप करते हुए लिखा कि 'किसकी मान्यता ठीक है, कोई कुछ कहते हैं और कोई कुछ कहते हैं। यदि ईश्वर होता तो सबका एक ही मत होता।' यहाँ आपको गम्भीरतासे शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। यह तो हरेक विचारशील व्यक्तिको मानना ही पड़ेगा कि जिस तत्त्वको कोई जानना चाहता है, उसके विषयमें पहले कुछ-न-कुछ मानना पड़ता है और वह मान्यता वास्तविक सत्य न होनेपर भी सत्यका ज्ञान करानेमें हेतु होनेके कारण सत्य है। जैसे—अंग्रेजी लिपिमें 'K' इस आकारको 'क' माना; उसके आगे एक 'H' चिह्न और लगाकर उसे 'ख' मान लिया, इसी प्रकार सब वर्ण और संकेतोंके विषयमें समझ लें। उर्दूमें दूसरे ही संकेत हैं, बँगलामें दूसरे हैं और तामिल, तेलगू आदि दक्षिणी लिपियोंमें दूसरे हैं तथा उन-उन भाषाभाषियोंके लिये अपनी-अपनी भाषाके माने हुए चिह्न ही सत्य हैं; क्योंकि वे किसी भी जाननेमें आनेवाली वस्तुका ज्ञान करानेमें पूरे सहायक हैं। यदि ऐसा न माना जाता तो आज जगत्‌में कोई विद्वान् हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार उस परम सत्य तत्त्वको समझानेके लिये हरेक मतावलम्बीने जो अपने-अपने संकेत बनाये हैं, वे साधकोंके लिये पथ-प्रदर्शक होनेके नाते सभी सत्य हैं। यद्यपि जितने मत हैं, सभी मान्यता हैं, पर बिना मान्यताके हमारा कोई भी छोटे-से-छोटा काम भी नहीं चलता; फिर ईश्वरके लिये की जानेवाली मान्यता हमें क्यों अखरती है। क्या छोटी-से-छोटी वस्तुका ज्ञान करानेके लिये वैज्ञानिकोंको विभिन्न संकेतोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता? क्या इस कारणको लेकर आविष्कृत वस्तुकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती? ऐसा तो कोई भी नहीं मान सकता।

बीजगणितमें तो सारा काम मान्यताके ही आधारपर चलता है तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंमें भी मान्यता और बीजगणितका ही आश्रय लेना पड़ता है। यह सभी वैज्ञानिकोंका अनुभव है। परम सत्य ईश्वरतत्त्वको जानना कोई साधारण विज्ञान नहीं है। अतः उसके लिये तरह-तरहकी मान्यता भी अनिवार्य है; क्योंकि साधकोंकी रुचि, योग्यता, बुद्धि और विश्वास भिन्न-भिन्न होनेसे भेद होना अनिवार्य है। अतः मत-मतान्तरोंकी अनेकतासे एक ईश्वरका होना असिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आपका यह लिखना कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं है, किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं है, केवल प्रमादमात्र है।

'ईश्वरको न माननेसे मनुष्य वाममार्गी अत्याचारी व्यभिचारी हो जायगा, समाजभ्रष्ट हो जायगा, इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये,' ऐसी बात नहीं है। जो वस्तु नहीं है उसे मानना तो स्वयं अत्याचार है; उससे अत्याचार आदिका निवारण कैसे होगा। अतः उपर्युक्त दुर्गुणोंकी नाशक भी सच्ची मान्यता ही हो सकती है और वही बात शास्त्रकारोंने बतायी है, मिथ्या कल्पना नहीं है।

इसी प्रकार धर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि कोई भी बात कल्पित या मिथ्या नहीं है। झूठसे कभी किसीका कोई लाभ नहीं होता, यही धर्मका निर्णय है। झूठ तो अधर्म है ही, उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है।

हमारा धर्मशास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र ढकोसला नहीं है, वास्तविक हानि-लाभको ही समझानेवाला है; अतः वही एकमात्र सुधारका रास्ता है। आज उसके नामपर दुनियामें दम्भ बढ़ गया है, इसी कारण अनुभव-से रहित नवशिक्षित पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावमें आये हुए पुरुषोंको धर्म और ईश्वरपर आक्षेप करनेका मौका मिल गया है।

आगे चलकर आपने पूजा-पाठपर आक्षेप किया है, वह भी विचारकी कमीका ही द्योतक है। आपको गहराईसे विचार करना चाहिये कि क्या ऐसा कोई भी मजदूर या परिश्रम करनेवाला मनुष्य है जिसको चौबीसों घंटे फुरसत ही नहीं है, उसका सबका सब समय शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुओंके उपार्जनमें ही लग जाता है? विचार करनेपर ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा। उसे भगवान्‌का भजन-स्मरण और सत्सङ्ग-स्वाध्यायके लिये समय चाहे न मिले पर खेलने, मन बहलाने, सिनेमा देखने और अन्यान्य व्यर्थ कामोंके लिये तो समय मिलता ही है। इसके सिवा हमारे धर्मशास्त्रोंमें तो यह भी बताया गया है कि जिस मनुष्य-का जो कर्तव्य-कर्म है उसीको ठीक-ठीक उचित रीतिसे करके उसके द्वारा ही वह ईश्वरकी पूजा कर सकता है। अतः इसमें न तो किसी प्रकारका खर्च है न किसी वस्तुकी जरूरत है, न कोई समयकी ही आवश्यकता है। ऐसी पूजा तो हरेक मनुष्य बिना किसी कठिनाईके कर सकता है। आप गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १८ श्लोक ४५, ४६ और उसकी टीकाको देखिये।

अतः आपका यह आक्षेप कि 'जो धनी-मानी, सेठ-साहूकार निठल्ले बैठे रहते हैं, उन्हें पूजा-पाठसे मन वशमें करना चाहिये'—सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि कोई भी मनुष्य आपको ऐसा नहीं मिलेगा जिसको मनकी बात पूरी करते-करते शान्ति मिल गयी हो। शान्ति तो मनको भोगकामनासे हटाकर भगवान्‌में लगानेसे ही मिलेगी, जो कि सहजमें ही किया जा सकता है।

आप गीताका नित्य पाठ करते हैं, कल्याणका मनन करते हैं, गायत्रीजप करते हैं, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। गीताके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करें।

(२)

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) यह तो आपको मान ही लेना चाहिये कि भगवान् एक ही है। उसके चाहे जितने स्वरूप हों, वह चाहे जिस वेषमें रहे पर है एक और वही साधकका इष्ट होना चाहिये। इस परिस्थितिमें यदि आप अपने इष्टको विष्णुरूपमें बुलाना चाहते हैं और वह श्रीकृष्णरूपमें आपके सामने प्रकट होता है, तो समझना चाहिये कि भगवान् मेरे मनकी बात पूरी न करके अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं, यह कितनी कृपा है। इसलिये उसका तो अधिक आदर करना चाहिये। मेरा हित किसमें है इसका मुझे क्या पता? प्रभु सब कुछ जानते हैं उनसे कुछ छिपा नहीं है। अतः वे जो कुछ करते हैं वही ठीक है। ऐसा मानकर आपको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल हो जाना चाहिये और जो अपने-आप सामने आये, उन श्रीकृष्णकी उस स्वरूप-माधुरीका पान करते रहना चाहिये। उस रूपमें भी तो आपके इष्ट ही आते हैं, फिर आपके इष्टके ध्यानमें बाधा कैसी?

(२) प्रकृति स्वयं गतिशील है, यह तो माना जा सकता है; परंतु वह न तो अपनेको जानती है और न अपनेसे भिन्नको ही जान सकती है। फिर वह कौन है जो उस प्रकृतिका नियमानुसार संचालन करता है, जीवोंको उनके कर्मानुसार फलभोग कराता है और

कर्मबन्धनसे मुक्त भी करता है ? बिना चेतनके सहयोग-के प्रकृति कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकती जो नियमानुसार चलता रहे और उसमें कोई व्यवधान न पड़े। अतः यह सिद्ध होता है कि उसका एक संचालक सर्वशक्तिमान् अवश्य है। वही ईश्वर है।

आपने पूछा कि यदि प्रत्येक वस्तुको कोई बनाने-वाला है तो भगवान्‌को बनानेवाला कौन है। इसका यह उत्तर है कि जगत्‌के बनानेवालेका बनानेवाला कोई नहीं होता, वह बनानेवाला तो स्वतःसिद्ध होता है; क्योंकि वह जड वस्तु नहीं है, स्वयंप्रकाश सर्व-शक्तिमान् है, इसीलिये वह भगवान् है।

जिस तत्त्वको हम जानना चाहते हैं उसके जानकारोंकी बातपर विश्वास करके पहले मानते हैं तभी उसे जानते हैं, उसी प्रकार ईश्वरतत्त्वको समझनेके लिये भी पहले उसे जाननेवालोंपर और उसे जाननेकी प्रक्रियापर विश्वास करना उचित है। बिना विश्वासके मनुष्यका छोटे-से-छोटा कोई भी काम नहीं चलता, इसलिये भी विश्वास करना ही जाननेका उपाय है; यह बात सिद्ध होती है।

भगवान् है—यह विश्वास मनुष्यको इसलिये भी करना चाहिये कि उसको स्वयं अपने होनेका प्रत्यक्ष बोध है। कोई भी प्राणी यह नहीं समझता कि मैं नहीं हूँ। अतः उसे विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ। विचार करनेपर पता लगेगा कि शरीर तो मैं नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो बदलता रहता है और मैं नहीं बदलता; मेरा शरीर आजके दस वर्ष पहले जो था, वह अब नहीं रहा पर मैं वही हूँ जो उस समय था; क्योंकि उस समय और उससे पहलेकी घटनाएँ मुझे मालूम हैं।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं शरीर नहीं तो क्या मैं मन और बुद्धि हूँ। विचार करनेपर पता चलेगा कि मैं मन-बुद्धि भी नहीं हो सकता; क्योंकि उनको मैं जानता हूँ और जाननेमें आनेवाली वस्तुसे जाननेवाला सदैव भिन्न हुआ करता है।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ और किसके आश्रित हूँ, मेरा आधार क्या है। विचार करने-पर पता लगेगा कि जो मेरे ज्ञानका विषय है, जिसको मैं जान सकता हूँ वह न तो मेरा आधार हो सकता है और न वह मैं ही हो सकता हूँ; क्योंकि जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं एवं मैं सदा एकरस और अविनाशी हूँ। अतः मेरा आधार, संचालक और प्रेरक भी कोई चेतन अविनाशी ही हो सकता है और वही भगवान् है। इस प्रकार अपनी सत्ताको तथा सीमित सामर्थ्य और सीमित ज्ञानको देखकर किसी असीम ज्ञान-बल-वीर्ययुक्त नित्य अविनाशी चेतन शक्तिका होना स्वतः समझमें आना चाहिये।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। कार्ड आपका मिला। समाचार मालूम हुए। आपने लिखा कि मैं जीवात्मा मायामें लिपटनेसे अपने स्वरूपको भूल गया हूँ, सो यह तो आपकी सुनी हुई बात है। यदि इस बातको आप समझ लेते या मान लेते तो तत्काल ही मायाके बन्धन-से छूट जाते।

गृहस्थका निर्वाह तो आपके न रहनेपर भी होता ही रहेगा। आपकी जो यह मान्यता है कि मैं गृहस्थ-का निर्वाह करता हूँ, यह तो केवल अभिमानमात्र है।

जीव चेतन है, सर्वव्यापी भगवान्‌का अंश है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है। पर जीवको भगवान्‌से अलग करनेवाला केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, इसके सिवा सूक्ष्म और कारण शरीर भी हैं। अतः जबतक तीनों शरीरोंसे जीवका सम्बन्ध नहीं छूटता, तबतक वह जन्म-मृत्युसे नहीं छूटता। उसका एक स्थूल शरीरको

छोड़कर दूसरे स्थूल शरीरमें जाना सूक्ष्म और कारण-शरीर-को लेकर होता है। इसका खुलासा गीतातत्त्वविवेचनी टीका अ० १५ श्लोक ७, ८, ९ में देखना चाहिये।

माता-पिता न हों तो सबके माता-पिता परमेश्वर तो हैं ही, उनको प्रणाम करना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण और अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये एवं सबके हृदयमें स्थित भगवान्‌को प्रणाम करना चाहिये।

जबतक आप झूठ बोलते हैं, तबतक एक बात बोलनेसे ग्राहक न पटे इसमें क्या आश्चर्य है; क्योंकि उनको कैसे खातिर हो कि आप सच बोलते हैं। यदि भय और लालचको छोड़कर आप सत्यके पालनपर दृढ़ हो जायँ तो फिर ग्राहक आपको ढूँढ़ते फिर सकते हैं।

दिव्य चरणकमल-रज

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रभुके वरद चरणकमलकी रजकणिकाएँ अति दिव्य हैं। उनके संस्पर्शमात्रसे ही गौतम-पत्नीका पाषाण-देह दिव्य लोकोत्तर विग्रहमें परिवर्तित हो गया; वह अपनी पूर्वाकृतिको प्राप्त हो गयीं—

दुःखे सुखे च रज एव बभूव हेतु-
स्तादृग्विधे महति गौतमधर्मपत्न्याः।
यस्माद् गुणेन रजसा विकृतिं गता सा
रामस्य पादरजसा प्रकृतिं प्रपेदे॥

(रामायणचम्पू० बाल० १४९)

शिला कम्पं धत्ते शिव शिव वियुङ्क्ते कठिनता-
महो नारीच्छायामयति वनितारूपमयते॥
वदत्येवं रामे विकसितमुखी वल्कलमुरः-
स्थले धृत्वा बद्ध्वा कचभरमुदस्थादृषिवधूः॥

—भगवत्पादाब्जरजसे संस्पृष्ट होते ही शिला काँपने लगी और प्रभु बोल उठे—'शिव, शिव यह शिला क्यों हिलने लगी और अब तो इसका काठिन्य भी दूर हो गया, अहो! इसमेंसे तो स्त्रीकी छाया-सी दीखने लगी, अरे अरे! यह तो स्त्री बन गयी'। भगवान्‌के यों कहते-कहते ही बालों तथा वल्कलोंको सँभालती हुई विकसित-मुखी, प्रसन्नानना ऋषिवधू अहल्या उठ खड़ी हुई और फिर चरणरज पानेके लिये चरणोंमें गिर पड़ी—

प्रभु पद-पदुम पराग परी
ऋषि तिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥

कहते हैं जब सखियोंने विवाहके अवसरपर सीता-जीसे कहा—'सीते! तुम प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करो', तब इस भयसे कि इनकी दिव्य पादाब्जरजकणिकासे मेरे भालरत्न, चूडामणि आदि भी स्त्री हो जायँगी, उन्होंने वैसा न किया—

शिक्षितापि सखिभिर्ननु सीता
रामचन्द्रचरणौ न ननाम।
किं भविष्यति मुनीशवधू वद्
भालरत्नमिह तद्रजसति॥

सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता॥ करति न चरन परस अति भीता॥
गौतम तियगति सुरति करि नहिं परसति पद पानि।
मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥

इसी प्रकार केवट भी गङ्गापार होनेके समय उनसे कहने लगा, 'महाराज! मेरे परिवारवालोंका एकमात्र यह नौका ही जीवनाधार है। वह काष्ठकी बनी है और काष्ठ कोई शिलासे अधिक कठोर नहीं होता। तुम्हारे दिव्य पदरजसे संस्पृष्ट होकर यह तरणि भी अवश्य ही किसी 'मुनिकी घरनी' बन जायगी और मैं सपरिवार मर जाऊँगा, तुम्हें क्या? तुम तो नाव उड़ाकर अपनी राह पकड़ोगे—

.....नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते
पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥

(अध्यात्म० बाल० ६। ३, आनंदरामा० सारकां० १।२६, महानाटक० ३। ४५)

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा
पश्चात् पर तीरमहं नयामि।
नो चेत्तरी सद्युवती मलेन
स्याच्चेद् विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥
(अध्यात्म० बाल० ६।४)

'उपलतनुरहल्या गौतमस्यैव शापा-
दियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात्।
चरणनलिनसंगानुग्रहं ते भजन्तु
भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री॥
(हनु० ३।२०, महा० ३।४६)

चरनकमलरज कहँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनिघरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
'रावरे दोष न पायनको, पगधूरिको भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन-बाहन, काठको कोमल है, जल खाइ रहा है॥'
(कवितावली)

चलते-चलते जब प्रभु विन्ध्यारण्यमें पहुँचते हैं, तब बहुत-से उदासी तपस्वी व्रतधारी मुनिजन व्यंग करते हुए प्रभुसे कहते हैं, 'महाराज! आपने बड़ी कृपा की। हमलोग गौतम-पत्नीकी कथा सुन चुके हैं। चलिये अब हमलोगोंका दुःख दूर हुआ। यहाँ जंगलोंमें शिलाओंका कोई अभाव तो है नहीं। बस आपके सुन्दर पदकमलके संस्पर्शसे अब ये सारी शिलाएँ चन्द्रमुखी ललनाएँ बन जायँगी और एक-एक ऋषिको न जाने कितनी-कितनी स्त्रियाँ मिल जायँगी, कोई गणना है? आखिर ये सब जायँगी भी कहाँ?

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहा-
मलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम्।
त्वयि चरति विशीर्णविन्ध्यग्रावाद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः॥
(हनुमन्नाटक ३।१९ प्रसन्नराघवनाटक, महाना० ३।४४)

बिंधिके बासी उदासी तपी ब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखीं परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू! करुना करि काननको पगु धारे॥
(कविता० अयोध्या २८)

चित्रकूटमें कई स्थलोंपर भगवान् राघवेन्द्र तथा पराम्बा जगज्जननी जानकीके पदचिह्न शिलातलोंपर उग आये हैं, जो अद्यावधि ज्यों-के-त्यों हैं। यह उनकी दिव्यताका साक्षात् साक्षी है। भरतमिलाप नामक स्थलपर तो हजारों पदचिह्न प्रकट हो गये हैं। जानकीकुण्डस्थित भगवती सीताके लाल कमल-जैसे दिव्य पदचिह्नको देखकर हृदय द्रवित हो उठता है और 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' यह भवभूतिकी उक्ति याद पड़ जाती है। तुलसीदासजीने तो—

'द्रवहिं देखि सुनि कुलिस पखाना।'
परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परम पद के अधिकारी॥
जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
परसि रामपद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥

—आदिका कई बार वर्णन किया है। उन्होंने चित्रकूटके चिह्नोंको लक्ष्यकर अपनी विनयपत्रिकामें स्पष्ट ही लिखा है—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चल।
भूमि बिलोकु रामपद अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थल।

मानसमें भी भरतजीसे कहलाते हैं—

प्रभुपद अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ तो आवौं देखी॥

और तो और, कालिदासने भी मेघदूतमें इन चिह्नोंको सादर स्मरण किया है—

'वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।'
(पूर्वमेघ० १२)

भागवतकारने बड़े सरस एवं हृदयग्राही शब्दोंमें प्रभुके आत्मज्योतिमें प्रवेशकी कथाका उल्लेख किया है और कहा है कि दण्डकवनके कण्टकोंसे विद्ध भगवान् रामके वे पदकमल स्मरण करनेवालोंके हृदयसे नहीं निकले।

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥
(९।११।१९)

'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वन्द मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥

जिस सौभाग्यशालीने एक बार भी उनका दर्शन, स्पर्श, अनुगमन या सेवन किया, वह योगियोंके लोकोंको प्राप्त हुआ।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥
(९।११।२२)

उनकी नखमणिचन्द्रिका ध्यान करनेवालेके हृदयके महान् अन्धकारका संहार करती है, त्रितापोंको निरस्त करती है।

'नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।'
(११।२।५४)

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।
(३।२८।२१)

'नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम्।'
(३।८।२६)

इन्हीं दिव्य पादरेणुओंसे भगवती भागीरथी, पाप-तापापहारिणी गङ्गा प्रसूत हुई, जिसे सिरपर धारणकर शंकरजी कल्याणप्रद तथा कृतकृत्य हुए।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥
(३।२८।२२)

'परसि जो पाथ पुनीत सुरसरी सोहै तीनि गवनी।
तुलसीदास तेहि चरन रेनुकी महिमा कहै मति कवनी॥'
(गीता० बाल० ५८।३)

इन चरणोंकी महिमा तथा दिव्यता तो तब देखते बनती थी, जब बलिके यज्ञमें वे क्षणमें ही बढ़ते-बढ़ते भूः भुवः स्वरादि लोकोंको लाँघ गये और ब्रह्मलोकमें जानेपर ब्रह्माजीने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रक्षालन कर अवनेजन जलको अपने कमण्डलुमें रख लिया, जो आकाशमार्गसे गिर-कर भगवती गङ्गाके रूपमें तीनों लोकोंको पवित्र करता है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥
(श्रीमद्भा० ८।२१।४)

कहाँतक कहा जाय इन दिव्य पादाब्ज-किञ्जल्कोंमें वह जादूभरी गन्ध है जो आत्माराम, परम निष्काम ब्रह्मलीन सनकादि मुनियोंके परम शान्त हृदयमें भी क्षोभ—हलचल पैदा कर देती है।

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्रीमद्भा० ३।१४।४३)

इन दिव्य पदकमलोंकी सेवाकी रुचि भी अशेष जन्मोंके मलोंका क्षय कर डालती है, फिर सेवाकी बात तो निराली है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोति·····।

उनका ध्यान करनेवाला पुनः संसृतिमें नहीं पड़ता—

यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनः
न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥
(४।२१।३१-३२)

शुद्धात्मा पुरुष इन चरणोंका परित्याग करनेमें वैसा ही भय खाता है, जैसे क्लेशोंका मारा यात्रासे लौटा व्यक्ति अपने घरको छोड़नेमें—

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥
(श्रीमद्भा० २।८।६)

वह ध्याताके सारे मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है और सभी वरदानोंका उद्गमस्थान है—

'सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।'
(श्रीमद्भा० २।६।६)

'पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।'
(३ । ८ । २६)

'अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजम् ।'
(४ । २१ । ३३)

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपनी विनयपत्रिका-में उपर्युक्त सारे तत्त्वोंको किस अनूठे ढंगसे एकत्र संगृहीत कर दिया है, यह देखते ही बनता है—

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ।
समन सकल कलेस कलि-मल, सकल मंगल-करन ॥
सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन-बारिज-बरन ।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपट-बटु बलि-छरन ।
बिप्रतिय नृग बधिकके दुख-दोस दारुन दरन ॥
सिद्ध-सुर-मुनि बृंद-बंदित सुखद सब कहँ सरन ।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन ॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन ।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥
(वि० प० २१८)

हाय-हाय ! जिस प्रकार लौकिक भोगसामग्रियोंके स्पर्शके लिये यह पामर, अधम जीव दौड़ता, प्रयत्न करता है, काश ! उसका शतांश भी इन दिव्य चरणरेणुओं-के स्पर्शकी इच्छा हुई होती, चेष्टा की होती—

'चन्दन-चन्दबदनि-भूषनपट ज्यों चह पाँवर परस्यौ ।
त्यौं रघुपति-पद-पदुम-परस कहँ तन पातकी न तरस्यौ ॥'
(वि० प० १७०)

पर ऐसा सौभाग्य कहाँ ? नाथ ! अब तो केवल आपकी कृपामयी मूर्तिका ही एकमात्र अवलम्बन है, सहारा है, प्रतीक्षा है—

'हैं तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है ।'

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

तीन सत्तावाद

जगत् तो प्रारब्धानुसार ज्ञानीको भी भासता है । अद्वैत-वेदान्तमें पदार्थोंकी तीन सत्ताएँ स्वीकार की गयी हैं ।

(१) **व्यावहारिक सत्ता**—केवल अविद्याकार्य-ईश्वर-रचित, यथा—साधारण जगत् जिसका जगत्के अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञान बिना बाध नहीं हो सकता । यद्यपि इनका नाश तो ब्रह्मज्ञानके बिना होता है । यह सत्ता जीवके जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहारको सिद्ध करती है ।

(२) **प्रातिभासिक सत्ता**—दोषसहित अविद्याके कार्य, यथा—रज्जु-सर्प आदि जिसका ब्रह्मज्ञानके बिना ही निज अधिष्ठान रज्जु आदिके ज्ञानसे बाध हो जाता है । इसका अभिप्राय है प्रतीतिमात्र सत्ता, अथवा प्रतीतिसमकालीन सत्ता ।

(३) **पारमार्थिक सत्ता**—यथा—अखण्ड चिन्मात्र आत्मा-की सत्ता, जिसका किसी कालमें भी बाध नहीं होता । अज्ञान कालमें भी आत्माके ज्ञानका अभाव होता है । ऐसा नहीं होता कि पूर्व किसी कालमें आत्माका ज्ञान हो और पश्चात् उसका बाध हो जाय कि आत्मानुभूति तथा आत्मा मिथ्या है, ऐसा क्रम आत्मानुभूतिके विषयमें नहीं है । आत्मसम्बन्धी ज्ञान अनादि है और आत्मज्ञान होनेपर पुनः उसका बाध नहीं होता; क्योंकि पूर्वभ्रान्ति तथा अयथार्थ पदार्थका बाध होता है । आत्मा परमार्थ सत्ता है और अखण्ड चिन्मात्र अनुभूति भी परम यथार्थ अनुभूति है, भ्रान्ति नहीं, जो कि पुनः उसका किसी अन्य ज्ञानसे बाध हो । अतः अखण्ड चिन्मात्र आत्माका बाध कदापि नहीं होता । इसीलिये आत्मा-की परमार्थ सत्ता कही जाती है ।

कई एक कारणोंसे ये तीन सत्ता वेदान्त-सिद्धान्तमें स्वीकार की जाती हैं । इनके विस्तृत विवेचनका यहाँ न तो अवकाश है और न प्रयोजन । इनमें समानता यह है कि यह तीन ही सत्ता हैं । ऐसा हम नहीं कह सकते कि इन तीनमेंसे कोई नितान्त असत् है यथा खपुष्प या इसका नाम हम अभावमात्र नहीं रख सकते ।

जगत्की व्यावहारिक सत्ताका बाधमात्र ब्रह्मज्ञानद्वारा होता है । व्यवहारकालमें अर्थात् देहपात अथवा मोक्षसे पूर्व

इस सत्ता अर्थात् जगत्का अभाव नहीं होता; तभी तो प्रारब्ध सिद्ध होता है। अथवा जगत्के ब्रह्मज्ञानद्वारा बाध हो जानेपर भी प्रारब्ध जगत् सत्ताको बनाये रखता है। जब प्रारब्ध भोगद्वारा नाश हो जाता है, तब शरीर तथा जगत्का अत्यन्त अभाव ज्ञानीके लिये हो जाता है।

दो सत्तावाद—उपर्युक्त तीन सत्ताका निरूपण भेद बुद्धिवाले अधिकारीके लिये है, जो सहसा अद्वैत सिद्धान्त अजातवादका ग्रहण नहीं कर सकता, जिसका निरूपण गौड़पाद-कृत माण्डूक्यकारिका, योगवासिष्ठ, बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक, आत्मपुराण, प्रकाशानन्दकृत सिद्धान्तमुक्तावली, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें किया गया है। अर्थात् जब सब अनात्म-पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार की गयी है और चेतन आत्माकी पारमार्थिक सत्ता इस प्रकार केवल दो ही सत्ता स्वीकार की गयी हैं।

उपर्युक्त तीन अथवा दो सत्ताओंके सिद्धान्तका रूपान्तरसे निर्देश (१) सृष्टिवाद (२) दृष्टिसृष्टिवाद।

(१) सृष्टिदृष्टिवादमें पूर्वोक्त तीन सत्ता स्वीकार की गयी हैं। इसमें जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ता है, जिसका प्रमाणोंद्वारा ज्ञान होता है।

(२) दृष्टिसृष्टिवादी घटपटादि जगत्के पदार्थोंकी अज्ञात सत्ताको स्वीकार नहीं करते। सम्पूर्ण प्रपञ्चकी सृष्टि दृष्टि (उनके प्रत्यक्ष) के समकालीन मानते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न जगत्में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं। स्वाप्नपदार्थ तथा रज्जुसर्प-समान जाग्रत् प्रपञ्च सभी साक्षिभास्य हैं, अन्तःकरण इन्द्रियोंका उपयोग नहीं स्वप्नपदार्थोंके समान चक्षु आदि इन्द्रियोंकी विषयता इनमें भ्रान्तिसे प्रतीत होती है; क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्के पदार्थ भी ज्ञानसे पूर्व विद्यमान हों तो इन्द्रियोंद्वारा उनका ग्रहण सम्भव हो। ज्ञान, इन्द्रियाँ, तथा विषय सब समकालीन हैं। (स्वप्न पदार्थ न तो जाग्रत् जगत्की स्मृति हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष भासते हैं और न लिङ्ग शरीर बाहर जाकर जाग्रत् जगत्को ही स्वप्नमें देखता है, क्योंकि प्राणके बिना लिङ्ग शरीर बाहर जा नहीं सकता और प्राण शरीरमें दूसरे मनुष्यको प्रतीत होते हैं तथा जिन सम्बन्धियोंसे स्वप्नमें मिलाप हुआ है, उनको कुछ ज्ञान नहीं होता, इसलिये स्वप्नके पदार्थ इन्द्रियों और ज्ञाताकी उत्पत्ति होते हैं; क्योंकि जाग्रत् इन्द्रियाँ शरीरमें होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंको ग्रहण नहीं कर सकतीं। सम सत्तावाले पदार्थ ही साधक-बाधक होते हैं। इसलिये स्वप्नमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता उत्पन्न होते हैं और स्वप्नके पदार्थ मिथ्या हैं; क्योंकि देशकाल, माता-पिता आदि कारणकी उचित सामग्री वहाँ नहीं है। इसलिये इनका उपादान अन्तःकरण अथवा अविद्या है और इसका अधिष्ठान साक्षी चेतन अथवा ब्रह्मचेतन है अर्थात् स्वाप्न पदार्थ अविद्या अथवा अन्तःकरणका परिणाम हैं और चेतनका विवर्त हैं।)

दृष्टिसृष्टिवादका परम सिद्धान्त है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(माण्डूक्यकारिका २। ३२)

न जगत्का निरोध अर्थात् नाश होता है, न इसकी उत्पत्ति होती है, न कोई बद्ध है, न साधक, न मुमुक्षु अथवा मुक्त ही है, यही परमार्थ सत्य है।

अत्र पितापिता भवति, मातामाता, लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः·····।

(बृ० ४। ३। २२, ४। ३। २३, ३२ इत्यादि)

उस सुषुप्ति अथवा ज्ञानदशामें पिता अपिता हो जाता है, अर्थात् पिताभावके निमित्तक कर्मसे इसका सम्बन्ध नहीं रहता, कर्म सिद्धलोक अथवा कर्माङ्गभूत देवता, इसका कर्मसे सम्बन्ध न रहनेसे अलोक तथा अदेवता हो जाते हैं और साध्य-साधन सम्बन्ध बनानेवाले कर्मके अङ्गभूत वेद भी अवेद हो जाते हैं क्योंकि यह तब कर्मसे उत्क्रमण कर जाता है—इत्यादि।

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तानि शून्यात्मकत्वात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

(दशश्लोकी ३)

माता, पिता, देव, लोक, वेद, यज्ञ, तीर्थ आदि नहीं हैं—ऐसा शास्त्र अथवा ज्ञानी कहते हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें शून्य-का निराकरण होनेसे मैं अद्वय केवल शिव ही उस समय शेष रहता हूँ।

अधिकारी—अनेक जन्मोंके महान् पुण्यसंचयके परिपाक-से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे ही इस परम सत्यको ग्रहण कर सकते हैं कि अनन्तकालस्थायी, कार्य-कारणभावसे प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण (जाग्रत्) जगत्

स्वप्नके समान मिथ्या है। आकाश आदिकी उत्पत्ति, कर्म तथा उपासनाकाण्डमें वर्णित साधनोंके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, ब्रह्मलोक, वेद तथा गुरु, जिज्ञासु आदि सब मिथ्या हैं, परंतु साधारण मन्द जिज्ञासुकी बुद्धि सहसा इस परम अद्वैत सिद्धान्त (अजातवाद, दृष्टिसृष्टिवाद अथवा केवल दो ही सत्ता हैं—पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक) में प्रवेश नहीं कर सकती। उनकी योग्यताके अनुसार क्रमशः परम सिद्धान्तमें प्रवेशकी योग्यताके सम्पादनार्थ त्रिविध सत्ता अथवा सृष्टि-दृष्टिवादका निरूपण किया गया है। अर्थात् परमेश्वरसे बना जगत् अज्ञात सत्तावाला है, इसकी व्यावहारिक सत्ता है। वेद, गुरु, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदिकी व्यावहारिक सत्ता है। भिन्न-भिन्न विषयोंमें प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर उनका ज्ञान होता है।

उपर्युक्त दृष्टिसृष्टिवादके पुनः दो प्रकार सिद्धान्तलेशके सृष्टिके कल्पक प्रकरणमें कहे हैं—(१) जाग्रत् प्रपञ्चकी स्वप्नसमान ज्ञानसमकालीन सृष्टि है। अर्थात् किसी पदार्थके ज्ञानकी उत्पत्तिकालमें ही उस पदार्थकी उत्पत्ति है और ज्ञाननाश समयमें उस पदार्थका भी नाश हो जाता है।

दृष्टिरेव हि विश्वस्य सृष्टिरित्यपरा विद्या ज्ञानस्वरूपमेवाहुरित्यतः स्मृतियानिकाः ॥ ४५ ॥

स्मृति अनुसारी कुछ लोग दृष्टि ही संसार-सृष्टि कहते हैं, ऐसी दृष्टि सृष्टिका अन्य प्रकार है और यह संसार ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं।

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपं भ्रामयन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥

(स्मृति)

इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत्को विवेकी पुरुष ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परंतु कुछ कुदृष्टि-भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप जगत्को ज्ञानसत्तासे भिन्न देखते हैं। (सिद्धान्तमुक्तावली-जीवानन्द विद्यासागर मुद्रित ३१५ पृष्ठपर इस वादका विस्तृत निरूपण है।)

अनुभूतिके चार भेद—उपर्युक्त विवेचनके आधारपर अखण्ड चिन्मात्र परमार्थसत्ताकी दृष्टिसे हम अद्वैत अनुभूतिके ४ भेद कर सकते हैं—(१) परमार्थ सत्ता जब कि केवल अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्ता ही अनुभूत होती है, अन्य जगत्का भानतक भी नहीं होता। जगत्की सुषुप्ति समान विस्मृत होती है। यथा उपरतिकी पराकाष्ठारूप निर्विकल्प समाधि, तुर्या अथवा तुर्यातुर्या अवस्थामें।

(२) उत्कृष्ट प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत् प्रतीत तो होता है, परंतु प्रतीतिमात्रसे भिन्न उसको जगत् नहीं भासता। अर्थात् इसमें पदार्थकी ज्ञात अथवा अज्ञात स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह उपर्युक्त सिद्धान्तमुक्तावली-उक्त दृष्टिसृष्टिवादका द्वितीय भेद है। यह परमार्थ तत्त्वके अधिक समीप है। इसलिये इसे प्रातिभासिक सत्ताके दूसरे भेदसे प्रथम रखा है।

(३) प्रातिभासिक सत्ता—दृष्टिसृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता नहीं, ज्ञात सत्ता है। परंतु (सं० २) में ज्ञात सत्ता भी नहीं, क्योंकि प्रतीतिकालमें प्रतीतिसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता है—दोनों एक ही कालमें उत्पन्न होते हैं। प्रतीति तथा इसका विषय दोनों समकालीन है। इसमें विषयकी प्रतीतिसे भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विषय प्रतीतिसे पृथक् प्रतीतिसमान प्रतीतिके कालमें विषयकी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत केवल प्रतीतिमात्र ही उत्पन्न होती है, पृथक्ता भी भ्रान्ति ही है।

(४) व्यावहारिक सत्ता अथवा सृष्टिदृष्टिवाद जिसमें जगत्की अज्ञात सत्ता है। प्रतीतिसे भिन्न कालमें भी विषयकी सत्ता रहती है और इसका ज्ञान प्रमाताको प्रमाणद्वारा होता है।

अर्थात् इन चारमें नीचे चतुर्थसे आरम्भ करके जगत्का क्रमशः लोपमिथ्यात्व होता गया है। चतुर्थमें जगत् केवल जन्म, बन्ध, मोक्ष आदि रूप व्यवहारकालमें सत्य है। मोक्ष उपरान्त इसका अभाव हो जाता है। केवल परमार्थ अखण्ड चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है। तृतीयमें जन्म, बन्ध, मोक्ष मिथ्या है, परंतु केवल प्रतीतिकालमें सत्य है। द्वितीयमें प्रतीति-कालमें भी जगत्की केवल प्रतीति है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। विषयप्रतीतिमात्र सत्य है। विषयमात्र सत्य नहीं, यह अजातवाद है। प्रथममें जगत् द्वैत प्रतीतिका नितान्त अभाव है। केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्मात्मा अपनी अद्वय महिमामें प्रकाशित है।

हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि प्रमाणके वैमत्य, परस्पर विरोधका परिहार प्रथम तीन भूमियोंमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा हो जानेपर ब्रह्मात्माके ब्रह्माकार वृत्तिद्वारा साक्षात् होनेपर जिज्ञासु सत्त्वापत्ति चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है। यह इसीलिये सत्त्वापत्ति कहलाती है कि अब इसमें तम-रजको पूर्णतया अभिभूत करके शुद्ध सत्त्वका रज-तमकी कालिमारहित प्रकाश होता है, जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि तुर्यातुर्यास्थितिमें

संकल्प-विकल्पात्मक तथा त्रिपुटीभेदरूप मन अपने स्वरूपको खो बैठता है, मन जलमें लवण-समान विलीन हो जाता है। जैसे लवण नहीं भासता केवल जल ही भासता है, ऐसे ही मन नहीं भासता केवल अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही आत्मरूप (निजस्वरूप) से भासता है। जगत् द्वैतका बाध हो जाता है; परंतु मनकी यह अवस्था सदा नहीं बनी रहती, फिर इसका व्युत्थान होता है। व्युत्थान दशामें जगत्में पूर्व समान सत्यत्व बुद्धि तो कदापि नहीं हो सकती, मिथ्यात्व-बुद्धि ही होती है। परंतु पुण्यपरिपाक प्रारब्ध अथवा अभ्यास-पाटवताके तारतम्यके कारण मिथ्यात्व-दृष्टिमें उपर्युक्त अवान्तर भेद रहते हैं, जिसके कारण व्युत्थानकालीन व्यवहारमें भी भेद रहता है। व्यवहार-भेदका कारण दृष्टिभेद और दृष्टिभेद-का कारण प्रारब्ध तथा अभ्यास-तारतम्य होता है। सो अब हम उपर्युक्त विवेचनके आधारपर ज्ञानकी सिद्धभूमियों-की दृष्टि तथा व्यवहारका निर्णय करेंगे।

सिद्ध ज्ञानीकी भूमिके भेदका आधार हम पूर्व यह कह चुके हैं कि समाहित अवस्थामें स्वरूप-स्थिति होती है। स्वरूपमें भेद सम्भव नहीं है। मनका व्यक्तस्वरूप नहीं होता, वह भी आत्मामें लीन होता है। परंतु प्रत्येक भूमिकाकी दृष्टि-अनुसार संस्कारोंका भेद होता है। इसलिये इन संस्कारों-की दृष्टिसे अथवा लीन दृष्टिसे अवश्य तारतम्य कहा जा सकता है। वेदान्तके सिद्धान्तों यथा ३ शरीर, ५ कोश, ३ सत्ता, २ सत्ता, दृष्टिसृष्टिवाद आदिका सामान्य ज्ञान तो एक नास्तिकको भी हो सकता है। इसलिये एक श्रद्धालु जिज्ञासु अथवा ज्ञानीके विषयमें (बुद्धिके वेदान्तकी प्रक्रियाके ज्ञानके विषयमें ऊहापोहके आधार) कैसे संदेह हो सकता है। परंतु यदि बुद्धिके ऊहापोहद्वारा संशयात्मक अथवा संशयरहित ज्ञानसे ही निर्वाह हो जाता तो तर्ककुशल पण्डित नास्तिक न देखें जाते तथा शोक-मोहग्रस्त न होते। इसलिये सत्ता-भेद तथा दृष्टि-सृष्टिभेदकी प्रक्रियाके ज्ञानमात्र तथा ब्रह्मसाक्षात्कारसे भी यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तवमें ज्ञानियोंका जगत्-मिथ्यात्वका साक्षात् अनुभव व्यावहारिक सत्ता तथा सृष्टिदृष्टिके आधारपर है। अथवा प्रातिभासिक सत्ता तथा दृष्टि-सृष्टिके आधारपर है और प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टि-सृष्टिका भी कौन-सा भेद कार्य करता है। प्रतीति-समकालीन अथवा प्रतीतिमात्र जगत् भासता है। सो साक्षात्कार ज्ञानीकी दशामें समाहित आदि कालीन आत्मा-नुभूतिमें साधारणरूपसे भेद न होनेपर भी व्युत्थानकालीन मिथ्यात्व-दृष्टिमें भेद होता है। उसीके कारण व्यवहारमें भेद होता है। अब इसका विवेचन करना है। इसे निम्नतम स्तरसे आरम्भ किया जाता है।

(१) 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिकामें जगत्-मिथ्यात्व बुद्धिका आधार सृष्टि-दृष्टिवाद तथा व्यावहारिक सत्ता होती है। जगत्-मिथ्यात्व भासनेपर भी व्यवहार कालमें सत्य भासता है। व्यवहारकालमें भी वेद, शास्त्र, गुरु, शिष्य, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, जिज्ञासु, साधन, उपदेश तथा लोकव्यवस्था सब सत्य भासती है। यदि ऐसा न हो तो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी भी जिज्ञासुको आत्माका उपदेश नहीं कर सकता, अन्य व्यवहारकी तो बात ही क्या है ? क्योंकि यथार्थ व्यवहार केवल दृष्टिके अनुसार ही होता है। किसी वेदान्त ग्रन्थकी वर्णित प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टि-सृष्टिवादको जिज्ञासुको समझाना और बात है; परंतु दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूति अथवा स्थितिमें यह असम्भव है। व्युत्थानकी तीन स्थिति भी सदा एकरस नहीं रहती, इसमें उतार-चढ़ाव रहता ही है। भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न स्थिति भी हो सकती है अथवा सामान्यरूपसे भी सृष्टि-दृष्टिस्थितिमें तारतम्य हो सकता है। इसलिये ज्ञानी इस निजानुभूत स्थितिके आधारपर भी दृष्टिसृष्टिवादका उपदेश कर सकता है। अथवा शास्त्रोक्त प्रक्रियाके ज्ञानके आधारपर भी; परंतु दृष्टिसृष्टिकी दृढानुभूतिकी दशामें यह उपदेश नहीं बन सकता; क्योंकि तारतम्यके आधारपर भी यह उपदेश होता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि दृष्टिसृष्टिवाद अथवा ५, ६, ७ भूमिकाका उपदेश केवल कल्पनापर अवलम्बित है, अनुभूतिपर नहीं। चतुर्थ भूमिका अथवा पञ्चम भूमिकाके भी तारतम्यताके आधारपर कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। चतुर्थ भूमिकाकी उन्नत दशामें तथा पञ्चम भूमिकाके निम्नस्तरमें दृष्टिसृष्टिवादकी साक्षात् अनुभूतिके आधारपर इस विषयमें उपदेश आदि सम्भव है। उपर्युक्त विवेचनका सार यही है कि चतुर्थ भूमिकामें आरूढ़ ज्ञानीको अखण्ड-अद्वयचिन्मात्र आत्माका साक्षात्कार होता है और जगत्में मिथ्यात्व बुद्धि होती है, परंतु जगत्में व्यावहारिक सत्ताका शेष अनुभव जरूर होता है और समाहित अवस्थामें इसीके संस्कार रहते हैं। इस अवस्थाके काल अथवा गम्भीरता इन संस्कारोंपर ही निर्भर है। यह समाहित अवस्था इतनी गहरी नहीं होती। मनका आत्मामें लय होनेपर इन संस्कारोंके आधारपर लीनतामें तारतम्य रहता है। यह

लीनता अभ्यासकी अधिकतासे क्रमशः बढ़ती जाती है और दृष्टिसृष्टिवादकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अन्ततः यहीं दृष्टि स्थिर हो जाती है, व्यवहार शिथिल पड़ जाता है और ज्ञानी पाँचवीं भूमिकामें प्रवेश करता है। उपदेश आदि व्यवहार शिथिल पड़ने लगते हैं। चतुर्थ भूमिकामें जीवन्मुक्तिकी साधना प्रारब्धानुसार सम्यक्रूपसे की जाती है।

पञ्चम 'असंसक्ति' भूमिकामें जगत्-मिथ्यात्वकी व्यावहारिक दृष्टिका भी बाध हो जाता है। प्रातिभासिक दृष्टि अथवा दृष्टि-सृष्टिवादकी दृष्टि स्थिर हो जाती है—ऐसा ही अनुभव होता है। यह ऐसी स्थिति है जैसे सर्प चर्मके नितान्त झड़नेसे पहिले उसकी स्थिति होती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि जैसे वह चर्म सर्पकी देहसे पृथक् होता है, परंतु फिर भी देहके साथ ही लगा है। इसलिये देहके साथ उसका ऐक्य न होते हुए भी इनका ऐक्य भासता है। इसीलिये इस भूमिकाका नाम असंसक्ति है। यहाँ संसारमें आसक्ति नाममात्रकी भी नहीं रहती। अनासक्ति वैराग्य तो साधन-चतुष्टयसम्पन्न साधकमें भी होता है। इसलिये पूर्व भूमियोंमें भी इसका होना सहज है, परंतु इतना भेद होता है कि साधकका नित्यानित्य विवेकजन्य वैराग्य होता है, परंतु आगामी ज्ञानभूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वके ज्ञानके क्रमशः विकाससे इसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अन्तमें चतुर्थ भूमिकामें परम रसके साक्षात्कारसे यत्किंचित् रस भी जाता रहता है (गीता २, ५९)। इसकी नितान्त परिपक्व अवस्थाके कारण ही पञ्चम भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। यही भेद इसके विशेष नामका कारण है। परंतु यह दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्रातिभासिक सत्ता-अनुभूति अभी निम्न प्रकारकी है। जिसमें प्रतीति-कालमें जगत्, जन्म, बन्ध, मोक्ष, साधक, साधना आदि सत्य भासते हैं। इसीके आधारपर व्यवहार भी होता है। परंतु उसमें चतुर्थ भूमिकाके समान स्थिरता तथा पूर्वापर क्रम नहीं होता; क्योंकि प्रतीतिके अभाव होनेपर बन्ध-मोक्ष, शिष्य-गुरु, साधना आदिका अभाव दीखता है। इसलिये इस शिक्षादि व्यवहारमें एक क्रमयुक्त स्थिर विधि नहीं होती। उपस्थित होनेपर प्रतीति-कालमें जैसे सूझा वैसे कर दिया। यहाँ गुरु-शिष्य व्यवहार नहीं रह सकता। ऐसे महात्माओंका एक वचन, संकेत, स्पर्श, सङ्ग, सेवा, शुश्रूषा ही लौकिक तथा आध्यात्मिक अनेक गुत्थियोंको सुलझा देती है (मुण्डक ३, सांख्य ३,२)। इसमें शिक्षा, उपदेश आदि व्यवहारका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि अभी प्रातिभासिक सत्ता अथवा दृष्टिसृष्टि केवल प्रतीतिमात्र नहीं। प्रतीतिकालीन सत्ता शेष अभी अनुभव होती है। प्रारब्धानुसार अभ्यासपाटवतासे इसके संस्कारोंमें वृद्धि होती जाती है। इसलिये चतुर्थ भूमिका तथा पञ्चम भूमिकाके व्युत्थानमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्थाके प्रवेशमार्ग (स्थल) में तथा समाहित-कालीन संस्कारों तथा उनके कारण मनकी तीन अवस्थामें दोनों भूमियोंमें भेद होता है। पञ्चम भूमिमें दृष्टिसृष्टि मार्गसे निर्विकल्पमें प्रवेश होता है। इसलिये इसमें संस्कार भी इसी दृष्टिके क्रमशः बढ़ते हैं और मनकी तीन अवस्था भी गम्भीर होती है। क्रमशः यह गम्भीरता बढ़ती जाती है और अन्तमें ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादकी उत्कृष्ट श्रेणीमें प्रवेश करता है। पञ्चम भूमिकामें जहाँ उपदेश आदि व्यवहारकी शिथिलता होती है, क्योंकि प्रतीति समकालीनमात्र जगत् भासता है, इसीलिये जीवन्मुक्तिके साधन अभ्यासमें शिथिलता होती है। परंतु प्रयत्नके अभावमें भी सहज अभ्यास होता है। इसलिये चतुर्थ-की अपेक्षा समाहित अवस्था दीर्घ तथा गम्भीर होती है।

षष्ठ 'पदार्थाभावनी' भूमिकामें दृष्टिसृष्टिवाद अथवा प्रातिभासिक सत्ताकी उत्कृष्ट श्रेणीकी अनुभूति स्थिर होती है। जैसे इसका नाम सिद्ध करता है। इसमें पदार्थोंका नितान्त अभाव प्रतीत होता है। इस दृष्टिसृष्टिवादमें प्रातिभासिक-प्रतीतिमात्र ही पदार्थोंकी सत्ता है। पूर्व समानपदार्थ प्रतीति-कालमें उत्पन्न नहीं होते। इसलिये इनकी प्रतीतिकालमें भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। केवल प्रतीति होती है—जैसे सर्प, सिंह, मित्रका चित्र। इसलिये जैसे यह निश्चय होनेपर कि यह सर्प, सिंहका चित्र है देखनेवालेको यत्किंचित् भय नहीं होता, न इससे भासता है, न मित्रको मिलनेके लिये बढ़ता है। जैसे सर्कसमें सिंहको देखता है, ऐसे ही इस भूमिकावाला पदार्थोंको केवल देखता है; उसे यह दृढ़ निश्चय होता है कि पदार्थ हैं नहीं, केवल इनकी प्रतीति हो रही है। पञ्चम भूमिकाके समान न तो प्रतीति-कालमें इनका भाव होता है, न समाहित दशा अथवा सप्तम भूमिकाके समान इसकी प्रतीतिका अभाव होता है। जगत्के पदार्थोंकी प्रतीति अवश्य होती है; परंतु यह निश्चय होता है कि ये पदार्थ नहीं हैं। दृष्टिसृष्टिकी उत्कृष्ट स्थितिकी तथा साक्षात् अनुभूति इसी भूमिकामें एकरस होती है, अन्यत्र निम्नभूमिकाओंमें कुछ कालके लिये सम्भव ही हो सकती है। इसीके आधारपर कहा जा सकता है कि इस

भूमिकाकी अनुभूति तथा स्थितिका वर्णन केवल कल्पनामात्र नहीं। अन्यथा जो ज्ञानी एकरस इसी स्थितिमें रहता है, वह उपदेश आदि व्यवहार तो कदापि नहीं कर सकता, जिससे उसकी स्थिति तथा अनुभूतिका पता चले। यहाँ जगत्का नितान्त अभाव नहीं होता। चित्रके समान जगत्की प्रतीति शेष रहती है। यह बाध मिथ्यात्वकी पराकाष्ठा है। यहाँ समाहित अवस्थासे व्युत्थान अवश्य होता है, जगत् भासता है, परंतु प्रतीतिमात्र इसीलिये समाहित अवस्थामें प्रवेशका द्वार भी यही दृष्टि है। इसीके संस्कार निर्विकल्प स्थितिमें रहते हैं, जिसके कारण यह अवस्था दीर्घकालीन तथा गम्भीर होती है। मनकी लीनता भी इसी पराकाष्ठाकी होती है। इसलिये व्युत्थान होनेपर पूर्वसे व्युत्थानकालीन अनुभूतिकी दृढ़ता बढ़ती जाती है। व्युत्थान तथा समाधि दोनों परस्पर सहायक हैं। इस दृष्टिसे साधारणतया आत्मानुभूति तथा स्थिति इन ज्ञान भूमिकाओंमें समान होनेपर भी व्युत्थान-कालीन दृष्टिमें भेद होता है। जिसके कारण समाहित अवस्था-में भी काल तथा गम्भीरताका भेद होता है। यह स्थिति सहज बढ़ती जाती है, तो ज्ञानी सातवीं भूमिकामें प्रवेश करता है।

सप्तम 'तुर्या' नामक भूमिकामें सृष्टिदृष्टिवादको भी अवकाश नहीं मिलता; क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद, सृष्टिदृष्टिवाद तथा व्यावहारिक-प्रातिभासिक सत्ताकी गति तो वहाँतक है जहाँ जगत्में द्वैत भास रहा है। इस भूमिकामें मनकी लीनता इतनी पराकाष्ठा-की होती है कि उसका पुनः उत्थान होता ही नहीं। यहाँ केवल परमार्थ सत्ताकी निर्बाध स्फूर्ति होती है। इस भूमिका-में विदेह मोक्ष तथा इस स्थितिका ज्ञानीकी दृष्टिसे मानो एक प्रकारका नितान्त भेद नहीं होता, क्योंकि फिर वह जगत्-भेदको देखता ही नहीं। उसका जीवित शरीर दूसरोंको भासता है, जो स्थितिके साधन अन्नपान आदि न प्राप्त होनेसे थोड़े ही दिनोंमें शान्त हो जाता है। जैसे द्वैतका ज्ञानीको भान नहीं होता। सो इस भूमिकामें जगत्की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताका भी नितान्त अभाव हो जाता है, केवल अखण्ड-चिन्मात्र पारमार्थिक सत्ता ही शेष रह जाती है, यह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। शेष भूमिकाओंमें जगत् किसी-न-किसी रूपमें रहता है।

उपसंहार

ज्ञानकी इन सात भूमिकाओंके अतिरिक्त जगत् द्वैत सत्य भासता है। इसीलिये वह अज्ञानी-की अवस्था कहलाती है। ये सात ज्ञानकी भूमिका कहलाती हैं, क्योंकि इनमें जगत्द्वैत सर्वथा नहीं तो किसी अंशमें जरूर मिथ्या भासता है। प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी साधन-भूमिका हैं और शेष चार ज्ञानकी सिद्ध भूमिकाएँ हैं। प्रथम तीनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन होते हैं, जिससे क्रमशः शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा जगत्-मिथ्यात्वका बोध होता है। जगत्के मिथ्यात्वका उपर्युक्त त्रिविध प्रमाणद्वारा सम्यक् बोध होनेसे साधक चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है। साधकसे सिद्ध हो जाता है। इससे पूर्व साधक ही रहता है; क्योंकि इससे पूर्व प्रमाणोंमें परस्पर विरोध रहता है। ये भिन्न-भिन्न राग आलापते हैं, श्रवण साधन सिद्ध होनेपर शब्द-प्रमाणसे जगत्-मिथ्यात्व तथा अद्वय आत्माका ज्ञान कराता है, परंतु अनुमान तथा प्रत्यक्षसे भेद सिद्ध होता है। दूसरी विचारा-भूमिके साधन मननद्वारा अनुमान भी शब्द-प्रमाणका अनुमोदन करता है; परंतु प्रत्यक्ष अनुभूति भेदकी रहती है। यह भी निदिध्यासनद्वारा इस भूमिकामें निवृत्त हो जाती है अर्थात् प्रथम तीन भूमियोंमें जगत्-मिथ्यात्वका बोध क्रमशः भिन्न-भिन्न प्रमाणोंके परस्पर विरोधके परिहारद्वारा शुद्ध होता है। इसीलिये इन्हें 'ज्ञानकी साधनभूमियाँ' कहा गया है। चारसे सात सिद्धभूमियाँ हैं, क्योंकि इनमें अद्वय आत्माका साक्षात्कार समान है। इनके भेदका आधार जगत्-की व्युत्थानकालकी व्यावहारिक आदि सत्ताके आधारपर है। अथवा समाहित अवस्थाके काल, संस्कार तथा गम्भीरताके आधारपर है, परंतु विशेष व्यक्त भेद व्युत्थानकालीन व्यवहार तथा तन्मूल दृष्टिके कारण है।

जगत्-मिथ्यात्वकी सत्तामें भेद—चतुर्थ भूमिकामें ज्ञानीकी दृष्टिमें जगत्की व्यावहारिक सत्ता होती है। इसीके आधारपर जिज्ञासु उपदेश आदि व्यवहार सुष्ठुरूपसे होता है। यह पूर्वकी तीन तथा पश्चात्की तीन भूमिकाओंके मध्यकी है। साधना तथा सिद्धि दोनोंसे परिचित है, यही आचार्य-भूमि है। शेष तीन सिद्धभूमियोंमें ज्ञानी साधना, जिज्ञासु-रूप द्वैतसे दूर चला जाता है, इसलिये वह आचार्यका कार्य नहीं कर सकता। पाँचवीं भूमिकामें ज्ञानीकी जगत्में निम्न श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ताकी दृष्टि होती है, प्रतीतिकाल-में जगत् स्वतन्त्र सत्य भासनेसे व्यवहार बहुत न्यून हो जाता है। षष्ठमें ज्ञानीकी जगत्में उत्कृष्ट श्रेणीकी प्रातिभासिक सत्ताकी दृष्टि होती है, जगत् प्रतीतिमात्र भासता है। पृथक् स्वतन्त्र जगत्का अभाव भासता है। सप्तममें जगत्का भान ही नहीं

होता, अखण्ड अद्वय चिन्मात्र तत्त्व ही भासता है । इस प्रकार जगत् मिथ्या है, इस ज्ञानमें क्रमशः विकास होता जाता है । इसलिये यह सब ज्ञान-भूमिका कहलाती हैं । प्रथम तीनमें प्रमाणविरोधका परिहार होता है, क्रमशः जगत्-मिथ्यात्व-बुद्धिका विकास होता है और शेष चार भूमिकाओंमें पूर्वकी भूमियोंकी साधनासे प्राप्त सम्यक् मिथ्यात्व दृष्टिमें सत्ताभेदसे विकास होता है । चतुर्थमें व्यावहारिक सत्ता, पञ्चममें प्रातिभासिक (कालीन) स्वतन्त्र सत्ता, षष्ठमें प्रातिभासिक (प्रतीति-) मात्र सत्ता तथा सप्तममें जगत्-प्रतीतिका अभाव--केवल परमार्थसत्ताकी प्रतीति ।

भूमिका-सार

१–भूमिकामें जगत्-मिथ्याका शब्द-प्रमाणद्वारा बोध होता है ।
२– ,, ,, अनुमान ,, ,,
३– ,, ,, प्रत्यक्ष ,, ,,
} प्रमाणविरोध परिहार। मिथ्यात्व भेदप्रमाणके आधारपर ।

४–भूमिकामें जगत् मिथ्या होनेपर भी इसकी व्यावहारिक सत्ता शेष रहती है । –प्रतीति कालमें मिथ्या नहीं ।
५–भूमिकामें प्रातिभासिक सत्ता (क) प्रतीतिकालीन सत्ता ।
६– ,, ,, (ख) प्रतीतिमात्रकी सत्ता । प्रतीतिकालकी मिथ्या ।
७– ,, ,, प्रतीतिका भी अभाव हो जाता है । मिथ्या सत्यका यहाँ प्रश्न ही नहीं है ।
} मिथ्यात्व भेदसत्ता अथवा कालके आधारपर ।

भूमिकाओंका वर्णन वेदान्त-ग्रन्थोंमें

१–मुण्डकोपनिषद् ३; १, ४ ।
२–अक्ष्युपनिषद् ४ । ४१ ।
३–अन्नपूर्णोपनिषद् ५, ८१–९० ।
४–योगवासिष्ठ ६३, १२६ सम्पूर्ण विशेषतया ४–१३, १५–१८, २०–२२, ५८–६०, ६२–६५, ६६–६९, ७१–७३ ।
६, ८–१०, १–८ ।
३, ११८, ३–१६ ।
५–सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह ९४१–९४८ ।
६–वराहोपनिषद् ४ मन्त्र १–१०, ३० ।
७–महोपनिषद् (५–२७–३५) ५, ८, २० ।
८–बोधसार भूमिका-निर्णय, अज्ञानभूमिका माण्डूक्य उपनिषद्–३, १, ४ ।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

जो ईश्वर प्राणोंके प्राण तथा सर्वप्राणियोंके आत्मरूपसे विविध प्रकारसे प्रकाशक है, जो साधक इसको (आत्मभावसे) जानता है (यथा–यह ईश्वर मैं हूँ तथा सर्व आत्मा ही है, इससे अन्य दूसरा कुछ नहीं है) वह अन्य अनात्मपदार्थोंके विषयमें बात नहीं करता । वह आत्मामें ही क्रीड़ा करता है, आत्मामें ही उसकी प्रीति होती है, वह आत्मज्ञानध्यानकी ही क्रिया करता है । वह ब्रह्मज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ होता है । (भाष्यकार) तत्त्वानुसंधान-अनुसार इसमें सिद्धज्ञानियोंकी चतुर्थ भूमिकाओं (४–७), का वर्णन है । यथा (१) आत्मक्रीडा--मैं ब्रह्म हूँ--ऐसा अपरोक्ष ज्ञानवाला ब्रह्मवित्, यह चतुर्थ भूमिकाका वर्णन है । (२) आत्मरति–अनात्म-प्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माका निरन्तर साक्षात्कारवाला ब्रह्मविद्वर–पाँचवीं भूमिकावाला ज्ञानी । (३) क्रियावान्--आत्मानन्द निरन्तर अनुभवरूप क्रियावाला षष्ठ भूमिकावाला ज्ञानी । (४) विद्वद्वरिष्ठ—सप्तम भूमिकावाला सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी ।

(क्रमशः)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[नाटक]

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

पाँचवाँ अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—अड़ेलमें वल्लभाचार्यकी बैठकके बाहरका स्थल।

समय—तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर वल्लभाचार्यकी छोटी बैठकका कुछ भाग दिखायी देता है। उसके पीछे गङ्गा बह रही हैं। बैठकके सामनेका स्थल वृक्ष और लता-गुल्मोंसे एक छोटेसे उद्यानके सदृश दिखायी देता है। अनेक तरु-लता फूले हुए हैं। दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा और जादवेन्द्रदास कुम्हार बैठे हुए हैं। सबके मुख उतरे हुए हैं, सभी उदास हैं। कोई सिर झुकाये है, कोई सामनेकी ओर शून्य दृष्टिसे देख रहा है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

दामोदरदास हरसानी—कहो, भाई! किसीके कुछ समझमें आता है कि क्या किया जाय।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—मेरी तो समझमें आनेसे रहा। मेरा काम है, नित नये मिट्टीके बर्तन बनाकर सेवा करना।

वासुदेवदास छकड़ा—और मेरी समझमें भी क्या आयगा? मेरा काम था बोझा ढोना, तीन पृथ्वी-परिक्रमाओंमें इक्कीस वर्षतक उस बोझेको ढोया। उसके पश्चात् जब बोझा ढोनेका काम गया, भोजन ही घट गया और बिना भोजनके बुद्धि कहीं काम करती है?

[वासुदेवदास छकड़ाकी बात सुन इस शोकमय वातावरणमें भी सबको हँसी आ जाती है। फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

दामोदरदास हरसानी—मेरी बुद्धिको तो कुण्ठित कर रहे हैं, अबतकके जीवनके वे सारे सुखद संस्मरण जो जीवन श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी सेवामें बीता है।

कृष्णदास मेघन—आप तो उनके सबसे निकटतम व्यक्ति हैं। वे संस्मरण आपकी बुद्धिको कुण्ठित करते हों इसमें आश्चर्य ही क्या? पर आप उनके जितने निकट हैं हम उतने न भी सही, फिर भी हममेंसे ऐसा कौन है जो इन चालीस वर्षोंतक उनके साथ रहनेपर इन चालीस वर्षोंके संस्मरणोंसे ओत-प्रोत न हो।

दामोदरदास हरसानी—अरे, हम तो इस दीर्घकालतक निरन्तर उनके साथ रहे। अतः हमारी तो यह दशा स्वाभाविक ही है, जो एक बार भी उनके दर्शन कर पाता है, वह जीवन भर उनके पुनः दर्शनके लिये आकुल रहता है।

वासुदेवदास छकड़ा—हाँ, यह तो मैंने भी निरन्तर देखा है।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—मैंने भी।

दामोदरदास हरसानी—और उनका यह संन्यास अब हम सबको इस अलौकिक सहवाससे वञ्चित कर देगा। धन्यभाग्य था माधवभट्ट काश्मीरीका जिन्होंने ऐसे समयके पूर्व इस संसारको ही छोड़ दिया।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—परंतु, हम सब भी तो संन्यास ले सकते हैं।

वासुदेवदास छकड़ा—वे संन्यासियोंकी इस टोलीको अपने साथ रखना स्वीकार करें तब तो।

[फिर सबको हँसी आ जाती है]

कृष्णदास मेघन—परंतु संन्यासकी अवस्थामें हम सबको साथ न रखनेका उनका विचार तो ठीक ही है।

वासुदेवदास छकड़ा—यह क्यों?

कृष्णदास मेघन—इसलिये कि सच्चा संन्यास निरासक्तिकी सीमा है। हम संन्यासी होना चाहते हैं उनके सहवासकी आसक्तिके कारण। वह संन्यास नहीं, पाखण्ड होगा। इसीलिये आजकलकी परिस्थितिमें वे अपनेको छोड़कर अन्य किसीके संन्यास लेनेके पक्षमें नहीं हैं।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—तब, क्या किया जाय?

[फिर कुछ देर निस्तब्धता]

दामोदरदास हरसानी—अभी, गोपीनाथजी और विट्ठलनाथजी वयस्क नहीं हुए हैं, अतः सम्प्रदायके हितकी दृष्टिसे भी उनका संन्यास लेना उचित नहीं।

कृष्णदास मेघन—परंतु, वे कहते हैं, पृथ्वी-परिक्रमामें सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अखिल भू-मण्डलके कोने-कोनेमें

पहुँचा दिया। सम्प्रदायकी सुरक्षाके लिये सारी ग्रन्थ-रचना कर डाली। श्रीनाथजीकी सेवाका कार्य रामदास साँचोरा और कृष्णदासके सदृश उत्तरदायी व्यक्तियोंको सौंप दिया। श्रीनाथजीके कीर्तनके लिये सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदासके सदृश कीर्तनियोंको नियुक्त कर दिया। विवाह कर सम्प्रदायके आगेके प्रचारके लिये योग्य उत्तराधिकारियोंको उत्पन्न कर दिया और जबतक वे अल्पवयस्क हैं, तबतक हरसानीजी सम्प्रदायका कार्य चलायेंगे। अतः उन्हें अब संन्यास लेना ही चाहिये।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—परंतु, उनकी भी अभी बहुत अवस्था नहीं हुई है।

वासुदेवदास छकड़ा—और हमारी संस्कृतिमें तो पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें वानप्रस्थका विधान है।

दामोदरदास हरसानी—परंतु, इतने शीघ्र उनके संन्यास लेनेके विचारका एक कारण है।

कृष्णदास मेघन—कौन-सा ?

दामोदरदास हरसानी—एक दिन कहते थे दो बार भगवान्‌की आज्ञा हो चुकी शीघ्र स्वधाम लौटनेकी।

कृष्णदास मेघन—ऐसा !

दामोदरदास हरसानी—एक बार गङ्गासागर-संगमपर और दूसरी बार मधुवनमें। परंतु, उस समयतक वे यह मानते थे कि अभी उनका कुछ कार्य अवशिष्ट है। अब कहते हैं कि कार्य समाप्त हो गया। अतः यदि तीसरी बार आज्ञा हुई तो उसकी उपेक्षा न हो सकेगी।

कृष्णदास मेघन—इसीलिये संन्यासकी शीघ्रता है ?

दामोदरदास हरसानी—हाँ, इसीलिये।

कृष्णदास मेघन—(विचारते हुए) तीसरी बार आज्ञा हो तो। अतः इस समय तो संन्यासका यह प्रस्ताव टालना ही चाहिये और इसके लिये मुझे एकाएक एक उपाय सूझा है।

सब एक साथ—(उत्सुकतासे) कौन-सा ?

कृष्णदास मेघन—हमारे धर्ममें संन्यासके लिये यदि माता हो तो माताकी, तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा आवश्यक है।

दामोदरदास हरसानी—(प्रसन्नतासे) ठीक, सर्वथा ठीक। तो चलो हम सब अक्काजीसे कहें, वे उन्हें संन्यासकी अनुमति कदापि न दें।

सब—(एक साथ प्रसन्नतासे) शीघ्र चलो।

दामोदरदास हरसानी—हाँ, हमारे पहुँचनेमें कहीं देर न हो जाय और वे आज्ञा न ले लें।

[चारों उठकर जाना ही चाहते हैं कि अक्काजीका प्रवेश। उन्हें देख चारों दण्डवत् करते हैं।]

दामोदरदास हरसानी—बड़ा अच्छा शकुन है। हम लोग आपकी सेवामें आ रहे थे, सौभाग्यसे आप ही पधार आयीं।

अक्काजी—कहिये, क्या आज्ञा है ?

कृष्णदास मेघन—हमारी आज्ञा ! आप हँसी कर रही हैं।

अक्काजी—सब लोग इकट्ठे होकर आते थे न !

वासुदेवदास छकड़ा—इकट्ठे होकर तो इसलिये आ रहे थे कि प्रार्थनामें कुछ बोझा हो जाय।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—इन्हें तो सदा बोझा-ही-बोझा दीखता है।

अक्काजी—बहुत ढोया न !

वासुदेवदास छकड़ा—अब ढोनेको नहीं मिलता। इसलिये वह और अधिक याद आता है। (दीर्घ निःश्वास छोड़कर) वे भी दिन थे।

कृष्णदास मेघन—(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) हाँ, दिन कब सदा एक-से रहते हैं !

अक्काजी—तो कहिये, कैसे आ रहे थे ?

दामोदरदास हरसानी—आपने वज्रपातवाला संन्यास लेनेका समाचार सुना ही होगा !

अक्काजी—(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) हाँ, सुना है।

कृष्णदास मेघन—फिर ?

अक्काजी—(पुनः दीर्घ निःश्वास छोड़कर) फिर क्या कहूँ ? मैं तो आज्ञानुगामिनी हूँ।

कृष्णदास मेघन—आज्ञानुगामी तो हम सभी हैं। पर धर्मशास्त्रके अनुसार संन्यास लेनेमें उन्हें आपका आज्ञानुगामी बनना होगा।

अक्काजी—(कुछ प्रसन्नतासे) ऐसा !

कृष्णदास मेघन—धर्मशास्त्रमें स्पष्ट निर्देश है कि यदि माता हो तो माताकी आज्ञा बिना तथा माता न हो और पत्नी हो तो पत्नीकी आज्ञा बिना कोई संन्यास नहीं ले सकता।

अक्काजी—(अत्यन्त प्रसन्नतासे) तब मैं आज्ञा देनेवाली नहीं हूँ।

दामोदरदास हरसानी—(प्रसन्नतासे) हमारा काम हो गया।

[चारोंका दण्डवत् कर प्रस्थान, अक्काजी इधर-उधर घूमकर लता-गुल्मों और उनके पुष्पोंको देखती हैं और गाने लगती हैं।]

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नयन मोहन मूरति कौ
मन मन चित्र बनावति॥
एक बार जेहि मिलत दया करि
सो कैसे बिसरावति।
मृदु मुसकानि बंक अवलोकनि
चालु मनोहर भावति॥
कबहुँक निबिड तिमिर आलिंगनि
कबहुँक पिक स्वर गावति।
कबहुँक संभ्रम 'क्वासि क्वासि' करि
संग हीन उठि धावति॥
कबहुँक नयन मूँद अंतर गति
बनमाला पहरावति॥
परमानँद प्रभु स्याम ध्यानि करि
ऐसे बिरह गमावति॥

[गान पूर्ण होनेपर वल्लभाचार्यका प्रवेश। वल्लभाचार्यको देख अक्काजी उनके निकट आ जाती हैं और दोनों एक वृक्षके नीचे बैठ जाते हैं।]

वल्लभाचार्य—अब मैं जीवनके अन्तिम कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये तुमसे आज्ञा लेने आया हूँ।

अक्काजी—संन्यास लेनेकी न! वह मैं सुन चुकी हूँ और उस विषयमें कोई वाद-विवाद, तर्क-वितर्क करनेके लिये प्रस्तुत नहीं। मेरी अनुमतिके बिना आप चाहें तो संन्यास ले सकते हैं। (उठकर जाने लगती हैं।)

वल्लभाचार्य—सुनो, कुछ सुनो भी तो!

अक्काजी—मैंने आपसे कहा न! इस सम्बन्धमें मैं कोई वाद-विवाद, कोई तर्क-वितर्क करनेके लिये तैयार नहीं हूँ।

वल्लभाचार्य—तुमने तो इतने शीघ्र मुझसे किसी वार्तालापका कभी अन्त नहीं किया। कुछ सुनो भी तो!

अक्काजी—सुन लेती हूँ, पर आप भी सुन लीजिये। आप एक बार, सौ बार, सहस्र बार, लक्ष बार, कोटि बार, असंख्य बार इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना हो कहते जाइये। मैं मूर्तिके सदृश सुनती जाऊँगी और यदि मेरा उत्तर माँगेंगे तो एक ही उत्तर दूँगी कि इस विषयमें मैं कोई वाद-विवाद, कोई तर्क-वितर्क करनेको प्रस्तुत नहीं। (कुछ रुककर) देखिये, मैं जीवनभर आपकी आज्ञानुगामिनी रही हूँ, मैं जानती हूँ कि धर्मशास्त्रके अनुसार इस सम्बन्धमें आपको मेरा आज्ञानुगामी होना होगा और मैं आपको संन्यास लेनेकी अनुमति कदापि-कदापि नहीं दूँगी।

वल्लभाचार्य—इसे क्या स्त्री-हठका नाम दिया जाय?

अक्काजी—जो नाम आपको देना हो, दीजिये!

वल्लभाचार्य—मैं तुम्हारी आज्ञाके बिना संन्यास ले नहीं सकता, यह तो सत्य है। परंतु···

अक्काजी—(बीचहीमें) इसमें कृपाकर किंतु-परंतुको कोई स्थान न दीजिये।

[गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश। गोपीनाथकी अवस्था अब लगभग अठारह वर्ष और विट्ठलनाथकी अब लगभग चौदह वर्षकी हो गयी है। दोनों अब और भी सुन्दर दिखायी देते हैं।]

अक्काजी—(गोपीनाथ और विट्ठलनाथको देख उन्हें अपने निकट बुला, वल्लभाचार्यसे) आपने तीन-तीन पृथ्वी-परिक्रमाएँ कर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको भूमण्डलके हर नगर और ग्राममें पहुँचा दिया। श्रीनाथजीकी प्रतिष्ठा कर उस सम्प्रदायको मूर्तिमान्‌रूप दे दिया। सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुरक्षाके लिये ऐसी ग्रन्थ-रचना की, जो अद्वितीय कही जा सकती है। विवाह किया भगवदाज्ञासे योग्य उत्तराधिकारियोंके लिये, इन दोनों उत्तराधिकारियोंको पहले अपने सदृश बना दीजिये, तब संन्यासकी बात सोचियेगा।

[वल्लभाचार्य कोई उत्तर न दे सिर झुका लेते हैं।]

(लघु यवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—अडैलमें वल्लभाचार्यकी बैठकका एक कक्ष।

समय—रात्रि—[वही कक्ष है जो चौथे अङ्कके पहले दृश्यमें था। रात्रिकी वार्ताकी तैयारी हो रही है। रजो एक छोटे-से काष्ठके सिंहासनपर श्रीनाथजीके चित्रको पुष्पमाला पहिना रही है। सिंहासनके सामने एक पाटेपर कपड़ेके बस्तेमें बँधी हुई पोथी रखी हुई है। रजो गा रही है।]

बिमल जस बृंदाबन के चंद कौ।
कहा प्रकास सोम सूरजको, जो मेरे गोबिंद कौ॥
कहत जसोदा सखियन आगे, बैभव आनँदकंद कौ।
खेलत फिरत गोप बालक सँग, ठाकुर परमानंद कौ॥

[रजोका गीत पूरा होते-होते गोपीनाथ और विट्ठलनाथका प्रवेश। गोपीनाथ पोथीके निकट बैठकर पोथी खोलते हैं। विट्ठलनाथ इनके निकट बैठ जाते हैं। वल्लभाचार्य और अक्काजीका प्रवेश। वे भी सिंहासनके निकट बैठ जाते हैं। गोपीनाथ वार्त्ता आरम्भ करते हैं।]

गोपीनाथ–

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥

एक समे सँग खेलत-खेलत कृष्ण सखा समुदाई।
दाऊ सहित गापबालन ने माँ पै खबर जनाई॥
जसोदा तेरे लाला ने माटी खाई॥

तब लालाको हित चाहनवारी जसोदा मैयाने कृष्णको हाथ पकरिके डरपायो और डरपनमें भयसहित चंचल चितवनवारे नैन जाके, ऐसे कृष्ण तें जसोदा बोलीं—अरे चपल! तैंने अकेलेमें जायके माटी क्यों खायी? ये तेरे साथके खेलनवारे सगरे बालक कहत हैं। तेरो बड़ो भैया बल्देव हू कहत है। जो तैंने साँचे ही माटी नहीं खायी है तो अपनो मुख उघारके दिखाय दै। ऐसे जब कृष्ण सों कही तब हरि अपने नेंकसे मुखको उघारिके मैयाको दिखावत भये। जसोदाने कृष्णके मुखमें स्थावर-जंगम सभी जगत्को देख्यो तथा वाई मुखमें एक जसोदा हाथमें साँटी लेकर माटी खाइबो देख रही है, यह भी देख्यो। तब जसोदाको बड़ी शङ्का भई—

अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥

वल्लभाचार्य–

अथो दर्शनानन्तरं यस्माद्भगवतः सकाशादेतत् प्रतीयते यत्सुदुर्विभाव्यम् अतः स अलौकिको भवति इति तत्पदं प्रणताऽस्मीति सम्बन्धः।

[वल्लभाचार्यके उपर्युक्त वक्तव्यके पश्चात् वार्ता समाप्त हो जाती है। गोपीनाथ पोथी बाँधते हैं और सब लोग मिलकर कीर्तन करते हैं।]

भजन बिन जीवत जैसे प्रेत।
मन मलीन घर घर प्रति डोलत उदर भरन के हेत॥
कबहुँक पावत पाप को पइसा, गाड़ि धूरमें देत।
सेवा नहिं गोबिंद चंद को, भवन नील को खेत॥
मुख कटु बचन करत पर निंदा, संतन कूँ दुख देत।
सूरदास बहुत कहा कहुँ, डूबे कुटुंब समेत॥ भजन०॥

[गान पूर्ण होते-होते कक्षके एक ओर अग्नि लगती है। अग्नि शीघ्र ही फैलने लगती है।]

रजो–(चिल्लाकर) अरे, अग्नि·····अग्नि·····

गोपीनाथ–(घबराकर अग्निकी ओर देखकर) हाँ, अग्नि।

विट्ठलनाथ–(घबराकर अग्निकी ओर देखकर) हाँ, हाँ!

अक्काजी–(घबराकर) अरे, यह तो सारी बैठक जलायेगी। चलो बुझानेका प्रयत्न करें। (वल्लभाचार्यसे) आप तो घरसे बाहर निकलिये!

[सब लोगोंका शीघ्रतासे प्रस्थान।]

वल्लभाचार्य–(जाते-जाते) यह योगकी बात है। भगवान्की इच्छा थी, मैं संन्यास लूँ, अक्काजीने मुझे घरसे बाहर जानेकी आज्ञा दे दी।

(लघु यवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय–संध्या।

[वही आँगन है, जो पहले अङ्कके दूसरे दृश्यमें था। आँगनमें बिछावनके ऊपर अनेक पण्डित बैठे हुए हैं। परंतु उस घटनाको इकतालीस वर्षका समय व्यतीत हो जानेके कारण उस समयके पण्डितोंमें बहुत थोड़े पण्डित इस समुदायमें दृष्टिगोचर होते हैं। फिर उस समय जो तरुण थे, वे अब वृद्ध हो गये हैं, अतः उन्हें पहचाना नहीं जा सकता। वेष-भूषा सबकी उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न ढंगकी है, जैसी उस समय थी। सारा दृश्य वैसा ही दिखता है, जैसा उस समय दीख पड़ता था।]

एक पण्डित–स्मरण है, विद्वद्वरो! लगभग इकतालीस वर्ष पूर्व मैंने वल्लभाचार्यके सम्बन्धमें यहाँ क्या कहा था और उसपर उस समयके यहाँके पण्डितवर्गने मेरा कैसा तिरस्कार किया था।

दूसरा–उस समयके तो अब गिनतीके ही व्यक्ति बचे होंगे।

कुछ पण्डित–(एक साथ) हम तो उस समय विद्यार्थी थे।

तीसरा–आपके सदृश मैं भी उस समय युवावस्थामें था, मुझे उस दिनकी घटनाकी सब बातें अच्छी तरह स्मरण हैं।

चौथा–मैं भी उस समय था, मेरी भी युवावस्था ही थी। पर उस घटनाकी मुझे धुँधली-धुँधली-सी ही स्मृति है।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इकतालीस वर्षका बड़ा लम्बा समय होता है।

चौथा–परंतु उसके पश्चात् जब वे फिर एक बार काशी पधारे थे और श्रीविश्वनाथके मन्दिरपर पत्रावलम्बन पत्र चिपका-चिपकाकर शास्त्रार्थ करते थे, उस समयका मुझे भलीभाँति स्मरण है।

पाँचवाँ–उसका तो कई लोगोंको स्मरण होगा।

कुछ पण्डित–(एक साथ) कईको।

पहला–पर मुझे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही वल्लभाचार्यमें न जाने कैसे कुछ अलौकिक प्रतिभा दिखायी देती थी।

तीसरा–इसीलिये आपने कहा था कि यहाँका पण्डित-वर्ग उनके साथ अन्याय कर रहा है।

पहला–परंतु उनमें प्रतिभा देखने और पण्डितोंके व्यवहारको अन्यायपूर्ण माननेपर भी उस समय मेरा भी साहस उनका साथ देनेका नहीं हुआ।

पाँचवाँ–मानव अपने समुदायसे विलग हो क्वचित् ही रह सकता है।

चौथा–और पत्रावलम्बनके शास्त्रार्थके समय भी यहाँके अधिकांश पण्डितोंने उनके साथ अन्याय ही किया था।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इसमें संदेह नहीं।

पहला–परंतु, विद्वद्वर ! अब तो उनकी विद्वत्ता, उनके चरित्र, उनके कार्य सबने सिद्ध कर दिया कि वे इस कालके अद्वितीय अवतारी पुरुष हैं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

पहला–अब भी क्या इस विषयमें कोई मतभेद है।

सारा समुदाय–(एक साथ) थोड़ा भी नहीं, थोड़ा भी नहीं।

पहला–वर्णाश्रमधर्मका अद्भुत पालन किया उन्होंने !

तीसरा–और उस पालनमें कितनी उदारता रही।

पहला–इसलिये कि उन्होंने वर्णाश्रमधर्मको सच्चे रूपमें समझा है।

तीसरा–यह कदाचित् इसलिये कि उनके सारे कार्य भगवत्-आज्ञासे होते हैं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) हाँ, यह भी सुना जाता है।

पहला–अब सुना, भगवदादेश हुआ है, स्वधाम लौटनेका ! इसीलिये अन्तिम आश्रम संन्यास ग्रहणकर मोक्षदायिनी काशीमें महाप्रस्थानके लिये पधारे हैं।

तीसरा–ओह ! उनके इस महाप्रस्थानके पश्चात् इस समयकी, इस जगत्की ज्योति ही चली जायगी और एक बार तो समस्त सृष्टिमें अन्धकार हो जायगा।

कुछ पण्डित–(एक साथ) इसमें संदेह नहीं, इसमें संदेह नहीं।

पहला–पधार ही रहे होंगे इसीलिये आज यहाँ पधराया है कि नयनभर-भर दर्शन तो कर लें। वाणी तो अब श्रवण करनेको मिलेगी नहीं, क्योंकि अखण्ड मौन है।

तीसरा–हाँ, इस सम्बन्धमें काशी बड़ी अभागिनी रही, पहले उनका तिरस्कार किया, फिर पधारे तो शास्त्रार्थ हुआ पत्रावलम्बनद्वारा और अब पधारे तो मौन हैं।

[वल्लभाचार्यका प्रवेश। अब वे संन्यासीके वेशमें हैं। परंतु उन्होंने त्रिदण्ड संन्यास लिया है, इसलिये शिखा-सूत्रका त्याग नहीं हुआ है। गेरुए रंगकी कौपीन धारण किये हैं, एक हाथमें दण्ड है और दूसरेमें कमण्डलु। इन्हें देखते ही सारा पण्डित-समुदाय उठकर अत्यन्त श्रद्धासे दण्डवत् करता है। वल्लभाचार्य मुसकराते हुए मस्तक झुका इस दण्डवत्का उत्तर देते हैं। वे बैठ जाते हैं और दण्ड, कमण्डलु अपने पास रख लेते हैं। उनके पीछे-पीछे गोपीनाथ, विट्ठलनाथ, दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, जादवेन्द्रदास कुम्हार, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास आते हैं। ये लोग भी बैठ जाते हैं। वल्लभाचार्य दोनों हाथोंसे अपने साथियोंकी ओर संकेत करते हैं और पण्डित-समुदायकी ओर देखते हैं।]

पहला–आचार्यवर कदाचित् इस बातपर आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं कि उनके ये दोनों पुत्र और समस्त साथी भी काशी पहुँच गये !

[वल्लभाचार्य सिर हिला स्वीकारात्मक संकेत करते हैं।]

दामोदरदास हरसानी–ऐसे समय भी हम सब न पहुँचें, यह कैसे सम्भव है !

सूरदास—हाँ, एक ही व्यक्ति नहीं पहुँच सके, कुम्भनदासजी, क्योंकि वे तो पलमात्रको भी श्रीनाथजीसे विलग रह नहीं सकते।

पहला—महाप्रभु! आपने तो सब कुछ कर डाला। पीछेके लिये कुछ आज्ञा न देंगे।

[वल्लभाचार्य संकेतसे कागज, कलम, दावात माँगते हैं। एक व्यक्ति जाकर तीनों वस्तुएँ ला वल्लभाचार्यके सम्मुख रखता है। वल्लभाचार्य कागजपर लिखते हैं। सारा समुदाय एकटक आतुरतासे उनकी ओर देखता है। वल्लभाचार्य लिखनेके पश्चात् उस कागजको पहले पण्डितको देते हैं, वे पहले उसे ध्यानपूर्वक मनमें पढ़ते हैं और फिर उच्च स्वरसे]

यदा बर्हिमुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्॥
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।
सेव्यः स एव गोपीशो विधास्यत्यखिलं दिनः॥
मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्॥

[सारा उपस्थित समुदाय अत्यधिक ध्यान और तल्लीनतासे स्तम्भित-सा होकर इन श्लोकोंको सुनता है। इसके पश्चात् भी कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

पहला—हम काशीनिवासी बड़े मन्दभागी हैं कि सारे भूमण्डलने तो आचार्य महाप्रभुकी वाणी सुनी, पर हम इससे वञ्चित रह गये। परंतु, एक बातके कारण हम फिर भी सौभाग्यशाली हैं कि इस प्रसंगपर महात्मा सूरदासजी यहाँ पधार आये हैं, यदि उनका एक कीर्तन हमें सुननेको मिल जाय।

सारा समुदाय—(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

[वल्लभाचार्य संकेतसे दामोदरदास हरसानीको सूरदासको कीर्तन करनेके लिये कहते हैं।]

दामोदरदास हरसानी—(सूरदाससे) सूरदासजी! आचार्य महाप्रभुकी इच्छा है कि इस पण्डित-समाजको आप एक कीर्तन सुनायें।

[सूरदासजी गान आरम्भ करते हैं।]

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो।
श्रीबल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अंधेरो।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो॥
सूर कहा कहि दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

(यवनिका)

उपसंहार

स्थान—काशीमें गङ्गाका हनुमानघाट।

समय—मध्याह्न।

[गङ्गाका प्रवाह रविरश्मियोंमें चमक रहा है। अपार जनसमुदाय एकत्रित है। परंतु, इतना अधिक जनसमुदाय होनेपर भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता, एक विचित्र प्रकारकी निस्तब्धता छायी हुई है। वल्लभाचार्य आते हैं। उनका गङ्गामें प्रवेश, वे गङ्गाके बहावपर चलते हुए दिखायी पड़ते हैं। कुछ ही देरमें उनके चारों ओर पानीपर उसी प्रकारका अग्निकुण्ड-सा दिखता है, जैसा नाटकके उपक्रममें चम्पारण्यमें उनके जन्मके समय उनके चारों ओर दिख रहा था। थोड़ी ही देरमें उनका शरीर अदृश्य हो जाता है और यह अग्निकुण्ड सिमटकर एक प्रज्वलित प्रकाश आकाशकी ओर चला जाता है।]

(यवनिका)

समाप्त

गूँगेका गुड़

जाको मन लाग्यो नन्दलालहि, ताहि और नहिं भावै हो।
ज्यों गूँगो गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै हो॥
जैसे सरिता मिलै सिंधु कौं बहुरि प्रबाह न आवै हो।
ऐसे सूर कमललोचन तें चित नहिं अनत डुलावै हो॥

—सूरदासजी

वैदिक-उपासना-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीबेचू मिश्रजी शास्त्री, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

मनुष्य कामनामय प्राणी है । किसी कामनाकी सिद्धिके लिये मनुष्यको ज्ञान, बल तथा क्रियाशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है और बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वोक्त शक्तियोंको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं तथा अपनी-अपनी रुचि, क्षमता और सुविधाके अनुसार भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्राप्त करते हैं । अतः शक्ति-संचयकी चेष्टा अथवा शक्ति-उपासना मनुष्यमात्रकी सहज प्रकृति तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति है । प्रश्न है कि किस प्रकारसे शक्ति-उपासना करनी चाहिये कि जिससे जीवनमें सफलता मिले ।

'उपासना' शब्द उप अर्थात् समीप तथा आसना अर्थात् स्थितिनिष्ठाके योगसे बनता है । अब विचारणीय है कि किसके समीप स्थितिकी निष्ठा अथवा संयुक्त रहनेकी वासना प्राणिमात्रमें स्वभावतः प्रबल होती है ? इस प्रश्नका केवल तथा प्रायः सर्वसम्मत उत्तर यही मिलेगा कि माताकी समीपस्थिति-निष्ठा प्रथमतः अत्यन्त प्रबल प्राणिमात्रमें पायी जाती है । यह बिल्कुल स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्राणिमात्रका शरीर माताके शरीरसे बनता है तथा प्राणिमात्रकी सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट कामना क्षुधाशान्तिकी पूर्ति प्रथमतः मातासे ही होती है । इन कारणोंसे मानवमें मातामें सहज निष्ठा, श्रद्धा-भक्ति इतनी प्रगाढ़ होती है कि शैशवावस्थामें माता अपने पुत्रको जिस पुरुषका सम्बोधन पितारूपसे बताती है, शिशु उसी पुरुषको अपना पिता मानता तथा जानता है तथा उसी पुरुषमें आजन्म श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-निष्ठ आदरणीय भाव रखता है; क्योंकि पिताके परिचय-से ही मनुष्यको अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है । मानवदेहका निर्माण माताके शरीरसे ही प्रथमतः होता है, इसी कारण मनुष्य ललनाओंके सौन्दर्य-माधुर्य, स्वर-माधुर्य तथा व्यवहार-माधुर्यसे आजन्म आकर्षित, मनोरञ्जित तथा प्रभावित होता है । इन्हीं तथ्योंको ध्यानस्थ रखकर सृष्टिकालारम्भसे ही मनीषीलोग शक्ति-उपासना मातारूपमें ही करते आये हैं; क्योंकि व्यक्ति-विशेषकी तरह समस्त चराचरमय ब्रह्माण्डका भी जन्म माता या शक्तिके ही गर्भसे होता है, जो शक्ति अपनी गोदमें ब्रह्माण्डको धारण करती है तथा अपनेमें ही ब्रह्माण्डको विलीन भी कर लेती है । इसीलिये वेदमें विधान है कि 'अहरहः संध्यामुपासीत' नित्य, प्रतिदिन संध्योपासना करनी चाहिये । यह विधान द्विजोंके लिये अनिवार्य रक्खा गया है ।

संध्योपासनाकी उपयोगिता, उपादेयता तथा अनिवार्यता हृदयंगम करनेके लिये हमें इस बातपर ध्यान देना पड़ेगा कि प्राकृत मनुष्यकी बुद्धि स्वभावतः भ्रान्तिपूर्ण तथा विषयगोचर होती है तथा मन कामना-भिभूत होता है, जिसके कारण मनुष्यका मन रात-दिन विषयोंके दर्शन, अन्वेषण, स्मरण, चिन्तन तथा आलोचनमें ही लगा रहता है । फलतः उसकी बुद्धि धीरे-धीरे संकुचित होकर उसको पूर्णतः स्वार्थान्ध बना देती है । जिससे देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी वैयक्तिक स्थितिको ध्यानमें रखकर धर्म, कर्म तथा व्यवहार करनेकी धीरता, क्षमता तथा समझ मनुष्यमें नहीं रह जाती तथा जीवनपर्यन्त उसका मन चञ्चल, अशान्त, व्यग्र तथा दुखी बना रहता है । फलतः मनुष्यके बल-वीर्य तथा आयुकी हानि होती है । इतना ही नहीं, उक्त मानसिक परिस्थितिमें मनुष्य प्रत्येक पदार्थका मूल्याङ्कन अपने विशिष्ट स्वार्थ तथा संकुचित दृष्टिसे करता है । स्वार्थ तथा दृष्टिकोणमें विभिन्नता होनेके कारण मनुष्योंमें एक ही पदार्थके विषयमें अनेक मत हो जाते हैं, जिनके कारण मनुष्योंमें पारस्परिक कलह, दुराव, फूट, वैर,

वैमनस्य, विद्वेष तथा प्रतिस्पर्धा आदि अनेक तथा अनन्त अनर्थकारी समाज-विरोधी दोषोंका प्रादुर्भाव तथा प्राबल्य हो जाता है और मानवसमाज विघटित होकर नरक या क्षुद्र मनुष्योंका समूह हो जाता है । जिनके जीवनमें कलहप्रियता पशुओंकी तरह स्वच्छन्द रूपसे क्रीडन करती है । सुचित्त विवेचनसे ज्ञात होगा कि विविध कामनाओंके कारण मनकी अनेकरसता ही मानसिक चञ्चलताका मूल है तथा मानसिक चञ्चलता ही दुःखभावनाका मूल है । इसीलिये प्राकृत मनुष्य साधारणतः निद्रितावस्थामें ही जब मन पूर्णतः शान्त तथा निष्क्रिय रहता है, पूर्ण सुखानुभूति पाता है । इस विषम परिस्थितिसे समाज तथा मनुष्यके रक्षणके लिये कामनाभिभूत मानव-मनकी अनेकरसताको दबाकर मनको एकरसमें लीन करनेके लिये ही संध्योपासनाका अनिवार्य विधान है ।

आचमन, प्राणायाम, मार्जन, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जप संध्योपासनाके प्रधान अङ्ग हैं । संसार नश्वर है—इस बातका सतत स्मरण हमें तभी रह सकता है जब कि हमारा शरीर तथा मन पवित्र हो । इस गूढ़ विषयको हृदयंगम करानेके लिये आचमनका विधान है । इस शरीरका संचालक प्राण है । प्राणोंकी चञ्चलता तथा उद्विग्नतासे श्वास-प्रश्वासकी गति तीव्र हो जाती है, मन अशान्त हो जाता है, जिससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है । किंतु विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे प्राण गम्भीर होने लगता है, मन शान्त तथा स्थिर होने लगता है, श्वास-प्रश्वासकी गति संतुलित हो जाती है, जिससे मनुष्य दीर्घायु होता है—इसलिये प्राणायामका विधान है । जल जीवनाधार तथा तृष्णा-शामक है—आत्मशक्ति वा नारायणका प्रत्यक्ष स्वरूप है, शुद्धिका सर्वप्रधान साधन है । जलकी पवित्रताकी तारतम्यताके अनुसार मनुष्यके बल, बुद्धि, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आयुमें वृद्धि वा ह्रास हो सकता है । अतः जलकी पवित्रताके महत्त्वको हृदयंगम करानेके लिये मार्जनका विधान है । सूर्यदेव ही सब जीवोंके पोषक, व्यवहारके संचालक तथा आत्मशक्तिके द्योतक हैं, इनमें श्रद्धा रखकर इनका नमस्कार करनेसे मनुष्य कालचक्रके भँवरसे भी पूर्णतः शान्त तथा स्वस्थ रह सकता है, इसलिये सूर्योपस्थानका विधान है ।

संध्योपासना मुख्यतः पराजननी संध्यामाता एवं आत्मशक्तिकी उपासना है । आत्मशक्तिके स्वरूप तथा प्रकृष्ट विकासका प्रत्यक्ष दर्शन सूर्यमण्डलमें होता है, अतः गायत्री-जपके समय आत्मशक्तिका ध्यान हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें करते हुए यह प्रार्थना की जाती है कि समस्त विश्वकी नियामक, प्रेरक, संचालक तथा नियन्त्रणकर्त्री आत्मशक्तिके प्रेरणानुसार मेरी बुद्धि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-सम्बन्धी कार्योंमें लगी रहे । अर्थात् मेरी बुद्धि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'में परिनिष्ठित हो । ऐसा चिन्तन करते-करते ज्यों-ज्यों मनुष्यकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धिकी भ्रान्ति, जडता, संकोच, विवेकहीनता धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है और मनुष्यमें सद्विचार तथा विवेकका उदय होता है । तब मनुष्यको सूझने लगता है कि यथार्थ सुखकी केन्द्र तथा जननी आत्मशक्ति ही है, जो समस्त चराचर विश्व तथा सब मनुष्योंमें एक ही है, जिसके आश्रयसे मनुष्य अपने प्रारब्ध तथा भाग्यको भी देशकालानुसार बदल सकता है । वह करुणामृतसागर है । सबके हृदयमें चेतना, आनन्द, ज्योति, वाणी, तुष्टि, धैर्य, पुष्टि आदि रूपोंमें वर्तमान है । अपने ज्ञान, ध्यान तथा सम्मानसे प्रसन्न होकर वह मनुष्यमें बुद्धिरूपसे प्रतिष्ठित होकर मनुष्यको सांसारिक सुखके साथ आत्मसाक्षात्कार कराकर जीवन सफल बना सकती है, अतः बुद्धिमान् मनुष्यको आत्मशक्तिको ध्यानमें रखकर सब काम करना चाहिये । यही बुद्धियोग वा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको अपनी क्रियाकी प्रतिक्रियापर ध्यान रखते हुए सब काम

करनेको प्रेरित करती है, जिससे मनुष्य इस विचारके साथ अपनी जीवनयात्रा करता है कि उसके जीवनसे किसी सज्जनके जीवनमें बाधा न हो, उसकी सुख-प्रवृत्ति तथा सुखसाधनसे किसी दूसरे सज्जनको दुःख न हो, उसके ज्ञानसे किसी सज्जनकी हानि न हो, उसकी स्वतन्त्रतासे किसी सज्जनकी स्वतन्त्रताका अपहरण न हो और उसकी प्रभुता तथा प्रभुत्वाकाङ्क्षासे किसी सज्जनको कष्ट न हो । यही मानव-धर्म है । तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—जो अपनेको अप्रिय हो वह दूसरेको भी अप्रिय होगा—इस बुद्धिसे सब काम करना ही वैदिक संस्कृति, कर्मयोग तथा धर्मका मौलिक तत्त्व है ।

अतः वैदिक संस्कृति, धर्म तथा कर्मयोगके मुख्य आधार बुद्धियोगकी धात्री संध्योपासना है, जो सब वैदिक धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत, जप-तप, भोग-मोक्ष, पूजा-पाठ तथा सेवा-उपासनाका मूलाधार है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको संध्यामाताकी गोदमें बैठकर कम-से-कम सायं-प्रातः तो अवश्य विधिपूर्वक आचमन, प्राणायाम, मार्जन तथा सूर्योपस्थान करके आत्मशक्तिका चिन्तन अपने हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें अधिक-से-अधिक कालतक करके कल्याणकामना करनी चाहिये ।

इस चिन्तनका फल यह होगा कि मनुष्यकी बुद्धि धीरे-धीरे इस भावनासे ओतप्रोत हो जायगी कि मेरे (सबके) हृदयमें आत्मशक्ति या ईश्वरका वास है और अपने कर्ममात्रसे हृदयमें स्थित आत्मशक्ति या ईश्वरकी पूजा करनेमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है । इसके अतिरिक्त आत्मशक्ति वा सत्यकी शाश्वतता तथा देह और सांसारिक पदार्थोंकी नश्वरताका विवेक, ज्ञान, ध्यान तथा विश्वास मनुष्यके अन्तःकरणमें मनकी शुद्धि या बुद्धिकी आत्मनिष्ठताके तारतम्यतानुसार बढ़ता जायगा । श्रद्धा तथा विश्वासकी प्रगाढ़ताके साथ-साथ मनुष्यको योगस्थ रहकर शुचितापूर्वक इन्द्रियनिग्रहके साथ सत्य, अहिंसा तथा अस्तेयका पालन करते हुए कर्म करनेमें प्रोत्साहन तथा आनन्द मिलेगा । तब मनुष्यका जीवन सफल होगा तथा मनुष्य सुखी और दीर्घायु होगा ।

सारांश यह कि जबतक मनुष्य पशुओंकी तरह अपनी आत्मशक्तिको भूलकर देहको ही सब कुछ समझता है, तबतक वह भ्रान्तिरूपा शक्तिसे संचालित होता है और उसके सब काम, विचार, बुद्धि, बल तथा योजनाएँ अनर्थकारी तथा समाज-विघटनकारी होती हैं । किंतु संध्योपासनाद्वारा ज्यों-ज्यों मनुष्य आत्मशक्तिके अभिमुख होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने भाव, विश्वास, श्रद्धा, भक्ति तथा उपासनाके प्रौढतानुसार बुद्धिरूप शक्तिसे संचालित होने लगता है और तब उसके कर्ममात्रसे अपना तथा मानवमात्रका कल्याण होता है । उपासनाका सनातन तथा लाखों वर्षका अनुभूत तत्त्व, महत्त्व तथा माहात्म्य यही है । जिसके प्रचार तथा रक्षणके लिये भारतमें जन्मना वर्णव्यवस्थाका दैवी विधान है, जिसके अनुसार ब्राह्मणको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा विद्यादान, क्षत्रियको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा अभयदान, वैश्यको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा सर्वपोषणके लिये अर्थसंग्रह चाहिये तथा शूद्रको तपरूपसे सार्वजनीन सेवा करके राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये । शास्त्रोंके पठन तथा अनुशीलनसे यह स्पष्ट है कि जबतक हिंदूजनता पूर्वोक्त वैदिक सदाचारका पालन शुद्ध भावसे करती है, तबतक भारत सुखसमृद्धिपूर्ण तथा विश्ववन्द्य रहता है, अन्यथा भारतका पतन होता है ।

संतानका सुख—एक मृगतृष्णा

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

(१)

एक सज्जन पूछते हैं, 'मेरे कोई भी संतान नहीं है। वर्षोंसे मैं यह कामना कर रहा हूँ कि मेरे संतान हो तथा मैं संतानका सुखलाभ करूँ, किंतु मेरा दुर्भाग्य है कि अभी-तक मेरे संतान उत्पन्न नहीं हुई है। प्रौढावस्था आ गयी है अतः अब संतानकी आशा भी नहीं है। सोचता हूँ, किसी पुत्रको गोद ले लूँ और किसीकी कन्याके दानका माहात्म्य ले लूँ। पुत्रको गोद लेनेके विषयमें अपनी सम्मति दीजिये।'

संतानकी कामना प्रत्येक प्राणीमें एक सहज स्वाभाविक स्वयम्भू वृत्ति (Instinct) है। प्रकृतिकी सृष्टि-संचालनके लिये यह एक गुप्त योजना है। प्रत्येक प्राणीके हृदयमें संतानकी कामना, उत्पत्तिके साधन, पालन-पोषणके उपकरण स्वयं प्रकृति उपस्थित कर देती है। प्रकृतिका विधान कुछ ऐसा है कि अनेक दुःखों और कष्टोंके होते हुए भी प्राणिमात्र संतानके लालन-पालनमें एक गुप्त सुखका अनुभव करता है। मादा जातिके समस्त जीवोंको संतानोत्पत्तिमें असीम शारीरिक कष्टोंका अनुभव करना पड़ता है, वे इस पीड़ासे बड़ी पीड़ा नहीं जानतीं, किंतु फिर भी प्रकृतिका ऐसा विधान है कि तीन-चार वर्षमें नव शिशुको जन्म मिलता ही जाता है। हम संतानको जन्म देकर वास्तवमें प्रकृतिके सृष्टिसंचालनके गुप्त विधानको ही पूर्ण किया करते हैं। प्रकृतिद्वारा दी हुई वासनाके हाथोंमें हम खिलौनामात्र बन जाते हैं। विषयभोग और पापकी इच्छाएँ पशु और मनुष्य सबको पागल बनाकर हमें संतानकी ममता, नाना प्रकारकी तृष्णाओं, संसारके मोहमें फँसा देती हैं और हम आजन्म संतानको संसारमें जमाने—जीविका उपार्जन-योग्य बनानेमें ही समाप्त कर देते हैं। हममेंसे नब्बे प्रतिशत व्यक्तियोंका जीवन केवल संतानोत्पत्ति एवं उसकी देख-रेखमें, क्षुद्र स्वार्थोंकी पूर्ति और झूठ-फरेबमें व्यतीत हो जाता है। अतः विषयवासना, नारी और संतानके झूठे सुखकी तृप्तिसे हमें सावधान हो जाना चाहिये—

स्वामी शङ्कराचार्यने एक श्लोकमें गहरे अनुभवोंका निचोड़ उपस्थित कर दिया है।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः॥

अर्थात् 'शास्त्रका खूब अध्ययन करके जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ है, वह मनुष्य पशुओंसे भी बढ़कर पशु है। नारी वह विष है, जो अमृत-सा जान पड़ता है। पुत्र आदि वे शत्रु हैं, जो मित्र-से लगते हैं।

विषयवासनाको अनियन्त्रित छोड़ देनेसे मनुष्य भोगेच्छासे नारीकी ओर आकृष्ट होता है। फिर संतान हो जानेपर उधरसे हटकर बच्चोंके पालन-पोषणमें लग जाता है और अन्ततक यही करते-करते मृत्युका ग्रास बनता है। जीवनमें कोई उच्च कार्य, आत्मचिन्तन या परोपकार नहीं कर पाता।

कौन-सा वह सुख है जिसकी झूठी तृष्णा छोड़ देनेसे हम सांसारिक दुःखोंसे बच सकते हैं? यह सुख है स्त्री, पुत्र, धन और मान—इसीसे धनैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणामें हम लगे रहते हैं, वस्तुतः यह सुख नहीं है, दुःख ही है।

तात्पर्य यह है कि इस माया-मोहरूपी संसारमें धन, स्त्री, पुत्र-पुत्री आदि पदार्थोंके मोहके कारण ही मनुष्य विशेषरूपसे बन्धनमें रहता है। अतः इनसे वैराग्य धारण करने और इनकी ओर चित्तवृत्तियोंको न भटकने देनेमें ही कल्याण है। जो व्यक्ति संतानवाले हैं, उन्हें तो अपने कर्त्तव्यका पालन करना ही चाहिये, किंतु जो निःसंतान हैं, उन्हें व्यर्थ ही चिन्तित नहीं होना चाहिये। कारण, संतानसे सुखकी आशा रखना या यह समझना कि बिना संतान हमें आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों ही गलत विचारधाराएँ हैं। अनेक व्यक्ति संतानवान् होकर भी नयी-नयी चिन्ताओं और नवीन समस्याओंमें फँसे रहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो संतानकी इच्छा न कर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

(२)

एक विद्वान्के मतानुसार संतान-सुखके निम्न मनोवैज्ञानिक कारण हैं, 'पिता मनमें एक गौरवका अनुभव करता है। इस गौरवसे मनुष्यके मनमें रहनेवाली बड़प्पनकी गुप्त इच्छा तृप्त होती है। बड़े होनेपर यह बालक मेरा नाम चलावेगा, मेरे रिक्त स्थानकी पूर्ति करेगा, मेरी सेवा करेगा तथा

वृद्धावस्था, बीमारी आदिमें सहारा देगा, घरको सुख-सम्पन्न बनावेगा—ऐसी अनेक आशाएँ पिता अपने बालकसे करते हैं।'

दूसरा कारण यह है कि बालकके माध्यममें मनुष्य स्वयं अपनी गुप्त अतृप्त इच्छाएँ पूर्ण करना चाहता है। अपने जीवनमें जो-जो इच्छाएँ स्वयं मनुष्य पूर्ण नहीं कर पाता, उन अतृप्त इच्छाओंको अपने पुत्र-पुत्रीके माध्यमसे पूर्ण होता देखना चाहता है। जो व्यक्ति स्वयं आयुपर्यन्त निर्धन रहे, वे अपने पुत्रसे यह आशा करते हैं कि वह उन्हें पर्याप्त धन संचय करके ऐश-आरामके साधन प्रदान करेगा। जो शारीरिक दृष्टिसे स्वयं दुर्बल रहे हैं, वे अपने पुत्रको पहलवान देखना चाहते हैं। स्वयं कुरूप पत्नी पानेवाले सुन्दर-से-सुन्दर पुत्रवधूकी कामना करते हैं। विगत बाल्यावस्थाको बच्चोंके द्वारा हम स्वयं भोगना चाहते हैं। अपने अधूरे कार्यों, आदर्शों, इच्छाओं, आशाओंको पिता पुत्रद्वारा पूरा होता हुआ देखना चाहता है। हमें जीवनमें जो असफलताएँ मिली हैं, उन्हें हम पुत्रद्वारा सफलतामें परिणत हुआ देखना चाहते हैं। निष्कर्ष यह है कि संतानरूपी माध्यम हमारी कल्पनाओंका आधार रहता है। इन इच्छाओंकी पूर्ति पुत्रीकी अपेक्षा पुत्रद्वारा अधिक होती है। इसलिये मनुष्य पुत्रकी कामना अधिक करता है। समाजकी व्यवस्था कुछ ऐसी हो गयी है कि पुत्र होना यश, प्रतिष्ठा और सौभाग्यका चिह्न समझा जाने लगा है।

प्रश्न है कि क्या उपर्युक्त इच्छाओंकी पूर्ति स्वयं अपने ही बच्चोंद्वारा हो सकती है? उत्तरमें हम कहेंगे कि यह गलत धारणा है। ये इच्छाएँ तो दूसरोंके बच्चोंद्वारा भी पूर्ण हो सकती हैं।

मनुष्यमें एक बड़ी निर्बलता है जिसे मोह कहते हैं। मोहके वश हम उन वस्तुओंको अधिक चाहते हैं, जिनके साथ अपनत्वकी भावना निहित होती है। अपना मकान, अपनी जायदाद, अपना बाग, अपनी वस्तुएँ मोहवश हमें अच्छी लगती हैं। अपनापन तृष्णाका पिता है। अधिक और अधिककी कभी न पूर्ण होनेवाली तृष्णा ही हमारे दुःखोंका मूल है। इसीके कारण हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओंका संग्रह कर लेते हैं, जो निरर्थक हैं। संतानकी तृष्णा भी इन्हींमेंसे एक अतृप्त कल्पित इच्छा है। अनेक निरर्थक भ्रमोंकी तरह यह भी एक निरर्थक इच्छा है। जो संतानहीन हैं, उन्हें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। आइये, संतानसे होनेवाले लाभोंपर विस्तारसे विचार करें।

(३)

आप चाहते हैं कि वृद्धावस्थामें आप पुत्रकी कमाई खायेंगे। वह आपके गौरवकी वृद्धि करेगा। पुत्रको जन्म देना एक बात है; किंतु शिक्षा, सद्व्यवहार और शिष्ट नागरिक बनना दूसरी बात है। आजके नब्बे प्रतिशत युवक 'सपूत' शब्दके अधिकारी नहीं होते। आप किसी स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालयमें निकल जाइये और अध्यापकोंसे बातचीत कीजिये तो वे आपको उन असंख्य शरारतों और कुटेवोंके विषयमें बतायेंगे, जिनसे उन्हें नित्य निपटना पड़ता है। आजकलका युवक प्रायः उत्तरदायित्वहीन, उद्दण्ड, अनुशासन-हीन, अशिष्ट, मिथ्या दम्भसे भरा जा रहा है। उसे जीवनकी अड़चनों तथा कठिनाइयोंसे युद्ध करनेकी चिन्ता नहीं। वह आयुपर्यन्त पिताके ऊपर भार बना रहना चाहता है। उसमें आर्थिक दृष्टिसे अपने पाँवोंपर खड़े होनेकी शक्ति नहीं आती। यौवनके अनिष्टकारी उन्मादमें आजकलके उद्दण्ड लड़के वृद्ध पिताकी मुसीबतोंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते; उन्हें दूर करना तो बहुत आगेकी बात है। अनेक स्थानोंपर अशिष्ट पुत्र पिताका प्रत्यक्ष अपमानतक करते देखे जाते हैं। पिता प्रायः पुराने विचारके होते हैं और संतान नयी रोशनीमें पलती है। दोनोंके विचार तथा आदर्श मेल नहीं खाते और संघर्ष बढ़ता जाता है। इस तनातनीमें पिता-पुत्र और भाई-भाईके व्यवहारोंमें तनातनी और पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ते जाते हैं। एक दूसरेके अपमानके अनेक अवसर आ उपस्थित होते हैं, जिनमें बेचारे पिताको मुँहकी खानी पड़ती है और वह उस दिनको कोसता है, जब उसके घरमें उस पुत्रका जन्म हुआ था।

उदाहरणके रूपमें हम दो-चार घटनाएँ यहाँ वर्णन कर रहे हैं। ये बिल्कुल सत्य हैं। एक ब्राह्मणपरिवारके अति सुशिक्षित पिताके बड़े पुत्र डाक्टरीकी उच्चतम डिग्री लेकर आये। पिताका प्यार-दुलार उन्हें खूब मिला। उनकी पढ़ाई-में अनाप-शनाप व्यय हुआ। पिता प्रसन्न थे और चाहते थे कि किसी उच्च ब्राह्मणकुलमें उनका विवाह-सम्बन्ध कर दें किंतु नयी रोशनीके पुत्र महोदयने एक ईसाई नर्स, जिसके दो पुत्रियाँ पहलेसे ही थीं, उससे गुप्त विवाह कर लिया। उस महिलाके पतिको दो हजार रुपया देकर तलाक दिलाया

और कानूनी रूपमें विवाह किया। यह सब सुनकर पिताने सिर पीट लिया और कभी पुत्रका कलङ्कित मुँह न देखनेका प्रण किया।

लूट-मार-हत्या आदिके अनेक मामलोंमें आजकल लड़के लिप्त पाये जाते हैं। आये दिन छोटे-बड़े अनेक झगड़े होते रहते हैं, जिनमें अनुशासनहीन लड़कोंका प्रमुख हाथ रहता है।

लड़कोंकी टीपटाप, बाहरी दिखावा, फैशन, शृंगार और व्यय तो इतना बढ़ गया है कि बेचारे पिताको पढ़ाते-पढ़ाते ही अपना घर-बार और बहुमूल्य वस्तुएँ बेच देनी पड़ती हैं। सिग्रेट, पान, सिनेमा इत्यादिका व्यय ही पूरा नहीं हो पाता। अतः कमाऊ पूतकी आशा रखना एक मृगतृष्णा ही है। जिसे बुढ़ापेका सहारा समझा जाता है, वह पुत्र कमरपर सवारी करनेवाला शत्रु बन जाता है।

इलाहाबाद-निवासी हमारे एक परिचित मित्रने बड़े आर्थिक कष्टोंसे अपने पुत्रको बी० ए० पास कराया। लड़का प्रथम श्रेणीमें पास हुआ और उन्होंने बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे, पर न जाने आधुनिक दूषित वातावरणने उसपर क्या प्रभाव डाला कि वह विवाह कर पितासे पृथक् हो गया और उनसे कोई सम्बन्ध न रक्खा। वे प्रायः कहा करते हैं कि यदि वह धन, जो मैंने पुत्रकी शिक्षापर व्यय किया है, मैं न करता, तो मज़ेमें वृद्धावस्थाकी गुजर-बसर कर सकता था।

एक अमीर व्यक्तिके पुत्र है, पर बड़ा क्रोधी और पागल। वे उसकी मानसिक चिकित्सा कराते-कराते परेशान हो गये हैं। जो कुछ था, सब चिकित्सामें व्यय हो गया है और फिर भी मूर्ख पुत्र समझता है कि पिता उसे पर्याप्त धन नहीं देता है। वह इस प्रतीक्षामें रहता है कि कब बुड्ढा बाप मरे, कब उसे संचित पूँजी प्राप्त हो।

जो व्यक्ति संचित पूँजी या ज़मीन-जायदाद इत्यादि पुत्रके लिये छोड़ जाते हैं, उन्हें फ़जूलखर्च संतान व्यर्थ ही अपव्यय और झूठी शानमें व्यय कर देती है। जितना ही व्यक्ति अमीर होता है, उसकी संतान प्रायः उतनी ही फजूलखर्च, निकम्मी, दुश्चरित्र और बेकार निकलती है। उनके मरते ही संतान पुरानी यश-प्रतिष्ठा दो कौड़ीकी कर देता है।

पहले संतानकी इच्छा, संतान मिलनेपर उसके पालन-पोषणकी चिन्ता, फिर उसके सच्चरित्र निकलनेकी कामना, उसके विवाह-शादीकी चिन्ता, फिर रुपया-पैसा कमा सकनेकी क्षमता, पुरानी यश-प्रतिष्ठाके स्थिर रखनेकी कल्पना—अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ मनुष्यके गुप्त मनको विक्षुब्ध किये रहती हैं। एक संतान सैकड़ों कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वोंके अतिरिक्त चिन्ताओंकी जननी है। अतः विवेकवान् व्यक्ति अधिक संतानसे सदैव बचते हैं।

संसारके जितने बच्चे हैं, सब आपके ही हैं। अपना वात्सल्य उन्हें दीजिये। यदि आपके हृदयमें दूसरोंके लिये दर्द भरा है, यदि आपकी मनोवृत्ति उदार है और आप सहृदय हैं, तो संसारके सब बालक आपके ही हैं। सबमें आपकी आत्मा ही व्याप्त है। सर्वत्र आपके ही बच्चे तो बिखरे पड़े आपका प्यार पानेको तरस रहे हैं। सबमें एक ही देव व्याप्त है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अधिष्ठाता है, सब भूतोंका वासस्थान है, साक्षी है, चेतन है, अकेला है और निर्गुण है।

नरकरूप जीवन

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन, खल मति-मलिन निगम पथ-त्यागी॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को, स्रवन न रामकथा-अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥
तुलसिदास हरि-नाम-सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि-दुख लागी॥

—तुलसीदासजी

भगवान् श्रीरामके दत्तक पुत्र

(लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

विचित्र शीर्षक देखकर पाठक चौंके बिना नहीं रहेंगे। रामने किसे दत्तक पुत्र बनाया और क्यों ? उसके लिये प्रमाण क्या है ?

भगवान् भक्तके वशमें होते हैं और उन्हींकी इच्छा पूरी करते आये हैं। यह भी उसी कृपाका उदाहरण है जो मानसमें ढूँढ़नेसे मिल जाता है।

वीर वाली प्राण त्यागनेको तैयार थे, भगवान्‌को सामने देखकर प्रश्न किया—

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

भगवान् समुचित उत्तर न दे सके। कहा तुझे कौन मारता है—

अचल करौं तनु राखहु प्राना।

इतना कहकर भगवान्‌ने—

बालि सीस परसेउ निज पानी।

स्वाभिमानी वाली, सुन्दर अवसर पा कहने लगे—

जासु नाम बल संकर कासी।
देत सबहि सम गति अबिनासी॥
सो नयन गोचर जासु गुन नित
नेति कहि श्रुति गावहीं।
× × × मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥

जन्म-जन्म मुनि यत्न करते हैं, अन्त समय राम नहीं कह पाते—वे समक्ष हैं—

बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ?

तनका मुझे मोह नहीं, माँगूँगा यह कि अब जिस-जिस योनिमें कर्मवश जाना पड़े आपके श्रीपदसे अनुराग रहे—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।

दूसरी चाह और है, वह यह कि मैं तो श्रीचरणके समक्ष होते ही मुक्त हो गया। मेरे तनसे उत्पन्न मेरा तनय आज अनाथ हो रहा है, इसकी बाँह पकड़ इसे शरणागति दे, आश्रय दे, सनाथ कर अपना दास बनाइये—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

इस तरह तन और तनय दोनोंका निपटारा कर—

सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

शरीरको छोड़ भगवत्-धामको वालीने प्रयाण कर दिया।

ताराको इस दत्तक-संस्कारकी प्राथमिक क्रियाका पता न होनेके कारण ही वह रुदन करते समय कह रही थी—

अंगद कहँ कछु कहन न पायउ।

अंगदके लिये वाली वह बात कहकर गया था जो कोई पिता कभी नहीं कहता। मृत्युलोकमें तो पिताकी मुक्तिका साधन पुत्रको माना गया है, परंतु यह एक ही उदाहरण था जहाँ अपनी सद्गतिके साथ एक भक्त अपने पुत्रको भी भगवान्‌के समर्पण कर उनकी गोदमें बैठा गया था।

अंगदने तत्काल युवराजपद पाया, भगवान् स्वयं तो युवराज नहीं बन सके थे; परंतु एक आश्रितको उन्होंने युवराज बना दिया।

उस दत्तक पुत्रका उपयोग किन महत्त्वपूर्ण समयों, अवसरोंपर किया गया, यह भी अध्ययनकी वस्तु है।

सीता-खोज-कमीशनके चेयरमैन बनाये गये थे युवराज अंगद और उक्त कार्यको इन्होंने सफल बनाया।

त्रेतामें जिस कार्यको अंगद सम्पन्न करनेको भेजे गये, वह महत्त्वपूर्ण कार्य भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं द्वापरमें किया था।

जब सभामें प्रस्ताव रक्खा गया कि लंकामें सन्धि-प्रस्ताव लेकर अंगद दूतकी तरह जाय तो सर्वसम्मतिसे स्वीकृति दी गयी । भगवान्‌ने चलते समय विश्वास प्रकट करते हुए कहा—

बहुत बुझाइ तुम्हहिका कहऊँ । परम चतुर मैं जानत अहऊँ ॥
(बालितनय बुधि बल गुन धामा)
काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

वीर अंगद—सबको सिर नवा प्रभुचरणकी प्रभुताको हृदयमें रखकर चले । और—

जथा मत्त गज जूथ महुँ पंचानन चलि जाइ—

इस तरह पहुँचे—

यहाँ केवल दो बातें विशिष्ट कीं, जिनसे उनके बुद्धि-बलका प्रमाण मिलता है—

हाथका पटकना और पदका रोपना

सारी सभा जमी हुई थी । बात-ही-बातमें हाथ इस जोरसे पटके कि अवनि डोल उठी, रावणसहित सब अपदस्थ हो गये ।

'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।''डोलत धरनि सभासद खसे ॥'

रावणके मुकुट गिर पड़े—उनमेंसे चारको उठाकर ऐसे फेंका कि भगवान्‌के समक्ष धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जा खड़े हुए ।

योगी कुयोगीकी राज्यश्री छीनकर आकाशमार्गसे भेज रहा था । साधारण मनुष्य फेंकता दस-पाँच हाथ दूर गिरते—

दूसरी कृति भी—सभामें जब कि इस शर्तपर पैर रोपकर बैठ गये और कहा मेरा पैर कोई भी सरका देगा तो—

फिरहिं रामु सीता मैं हारी ।

प्रयत्नके बाद जब कोई तिलभर भी न सरका सका—बलकी परीक्षा हो चुकनेपर बुद्धिकी परीक्षा हुई ।

रावण सिंहासनसे उठा और नीचे झुककर पैर छूनेको ही था कि बोले—

मम पद गहें न तोर उबारा ।

तुम्हारा उद्धार—

सादर जनक सुता करि आगें ।
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी ।

और प्रणतपाल रघुवंशमणिके सामने—

त्राहि माम् त्राहि माम्—चिल्लाते चलो ।

भगवान् आर्त वचन सुनकर तुम्हें अभय कर देंगे ।

रावण खिसियाकर, अपनी राज्यमणि गँवाकर,

अश्वत्थामा-सा घाव लेकर बैठ गया ।

बुद्धि और बलकी अनोखी साहसभरी क्षमताकी कहानी ऐसी मानसमें और किसकी हो सकती थी ?

अयोध्यामें भगवान्‌का राजतिलक हो गया । सबको अपने-अपने घर जानेके आदेश हुए । लक्ष्मणजीने विभीषणको, भरतजीने सुग्रीवको, नल-नीलको स्वयं भगवान्‌ने वस्त्राभूषण पहना दिये और विदा किया ।

अंगद बैठे, रहे नहीं बोले,—प्रीति जानि प्रभु भी चुप रहे ।

सबके चले जानेके बाद अंगदने भगवान्‌को प्रणाम किया और सजलनयन बोले—

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो । दीन दयाकर आरत बंधो ॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली ॥

आपके अंचल, गोदमें मुझे डाल गया था ।

असरन सरन बिरदु संभारी । मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ।पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही ।

ऐसी करुणाभरी विनयसे भगवान्‌के नयन सजल

हो गये। सिवा हृदयसे लगा लेनेके भगवान् कुछ न कह सके। दोनोंके नेत्रोंसे जलधार बह रही थी और सब स्तब्ध थे।

भगवान्‌को स्मरण आया, मैं वनमें था, अभी दत्तक विधि अधूरी रही है। दत्तक लेनेपर तो पिता अपने वस्त्राभूषण उतारकर पहनाता है। केवल पिताओंके आदान-प्रदानसे विधि पूरी नहीं होती।

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।

किस भाग्यशालीको मानसमें ऐसा बड़भाग उपलब्ध हुआ। अपने बसन, निज उर माला, मणिमुक्ता, सिरका पाग—सब सम्पदा सौंप खुद उघारे हो गये—क्या दत्तक-संस्कारकी अनोखी झाँकी है? अंगद राम बनकर खड़े हैं, राम सब कुछ सौंपकर रीते खड़े हैं। भगवत्-कृपाकी इति अभी भी नहीं हुई—

इस तरह राजा रामका दत्तक पुत्र वालितनय, युवराज अंगद बिदा हुआ।

भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत कृत चेता॥

किसीको यह सम्मान नहीं उपलब्ध हुआ था। यह पहला और अन्तिम रामराज्यका अधिकार-प्रदान था।

बार बार कर दंड प्रनामा।

दत्तक पुत्र अंगद अयोध्याके राजमार्गसे रामके वस्त्राभूषण धारण किये पंचानन-पुत्रकी भाँति चले जा रहे थे। अयोध्यावासी दो राम देख बलिहार हो रहे थे, देव पुष्पवर्षा कर रहे थे। एक बार सबको भ्रम हो जाता था, कुछ किसीकी समझमें न आता था। तुलसीके शब्द इस स्थलपर हैं—

कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि॥

और यह था केवल भारतीय दत्तक विधानका दूसरा संस्कार जो किष्किन्धामें नहीं हुआ और अयोध्यामें सम्पन्न किया गया—तनकी सद्गतिके अनन्तर अवशेष तनयका सफल जीवन, मुकुटके बदले मुकुट, राज्यश्रीके बदले राज्यश्री देकर सम्पन्न किया। राम-विलोकनि, बोलनि, चलनी और हँसिमिलनीको बार-बार स्मरण करते हुए गद्गद् होते दत्तक-पुत्र राम किष्किन्धाको जा रहे हैं—**चलेउ हृदयँ पद-पंकज राखी।**

रामके समान दूसरा कौन है?

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरुद-हित हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़ जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु! कहा अपनपौ हारे॥

—विनयपत्रिका

पतनोन्मुख मानव-समाजकी रक्षा कैसे हो ?

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानका अंश)

पाप और पुण्यकी सीधी-सी परिभाषा यह है कि जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो, वह पाप है और जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, वह पुण्य है। जिससे दूसरोंका हित नहीं होता, उससे अपना हित कदापि नहीं होगा और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना कभी अहित नहीं होगा—यह सिद्धान्त निश्चयरूपसे मान लेना चाहिये। हमारा वास्तविक हित दूसरोंके हितमें ही समाया है। जो मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हम दूसरोंका अहित करके या दूसरोंके हितकी उपेक्षा करके अपना हित करते हैं या कर लेंगे, वे वस्तुतः बड़े मूर्ख हैं। वे अपना हित कभी कर ही नहीं पाते। यह मान्यता ही भ्रम है कि दूसरोंके हितकी उपेक्षा या उनका अहित करनेसे हमारा हित हो जायगा। यथार्थमें वे मनुष्य बड़े ही अभागे हैं, जो दूसरोंके अहितमें अपना हित और दूसरोंके दुःखमें अपना सुख समझते हैं। ऐसे मनुष्य ही असुर-मानव हैं, जिनका जीवन दूसरोंकी बुराईमें ही लगा रहता है। वे दूसरोंकी बुराई करने जाकर अपनी ही बुराई करते हैं।

संसारमें साधारणतया नौ प्रकारके मनुष्य होते हैं—

(१) जो दूसरोंके हितमें ही अपना हित समझते हैं; अतएव जीवनभर प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही करते हैं। अपना नुकसान करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाया करते हैं।

(२) जो दूसरोंके हितको प्रमुख मानते हैं और अपने हितको गौण, अतः जहाँ दूसरोंका हित होता हो, वहाँ अपने हितकी चिन्ता छोड़ देते हैं।

(३) जो दूसरोंका हित चाहते हैं—करते हैं परंतु अपना नुकसान सहकर या अपने हितकी चिन्ता छोड़कर नहीं।

(४) जो दूसरोंका हित तो चाहते हैं और करते भी हैं, परंतु वहीं चाहते-करते हैं जहाँ अपना भी लाभ समझते हैं, नहीं तो—नहीं करते। अर्थात् अपने लाभके लिये ही दूसरोंका हित करते हैं।

(५) जो केवल अपना ही हित देखते हैं, दूसरोंके हितका विचार ही नहीं करते।

(६) जो अपने हितके लिये दूसरोंके हितकी जान-बूझकर उपेक्षा करते हैं।

(७) जो अपने हितके लिये दूसरोंका अहित सोचते हैं और करनेमें नहीं हिचकते।

(८) जो अपनेको बचाकर दूसरोंका अहित ही करना चाहते हैं और दिन-रात उसीमें लगे रहते हैं।

(९) जो अपना अहित करके भी दूसरोंका अहित करनेमें लगे रहते हैं।

इन नौमें प्रथम सर्वश्रेष्ठ हैं और नवम सबसे नीच—अधम।

प्रथम वस्तुतः दूसरोंको पर मानते ही नहीं। वे तो सबको अपना स्वरूप ही मानकर सबके सुख-दुःख-में स्वयं सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, उनका 'स्व' अखिल जगत्‌के प्राणियोंमें प्रसरित होकर पवित्र हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये श्रीभगवान्‌ने भगवद्गीतामें कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६ । ३२)

'अर्जुन ! जो अपने ही समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें समदृष्टि रखता है और सबके सुख या दुःखको भी समतासे देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' वस्तुतः उसके अनुभवमें सर्वत्र एक आत्मा ही

रह जाता है। वह किसी भी वर्ग, वर्ण, जाति, पद, देश, धन, सम्प्रदाय आदिके भेदसे आत्मामें भेद नहीं मानता। भेदोंमें रहते हुए ही वह अभेदभावसे सबका वैसे ही हित चाहता और करता है जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और नीचेकी इन्द्रियाँ आदिके व्यवहारमें भेद मानता तथा बरतता हुआ भी उनमें समान आत्मभाव रखता और उनका सहज ही हित चाहता तथा करता है। ऐसे सबमें 'स्व' की अनुभूति करनेवालेका 'स्वार्थ' पवित्र हो जाता है; क्योंकि सबका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ बन जाता है, सबका हित ही उसका हित बन जाता है और सबका सुख ही उसका सुख हो जाता है। वह केवल एक छोटे-से समाजमें ही नहीं, समस्त विश्वमें आत्मीयताका अनुभव करता हुआ कभी किसीका अहित तो करता ही नहीं, किसीको दुःख तो पहुँचाता ही नहीं, उनके हितकी या सुखकी अवहेलना या उपेक्षा भी नहीं कर सकता। वह निरन्तर सहज ही 'सर्वभूतहित' में रत रहता है। भगवान्‌ने ज्ञानी साधकके लिये कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष अपनी सारी इन्द्रियोंको भलीभाँति नियन्त्रणमें रखते हैं, समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं और सबमें समबुद्धि रखते हैं, वे अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, नित्य, अचल, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हुए मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होते हैं।'

जो सर्वत्र एक परम तत्त्वका दर्शन करते हैं, वे इन्द्रियसुखकी इच्छा कैसे करेंगे, उनकी इन्द्रियाँ सहज ही भोग-सुखोंसे हटी रहेंगी। सबमें सहज ही उनकी समबुद्धि होगी और सबका हित ही उनका सहज कर्म होगा।

भक्तके लिये तो भक्तोंकी स्वरूप-व्याख्याके आरम्भमें ही भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १३-१४)

'जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका निःस्वार्थ प्रेमी, सहज ही करुणहृदय, ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (अपराध करनेवालेका मङ्गल चाहनेवाला), निरन्तर लाभ-हानिकी प्रत्येक स्थितिमें संतुष्ट, मन-इन्द्रिय-शरीर-को वशमें रखनेवाला, दृढ़निश्चयी पुरुष है, वह मुझमें (भगवान्‌में) मन-बुद्धिको अर्पण कर चुका हुआ मेरा भक्त मुझे बड़ा प्रिय है।'

ऐसा भक्त अपने इन्द्रिय-सुख या अपने किसी पृथक् सुखके लिये कैसे प्रयत्न करेगा? उसे तो इसकी कामना ही नहीं होगी। सबका सुख ही उसका सुख होगा।

वस्तुतः विश्वमें जब इस प्रकारके आदर्श ज्ञानी या भक्तोंका समाज बनेगा, तभी यहाँ यथार्थ सुख-शान्ति होगी। आजका समाज तो सचमुच बहुत गिर गया है या गिर रहा है, जिसमें ऐसे व्यक्ति भरे हैं, जो इन्द्रियोंके गुलाम हैं, मनके दास हैं, दिन-रात मौज-शौक-विलासमें रहना चाहते हैं, अपने इन्द्रिय-सुखके लिये दूसरोंके दुःख या अहितकी परवा ही नहीं करते; अपनेको ही सुखी बनानेकी धुनमें सदा लगे रहते हैं और इसके लिये दूसरोंका प्रत्यक्ष अहित करते रहते हैं। इस स्थितिको मिटानेके लिये भगवान्‌के आदर्श वाक्योंके अनुसार एक नवीन विश्वका निर्माण

होना चाहिये, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त ज्ञानी या भक्तके आदर्श जीवनसे सम्पन्न हो । यह तभी होगा, जब मानव दूसरोंको ऐसा बनानेकी चिन्ता न करके पहले स्वयं ऐसा बनना चाहेगा और इसके लिये पूरा प्रयत्न करेगा । आजका मानव दिन-रात गला फाड़कर और कलम चलाकर दूसरोंको उपदेश करता है, पद-पदपर उनकी भूलें बताकर उन्हें भूल सुधारनेका आदेश देता है, पर स्वयं न अपनी भूलोंको देखता है और न उन्हें सुधारनेका ही प्रयत्न करता है । स्वयं दिन-रात आसुरी-सम्पदाके सेवनमें लगा रहकर ही जगत्को देव बनानेकी बातें किया करता है, इससे दम्भ बढ़नेके सिवा और कुछ नहीं होता । सच कहा जाय तो आजका मानव उन्नत नहीं हो रहा है,—भले वह विज्ञानमें तथा अर्थपैशाचिकतामें ऊँचा चढ़ गया हो,—बल्कि अपने आदर्श मानवीय गुणोंकी—जो उसे देवता बनानेमें समर्थ हैं—अवहेलना करके दिनोंदिन असुरत्वकी ओर—पतनकी ओर जा रहा है ।

इसीसे उपर्युक्त नवम प्रकारके मनुष्य भी आज मानव-समाजमें उत्पन्न हो गये हैं, जो अपना नुकसान करके भी, अपना अहित करके भी दूसरोंको नुकसान पहुँचाने या दूसरोंका अहित करनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं । ऐसे नराधम जगत्का अकल्याण ही करते हैं ।

जो लोग अपना वास्तविक हित चाहते हैं और यथार्थमें अपना, देशका या विश्वका सुधार या उद्धार चाहते हैं, उनके लिये यह परम आवश्यक है कि वे दूसरोंको अपना समझें और उनके हितमें ही अपना हित समझकर कार्य करें । ऐसा होनेपर जीवनमें संयम, सदाचार, सेवा आदि सद्गुण अपने-आप ही आ जायँगे ।

आजकल एक नया रोग फैला है—'जीवनके स्तर-को, रहन-सहनको ऊँचा उठाओ ।' त्याग, तपस्या, संयम, सादगी, सेवा, सदाचार, मितव्ययिता आदिमें नहीं; भोग, उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचार, विलासिता, आरामतलबी, अनाचार, फजूलखर्ची आदिमें । इसका आदर्श है—अनावश्यक आवश्यकताओंको बढ़ाते रहो । अधिक-से-अधिक वस्तुओंका उपयोग करो, मौज-शौककी चीजें बरतनेकी आदत डालो, हाथ-पैरसे कामकाज न करो, श्रम करने-में अपमान समझो, सिनेमा-रेडियो आदिसे आनन्द लूटो, जीवनको भोगमय या इन्द्रियोंका गुलाम बना लो । फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जीवन-का सारा समय तथा सारी विवेक-बुद्धिको लगाते रहो ।

गमछा पहनकर कुएँपर या नदीमें नहा आये तो नीचा स्तर और गुशलखानेमें टट्टीदानके बगलमें ही टबमें नंगे होकर नहाये तो ऊँचा स्तर ।

शौच जाकर मिट्टीसे हाथ धोये तो नीचा स्तर, चर्बी मिली साबुनसे हाथ धोये या न धोये तो ऊँचा स्तर ।

पहननेके लिये एक जोड़ी जूता रक्खा तो नीचा स्तर और दसों जोड़े जूते—भोजनका, शयनकक्षका, टेनिस्का, फुटबॉलका, दिनका, रातका, आफिसका, क्लबका, पार्टीका अलग-अलग—मानो मोचीकी दूकान लगी हो तो ऊँचा स्तर ।

जमीनपर आसनपर बैठे और हाथसे भोजन किया तो नीचा स्तर और टेबलपर चम्मच, छूरे, काँटेसे खाया तो ऊँचा स्तर ।

शुद्धताके साथ परसा हुआ भोजन किया तो नीचा स्तर, दूसरोंकी जूठन खायी, एक ही जूठे चम्मचसे ले-लेकर खाया तो ऊँचा स्तर ।

घरमें रेडियो न रक्खा तो नीचा स्तर, रखा तो ऊँचा स्तर ।

सप्ताहमें एक बार भी सिनेमा न देखा तो नीचा स्तर, रोज-रोज गये तो ऊँचा स्तर ।

पाठ-संध्या-पूजा की, तिलकादि लगाया तो नीचा स्तर, उठते ही बिस्तरपर चाय पीया, सिगरेटसे धूआँ फेंका और अखबार पढ़ा तो ऊँचा स्तर ।

स्त्रियाँ देशी चन्दन-कर्पूरादि पदार्थोंका लेप करें, देशी तेल, इत्र लगावें, बिंदी-सिन्दूर लगावें, मेंहदी-आलताका प्रयोग करें तो नीचा स्तर । विदेशी पोस्ट पाउडर, स्नो-क्रीम, नखराग (नेल-पालिश), अधर-राग (लिपस्टिक), बालोंके लोशन, बालोंको घुँघराले बनानेवाले थियोग्लार कोल एसिड आदिका उपयोग करें तो ऊँचा स्तर !

इस ऊँचे स्तरके निर्माणमें मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, बेहद खर्च, समयका नाश और इन्द्रियोंका दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं, इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते हैं । हमारे छात्र-छात्राओंमें यह रोग बहुत तेजीसे बढ़ रहा है, जो देशके लिये अत्यन्त घातक है । विलासी तथा अनावश्यक खर्च करनेवाला आदमी न समाज या लोक-हितकी बात सोच सकता है, न कर सकता है । उसका समय तथा साधन तो सारा अपनी अनावश्यक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही लग जाता है । अतएव हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि हमारी इन नकली आवश्यकताओंका नियन्त्रण हो, फैशनकी इच्छा तथा बाहरी दिखावेका मोह छूटे और हमारा जीवन पवित्र, संयमपूर्ण तथा सादा-सीधा हो ।

विलासिता, फैशन तथा बाहरी आडम्बरमें फँसे हुए मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, मनपरसे उसका नियन्त्रण उठ जाता है । वह पराये हितकी तो बात दूर रही, अपने हितकी बात भी नहीं सोच सकता । इसीसे अन्याय, अधर्म, चोरी, ठगीसे धन कमाकर वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके प्रयत्नमें लगा रहता है और फैशनकी जिस किसी चीजको देखता है, उसीको संग्रह करनेके लिये लालायित रहता है ! ऐसे स्त्री-पुरुष सदा खर्चसे तंग रहते हैं, रोते हैं, पर अपनी बुरी आदतको नहीं छोड़ते । पैसेकी बहुत छूट न होनेपर भी फैशनकी चीजोंका अनावश्यक संग्रह करना चाहते हैं और करते हैं। उचित बात तो यह है कि जिनके पास पैसे अधिक हैं, उनको भी अपने लिये उतना ही खर्च करना चाहिये, जितनेसे शरीरका तथा घरका काम सादगीके साथ अच्छी तरह चलता रहे और शेष पैसा समाजके अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये । तभी धनका सदुपयोग है, तभी धनके द्वारा भगवान्‌की पूजा है और तभी वह अर्थ अनर्थकारी न होकर मुक्तिका—भगवत्-प्रीतिका साधन बनता है । हमारे शास्त्र तो कहते हैं कि 'मनुष्यका उतनेपर ही हक है, जितनेसे उसका पेट भरता है, इससे अधिकपर जो अपना हक मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये'—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८)

जो अपने लिये ही धनका उपयोग करते हैं, अपने-को धनका स्वामी मानकर अपने ही लिये अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह-परिग्रह करते हैं, वे ईश्वरके धनके चोर तो हैं ही, दूसरे लोगोंकी अभावपूर्तिमें बाधक बनकर एक नया पाप और करते हैं । देशमें करोड़ों आदमियोंको अङ्ग ढकनेके लिये भी पर्याप्त कपड़े नहीं हैं, और कुछ लोगोंकी पेटियाँ, आलमारियाँ कपड़ोंसे भरी रहती हैं, नये-नये फैशनके कपड़े वे खरीदते ही रहते हैं । सुना है कि कोट-पैंट आदिकी सिलाईमें वे दो सौसे पाँच सौ रुपयेतक व्यय कर देते हैं । उनके घरोंमें इधर-उधर कपड़े बिखरे पड़े रहते हैं, दीमक लग जाती है, ऊनी-रेशमी कपड़ोंको कीड़े काट डालते हैं, पर परिग्रहसे उनका मन नहीं भरता । खानेके लिये मनुष्यको कितना चाहिये, पर हमलोग पचासों प्रकारकी चीजें बनाकर शरीरकी आदतोंको बिगाड़ते, नये-नये रोगोंको बुलाते

तथा खाद्य पदार्थोंका विपुल संग्रह रखनेमें अपनी शान समझते हैं। जहाँ करोड़ों भाई एक समय पेटभर पूरा खा नहीं पाते, वहाँ ऐसा व्यवहार क्या पाप नहीं है? करोड़ों मनुष्य टूटी झोपड़ियोंमें रहते हैं, पर एक मनुष्य दरजनों मकानोंपर अपना नाम रखता है। ऐसा नहीं कि वह दर्जनों मकानोंमें एक साथ सोता-बैठता हो। हाथ कहीं सोये, पैर कहीं सोये, सिर कहीं सोये—ऐसा नहीं होता, उसका अभिमानमात्र बढ़ता है। पर मनुष्यका मोह उसे ममताके विस्तारमें लगाये रखता है। वह अपने लिये मकान भी बनाता है तो उसमें बीसों कमरे होते हैं। यह सब अनावश्यक वस्तुओंकी आवश्यकता तथा उनके संग्रह-परिग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यको दूसरोंके हितोंकी ओरसे अंधा बना देती है और प्रकारान्तरसे वह मानव-समाजका अहित करनेमें ही लगा रहता है। यह प्रवृत्ति समाजमें इसी प्रकार बनी रही और बढ़ती रही तो पता नहीं, समाजकी क्या दशा होगी। समाजके हितैषी पुरुषोंको तथा प्रत्येक समझदार पुरुषको इसपर विचार करके ऐसे अमोघ उपाय सोचने तथा करने चाहिये जिससे मानव-समाज इस पतनोन्मुखी प्रवृत्तिसे बचे तथा सबको इहलौकिक सुख-शान्तिके साथ मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य विशुद्ध आत्मस्वरूपकी या भगवान्‌की प्राप्ति हो।

सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

धर्मका मतलब सत्य यानी ईश्वरकी प्राप्ति है। धर्म प्रेमका पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा? मनुष्य एक ओर तो ईश्वरकी पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्यका तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं।

—गाँधीजी

आज हम लोगोंको केवल एक नैतिक उपदेश देते रहें तो उससे काम नहीं होगा। आज तो हमें लोगोंकी मुश्किलें, दुश्वारियाँ दूर करनी होंगी, तभी उनमें सद्विचार स्थिर होंगे। जिस वक्त आस-पास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्तिका ध्यान करने बैठें तो यह भक्ति-मार्गका लक्षण नहीं होगा। उस समय तो हाथमें बाल्टी लेकर आग बुझानेके लिये दौड़ना ही भक्ति-मार्गका लक्षण होगा।

—विनोबा

धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त हैं

इस समय संसारमें अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्मके उपदेशों और शिक्षाओं-सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य है। खासकर मुख्य-मुख्य धर्मोंके साहित्यका परिमाण तो निरन्तर बढ़ता जाता है। आदमी अपने-अपने धर्मोंके प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषोंके वाक्योंकी तरह-तरहकी व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओंमें छपवाते और प्रचार करते रहते हैं। इस प्रकार एक-एक धर्मसम्बन्धी इतने ग्रन्थ हैं कि आदमी जन्मभर उन्हें ही पढ़ता रहे तो भी सबको न पढ़ सके; और साधारण आदमी अकेले इसी काममें लगा भी नहीं रह सकता। अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओंका तथा टीका-टिप्पणियोंका कोई अन्त नहीं।

धर्मका सार

साधारण मनुष्यको धर्मकी बारीकियों और उलझनोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। मुख्य तत्त्वकी बात जान लेनी चाहिये। कबीरने ठीक बताया है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय॥

इसी प्रकार तुलसीने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस तरह सरल-सीधी भाषामें धर्मका अर्थ प्रेम और परहित-साधन या सेवा है। आदमीको इन्हें अमलमें लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिये।

सद्व्यवहार ही भगवान्‌की पूजा है

हम सब भगवान्‌की पूजा-उपासना करनेका दम भरते हैं। पर भगवान् हमें दरिद्रनारायणके रूपमें दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम-धर्म-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि एक धनवान्‌के मरनेपर अल्लाह उससे कहता है कि 'ऐ आदमीके बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खानेको नहीं दिया।' आदमी पूछता है, 'तूने मुझसे खाना कब माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है—'मैं मजदूरके रूपमें तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमीके बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है—'कब तूने मुझसे पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है कि 'मैं मेहनत करनेके बाद प्यासा होनेपर तेरे दरवाजेपर गया और तुझसे पानी माँगा, पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहारपर कितनी ठीक बैठती है!

प्रेममें ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है

असली धर्म माननेवाले व्यक्तिके लिये यह सारा संसार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियोंसे प्रेम करेगा, उसके प्रेमका क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारोंतक ही या उसकी जाति-बिरादरीके लोगोंतक ही सीमित नहीं होता, वह सबमें ईश्वरका स्वरूप देखता है। वह सबसे स्नेहका नाता रखता है, सबको अपने परिवार या कुटुम्बका मानता है। उसके लिये छुआछूतका प्रश्न ही नहीं रहता, वह सबको समभावसे देखता है, सबसे प्रेम करता है, ऊँच-नीचकी थोथी कल्पनाको उसके मनमें स्थान नहीं मिल सकता। वह किसीको कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिये दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आपको पीड़ा पहुँचाना है। वह किसीके मजहबकी निन्दा नहीं करता, वह सबमें समदृष्टि रखता है और सबकी अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करनेको तैयार रहता है।

सेवामय जीवन

ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणिमात्रमें एकताका अनुभव करता है और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधनका मार्ग लोकसेवा है, यही प्रेमका व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा किसीसे प्रेम करनेका अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिये कुछ मीठे शब्द कहकर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्रका हित चाहें और हित-साधनका प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावोंको दूर करनेका उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकासका मार्ग प्रशस्त करें। धर्म-भावना-वाले अपने कर्तव्य-पालनमें सब प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं और वे इसमें कोई दुःख अनुभव नहीं करते। उनके हृदयमें सबके लिये माताका-सा प्रेम होता है। वे अपने पासके सब आदमियोंको सुख पहुँचानेमें अपना सुख मानते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

सेवाके अनेक क्षेत्र

सेवा किसी खास प्रकारके नपे-तुले कामका नाम नहीं है और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम चाहे जो कार्य करें, उसमें परहितका लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिंसा आदि गुणोंके अभ्यासका निरन्तर ध्यान रखें तो

वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा । उदाहरणके लिये व्यापारकी बात लीजिये । प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता । इसे धन कमानेका साधन माना जाता है । परंतु वास्तवमें यह बहुत बड़ी सेवाका कार्य है । एक गाँवमें लोगोंके भोजन-वस्त्र आदिकी प्रमुख आवश्यकताके किसी पदार्थकी कमीके कारण बहुत संकट है । व्यापारी इस पदार्थको दूसरे स्थानसे लाकर वहाँ पहुँचाता है और इसकी मूल लागतमें मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़कर इसे साधारण मूल्यमें जनताके हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है । हाँ, अगर व्यापारीका लक्ष्य अपने कार्य-द्वारा अधिक-से-अधिक धन बटोरना हो, वह लोगोंकी प्रमुख आवश्यकताओंका विचार न कर ऐसे पदार्थोंका प्रचार करता है, जो जनताके भोग-विलासके साधन हों और जिन्हें खरीदनेके लिये आदमी भारी मूल्य भी देनेको तैयार हों या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता । वास्तवमें इसे व्यापार कहना ही भूल है । यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाजमें खूब चल रही हो और कानूनसे अपराध न मानी जाती हो । अस्तु, परहितका ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना लेकर किया हुआ व्यापार सेवा ही है । वास्तविक व्यापार और सेवामें कोई विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बातके लिये प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़े, वह जनतामें स्वास्थ्यके नियमोंका प्रचार करता है और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतुमें ऐसा खान-पान आदि करना रोगोंको आमन्त्रित करना है, वह बीमारोंको जल्दी-से-जल्दी तथा अल्प व्ययसे ही नीरोग करनेके लिये चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाहके लिये लोगोंसे अपने कामकी साधारण फीस क्यों न लेता हो । इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रहके लिये रोगियोंको दवाईके चक्करमें डालता है, मँहगी और खूब मुनाफा देनेवाली विधियोंका उपयोग करता है, यहाँतक कि गरीब और असमर्थ लोगोंसे भी भारी-भारी फीस वसूल करता है और रोगियोंके स्वस्थ न होने तथा मर जानेपर भी अपनी फीसका अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्यको सेवा-कार्य नहीं माना जायगा और इसे करनेवालेको वास्तवमें डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दोंका दुरुपयोग करना है !

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दूकानदार आदिके कार्योंका विचार किया जा सकता है ।

विशेष वक्तव्य

किसी कार्यके सेवा-कार्य होनेके लिये यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्कामभावसे किया जाय । सेवा करनेवाला अपना काम कर्तव्य समझकर करता है । उसके मनमें यह विचार नहीं आता कि मैं समाजपर कोई उपकार या एहसान करता हूँ । वह अपने आपको समाजका एक अङ्ग मानता है और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदिको समाजद्वारा प्राप्त समझता है । इसलिये वह समाजका हिस्सा चुकाकर उससे यथाशक्ति उऋण होनेका प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमानकी गुंजाइश ही कहाँ ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तवमें धर्मात्मा हैं ।*

* लेखककी 'समाज रचना, सर्वोदय दृष्टिसे' पुस्तकसे ।

धर्मके स्तम्भ

(५)

शुद्धि (शौच)

(लेखक—पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

महात्मा सुकरात भद्दे शक्लके व्यक्ति थे। एक दिन लोगोंने उन्हें प्रभुसे यह प्रार्थना करते हुए देखा, 'प्रभो! आप मुझे भीतरसे सुन्दर बना दो।' उन्होंने अपनेको भीतरसे इतना स्वच्छ और सुन्दर बना रक्खा था कि लोग बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाया करते थे। बाहरकी असुन्दरता अंदरकी सुन्दरतासे छिप जाती है। जो व्यक्ति बाहरसे स्वच्छ और आकर्षक होते हैं, उनमें प्रकाश होता है; परंतु जो भीतरसे स्वच्छ होते हैं, उनका बाह्य प्रकाश भीतरके प्रकाशसे चमककर लोगोंके नेत्र और हृदय दोनोंको प्रकाशित कर देता है। अतः आवश्यक है कि मनुष्य अपनेको बाहर और भीतर दोनों ओरसे स्वच्छ और पवित्र रक्खे, जिससे उसके शरीर और आत्मा दोनोंमें लोगोंको देवत्वके दर्शन हों। स्वच्छ रहना धर्म है।

शरीरकी, वस्त्रोंकी, घरकी और खानपान आदिकी शुद्धि बाहरी शुद्धि मानी जाती है। ये शुद्धियाँ मनकी स्वस्थ अवस्थाकी द्योतक होती हैं। इसके विपरीत गन्दगी मनकी अस्वस्थताको प्रकट करती है। शुद्धि रखनेसे मनुष्यको स्वास्थ्यलाभ होता और गन्दगी रखनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य स्वास्थ्य और साफ शरीरके प्रसादोंसे वञ्चित हो जाया करता है।

मनुष्यका बाह्य भाग भीतरके भागका आइना होता है, जिसमेंसे मनुष्यका आभ्यन्तर दीख पड़ता है। अतः हमारा बाह्य इतना शुद्ध और निर्मल होना चाहिये, जिससे हमारे भीतरके छोटे-से-छोटे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म धब्बेको भी लोग देख सकें और हमें उस धब्बेको धोनेकी बाह्य प्रेरणा भी मिल सके। बाहरी गन्दगी गरीबीकी उतनी द्योतक नहीं होती, जितनी आलस्य और प्रमादकी द्योतक होती है। आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न गन्दगीमें मनुष्यके गुण छिप जाते या अविकसित रह जाते हैं। गन्दगीमें अधिक कालतक गुणोंका निवास नहीं हुआ करता। बाह्य पवित्रता और सफाईसे मनुष्यके भीतरी गुणोंको बल मिलता और उनमें चमक आ जाती है।

शरीरकी शुद्धि स्नानसे, दाँतोंकी शुद्धि मंजन और दातुनसे, आँखोंकी शुद्धि अंजनसे, हरियालीको देखने, दूसरोंके उत्कर्षको सहन करने और काम्य कुचेष्टासे बचानेसे, कानकी शुद्धि शास्त्रोंको सुनने, तेल डालने तथा उत्तम बातोंमें लगानेसे, जीभकी शुद्धि मांसादि त्याज्य पदार्थोंके परित्याग, शुद्ध और सात्त्विक प्रकृतिके अनुकूल पदार्थोंके ग्रहण तथा उत्तम, मधुर, सत्य और कल्याणकारी बातोंके कहनेसे, हाथों, पैरों आदिकी शुद्धि मिट्टी-जलसे तथा उन्हें अच्छे धर्मयुक्त परोपकारी कामोंमें लगानेसे होती है। वस्त्रोंकी शुद्धि उन्हें साफ-सुथरा रखनेसे होती है। वस्त्रोंके पहननेमें रक्षाका भाव सर्वोपरि और सजावटका भाव गौण रहना चाहिये।

नित्य झाड़ने-बुहारने-लीपने और पोतनेसे घरकी वस्तुओंको साफ-सुथरा तथा व्यवस्थित रखनेसे घरकी शुद्धि होती है। परंतु घरमें रहनेवाले व्यक्ति भीतरसे भी शुद्ध होने चाहिये। यदि घर साफ-सुथरा व्यवस्थित और सजा हुआ हो और उसमें रहनेवाले व्यक्ति साफ-सुथरे और सजे हुए हों और भीतरसे अपवित्र एवं गंदे हों तो वह घर उस सेवके समान घिनौना होता है, जो बाहरसे बड़ा आकर्षक होता परंतु जिसके भीतर कीड़े भरे होते हैं।

भीतरकी शुद्धि बनाये रखना बड़ा जटिल परंतु परिणाममें अमृत-तुल्य होता है। मनु महाराजने बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिका बड़ा सरल उपाय बताया है। वे कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

(अनुस्मृति अ० ५ श्लोक १०९)

जलसे शरीर, सत्यसे मन, धर्मानुष्ठान, तप और विद्यासे आत्मा शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है।

मन बड़ा चञ्चल होता है, जो इन्द्रियोंके वशीभूत हो मनुष्यको राग-द्वेषादि कुत्सित प्रवृत्तियोंमें फँसाकर उसका अनिष्ट कराता है। अतः मनकी पवित्रताके लिये ईश्वराराधन, ईश्वरकी आज्ञाका पालन, सत्पुरुषोंका सङ्ग, वेदादि सच्छास्त्रोंका अध्ययन और राग-द्वेषादि विकारोंका परित्याग परमावश्यक है। पवित्र शरीरमें पवित्र मनके निवास करनेसे मनुष्यमें अनेक गुणोंका समावेश रहता है और मनुष्य अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ होता है। पवित्र शरीर और मनवाले व्यक्ति ही धर्मात्मा कहलाते हैं। मनकी पवित्रता आत्माको गंदे-से-गंदे स्थानमें भी शुद्ध वायुका श्वास लेनेमें समर्थ बनाती है और संयमसे उसमें शक्ति आ जाती है। जब मनकी पवित्रता इन्द्रियोंपर शासन करती है, तब वह अपने प्रकाशसे जगमगा जाती है।

योगदर्शनके समाधिपादके ३३वें सूत्रमें चित्तकी निर्मलताके अत्युत्तम उपाय बताये गये हैं। सूत्र इस प्रकार है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मोंकी सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें भावनाके अनुष्ठानसे चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

राग, ईर्ष्या, परापकार, चिकीर्षा, असूया, द्वेष—ये छः बुराइयाँ चित्तको मलिन कर देती हैं।

श्रीभोज महाराज इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखते हैं—

'मित्रता, दया, हर्ष, उदासीनता—इन चारोंको क्रमसे सुखियोंमें, दुखियोंमें, पुण्यवानोंमें और पापियोंमें व्यवहृत करना चाहिये। सुखी मनुष्योंको देखकर ऐसा समझनेसे कि यह मेरा ही सुख है, राग और ईर्ष्याका विनाश होता है। दुखियोंपर दया करनेसे घृणा और दूसरोंका अहित करनेका मैल दूर होता है। जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी अपने प्राण प्रिय हैं, इस विचारसे सज्जन पुरुष अपने प्राणोंके समान सबके ऊपर दया किया करते हैं। अपने मनमें यह विचार करे कि 'इस दुखियाको बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आता है, तब हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है और उसके दुःखको दूर करनेकी चेष्टा करे। ऐसा न समझे कि उसके सुख-दुःखसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है।

जो व्यक्ति धर्ममार्गमें चलते रहते हैं, उनके प्रति हर्षकी भावना करनेसे असूया मलकी निवृत्ति होती है।

जो व्यक्ति पाप-मार्गमें प्रवृत्त हैं, उनके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेसे घृणा करने तथा बदला लेनेका भाव समाप्त हो जाता है अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले एवं किसी अन्य प्रकारसे अपमान करे, तब मनमें ऐसा सोचे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारसे मेरी कोई हानि नहीं हो रही है। मैं इसके प्रति द्वेष करके अपनेको क्यों दूषित करूँ, इसे स्वयं अपने दुष्कर्मका फल भोगना है।'

इस प्रकार इन चारों भावनाओंके मनमें बद्धमूल हो जानेसे मनके दूषण नष्ट हो जाते हैं और मन शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है।

ममता तू न गयी मेरे मन तें !

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

यह मोह आखिर है क्या ?

ममता है कौन चीज ?

सच पूछिये तो यह कुछ नहीं है ।

केवल भ्रम है, अज्ञान है ।

बंद गोभी है । एक-एक पत्ता उधेड़ते जाइये, अन्तमें कुछ न हाथ लगेगा ।

जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंमें हमारी जो आसक्ति है, जो ममत्व है, जो राग है, अनुकूलके प्रति झुकाव और प्रतिकूलके प्रति जो विराग है, उसीका नाम तो 'मोह' है । उसीको तो 'ममता' कहते हैं ।

× × ×

यह मेरा है, यह मेरा बना रहे, इससे मेरी भेंट हो जाय, यह मुझे मिल जाय, यह खूब फले-फूले, इसका बाल न बाँका हो,—इस तरहके जो असंख्य भाव रात-दिन हमारे मनमें उठते रहते हैं, जिन्हें लेकर हम आठ पहर चौंसठ घड़ी परेशान रहते हैं, जिनके लिये हम जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाते रहते हैं, जिनकी चिन्तामें हम डूबे रहते हैं, उन्हींको तो 'मोह' कहा जाता है ।

× × ×

मोहका यह जाल कितना व्यापक है, सोचनेपर आश्चर्य होता है ।

एक-दो चीजोंका मोह हो सो नहीं । मोह असंख्य वस्तुओंका होता है । कहाँतक कोई गिनाये !

× × ×

शरीरका मोह होता है ।

विषयोंका मोह होता है ।

परिवारका मोह होता है

धन-सम्पत्तिका मोह होता है ।

परिग्रहका मोह होता है ।

कुर्सीका मोह होता है ।

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह होता है ।

नामका मोह होता है ।

पढ़ने-लिखनेका, डिग्रीका मोह होता है ।

शानका मोह होता है ।

स्थानका मोह होता है ।

जाति, वर्ण, कुल-परम्पराका मोह होता है ।

कल्पित धारणाओंका मोह होता है ।

सेवाका मोह होता है ।

त्यागका मोह होता है ।

संस्थाका मोह होता है ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका मोह होता है ।

जीवन, जगत्‌का मोह होता है ।

'यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमित को बरनै पारा ॥'

× × × ×

शरीरका मोह किससे छिपा है ?

विज्ञान कहता है—

२२२ हड्डियाँ,

धमनियोंमें ७ पौण्ड रक्त,

३० लाख पसीनेकी ग्रन्थियाँ,

मस्तिष्क और रीढ़में १४० अरब शिराएँ,

सिरपर ९० हजारसे १ लाख ४० हजारतक बाल ! =यह शरीर !

× × ×

दार्शनिक कहते हैं—

'क्या शरीर है ? शुष्क धूलका थोड़ा-सा छबि जाल।
उस छविमें ही छिपा हुआ है, वह भीषण कङ्काल ॥'

क्या रक्खा है इस शरीरमें ?

हाड़-मांस, रक्त-मज्जा, थूक-खखार, मल-मूत्रसे भरा गंदा बर्तन !

× × ×

साधु-संत कहते हैं—

'जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुंभ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई ॥'
'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचतत्व यह रचेउ सरीरा ॥'
'साधो यह तन मिथ्या जानो।
संग तिहारे कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो ॥'

× × ×

यह जानते हुए भी कि यह शरीर कुछ नहीं है, पानीभरी खाल है, हमने इसे अपना जीवन-सर्वस्व बना रक्खा है !

जमीनपर पड़ी कुछ मिट्टी इस शरीरपर लेप लेनेके लिये, इसका वजन बढ़ानेके लिये हम रात-दिन बेचैन रहते हैं।

जरा भी, किसी भी अङ्गमें कोई शिकायत जान पड़े कि हम बेतहाश दौड़ते हैं—हकीम, डाक्टरोंके पास, मानो वे इस शरीरको जरा और मृत्युसे, रोग और बीमारीसे बचा ही लेंगे !

साँस निकलने-निकलनेतक हम आशावान् बने रहते हैं—शायद कोई डाक्टर इस शरीरको बचा ले !

कफ पित वात कंठपर बैठे सुतहिं बुलावत कर तें !
ममता तू न गयी मेरे मन तें !!

× × ×

इस शरीरके मोहमें पड़कर हम क्या नहीं करते ?

इसकी रक्षाके लिये, इसे स्वस्थ बनाये रखनेके लिये, इसे चिकना, चुपड़ा और सुन्दर बनाये रखनेके लिये हम बेचैन रहते हैं !

इस शरीरकी पूजा, इसकी आराधना हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठी है।

इसके लिये हमें रोटी-दाल, घी-दूध, मक्खन-मलाई, 'विटामिन' और 'कैलोरी' नहीं, तर माल भी चाहिये, माल-मलीदा भी चाहिये, च्यवनप्राश और शक्तिवर्द्धक 'टानिक' भी चाहिये।

इस शरीरको कहीं सर्दी न लग जाय, निमोनिया न हो जाय, ब्रंकाइटिस न हो जाय, इसका हमें पूरा ख्याल रहता है। इसके लिये हम मनो ऊनी कपड़े रखते हैं। गद्दे-रजाइयाँ रखते हैं। लोई-कम्बल रखते हैं। तूश-पश्मीना रखते हैं।

× × ×

गर्मियोंमें इस शरीरको धूप न लग जाय, लू न लग जाय,—इसका हम भरपूर ध्यान रखते हैं। गर्मी इस शरीरको कहीं क्षीण न कर दे, इसका हम पूरा एहतियात रखते हैं।

बिजलीके पंखों और खसकी टट्टियों, 'कूलर' और 'एयरकंडीशण्ड'—वायुनियन्त्रित कमरोंकी हम पूरी व्यवस्था करते हैं। बरफका शर्बत, लस्सी और ठंडाई आदि तो मामूली चीजें हैं। इनकी माँग तो रिक्शा खींचनेवाले और झल्ली उठानेवाले तक करते हैं !

× × ×

वर्षासे बचावके लिये हम बढ़ियासे बढ़िया मकान बनवाते हैं। पानीसे भीगकर कहीं हम बीमार न पड़ जायँ—इसकी चिन्ता किसे नहीं रहती ?

× × ×

जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो,—कोई भी ऋतु हो, शरीरकी रक्षाके लिये हम पूरी सावधानी रखते हैं। उसे स्वस्थ रखनेके लिये, हृष्टपुष्ट रखनेके लिये, सुन्दर और आकर्षक बनाये रखनेके लिये हम पानीकी तरह पैसा बहाते हैं। यहीं तक नहीं, मौका पड़ जाय तो इस शरीरके मोहके आगे हम स्त्री-पुत्र, बाल-बच्चोंतकका बलिदान कर डालते हैं। रुपया-पैसा तो हाथका मैल ही ठहरा।

× × ×

बात है उन दिनोंकी, जब जापानी सिंगापुरतक आ गये थे।

जापानियोंने एक प्रसिद्ध बैंकपर अपना कब्जा कर लिया।

उस बैंकमें कितने ही भारतीय क्लर्क भी थे। एक क्लर्कने आपबीती सुनाते हुए कहा कि जापानियोंने बैंकमें आते ही सबसे पहले सोने-चाँदीकी सिलोंपर अधिकार जमाया। फिर हमसे बोले—'तुममेंसे जो लोग नौकरी करना चाहें, कर सकते हैं। जाना चाहें उन्हें अपनी सीमातक हम पहुँचा देंगे। कौन रहेगा, कौन जायगा ?'

जो लोग भारत लौटनेको तैयार हुए उनमें उक्त सज्जन भी थे। जापानी उन्हें नीचे ले गये खजानेमें—'उठा लो ये कागजके टुकड़े जितने चाहो।' कागजी सिक्केका—नोटोंका मूल्य ही क्या था उनकी दृष्टिमें।

इन्हें उठाते-उठाते डर लग रहा था कि कहीं बन्दूकका कुन्दा न जमा दें कि क्यों इतना ज्यादा पैसा समेट रहा है।

पूछा—'तुम्हारा परिवार भी है क्या ?'

परिवार था तो जरूर, पर कहें कैसे ? यहाँ तो अपना शरीर बचानेकी धुन थी। बच्चे मरें या जियें।

आखिर ठीक अपने घरके सामनेसे होकर निकल आये। स्त्री-बच्चोंको वहीं छोड़ दिया। जापानियोंने सबको सुरक्षितरूपसे अपनी सीमातक पहुँचा दिया।

× × ×

बादमें ये महाशय अनेक कष्ट भुगतकर बर्मासे होकर भारत पहुँचे !

× × ×

समयके अनुकूल जवानी तेजीसे खिसक रही है, पर हम उसे बाँध रखनेको बेचैन हैं। बालोंमें सफेदी जहाँ-तहाँ झाँकी मारती है, हम तुरत खिजाब तलाश करते हैं, आँवलेका तेल ले आते हैं और ऐसे विज्ञापनोंपर जी खोलकर पैसा खर्च करते हैं जो इस बातकी गारंटीका दम भरते हैं कि सफेद बाल जड़से काला हो जायगा। किसीके मुँहसे हम सुनना भी पसंद नहीं करते कि हम बूढ़े होते चल रहे हैं। कोई हमें 'बुढ़ऊ दादा' कह भर दे फिर देखिये हमारा ताव। कुछ न हो तो हम केशवका यह दोहा रटने लगते हैं।

'केसव केसन अस करी जस अरिहूँ न कराँहि।
चंदबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाँहि॥'

शरीरका कैसा थोथा मोह !

× × ×

उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, हँसते-खेलते हमें एक ही चिन्ता सताती है—हमारा यह शरीर चंगा रहे, हट्टा-कट्टा और स्वस्थ रहे, आकर्षक और चिकना-चुपड़ा रहे !

× × ×

शरीरके इस मोहको लेकर ही तो आज सारे संसारका अधिकांश व्यापार चलता है।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, मौज करनेके जितने साधन हैं, वे हैं तो सब इसीके लिये न !

जिधर दृष्टि डालिये, हमारी देहासक्तिको संतुष्ट करनेकी ही तैयारी दीख पड़ेगी।

× × ×

देहका मोह हममें न हो तो—

भूखों मर जायँ ये हलवाई जो चमचम और गुलाबजामुन, रसगुल्ला और मोहनभोगके बलपर अपनी तिजोरी भरते हैं।

दीवाला निकल जाय उन कम्पनियोंका जो रात-दिन पफ और पाउडर, क्रीम और पोमेड, शृङ्गार और फैशनके नामपर अपना 'बैंक बैलेंस' बढ़ाती रहती हैं।

तबाह हो जायँ ये डाक्टर और वैद्य, हकीम और

जर्राह, जिनकी फीसका दारोमदार इस शरीरकी ही व्याधियोंपर है ।

बंद पड़ी रहें पैंसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनकी शीशियाँ, च्यवनप्राश और मकरध्वजके डिब्बे, यदि हम शरीरके मोहके पीछे पागल न हों ।

× × ×

विषयभोगोंके मोहकी तो कहानी ही निराली है ।

यह खा लूँ, यह पी लूँ, यह चख लूँ, यह देख लूँ, यह पढ़ लूँ, यह सूँघ लूँ, यह छू लूँ, यह सुन लूँ, इसका उपभोग कर लूँ, इसे प्राप्त कर लूँ—इसी तरहके प्रोग्राम हम रात-दिन बनाते रहते हैं । रात-दिन इन्द्रियोंकी तरह-तरहकी फर्मायशें पूरी करनेमें जुटे रहते हैं । मजा यह कि वे कभी पूरी हो नहीं पातीं । हों भी तो कैसे ?

'बुझे न काम अगिन'तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें ॥

× × ×

और परिवारका मोह ?

वह कौन किसीसे कम है ?

यह मेरा बाप है यह मेरी माँ, यह मेरा चाचा है यह मेरी चाची, यह मेरा दादा है यह मेरी दादी, यह मेरा मामा है यह मेरी मामी, यह मेरा फूफा है यह मेरी फूफी, यह मेरा भाई है यह मेरी भावज, यह मेरी बीबी है यह मेरा शौहर, यह मेरा बहनोई है यह मेरा साला, यह मेरा ससुर है यह मेरी सास, यह मेरी बेटी है यह मेरा दामाद, यह मेरा बेटा है, यह मेरी पतोह, यह मेरा भतीजा है यह मेरा भानजा, अह मेरा सगा है यह मेरा सम्बन्धी, यह मेरा कुटुम्बी है यह मेरा रिश्तेदार ।····

कोई पार है इन सगे-सम्बन्धियोंकी सूचीका !

एक-एकके प्रति अपार मोह ।

× × ×

अर्जुन खड़ा है कुरुक्षेत्रके मैदानमें ।

सगे-सम्बन्धियोंकी पलटन उसकी दोनों ओर है ।

श्रीकृष्णसे पूछता है—'क्या करूँ मैं श्रीकृष्ण ? लड़ूँ इनसे ? इन्हें देखकर तो—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।

मेरा अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे खिसका जा रहा है, त्वचा जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है, मुझे चक्कर आ रहा है, मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है ।

इन स्वजनोंको मैं मारूँ ?

जिनके लिये राज्य प्राप्त करनेको मैं लड़ने आया हूँ, वे ही यहाँ कटनेको तैयार खड़े हैं ! इन्हें मारकर, इन्हींकी लाशोंपर मैं अपना प्रासाद खड़ा करूँ ? छिः छिः, न होगा मुझसे ऐसा !

और फिर यह भी तो है कि ये 'लोभोपहतचेतसः' इनकी आँखोंपर लोभकी पट्टी बँधी है । जिससे न इन्हें कुलक्षयका दोष दिखायी पड़ता है, न मित्रद्रोहका पाप ।

पर हम क्यों इन्हींकी तरह मूर्ख बन जायँ ? हम क्यों यह बात भूल जायँ कि कुलक्षयसे अधर्म फैलेगा, स्वैराचार बढ़ेगा, वर्णसंकरता आयेगी, कुलधर्म नष्ट होंगे—ऐसा भयंकर पाप हम क्यों करें ?

माना, इनकी अक्लपर पत्थर पड़ गये हैं, ये आततायी हैं, पर इन्हें मारकर हमें मिलेगा क्या ? राज्यसुखके लिये हम भी इनकी तरह अंधे क्यों बनें ? ऐसे रक्तरञ्जित राज्यको लेकर ही हम क्या करेंगे ? जाने दो श्रीकृष्ण, न चाहिये हमें राज्य, न चाहिये हमें सुख । भीष्म-द्रोण-जैसे पूज्य गुरुजनोंको मारनेसे तो कहीं अच्छा है कि हम भीख माँगकर अपना पेट भर लें ।

रहने दो श्रीकृष्ण ! नहीं लड़ूँगा मैं !

× × ×

प्रबल प्रतापी वीर अर्जुनने डाल दिये अपने हथियार, पकड़ लिये श्रीकृष्णके चरण और रोकर कहा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

× × ×

इस तरह जब किंकर्तव्यविमूढ होकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे मार्ग दिखानेकी प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने सारी गीता ही कह डाली । उसे सुनकर अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

'अच्युत ! तुम्हारी कृपासे अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे संशय मिट गये । अब मैं तैयार हूँ तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये ।'

× × ×

अर्जुनकी तरह हमें भी मोह होता है, रोज होता है, कदम-कदमपर होता है, हृदयरूपी कुरुक्षेत्रमें हरदम 'यह मेरा है' 'यह तेरा है' ऐसा द्वन्द्व चलता रहता है, पग-पगपर हम बहक जाते हैं, पर कौन है जो हमारी मोहकी पट्टीको खोलकर श्रीकृष्णकी तरह पूछे—

'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।'

'क्यों धनंजय ! अज्ञानसे पैदा हुआ तेरा मोह मिटा क्या ?'

पर अर्जुनकी तरह हम श्रीकृष्णको अपने घोड़ोंकी लगाम सौंपते कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण तो हम सबके हृदयमें विराजमान हैं, हम उनसे मोह-निरसनकी प्रार्थना करें भी तो ?

'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ?'

सच तो यह है कि मोहके पाशमें हमने अपने आपको इतना जकड़ रक्खा है कि बार-बार ठोकर खाकर भी हम चेतनेका नाम नहीं लेते !

× × ×

कहते हैं कि एक बूढ़ा अपने दरवाजेपर पड़ा-पड़ा अपनी किस्मतको रो रहा था कि बेटा बड़ा नालायक है जो जब देखो तब लात-घूँसोंसे उसकी पूजा करता रहता है !

उधरसे होकर एक साधु निकले ।

बूढ़ेको रोते देख लगे समझाने—'छोड़ो बाबा, इस मोहजालको । कौन किसका बाप, कौन किसका बेटा ! चलो मेरे साथ । भगवान्‌का भजन करके जीवन सफल करो ।'

बूढ़ा बिगड़ा—'चल चल ! बड़ा आया है ज्ञान बघारने । क्या हुआ बेटा मारता है ! 'मेरा' है, तब न मारता है ! तुझे किसने बुलाया था पंचायत करने ?'

'माफ करो बाबा !'—कहकर साधु चल दिये । हम इस बूढ़ेसे कम थोड़े ही हैं !

× × ×

झूठी प्रीति

जगतमें झूँठी देखी प्रीत ।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं हित सों बाध्यों चीत ।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ यह अचरज की रीत ॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत सिख दै हार्‌यो नीत ।
नानक भव-जल पार परै जो गावै प्रभु के गीत ॥

—गुरु नानक

दिव्य दर्शन

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

मिट्टीको क्या देखते हो ? भगवान् राम-कृष्णके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जलको क्या देखते हो ? भगवान् नारायणके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अग्निको क्या देखते हो ? भगवान् गणपतिके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

वायुको क्या देखते हो ? भगवान् शङ्करके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आकाशको क्या देखते हो ? भगवान् ब्रह्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

मनको क्या देखते हो ? भगवान् चन्द्रदेवके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

बुद्धिको क्या देखते हो ? भगवान् सूर्यके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

अहंकारको क्या देखते हो ? भगवती लक्ष्मीके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

जीवको क्या देखते हो ? ॐकारके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

आत्माको क्या देखते हो ? परमात्माके दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन करो ।

श्रीविग्रहको क्या देखते हो ? द्रष्टा, दृश्य और दर्शनको हटाकर सर्वमय हो जाओ । यही दिव्य दर्शन है । अरे, दर्शन क्या दृङ्मात्र है ।

कल्याणकारी प्रेरणा

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

(१)

स्वर्गके अधिकारी

दो व्यक्ति स्वर्गको चले । वे फाटकपर पहुँचे तो पहला आदमी जल्दी-जल्दी चलने लगा । वह सीधा होकर अकड़ा हुआ, गर्वसे आगे बढ़ रहा था, इस विचारसे कि देखनेवाले यह समझ लें कि मैं स्वर्गमें प्रवेश पानेका अधिकारी हूँ, क्योंकि मेरा भी अस्तित्व है, मैंने बहुत दान-पुण्य, तप और ज्ञानोपार्जन किया है । जब यह व्यक्ति ठीक स्वर्गके फाटकके पास पहुँचा और अगला कदम रखते ही वह स्वर्गके भीतर पहुँच जाता, तब उसने देखा कि स्वर्गका दरवाजा बहुत छोटा है । वह बोला, 'अरे, स्वर्गकी बड़ी महिमा सुनकर आया हूँ । यद्यपि धर्मग्रन्थोंमें लिखा है कि स्वर्गका द्वार सँकरा (कम चौड़ा) है । अस्तु संकीर्ण तो है, परंतु किस मूर्खने इसे इतना छोटा क्यों बना दिया !'

यह व्यक्ति स्वर्गके भीतर न जा सका । दूसरा व्यक्ति पीछे था । वह धीरे-धीरे चल रहा था, उसके मनमें किसी बातका गर्व न था । मानो उसने स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये कुछ कर्म न किया हो । वह विनीत भाव धारण किये धीरे-धीरे चला आ रहा था कि देखनेवाले कभी नहीं सोच सकते कि यह व्यक्ति भला स्वर्ग पायेगा । वह स्वर्ग-द्वारपर जब पहुँचा, तब उसे प्रसन्नता हुई कि मैं कम-से-कम द्वारतक तो पहुँच ही गया । फिर उसने देखा स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा है । वह सिर झुकाकर घुस गया ।

संसारमें कितने ही दम्भी साधक और धर्मात्मा-पुण्यात्मा लोग हैं, जो दान-पुण्य-तप करते, चमत्कार दिखाते, ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, हजारों लोगोंको माल-टाल खिलाते और यश-कीर्तिके लिये सब कुछ करते यह समझते हैं कि मैं बहुत धर्म और सत्कर्म कर रहा हूँ। वे लोगोंसे अपनी तारीफ सुनकर, प्रशंसाकी पुस्तकें और अखबार छापकर अपने कर्मोंको प्रकाशित करके प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि बस मैं स्वर्गके दरवाजेपर ही खड़ा हूँ। इस अहंकारकी भावनासे वे फूलकर मोटे और लम्बे हो जाते हैं, परंतु स्वर्गका द्वार संकीर्ण और छोटा होनेके कारण वे प्रवेश नहीं पा सकते।

स्वर्गका द्वार जिसने संकीर्ण और छोटा बनाया है वह मूर्ख नहीं है। जिसके हृदयमें अपने कृत्योंके प्रति अभिमान या अहंकार नहीं है, जो नम्रतापूर्वक व्यवहार करता है और सिर झुकाकर चलता है वही स्वर्गद्वारमें प्रवेश करता है।

'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।'

भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके पर्याय महात्मा ईसा-मसीहने भी कहा है, 'जो नम्र है वही परम पद पायेगा। अपना अहंकार छोड़कर आओ।'

(२)

ईश्वरकी दूकान

(दयाका भण्डार)

कहा जाता है लक्ष्मी और सरस्वतीका वैर है, उसी प्रकार धर्म और व्यापारका साथ नहीं निभता। अर्थात् धर्मके अनुसार चलनेसे व्यापारमें सफलता और उन्नति नहीं होती; क्योंकि व्यापारमें झूठ बोले बिना नफा नहीं होता और धर्मसे झूठ बोलना पाप है। रहीम कविने भी कह दिया है—

रहिमन अब मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम॥

अमेरिकामें एक किसानने अपनी जमीन बेचकर पासके नगरमें एक छोटी-सी दूकान लगायी—गल्ला, किराना और बिसातखानेकी। दूकानके बाहर उसने एक तख्ती टाँगी, जिसपर लिखा—'ईश्वरकी दयाका भण्डार'। उन शब्दोंके नीचे लिखा था, 'परमात्मा कल जैसा था, आज वैसा ही है और हमेशा एक-सा रहता है।' अर्थात् परमात्मा सदा एकरस रहता है। दूकानके भीतर एक दूसरी तख्ती लगी थी, उसमें लिखा था, 'वस्तुएँ खरीदके भावपर बेची जायँगी, मुनाफा नहीं लेंगे। दूकान-खर्चके लिये आप अपनी इच्छाके अनुसार कुछ पैसा 'पेटी' में डाल सकते हैं।'

नयी दूकान खुली थी—लोग आये, गये, देखा, सुना। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ समझा—झक्की है, उल्लू है, बुद्धू है, अजीब आदमी है, भला ऐसे भी कहीं व्यापार चला है? कुछ दिन ऐसी ही हवा रही। लोग आने लगे, सौदा खरीदने लगे और वापस जाते समय दरवाजेपर लगी 'पेटी'में कुछ पैसा डाल देते। साल भर बाद हिसाब हुआ तो कई हजारका मुनाफा था।

यह बहुत वर्षोंकी बात है। उसकी दूकान चल निकली और लाखोंका नफा हुआ। दूकान बहुत बड़ी करनी पड़ी और उसमें कई विभाग खोलने पड़े।

चाहे व्यापार हो चाहे धर्मकी बात हो। झूठ बोलनेसे मनुष्यको एक बार धोखा हो, दो बार ठगा जाय, परंतु हमेशा नहीं ठगा जा सकता, न धोखा हो सकता। सच बात सच होती है, उससे कभी धोखा नहीं होता।

दुनियाँकी बातोंसे धोखा हो जाय, लोग धोखा दे दें, किंतु ईश्वरसे कभी धोखा नहीं होता।

श्रद्धाकी विजय

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'तुम यहाँ ? इस समय ? इस स्थितिमें ?' दो क्षण स्वर रुका—'घर जाओ ! मेरी ओर मत देखो, घर चले जाओ ! माँ तुम्हारे लिये व्याकुल होगी ।'

'वह माँके पास ही जा रहा है !' एक अट्टहास करके भैरव स्वामी बोले—'वह यहाँसे हिल नहीं सकता !'

'मैं कहता हूँ तुम घर जाओ !' सुनन्द पण्डितके लिये जैसे भैरव स्वामीकी वहाँ सत्ता ही नहीं थी । वज्रकाय, सुदीर्घाकार रक्तवसन, जलते नेत्र, सदा हाथमें सिन्दूर-रंजित त्रिशूल लिये रक्त चन्दनका त्रिपुण्ड्र लगाये भैरव स्वामी—वे भैरव स्वामी जिनकी दृष्टिसे मनुष्य तो क्या सिंह भी काँप जाय, इस समय खड्ग उठाये खड़े थे और सुनन्द पण्डित उनकी ओर देखते तक नहीं थे । उनके लिये जैसे भैरव स्वामी नितान्त उपेक्षणीय थे । अत्यन्त दृढ़ स्वरमें कह रहे थे वे—'माँ कभी सामान्य नहीं होती । वह जगन्माताका स्वरूप है और वह बुलाती है तो तुम्हें कोई रोक कैसे लेगा । जाओ ! माँ बुलाती है तुमको ।'

'इसे चामुण्डाने बुलाया है !' भैरव स्वामीने कठोर स्वरमें कहा । 'यह न स्वयं आया है, न जा सकता है ।'

'आपकी क्रूरताने बुलाया कहिये !' सुनन्द पण्डितने अब देखा भैरव स्वामीकी ओर और जैसे छोटे बच्चेको झिड़क रहे हों झिड़का—'जगदम्बाके सम्मुख अपनी क्रूरताकी इस विडम्बनाका प्रदर्शन करनेमें आपको लज्जा नहीं आती । आप इसे रोक नहीं सकते ! घर जाओ महादेव !'

तरुण महादेव, स्वस्थ बलिष्ठ पुरुष, अपने अखाड़ेमें दसको जोर कराके थका देनेवाला पहलवान—जैसे उसमें रक्तकी बूँद नहीं है । वह श्वेत हो गया है । निष्कम्प ठूँठ-सा खड़ा है । न उसके नेत्रोंसे अश्रु झरता, न शरीर काँपता । पता नहीं क्या हो गया है उसे । उसकी कटिमें उसकी न धोती है, न लँगोट । एक लाल वस्त्रखंड कटिमें ऐसे लिपटा है जैसे दूसरेने लपेट दिया हो । मस्तकपर रक्त चन्दन लगा है और गलेमें लाल कनेरके फूलोंकी माला है । उसके सम्मुख प्रज्वलित अग्नि है और दूसरे उपकरण हैं । साक्षात् यमराजके समान भैरव स्वामी खड्ग लिये खड़े हैं । स्वामीका त्रिशूल पासमें गड़ा है । वे पूजन कर चुके हैं और महाबलि देनेको उद्यत हैं ।

'घर जाओ महादेव ! माँ बुलाती है !' सुनन्द पण्डितने आदेशके स्वरमें कहा । महादेवके भयसे फटे नेत्रोंकी पलकें गिरीं और वह जैसे मूर्छासे जगा हो, हिल उठा । एक क्षण तो बहुत होते हैं, महादेव तो ऐसे मुड़ा और इतनी शीघ्रतासे भागा जैसे सिंहको देखकर कोई प्राण बचाने भाग जाय ।

'अच्छा !' भैरव स्वामीके अंगार-नेत्र प्रज्वलित हो उठे । उन्होंने हाथका खड्ग रख दिया और पास पड़ी पीली सरसोंसे कुछ दाने उठाये ।

'ठहरिये ! जगदम्बाके सामने अधिक धृष्टता अनर्थ करेगी भैरवजी !' पण्डित सुनन्दके स्वरमें रोष नहीं था; किंतु तेज पूरा ही था ।

'जगदम्बा ! कौन जगदम्बा ?' भैरव स्वामीने अट्टहास किया । 'चामुण्डा नित्य अजातपुत्रा है । रक्तबीजके रक्त-कणोंको चाट जानेवाली महाकाली·····।'

'परंतु वह शक्ति है, जगन्माता महाशक्तिका अंश ।' सुनन्द पण्डितने उसी तेजपूर्ण स्वरमें कहा ।

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा चामुण्डा !' भैरव स्वामी क्रोधसे अधर काटते गरज उठे—'तू देख सकेगा उसे ।'

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्त-मूर्धजा !' सुनन्द पण्डितने तनिक स्मितसे कहा—'माताका रूप कुछ हो, अपने शिशुके लिये वह सदा सानुकूला स्नेह-भरिता सौम्या है ।'

'धूँ, घुर्र !' जैसे सुनन्द पण्डितकी बातका समर्थन ही हो गया हो । भैरव स्वामीने देखा और मुख घुमाकर सुनन्द पण्डितने भी देखा कि काली खोहके द्वारसे सिंहनी भीतर चली आ रही है । उसके दोनों शिशु बार-बार उसके सम्मुख कूद आते हैं और पंजोंसे उसके मुख और नाकको नोचनेका प्रयत्न करते हैं । सिंहनी मुख फाड़कर केवल 'घुर्र' कर रही है और शिशु तो उसके खुले मुखमें पञ्जे डालकर उससे खेलते, उसकी गतिको रुद्ध करते कुदक रहे हैं ।

× × ×

'मैं मानता हूँ कि शास्त्रीय ग्रन्थोंमें पशु-बलिके विधान हैं।' सुनन्द पण्डितने शान्त स्वरमें कहा—'परंतु ऐसे वचन पर्याप्त मिलते हैं जो बतलाते हैं कि ऐसे विधान विधिवाक्य नहीं हैं।'

'विधि-वाक्य नहीं हैं ? आप कहना क्या चाहते हैं ?' पण्डित-समाजमेंसे एकने तर्क किया—'विधान तो सदा विधि-वाक्य होता है।'

'ऐसा नहीं है, रोगीके लिये अनेक बार ऐसी ओषधिका विधान होता है, जो सबके लिये उपयुक्त नहीं होती। हानिकर भी हो सकती है।' सुनन्द पण्डित आजकी मण्डलीमें अकेले हैं। वे भी अन्य श्रद्धालु ब्राह्मणोंके समान भगवती विन्ध्य-वासिनीको नवरात्रमें दुर्गापाठ सुनाने आये हैं। परंतु वे बलि-प्रथाके समर्थक नहीं, इससे उनको प्रायः अन्य वर्ग व्यङ्ग सुनाया करता है और आज महाष्टमीका पाठ पूर्ण करके तो सबने उन्हें मण्डपमें ही घेर लिया है।

'हम सब रोगी हैं ?' एक युवकने पूछा।

'शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पशु-बलिका विधान हिंसाको नियन्त्रित करनेके लिये है।' सुनन्द पण्डितने युवकके प्रश्नका उत्तर न देकर अपनी बात स्पष्ट की। 'जो मांसाहारके बिना न रह सकते हों, उन राजस-तामस पुरुषोंकी हिंसावृत्ति अनर्गल पशुहत्या न करे, इसलिये उन्हें शास्त्रने आज्ञा दी कि वे भगवतीका सविधि पूजन करके, प्रोक्षित पूजित पशुकी बलि दें और केवल उसीका मांस प्रसाद मानकर ग्रहण करें।'

'परंतु जो मांसाहारी नहीं हैं, वे महाशक्तिकी पूजा ही न करें।' युवकने उत्तेजित होकर कहा।

'महाशक्ति जगन्माता, जगज्जननी हैं। उनकी पूजा तो प्रत्येकको करनी चाहिये !' सुनन्द पण्डितने केवल दृष्टि उठाकर देखा भगवती विन्ध्यवासिनीकी ओर—'किंतु जगन्माताकी पूजा उनके शिशुओंके रक्त-मांससे नहीं हुआ करती। माता रक्ताशना नहीं और न वह पशुबलिसे प्रसन्न होती है।'

'आपको तो वैष्णव होना चाहिये था।' एक अन्य पण्डितने व्यङ्ग किया—'व्यर्थ आते हैं आप विन्ध्याचल।'

'मैं व्यर्थ तो नहीं आता। माताके श्रीचरणोंमें अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आता हूँ और जानता हूँ कि शिशुकी मुट्ठीकी धूलिसे भी माँ प्रसन्न होती है।' अब सुनन्द पण्डितके नेत्र भर आये थे—'परंतु मुझे खेद होता है कि हम यहाँ भगवती कौशिकीके सम्मुख बैठकर पशुबलिकी चर्चा करें। विन्ध्याचलकी त्रिकोणमात्रामें भगवती विन्ध्यवासिनी महाशक्ति कौशिकी महालक्ष्मी-स्वरूपा हैं, यह जानकर भी विद्वद्वर्ग·····।'

'तो आप महाकाली चामुण्डाको भी बलि देना बंद कर देना चाहते हैं ?' एक साँवले रंगके पण्डितने पूछा।

'यदि मेरी बात आप सब मान सकें।' सुनन्द पण्डितने स्थिर स्वरमें कहा—'इससे देवी चामुण्डा रुष्ट नहीं होंगी। उन्हें परम संतोष होगा।'

'हम आपकी बात मान लेंगे यदि आप भैरव स्वामीको मना सकें।' युवकने व्यंग किया—'आज रात्रिके द्वितीय प्रहरमें कालीखोह चले जाइये। भैरव स्वामी आज महाबलि अर्पित करेंगे।'

'मैं प्रयत्न करूँगा।' सुनन्द पण्डितकी बातने सबको चौंका दिया। यह वृद्ध ब्राह्मण सच्चा है और हठी है। कहीं सचमुच कालीखोह चला गया·····।'

'आप मुझे क्षमा करें !' युवकने तो हाथ जोड़े—'मैंने केवल व्यंग किया। आप जानते ही हैं कि भैरव स्वामी वीर-प्राप्त सिद्ध हैं और उग्र कापालिक हैं।'

'शुम्भ-निशुम्भका मर्दन करनेवाली जगन्माताके हम पुत्र हैं।' सुनन्द पण्डितने युवककी ओर देखा—'आप कातर क्यों होते हैं ? वहाँ देवी चामुण्डा भी माताकी ही शक्ति हैं और भैरव स्वामी तो उनके सेवकमात्र हैं—पथभ्रष्ट सेवक ! मैं चेष्टा करूँगा कि वे सत्पथ देख सकें।'

'आजकी महाबलि बना यह ब्राह्मण !' पण्डितसमाजमें क्षोभ और दुःख दोनों था। सुनन्द पण्डितको वे समझाकर हार गये। इतना साहस किसीमें नहीं था कि उनके साथ रात्रिमें कालीखोह जा सके। उग्र कापालिककी शक्ति—वह तो पूरे नगरकी बलि दे सकता है। जान-बूझकर मृत्युके मुखमें कौन जाय।

रात्रिके प्रथम प्रहरके बीत जानेपर सुनन्द पण्डित जब चलने लगे, उन्हें महादेवकी वृद्धा माता मिली। वह पुकार रही थी—'महादेव ! महादेव ! अरे कहाँ चला गया ?'

पण्डित ध्यान न देते हुए उसकी पुकारपर 'कहीं गया होगा महादेव, अभी कौन इतनी रात बीती है कि बुढ़िया उसके लिये चिन्ता कर रही है, सोचते हुए आगे बढ़ गये। किंतु कुछ आगे महादेवके अखाड़ेका एक युवक मिला। उसने कहा—'महादेव गुरु

आज वनकी ओर जा रहे थे। पता नहीं क्या हुआ था उन्हें। मैंने बहुत पुकारा; किंतु बोलते ही नहीं थे।

'कालीखोहकी ओर तो नहीं गया?' सुनन्द पण्डितने पूछ लिया।

'जाते तो उसी मार्गपर थे।' उत्तर मिला और सुनन्द पण्डितके पैरोंमें लगभग दौड़ने-जैसी गति आयी। युवक उन्हें आश्चर्यसे देखता रह गया। 'महाष्टमी·····महाबलि··· महादेव···उग्र कापालिक भैरव स्वामी·····!' विचारोंका अंधड़ चल रहा था वृद्ध पण्डितके मस्तिष्कमें और महादेवको पुकारती वह वलीपलित, क्षीणदृष्टि, नमितकाय उसकी वृद्धा माता उन्हें बार-बार स्मरण आ रही थी।

× × ×

'उसे क्या देखता है। वह सिंहनी तो शिशुओंके साथ महाबलिके प्रसादका थोड़ा-सा रक्त चाट लेनेकी तृष्णा लिये आयी है।' भैरव स्वामीने हाथकी सर्षप एक ओर फेंक दी कुछ ओष्ठ हिलाकर और गरज उठे—'अब देख इसे।'

आधे पलमें एक पूरा नर-कंकाल कहींसे आ खड़ा हुआ। कंकालमें न चर्म था, न स्नायु, न अँतड़ियाँ। मनुष्यकी हड्डियोंका पूरा कंकाल और चलता-फिरता सजीव। उसके दोनों नेत्रोंके गड्ढे अग्निके समान जल रहे थे।

'बस! यह वेतालमात्र तुम्हारी शक्ति है?' सुनन्द पण्डितमें न कम्प आया, न भय, न हिचक। चामुण्डा पीठकी ओर एक बार दृष्टि करके फिर उन्होंने देखा दूर पीछेकी ओर भैरव मूर्तिको—'इसका स्वामी तो वह खड़ा है दण्ड लिये और तुम्हारा यह 'वीर' जानता है कि मेरी ओर देखनेका साहस यह करे तो भैरवका कालदण्ड इसकी कपालक्रिया कर देगा। माताके सामने उसका यह गण·····।'

'देख महादेव आ रहा है!' इन कुछ क्षणोंमें भैरव स्वामीने दूसरी बार सर्षप फेंक दी—'तू मन्त्रज्ञ है, वृद्ध है, ब्राह्मण है। मैं तुझे दया करके छोड़ देता हूँ। इस वीरको अपनी वाम भुजा काटकर दे दे और चुपचाप चला जा यहाँसे।' खड्ग उठाकर स्वामीने सुनन्द पण्डितकी ओर बढ़ाया।

'महादेवको माता बुलाती है, उसे कोई लौटा नहीं सकता।' पण्डितके स्वरमें दृढ़ विश्वास था। आपने मन्त्र सिद्ध किये हैं, मैं तो माताका नाम जानता हूँ जो सबसे महान् मन्त्र है!'

'तू मानेगा नहीं!' दाँत पीसकर भैरव स्वामीने सर्षप उठायी, उनके ओष्ठ हिले और सर्षप उस कंकालपर गिरी।

'माँ! चामुण्डे!' साथ ही पुकारा पण्डितने देवीपीठकी ओर देखकर।

जैसे पूरा विन्ध्यगिरि फट पड़ा हो। भीषण शब्द और ऐसी प्रचण्ड ज्वाला जो पूर्ण ज्वालामुखीके फटनेपर भी दृष्टिमें न आ सके। परंतु पण्डित प्रमत्त नहीं थे। वे विद्युत्के समान भैरव स्वामीको अपने पीछे करके आराध्यपीठके सम्मुख गिरे और पुकार उठे—'माँ! क्षमा कर दे इस साधुको।'

करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा, विश्वभीषणा, चामुण्डा अपने आराध्यपीठपर जिह्वा लप्लप् करती प्रत्यक्ष खड़ी थीं। उनके हाथका उठा खेटक स्तम्भित हो गया था।

'माँ! तेरी यह कालीखोह अब किसी निरीह मानव या पशुके रक्तसे अपवित्र न हो!' सुनन्द पण्डितने उठकर अञ्जलि बाँधी और वरदान माँगा। 'तू इस साधुको क्षमा कर दे और शान्त हो जा!'

'जो तेरी इच्छा!' देवीकी वह मूर्ति जब अन्तर्हित हो गयी, तब सुनन्द पण्डितने घूमकर देखा—भैरव स्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं। उनके मस्तकसे कुछ रक्त निकल आया है। अबतक खोहके एक कोनेमें अपराधी कुत्तेके समान दुबका बैताल आगे बढ़ आया। उसने आधे पलमें अपनी काली जिह्वासे भैरव स्वामीके मस्तकसे निकला रक्त चाट लिया और अदृश्य हो गया।

भैरव स्वामी उठे एक अशक्त पुरुषके समान। सुनन्द पण्डितके पीछे मस्तक झुकाये वे चल पड़े। खोहसे निकलते-निकलते सिंहनीकी ओर देखकर पण्डितने फिर भैरव स्वामीकी ओर देखा और बोले—'देवि! तुम्हारा भाग तो बैताल चाट गया। अब तुम वनमें अपने आहारका अन्वेषण करो।'

× × ×

भैरव स्वामी फिर विन्ध्याचलमें देखे नहीं गये। विन्ध्याचलकी शाक्तमण्डली सुनन्द पण्डितके तर्क मान लेगी, यह आशा तो कभी नहीं थी; किंतु कालीखोहमें बंद हो गयी और बंद है।

कामके पत्र

(१)

सबमें भगवान् हैं

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें । हमलोगोंका जन्म भारतवर्षमें हुआ है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है इसलिये हमारा सौभाग्य है । भगवान्‌की यह हमपर बड़ी कृपा है, इसमें कोई संदेह नहीं । परंतु भगवान्‌के लिये तो भारत और भारतेतर सभी देश—अनन्त ब्रह्माण्डका प्रत्येक स्थान समान है तथा सब स्थानोंके निवासी चराचर सभी जीव उनके अपने हैं । सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌की दृष्टिमें उनके अपने सिवा और कुछ है ही नहीं—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' ।

हम यदि अपनेको भगवान्‌की संतान मानें तो जीव-मात्र सभी उनकी प्रिय संतान हैं । वे ही सबके एक-मात्र परम पिता या वात्सल्यमयी माता हैं । माता-पिता-को अपने सभी बालक प्रिय होते हैं । उनका सभीपर स्नेह और वात्सल्य है । वे सभीका हित चाहते हैं और सभीको सुखी बनाना चाहते हैं । इस दृष्टिसे जगत्‌के हम सभी जीव परस्पर भाई-बहिन हैं, फिर चाहे हम भारतमें जन्मे हों या यूरोपमें, अमेरिकामें अथवा ईरान-अफगानिस्तानमें एवं हम सभीको परस्पर एक-दूसरेके हितकी इच्छा करनी चाहिये और एक दूसरेको सदा सुख पहुँचानेका प्रयत्न करना चाहिये । जिनका हृदय वात्सल्यसे भरा है, वे माता-पिता उस पुत्रपर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं, जो अपने दूसरे भाई या भाई-बहिनोंको दुखी देखकर, उन्हें दुखी बनाकर, सुखी होना चाहता है । 'हिंदू सुखी रहें और सब सुखसे वञ्चित हों; भारतवासी सुख-सम्पन्न रहें, अन्य देश-वासी दुःख भोगें; मनुष्य सुखी हों, इतर प्राणी सुख प्राप्त न करें । बल्कि सभीका सुख उनसे निकलकर हमारे पास आ जाय, उनका दुःख ही हमारा परम सुख बन जाय ।' ऐसी भावना कितनी पापमयी है और परम पिता भगवान्‌को कितना अप्रसन्न करनेवाली है, इसपर जरा गहराईसे विचार करें ।

हमारे यहाँ तो यह सिद्धान्त माना गया है और यह सत्य है कि चराचर सभी रूपोंमें—अखिल जगत्‌के रूपमें हमारे भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं । सब वही हैं या सब उन्हींके शरीर हैं—वे सबमें सदा समान-भावसे विराजमान हैं । अतएव किसी भी जीवको सुख पहुँचाना उनको सुख पहुँचाना है, किसीकी सेवा करना उन्हींकी सेवा करना है । किसीको प्रणाम करना उन्हींको प्रणाम करना है और इसी प्रकार किसीको दुःख पहुँचाना, किसीकी हानि करना और किसीका तिरस्कार करना उन्हींको दुःख पहुँचाना, नुकसान पहुँचाना और तिरस्कृत करना है । वेदका पवित्र आदेश है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(शुक्लयजु० ४० । १)

इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है, उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो । आसक्त मत होओ । धन किसका है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(११ । २ । ४१)

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सभी

भगवान्‌के शरीर हैं। ऐसा समझकर जो कोई भी मिले, उसे अनन्यभावसे प्रणाम करे।

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

जो सर्वत्र (सम्पूर्ण प्राणियोंमें) मुझको देखता है और सब (प्राणियोंको) मुझमें देखता है उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।

इन सब शास्त्रवाक्योंपर ध्यान देकर हमें ऐसा बनना चाहिये कि जिससे हमारी क्रियामें, हमारे वचनमें और हमारे मनमें भी कभी किसीके अहितकी कल्पना भी न आवे; किसीको दुखी देखकर सुखी होनेका असत् तथा पापमय संकल्प कभी न उठे। यह निश्चय मान लेना चाहिये कि जिससे दूसरेका अहित या उसको दुःख होगा, उससे हमारा हित या हमको सुख कभी हो ही नहीं सकता। उचित तो यह है कि अपने पास जो कुछ सुख-सामग्री हो, उसे, जहाँ उस सुख-सामग्रीके अभावसे दुःख फैला है, वहाँ बाँटते रहें। उनकी अपनी वस्तु समझकर आदरपूर्वक उनको देते रहें और इसीमें अपनेको तथा उस सुख-सामग्रीको धन्य समझें। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द मया तुभ्यं समर्पयेत्।' शेष भगवत्कृपा।

(२)

मानवताकी रक्षा

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। मेरी समझसे मनुष्य पहले मनुष्य है, फिर वह किसी सम्प्रदायका अनुयायी है। जिस मनुष्यने अपने मनुष्यत्वको खो दिया, वह किसी विशिष्ट सम्प्रदायका अनुयायी भी कैसे माना जा सकता है। सत् सम्प्रदाय तो वस्तुतः मनुष्योंके ही होते हैं। मनुमहाराजने मानवके लिये दस धर्म बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६। ९२)

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीकी वृत्तिका अभाव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।*

जिनमें ये गुण मौजूद हैं और जो इन गुणोंके सम्पादनमें लगा हुआ है, वही मानव है। जो दूसरेका बुरा चाहता है, बुरा करता है, सम्प्रदायभेदसे द्वेषयुक्त होकर किसीसे घृणा करता और उसके धर्मपर आक्षेप करता है, वह तो मानवतासे गिरता है। उसे धर्मात्मा कैसे माना जाय।

किस धर्ममें भगवान्‌का क्या स्वरूप माना गया है, सृष्टिके निर्माणका क्या क्रम माना गया है। इसको लेकर झगड़नेकी आवश्यकता साधारण मनुष्यको नहीं है। इसका तर्क-वितर्क या तो गम्भीर विचारवाले दार्शनिक कर सकते हैं या झगड़ालू प्रकृतिके लोग। साधारण मनुष्य तो अपने सीधे मार्गसे चलता रहे। खण्डन-मण्डनमें पड़े ही नहीं। यही उसके लिये सुभीतेकी बात है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रक्खे कि उसके उस मार्गमें चलनेसे मनुकथित उपर्युक्त दस मानवधर्म अथवा श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी सम्पत्तिके गुण कम तो नहीं हो रहे हैं। यदि वे कम हो रहे हैं तो अपने मार्गपर विचार करना चाहिये और जिस किसी सत्पुरुषपर श्रद्धा हो, उससे पूछकर मार्गकी भूल-को मिटानेका प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, चुपचाप अपने मार्गपर चलते रहना चाहिये।

* इनकी विशेषरूपसे व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'मानव-धर्म' नामक पुस्तक कहींसे खरीदकर ध्यानसे पढ़नी चाहिये। मूल्य ≈) है।

आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीरामका या विष्णुभगवान्‌का ध्यान करनेके समय यदि श्रीकृष्णका ध्यान होने लगे तो आपको यही मानना चाहिये कि भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं। इनके लीलास्वरूप भिन्न हैं, तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है। भगवान् इस सिद्धान्तका निश्चय करानेके लिये ही श्रीकृष्णरूपमें मेरे ध्यानमें आये हैं। साधकको सदा सावधान रहना चाहिये—न तो वह अनेक भगवान् माने और न भगवान्‌के किसी रूपको भगवान् न माने। वह यदि श्रीरामके स्वरूपका उपासक है तो यह माने कि मेरे भगवान् श्रीराम ही कहीं विष्णुरूपमें, कहीं शिवरूपमें, कहीं श्रीकृष्णरूपमें, कहीं गणेशरूपमें, कहीं सूर्यरूपमें, कहीं जगदम्बारूपमें और कहीं नाम-रूपरहित निर्गुण निराकार निर्विशेषरूप-से उपासित होते हैं। इसी प्रकार श्रीविष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, गणेश, सूर्य, देवी और निराकार निर्गुणके उपासक समझें। हम भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना करते हैं, वही भगवान् हैं, दूसरे लोगोंके उपास्यरूप भगवान् नहीं हैं, ऐसा मानते हैं तो हमारे भगवान् हमारी उपासनाकी सीमातक ही रह जाते हैं। हम स्वयं ही अपने भगवान्‌को छोटा बना लेते हैं और यदि यह मानें, अलग-अलग सब भगवान् हैं तो भगवान् अनेक हो जाते हैं, कोई भी एक भगवान् नहीं रहते। अतएव अनन्यताका यही भाव है कि उपासना भगवान्‌के एक ही नाम-रूपकी करें और भगवान्‌के दूसरे सब नाम-रूपोंको उन्हीं भगवान्‌के नाम-रूप समझें। किसीका विरोध नहीं, खण्डन नहीं और अपने उपास्यमें नित्य अनन्यनिष्ठा।

परंतु जान-बूझकर इष्टके स्वरूप और नामको बार-बार बदलना नहीं चाहिये। इससे मनकी एकाग्रता तथा इष्टनिष्ठामें बाधा आती है। तत्त्वतः एक मानते हुए ही, यथासाध्य एक ही स्वरूपको सर्वोपरि परम इष्टदेव मानना तथा सदा-सर्वदा उसीके नामका जप करना चाहिये। इससे साधनमें सुविधा होती है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

हृदयपरिवर्तन तथा प्रेमप्राप्तिका साधन

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। आपने अपने घरकी परिस्थिति लिखी सो अवश्य ही शोचनीय है। इस परिस्थितिके सुधारके लिये आपको मेरी समझसे यह करना चाहिये। आपको जो घरके सब लोगोंमें दोष दिखायी देते हैं, पहले इसपर विचार करें। क्या आप यह समझते हैं कि उन्हीं लोगोंका सारा दोष है, आप सर्वथा निर्दोष हैं? गहराईसे देखनेपर आपको अपने दोष भी दिखायी देंगे, एक दोष तो यह प्रत्यक्ष ही है कि आप केवल उन्हींको दोषी मानते और ठहराते हैं। जो यह निश्चय कर चुकता है कि दूसरे ही दोषी हैं, उसकी अपने दोषोंकी ओर दृष्टि जाती ही नहीं। उधर वह देखना जानता ही नहीं। अतएव दूसरोंके दोष देख-देखकर वह जलता-भुनता रहता है। उसमें घृणा-द्वेष तथा क्रोध-हिंसाके भाव बढ़ते रहते हैं और उन्हीं भावों-के अनुसार उसकी क्रिया होती है। वह वाणीसे उनके दोषोंका वर्णन करता है, उनकी निन्दा-चुगली करता है; उन्हें गिराने या दण्ड प्राप्त करानेकी इच्छा और चेष्टा करता है। फलतः दूसरी ओरसे भी वैसी ही चेष्टा होती है एवं कलह भयानक रूप धारण करके सबको दुखी कर देता है। अतएव आप अपने दोषोंकी ओर देखने-की चेष्टा करें। उनके दोषों, अवगुणोंकी ओर न देखें। वे 'अपने कर्तव्यपालनमें त्रुटि ही नहीं करते हैं, कर्तव्य-के विपरीत अन्याय कार्य करते हैं'—ऐसी बात न सोचें। उनसे सुखकी आशा ही न करें और उनके प्रति आपका

जो कर्तव्य हो, उसे सावधानी तथा उदारताके साथ पूरा करें। उनको सुख हो, इस बातका ध्यान रक्खें तो सम्भव है, कुछ दिनोंमें उनका हृदय बदल जाय और उनसे आपको सद्व्यवहार प्राप्त होने लगे।

एक बात और विचारणीय है। जिसको घरमें, घरवालोंसे, सम्बन्धियोंसे अधिक सुख-सुविधा मिलती है, उसकी सहज ही घरमें तथा घरवालोंमें आत्मीयता तथा आसक्ति बढ़ जाती है और आसक्तिमें फँसा हुआ मनुष्य संसार-सागरसे तरनेकी इच्छा ही नहीं करता। अतएव आपको इसे भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये कि जो ऐसी परिस्थिति प्राप्त हो गयी, जिससे आपको घरवालोंकी मोह-ममतासे युक्त होकर वैराग्यसाधनका और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका सुअवसर मिला। इसके लिये भगवान्‌का कृतज्ञ होना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थितिद्वारा लाभ उठानेवाला ही बुद्धिमान् है। किसीके प्रति घृणा, द्वेष, क्रोध नहीं करना चाहिये; न कभी किसीका बुरा ही चाहना चाहिये। वरं शान्तिके साथ पता लगाना चाहिये कि मुझमें ऐसा कौन-सा दोष है या कौन-सी ऐसी भूल है, जिससे इन लोगोंके मनमें बार-बार क्षोभ पैदा होता है। भगवान्‌से प्रार्थना करके यदि आप सच्चे हृदयसे अपनी भूलको जानना चाहेंगे तो आपकी भूल आपके सामने आ जायगी और फिर, भूलके जान लेनेपर प्रतिज्ञा करके आप उस भूलको मिटानेमें लग जाइये। असली बात तो यह है कि भूलको भूल जाननेसे ही भूल मिट जाया करती है। परंतु यदि आदतमें कोई दोष हो तो उसका विरोधी अभ्यास करके उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न कीजिये। आप ऐसा करेंगे तो उन लोगोंके क्षोभकी जड़ ही कट जायगी। यों आप अपनेको तथा घरभरको पाप-तापके गहरे समुद्रमें डूबनेसे बचा लेंगे। आप सुखी हो जायँगे और भगवान्‌का आशीर्वाद तो आपको प्राप्त होगा ही।

याद रखिये—हृदयका शुभ परिवर्तन तथा प्रेमका और परिणाममें दिव्य आनन्दका प्रादुर्भाव किसीके दोष-दर्शन, दोषकथन, दोषचिन्तन अथवा घृणा या द्वेष-बुद्धिसे कभी नहीं हो सकता। वह तो त्याग, सेवा तथा नम्रतापूर्ण सत्य तथा हितयुक्त सद्व्यवहारसे ही होता है—शेष भगवत्कृपा।

प्रभु राम वही घनश्याम वही

(रचयिता—श्रीसूर्यबलीसिंहजी दसनाम, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

जगदीश जनार्दनकी जगती, जगती जिसकी जग-ज्योति निराली।
जिसके सुर सेवक हैं शशि सूर्य शचीश अहीश सतीश कपाली॥
विधि जो बनके रचता रहता निशिवासर सृष्टि चराचरवाली।
करता रहता प्रतिपालन-लालन जो बन विष्णु पराक्रमशाली॥
करमें कर काल प्रचण्ड अखण्ड किया यमको जिसने बलशाली।
गति मारुतको मति भारतिको धृति दे करके जिसने क्षिति पाली॥
अखिलेश अनादि अनन्त अनूप अगोचर गोचर भी छबिशाली।
रघुवीर वही यदुवीर शरासन बाण लिये मुरली रसवाली॥
पृथिवी-द्विज-धेनु-हितार्थ सदा अवतार उदार वही धरता है।
अघपूर्ण अधर्म-भरे जनका वध दिव्य कला-बलसे करता है॥
रख धर्म महीपर, भूमि भली कर खेल दिखा मनको हरता है।
रण-वीर हुए रणमें डटता, रस-वीर हुए रससे भरता है॥
परब्रह्म कभी शिव-रूप कभी विधि-रूप बना सबको रचता है।
हरि विश्वविमोहन पालन शंख गदाम्बुज चक्र लिये करता है॥
दशभाल-निकन्दन श्रीरघुनन्दनकी न कहीं जगमें समता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही बलराम यही मनमें जमता है॥
सब ठौर स्वयम्भु विराज रहा जलमें थलमें नभमें बसता है।
नर नाहर नाग सुरासुर किन्नर वानर कासरमें लसता है॥
पशुमें खगमें कणमें अणुमें द्युति पावक आतपमें तपता है।
प्रभु राम वही घनश्याम वही 'दसनाम' निरंतर यों जपता है॥

भद्रा मुद्रा

(लेखक—श्रीजशवन्तराय जयशङ्कर हाथी)

श्रीआदिशंकराचार्य अपने 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रमें' गा रहे हैं—

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तःस्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

श्रीभोलानाथ, आशुतोष भगवान् शङ्करने दक्षिणा-मूर्ति-स्वरूप धारण किया, इस सम्बन्धमें कथा है—

भारतकी संस्कृतिका स्रोत बहानेवाले केन्द्रोंमें सर्व-प्रधान श्रीनैमिषारण्यमें वर्षोंतक चलनेवाले सत्रयज्ञ हुआ करते थे। 'स्वाहा, स्वाहा'की ध्वनिके साथ-साथ इतिहास-पुराणकी पावन कथाओंके प्रसङ्ग भी वहाँ चला करते थे। बालवयस्क सूत पुराणी कथा कहनेवाले और आबालवृद्ध ऋषि-मुनि सामान्यजन कथा सुननेवाले। उपदेशक महोदय बीच-बीचमें 'अयि बालाः समाहिता भवन्तु' की टेक लगाते रहते थे। कुछ वृद्ध मुनिगण एक बार इस टेकके पुनरावर्त्तनसे रुष्ट हो गये और वे विष्णुभगवान्‌के पास शिकायत करने गये। 'वृद्धोंको बालक कहना क्या उचित है?' यह प्रश्न भगवान्‌से पूछा। श्रीभगवान्‌ने कहा—'इसका उत्तर ब्रह्माजी देंगे।' सब वहाँ गये। श्रीब्रह्माजीने कहा—'अपने डमरूनादद्वारा जिन्होंने विद्याओंका प्रचार सर्वप्रथम किया, वे शिवशंकर ही इसका निराकरण कर सकते हैं।' मुनिगण कैलासको गये।

सदाशिव योगी ठहरे। उन्होंने अपने रुद्ररूपको त्यागकर 'दक्षिणामूर्त्ति'का सौम्य जगद्गुरु रूप धारण कर लिया और एक विशाल वटवृक्ष-तले वे दक्षिण हस्तमें भद्रामुद्रा और वाम हस्तमें त्रिशूल लेकर मौनव्रतधारी हो समाधिस्थ बैठ गये।

मुनिगण वृक्षकी सघन छायामें बैठ गये और शिवजीके समाधिसे जाग्रत् होनेकी राह देखते रहे। बैठे-बैठे वे आपसमें इस दृश्यपर विचार भी करने लगे—

सौम्य स्वरूप, समाधिस्थ, मौन! फिर भी दक्षिण हस्तकी तीन अँगुलियाँ अलग और जुड़ी हुई एवं दूसरी ओर प्रथमा अंगुलीका अग्रभाग अंगुष्ठके अग्रसे मिला हुआ है। इस भद्रा मुद्रासे कोई सांकेतिक उपदेश तो नहीं दिया जा रहा है। विचारधारा और आगे बह चली।

तीन ताप, तीन गुण, तीन अवस्था, तीन आयु—इन सारी त्रिपुटियोंको पार करके, 'अ उ म' की तीक्ष्ण त्रिशूल-धारसे छेदन करता हुआ, जो जीवात्मा एकाग्र चित्त होकर परमात्मा—अंगुष्ठमात्रपुरुषः—की ओर झुक नहीं जाता, वह उपदेश सुनते हुए भी अबोध ही है। इसलिये वह 'बाल ही है।' हम यदि कथारसमें तल्लीन होते तो 'अयि बालाः' का नाद हमारे कानोंका स्पर्श करनेपर भी, हम उसे सुनते ही नहीं। और न हमें रोष आता।

वाह री संकेत करनेवाली मुद्रा भद्रा—कल्याण-कारिणी मुद्रा। गुरु मौन, फिर भी शिष्योंका संशय छिन्न हो गया।

नीचेके श्लोकोंमें इसी चित्रकी झाँकी भलीभाँति झलक रही है—

वटविटपसमीपे भूमिभागे निषण्णं
सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात्।
त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्त्तिदेवं
जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि॥
चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥
ॐ नमः प्रणवार्थाय शुद्धज्ञानैकमूर्त्तये।
निर्मलाय प्रशान्ताय दक्षिणामूर्त्तये नमः॥
निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम्।
गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्त्तये नमः॥

सरल, सुन्दर, सचित्र, सस्ती, बालोपयोगी शिक्षाप्रद पुस्तकें

१–**पिताकी सीख**–लेखक श्रीहनुमानप्रसाद गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, पृष्ठ-संख्या १५२, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।=)

२–**बड़ोंके जीवनसे शिक्षा**–आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या ११२, सुन्दर रंगीन टाइटल, मूल्य ।=)

३–**पढ़ो, समझो और करो**–छोटी-छोटी शिक्षाप्रद ९१ घटनाओंका संग्रह, पृष्ठ १४८, मूल्य ।=)

४–**चोखी कहानियाँ**–उपदेशप्रद और मनोरञ्जक ३२ कहानियाँ, आकार २०×३० आठ-पेजी, पृष्ठ-संख्या ५२, सुन्दर तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।-)

५–**उपयोगी कहानियाँ**–सुन्दर उपदेशप्रद ३५ कहानियाँ, पृष्ठ-संख्या १०४, दोरंगा मुखपृष्ठ, मू० ।-)

६–**भगवान श्रीकृष्ण [भाग १]**–श्रीकृष्णकी मधुर तथा अद्भुत लीलाओंका मनोरञ्जक वर्णन, पृष्ठ-संख्या ८८, १२ सादे तथा १ बहुरंगा चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।-)

७–**भगवान श्रीकृष्ण [भाग २]**–कंस-वधके आगेकी लीलाओंका वर्णन, पृष्ठ ६४, १ बहुरंगा तथा १० इकरंगे चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।-)

८–**भगवान राम (भाग १)**–रामायणके आधारपर भगवान रामकी आदर्श लीलाओंका सुन्दर रुचिकर वर्णन । पृष्ठ-संख्या ५२, तिरंगा १ तथा ७ इकरंगे चित्र, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।)

९–**भगवान राम (भाग २)**–वनवासके आगेकी लीलाओंका सुन्दर वर्णन । १ तिरंगा तथा ७ इकरंगे चित्र, पृष्ठ ५२, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।)

१०–**बालकोंकी बातें**–बालकोंके लिये बड़े कामकी चीज है । मोटे टाइप, पृष्ठ-संख्या १५२, तिरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .... ।)

११–**वीर बालक**–२० वीर बालकोंके जीवन-चरित्र, पृष्ठ ८८, मूल्य .... ।)

१२–**सच्चे और ईमानदार बालक**–पृष्ठ-संख्या ७६, सुन्दर टाइटल, मूल्य .... ।)

१३–**गुरु और माता-पिताके भक्त बालक**–गुरुभक्त तथा मातृ-पितृ-भक्त बालकोंके उपदेश-प्रद प्रसंग, पृष्ठ-संख्या ८०, सुन्दर रंगीन टाइटल, मूल्य .... ।)

१४–**वीर बालिकाएँ**–१७ वीर बालिकाओंके आदर्श चरित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य ... ≡)

१५–**दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ**–२३ छोटी-छोटी जीवनियाँ, पृष्ठ ६८, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य .... ≡)

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग । यहाँ आर्डर भेजनेके पहले स्थानीय विक्रेतासे माँगिये । इससे समय और खर्चकी बचत होगी ।

सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'तीर्थाङ्क'के लिये निवेदन

'कल्याण'का सन् १९५७ का प्रथमाङ्क 'तीर्थाङ्क' विशेषाङ्क निकाला जाय, ऐसा विचार पर्याप्त समयसे चल रहा है। सामग्री एकत्र हो गयी तो निकलना सम्भव भी है। इसके लिये बहुतसे तीर्थोंमें हमारे प्रतिनिधि गये भी थे; किंतु इतने महान् कार्यके लिये हमें आप सभीके सहयोगकी आशा है, जिससे 'तीर्थाङ्क' में सभी तीर्थयात्रियोंके उपयोगकी सामग्री दी जा सके। प्राचीन तीर्थ, संततीर्थ, जैनतीर्थ तथा बौद्धतीर्थ—इन सबका विवरण तीर्थाङ्कमें देनेका विचार है। इसके लिये आवश्यक सामग्री एवं जानकारी निम्नरूपोंमें आवश्यक है—

१—तीर्थका विवरण, वहाँके दर्शनीय मन्दिर, पवित्र सरोवर, कूप तथा नदी, घाट आदिका विवरण।

२—सम्भव हो तो मन्दिरों, उनके श्रीविग्रहों, सरोवर तथा घाटादिके छायाचित्र।

३—तीर्थका माहात्म्य, इतिहास और यदि वहाँके पवित्र स्थानोंसे सम्बन्धित कोई चमत्कारिक घटना हो तो उसका विवरण।

४—तीर्थमें या आस-पास किसी प्राचीन आचार्य या प्रसिद्ध संतकी बैठक, मठ या समाधि हो तो उसका विवरण एवं उस स्थानका छायाचित्र।

५—तीर्थके दर्शनीय स्थानोंकी परस्पर दूरी।

६—तीर्थसे निकटतम स्टेशनका नाम और वहाँसे तीर्थके मुख्य स्थानकी दूरी और पहुँचनेके साधन।

७—तीर्थ मोटर बसके मार्गपर हैं तो उसका विवरण।

८—तीर्थमें यात्रीके ठहरनेकी व्यवस्था। धर्मशाला आदिका विवरण और यदि उनमें कोई प्रतिबन्ध हो, जैसे कोई अमुकवर्गके ही लिये हो तो उसका उल्लेख।

९—तीर्थके मुख्य उत्सव एवं मेलोंका विवरण।

१०—वहाँके मन्दिरों आदिमें यदि विशेष पूजा-परिपाटी हो अथवा दर्शनके लिये कोई अनिवार्य फीस हो तो उसका विवरण।

११—उस तीर्थके आसपास जो दर्शनीय स्थान तथा मन्दिर तीर्थादि हों, उनका विवरण एवं उनकी दूरी और वहाँ पहुँचनेके साधन।

१२—यदि उस तीर्थसम्बन्धी साहित्य या चित्रादि कहीं मिल सकते हों तो उस स्थानका पता तथा ऐसे विद्वान्का पता जो वहाँके सम्बन्धमें विशेष जानकारी दे सकें।

हम सभी पाठकों विशेषतः तीर्थवासियों एवं मन्दिरोंके अध्यक्षों, ट्रस्टियों, सेवाधिकारियोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे आवश्यक जानकारी तथा सामग्री देकर हमारी सहायता करें। यह सब जानकारी हमें जूनके अन्ततक मिल जाय तो विशेष सुविधा रहेगी।

निवेदक—हनुमानप्रसाद पोद्दार 'सम्पादक'

कल्याण

वर्ष ३०] [अङ्क ९

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन सं० २०१३, सितम्बर १९५६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–अद्भुत बालक [कविता]	११५३
२–कल्याण ('शिव')	११५४
३–प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप [कविता]	११५५
४–क्या ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है ? (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)	११५६
५–भक्तकी रीति [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)	११५९
६–तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	११६०
७–विद्याका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके उपाय (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	११६१
८–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी-गोयन्दकाके पत्र)	११६४
९–कन्हैया, तेरी जय हो ! [कविता] (श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)	११७०
१०–तुम और मैं [कविता] ('अकिञ्चन')	११७१
११–वाल्मीकि-रामायणमें श्रीभरतका चरित्र (स्वर्गीय सम्माननीय श्रीश्रीनिवासजी शास्त्री)	११७२
१२–आस्तिक होनेकी आवश्यकता (श्रीमोहन-सिंहजी कोठारी)	११८०
१३–मनकी पीर हरो [कविता] (श्रीगोविन्द-जी, बी०-एस्-सी०)	११८०
१४–महान् विभूति बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराज (भक्त श्रीरामशरणदासजी)	११८१
१५–भक्तिसे परम शुद्धि (संकलित–श्रीमद्भागवतसे)	११८६
१६–हमारी पद-यात्रा भगवत्-प्रार्थनामात्र है (श्रीविनोबा—प्रे० श्रीदुर्गाप्रसादजी)	११८७
१७–त्रिभुवनके दीप कौन हैं? (संकलित-दोहावलीसे)	११८७
१८–परायी निन्दा (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	११८८
१९–गोवध अवश्य बंद होना चाहिये (श्रीजयप्रकाशनारायणजीका वक्तव्य)	११९१
२०–मनको सीख [कविता] (श्रीसूरदासजी)	११९२
२१–मेरा परिचय (एक कथित मस्त फकीर)	११९३
२२–मानसके रामकी झाँकी (पं० श्रीरूपनारायण-जी चतुर्वेदी)	११९४
२३–अनधिकारी [कविता]	११९७
२४–जपका रहस्य (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	११९८
२५–आनन्दकी खोज (पं० श्रीराजकुमारजी शर्मा एम्० ए०, प्रभाकर, साहित्यरत्न)	११९९
२६–भक्तकी चेतावनी [कविता]	१२०१
२७–धर्मके स्तम्भ (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)	१२०२
२८–भक्त श्रीरामचरित्रप्रसाद (श्री 'माधव' जी)	१२०६
२९–हमारे ठाकुर [कविता] (श्रीश्रीभट्टजी)	१२०८
३०–महान् उपहार [कहानी] (श्री 'चक्र')	१२०९
३१–दर्शनके लिये प्रार्थना [कविता]	१२१०
३२–अपना समाजवाद (पं० श्रीसूरजचन्द जी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')	१२११
३३–शिव-भक्त नीलांकर (श्रीविजय 'निर्बाध')	१२१२
३४–दही और स्वास्थ्य (डा० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी)	१२१४
३५–गोकुलके लोचन [कविता] (श्रीपरमानन्दजी)	१२१६

चित्र-सूची

१–भगवान् विष्णु बालरूपमें	तिरंगा ... ११५३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥≈)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

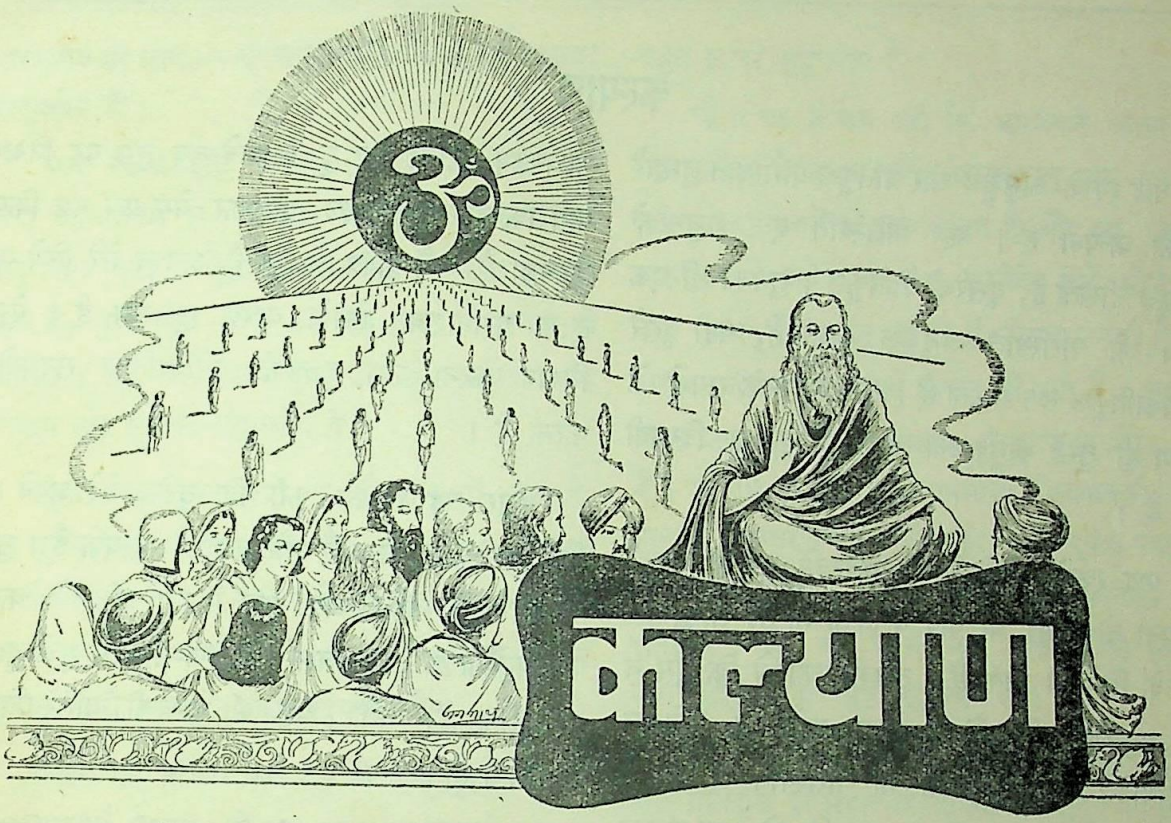

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१३, सितम्बर १९५६ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ३५८

अद्भुत बालक

नीलश्याम अद्भुत तेजोमय बालक कमलनयन भुज चार ।
चक्र-गदा दक्षिण-कर शोभित, वाम शंख-पंकजको धार ॥
कौस्तुभमणि श्रीवत्स वक्षपर उरमें रत्न-कुसुमके हार ।
अति सुन्दर पीताम्बर कटिमें करधनि मणिमय शोभा सार ॥
मणिवैदूर्य-महार्घ-विनिर्मित मुकुट शीश घुँघराले केश ।
चमक रहे अति सूर्य-रश्मि-से पाकर कुण्डल-कान्ति विशेष ॥
भुज अंगद राजत, कर कङ्कण, रत्नाभरण सुशोभित वेश ।
परम मनोहर रूप-माधुरी सुन्दरताकी सीमा-शेष ॥

कल्याण

याद रक्खो—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति तुम्हारे मनकी कल्पना है। वही परिस्थिति एक मनुष्यको अनुकूल दीखती है, दूसरेको प्रतिकूल। तुमको ही एक समय जो परिस्थिति अनुकूल लगती है, वही दूसरे समय प्रतिकूल लग सकती है। तुम्हारे मनके राग-द्वेषके कारण ही तुम्हें अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दिखायी देती है।

याद रक्खो—परिस्थितिके सम्बन्धमें तुम्हारे मनकी कल्पना तो है ही, पर यदि वे आती भी हैं, तो तुम्हारे लाभके लिये ही आती हैं। तुमको चाहिये कि तुम न तो अनुकूल परिस्थितिकी इच्छा करो, न प्रतिकूल परिस्थितिसे भय करो। जो भी परिस्थिति आ जाय, उसीसे लाभ उठाओ। विचार तथा क्रियाके द्वारा उसका सदुपयोग करके उसे अपने साधनमें सहायक बना लो।

याद रक्खो—संसारमें जिन वस्तुओंको तुम चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको, तथा जिनको नहीं चाहते उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको प्रतिकूल परिस्थिति मानते हो और जिन वस्तुओंको नहीं चाहते हो, उनके न मिलनेकी या चले जानेकी स्थितिको तथा जिनको चाहते हो उनके बने रहने और मिल जानेकी स्थितिको अनुकूल परिस्थिति मानते हो। असलमें दोनों ही तुम्हारी कामनाके आधारपर कल्पित मान्यता हैं। तथापि तुम्हारी बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इन दोनोंको ही अपने कार्यकी सफलतामें साधन बना लो।

याद रक्खो—तुम जिसको नहीं चाहते, उसके मिलनेका नाम तुम्हारी भाषामें दुःख है और जिसको चाहते हो, उसके मिल जानेका नाम सुख है। यह तो जानते-मानते ही हो कि दुःख पापका फल है और सुख पुण्यका। अतएव जब दुःख आवे तब तुम यह निश्चय करो कि दुःखरूपी फल भुगताकर मेरा पाप नष्ट किया जा रहा है—मैं पवित्र हो रहा हूँ, अतएव मेरे लिये यह दुःख पापनाशक होनेके कारण सुखरूप है। ऐसा निश्चय करना उस दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग करना है।

दूसरा यह निश्चय करो कि दुःख मेरे अपने ही किये हुए पापका फल है और बड़ा क्लेशदायक है। मुझे यह ज्ञान हो गया—अतः अब मैं इस जीवनमें 'कभी पाप करूँगा ही नहीं, जिससे भविष्य-जीवनमें मुझे दुःख प्राप्त होगा ही नहीं'। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

तीसरा यह निश्चय करो कि दुःखमें मुझे कितना भारी कष्ट होता है, इस अवस्थामें मैं सबसे सहायता और सहानुभूतिकी आशा करता हूँ; चाहता हूँ—कोई अपना सुख देकर मेरा दुःख मिटा दे। इसी प्रकार जिन लोगोंपर दुःख आया हुआ है, वे भी दुःखमें सहायता-सहानुभूति चाहते हैं, इस दुःखने मुझे यह सत्य दिखला दिया है। अतः अब मैं अपनी सुखकी स्थितिमें उस सुखको दुखियोंमें बाँट-बाँटकर उनके साथ सच्ची सहानुभूति दिखाकर उनके दुःखका हरण करके सुखी बनूँगा। यह भी दुःखकी परिस्थितिका सदुपयोग है।

चौथा यह निश्चय करो कि दुःखमें भगवान्‌की याद आती है तथा संसारसे विरक्ति-सी होती है, इसलिये भगवान्‌की याद दिलानेवाला तथा वैराग्य करानेवाला होनेके कारण यह दुःख मेरे लिये बड़ा ही मङ्गलमय है। इस दुःखकी स्थितिमें मैं भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका खूब स्मरण करूँ और अपना जीवन उनके अर्पण कर दूँ—इस प्रकार निश्चय करके भगवत्स्मरण करना और भगवान्‌के

शरणागत हो जाना—दुःखकी परिस्थितिका बहुत सुन्दर सदुपयोग है।

याद रक्खो—इसी प्रकार सुखकी परिस्थितिमें हर्ष तथा अभिमानमें न भरकर—प्रमाद न करके उसका सदुपयोग करो। ऐसा निश्चय करो कि सुख पुण्यका फल है, पुण्य पूरा होते ही यह सुख भी समाप्त हो जायगा। अतः मैं बराबर पुण्य कर्म ही करूँगा। यह निश्चय उस सुखका सदुपयोग है।

दूसरा यह निश्चय करो कि मेरे पास जो सुख है, यह दुखियोंकी अपेक्षासे ही है, अतः यह उन्हींकी सम्पत्ति है, अतः इस सुखको मैं उन्हींमें बाँटा करूँगा। यह निश्चय करके अपने सुखको दुखियोंमें बाँटकर उनको सुखी बनाओ। यह सुखका सदुपयोग है।

तीसरा यह निश्चय करो कि मैं इस सुखमें प्रमाद-वश सत्कर्म करना छोड़कर तथा भगवान्‌को भूलकर सुखोपभोगमें लग जाऊँगा तो—पुण्य क्षीण होते ही यह सुख तो चला ही जायगा। पर मैंने जो सुखोपभोगकी इच्छा तथा क्रियामें पाप कमाया, उसका बुरा फल अगले जन्मोंमें मुझे भोगना पड़ेगा तथा भगवान्‌के भूलनेसे मानवजीवन जो व्यर्थ गया, यह महान् हानि होगी। अतः मैं इस सुखको भगवान्‌की स्मृतिमें साधन बनानेके लिये इसे भगवान्‌के अर्पण करता रहूँगा तथा उन्हें सदा याद रक्खूँगा और जो पुण्यकर्म करूँगा, वह भी निष्काम-भावसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही। यह भी सुखका बहुत सुन्दर सदुपयोग है।

चौथा यह निश्चय करो कि भगवान्‌ने अपना परम विश्वासपात्र, ईमानदार और क्रियाकुशल जन समझकर मुझे अपनी सेवामें नियुक्त किया है और यह सुखरूप अपनी चीजें यथायोग्य सेवा करनेके लिये सौंपी हैं। वस्तु उनकी है, शक्ति उनकी है, प्रेरणा उनकी है और विश्वके जीवमात्रके रूपमें प्रकट भी वही हैं। मुझे तो केवल उन्होंने निमित्त बनाकर सेवकपदका गौरव दिया है। अतएव मैं इस सुखसामग्रीको भगवान्‌की वस्तु मानकर निरन्तर ईमानदारीके साथ परिश्रमपूर्वक यथायोग्य सावधानीसे उनकी सेवामें लगाता हुआ अपनेको धन्य समझूँगा। और यों करने लग जाओ। यह सुखकी परिस्थितिका बहुत श्रेष्ठ सदुपयोग है।

याद रक्खो—इस प्रकार सुख-दुःखका—अनुकूल-और प्रतिकूल परिस्थितिका सावधानीसे सदुपयोग करोगे तो वे तुम्हारे जीवनके असली उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो जायँगी। अतएव न किसी खास परिस्थिति-की इच्छा करो, न किसी प्राप्त परिस्थितिको बदलना चाहो। जो भी परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उससे लाभ उठाओ।

याद रक्खो—प्रत्येक परिस्थितिको—उसे अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर परमात्माकी माया समझो, उसे केवल देखते रहो और किसी भी परिस्थितिसे जरा भी प्रभावित न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित रहो, यह भी उनका श्रेष्ठ सदुपयोग है।

'शिव'

प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप

भगवान्‌ने दी जो परिस्थिति वही साधनरूप है,
विश्वास करके उसे बरतो, फल महान् अनूप है।
विश्वासहीन मनुष्यको सर्वत्र अन्धा कूप है,
विश्वाससे मिलते हरी विश्वास प्रभुका रूप है॥

क्या ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया ।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम् ॥
साक्षात् कृत्वापरिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम् ।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय ॥

(८२-८३)

'तत्त्वोपदेश' नामक ग्रन्थमें श्रीशङ्कराचार्य अपने शिष्यको साक्षात्कार—ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकी विधि बतलाते हुए सब बातें समझाकर उपसंहारमें कहते हैं—'शिष्य ! इस प्रकार साक्षात्कारके सम्बन्धमें श्रुतियोंके सिद्धान्तको साररूपमें मैंने तुमको बतलाया । अब इसी प्रकार अपनी बुद्धिके द्वारा यथार्थ निश्चय करके निदिध्यासन करो, उसको जीवनमें उतारो । फिर जिसमें द्वैतभावका सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसे अपने आनन्दरूप अविनाशी परब्रह्मका साक्षात्कार करके तुम स्वयं इसी जीवनमें—इस शरीरमें रहते हुए ही भलीभाँति मुक्त हो जाओ तथा विश्रान्तिको प्राप्त करके शान्तिका आश्रय करो—जीवन्मुक्त होकर विचरो ।'

इस प्रकार 'ईश्वर-साक्षात्कार' एक सत्य तत्त्व है । इतनेपर भी मनुष्योंको उसपर शंका हुए बिना नहीं रहती; क्योंकि जीवोंका यह स्वभाव है, उनको ऐसा विचार हुआ ही करता है कि क्या सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार होता है ? अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तो कहते हैं कि 'यह 'स्वयंविमोहन' (Auto-hypnotism) के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह तो अपने-आपको धोखा देनेके समान है ।' इस स्थितिमें आज हमलोग इस विषयपर विचार करेंगे ।

कुछ समय पहले एक संत हो गये हैं । वे श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी थे । उनकी कीर्ति आज भी सब ओर फैली है । इन महात्माके पास एक विद्वान्‌ने जाकर निम्नलिखित प्रश्न किया—

प्रश्न—महाराज ! आप तो समर्थ विद्वान् हैं, उच्चकोटिके भक्त हैं, साथ ही जीवन्मुक्तकी दशामें विचरते हैं; मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपको ईश्वर-साक्षात्कार हुआ है या नहीं ? यदि आपके समान समर्थ संतको भी आजतक ईश्वर-साक्षात्कार न हुआ हो, तो फिर मेरे-जैसे मनुष्यको तो होगा ही कहाँसे ? संक्षेपमें, मैं इतना ही जानना चाहता हूँ कि ईश्वरका साक्षात्कार किसीको हो सकता भी है या यह केवल मनका भ्रममात्र है (अंग्रेजीमें—Self-deception आत्म-प्रतारणा है) ?

उत्तर—भाई ! आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया । मैं आपको स्पष्ट शब्दोंमें जनाता हूँ कि मुझको ईश्वरका साक्षात्कार हो गया है और सदा-सर्वदा सर्वत्र मुझे उसीके दर्शन होते रहते हैं ।

प्रश्न—परंतु महाराज ! आपको सचमुच ही साक्षात्कार हुआ है, या साक्षात्कारका केवल आपका मानसिक भ्रम है ? इसका निश्चय कैसे हो ?

उत्तर—मानना न मानना तो आपकी इच्छापर निर्भर है, परंतु मुझे तो इतना निश्चय है कि इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भ्रम होना सम्भव है; क्योंकि वहाँ हमें अपने सीमित—मर्यादित शक्तिवाले साधनोंसे असीम, अनन्त और अगाध ब्रह्माण्डका ज्ञान प्राप्त करना है; उदाहरणके लिये—अमेरिकाके सुप्रसिद्ध 'स्मीट' दूरबीनसे प्राप्त ज्ञानमें भ्रमका रहना सम्भव है । कारण, आज यह दूरबीन सर्वोपरि मानी जाती है; परंतु भविष्यमें इससे भी अधिक शक्तिवाली दूरबीनका बनना और उसके द्वारा देखनेपर आजके ज्ञानका भ्रमयुक्त सिद्ध होना सम्भव है ।* परंतु ईश्वरके साक्षात्कारमें भ्रम होनेकी सम्भावना ही नहीं है । आप यहाँ मेरे सामने बैठे हुए जितने प्रत्यक्ष हैं, मेरे लिये इससे भी अधिक प्रत्यक्ष ईश्वर है । इसका कारण यह है कि आप शरीरसे दूर बैठे हैं, परंतु ईश्वरका अनुभव तो शरीरके रोम-रोममें होता रहता है । इससे बढ़कर स्पष्टीकरण और क्या होगा ?

---

* देखिये—आजतक वैज्ञानिकोंका ऐसा निश्चय था कि 'पृथ्वी सूर्यके आसपास घूमती है ।' हालमें इसपर शंका होने लगी है और कितने ही ऐसा मानने लगे हैं कि 'कदाचित् सूर्य पृथ्वीके आसपास घूमता हो ।' अनुसंधान चल रहे हैं और उनका परिणाम यदि निकला कि 'सूर्य घूमता है'—तो फिर 'पृथ्वी घूमती है' इस ज्ञानको भ्रममूलक ही कहा जायगा । इसी प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भ्रम हो सकना अनिवार्य है; क्योंकि हमारे साधन मर्यादित ही हैं, चाहे आज हम उन्हें पूर्ण मानते हों ।

प्रश्न—परंतु महाराज ! श्रुति तो कहती है कि 'अविज्ञातं विजानताम्' यानी जो यह कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार हो चुका है' उनको तो वह हुआ ही नहीं, इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इस श्रुतिवाक्यको मैं जानता हूँ और जाननेपर भी यह कहता हूँ कि मुझे सर्वत्र ईश्वरके ही दर्शन होते हैं। आप इस श्रुतिवाक्यका तात्पर्य नहीं समझते, इसीसे आपको इसमें विरोध भास रहा है, बस, इतनी ही बात है।

प्रश्न—तब क्या महाराज ! मेरे-जैसा मनुष्य भी सचमुच ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है ?

उत्तर—अवश्य, ईश्वरका साक्षात्कार करनेमें अमुक वर्णका ही अधिकार है, ऐसी बात नहीं है। अमुक आश्रमका अधिकार है, ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार पुरुष साक्षात्कार कर सकता है, स्त्री नहीं कर सकती, ऐसा भी कोई नियम नहीं है। वहाँ तो सबका समान अधिकार है; फिर आप क्यों नहीं कर सकते ?

बहुत-से लोग तो स्वयं ही अपनेको धोखा देते हैं। वे मुँहसे तो ऐसा कहते हैं कि 'हमें ईश्वरका साक्षात्कार करना है, पर साथ ही यह भी कहते हैं कि यह बड़ी कठिन बात है।' परंतु मेरा अनुभव तो यह कहता है कि मनमाने विषयोंकी प्राप्ति करना जितना कठिन है, उतना कठिन काम ईश्वरकी प्राप्तिका नहीं है। विषयोंकी प्राप्तिके लिये जितना परिश्रम मनुष्य करता है, उसका दशांश परिश्रम भी ईश्वरकी प्राप्तिके लिये नहीं करना पड़ता। सच बात तो यह है कि मनुष्यको जितनी इच्छा विषयप्राप्तिकी है, उससे आधी जिज्ञासा भी ईश्वर-प्राप्तिके लिये नहीं है। 'बोधसार' में ठीक ही कहा है—

मुमुक्षा दम्भमात्रं ते न ते तीव्रा मुमुक्षुता।
तीव्रा यदि मुमुक्षा स्यान्न विलम्बो भवेदिह॥

साधारण मनुष्य तो केवल बातें बनाना और शास्त्रोंकी निन्दा करना ही अपना काम समझते हैं। उनमें मुमुक्षा तो नाममात्रको भी नहीं होती, उसका दम्भ अवश्य होता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर प्राप्ति होनेमें देर लगती ही नहीं। सत्य बात तो यह है कि मनुष्यको ईश्वर-साक्षात्कारकी इच्छा ही नहीं होती; और वह कहता है कि 'भाई ! यह इतना कठिन काम है कि इसका हो सकना सम्भव नहीं है।' इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको धोखा देता है और या तो ईश्वर-प्राप्तिको अत्यन्त कठिन बतलाता है, अथवा तो 'यह एक भ्रम है—मनकी एक कल्पनामात्र है', यों जगत्में कहता-फिरता है। जगत्में बहुत-से लोग इस प्रकारके मनुष्योंकी बातोंको सच मानकर अपनी मंद जिज्ञासाको भी गँवा बैठते हैं।

पर, ईश्वर-साक्षात्कार तो बहुतोंको हुआ है। आज भी होता है और साधना करनेपर भविष्यमें भी हुए बिना नहीं रहेगा। जो लोग कहते हैं कि 'ईश्वर-साक्षात्कार होता ही नहीं है, अथवा तो वह केवल मानसिक भ्रममात्र है,' वे कुछ भी परिश्रम न करके केवल बकवाद ही करनेवाले हैं।

मेवाड़में मीराँबाईको, दक्षिणमें तुकारामको, सौराष्ट्रमें नरसी मेहताको और बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसको ईश्वर-साक्षात्कार होनेकी बात सभी मानते हैं। जैसे दो प्राकृत मनुष्य परस्पर बातें करते हैं, वैसे ही ये लोग अपने-अपने इष्टदेवके साथ प्रत्यक्ष बातचीत किया करते थे, यह जनसाधारणको भी अच्छी तरह विदित है। भक्त बोडाणाके लिये तो भगवान्‌ने अपने अर्चाविग्रहको चेतन बनाकर उसकी गाड़ी हाँकी और देखते-ही-देखते क्षणोंमें उसे द्वारकासे डाकोर पहुँचा दिया था। श्रीचैतन्यमहाप्रभु तो चौबीसों घंटे ईश्वरके भावावेशमें ही रहते। स्वामी रामतीर्थको हुए अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं। वे भाषण देते-देते, अथवा ओंकारका गुंजार करते-करते आत्मभावमें लीन हो जाते और थोड़ी देरके बाद वृत्तिके बहिर्मुख होनेपर पुनः भाषण चालू करते। श्रीरमण महर्षिको ब्रह्मलीन हुए अभी एक दशक भी नहीं बीता है। वे भी भावसमाधिमें ही रहते। इस बातको बहुत-से देशी-विदेशी तथा अन्यधर्मी पुरुषोंने भी आँखों देखा है। इस समय भी ईश्वर-साक्षात्कारको प्राप्त पुरुष हैं। इस प्रकार ईश्वर-साक्षात्कार होता है, हुआ है और अवश्य होता है, यह निश्चित है। फिर, मानना न मानना तो अपने अधिकारकी बात है।

अब एक बात समझ लेनेकी है। अपने शास्त्रोंमें अधिकारके अनुसार विभिन्न साधनप्रणालियाँ बतलायी गयी हैं और इसीलिये पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार किया जाता है। 'ईश्वर-साक्षात्कार', 'आत्मसाक्षात्कार', 'आत्मा-परमात्माका मिलन', 'भगवत्प्राप्ति', 'भगवद्दर्शन', 'आत्मज्ञान' आदि विभिन्न शब्दोंका प्रयोग एक ही स्थितिको बतानेके लिये होता है। एक गीतामें ही देखिये तो

इसके लिये भिन्न-भिन्न कई शब्दोंका प्रयोग मिलेगा। यहाँ शब्दोंमें विभिन्नता होनेपर भी तात्पर्य एक ही है और विभिन्न शब्दोंके प्रयोगका कारण साधनप्रणालियोंका भेद है।

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

उस परमतत्त्वको भक्त भगवान् कहते हैं, अष्टाङ्गयोगी परमात्मा, वेदान्ती ब्रह्म और ज्ञानयोगी ज्ञान—ज्ञानस्वरूप कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भागवत १।२।११)

एक ही अद्वयज्ञानतत्त्वको तत्त्ववेत्तागण 'ब्रह्म' कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं तो कोई भगवान् कहते हैं। नाम पृथक्-पृथक् हैं, वस्तुतत्त्व एक ही है।

इतना स्पष्टीकरण करनेमें हमारा हेतु यह है कि आजकल लोग गुरुके समीप रहकर शास्त्राभ्यास तो करते नहीं, अपने-आप ही ग्रन्थ पढ़ने लगते हैं। ग्रन्थोंमें प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग देखकर उनको विरोध दिखायी देता है और वे 'स्वयं नहीं समझते' ऐसा न मानकर 'यह सब मिथ्या है' यों कह देते हैं।

फिर, कुछ लोग यह पूछा करते हैं कि 'क्यों तो इतनी साधनप्रणालियाँ बतायी गयीं और क्यों इतने शब्दोंका ही प्रयोग किया गया?' इस प्रश्नका उत्तर एक स्थूल दृष्टान्तसे समझिये। विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले कई मनुष्योंको बंबई जाना है। सौराष्ट्रमें रहनेवाला पूर्वकी ओर होकर दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है। मलाबारसे जानेवाला उत्तरकी ओर यात्रा करके वहाँ पहुँचता है और बंगालसे आनेवाला मनुष्य पश्चिमकी ओर होता हुआ दक्षिण जाकर बंबई पहुँचता है। यों प्रत्येकके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग अनिवार्य हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न दिशाओंके प्रदेशोंसे बंबई जाते हैं। इसी प्रकार किन्हीं भी दो मनुष्योंकी बुद्धिपर स्थित संस्कार एक-से नहीं होते। इसका कारण पूर्वजन्मके कर्म हैं। यों समस्त साधकोंको पहुँचना तो है उस एक ही मुकामपर—एक ही परमात्मामें, परंतु संस्कार-भेदके कारण सबका अधिकार एक-सा नहीं होता। इसीलिये भिन्न-भिन्न साधनमार्गोंका होना अनिवार्य है। संक्षेपमें इतना ही समझ लेना है कि चेतन सत्ता एक ही है और वही अनेक नामोंसे पुकारी जाती है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' सद्वस्तु एक ही है, चेतन एक ही है; परंतु अधिकारभेदसे विद्वानोंने उसका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है।

इस बातको शास्त्रने यों समझाया है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः॥

एक स्फटिक मणि रक्खी हो और उसके चारों ओर नीले, पीले, लाल, काले पुष्प पड़े हों। इससे पृथक्-पृथक् दिशाओंसे देखनेपर मणि पृथक्-पृथक् रंगोंकी दिखायी देगी। परंतु मणि तो शुद्ध-श्वेत ही है, केवल पुष्पोंका रंग उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार परमात्मा स्वरूपतः एक ही है, तथापि साधनप्रणालियोंके भेदसे उसको भिन्न-भिन्न प्रकारसे साधकगण भजते हैं और बुद्धिके संस्कारभेदके कारण भिन्न-भिन्न साधनप्रणालियोंका होना अनिवार्य है।

फिर, यदि ईश्वरीयसाक्षात्कार न होनेकी बात होती, वह केवल बुद्धिका भ्रम ही होता, तो जीवन्मुक्तकी स्थितिका वर्णन, जो अनादिकालसे चला आता है, न चलता। झूठी बात सदा नहीं निभ सकती। एक मनुष्यको बहुत कालतक भ्रममें रक्खा जा सकता है, सब लोगोंको थोड़े दिनोंके लिये भ्रममें रक्खा जा सकता है, परंतु सारे जगत्को सदाके लिये भ्रममें रखना नहीं बन सकता। ईश्वर-साक्षात्कार यदि बुद्धिका भ्रम ही होता तो कोई भी विचारशील पुरुष उसके लिये अथक परिश्रम नहीं करता और आज भी शास्त्ररीतिके अनुसार यदि कोई मुमुक्षु साधना करता है तो उसको ईश्वर-साक्षात्कार हुए बिना नहीं रहता। जबतक ईश्वर है, तबतक ईश्वरका साक्षात्कार होगा ही और ईश्वर सदा-सर्वदा रहेगा ही। उसका अभाव कभी सम्भव ही नहीं।

दूसरी तरहसे देखें तो न्यायदर्शन कहता है—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

कोई भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो तो एक बुद्धिहीन मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता, तो फिर शास्त्रोंको ऐसा क्या प्रयोजन था कि वे मनुष्योंको भ्रममें डालते! वेद तो ईश्वरप्रणीत हैं, उपनिषद् साक्षात्कार प्राप्त किये हुए ऋषियोंकी प्रसादी हैं, स्मृतिग्रन्थ और पुराण भी तपःपूत ऋषियोंके द्वारा लिखित हैं। इन ऋषियोंमें कोई भी ईषणा नहीं थी। वे अरण्यमें त्यागप्रधान तपस्वी जीवन बिताते थे। उनको लोककल्याणके सिवा दूसरी कोई कामना ही नहीं

थी। ऐसी स्थितिमें उनको एक भ्रममूलक सिद्धान्तको उपस्थित करनेमें क्या प्रयोजन हो सकता है? सच बात तो यह है कि मानव-जीवनकी चरितार्थताही है—ईश्वर-साक्षात्कार कर लेनेमें। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें बिना परिश्रम ही प्राप्त हैं। इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनका बतलाया हुआ सिद्धान्त यथार्थ ही है और वह लोक-कल्याणके लिये ही है।

एक वैज्ञानिकने कहा—दो भाग 'हाइड्रोजन' और एक भाग 'ऑक्सीजन' मिलानेपर जल बन जाता है। यह सुनकर एक सज्जन कहने लगे कि 'तुम्हारी यह बात झूठ है; हवासे जल बन जाता है, ऐसी असम्भव बात हम नहीं मान सकते।' पर यों कहना उचित नहीं है। इस बातको झूठ वही बता सकता है जो साधन-सम्पन्न होकर 'हाइड्रोजन' को और 'ऑक्सीजन'को पहचानता हो और प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करके सिद्ध कर दे कि इनसे जल नहीं बना। इतना किये बिना इस सिद्धान्तको झूठा बताना मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है।

ऐसी ही बात आध्यात्मिक सत्यकी है। पद्धतिके अनुसार अभ्यास करके, यम-नियमादि साधन करके, षट्सम्पत्तिका अनुशीलन करके, विवेकयुक्त तीव्र वैराग्य धारण करके, अन्तःकरणके मल और विक्षेप-दोषका कर्म तथा उपासनाके द्वारा निराकरण करके कोई तीव्र मुमुक्षावाला साधक ईश्वर-साक्षात्कारके लिये गुरुके सामने रहकर साधन करे और उसे ईश्वरका साक्षात्कार न हो, तो वह कह सकता है कि—ईश्वरका साक्षात्कार मनका एक भ्रममात्र है। परंतु ऐसे साधन-सम्पन्न पुरुषको साक्षात्कार हुए बिना रहता ही नहीं। ईश्वरके ऐसे ही वचन हैं और वेद भी उसीकी साक्षी देता है।

अब एक बात और कहनी रह गयी। विज्ञानका भौतिक प्रयोग करते समय भी 'इस प्रयोगका अमुक परिणाम आवेगा' ऐसी श्रद्धासे ही प्रयोगका प्रारम्भ होता है। परंतु इसमें कुछ अंशमें कुतूहल-वृत्ति भी होती है कि 'देखें तो सही क्या होता है?' पर अध्यात्म-साधनामें तो ऐसी बात चलती ही नहीं; वहाँ तो सम्पूर्ण श्रद्धा चाहिये। कुतूहल वृत्तिका लेशमात्र भी वहाँ नहीं रहता। श्रद्धाके बिना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाता है। यह बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

अश्रद्धासे किया हुआ यज्ञ, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप—अभिप्राय यह कि अश्रद्धासे किया गया कोई भी कर्म हे पार्थ! व्यर्थ ही जाता है। उसका फल न तो इस लोकमें मिलता है, न परलोकमें ही।

तब अध्यात्म-साधनामें क्या आवश्यक है? यह प्रश्न सहज ही होता है और इसका उत्तर भी भगवान्ने पहलेसे दे रक्खा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

तात्पर्य यह कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—ईश्वरका साक्षात्कार करनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है श्रद्धाकी। श्रद्धाकी कमी होगी तो साधना भाव और प्रेमसे होगी ही नहीं और अध्यात्ममार्गमें उसका होना अनिवार्य है। इसके बाद साधनामें 'तत्परता' चाहिये। दो दिन करें और चार दिन न करें, इससे काम नहीं चलता। साधना तो सतत और आलस्य-प्रमादसे रहित होनी चाहिये और सबसे अधिक आवश्यक है 'इन्द्रियनिग्रह'। इन्द्रियोंका संयम न होगा तो जैसे छेदवाले घड़ेसे जल निकलता जाता है, इसी प्रकार साधनाका बल भी घटता चला जाता है। ये तीनों बातें होती हैं तो ज्ञान होता है और ज्ञान होते ही तत्काल शान्ति मिल जाती है। इसीका नाम है—ईश्वर-साक्षात्कार।

हरिका मार्ग शूर-वीरोंका कायरका नहिं काम भाई।
सबसे पहले मस्तक देकर पीछे लेना नाम भाई॥

भक्तकी रीति

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

—गोस्वामी तुलसीदास

तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमारा मन वहीं लगता है, जहाँ हमारी अभिलषित वस्तु होती है, जहाँ हमें अपनी रुचिके अनुकूल सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिखायी देते हैं। विचार करके देखनेसे पता लगता है कि जगत्में हम जो प्रिय वस्तु, सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि देखते हैं, उन सभीका पूर्ण अमित अनन्त भण्डार श्रीभगवान् हैं। समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त सुख-सौन्दर्य भगवान्के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं। हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती। अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्में देखना चाहिये। फिर हम कभी भगवान्से अलग नहीं होंगे और भगवान् हमसे अलग नहीं होंगे; क्योंकि सब कुछ भगवान्से, भगवान्में है तथा भगवत्स्वरूप ही है—भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो मुझको सबमें देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता। भाव यह कि वह मुझे देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।'

इसीके साथ हमें अपनेको ऐसा बनाना चाहिये जो भगवान्को अत्यन्त प्रिय हो। गीता बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'जो मेरे परायण हुए श्रद्धालु भक्त ऊपर बताये हुए इस धर्ममय अमृतकी भलीभाँति उपासना करते हैं अर्थात् उस प्रकारका अपना जीवन बनानेमें तत्पर होते हैं, वे मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसलिये हमें अपनेमें उन सब भावोंकी दृढ़ स्थापना करनी चाहिये जो भगवान्को प्रिय हैं। ऐसा होनेपर जब भगवान् हमसे प्रेम करने लगेंगे, उनका मन हममें लगा रहेगा—(प्रेम तो वे अब भी करते हैं; परंतु हमें उसका अनुभव नहीं होता, उनके अनुकूल आचरण करनेसे अर्थात् उन सब प्रिय गुणोंको जीवनमें उतारनेसे हमें भगवान्के प्रेमका अनुभव होने लगेगा) तब हमारा मन भी उनमें लगा रहेगा। हमें तो बस, विनोदपूर्वक भगवान्से यही भाव रखना चाहिये और यही मन-ही-मन कहना चाहिये कि 'प्रभो! न तो मैं दूसरेको देखूँगा और न आपको देखने दूँगा।

आवहु मेरे नयनमैं पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखौं और कौं ना तोहि देखन देउँ॥
नारायन जाके हृदै सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डार मैं ताकौं वही दिखाय॥

विद्याका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

कहते हैं कोई आधुनिक बहुविद्याविद् किसी नावसे कहीं जा रहा था। बीच नदीमें जानेपर उसने मल्लाहसे आकाशकी ओर देखकर पूछा—'अरे भाई ! तुम नक्षत्र-विद्या पढ़े हो या नहीं ?' केवटने कहा—'बाबूजी ! मैं तो उसका नाम भी नहीं जानता।' इसपर तथाकथित बहुविद्याविद्‌ने कहा—'भइया ! तब तो तुम्हारा एक चौथाई जीवन व्यर्थ गया।' फिर थोड़ी देर बाद उसने कहा—'अच्छा गणित जानते हो ?' केवट बोला—'नहीं बाबू।' 'ओह ! तब तो तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ गया; और विज्ञान-शास्त्र ?' केवटने कहा—'बाबू ! मैं शासतर-वासतर क्या जानूँ।' इसपर शिक्षाविद् बोला—'अरे ! तब तो तुम्हारा तीन चतुर्थांश जीवन ही चौपट हो गया।' ये बातें हो ही रही थीं कि बड़े जोरोंकी आँधी आयी और नाव डगमगाने लगी। वैज्ञानिक बोला—'भइया ! अब क्या होगा ?' मल्लाहने कहा—'अब कोई चारा नहीं है—नाव डूबेगी, तुम तैरना जानते हो या नहीं ?' वैज्ञानिकने कहा—'नहीं भाई ! मैं तैरना तो नहीं जानता, फिर मेरा क्या होगा ?' मल्लाहने कहा—'बस, तब डूब मरो, तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनकी जो सार्थकता थी, वह अब तुम्हारे सामने है। तुमने सारी विद्याएँ पढ़ीं, पर तैरना नहीं जाना, अब वह सब व्यर्थ हुआ। अब बस, भगवान्‌का नाम लो। तुमने संसारसागरसे पार ले जानेवाली भगवान्‌की आराधनारूपी विद्या नहीं सीखी, इसीलिये तुम्हारे सामने ऐसा अवसर उपस्थित हुआ। वही सच्ची विद्या है, उसे न पढ़कर जो केवल लौकिक, भौतिक, प्रापञ्चिक विद्याओंके पण्डित बनकर गर्व करते हैं, उन्हें तो एक दिन यों ही डूबना पड़ता है।'

सचमुच एक दिन यही होना है। गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

वह ज्ञान नहीं कुज्ञान है, जहाँ भगवत्प्रेम प्रधान न हो

क्योंकि एक दिन निश्चय ही यही तमाशा उन ज्ञानियोंके भी सामने आनेको है—

'जोगु कुजोगु ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥'
'सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।'
(श्रीमद्भा० १।५।१२)

हनुमान्‌जीने भी रावणको समझाते हुए कहा था, रावण ! एक दिन तुम भी समझोगे। पर अभी तुम घोर मद-मोहके पर्देकी आड़में हो, तुम्हारी आँखें बंद हैं, इसलिये कैसे सूझे ? भगवदीयताके बिना किसी भी विद्याकी शोभा नहीं, वाक्य, पद, शब्दतककी शोभा नहीं है, यह याद रख लो—

'राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥
भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥
श्रीमद्भा० १।५।१०)

'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।'
'तदेव सत्य तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥'
(श्रीमद्भा० १२।१२।४९-४८)

श्रीचैतन्यने भगवन्नाम, भगवदीयवार्ताको 'विद्यावधू-का जीवन' कहा है—

'श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।'

'विद्या धर्मेण शोभते' का भी भाव यही है। सत्तत्त्ववेत्ता, संतकुलकमलदिवाकर, मानसकारका तो यहाँतक कहना है कि साक्षात् शारदा भी भगवद्यशसे तृप्त, प्रसन्न तथा परम सुखी हो जाती हैं। जब कोई व्यक्ति काव्यरचनाकी सहायताके लिये उनका ध्यान करता है, तब वे दौड़कर ब्रह्मलोकसे आती हैं, उनकी वह थकान बिना रामचरित्रमानस-सरोवरमें स्नान किये मिटती नहीं। इतनेपर भी यदि वह व्यक्ति प्राकृत जनका गुणगान करता है या कोई अनाप-शनाप जड़वाद-का व्याख्यान करता है तो सरस्वती सिर धुन-धुनकर पछताने लगती हैं—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरि जस कलि मल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

भागवतकारने भगवन्नामयशरहित विद्याकी ठाँठ गाय, असती स्त्री, दुष्ट संतान तथा गुलामके देहसे तुलना की है, जिनसे केवल क्लेश ही होता है—सुख नहीं, और अन्तमें बतलाया है कि ऐसी विद्याको चतुर लोग कदापि नहीं ग्रहण करते—

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥
(श्रीमद्भा० ११।११।१९-२०)

वास्तवमें विद्याकी सफलता भगवत्सम्बन्धी ज्ञान तथा भगवत्प्राप्तिमें ही है। विद्या कोई खेलवाड़ या हँसी-मजाक नहीं है। वह दुस्साध्य होनेके साथ महत्त्वपूर्ण भी है। उसके द्वारा विश्वकी सर्वोपरि वस्तु अमरत्व तथा प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है। 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेपर भला क्या अवशेष रह जाता है। उनकी तनिक-सी प्रसन्नतासे विश्वकी दुर्लभ वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं—

'तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

ऐसी दशामें यह ठीक ही है कि विद्याकी प्राप्ति भी बड़ी क्लिष्ट साधनासे किंवा भगवत्कृपासे ही सम्भव है। तुलसीदासजीने बड़े रम्य ढंगसे लिखा है—शारदा (विद्याधिष्ठातृदेवी) तो कठपुतली-जैसी हैं, भगवान् जिसपर जन जानकर प्रसन्न हो गये, वे उसके हृदय-प्राङ्गणमें उन्हें नचा डालते हैं, भगवत्कृपासे विद्याका नृत्य भगवद्भक्तके हृदय-प्राङ्गणमें प्रारम्भ हो जाता है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

यथा दारुमयी नारी नृत्यते कुहकेच्छया।
एवमीशेच्छया ब्राह्मी कवीन्द्रहृदयाङ्गणे॥
(पद्मपुराण)

भागवतके 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' तथा—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥
(२।४।२२)

—आदि श्लोकोंका भी यही भाव है। सच्ची बात तो यह है कि भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रसादसे ही वास्तविक विद्याकी उपलब्धि सम्भव है, अन्य स्वतन्त्र साधनाओंसे नहीं। इस सम्बन्धमें भगवती लक्ष्मीकी बड़ी सुन्दर सूक्ति है। वे कहती हैं—'प्रभो! मुझे प्राप्त करनेके लिये इन्द्र, अज, ईश, सुर, असुर सभी उग्र-से-उग्र तप किया करते हैं; किंतु मुझे आपके पदकमलमें अनुरक्त प्राणीको छोड़कर कोई भी प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि मैं आपकी चेरी हूँ, आपके हृदयमें जो हूँ',—

१. वस्तुतः लक्ष्मी, सरस्वती या सभी देवताओं तथा समस्त सद्गुणोंको प्राप्त करनेका उपाय भी भगवत्पादावलम्बन ही है—

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद् धृदया यतोऽजित॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। २२)

महर्षि वाल्मीकि, शुकदेव, आचार्य शंकर, कवि-कुलतिलक कालिदास, तुलसीदासजी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनकी दिव्य प्रतिभा तथा लोकोत्तर विद्या भगवान्‌की भास्वती भगवती अनुकम्पाकी ही प्रसूति है। इन्हें हमें साधारण नहीं समझना चाहिये। इनकी वाणीमें लेशमात्रका आडम्बर नहीं, अपितु शुद्ध सच्चिदानन्दमय तत्त्व है। इसे सरल हृदयसे ध्यान कर जाना जा सकता है। पर यह सौभाग्य किसी मात्सर्यग्रस्त, मोहान्ध अविद्याच्छन्न जीवको होना दुर्घट है। वाल्मीकि दस्युका कार्य करते थे, विद्याके पूरे शत्रु थे। पर 'मरा मरा'का (रामका उल्टा) अनन्त कालतक जप करनेपर भगवत्कृपासे उनके हृदयमें साक्षात् दिव्य तेजोमयी सरस्वती प्रवृत्त हुई और उन्होंने आदिकाव्यकी रचना कर डाली।

'मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती'
(वाल्मी० १। २। ३१)

वैसी ही शुकदेवजीकी भी समाधि-भाषा निरुपम है। वह काव्य-रचना तथा उच्चतम पवित्र भाव क्षण-भरके लिये सच्चिदानन्दलक्षण परमतत्त्वकी झाँकी करानेकी क्षमता रखता ही है। उस संतवाणीमें वह शक्ति है कि निर्विकार हृदयको आनन्दान्दोलित कर धन्य-धन्य बना देती है, उसमें एक विचित्र भगवद्भाव भर देती है। आजका पण्डितम्मन्य, दुस्तर अविवेक कलंक-पंक-मग्न प्राणी भले ही तुलसीको गालियाँ दिया करे और उनकी लाख तिरस्क्रिया या अवहेलना करे, पर है कोई आजका डिप्लोमाधारी माईका लाल जो एक भी मानस-सा ग्रन्थ-रत्न दे सके। आज प्रेसके कूड़ेखानेमें लाखों टन कागज संसार छापता है, पर कौन-सा नया ग्रन्थरत्न मानसकी जोड़ीका प्रकट हुआ है? हो कैसे? वह भगवत्कृपाका प्रतीक जो ठहरा। स्वयं कवि ही निश्छल (ढोंग नहीं सच्चे) भावसे बोल रहा है—

'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥'
'मैं यह पावन चरित सुहावा। रघुपति कृपा जथामति गावा॥'

वस्तुतः तुलसीकी एक-एक पंक्ति, एक-एक भावपर सारे जड संसारको न्योछावर किया जा सकता है। रीझनेके लिये आज हम भले जडविज्ञानपर रीझकर बलिदान हो जायँ, पर इससे हमें जडताके अतिरिक्त दूसरी वस्तु हाथ न लगेगी। सुखके रूपमें बेचैनी, अशान्ति तथा निरवच्छिन्न पाप-ताप ही प्राप्त होंगे। वहाँ विद्याकी भ्रान्ति मृगमरीचिकावत् ही है। हमें यह आज भले न समझ आये पर थोड़ी और महर्घता बढ़ जानेपर, थोड़े और अधिक टैक्स लग जानेपर, थोड़ी और अधिक डकैती आदि दुष्काण्डों एवं अनाचारोंके बढ़ जानेपर या अणु हाइड्रोजन बमोंके फूट पड़नेपर पता लग ही जायगा। भगवान् ही बचायें इस महामोहमय अन्धाधुन्ध आकर्षणसे। भगवान् ही पार लगायें इस विद्या-सी प्रतीत होनेवाली घोर अविद्याके दुस्तर अपार वारिधिसे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः। एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ (श्रीमद्भा० ४। ८। ४१)

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय। रहिमन मूलहिं सींचिये फूलै फलै अघाय॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्तिका मार्ग अनादिकालसे हृदयस्थ शङ्काओंको मिटानेके लिये ही अपनाया जाता है । अतः छिपी हुई शङ्काएँ सामने आती रहती हैं और समाधान होनेपर शान्त हो जाती हैं । इस दृष्टिसे शङ्काओंका होना लाभप्रद है, पर जो स्वयं तो विवेकद्वारा समझता नहीं और समझानेवालेपर श्रद्धा नहीं करता, उसके लिये शङ्का हानिकर हो जाती है । जबतक भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक शङ्काओंका समूल नाश नहीं होता ।

(२) गायत्रीमन्त्रका जप सायंकाल बैठकर और प्रातःकाल खड़े होकर भी किया जा सकता है । जिस प्रकार जापक अधिक समयतक सुखपूर्वक स्थिर रह सके और जिस प्रकार करनेपर उसका मन स्थिर हो सके, वही उसके लिये श्रेष्ठ है । सबके लिये किसी एक ही प्रकारको ठीक बताना मुझे ठीक नहीं जँचता ।

(३) जिसका इष्ट गायत्री है, उसे जप उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उसका मन अधिक-से-अधिक प्रसन्नतापूर्वक जपमें लगा रहे ।

(४) जप करते समय ध्यान उसका करना चाहिये, जो साधकका इष्ट हो, जिसको वह सर्वोत्तम, सर्वशक्तिमान् मानता हो, जिससे बढ़कर किसी अन्यको न मानता हो । स्वरूपके विषयमें यह बात है कि जो स्वरूप उसके प्रेम और आकर्षणको बढ़ानेवाला हो, जिसके ध्यानमें उसका मन अनायास लगता हो, जिसपर उसका दृढ़ विश्वास हो, जिस स्वरूपका ध्यान वह कर सकता हो ।

(५) जपके विषयमें शास्त्रोंका कथन है कि वाणीद्वारा किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना श्रेष्ठ है और उससे भी मानस दसगुना श्रेष्ठ है । पर यह साधारण नियम हो सकता है । वास्तवमें जो जिसका अधिकारी है, उसके लिये वही अधिक श्रेष्ठ है ।

यदि वाणीद्वारा जप करनेसे उसमें मन लगता हो, रुचि बढ़ती हो, करनेमें सुगमता प्रतीत होती हो एवं मानसिक जप करते समय जपमें भूल होती हो, मनमें दूसरे संकल्प अधिक उठते हों, उत्साह और प्रीति न बढ़ती हो, मनमें उकताहट या आलस्य आता हो तो उसके लिये वाणीसे जप करना अच्छा है ।

ध्यानके लिये स्थान हृदयाकाश उत्तम माना जाता है । इसमें भी साधकको अपनी रुचि, प्रीति, श्रद्धा और योग्यतापर विचार करके ही निर्णय करना चाहिये ।

(६) गायत्रीपुरश्चरणके विषयमें मेरी अधिक जानकारी नहीं है । मैंने इसका विधिवत् अनुष्ठान कभी नहीं किया । अतः आप इसके विषयमें किसी विशेषज्ञसे पूछें तो अच्छा होगा ।

(७) मनको वशमें करनेके उपाय भगवान्‌ने दो बताये हैं—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य । केवल अभ्याससे मन वशमें नहीं होता, क्योंकि वैराग्यकी प्रधानता है (गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय ६ के २५-२६ वें और ३५-३६ वें श्लोक देखें) ।

(८) त्यागने योग्य संकल्प वही है, जो व्यर्थ हो, जिसमें किसीकी अहितकी भावना हो, जो भोगकामना तथा पापसे युक्त हो । आसक्तिपूर्वक होनेवाली सांसारिक स्मृतिको संकल्प कहते हैं ।

(९) 'सत्यम्' परमेश्वर सत्य है, 'शिवम्' वह

कल्याणमय है, 'सुन्दरम्' वह सब प्रकारसे सुखप्रद और आनन्दस्वरूप है । यह तीनोंका शब्दार्थ है । तीनों ही भगवान्‌के नाम हैं, अतः जब जिस मौकेपर आवश्यक हो, बोले जा सकते हैं ।

(१०) 'ॐ' यह भगवान् परब्रह्म परमेश्वरका नाम है । इसके द्वारा परमेश्वरकी ही उपासना, स्मरण और ध्यान किया जाता है । नाम और नामीकी एकता है । इस दृष्टिसे नामको भी अक्षरब्रह्म कहा जाता है और प्रभुके स्वरूपकी ही भाँति उनके नामका भी ध्यान किया जा सकता है । ॐकार भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंका वाचक है । अतः दोनों ही प्रकारके उपासक इसके द्वारा उपासना कर सकते हैं ।

(११) रामचरितमानसके पाठमें सम्पुट उस चौपाईका लगाया जाता है, जिसमें पाठककी कामना स्पष्ट व्यक्त होती हो । यदि सकाम न हो तो उसका लगाया जाता है, जो साधकको अधिक प्रिय हो, जिसके बार-बार बोलनेमें उसको अधिक प्रेम उमड़ता हो या भावकी जागृति होती हो और भगवान्‌की स्मृति होती हो । सम्पुट लगाये जानेसे वह कार्य सिद्ध होता है या नहीं, यह तो पाठककी श्रद्धा या प्रीतिपर तथा फलदाता ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है ।

(१२) गीता और रामायणका कितना पाठ करना चाहिये, इसकी सीमा नहीं होती । पाठ करनेवाला जितना कर सके, जहाँतक उसको कोई अड़चन या थकावटका अनुभव न हो, उत्साहमें कमी न आवे, भाव बढ़ता रहे, वहाँतक अवकाशके अनुसार करते रहना अच्छा है ।

(१३) पितर चाहे जिस योनिमें गया हो, उसके निमित्तसे किया हुआ श्राद्ध आदि पुण्यका फल उसे हरेक योनिमें समयपर मिलता रहता है । जैसे पुरुषको अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलता है, उसी प्रकार उसके निमित्त दूसरोंके द्वारा दिये जानेपर भी उसे मिलता है । जैसे बैंकमें कोई भी चाहे जिसके नामपर रुपया जमा कर सकता है, पर वापस नहीं ले सकता ।

(१४) ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदयसे तीन घंटे पहलेका समय माना गया है । गायत्रीमन्त्रका जप वैसे तो जब भी पवित्र होकर किया जाय तभी अच्छा है । पर सूर्योदयसे पहलेका समय अधिक उत्तम है, क्योंकि उस समय चित्त शान्त रहता है ।

(१५) आत्माको पहचाननेका तरीका है—नित्य और अनित्यका विवेचन और समझमें आयी हुई बातपर दृढ़ विश्वास ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पोस्टकार्ड मिला । समाचार मालूम हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् सब कुछ कर सकते हैं । यदि ऐसा न हो तो उनकी भगवत्ता ही कैसी ? प्रभुकी कृपासे जो काम होता है उसमें भी कारण तो भगवान् ही हैं । अतः उनकी कृपासे होना और उनके द्वारा किया जाना दो बात नहीं है । पर भगवान् ऐसा कब और क्यों करते हैं यह दूसरा कोई नहीं बता सकता । अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार सब कहते हैं पर असली कारण और रहस्य भगवान् स्वयं ही जानते हैं ।

(२) प्रारब्धका भोग अमिट अवश्य है, पर वहींतक अमिट है, जहाँतक मनुष्यकी सामर्थ्यका विषय है । प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिये कोई काम असम्भव नहीं कहा जा सकता । वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । भगवान्‌ने जो यह कहा है कि—

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाही । आए सरन तजौं नहिं ताही ॥'

यह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि आप शरणागतवत्सल ठहरे। अतः तुलसीदासजीका लिखना सर्वथा ठीक है।

(३) प्रह्लादकी रक्षामें उसका प्रारब्ध कारण नहीं है, उसमें तो एकमात्र भगवान्‌की उस महती कृपाका ही महत्त्व है, जो कि अडिग निष्ठा और विश्वास-के कारण कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार अपना प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट करती है।

(४) भगवान्‌का भक्त भगवान्‌से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिके लिये याचना करे तो भी भगवान् नाराज नहीं होते। यदि उचित समझते हैं तो उसकी कामनाको पूरी भी कर देते हैं। पर जो भगवान्‌के प्रेमी भक्त हैं, जिनका एकमात्र प्रभुमें ही प्रेम है, उनके मनमें कामनाका संकल्प ही नहीं उठता। उनके विचारमें जगत्‌की कोई भी वस्तु या परिस्थिति आवश्यक ही नहीं रहती। वे तो जो कुछ करते हैं भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं और जो कुछ होता है उसे भगवान्‌की अहैतुकी कृपा मानते हैं; इसलिये उनके लिये कामना या याचनाका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

दण्डकवनके ऋषि-मुनि और अन्य संत, जो दानवी और भौतिक शक्तिसे मारे गये, उनकी रक्षा करनेमें भगवान्‌की कृपाशक्ति असमर्थ थी, ऐसी बात नहीं है; उनके शरीरोंका नाश उस प्रकार कराना ही भगवान्‌को अभीष्ट था, इसलिये रक्षा नहीं की। जिनकी रक्षा करना आवश्यक था, उनकी रक्षा कर ली। भगवान्‌की कृपा कौन-सा काम क्यों करती है और क्यों नहीं करती, इसका अनुमान मनुष्य कैसे करे?

(५) भौतिक या आसुरी शक्तियोंको परास्त करनेका सर्वोत्तम उपाय निष्काम सेवायुक्त जीवन है। जिसको इस भौतिक जगत्‌से कुछ लेना नहीं है, केवल भगवान्‌के नाते उसके आज्ञानुसार उन्हींकी कृपासे मिली हुई शक्तिसे जगत्‌की सेवा-ही-सेवा करना है, वह समस्त भौतिक और आसुरी शक्तियोंको अनायास परास्त कर सकता है। प्रह्लाद भी भगवान्‌का निष्कामी और परम विश्वासी एकनिष्ठ भक्त था। ऐसे भक्तसे भगवान् स्वयं मिलते हैं, छिप नहीं सकते।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण! आपने अपने मनकी गतिका अध्ययन किया यह तो अच्छी बात है, पर अध्ययनका परिणाम ऐसा निकलना चाहिये, जिससे अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बने और मान्यताके अनुसार आचरण हो।

धार्मिक पुस्तकोंका पढ़ना कोई बुरी बात नहीं है, पर वह व्यसनके रूपमें न होकर उनके द्वारा समझी हुई बातोंको काममें लानेके लिये ही हो, यही उत्तम है। कालेजकी पढ़ाई, यदि उसे पिताका आदेश मानकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्त्तव्यपालनके रूपमें की जाय, तो वह भी साधन ही है; क्योंकि आप अपनेको विद्यार्थी मानते हैं तो मान्यताके अनुकूल आचार-व्यवहार भी होना ही चाहिये।

गीताजीका यह श्लोक—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ……॥

—बहुत ही उत्तम है। आप यदि एकमात्र प्रभुका ही चिन्तन करना चाहते हैं तो बड़ी अच्छी बात है; ऐसा तो करना ही चाहिये। जिसके मनमें यह चाह वास्तवमें जाग्रत् हो जाती है, उसके मनमेंसे अन्य सब प्रकारकी इच्छाओंका अन्त हो जाता है, फिर उसका मन चञ्चल कैसे रह सकता है। अतः आपको चाहिये कि आप इस चाहको प्रबल और दृढ़ बनावें। इसका उपाय एकमात्र भगवद्विश्वास और भगवान्‌के नित्य सम्बन्धका अनुभव है। प्रेम होनेपर निरन्तर स्मरण हो सकता है।

आपका लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति है तो बहुत ही उत्तम है। लक्ष्यपूर्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त

सामर्थ्यका विवेकके प्रकाशमें लक्ष्यपूर्तिके लिये उपयोग करते रहना चाहिये। भोगवासनासे रहित होनेपर ही लक्ष्यकी पूर्ति शीघ्र हो सकती है।

विद्यार्थियोंके पालन करनेयोग्य नियम मैंने सम्भवतः पहले लिखे हैं। तत्त्वचिन्तामणिमें उनको देखना चाहिये।

लड़कोंके साथ लड़कियोंका कालेजमें पढ़ना मेरी समझसे सदाचारके लिये बड़ा ही घातक है। लड़कियों-को लड़कोंके साथ पढ़ते समय कैसे रहना चाहिये यह तो तब बताया जाय जब कि उनका कार्य किसी भी अंशमें आवश्यक और उचित समझमें आवे।

आपने लिखा कि प्रभुकी अनन्त कृपाका आभास मुझे अनेक रूपसे हो रहा है, जहाँ देखता हूँ, वहाँ प्रभुकी कृपाके ही दर्शन अधिकांशमें होते हैं—सो ऐसा होना बहुत ही उत्तम है। पर जिस साधकको प्रभुकी कृपाका इस प्रकार दर्शन होने लगता है वह उनके प्रेममें डूब जाया करता है। उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है, अतः उसमें प्रेमकी गङ्गा लहराने लगती है। वह भला प्रभुको कैसे भूल सकता है?

(४)

सादर हरिस्मरण!

आपका पोस्टकार्ड मिला, समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आप चिकित्साकार्य वृत्तिके लिये करते हैं तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है। आप वृत्तिके लिये करते हुए भी अपने कामसे जगत्-जनार्दनकी सेवा कर सकते हैं। जीविकाके लिये दूसरा काम खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें तो आप जो कुछ करते हैं और कर सकते हैं, जो काम करनेकी आपमें योग्यता है, वह सभी सेवा बन जाय—यही ठीक होगा। जीवन-निर्वाह तथा बाल-बच्चोंका भरण-पोषण भी तो प्रकारान्तरसे सेवा ही है। अपने शरीर और बाल-बच्चों-को यदि आप अपने न मानकर उस प्रभुके ही समझें और सबकी सेवाके साथ उनकी सेवाको मिला दें तो क्या सब-का-सब काम सेवा नहीं बन जायगा?

मेरी समझमें आपको साझेदारीके झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। दूसरेकी मेहनतसे होनेवाली कमाई चाहे वह कितनी ही अच्छी हो, आपके लिये हितकर नहीं होगी; क्योंकि आपको उसके अधीन बना देगी।

(५)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने करीब डेढ़ सालसे भगवान्‌के दर्शनोंकी इच्छासे साधन आरम्भ कर दिया यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपने अपने साधनका प्रकार लिखा और उसपर मेरी सम्मति माँगी, उसका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् रामचन्द्रजीके चित्रपटको सामने रखकर उनके मुखारविन्दपर दृष्टि जमानेकी बात मालूम हुई। पर इसमें इतना सुधार आवश्यक है कि आपको सामने रक्खे हुए जड चित्रका ध्यान नहीं करना है। वह चित्र जिनका है उनका ध्यान करना है। चित्रपट तो केवल उनकी आकृति समझानेका ही काम कर सकता है। जैसे आपके एक प्रिय मित्रका चित्र देखनेसे आपको वह याद आने लग जाता है और उसका वास्तविक ध्यान होने लगता है वैसे ही होना चाहिये। चित्रपट ही भगवान् नहीं है, पर वह जिसका है वह भगवान् है।

ध्यान करते हुए मानसिक पूजन करते हैं यह भी ठीक है तथा उसके बाद 'हरे राम' मन्त्रका जप करते हैं वह भी ठीक है। जप करते समय बीचमें दूसरे संकल्प न उठें तो और भी अच्छा हो।

जपके समय जीभ और होठ चलते रहें तो कोई बुराई नहीं है।

'जै सियाराम' का कीर्तन करना भी अच्छा ही है। भगवान्‌के चित्रके सामने धूप-दीप करना भी ठीक ही है।

श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करते समय और दृष्टि जमाते समय जोर-जोरसे हरे राम मन्त्रका भजन करते रहनेपर ध्यान स्थित होनेमें विघ्न पड़ता होगा; इसपर फिरसे विचार करना चाहिये।

कोलाहल, बोलचालकी आवाज जहाँ न आती हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानका साधन करना अच्छा रहेगा। कोलाहलसे बचनेका उपाय जोरसे भजन करना कैसे हो सकता है? क्योंकि उसकी तरफ मन जायगा तो ध्यानमें विघ्न पड़ेगा ही।

नेत्र बंद करके भगवान्‌के मस्तकपर मन्त्र लिखा हुआ मानकर मनसे जप करना ध्यानके प्रतिकूल नहीं पड़ेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

ध्यानका साधन समाप्त करनेके बाद कीर्तन करना साधनके विपरीत नहीं है, पर कीर्तनके साथ-साथ जिसके नामका कीर्तन किया जाता है, उस प्रभुकी स्मृति भी रहे तो और भी अच्छा है।

आँखें खोलकर दृष्टि जमानेका साधन करते समय और आँखें बंद करके ध्यान करते समय भी मनसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। ऐसा होगा तो मनको विषयोंकी ओर जानेका समय ही नहीं मिलेगा।

कान बंद करके अंदरकी आवाजमें भगवान्‌के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है। यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है, क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।

दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना ही असली फल है।

भगवान्‌को गुरु मानकर चलना बहुत ही उत्तम है।

(६)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) राम सबके अन्तर्यामी हैं। जैसे नट बंदरको नचाता है वैसे ही वे सबको नचाते हैं और कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं। यह सभी बातें ठीक हैं, पर राम जो उनको नचाते हैं वह उनके पूर्वकर्मके संस्कारके अनुसार ही नचाते हैं, जैसे कठपुतलीको नचानेवाला भी एक विधान सामने रखकर ही उनको नचाता है नहीं तो उसका खेल ही बिगड़ जाय।

जीवको विधि-निषेधका बन्धन तो उसी हालतमें है जब वह स्वयं कर्ता बनकर अपने सुखभोगके लिये कामनासे प्रेरित होकर कर्म करता है। पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप जो क्रिया उसके द्वारा अपने आप होती है उसमें विधि-निषेधका उपभोग नहीं है। उसी प्रकार जो उसके कर्मानुसार फल मिलता है उसमें भी उसे कुछ नहीं करना है। पर भगवान्‌ने जो उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, सामग्री और विवेक दिया है उसका भगवान्‌के विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग कर देना उसका काम है, यही विधि है। उसका दुरुपयोग करना ही निषिद्ध है।

(२) मनुष्यका शरीर भगवान् इस प्राणीको बिना ही कारण दया करके देते हैं। इसमें मनुष्य उस प्रभुको प्राप्त कर सकता है, पर वह प्राप्त विवेकका आदर न करके यदि विधानके विपरीत चले तो भगवान् उसे बलपूर्वक नहीं रोकते, क्योंकि यह स्वतन्त्रता भगवान्‌की दी हुई है। वे अपने विधानका उल्लङ्घन क्यों करें। अतः जीवकी इच्छा ईश्वरेच्छासे बलवती सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि उसे किये हुए कर्मका फल उसके इच्छानुसार

नहीं मिलता, ईश्वरीय विधानके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है।

(३) वर्तमान जन्ममें फलभोगके अनन्तर भविष्यमें होनेवाले जन्मोंके विषयमें भगवान्‌ने मनुष्यके लिये यह छूट दे रखी है कि वह इस जन्ममें चाहे तो समस्त कर्मबन्धनको काटकर मुझे प्राप्त कर सकता है अथवा जैसा चाहे अपना निर्माण कर सकता है। इसलिये वे मनुष्यके भविष्यका निर्माण पहलेसे नहीं करते, अतः उनकी जानकारी भी यही है कि इसका भविष्य पीछेसे रचा जायगा। अतः उनके ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है, उनके किये हुए विधानके अनुसार ही सब काम होते हैं।

(४) ऐसे मनुष्य भी बहुत हैं जो किसीके कहनेपर भूत-प्रेतकी बात नहीं मानते और ऐसे भी हैं जो शास्त्र और महापुरुषोंकी बात मानकर भगवान्‌को सर्वव्यापी मानते हैं। इस दुनियामें सभी तरहके प्राणी हैं, मान्यताके लिये सब स्वतन्त्र हैं। अतः कोई ऐसा क्यों मानता है और ऐसा क्यों नहीं मानता, यह प्रश्न नहीं बनता।

(५) जिस प्रकार पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये प्रारब्ध बनता है, उसी प्रकार वर्तमानमें किये हुए नये कर्मोंका प्रारब्ध भी तत्काल बन सकता है; क्योंकि किस कर्मका फल कब दिया जाय, यह फलदाताकी इच्छापर निर्भर है। माता-पिता आदिका जो कर्त्तव्य बताया गया है, उस विधानके अनुसार ही उनको अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये। उनको जो दोष या पाप लगता है, वह तो विधानका उल्लङ्घन करनेके कारण लगता है। विवाह किसके साथ हुआ, लड़कीको सुख हुआ या दुःख, इस कारणसे पिताको पाप नहीं लगता; क्योंकि वे यदि शास्त्र-आज्ञानुसार ठीक सोच-समझकर विवाह करते हैं, उसपर भी यदि सम्बन्ध प्रतिकूल हो जाता है तो उनको पाप नहीं लगता।

(६) राग-द्वेषसे मुक्त होनेका उपाय पूछा सो कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं—

(क) अपने अधिकारका त्याग और कर्तव्यका पालन करना।

(ख) दूसरेके दोषोंको नहीं देखना, अपनी भूलोंको देखना और उनको पुनः न करनेकी दृढ़ धारणा करना।

(ग) अपने सुख-दुःखका कारण किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थितिको न मानना।

(घ) किसी भी व्यक्ति या देवता आदिसे अपने सुखभोगके लिये किसी प्रकारकी चाह न करना।

(ङ) भगवान्‌के दिये हुए विवेकका आदर करना।

(च) प्राप्त बल, बुद्धि और वस्तुओंका अपनी जानकारीके प्रकाशमें ठीक-ठीक उपयोग करना।

इसी प्रकार और भी अनेक उपाय हो सकते हैं, पत्रमें कहाँतक लिखा जाय?

(७) रीति-रिवाजको धर्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि रीति-रिवाज बहुत कारणोंसे प्रचलित होते रहते हैं और बदलते भी रहते हैं। हाँ, कुछ रीति-रिवाज धर्मानुकूल भी होते हैं; अतः अच्छे रीति-रिवाज जो शास्त्रानुकूल हो, वह तो धर्मका ही अङ्ग है; पर शास्त्रविरुद्ध रीति-रिवाज धर्म नहीं, अधर्म है।

सामान्य धर्म तो सभी मनुष्योंके लिये एक-सा होता है और विशेष धर्म वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और भावके अनुसार विभिन्न भी होता है। जैसे माताका धर्म, स्त्रीका धर्म, पुत्रका धर्म, पिताका धर्म, पतिका धर्म, ब्राह्मणका धर्म, क्षत्रियका धर्म, बालकका धर्म, बूढ़ेका

धर्म, धनवान्‌का धर्म, निर्धनका धर्म, आपत्तिमें पड़े हुएका धर्म इत्यादि अनेक भेद हो सकते हैं।

(८) गुरुद्वारा प्राप्त मन्त्रका जप तो गुरुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये। उनके बताये हुए विधानका ही पालन करना चाहिये। इसमें अपनी मन-मौजीसे काम नहीं लेना चाहिये।

(९) स्त्रीकी दीक्षाका विधान नहीं है; क्योंकि विवाह-संस्कार ही उसकी दीक्षा मानी गयी है। पति ही उसका गुरु है, पतिकी दीक्षासे ही स्त्री दीक्षित मानी जाती है, अतः पतिसे अलग उसकी दीक्षा नहीं होनी चाहिये।

(१०) अमुक लोग गीताधर्मानुसार समदर्शनसे संतुष्ट नहीं होते, ऐसी बात नहीं है। असल बात तो यह है कि अपनेको ऊँचा माननेवालोंमें समदर्शनका अभाव है। वास्तवमें तो सभी समदर्शन ही चाहते हैं, समवर्तन नहीं; क्योंकि व्यवहारमें तो समता कोई कर ही नहीं सकता। माँके साथ माँके जैसा, स्त्रीके साथ स्त्रीके जैसा, पुत्रके साथ पुत्रके जैसा व्यवहार तो सबको करना ही पड़ता है। व्यवहारका भेद किसी भी देशमें कोई भी नहीं मिटा सकता। प्रीतिका भेद मिटाया जा सकता है, सबको समानभावसे अपना माना जा सकता है। हर प्रकारसे एक मनुष्य दूसरेके हित करनेका भाव समानभावसे रख सकता है, पर व्यवहारका भेद तो रखना ही चाहिये और रखना ही पड़ेगा।

(११) वर्ण-व्यवस्था बुरी चीज नहीं है। उसमें जो बुराइयाँ और कमी दिखायी दे रही हैं, वह व्यवस्था बिगड़नेके कारण ही है। वर्णोंका विभाजन तो नहीं मिट सकता, वर्तमान प्रणाली बदल सकती है। वास्तवमें मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर तो शास्त्रानुसार वर्ण-विभाजनको सुदृढ़ और सुव्यवस्थित रखना ही है, नये पंथकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह श्रेयस्कर नहीं हो सकता। पर यह किसी एकके कहने-सुननेसे होनेवाला काम नहीं है।

(१२) 'कोटवार, दरवान' यह मेरी समझमें पहरा देनेके काम करनेवालेका बोधक है, किसी वर्णका बोधक नहीं मालूम होता। राजपूत घरानोंमें यह काम पहले दासीपुत्र किया करते थे, ऐसा सुना गया है; इनका श्राद्धादि करनेका अधिकार है या नहीं, यह मैं निर्णय नहीं दे सकता; क्योंकि मुझे पता नहीं है कि ये लोग द्विज हैं या नहीं।

ब्राह्मणोंके खान-पान और गुरुमन्त्रके विषयमें भी उपर्युक्त उत्तर ही समझ लेना चाहिये।

कन्हैया, तेरी जय हो !

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

जीवन की ज्योति जगती पै जगती हो सदा,
हीन हृदयों में आशा-रवि का उदय हो।
कर्मवीरता के सत्य संगर में कूद पड़ें,
शत्रुओं को मारें, मरने में भी न भय हो॥
गीता-ज्ञान-गायक, सुनीति-नय-नायक,
प्रबोध-बोध-दायक, सहायक सदय हो।
देवकी के छैया, बलदाऊजी के भैया,
क्रूर कंस के हनैया, हे कन्हैया ! तेरी जय हो॥

तुम और मैं

दिन-रजनी, तरु-लता, फूल-फल, सूर्य-सोम, झिल-मिल तारे।
प्रतिपल, प्रति पदार्थमें तुम मुझको देते रहते प्यारे॥
कितना दिया, दे रहे कितना, इसका मिलता ओर न छोर।
कितना ही दो, प्यास न बुझती, कहता सदा 'और दो, और'॥
कभी नहीं मन मेरा भरता, कभी न पूरी होती आस।
इतना देनेपर भी, कर अवहेला, रहता सदा उदास॥
सदा कोसता रहता तुमको, सदा बताता रहता दोष।
कभी नहीं कृतज्ञ होता मैं, कभी नहीं पाता संतोष॥
इतनेपर भी तुम प्रभु! मुझको नहीं भूलते पलभर एक।
नहीं ऊबते, नहीं खीझते, देते रहते रख निज टेक॥
जरा दोष-अपराध न गिनते, बिना हेतु करते उपकार।
तुमसे तुम ही अतुल मनस्वी, तुमसे तुम्हीं अमित दातार॥
तुम जो कुछ भी देते, सबमें मधुर सुधारस भरा अनन्त।
है समर्थ कर देनेमें जगकी सारी ज्वालाका अन्त॥
मन मेरा यदि तनिक अमृत-कण लेकर उसमें रम जाता।
मिट जाते सब दुःख, तुम्हारा सुखमय दर्शन पा जाता॥
अब तो तुम ही कृपा करो, तुम ही सब कुछ मनका हर लो।
अपनी मधुर सहज अनुकम्पासे मुझको अपना कर लो॥

—'अकिञ्चन'

वाल्मीकि-रामायणमें श्रीभरतका चरित्र

(लेखक—स्वर्गीय सम्माननीय श्रीश्रीनिवासजी शास्त्री)

इस महाग्रन्थमें श्रीरामके अतिरिक्त भी अनेक महान् व्यक्ति—पुरुष और स्त्री हैं। इसलिये यह तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है कि एकका प्रिय पात्र दूसरेका भी प्रिय हो ही। किसको कौन प्रिय होगा, यह प्रत्येकके जीवनादर्शों-पर अधिकांशमें निर्भर करता है। व्यक्ति-विशेषके चरित्रकी प्रतिक्रिया हमपर कैसी होती है—यह हमारी शिक्षा-दीक्षा कैसी है, महापुरुषोंने इन भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंका चित्र किस रूपमें हमारे सामने खींचा है, हमारा स्वभाव और हमारा व्यक्तित्व कैसा है, इन अनेक बातोंपर भी निर्भर है। मैंने कितनोंको ऐसा भी कहते हुए सुना है कि रामायणके पृष्ठोंमें भरत-जैसा उदात्तचरित्र दूसरा नहीं है। यह सर्वोपरि स्थान लक्ष्मणको देते हुए भी कितनोंकोही सुना है। कोई-कोई यह भी कहते सुने गये हैं कि रामायणमें हनुमान् ही एक उत्कृष्ट आकर्षक व्यक्ति हैं। आपको कदाचित् ज्ञात ही होगा कि विभीषण एक महान् भक्त माना जाता है। कोई उसे लक्ष्मणकी बराबरीका मान देते हैं तो दूसरे लक्ष्मणसे ऊँचा भी। मेरी अपनी दृष्टिसे तो मैं सिवा नायक श्रीरामके और किसीको भी अपना हृदय समर्पित नहीं करता। दूसरे भी महान् हैं, श्लाघ्य हैं, किसी एक या दूसरे या कुछ एक गुणोंके उत्कृष्ट उदाहरण भी हैं। परंतु फिर भी श्रीरामके अतिरिक्त दूसरेके लिये यह कहते मैं कठिनाई अनुभव करता हूँ कि उनके प्रति दूसरेसे अपेक्षाकृत अधिक मेरी श्रद्धा है। मैं सभीका समान पूज्य दृष्टिसे और उनकी उस यथार्थताको समझनेकी आकाङ्क्षासे अध्ययन करता हूँ कि जिससे महाकवि वाल्मीकिने उनका वर्णन किया है और जो उनके अनेक कार्यकलापों एवं कथनोंसे व्यक्त होती है। इस काव्यमें तीन महान् राज्य बताये गये हैं—अयोध्याका, किष्किन्धाका और लङ्काका। रामायणके वर्णनमें इन तीनों राज्योंके ही अधिपति बदले हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि सभीमें बड़ा भाई राज्य खोता है और छोटे भाईको राज्य मिलता है। अयोध्याका राज्य बड़े भाईने अपने ही किसी दोषके कारण नहीं खोया था। उसने वह राज्य प्रसन्नतासे छोटे भाईको समर्पित कर दिया था। दूसरे दो राज्योंमें संघर्ष होता है। बड़ा भाई राज्यके लिये अपना जीवन ही दे देता है और छोटा भाई बड़े भाईकी मृत्यु ही चाहता है। अयोध्याके राज्यके अध्ययनसे एक और महत्त्वकी बात प्रकट होती है। यही नहीं कि श्रीराम प्रसन्नतासे भरतके लिये राज्य छोड़ देते हैं; परंतु भरत स्वयं भी वही आत्मनिवर्तन या त्याग दिखाता है और यदि श्रीराम स्वीकार कर लेते तो वह अवश्य ही उन्हें राज्य लौटा भी देता। यह अवश्य ही एक असाधारण बात है कि प्रत्येक भाई राज्यकी आकाङ्क्षा न करने और दूसरेको दे देनेमें प्रतिस्पर्द्धा करता है। हम बच्चोंके खेलके 'सड़े कद्दू'से इसकी किसी अंशमें तुलना कर सकते हैं। एक बच्चा यह कहकर 'सड़ा कद्दू' दूसरेकी ओर फेंक देता है कि 'मुझे नहीं चाहिये।' दूसरा भी उसे छूकर यह कहते हुए लौटा देता है कि 'मुझे भी नहीं चाहिये।' ऐसा ही अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुआ था। अन्तर इतना ही था कि किसीने उसे 'सड़ा कद्दू' नहीं समझा, अपितु एक ऐसा महान् पारितोषिक कि जिसको अपने-अपने लिये स्वीकार कर लेना कोई भी उचित नहीं मानता था और दूसरेको दे देना धर्म समझता था। इस दृष्टिसे यह अन्तर बड़े ही मार्केका है। परंतु मैं आपको न तो यह सोचने दूँगा और न यही कल्पना करने दूँगा कि मैं यह मान रहा हूँ कि सुग्रीव और विभीषण निश्चय ही राज्यके लोभी थे या वे अत्यधिक महत्त्वाकाङ्क्षामें बह गये थे अथवा वे एक प्रकारके बुरे व्यक्ति थे। नहीं, वे भले पुरुष थे, अत्यधिक भले ही। फिर भी वे अपने बड़े भाइयोंसे राज्य पानेके विरोधी या विरक्त नहीं थे। अवश्य ही वे सोचते थे कि उनके भाई महान् पापी हैं, वे राज्यका बुरा कर रहे हैं और उनके अपने हाथमें आनेपर राज्यकी कदाचित् अच्छी उन्नति होगी। इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि वे राज्य बड़ी उत्कण्ठासे चाह रहे थे और वे इस बातसे भी असहमत नहीं थे कि उनका बड़ा भाई इसलिये भी मारा जाय कि उसके पीछे राजा वे बनें। सुग्रीवके सम्बन्धमें जो श्लोक (चतुर्थ काण्ड, दशम सर्ग, श्लोक १०-११, ३० और अष्टम सर्ग, श्लोक ३९) रामायणमें कहे गये हैं, उन्हें स्मरण करना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि सुग्रीव कितना चाह रहा था कि श्रीराम वालीका जितना भी हो शीघ्र वध करें ताकि उसे राज्य और अपनी पत्नी पुनः प्राप्त हो जायँ। वह राज्यको कभी नहीं भूला। विभीषणके लिये मैं कहूँगा कि जब वह अपने बड़े भाईसे रक्षा पानेके लिये श्रीरामके पास आया तब श्रीरामके प्रमुख सलाहकारोंने यह ठीक ही कल्पना की थी कि विभीषणकी एकमात्र महत्त्वाकाङ्क्षा रावणके पश्चात्

लङ्काका राजा बननेकी है। इसमें कोई भी भूल या भ्रम नहीं था; क्योंकि श्रीराम स्वयं ही यह बात एक प्रकारसे स्वीकार कर लेते हैं। वे स्वयं कहते हैं—'राज्याकाङ्क्षी च राक्षसः' (काण्ड ६, सर्ग १८, श्लोक १३)। 'इसमें उन्हें भी संदेह नहीं है कि यह राक्षस विभीषण राज्य पानेका ही आकाङ्क्षी है।' युद्धके एक संकटकालमें, जब कि युद्ध आरम्भ हुआ ही था और श्रीराम एवं उनके पक्षका भाग्य बहुत ही मन्द दीख रहा था, श्रीराम यहाँतक कह गये कि यदि लक्ष्मण पुनरुज्जीवित नहीं होता और रणक्षेत्रमें प्राण त्याग देता है तो वे भी अपना जीवन उसी क्षण वहीं-का-वहीं समाप्त कर देंगे। उन्होंने अपने सब जनोंसे विदा भी ले ली। विचारोंमें श्रीराम अन्तके इतने निकट पहुँच गये थे; उन्हें ही एक बात सता रही थी। वह यह थी कि जब विभीषण रक्षा माँगता हुआ उनके पास आया, वे उसका प्रतीकरूप राज्याभिषेक करनेको बड़े उतावले थे। यथार्थ राज्याभिषेक तो उसका अभीतक नहीं हुआ था और वह होगा भी कि नहीं—ऐसा अब प्रतीत नहीं हो रहा था। श्रीराम स्वयं कहते हैं—

तच्च मिथ्याप्रलप्तं मां प्रवक्ष्यति न संशयः।

निःसंदेह ही मुझे मेरा वह अपूर्ण वचन, जो मैंने विभीषणको दिया था, दुःख देता है—

यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः।

(६। ४९। २२)*

—कि मैं अपने दिये हुए वचनके अनुसार विभीषणको राक्षसोंका राजा अभीतक नहीं बना सका हूँ।

विभीषण भी यह देखकर कि नाटक अब प्रायः समाप्त हो रहा है, अपनी दशापर शोक करता है और अन्य अनेक बातोंके साथ-साथ यह भी कहता है—जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि 'यद्यपि जीवित हूँ, 'फिर भी मैं बड़े ही संकटमें हूँ।' प्राप्त-प्रतिज्ञश्च रिपुः—'जो आशा मैंने बाँध रखी थी, अब राजा बननेकी वह आशा भी मुझे नहीं रही।'

प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः॥

(६। ५०। १९)

सबसे बुरी बात यह थी कि 'रावणकी इच्छाएँ एक-एक कर सभी पूर्ण हो गयी हैं।'

युद्धकाण्डका एक अद्भुत वाक्य भी इस सम्बन्धमें हमारा ध्यान आकर्षित करता है। अयोध्याका राज्य भरतने श्रीरामके स्थानमें प्रन्यासीरूपसे स्वीकार किया था और चौदह वर्षतक अपने नायककी खड़ाऊँके निर्देशनमें उसे चलाया था। उसके लिये यह राज्य एक पवित्र थाती थी। वनवास-की समाप्तिपर जब राम लौटे, तब भरतने यह कहते हुए उनका स्वागत किया था कि उसकी महत्तम इच्छा आज पूर्ण हो गयी है, आज महत्-प्रत्यास्थापन हो जायगा और सर्वोपरि तो यह कि उस थातीको आज वह सम्हला देगा, जिसका उत्तरदायित्व लेकर उसने आजतक शासन किया था। पहली बात जो उसने की, वह श्रीरामको पादुका फिरसे पहननेकी प्रार्थना थी—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥

(६। १३०। ५२-५३)

उसने स्वयं श्रीरामके चरणोंके नीचे उन्हें रख दिया—

अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।
एतत् ते रक्षितं राजन् राज्यं निर्यातितं मया॥

(६। १३०। ५३-५४)

—और कहा कि 'मैं आपको वह थाती जो आपने मुझे सौंपी थी, सम्पूर्ण-की-सम्पूर्ण लौटा रहा हूँ।'

अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृतश्च मनोरथः।

(६। १३०। ५४)

'मेरा जन्म आज सफल हो गया। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया।'

यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्।

(६। १३०। ५५)

मैंने आपको चौदह वर्ष पहले ही राजा बनानेका प्रयत्न किया था। तब आप लौटने और राज्य लेनेको राजी ही नहीं हुए। आज वह लंबा समय भी बीत गया है और आप लौट आये हैं। मैं यह देखनेको जीवित रहूँगा कि और भी अधिकतम सुख मेरे लिये क्या सम्भव है।

अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं पुरं बलम्।

(६। १३०। ५५)

* सर्वत्र पहला अङ्क काण्डका, दूसरा सर्गका और तीसरा अङ्क श्लोकोंका समझा जाय।

अब पधारिये और कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारका निरीक्षण कीजिये ।

भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दश गुणं मया ।

(६ । १३० । ५६)

आपकी इन चरणपादुकाओंके गूढतम गुणोंसे या प्रसादसे और उनसे प्राप्त प्रोत्साहनसे मैं इस अवधिमें सभीमें—कोश, कोष्ठागार और शस्त्रभंडारमें दसगुनी वृद्धि करनेमें सफल हो सका हूँ ।'

इसके बाद वह अत्यन्त अनोखी घटना घटती है जिसे सुग्रीव, विभीषण और सभी बड़े-बड़े वानर चारों ओर खड़े हुए दोनों भाइयोंके वार्तालापरूपमें बड़े मनोयोगके साथ सुन रहे हैं । एक भाई तो महान् युद्ध जीतकर अपनी पत्नीका एवं प्रतिष्ठाका उद्धार करके राज्य लेनेको लौटता है और दूसरा उसे सभी ओरसे दसगुना बढ़ाकर हृदयकी भरपूर प्रसन्नतासे लौटाता है । यह दृश्य उन सब लोगोंके लिये सहनकी पराकाष्ठाका था, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंको जाग्रत् करनेवाला था । इसीलिये कवि कहते हैं कि वे सब इस अद्भुत दृश्यको देखकर हर्षाश्रु बहा रहे थे—

तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम् ।
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः ॥

(६ । १३० । ५६-५७)

चाहे वानरभाव हो और चाहे राक्षसभाव, परंतु सब इस दृश्यमें गल गये थे । सभी रो रहे थे । मैं यह ठीक-ठीक जाननेको बड़ा उत्सुक हूँ कि उस समय विभीषण और सुग्रीवके मनमें क्या भाव उठ रहे थे । वे अपने बड़े भाईसे कितने डरते थे ? उसके प्रति उनके क्या भाव थे ? उन्होंने कैसी योजनाएँ बनायीं, षड्यन्त्र किये, युद्ध किया और उसकी मृत्युके लिये कितनी प्रार्थनाएँ कीं ? उसके पश्चात् राज्य लेकर वे कितने प्रसन्न थे । जब इसकी तुलना उस दृश्यसे उन्होंने की, जिसे वे सामने देख रहे थे, क्या आश्चर्य है कि वे रोने न लगे हों । उनकी शक्तिसे परेकी भावनाओं-का वह दृश्य था । वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि किन्ही दो भाइयोंमें परस्पर इतना त्याग, प्रेम और श्रद्धा कभी सम्भव है ।

भरतके चरित्रकी विशिष्टताएँ

भरत, सुग्रीव और विभीषण—इन तीनों व्यक्तियोंमेंसे भरत निःसंदेह अपने निराले स्थानपर प्रकाशमान है । उसके वक्तव्योंको पढ़ने एवं उसके किये हुए आचरणका विचा करनेपर यह भास होता है कि उसमें दृढ इच्छा औ तत्परता प्रचुर थी । इनका कुछ प्रमाण तो हमें उ समय मिला ही था जब कि उसने बड़े भाईके प्रति इनक प्रयोग किया था या करनेका प्रयत्न किया था । वह बड़ भाई ही संकल्पमें, महत्ताके पालनके निश्चयमें उससे आगे बढ़ सका था । उसीके सामने भरतको कुछ नवना भी पड़ा । दूसरोंके सामने तो वह, जैसा कि हमने देखा है, अटल ही रहा । उसके कथन सभी दृढ़, निश्चयात्मक और शब्द छलरहित हैं । उनमें कोई झिझक नहीं है । अस्थायित्व नहीं है । धुँधलापन नहीं है । ऐसा भास होता है कि अपने नाना और मामाके साथ अधिक सहवासके कारण मानो वह कुछ विकृत शिशु-सा हो गया था, क्योंकि वह सिवा श्रीरामके और किसीसे कभी भय नहीं करता था । वह क्यों किसीसे डरे ? हम उसे उजड्ड भी कह दे सकते हैं । लक्ष्मण इन्हीं परिस्थितियोंमें किस प्रकारका व्यवहार करते, इसकी तनिक-सी कल्पना ही हमें गुदगुदाती है । दोनों भाइयोंमें कितना बड़ा व्यतिरेक । समान उदात्त, उच्चाशयी और स्वार्थत्यागी; फिर भी परस्पर इतने भिन्न कि आप उन्हें पहचाननेमें कभी भूल नहीं कर सकेंगे । यदि श्रीराम लक्ष्मणसे कहते कि 'यह करो, वह करो' तो वह अवसन्न होकर तत्क्षण मुनि हो जाता । वह और ही कुछ सोचता हो, उसकी यह धारणा भी हो कि श्रीराम, जिसे वह पसंद नहीं करता, ऐसा कुछ अनुचित या कठोर कर रहे हैं, यदि प्रतिवादमें वह एक शब्द ही कहनेका प्रयास कर रहा हो, तो भी ज्यों ही श्रीरामने पैर ठपकाया कि उसका सारा प्रतिवाद समाप्त क्योंकि जहाँ बड़े भाईका सम्बन्ध हो, वहाँ लक्ष्मण स्वयं अपनेको विलय करनेमें ही प्रसन्न था । वह तो निरा सेवक भर था, एक महान् व्यक्तिके कार्यको पूरा करनेका निमित्तमात्र । इससे अधिक कुछ भी नहीं । वह एक प्राणमय निमित्त था और कभी-कभी उसके अपने विचार भी थे । परंतु वे सब श्रीरामके सामने भूमिगत थे । पक्षान्तरमें भरत बिल्कुल ही भिन्न था । जब वह श्रीरामसे भिन्न मत रखता, तब वह कहता—'पूज्य भाईसाहब, मुझे कुछ कहनेके लिये क्षमा करें ।' इस तरह विनम्रतासे प्रारम्भ करते हुए भी जैसा वह विचारता, बिना झिझकके कह ही देता । यह भी कहा जा सकता है कि उसका अपना व्यक्तित्व

था, दृढ़ व्यक्तित्व और वह उसको इस प्रकार प्रकट भी कर देता कि आप भरतका बड़ा सम्मान ही करें। जिस उच्चाशयसे वह अपने बड़े भाईके समक्ष आचरण करता, उसकी आप प्रशंसा ही करेंगे। आप उसके लक्ष्यके दृढ़ संकल्पकी सराहना ही करेंगे। आपने बड़े भाईको अपने विचारोंके अनुकूल बनानेके उपयुक्त ही कौशल दिखानेकी उसकी प्रत्युत्पन्न मतिको भी सराहेंगे। यह सब कुछ करते हुए भी, मुझे संदेह है कि आप लक्ष्मणके प्रति जितना स्नेह करते हों, उतना भरतके प्रति भी कर सकेंगे। आप अपने समस्त हृदयसे लक्ष्मणको चिपटा लेंगे परंतु भरतको आप शीश झुकाकर अभिवादन करते हुए यही कहेंगे—'हाँ, आप महान् हैं। आप बड़े संत हैं।' मान और प्रशंसा दोनों ही मेरे हृदयसे भरतके लिये निकलती हैं, परंतु लक्ष्मणके प्रति तो मेरा सारा स्नेह ही झरता है। मैं नहीं कह सकता कि ऐसा ही आप सबको अथवा आपमेंसे अधिकांशको भी होता है या नहीं। मेरे तो इन महान् पात्रोंके प्रति विचार ये ही हैं। और भी देखिये। जब वशिष्ठने, पिता दशरथकी अन्तक्रिया करनेके उपरान्त भरतको राज्य लेने और अभिषेक करानेको कहा, तब भरतने यही तो उत्तर दिया था—'नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।' यहाँ कवि वाल्मीकि तो यहाँतक कहते हैं—

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥

(२।८२।१०)

सारी सभाके समक्ष ही वह रो पड़ा और साथ ही उस बड़ी परिषद्में उसने अपने वयोवृद्ध गुरुकी निन्दा करनेका भी साहस किया। उसने उनकी निन्दा की और कहा कि 'मुझे आश्चर्य है कि आप-जैसे बुद्धिमान् वयोवृद्ध, वह राज्य जो कि इक्ष्वाकुवंशकी परम्पराके अनुसार मेरे बड़े भाईका है, लेनेके लिये मुझसे कह रहे हैं। आप राज्य लेनेको मुझे कैसे कह सकते हैं? मैं नहीं लूँगा। मैं बड़े भाईके पास जाऊँगा और यह उसका राज्य उसे सौंप दूँगा।' भरत-जैसे नवयुवकका भरी परिषद्में एक वयोवृद्ध और कुलगुरुकी निन्दा करना बड़े ही साहस, बड़े ही आत्मविश्वासका द्योतक है। इस बातको जाने दें तो कहना होगा कि वह बड़ा ही सज्जन था। जब उसको कौसल्याने बुलाया और वह उसके समक्ष उपस्थित हुआ तब उस महिषीने, सहज ही सोचा कि कैकेयीका षड्यन्त्र उसके पुत्रको भी रुचिकर था और इसीलिये ज्यों ही वह पहुँचा, वह उबल पड़ी—

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।

(२।७५।११)

दुर्भाग्यसे तब उसने ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग किया कि जो भरतके लिये छातीमें छुरा भोंकने-जैसे ही थे। भरतको राज्य लेना बिल्कुल ही सम्मत नहीं था। वह उसे लौटा देना चाहता था। उसका निश्चय था कि उसकी माता कैकेयीने बहुत बुरा किया है। परंतु कौसल्याने तो उसके लिये 'राज्यकाम' शब्दका ही प्रयोग कर दिया और कहा कि 'तुम मेरे पुत्रसे राज्य लेनेको प्रत्यक्ष ही चिन्तित हो।'

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना॥

(२।७५।१७)

उसे ऐसा ही लगा कि उसके घावमें तीक्ष्ण सूई भोंक दी गयी है और अधिक दुःख देनेकी गरजसे उसे इधर-उधर घुमाया भी जा रहा है। इतना कहना ही कदाचित् पर्याप्त नहीं था, इसलिये कौसल्याने और भी निष्ठुर शब्द कहे। हम इस वार्तालापका मर्म समझ सकें, इसके लिये कदाचित् यह स्मरण कर लेना भी हमारे लिये आवश्यक है कि जब दशरथने यह जाना कि राज्य रामसे छीनकर भरतको दिया जा रहा है, तब उन्होंने व्यथामें कितनी ही बातें कह डाली थीं, जिनमेंसे एक यह भी थी कि 'यदि भरत निःसंदेह ही अपनी माताके दुर्व्यवहारका लाभ उठाना चाहता है और राज्य ले लेता है अथवा यदि उसका हृदय उसी दिशामें झुकता है तो मैं उसे त्याग दूँगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे मरनेपर मेरी आत्माकी परितुष्टिके लिये वह कुछ भी करे।' जब हम बहुत क्रोधमें होते हैं, तब बहुत बार इस तरह कह देते हैं। जब हम अपने किसी सम्बन्धीसे बहुत क्रोधित हो जाते हैं, तब कहते हैं कि 'जब मैं मरूँ, तब हे मेरे प्रियबन्धु! तुम स्नान भी मत करना, तुम कुछ भी मत करना।' मानो यह एक पुत्रके लिये सम्भव ही है। चाहे पिता-पुत्रके सम्बन्ध कितने ही बिगड़े हुए क्यों न हों, पुत्रको वह सब करना ही होता है। फिर भी जब हम पुत्रको पसंद नहीं करते, सामान्यतः हम यही कहा करते हैं। हम यही चाहते भी हैं कि वह तब कुछ भी न करे। ऐसे ही दशरथने भी कहा था—

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्येदमव्ययम्।
यन्मे स दद्यात् पित्र्यं मां मा तद्दत्तमागमत्॥
(२।४२।९)

'जो कुछ वह मुझे दे, वह मुझे प्राप्त न हो। मैं नहीं चाहता कि वह मुझे प्राप्त हो।' दूसरे शब्दोंमें यह कि 'मैं नहीं चाहता कि वह मेरी अन्त्येष्टि-संस्कारका कोई भी कर्म करे।' दशरथने यह कहा था और कौसल्याको वह स्मरण था। इसलिये भरतको इतना कहकर ही कि तू राज्यकाम है, उसने संतोष नहीं किया अपितु एक पद आगे बढ़कर कहा—हे भरत! अब मुझे और सुमित्राको इस स्थानसे वहाँ जाने दे, जहाँ राम है। हम चित्रकूट जायँगी। मैं अपने साथ अग्निहोत्र ही ले जाऊँगी कि जिससे क्रिया-कर्म उचित रीतिसे तू कर ही न सके।' वह पटरानी थी। उसीका राजाके साथ अभिषेक हुआ था। इसलिये अग्निहोत्र भी उसीके अधिकारमें था। इसीलिये उसने उसे ले जानेका भय भरतको दिखाया।

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥
(२।७५।१४)

मृत पूर्वजोंके लिये किये गये तर्पणकी प्रभावकता मृत और जीवितके मध्य वर्तमान स्नेहपर अधिकांशमें निर्भर करती है, यह एकमात्र विश्वास है और इसीका रामायणमें परोक्ष निर्देशन भी किया गया है। गोविन्दराज और तिलक दोनों भाष्यकार भी इसका यह कहकर समर्थन करते हैं—

'अग्निहोत्रमिति राजदेहस्याप्युपलक्षणम्॥'

भरत कहते हैं कि 'जब वह वनमें श्रीरामसे मिलेंगे, तब कहेंगे कि हमारे पिता देवलोकको प्राप्त हुए हैं। मैंने उनका प्रत्येक क्रिया-कर्म कर दिया है। परंतु तुम्हें भी कुछ करना है और वह तुम करो। यथार्थ तो यह है कि जो कुछ हमारे पिताकी आत्मा या प्रेतका तुम तर्पण करोगे, वह, जो कुछ मैंने किया है उससे कहीं अधिक उन्हें प्रिय होगा।'

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव।
(२।१०१।८)

ऐसा कहा जाता है कि वह कभी बिनाका होगा।

अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः॥
(२।१०१।८)

और तुम हमारे पिताके अत्यन्त लाड़ले थे। क्या नहीं थे?

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप राजा॥
(२।१०१।९)

'दशरथ चले गये हैं। उनकी अन्तिम चिन्ता तुम ही थे। वे तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहे। वे तुम्हें देखना चाहते थे। उनकी समस्त आकङ्क्षा तुममें स्थिर थी। जब तुम चले गये, उनके चित्तका शोक जरा भी शान्त नहीं हुआ। वे निरन्तर तुम्हारा ही स्मरण करते थे। वे दिवंगत हुए और अब जो कुछ भी तुम उन्हें तर्पण करोगे, वह मेरे तर्पणसे उन्हें अत्यधिक प्रिय और संतोषकारक होगा।'

जब कौसल्याने भरतको राज्यकामनाका लाञ्छन लगाया और अग्निहोत्र लेकर चले जानेका डर भी दिखाया कि जिससे अन्तिम क्रिया-कर्म करनेके साधनसे भी वह वञ्चित हो जाय, तब भरतका हृदय मानो टुकड़े-टुकड़े ही हो गया। उसके शोक और संतापका कोई ओर-छोर ही नहीं था। उसने इसका परिचय लोकोंकी जिस परम्परामें दिया, वे अति प्रसिद्ध हैं। एक सम्पूर्ण सर्ग ही इनसे भरा है। इनमें वह शपथपूर्वक कहता है कि उसने श्रीरामका राज्य छोड़कर वन जाना कभी भी नहीं चाहा और यदि उसने ऐसा चाहा हो तो वह अपने ऊपर शापोंकी नदीका ही आह्वान कर लेता है। सारे सर्गके प्रत्येक श्लोकका अन्त इसीलिये 'यस्यार्योऽनुमते गतः' से होता है। इस वाक्यकी अनेक बार पुनरुक्ति होती है। उन सब श्लोकोंको यहाँ दुहराना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः भरतने तब ये सब नहीं कहे होंगे। कविने ही इस व्याजसे मानवधर्म और गुणोंका वर्णन करनेका विचार कर लिया था। इसीलिये वे सारी बातें इन श्लोकोंमें ले आये और उन्हें भरतके मुखमें भी रख दिया और उससे कहलाया कि 'इस धर्मसे चूकने या उस बुराईके करनेवाले व्यक्तिके पाप मुझे लगें' आदि-आदि। भाष्यकार तो यह कहते ही हैं कि कविका ध्येय ही मानवधर्म और गुणोंका पूर्ण वर्णन भरतके मुँहमें रख देनेका था। दो श्लोकोंमें तो ध्वनिका आश्चर्यजनक सम्मिश्रण हुआ है। मुझे तो उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि संस्कृत सीखनेवालोंकी यह परीक्षा

करनेके लिये कि वह स्पष्ट उच्चारण करना सीख गया है या नहीं, इनकी रचना महाकविने की है। देखिये तो—

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥

(२।७५।२३, २५)

—यह श्लोकार्द्ध कितना सरल है। परंतु इसमें इतने 'सकार' हैं कि इसे उच्चारण करनेवाला लड़खड़ा जा सकता है। इनका बार-बार एक साथ उच्चारण स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

जब भरतद्वारा इस प्रकार सशपथ त्याग समाप्त हो गया, तब कौसल्याका हृदय भी उसके प्रति द्रवित हो गया और वह बोली ही तो—'नहीं, नहीं, मैं दुखी हूँ कि मैंने तुमसे ऐसा कहा।'

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि॥

(२।७५।६२)

'तुम तो लक्ष्मणके समान हो, मैं यह भूल ही गयी थी। तुम बड़े अच्छे लड़के हो। सत्यप्रतिज्ञ हो। अपना कहा अक्षरशः तुम पूरा करोगे। सब सज्जन पुरुष जहाँ पहुँचते हैं, उस निर्वाणको तुम अवश्य ही प्राप्त करोगे।' यों कहकर भ्रातृवत्सल भरतको खींचकर माताने अपनी गोदमें ले लिया और वह रोने लगी।

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता॥

(२।७५।६३)

उधर भरतने ऐसा किया कि—

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः॥

(२।७५।६५)

—सारी रात वह भूमिपर लोटता और रामका नाम रटते और सिसकियाँ भरते रोता रहा, कभी सचेत और कभी अचेत। फिर उसने क्रिया-कर्म समाप्तकर, जहाँ राम थे वहाँ जाने और उन्हें लौटा लानेका निश्चय किया। जब रामसे वह प्रत्यक्ष मिला, तब उसने कहा—'देखिये श्रीराम! यदि परिवारमें किसी एकको वनवास भोगना ही है तो वह मुझे भोगने दीजिये। आप लौट जाइये। मैं आपका स्थान ले लूँगा।' श्रीरामने तब उत्तरमें यह कहा कि 'भरत! यह प्रतिनिधि (Proxy) प्रबन्ध किये जानेवाला काम नहीं है। प्रत्येकको अपना कार्य आप ही करना चाहिये।'

रामायण काव्यमें यह विचार बहुत पहले ही प्रकट हो गया है कि भरत श्रीरामके स्थानमें वनवासी हों। चित्रकूट-में यकायक भरतको ऐसा विचार आया हो सो बात नहीं है। अपनी माताके साथ इस दुःखद प्रसङ्गपर बात करते हुए भरतको यह विचार आया था, ऐसा प्रतीत होता है। बातके प्रारम्भमें ही उसने मातासे कह दिया था कि वन जाकर, भाईको वापस लाकर, दासरूपमें संतुष्टचित्तसे उसकी सेवा करते हुए वह उसके (माताके) इरादोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देगा—उसे दुःख देनेके लिये नहीं, अपितु स्वयं अपने ही सुखके लिये।

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥

(२।७३।२७)

वह और भी इससे तब आगे बढ़ा था और उसने कहा था कि वह वनमें रामका स्थान लेकर प्रायश्चित्त करेगा।

आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम्।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम्॥

(२।७४।३१)

अपने भाईको लौटाकर और उसका राज्याभिषेक करके मैं स्वयं ही वनमें चला जाऊँगा और मुनियोंके साथ रहूँगा।

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च॥

(२।७४।८)

'जो चौदह वर्ष वनवास श्रीराम रहते, वही उनके बदले मैं रहूँगा।' इस सबका तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि 'मेरी माँका, जो नामकी ही मेरी माँ है, ध्येय सिद्ध नहीं होना चाहिये।'

न सकामां करिष्यामि स्वमिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति॥

(२।७९।१२)

'मैं वनमें रहूँगा।' इस प्रकार अपनी माँसे वह प्रति-वैर साधना चाहता था। 'तुम मुझे राजा बनाना चाहती थी

और उसे वनवासी। तुम्हें अधिकतम दण्ड मिले, इसलिये हम दोनों भाई अपना-अपना कार्य पलट लेंगे। मैं वन चला जाऊँगा और जितना सम्भव हो, उतना तुम्हें दुखी करूँगा।' यही उसका अभिप्राय है। आपको मालूम ही होगा कि जब वह (भरत) वनमें जाता है, तब गङ्गाके इस पार उसकी गुह (निषादराज) से भेंट होती है। पहले-पहल तो गुह उसको अविश्वाससे देखता है; क्योंकि वह श्रीरामका घनिष्ठ मित्र है। उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रीरामके वनवास दिये जानेके इतने शीघ्र ही भरत इतनी बड़ी सेना और सारे राजमहलको लेकर क्यों उनके पास जा रहा है। इसमें क्या रहस्य है? वह सोचता है अवश्य ही इसमें रामका कोई भला नहीं है। अतः वह भरतसे स्पष्ट ही पूछ लेता है कि 'कहिये, आपका क्या अभिप्राय है?' और ज्यों ही भरत अपना अभिप्राय उससे कह देता है, गुहको पूर्ण संतोष हो जाता है जैसा कि वह कहता है—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
प्रयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥

(२। ८५। १२)

'ओह! तुम कितने महान् हो। तुम्हारा-सा दूसरा मुझे कोई नहीं मिलेगा। बिना किसी भी प्रयत्नके तुम्हें इतना बड़ा राज्य मिल गया था। तुम उसे सम्पूर्ण पद-प्रतिष्ठाके साथ ले भी सकते थे। यदि तुम लेते तो इसके लिये तुम्हें कोई भी बुरा नहीं कह सकता। फिर भी तुम उसको, एक ऐसे ध्येयके लिये जिसे तुम एक महान् धर्म मानते हो, छोड़ दे रहे हो। तुम इतने महान् हो कि मैं तुम्हारे समकक्ष कहीं किसीको देख पाऊँगा, यही मुझे संदेह है।'

और फिर यह सुनकर कि श्रीराम और उनके साथी इस किनारेपर एक रात विश्राम कर चुके थे, भरत दुःख और विषादसे विषम हो जाता है और गुहसे पूछता है कि क्या यही वह स्थान है, जहाँ मेरे भाई और भौजाईने वे सब वैभव परित्याग कर दिये थे कि जिनके वे अधिकारी थे। यहाँ घासपर वे बैठे थे। यहाँ उन्होंने वैभवका सारा सम्भार उतार फेंका था। वे यहाँ केवल मानवमात्र रह गये थे। मित्र! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि कहाँ मेरे भाई सोये थे। कहाँ भौजाई सोयीं थीं और उन्होंने कहाँ क्या-क्या किया था। गुहका कोई भी वृत्त उसे संतुष्ट करे, इतना पूर्ण न था। रातभर वह सुनता रहा और गुहने यह भी कह दिया कि रामने क्यों कोई भोजन नहीं किया और केवल पानी पीकर ही, जिसे कि लक्ष्मण लाये थे, संतोष किया। फिर गुह जब अपने स्थानको लौट गया, भरतने अपने आहत हृदयपर हाथ रखे उन सभी स्थलोंका निरीक्षण किया; क्योंकि वे उन्हें भी उतने ही पवित्र थे जितने कि गुहको। जहाँ सीता सोयीं थीं, वहाँ जाकर भरतने कहा—

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयने शुभा।

'मुझे लगता है कि भौजाई यहाँ आभूषण पहने ही सोयीं थीं। सोते समय उन्होंने उन्हें उतार नहीं दिया था'—

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः॥

(२। ८८। १४)

'क्योंकि मैं यहाँ-वहाँ सोनेके कण देख रहा हूँ।' आभूषण कठोर भूमिसे रगड़ खा गये थे और उस रगड़से उनका सोना थोड़ा बहुत खिर गया था। बहुत दिन भी इसको नहीं हुए थे। इसलिये कुछ अवशेष चिह्न अबतक दीख रहे थे, जैसा कि भरतने कहा था कि 'मैं सोनेके कण यहाँ-वहाँ चौंटे देख रहा हूँ।'

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा।

फिर भरतने कहा 'ओहो, यहाँ उनका रेशमका उत्तरीय भी छिटका होगा।'

तया ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः॥

(२। ८८। १५)

'क्योंकि उसके तन्तु भी तो कुछ यहाँ पड़े दीख रहे हैं।'

फिर भरतने वह स्थान देखा जहाँ कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने सारे वैभवको त्यागकर नितान्त आवश्यक वस्तुएँ रख ली थीं। उसे देखकर वह कहता है—

अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।

'मैं भी यही करनेवाला हूँ। आजसे मैं भी गुदगुदे गद्दोंपर नहीं सोऊँगा। न मैं पलंगका ही उपयोग करूँगा। मैं नग्न भूमिपर सोऊँगा या घासके बिछौनेपर।'

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन्॥

(२। ८८। २६)

'मैं कन्द-मूल-फल ही खाऊँगा और वल्कल ही शरीरपर धारण करूँगा। मैं जटा भी रखूँगा।'

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति॥
(२।८८।२७)

'जो मेरे भाईने प्रण किया है, वह पूर्ण होगा। मैं उनके प्रणका भङ्ग नहीं होने दूगा। उनका प्रण यही तो है कि कोई एक वनवास करे। वह कोई मैं ही होऊँगा। उस प्रणका इस प्रकार प्रतिपालन हो जायगा।'

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति॥
(२।८८।२८)

'जब मैं यहाँ वनमें रहूँगा, तब शत्रुघ्न मेरे साथ रहेगा। लक्ष्मण रामके साथ अयोध्या चला जायगा और राज-काज करेगा।'

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम्॥
(२।८८।२९)

'उन्हें जाने दो और ब्राह्मणोंको उनका वहाँ अभिषेक करने और उन्हें राजा बनाने दो। दैव मेरे इस मनोरथको पूर्ण करे।'

जब भरत श्रीरामसे मिलने गये थे, तब उन्होंने रूक्ष वल्कल पहना था और जटा भी रख ली थी।

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।
(२।१००।१)

इस वेशमें वे रामसे मिलने गये थे। श्रीरामतक पहुँचनेके पहले उन्हें बहुत-सा मार्ग पार करना था और उसे पार करते समय उन्होंने शत्रुघ्नसे, जो उनके साथ-साथ ही चल रहे थे, अपना हृदय खोल दिया था। उस समय भी उन्होंने आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था 'न मे शान्तिर्भविष्यति।' प्रत्येक श्लोक इसी वाक्यमें समाप्त होता है कि 'मेरी आत्माको उस समयतक जरा भी शान्ति नहीं मिलेगी, जबतक ऐसा नहीं हो जायगा।'

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(२।९८।१६)

'जबतक मैं प्रत्येकको देख नहीं लूँगा—श्रीरामको, लक्ष्मणको और वैदेहीको, मुझे शान्ति नहीं है।'

यावन्न चन्द्रसंकाशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(२।९८।१७)

'जबतक मैं अपने भाईका पूर्ण चन्द्रके, विकसित कमलके समान देदीप्यमान मुख नहीं देखता, मुझे शान्ति नहीं है।'

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति॥
(२।९८।१०)

'लक्ष्मण बड़ा ही भाग्यवान् है। मुझे उससे कितनी ईर्ष्या होती है! वह सदा मेरे बड़े भाईके पास ही है। वह सदा उनकी ओर देखता है और उसी मुखकी आभासे उसे प्रेरणा मिलती है।'

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
प्रग्रहीष्यामि शिरसा न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(२।९८।८)

'जबतक मैं भाईको देखकर उनके पैरोंमें नहीं पड़ जाऊँ और उनके चरणयुगल अपने हाथोंमें नहीं ग्रहण करूँ और उन पैरोंमें राजाके स्पष्ट चिह्न नहीं देख लूँ, मुझे शान्ति नहीं होगी।'

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥
(२।९८।९)

'जबतक वे अयोध्या नहीं चले जाते, जबतक कि भिन्न-भिन्न समुद्रों और भिन्न-भिन्न नदियोंके पावन जलका अभिषेक उनके मस्तकपर नहीं चढ़ता और वे राजाका पद एवं वैभव नहीं प्राप्त कर लेते, मुझे शान्ति नहीं है।'

(अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

(शेष आगे)

आस्तिक होनेकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीमोहनसिंहजी कोठारी)

संसारके सब प्राणी निरन्तर प्रवृत्तिमें रत रहते हैं। इस प्रवृत्तिका उद्देश्य क्या है ? वे ऐसा क्यों करते हैं ? जो कुछ हम करते हैं, उसका कारण यह है कि हम कुछ चाहते हैं। मूलतः सब प्राणी सुख चाहते हैं—आइये, आज सुखकी खोज करें।

सुख एक आन्तरिक अवस्थाका नाम है। यह मानना भूल है कि सुख बाह्य अवस्थाओं या भौतिक संयोगोंपर ही निर्भर करता है। उदाहरण लीजिये—कड़कड़ाती धूपमें परिश्रम करता हुआ मजदूर महलोंमें बैठे श्रीमान्‌से अधिक सुखी हो सकता है। अथवा एक ही अवस्थामें दो व्यक्ति रख दिये जायँ तो उनमेंसे एक सुखी और दूसरा दुखी हो सकता है। तो सुख एक आन्तरिक अवस्था है और निर्भर करती है शान्तिपर। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है। अब सुखके लिये हमें शान्ति, सच्ची शान्तिका मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

पुरातन कालसे ही शान्ति प्राप्त करनेके विविध मार्ग विविध व्यक्तियोंद्वारा बताये गये। कुछ लोगोंने शान्ति प्राप्त करनेके ऐसे मार्ग बताये, जिनसे और अशान्ति हुई। भगवान्‌ने इस अन्धकारमें सच्चा मार्ग दिखाया है—संसारमें सामान्य विचरण करनेवाले व्यक्तिके लिये निष्काम और अनासक्त भावोंसे कर्म करते रहनेपर शान्ति मिल सकती है। जहाँ फल और भोगमें आसक्ति रहती है, वहाँ कामना रहती है और कामनामें विघ्न पड़ते ही घोर दुःख होता है। बिना आसक्त हुए विचरना और कर्म करते रहना, पर फिर भी फलकी इच्छा नहीं करना आवश्यक है। इस अवस्थाकी प्राप्ति सरल नहीं—इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कर्मोंको किसी शक्तिके आगे समर्पण कर दिया जाय और फिर उस समर्पणके निमित्त उत्तम कर्म करते रहें।

ऐसी महान् शक्ति, जिसमें संसारभरके सब प्राणियोंके असंख्य कर्मोंका समर्पण स्वीकार करनेकी सामर्थ्य हो, ईश्वरके सिवा और कौन हो सकती है ? इसके अनुक्रमसे यह स्पष्ट हुआ कि जीवनमें सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिये ईश्वरमें पूर्ण विश्वास आवश्यक है। ईश्वरमें विश्वास होनेपर ही हम आत्मसमर्पण कर सकेंगे—

यही आस्तिक होनेकी आवश्यकता है।

मन की पीर हरो

(रचयिता—श्रीगोविन्दजी, बी०-एस्० सी०)

देवता, मन की पीर हरो।

उर मंथित, विश्वास अपरिचित,
स्नेह बिन्दु, करुणा से वञ्चित,
शरण भरण तुम, सुधाबिन्दु से,
मन-मरु क्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

पंथ मोदमय शून्य विवर्द्धित,
जीवन की गति रही अलक्षित,
पंथ दीप तुम, किरण कणोंसे,
मन का तम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

चञ्चल मन, इन्द्रियासक्त तन,
काम, क्रोध विषयादि प्रभञ्जन,
महादृष्टि तुम, अलख नयन से,
अविरत भ्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

अगम, अनन्त, अपार कर्म-पथ,
चरण थकित, निष्प्राण शब्द श्लथ,
अचल भाग तुम, कर-स्पर्श से,
जीवन-श्रम हर लो।
देवता, मन की पीर हरो॥

महान् विभूति बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित नैष्ठिक बालब्रह्मचारी, महान् संस्कृतज्ञ, तपोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराज, कुलपति-संस्थापक, श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय, नरवरका पुण्य-संस्मरण सबको पवित्र करनेवाला है, इसीलिये उनका संक्षिप्त चरित्र यहाँ लिखा जा रहा है। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

जन्म, जाति, स्थान

आप जातिके पूज्य ब्राह्मण थे। आपका जन्म आश्विन शुक्ला ४, संवत् १९३४ विक्रमीमें अलीगढ़में हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका शुभ नाम पं० श्रीरामप्रसादजी महाराज था, जो बड़े ही कुलीन, परम तपस्वी ब्राह्मण थे और वैद्यकका कार्य करते थे तथा बरौलीके रावसाहब करणसिंहजीके राज-पुरोहित थे। आप अपने पिताकी एक ही संतान थे। एक बार जब कि आप केवल पाँच वर्षके ही थे अलीगढ़में स्वामी दयानन्द सरस्वती पधारे। आपके पूज्य पिता पं० श्रीरामप्रसादजी (उपनाम रम्मूजी) आपको अपने साथ दयानन्दजीके पास ले गये। स्वामीजीने आपको आदेश दिया कि आप अपने इस बालकको आर्षग्रन्थ पढ़ाना और इसका पचीस वर्षसे पूर्व विवाह न करना। आपने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और ऐसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की। सर्वप्रथम आपको पं० श्रीजीपालालजीके पास पढ़ने भेजा गया और पूज्य पं० श्रीबद्रीप्रसादजी शुक्लके द्वारा आपका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया गया तथा उन्हींके द्वारा गायत्रीमन्त्रकी दीक्षा भी दी गयी। बादमें आपको सुप्रसिद्ध महान् विद्वान् सनातनधर्म-केसरी वेदभाष्यकार पूज्य पं० श्रीभीमसेनशर्मा शास्त्रीजी महाराजके पास इटावा विद्याध्ययन करने भेज दिया गया। श्रीशर्माजी महाराजसे आपने अष्टाध्यायी, महाभाष्यकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। आपने पूर्णरूपेण शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् यह निर्णय किया कि सनातनधर्म ही एकमात्र सत्य धर्म है और सनातनधर्मकी शरणमें रहनेसे ही जीवका कल्याण हो सकता है; आजके मनमाने मनुष्यकृत पंथ, मत, समाज, मज़हबोंके चक्करमें फँसकर सनातनधर्मसे विमुख होनेसे कोई लाभ नहीं।

आजन्म बालब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा

आपके पूज्य पिताजीने सोचा कि अब आप पूर्ण विद्वान् हो गये हैं और इधर आपकी आयु भी पचीस वर्षकी हो गयी है, इसलिये अब आपका विवाह कर देना चाहिये। चारों ओरसे सम्बन्धवाले भी आने-जाने लगे और जब पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजको यह मालूम हुआ कि पिताजी विवाह-बन्धनमें बाँधकर मुझे संसारके मायाजालमें फाँसने जा रहे हैं, तब आपको बड़ा दुःख हुआ। आपने अपने पूज्य पिताजीसे स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन किया—पूज्य पिताजी ! मैं अपना विवाह नहीं कराऊँगा, मैं आजन्म नैष्ठिक बालब्रह्मचारी रहूँगा और अपना सारा जीवन गायत्रीके जपमें, भजन-पूजनमें, शास्त्राध्ययनमें और देववाणी संस्कृतविद्याका प्रचार करनेमें और सत्य-सनातनधर्मकी, वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करनेमें व्यतीत करूँगा। पण्डित जीवनदत्तजीके मनमें सनातनधर्मकी दुर्दशा देखकर बड़ी पीड़ा हो रही थी। अतएव उन्होंने कहा—पिताजी ! सोचिये तो जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायक, जगन्नियन्ता साक्षात्परब्रह्म परमात्मा भी भगवान् श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर उसकी रक्षा करते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं, जिस सनातनधर्म-की रक्षाके लिये जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्य, जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य विरोधियोंसे टक्कर लेते हैं, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी घासकी रोटियाँ खाते तथा वन-वन भटकते हैं, आज वही मेरा प्राणप्यारा सत्य सनातनधर्म मिटने जा रहा है। क्या यह उचित है कि मैं सनातनधर्मको मिटता देखूँ और विवाह करके विलासी जीवन बिताऊँ ? मैं सनातनधर्मकी रक्षा करना चाहता हूँ और सनातनधर्मकी रक्षा तभी होगी जब कि मेरे धर्म-प्राण भारतके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालक अपनी देववाणी संस्कृतविद्या पढ़ेंगे, अपने वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करेंगे, शास्त्रानुसार अपना जीवन बनायेंगे तथा ब्रह्मचारी, सदाचारी, त्यागी, तपस्वी बनेंगे। यह सब कुछ तभी होगा जब कि मैं स्वयं एक आदर्श तपस्वी बाल-ब्रह्मचारी बनकर सच्चे रूपमें जगत्के सामने आऊँगा। तभी मैं दूसरोंपर भी अपना प्रभाव डाल सकूँगा और सच्चे रूपमें संस्कृतविद्याका प्रचार तथा सनातनधर्मकी रक्षा कर सकूँगा। जबतक कथनी और करनी एक नहीं होती, तबतक कुछ भी नहीं होता।

पूज्य पिताजीने यह बात सुनी तो आप बड़े ही प्रसन्न हुए; पर आप ही उनकी एकमात्र संतान थे, दूसरा कोई भाई नहीं था। इसलिये जब आपके सामने पिताजीने यह प्रश्न रक्खा कि आगेको वंश कैसे चलेगा, तब पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजने अपने पूज्य पिताजीको समझाते हुए कहा—'पिताजी! यदि मैं विवाह कर लूँगा तो मुझे गृहस्थके निर्वाहके लिये वृत्तिके निमित्त विद्या-विक्रय करना पड़ेगा। सो क्या ब्राह्मणकुलमें पैदा होनेपर विद्या-विक्रय करना उचित होगा?' यह सुनकर पिताजीने सहर्ष अपना आग्रह छोड़ दिया।

बरौलीके परित्यागकी घटना

आप परम त्यागी, तपस्वी, महान् विद्वान् ब्राह्मण थे और बरौली जि० अलीगढ़में रहते थे। बरौलीके राजा उस समय परम तेजस्वी क्षत्रियकुलभूषण राजा राव करणसिंहजी महाराज थे। आप उनके राजपुरोहित थे। बरौलीका आपने किस प्रकार परित्याग किया, यह घटना हमें राजा करणसिंहजीके दत्तक पुत्र स्वर्गीय बरौलीनरेश राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल० ए० ने सुनायी थी, जो इस प्रकार है। राजा करणसिंहजी बड़े ही कट्टर सनातनधर्मी राजा थे और श्रीरामानुजसम्प्रदायके श्रीवृन्दावनके श्रीरङ्गाचार्यजी महाराजके शिष्य श्रीवैष्णव थे। परंतु किसी कारणवश एक बार किसी बातको लेकर उनकी पं० श्रीजीवनदत्तजीके पिता पं० श्रीरामप्रसादजीसे कुछ बातमें खटपट हो गयी। पूज्य पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजको एक क्षत्रियके द्वारा अपने पूज्य पिताका अपमान सहन नहीं हुआ। उसी समय आपने बरौलीका परित्याग कर दिया और अपने पूज्य पिताजीको साथ लेकर चले गये। राजा साहबने आपसे करबद्ध क्षमा माँगी; पर आप लौटकर नहीं आये।

देशपर चारों ओर दृष्टि डालकर क्या देखा?

अब आपने यह पूरा-पूरा निश्चय कर लिया कि मैं आजन्म बालब्रह्मचारी रहूँगा और विवाहका नाम नहीं लूँगा। आपने अपने देशकी ओर दृष्टि डालकर देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि चारों ओर प्राचीन संस्कृतकी पाठशालाएँ तो एक-एक करके टूटती चली जा रही हैं और उनकी जगह धर्मप्राण भारतमें गाँव-गाँवमें, कस्बे-कस्बेमें, शहर-शहरमें अँग्रेज़ीके स्कूल-पर-स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटियाँ खुलती चली जा रही हैं, जिनमें लाखों लड़के पढ़-पढ़कर धर्मभ्रष्ट होते चले जा रहे हैं। जिस चोटी-जनेऊकी रक्षाके लिये श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके लड़के, वीर हकीकत और लाखों भारतीय अपने प्राणोंपर खेल गये, जिन्होंने जालिम औरंगज़ेबकी चमचमाती खूनी तलवारसे भी भय नहीं माना, वही चुटिया-जनेऊ आज बात-की-बातमें अँग्रेज़ी पढ़ते ही हिंदू लड़के अपने आप उतारकर फेंक दे रहे हैं। न किसीके सिरपर चोटी है, न गलेमें जनेऊ और न माथेपर तिलक है। कोरे उद्दण्ड, उच्छृङ्खल, खड़े-खड़े मूतनेवाले, बीड़ी-सिगरेटके धूँए उड़ानेवाले, सबकी जूँठी चायकी प्यालियाँ चाटनेवाले, कोट, बूट, टोप, नकटाई डाटनेवाले और ईश्वर, वेद-शास्त्र, धर्म-कर्मकी खिल्ली उड़ानेवाले, दिन-रात विलासिताके चक्करमें घूमनेवाले घोर नास्तिक बनकर निकल रहे हैं। आपका हृदय रो पड़ा। आपसे ऋषिसंतानकी दुर्दशा नहीं देखी गयी। आपने यह निश्चय किया कि मैं स्वयं एक आदर्श परम त्यागी तपस्वी विद्वान् ब्रह्मचारी बनूँगा और अपने-जैसे इस प्रकारके हजारों ब्राह्मणोंको बनाकर निकालूँगा, जिनके सिरोंपर लंबी शिखाएँ होंगी, गलेमें पवित्र यज्ञोपवीत होंगे और माथेपर तिलक होंगे और वेद-ध्वनि करते हुए वे कलियुगमें सत्ययुगका अद्भुत दृश्य उपस्थित करते होंगे। मैं इस प्रकार देववाणी संस्कृतकी, वेद-शास्त्रोंकी और सत्य सनातन-धर्मकी सेवा करके जीवनको सफल करूँगा।

संवत् १९६० में आप अपने साथ अपने पूज्य पिताजीको लेकर नरवर (जिला बुलन्दशहर) चले आये। नरवर उस समय एक निर्जन स्थान था। चारों ओर घोर जंगल-ही-जंगल था। आपने उस निर्जन स्थानमें देखा कि एक टूटा-फूटा भगवान् श्रीशङ्करजी महाराजका मन्दिर है और सामने पतितपावनी, कलिमलहारिणी जगज्जननी श्रीश्रीगङ्गाजी महारानी बह रही हैं। बस, इसे ऋषि-भूमि समझकर और पाँच छात्रोंको लेकर 'विश्वविश्वेश्वरी' पाठशाला, नरवरके नामसे पाठशाला आपने प्रारम्भ कर दी। फूसकी झोंपड़ियाँ डाल लीं और उन्हींमें रहकर इस महर्षिने घोर तपस्या, निरन्तर गायत्रीका जप, त्रिकाल-संध्या, त्रिकाल श्रीगङ्गाका स्नान, ध्यान, भजन पूजन और भगवान् श्रीशङ्करका भजन-पूजन करना प्रारम्भ कर दिया। आप न तो किसी स्त्रीका मुख देखते, न बातें करते और न स्त्रीके हाथका बना भोजन ही करते थे। स्वयं भोजन बनाकर खाते थे। न किसीसे कुछ माँगना और न किसीसे कुछ कहना। बस, श्रीभगवदिच्छासे बिना माँगे जो कुछ मिल गया, उसे स्वयं अपने हाथोंसे बनाना, भगवान्को भोग लगाकर पहले पूज्य पिताजीको भोजन कराना और फिर जो बच गया, उसे पा लेना—यह नियम हो गया। प्रातःकाल

ब्राह्ममुहूर्तमें उठते और शौच आदिसे निवृत्त होकर पतित-पावनी श्रीगङ्गाजी महारानीके स्नानको जाते और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे श्रीगङ्गाजीका स्नान, पूजन, संध्या-वन्दन करके अपनी कुटियामें आकर ग्यारह बजेतक गायत्रीका जप करते, किसीसे भी नहीं बोलते। कभी यदि बोलना भी पड़ जाता तो संस्कृतमें ही बातें करते और फिर दोपहरको श्रीगङ्गा-स्नान और मध्याह्नकी संध्या करते। मन्दिरपर आकर श्रीशङ्करजीका दर्शन करते और फिर अपने हाथों भोजन बनाते। दिनमें छात्रोंको पढ़ाते और संध्याको फिर स्नान-संध्या करते और रात्रिको दस बजेतक गायत्रीका जप करते तथा महाभारतकी, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंकी कथाएँ सुनते। इस प्रकार इस महर्षिका सारा समय पवित्र ब्राह्मणोचित तपस्यामें व्यतीत होने लगा।

धीरे-धीरे पाँच छात्रोंसे बढ़कर पंद्रह छात्र हो गये और कुटियाएँ भी बढ़ने लगीं और भारतके कोने-कोनेसे विद्यार्थियों-का, छात्रोंका आना प्रारम्भ हो गया। श्रीगङ्गा, गायत्री और भगवान् श्रीआशुतोष शङ्करजी महाराजकी ऐसी अद्भुत कृपा हुई कि जंगलमें मङ्गल होने लगा। फूसकी कुटियाओंकी जगह धीरे-धीरे पक्की कुटियाएँ बनने लगीं। वेदभवन बन गया, श्रीशङ्करजीका मन्दिर फिरसे बड़ा सुन्दर बन गया। सैकड़ों विद्यार्थी लंबी-लंबी चोटी लटकाये, गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये और माथेपर तिलक लगाये वेदध्वनि करते, श्रीगङ्गा-तटपर बैठे संध्या-वन्दन करते, श्रीशङ्कर-मन्दिरपर एक साथ उच्च स्वरसे श्रीशङ्कर-स्तोत्रके पाठ करते और रुद्रीका पाठ करते हुए सत्ययुगी दृश्य उपस्थित करने लगे। अब तो वह पाठशाला श्रीसाङ्गवेद-महाविद्यालयके नामसे भारतके कोने-कोनेमें विख्यात हो गयी। खुर्जाके परम भक्त स्वर्गीय सेठ सूरजमलजी आपके परम भक्त बन गये और धनद्वारा विद्यालयकी सेवा करने लगे। बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्री, आचार्योंको बुला-बुलाकर अध्यापक रक्खा गया। इस प्रकार विद्यालय दिनोंदिन उन्नति करने लगा। बड़े-बड़े धनी, अधिकारी, राजा, महाराजा, धर्माचार्य, विद्वान् विद्यालयकी ख्याति सुनकर दर्शनार्थ आने लगे और अद्भुत सत्ययुगी दृश्य देखकर और कुटियामें बैठे घोर तपस्या करते, गायत्री-का जप करते महर्षिको देखकर प्रभावित होने लगे।

महात्माओंका शुभागमन

एक बहुत ही उच्च कोटिके महान् धुरन्धर विद्वान् परम त्यागी तपस्वी संन्यासी प्रातःस्मरणीय अनन्त श्रीदण्डी स्वामी श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजने इस विद्यालयकी ख्याति सुनी और इधर पूज्यपाद ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराजने भी आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी। पूज्य ब्रह्मचारीजी महाराजकी प्रार्थनापर आप विद्यालयमें पधारे और साक्षात् ऋषि-आश्रम देखकर यहींपर निवास करने लगे। इधर भारतकी महान् विभूति परम पूज्यपाद अनन्त-श्रीस्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती श्रीकरपात्रीजी महाराज जब घर-बारका परित्याग करके घरसे निकले, तब आपने किसीसे नरवर-विद्यालयका नाम सुना। फिर क्या था, आप सीधे नरवर चले आये। आपने इस ऋषि-आश्रमकी एक कुटिया-में बालब्रह्मचारी ब्राह्मणश्रेष्ठको गायत्री-जप और घोर तपस्या-में तल्लीन देखा और दूसरी कुटियामें उच्च कोटिके वीतराग ब्रह्मनिष्ठ सर्वशास्त्रनिष्णात दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजके दर्शन किये और चारों ओर वेद-ध्वनिका पवित्र गुंजार सुना। बस, आपने यहीं रहकर विद्याध्ययन करने और घोर तपस्या करनेका निश्चय कर लिया। आप पूज्यपाद श्रीस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराजसे विद्याध्ययन करने लगे। आपका घोर त्याग, तपस्यामय जीवन देखकर विद्यालयकी ख्याति और भी फैल गयी। जिस विद्यालयसे पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराज-जैसे महापुरुष निकलें, उसकी महत्ताको कोई क्या कह या लिख सकता है? जब जगद्गुरु शंकराचार्य शृङ्गेरी पीठाधीश्वरजी महाराजको पता लगा, तब आप भी कृपाकर पधारे और चार महीने ठहरे। जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर, जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठा-धीश्वर श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज-जैसे बड़े-बड़े धर्माचार्य और पूज्यपाद श्रीस्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ उड़िया-बाबाजी महाराज-जैसे संत महीनों आकर ठहरने लगे।

ऐतिहासिक यज्ञके यजमान

जिस समय पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराजने दिल्लीका ऐतिहासिक श्रीशतकुण्डी महायज्ञ कराया, तब आपको उसका यजमान बनाया गया। जिस समय आप यज्ञमें पधारे और भारतके कोने-कोनेसे वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मणोंने आपकी ख्याति सुनी, तब सभी आपके दर्शनोंके लिये टूट पड़े। परम तपस्वी विशालकाय महान् तेजस्वी बालब्रह्मचारीको एक हाथमें कुशा लिये और दूसरेमें माला लिये गायत्रीका जप करते देखकर सबके मस्तक श्रद्धासे आपके श्रीचरणोंमें झुक गये। बड़े-बड़े अंग्रेजतक आपके दर्शन करके और वृद्धावस्थामें भी आपके

इस प्रकारके महान् तेजस्वी शरीरको देखकर दंग रह गये। आप कैसे घोर तपस्वी और तेजस्वी हैं और बड़े-बड़े संत-महात्मा आपको किस प्रकार श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं, यह हमने उस समय देखा कि जिस समय एक बार मेरठमें पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजने एक बहुत बड़ा यज्ञ कराया तथा सबसे पहले आपको बुलाया और स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि जिस यज्ञमें ऐसे परम तपस्वी महर्षि पधारे हैं, इस यज्ञकी सफलतामें क्या संदेह है। पूज्य श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने अपने श्रीवृन्दावनके श्रीकृष्णाश्रमके उत्सवमें जबतक आपको नहीं बुला लिया चैन नहीं लिया।

साक्षात् दयाकी मूर्ति

आप साक्षात् दया-मूर्ति थे। किसीपर कभी क्रोध करना तो आप जानते ही नहीं थे। किसीको भी दुखी नहीं देख सकते थे। जो भी दुखिया आपके सामने आ गया, उसीके दुःख दूर करनेका भरसक प्रयत्न करते थे। जहाँ आपने अपने आश्रमसे हजारों बड़े-बड़े शास्त्री, आचार्य, वेदपाठी बना-बनाकर निकाले, वहाँ आपने हजारों दीन-दुखियोंको नौकरी दिलाकर, रोगियोंको मन्त्र-जप आदि करना बताकर उनकी सहायता की। हजारों, लाखों मनुष्योंको कट्टर सनातनधर्मी, परम आस्तिक, सदाचारी बनाया और हजारोंसे बीड़ी-सिगरेट, चाय-तम्बाकू, शराब-कबाब, मांस-मछली, प्याज-लहसुन, सलजम आदि खाना छुड़ाकर उनके जीवनको पवित्र बनाया।

राजा साहबपर कृपा

आपने बरौलीके राव करणसिंहजीसे अप्रसन्न होकर बरौलीका परित्याग कर दिया था, यह बात राव करणसिंहजीके दत्तकपुत्र राव राजकुमारसिंहजी एम्० एल्० ए० को बराबर खटका करती थी और वे चाहते थे कि महाराज हमें किसी प्रकार क्षमा करें और हमारे राजमहलमें पधारें। आप एक दिन श्रीरामानुजसम्प्रदायके पण्डित श्रीभूदेवशर्माजीके साथ श्रीमहाराजजीके पास पहुँचे और श्रीचरणोंमें जाकर बैठ गये। तदनन्तर महाराजजीसे करबद्ध प्रार्थना की कि 'महाराजजी! अपराध क्षमा कीजिये और किसी प्रकार महलोंमें पधारकर अपनी श्रीचरणरजसे उसे पवित्र कीजिये। महाराजजीका हृदय पिघल गया। आपने कहा—'अच्छा, जाओ; बरौलीमें कोई यज्ञ आदि शुभ काम करो, जिसमें हम भी आयेंगे।' राजा साहबने ऐसा ही किया। उसमें महाराज पधारे। दस-बारह दिन ठहरकर खूब धार्मिक जागृति पैदा की। महाराजजीकी इस असीम कृपाको राजासाहब जीवनपर्यन्त मानते रहे।

धन छूना पाप

आप त्याग-तपस्याकी ऐसी साक्षात् मूर्ति थे कि कभी भूलकर भी रुपये-पैसेका स्पर्श तक नहीं करते थे। कोई कुछ भी दे, आप उसपर हाथ नहीं लगाते थे। आश्रमका दूसरा अध्यापक या विद्यार्थी ही उसे उठाता था। कई बार ऐसा भी देखा गया कि कई बड़े-बड़े सेठ आपके दर्शनार्थ आये और आपके श्रीचरणोंमें पाँच-पाँच सौ रुपयेके नोट रखकर चले गये; पर आपने उनकी ओर ताका तक नहीं और जब कोई आश्रमका आदमी आया, तब उसने उठाया, नहीं तो यों-ही पड़े रहे। यों ही पड़े छोड़कर आप अपने जप-ध्यानमें तल्लीन हो जाते। कोई उठाकर ले जाय या छोड़ जाय, कोई चिन्ता नहीं। किसीसे भी आप कभी एक पाईकी भी याचना नहीं करते थे। जो भी भगवदिच्छासे आ गया, उसीसे निर्वाह करते थे। विद्यालयके निमित्त जो भी आता था, उसमेंसे आप अपने लिये एक पाई भी नहीं लेते थे। वह सब अध्यापकोंमें, विद्यार्थियोंमें खर्च होता था। अपने लिये जो शिष्योंसे आता था, उसीसे निर्वाह करते थे। वर्षमें जो खर्चसे बच जाता था, उस सबका भंडारा कर विद्यार्थियोंमें वितरण कर देते थे। अगले वर्षके लिये एक पाई भी नहीं रहने देते थे।

शास्त्रानुसार श्राद्ध

आप प्रतिवर्ष शास्त्रानुसार बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे अपने पूज्य माता-पिताका श्राद्ध किया करते थे, जिसमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे ब्राह्मण विद्यार्थियोंको पूज्य मानकर उनका पूजन करके उन्हें भोजन कराते तथा उन्हें प्रसन्न करते थे। सब काम शास्त्रानुसार करते थे। आपने कभी यह अभिमान नहीं किया कि मैं घोर तपस्वी हूँ, मुझे अब श्राद्धादि करनेकी क्या आवश्यकता है। आप समय-समयपर सभी कार्य शास्त्रानुसार सनातन धर्मानुसार स्वयं श्रद्धापूर्वक करते थे तथा औरोंको भी करने को कहते थे।

भक्तका काम भगवान् बनाते हैं, इसकी सत्य घटना

श्रीसाङ्ग-वेदविद्यालयमें हमें एक पुराने विद्यार्थी शास्त्रीजीने अपनी आँखों देखी एक आश्चर्यजनक सत्य घटना सुनायी, जो इस प्रकार है—

एक बार विद्यालयमें विद्यार्थियोंके लिये खाने-पीनेका कुछ सामान नहीं रहा और सामान लानेके लिये पैसा भी किसीके पास नहीं बचा। विद्यार्थी और अध्यापक सभी भूखे थे और लगभग दस-ग्यारह बज रहे थे। पूज्य महाराजजी उस समय पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीजीके परम पवित्र तटपर झोंपड़ीमें बैठे गायत्रीके जपमें तल्लीन थे। एक अध्यापकने जाकर प्रार्थना की कि 'श्रीमहाराजजी ! आज तो विद्यालयमें अन्नका एक दाना भी नहीं है। सभी विद्यार्थी भूखे हैं, क्या किया जाय ?' यह सुनकर परम तपस्वी महाराजजी तनिक भी विचलित नहीं हुए और अपने श्रीमद्भगवद्गीताका यह श्लोक कहा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

और पतितपावनी श्रीगङ्गाजी महारानीकी ओर संकेत करते हुए कहा कि 'क्या श्रीगङ्गा माताको हमारी चिन्ता नहीं है ?' ऐसा कहकर ज्यों ही आप आगेको चले तो क्या देखते हैं कि श्रीगङ्गामें एक नौका चली आ रही है और उसमें खाने-पीनेका कचौड़ी-पूड़ी, साग आदि सब सामान है। नौका आकर वहीं ठहर गयी और सब सामान ले जाकर विद्यार्थियोंको खूब छककर भोजन कराया गया। किसी भक्त सेठने यह सब सामान बिना कहे भिजवाया था। इस घटनाको देखकर सब चकित हो गये और श्रीगङ्गाजीकी कृपाको यादकर गद्गद हो गये।

कीर्तनके साथ शास्त्रीय कर्म भी आवश्यक

कुछ लोग भ्रमसे कहने लगे थे कि महाराजजी कीर्तनका विरोध करते हैं; पर ऐसा कहना अज्ञानताका परिचय देना है। हमारे प्रश्न करनेपर स्वयं महाराजजीने बताया था कि 'हम कलिकालमें संकीर्तनको एक मात्र उद्धारका मार्ग मानते हैं; पर साथ ही कीर्तनकी आड़में वर्णाश्रमधर्मका विध्वंस करना, जात-पाँतको मेटना, सबके हाथका खाना-पीना, चोटी-जनेऊ उतार फेंकना और संध्या-वन्दन नित्यकर्म न करना इसे भी घोर पाप मानते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शास्त्रानुसार अपना यज्ञोपवीत करायें, संध्या-वन्दन करें और श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन भी करें तो बहुत शीघ्र कल्याण हो। सब कार्य शास्त्रानुसार, सनातनधर्मानुसार और मर्यादानुसार ही होने चाहिये, तभी कल्याण होगा। मनमानी करनेसे तो लाभके बदले हानि ही होती है।

जीवनभर किसी भी स्त्रीके हाथका भोजन नहीं किया

आप जहाँ अखण्ड नैष्ठिक बालब्रह्मचारी थे, वहाँ आप पचासों वर्षतक अपने हाथोंसे ही भोजन बनाकर पाते रहे और किसी स्त्रीके हाथका बना भोजन तो आपने कभी पाया ही नहीं। अब आपकी पचासी वर्षकी आयु हो गयी थी और बड़े वृद्ध हो गये थे, इसलिये अब कुछ दिनोंसे आपका भोजन आपका एक ब्राह्मण विद्यार्थी बनाने लगा था। बाजारकी बनी तो आपने कभी भी न कोई चीज खायी और न छूयी। बड़े ही आचार-विचारका पालन करनेवाले थे और स्त्रियोंसे दूर रहनेमें ही कल्याण मानते थे। आप श्रीश्री-मारुतिनन्दन भगवान् श्रीहनुमंतलालजी महाराजके अनन्य प्रेमी थे। नित्य श्रीहनुमान्‌जी महाराजके चित्रका चन्दनादिसे पूजन करते थे। आपने साठ वर्षोंतक निरन्तर गायत्रीका जप किया, त्रिकाल संध्या की, श्रीगङ्गास्नान किया और बहुत बड़ी संख्यामें बड़े-बड़े यज्ञ-अनुष्ठान और दुर्गापाठ कराये और हजारों बड़े-बड़े वेदपाठी शास्त्री, आचार्य, कर्म-काण्डी विद्वान् बनाये, जो भारतके कोने-कोनेमें फैलकर सर्वत्र सनातनधर्मका प्रचार कर रहे हैं। पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आपके विद्यालयकी महान् दिव्य विभूति हैं। पं० श्रीसुदर्शनाचार्यजी महाराज, पं० श्रीपातीराम शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पूज्य आचार्य विजय-प्रकाशजी महाराज, पं० श्रीश्यामलाल शर्मा व्याकरणाचार्यजी, पं० श्रीनवनिधि शर्माजी, पं० श्रीबाँकेलाल शास्त्रीजी, पं० श्री-सत्यव्रत शास्त्रीजी आदि बड़े-बड़े विद्वान् आपके विद्यालयसे प्रसूत रत्न हैं।

एक ज्योतिषीद्वारा पंद्रह वर्ष पूर्व ब्रह्मलोकप्रयाणकी तिथि बतानेकी आश्चर्यजनक सत्य घटना

आपके पास पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व एक पं० श्रीरामस्वरूप नामक ज्योतिषी पधारे, जो त्रिकालदर्शी माने जाते थे। उन्होंने आपके सम्बन्धमें भविष्यवाणी करते हुए अपने हाथसे लिखकर दिया था कि 'आपका ब्रह्मलोकप्रयाण चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ को प्रातःकाल ८॥ बजे होगा। उस समय आपके पास प्रातः आपकी कुटियामें एक एकाक्ष (काना) साधु आकर आपके दर्शन करेंगे। उनको देखते ही आप ॐका उच्चारण करके अपना शरीर छोड़ देंगे।' यह लिखा हुआ कागज अभीतक विद्यालयमें रक्खा हुआ है।

एकाक्ष साधुका आना और श्रीमहाराजजीका ब्रह्मलोकप्रयाण करना

भाद्र शुक्ला १४ संवत् २०१२ को अकस्मात् आपको शीतज्वर हो गया, जो फाल्गुन कृष्णा ३० तक बीच-बीचमें आता रहा। आपने किसी भी प्रकार नित्यकर्म करना नहीं छोड़ा, इसलिये दुर्बलता बहुत बढ़ गयी। बहुत-से बड़े-बड़े योग्य वैद्य बुलाये गये और उनकी ओषधि चलती रही। विशेष लाभ कुछ भी नहीं हुआ और दुर्दैवविपाकसे दिनों-दिन अवस्था क्षीण होती गयी। इधर त्रिकालदर्शी ज्योतिषी-जी महाराजका बताया समय भी निकट आ पहुँचा। किसीको क्या पता था कि भारतके महान् संस्कृतज्ञ धुरन्धर विद्वान् सनातनधर्मके महान् सूर्यका अस्त होने जा रहा है? शरीर छोड़नेसे ठीक एक दिन पूर्व एक एकाक्ष (काना) साधु फर्रुखाबादसे नरवरके श्रीमहाराजजीकी किसीसे प्रशंसा सुनकर दर्शनके लिये चले और रात्रिमें नरौरा आकर ठहर गये। प्रातःकाल नरवर आकर श्रीगङ्गास्नान करके वे श्रीमहाराजजीके दर्शनोंके लिये चले। इधर श्रीमहाराजजीको गीताका दूसरा अध्याय सुनाया जा रहा था। वह पूरा हुआ। झटसे एकाक्ष (काना) साधु कुटियामें घुसे और उन्होंने ज्यों ही महाराजजीको प्रणाम किया, त्यों ही महाराजजीने उन्हें देखते ही हरिॐका उच्चारणकर ब्रह्मलोकको प्रयाण कर दिया। ठीक वही चैत्रकृष्णा दशमी गुरुवार संवत् २०१२ का प्रातःकाल ८॥ का समय था। एकाक्ष साधुको देखनेके लिये जनता उमड़ पड़ी और उनके छायाचित्र लिये गये।

भारतभरमें शोक

इस प्रकार हमारे परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय वीतराग ब्रह्मनिष्ठ नैष्ठिक बालब्रह्मचारी तमोमूर्ति पं० श्रीजीवनदत्तजी महाराजका ब्रह्मलोकप्रयाण हो गया। इससे सारे भारतमें एकदम शोककी लहर दौड़ गयी और जगह-जगहसे तार आने लगे। हजारों स्त्री-पुरुष अन्तिम दर्शनोंके लिये दौड़ पड़े। तुरंत जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित १००८ श्रीस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजको सूचना दी गयी और इधर खुर्जासे आपके परम भक्त सेठ श्रीसूरजमल बाबूरामजीने अपनी ओरसे आठ-नौ मन चन्दन, घी, मेवा आदि सामान भेजा, जिससे आपका श्रीगङ्गातटपर अन्तिम दाह-संस्कार किया गया। जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराजने श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए आपको एक विश्वकी महान् विभूति बताया और कहा कि 'आज भारतके महान् तपस्वी ब्राह्मणरूप सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया। श्रीहरिद्वार कुम्भसे पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी महाराज भी मोटरद्वारा पधारे और एक घंटा ठहरकर श्रद्धाञ्जलि भेंटकर काशीको प्रस्थान कर गये। सारे भारतके कोने-कोनेसे तार-चिट्ठियाँ आने लगीं और जगह-जगह स्मृति-सभाएँ हुईं। चैत्र शुक्ला ७ दिन भौमवारको ब्रह्मभोज हुआ, जिसमें कई हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया। पूज्य शास्त्रार्थमहारथी कविरत्न पं० श्री अखिलानन्दजी महाराज, सुप्रसिद्ध आहिताग्नि पं० श्री बालकरामजी शर्मा अग्निहोत्री ऋषिकेश, श्रीस्वामी देवेन्द्रतीर्थ-जी महाराज आदि बड़े-बड़े महानुभाव पधारे और सभीने विराट सभामें आपको अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण कीं। अन्तमें हम भक्तिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए आपके शिष्योंसे करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि जिस सनातनधर्मकी, जिस संस्कृतविद्याकी, हिंदू-सभ्यता-संस्कृतिकी, शास्त्रोंकी रक्षाकी चिन्ता महाराजजी करते रहे, उसी प्रकार रक्षा करना आप भी अपना प्रधान परम कर्तव्य समझकर लगे रहें और इन्हें जिस प्रकार भी हो बचानेका पूरा-पूरा प्राणपणसे प्रयत्न करें।

बोलो सनातनधर्मकी जय

भक्तिसे परमशुद्धि

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः। यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥

(श्रीमद्भागवत ६। ३। ३२)

जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती।

हमारी पद-यात्रा भगवत्-प्रार्थनामात्र है

(प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी)

(श्रीविनोबा)

आज हमको एक भाईने पूछा, 'आपने दिनमें दो दफा पद-यात्रा शुरू की है* पर उससे गाँवमें काम कैसे होगा ? घूमनेका ही काम मुख्य हो जायगा, शरीरको तकलीफ दे-देकर लोगोंपर क्या आप असर डालना चाहते हैं ?' मैंने कहा—'जिसको आप घूमना कहते हैं, वह हमारी प्रार्थना है। श्रुतिकी आज्ञा है कि 'घूमते रहो' इसीलिये हम घूमते रहते हैं। वैसे घूमते रहनेसे ही कार्य होता है, सो बात नहीं, बैठे-बैठे भी काम हो सकता है, लेकिन हमको चलनेकी प्रेरणा हुई। लोगोंके पास हम जाते हैं, तो हमें अच्छा लगता है और लोगोंको भी अच्छा लगता है।' उन भाईने फिर कहा—'दो-दो दफा चला करेंगे तो फिर गाँवमें जाकर झाड़ू लगाना, बातें करना आदि काम आप नहीं कर सकेंगे।' हम कहना चाहते हैं कि ऐसे बाह्य कार्योंपर हमारा बहुत ज्यादा विश्वास भी नहीं है। ये काम गलत तो नहीं हैं, परंतु उनकी शक्ति सीमित है। मुख्य शक्ति जो है वह अन्तरकी है, भगवद्भक्तिकी है।

हमारी यात्रा भगवत्-प्रार्थनाके तौरपर चल रही है और उससे हमारे हृदयको प्रसन्नता होती है। हम नहीं समझते हैं कि लोगोंके साथ बहुत ज्यादा चर्चा करेंगे, तो उसका ही असर होगा। लोक-सम्पर्क होना चाहिये सो तो वह हो ही रहा है। बाकी कार्य भगवत्-प्रार्थनासे होते हैं। वैसे तो प्रार्थना बैठकर भी हो सकती है, परंतु हम चलकर प्रार्थना करना पसंद करते हैं; क्योंकि इसमें आलस्यकी कोई सम्भावना नहीं रहती, सब लोगोंके दर्शन भी होते हैं। हिंदुस्तानके लोगोंमें दर्शन लेनेका जो एक पागलपन है, वह हममें भी है। वे समझते हैं कि दर्शनसे उन्हें कुछ मिलता है। मेरा भी वैसा ही विश्वास है। लोगोंके दर्शन होते हैं तो उससे मेरा कार्य होगा। तात्पर्य यह कि बाहरकी कृतियोंसे ज्यादा काम नहीं होगा, अन्तरकी प्रेरणासे होगा।

हमारा ध्यान इस तरफ रहता है कि हम कितने लोगोंको प्रेमसे खींच सकते हैं। हमारा अनुभव है कि कुछ-न-कुछ तो खींचे जाते हैं। यह 'हम' करते हैं सो बात नहीं। वह तो करनेवाला करता है। परंतु हम घूमते हैं तो हमारे लिये एक सिद्धि होती है, हमको एक साधना मिल जाती है, एक निमित्तमात्र कार्य हो जाता है। परंतु हमारा बोलना, बोलना नहीं है; हमारी चर्चा, चर्चा नहीं है और हमारा घूमना, घूमना नहीं है। ये सब कुछ भगवत्-प्रार्थना मात्र हैं। (ओलिंडियम पट्टू द० अरकाट ता० ६-७-५६)

त्रिभुवनके दीप कौन हैं ?

सधन सगुन सधरम सगन सबल सुसाइँ महीप। तुलसी जे अभिमान बिनु ते तिभुवन के दीप॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि जो पुरुष धनवान्, गुणवान्, धर्मात्मा, सेवकोंसे युक्त, बलवान् और सुयोग्य स्वामी तथा राजा होते हुए भी अभिमानरहित होते हैं, वे ही तीनों लोकोंके उजागर होते हैं।'

—गोस्वामी तुलसीदास

---

* विनोबाजीने ३ जुलाईसे दिनमें दो बार पद-यात्रा शुरू कर दी है। पहले वे केवल सुबहके वक्त ही पद-यात्रा करते थे, अब शामको भी पद-यात्रा करते हैं।

परायी निन्दा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आज, भारतमें ही नहीं, विश्वमें शायद ही कोई ऐसा स्थान होगा, जहाँ कोई किसी की निन्दा नहीं करता हो। सम्भव है इस लोकके उस पार ही जानेपर ऐसा स्थान मिले। आज किसी भी स्थानपर चले जाइये, किसी भी देशमें जाइये, आपको ऐसा व्यक्ति बिरला ही मिलेगा जो दूसरेकी निन्दा करनेमें, दूसरेका अवगुण देखनेमें आन्तरिक सुखका अनुभव न करता हो। कोई भी समाचारपत्र उठा लीजिये, उसमें कालम-के-कालम दूसरोंकी निन्दासे भरे होंगे। यदि आप किसीकी निन्दा कभी न भी सुनना चाहें तो वह सुननेके लिये समाज आपको बाध्य करेगा।

गली-कूचे, राह चलते, दूसरेकी आलोचना सुनते-सुनते कान भले ही थक जायँ, पर ऐसा स्थान मिलना बड़ा ही कठिन है, जहाँ मनुष्य शान्तिके साथ बैठकर केवल अपने ही दिलको टटोलता रहे; केवल भगवान्‌में ध्यान लगाता रहे। हरद्वारमें गङ्गाके पवित्र तटपर स्नान करते समय, ऋषिकेशके पवित्र काननमें पद-यात्रा करते समय, काश्मीरसे लेकर दक्षिण भारतके पवित्र मन्दिरोंमें दर्शन करते समय या अपने ही नगर काशीमें गङ्गातट-पर भी मुझे राम-नामके साथ-साथ किसी-न-किसीकी आलोचना ही सुननी पड़ी। कुछ न हुआ तो सास अपनी पड़ोसिनसे बहूकी निन्दा कर रही होगी, बहू अपने सासकी चीर-फाड़ कर रही होगी, पिता पुत्रका अपयश बखान रहा होगा, या यदि कोई न मिला तो आलोचनाके लिये सबसे सरल और सुलभ विषय देशकी सरकार अथवा उसके नेतावृन्द तो हैं ही। समाचारपत्र सार्वजनिक रुचिका ध्यान न रक्खें तो बिक्रीपर असर पड़ जाय। इसलिये वे स्तुतिको ताकपर रखकर हरेकके दरवाजेपर निन्दाकी कहानियाँ बटोरने जाया करते हैं।

निन्दा तथा आलोचनाका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। मनोविज्ञानका कहना है कि जब मनुष्यको अपनेमें कुछ कमीका आभास होता है, तब वह इस कमीको दूर न करके दूसरेमें उसी कमीकी खोज करता है और इससे उसको शान्ति मिलती है। पर एक बार दूसरेकी कमी-का पता चल जानेपर वह अपने मनके भीतर छिपी उस भावनाको प्रकट करता है, जिसे वह ठीकसे स्वतः समझ नहीं पाया था। उसे अपनी दुर्बलताएँ बुरी लगती हैं। उसके भीतरकी आत्मा उसे उन दुर्बलताओंसे खींच लाना चाहती है, पर नहीं ला सकती। इसलिये वह मनुष्य दूसरोंकी उन्हीं दुर्बलताओंको पुकार-पुकारकर सबके सामने रखकर एक प्रकारसे अपनी रक्षा करना चाहता है। इसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और है। समाजके बन्धनके कारण मनुष्य बहुतसे पाप करना भी चाहता है, पर उसका साहस नहीं होता। विधानके भयसे भी वह अपनी अनेक वासनाओंको दबाये रहता है। पर जब उसे दूसरोंद्वारा किये गये उन्हीं कुकृत्योंकी जानकारी होती है, तब उसकी वासना-बुद्धिको केवल सुनकर या जानकर एक कामुक शान्ति, एक पैशाचिक संतोष प्राप्त होता है। अतृप्त वासनाओंका ऐसा पैशाचिक संतोष इंगलैंड, फ्रांस आदिके समाचारपत्रोंको देखनेसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है। एक दिन मैंने लन्दनमें बैठकर वहाँसे कुछ समाचारपत्रोंका संवाद छाँटना शुरू किया। किन्हीं समाचारपत्रोंमें २४ कालममेंसे दस कालम ऐसे मिले जिनमें केवल दुराचार, भ्रष्टाचार, हत्या, चोरी आदिके संवाद थे। छः सात कालममें विज्ञापन थे और शेष सात कालमोंमें देश-विदेशके अन्य समाचार थे। धार्मिक या सांस्कृतिक ढंगका एक भी समाचार नहीं था। ऐसे समाचारोंका जनसमूहपर क्या

प्रभाव पड़ता है तथा उसकी बुद्धिपर कितनी गंदी छाप पड़ती है, इसका विवेचन शायद आवश्यक नहीं है।

कानपुरमें एक बहुत ही प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी सज्जन श्रीसेन थे। अपने ७९वें वर्षकी अवस्थामें उन्होंने मुझसे सन् १९४० में कहा था कि 'मैंने २५ वर्षसे कोई समाचारपत्र नहीं पढ़ा है और इसलिये नहीं पढ़ा कि उनके पढ़नेसे मनपर अनायास असांस्कृतिक तथा वासनामय बोझ ही पड़ता है, कोई लाभ नहीं होता।' श्रीसेन किसी सार्वजनिक सभामें तभी जाते थे, जब उनको यह विश्वास हो जाता था कि वहाँ केवल समाज-कल्याणकी ही बातें होंगी।

आज वातावरण इतना भ्रष्ट हो गया है कि मानवता भी भयभीत हो उठी है। एक ओर विज्ञानकी पराकाष्ठा हो रही है। वैज्ञानिक कल्पना कर रहे हैं और एक पुस्तकमें तो इस आधारपर भावी समाजकी रूपरेखा बना दी गयी है, कि सन् २०८६ में किसी महान् विदेशी शक्तिकी एक प्रयोगशाला तथा छोटी-सी पल्टन चन्द्रमापर रहेगी और दूसरी सूर्यमण्डलके अति निकट किसी व्योम-भूमिपर। विज्ञानका हौसला इतना बढ़ गया है कि वहाँ कोई राष्ट्र स्वर्गलोकपर भी आधिपत्यका सपना देख रहा है। वैज्ञानिक कल्पना तथा पुरातन युगके राक्षसी संकल्पोंमें भेद मिटता जा रहा है। वृत्रासुर, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, हिरण्यकशिपु, रावण—सभीने तो यही चाहा था कि नवग्रहको अपना सेवक बना लें। इन्द्रपुरीपर आधिपत्य कर लें। इनका जिस प्रकार संहार हुआ, वही इतिहास पुनः लिखा जानेवाला है। पर, आज मनुष्यके लिये जीवनकी दौड़, जीवनका संघर्ष ही सब कुछ है। वह उलटकर पीछे नहीं देख सकता, सँभलकर आगे नहीं चल सकता। एक वेग है, एक प्रवाह है, जो ढकेले लिये चला जा रहा है। आगे पहुँचनेकी इतनी जल्दी है कि अवकाश नहीं है कि भगवान्‌का नाम लिया जाय। आगे बढ़ना है तो बिना दूसरेको धक्का दिये आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। आगे बढ़ना हो तो दूसरेकी छातीपर पैर रखकर, उसे रौंदकर आगे बढ़ो!

ऐसी दूषित भावना जब समाजमें व्याप्त हो जाती है, तब उसका वास्तविक विकास तथा उसकी वास्तविक प्रगति समाप्त समझिये। आज हम जिसे विकास कहते हैं उसे विकासकी व्याख्यामें भी लाना अनुचित है। जिस समाजमें पिता-पुत्र, पति-पत्नीका सम्बन्ध—केवल शिष्टाचारकी सीमातक भी न हो, जिस समाजमें वयोवृद्धोंका आदर न हो जिस समाजमें गुरुजनोंका सम्मान न हो, और जिस समाजमें केवल दूसरेका अवगुण ही देखा जाता हो, वह समाज मानवसमाज नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक युग आवश्यकताओंका युग है। मनुष्य नित्य नयी-नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और उनके पीछे पागलकी तरह घूमता है। केवल खुली हवा तथा स्वस्थ भोजन और अवकाशके समय भगवान्‌का चिन्तन, इतनी थोड़ी आवश्यकतासे मानव-जीवन नीरस समझा जाता है। प्रमोद तथा विनोदके लिये केवल मोटरकार, बिजली, रेडियो या रेफ्रिजरेटर तक ही सीमा नहीं बनती। पुराने युगमें विदेशमें भूखे शेरके सामने निस्सहाय आदमीको छोड़ देते थे और जब शेर उस अभागेको चीरकर खाता था, तब जनतामें करतल-ध्वनि होती थी और अट्टहास होता था। मैंने इटलीकी राजधानी रोममें वह विशाल खुला थियेटरहॉल देखा, जहाँ दो हजार आदमी बैठकर यह नृशंस नाटक देखते थे। वह स्थान खँडहर हो रहा है, पर उसके ईंट-पत्थर उस युगकी साक्षी दे रहे हैं। पर शेरके पेटमें जाते समयकी उस अभागेकी चीत्कारने रोमन साम्राज्यको नष्ट कर दिया और रोमकी कोमल स्त्रियाँ

तथा बच्चे बर्बरोंके जंगली खेमोंमें दास बनकर भूखों मरने लगे ! आज ऐसे नये वैज्ञानिक खेल निकले हैं, जिनमें आदमीका दम घुट-घुटकर निकलता है। प्रयोगके लिये, परीक्षाके लिये छोड़े गये अणुबमसे कितने प्राणी अंधे हो जाते हैं, कितने भयानक रोगोंके शिकार होकर मरते हैं, इसके आँकड़े रूस तथा अमेरिका दोनों छिपा रहे हैं।

आजकी दुनियाका क्या होगा, यह तो भगवान् जानें। पर हम भारतीय जो संसारकी सबसे प्राचीन सभ्यता, दर्शन तथा इतिहास लिये बैठे हैं, वे क्या कर रहे हैं इस संसारको बचानेके लिये ? संसारकी बात न सोचिये तो अपनेको ही बचानेके लिये क्या कर रहे हैं ? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रामायणका पाठ तो काफी होता है; पर किसीने उनकी इस उक्तिको भी ध्यानमें रखा कि 'परनिन्दा सम अघ न गरीसा।' आजका समाजशास्त्र इतना अभिमानी हो गया है कि पाप-पुण्यकी व्याख्या करना भी दोष समझा जाता है। नैतिकताकी नयी व्याख्या बन गयी है। मैंने लंदनमें एक व्याख्यानमें कहा था कि चारों ओर लाख प्रयत्न करनेपर भी चोरी-डकैती आदि जो अपराध बढ़ गये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि समाजमेंसे पाप-पुण्यकी भावना लुप्त होती जा रही है। पहले हम एक छिपकिलीकी दुमपर छड़ी चलानेके समय यह सोचकर रुक जाते थे कि यदि दुम कट गयी तो पाप होगा। अब यह सोचकर छड़ी चला देते हैं कि छिपकिलीकी दुम विज्ञानके अनुसार कुछ विशेष कामकी नहीं होती, उसके कटनेके दुःखसे हमसे कोई सरोकार नहीं है।

यदि हमें समाजको सही मार्गपर लाना है तो सबसे पहले आत्मसमीक्षा करना सीखना होगा। दूसरेका ऐब देखनेके पहले हमको अपना दोष भी देखना होगा। एक विद्वान् मनोवैज्ञानिकने कुछ लोगोंकी परीक्षा लेनेके लिये स्याहपट्टीपर एक सफेद चौकोर खींचकर उसमें सफेद खड़ियासे रंग भर दिया, बीचमें काला बिन्दु लगा दी। फिर लोगोंसे पूछा कि तुमको क्या दिखायी देता है। लोगोंने एक स्वरसे कहा कि 'काला बिन्दु'। तब उस विद्वान्‌ने पूछा, 'और सफेद रंग क्यों नहीं ?'

यही दशा हमारी भी है। हम काला बिन्दु ही देख पाते हैं। सफेद चौड़ा फैला रंग नहीं। जरा-सा ऐब पहाड़-ऐसा दिखायी देता है।

'आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो।'

पर दूसरेका गुण, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, दिखायी ही नहीं देता। बड़े-बड़े महापुरुष, बड़ी-बड़ी विभूतियाँ हमको आदिकालसे यही उपदेश देती आयी हैं—'आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति' अपना-आप ही दूसरेका मापदंड होना चाहिये। अपनी ही उपमासे पुरुष दूसरेके सम्बन्धमें सोचे। जो काम बुरा लगे, दूसरोंमें जो दोष दिखायी पड़े, उन्हें देखकर यह सोचना चाहिये कि उस परिस्थितिमें हम होते तो क्या करते। दूसरेकी निन्दा सुनना पाप इसलिये है कि हमारे कान अपनी निन्दा नहीं सुन सकते। हमारा यही दुर्भाग्य है। जरा हृदयके आइनेमें अपना मुह तो देखना ही चाहिये। ऋषियोंने कहा है—'जो-जो बातें तुम्हें अपने लिये बुरी लगें, दूसरोंके साथ उनको मत करो'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

आज हम स्वतन्त्र हैं। हमारा देश स्वतन्त्र है। हमें आगे बढ़ना है। पर यह बढ़ना दूसरेको गिराकर नहीं, स्वयं अपने पुरुषार्थसे बढ़ना है। अथर्ववेदकी उक्ति है—

'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।'

यदि पुरुषार्थ मेरे दायें हाथमें है तो विजय बायें हाथमें है।

जो इस प्रकारकी भावना लेकर जीवनमें आगे बढ़ता है, वही जीवनमें सफल होता है, आगे चलकर अपनी

सफलताका सुख भी भोग सकता है। चित्तकी शान्ति संसारके सभी वैभवोंसे बड़ी है। चित्तकी वास्तविक शान्तिके लिये सीधे सच्चे मार्गसे चलना होगा। असफलता हो, ठेस लगे, परेशानियाँ हों। पर वह जीवन कैसा, जिसके साथ ये विपत्तियाँ न लगी हों। ये सब तो शरीरके धर्मके साथ हैं।

'अगर आसानियाँ हों, जिंदगी दुश्वार हो जाये'

पर शान्ति और सुख भगवान्‌के चरणोंमें प्राप्त होता है। शरीर नष्ट हो जाता है, जीवन समाप्त हो जाता है, पर यश बना रहता है और क्षितिजके उस पार, परलोकमें भी आत्माकी शान्ति इस संसारके समूचे वैभवसे कहीं अधिक मूल्यवान् है।

गोवध अवश्य बंद होना चाहिये

(श्रीजयप्रकाशनारायणजीका वक्तव्य)

[गत जुलाई १९५६को कलकत्तेमें श्रीजयप्रकाश-नारायणजीने पश्चिमी बंगगोरक्षापरिषद्‌द्वारा प्राप्त एक स्मरणपत्रके उत्तरमें एक वक्तव्य देते हुए कहा—]

गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाने या गोरक्षा करनेके प्रश्न-को आम तौरसे धार्मिक दृष्टिकोणसे उपस्थित किया जाता है। नतीजा यह होता है जो लोग इस विचारसे सहमत नहीं होते, वे इस प्रश्नको वर्तमान बुद्धिवादी युगके लिये संकीर्ण तथा अविचारणीय बताकर टाल देते हैं। मेरे ख्यालसे किसी भी सभ्यताकी दृष्टिसे यह उचित नहीं है कि धार्मिक भावनाओं तथा जनताकी रुचिको पूर्णतः अमान्य कर दिया जाय। यदि ये भावनाएँ गलत ढंगपर आधारित हैं तो शिक्षा और विवेकके द्वारा इनका सुधार किया जाना चाहिये; किंतु जबतक ऐसी भावनाएँ मौजूद हैं, तबतक अन्य धर्मावलम्बियोंद्वारा ही नहीं बल्कि देशके कानूनके द्वारा भी इनका सम्मान होना चाहिये। धार्मिक भावनाओंके संघर्षसे समस्या जटिल हो सकती है, किंतु मेरा ख्याल है कि इस विशेष प्रश्नपर कोई भी धर्म अपनी सहमति नहीं देगा कि पूजा और धार्मिक समारोहके लिये गायकी हत्या होनी चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें यदि कानूनद्वारा गोहत्या-पर प्रतिबन्ध लगा ही दिया जाता है तो इससे किसी भी धर्मके लोगोंकी धार्मिक भावना और विश्वासको किसी प्रकार आघात नहीं पहुँचना चाहिये।

× × ×

क्या यह कहा जा सकता है कि गोवधपर प्रतिबन्धसे किसी मानवीय मूल्यपर आघात पहुँचता है? वस्तुतः स्थिति ठीक इसके विपरीत है, यानी गोवधपर प्रतिबन्ध स्वयं एक महान् मानवीय मूल्यका अनुमोदन है।

गायके सम्बन्धमें हिंदुओंके विचार, मिथ्याविश्वास, अन्धविश्वास अथवा प्राचीन निषेधोंके परिणाम नहीं है।

मानवीय भावना एवं मानव-संस्कृतिके क्रमिक विकासकी विधिसे होकर हमारे पूर्वज अहिंसाके उच्च विचारतक पहुँचे, जो सिर्फ मानव-जातिके लिये ही नहीं, बल्कि समस्त जीवोंके लिये लागू था। सभी जीवोंके साथ क्रमिक तादात्म्य-स्थापनका यह महान् क्रम था। मेरी समझसे ऐसे पशुके रूपमें जिसे चोट नहीं पहुँचायी जानी चाहिये, गायका चुनाव मानवीय भावनाके विकास एवं सभी जीवोंके साथ आत्माके तादात्म्यका प्रतीक था। हमारे जीवनका यह उच्च दर्शन सर्वसाधारण-द्वारा उपयोग एवं हमारे पतनकालमें सम्भव है अन्धविश्वास बन गया हो; पर कोई कारण नहीं कि प्रबुद्ध जन भी इस उच्च विचारको तिलाञ्जलि दे दें।

इस मानवीय एवं नैतिक पहलूके अतिरिक्त गोसंरक्षणका आर्थिक पहलू भी खास एवं आवश्यक महत्त्व रखता है। यहाँ यह भी मैं पूर्ण विनम्रतापूर्वक कहूँगा कि हमारे देशका तथाकथित या आधुनिक जनमत छिछला है। गौ तथा गोवंश, उसका मल-मूत्र, उसकी मृत्युके उपरान्त उसका अवशिष्ट अंश हमारी कृषिप्रधान एवं ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाके अभिन्न अङ्ग-स्वरूप हैं।

जो मशीन एवं तथाकथित वैज्ञानिक तरीकोंसे खेतीका स्वप्न देखते हैं, वे पूर्णतः अवास्तविक संसारमें रहते हैं, जिसका इस देशकी परिस्थितियोंसे कोई ताल्लुक नहीं है। हमारी कृषि तथा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाका भविष्य गाय और बैलपर मुख्यतः निर्भर है। इन आर्थिक पहलुओंके कारण गोसंरक्षण तथा पशुओंका नस्ल-सुधार सर्वोच्च कोटिके राष्ट्रिय दायित्व रूप ग्रहण कर लेता है। अतः यह बड़े खेदकी बात है कि पश्चिम बंगालसरकार गोवधकी समस्याके प्रति इतनी उदासीन रही है। यह सत्य है कि गोरक्षण तथा पशुओंके नस्लसुधारका प्रश्न गोहत्यापर प्रतिबन्धसे ही प्रारम्भ और समाप्त नहीं होता। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि गोवधपर प्रतिबन्ध सम्पूर्ण समस्याके समाधानके लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और गोवधके इस मुख्य सवालको इस समस्यासे सम्बन्धित अन्य प्रश्न उठाकर टालना ठीक नहीं है।

पश्चिमीय बंग-गोरक्षा-परिषद्के स्मृतिपत्रमें यह भी कहा गया है कि पश्चिम बंगालमें इस प्रश्नपर वामपंथी जनमत कांग्रेसी जनमतसे अधिक उदासीन है। दुःखकी बात है कि वामपंथी विचारधारा सहानुभूति-प्रदर्शनमें बहुधा अञ्चलविशेषतक सीमित नहीं रहती; पर इसके सोचनेके ढंग संकीर्ण हैं। देशकी जनता—जिसका ८० प्रतिशत ग्रामीण अञ्चलोंमें निवास करता है—के जीवन एवं समस्याओंके अधिक सम्पर्कमें आनेसे वामपंथी विचारधारा अपनी संकीर्णतासे मुक्त हो सकेगी। वामपंथियोंको अपनी विवेकशीलता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणका भी गौरव है। मुझे लगता है कि भारतकी जैसी स्थिति है, उसमें गोवधपर प्रतिबन्धसे बढ़कर कोई अन्य चीज अधिक वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण नहीं हो सकती।

अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पूर्व मैं अवश्य कहूँगा कि गोवधके प्रश्नको राजनीतिसे पृथक् रक्खा जाय।

मनको सीख

मन, तोसों कोटिक बार कही।
समुझि न चरन गहे गोबिंदके, उर अघ सूल सही॥
सुमिरन, ध्यान, कथा हरिजू की, यह एकौ न रही।
लोभी, लंपट, बिषयिनि सौं हित, यौं तेरी निबही॥
छाँड़ि कनक-मनि रतन अमोलक, काँच की किरच गही।
ऐसौ तू है चतुर बिबेकी, पय तजि पियत मही॥
ब्रह्मादिक, रुद्रादिक, रबि-ससि देखे सुर सबही।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, सुख तिहुँ लोक नहीं॥

—सूरदास

मेरा परिचय

मैं हूँ--भूलोंसे भरा, गुनाहोंका खज़ाना,
कमजोरियोंका पूरा भंडार।
अभिमानका पुतला, मान-बड़ाईका
अति लोभी, भोगवासनाओंका शिकार॥
मैं हूँ--शरीरका पुजारी, काम-क्रोध-
लोभादिका सेवक, भोगोंका गुलाम।
सदा चिन्ताओंमें डूबा हुआ,
अन्तर्ज्वालासे विदग्ध, वेदनाओंका धाम॥

इतनेपर भी—

मैं भगवान् हूँ

क्योंकि कुछ भोले लोग मुझे भगवान् बताते हैं, मानते हैं। मेरी भीतर-बाहरसे पूजा करते हैं और मैं—ना-ना करता हुआ भी, कभी-कभी उनका तिरस्कार तथा खण्डन करता हुआ भी, उसे स्वीकार कर लेता हूँ—बड़ी मीठी अमृत-घूँटकी तरह!

मैं महापुरुष हूँ

क्योंकि बहुत-से नर-नारी—पढ़े-लिखे, अधिकारी पुरुष भी मुझे महापुरुष मानते हैं, कहते हैं और बड़ी निष्ठा-से प्रचार करते हैं। मैं अपनेमें महापुरुषत्वका अपलाप करता हुआ भी महापुरुषोंकी अनन्त महिमाका बखान करते हुए प्रकारान्तरसे उस महिमाका अपनेमें पूर्णरूपसे होना सिद्ध करता हूँ और बड़े सुखका अनुभव होता है मुझे महापुरुष कहलानेमें।

मैं संत हूँ

क्योंकि बहुत-से लोग मुझे पहुँचा हुआ संत मानते हैं, कहते हैं और प्रचार करते हैं। कभी-कभी कुछ खीझ-सी प्रकट करके, कभी-कभी अपने संत होनेका खण्डन करके और कभी-कभी तनिक-सा मुसकराकर मैं इसे स्वीकार कर लेता हूँ।

मैं प्रेमी हूँ

क्योंकि लोगोंके मन मेरे श्रीमुखसे निकली हुई प्रेम-सलिलधारामें बहकर मुझको असली प्रेमी माननेको बाध्य हैं। जब किसी प्रेम-प्रसङ्गपर बोलते समय मेरी बोली लड़खड़ा जाती है, आँखोंमें दो बूँद आँसू आ जाते हैं और मैं उन्हें रूमालसे पोंछने लगता हूँ या कभी-कभी जब मैं आँखें मूँदकर चुप हो जाता हूँ या मेरा शरीर आसनसे लुढ़क पड़ता है, तब तो चारों ओर आनन्दकी लहर दौड़ जाती है। मेरा 'प्रेम' रूप होना सिद्ध हो जाता है। स्त्री-पुरुष सभी मेरी ओर आकर्षित हो जाते हैं और मेरी कृपासे भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं। अहा! मैं मूर्तिमान् प्रेम हूँ!

मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ

क्योंकि जब मैं अजातवाद या विवर्तवादकी व्याख्या करते समय बड़े युक्ति-तर्कोंके साथ जगत्की सत्ताका सर्वथा अभाव अथवा रज्जुमें सर्पभ्रम या स्वप्न-प्रपञ्चकी भाँति जगत्को मिथ्या सिद्ध करता हूँ, तब लोग मुझे सर्वथा राग-द्वेषशून्य ब्रह्मनिष्ठ महात्मा मान लेते हैं और चारों ओरसे मेरी पूजा होने लगती है। नाम-रूपका सर्वथा अभाव सिद्ध करनेवाले मुझको अपने नाम-रूपकी वह पूजा प्यारी तो बहुत लगती है, परंतु मैं प्रकटमें यही कहता हूँ कि जगत् कभी बना ही नहीं।

मैं मस्ताना फ़क़ीर हूँ

जब मैं एक मात्र कौपीन पहने, नंगे छरहरे बदन, सिरकी लटें बिखेरकर, गरदन टेढ़ी करके चश्मेके अंदर दृष्टि स्थिर करके कुछ-कुछ गुनगुनाने लगता हूँ या बाँसुरीके स्वरोंमें उमर खयामकी रुबाइयाँ गाकर मस्त-सा हो जाता हूँ, उस समय लोग मेरी भावभङ्गिमा देखकर चकित हो जाते हैं और यही समझते हैं कि ऐसे मस्त औलिया फकीर तो बस ये ही हैं। और जब मैं मेरी कदमबोसीके लिये उमड़े हुए नर-नारियोंसे अपनेको बचाकर ठहाका मारता हुआ, छलाँग मारकर भाग छूटता हूँ और कुछ दूर जाकर विजयीकी भाँति बाँसुरी बजाने लगता हूँ, तब तो मेरी वह मस्ती सभीको मेरे कदमोंमें बरबस झुका देती है!

—एक कथित मस्त फकीर

मानसके रामकी झाँकी

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

अध्यात्मरहस्यके परम ज्ञाता, कुशल कलाकार और सनातन वैष्णव महात्मा तुलसीदासमें मानवचरित्र-चित्रणकी पूर्ण क्षमता तो थी ही; फिर जिन रामको उन्होंने अपना आराध्यदेव माना, उनमें मानव और दैव गुणोंको किस प्रकार पाया और सजाया, यह थोड़ा विचार करने योग्य विषय है। कालधर्मकी प्रेरणासे जहाँ पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका स्थान कुछ नीचा होने लगा था और शंकरका अद्वैतवाद चल रहा था, इन परिव्राजक, गुप्त प्रचारक और नीति-निर्धारक महात्माका आविर्भाव हुआ। धर्मके द्वन्द्व-कालमें, तर्कमें नीति, भावना और आस्थाका पुट सम्हालकर देना होता है; पर ज्ञान बिना तर्कमें तथ्य कहाँ। उनका आदि गुरु कौन था, यह तो नीचे बताया जायगा; पर बाबा नरहरिदासके द्वारा उनको ज्ञान हुआ मनोजका, महेशका, रमेशका, महावीरका, शिवा और सीताका। सरस्वती-सिद्ध बालक वेद, पुराण और शास्त्रोंकी विजन-मनोरम वीथिकाओं-में विचरण करने लगा। कुशाग्र बुद्धि तर्ककी कसौटीपर कसकर मँज गयी। उन्होंने जान लिया कि महेश और रमेशका और उनके साथ-साथ महावीरका सम्बन्ध अतीव सगा है। यदि महेश रमेशमें रमे हैं तो रमापति गिरिजापतिके अनन्य भक्त हैं। अपनी भक्ति, प्रेम और सेवाकी भावनाएँ उन्होंने बजरंग, विभीषण, केवट, जटायु, लक्ष्मण, जनक और भरतद्वारा लक्षित कर डालीं और अमर कथानक रामचरितमानसका निर्माण किया। तर्क और नीतिसे भरा यह ग्रन्थ भारतीकी अमरनिधि है।

कहना अयुक्त न होगा कि गोस्वामीजीका मन कोमल और भावुक था। मानवसे मानवीमें उनकी श्रद्धा आदिम थी। उनकी जैसी आत्माएँ क्रिया कहीं करती हैं और सोचती कहीं हैं। मातृप्रेमसे वञ्चित बालक मानवद्वारा पालित हुआ और गुरुके श्रीचरणोंमें जा बैठा। गुरुद्वारा आदिशक्ति जगज्जननी जगदम्बाका आभास मिला कि जिनके बिना आदिदेवका कार्यकलाप भी असम्भव है। बालकके सहज हृदयमें जननी और मानवीने अपना स्थान बनाया। पर जननीका मूर्तरूप तो कहीं-ही-कहीं मिला; हाँ एक बार, अनेक बार और सदाके लिये छाप छोड़ जानेवाला, मानवी रूप मिला उनको अपनी प्रेयसी रत्नावलीमें। आसक्ति भी योगकी क्रिया है और गोस्वामीजी भी अपनी रमणीमें सर्वस्व दे रम गये। यहाँतक कि शवको नौकारूप और सर्पको रस्सीरूप देखा। वही रत्नावली उनकी आदि गुरु थी, आदिशक्ति थी, ज्ञान-गरिमा थी और वैराग्य-संदीपनी थी। प्रभाव यह होता है वह 'जोगी जटिल अकाम' शिवको शिवासे बाँध देते हैं और भगवान् रामको सीतासे तथा लक्ष्मणको रामकी भक्ति-क्रिया बना देते हैं।

अब अपने विषयपर आ जायँ, जो रामका नाम और स्वरूप है और नर-नारायण-मिश्रित चरित्र है। नारायण-मिश्रित चरित्र केवल उनके लिये है, जो रहस्यके ज्ञाता थे; पर अहैतुक कौतुकी जहाँ-तहाँ अपनी लीलाएँ और मायाका प्रसार दिखा ही देते थे। पहले बात हम शंकरकी करेंगे; क्योंकि रामनामकी महिमा उन्हींके द्वारा प्रसारित हुई। जो संसार-संहारकर्ता होते हुए भी लोक-कल्याणके विधायक हुए, उन शंकरका स्वरूप देखिये—

एक रूप तो यह है—

'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।'
सिवहि संभु गन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा।
कुंडल कंकन पहिरें ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला।
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा।
गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिव धाम कृपाला।
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चलै बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा।

तथा

बरु बौराह बसहँ असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा।
तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥

यह हुआ अशिव और भयंकर वेश। पर ऐसा वेश क्यों कर सुन्दर, सुखद और महाकल्याणकर हो गया? किसने कौन-सा जादू कर दिया? कहाँसे जगत्-तारणके गुण और जगद्वन्द्यकी उपाधि श्रीशंकरको प्राप्त हुई? देखिये, शंकरजी स्वयं कहते हैं—

'जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं।
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी।

सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपि जेईं पिय संग भवानी ॥

रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्र नाम तातुल्यं रामनाम वरानने ॥

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा । साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा ॥
अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥
बंदउँ राम नाम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई । भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा । चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना । राम भगत समरथ भगवाना ॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनँग आराती ॥
हर हियँ राम चरित सब आए । प्रेम पुलक लोचन जल छाए ॥

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह ।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ॥

बंदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥
मंगल भवन अमंगल हारी । द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥

चिदानंद सुख धाम सिव, बिगत मोह मद काम ।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम ॥
सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु ।
हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु ॥

नाम प्रभाउ जान सिव नीको । काल कूट फल दीन्ह अमी को ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
को बड़ छोट कहत अपराधू ।
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ॥
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें ।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सत कोटि महुँ लिअ महेस जियँ जानि ॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ॥

अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि राम-नामसे अमङ्गलका नाश हो जाता है, अशिव शिव हो जाता है और जापकमें (भक्तमें) मुक्ति देनेकी (भगवान्‌की) सामर्थ्य आ जाती है—

'राम भगत समरथ भगवाना ।'

यही नहीं, यदि भक्त प्रेमसे भगवान्‌का नाम लेकर प्रसादरूपसे विष भी पिये तो वह अमृत हो जाता है—

'काल कूट फल दीन्ह अमी को ।'

इस चिरंतन राम-नामके जापसे शंकर भगवान्‌को क्या प्राप्त हुआ? एक बार नहीं उनके अनेक बार दर्शन हुए, जो—

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

इतना ही नहीं, और सब तो इस प्रकार कहने लगे—

'सुंदर सुखद सकल गुन रासी ।
ए दोउ बंधु (श्रीराम और श्रीलक्ष्मण) संभु उर बासी ।'

'जनक-सुकृत मूरति बैदेही । दसरथ-सुकृत रामु धरें देही ॥
इन्ह सम काहुँ न सिव अवराधे । काहुँ न इन्ह समान फल लाधे ॥
'राम करौं केहि भाँति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानस हंसा ॥
'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई ।
तिमि जनक सिय रामहि समरपी बिस्व कल कीरति नई ॥

पर स्वयं भगवान् राम यों कहते हैं—

जपहु जाइ संकर सत नामा । होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें । अस परतीति तजहु जनि भोरें ॥
'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥

अब यह तो अपने-आप विचार लेनेकी बात है कि कौन भक्त है और कौन भगवान् । जब श्रीभगवान् रामने अपनी समस्त भक्तिका फल श्रीशंकरजीके अधीन कर दिया, तब उनके पास रह क्या गया ?

अब तो भगवान् शंकरको सब कुछ प्राप्त हो गया । तब उनका स्वरूप क्या हो गया ? और संसारमें उनको क्या स्थान प्राप्त हो गया ? प्रत्येक संसारी जीव तो वह स्थान पा ही कैसे सकता है । अंग्रेजीमें कहते हैं'—First deserve, then

desire.') शंकर भगवान् आदि गुरु हैं, अजन्मा हैं और भोगरहित हैं। महात्मा तुलसीदासमें जो बड़ा गुण था वह यह कि हृदयस्थलमें जैसा जिसका चित्र स्थापित करते थे, उसको उसी प्रकारसे अनेक स्थलोंपर अङ्कित करते चले जाते थे। भूल-चूकसे दूर थे।

'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्तिसिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥
.वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन॥
हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।
प्रभु समरथ सरबग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलप तरु नाम॥
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई॥
जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥

उनका (शिवजीका) तप-मँजा-स्वरूप यह था—

निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला।
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा॥
तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबि हारी॥
जटा मुकुट सुर सरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नील कंठ लावन्य निधि सोह बाल बिधु भाल॥
चिदानंद सुख धाम सिव बिगत मोह मद काम।
बिचरहिं महि धरि हृदयँ हरि सकल लोक अभिराम॥

रामचरितमानसकी कथा तो श्रीशंकरजीके हृदयमें स्वतः प्रवहमाण है। श्रीराम भगवान् शंकरके इष्टदेव हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव काक भुसुंडिहि दीन्हा।
कीन्हि प्रस्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥
रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥

ऊपर तीन संकेत किये जा चुके हैं। एक राम-सीताका कि महात्मा तुलसीदासने आदिदेव और आदिशक्तिको साथ बाँधा है। दूसरा राम-लक्ष्मणका कि रामकी भक्ति-क्रिया लक्ष्मण थे। और तीसरा कि शिवजीको रामका बालरूप प्रिय था। महात्मा तुलसीदास आरम्भमें ही कहते हैं—'भवानी शंकरौ वन्दे' 'उमा रमन' 'भवानी शंकर' इत्यादि और—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

अर्थात् वे ही सिया-राम हैं, अकेले राम नहीं। लक्ष्मणके विषयमें कहा जा चुका है।

ए दोउ बंधु संभु उर बासी।

और भी देखिये—

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥
पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥

तथा—

'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥

और—

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

रामके बालरूपके विषयमें कहा जा चुका है—

बंदौं बाल रूप सोइ रामू।

पर जब भक्तकी सहायताका बाना (स्वरूप) होता था, तब 'धनु सायक' वाला स्वरूप ही सामने आता है, अर्थात् पूर्ण प्रस्फुटितरूप गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं।

प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

तथा—

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

यहींपर भगवान् रामका स्वरूप (पूर्ण प्रस्फुटितरूप) देखिये—

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
.....॥

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तव सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥

उर श्रीवत्स रुचिर बन माला । पदिक हार भूषन मनि जाला ॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुज दंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥

तडित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि ॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
बाम भाग सोभित अनुकूला । आदि सक्ति छबि निधि जग मूला॥

तथा—

ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी । चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥

सोइ सरबग्य राम भगवाना ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

अब इतना और देख लिया जाय कि वह बालरूप कौन-सा था, जिसपर 'अकाम' भगवान् शंकर रीझ गये थे ?—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलनि बैठे जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जान जिन देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी । हिय हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनि हार पदिक की सोभा । बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
पीत झगुलिआ तन पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा । सो जानहिं सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥

यह थे वे 'नररूप हरि' 'मंगल भवन अमंगल हारी' और 'सहस्रनामतातुल्यम्', जिनको शंकरजी हृदयमें लिये फिरते हैं और जिनको शंकरसे प्यारा अन्य कोई नहीं ।

अनधिकारी

निज सुख-लेश-वासनाका जिनके मनमें अत्यन्ताभाव ।
केवल कृष्ण-सुखेच्छा-जीवन यह पवित्र श्रीगोपीभाव ॥
सोचा था—इन गोप-देवियोंके समान कर सब कुछ दान ।
सुख पहुँचाऊँगा सुखसागरको, कर निज सुखका बलिदान ॥
मन, प्रति इन्द्रिय, रोम-रोम उनकी सेवा कर होंगे धन्य ।
दुर्लभ ब्रह्मस्पर्श प्राप्तकर सुखसागरके सेवाजन्य ॥
सखी-भाव अलभ्य पाकर मैं, पाकर नित सेवा-अधिकार ।
दिव्य धाममें वास करूँगा, तरकर मायासिंधु अपार ॥
पर जब मनमें घुस देखा तो दीखे भरे अनन्त विकार ।
भोग-वासना नाच रहीं सब, कृष्णप्रेमका बाना धार ॥
कहाँ कामनाग्रस्त नीच मैं काम, मोहका क्रीत गुलाम ।
कहाँ वेद-ऋषि-वाञ्छित पावन श्रीगोपीपद अति अभिराम ॥
कुत्सित काम-वासना मनमें लेकर गोपीपदका नाम ।
अपने काले कर्मोंसे मैं करने चला उसे बदनाम ॥
जो आगे बढ़ता तो झुलसा जाता, पाता दुःख अपार ।
भीषण नरकयन्त्रणा पाता सहज पहुँचकर नरकागार ॥
बचा लिया पर प्रभुने अपनी सहज दयाका कर विस्तार ।
सिद्ध कर दिया—'कामी जनका नहीं प्रेमपथमें अधिकार ॥'

जपका रहस्य

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

लोगोंको 'जप' शब्दसे सहसा मालाका स्मरण होता है। उनके मनमें यह जमा हुआ है कि इष्टदेवका नाम या मन्त्रजप केवल माला लेकर उच्चारण करते हुए बैठकर निश्चित संख्या पूरी कर लेना है। इस रीतिसे आजकल इस भारत-भूमिमें करोड़ोंकी संख्यामें जप हो रहे हैं। प्राचीन साहित्य भी इसका समर्थन करता है—अमुक मन्त्र या नाम-जपसे अमुक लाभ होता है। यथा—

'गायत्रीजपकृद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।'

—आदि वाक्य शास्त्रोंमें कहे गये हैं। यद्यपि इन वाक्योंपर संदेह करना अनुचित है, तथापि इनपर विचार करना सर्वथा वाञ्छनीय है।

जपके सम्बन्धमें सूत्रकार कहता है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'। जिस इष्टदेवके नामका या मन्त्रका जप किया जाय, उसके आशय, हेतु या प्रयोजनका भी विचार किया जाय। माला लेकर मन्त्रका या नामका निश्चित संख्यामें उच्चारण करना एकाङ्गी जप है।

सम्भव है, इस विधिसे कालान्तरमें चित्त एकाग्र होकर विचारमग्न होने लगे। इस प्रकार निर्मल विचारसे चित्तका शुद्ध होना सहज है। शुद्ध चित्तमें इष्टदेवका ध्यान सुगम हो जाता है। ध्यानद्वारा इष्टदेवकी कृपा पाना सम्भव है। यदि जप करते समय अर्थकी (हेतु, आशय, प्रयोजनकी) भावना नहीं रही तो बहुत देरसे फल होता है। इस भावनापर चित्तको जमाना ही यथार्थ ढंग है। यह सात्त्विक कार्य है और सत्त्वगुणप्रधान वृत्तिवाले ही कर सकते हैं। अधिकांश मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हैं। अतः उनका किया हुआ जप यथार्थ फल नहीं देता।

तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥

युगके प्रभावसे मनुष्योंका काम अनधिकार चेष्टाकी कोटिका हो रहा है। इसीसे जप करनेके उपरान्त भी मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्योंने जपकी तीन विधियाँ बतायी हैं। जब बुद्धिसे अक्षरश्रेणी और स्वरयुक्त पदका उच्चारण करके अर्थकी भावना रक्खी जाती है, तब 'मानसजप' कहलाता है। जब जिह्वा-ओष्ठको किंचित् चलाकर, मनमें इष्टदेवका ध्यान रखकर किंचित् श्रवणयोग्य उच्चारण होता है, तब 'उपांशु जप' कहलाता है और जब वैखरी वाचासे उच्चारण किया जाता है, तब वह 'वाचिक जप' कहलाता है। इस तरह 'वाचिक' से 'उपांशु' और 'उपांशु' से मानसिक जप अधिक श्रेष्ठ बताया जाता है।

यह परम्परागत रूढ़ि है। इसमें अधिकांश जनता फँसी हुई है। कहा गया है—'गतानुगतिको लोकः।' संसार ही भेड़िया-धसानका काम करता है। बहिरङ्गवालोंका अनुकरण-प्रिय होना सहज है, इसलिये अधिकांश जनता मनमानी करने लग जाती है। उनको विचार करना कठिन जान पड़ता है।

यहाँ नवीन ढंगसे जपपर विचार किया जाता है। 'जप' शब्दका विश्लेषण करनेसे 'ज' से जन्मजात और 'प' से पालन करना प्रतीत होता है। अतः जपका हेतु अपनी जन्मजात वस्तुका पालन करना है। शरीरनिर्माणमें जठराग्नि, वीर्याग्नि और ज्ञानाग्नि (चेतना) का आरम्भ हुआ है। वेदमन्त्रमें कहा है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।'

'मैं यज्ञके (जीवनके) ऋतु अनुसार काम करनेवाले पूर्व ही रक्खे हुए (स्थित) अग्निदेवकी स्तुति या पूजा करता हूँ। वह आवश्यक सामग्री (आहुति) डालनेवाला और रत्न (श्रेष्ठ वस्तु) धारण करनेवालोंमें सर्वोत्कृष्ट है। हमारे शरीरोंमें अग्निदेव तीन रूपोंमें पूर्व ही स्थित है।'

आयुर्वेदानुसार खान-पानको शुद्ध रखकर जठराग्निका, संयम, नियम या ब्रह्मचर्यसे वीर्याग्निका और ईश्वरार्चन, ध्यान या स्वाध्याय (वेदपाठ आदि) से ज्ञानाग्निका संरक्षण करना चाहिये। इनका यथोचित संरक्षण करना ही 'जप' का ठीक ढंग होगा। जपमें निरन्तर स्मरण करते रहना आवश्यक है और भावनाके प्रतिकूल कामोंको सर्वथा छोड़ देना। यदि बालकोंको कुछ वस्तु (पुस्तक, कलम, पट्टी, कापी, कुर्ता, चप्पल आदि) लानेका वचन दे दो तो वे उस वस्तुका निरन्तर स्मरण करते और माता-पिताको तंग किया करते हैं। उनको तो उस वस्तुकी लौ लग जाती है, मानो वे उस वस्तुका जप करते हैं। यद्यपि यह निकृष्ट जप है, तथापि विधि ठीक है। इसी लौसे हमको अपनी पूर्व स्थित तीनों अग्नियोंका संरक्षण करनेमें सचेत रहना चाहिये।

इन अग्नियोंके सिवा शरीर-रचनामें पञ्च महाभूत (तत्त्व) भी उपस्थित रहते हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने गुणका अधिष्ठान है। पृथ्वीमें क्षमा, जलमें नम्रता, शीतलता, अग्निमें शुद्धता, वायुमें अनासक्ति, गतिशीलता, आकाशमें निर्लेपता है। ये सब हमारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए हैं। नहीं, इनका मिश्रण ही हमारा शरीर है। अतः इन गुणोंका विकास करना आवश्यक है। विषयोंमें फँसकर इन गुणोंको दबा देना ही दुःखों और व्याधिका कारण हो जाता है। इनका संतुलन रखनेसे मनुष्यका मन स्थिर होकर काम करता है। इन्हीं तत्त्वोंसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका आविर्भाव हुआ है। इन तत्त्वोंका संतुलन रखनेसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। इन्द्रियोंके संयमसे मनमें प्रसन्नता आती है। प्रसन्नतासे सब दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्न चित्तसे बुद्धि स्थिर होती है और मनुष्य सुखी होता है। जगमें अर्थकी भावनाहीन मनुष्यका मन अशान्त रहता है। अशान्त कभी सुखी नहीं हो सकता। तीनों अग्नियोंका संरक्षण करके पञ्च-तत्त्वोंका संतुलन रखकर जीवन-निर्वाहार्थ काम करते रहना जीवनोपयोगी जप है, जो निरन्तर करनेका है।

आनन्दकी खोज !

[पुराणकालकी एक चिरस्मरणीय मर्मस्पर्शी घटना]

(लेखक—पं० श्रीराजकुमारजी शर्मा एम्० ए०, प्रभाकर, साहित्यरत्न)

महाराज श्रीपालकी कन्या राजकुमारी सुवासिनीके अलौकिक सौन्दर्यकी कीर्ति दूर-दूरतक फैल गयी थी। देश-विदेशके अनेक सम्राट् उसे पानेके लिये लालायित थे। सुवासिनी उछलते हुए यौवनके सोपानोंपर धीरे-धीरे चढ़ती जा रही थी। अतः महाराज चाहते थे कि सुवासिनी अपने मनोऽनुकूल पतिका वरण करके संसारमें प्रवेश करे।

एतदर्थ महाराजने स्वयंवरकी आयोजना की। लगभग सभी देशोंके नरेश सुवासिनीके स्वयंवरमें उत्सुकतासे निमन्त्रित होकर आये। महाराजने सादर अभ्यर्थना करके, उचित स्थान दे, सभीको सम्मानित किया।

नियत समयपर प्रतिहारीने सभामें राजकुमारी सुवासिनीके आनेकी घोषणा की। सभी नरेश अपने-अपने आसनोंपर भलीभाँति बैठ अपने-अपने सुसज्जित अङ्गोंका सूक्ष्म निरीक्षण करने लगे। उसी समय कञ्चुकीने विधिवत् दण्डावनत हो कहा—महाराज ! यदि आज्ञा हो तो आगत सज्जनोंके सम्मुख सुवासिनी अपना अभिलषित प्रकट करें !

महाराजने अनुज्ञा दी। सुवासिनी कञ्चुकीके साथ एक उच्च आसनपर आकर खड़ी हो गयी। कञ्चुकीने निवेदन आरम्भ किया—

'मान्य अतिथिगण !

आप सभी नरेश अनेक देशोंके स्वामी, सभी प्रकारके वैभव और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। सभी प्रकारकी क्षमता भगवान्ने आपको प्रदान की है और आप सभी नरेश सुवासिनीको अर्द्धाङ्गिनी बनानेको उत्सुक हैं, इसीलिये महाराजके निमन्त्रणपर यहाँ पधारे हैं। राजकुमारी आनन्द और स्वतन्त्रताकी खोजमें व्यग्र हैं। यदि आपलोगोंमेंसे किसीने इनको प्राप्त किया हो तो बतायें ! जिसने आनन्द खोज लिया हो, जो अपने जीवनका आप स्वामी हो, वही भाग्यशाली राजकुमारी सुवासिनीका पाणिग्रहण करेगा।'

सभी नरेश उठकर खड़े हो गये। अभिमानसे उनके मस्तक ऊपर उठ रहे थे। उन्होंने एक साथ कहा—'कञ्चुकी ! राजकुमारीसे कहो, हम सभी नरेश हैं। ऐश्वर्य अहर्निश हमारे चरणोंमें लुढ़कता है, दीन होकर खड़ा रहता है। अधिकार सदा आदेशकी प्रतीक्षामें अवनत रहता है। हम अन्नदाता—याचक-प्रभु हैं। स्वामित्व हमारा अधिकार है। ऐश्वर्य, वैभव और अधिकारके साथ ही आनन्दका उद्भव होता है।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—माननीय नरेशोंका स्वामित्व उनका अपना कहाँ है। वह तो प्रजासे प्राप्त है। उनका सारा जीवन शासनके कठोर नियमोंके अधीन संचालित होता है। अधिकार और ऐश्वर्य राजाओंको निजत्वसे नहीं, प्रतिनिधित्वसे प्राप्त होता है। दूसरोंकी दी हुई वस्तुमें आनन्द कहाँ रहता है।

सभी नरेश अप्रतिभ थे, अधोमुख और निरुत्तर !

जपका रहस्य

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

लोगोंको 'जप' शब्दसे सहसा मालाका स्मरण होता है। उनके मनमें यह जमा हुआ है कि इष्टदेवका नाम या मन्त्रजप केवल माला लेकर उच्चारण करते हुए बैठकर निश्चित संख्या पूरी कर लेना है। इस रीतिसे आजकल इस भारत-भूमिमें करोड़ोंकी संख्यामें जप हो रहे हैं। प्राचीन साहित्य भी इसका समर्थन करता है—अमुक मन्त्र या नाम-जपसे अमुक लाभ होता है। यथा—

'गायत्रीजपकृद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।'

—आदि वाक्य शास्त्रोंमें कहे गये हैं। यद्यपि इन वाक्योंपर संदेह करना अनुचित है, तथापि इनपर विचार करना सर्वथा वाञ्छनीय है।

जपके सम्बन्धमें सूत्रकार कहता है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'। जिस इष्टदेवके नामका या मन्त्रका जप किया जाय, उसके आशय, हेतु या प्रयोजनका भी विचार किया जाय। माला लेकर मन्त्रका या नामका निश्चित संख्यामें उच्चारण करना एकाङ्गी जप है।

सम्भव है, इस विधिसे कालान्तरमें चित्त एकाग्र होकर विचारमग्न होने लगे। इस प्रकार निर्मल विचारसे चित्तका शुद्ध होना सहज है। शुद्ध चित्तमें इष्टदेवका ध्यान सुगम हो जाता है। ध्यानद्वारा इष्टदेवकी कृपा पाना सम्भव है। यदि जप करते समय अर्थकी (हेतु, आशय, प्रयोजनकी) भावना नहीं रही तो बहुत देरसे फल होता है। इस भावनापर चित्तको जमाना ही यथार्थ ढंग है। यह सात्त्विक कार्य है और सत्त्वगुणप्रधान वृत्तिवाले ही कर सकते हैं। अधिकांश मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हैं। अतः उनका किया हुआ जप यथार्थ फल नहीं देता।

तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥

युगके प्रभावसे मनुष्योंका काम अनधिकार चेष्टाकी कोटिका हो रहा है। इसीसे जप करनेके उपरान्त भी मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्योंने जपकी तीन विधियाँ बतायी हैं। जब बुद्धिसे अक्षरश्रेणी और स्वरयुक्त पदका उच्चारण करके अर्थकी भावना रक्खी जाती है, तब 'मानसजप' कहलाता है। जब जिह्वा-ओष्ठको किंचित् चलाकर, मनमें इष्टदेवका ध्यान रखकर किंचित् श्रवणयोग्य उच्चारण होता है, तब 'उपांशु जप' कहलाता है और जब वैखरी वाचासे उच्चारण किया जाता है, तब वह 'वाचिक जप' कहलाता है। इस तरह 'वाचिक' से 'उपांशु' और 'उपांशु' से मानसिक जप अधिक श्रेष्ठ बताया जाता है।

यह परम्परागत रूढ़ि है। इसमें अधिकांश जनता फँसी हुई है। कहा गया है—'गतानुगतिको लोकः।' संसार ही भेड़िया धसानका काम करता है। बहिरङ्गवालोंका अनुकरण-प्रिय होना सहज है, इसलिये अधिकांश जनता मनमानी करने लग जाती है। उनको विचार करना कठिन जान पड़ता है।

यहाँ नवीन ढंगसे जपपर विचार किया जाता है। 'जप' शब्दका विश्लेषण करनेसे 'ज' से जन्मजात और 'प' से पालन करना प्रतीत होता है। अतः जपका हेतु अपनी जन्मजात वस्तुका पालन करना है। शरीरनिर्माणके जठराग्नि, वीर्याग्नि और ज्ञानाग्नि (चेतना) का आरम्भ हुआ है। वेदमन्त्रमें कहा है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।'

'मैं यज्ञके (जीवनके) ऋतु अनुसार काम करनेवाले पूर्व ही रक्खे हुए (स्थित) अग्निदेवकी स्तुति या पूजा करता हूँ। वह आवश्यक सामग्री (आहुति) डालनेवाला और रत्न (श्रेष्ठ वस्तु) धारण करनेवालोंमें सर्वोत्कृष्ट है। हमारे शरीरोंमें अग्निदेव तीन रूपोंमें पूर्व ही स्थित है।'

आयुर्वेदानुसार खान-पानको शुद्ध रखकर जठराग्निका, संयम, नियम या ब्रह्मचर्यसे वीर्याग्निका और ईश्वरार्चन, ध्यान या स्वाध्याय (वेदपाठ आदि) से ज्ञानाग्निका संरक्षण करना चाहिये। इनका यथोचित संरक्षण करना ही 'जप' का ठीक ढंग होगा। जपमें निरन्तर स्मरण करते रहना आवश्यक है और भावनाके प्रतिकूल कामोंको सर्वथा छोड़ देना। यदि बालकोंको कुछ वस्तु (पुस्तक, कलम, पट्टी, कापी, कुर्ता, चप्पल आदि) लानेका वचन दे दो तो वे उस वस्तुका निरन्तर स्मरण करते और माता-पिताको तंग किया करते हैं। उनको तो उस वस्तुकी लौ लग जाती है, मानो वे उस वस्तुका जप करते हैं। यद्यपि यह निकृष्ट जप है, तथापि विधि ठीक है। इसी लौसे हमको अपनी पूर्व स्थित तीनों अग्नियोंका संरक्षण करनेमें सचेत रहना चाहिये।

इन अग्नियोंके सिवा शरीर-रचनामें पञ्च महाभूत (तत्त्व) भी उपस्थित रहते हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने गुणका अधिष्ठान है। पृथ्वीमें क्षमा, जलमें नम्रता, शीतलता, अग्निमें शुद्धता, वायुमें अनासक्ति, गतिशीलता, आकाशमें निर्लेपता है। ये सब हमारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए हैं। नहीं, इनका मिश्रण ही हमारा शरीर है। अतः इन गुणोंका विकास करना आवश्यक है। विषयोंमें फँसकर इन गुणोंको दबा देना ही दुःखों और व्याधिका कारण हो जाता है। इनका संतुलन रखनेसे मनुष्यका मन स्थिर होकर काम करता है। इन्हीं तत्त्वोंसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका आविर्भाव हुआ है। इन तत्त्वोंका संतुलन रखनेसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। इन्द्रियोंके संयमसे मनमें प्रसन्नता आती है। प्रसन्नतासे सब दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्न चित्तसे बुद्धि स्थिर होती है और मनुष्य सुखी होता है। जगमें अर्थकी भावनाहीन मनुष्यका मन अशान्त रहता है। अशान्त कभी सुखी नहीं हो सकता। तीनों अग्नियोंका संरक्षण करके पञ्च-तत्त्वोंका संतुलन रखकर जीवन-निर्वाहार्थ काम करते रहना जीवनोपयोगी जप है, जो निरन्तर करनेका है।

आनन्दकी खोज !

[पुराणकालकी एक चिरस्मरणीय मर्मस्पर्शी घटना]

(लेखक—पं० श्रीराजकुमारजी शर्मा एम्० ए०, प्रभाकर, साहित्यरत्न)

महाराज श्रीपालकी कन्या राजकुमारी सुवासिनीके अलौकिक सौन्दर्यकी कीर्ति दूर-दूरतक फैल गयी थी। देश-विदेशके अनेक सम्राट् उसे पानेके लिये लालायित थे। सुवासिनी उछलते हुए यौवनके सोपानोंपर धीरे-धीरे चढ़ती जा रही थी। अतः महाराज चाहते थे कि सुवासिनी अपने मनोऽनुकूल पतिका वरण करके संसारमें प्रवेश करे।

एतदर्थ महाराजने स्वयंवरकी आयोजना की। लगभग सभी देशोंके नरेश सुवासिनीके स्वयंवरमें उत्सुकतासे निमन्त्रित होकर आये। महाराजने सादर अभ्यर्थना करके, उचित स्थान दे, सभीको सम्मानित किया।

नियत समयपर प्रतिहारीने सभामें राजकुमारी सुवासिनीके आनेकी घोषणा की। सभी नरेश अपने-अपने आसनोंपर भलीभाँति बैठ अपने-अपने सुसज्जित अङ्गोंका सूक्ष्म निरीक्षण करने लगे। उसी समय कञ्चुकीने विधिवत् दण्डावनत हो कहा—महाराज ! यदि आज्ञा हो तो आगत सज्जनोंके सम्मुख सुवासिनी अपना अभिलषित प्रकट करें !

महाराजने अनुज्ञा दी। सुवासिनी कञ्चुकीके साथ एक उच्च आसनपर आकर खड़ी हो गयी। कञ्चुकीने निवेदन आरम्भ किया—

'मान्य अतिथिगण !

आप सभी नरेश अनेक देशोंके स्वामी, सभी प्रकारके वैभव और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। सभी प्रकारकी क्षमता भगवान्ने आपको प्रदान की है और आप सभी नरेश सुवासिनीको अर्द्धाङ्गिनी बनानेको उत्सुक हैं, इसीलिये महाराजके निमन्त्रणपर यहाँ पधारे हैं। राजकुमारी आनन्द और स्वतन्त्रताकी खोजमें व्यग्र हैं। यदि आपलोगोंमेंसे किसीने इनको प्राप्त किया हो तो बतायें ! जिसने आनन्द खोज लिया हो, जो अपने जीवनका आप स्वामी हो, वही भाग्यशाली राजकुमारी सुवासिनीका पाणिग्रहण करेगा।'

सभी नरेश उठकर खड़े हो गये। अभिमानसे उनके मस्तक ऊपर उठ रहे थे। उन्होंने एक साथ कहा—'कञ्चुकी ! राजकुमारीसे कहो, हम सभी नरेश हैं। ऐश्वर्य अहर्निश हमारे चरणोंमें लुढ़कता है, दीन होकर खड़ा रहता है। अधिकार सदा आदेशकी प्रतीक्षामें अवनत रहता है। हम अन्नदाता—याचक-प्रभु हैं। स्वामित्व हमारा अधिकार है। ऐश्वर्य, वैभव और अधिकारके साथ ही आनन्दका उद्भव होता है।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—माननीय नरेशोंका स्वामित्व उनका अपना कहाँ है। वह तो प्रजासे प्राप्त है। उनका सारा जीवन शासनके कठोर नियमोंके अधीन संचालित होता है। अधिकार और ऐश्वर्य राजाओंको निजत्वसे नहीं, प्रतिनिधित्वसे प्राप्त होता है। दूसरोंकी दी हुई वस्तुमें आनन्द कहाँ रहता है।

सभी नरेश अप्रतिभ थे, अधोमुख और निरुत्तर !

सभामें सन्नाटा था । कञ्चुकीने पुनः घोषणा की—अब कोई भी व्यक्ति, जो राजकुमारी सुवासिनीके अभिलषित-को पूरा करे, राजकुमारीका पाणिग्रहण कर सकता है ।

पथ खुल गया था ।

सम्मानित व्यापारियोंका दल सामने आया । कञ्चुकीने पूछा—आप क्या कहते हैं ?

'देवीसे निवेदन करो'—व्यापारियोंने कहा—'हम स्वतन्त्र हैं और अपने स्वामी भी । हम किसीके अधीन होकर व्यापार नहीं करते । स्वाधीन बुद्धिबल ही हमारा जीवन है । लक्ष्मी हमारी सहचरी है और लक्ष्मीके साथ ही आनन्दका संयोग होता है ।'

राजकुमारीने उत्तर दिया—तुमलोग अपने जीवनके स्वामी कहाँ हो ? तुम्हारा जीवन तो धनकी अधीनतामें बीतता है । तुम्हारी स्वाधीन बुद्धि और तुम्हारा आनन्द भी धनके हानि-लाभके साथ बनता-बिगड़ता है ।

बात सच थी । व्यापारी हार मानकर बैठ गये ।

सेनानियोंके वक्षःस्थल सदा विजयसे फूले रहते हैं । उन्होंने आगे बढ़कर कहा—'राजकुमारी ! हमारी स्वाधीन असियाँ विद्युत्की तरह एक बार चमककर जब शत्रुओंके उन्नत वक्षःस्थलोंको चीरकर विजय-माल हमारी कण्ठमें धारण कराती हैं, हमारा मन आनन्दके पारावारमें डूब जाता है ।'

पर सुवासिनीने कहा—'वह सब तो क्षणिक है, सेनानी ! क्षणभर बाद ही जब वह उन्माद ढल जाता है, तब निरपराध मानवोंकी हत्याका अनुपात हृदयमें दुःखकी ज्वाला धधकाकर सिसक उठता है ।'

इस सत्यका प्रतिवाद कठिन था । सेनानी मौन थे और सभा नीरव ।

अब सभाके पण्डितलोग उठ रहे थे । वे आचार्य थे । उनकी विद्या और उनका पाण्डित्य जगत्प्रसिद्ध था ।

राजकुमारीने प्रश्न किया—'पूज्यवर, आप ?

'कुमारी !'—पण्डितोंने उत्तर दिया—'हमलोग पण्डित हैं । आत्मज्ञान ही हमारा जीवन है । उसीका प्रकाश हम अहर्निश जन-साधारणको दिया करते हैं । कारण, एकमात्र हमींलोग ज्ञानके स्वामी हैं । हमारे इस व्यवसायमें कहीं भी पराधीनता नहीं । अज्ञान दुःखका मूल है और ज्ञान आनन्दप्राप्तिका साधन ।'

'सत्य है, पूज्यवर !' राजकुमारीने उत्तर दिया—'पर आप भी तो अपने जीवनके स्वामी नहीं, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं । आपके जीवनमें आनन्द कहाँ ? राग-द्वेष, मान-अपमानका आप-लोगोंपर सदा आधिपत्य रहता है । आपकी विषयासक्त बुद्धि रज्जुमें सर्पके भ्रमकी तरह आनन्दका आभास पाती है, आनन्द नहीं । आपकी कायाने आजतक कषायोंपर कभी विजय नहीं पायी ।'

पण्डितगण मौन थे । उनका गर्व चूर-चूर हो गया था ।

महाराज उत्साहहीन होकर उठ गये । कञ्चुकीने तत्काल स्वयंवरसभा भङ्ग होनेकी घोषणा कर दी ।

× × ×

महाराज श्रीपाल अब निरानन्द और अनमने रहने लगे । एक दिन राजसभाके प्रधानमन्त्रीने निवेदन किया—महाराज ! तपोधन महर्षि अगस्त्यके आश्रमसे एक ब्रह्मचारी आया है महाराजको सपरिवार आश्रममें पधारनेका निमन्त्रण देनेके लिये·····। तपोवनमें गये महाराजको अधिक समय हो गया है ?

'हाँ, ठीक कहते हो अमात्य ! तपोवन गये मुझे कई वर्ष बीत गये ।' महाराजने कहा । 'तुम ब्रह्मचारीसे कहो, मैं सूर्योदयके साथ ही तपोवनकी यात्रा करूँगा ! राजकुमारी सुवासिनी भी मेरे साथ चलेगी ।'

× × ×

दूसरे दिन महाराज श्रीपाल सुवासिनीके साथ महर्षि अगस्त्यके अतिथि हुए । आश्रमवासियोंने महाराजकी अभ्यर्थना करके उन्हें महर्षिके सम्मुख उपस्थित कर दिया ।

महर्षि अगस्त्य तपके तेजसे प्रकाशमान, ज्ञानके बलसे महान् और आत्मनिरीक्षणसे आनन्दमय दीख रहे थे ।

राजकुमारीने अवनत हो प्रणाम किया । महर्षि अगस्त्यने महाराजसे पूछा—राजन् ! सम्मेलन·····।

'निष्फल हुआ महाराज !' महाराज श्रीपालने उत्तर दिया । 'सुवासिनीका अभिलषित पूर्ण नहीं हुआ ।'

'तो क्या ?' महर्षिने पूछा—'इतने बृहत् समागममें कोई व्यक्ति वैसा नहीं मिला ?'

'ना महाराज !' खिन्नतासे महाराज बोले ।

'तो अब ?'

'यही तो चिन्ता है महाराज !'

'सुवासिनी !' मुनिराजने राजकुमारीको अन्तर्भेदी दृष्टिसे देखा ।

'देव !' सुवासिनीने करबद्ध होकर कहा ।

'तुम अपने जीवनकी स्वयं स्वामिनी हो ? क्या तुम्हारा जीवन तुम्हारे अधिकारमें है ?' मुनिराजने प्रश्न किया । 'तो क्या मैं अपने जीवनकी अधिकारिणी नहीं हूँ'—राजकुमारी कहते-कहते रुक-सी गयी । उसके अपने जीवनमें, अपना क्या है ? वह भीतर-भीतर खोजने लगी ।

'तुम्हारा इस सुन्दर शरीरपर, दया, ममता, राग, द्वेष, अहंकार, क्रोध, अभिलाषा—इन सबपर पूर्ण अधिकार है' देवि ?' महर्षिने दूसरा प्रश्न किया ।

राजकुमारी सोते-से जाग गयी । वह सोच रही थी—मेरा अपना यह सुन्दर शरीर मेरे अपने अधिकारमें कहाँ है ? शरीरके दुःख-सुख, कष्ट-आनन्द, सभी तो किसी अज्ञात शक्तिद्वारा समय-समयपर प्रेरित होते हैं । मैं उनका मनचाहा निवारण करनेमें कब समर्थ हुई हूँ ? शैशव, यौवन, जराको मनुष्य कब अपने अधीन कर सका है ?

उसके अन्तरने चीखकर उसके प्रश्नका उत्तर दिया—'कभी नहीं !'

उसने अधीर होकर कहा—'मेरा जीवन अपना नहीं । मैं उसकी स्वामिनी भी नहीं हूँ, देव !'

'जिस प्रकार तुम्हारा अपने जीवनपर अधिकार नहीं,'—महर्षि कहने लगे—'उसी प्रकार संसारमें किसी प्राणीका अपने जीवनपर अधिकार नहीं हो सकता । सभी प्राणी भोगमें परतन्त्र और कर्ममें स्वतन्त्र होते हैं ।'

'पूर्ण स्वतन्त्रता कब प्राप्त होती है, महर्षि !'—राजकुमारीने जिज्ञासा प्रकट की ।

जब प्राणी कर्म-निर्जरा करके मुक्त होता है । कर्म ही प्राणिमात्रको फल भोगनेको विवश करता है । जब कर्म नष्ट हो जाता है, तब भोग बनता ही नहीं; और जब भोग नहीं बनता, तब सुख-दुःख, पुण्य-पाप—कुछ भी शेष नहीं रह जाता । तब वह 'स्व'में स्थित होता है । 'स्व' का वरण ही, 'स्व'की रति ही, परम आनन्दको देनेवाली है । वही सत्य है, वही शिव है, वही सुन्दर है ।

'देव ! उसकी प्राप्तिका साधन ?'—राजकुमारीने तीव्र जिज्ञासा प्रकट की ।

'केवल तप ! सम्पूर्ण इच्छाओंका सर्वथा त्याग !'

राजकुमारीने क्षणभर महर्षिकी ओर देखकर कहा—

'देव ! सम्राट्से कहिये—मैंने अपना अभिलषित पा लिया है । मेरा अभिलषित तपोवनके इस आश्रममें अनायास ही प्राप्त हो गया है, राजधानीके राजभवनोंमें बहुत-बहुत ढूँढ़नेपर भी वह नहीं मिल सका था । मैंने आनन्द खोज लिया है । मैं अब यहीं वास करूँगी ।'

राजकुमारी सुवासिनी, महर्षि अगस्त्यके सम्मुख अपने अलौकिक सुन्दर देहसे राजकीय आभरण उतार-उतारकर महाराज श्रीपालको सौंप रही थी और सम्राट् आतुर विकल नयनोंसे, दीन होकर एकटक महर्षि अगस्त्यकी ओर देख रहे थे । महर्षि आँखें मूँदे बैठे थे । उनके मुखपर एक स्वर्गीय आभा झलक रही थी ।

भक्तकी चेतावनी

कहा-कहा नहिं सहत सरीर ।
स्याम-सरन बिनु करम सहाइ न,
जनम-मरन की पीर ॥ १ ॥
करुनावंत साधु-संगति बिनु,
मनहि देय को धीर ।
भगति भागवत बिनु को मेटै,
सुख दै दुख की भीर ॥ २ ॥

बिनु अपराध चहूँ दिसि बरषत,
पिसुन-बचन अति तीर ।
कृष्ण-कृपा-कवची तें उबरै,
पावै तबहीं सीर ॥ ३ ॥
चेतहु भैया, बेगि बढ़ी कलि-
काल-नदी गंभीर ।
ब्यास-बचन बलि बृंदाबन बसि,
सेवहु कुंज कुटीर ॥ ४ ॥

धर्मके स्तम्भ

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

अक्रोध

क्रोधादि दोषोंको छोड़कर शान्त्यादि गुणोंको ग्रहण करना अक्रोध कहलाता है। क्रोध मनके उन विकारोंमेंसे है, जो मनुष्यको धर्ममार्गसे च्युत कर देते हैं।

क्रोधके अभिशाप

एक स्त्रीने एक नेवला पाल रक्खा था, जिसे वह बहुत प्यार करती थी। एक दिन वह अपने बच्चेको पालनेमें सुलाकर और उसे नेवलेकी देख-रेखमें छोड़कर कुएँसे पानी लेने गयी। इसी बीचमें एक भयंकर साँप कमरेमें आ निकला। ज्यों ही उसने बच्चेको खाना चाहा, त्यों ही नेवलेने उसपर हमला कर दिया। दोनोंमें देरतक लड़ाई हुई और अन्तमें नेवला विजयी रहा। उसने साँपको मारकर उसके कई टुकड़े कर डाले। जब वह स्त्री पानी भरकर लौटी और नेवलेको लहूलुहान पाया, तब उसने सोचा कि नेवलेने उसके बच्चेको मार डाला है। क्रोधमें आकर उसने नेवलेको घड़ा दे मारा और वह तत्काल मर गया। नेवलेको मारकर जब वह स्त्री कमरेमें घुसी, बच्चेके पालनेके पास साँपके टुकड़े देखे और अपने बच्चेको ठीक पाया, तब उसे अपनी भूल ज्ञात हुई और वह फूट-फूटकर रोने लगी। निश्चय ही क्रोधका आरम्भ मूर्खता और अन्त पश्चात्तापके साथ हुआ करता है। क्रोधकी अवस्थामें मनुष्यका विवेक जाता रहता है और मनुष्य स्वयं ऐसी अवस्था उत्पन्न कर लेता है जब कि वह क्रोधके पात्रके स्थानमें स्वयं अपनेपर क्रोध करने लग जाता है। अतः क्रोध आ जानेपर मनुष्यको रुककर पहले उसके परिणामोंपर विचार कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति विवेकके द्वारा अपने क्रोधपर विजय प्राप्त करते हैं, वे मनुष्योंमें उत्तम माने जाते हैं।

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है

क्रोध एक प्रकारका नशा होता है, जो मनुष्यके आभ्यन्तरको मनुष्यसे तो छिपाता, परंतु दूसरोंपर प्रकट कर देता है। क्रोधी जन अपनी आत्माका विकास करनेमें न केवल असमर्थ ही रहते प्रत्युत अपनी आत्माके विनाशका कारण बनकर दुःख पाते हैं। गीताकारने ठीक ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थात् काम, क्रोध तथा लोभ—ये आत्मनाशक तथा नरक (दुःखमयी गति) के तीन प्रकारके द्वार हैं, इसलिये मनुष्य इन तीनोंका त्याग करे।

क्रोध स्वास्थ्यविनाशक है

क्रोधका मनुष्यके स्वास्थ्यपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। शरीरकी शोभा नष्ट होती और आयु क्षीण होती है। क्रोधसे पराभूत हुआ सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्ति भी असुन्दर देख पड़ता है।

क्रोध ही अपना शत्रु होता है

काम और लोभकी भाँति क्रोध भी मनुष्यका शत्रु होता है, जिसके कारण मनुष्यके अमित्रोंकी संख्या बढ़ती और मित्रोंकी संख्या घटती जाती है; परिणामस्वरूप मनुष्यका सामाजिक एवं वैयक्तिक विकास कुण्ठित हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने भी पराये होकर मनुष्यके अनिष्टका कारण बन जाते हैं। रावणके क्रोधने विभीषणको पराया बनाकर उसके सर्वनाशकी भूमि तैयार कर दी थी। रावणने अहंकार, कामुकता, पशुबल और क्रोधके वशीभूत होकर जो आग जलायी, उससे बचनेके लिये महात्मा विभीषणने सत्प्रयत्न किया, परंतु रावणको अपनी जलायी हुई आगमें जलकर मरना

होना था और वह नष्ट होकर रहा। वालीने क्रोध और अनीतिका आश्रय लेकर अपने सहोदर भाई सुग्रीवपर ज्यादती की, जिसका परिणाम प्रायः सभी जानते हैं। यदि सुग्रीवके साथ अन्याय न हुआ होता और वाली उसके उद्बोधनको मानकर अनीतिका मार्ग त्याग देता तो वह रामके हाथों न मारा जाता। विभीषण और सुग्रीव रावण और वालीके शत्रु न थे, अपितु इन दोनोंका पशुबल और क्रोध ही उनके शत्रु थे।

क्रोधसे उत्पन्न आठ दुर्गुण

चुगली करना, बलात्कार करना, वैर रखना, ईर्ष्या करना, गुणोंमें दोषारोपण करना, अधर्मयुक्त बुरे कामोंमें धनादि व्यय करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराधके कड़ा वचन बोलना या विशेष दण्ड देना—ये आठ दुर्गुण क्रोधसे उत्पन्न होते हैं।

चुगली करना, पीठ पीछे किसीकी बुराई करना और कड़वे वचन बोलना—ये दुर्गुण वाणीके विष समझे जाते हैं। कल्याणके अभिलाषियोंको इस विषसे बचना चाहिये। चुगली करना या पीठ पीछे बुराई करना कायरता है। जिन लोगोंमें नैतिक बल नहीं होता, वे ही इस प्रकारके निन्दनीय व्यापारमें रत होते हैं। जिन व्यक्तियोंसे किसीकी चुगली या निन्दा की जाती है, यदि वे समझदार हों तो उनकी दृष्टिमें चुगली या निन्दा करनेवालोंका कोई मूल्य नहीं होता। निर्बुद्धि व्यक्ति ही चुगलियों और परनिन्दासे प्रभावित होकर अपना अहित कर बैठते हैं। ईर्ष्या और वैरकी आगमें दूसरोंको जलानेके बजाय मनुष्य स्वयं जलता और अपना विनाश उपस्थित करता है। कठोर वचनोंके प्रयोगसे मनुष्य शान्त व्यक्तियोंके पुण्यमें और अपने पापमें वृद्धि कर देता है। हम ऐसे व्यक्तियोंको जानते हैं, जिनमें आपसमें बड़ा प्रेम था। दुर्भाग्यसे किसी बातपर उनमें मनमुटाव हुआ और तीखे एवं कड़वे वचनोंके प्रयोगने उन्हें एक दूसरेसे ऐसा अलग कर दिया मानो उनमें कभी प्रेम रहा ही न था। तभी कहा जाता है कि तलवारका घाव भर सकता है, परंतु वाणीका घाव कभी नहीं भरता।

क्रोधका स्वभाव मत बनाओ

क्रोध छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े प्रायः सब प्राणियोंमें होता है। बहुत-से व्यक्ति जरा-जरा-सी बातपर क्रोध कर बैठते हैं। बहुत-से व्यक्तियोंको छोटी बातोंपर क्रोध नहीं आता और आता भी है तो बहुत कम। बहुत-से व्यक्तियोंको बहुत देरमें क्रोध आता है। जरा-जरा-सी बातपर अकारण क्रोध करना लड़कपन होता है। क्रोधमें आपेसे बाहर होकर भयानक रूप धारण करना पाशविक माना जाता है। क्रोधको निरन्तर बनाये रखना राक्षसोंका स्वभाव और व्यवहार होता है। छोटी-छोटी बातोंपर आवेशमें आ जानेसे क्रोधका स्वभाव बन जाया करता है, जिसका अन्त प्रायः कटुता और शत्रुतामें होता है। बढ़ते हुए क्रोधको दबा लेना बुद्धिमत्ता और गौरवपूर्ण होता है और ऐसे व्यक्ति वीर और दिव्य होते हैं। क्रोधको दबाना अच्छा और क्रोधको रोकना उससे भी अच्छा होता है। गुणवान् और वीर पुरुष हीन गुणवालोंपर क्रोध नहीं किया करते। ऐसे ही व्यक्तियोंको बहुत कम क्रोध आता है। प्रसन्नचित्त, बुद्धिमान् और तबीअतमें लापरवाह व्यक्तियोंका क्रोध विवेकपूर्ण हुआ करता है और वह बहुत देरमें आता और बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। निर्बुद्धि और कायर व्यक्ति जब भूल करता और उस भूलको स्वीकार नहीं करता, तब वह सदा तैशमें आ जाता है। वह अपनी बुद्धिकी कमीको क्रोधके द्वारा पूरा करनेका विफल प्रयत्न करता है। बुद्धिमान् व्यक्तियोंके क्रोधका गुब्बार निकल जानेपर वह क्षमाका रूप ग्रहण कर लेता है, परंतु क्रोधको छिपानेसे वह प्रायः बदलेकी भावनामें परिणत हो जाता है। क्रोधको मनमें रखकर उसे पी लेनेसे कम समझदार

व्यक्ति मन-ही-मन कुढ़ता है, जिससे उसके स्वास्थ्यपर घातक प्रभाव पड़ता है। क्रोधको पी जाना अच्छा है, परंतु यह अत्यन्त समझदार और सज्जन पुरुषोंका काम होता है। वे इस बातसे प्रभावित होते हैं कि मनुष्यको शत्रुता मोल लेने और दूसरोंकी गलतियों एवं अपराधोंका लेखा रखनेके लिये ही जीवन प्रदान नहीं किया जाता।

क्रोध कब आवश्यक होता है ?

सुधार और नियन्त्रणके लिये क्रोध आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होता है। उस अवस्थामें वह विकारोंसे नहीं, अपितु उच्च भावनाओंसे अर्थात् हितभावनासे प्रेरित और शासित रहता है। हितभावनासे किये जानेवाले क्रोधमें अन्तर्दाह—हृदयमें जलन नहीं होती। यही उसकी पहचान है। वैर, द्वेष, बदलेकी भावना और अन्य निम्न विकारोंसे प्रेरित होनेपर वह दोषपूर्ण बन जाता है। सुधार और हितसे प्रेरित सकारण क्रोधमें पूर्ण सामर्थ्यका होना आवश्यक है। तभी उसकी उपादेयता होती है। इसके लिये क्रोध गुणोंसे तेजोमय बनना चाहिये।

क्रोध किन-किनसे न करना चाहिये ?

क्रोध तो किसीपर भी नहीं करना चाहिये; परंतु निर्बलों, असहायों, रोगियों, गुरुजनों, बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियोंपर तो क्रोध करनेसे सदा ही बचना चाहिये। वास्तवमें तो क्रोधको पूर्ण नियन्त्रणमें रखना चाहिये।

वालिवधके पश्चात् राज्य पा लेनेपर सुग्रीव भोगविलासमें निमग्न होकर सीताजीकी खोजके कार्यको भूल गया। लक्ष्मण उसकी कृतघ्नताका दण्ड देनेके लिये किष्किन्धापुरीमें गये। जब सुग्रीवको अपने भृत्योंसे यह पता लगा कि लक्ष्मणने रौद्ररूप धारण कर रक्खा है तो वह बहुत डरा और लक्ष्मणके सामने जानेका उसे साहस न हुआ। उसने पास बुलाकर ताराको लक्ष्मणका क्रोध शान्त करनेके लिये प्रेरणा की। परंतु वह भी लक्ष्मणके सामने जाते हुए डरी और जब वह जानेसे इन्कार करने लगी, तब सुग्रीवने कहा—'डरो मत, लक्ष्मण महान् पुरुष हैं।' वे स्त्रियोंपर क्रोध नहीं किया करते।* तारा गयी और ताराके सामने होते ही लक्ष्मणका क्रोध शान्त हो गया।

बहुत-से व्यक्ति अपनेसे निर्बल व्यक्तियोंपर अपना क्रोध निकाला करते हैं। यह उनकी दुर्बलता तथा बड़ी भारी भूल है।

सहनशील व्यक्तिके क्रोधसे सावधान रहो

सहनशील व्यक्तिको बहुत कम और बहुत देरमें क्रोध आता है। ऐसे व्यक्तियोंके क्रोधसे बहुत सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह क्रोध भयंकर होनेके साथ-साथ बहुत देरमें शान्त होता है। सहनशीलताका दुरुपयोग होनेपर वह कभी-कभी बड़ी भयावनी आँधीका रूप ग्रहण कर लेती है।

अंग्रेजोंने महारानी लक्ष्मीबाईके दत्तक पुत्रको राज्याधिकारसे वञ्चित किया। महारानी इस अन्यायको सहन कर गयी। इतना होनेपर भी डलहौजीने रानीका राज्य अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया। इस अत्याचारपर भी वे मौन रहीं। महारानीने अपने दत्तक पुत्रके उपनयन-संस्कारके लिये उसके लिये सुरक्षित छः लाख रुपयेमेंसे एक लाख रुपयेकी माँग की। दुष्ट अंग्रेज शासकोंने इस राशिको भी देनेसे इन्कार कर दिया। रानीने आग्रह किया तो उस राशिको देनेकी यह शर्त रक्खी गयी कि यदि कोई महाजन अपनी जमानत देनेको उद्यत हो तो यह राशि दी जा सकती है। रानीने अपमानकी यह घूँट भी शान्तिपूर्वक पी ली।

* त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥
(वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड)

जमानत दी गयी और रानीने राशि प्राप्त करके अपने प्यारे पुत्रका उपनयन-संस्कार किया। रानी उस समयतक भी अपनी सहनशीलताका परिचय देती हुई अंग्रेजोंके प्रति निष्ठावान् रहीं। परंतु जब कुचक्रियोंके षड्यन्त्र और शासकोंकी अदूरदर्शिताके कारण वह देवी राजविद्रोही घोषित कर दी गयीं, जिन्होंने अंग्रेज स्त्री-बच्चोंको अपने महलमें शरण देकर उनकी प्राण-रक्षा की थी, तब उनकी सहनशीलताका बाँध टूटते देर न लगी और उन्होंने जो भयंकर रूप धारण किया, वह इतिहासके प्रत्येक विद्यार्थीको ज्ञात है। जिन महापुरुषों और वीराङ्गनाओंने अंग्रेजी दासतासे भारतको मुक्त करनेके सत्प्रयत्न एवं अपने रक्तसे स्वराज्य-भवनकी नींव पक्की की, उनमें लक्ष्मीबाईका नाम मूर्द्धन्य स्थान रखता है।

क्रोधको शान्त करनेके उपाय

क्रोधका सामना क्रोधसे नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्रोध शान्त होनेके स्थानमें बढ़ता है, घटता नहीं। मीठे और कोमल शब्दोंसे क्रोध सहज ही शान्त हो जाता है। कहावत है कि कोमल वचन पत्थरको भी पिघला देते हैं। विलम्ब क्रोधकी सर्वोत्तम दवा मानी जाती है। जब मनुष्य स्वयं क्रोधका शिकार होने लगे, तब उसे ठंडा पानी पीना चाहिये या दसतक गिनती गिन लेनी चाहिये। यदि क्रोध चढ़ता जाय तो १०० तक गिनती गिन लेनेसे क्रोध शान्त होने लगता है। क्रोधसे पागल हो जानेपर मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि मेरे क्षणभरके क्रोधसे मेरा पूरा दिन, पूरा सप्ताह या इससे अधिक समय अशान्त बना रह सकता है। मेरा जीवन क्षणभङ्गुर है। परमात्मा मेरे इस अवाञ्छनीय व्यवहारको देख रहा है, जो मुझसे रुष्ट हो जायगा।

उदाहरण

आर्यसमाजके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द जब गुरु विरजानन्दजीके यहाँ पढ़ते थे, तब एक दिन वे किसी अपराधपर दयानन्दसे रुष्ट होकर उन्हें पीटने लगे। विद्यार्थी दयानन्दने गुरुदेवके क्रोधको शान्त करनेके लिये कहा—'महाराज! क्षमा करें, मुझे पीटते हुए आपके हाथोंको कष्ट हो रहा होगा।' ज्यों ही दयानन्दके मुखसे ये शब्द निकले, त्यों ही गुरुदेवका क्रोध पानी-पानी हो गया।

नादिरशाहकी क्रोधाग्निमें देहली जल रही थी। बड़े भयंकररूपमें कत्ले-आम जारी था। हताहतोंके करुण क्रन्दन और चीत्कारसे आकाश भी रो रहा था। नादिरशाहके खूनी सैनिक लोगोंके रक्तसे दिल खोलकर फाग खेल रहे थे। निस्सहाय मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह रनवासमें पड़ा अपनी बेबसीका मरसिया पढ़ रहा था। नादिरशाहके हुक्मपर वह बाहर लाया गया और वह सिर झुकाकर नादिरशाहके पास बैठ गया। हरमसरामें विलास करनेवाले बादशाहको नादिरशाहकी अविनयपूर्ण बातें सुननेको मिलीं; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जानके लाले पड़े थे। पीड़ित प्रजाकी रक्षा कौन करे। वह सोचता था मेरे मुँहसे कुछ निकले और वह मुझीको डाँट बैठे तो?

अन्तको जब सेनाकी पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठाको पहुँच गयी, बादशाहके वजीरसे न रहा गया। वह जानपर खेलकर नादिरशाहके सामने पहुँचा और उसने यह शेर पढ़ा—

> कसे न मांद कि दीगर बतेगे नाज कुशी।
> मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा ब बाज कुशी॥

अर्थात् तेरी निगाहोंकी तलवारसे कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दोंको फिर जिलाकर कत्ल कर।

शेरने दिलपर चोट की। पत्थरमें भी सुराख होते हैं। पहाड़ोंमें भी हरियाली होती है। पाषाण-हृदयोंमें भी रस होता है। इस शेरने पत्थरको पिघला दिया। नादिरशाहने सेनापतिको बुलाकर कत्ले-आम बंद करनेका हुक्म

दिया। एकदम तलवारें म्यानमें चली गयीं। कातिलोंके उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

उपसंहार

संसारमें लोगोंके दिलोंपर शान्ति और अक्रोधका शासन हुआ करता है। शान्त और चरित्रवान् व्यक्तियोंको ही सुख और आदर प्राप्त होता है। वे व्यक्ति धन्य हैं, जो क्रोधको रोककर शान्तिका प्रसाद देते हैं। ऐसे ही महाभागोंको महात्माओंकी पदवी मिलती है। मानव-जीवनकी सफलता और सुन्दरता समाजमें भय और आतङ्क व्याप्त करनेमें नहीं, अपितु शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित करनेमें निहित है। जो व्यक्ति संसारमें भय, आतङ्क और अत्याचार व्याप्त करते हैं, लोग उनके नामपर थूकते और वे अपने ही पापसे विनष्ट हो जाते हैं।

भक्त श्रीरामचरित्रप्रसाद

[एक कर्मयोगी भगवद्भक्तका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त]

(लेखक—श्री'माधव'जी)

इस लेखके द्वारा 'कल्याण'के पाठकोंको मैं एक आदर्श कर्मयोगी भगवद्भक्तका परिचय कराना चाहता हूँ। श्रीरामचरित्रप्रसादजीका जन्म सन् १८८९ ई० में हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीठाकुरप्रसादजी था। वे छपरा कचहरीमें सरकारी नौकरी करते थे। गङ्गा-स्नानसे आपको अतिशय प्रेम था। जब छपरासे गङ्गाजी तीन-चार मील दूर दक्षिण हट जाती थीं, तब भी प्रतिदिन गङ्गा-स्नानका नियम उनका भङ्ग नहीं होता था। श्रीरामचरणदासकृत टीकाके साथ वे नित्यप्रति तुलसीदासकृत रामचरितमानसका पाठ करते थे। पिता-की पितृभक्ति पूर्णरूपसे विरासतके रूपमें रामचरित्रप्रसाद-जीको मिली थी। परंतु यदि उनके पितामें धर्मके साथ उसका तेजस्वी रूप भी यदा-कदा सात्त्विक क्रोधके रूपमें व्यक्त होता था तो पुत्रमें भी सर्वदा ईश्वरभक्तिका सर्वतो-भावेन निर्मलकारी शान्त स्निग्धरूप ही प्रकाशित होता था।

पढ़नेके समयसे ही मानसके पाठका अभ्यास रामचरित्रप्रसादजीको हो गया। आपने छपरा जिला स्कूलसे द्वितीय श्रेणीमें १९०९ ई० में एन्ट्रेन्सकी परीक्षा पास की। जिस समय आप स्कूलमें पढ़ते थे, उस समय एक बार भीषण प्लेग आ गया। आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादने सारे परिवारके लोगोंका ग्राम-से एक मील दूर खैरा नामक स्थानपर डेरा डलवाया। उस समय आप प्रतिदिन छः मील दूर स्कूल जाते थे और छः मील लौटकर आते थे। कालेजमें आप आदर्श छात्रोंमें गिने जाते थे। पटना कालेजमें श्रीयदुनाथ सरकार, महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा आदि आपके अध्यापकोंमें थे। आप मिंटो हिंदू छात्रावासमें रहते थे, जिसके अध्यक्ष श्रीरामावतार शर्माजी थे। शर्माजीका आपपर बड़ा स्नेह था और उन्होंने आपको छात्रावासका प्रिफेक्ट (Prefect) भी बनाया था। कालेजमें आप हाकी (Hockey) के अच्छे खिलाड़ी समझे जाते थे। पटनाकालेजमें पढ़ते समय भी आप प्रतिदिन गङ्गास्नानके नियमका सर्वदा पालन करते थे।

१९१४ ई० में आपने बी० ए० की परीक्षा पास की और स्कूलोंके निरीक्षकके पदपर आपकी नियुक्ति हुई। उसी समय आपके बड़े चाचा श्रीवेणीप्रसादजीका बदरिकाश्रमकी यात्रामें देहावसान हो गया। इस घटना-का आपके जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १९१८

ई० में रामचरित्रप्रसादजी भीषणरूपसे बीमार पड़े। आपको प्रायः एक वर्ष रुग्ण रहना पड़ा। जीवनकी कुछ भी आशा न रही। आपकी मृत्युकी प्रतीक्षामें हिंदू-प्रथाके अनुसार भूमि-शय्या दी गयी। उस समय आपको पत्नीके अतिरिक्त तीन कन्याएँ थीं। किंतु इस दारुण वज्रपातके समय अशरणशरण भगवान्‌ने अपने भक्तकी रक्षा की। आपको थोड़ा बुखार आ गया और भूमिशय्यासे हटाकर बिछावनपर लिटाया गया। कुछ महीनोंमें आप पूर्ण चंगे हो गये।

इस भीषण बीमारीसे रक्षा होनेके फलस्वरूप रामचरित्र-प्रसादके जीवनमें महान् रूपान्तर हो गया। अबतक आप एक साधारण गृहस्थ थे, जिसकी ईश्वरमें बड़ी निष्ठा थी। किंतु अब आप एक क्रियात्मक संत हो गये। गीतामें कहे गये अनासक्तिपूर्ण कर्मयोगका आप अभ्यास करने लगे। आपने भगवान्‌के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। तिलक महाराजविरचित 'गीता-रहस्य' का आप स्वाध्याय करने लगे।

सन् १९३२ ई० में आपने 'कल्याण' को मँगाना प्रारम्भ कर दिया। 'कल्याण'में आप भक्तोंके आदर्श चरितका सर्वदा पाठ करते थे। गीताके अध्ययनने आपमें ज्ञानकी धारा प्रवाहित की। भक्त-चरितों और रामचरितमानसके अध्ययनसे आपमें भक्तिका निर्मल स्रोत भी उमड़ पड़ा। 'कल्याण' का पाठ आप बराबर करते थे। जब १९४५ ई० में चम्पारण जिलेके स्कूलोंके बड़े निरीक्षकके पदपरसे आपने अवकाश ग्रहण किया, तबसे आप अधिक समय धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनमें देने लगे। जब-जब आपपर कष्ट आते थे, तब-तब 'कल्याण' में लिखित भक्तचरितोंके पाठसे आपको बड़ी शान्ति मिलती थी। अवकाश-प्राप्तिकी अवस्थामें जब कभी आप अपने खेत आदिका निरीक्षण करते थे अथवा अन्नकी दौनी (बैलोंद्वारा) का खलिहानमें निरीक्षण करते थे, उस समय भी कल्याणकी नयी प्रति आपके हाथमें रहती थी। 'कल्याण' ने आपके परिवारमें धार्मिक वातावरणके प्रसारणमें बड़ी मदद की। मृत्युके कुछ महीने पूर्व आपने बड़े पुत्रसे कहा था कि मैं जीवनपर्यन्त 'कल्याण' मँगाऊँगा। मृत्युके कुछ सप्ताह पूर्व आपने बड़े पुत्रको आदेश दिया कि "मेरे न रहनेपर भी 'कल्याण' को तुम अवश्य मँगाना।"

सन् १९१४ से सन् १९४५ तक आपने शिक्षा-विभागमें नौकरी की। किंतु वहाँपर भी आपने सर्वदा अपने व्यक्तित्वद्वारा समाज-सेवाकी ही चेष्टा की। शिक्षा-विभागमें ऊँचे पदोंपर काम करते हुए भी आप सर्वदा निरभिमान रहे। किसी प्रकारकी रिश्वत अथवा अन्य वस्तु किसीसे ले लेना आपने कभी जाना ही न था। आप अत्यन्त उदार, कर्मठ, निष्कपट और पक्षपातहीन आचरण करनेवाले अफसर थे। नौकरी करते समय कई प्रकारके प्रलोभन और भय आपके सामने आये। किंतु एक आदर्श भगवद्भक्तके समान आपने दोनोंकी समान भावसे उपेक्षा की। आप प्रतिदिन दो घंटे गीता और रामचरितमानसका पाठ करते थे। सायंकाल आधे घंटेतक प्रार्थना करते थे। गीताके निम्नलिखित श्लोकमें आपका दृढ़, अटूट विश्वास था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

१९४२ ई०के आन्दोलनमें स्वराज्यका कार्य करनेके कारण आपके बड़े पुत्रको कालेजछात्रावाससे हटा दिया गया और अंग्रेजी शासकोंकी ओरसे कुछ अन्य धमकियाँ भी दी गयीं। वे घबरा गये और भविष्यकी कष्टपूर्ण आशङ्कामें आपसे इसका जिक्र किया। आपने कहा—

'यह अर्जुनमोह तुम्हें क्यों उपस्थित हो गया? तुम दृढ़तापूर्वक स्वधर्मका पालन करो।'

आप भारतीय कुलधर्मकी मर्यादाका पालन करते थे। इसी कारण आपने यावज्जीवन अपने चचेरे भाइयों और

अपने चाचाकी पूरी सहायता की। आपके निकट परिवार-वालोंने कई बार इस उदारताके लिये आपको उलाहना भी दिया, किंतु उनपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि गीताकी इस उक्तिमें उनका विश्वास था कि कल्याण कर्म करनेवाला कदापि दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।

सन् १९५४ ई० से ही आप रुग्ण रहने लगे। जीवनके अन्तिमकालमें ही आपके निकट सम्बन्धियोंको भी इसका भान हो सका कि आपने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है। सन् १९५५ ई० में आप अत्यन्त भीषण रोगसे पीड़ित थे। बहुमूत्रकी पुरानी बीमारी थी ही, उसके बाद खूनका जोरोंसे दौरा शुरू हो गया था। किंतु जब सारा परिवार आतङ्कित था और पटनेके बड़े-बड़े डाक्टरोंने भी निराशा प्रकट कर दी थी, उस समय भी श्रीरामचरित्रप्रसादजीके चेहरेपर जरा भी सिकुड़न नहीं आयी। आप पूर्ण विश्रान्त और निश्चिन्त थे। सिर्फ आपने एक बार यही कहा 'अब समय आ गया है।' किंतु ईशकृपासे आप फिर चंगे हो गये।

३ फरवरी १९५६ ई० को आप गीताका पाठ कर रहे थे। डाक्टरने खूनकी बीमारीके दौरेके कारण लेटे रहनेका आदेश दिया था, किंतु आप आसनस्थ हो गीता और रामायणका पाठ बराबर करते थे। डाक्टरने स्नान करनेकी मनाही कर दी थी, किंतु आदर्श आचारवान हिंदू होकर बिना स्नान किये भोजन करना आपको कदापि स्वीकार नहीं था। ३ फरवरीको आपने स्नान किया और गीताका पाठ किया। करीब साढ़े तीन बजे दिनमें आप डेरेके पास ही शिव-मन्दिरमें गये। यह शिवमन्दिर गङ्गाकिनारे रानीघाट मुहल्लेमें है। डाक्टरोंके आदेशके विरोधमें आप मन्दिरमें चले गये। मन्दिरमें आपने प्रायः दस मिनटतक खड़े रहकर शिवजीकी स्तुति और प्रार्थना की। प्रार्थनाके बाद ज्यों ही आप आगे बढ़े कि आपके पैर लड़खड़ा गये और शिवजीके ध्यानमें ही आप बेहोश हो गये। शीघ्र आप अस्पताल ले जाये गये, जहाँ पटनाके बड़े-बड़े विशेषज्ञोंके रहते भी बारह घंटेके भीतर आपका प्राणान्त हो गया। जितने लोग उपस्थित थे और जिसने भी इस घटनाके बारेमें सुना, सभीने कहा—श्रीरामचरित्रप्रसादजी साक्षात् शिवलोकको गये हैं। जब आपकी मृत्युका समाचार आपके ग्राममें पहुँचा, सारा ग्राम रो पड़ा। आस-पासके ग्रामके लोग भी रो पड़े। सबोंने एक स्वरसे कहा—'श्रीरामचरित्रप्रसाद साक्षात् महर्षि थे। गङ्गाके किनारे, माघ महीनेमें शिवमन्दिरमें शरीर त्याग करना—यह एक महर्षिके अतिरिक्त कौन कर सकता है।'

हमारे ठाकुर

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा-सरबदा हम जिनके हैं, जनम-जनम घरजाए चाकर ॥ १ ॥
चूक परैं परिहरैं न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमें, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर ॥ २ ॥

महान् उपहार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'दादा ! कल कन्हाईको क्या देगा तू ?' व्रज-बालकोंमें सबसे छोटे, श्यामके सबसे प्रिय तोकने श्रीबलरामसे पूछा ।

कल श्रीकृष्णचन्द्रकी वर्षगाँठ है । व्रजमें सभी कल उसे कुछ-न-कुछ उपहार देंगे । सबकी एकान्त अभिलाषा है कि वह ऐसा कोई उपहार दे, जिसे पाकर श्यामसुन्दर सर्वाधिक प्रसन्न हो । सप्ताहोंसे नहीं, महीनोंसे सबके चिन्तनका विषय यही रहा है—'इस वर्षगाँठपर क्या दें नन्दनन्दनको ?' अब कल ही वर्षगाँठ है । आज तोक दाऊसे पूछने बैठा है । दाऊ क्या देगा, यह पता लग जाय तो तोक भी कुछ निश्चय कर ले ।

'मैं क्या दूँगा, बताऊँ ?' मधुमङ्गलने बीचमें ही छेड़ लिया ।

'रहने दे !' तोकने तनिक घूमकर देखा उधर । 'तू देगा आशीर्वाद ।'

'ब्राह्मणका आशीर्वाद यों ही नहीं मिला करता ।' गम्भीरताका अभिनय किया मधुमङ्गलने—'आशीर्वाद तो तब मिलेगा, जब यह मुझे दक्षिणा देकर प्रणाम करेगा ।'

'नहीं तो !' इस बार कन्हाई बोला ।

'हूँ !' घूसा दिखाया मधुमङ्गलने ।

'तो तू कल यही देना !' श्याम हतप्रभ हो नहीं सकता । वह हँस उठा । सचमुच कन्हाई ही ऐसा है, जो उपहारमें मीठी चपत या घूसा भी लेकर प्रसन्न हो सकता है । भीष्मके शराघातका उपहार जो स्वीकार कर सके, असुरोंके उन्मद आक्रमणको जो अर्चन मानकर उन्हें स्वधाम दे सके—कुछ अटपटा तो नहीं है उसके लिये यह उपहार भी ।

'दादा ! बता न, तू क्या देगा ?' तोकने दाऊका कंधा पकड़कर हिला दिया ।

'मैं ऊँ बताऊँ ?' श्यामने उत्तरकी अपेक्षा किये बिना बताया—'दादा देगा यह आजका अपना पुष्पमाल्य ।'

दाऊ क्या बताये ? उसका या व्रजमें किसीका ऐसा है क्या, जो श्यामका नहीं है । किंतु श्याम है ही ऐसा कि उसे तो कल कोई उसीका पटुका या उसीकी मुरली उठाकर दे दे तो उसे महान् उपहार मानकर खिल उठेगा । वह अभीसे अपने बड़े भाईकी उतारी पुष्पमाला माँगने लगा है । नित्य लोग उसे उसीकी वस्तुएँ तो भेंट करते हैं । ऐसी वस्तु कहाँसे आयेगी जो उसकी न हो ।

'तू क्या लेगा ?' दाऊ बतलाता नहीं तो तोक श्यामसे ही क्यों न पूछ ले ।

'मैं तुझे लूँगा ।' कन्हाईने झटसे बिना सोचे उत्तर दे दिया ।

'चल !' तोकको ऐसी बात रुची नहीं । ये सब बड़े वैसे हैं—कोई उसे सहायता नहीं देता कि वह कलका उपहार चुन सके । कन्हाईका वह कब नहीं है—वह तो सदासे श्यामका छोटा भाई है । उसे लेनेकी नयी बातका क्या अर्थ हो सकता है ।

× × ×

'कौन हो तुम ?' कटिमें फटा-सा मैला चिथड़ा, मस्तकपर रूखे धूलिभरे उलझे केश, कपोलोंपर अश्रुकी सूखी चमकती रेखा, इतना दुर्बल, इतना विषण्ण, इतना हतप्रभ बालक यह कौन है ? व्रजमें ऐसा बालक ! नन्हे तोकको आश्चर्य हुआ तो बड़ी बात क्या हुई । वह दौड़ गया और हाथ पकड़कर उसने बालकसे पूछा ।

'तुम कहाँसे आये ?' तोकने हाथ झकझोर दिया उस बालकका । यह बोलता क्यों नहीं ? यह तो स्वप्नसे सहसा जाग्रत् हुएकी भाँति इधर-उधर बड़े आश्चर्यसे केवल देख रहा है ।

'तुम किस गाँवके हो ? गूँगे हो तुम ? तुम्हें किसने मारा है ?' तोकको अद्भुत लग रहा है यह बालक । यह इतना उदास और कंगाल क्यों दीखता है ? व्रजमें तो कोई भिक्षुक भी ऐसा नहीं होता ।

कंसके अनुचरोंका अत्याचार चल रहा है चारों ओर । उसके क्रूर राक्षस गाँवोंको जला देते हैं, हरे वृक्षोंको काट देते हैं । मानवका रक्त—उनके लिये तो वह एक विनोद उत्पन्न करनेकी वस्तु है । कल जिसका घर असुरोंने भस्म कर दिया, जिसके स्वजन आततायियोंके द्वारा मार दिये गये, जो किसी प्रकार प्राण बचाकर भागा और पूरी रात्रि उन्मत्तकी भाँति भागता रहा बिना किसी लक्ष्यके, वह क्या कहे ? क्या बताये ?

वह बालक—वह आपत्तिका मारा, यमराजके अनुचरों-जैसे दानवोंके आतङ्कसे अर्धमूर्छित बालक और वह आ कहाँ गया—यह सुषमा-सार-सर्वस्व व्रजधरा, ये कल्पपादपनिन्दक तरु-वल्लरियाँ और ये नर-नारी यदि मानव हैं तो देवता कौन होंगे ? इतना सौन्दर्य, इतना वैभव, इतनी प्रफुल्लता—बालक तो विमूढ़ हो रहा है ।

सबसे बड़ी बात—यह नवघन-सुन्दर, पीत-वस्त्र, सौकुमार्यकी मूर्ति नन्हा चपल शिशु—जिसने बालकका हाथ सहसा पकड़ लिया है—बालक केवल देख रहा है तोककी ओर । उसकी वाणी असमर्थ है । उसके नेत्र झरने लगे हैं । वह केवल देख रहा है ।

'तुम मेरे साथ आओ ! भूख लगी है तुम्हें ? रोओ मत, मैं तुमको मक्खन दूँगा ।' तोक आतुर हो उठा है । वह इस बालककी पीड़ा कैसे दूर कर दे ?

'कनूँ ! कनूँ ! देख तो !' तोकने दूरसे ही पुकार लिया । तोक पुकारे और श्याम दौड़ न आये.....।

'यह तेरा उपहार है !' नवीन बालक पता नहीं क्यों श्यामके चरणोंपर गिरने झुका और कन्हाईने उठाकर भर लिया उसे दोनों भुआओंमें । अपने साथ आये बड़े भाईकी ओर देखता मोहन कह रहा था—'दादा ! यह तोकका उपहार—आजका सबसे महान् उपहार है न ?'*

दर्शनके लिये प्रार्थना

जसुमति-सुत, मोहि दीजै दरसन ।
तन-मन-प्रान तपत हैं निसिदिन, छिन एक होत बराबर बरसन ॥ १ ॥
सियरौ होतौ पहलैं हृदयौ अब तो अँखियाँ लागीं तरसन ।
रसिक प्रीतम बिनती चित धरिए तुमसे सरस कहाँ लगे अरसन ॥ २ ॥

* मत पूछिये कि यह घटना कहाँ किस पुराणमें लिखी है । यह कहानी है और कहानी सत्य घटना नहीं हुआ करती । घटना तो कहानीका सौन्दर्यमात्र है । कहानीका सत्य है उसकी प्रेरणा और शिवत्व है उसका वह प्रभाव, जो आपपर (पाठकपर) पड़ता है । श्याम सदा आतुर है अपनानेके लिये—सबको, जीवमात्रको अपनानेके लिये । वह जीवका नित्य-सखा—उसके लिये महान् उपहार है अपने-आपको उसे दे देना । इस कहानीका सत्य यही है और यह नित्य-सत्य नहीं है, ऐसा आप कैसे कहेंगे । —लेखक

अपना समाजवाद

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

अपने यहाँ शाश्वत समाजवादमें यह माना गया है कि लक्ष्मीदेवी जगज्जननी हैं—हमें उनकी गोदमें बैठकर अर्थका दूध पीना चाहिये, जिससे हम सत्कर्मोंका पालन करनेमें समर्थ बन सकें। वे जगज्जननी भगवान्-विष्णुकी पत्नी हैं, उनपर व्यापक तत्त्वका अधिकार है—यदि हमने उनपर अपना स्वामित्व समझा तो निश्चित है कि दुनियाके सम्पूर्ण दुःखोंको निमन्त्रण मिल गया।

हम श्रीमन्नारायणके उपासक हैं अर्थात् लक्ष्मीसहित नारायणकी भक्ति ही हमारे जीवनका भूषण है। भगवान् नारायण धर्म और मोक्षस्वरूप हैं और भगवती लक्ष्मी अर्थ और कामस्वरूप अर्थ। कामको धर्म-मोक्षके अनुशासनमें चलना है।

धर्म मूल है, अर्थ-काम पत्र-पुष्प हैं और मोक्ष फल है। भगवत्प्रेम रस है। यह समझकर जो जीवन धारण करता है, वही हमारे समाजका घटक है।

स्थायी शान्तिका व्यवहार ऐसे ही समाजमें हो सकता है।

हमारे समाजमें भगवान् ऋषभदेवको परम गुरु, भगवान् दत्तात्रयको सद्गुरु, भगवान् व्यासको जगद्गुरु और भगवान् कपिलको सिद्धश्रेष्ठ माना गया है।

परमहंस-ज्ञान अर्थात् मोक्ष-संहिताका उपदेश प्रभु ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको किया था, जिन्होंने विदेह राजा निमिको शान्ति प्रदान की। इतना ही नहीं, भगवान् वासुदेवके पिता जब चिन्तित थे, तब देवर्षि नारदने यही ज्ञान उन्हें सुनाया, जिससे देवकीनाथको परम विवेक प्राप्त हुआ। जो ज्ञान विदेहको भी शान्ति दे और दैवी-सम्पत्तिके स्वामी वसुदेवको भी परम विवेक प्रदान करे, उस ज्ञानको देनेवाले भगवान् ऋषभदेव हमारे परम गुरु क्यों न कहलायेंगे। उनका चिह्न ही ऋषभ है—बैल, जो धर्मका पूर्णस्वरूप है और यही हमारे समाजका आधार है। इसकी उपासना छोड़कर ट्रैक्टरोंके फंदेमें पड़े कि फँसे—समझ लो—मैं तो संकेत कर रहा हूँ।

दूसरे सद्गुरु 'दत्तात्रय'के स्वरूपका भी चिन्तन कीजिये। लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती—तीनों शक्तियाँ यदि परस्पर असूया करें तो देवर्षि नारद कहते हैं अनसूया ही हमारे समाजमें सद्गुरुत्वको उत्पन्न कर सकती है; क्योंकि वे त्रिगुणकी शक्ति नहीं, त्रिगुणातीत महर्षि अत्रिकी शक्ति हैं। इसीलिये भगवान् श्रीरामने भरतजीको 'अत्रि-कूप'में स्नान करनेका आदेश दिया था और जगज्जननी सीतादेवी भी "अनसुइयाके पद गहि"के अशोकवनमें शोकरहित रह सकीं। अनसूया और अत्रि-द्वारा दत्त गुरुतत्त्व ही सद्गुरु है। जिस समाजमें असूयारहित शक्तियाँ कार्य करती हैं, वही समाज स्थायी शान्तिका प्रचारक हो सकता है।

प्रकृति-तत्त्वके सिद्ध करनेमें परम पटु भगवान् कपिलने कर्दम-शक्ति देवहूतिको अपनी माता बनाकर उद्धार किया। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' सभी श्रेणियों-के—सभी विषयोंके वैज्ञानिकोंको उनके सांख्य-तत्त्वोंका आधार लेकर ही आगे बढ़ना पड़ता है।

भगवान् व्यासके विषयमें क्या कहें? महाभारत या अपने देशके समाज-विस्तारके वे ही मूल कारण हैं। महाभारत ही क्या, 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' सारा जगत् ही उनके ज्ञानका उच्छिष्ट खाकर जी रहा है। आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी मुरली और वसुदेव-सुत देव—कंस-चाणूर-मर्दन—देवकीनन्दन श्रीकृष्ण-की वाणीको हमतक पहुँचानेका श्रेय भी उन्हींको है।

दूसरोंके राष्ट्रोंको अन्यायसे धृत (हड़प) करनेवाले अंधे धृतराष्ट्रोंको यह समझ लेना चाहिये कि उनके

दुःशासन और दुर्योधन कभी बच नहीं सकते। दुष्टतासे शासन करनेका या दुष्टतासे युद्ध करनेका फल बहुत बुरा होता है। जिसके पक्षमें न्याय और सत्य होता है, उसीके पक्षमें भगवान् हैं। ऐसे ही पुरुष धर्मराज—युधिष्ठिर—युद्धमें स्थिर होते हैं। इसलिये वे 'अनन्त विजय' का शङ्ख बजाते हैं। 'यतो धर्मस्ततो जयः।' अर्जुनकी अर्जन करनेवाली ऋजु शक्ति और भीमकी भयंकर प्रबल शक्तिके साथ नकुल और सहदेवका भी उन्हें सहयोग प्राप्त होता है। छोटे-मोटे पद-दलित सभी राष्ट्र उनके सहदेवा बन जाते हैं और यह निश्चित है कि सभी शक्तियोंका धर्मके अनुशासनमें भगवान् योगेश्वर योग करते हैं, तब समाजकी सनातन शाश्वत घोषणा होती है:—

"तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिः"

वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य आदि सब कुछ स्वयं उपस्थित होते हैं।

प्रार्थना है कि हम इधर-उधर न भटककर अपने शाश्वत समाजवादका मर्म ऋषि-महर्षियोंके चरणोंमें बैठकर समझें—स्वतः भी शान्ति और शक्ति प्राप्त करें और दुनियाको भी वास्तविक समता और विवेकपूर्ण स्थायी सुखकी ओर बढ़ानेमें सहायक बनें।

शिव-भक्त नीलांकर

(लेखक—श्रीविजय 'निर्बाध')

'महान् पाप! तुमने इसे अपवित्र करनेका साहस कैसे किया? क्या शिवलिङ्गपर थूकनेके अतिरिक्त स्थितिपर काबू पानेका कोई दूसरा तरीका नहीं था? शापित नारी! क्या तुम अपने अपवित्र मुखसे निकले हुए थूकको गङ्गाजल-जैसा पावन समझती हो? मेरी दृष्टिसे दूर हो जाओ, मैं इसी क्षण तुम्हारा परित्याग करता हूँ।'

नीलांकरका क्रोध पराकाष्ठाको पहुँच चुका था और किसी हदतक वह था भी ठीक।

वह कावेरीके तटपर बसे हुए एक सुन्दर ग्राम 'सथामंगई'का निवासी था। पक्का ब्राह्मण होनेके साथ-साथ वह वेदों और पुराणोंका दृढ़ विश्वासी और भगवान् शिवका अनन्य भक्त था। शिवलिङ्ग-पूजा और शिवभक्तोंको सुरुचिपूर्ण भोजन कराना ही उसके जीवनका एकमात्र ध्येय था।

त्रयोदशीके पवित्र दिन नीलांकर अवन्तीके मन्दिरमें जाकर 'शिवलिङ्ग'-पूजामें संलग्न हो गया। उसकी आज्ञाकारिणी पत्नी भी पास ही खड़ी सामग्री दे-देकर पूजामें उसकी सहायता कर रही थी। वह वास्तवमें एक आदर्श हिंदू-नारी थी, जिसने अपने आपको पूर्णरूपसे अपने स्वामी और उनके इष्टदेवमें एक-रूप कर दिया था। पूजासे प्राप्त अपार आनन्दमें विभोर वह अपने सुधितक खो बैठी। नीलांकरने यद्यपि विधिवत् पूजा समाप्त कर ली थी, फिर भी उसे बराबर एक मानसिक अशान्तिका अनुभव हो रहा था—अकारण ही वह परेशान था; अतः उसने शिवलिङ्गकी परिक्रमा की और बैठकर उसी संकटहारी नामका जप आरम्भ कर दिया।

अचानक छतपरसे एक मकड़ी गिरी और शिवलिङ्गपर आ पड़ी। यह एक साधारण प्रथा है कि जब मकड़ी किसी बच्चेपर आ गिरे तो माँ तुरंत ही फूँक मारकर उस स्थानपर थूककर उसे मसल देती है जिससे कि बदनसीबी दाने न पड़ जायँ। नीलांकरकी पत्नीने एक क्षणके लिये भी यह नहीं सोचा कि लिङ्ग पत्थरका बना हुआ है और उसपर मकड़ीके गिरनेका कोई कुप्रभाव नहीं होगा। उसे तो उस समय केवल एक ही ध्यान था और वह यह कि इस घटनासे उसके देवताको कितना कष्ट होगा। मातृसुलभ स्नेहके वशीभूत उसने शिवलिङ्गपर, जहाँ

मकड़ी गिरी थी, थूककर अँगुलीसे मसलना आरम्भ कर दिया।

नीलांकरके लिये यह देख सकना तक असहनीय था—उसने घृणासे आँखें मूँद लीं और चिल्लाया, 'यह तुम कर क्या रही हो ?' लेकिन शान्त स्वरमें उत्तर मिला, यही मकड़ी गिरनेपर साधारण उपचार है।

बेचारा नीलांकर मातृ-स्नेह और अपनी पत्नीके हृदयकी भक्तिकी थाह नहीं पा सका; उसे विश्वास था कि जो कुछ भी हुआ, वह एक महान् पाप था। उस शिवलिङ्गको, जिसकी कि वह अभी पूजा कर रहा था, उसकी पत्नीने अपने थूकसे अपवित्र कर दिया। उसकी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी थी और परिणामस्वरूप उसी मुखसे, जिससे कुछ क्षण पहले भगवान्‌के पावन नामका जप हो रहा था, क्रोधभरे अपशब्द अपनी पत्नीके प्रति निकलने आरम्भ हो गये। प्रिय पाठकवृन्द! भावावेशकी इसी घटनाके साथ इस कथाका श्रीगणेश होता है।

नीलांकरकी पत्नी पाषाणवत् खड़ी थी और उसका पति किसी भी अवस्थामें उसे क्षमा करनेके लिये तैयार नहीं था; क्रोधमें ही वह घर भी चला गया। बेचारी अबला उसी मूर्तिके आगे जा खड़ी हुई, जिसपर कुछ क्षण पहले ही उसने मातृस्नेहकी वर्षा अपने मुखके थूकसे की थी। सूर्यास्त होनेपर भी वह पूजामें खड़ी रही—उस रात संसार सोया, वह नहीं।

नीलांकर गहरी नींदमें सोया हुआ था, अचानक उसे एक दिव्य प्रकाशका अनुभव हुआ, जिसके बीचोबीच उसने मङ्गलमूर्ति भगवान् शिवके दर्शन किये। भगवान् बोले, 'देखो नीलांकर! मेरे शरीरकी ओर देखो! उस स्थानके अतिरिक्त जिसपर कि तुम्हारी स्त्रीने थूका था दाने-ही-दाने हो गये हैं।' नीलांकरके आश्चर्यकी सीमा न रही। उधर वह अलौकिक स्वरूप इतना कहकर अन्तर्धान हो गया। स्वप्नावस्थासे निवृत्ति पाकर नीलांकर उठा, उसने देखा कि भगवान् उसकी अपेक्षा उसकी पत्नीसे अधिक प्रसन्न हैं। वह मन्दिरकी ओर दौड़ा, जहाँ उसकी पत्नी आँख मूँदे भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थी कि वे उसका पति उसे पुनः प्रदान करनेकी कृपा करें। नीलांकर सपत्नीक घर लौटा, जीवनमें पहली बार उसने वास्तविक प्रेमकी गहराई एवं औपचारिकताके खोखलेपनको देखा था।

महान् शैव संत 'सम्बन्दर'के आगमनके कारण सम्पूर्ण नगरमें चहल-पहल थी और तमाम सड़कें सजी हुई थीं। उन्हींके साथ 'नीलाकंतर' भी थे, जिनका जन्म यद्यपि कुम्हार जातिसे था, फिर भी जो दिव्य स्वरूपके दर्शन कर चुके थे। नीलांकरने दोनोंका ही हार्दिक स्वागत किया। रात पड़नेपर संत 'सम्बन्दर' ने नीलांकरसे 'नीलाकंतर'को भी अपने यहाँ ठहरानेकी बात कही। शिवलिङ्गकी घटनासे यदि उसका हृदय परिवर्तन न हो चुका होता तो निश्चित ही वह ब्राह्मण होते हुए उस निम्नजाति (कुम्हार) के व्यक्तिको अपने घरके पासतक न फटकने देता; लेकिन तब पत्नीके पावन प्रेमसे पराजित नीलांकरने नीलाकंतरको वही कमरा दे दिया, जिसमें कि पुनीत अग्नि प्रज्वलित रहती थी। ज्यों ही नीलाकंतरकी आँख लगी अग्निने अलौकिक रूप धारण करके नीलांकरके निर्मल प्रेमका प्रदर्शन और सुषुप्त संतके हृदयकी निर्मलताकी घोषणा आरम्भ कर दी।

सम्बन्दरने 'अवन्ती' नामके प्रति गाये हुए अपने पदोंमें नीलांकरके इस गरिमाशाली कार्यकी भी सराहना की है। कहते हैं संत सम्बन्दरके विवाहके समय एक महान् ज्योतिके दर्शन हुए और नीलांकर, जो उस समय वहीं उपस्थित था, उसी ज्योतिमें विलीन होकर अपने आराध्यसे एक-रूप हो गया।

दक्षिणके शैव आज भी नीलांकरको एक संतके रूपमें पूजते हैं; लेकिन मैं अकसर सोचता हूँ कि क्या उसकी पत्नी वास्तवमें उससे बड़ी नहीं थी।

दही और स्वास्थ्य

(लेखक—डॉ० श्रीकुलरञ्जन मुखर्जी)

स्मरणातीत कालसे मनुष्यकी खाद्य-तालिकामें दहीने एक विशिष्ट स्थान अधिकार कर लिया है। भारतवर्ष, तुर्क, मिश्र, अरमेनिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया, रूस तथा मध्य यूरोपमें काफी समयसे दही एक पुष्टिकर खाद्यके रूपमें माना जाता है। विगत अर्ध-शताब्दीसे पश्चिम यूरोप एवं अमेरिकामें भी इसका प्रचलन क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

साधारणतः यूरोप एवं अमेरिकामें गायका दूध ही दही जमानेके लिये व्यवहार किया जाता है। भारतवर्षमें गायके दूधके साथ भैंसका दूध भी व्यापकरूपसे व्यवहृत होता है। रूसमें भेड़, बकरी एवं गधेके दूधके द्वारा अत्यधिक परिमाणमें दही तैयार किया जाता है।

दही एक अति प्रयोजनीय दुग्धजात पदार्थ है एवं अतिशय पुष्टिकर खाद्य है। केवल चीनीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान इसमें अविकृत रह जाते हैं। दूधकी इसी चीनीका दो तृतीयांश ही लैक्टोबेसिसद्वारा लैक्टिक एसिडमें परिणत हो जाता है।

दूधसे यदि मक्खन न निकाला जाय तो दहीमें ५ प्रतिशतसे लेकर ८ प्रतिशततक चर्बी, ३·२ से ३·४ भाग प्रोटीन, ४·६ से ५·२ भाग लैक्टोज, ०·५ से १·१ भाग लैक्टिक एसिड, ०·७० से ०·७५ भाग धातव लवण, ०·१२ से ०·१४ भाग कैलसियम, ०·०९ से ०·११ भाग फासफोरस एवं ०·३ भाग लोहा पाया जाता है। दहीमें ८५ प्रतिशतसे ८८ प्रतिशत भागतक जल होता है।

दहीके भीतर हर सौ ग्रामके पीछे ३० मिलिग्राम राइबोफ्लाविन भी पाया जाता है तथा इसके भीतर विटामिन 'ए' भी किंचित् परिमाणमें वर्तमान रहता है। यह देखा गया है इसका राइबोफ्लाविन (एक श्रेणीका विटामिन 'बी') अंश दही जमनेके समय अपने-आप बढ़ता है। अधिकतर आश्चर्यका विषय यही है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर 'बी' विटामिन उत्पन्न करता है। एवं वहाँसे वह शरीरमें शोषित हो जाता है।

दही अत्यन्त सरलतासे पच जानेवाला खाद्य है। यह दूधसे भी शीघ्र हजम हो जाता है। दहीके लैक्टिक एसिड द्वारा उसका प्रोटीन आंशिकरूपमें हजम होता है एवं कैलसियम भी अंशतः द्रवीभूत हो जाता है। इसीलिये ये सभी पदार्थ बड़ी सरलतासे शरीरमें शोषित हो जाते हैं एवं शरीरके काममें आते हैं। डॉ० विलियम मैकिनन मैरिअट, एम्० डी० का कहना है कि 'दही दूधकी अपेक्षा सरलतासे पच जाता है। दहीका अम्लरस पित्त, क्लोमयन्त्र तथा आँतोंके रसस्रावमें सहायता करता है। फलस्वरूप सभी पाचकरस सरलतासे इसके भीतर प्रवेश कर सकते हैं तथा दूध पीनेके बाद साधारणतः जो बृहत् आकारका छेना पाकस्थलीमें उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा अति शीघ्र ही यह पाकस्थली त्याग कर देता है। दहीका अम्लरस भी सहजमें ही शरीरके काममें आता है।

दही इसीलिये अत्यन्त आवश्यकीय माना गया है कि दही-जीवाणु आँतके भीतर स्थित रोग-जीवाणुओंको ध्वंस कर वहाँपर शरीरके लिये हितकर जीवाणुओंकी उत्पत्ति करता है।

मनुष्य-शरीरके आँतके भीतर स्वभावतः ही लैक्टोबेसिलस तथा एसिडोफिलस जीवाणु देखनेको मिलता है। दिन-प्रतिदिन जब पर्याप्त परिमाणमें दही ग्रहण किया जाता है, तब आँतके भीतर इन हितकर जीवाणुओंका एक उपनिवेश-सा गठित होता है। ये सभी जीवाणु आँतके भीतर खाद्य पदार्थको सड़ने नहीं देते एवं जिन सभी अहितकर जीवाणुओंके कारण पेटके भीतर खाद्य विकृत हो उठता है, ये क्रमशः उनका स्थान दखल करके अन्तमें उन्हें सम्पूर्ण रूपसे आँतसे निकालकर बाहर करते हैं।

मानव-शरीरके लिये हानिकारक जीवाणुओंको ध्वंस करनेकी शक्ति जो दहीमें है, वह कई एक परीक्षाओंद्वारा सम्पूर्णरूपसे प्रमाणित हो गयी है। आमाशय, टायफायड एवं हैजेके जीवाणुको अत्यधिक संख्यामें दहीमें मिलाकर देखा गया कि ये सभी जीवाणु बहुत शीघ्र मर गये तथा केवल तीन घंटेके बाद उन्हें पृथक् करना असम्भव हो गया।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दही केवल शरीरके भीतर अनिष्टकारी जीवाणुओंकी वृद्धि ही नहीं रोकता, बल्कि उन सभी जीवाणुओंसे जो कि विष उत्पन्न होता है, उन्हें भी नष्ट कर डालता है।

अनुसंधान-कर्ताओंके एक दलने पता लगाया है कि नियमित दधि-भोजन त्याग करनेपर ११ से १८ महीनेके बाद भी आँतोंके भीतर दही-जीवाणु सक्रिय रहते हैं। दीर्घ गवेषणाके फलस्वरूप उनके मनमें यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, पुराना आमाशय तथा क्षतसंयुक्त ग्रहणी रोगमें दही अत्यन्त लाभदायक खाद्य है।

परीक्षामूलक रूपसे ही टी० बी०के कुछ रोगियोंको दही दिया गया। उन्हें प्रतिदिन २४० से १००० मिलिमीटर दही खानेको दिया जाता था। फलस्वरूप उनके शरीरमें आरोग्यके लक्षण स्पष्ट हो उठे।

चिकित्सा-सम्बन्धी विस्तृत गवेषणाके फलस्वरूप यह निस्संदेह प्रमाणित हो चुका है कि नियमित रूपसे दही सेवन करनेपर आँतोंका स्वास्थ्य यथेष्ट रूपसे उन्नति लाभ करता है।

रूसके विख्यात गवेषणाकारी अध्यापक मेचनीकफका अटल विश्वास था कि प्रतिदिन यथेष्ट परिमाणमें दही खानेपर अकालपक्वता (शीघ्र ही बूढ़ा हो जाना) एवं दैहिक क्षतिको रोका जा सकता है। जो जीवाणु मनुष्यको शीघ्र वृद्ध बना देते हैं, उनका विचार था कि वे बड़ी आँतमें ही रहते हैं। वृद्धोंके मलसे उन्होंने एक प्रकारका सीरम तैयार किया एवं उसे कई एक बंदरोंके शरीरमें प्रवेश कराकर वे उन्हें वृद्ध बनानेमें समर्थ हुए। बादमें पुनः दहीसे दही-जीवाणु लेकर उसे बंदरोंके शरीरमें प्रवेश करा दिया। फलस्वरूप वे पुनः स्वास्थ्यवान् हो पहिले-जैसे हो गये।

बहुतोंका यह विश्वास है कि यदि प्रतिदिन एक बार अथवा सम्भव होनेपर एकसे अधिक बार दहीका सेवन किया जाय, तो दीर्घजीवन लाभ हो सकता है। इस विषयमें बलगेरियावासियोंकी बात प्रायः ही उल्लेख की जाती है। वे पृथ्वीके अन्यान्य बहुत-सी जातियोंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें दही भोजन करते हैं। इसीलिये बलगेरियामें शतायु लोगोंकी संख्या अधिक है।

बाजारमें सर्वदा दही खरीदा जा सकता है, किंतु दूधके दहीका जावन (वह थोड़ा दही जिसे लेकर दूधके बर्तनमें लगानेपर दही जम जाता है) मिलाकर अनायास ही घरपर दही जमाया जा सकता है।

दही जमानेके लिये सर्वदा खाँटी तथा सर्वोत्तम दूध व्यवहार करना उचित है। दूधमें जावन देनेसे पूर्व उसे दस मिनटतक गरम करना चाहिये। बादमें जब वह कुछ गरम हो जाय, तो उसमें ताजे दहीका जावन भलीभाँति मिलाना आवश्यक है। साधारणतया प्रति आध सेर दूधके लिये चायके चम्मचसे एक चम्मच जावन ही यथेष्ट है।

जो जावन व्यवहार किया जाता है, उसके ऊपर ही दही-का गुण-अवगुण अधिकांशरूपमें निर्भर करता है। जावन जितना अच्छा होगा, दही उतना ही सुगन्धयुक्त होगा तथा वह उतना ही घना होकर जमेगा। पुराना अथवा खराब जावन व्यवहार करनेपर बढ़िया दही तैयार करना असम्भव है।

गर्मीके दिनोंमें थोड़े ही यत्नद्वारा दूध जमकर दही हो जाता है। किंतु शीत ऋतुमें उसे कम्बल आदिके द्वारा भलीभाँति ढँककर गरम स्थानमें रखना जरूरी है।

गरमीके दिनोंमें दही जमानेमें पाँचसे छः घंटेतकका समय लगता है, किंतु शीतऋतुमें इसके लिये अत्यधिक समयकी आवश्यकता होती है।

तथापि चेष्टा करनेपर जिस किसी भी ऋतु एवं समयमें केवल दो घंटेके भीतर दही जमाया जा सकता है। इसके लिये जावनका कुछ भाग पात्रके भीतर लेपकर तथा शेष भाग दूधके साथ मिला देना चाहिये। बादमें इसे कम्बल इत्यादि-के द्वारा ढँककर धूपमें रख देना उचित है। ऐसा करनेपर केवल दो घंटेके भीतर ही दूध घना होकर जम जाता है। यदि सूर्य बादलसे ढँका हो अथवा सूर्यका ताप तीव्र हो तो दूसरे एक और गरम जलके पात्रमें दहीका पात्र रख देना उचित है। इससे थोड़े ही समयमें दही तैयार हो जाता है।

इस प्रकार जमाया हुआ दही कुछ देरतक थोड़ा गरम रहता है। जब यह सम्पूर्ण रूपसे ठंढा हो जाय, तभी इसे व्यवहार करना उचित है।

साधारणतः दही घना जमानेके लिये दूधको खूब गरम किया जाता है। इससे दही दुष्पाच्य हो उठता है, अर्थात् दही काफी देरसे पचता है। किंतु अति उत्कृष्ट श्रेणीका दही जमाया जाता है, दूध गरम करनेके पहले उसमें दूधका पाउडर डालकर। दूधका पाउडर यदि विशुद्ध हो तो वह मक्खन निकाला होनेपर भी कोई नुकसान नहीं होता। कारण उसके भीतर एक चर्बीको छोड़कर दूधके और सभी उपादान वर्तमान रहते हैं। दूधकी बुकनी मिलानेपर दही

इतना ठोस होता है कि दहीका पात्र उलटनेपर भी वह नहीं गिरता।

दही उत्कृष्ट श्रेणीका बना है अथवा नहीं, यह जाननेके लिये कई एक लक्षण हैं। अच्छा दही बिल्कुल घना होकर जमता है। उसमें पानी नहीं होता, बुलबुले नहीं उठते, फटा चिह्न अथवा छिद्र नहीं रहता तथा दहीके ऊपर एक छाली-सी पड़ जाती है। दहीके ऊपरी भागकी छालीमें ४९ प्रतिशत चर्बी-जातीय पदार्थ होता है, द्वितीय स्तरमें २३.५ प्रतिशत, तृतीय स्तरमें १९.९ प्रतिशत तथा सर्व-निम्न स्तरमें चर्बीका केवल ७.६ प्रतिशत ही रहता है। इसीलिये दहीका पहिला भाग सभीके लिये अत्यन्त प्रिय है।

दही ग्रहण करनेके बहुत-से उपाय हैं। साधारणतः पात्रसे चम्मचद्वारा उठाकर इसे खाया जाता है। भातके सहित मिलाकर भी इसे ग्रहण किया जाता है। दक्षिण भारतके बहुत-से स्थानोंमें लोग इसे इसी तरह खाते हैं।

फल अथवा सब्जीके सलादके साथ भी दही खाया जा सकता है। दही मिलानेपर सलादका स्वाद काफी बढ़ जाता है एवं स्वास्थ्य और खाद्यके मूल्यकी दृष्टिसे भी यह उन्नति लाभ करता है।

दहीके साथ २५ से ५० प्रतिशत पानी मिलाकर इसका घोल बनाया जाता है। सारे भारतवर्षमें लोग इसे बड़े चावसे पीते हैं तथा यह दहीकी भी अपेक्षा शीघ्र पच जाता है। कभी-कभी इसमेंसे मक्खन निकाल लिया जाता है, उस समय यह और भी सुपाच्य हो उठता है।

चर्बी-वर्जित पुष्टिकर खाद्यके रूपमें यकृत्, कमला अथवा पीलिया तथा स्प्रू आदि रोगोंमें इसका व्यवहार व्यापक रूपसे किया जाता है।

दहीके साथ पानी, नमक, चीनी तथा कागजी नीबू मिलाकर उत्तम शर्बत तैयार किया जाता है। यह अत्यन्त जनप्रिय खाद्य है। विशेषतः ग्रीष्मकालमें सर्वसाधारणके प्रिय खाद्यके रूपमें यह समादर लाभ करता है। यदि पानीके बदले इसमें फलका रस अथवा कच्चे नारियलका पानी मिलाकर शर्बत तैयार किया जाय तो स्वाद एवं पुष्टिकी दृष्टिसे इसका मूल्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है।

कई बार दहीमेंसे पानी निकालकर उसे छेनेमें परिणत किया जाता है। पतले कपड़ेमें बाँधकर कुछ समयतक झुला रखनेसे इसमेंका सारा पानी झर जाता है। यह अत्यन्त सुस्वादु होता है तथा भारतवर्षके बहुत-से स्थानोंमें परम स्वादिष्ट तथा पुष्टिकर खाद्यके रूपमें ग्रहण किया जाता है। किंतु साधारण अवस्थामें दहीका पानी कभी भी फेंक देना उचित नहीं। यद्यपि दहीके जलमें नाममात्रका प्रोटीन और चर्बी होती है, तथापि इसमें दहीके कैलसियमका आधा एवं चीनीका पूरा भाग पाया जाता है।

यूरोपमें भी दहीके साथ चीनी और क्रीम मिलाकर एवं बादमें उसे सुगन्धितकर खाया जाता है। वहाँ इसे जानेकेट कहते हैं। यह अत्यन्त स्वादिष्ट एवं जनप्रिय खाद्य है।

यद्यपि शरीररक्षात्मक खाद्योंमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है, फिर भी यह सबके द्वारा सह्य नहीं होता। मलेरिया, अंबल, पुरानी सर्दी, खाँसी अथवा वातकी बीमारीमें रोगियोंको दही देनेपर इससे बीमारी और भी बढ़ती है। किंतु इन सभी रोगोंमें थोड़े समयमें जमा हुआ ताजा दही खानेपर विशेष किसी हानिकी सम्भावना नहीं रहती।

गोकुलके लोचन

आवत हैं गोकुलके लोचन।
नंदकिसोर जसोदा नंदन मदन-गुपाल बिरह-दुख-मोचन ॥ १ ॥
गोपबृंदमें ऐसे शोभित ज्यों नछत्रमें पूरन चंद।
बनज धातु गुंजामनि सेली भेष बन्यो हरि आनँदकंद ॥ २ ॥
बरहा मुकुट कंठ मनि-माला अद्भुत नटवर बेष जु काछें।
कुंडल लोल कपोल बिराजत मोहन बेनु बजावत आछें ॥ ३ ॥
भक्तबृंद पावन जस गावत यह बिध ब्रज प्रवेस हरि कीनो।
परमानँद-प्रभु चलत ललित गति जसुमति धाय उछँग गहि लीनो ॥ ४ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३।।।), दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६।।।=), तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०।।।)

साइज १०×७।। नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

इसमें १०×७।। साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका बन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७।। नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम। *बहुरंगे*—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पकविमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्‌जी, १७-लक्ष्मीनारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७॥ नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।॥=)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी, ३-त्रिभुवनमोहन राम, ४-दूल्हा रा
५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीरामचतु
९-भगवान् बालकृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्
लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बर
शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २≡), दो चित्रावलि
का पैकिंग और डाकखर्चसहित ३॥=) एवं तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित ५=)

विशेष सूचना—१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ तथा १०×७॥ की तीनों—कुल छः प्रतियाँ एक
लेनेपर उनके दाम १२≡), बाद कमीशन ॥।), बाकी ११।≡) पैकिंग-डाकखर्च २॥।≡), कुल १४।=) भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस (चित्रावली-विक्रय-विभाग), पो० गीताप्रेस (गोरख

प्रार्थना

यद्यपि वर्तमानमें ऐसी कोई बीमारी नहीं दीखती, जिससे प्राण छूटनेकी सम्भावना हो, त
बिना बीमारी भी प्राण चले जा सकते हैं। शरीर अभी जाय या बरसों बाद, इससे कोई म
नहीं; मैं चाहता हूँ कि मृत्युसे पूर्व सभी लोगोंसे क्षमा प्राप्त कर लूँ। अतः मैं 'कल्याण'
लेखक विद्वान् महात्मा आचार्य साधु-संतोंसे, नये-पुराने सभी ग्राहक-ग्राहिकाओं तथा पा
पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जानमें या अनजानमें मुझसे जो भूलें हुई हैं
किसीके प्रति कोई अपराध बना है, उन सबके लिये वे मुझे कृपापूर्वक क्षमा करें और
आशीर्वाद या सद्भावना दें, जिससे शेष जीवनमें कभी किसीका अपराध न बने और जीवनके अ
क्षणमें मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगा रहे।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्या

सूचना

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कई दिनोंसे अस्वस्थ रहनेके कारण उनके नाम आये हुए पत्रोंका
नहीं दिया जा सका है, पत्र-लेखक महानुभाव कृपया क्षमा करें।

—चिम्मनलाल गो

निवेदन

कुछ समय पहले एक बहिनने कोटाके समीप किन्हीं महात्माके आश्रमकी बातें लिखी थीं
आश्रमका तथा उन महात्माका वर्तमान पता कई लोग जानना चाहते हैं, वह बहिन या अन्य कोई
जानते हों तो लिखनेकी कृपा करें।

सम्पादक—'कल्याण', गोर

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिका स्थान-परिवर्तन

सूचित किया जाता है कि दिनाङ्क १ सितम्बर १९५६ को समितिका कार्यालय गोरखपुरसे स्वर्गा
पो० ऋषिकेश (देहरादून) जानेवाला है, अतः आगेसे पत्रव्यवहारका यही पता होगा।

—व्यव

कल्याण

वर्ष ३०] * [अङ्क ११

रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष सं० २०१३, नवम्बर १९५६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–भगवान्‌की विशेष विभूति [कविता]	१२८१
२–कल्याण ('शिव') ...	१२८२
३–तत्त्वमसि (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	१२८३
४–जीवन-मोह [कविता] (पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा) ...	१२८७
५–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ...	१२८८
६–रघुनन्दनकी छवि [कविता] (श्रीअग्र अलीजी)	१२९६
७–सुख कहाँ है ? (स्व० श्रीमगनलाल भाई देसाई)	१२९७
८–कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ? (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ...	१३००
९–सहज सनेही श्रीराम (० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	१३०२
१०–सद्वचन (महात्मा गाँधीजी प्रेषक—'बन्धु') ...	१३०७
११–रूपदर्शन (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०) ...	१३०८
१२–भगवान्‌का भरोसा (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ...	१३१४
१३–श्रीराधाभावकी 'एक' झाँकी (श्रीराधाष्टमीके महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका लिखित प्रवचन) ...	१३१६
१४–भारतीय अर्थशास्त्रकी आधारभित्ति (स्वामीजी श्रीपरमानन्दजी सरस्वती, एम्० ए०) ...	१३२३
१५–भारतीय ईमानदारी [कहानी] (श्री'चक्र') ...	१३२९
१६–रुकूँगा नहीं; डिगूँगा नहीं (श्रीबालकृष्ण बलदुवा) ...	१३३२
१७–प्रेमीकी अनन्यता [कविता] ...	१३३३
१८–अनन्यभक्तिका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	१३३४
१९–याचना [कविता] (श्रीरामनाथजी 'सुमन')	१३३९
२०–हिंदू साधु-संन्यासियोंके लिये कानून ...	१३४०
२१–राजस्थान हिंदू-पब्लिक ट्रस्टबिल ...	१३४२
२२–दृष्टि-दृष्टिका भेद (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	१३४२
२३–श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ...	१३४३

चित्र-सूची

तिरंगा

१–भगवान्‌की विशेष विभूति १२८१

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ॥) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

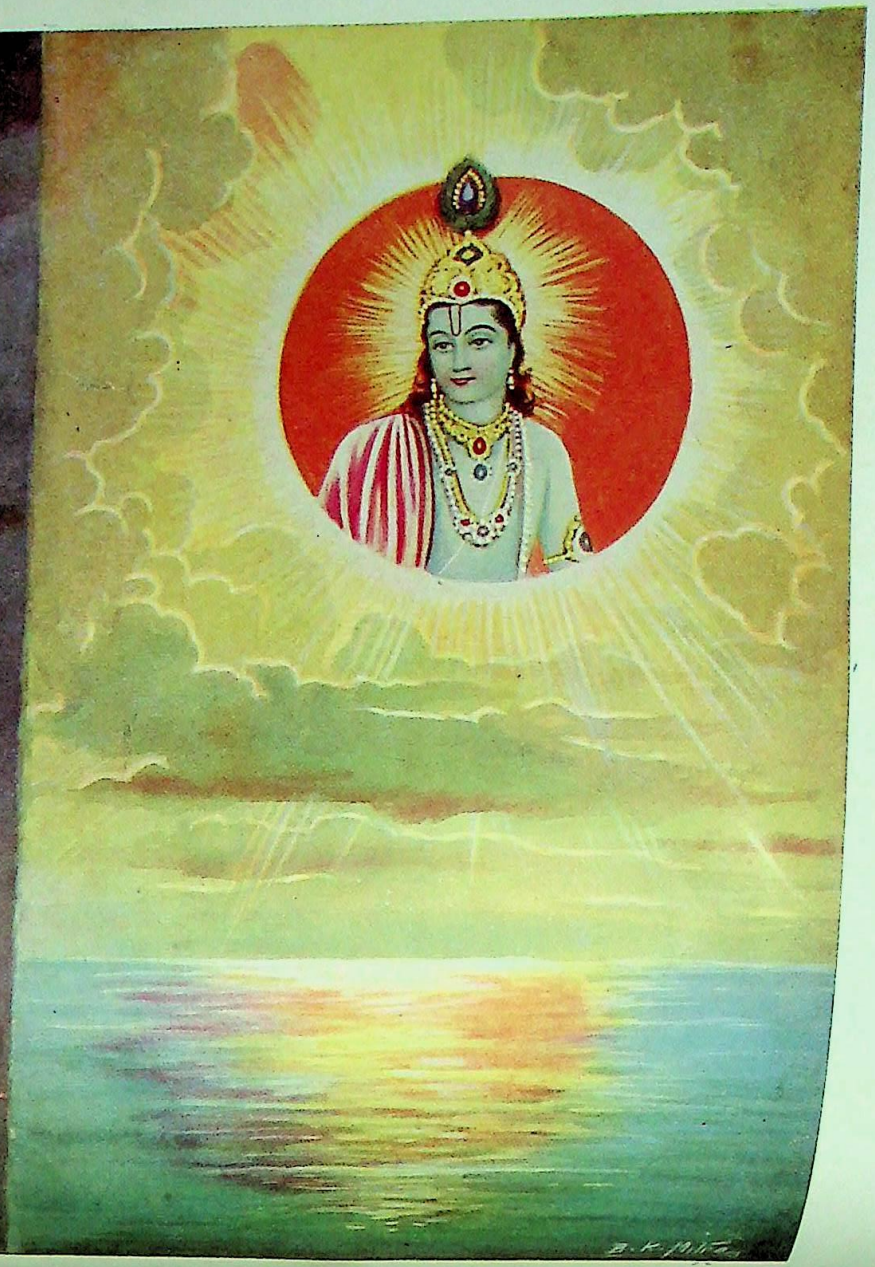
B. K. Mitra

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

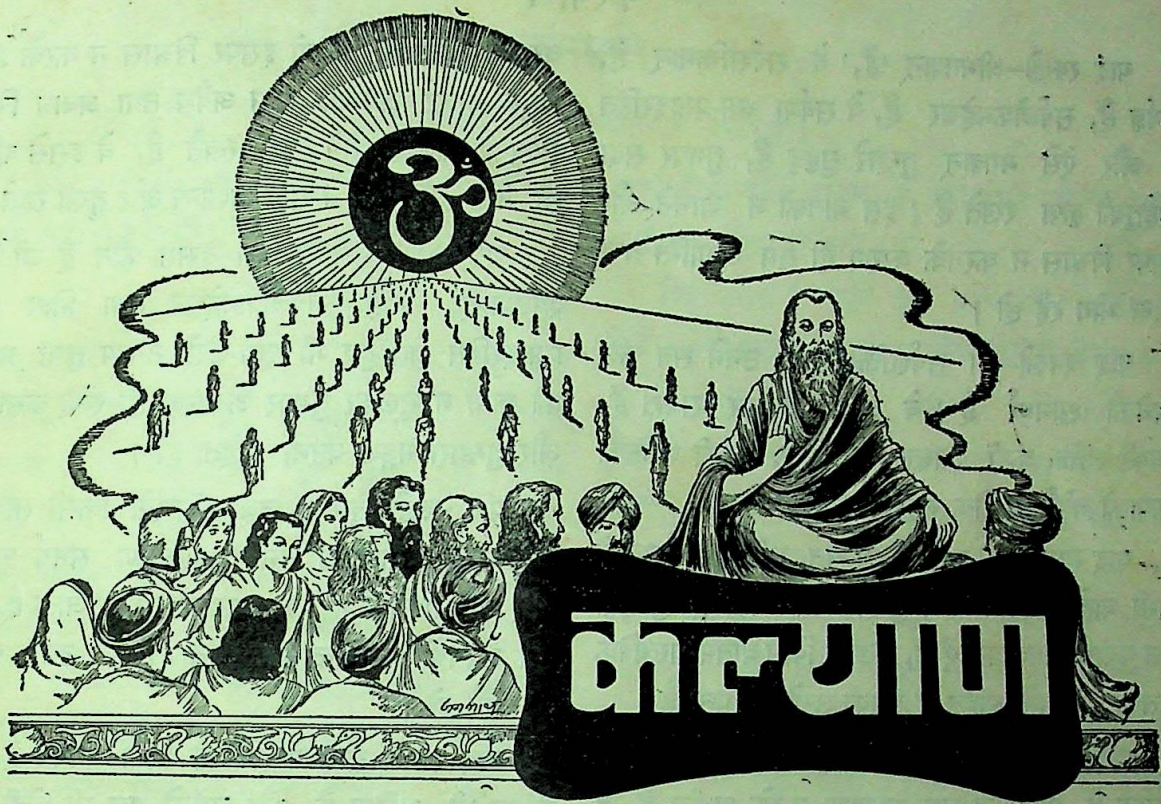

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१३, नवम्बर १९५६ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ३६०

भगवान्‌की विशेष विभूति

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं ।
ऐसा कोई भाव नहीं है, जिसमें श्रीभगवान नहीं ॥

सबमें सदा पूर्ण रहते वे, उनसे कुछ भी भिन्न नहीं ।
जानकार जन इस रहस्यका कभी न होता खिन्न कहीं ॥

जो विशेष श्रीयुत, विभूतियुत, बलयुत होते हैं सद्भाव ।
हरिके तेज-अंशसे सम्भव उनमें हरिका खास प्रभाव ॥

वर्णन कर विभूतियोंका फिर, कहने लगे स्वयं भगवान ।
नक्षत्रोंमें शशि मैं ही हूँ, ज्योतिपुंजमें सूर्य महान ॥

याद रक्खो—श्रीभगवान् 'हैं,' वे सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे सर्वथा भ्रम-प्रमादरहित हैं और ऐसे भगवान् तुम्हारे सुहृद् हैं, तुमपर सदा अहैतुकी कृपा रखते हैं। इस बातको न जानने और इसपर विश्वास न करनेके कारण ही तुम अशान्ति तथा दुःख भोग रहे हो।

याद रक्खो—जो सर्वशक्तिमान् हैं, उनमें सब कुछ करनेकी सामर्थ्य है। वे जो चाहे कर सकते हैं, उनकी शक्ति कहीं परास्त नहीं होती, उनकी शक्तिकी क्रियाको कोई भी रोक नहीं सकता।

याद रक्खो—जो सर्वज्ञ हैं, वे भूत, भविष्य, वर्तमानकी सभी बातोंको जानते हैं। तुम्हारे मनमें क्या है, तुम्हारी क्या यथार्थ आवश्यकताएँ हैं, तुम्हारा किस बातमें वास्तविक हित है, किसमें अहित है,इसका उन्हें पूरा पता है।

याद रक्खो—जो सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे सबके शासक हैं, प्रकृतिका सारा साम्राज्य उनके अधीन है, वे सारे लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं, उनके संकल्प मात्रसे अनन्त विश्वोंका निर्माण और संहार होता रहता है।

याद रक्खो—जो भ्रम-प्रमादरहित हैं, उनसे कभी न भूल हो सकती है, न प्रमाद हो सकता है। उनकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानसम्पन्न, भूलरहित और प्रमादशून्य होती है।

याद रक्खो—ऐसे भगवान् तुम्हारे सहज सुहृद् हैं, इसलिये नहीं कि तुम उनकी भक्ति करते हो। तुम भक्ति करो या न करो, तुम सेवा करो या न करो। तुम एक जीव हो और वे जीवमात्रके सहज बन्धु हैं। बिना ही हेतु प्रेम करते हैं तथा सदा-सर्वदा तुम्हारा हित करनेके लिये प्रस्तुत हैं।

याद रक्खो—भगवान्‌की यह प्रीति, यह कृपा अनन्त है, अपार है, सर्वथा अमृतमयी है, सर्वथा मङ्गलमयी है और बिना ही किसी कारण सहज ही सबपर नित्य बरसती रहती है; पर जो इसपर विश्वास न करके इससे विमुख होकर अपनेको सदा अवैध तथा अबाध विषय-सेवनकी काल-कोठरीमें बंद रखते हैं, वे इससे वञ्चित रह जाते हैं, इसीसे वे सदा अशान्त और दुखी रहते हैं।

याद रक्खो—संसारमें ऐसा दूसरा कौन है जो सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोकमहेश्वर तथा नित्य भ्रम-प्रमादरहित होते हुए भी तुम-जैसे नगण्य तुच्छ प्राणी-को कभी न भूलकर तुमपर अकारण ही स्नेह करता हो और तुम्हारा मङ्गल करना चाहता हो।

याद रक्खो—तुमको जब संसारके किसी साधारण अधिकारीसे, साधारण धनीसे, साधारण समर्थ पुरुषसे और साधारण विवेकशीलसे आश्वासन मिल जाता है, तब तुम अपनेको निश्चिन्त मान लेते हो और उनके कृतज्ञ हो जाते हो।

याद रक्खो—संसारमें सभीकी शक्ति सीमित है, जो है वह भी अनित्य है और सभीसे भूल भी होती है। साथ ही वे तुम्हारे अहैतुक सुहृद् नहीं हैं, उनके सौहार्द तथा प्रेममें कोई-न-कोई हेतु होता है; पर भगवान् तो इससे सर्वथा विलक्षण हैं। वे स्वयं कहते हैं कि जो मुझको ऐसा जान लेते हैं, उन्हें शान्ति मिल जाती है।

याद रक्खो—भगवान्‌की इतनी सहज कृपा होते हुए भी यदि तुम उसपर विश्वास न करके वञ्चित रह जाते हो, उसपर बिना किसी शर्तके अपनेको सर्वथा छोड़कर जीवनको सफल नहीं बना लेते हो, उसपर निर्भर करके जीवनकी परम साधको पूरी नहीं कर लेते हो तो तुम बड़े ही अभागे हो।

याद रक्खो—मानव-जीवनका ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं मिलता। अतएव भगवान्‌पर, उनके सौहार्दपर विश्वास करके सफलजीवन बन जाओ। न प्रमाद करो, न विलम्ब करो। यह मानव-जीवनका अवसर हाथसे निकल गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके कुछ भी नहीं रह जायगा।

'शिव'

तत्त्वमसि

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

एक बार एक सज्जन मेरे पास आये और कुछ दूसरी साधनसम्बन्धी बातें करके बोले—

"एक मासिकपत्रमें एक लेखक लिखते हैं कि 'जिस देशमें 'तत्त्वमसि' अद्वैत ज्ञानका उपदेश दिया जाता है, उस देशमें स्पृश्यास्पृश्यका विवेक सिखलाया जाय और 'मैं ऊँचा, वह नीचा' तथा 'एकको छूनेसे दूसरा भ्रष्ट हो जाता है और एकके साथ खानेसे दूसरा धर्मच्युत हो जाता है'—इत्यादि भ्रामक सिद्धान्त प्रचलित हों तो यह कितने आश्चर्यकी बात हो जाती है। ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं, और इसका अर्थ यही होता है कि उपदेश देनेका ज्ञान और है तथा आचारमें लानेका ज्ञान दूसरा है। जैसे हाथीके खानेके दाँत अलग और दिखानेके दाँत अलग होते हैं; वही बात भारतके तत्त्वज्ञानकी है।

"फिर, जहाँ शङ्कराचार्य-जैसे समर्थ आचार्य हो गये हैं, जिन्होंने सारे देशमें दिग्विजय किया, उनके ध्यानमें भी यह विचार और आचारका भेद नहीं आया और उन्होंने भी यह भेद दूर नहीं किया। उनके पीछे भी कितने ही महान् आचार्य हुए। उनकी दृष्टिमें भी यह भेद न दीख पड़ा। अन्तमें स्वामीनारायण-सम्प्रदायके संस्थापक स्वामी श्रीसहजानन्दको भी यह नहीं दिखायी दिया, अतएव उनसे भी यह भेद दूर नहीं हुआ और वह अबतक ज्यों-का-त्यों चलता आ रहा है।

"भारतके सद्भाग्यसे गान्धीजीकी दृष्टि इस अन्यायकी ओर गयी और उन्होंने अस्पृश्यता-निवारणका भगीरथ कार्य हाथमें लिया; परंतु इसको पूरा करनेके पहले ही उनका देहान्त हो गया और अब उनका अधूरा कार्य उनके अनुयायी प्रबल वेगसे पूरा कर रहे हैं। यदि गान्धीजीकी दृष्टि इसपर न पड़ी होती तो यह कलङ्क कभी दूर होता ही नहीं।"

विज्ञ पाठक! आपने इस प्रवचनको चुपचाप सुन लिया। अब आइये हम इसपर तटस्थ दृष्टिसे विचार करें।

'तत्त्वमसि' यह वाक्य शरीरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। ऐसा होता तो इसका अर्थ यह होता कि तुम्हारा शरीर मेरा शरीर है और मेरा शरीर तुम्हारा शरीर है। यदि ऐसा होता तो एक शरीरमें फोड़ा होनेपर उसकी वेदना दूसरे शरीरमें भी होती तथा एक शरीर भोजनसे तृप्त होता तो दूसरे शरीरको तृप्तिका अनुभव होता; परंतु ऐसी घटना कहीं देखनेमें नहीं आती। अतएव 'तत्त्वमसि' शरीरके लिये कहा गया है, ऐसा मानना तो प्रत्यक्षके विरुद्ध है; इसलिये यह बात प्रमाणित नहीं होती।

यहाँ एक बात समझने योग्य है। (१) स्पर्श होता है एक शरीरका दूसरे शरीरसे, (२) उच्च-नीच-का जो भेद होता है, वह भी शरीरसम्बन्धी ही है, (३) एक शरीरसे दूसरा शरीर छू जाता है, इससे उस शरीरमें विकार होता है, (४) एकके साथ दूसरेके भोजन करनेसे उसका असर भी शरीरपर ही होता है। इससे आत्माका किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा स्वरूपसे असङ्ग है, इस कारण शरीरका कोई धर्म उसका स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार स्पर्श्या-स्पर्श्य आदि समस्त विवेक शारीरिक दृष्टिसे ही है, इसी कारण व्यवहारमें इनका होना अनिवार्य है।

'तत्त्वमसि' यह महावाक्य माना जाता है, इसको छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुसे कहा है। इसी उपनिषद्में पुनर्जन्मके सिद्धान्तको बतलाते हुए ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा'। (५।१०।७)

'इन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें शुभ आचरणवाले होते हैं, वे अवश्य उत्तम योनिमें जन्म धारण करते हैं—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त होते हैं तथा जो इस लोकमें अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे अधम योनिमें जन्म धारण करते हैं—कुत्ते, सूअर अथवा चाण्डालयोनिको प्राप्त होते हैं।'

इस अवतरणसे भी यह सिद्ध होता है कि 'तत्त्वमसि' वाक्यका प्रयोग शरीरोंकी एकता बतलानेके लिये नहीं हुआ है; क्योंकि एक ही ग्रन्थमें दो परस्पर-विरोधी बातें नहीं हो सकतीं।

'तत्त्वमसि' वाक्यका उपयोग तो आत्मा और परमात्माका ऐक्य समझानेके लिये हुआ है (शरीरकी तो वहाँ बात ही नहीं है)। जो चेतन तत्त्व अपने व्यापक स्वरूपमें 'परमात्मा' कहलाता है, वही चेतन तत्त्व जब शरीरमें प्रकट होता है, तब 'आत्मा' कहलाता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा—इन दोनोंमें अभेद है, यह समझानेके लिये ही इस वाक्यका उपयोग हुआ है। मनुष्य-जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष है, अतएव आत्मा-परमात्माका अभेद समझना मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है; क्योंकि यह समझे बिना मुक्ति नहीं होती।

आजके मुद्रण-यन्त्रके वैज्ञानिक युगमें तत्त्वज्ञानकी पुस्तकें ढेर-की-ढेर छपती हैं। जिसके पास पैसेकी सुविधा है और बाँचनेकी कुशलता होती है, वह मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार पुस्तकें खरीदकर पढ़ लेता है तथा वाचनके प्रमाणसे छोटा-बड़ा तत्त्ववेत्ता प्रसिद्ध हो जाता है। यदि सारे संसारमें प्रसिद्धि प्राप्त करनी हो तो इसके बाद यूरोपके तत्त्ववेत्ताओंकी पुस्तकोंको भी पढ़ डालता है और दोनोंका सम्मिश्रण करके एक व्याख्यान तैयार करता है। इस प्रकार विश्वविख्यात तत्त्ववेत्ता बन जाता है।

इस प्रकारकी पढ़ाईसे मनुष्य तत्त्ववेत्ता अवश्य हो जाता है तथा यश और समृद्धि भी उसे प्राप्त होती है; परंतु वह 'तत्त्वज्ञानी' नहीं बन पाता। जैसे माध्यमिक विद्यालयमें जानेके लिये प्राथमिक विद्यालयका ज्ञान आवश्यक है, जैसे कालेजमें जानेके लिये माध्यमिक विद्यालयका पूरा ज्ञान आवश्यक है, जैसे 'पोस्ट-ग्रेजुएट' की पढ़ाईके लिये कालेजका पूरा ज्ञान जरूरी है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके लिये भी एक विशेष प्रकारकी योग्यता प्राप्त करना जरूरी है। इस योग्यताकी पद्धति इस प्रकार है—पहले तो विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षता सम्पादन करनी चाहिये। इतना अधिकार हुए बिना शास्त्रका मर्म समझमें नहीं आता और इससे बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है। साथ-ही-साथ निष्कामकर्म और उपासनासे चित्तके मल और विक्षेप दोषोंको दूर करना चाहिये। जबतक ऐसा न होगा तबतक ज्ञान स्थिर नहीं होगा। इतना अधिकार प्राप्त करके कोई भी साधक, जो गुरुके पास रहकर शास्त्र श्रवण करता है, फिर उसपर खूब मनन करता है और ऐसा करते हुए निदिध्यासन करता है, उसको ज्ञानप्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। ऐसा पुरुष 'तत्त्वज्ञानी' कहलाता है।

आत्मदृष्टिसे अद्वैत ही है। इस भावका कथन गीतामें तथा पुराणोंमें भी है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे शरीरोंकी एकता है, इसलिये एकसा व्यवहार सब शरीरोंके साथ नहीं करना चाहिये। गीतामें प्रसिद्ध श्लोक है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥५।१८॥

भाव यह है कि विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डालको ज्ञानी पुरुष समान दृष्टिसे देखता है। यहाँ 'समवर्तिनः' शब्द न होकर 'समदर्शिनः' शब्द है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मदृष्टिसे सभी प्राणी एक ही कोटिके हैं, क्योंकि एक ही आत्मा सब शरीरोंको चेतनता प्रदान कर रहा है, परंतु व्यवहारकालमें तो प्रत्येक प्राणीके साथ उसके स्वभाव और गुण-दोषके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। सवारी करनी होती है तो हाथीके ऊपर ही बैठा जाता है, गाय या कुत्तेके ऊपर कोई नहीं बैठता। दूध चाहिये तो गायका दूध ही काम देता है, कोई कुतियाको दुहने नहीं बैठता। खेतकी चौकी करनी हो तो वहाँ कुत्तेकी जरूरत पड़ती है, गाय या हाथीसे काम नहीं चलता। शास्त्रीय पठन-पाठन करना हो तो उसमें विद्वान् शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण ही चाहिये, श्वपचसे काम नहीं चलता। इस प्रकार आत्मदृष्टिमें ये पाँचों प्राणी समान हैं, परंतु शरीर-दृष्टिसे कोई भी समानता नहीं है। इसलिये शरीरकी बात हो तो प्रत्येकको पृथक्-पृथक् समझकर उनके गुण-दोषके अनुसार उनके साथ व्यवहार करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें भी इस भावका एक श्लोक है—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥

भाव यह है कि हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, सर्पादि पेटसे चलनेवाले प्राणी, पक्षी तथा मक्खी-जैसे क्षुद्र जन्तुओंको भी अपने पुत्रके समान जानना चाहिये; क्योंकि आत्मदृष्टिसे अपने पुत्र तथा इन प्राणियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। यहाँ भी 'पश्येत्' शब्द है और 'आचरेत्' या इस प्रकारका समान व्यवहारसूचक कोई शब्द नहीं है।

दोनों श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि सभी प्राणी ईश्वरके बालक हैं। यद्यपि उनके शरीर विभिन्न स्वभाववाले तथा पृथक्-पृथक् हैं तथापि एक ही अन्तर्यामी ईश्वर उन सबमें आत्मरूपसे विराजित है। इसलिये उन सबका आदर करना चाहिये, सबको यथाशक्ति सुख पहुँचाना चाहिये। उनमें किसीको भी कभी दुःख तो दे ही नहीं, ऐसा कोई भी काम न करे जिससे उनको पीड़ा पहुँचे। परंतु उनके साथ व्यवहारका प्रसङ्ग आनेपर व्यवहार वही करना चाहिये, जो उनके शरीरके साथ करना उचित हो।

यह बहुत ही महत्त्वका विषय है। इसलिये एक घरेलू दृष्टान्तसे इसको समझना चाहिये। एक गृहस्थ बाहरसे आया है। दीवानखानेमें उसकी माँ, बहिन, लड़की, भौजाई तथा उसकी पत्नी बैठी-बैठी बातें कर रही हैं। वे सभी स्त्रियाँ हैं। सबके शरीर समान हैं और सब शरीरमें एक ही आत्मा है; इतना साम्य होनेपर भी क्या वह गृहस्थ सभी स्त्रियोंके साथ एक-सा व्यवहार करेगा? यदि करता है तो वह मनुष्य ही नहीं कहलाता, उसकी गणना पशुमें ही होती है। यों जहाँ शारीरिक समानता होती है, वहाँ भी व्यवहार तो यथायोग्य ही करना पड़ता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस इस बातपर बहुत जोर दिया करते थे कि अद्वैतदृष्टि भावमें होती है, क्रियामें की ही नहीं जाती। वे दृष्टान्त देकर समझाते थे कि ज्ञान-दृष्टिमें गाय और बाघ नारायणके ही स्वरूप हैं; परंतु व्यवहारमें बाघ अपने स्वभावके अनुसार गायको खा जाता है। गायको अपने घर रक्खो तो वह अपने स्वभावके अनुसार दूध देती है और बाघ मिलनेपर खा जाता है। अग्नि और सर्प दोनों नारायणस्वरूप ही हैं; परंतु अग्निका उपयोग उष्णता-प्राप्तिके लिये ही किया जाता है। देवताका स्वरूप जानकर आलिङ्गन करनेसे तो वह जला ही देगी। इसी प्रकार सर्पको भी दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये, भेंटने जाओगे तो वह डँसकर जरूर प्राण ले लेगा।

अपनी स्त्री तथा समस्त नारीसमाजको वे माताका ही स्वरूप मानते थे और फिर भी साधक तथा सिद्धको

कामिनी तथा काञ्चनसे दूर ही रहनेके लिये कहते थे। इससे स्त्री-समानाधिकारके हिमायती लोगोंको दुःख भी होता था। कामिनीसे दूर रहनेका उपदेश देनेमें उनका यह जरा भी हेतु नहीं था कि नारीजगत्‌के प्रति तिरस्कारकी भावना उत्पन्न हो, बल्कि उनके कथनका तात्पर्य इतना ही था कि स्त्री-जातीय आकर्षणसे दूर रहा जाय; क्योंकि वह आकर्षण सबसे बलवान् होता है।

क्रियामें अद्वैत न बरतनेका एक शास्त्रीय दृष्टान्त इस प्रकार है। एक गुरुजी पाठशालामें वेदान्तकी शिक्षा देते हुए कहते थे—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' एक ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। विद्यार्थियोंने यह बात कण्ठस्थ कर ली। दो-चार दिनोंके बाद एक बार राजमार्गसे एक पागल हाथी दौड़ता हुआ आ रहा था। गुरुजी ठीक उसी समय उस मार्गकी ओर जा रहे थे। जब उनको वस्तुस्थितिका पता लगा, तब वे कोई सुरक्षित स्थान खोजनेके लिये दौड़े। उसी समय उनका एक शिष्य अपने सुरक्षित स्थानसे चिल्लाकर कहने लगा—'गुरो! गजो मिथ्या'—'गुरुजी, दौड़ते क्यों हैं! आपने ही तो पढ़ाया है कि गज मिथ्या है!'

भागते हुए ही गुरुजीने उत्तर दिया—'पलायनमपि मिथ्या।' 'यह मेरा दौड़ना भी तो मिथ्या ही है।'

यहाँ देखो, गुरुजी तत्त्वज्ञानी थे, इसलिये उन्होंने ठीक जवाब दिया और बतलाया कि जिस दृष्टिसे हाथी मिथ्या है, उस दृष्टिसे इस शरीरके दौड़नेकी क्रिया भी मिथ्या ही है। व्यवहारमें तो हाथीको सत्य मानकर उससे शरीरका रक्षण करना आवश्यक है। इतना अन्तर है तत्त्वज्ञानमें और रटे हुए ज्ञानमें।

विज्ञ पाठक! इस छोटेसे निबन्धमें हमने देख लिया कि सिंह-हाथी, सर्प-नेवला, गाय-बाघ, बिल्ली-चूहा, हरिन-सिंह, घोड़ा-गधा, साँप-बिच्छू, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि क्षुद्र जन्तुओं तथा मनुष्योंके शरीर एक ही मिट्टीसे बने हुए हैं। प्राणियोंका आकार और स्वभाव पृथक्-पृथक् है; परंतु वे बने हुए हैं एक ही मिट्टीसे और एक ही ईश्वर उन सबमें अखण्ड रूपसे विराज रहा है, जैसे एक ही सूत मालाकी सारी मनिकाओंमें रहता है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे तो द्वैत है ही नहीं, सर्वत्र एकरस समानता है। तथापि हमने यह भी देख लिया कि व्यवहारकालमें सब प्राणियोंके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये प्राणियोंके बीच व्यवहार-भेद रहना अनिवार्य है।

तात्त्विक दृष्टिसे एकरस समानता होनेपर भी व्यवहार क्यों पृथक्-पृथक् करना पड़ता है, इस विषयपर कभी विचार किया है? इसके समाधानमें शास्त्र यह कहते हैं कि यह जो आँखसे दीख पड़ता है, इस शरीरके भीतर एक दूसरा शरीर और है। यह बात सुनकर शायद आप चमक उठें; परंतु इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है। शास्त्रावलोकन करनेसे सब बातें बहुत आसानीसे समझमें आ जायँगी। इस भीतरी शरीरको 'लिङ्गदेह' कहते हैं और इसीके कारण व्यवहारमें विषमता रहती है। ऊपरका शरीर समान होनेपर भी किसी भी दो प्राणियोंके लिङ्गदेह समान संस्कारवाले नहीं होते। इसका कारण जन्मोंकी परम्परा है। जब किन्हीं भी दो देहोंमें समानता नहीं होती, तब इसीलिये व्यवहारमें भिन्नता अनिवार्य है, समानता सम्भावित नहीं है।

फिर हमने यह भी देख लिया कि 'तत्त्वमसि' महावाक्यका तात्पर्य समझनेके लिये एक प्रकारका अधिकार आवश्यक है। उतना अधिकार प्राप्त करनेके पहले तत्त्वज्ञानकी पुस्तकें पढ़नेका भी किसीको अधिकार नहीं है, ऐसा हमारे शास्त्र-ग्रन्थ प्रारम्भमें ही कहते हैं।

इतना होनेपर भी विज्ञ पाठको! इस वाक्यका रहस्य जाननेकी तीव्र जिज्ञासा हो तो 'तत्त्वमसि' समझनेके

लिये ही श्रीशङ्कराचार्यने एक प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम 'तत्त्वोपदेश' है। वह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है, परंतु इस महावाक्यको कैसे सिद्ध किया जाय, इसे बहुत ही विस्तारपूर्वक एक दृष्टान्त देकर समझाया है। इस ग्रन्थको किसी विद्वान्‌के पास बैठकर पढ़ेंगे तो कुछ अंशमें बोध हुए बिना न रहेगा। इस ग्रन्थका अन्तिम श्लोक बहुत महत्त्वका होनेके कारण उसे यहाँ उद्धृत करके लेख समाप्त किया जाता है।

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

भावमें अर्थात् ज्ञान-दृष्टिमें तो अद्वैत सिद्ध ही है। इसलिये सभी प्राणियोंमें एक ही ईश्वरका वास है, ऐसा भाव रखकर सबका आदर करना चाहिये। सबको सुख पहुँचाना चाहिये, किसीको कष्ट तो देना ही नहीं चाहिये; परंतु व्यवहारकालमें तो प्रत्येक प्राणीके साथ उसके शरीर तथा स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करना चाहिये। इतना विवेक यदि मनुष्य न रक्खे तो वह मनुष्य ही न कहलाये। इस प्रकार व्यवहारमें विषमता होनेपर भी भावनामें तीनों लोकोंमें समानता रखनी चाहिये; परंतु गुरुके साथ तो भावनामें भी समानता नहीं रखनी चाहिये। गुरु-शिष्य दोनों जीवन्मुक्त हों तो भी जबतक शरीर है तबतक गुरुके शरीरको पूजनीय और वन्दनीय समझना चाहिये। शिष्यको अपने शरीरसे गुरुकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार गुरु-शिष्य दोनोंमें देहावसानपर्यन्त सेव्य-सेवकभाव ही रहना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे एकरस समानता होनेपर भी व्यवहारमें ध्यान रक्खे बिना नहीं चलता; क्योंकि व्यवहारमें विषमता न रहेगी तो परिणाममें अवश्य विषमता आयेगी। परमात्मा सबको सन्मति दें।

जीवन-मोह

(रचयिता—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

मुझको जीवनका मोह नहीं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(१)

पा स्वस्थ, सुदृढ़, सुन्दर शरीर,
क्यों रहूँ क्रूर, कायर, अधीर,
बन कर्म-केसरी, धर्मवीर,
भव-सागरसे तर जाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(२)

भूखे-प्यासोंकी आहोंमें,
दुखियोंके कष्ट कराहोंमें,
व्यथितोंके अन्तर्दाहोंमें,
बनकर सुख-शान्ति समाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(३)

यह विश्व बृहत् परिवार बनें,
मानवता प्रेमाधार बनें,
जन-सेवा ही हिय-हार बनें,
जग-जीवोंको अपनाऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं!

(४)

दुर्भाव-दम्भ-दल-बाधक बन,
कर्तव्य कर्म सत् साधक बन,
भगवान्-भक्त आराधक बन,
निशि-दिन निज आयु बिताऊँ मैं—
जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ मैं।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरणपूर्वक प्रणाम ! आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें समयाभावके कारण विलम्ब हो गया, सो आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पत्रको पढ़कर आपको जो प्रसन्नता होती है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। आपके प्रेमभाव और प्रभुकी कृपासे ही ऐसा होता है। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

पूर्वजन्मोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक 'संचित' दूसरे 'प्रारब्ध'। 'संचित कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनका फल वर्तमान जन्मके लिये निश्चित नहीं हुआ है, अतः उनका नाश करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। विवेकपूर्वक अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका नाश बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

'प्रारब्ध कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनके फलस्वरूप वर्तमान शरीर मिला है एवं जिनके अनुसार जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्तियों और परिस्थितियों-का संयोग-वियोग निश्चित कर दिया गया है। इस विषयमें उनकी अवश्य ही प्रधानता है। वर्तमानमें हम जो अच्छे या बुरे कर्म करेंगे उनमेंसे कोई-कोई उग्र कर्म तो तत्काल प्रारब्ध बनकर प्रारब्धमें सम्मिलित हो जाता है। शेष सब संचित कर्मोंके साथ सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार यह कर्मचक्र चलता रहता है।

भगवान्‌का भजन-स्मरण इसलिये करना चाहिये कि हमारे संचित कर्म भस्म किये जायँ, फिर इस दुःखमय संसारमें न आना पड़े। नहीं तो, मरनेके बाद शूकर-कूकर आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा।

वर्तमान जन्ममें भजन-स्मरणसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि घरमें दरिद्रता, वस्तुओंका अभाव, शरीरमें बीमारी, अपमान, निन्दा आदि प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त होनेपर भी वे हमारी शान्तिको भंग नहीं कर सकेंगी। हमारे लिये अनुकूलता और प्रतिकूलता बराबर हो सकती है। ऐसा हो जानेपर हमें कर्मके फलको बदलनेकी कोई जरूरत नहीं रहती, हमारा हृदय निरन्तर प्रभुके प्रेमसे भरा रह सकता है। इससे बढ़कर इस मनुष्य-जीवनका और लाभ हो ही क्या सकता है।

निष्काम कर्म और ईश्वरभक्ति कभी भी बन्धनकारक नहीं होते। निष्कामभावसे केवल भगवान्‌के आज्ञा-पालनके रूपमें, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जो दूसरे देवताओंकी पूजा की जाती है और उसके बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारके फलकी आशा नहीं की जाती। वह तो भगवान्‌की ही पूजा है, उसका फल तो वही होगा जो भगवान्‌की पूजा-भक्तिका होता है।

'भगवान्‌की शरणागति किसको कहते हैं ?' इसका विस्तारयुक्त लेख मेरे द्वारा लिखित तत्त्व-चिन्तामणि नामक पुस्तकमें देख सकते हैं। पत्रमें कहाँतक लिखा जाय। ईश्वरकी शरण हो जानेवाला न तो किसी भी परिस्थितिमें घबराता है, न संसारी लोगोंसे मदद माँगता है, वह तो सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

दस हजार राजा मिलकर उस धनुषको तोड़ सकें, ऐसा होना सम्भव ही नहीं था, तब राजा जनक क्या करते ? यह प्रश्न ही नहीं उठता। बहुत लोग मिलकर धनुष तोड़ें, यह विधान भी नहीं था। विधान तोड़कर अपने इच्छानुसार वह प्रयोग करना उन राजाओंकी भूल थी।

श्रीहनुमान्‌जीको भरतजीने कुमारी कन्याएँ पुरस्कारमें दीं, ऐसी बात तुलसीकृत रामायणमें नहीं है।.....

यह बात कैसे लिख दी ? इसका क्या सदुपयोग है ? यह तो उन्हींसे पूछना चाहिये ।

किसी आदमीकी मृत्यु ग्रामदोषसे नहीं होती । मर जानेवाले व्यक्तिके ही प्रारब्धकर्मके फलरूपमें होती है । अतः कोई घबरानेवाली बात नहीं है । जो उन्नत होते हैं वे मर जाते हों, ऐसी बात भी नहीं है । जो उन्नत नहीं होते, वे भी तो मरते ही हैं ।

भगवान्‌की कृपा सबपर अपार है । उनकी कृपासे ही मनुष्यशरीर और विवेक मिला है । जो उनकी कृपाको मानता है, उसका आदर करता है, उसपर वह कृपा विशेष प्रकट होती है—

सबसे हरिस्मरण !

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

(१) जीव और आत्मामें कोई वास्तविक भेद नहीं है । बद्ध-अवस्थामें उसे 'जीव' कहते हैं और मुक्तावस्थामें वह 'आत्मा' कहा जाता है । आत्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन ज्ञानस्वरूप हैं । जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो और अन्यको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो, उसे 'चेतन' कहते हैं ।

(२) समाधि लगानेके अनेक प्रकार हैं, इसका विस्तार योगदर्शनमें देखना चाहिये । बहुत लम्बा विषय है, पत्रद्वारा नहीं बताया जा सकता ।

(३) समाधिमें शरीर चेष्टारहित होनेपर भी उसमें प्राण, जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरके तत्त्व विद्यमान रहते हैं, इसलिये शरीर नहीं सड़ता ।

(४) मानसिक पूजामें समस्त सामग्री और पूजनकी क्रिया आदि मनसे संकल्पद्वारा ही की जाती है, यह तो सबकी ही समझमें आता है । इसमें पूछना क्या है, कुछ समझमें नहीं आया ।

(५) आप सद्बुद्धि और सिद्धि चाहते हैं तथा जीवनमें ही प्रभुदर्शन चाहते हैं, सो अच्छी बात है । सिद्धि भी दुखियोंका दुःख हरनेके लिये चाहते हैं, यह भी अच्छी बात है, आप जैसा बनना चाहते हैं उसके अनुसार साधन कीजिये, तब सब कुछ हो सकता है ।

आप शान्तिपूर्वक विचार करें कि आप अपनी चाह पूरी करनेके लिये क्या कर सकते हैं और क्या कर रहे हैं एवं चाह पूरी न होनेकी आपके मनमें वेदना है या नहीं । अगर है तो कितनी और किस दर्जेकी है । विचार करनेपर पता चलेगा कि आप मिली हुई शक्तिका प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक-ठीक और पूरा नहीं करते । इसी कारण आपकी चाह पूर्ण होनेमें विलम्ब हो रहा है । मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसीको आशीर्वाद देकर उसकी चाहको पूरी कर दूँ । मैं तो समझता हूँ कि चाहरहित होना ही परम सिद्धिका और भगवान्‌के दर्शन प्राप्त करनेका अमोघ उपाय है, जिसके करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं ।

(६) आठ सिद्धियाँ इस प्रकार सुनी गयी हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व । पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व—इस प्रकार ये नौ निधियोंके नाम सुने गये हैं । इनका विस्तार समझाना बहुत कठिन है ।

(७) आपके पिताजी आपको गीतापाठ नहीं करने देते और पूजा आदि साधनमें समय लगानेपर भी क्रोध करते हैं । इस विषयमें आपको सोचना चाहिये कि इसका कारण क्या है ? पिताजी आपका भला ही चाहते होंगे बुरा नहीं; पिता तो आखिर पिता ही ठहरे । वे अपने पुत्रका अहित क्यों चाहेंगे ? सम्भव है आप उनकी सेवा न करते हों या उनको इस बातका संदेह हो कि इधर लग जानेसे यह घर छोड़कर भाग न जाय, या व्यापार वगैरहसे और घरके कामसे मन न

चुराने लगे। इस प्रकारकी शङ्का यदि उनके मनमें हो तो बातचीत करके तथा अपने व्यवहार और आचरण-द्वारा उसे दूर कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर उनका मन बदल सकता है।

वे जो आपको झूठ बोलने, धोखाबाजी, बेईमानी और छल-कपट करनेके लिये बाध्य करते हैं तो बड़ी नम्रताके साथ विनयपूर्वक उनसे क्षमा माँगकर कहना चाहिये कि 'ऐसा करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। मेरी समझमें ऐसा करनेमें न तो आपका हित है न मेरा ही; अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करें जो इस विषयमें मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं करता।' इसपर यदि वे बुरी-भली जबान कहें, गालियाँ दें, अपमान करें तो मनमें जरा भी क्रोध या दुःख नहीं करना चाहिये, हर्षपूर्वक सबको सहन करते जाना चाहिये। भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ रहना चाहिये। पिताजीकी शारीरिक सेवा तथा जो धर्म और साधनके प्रतिकूल न हो, ऐसी आज्ञाका पालन बड़े आदर, प्रेम और प्रसन्नताके साथ करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे मेरा विश्वास है कि आपके पिताजीका स्वभाव बदल सकता है।

आप घरसे निकलकर न तो अपना ही सुधार कर सकेंगे और न अपने पिताजीका ही। मोह तो आपके अन्तःकरणमें है। वह तो आपके साथ, जहाँ आप जायँगे, वहीं रहेगा। घर छोड़नेसे तो मोहकी बेड़ी कटेगी नहीं और घरमें रहनेके कारण मजबूत नहीं होगी। उसका टूटना और मजबूत होना तो आपके साधनपर निर्भर है।

(८) यदि मनुष्य अपनी वस्तु किसी दुखीकी सहायतामें लगानेका संकल्प कर ले, परंतु उसके पहले ही उस दुखीकी जरूरत पूरी हो जाय, उसे उसकी आवश्यकता न रहे तो वह उस वस्तुका उपयोग दूसरे वैसे ही अभावग्रस्त दुखीके हितमें कर सकता है जिसे उसकी आवश्यकता हो, इसमें कोई हानि नहीं है। हाँ, जिसको देनेका पूर्वमें संकल्प किया गया था, उसे भी इसकी सूचना दे देनी चाहिये।

(९) हरेक प्राणीमें प्रभुका निवास समझना तो भाव और प्रेमकी बात है और सबके साथ वर्ण-आश्रमके अनुसार आचरण करना यह व्यावहारिक क्रियाकी बात है। प्रेम और तात्त्विक दर्शनमें ही समता हो सकती है। व्यवहारमें अर्थात् क्रियामें भेद तो सबको करना ही पड़ता है, क्योंकि यह अनिवार्य और आवश्यक है। अपने शरीरके सब अङ्गोंके साथ हम समताका आचरण नहीं कर सकते, यद्यपि उसमें सर्वत्र हमारा आत्मा, प्राण और प्रेम समान है, पर वस्तुको ग्रहण हाथसे करेंगे, शरीरपर कोई संकट पड़ेगा तो रक्षाका काम हाथसे करेंगे, खानेका काम मुखसे करेंगे, देखनेका काम आँखसे करेंगे, मल-त्यागका काम गुदासे करेंगे इत्यादि। सभी कामोंमें भेद करना ही पड़ेगा, इस भेदको कोई मिटा नहीं सकता।

(१०) यज्ञोपवीतके बिना वैदिक मन्त्र और प्रणव-के जपका अधिकार नहीं है। भगवान्‌के नामका जप किया जा सकता है; उसी प्रकार ॐकारको भी भगवान्‌का नाम मानकर कोई जप करे तो दूसरी बात है, शास्त्रीय ढंगसे तो अधिकार नहीं है।

(११) नित्य-प्रति स्नान तो करना ही चाहिये, कपड़े भी धो लिये जायँ तो अच्छा ही है; क्योंकि सफाई भी पवित्रताका ही अङ्ग है। कम-से-कम धोती तो धोयी ही जानी चाहिये।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था, समय कम मिलनेके कारण उत्तरमें विलम्ब प्रायः हो ही जाता है।

आपने अपने पुत्रके स्वभाव, आचरण और पढ़ाई वगैरहके समाचार लिखे, उनको पढ़ लिया, पर मैं ऐसा कोई भी मन्त्र, तन्त्र या ओषधि नहीं जानता जिसके प्रयोगसे आपके लड़केका स्वभाव बदल दिया जा सके।

अतः मेरी समझमें उसके लिये चिन्ता और दुःख करनेमें तो कोई लाभ नहीं है। उसमें जो आपलोगोंका मोह है, उसे हटा लेना चाहिये और उसे अपना न मानकर भगवान्‌का मानना चाहिये तथा उसके सुधारका भार भी विश्वासपूर्वक भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये। ऐसा करनेपर आपलोगोंका और उसका भी हित हो सकता है। यह प्राकृतिक नियम मालूम होता है। इसके अतिरिक्त आपलोग और कर ही क्या सकते हैं?

आपने पूरी गीताजी याद कर ली, यह तो बहुत ही अच्छी बात है। अब उसमेंसे जो श्लोक आपको रुचिकर हों और जिनके अनुसार जीवन बनाना आपको सुगम प्रतीत होता हो, ऐसे श्लोकोंको चुनकर उनके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा प्रेम और विश्वासपूर्वक करनी चाहिये।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपने अपना परिचय दिया और वर्तमान परिस्थितिका वर्णन किया, वह भी ज्ञात हुआ। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

यह सत्य है कि असंख्य भोग-योनियोंके बाद प्रभुकी कृपासे यह मनुष्य-शरीर उनका भजन-स्मरण करनेके लिये मिला है। इसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

केवल गृहस्थाश्रममें ही तरह-तरहकी उपाधियाँ आती रहती हैं, ऐसी बात नहीं है। उपाधियाँ तो मनुष्यके मनमें रहती हैं, वे हरेक आश्रममें उसके साथ रहती हैं। अतः किसी भी आश्रमको बुरा समझना या दूसरे किसीमें सुख समझकर फँसना, यह साधनके लिये आवश्यक नहीं है। स्त्री बेड़ी तो उसके लिये है जो उससे सेवा लेना चाहता है, उसे इन्द्रिय-सुखभोगकी सामग्री बनाना चाहता है। जो उसे सुख देना चाहता है, उसका हित करना चाहता है, उसे साधन-सामग्री समझता है, उसके लिये वह बेड़ी नहीं है।

अन्य आश्रमावलम्बियोंकी सेवा करनेके लिये तो गृहस्थ-आश्रम साधनरूप है। स्वतन्त्रता भी अन्य आश्रमोंकी अपेक्षा गृहस्थमें ही अधिक है। दूसरोंसे आशा रखनेवाला प्राणी सदैव पराधीन रहता है। कोई भी आश्रम न तो आनन्द देनेमें समर्थ है और न दुःख देनेमें ही समर्थ है।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बहुत है। आप ब्रह्मचर्य पालन करना चाहते हैं, यह बहुत अच्छी बात है। ब्रह्मचर्यका पालन तो करना ही चाहिये, पर जब विवेकके द्वारा कामवासनाका संयम नहीं किया जा सके, तब बुरे रास्तेसे बचनेके लिये गृहस्थ-धर्मका आचरण करना बड़ा उपयोगी है। अपनी धर्मपत्नीके साथ अधिक-से-अधिक एक बार या दो बार ऋतुकालमें सहवास करनेवाला गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही माना गया है। हठपूर्वक भोग—भोग-प्रवृत्तिको दबानेकी अपेक्षा धर्मकी मर्यादाके साथ भोग भोगकर उसकी बुराइयोंका अनुभव करके उसे मिटा देना अधिक हितकर होता है।

आपके भाई-भौजाई आदि आपके हितैषी लोग जो आपको विवाह कर लेनेके लिये कहते हैं, वे कोई बुरी बात नहीं कहते। उनका कहना तो उचित ही है। अब आपको यह निश्चय करना है कि आप आजीवन विशुद्ध-भावसे जीवन-यापन कर सकेंगे या नहीं। किसी स्त्रीको देखकर या स्त्रीकी चर्चासे आपके मनमें विकार होता है या नहीं, यदि विकार होता हो तो आपको अवश्य विवाह कर लेना चाहिये। इसमें हठ करनेमें कोई लाभ नहीं है। अभिमानमें हित नहीं होता।

आपके कुटुम्बके नियमानुसार आपके छोटे भाई और भतीजीका हित सोचकर भी विवाह करना आपके लिये उचित जान पड़ता है।

अब आपके दूसरे प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१—निरन्तर परमात्मामें मन लगा रहनेके लिये परमात्मामें अनन्य प्रेम होना आवश्यक है।

२—त्रिगुणातीत परब्रह्म परमेश्वरके साथ विश्वासपूर्वक सम्बन्ध जोड़ लेनेसे तथा त्रिगुणात्मिका मायासे किसी प्रकारके सुखभोगकी कामना न करके उसके द्वारा सबकी सेवा करके उसके ऋणसे मुक्त हो जानेपर मनुष्य बड़ी सुगमतासे मायासे छूट सकता है।

३—नवधा भक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌में विश्वास और उनसे अनन्य सम्बन्ध होना आवश्यक है; क्योंकि सम्बन्ध हो जानेसे उसके विषयकी बात सुनने और कहनेमें रुचि हो ही जाती है, उसका स्मरण-चिन्तन भी होने लगता है। अपने कर्तव्य-पालनद्वारा सेवा भी होने लगती है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'। सबमें प्रभुको देखते हुए उनका आदर-सत्कार करना यही वास्तविक पूजा है। सबमें अपने स्वामीको देखते हुए मन-ही-मन उनको नमस्कार करना, सबमें मित्र-भाव रखना और अपने-आपको प्रभुके समर्पण कर देना—यह सम्पूर्ण नवधा भक्ति प्रभुको विश्वासपूर्वक अपना मान लेनेपर सुगमतासे हो सकती है।

४—गृहस्थाश्रममें पड़ना बुरा नहीं है। यह पहले भी समझा दिया है। उसमें जो बुराई आती है वह स्वार्थ-परायणतासे आती है। वह दोष आश्रमका नहीं है। गृहस्थमें भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जा सकता है। सब बातें पहले लिखी ही जा चुकी हैं।

तुलसीदासजीके कथनका समर्थन तो मैं कर ही चुका हूँ। आपके मनमें जो स्त्रीसे सहायता लेनेकी और बुढ़ापेमें सेवा करानेकी बात आती है, इसे भी निकाल देना चाहिये; क्योंकि किसीसे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध करनेकी भावना ही पराधीनता है, यह साधन नहीं है। विवाह करना ईश्वरकी मर्यादाका पालन और अपने बड़े भाई आदि गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करके उनको प्रसन्न रखनेके लिये तथा स्त्रीको मित्र-भावसे सुख पहुँचानेके लिये उचित कहा जा सकता है।

(५)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार लिखे सो अवगत किये। आपने हमारे नामके आगे परम पूज्य श्रीश्री आदि लिखा एवं पत्रमें जगह-जगह प्रशंसाके शब्द लिखे, सो इस प्रकार लिखकर संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो साधारण आदमी हूँ। परम पूज्य एवं प्रशंसाके लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे ही श्रद्धाके योग्य हैं।

आप 'तत्त्व-चिन्तामणि'का प्रेमसे पाठ करते हैं, सो आपके भावकी बात है। आप स्थूल बुद्धिके कारण उसे समझ नहीं पाते, सो जो बात आपके समझमें नहीं आवे उसे बार-बार पढ़ना चाहिये। इस प्रकार करनेसे समझमें आ सकती है। उसमें जो बातें हैं उनको समझकर काममें भी लानेकी कोशिश करनी चाहिये।

आपने मुझे दया करके संसारसागरसे पार करनेके लिये लिखा, सो यह मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की दयासे ही संसारसागरसे पार उतरा जा सकता है। भगवान्‌की दया सबपर है ही। बस, माननेभरकी देर है। उनकी दया मानकर उनके शरण हो जाना चाहिये।

आपने गलती क्षमा करनेके लिये लिखा, सो हमारी समझमें तो आपकी कोई गलती नहीं है। जब गलती है ही नहीं, तब फिर क्षमा करनेकी कोई बात ही नहीं उठती। आपने लिखा कि कभी भगवत्कृपा होगी तो लिखूँगा सो ठीक है। आप जब चाहें, तब लिख सकते हैं।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

×××जहाँ पूजा और मान-बड़ाईसे सम्बन्ध है वहाँ खतरा ही समझना चाहिये। गुरु बनाये बिना मुक्ति होती ही न हो, ऐसी कोई बात नहीं है। बिना गुरुके भी मुक्ति हो सकती है। आजकल अच्छे और असली गुरु मिलने बहुत ही कठिन हैं। यदि सौभाग्य-वश मिल भी जायँ तो उनकी पहचान करना बड़ा ही कठिन है। सबसे उत्तम तो यही है कि भगवान्‌को परम गुरु मानकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-ध्यान और पूजा-पाठ करना चाहिये। वे स्वयं ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। यदि कोई अच्छे गुरु मिलें तो उन्हें अवश्य ही गुरु बना लेना चाहिये। महाभारतमें एकलव्य भीलकी कथा आती है। उसने द्रोणाचार्यजीको गुरु मानकर उनकी मूर्तिसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या प्राप्त की थी, उसी प्रकार आप भी किसी योग्य पुरुषको गुरु मानकर या बनाकर मुक्तिका साधन कर सकते हैं।

दोनों समय संध्या और गायत्री-मन्त्रका जप आप-को अवश्य करना चाहिये। आप संस्कृत नहीं जानते हैं सो तो ठीक है। संध्याके तो थोड़े-से मन्त्र हैं, किसी जानकार विद्वान्‌से उच्चारण सीखकर याद कर लेने चाहिये। संस्कृत न पढ़े रहनेके कारण मामूली गलती भी हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। निष्काम-भावसे करनेवालोंके लिये कोई हानिकी बात नहीं है। अशुद्ध उच्चारण करनेपर हानि तो उनको होती है, जो सकामभावसे करते हैं। निष्कामभाववालोंके लिये कोई डरकी बात नहीं है। भगवान्‌के लिये हृदयमें रोना तो बहुत ही अच्छा है। भगवान्‌के सामने करुणा-भावसे रो-रोकर उनसे अपने उद्धारकी बात पूछनी चाहिये। इस प्रकार पूछनेसे भगवान् हृदयमें प्रेरणा कर दिया करते हैं। उसीको आदेश मानकर करना चाहिये। नित्यकर्ममें संध्याके साथ गीता-पाठ करना बहुत अच्छा है। संस्कृतके श्लोक न पढ़ सकें तो केवल भाषा ही पढ़ सकते हैं। रामायण (रामचरितमानस) तो हिंदीमें ही है। उसके दोहे-चौपाइयोंका पाठ कर लेना चाहिये। रामायणके दोहा-चौपाई आप न पढ़ सकें तो अर्थ ही पढ़ लेना चाहिये।

आपने चाय-दूध आदिकी दूकान कर रक्खी है और सबेरे पाँच बजेसे रातको बारह बजेतक दूकान खोलते हैं, सो इतने समयतक दूकान खोलना ठीक नहीं है। दूकान करनेवालोंके लिये सबसे खास बात यह है कि सबके साथ समानता और सत्यतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये। आपके घरवाले तामसी भोजन करते हैं और नास्तिक हैं, उन लोगोंने आपको अलग कर दिया, सो इसे भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये जो आपको बुरे संगसे बचा लिया, नहीं तो, पता नहीं, आप-की क्या दशा होती? इतना समझनेपर भी उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अपनी ओरसे तो ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे उनका भी सुधार होकर उद्धार हो सके। दूकानमें काम थोड़ा ही होनेके कारण नौकर न रखकर आप स्वयं ही जूँठे गिलास आदि अपने हाथोंसे साफ करते हैं, सो बहुत ही उत्तम बात है। यह भी भगवान्‌की बड़ी कृपा है जो आपको ऐसा सेवा-का काम दिया है। दूकानको भगवान्‌की दूकान समझकर एवं अपनेको उनका सेवक समझकर भगवान्‌की दूकानमें जैसा काम होना चाहिये, वैसा ही सत्यता और समताका व्यवहार रखना चाहिये। इस प्रकार करनेसे काम भी साधन ही बन सकता है। काम अधिक बढ़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जितना काम है उससे जनताकी अधिकाधिक सेवा करनेकी कोशिश रखनी चाहिये।

दिनमें आपको पुस्तक पढ़नेका समय भी मिल जाता है, सो बहुत उत्तम है। उस समय गीताप्रेसकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। आपके भगवान् श्रीकृष्णका इष्ट है एवं भजन-कीर्तनमें रुचि है, सो अच्छी बात है। आपको—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव॥

—इसका कीर्तन करना चाहिये। यही आपके लिये सर्वोत्तम है।

आपके सिरपर ऋण है, इसकी चिन्ता रहनेके कारण भगवच्चिन्तन आप नहीं कर पाते हैं, सो अवगत किया। चिन्ता तो नहीं करनी चाहिये; खर्च कम-से-कम करके ऋण उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये। खर्च करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, आयमें ही परतन्त्र है।

कीर्तन और सत्सङ्गमें जानेका आपको समय नहीं मिलता तो इसके लिये दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। गीताप्रेसकी तथा और भी धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन भी सत्सङ्ग ही है। कीर्तन आप अपनी इच्छाके अनुसार घरमें भी कर सकते हैं।

आप अष्टमीका व्रत करते हैं, सो बहुत अच्छी बात है। व्रतके दिन फल-दूध आदि जो भी लिया जाय, वह एक समय ही लिया जाय तो और भी ठीक है।

प्रभुमें प्रेमभरी भक्ति हो एवं उनकी प्राप्ति हो, इसका उपाय आपने पूछा सो बहुत अच्छी बात है। इस इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिके बिना एक क्षण भी रहा न जा सके तो भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है। भगवान् तो भक्तोंसे मिलनेके लिये सर्वथा उत्सुक हैं। उनसे मिलनेकी इच्छा करनेवालोंकी ही कमी है। सबसे यथायोग्य।

(६)

सविनय प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपने मेरे लिये श्रद्धेय एवं अपने लिये अकिंचन दास आदि शब्दोंका प्रयोग किया, सो इस प्रकार लिखकर मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहिये। आप ब्राह्मण होनेके नाते हमारे लिये पूज्य हैं। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ।

आपका परिचय मालूम हुआ। गंदे उपन्यास, नाटक तथा कहानी आदिकी पुस्तकें पढ़नेसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि नुकसान-ही-नुकसान है; अतः ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़नी चाहिये। आप 'कल्याण' में प्रकाशित परमार्थ-पत्रावली तथा 'शिव' की बातोंको पढ़ते हैं, सो बहुत अच्छी बात है। अच्छी पुस्तकें पढ़कर सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेकी आपकी इच्छा बहुत ही अच्छी है। इसके लिये 'तत्त्व-चिन्तामणि' सातों भाग, तत्त्व-विवेचनी तथा और भी गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त-गाथाओंकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये एवं उनमें लिखी बातोंके अनुसार जीवन बनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

आपने मनको वशमें न कर सकनेकी बात लिखी, सो ठीक है। 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी गीताप्रेससे प्रकाशित है। उसे मँगाकर पढ़ना चाहिये और उसमेंसे जो साधन आपको रुचिकर हो, उसे करना चाहिये। उससे आपको लाभ हो सकता है। आपको अपने मनकी प्रेरणाके अनुसार नहीं चलना चाहिये, अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और॥

मनकी प्रेरणा तो पतन करनेवाली है। मनको वशमें करनेके लिये गीता अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की तत्त्व-विवेचनी टीका पढ़कर उसके अनुसार अभ्यास और वैराग्यका साधन करना चाहिये। साधनके समय मन उपद्रव करता है, ध्यान नहीं करने देता, सो अवगत किया। जहाँ-जहाँ भी मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार उसको भगवान्‌के ध्यानमें लगाना चाहिये। दूसरा उपाय यह भी है कि मन जहाँ भी जाय, वहाँ भगवान्‌के ही दर्शन करने चाहिये। संसारमें आसक्ति और प्रेम होनेके कारण ही संसारमें मन जाता है। संसारको दुःखरूप क्षणभङ्गुर अनित्य समझकर उससे वैराग्य एवं भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये। अभ्यास और वैराग्य ही मनको वशमें करनेके उपाय

हैं। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌के ध्यानमें मन लग सकता है। यह जो आप समझते हैं कि मनको वशमें किये बिना काम-क्रोध-मद-लोभको जीतना सम्भव नहीं, सो ठीक है। भगवान्‌की शरण लेनेसे ये सभी जीते जा सकते हैं। अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये और किसी भी बातकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। यह शरणका ही एक प्रधान अङ्ग है।

धीरे-धीरे मन दुष्कर्मोंको छोड़ दे, इसके लिये आपने किये जानेवाले दुर्गुणोंको डायरीमें नोट करना शुरू कर दिया, सो ठीक है। जो दुर्गुण आपकी शक्ति और सामर्थ्यसे समाप्त न हो सकें, उनके लिये रो-रोकर करुणभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। मन वशमें हो एवं भगवान्‌में ध्यान लगे, इसके लिये भी भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। चोरी-व्यभिचार आप नहीं करते, सो अच्छी बात है। मन उनका चिन्तन करता है, यह भी ठीक नहीं है। भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये, फिर सब दुर्गुण अपने-आप ही छूट सकते हैं। आपको गीता अध्याय ६ श्लोक २४, २५, २६ के अनुसार साधन करना चाहिये।

प्रत्येक पत्रका उत्तर देनेकी हमारी चेष्टा रहती है, अतः कोई बात पूछनी हो तो संकोच नहीं करना चाहिये। हमारे पास पत्र बहुत आते हैं। अब विस्तृत पत्रोंका उत्तर देनेमें विलम्ब हो जाया करता है। इसलिये सार-सार बातें ही पूछनी चाहिये। सबसे यथायोग्य।

(७)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१—आपने अपनेमें क्रोध आने तथा उससे होनेवाले परिणामकी बात लिखी, सो मालूम की। क्रोध न आवे, इसके लिये ये उपाय हैं—

(क) अनिच्छा या परेच्छासे अपने मनके प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर ही प्रायः क्रोध आया करता है, इसलिये जो कुछ भी आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान समझ लेना चाहिये या—

(ख) जिसपर क्रोध आवे, उसमें भगवद्बुद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे भी क्रोध नहीं आ सकता।

क्रोध शान्त होनेपर हृदयमें शोक और पश्चात्ताप होता है, सो अच्छी बात है। जिसपर क्रोध आवे, उससे क्षमा-प्रार्थना करना भी बहुत उत्तम है। भविष्यके लिये किसी भी प्राणीपर क्रोध न करनेका भी दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे क्रोध आनेका स्वभाव बदल सकता है।

२—भगवान्‌का भजन सूर्योदयके पूर्व और सूर्यास्तके पूर्व प्रतिदिन नियमितरूपसे अवश्य करना चाहिये। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये। रातको शयन करते समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए ही सोना चाहिये। इस प्रकार करनेसे शयनकाल भी साधनकाल ही हो सकता है।

सुबह-शाम भजन करनेसे पूर्व स्नान करना और कपड़े बदलना अच्छा है। सुबह तो अवश्य ही स्नान करना चाहिये। शामको हाथ-पैर-मुँह धोकर भी काम चलाया जा सकता है। केवल शुद्धिकी दृष्टिसे ही नहीं, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी शरीरके लिये यह बहुत ही लाभदायक है। भगवान्‌की आराधना हर अवस्था एवं हर परिस्थितिमें की जा सकती है, यह भी मानना ठीक-ठीक है।

३—संसारके वातावरणसे घृणा होना तो अच्छा ही है, किंतु संसारके मनुष्योंसे घृणा करना या उनमें

दोष-बुद्धि करना अच्छा नहीं है। अपनेको बुरे संसर्गसे बचाना चाहिये। संसारमें रहकर संसारसे आसक्त नहीं होना चाहिये। आसक्तिका अभाव करना चाहिये। दूसरे, जो आपके भाई हैं उनमें घृणा या द्वेषबुद्धि करनेसे आपको और उनको क्या लाभ हुआ? जिनमें आपको बुराइयाँ प्रतीत होती हैं, वे भी आपके भाई ही तो हैं। उन लोगोंका सुधार हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे अपने घरमें कोई प्लेग या हैजेका रोगी होता है, तो उसके इलाजके लिये हम या तो वैद्य-डाक्टरोंको घरपर बुलाते हैं या रोगीको वैद्य-डाक्टरोंके पास ले जाते हैं और वह ठीक हो जाय, इसके लिये उपाय करते हैं। उसी प्रकार संसारमें फँसे हुए लोगोंके उद्धार-की कोशिश करनी चाहिये। इनके लिये वैद्य-डाक्टर हैं—महापुरुष। उन लोगोंको या तो सत्सङ्गमें ले जाना चाहिये अथवा महापुरुषोंसे प्रार्थना करके उनको उनके पास ले जाकर भेंट करा देनी चाहिये। उन भाइयोंसे घृणा करनेमें तो नुकसान-ही-नुकसान है।

धार्मिक पुस्तकोंके पढ़नेमें आपका मन लगता है, यह भगवान्‌की विशेष कृपा है। गीताप्रेसकी पुस्तकें प्रायः सभी धार्मिक ही हैं, उनका अध्ययन करना चाहिये।

आपने पूछा कि 'किस-किसको झूठ बोलकर या दम्भसे खुश करूँ?' सो ठीक है। किसीको भी दम्भ करके या झूठ बोलकर खुश करनेकी आवश्यकता नहीं है। सबको न्याययुक्त चेष्टासे एवं नम्रतापूर्वक व्यवहार करके ही खुश करनेकी कोशिश करनी चाहिये। झूठ बोलना और दम्भ करना तो महापाप है।

आपके घरवाले आपको वर्तमानमें कही जानेवाली भोग-सामग्रीयुक्त उन्नतिमें देखना चाहते हैं, किंतु आपको सादगीसे प्रेम है। सो भीतरमें तो सादगी ही रखनी चाहिये, परंतु अपनी इच्छा किसीके सामने प्रकट नहीं करनी चाहिये।

आपके गुमाश्ते आपको धोखा देकर धन लूटना चाहते हैं तो उनसे आपको खूब सावधान रहना चाहिये। आपको प्रारब्धपर विश्वास है यानी आपको जो मिलना है वह तो मिलकर रहेगा ही, इसपर विश्वास है—यह आपकी मान्यता बहुत ठीक है; किंतु जो आपको प्राप्त है उसकी रक्षा करना भी तो आपका कर्तव्य है। कोई मनुष्य आपको धोखा दे तो उससे बचना ही चाहिये।

आप कल्याणके ग्राहक हैं सो अच्छी बात है। औरोंको भी ग्राहक बनाना चाहिये। सबसे यथायोग्य।

रघुनन्दनकी छबि

जय जय रघुनंद-चंद रसिकराज प्यारे!
अंग-अंग-छबि अनंग कोटि वारि डारे॥
बिहरत नित सरजु-तीर, संग सोहै सखिन-भीर,
सिया-अंस भुजा डारि अवधके दुलारे।
कोई सखि छत्र लिएँ, व्यजन लिएँ कोई,
जुगल सखी चौंर लिएँ करत प्रान वारे॥
सुंदर सुकुमार गात, पुष्पमाल सकुचि जात,
परसत भयभीत होत रूपके उजारे।
नखसिख भूषन अनूप, जथाजोग जथारूप,
कोटि चंद, कोटि भानु निरखत दुति हारे॥
मंद मंद मुसकरात, प्यारी-सँग करत बात,
देखि देखि 'अग्रअली' तन मन धन वारे॥

—अग्रअलीजी

सुख कहाँ है ?

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल भाई देसाई)

प्राणिमात्र दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। बहुत प्रयत्न करनेपर भी दुःख नहीं टलता और सच्चा सुख नहीं मिलता। संसारमें बहुत शक्तिशाली पुरुष हो गये हैं और हैं। उन सबने दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिके लिये जी-तोड़ परिश्रम किया और कर रहे हैं; परंतु बिरले ही किसीको इच्छित वस्तु प्राप्त हुई है। इसका कारण क्या है ? जगत्में जितनी वस्तुएँ तथा जितने प्राणी हैं, उन सबका स्वभाव है। जिस प्रकार तिलमें तेल है, जैसे पुष्पमें सुगन्ध है, जैसे अग्निमें तेज है, उसी प्रकार सब प्राणियोंमें जन्मसे ही कोई-न-कोई स्वभाव है। प्राणी जड पदार्थसे दुखी नहीं होते; क्योंकि जड पदार्थ दुःख देने नहीं आते। उनका संसर्ग होनेपर दुःख-सुख होता है।

जैसे जड पदार्थका स्वभाव अपनेसे नहीं बदलता, फिर भी हम उन पदार्थोंसे नाराज नहीं होते; क्योंकि हम जानते हैं कि जगत्की सारी वस्तुएँ किसी-न-किसी कामकी हैं। हमें जरूरत हो तो हम उनको ग्रहण करें, न जरूरत हो तो वे भले ही जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहें। वर्षामें हम भीगते हैं, फिर भी वर्षाको हम दोष नहीं देते। पर अपनी रक्षा आप ही छत्ते आदिसे करते हैं। गरमीसे तपनेपर सूर्यको दोष नहीं देते, हम स्वयं ही शीतलताके लिये उपाय करते हैं। कंकड़ और काँटोंसे बचनेके लिये हम स्वयं जूते पहनते हैं; परंतु इनको दोष नहीं देते। किसी जड वस्तुके साथ हम युद्ध नहीं करते; क्योंकि हम जानते हैं कि उनका स्वभाव नहीं बदलता। हाँ, क्रियासे वस्तुका स्वभाव तो बदलता है, परंतु जब स्वभाव बदलता है, तब वह वस्तु ही नहीं रहती। ग्रीष्ममें पकनेवाले देशी आमको बारहमासी बनाना हो तो उससे कलम करना होगा, परंतु वह मूलमें जैसा आम था, वैसा न रहेगा। आम रहेगा। फलमें या पेड़में कुछ भी परिवर्तन न हो और वह बारहमासी बन जाय, ऐसा नहीं हो सकता।

सारांश यह है कि स्वभाव बदलनेके साथ वस्तुका स्वरूप बदल जाता है। वस्तुका स्वरूप बदले बिना स्वभाव नहीं बदलता। जगत्में सुख-दुःखदाता वस्तुका स्वभाव है, वस्तु नहीं।

जो हमको पीड़ित करता है, वह है स्वभाव। परिवारके आदमी जो एक दूसरेसे संतप्त होते हैं, सो केवल एक दूसरेके स्वभावसे ही। खूबी यह है कि जैसे दर्पणमें रूप देखकर सब लोग अपने स्वरूपसे संतुष्ट होते हैं, वैसे ही सब अपने स्वभावसे भी प्रसन्न हैं। आपकी जो किसीके साथ बनती नहीं है तो उसकी इन्द्रियाँ या शरीरके कारण न बनती हो ऐसी बात नहीं, बल्कि उसके खोटे स्वभावके कारण नहीं बनती है।

इस संसारमें ज्ञानीके सिवा दूसरे किसीको भी पराया स्वभाव सर्वांशमें पसंद नहीं होता। अपना स्वभाव अच्छा लगता है और दूसरेके स्वभावमें कोई-न-कोई दोष दीख पड़ता है। जिस परिमाणमें पराये स्वभावमें दोष दीखता है, उसी परिमाणमें उससे उसको दुःख होता है।

जगत्में जैसे पूरी एक समान आकृतिके दो मनुष्य नहीं मिलते, उसी प्रकार जगत्में सर्वांशमें एक समान स्वभावके दो मनुष्य नहीं हैं। जैसे शरीर पृथक् होता है, वैसे मन पृथक् होता है और वैसे ही स्वभाव पृथक् होता है। जितने अंशमें स्वभावकी अनुकूलता दीख पड़ती है, उतने ही अंशमें उससे सुख मिलता है।

जितने अंशमें प्रतिकूलता दीख पड़ती है, उतना ही दुःख प्रतीत होता है।

हम सारी जिंदगीमें अनेकों जड-चेतनके प्रसङ्गमें आते हैं, उन सबके अनुकूल हमारा स्वभाव हो, ऐसा हम अपनेको नहीं बना सकते। फिर वे सब हमारे अनुकूल नहीं होते, इससे यदि हम दुखी बननेकी आदत रक्खें तो हम कभी सुखी हो ही नहीं सकते। हमसे प्रतिकूल स्वभाववाले जितने लोग हैं, उन सबका सामना करनेकी यदि हम आदत रक्खेंगे तो हमारा यह युद्ध कभी बंद होनेवाला नहीं है। जैसे समुद्रकी तरङ्गोंका छोर नहीं है, अन्त नहीं है, उसी प्रकार प्रतिकूल स्वभावके प्राणी-पदार्थोंका जगत्में अन्त नहीं है।

हमको बुरा लगनेवाला हमारा स्वभाव भी जब हमारे प्रयत्नसे नहीं टलता, तब दूसरेको जो स्वभाव अच्छा लगता है और हमको बुरा लगता है, वह स्वभाव हमारे प्रयत्नसे भला कैसे बदल सकता है?

जगत्में खूबी यह है कि जहाँ विरोधीके स्वभावसे हम जैसे-जैसे द्वेष करते हैं, जैसे-जैसे उसपर हम क्रोध, घृणा करते हैं, वैसे-वैसे ही विरोधी भी हमारे प्रति अपने स्वभावके कारण वैसी ही मनोवृत्ति धारण करता जाता है; और जैसे-जैसे हम विरोधीके स्वभावके प्रति प्रेम, दया और सम्मानकी धारणा करते जाते हैं, वैसे-वैसे ही विरोधी हमारे लिये भी उसी प्रकारकी धारणा करता जाता है।

जैसे आरम्भमें कहा जा चुका है कि हम जड पदार्थके स्वभावका सामना करनेकी इच्छा नहीं करते, बल्कि जिस स्वभावसे जब काम पड़ता है तब उसका कुछ परिहारके साथ सेवन करके हम उससे लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार प्राणिमात्रके स्वभावका विरोध न करके जब-जब जिस-जिस स्वभावके प्राणीसे हमको काम पड़े, तब-तब जो-जो स्वभाव हमें अपने अनुकूल लगें, उनका सेवन करके हम सुख उठा सकते हैं। दूसरोंके स्वभावका विरोध करके उसका नाश करनेमें सुख नहीं है और न दूसरोंके स्वभावसे द्वेष करनेमें है।

जगत्में स्वभावका युद्ध चला ही करता है, यह जगत् एक युद्धभूमि है। जैसे युद्धमें उतरा हुआ योद्धा दूसरोंके आघातसे चलायमान हो जाता है और फिर भाग छूटता है तो उसको हारा हुआ माना जाता है, वैसे ही दूसरेके स्वभावसे जब हमारा स्वभाव अकुलाता है और फिर क्षीण होने लगता है, तब हम हार गये, ऐसा समझना चाहिये।

जगत्में वही योद्धा अजेय है जिसका स्वभाव किसी भी प्राणी-पदार्थके स्वभावसे अपने शान्त-स्थिर चित्तके स्वभावको चलायमान नहीं होने देता, अकुलाने नहीं देता, अक्षत रहते हुए भी जो डिगता नहीं है और जिसके विरोधी अन्यथा स्वभावके होनेपर भी चलायमान होकर शरणमें आते हैं, वह अजेय योद्धा है। युद्धमें अनेकोंको मारनेवाला वीर नहीं, परंतु जिसका स्वभाव दूसरोंके स्वभावसे चलायमान नहीं होता, वह वीर है।

जगत्के प्राणी-पदार्थोंके प्रसङ्गमें इन्द्रियोंके द्वारा जिसके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह निर्बल है।

अपने स्वभावको डिगाना नहीं यानी स्वयं अपने स्वभावको बदलना नहीं, ऐसी बात नहीं है। चित्तका मूल स्वभाव शान्त है। आत्मा आनन्दमय है। चित्तके मूल स्वभावपर अशान्तिका स्वभाव जम गया है, उसको निकालकर मूल स्वभावमें आ जाना और उससे विचलित न होना, इसका नाम 'अजित स्वभाव' है।

जिस प्रकार शत्रु जब किलेपर घेरा डालकर आक्रमण करता है, तब राजा अपने किलेकी निर्बलता दूर करके उसे मजबूत बनाता है। वैसे ही जगत्में जीवन व्यतीत करते हुए मुमुक्षु पुरुष अपने स्वभावकी त्रुटियोंको निकालकर उसे मजबूत बनाता है। किसीके कैसे भी स्वभावसे क्षुब्ध नहीं होता और

अपने स्वभावको नित्य शान्तिमें ही रहनेकी व्यवस्था कर ले, वही सुखी होता है । चित्तकी आत्यन्तिक शान्ति ही सुख है । चित्तकी आत्यन्तिक शान्तिका नाम ही आनन्द है, यही मुक्ति है ।

प्राणी-पदार्थोंके विचित्र स्वभावका नाम ही जगत् है । विचित्र स्वभाव न हो तो यह जगत् ही न बने । हमसे प्रतिकूल स्वभावके जितने हैं, उनका नाश करनेकी अपनेमें सामर्थ्य हो और हम उनका नाश करने लगें तो इस जगत्में एक भी वस्तु बाकी नहीं रह सकती । स्वयं हमारा मन भी किसी समय हमें प्रतिकूल लग सकता है । यानी हमको सर्वथा अनुकूल तो अपना आप ही लगता है । इसलिये जो उससे प्रतिकूल हों उन सबसे द्वेष और उनके नाशकी जो इच्छा करता है, वह कभी सुख पाता ही नहीं ।

विरोधीका जो बुरा चाहता है, उसके सोचनेसे पहले ही उसका अपना बुरा हो जाता है ।

संसारमें सहन न होने योग्य स्वभावसे जब भेंट होती है, तब मुमुक्षुको इस प्रकार कहना चाहिये कि 'हे भगवन् ! इसका भला करना । इसको सद्बुद्धि देना ।' फिर भी यदि विशेष आकुलता हो तो यों कहे कि 'हे प्रभु ! मेरे स्वभावको शान्त कर, मजबूत कर, कभी क्षुब्ध न हो सके ऐसा बना दे ।' विरोधीका बुरा करनेमें, बुरा चाहनेमें अपना कोई भी लाभ नहीं होता, उलटी हानि होती है । संसारमें कोई न हो और हम अकेले ही रहें तो एक सेकंड भी जी नहीं सकते । प्राणी-पदार्थ हैं । इसीसे जगत् रम्य लगता है, नहीं तो, भयंकर श्मशान लगता । जगत्में हम अकेले ही सुखी, समृद्धिमान् और साधनसम्पन्न होंगे और शेष सब लोग कंगाल होंगे तो हम एक सेकंड भी न सो सकेंगे, न कुछ खा सकेंगे, न कोई आराम, सुख या आनन्द ही भोग सकेंगे । जगत्के प्राणियोंकी भूख हमें खा जायगी !

संसारमें जैसे सज्जनकी आवश्यकता है, वैसे ही दुर्जनकी भी है । दूधकी जैसे जरूरत है, वैसे ही जहरकी है । जिस परिमाणमें जिसकी, जहाँ जरूरत है, उसी परिमाणमें ईश्वर उसको वहाँ रखता है । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि हमें जगत्में दुर्जनोंका सुधार नहीं करना है । बात यह है कि उनसे अपने स्वभावको दुखी नहीं करना है । हमको तो वह काम करना है जिससे हमारा चित्त चलायमान न हो । अकुलाहट ही दुःख है और शान्ति ही सुख है । एक आदमी अपने घरसे दूसरे गाँव जानेके लिये निकला, वह यदि रास्तेमें जो प्राणी या पदार्थ उसको मिलें, सबका सामना करता यानी सबसे भिड़ता हुआ ही जायगा तो गन्तव्य स्थानपर कैसे पहुँचेगा । रास्तेमें सामने कोई मिले तो उसके लिये रास्ता छोड़ दे या वह रास्ता दे दे, तभी रास्ता कट सकता है । जीवात्माका ध्येय परमात्मा है । उसको प्राप्त करनेके मार्गमें जो प्राणी या पदार्थ मिलें, उन सबसे भिड़ता ही रहेगा तो उसे परमात्मा कैसे मिलेगा ? इसीलिये जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि परमात्माको लक्ष्य रखकर बाधा न पड़े, इस दृष्टिसे पल-पल मार्गपर अग्रसर होता चला जाय । यदि बीचमें किसीका विरोध करनेमें लग गये तो बस, फँस गये । सबके स्वभावको अपने स्वभावके अनुकूल बनानेकी एक ही कुंजी है और वह यह है कि विरोधीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा कभी न रक्खे । प्राणी और पदार्थ सुख देंगे तब मैं सुखी होऊँगा, यह आशा छोड़ दे । हम स्वयं सुखी हैं । दूसरे लोगोंसे सुखकी आशा करनेसे ही दुखी होते हैं । आशा ही दुःखका मूल है । आशाके ही कारण विरोधीका स्वभाव हमें अच्छा नहीं लगता । विषम जान पड़नेवाले स्वभावकी भी जगत्में जरूरत है । जिस वस्तुकी हमें जरूरत नहीं है, उसकी जरूरत जगत्में किसीको न होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता । हम अपने जीवनमें कभी अफीम नहीं खाते, इससे यह नहीं कह सकते कि अफीमकी जरूरत जगत्में नहीं है ।

इसलिये इसी प्रमाणसे जीवित प्राणियोंके साथ भी मेल करना चाहिये ।

जिसकी सबके साथ बनती है, जो सबके साथ आनन्दसे रह सकता है और अविकारी रहता है, उसका ही नाम 'जीवन्मुक्त' है । ज्ञान, ध्यान, तप, भक्ति, व्रत, जप, तीर्थयात्रा, दान, सेवा, कर्म—इन सबके द्वारा प्राप्त यही करना है कि चाहे-जैसे स्वभावके प्राणी-पदार्थसे भी सम्बन्ध हो, पर अपने आनन्द और शान्तिमें जरा भी कमी न आने पाये। चित्त चलायमान हो ही नहीं। चित्तको परमात्माके ध्यानसे छुड़ानेमें जब जगत्के प्राणी-पदार्थोंका स्वभाव निमित्त न हो, तभी समझना चाहिये कि ज्ञानका उदय हुआ है । जो बहुत घबराता है, वह निर्बल है । जिसको शीघ्र विकार होता है वह हारता है । जिसके चित्तको काम, क्रोध, भय, चिन्ता आदि कभी चलायमान नहीं करते, वह मुक्त है ।

जड-चेतन सृष्टि परमात्माकी लीला है । जीवके विहारके लिये है, आनन्दके लिये है । फिर भी इसमें ममता और आसक्ति करनेसे, इससे सुखकी इच्छा रखनेसे जीव दुखी होता है ।

हर हालतमें, प्रत्येक संयोगमें जिसका आनन्द जिसकी शान्ति कभी क्षोभको प्राप्त नहीं होती, उसीका नाम 'मुक्त' है ।

हरिः ॐ तत्सत्

कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ?

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

एक महोदय लिखते हैं, 'मैंने आपके अनेक लेख और पुस्तकें पढ़ी हैं, पर एक चीज मेरे दिलमें हमेशा यह खटकती रहती है कि बेईमानी क्यों फलती-फूलती है। आप कहते हैं—'लक्ष्मी उसीकी दासी है, जो ईमानदारीसे व्यापार या सच्चे मनसे परिश्रम करते हैं ।' मैं परिश्रम करता हूँ, सदा ईमानदार रहता हूँ पर इन दोनोंके बावजूद न मुझे लक्ष्मी मिली है और न शान्ति ही, सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं हुई । आखिर बतलाइये मैं अब क्या करूँ ? ईमानदारीके रास्तेमें भूख, विवशता, गरीबी है । परिश्रम और ईमानदारीसे काम कर-करके मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया और साथ ही लक्ष्मीकी कृपा भी ! अब प्रार्थना यह है कि मेरी गुत्थी सुलझा दें कि चोरी, बेईमानी, कालाबाजार, रिश्वत, घूसखोरी और दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेसे क्यों महल खड़े होते जाते हैं और इसके विपरीत सच्चे मजदूर, नेकनीयत इन्सान और ईमानदारको क्यों दाने-दानेके लिये तरसना पड़ता है ? किसको सच्चा मानूँ ? आपके लेखोंको या समाजके इस उत्थान-पतनको ?'

ईमानका सम्बन्ध मनुष्यके गुप्त मनसे है । हमारी अन्तरात्मा जिस कार्यको उचित कहती है या स्वीकार करती है, उस आचरणको करनेवाला ईमानदार कहलाता है । ईमानदारीसे कार्य करनेमें हमें अंदरसे ही एक गुप्त शान्ति और संतोषका अनुभव होता है । इसके विपरीत आत्माका हनन कर बेईमानीसे कार्य करनेपर हमारा गुप्त मन हमें अंदर-ही-अंदर कचोटता रहता है । हमें शान्ति नहीं मिलती । हमेशा यह गुप्त भय रहता है कि हमारी बेईमानी या चोरी किसीको किसी दिन किसी भी अवसरपर प्रकट न हो जाय । जैसे जलसे शरीर शुद्ध होता है, सत्याचरणसे मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं ।

हनन की हुई आत्मा ही हमें बेईमानीकी ओर जाने देती है और दुष्कर्म कराती है । असत्य या बेईमानीके कार्यद्वारा असत्य कार्य करने, रिश्वत, घूस, चोरबाजारी आदि चोरियाँ करनेसे धीरे-धीरे हमारी अन्तरात्मा मर जाती है । हनन की हुई आत्मामें सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता । अतः बहुत व्यक्ति चोरी करते हुए भी बाहरसे संतुष्ट-से प्रतीत होते

हैं, पर बुरे कार्योंकी सूक्ष्म रेखाएँ अन्तश्चेतनाके ऊपर अंकित होती रहती हैं और मनपर सदा आघात करती हैं। एक-न-एक दिन पाप प्रकट होता ही है और करनीका फल मिलता ही है।

ईमानदारीके मार्गके साथ आपको आत्माकी दैवी शक्तियोंका भी सहयोग मिलता रहेगा। सच्चे व्यक्तिको कभी किसी गुप्त भेदके प्रकट होनेका कोई भय नहीं रहता। वह तो खरा है। चाहे किसी कसौटीपर चढ़ा लीजिये, सदैव चमकता ही रहेगा। सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप आत्मा इसीलिये इस भूमण्डलपर भेजा गया है कि वह सत्यका ही व्यवहार करे, असत्य या झूठके अन्धकारसे बचा रहे। जो व्यक्ति यह समझता है कि बेईमानीसे लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर बढ़ता रहेगा, वह वास्तवमें बड़ी भूल करता है। बेईमानी, चोरी, रिश्वत तो एक प्रकारकी अग्नि है। वह कब छिपती है ? उसे चाहे सौ कपड़ोंमें लपेटकर रक्खा जाय, एक-न-एक समय कपड़ोंको जलाकर प्रकट हो ही जाती है। ईश्वरने आपको 'सत्यं शिवं सुन्दरं'से युक्त आत्मा (अर्थात् अपना दिव्य अंश) इसीलिये दिया है कि आप असत्यसे बचकर सत्यके, ईमानदारीके, प्रकाशके मार्गको ही ग्रहण करें।

बेईमानी चार दिन ही फलती-फूलती-सी दीखती है। वास्तवमें वह अवनतिका ही रूप होती है। दीपक जब बुझनेको होता है, तब तेजीसे चमककर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार बेईमानकी दौलतसे, रिश्वतके धनसे घर-परिवार क्षणभरके लिये समृद्ध प्रतीत होते हैं; पर चोरीके प्रकट होते ही वे ऐसे गहरे खड्डेमें गिर पड़ते हैं जिससे निकलना असम्भव हो जाता है। वे दीर्घकालतक असत्यके अन्धकारमें भटकते रहते हैं। अतः पहलेसे ही ईमानपर टिके रहनेका व्रत ले लेना चाहिये।

बेईमानीकी दौलत उसीके साथ नष्ट हो जाती है। क्या आपने किसी बेईमानकी संतानको फलते-फूलते देखा है ? अगर बेईमान फलते-फूलते रहते, तो इस संसारमें सभी बेईमानी, ठगी और चोरीपर आ जाते। सत्य संसारसे लुप्त हो जाता, केवल पाप ही रहते। चोरों, ठगों, डकैतों और राक्षसोंका नित्य राज्य हो जाता। हमारा समाज निठल्ले कामचोरोंसे भर जाता। पर ईश्वरका नियम ही कुछ ऐसा है कि सच्चे और ईमानदार गरीब होकर भी पूजे जाते हैं; झूठे और बेईमान अमीर होकर भी तिरस्कृत होते हैं। चोरकी झोपड़ीपर कभी फूँसतक नहीं रहता।

ईमानदारीके एक पैसेमें बेईमानीके लाख रुपयेसे अधिक बल है; क्योंकि वह स्थायी है। उस पैसेके साथ सत्कर्मका गौरव जुड़ा हुआ है।

आप सत्यके यात्री हैं। सत्य-स्वरूप आत्मा हैं। झूठ और मिथ्याचारके सुहावने दीखनेवाले भयानक जंगलोंमें मत भटकिये। ईमानदारीकी सूखी रोटियाँ खाते रहिये, तो स्वस्थ रहेंगे। बेईमानीका हलुआ-पूरी आपका स्वास्थ्य नष्ट कर देगा। अधर्मसे धन जमा करके सम्पत्तिशाली बननेकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मनुष्य सत्य आचरण करता हुआ गरीब बना रहे। जो पैसा दूसरेको रुलाते हुए हड़प लिया जाता है, वह लेनेवालेको नष्ट करके ही विदा होता है।

सत्यता और ईमानदारी धर्मात्मा मनुष्यके भूषण हैं। ये ईश्वरकी सत्ताके द्योतक हैं। प्राणान्त होनेपर भी इन दिव्य गुणोंका ह्रास मत होने दीजिये।

यदि हमारी आजीविका झूठ, अन्याय, छल, कपटसे कमायी हुई है, तो उसपर पलनेवाली हमारी संतान भी उसका उपयोग करनेपर अधिकाधिक अन्याय, झूठ और धूर्तताकी ओर प्रवृत्त होती जायगी और हमारी आनेवाली पीढ़ीको भी दुखी बना डालेगी। अतएव सत्य आचरण और खरे पसीनेकी कमाईसे ही शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। जिसे कमाते और खाते दुनियाके किसी व्यक्तिके सामने आँखें

नीची न करनी पड़ें, वही ईमानदारीकी कमाई है । यह हमें आत्मनिर्भर रहना सिखाती है और स्वाभिमानकी वृद्धि करती है ।

एक विद्वान्‌के ये वचन सदा स्मरण रखने योग्य हैं, 'तुम्हारा मन जब ईमानदारीको छोड़कर बेईमानीकी ओर चलने लगे, तब समझना चाहिये कि अब तुम्हारा सर्वनाश निकट आनेवाला है । बेईमानीसे पैसा मिल सकता है, पर देखो, सावधान रहना । उस पैसेको छूना मत ! क्योंकि वह आगकी तरह चमकीला तो है, पर छूनेपर जलाये बिना नहीं रहता । ईमानदारीसे चाहे थोड़ी ही सम्पत्ति भले ही कमायी जाय, पर वह पीढ़ियोंतक कायम रहेगी और बढ़ती रहेगी, जब कि बेईमानीके विशाल वृक्ष एक ही झोंकेमें उखड़कर गिर जाते हैं । एक दिन वह अवश्य उन्नति करेगा, जो दूसरोंके लाभको अपने ही लाभकी तरह देखेगा । यह मत समझो कि ईमानदारको भोंदू और अकर्मण्य समझा जायगा । मूर्ख ही ऐसा ख्याल कर सकते हैं । विवेकवानोंकी दृष्टिमें न्यायशील और ईमानदार आदमी ही बड़ा समझा जायगा, फिर चाहे वह गरीब ही क्यों न हो ।'

सहज सनेही श्रीराम

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रेमका स्वरूप

कहा जाता है—शुद्ध प्रेम साक्षात् परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम् ॥

अर्थात्—शुद्धरसरूप परमानन्दकन्द परमात्मा ही भावुकके द्रवीभूत हृदयपर अभिव्यक्त होकर प्रेम पदसे निर्दिष्ट होता है । भक्तिरसामृतसिन्धुकार भी कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वलहरी ४ । १)

श्रीराघवचैतन्यने भगवान् श्रीकृष्णको पुञ्जीभूत (गोपियोंका) प्रेम कहा है—'पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानाम् ।'

इसी कारण नारदजीने प्रेमके स्वरूपको अनिर्वचनीय बतलाया है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूम् ।' (नारदभक्तिसूत्र ५१)

अपनी 'प्रेमवटिका'में रसखानने भी प्रेमको भगवान्‌का ही रूप कहा है—

प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप ।
एक होय दोउ यों लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ॥

कवि सत्यनारायण कहते हैं—

परमेसुरमय प्रेम, प्रेममय नित परमेसुर ।

प्रेमका लक्षण

नीतिग्रन्थोंमें देना, लेना, गुप्त बातें कहना, पूछना भोजन करना, भोजन कराना—ये अनुरागके, प्रेमके छः लक्षण बतलाये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥

(हितो० पंच० २ । ५१, ४ । १३)

किंतु ये लौकिक अनुरागके बाह्य लक्षण हैं । लोकोत्तर प्रीतिके लक्षण बतलाते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि वह तो गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्द्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर और केवल अनुभवरूप होता है—

'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।' (नारदभक्ति० ५४)

किसीने मानो इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए कहा है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते ।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतां लाघवम् ॥

'जिस प्रेमदेवताने उत्पन्न होनेके समय अल्प कारणकी भी अपेक्षा नहीं की (अर्थात् जो अकारण, बिना किसी गुण-दर्शन या उपकारादि किये ही उत्पन्न हुआ), जो प्रेमास्पदके सहस्रों अपराधोंसे भी तनिक न्यून नहीं हुआ, जिसमें कभी भी शिथिलता नहीं आयी अपितु जो प्रतिपल बढ़ता ही गया, प्रेमीके

सैकड़ों नमस्कार करनेसे भी जिसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वृद्धि आदिकी कोई बात नहीं होती, जो अमृतसे भी अधिक मधुर तथा त्रिलोकीके संकटोंको दूर भगानेवाला है, उस परम महान् प्रेमदेवताको जीभपर लाकर, अपने मुँहसे प्रकट कर उसकी लघुता क्यों करूँ ?'

एक दूसरा कवि तो यहाँतक कहता है कि जो प्रेम मुँहपर लाया जायगा, वह लघु होनेके साथ समाप्त भी हो सकता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्देश्म भासयति निश्चलमेव भाति ।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति ॥

इसीलिये नारदजी इसे मुँहसे कहनेकी नहीं गूँगेके गुड़की तरह, मन-ही-मन स्वाद लेनेकी वस्तु बतलाया है—

स तु मूकास्वादनवत् ।

प्रेमका परिणाम

कहते हैं, जब प्रेमदेवताकी भावुकके हृदयपर अभिव्यक्ति होती है, तब जो दशा जन्मभर भोगसाधनामें तल्लीन प्राणीकी नहीं होती, जो चित्तैकाग्र्य, समाधियोगारूढको सुलभ नहीं, वह अनिर्वचनीय सिद्धि न चाहते हुए भी प्रेमीको मिल जाती है—लाख निकालनेपर भी वह वस्तु हृदयसे नहीं निकलती । कवि कर्णपूर गोस्वामी कहते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षसे ॥
(आनन्दवृन्दा० चम्पू)

लाख सिर मारकर विषयोंसे मन हटाकर भोगी क्षणभरके लिये भी जिसे अपने हृदयमें देखना चाहता है, यह मुग्धा बाला उसीको जीसे निकालनेके लिये ताबरतोड़ प्रयत्न कर रही है !

मधुसूदन स्वामी भी इसीसे तंग आ रहे हैं—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात्स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

क्लेशे क्रमात् पञ्च विधे क्षयंगते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥
अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

परिणामतः उसे सारे विश्वमें अद्वैतका ही दर्शन होता है; दशों दिशाओंमें, वन, पर्वत-शिखर, नदी, नद, समुद्र एवं आकाशमें, आगे-पीछे, सर्वत्र उसे एकमात्र अपना प्रियतम ही दिखलायी पड़ता है । न दूसरी उसे चिन्ता होती है, न वह चेष्टा करनेपर भी अपने शरीरके उपकरणोंको ही सँभाल सकता है । उसका नशा तो मदिरामदान्धको भी मात कर देता है —

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । १८)

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

प्रेमका अवस्थान

पर प्रेमतत्त्ववेत्ताओंका कहना है कि इस मानुष लोकमें कैतवरहित निश्छल प्रेमका अवस्थान असम्भव है । यदि वह होता तो वियोग सम्भव नहीं था; क्योंकि अतिशय प्रेममें तो प्रेमीको प्रेमास्पदके साथ रहनेमें भी उसके वियोगका भान होता है और यदि वियुक्त हो जाय तो जीवन-धारण कैसे हो सकता है—

कैतवरहितं प्रेम न भवति मानुषे लोके ।
यदि स्यात् कस्य विरहः सति विरहे को जीवति ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार तो यहाँके लोग मक्खी (गंदे विषयोंमें लिपटे हुए), काक (परनिन्दारूपी मलभोजी), उल्लू (भगवान्‌की ओरसे नेत्र मूँदे), बगुला (दम्भी) और मेढ़क-जैसे (अपसिद्धान्तोंकी रट लगानेवाले

तथा व्यर्थका बकवाद करनेवाले) ही हैं, विशेषकर कलियुगमें तो अधिकांश ऐसे ही हैं और जो भले कहे जाते हैं, वे भी तोते (अच्छे पर पलमें प्रेम तोड़कर भाग जानेवाले), कोयल (बोलनेमें मधुर, पर स्वार्थी) तथा मोरके सदृश (देखनेमें सुन्दर, पर हृदय बड़ा कठोर—खाहिं महा अहि हृदय कठोरा—) हैं। सारांश इनमेंसे कोई भी प्रेमके योग्य नहीं है। मित्र, कलत्र, पुत्रोंका प्रेम भी क्षणिक तथा स्वार्थमय ही है, अन्तमें ये भी छोड़ देते हैं—'अंतहु तोहिं तजेंगे पामर।' और जन्मान्तरोंमें तो न जाने कितनी अलग-अलग पत्नियाँ, पुत्र, मित्र आदि होते हैं। (जब वे इसी जन्ममें कोई साथ नहीं देते, तब जन्मान्तरका कैसा प्रश्न ? अब तो तलाक कानून पास हो जानेसे यहीं बीसों परिवर्तन हो सकेंगे।)

'कति नाम सुता न लालिताः
कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।
क्व नु ते क्व नु ताः क्व वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य मे कस्य वा वयम्॥
(महा० शां० २८। २८; वारा० पु० १८८। ९८)

गृह, बनिता, सुत, बंधु भए बहु, मातु-पिता जिन्ह जाये॥
(विनय० १९९)

'जननी-जनकादि हितु भये भूरि, बहोरि भई उर की जरनी॥
(कवि० उत्तर० ३२)

अतएव इन परम स्वार्थी, तुच्छाशय, अल्पसत्त्व, चलचित्त, कलत्र-मित्रोंको तो महाकुसमाज एवं दयाका ही पात्र समझना चाहिये—

सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे।

प्रेमियोंका उत्कर्ष

अतः भगवान् प्रेमका समुचित अवस्थान भगवान्में ही देखा जाता है। भगवान् शङ्करने अपनेको अर्धनारीश्वरका ही रूप दे दिया। पराम्बा सतीने शङ्करजीके प्रेममें अन्तर देख अपने प्रेमको शुद्ध करनेके लिये उस देहको तुरंत छोड़ दिया और वर माँगा कि मैं जहाँ कहीं भी जनमूँ, त्र्यम्बककी ही पत्नी होऊँ।

येनाहमपदेहा वै पुनर्देहेन भास्वता।
तत्राप्यहमसम्मूढा सम्भूता धार्मिकी पुनः॥
गच्छेयं धर्मपत्नीत्वं त्र्यम्बकस्यैव धीमतः॥
(ब्रह्मपुराण ३४। २३)

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥
जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहौं कुआरी॥

वैसे ही पराम्बा सीताका प्रेम भगवान् राममें देखा गया है—

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

वे कहती हैं कि आपके साथ रहना ही स्वर्ग तथा आपका वियोग ही घोर नरक है—

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
(वाल्मीकि० २। ३९। १८)

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाकिशोरीकी प्रीति अचिन्त्य है। श्रीराधिकाके उष्णदुग्धपानसे श्रीकृष्णके पदतलोंमें फफोले उठ आते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेमकी पूर्ण अभिव्यक्ति इन परा शक्तियों तथा शक्तिमानोंमें ही होती है।

राघवेन्द्रका स्नेह

पूज्य गोस्वामीजीके शब्दोंमें विशुद्ध पवित्र स्वाभाविक स्नेहकी प्रतिष्ठा भगवान् राघवेन्द्रमें ही हुई है। वे कहते हैं—एकमात्र कोसलपाल राघवेन्द्र श्रीरामभद्रजी महाराज ही सच्चे स्नेही हैं—

'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु।'
(विनय० १९१)

प्रीतिकी रीति, प्रेमका अद्भुत रहस्य जाननेवाला तथा उसे पालन करनेवाला उनके समान अन्य कोई कहीं नहीं—

'प्रेम कनोड़ो राम सो नहिं दूसरो दयालु।'
'जानत प्रीति रीति रघुराई'
राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।

प्रेमका ठीक-ठीक निर्वाह करनेवाला, अनुदिन विधिपूर्वक रक्षण-वर्द्धन करनेवाला श्रीराजराजेन्द्र रामभद्रके सदृश दूसरा कदापि कथमपि कहीं नहीं है—

कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार।
(विनय० १९०। ४)

कहा जाता है स्नेह-निर्वाहमें महाराज दशरथजीका भी नाम बहुत आगे है। उन्होंने श्रीरामभद्रके स्नेहमें पड़कर विरह-व्यथासे प्राणोंका ही विसर्जन कर दिया—'तनु परिहरि

प्रेम बिरहागी ।' इस तरह प्रेमियोंके इतिहासमें उनकी कीर्ति अचल अमिट हो गयी—

नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।

तथापि भगवान् तो प्रेमीके सामने सारे सम्बन्धियोंको भूल जाते हैं, उनको ससीम कर देते हैं। घर, ससुराल, मित्रों, सम्बन्धियोंके प्रीति-भोजोंकी एक बार भी प्रशंसा न की। सर्वत्र शबरीके बेरोंके स्वादकी ही प्रशंसा की—

घर गुरु गृह प्रियसदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई ।
तहँ तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥

इसी प्रकार गीधराज जटायुने जब स्नेहके कारण सीता-रक्षणमें प्राणोंका विसर्जन कर दिया, तब ये कहने लगे—

सुनहु लखन खगपतिहिं मिले बन, मैं पितु मरन न जान्यौ ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यौ ॥
(गीता०)

और उसकी पितातुल्य विधिवत् दाह-श्राद्धादि क्रियाएँ कीं । रामायण-चम्पूकार भोजराज लिखते हैं, नयनाश्रु-मिश्रित श्रीरामके हाथोंका दिया हुआ पितृ-तर्पणसम्बन्धी जल जो महाराज दशरथको भी दुर्लभ रहा, गृध्रराजने प्राप्त किया। उन्हें शरभंग-जैसी गति मिली—

स्वयमपि शरभङ्गस्वीकृतां भङ्गहीनां
सपदि गतिमवाप्तः संहृतायुर्जटायुः ।
नयनसलिलमिश्रं रामहस्तेन दत्तं
दशरथदुरवापं प्राप नैवापमम्भः ॥
(चम्पूरामायणम्, अरण्य० ८४)

बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी ।
जनक-समान क्रिया ताकी करि नहिं कुल जाति बिचारी ॥
(विनय० १६६)

गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यौ हिंसा सानि ।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥
(विनय २१५)

मोसे कूर कायर कपूत कौड़ी आध के ।
किये बहुमोल तैं करैया गीध-स्राध के ॥
(विनय० १७९)

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ।
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥
(वाल्मीकि० अरण्य० ६८ । ६५)

ज्ञात्वा तं योजयामास वह्निना जीवितक्षये ।
तत्तुष्ट्यर्थं वन्यमांसं क्षिप्त्वा स्नात्वा रघूत्तमः ॥
(आनन्दरामा० सार ७ । ३६)

लक्ष्मणेन समानाय्य काष्ठानि प्रददाह तम् ॥
स्नात्वा दुःखेन रामोऽपि लक्ष्मणेन समन्वितः ।
.....तृप्तो भवतु पक्षिराट् ॥
(अध्यात्म० अरण्य० ३७ । ४०)

यद्यपि रघुनन्दन पितृभक्तिमें सबसे आगे हैं और उन्होंने कहा था—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
(वा० २ । १८ । २८)

'मैं पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता, विष खा सकता तथा समुद्रमें भी गिर सकता हूँ', तथापि गीधके प्रति तो उन्होंने विचित्र ही स्नेह-पालन किया—

'दशरथदुरवापं प्राप नैवापमम्भः ।'

ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ।

उसकी अपनी हाथों क्रिया की और मोक्ष भी दे दिया ।

भला, जो एक गीधके साथ इस तरह प्रेमका निर्वाह कर सकता है, वह अन्य मित्रोंकी उपेक्षा क्यों करेगा ? सुग्रीवकी दीन दशा देखकर आप अपना पत्नीवियोग भूल गये, तुरंत उन्हें राज्यारूढ़ किया और उनकी सारी सुख-सुविधाएँ लौटा कर ही दम लिया । युद्धस्थलमें जब लक्ष्मणजी मूर्च्छित पड़े हुए थे, तब विभीषणके लिये जो भाव आपने व्यक्त किये, वे उनके प्रति अद्भुत दृढ़ सौहार्दके परिचायक हैं—आश्चर्य ! लक्ष्मण, सीता, सारी सेना तथा अपनेसे अधिक विभीषणकी ही चिन्ता है ।

गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती ।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती ॥
(गीता० लंका ७ । ३)

भाई को न मोहु, छोहु सीय को न तुलसीस,
कहैं मैं बिभीषन की कछु न सबीलु की ।
(कविता० लंका० ५२)

तात को सोच न मात को सोच रु सोच नहीं मोहि औध तजे को,
सोच नहीं बनबास भयो, किन सोच नहीं मोहि सीय हरे को ।
लछिमन भूमि पर्यौ नहिं सोच, न सोच कछू मोहि लंक जरे को,
सोच भयो तुलसी इक मो कहँ भक्त बिभीषन-बाँह गहे को ॥

अधिक क्या, केवटके भी उपकारोंको वे भूल न सके, उसे मित्र कहकर पुकारनेमें उन्हें सुखका अनुभव होता रहा। वानरोंको भी अपना मित्र बतलाया, भोजोंमें उन्हें साथ बिठलाया—

'केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई।'
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहि सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि॥
(विनय० २१५।६)

तैर्यद् विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥
(श्रीमद्भा० ५।१९।७)

ये कपि सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

हनुमान्‌जीके तो 'रिनियाँ' ही बन गये—

'शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्।'
(वाल्मीकि० उत्तर० ४०।२३, अध्यात्म० ५।५।६०)

सुनु कपि ताहि उरिन मैं नाहीं। करि बिचारि देखेउँ मन माहीं॥
'तेरो रिनी' हौं कह्यौ कपि सों ऐसो मानिहि को सेवकाई।
कपि-सेवा-बस भये कनोड़े, कह्यौ पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥
(विनय० १००।७)

अयोध्यावासी मित्र तो उनके इतने अनुरागी हो गये कि जन्म-जन्ममें उनका साथ तथा स्नेह चाहते हैं—

बालसखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं॥
को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेहु निबाहनिहारा॥
जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

जनकपुरके भी किशोर बालक तुरंत प्रभावित होकर इनसे मैत्री जोड़ लेते हैं। इन्हें छू-छूकर, अपना घर दिखा-दिखाकर अचिन्त्य, अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥
सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥
लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥
भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष मख साला॥

किंतु भगवान् रामकी प्रीति शुद्ध तथा पहली कोटिकी इसलिये कही जाती है कि वे दीनोंसे, नारकी जीवोंसे, घोर संकटग्रस्तोंसे भी अपार प्रेम करते हैं—

'दास तुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति।'
(विनय० २१६)

'श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीचहू सों करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि॥'
(विनय० २१५)

इधरके लोग स्वार्थके मित्र हैं, वे तो दुखियोंसे किनारे ही रहते हैं। वे लाख गिड़गिड़ायें, रोयें, पर कौन सुनता है—

.....स्वारथहि के मीत।
कबहु काहु न राख लियो कोउ सरन गयउ सभीत॥
(विनय० २१६)

विपत्तियोंकी जड़

सुतरां ऐसे कृपालुसे, प्रेम-परवशसे जो प्रेम न कर संसारी, अल्पसत्त्व, चलचित्तोंसे प्रेम करेगा, उसे भव-भाजन होना, संसृति-यातनामें पड़ना, घोर घाटेमें जाना क्या आश्चर्यकर है?

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह।
तातें भव भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह॥

स्वार्थके ये कलत्र, पुत्र, मित्रादि साथी तो सचमुच खली छोड़कर केवल रस ही निकालेंगे.....।

'ये मातु पिता सुत नारि...खरि परिहरि रस लेत।'

विवेकके नेत्रोंसे देखनेपर तो प्रभु ही एकमात्र हितैषी हैं—

—'तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिय की आँखिन हेरि।'

और मनुष्यदेहकी प्रशंसा तो केवल उतने ही अंशोंतक है, जितने अंशोंमें श्रीरघुनाथजीसे प्रीति है—

'मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के।'

यदि वह नहीं है तो संत, देवताओंकी नजरमें मनुष्य-शरीर भी खर, कूकर, शूकरवत् ही है—

जो अनुराग न राम सनेही सों। तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों॥
'तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं॥'

सारी विपत्तियाँ केवल इसीलिये हैं कि सहज सनेही राजराजेन्द्र राघवेन्द्रमें प्रीति नहीं है—

नाहि न चरन रति ताहि तैं सहौं बिपति,
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर।

'मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति स्रुति संदेह निबेरो।'

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो श्रममिमं द्वितयं विसृज्य।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुः.....॥

(श्रीमद्भा० ६। १५। २८)

'नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन।'

(श्रीमद्भा० ४। ८। २३)

'तुलसीदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।'

अवनि, रमणी, मित्र, धन, धामको अपनानेकी बहुतोंने चेष्टा की; पर ये किसके-किसके साथ गये ? सभीने खूब धोखा खाया—

अवनि-रवनि-धन-धाम-सुहृद-सुत को न इनहि अपनायो?
काके भए, गये सँग काके, सब सनेह छल-छायो॥

(विनय० २००)

उपसंहार

तथापि प्रभो ! इन सब बातोंको जानते, पढ़ते, मनन करते हुए भी जन्म-जन्मके दुस्स्वभाववश आपकी सच्ची प्रीति नहीं मिली। तौलनेपर संसारी जनोंका ही स्नेह भारी होता है। जितना यह मन सहज ही तत्-तद् वस्तुओं तथा व्यक्तियोंमें आसक्त है, उसका शतांश भी आपमें लगा होता तो भी एक बात थी और यदि वैसा ही सहज अनुराग होता, तब तो जन्म ही सफल हो जाता, आप प्रसन्न ही हो जाते।

जो मन लागै राम चरन अस।
देह, गेह, सुत, बित, कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥
द्वन्द्वरहित गतमान ग्यानरत बिषय-बिरत खटाइ नाना कस।
सुख-निधान, सुजान, कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस॥

नाथ ! आपमें, आपके चरणोंमें मेरी प्रीति नहीं है। इसका प्रबल प्रमाण तो यही है कि स्वप्नमें भी मेरे मनमें वैराग्य नहीं आता, भोगोंकी सरसता नहीं हटती और यह तो सीधी बात है कि जिनकी आपमें प्रीति होती है, वे भोगोंको रोगकी तरह छोड़ देते हैं, वमन समझकर मुँह फेर लेते हैं—

जे रघुबीर चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे॥

(विनय० १२७। २)

तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु।
मुनि मनसहु ते लीन तपहिं लायेउ मनु॥

(पार्वतीमंगल)

राम चरन पंकज रति जिनही। बिषय भोग बस करइ कि तिन्हही॥
रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि नर बड़भागी॥

पर यहाँ तो कृपामय ! बात सर्वथा विपरीत है। अनङ्गरूपी भुजङ्गद्वारा डँसे जानेके कारण भोगरूपी नीम कड़वी नहीं लगती। परिणाम सोचकर सोच अवश्य बढ़ रहा है। पर दयासिन्धो ! उपाय कुछ नहीं सूझता। अब तो प्रभो ! एक ही बात हो सकती है। वह यह कि आप स्वयं अपने बारिज-नेत्रोंसे शोकाश्रुसागरविशोषण, घोर त्रयतापोपशामक कृपावलोकनसे एक बार पूरी तरह इधर अवलोकन करें।

असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित नूतन भारी॥
जब तब राम कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥

सद्वचन

(प्रेषक—'बन्धु')

एक बहिनने कहा—'मैं प्रार्थना करती थी; अब छोड़ दी है।' मैंने पूछा—'क्यों ?' उसने उत्तर दिया—'क्योंकि मैं दिलको धोखा देती थी।' उत्तर तो ठीक ही है; लेकिन धोखा देना छोड़े, प्रार्थना क्यों छोड़े ?

—महात्मा गाँधी

रूपदर्शन

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०)

माया और ब्रह्म—इन दोनोंका भेदाभेद-सम्बन्ध-तत्त्व सभी दार्शनिकोंकी मूल भित्ति है। पाश्चात्त्य दार्शनिक इस तत्त्वकी कभी परिस्फुट रूपसे धारणा नहीं कर सके, ग्रहण नहीं कर सके। नाना दिशाओंमें भटककर अन्तमें इस द्वैताद्वैत-माया ब्रह्मके मण्डलपथकी ओर अग्रसर होनेके लिये ही सब बाध्य हुए। स्पाइनोजा, लिबनिज, कांट, हेगेल, बर्कले—सभीकी यही दशा है। वेदान्तकी माया सांख्यकी प्रकृति है। वेदान्तका अद्वितीय ब्रह्म सांख्यमें अन्तर्हित होकर असंख्य पुरुषरूपमें प्रकाशित है। गीतामें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम—इन तीनका उल्लेख है। क्षर पुरुष सर्वभूतसमष्टिका भावनात्मक नाम है। अक्षर पुरुष वेदान्तका निर्विशेष ब्रह्म है। पुरुषोत्तम, पुराणके परमपुरुष परमेश्वर ब्रह्मण्यदेव श्रीभगवान् हैं। गीताकी भाषामें वे—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

—पुरुषोत्तम सर्वस्वरूप, सर्वमय, सर्वैश्वर्य, सर्वशक्ति तथा सर्वरसपूर्ण हैं। छान्दोग्यश्रुतिकी भाषामें—'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' हैं। पुरुषोत्तम अखण्ड वस्तु हैं। भेदके बिना ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न नहीं होता। इसी कारण भेद-कल्पना करनी पड़ती है, विभाग-भावना करनी पड़ती है। पुरुषोत्तम स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति, मायाशक्ति हैं। स्वरूप-शक्तिमें वे सर्वाश्रय स्वयंरूप हैं। जीवशक्तिमें वे ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त अनन्त कोटि विश्वजीव हैं। मायाशक्तिके द्वारा वे विश्वविधान तथा जीवोंके संसारका अर्थात् जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखमय जीवनका विधान करते हैं। पुरुषोत्तमके और भी दो विभाव विश्लेषण दृष्टिसे आविष्कृत होते हैं—कालशक्ति और कर्मशक्ति। परब्रह्म प्रकृत पक्षमें पञ्च व्यूह हैं—स्वयंब्रह्म, माया, जीव, काल और कर्म। कर्मका ही नाम दैव और अदृष्ट है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।—

इसके बाद तुरंत ही फिर कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(९। ४-५)

इसका तात्पर्य हम 'वेदान्तसूत्र'में पाते हैं—'आत्म-कृतेः परिणामात्' (१। ४। २६)।

इसका प्राञ्जल निम्बार्कभाष्य—

'ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं च। कुतः? तदाऽऽत्मानं स्वयम-कुरुत इत्यात्मकृतेः × × परिणामात् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य अव्या-कृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति।'

ब्रह्म ही जगत्‌का सृष्टिकर्ता है और वह स्वयं ही जगत्‌की उपादान सामग्री है। श्रुतिमें यही बात कही गयी है। वे स्वयं अपनेको सृजन करते हैं, वे अपनेको जगत्‌रूपमें परिणमित करते हैं। वे अपने शक्ति-विक्षेपके द्वारा जगत्‌के आकारको प्राप्त होते हैं, स्वरूपविक्षेपके द्वारा नहीं। वे सदा ही अव्याकृत, अविकृत रहते हैं। श्रीरूप गोस्वामीकी भाषामें 'सदास्वरूपसम्प्राप्त' रहते हैं। स्वरूपसे वे नित्य-निर्विकार हैं। मायाशक्तिके प्रभावसे अपनेको जगद्रूपमें प्रभासित करते हैं। भागवतमें है—

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु.....॥

(१०। १६। ४७)

परब्रह्म 'विश्व' रूपमें विद्यमान हैं, 'विश्वके अन्तर्यामि'रूप में विद्यमान हैं। 'विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे'। इसके सिवा वे 'विश्वातीत'रूपमें विराजमान हैं—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

वे मायामय होकर भी मायातीत हैं, गुणातीत हैं, ब्रह्माण्डातीत हैं। श्रुति उनको अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध इत्यादि रूपमें घोषणा करके ही फिर कहती है—

'सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्तिधीराः।'

कठोपनिषद्‌में है—'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्' इत्यादि श्रुतिवचनोंका तात्पर्य गुणातीत परमेश्वर है, 'निखिल-कल्याणगुणरत्नाकर' भगवान् हैं। भागवत कहता है कि परमेश्वर जिस राज्यमें रहते हैं, उस राज्यमें माया नहीं—

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे
.....॥

(२। ९। १०)

सत्त्व, रज, तम आदि प्राकृतिक गुणोंका कोई प्रभाव नहीं, वहाँ कालका विक्रम नहीं है।

विश्व ईश्वरका अर्थात् मायाशक्ति ब्रह्मका प्रकाशरूप है। विश्व दृश्यमान है, परंतु यही ब्रह्मका एकमात्र प्रकाश नहीं है। ब्रह्मका एक विश्वातीत प्रकाश भी है। विश्व आकाशमें अवस्थित है। ब्रह्मका अन्य प्रकाश कहाँ है? 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमामें है। इस महिमाका नाम ही परव्योम या ब्रह्मधाम है। यह तमोमयी मायाके द्वारा अस्पृष्टज्योति, अनाच्छन्न, अविद्धवर्च्चस्, अनावृतप्रकाश है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' (माण्डूक्योपनिषद् २। २)। ब्रह्माण्डसृष्टिके पूर्व स्वयं भगवान्‌ने यह आनन्दरूपमय, अमृतमय राज्य ब्रह्माको दिखलाया था।

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
संदर्शयामास परं च यत्परम् ॥

यह राज्य कल्पना नहीं है, सत्य है। 'सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रम्'। छान्दोग्य-उपनिषद्‌के अन्तमें इस परमधामको ब्रह्मलोक कहा गया है—

'चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि।' (छा० ८। १३)।

और तैत्तिरीयोपनिषद्‌में है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' (२। १)।

सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ सर्वप्रकारकी काम्य वस्तुओंका उपभोग करता है वह ब्रह्मविद् भाग्यवान् व्यक्ति या भाग्यवती। सो कहाँ? निश्चय ही इस ब्रह्मलोकमें। क्योंकि ब्रह्मलोकका नाम शबल अर्थात् विचित्र काम्यपरिपूर्ण है। फिर छान्दोग्यमें है—

'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते·····तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः।' (८। १२)।

भागवतमें यह ब्रह्मलोक नारायणका 'स्वलोक' अर्थात् वैकुण्ठलोकके रूपमें पुनः-पुनः वर्णित हुआ है। २। ९०, ३। ८, ३। १५ अध्यायमें अति अपूर्व मनोरम वर्णन है। उसमें कवित्वकी पराकाष्ठा है। पाश्चात्त्य कवि जो कहते हैं कि 'सत्य ही सुन्दर है और सुन्दर ही सत्य है' इसका वह मनोज्ञ प्रमाण है। इस वर्णनमें निरुपम रूपका राज्य प्रकाशित हुआ है। किंतु इस राज्यका जो राजाधिराज अधीश्वर है, उसीके रूप, उसीके स्वरूपके विषयमें हम आगे विचार करेंगे।

परंतु उससे पहले एक बात और कहनी है। हमारा पृथिवी लोक है और प्राकृतविभावमें चन्द्र, सूर्य; नक्षत्रादि लोक सभी भूलोकके अन्तर्गत हैं। क्षितितत्त्वप्रधान है। भूलोकके बाद उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और सुरम्यतर और भी छः लोक हैं—भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। ये सभी लोक मायिक हैं अर्थात् प्राकृत ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं, अप्राकृत नहीं हैं, परव्योमके अन्तर्गत नहीं है, चिन्मय नहीं हैं। किंतु दिव्य ज्योतिर्मय हैं। देव, ऋषि, मुनि, योगीन्द्र इनमें निवास करते हैं। अप्राकृत, ब्रह्मलोक वैकुण्ठादि लोककी प्राप्तिके लिये साधना करनी पड़ती है। हम उसी आनन्द-चिन्मयलोकके विषयमें कुछ विचार करेंगे। किंतु 'ईक्षते चिन्तामयमेतमीश्वरम्'—उस चिन्तामय ईश्वरके विषयमें आगे चिन्तन करेंगे। जो 'महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः' विराजमान हैं, वे कैसे हैं?—केवल अनुभवानन्दस्वरूप है, इसका क्या अर्थ है?

वेदोपनिषद्‌में ब्रह्मदर्शनकी बात बार-बार कही गयी है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। ××× मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।'

(बृहदारण्यक २। ४। ५)

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में लिखा है—

'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।'

एवं,

'आत्माऽऽमनि गृह्यतेऽसौ। सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।'

(१। १४। १५)

कठोपनिषद्‌में है—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः।' (२। २। १३)

ब्रह्मोपनिषद्‌में इस बातकी नाना प्रकारसे पुनरावृत्ति हुई है। अतएव ब्रह्म निश्चय ही दर्शनीय है। जब दर्शनीय है, तब दर्शनीयतम है। यही दर्शन सब दर्शनोंका सार है।

'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।'

(श्रीमद्भा० १०। २१। ७)

श्रुति कहती है—

'सत्येनैनं तपसा अनुपश्यति।'

सत्यमें प्रतिष्ठित मनुष्य तपश्चर्याके प्रभावसे उसको देख पाता है। पुनः कहते हैं—

'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।'

(श्वेताश्वतर २। १५)

अर्थात् आत्मतत्त्व ज्ञानप्रदीपके प्रकाशसे अन्तरकी अप्राकृत दृष्टिसे ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित होता है। 'युक्तः प्रपश्येत्।' अर्थात् योगीके सिवा दूसरा कोई दर्शन नहीं कर सकता। यह योगी भक्तियोगी है; क्योंकि 'भक्त्या मामभिजानाति।' (गी० १८। ५५) और—

'प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः××विलोकयन्ति'

(ब्रह्मसंहिता)

गीता कहती है—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'। (७। २५)

अतएव सत्य, तप, योग और भक्ति अथवा केवल भक्तिके द्वारा आत्मा परमात्म-परब्रह्मको जान सकता है तथा देख सकता है। भागवतमें भगवान् कहते हैं—

'अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।'

(१। ६। २२)

चित्तवृत्तिप्रबल भक्तिहीन पुरुष मुझको नहीं देख सकता। कठोपनिषद्में एक अपूर्व सुन्दर प्रसङ्ग है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' (१। २। २३)

प्रथम 'वृणुते'का अर्थ है, प्रार्थना करता है। 'वृणुते'का दूसरा अर्थ है, प्रकाश करता है। एषः—यह साधक जिनकी प्रार्थना करता है, उन परब्रह्म (की कृपा)के द्वारा ही साधक उनको प्राप्त करता है। परमेश्वरकी कृपाके बिना कोई उनको प्राप्त नहीं कर सकता। साधक जब उनको प्राप्त करता है, तब वे (करुणावश) अपने तनुको अर्थात् 'गोपन'रूपको उस भक्तके नयनोंमें अनावृत कर देते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि मैं सबके सामने प्रकाशित नहीं होता, परंतु भक्तको दर्शन देता हूँ 'तस्याहं न प्रणश्यामि' अर्थात् मैं उसकी दृष्टिके बहिर्भूत नहीं होता।

इस प्रकार हम उपनिषद्-साहित्यमें सर्वत्र रूपदर्शनके शुभ सूक्तोंको प्राप्त करते हैं। रामतापिनी, गोपालतापिनी, नारायण, कृष्ण, रामरहस्य आदि उपनिषदोंका मैंने नाम भी नहीं लिया है। श्रीशङ्कराचार्यके द्वारा स्वीकृत प्राचीन और प्रधान उपनिषदोंसे ही प्रमाण दिये हैं। पूर्व प्रबन्धोंमें भी यही किया है। परब्रह्म रूपवान् है, इसके शत-शत श्रुतिप्रमाण हैं। ब्रह्मसूत्र और वेदान्त जो बादरायणविरचित हैं, ये ही वेदोपनिषद्के विज्ञानतन्त्र हैं। इस विज्ञानमें ब्रह्मके रूपकी बात पुनः-पुनः उल्लिखित हुई है। नाना भावोंमें तथा नाना प्रकारसे—'रूपोपन्यासाच्च' (१। २। २४) ब्रह्मके विश्वरूपकी बात है। विराट् पुरुषका रूप (मुण्डक २। १। ४) (श्रीमद्भा० २। १। २६-३७) 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' (ब्रह्मसूत्र १। २। ३०), इस सूत्रका तात्पर्य भागवतमें व्यक्त हुआ है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

(३। ९। ११)

भगवान् भक्तकी भावना और अनुरागके अनुसार मनोज्ञ रूपसम्पत् प्रकट करके भक्तके ऊपर अनुग्रह करते हैं। उपर्युक्त सूत्रका भाष्य करते हुए आचार्य निम्बार्क कहते हैं—

'उपासकानामनन्यानामनुग्रहायानन्तोऽपि परब्रह्म तत्तदनुरूपतया अभिव्यज्यते।'

'तदव्यक्तमाह हि' (३। २। ३)

इस सूत्रके बाद ही कहते हैं—

'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।'

(३। २। ३८)

परब्रह्म अव्यक्तरूपमें वर्णित है, परंतु वह विशुद्ध अन्तःकरणवाले प्रसन्नचित्त भक्तयोगीकी ध्यानदृष्टिमें अभिव्यक्त होता है।

'तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।'

उसके पश्चात्—

'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' (३। ३। २१)

जैसे मेघके हटनेसे सूर्यका प्रकाश होता है, जैसे चकमक पत्थरकी रगड़से अग्निका प्रकाश होता है, वैसे ही उपासना साधनके द्वारा परमात्माका रूप प्रकाशित होता है—इस प्रकार वेदान्त-सूत्रोंमें हम पुनः-पुनः ब्रह्मरूपकी स्वीकृति प्राप्त करते हैं।

निर्विशेष और निराकार भावनामें बहुतोंका अत्यन्त आग्रह होता है। ब्रह्मतत्त्वको आकाशकी अन्तहीन शून्य महिमामें मिलाकर चिन्तन करने और समझनेमें ही चित्त गति और प्रीति रखनेवाले पुरुष संसारमें अनेक हैं। इसके विपरीत स्वभाववाले व्यक्ति भी जगत्में अनेक हैं। वे केवल दिव्य रूपसे प्रेम करते हैं तथा उसकी कामना करते हैं। इतना ही नहीं, उनका विश्वास है कि रूपके सिवा और कुछ सत्य नहीं है। जो सत्य है, वह है, वह निश्चय ही रूपसम्पन्न है। रूप ही शुष्क विशुद्ध भावना, (Scientific abstraction) में अ

सत्तामात्रमें पर्यवसित होता है । अरूप कल्पनामात्र है । चित्तकी चिद्वस्तु-ग्रहणकी असमर्थताका परिचायक है । वास्तविक तत्त्ववस्तुके ग्रहण करनेमें, दिव्य द्रव्यस्फुरणके अवबोधमें विशेष मानसिक शक्तिकी आवश्यकता है । प्रफुल्ल प्राणशीलता आवश्यक है । निर्मल अनुरागावेगकी आवश्यकता है । ये सब असाधारण गुण सबमें नहीं होते । शुष्क ज्ञानभावना ही बहुतोंकी चित्तवृत्तिकी मूल नीति होती है । उनके लिये रूप नहीं है, सौन्दर्य नहीं है—है केवल सत्ता । अरूप सत्ता असत्प्राय है । श्रुतिने अव्याकृत आत्मतत्त्वको भी पुनः-पुनः 'असत्' कहकर उल्लेख किया है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (श्वेताश्वतर० २।७) इत्यादि। 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।' जो व्यक्ति ब्रह्मको अरूप मानकर असत् बना डालता है, वह स्वयं असत् हो जाता है । रूपके ऊपर ही सत्ता निर्भर करती है, रूप-सम्भावनाहीन सत्ता नहीं। जो विशुद्ध-सत्त्व दीप्तप्राणवान् पुरुष हैं, वे कभी रूपानुध्यानहीन होकर रहनेकी इच्छा नहीं करते । जबतक वे ध्यान-धारणामयी साधनाके द्वारा दिव्य रूपका प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते, तबतक अन्तरके अनुराग-रससे ही प्रफुल्लरूपकी रचना कर डालते हैं । इसीसे ब्रह्मविद् महाकवि रवीन्द्रनाथ गाते हैं—

आमि आपन मनेर माधुरी मिशाये
तोमारे करेछि रचना ।××
मम असीम गगनविहारी
तुमि आमारि ये तुमि आमारि ॥
मम हृदय रक्तरञ्जने तव
चरण दिये छि राँगिया
तव अधर एँकेछे सुधाविंधेमिशे
मम सुखदुःख भाँगिया ।

अर्थात् मैंने अपने मनके माधुर्यको मिलाकर तुम्हारी रचना की है । मेरे असीम गगनमें विहार करनेवाले तुम मेरे हो, तुम मेरे हो । अपने हृदयके रक्त-रञ्जनसे मैंने तुम्हारे चरणोंको रँग दिया है । तुम्हारे अधर-सुधाविंदुसे मिलकर मेरे-सुख-दुःख नष्ट हो जाते हैं ।

भागवतमें इस तत्त्वका अति मनोहर आभास है । श्रीभगवान्‌के साक्षात् रूप-वर्णनमें सनकादि मुनि कह रहे हैं—

स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
(३ । १५ । ४२)

भगवान्‌के जो निज जन हैं, उनकी सुनिर्मल धीवृत्ति भगवान्‌के रूपके सम्बन्धमें जो धारणा कल्पना करती है, वह मिथ्या नहीं है । वे अपनी कल्पित सौन्दर्यलेखाको यथा-समय भगवान्‌के अङ्गमें देख पाते हैं ।

उपनिषद्‌की रूपतत्त्वावतारणाकी किंचित् जानकारी हुई । पुराण तो रूपका साम्राज्य है । उपनिषद्‌की तरुण कल्पतरु-लताका पूर्ण विकास ही पुराण हैं । इसको जो अस्वीकार करते हैं वे भारतीय अध्यात्म-साधनाको ठीक नहीं समझते । श्रीमद्भागवतके रूप-विज्ञानका एक आभास यहाँ देता हूँ—ठीक उपनिषद्‌की व्यञ्जना-पद्धति देवकी देवीकी स्तुति है—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥
(१० । ३ । २४)

अर्थात् जो (प्रकृत-पक्षमें) रूप है उसीको (दार्शनिक लोग) अव्यक्तादि रूपमें घोषणा करते हैं । वे उसी रूपको अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, निरीह, सत्तामात्र नामसे पुकारते हैं । उसी प्रत्यक्ष प्रकट रूपवान् अपूर्व बालकाकृति ब्रह्मतत्त्व-माहात्म्यको सम्बोधन करके देवकी देवी कहती हैं कि 'तुम वही तत्त्व हो । तुम्हीं वह परब्रह्म हो । तुम्हीं साक्षात् विष्णु हो । तुम्हीं विश्वके अध्यात्मदीप हो ।' एक बात मैं पूर्वप्रबन्धमें कह चुका हूँ । द्वितीय पुरुषावतार प्रद्युम्नके सुमनोरम नवघनश्याम रूपको देखकर ब्रह्मा प्रजापति स्तुति करते हैं—

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दरूपमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥
(३ । ९ । ३)

ब्रह्मा कहते हैं—हे परम पुरुष ! यह जो तुम्हारा श्याम-सुन्दर कमनीय किशोर रूप है, यही तुम्हारा परमतम तत्त्व है । इससे ऊपर इसकी अपेक्षा निगूढ़ और कोई तत्त्व नहीं है । यह रूप ही तुम्हारा स्वरूप है । तुम आनन्दमात्र हो, तुम आनन्दमूर्ति हो, तुम अविकल्प हो, सर्वभेदविहीन, अखण्ड ज्ञानतत्त्व हो, तुम स्वयंप्रकाश हो, अनावृत-ज्योति हो, यह जो तुम्हारा सुचारु, सुरम्य रूप है, इस रूपमें ही तुम ये सब तत्त्व हो । तुमने विश्वसृजन किया है, तुम विश्वातीत हो, तुम शुद्ध आत्मा हो, तुम जीवोंकी बुद्धि-इन्द्रियादिके परम कारण हो । तुम्हीं समस्त विभावोंमें इस **अनिन्द्य शोभनरूपमें हो । मैंने इस रूपका ही आश्रय**

लिया है। इस रूपके अन्तर्गत तुम्हारी निखिल शक्ति है। रूपके बिना और कुछ नहीं है। जो इस रूपका अनादर करते हैं, उनका मङ्गल नहीं होता—'नरकभाग्भिरनादृतमसत्प्रसङ्गैः'।

इसकी अपेक्षा भी गम्भीरतर बात भागवत कहता है। दशम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें गर्भगत विष्णुकी ब्रह्मादिकृत स्तुति—

सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥

(१०।२।३५)

विज्ञान अज्ञानका विनाश करता है, अज्ञानका भेद करता है, विज्ञान फिर विगलित होकर विलीन हो जाता है, जिसका विज्ञान होता है उसके साक्षात् दर्शनके आलोकके आघातसे। जिस विज्ञानके प्रकाशसे सब अज्ञान दूर होता है, वही विज्ञानका प्रकाश विज्ञानके प्राणस्वरूप, विज्ञानघनतनु श्रीभगवान्के मनोज्ञ रूपकी अमृत किरणोंमें मिलकर रागरसायनको प्राप्त होता है। यह रूप-दर्शन ही जीवका परम पुरुषार्थ है। सृष्टिके पूर्व श्रीनारायणने ब्रह्मासे कहा था—

ब्रह्मञ् श्रेयःपरिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः॥

(२।९।२०)

दर्शन होनेपर सारी साधन-चेष्टा पूर्ण हो जाती है, सफल हो जाती है। दिव्य रूपके प्राकट्यसे पूर्व, अमृतमूर्ति प्रकट होनेके पूर्व भगवद्विषयमें केवल अनुमान होता है। पण्डितोंने, दार्शनिकोंने सहस्रों अनुमानोंका, अनुभावनाओंका जाल गाँथ दिया है और वे गाँथते ही जा रहे हैं। उस जालसे वे स्वयं ही बँध गये हैं। उस जालमें परमेश्वर कभी नहीं आते। 'य एको जालवान् ईशते ईशनीभिः', उसको क्या ज्ञानके जालमें फँसाया जा सकता है? 'अपि संराधने'—सम्यक् आराधनाके आकर्षणसे, प्रेम-महामन्त्रकी शक्तिके प्रभावसे वे जालको फाड़कर स्वयं ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। जैसे ध्रुवकी आराधनासे आये थे। जगज्जीवन-यात्रामें सर्वत्र शक्तिकी क्रिया दृष्ट होती है। ज्ञानका व्यापार, अतिसूक्ष्म बुद्धिका निगूढ़ प्रभाव विश्वमें चारों ओर लक्षित होता है। ज्ञान-बुद्धि-विचार, दूर-दृष्टि, उद्देश्यपूर्वक कार्य, शिल्प-कला-कौशल आदिके निदर्शन प्रकृतिके राज्यमें अगणित हैं। जीव-देह-रचनामें जिस अद्भुत कला-कौशल, जिस अचिन्तनीय बुद्धि-वृत्तिकी कार्य-साधन-पद्धति वैज्ञानिकोंने आविष्कार की है उसकी तुलना मनुष्यके शिल्प-राज्यमें कहाँ है? इन्हीं सबसे अनन्त ज्ञानमय, अव्याहत चैतन्यमय, असीम निर्माणशक्तिशाली, परमपुरुष भगवान्की विश्वव्यापी विद्यमानताका अनुमान, अनुधारणा आदि होती है। प्रकृति ज्ञानहीन, चैतन्यहीन है। पुरुष पूर्ण चैतन्य है। पुरुषके संसर्गसे, पुरुषके द्वारा प्रकृतिके प्राणमें ज्ञानका संचार होता है। पुरुष ही सृष्टि करता है। प्रकृति उपादान मात्र है। पुरुषकी शक्ति है। वेदान्तसूत्रकारने 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें इसी सत्यकी घोषणा की है। विश्व-व्यापारमें ज्ञान-चैतन्यका विचित्र निदर्शन देखकर हम चित्-शक्तिकी सत्ताका अनुमान करते हैं। 'गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्' इत्यादि वाक्योंसे भागवतने भी इस सत्यकी सुगम्भीर व्यञ्जना की है।

इस तत्त्वको थोड़ा अनुसंधानपूर्वक समझना चाहिये। ज्ञान प्रधानतः पाँच प्रकारका हो सकता है—(१) बाह्यविषय-ज्ञान, (२) बाह्यविषय-तत्त्वज्ञान अथवा तत्तत्-निर्णय-ज्ञान, (३) नीति-धर्मज्ञान, (४) अध्यात्मज्ञान, (५) ब्रह्मज्ञान या भगवत्-तत्त्वज्ञान। श्रीशङ्कराचार्य बाह्यविषय निर्णय-ज्ञानको 'प्राकृतविषयविकारविज्ञानम्' बतलाते हैं। परमार्थ-तत्त्ववस्तुको 'विषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नम्' तथा 'विविध-अनेकार्थशंकटे तिष्ठति' कहा है। प्रकृतिकी भूमिसे प्राप्त विज्ञान-पथमें हम ब्रह्मतत्त्वकी ओर चाहे कितना ही अग्रसर क्यों न हों, अनुमानके सिवा हमारे लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट आदि अनुमान हैं। Induction, Deduction, Syllogism, Hypothetical, Categorical इत्यादि। श्रीशङ्कराचार्यने इनके समुदायको 'स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्र' कहकर अस्वीकार प्रकट की है।

यह सब परोक्षज्ञान हैं, शून्यज्ञान कल्पना-प्रणाली Speculation है; philosophy दर्शन नहीं है, विज्ञान नहीं है। कांट, हेगेल, फिक्टे आदिसे आरम्भ करके शून्याद्वैतपथमें शून्यसिद्धान्तमें अवसानपर्यन्त सभी परोक्ष ज्ञानका Speculation जान पड़ता है, यह जो विश्वमय प्रचेष्टा है, इसमें देवगण बड़ा कौतुक उपभोग करते हैं, क्योंकि 'परोक्षप्रिया हि देवाः'—अर्थात् देवता 'लुकाचोरी'की पसन्द करते हैं। अपरोक्षज्ञान और दर्शन एक ही बात है। साक्षात् ज्ञानका नाम ही विज्ञान है।

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३०)

यही प्रज्ञान है। ब्रह्म वस्तु यदि है, तो उसका प्रत्यक्ष दर्शन भी है। विश्वमें ब्रह्मदर्शनकी इच्छा नहीं है, यह कोई नहीं कह सकता। ब्रह्मदर्शनकी इच्छा सर्वजनसाधारण है। सब कामनाओंसे श्रेष्ठ कामना है ब्रह्मदर्शनकी कामना। छान्दोग्य श्रुति (८।३।१) कहती है कि परब्रह्मका विज्ञान प्राप्त होनेपर (आत्मानमनुविद्य) सकल कामना सत्य होकर (ते इमे सत्याः कामाः) पूर्ण हो जाती है। जो कुछ प्रार्थनीय या वाञ्छनीय है, सभी 'ब्रह्मविद् दर्शनाय लभते'। परब्रह्मके अनुग्रहसे ही सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं और जो पुण्यतम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वापेक्षा स्वाभाविक कामना है, वही पूर्ण न हो, यह असम्भव है।

परब्रह्म निश्चय ही दर्शनीय है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह श्रुतिवाक्य ध्रुव सत्य है। ज्ञानके द्वारा दर्शनसौभाग्य सम्पादित नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान प्रत्याख्यानपरायण है। ज्ञान तत्त्व वस्तुको वस्तुहीन भावनामात्रमें परिणत करके परिहार करता है। ज्ञान परिणत अवस्थामें गणित मात्र है। वस्तु सत्यका अङ्कतन्त्र मात्र है। ज्ञानका परिणाम निर्विशेष, निर्वितर्क्य ब्रह्मविद्या है। वह ब्रह्मतत्त्वको शून्य आकाशमें मिलाकर स्वयं भी शून्यमें मिल जाती है। अतएव इस ज्ञानमें ब्रह्मदर्शन नहीं है। ज्ञान जब ब्रह्म-वस्तु समनुसंधानपरायण होता है, तब वह विज्ञान होकर, भक्ति होकर प्रेम बन जाता है। प्रेम ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञानकी पराकाष्ठा है। 'भक्त्या मामभिजानाति'—अर्थात् भक्ति ही परविज्ञान है, जिसके द्वारा ब्रह्म-विज्ञान अर्थात् ब्रह्मदर्शन होता है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें पुनः-पुनः शुष्कज्ञान, शून्य ब्रह्मज्ञान तिरस्कृत हुआ है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(१० । १४ । ४)

ज्ञानकी सिद्धि विज्ञान है। विज्ञानकी सिद्धि भक्ति है। भक्तिकी सिद्धि दिव्यरूप-दर्शन तथा चिदानन्दरस-रूपराज्यमें प्रवेश है—'विशते तदनन्तरम्'। उस रूपराज्यमें भक्त प्रवेश करता है। 'अनन्तरम्' का अर्थ तत्पश्चात् नहीं है। इसका अर्थ है अन्तरहीन होकर अर्थात् ज्ञानके व्यवधानसे रहित होकर। कोई अन्तर या दूरत्व नहीं रहता। अतएव भगवद्दर्शनकी इच्छा विश्वमयी (Universal) है तथा सत्य अर्थात् पारमार्थिकी है। इस इच्छाकी सिद्धि निश्चय ही है। वेद-उपनिषद्-पुराणादि सारे शास्त्र सहस्रों प्रमाण देते हैं; सहस्रों योगी, ऋषि, मुनि ब्रह्मदर्शनके साक्षीके रूपमें विद्यमान हैं। अब प्रश्न यह होता है कि वह दर्शनीय रूपमूर्ति कैसी है? इसका प्रतिप्रश्न यह है कि वह नराकृतिके सिवा और क्या हो सकती है? मनुष्यकी उज्ज्वल और उद्दाम प्रीतिके अनुकूल और अनुरूप जो रूप प्रकाशित होगा, जिसके दर्शनसे प्राणकी सारी कामना, सारी आकाङ्क्षाएँ सफल होंगी, वह चिरकाम्य रूप मानव-भाव-रूपके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। और कुछ कल्पना करना असम्भव है। हमारे प्राण सुधासुरम्य नररूपके सिवा और कुछ नहीं चाहते। फूलके समान रूप, फुल्ल कमलके समान? पक्षीके समान रूप? पीत पक्षी? शुकपक्षी? मयूर? हरिण-शिशु? सुधांशु? इन्द्रधनु?—इनमेंसे किसीसे मानव-प्राणकी तृप्ति नहीं हो सकती। 'अद्वैतमचिन्त्यमनादिमनन्तरूपम्'—इससे हमारा क्या? इससे क्या प्राणकी आकाङ्क्षा पूर्ण हुई? 'आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च'—से चित्त नाच उठा।

"वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षम् । ×× कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभम् । ××आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशीरत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम् ।× श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशम्"—से प्राण-मन मत्त हो गये। जान पड़ा कि यही चिरवाञ्छित रूप है। बोल उठे—केवल यही, और कुछ नहीं चाहिये।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २)

—दर्शन करके हृदयगत शत-शतजन्मोंकी कामनाकी ज्वाला उपशमित हो गयी। प्राण अमृतायमान हो गया। वासनाका अवसान हो गया।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।

ज्ञानके अगण्य आवागमनकी उपच्छाया प्रकाशमें परिणत हो गयी। प्रकाशमें दिव्य प्रकाशरूप प्रकट हो गया। परिपूर्ण आनन्दमूर्ति! 'आकाशशरीरं ब्रह्म' 'विकाशविलासशरीरं ब्रह्म' बन गया। 'सत्यात्मप्राणारामम्' 'मनआनन्दनम्' हो गया। ज्ञान विज्ञान हो गया, भक्ति हो गया, प्रेम बन गया, सौन्दर्य बन गया। तत्त्व रूपायमान, रसायमान हो गया। अमृतमूर्ति हो गया। ज्ञान भक्ति होकर रूपसम्पादन करके ही धन्य होता है। 'नरवपु उसका स्वरूप है'—ज्ञान-विज्ञानके द्वारा यह मन्त्रसाधन करना आवश्यक है।

भगवान्‌का भरोसा

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

(१)

संसारमें मनुष्य सदा सफलताका ही इच्छुक रहता है। वह रात-दिन घनघोर परिश्रम करता रहता है कि विजय-श्रीकी मञ्जुल मुसकानको वह अपनी आँखोंसे निरखे; परंतु संसार बड़ा विचित्र है। उद्योगके साथ-ही-साथ भाग्यका भी इतना प्रभाव रहता है कि उद्योग धूलमें मिल जाता है, सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, बड़े-से-बड़ा भी सहायक असफलताके गर्तमें गिरनेसे बचा नहीं सकता। तब स्वभावतः मनुष्यका चित्त दुखी ही नहीं, उद्विग्न हो उठता है। आगे सिवा घोर अन्धकारके कुछ सूझता ही नहीं। तिसपर परिवारके लोगोंका उपहास तथा परिहास, निन्दा और शिकायत, क्रूर तथा कटु वचन हृदयमें शूलकी तरह चुभने लगते हैं। तब एक बार निश्चय ही मन उस करुणावरुणालयकी ओर अग्रसर होता है, जिसकी कृपाके बलपर पङ्गु भी उच्चतर हिमाचल-की चोटीको पार कर जाता है तथा पाषाण भी तरल समुद्रकी सतहपर तैरने लगता है; परंतु चित्तकी भावना ही स्थिर नहीं रहती। वह स्वयं चञ्चल जो ठहरा, तब उसमें उदित भाव तथा भावनाके टिकनेका ठिकाना कहाँ? कभी भगवान्‌में चित्त रम जाता है तो दूसरे ही क्षण वह उस भव्य मन्दिरसे नीचे उतर आता है और फिर उसी काम-कीचमें, प्रपञ्चके पचड़ेमें उतर जाता है। करे भी तो क्या करे।

मानव है परतन्त्रताका एक दृश्यमान बंडल। वह शरीरसे रोगोंका शिकार है और मनसे सदा परिवर्तनशील जगत्‌के चिन्तनमें व्यस्त है। फलतः वह उभयतः परतन्त्र है, शरीरसे और मनसे वह एकदम पराधीन है। उसके भीतर भी वही चैतन्यकी चिनगारी जलती है। वह स्वयं चैतन्यका अधिष्ठान ठहरा, परंतु वह तो इसकी खबर ही नहीं रखता। 'बूझि-बूझि बुझि जात।' वह समझ-समझकर भी फिर बुझ जाता है—ठीक दीपकके समान, जिसे जलाया तो जाता है अनेक बार, परंतु जो तनिक-सी हवाका झोंका आते ही एकदम बुझ जाता है सदाके लिये। तृष्णा ही वह हवाका झोंका है जो शान्त चित्तको एक बार ही झकझोर देता है। हृदयको तो मणिदीप-के समान निश्चयमें अटल, विश्वासमें निश्चल तथा श्रद्धामें अशान्त बने रहना चाहिये। तब तो किसी प्रकारका झोंका भले ही प्रचण्डरूपमें बहता रहे, परंतु वह मणिदीपको बुझानेमें कथमपि समर्थ नहीं होता; परंतु चित्तदर्पणमें इतनी धूल लगी हुई है, चमकता दर्पण इतना मलिन हो गया है कि उसके भीतर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति ही शेष नहीं रही। तब उस प्रियतमका वह सुन्दर मुखड़ा कहाँसे दिखलायी पड़े। इसीलिये, हे भगवन्! आपसे निरन्तर प्रार्थना है कि अपनी कृपाकी कोरसे इस दीन जनको ऐसे निरखिये कि वह धन्य हो जाय, जीवनकी सफलता पा जाय तथा संसारके थपेड़ोंसे अपनेको बचा सके।

हम अपनेको आस्तिक मानते हैं। भगवान्‌की सत्ता उनका अस्तित्व माननेवाले लोगोंकी संख्या इस संसारमें सबसे अधिक है। भगवान्‌को न माननेवाले व्यक्तियोंकी अर्थात् नास्तिकोंकी संख्या इस जगतीतलपर दालमें नमककी मात्रासे भी कम है। आजका संसार बहुमतका पक्षपाती है। राजनीतिक मामलोंमें बहुमत जिधर होता है, उधर ही सत्यता-की लकीर खिंच जाती है। इसी तथ्यको धार्मिक मामलोंमें निर्णय करनेमें भी लगाइये। जबसे यह संसार चला है, आस्तिकोंकी ही संख्या अधिक रही है। नास्तिक सदा नगण्य रहे हैं। वर्तमान समयमें भी यह सिद्धान्त ठीक है। धार्मिक आचार-व्यवहार तथा कर्मकाण्डके विषयमें लोकरुचि भिन्न हो सकती है और है भी, परंतु जगत्‌के मूलमें एक सर्वशक्ति-मान् चेतनकी सत्ताका प्रतिवाद कोई नहीं करता—न दार्शनिक और न वैज्ञानिक। बहुमतका खण्डन कभी-न-कभी अवश्य होता यदि वह सच्ची बातको संकेतित नहीं करता, परंतु आजतक वह बना हुआ है। उसका पूर्ण तिरस्कार, पूर्ण अवहेलना, सामूहिक अपवाद कभी नहीं हुआ। इसे ईश्वरकी सत्ताका एक व्यावहारिक प्रमाण मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

और भी विचार कीजिये। एक नया प्रमाण रखा जाता है। भगवान्‌की सत्ताका अनुभव कहाँ नहीं होता? जिसको गौरसे देखो, वही उसकी सत्ताको प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है। मुझको सबसे अधिक उसकी ईश्वरता और समर्थता प्रकट करनेके लिये उपयुक्त वस्तु जान पड़ती है मानवशिशुका जन्म। शिशु केवल मांसपिण्ड है, जिसमें कुछ हड्डियोंका ढाँचा बना हुआ है। कितने आश्चर्यकी बात है इस मांसपिण्डका गर्भमें पोषण और भरण। माताका

गर्भस्थान विशेष सँकरी जगह है। उतने ही स्थानमें निवास। पोषणके लिये नाभि-कमलके द्वारा माताके भोजनरसका ग्रहण करना। शरीरको बाह्य आघातोंसे बचानेके लिये उसपर कई तहोंका जमाव। इस विषयमें जितना विचार करता हूँ, उतनी सब आश्चर्योंकी परम्परा किसको चकित और चमत्कृत करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। संसारके लोग कभी-कभी विचित्र और अलोकसामान्य घटनाको देखकर सहसा पुकार उठते हैं कि हमने एक नया अचरज देखा। पर सच तो यह है कि अचरजकी घटनाएँ सदा हुआ करती हैं। आँख रहते भी हम उनका उपयोग इनके समझने और देखनेके लिये नहीं करते। करते होते तो शिशुसे बढ़कर किसी अचंभेको देखनेके लिये कभी लालायित नहीं होते। पर आश्चर्योंमें चूड़ास्थानीय इस घटनाको देखकर मुझे तो इसमें भगवान्‌का हाथ स्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

भरण, पोषण, उत्पादन, गर्भसे बहिर्गमन—इन सब कार्योंमें भगवान्‌का रक्षक हस्त काम नहीं कर रहा है तो कौन कर रहा है? आप इसे प्रकृति या निसर्ग कहकर टाल देंगे; पर वास्तवमें अंधी प्रकृति काम ही क्या कर सकती है, जबतक उसे राह दिखानेके लिये कोई चेतन पदार्थ न हो। अतः मैं तो इसे अंधी प्रकृतिका ही कार्य मानना उचित नहीं समझता। हम इसमें किसी चेतनके हाथको काम करते पाते हैं। फिर भी विशेषता यह है कि माता-पिताके गुण पुत्रमें हूबहू आ जाते हैं। पिताके पैरके टेढ़े होनेकी आशङ्का भी किसीको न थी, पर पुत्रके टेढ़े-मेढ़े विकृत पदने पिताके दोषका उद्घाटन कर दिया। माताकी ठुड्डीके गढ़ोंकी सूचना लड़केके तत्तत् स्थानपर होनेवाले चिह्नने दे दी। पिताकी खल्वाटता पुत्रके माथेपर झलकने लगती है। इस प्रकार कार्यकी कारण-प्रवणता भी एक अचूक नियम सा है, पर इस अचूक नियमके भीतर भी नियन्ताकी असीम शक्तिका पता चलता है। नियमितको देख नियन्ताका अनुमान असम्भव नहीं है। जहाँ भी देखिये नियन्ताकी सूचना मिले बिना नहीं रहती। परम सत्यकी सूचना सर्वत्र मिला करती है।

इस परम सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—पूर्ण भरोसा, पूरा आसरा। भगवान्‌की दयाका भिखारी कौन किस समय नहीं है? कर्मफलकी आशासे जीवन बिताना एक दुरूह व्यापार है। शुभ कर्मका फल अवश्य मिलेगा, यह तो निश्चित है; परंतु अभीष्ट फल-साधनके लिये कितने शुभ-कर्मकी आवश्यकता पड़ती है, इसका निर्णय कैसे हो सकता है। हममें इतना स्वावलम्बन भी नहीं है कि हमारा काम सदा शुद्ध ही निकलेगा, फलप्रद अवश्य ही होगा। यह तो वही कर सकता है, जिसमें अपने कृतित्वपर गाढ़ अभिमान है—पूरा भरोसा है। यहाँ तो उसका सर्वथा अभाव-ही-अभाव है। ऐसी स्थितिमें अपने कर्मोंका विश्वास कौन करे? उनकी फल-सम्पत्ति पानेका मन-मोदक खाकर कौन खाटपर सोया रहे? इसीसे मुझे तो कर्मके भरोसे रहनेका विचार नहीं होता। भगवान्‌के पास अपनी अशक्तता दिखलाते हुए उनकी दयाको पानेकी आवश्यकता है। यदि उनकी कृपा हो गयी तो अपना तो पौ बारह है। दया होगी क्यों नहीं? वे तो दयासागर ठहरे। सागरसे यदि कोई दो-चार बूँद ले ले तो इससे समुद्रका क्या होगा। क्या उसमें कोई कमी होगी? पर बूँद लेनेकी जरूरत नहीं। आकाशमें राकेशका अवलोकन कर वारीशका वारि स्वयमेव बाँसों ऊपर उछलने लगता है।

भक्तके हृदयमें भक्ति-चन्द्रिकाके उदयसे दयासिन्धुमें लहरीका उठना स्वाभाविक है। भक्तके पास यदि प्रेमा-भक्ति विद्यमान है तो भगवान्‌को बरबस अपनी अनुकम्पाका मुँह खोलना पड़ेगा—उसपर लगी मुहरको तोड़ना पड़ेगा। किंतु अपने पास विमल भक्ति-सम्पत्ति हो तब। कर्म और भक्तिके तारतम्य तथा भक्तिकी विशिष्टताका पता लोकस्वभावसे भी हो सकता है। काम करनेवाला मजदूर शामको अपनी मेहनतके अनुसार ही मजदूरी पायेगा। जितना काम, उतनी प्राप्ति। अपने नियमित कार्यसे असीम फल पानेकी सम्भावना नहीं; परंतु यदि किसी मजदूरपर मालिककी दया हो जाय तो उसे मालामाल कर देनेमें उसको कितनी देर लगेगी। पहलेका मजदूर कृपाके भरोसे दूसरे दिन मालिकका हिस्सेदार बन सकता है। इसी प्रकार भगवान्‌के दरवाजेपर बैठकर हमलोग अपने कर्मोंकी परवा न करते हुए केवल उनकी दयाके भिखारी हैं। दरवाजा खटखटा रहे हैं। हल्ला मचा रहे हैं। कभी तो हमारी करुणध्वनि उनके कानमें पड़ेगी। कभी तो उनके हृदयमें दयाका संचार होगा। यदि सौ जन्मके बाद भी ऐसा हो तो इतने दिनोंतक कर्मके पचड़ेमें पच मरनेवालोंसे हम अच्छे न होंगे? इसी आशासे तो भगवान्‌से कहते हैं—'जरा इधर भी रुख फेरिये। कृपा-सुधाकी धारासे मुझे सिक्त कर दीजिये। अबसे सूखे जीवनमें सरसताका सम्पादन कीजिये! व्यर्थ जीवनको सार्थक बनाइये।' हमारा प्रेम सच्चा है, हमारी विनय हृदयसे है। वे जरूर सुनेंगे और दया दिखलायेंगे। यही तो अपने जीवनका सिद्धान्त है।

इसीलिये तो सूरदासने अपने जीवनके लक्ष्यको अपने अन्तिम समयमें इसी भरोसेपर आश्रित रक्खा है—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख-चंद्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ॥१॥
साधन और कछू ना जानैं जातें होय निबेरो ॥२॥
'सूर' कहा कहौं द्विविध आँधरो बिना मोलको चेरो ॥३॥

बोलो दयासागर भगवान्‌की जय !
अशरण-शरण करुणावरुणालयकी जय !

श्रीराधाभावकी 'एक' झाँकी

(श्रीराधाष्टमीके महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका लिखित प्रवचन)

[१ दिनमें]

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी ।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ॥

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश और अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। वे सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वग, अनन्त, विभु हैं। वे सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान् हैं। वे अनन्त शक्तियोंके परमाधार और एकाधार हैं। वे सगुण, निर्गुण, निराकार और साकार हैं। वे ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं, वे ही आश्रयतत्त्व हैं, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'।

वे ही द्विभुज मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर नराकृति परब्रह्म, लीलामय, लीलापुरुषोत्तम, भुवनमोहन श्रीविग्रह हैं। वे विरुद्ध-धर्माश्रय और अपार करुणामय हैं। वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं। वे आनन्द-चिन्मय-रस-समुद्र, रसस्वरूप, आस्वाद्य और आस्वादक, रसिकशेखर हैं। वे अपने असमोर्द्ध नित्य परिवर्द्धनशील सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा विश्वविमोहन सर्वचित्ताकर्षक हैं, सर्वचित्तहर हैं, यहाँतक कि अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर स्वयं ही मुग्ध हो जाते हैं—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।
(श्रीमद्भा० ३ । २ । १२)

अपने ही इस नित्य सौन्दर्य-माधुर्य-रसका समास्वादन करनेके लिये वे स्वयं अपनी ह्लादिनी शक्तिको अथवा आनन्द-स्वरूपको सदा-सर्वदा श्रीराधारूपमें अभिव्यक्त किये हुए हैं। श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णकी ही स्वरूपाशक्ति हैं। वे श्रीकृष्णकी ही अभिन्न स्वरूपा हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीराधाके अभिन्न स्वरूप हैं। इनकी यह रसमधुरलीला सत्य और नित्य है। वस्तुतः लीला तथा लीलामय भी अभिन्न ही हैं। तत्त्व और लीला एक ही स्वरूपकी दो दिशाएँ हैं। तत्त्वमें जो अव्यक्त है, वही लीलामें परिस्फुट है। तत्त्वमें जो बीज है, वही लीलामें विशाल विशद वृक्ष है। दूसरे शब्दोंमें, तत्त्व लीलारूप अक्षय सरोवरका एक जलबिन्दु है। लीला तत्त्वका प्रकट विग्रहरूप है, तत्त्वकी समग्रता ही लीला है। लीलाका निगूढ रहस्य ही तत्त्व है। एक ही परम नित्यानन्द रसब्रह्म तत्त्व नित्य अखण्ड रहकर ही आस्वाद्य और आस्वादक रूपसे दो रूपोंमें अभिव्यक्त होकर लीलायमान है—एक व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और दूसरी वृषभानुदुलारी श्रीराधा। श्रीकृष्ण रसमय हैं और श्रीराधा भावमयी हैं।

रतिकी दृष्टिसे श्रीराधारानी अधिरूढ़ महाभावरूपा परम मधुरा रतिकी मूर्तिमान् सजीव प्रतिमा हैं। मदीया रति यानी 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' यह रति ही गोपीभाव है। इसी भावकी चरम परिणति महाभावस्वरूपिणी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधारानी हैं। मदीया रतिकी इस चरम और परम पूर्णतम परिणतिमें शक्तिमान् श्रीकृष्ण निजस्वरूपाशक्ति श्रीराधारानीके प्रति सोल्लास आत्मसमर्पण करते हैं—'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'। कायव्यूहा—शक्तिरूपिणी व्रजदेवियोंके सहित शक्ति और शक्तिमान्‌का यह नित्य मधुर लीलाविलास ही नित्य महारास है। इस मधुरातिमधुर अनन्त विचित्र महारासकी आत्मा अखिल आनन्द-चिन्मय-रसामृतरूपिणी श्रीराधारानी हैं।

श्रीराधाभावकी साधना जगत्‌के कामराज्यकी वस्तु तो है ही नहीं, उसकी अत्यन्त विरोधिनी है। श्रीराधारानीके स्वरूप तत्त्वका अध्ययन और श्रीराधाभावका साधन कामके कलुषको सदाके लिये धो डालनेवाला है। इतना होनेपर भी, यह शुष्क नहीं है, नीरस नहीं है, चित्तमें खिन्नता उत्पन्न करनेवाला नहीं है, निदारुण निर्वेदजनक नहीं है, यह रसमय है, आनन्दमय है, छविमय है, मधुरिमामय है और मोक्षतिरस्कारी दिव्य भगवद्भावको प्राप्त करानेवाला है। इसमें आत्यन्तिक विषय-विराग है, पर वह भी एक मधुर राग है। प्रेमी साधक इस रागके रसिक होते हैं। महात्मा गोकर्णजीने इसी ओर संकेत करते हुए—'वैराग्यराग

रसिको भव' कहा है। अन्धकाररूप कामका प्रभाव वहींतक है, जहाँतक दिव्य गोपीभाव या राधाभावका निर्मल भास्कर उदय नहीं होता। राधाभावके परमोज्ज्वल रस-साम्राज्यमें कलङ्की कामका प्रवेश ही नहीं है। अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्य-राशि, रोम-रोम-मधुर श्रीकृष्ण जब अपने स्वरूप-सौन्दर्यको देखकर विस्मित और विमुग्ध होते हैं, उस समय उस मुग्धतासे उनकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य श्रीराधारानीमें ही है। इसीसे श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहेऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

ये श्रीराधारानी अनादि हैं, इनका प्राकट्य स्वयं भगवान्‌के प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य रूपमें हुआ करता है। आज इन्हीं सच्चिदानन्दविग्रहा आनन्दांशघनीभूता, आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविता, ह्लादिनीमूर्ति वृषभानुदुलारी श्री-श्रीराधारानीका प्राकट्य-महोत्सव है। यह न कौतुक है, न तमाशा है, न यह मनोरञ्जनकी वस्तु है, न यह काव्यकलाके कल्पना-काननके किसी सुगन्धित सुमनकी कल्पित छाया है। यद्यपि श्रीराधारानी सकल कलाओंकी प्रसविनी हैं, निखिल ललित कलामयी हैं, निर्मल संगीत-सौन्दर्य, कलाविलासकी मूर्तिमान् प्रतिमा हैं, अनन्त विश्वब्रह्माण्डके 'समष्टि मन' रूप भगवान् श्रीकृष्णके मनको मोहित तथा रञ्जित करनेवाली हैं, परम कौतुकमयी हैं, पर इनका यह सभी कुछ दिव्य है। श्रीराधा-रानीके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेवाले परम भाग्यवान् लोग ही इसका अनुभव कर सकते हैं। श्रीराधारानी, उनकी कायव्यूह-रूपा किन्हीं व्रजदेवी अथवा श्रीराधारानीके अभिन्नस्वरूप, उनके नित्य आराध्य और नित्य आराधक श्रीकृष्णकी कृपा-से ही उसमें प्रवेश पाया जा सकता है और उनकी कृपासे ही अनुभूति भी हो सकती है।

राधारानी कौन थीं? उनके साथ श्रीकृष्णका लौकिक-रूपसे क्या सम्बन्ध था, विवाह हुआ था या नहीं—इन सब बातोंपर बहुत आलोचना हो चुकी है और इस विचार-में कोई लाभ भी नहीं है।

आज इस प्राकट्य-महोत्सवके दिन हम सब श्रीवृषभानु-दुलारी कीर्तिदाकुमारीके पावन चरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्त प्रणिपात करके उनसे उनके पवित्र प्रेमकी भिक्षा माँगते हैं।

बोलो! श्रीवृषभानु दुलारी श्रीकीर्तिदाकुमारीकी जय!

[२ रात्रिमें]

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्ति
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

समस्त संसारके प्राणी भोग-सुखकी कामना करते हैं। सभीके मन सदा भोग-लालसासे भरे रहते हैं। मनुष्य दिन-रात इसी चिन्तानलमें जलते रहते हैं कि उनकी भोग-लालसा पूरी हो। इस भोग-कामको लेकर ही जगत्‌के प्राणी निरन्तर दुःखसागरमें डूबते-उतराते रहते हैं। यह भोगकाम मनुष्यके ज्ञानको ढके रखता है। मनुष्य भूलसे भोग-कामको ही प्रेम मान लेते हैं और कामके कलुषित गरल कुण्डमें निमग्न रहकर प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित करते हैं। वस्तुतः काम और प्रेममें महान् अन्तर है। जैसे काँच और हीरा देखनेमें एक-से दिखायी देते हैं, पर दोनोंमें महान् भेद होता है। अनुभवी जौहरी ही असली हीरेको और उसके मूल्यको पहचानते-जानते हैं, इसी प्रकार प्रेमकी पहचान भी किन्हीं विरले भोग-काम-लेश-शून्य प्रेमी महानुभावोंको ही होती है। काम अन्धतम है, प्रेम निर्मल भास्कर है। अंधा मनुष्य अपनेको ही जानता है, दूसरेको नहीं; परंतु कामान्ध पुरुष तो अपना हित भी नहीं देखता। इसीसे कामको 'अन्धतम' कहा गया है। कामका उदय होनेपर विद्वान्‌की विद्वत्ता, त्यागीका त्याग, तपस्वीकी तपस्या, साधुकी साधुता और वैरागीका वैराग्य सभी हवा हो जाते हैं। कामान्ध मनुष्य अपना कल्याण ही नहीं नष्ट करता; सर्वनाश कर डालता है। कामकी दृष्टि रहती है, अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी ओर, और प्रेमका लक्ष्य रहता है ऊर्ध्वतम भगवान्‌के आनन्द-विधानकी ओर। कामसे आत्माका अधःपात होता है और प्रेमसे दिव्य भगवदानन्दका दुर्लभ आस्वादन मिलता है। अतएव काम तथा प्रेम परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। 'काम' और 'प्रेम'का भेद बतलाते हुए श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्णसुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्वत्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्णसुखहेतु करे प्रेमेर सेवन।

अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर ॥

मनुष्यकी कामना जब शरीरमें केन्द्रित होती है, तब उसका नाम होता है 'काम' और जब श्रीकृष्णमें केन्द्रित होती है, तब वही 'प्रेम' बन जाती है।

यह निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा, भोग-सुखकामना जिसकी जितनी कम है, वह उतना ही महान् है; जो निज-भोग-सुखको सर्वथा भूलकर सर्वथा पर-सुखपरायण हो जाते हैं, वे सच्चे महापुरुष हैं और जिनका आत्मसुख सदा-सर्वदा सर्वथा श्रीकृष्णसुखमें परिणत हो जाता है, वे तो महापुरुषोंके द्वारा भी परम वन्दनीय हैं। उनकी तुलना जगत्में कहीं किसीसे होती ही नहीं। श्रीगोपाङ्गनाएँ ऐसी ही कृष्णसुख-प्राणा और सहज कृष्ण-सुख-स्वभावा थीं। वे ही सच्ची प्रेमिकाएँ थीं। इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, स्वजन, आर्यपथ—यों 'सर्वत्याग' करके सदा श्रीकृष्णका सहज भजन करती थीं। जबतक मनमें जरा भी लोक-परलोक, भोग-मोक्ष आदिकी कामना रहती है, तबतक 'सर्वत्याग' हो ही नहीं सकता। 'श्रीकृष्ण-सुखके लिये सर्वत्याग' यही गोपीकी विशेषता है। निज-सुखके लिये लोग बहुत-कुछ त्याग करते हैं, परंतु केवल कृष्णसुखके लिये 'सर्वत्याग' करना केवल गोपीमें ही सम्भव है। वस्तुतः यह 'कृष्णसुख' गोपीप्रेमका स्वरूप लक्षण है और 'सर्वत्याग' तटस्थ लक्षण है।

निज-सुख-कामनाको प्रीतिरसकी 'उपाधि' कहा गया है। गोपीप्रेममें यह उपाधि नहीं है, इसीसे गोपीप्रेमको 'निरुपाधि' प्रेम कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि तो क्या श्रीकृष्णके दर्शनकी भी गोपीजनोंको इच्छा नहीं है? और क्या उनका दर्शन प्राप्त करके भी वे सुखी नहीं होतीं? इसका उत्तर यह है कि निश्चय ही श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णदर्शनके लिये नित्य-नित्य समुत्सुका रहती हैं और निश्चय ही श्रीकृष्णके दर्शनसे उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती है। इतना अधिक सुख उन्हें होता है कि उससे उनके मुखमण्डलपर, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें, उनके रोम-रोममें प्रफुल्लताकी बाढ़ आ जाती है। पर यह सब इसी कारण होता है कि इससे प्रियतम श्रीकृष्णको अपार सुख मिलता है, उनका हृदय एक अभिनव महान् उल्लाससे भर जाता है। 'मुझे देखकर श्रीकृष्णको कितना महान् सुख प्राप्त हो रहा है'—इस अनुभूतिसे प्रत्येक गोपीका सुख-समुद्र उमड़ उठता है और उससे उसके प्रत्येक अङ्गकी और मुखकी कान्ति और भी समुज्ज्वल, सुमधुर हो जाती है। गोपीकी इस परम मधुर आनन्दज्योतिप्रसरित सुखश्रीपर श्यामसुन्दरके नेत्र निर्निमेष होकर गड़ जाते हैं और उनके अन्तरके सुख-समुद्रमें विपुल रूपमें आनन्दकी तरंगें लहराने लगती हैं। श्रीकृष्णका यह परम सुख गोपियोंको पुनः-पुनः श्रीकृष्णके सुख-दर्शनके लिये प्रेरित करता है। 'श्रीकृष्ण-सुखत्वे गोपीसुखत्वं तत्सुखत्वेन पुनः श्रीकृष्णसुखत्वम्'। वस्तुतः श्रीकृष्णसुख ही गोपीका सुख है, स्वतन्त्र सुखानुसंधानकी उसमें कल्पना भी नहीं है। श्रीकृष्ण-आस्वादनजनित सुख भी उसको स्व-तन्त्ररूपसे नहीं होता; कृष्णसुख-परतन्त्र ही होता है।

गोपीका वस्त्राभूषण धारण करना, शृङ्गार करना, खाना-पीना, जीवन धारण करना—सभी सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये हैं। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'अर्जुन! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी रक्षा या देख-भाल इसीलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है।'

गोपी अपने देहकी रक्षा, सार-सँभाल तथा शृङ्गार-सज्जा करती हैं, यह सत्य है। अवश्य ही यह साधन-राज्यमें एक नयी बात है। सभी साधन-क्षेत्रोंमें शरीरकी इतनी देख-भाल साधनमें बाधक मानी जाती है। सभी देहको तुच्छ समझकर देहकी सेवा छोड़ देनेकी सम्मति देते हैं। यह अनोखी प्रणाली तो गोपी-भजनकी ही है, जिसमें देहकी सेवा भी भजनमें सहायक होती है। पुजारी प्रतिदिन पूजाके प्रत्येक पात्रको माँजकर उज्ज्वल करता है और सजाता है। गोपियोंका यह विश्वास तथा अनुभव है कि श्रीकृष्णकी सेवामें जिन-जिन उपचारोंकी आवश्यकता है, उनमें उनका शरीर भी एक आवश्यक उपचार है, इसलिये वे शरीररूप इस पात्रको नित्य उज्ज्वल करके श्रीकृष्ण-पूजाके लिये सुसज्जित करती हैं। पूजाका उपचार वस्तुतः पुजारीकी सम्पत्ति नहीं होती, वह तो भगवान्‌की ही सम्पत्ति है। पुजारी तो उसकी देख-रेख सँभाल-सजावट करनेवाला है। इसी प्रकार गोपियोंके शरीर श्रीकृष्णकी सम्पत्ति है, गोपियोंके ऊपर तो उनके यथायोग्य यत्नपूर्वक सँभाल करनेका भार है। गोपियोंके तन-मन सभीके स्वामी श्रीकृष्ण हैं। शरीरको

धो-पोंछकर वस्त्राभूषणोंसे सजानेपर उसे देखकर श्रीकृष्ण सुखी होंगे, इस कृष्ण-सुख-कामनाको लेकर ही ये प्रातः-स्मरणीया व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णके सेवोपचारके रूपमें अपने शरीरोंकी सावधानीके साथ सेवा करती हैं। यह शरीर-सेवा श्रीकृष्ण-सेवाके लिये ही है। अतः यह भी परम साधन है, प्रेमका एक लक्षण है।

अपने पृथक् सुखसे तो गोपियोंकी सहज ही विरक्ति है। एक दिन एक गोपी श्रीकृष्णकी सेवामें लगी थी, इससे उसे बड़ा आनन्द मिला और उस आनन्दके कारण उसमें प्रेमके विकार अश्रुपात, कम्पन, जडता आदि उत्पन्न हो गये। इस प्रेमानन्दसे क्षणकालके लिये सेवानन्दमें बाधा आ गयी। बस, गोपीको बड़ा क्रोध आ गया। आनन्दपर क्रोध! यहाँ यह क्रोध वस्तुतः उस सेवानन्दजनित प्रेमानन्दपर नहीं है, यह आनन्दजनित विकारपर है; क्योंकि इस प्रेमविकारने सेवानन्दमें बाधा उपस्थित कर दी।

गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिबाष्पपूर्वाभिवर्षणम्।
उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना॥

कमलनयना गोपियोंने आँसू बरसानेवाले प्रेमानन्दकी उच्चस्वरसे निन्दा की।

गोपीगीतमें श्रीगोपियाँ गाती हैं—

यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं, उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर बहुत डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर वनमें भटक रहे हो। कंकड़-पत्थर आदिके आघातसे उनमें क्या पीड़ा नहीं होती? हमें तो इसकी सम्भावना मात्रसे ही चक्कर आ रहा है। श्रीकृष्ण! हमारे श्यामसुन्दर! प्राणप्रियतम! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये ही जी रही हैं, हम तुम्हारी ही हैं।

इस श्लोकमें आये हुए शब्दोंपर गहराईसे ध्यान देनेपर तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. गोपियाँ अपनी विरह-व्यथासे जितनी व्यथित हैं, उससे कहीं बहुत अधिक पीड़ा उनको इस विचारसे हो रही है कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलको चोट लगेगी।

२. गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णका चरणस्पर्श प्राप्त करके महान् सुखको प्राप्त होती हैं, परंतु उस सुखमें प्रियतमके सुखको नहीं भूल जातीं; गोपियोंको अपने सुखका विरोधी भय लगा रहता है, इसीसे वे डरती-डरती धीरे-धीरे हृदयपर धारण करती हैं।

३. गोपियोंके हृदयोंपर चरण रखनेसे श्रीकृष्णको भी सुख ही होता है, पर उस सुखमें भी गोपियोंको यह शंका हो जाती है कि कहीं कोमल चरणकमलोंको चोट न लग जाय।

गोपियोंमें इसीलिये सहज ही निज सुखका अनुसंधान नहीं है। उनकी शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और संकल्प श्रीकृष्णसुखके लिये ही होते हैं, इसीसे उनका 'सर्वत्याग' स्वाभाविक है। गोपियोंमें 'सर्वत्याग'की भी विचार-बुद्धि नहीं है। 'हमारे सर्वत्यागसे श्रीकृष्ण सुखी होंगे'—इस प्रकारके विचारसे वे सर्वत्याग नहीं करतीं। उनमें श्रीकृष्णसुखकामनाकी कर्त्तव्य-बुद्धि भी नहीं है। श्रीकृष्णके प्रति सहज अनुराग ही यह सर्वत्याग कराता है, यह तो गोपियोंका सहज स्वभाव है, उनका स्वरूपभूत लक्षण है। उनकी प्रत्येक क्रिया सहज ही श्रीकृष्णसुखके लिये होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २१)

'गोपियो! इसमें संदेह नहीं कि तुमलोगोंने 'मदर्थ—मेरे लिये' लोकमर्यादा, वेद-मार्ग और अपने स्वजनोंका भी त्याग कर दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न चली जाय, मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये परोक्षरूपमें तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं यहीं छिप गया था।'

भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः॥

'मेरा मन ही गोपियोंका मन है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं और 'मदर्थ—मेरे लिये' उन्होंने देहके सारे लौकिक कार्य त्याग दिये हैं।'

इसी प्रकार गोपियोंको अपने दुःखका भी अनुसंधान नहीं है। उनका महान् दुःख भी, यदि श्रीकृष्णके सुखका

साधन है तो उनके लिये ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर सुखरूप है। श्रीकृष्ण थोड़ी ही दूरपर मथुरामें रहे, पर उनकी इच्छाके प्रतिकूल गोपियोंके मनमें कभी मथुरा जाकर श्रीकृष्णसे मिलनेकी कल्पना भी नहीं आयी। असह्य दुःखमें भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना वे कैसे करती हैं—इसका एक उदाहरण देखिये। व्रजसे मथुरा जाते समय श्रीराधाने हँसकर उद्धवसे कहा—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद् गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

'उद्धव! यद्यपि श्रीकृष्णके गोष्ठमें पधारनेसे हमें बड़ा सुख होता है, परंतु यदि इसमें उनकी जरा भी क्षति हो तो वे कभी न पधारें और मथुरा नगरीसे यहाँ न आनेसे यद्यपि हमें बड़ी भारी पीड़ा होती है, परंतु यदि इसमें उनके चित्तमें सुखका उदय होता हो तो वे सदा वहीं निवास करें।'

इससे सिद्ध है कि गोपीमें 'निज-सुख-काम' का सर्वथा सहज ही अभाव है। श्रीकृष्ण-सुख ही उनका सर्वस्व है, स्वभाव है, जीवन है।

इसीसे श्रीकृष्ण गोपियोंके नित्य ऋणी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह सिद्धान्त घोषित किया है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' 'जो मुझको जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।' इसका यह तात्पर्य समझा जाता है कि भक्त जिस प्रकारसे तथा जिस परिमाणके फलको दृष्टिमें रखकर भजन करता है, भगवान् उसको उसी प्रकार तथा उसी परिमाणमें फल देकर उसका भजन करते हैं—सकाम, निष्काम (मुक्तिकाम), शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य आदिकी जिस प्रकारकी कामना-भावना भक्तकी होती है, भगवान् उसे वही वस्तु प्रदान करते हैं; परंतु यहाँ गोपियोंके सम्बन्धमें भगवान्‌के इस सिद्धान्त-वाक्यकी रक्षा नहीं हो सकी। इसके प्रधान कारण तीन हैं—१. गोपीके कोई भी कामना नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण उसे क्या दें। २. गोपीके कामना है केवल श्रीकृष्णसुखकी, श्रीकृष्ण इस कामनाकी पूर्ति करने जाते हैं तो उनको स्वयं अधिक सुखी होना पड़ता है। अतः इस दानसे ऋण और भी बढ़ता है। ३. जहाँ गोपियोंने सर्वत्याग करके केवल श्रीकृष्णके प्रति ही अपनेको समर्पित कर दिया है, वहाँ श्रीकृष्णका अपना चित्त बहुत जगह बहुतसे भक्तोंके प्रति प्रेमयुक्त है। अतएव गोपी-प्रेम अनन्य और अखण्ड है, कृष्णप्रेम विभक्त और खण्डित है। इसीसे गोपीके भजनका बदला उसी रूपमें श्रीकृष्ण उसे नहीं दे सकते और इसीसे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

गोपियो! तुमने मेरे लिये घरकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं सदा तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही, प्रेमसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

प्रेममार्गी भक्तको चाहिये कि वह अपनी समझसे तन, मन, वचनसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको श्रीकृष्णसुखके लिये ही करे। जब-जब मनके प्रतिकूल स्थिति प्राप्त हो, तब-तब उसे श्रीकृष्णकी सुखेच्छाजनित स्थिति समझकर परम सुखका अनुभव करे। यों करते-करते जब प्रेमी भक्तका केवल श्रीकृष्ण-सुख-काम अनन्यतापर पहुँच जाता है, तब श्रीकृष्णके मनकी बात भी उसे मालूम होने लगती है। गोपियोंके 'श्रीकृष्णानुकूल जीवन' में यह प्रत्यक्ष है। उनके जीवनको श्रीकृष्ण अपना सब कुछ बना लेते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'गोपियाँ मेरी सहाय, गुरु, शिष्या, भोग्या, बान्धव, क्या हैं। अर्जुन! मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं अर्थात् सब कुछ हैं। अर्जुन! मेरी महिमाको, मेरी सेवाको, मेरी श्रद्धाको और मेरे मनके भीतरी भावोंको गोपियाँ ही जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।'

श्रीकृष्णसुखगतजीवना, श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णगत-निष्ठित-मति गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य ।
कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य ॥
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार ।
कृष्ण-सुख हेतु करे संगम-विहार ॥
आत्मसुखदुःख गोपी ना करे विचार ।
कृष्ण-सुख हेतु करे सब व्यवहार ॥
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग ।
कृष्णसुखहेतु करे शुद्ध अनुराग ॥

यह गोपीस्वरूपकी एक छोटी-सी झाँकीकी छायामात्र है। इन गोपियोंमें सर्वशिरोमणि हैं वृषभानुदुलारी श्रीराधाजी। गोपियाँ श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं। गोपियोंका परम आदर्श और परम सेव्य श्रीराधामें ही निहित है। श्रीराधारूपी दर्पणमें ही श्रीकृष्णका पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है और वह दर्शन भी श्रीकृष्णको ही होता है। दर्पणका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है; क्योंकि दर्पण केवल प्रतिबिम्बको—छायाको ग्रहण करता है, परंतु प्रेमीका प्रेमभरा हृदय तो बिम्बको—मूल वस्तुको ही ग्रहण करता है। प्रेमीके हृदयमें परम प्रियतम श्रीकृष्णके रूपकी छाया नहीं पड़ती, वहाँ तो वे स्वयं सदा सुखपूर्वक निवास करते हैं। वाल्मीकिजीने स्थाननिर्देश करते हुए भगवान् श्रीरामको उनके नित्य निवासके लिये निज घर बतलाया था—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

प्रेमका रूप बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद् भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

ध्वंसका कारण समुपस्थित होनेपर भी जो ध्वंस नहीं होता, जो कभी रुकता, घटता और मिटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेमकी ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता होती है, त्यों-त्यों उसमें नये-नये रूपोंका आविर्भाव होता रहता है। रसशास्त्रमें उन्हींको विभिन्न नामोंसे बतलाया है। प्रेम प्रगाढ़ होते-होते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावका स्वरूप प्राप्त करता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरा रतिमें भी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्णता है। मधुरा रति अत्युत्कृष्ट है। इसमें अनुरागकी बड़ी वृद्धि होती है। यही अनुराग प्रगाढ़ होकर 'भाव' तथा 'महाभाव' बन जाता है। जैसे मधुरा रतिमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य चारों रतियोंका समावेश रहता है, वैसे ही 'महाभाव' में भी स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भाव सम्मिलित रहते हैं।

'राग' की स्थितिमें श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी सम्भावना होनेपर असीम और भयंकर-से-भयंकर दुःखमें भी सुखकी प्रतीति होती है। तीव्र प्रेम-पिपासाके कारण इष्ट वस्तुमें होनेवाली परमाविष्टताका नाम ही 'राग' है। इसी रागकी परिपक्वता होनेपर 'अनुराग' होता है। अनुरागमें श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिक्षण नया-नया दिखायी देता है। जितना ही देखा-सुना जाता है, उतना ही अनुराग बढ़ता है और जितना अनुराग बढ़ता है, उतनी ही रूपकी नव-नवरूपता बढ़ती चली जाती है।

श्यामसुन्दरमें नित्य नव-सौन्दर्यका दर्शन करनेवाली एक गोपी दूसरी नयी गोपीसे कहती है—

सखी री ! यह अनुभवकी बात ।
प्रतिपल दीखत नित नव सुंदर, नित नव मधुर लखात ॥
छिन छिन बढ़त रूप गुन माधुरि, छिन छिन नूतन रंग ।
छिन छिन नित नव आनँद धारा, छिन छिन नयी उमंग ॥
नित नव अलकनि की छबि निरखत अलि-कुल नित नव लाजै ।
नित नव सुकुमारता मनोहर अंग अंग प्रति राजै ॥
नित नव अंग सुगंध मधुर अति मनहिं मत्त करि डारत ।
नित नव दृष्टि सुधामयि जनके ताप असेष निवारत ॥
नित नव अरुनाई अधरनि की नित नूतन मुसुक्यान ।
नित नूतन रस-सुधा-प्रबाहिनि मधु मुरली की तान ॥
नित नूतन तारुन्य, ललित लावन्य नित्य नव बिकसै ।
नित नव आभा बिबिध बरन की पिय के तनु तें निकसै ॥
कछुवै होत न बासी कबहूँ नित नूतन रस बरसत ।
देखत देखत जनम सिरान्यो, तऊ नैन नित तरसत ॥

अनुरागकी पूर्ण परिणति या निःसीमता महाभावकी समीपवर्तिनी प्रेमकी स्थितिका नाम 'भाव' है। भावकी पराकाष्ठा ही 'महाभाव' है। महाभाव सूर्यके सदृश है। सूर्य-के दो स्वभाव हैं—जिसके साथ सूर्यका सम्पर्क होता है, उसके अन्धकारका नाश कर देना और अपनी शुभ किरण-मालासे उसे स्नान करा देना। इसी प्रकार 'महाभाव' भी भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे जिसके हृदयमें उदित हो जाता है, उसके हृदयमें अनादिकालसे स्थित 'स्वसुखतात्पर्य' रूप अन्धकारको वह सदाके लिये हर लेता

है और निज सम्बन्धी जनमात्रके भीतर-बाहरको नित्य परमानुरागमय बना देता है।

महाभावकी 'रूढ़' और 'अधिरूढ़' दो अवस्थाएँ हैं। महाभावकी जिस अवस्थामें सात्त्विक भाव उदीप्त हो उठते हैं, उसे 'रूढ़' महाभाव कहते हैं। गोपी-प्रेममें इस रूढ़ भावकी अभिव्यक्ति होती है। यह 'रूढ़ महाभाव' श्रीकृष्णकी पटरानियोंके लिये अति दुर्लभ है। यह तो केवल व्रजदेवियोंके द्वारा ही संवेद्य है, व्रजसुन्दरियोंमें ही सम्भव है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः ।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ॥

जिसमें रूढ़ भावोक्त समस्त अनुभावोंसे सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उसे 'अधिरूढ़' महाभाव कहते हैं। श्रीराधा इस अधिरूढ़ महाभावकी घनीभूत प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। श्रीराधाके प्रेमका नाम ही 'अधिरूढ़ महाभाव' है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णके मिलन और विरहजनित सुख और दुःखोंका साथ-ही-साथ अतुलनीय रूपमें उदय होता है।

इस 'अधिरूढ़ महाभाव' के दो प्रकार हैं—'मोदन' और 'मादन'। 'मोदन' महाभाव श्रीकृष्णमें भी होता है। श्रीराधारानीकी विरह-व्याकुल स्थितिको भी 'मोदन' या 'मोहन' कहते हैं। 'मोहन' अवस्थाको दिव्योन्माद भी कहा जाता है। 'मादन' महाभाव श्रीराधाकी ही एकमात्र सम्पत्ति है। ह्लादिनी शक्तिकी परिपूर्ण परिणति ही 'मादन' है। इसमें श्रीराधारानी नित्य अनवच्छिन्न मिलनानन्दका अनुभव करती हैं।

श्रीकृष्णके नित्य नवीन माधुर्यके प्रादुर्भावका कारण श्रीराधा ही हैं। श्रीराधाका दुर्लभ प्रेम श्रीकृष्णकी अप्रतिम माधुर्यराशिको सर्वतोभावसे केवल ग्रहण ही नहीं करता, ग्रहण करके वह उस माधुर्यको और भी विशेषरूपसे उज्ज्वल तथा अनवरत उज्ज्वलतर करता रहता है। श्रीकृष्ण-माधुर्यके नित्य नवीनत्वकी प्रकाशभूमि है श्रीराधाकी नित्य-वर्धनशील उत्कण्ठा। श्रीराधाका प्रेम विभु होकर भी नित्य वर्धनशील है और श्रीकृष्णका माधुर्य नित्य वस्तु होकर भी नित्य नवायमान है। श्रीकृष्णका सांनिध्य ही श्रीराधा-प्रेमकी वर्धनशीलता है और श्रीराधाका सांनिध्य ही श्रीकृष्ण-मधुरिमाकी नित्य नवायमानता है। यह महाभावकी लीला अनन्तकालतक चलती ही रहती है। श्रीकृष्णनिष्ठ मधुरिमा और श्रीराधानिष्ठ उत्कण्ठा दोनों ही असीम और अनन्त हैं। श्रीराधारानी श्रीकृष्ण-माधुरीका आस्वादन नित्य निरन्तर सम्पूर्णरूपसे करती रहती हैं, तो भी उस माधुर्यका कहीं अन्त तो आता ही नहीं। वह उत्तरोत्तर अपने मधुर स्वरूपमें तथा परिमाणमें बढ़ता ही रहता है और श्रीराधाकी माधुर्यास्वादनकी पिपासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

यह 'राधाकृष्ण' का नित्य विहार अनादिसे अनन्तकालतक नित्य निरन्तर चलता ही रहता है। श्रीराधाभाव दिव्यातिदिव्य प्रेम-माधुर्य-सुधा-रसका एक अगाध अनन्त असीम महासमुद्र है। उसमें नित्य नयी-नयी अनन्त दिव्य अमृतमयी मधुरिमा तथा महिमामयी अनन्त वैचित्र्यमय महातरंगें उठती रहती हैं। यह आजका राधाभावका दिग्दर्शन भी राधाभाव-महासागरकी किसी एक तरंगका सीकर मात्र है। प्रातः-स्मरणीय आचार्यों तथा प्रेमी महात्माओंने उनके जो विभिन्न रूपोंके दर्शन और वर्णन किये हैं, वे सभी सत्य हैं। श्रीराधाके असीम तथा अनन्त महिमामय स्वरूप तथा तत्त्वकी, उनके आनन्द और प्रेमकी, उनके श्रीकृष्णमिलन और विरहकी व्याख्या मुझ-सरीखा तुच्छ जीव कैसे कर सकता है? उनकी एक-एक तरंगमें अनन्तकालतक निवास तथा विचरण किया जा सकता है।

यों श्रीराधा कृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान्‌का आनन्द-स्वरूप ही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं, श्रीराधा कृष्णकी आराधिका हैं, उनकी भक्ता हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी हैं, विश्वमयी हैं, विश्वस्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमाया हैं, दैवी माया हैं, निजमाया हैं। श्रीराधा कृष्णकी शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा कवियोंकी काव्य-सामग्री हैं। श्रीराधा सबकी आराध्या हैं, श्रीराधा अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं।

मेरे एक राधा नाम अधार ॥
काउ देखत 'निज रूप' ब्रह्मपर निराकार अविकार।
कोउ करि निज तादात्म्य आत्म महँ जो सम सर्वाधार॥

कोउ द्रष्टा देखत प्रपंच जिमि मिथ्या स्वप्न-विकार ।
कोउ निरखत नित दिव्य ज्योति हिय परम तत्व साकार ॥
कोउ कुंडलिनी कौं जाग्रत करि षट्चक्रनि करि पार ।
पहुँचत सिखर सहस दल ऊपर जोग सिद्धि को सार ॥
कोउ अनहद धुनि सुनत दिवस निसि अजपा जाप सँभार ।
कोउ निष्काम कर्म रत जोगी, कोउ नित करत विचार ॥
कोउ कमलापति, कोउ गिरिजापति नाम रूप उर धार ।
भक्त-कल्पतरु राम कृष्ण कोउ सेवत अति सत्कार ॥
हौं जड़मति अति मूढ़ हठीलो नटखट निपट गँवार ।
राधे राधे रटौं निरंतर मानि सार को सार ॥

बोलो श्रीवृषभानुदुलारी कीर्तिदाकुमारीकी जय !

भारतीय अर्थशास्त्रकी आधारभित्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्दजी सरस्वती, एम्० ए०)

अर्थ्यते—प्रार्थ्यते काम्यते लोकसुखविवृद्ध्या इति अर्थः—लोक-सुख-विवृद्धिके लिये जिसकी कामना की जाती है, उसे अर्थ-संज्ञा दी जाती है। 'शास्यतेऽनेनेति शास्त्रम्, शासनाच्छास्त्रं वा'—जिससे शासन किया जाय, वह शास्त्र; अथवा शासन करनेवाला होनेसे 'शास्त्र' कहलाता है।

अर्थशास्त्र मानव-समाजकी व्यष्टि-समष्टिगत उन चेष्टाओं-का पर्यालोचन करता है, जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धि और उपभोगसे है। एतावता अर्थशास्त्र धन और तद्विषयक मानवीय वासनाओं, संकल्पों और उद्योगों आदिका अध्ययन करता है। धनका अभिप्राय व्यक्त करनेवाला लोकप्रचलित शब्द 'सम्पत्ति' भी है। 'सम्पद्यत इति सम्पत्तिः'—जो प्राप्त की जाती है, वह सम्पत्ति है। यह इसका प्रकृति-प्रत्ययजन्य अर्थ हुआ। अर्थ-शास्त्र अपनी सीमामें आनेवाले मानवीय संकल्पोंकी सूक्ष्म आलोचना किये बिना कोई उपयोगी नियम निर्धारित नहीं कर सकता; क्योंकि मनुष्यकी लक्ष्यनिष्ठ सभी चेष्टाओंका उद्गमस्थान संकल्प है। 'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते'—जैसा संकल्प होता है, मनुष्य वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। चेष्टाकी संकल्प-मूलकता लोकसिद्ध है। उक्त श्रुतिने उसका अनुवादमात्र किया है।

समष्टिगत चेष्टाएँ समाजके द्वारा ही सम्भव हैं, अतः अंशतः सामाजिक संकल्प भी अर्थशास्त्रके लिये विचारणीय बन जाते हैं। 'समाज' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'अज्' धातुसे घञ्-प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। तात्पर्य—'वीतिः गतिः प्रगतिः उन्नतिः सम्यग्रूपेण क्रियते जनैर्यस्मिन् स समाजः।' जिसमें रहकर मनुष्य सम्यक् रूपसे अपनी प्रगति अर्थात् उन्नति करते हैं, उसे समाज कहते हैं। लगभग इस अर्थमें 'समुदाय' शब्दका भी प्रयोग कर सकते हैं। यह 'सम्' और 'उत्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'इण्' धातुसे घञ्-प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्तिसे 'समुदाय' शब्दका अर्थ हुआ ऊपर उठनेका साधन। समाजका व्यापक अध्ययन अर्थशास्त्रका विषय नहीं; पर इतनी बात अवश्य है कि 'शास्त्र' संज्ञा सार्थक करनेके लिये अर्थशास्त्रके लिये समाजके मुख्य प्रयोजनसे अविरुद्ध आर्थिक नियमोंका अनुसंधान करना अभीष्ट होगा।

प्राणी—विशेषतः मनुष्य जिस मूल प्रेरणासे अनन्त प्रकारकी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होता है, वह है दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति। अतः सुख और दुःखके स्वरूप और विशेषताओंको भी संक्षेपसे समझ लेना उपयोगी होगा। प्रथम अवलोकनपर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख और दुःखको उत्पन्न करनेवाले अनन्त पदार्थ हैं, परंतु उनके पारस्परिक विभेदोंसे तज्जन्य सुख या दुःखमें कोई तात्त्विक भेद उत्पन्न नहीं हो जाता। अर्थात् सुख या दुःख चाहे जिस हेतुसे उत्पन्न हों, हेतुकी विलक्षणतासे उनमें कोई वैलक्षण्य उत्पन्न नहीं होता। सुख-दुःखकी मात्रामें तारतम्य हो सकता है, पर स्वरूपमें भेद सम्भव नहीं। इसलिये लोक-व्यवहारमें भी 'अधिक दुःख', 'दुःखलेश', 'अपार सुख', 'लवमात्र सुख' इत्यादि मात्राकी न्यूनाधिकता व्यक्त करनेवाले शब्द ही पाये जाते हैं—स्वरूप-भेद-द्योतक शब्द नहीं। तैत्तिरीयोपनिषद् और बृहदारण्यकमें मर्त्यलोकके सुखसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सुखमें मात्राभेदका दिग्दर्शन कराकर आत्मसुखका लक्ष्य करानेके लिये कहा गया है कि उस आनन्दसिन्धुकी एक बिन्दुमें ही ब्रह्मलोकपर्यन्तके सब सुख हैं।

सुख-दुःखकी यह भी विशेषता है कि ये स्वयं तो किसी-न-किसीके विषय हैं पर इनका विषय कोई नहीं। जैसे सुख इच्छाका विषय और दुःख द्वेषका विषय है, पर सुख-दुःखका विषय कोई इतर पदार्थ नहीं। फिर भी पुरुषका सुखमें राग और दुःखमें द्वेष स्वभावसिद्ध है। लोकके जितने व्यवहार हैं, वे सब सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारके लिये ही हैं। अतः प्राप्ति और परिहारविषयक प्रवृत्ति निर्हेतुक प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति हेतुमूलक है, वह हेतुका अपनयन करके रोकी जा सकती है; पर निर्हेतुक प्रवृत्ति प्रवृत्तके अस्तित्वको समाप्त किये बिना नहीं रोकी जा सकती। ऐसी स्थितिमें उस प्रवृत्तिकी धाराको सर्वकल्याणकारी मार्गसे प्रवाहित होने देना ही सर्वथा उचित है। अन्यथा उच्छृङ्खल प्रवाह प्रथम दूसरोंको और अन्ततोगत्वा अपने प्रवर्तकको ही पीड़ित करेगा।

सुख-दुःखकी मात्रामें तारतम्य है, यह बात ऊपर कह चुके हैं। अधिक मात्रामें सुख और कम मात्रामें सुख—इन दोके बीचमें यदि मनुष्यको एकका चुनाव करना हो तो अन्य परिस्थितियोंके समान रहते हुए मनुष्य अधिक मात्रा-वाला सुख ही पसंद करेगा। इसी प्रकार अधिक मात्रामें दुःख और कम मात्रामें दुःख, इन दोमेंसे एक-न-एकको स्वीकार करना अनिवार्य हो तो अन्य परिस्थितियोंके समान रहते हुए मनुष्य कम मात्रावाला दुःख ही स्वीकार करेगा। एक प्रकारका साधन अपनानेसे यदि सुखोपलब्धि अधिक मात्रामें होती है और दूसरे प्रकारका साधन अपनानेसे कम मात्रामें, तो ऐसी स्थितिमें दोनों साधनोंको अपनानेका अधिकार और योग्यता रहते हुए प्रभावशालिनी बाधाके अभावमें मनुष्य अधिक सुखके साधनका ही अवलम्बन करेगा। परंतु यदि अधिक सुखके साधनकी प्राप्ति उद्योग करनेपर भी तत्काल या निकट भविष्यमें उसके लिये शक्य न हो और कम सुखके साधनको अपनानेमें उसके नैतिक विचारोंका प्रबल विरोध न हो तो वह अधिक सुखके साधनको छोड़कर अल्प सुखके साधनमें अवश्य ही प्रवृत्त हो जायगा।

अपने अस्तित्वमें सुख-बुद्धि और विनाशमें दुःखबुद्धि सभी प्राणियोंमें तुल्य है। अतः अस्तित्वकी साधकसामग्रियोंकी उपलब्धि भी सुखनिमित्तक ही है। विनाश रोकनेके लिये जो उपाय किये जाते हैं, वे दुःखके परिहारके लिये ही हैं।

विभिन्न पदार्थों और प्राणियोंकी चेष्टाओंमें अन्य-अन्य दृष्टियोंसे चाहे अगणित भेद क्यों न हों, पर सुख-दुःखके उत्पादकके रूपमें वे केवल न्यूनाधिक मात्राएँ ही हैं। अर्थात् सभी पदार्थ और चेष्टाएँ भोक्तृगत वैलक्षण्यके अनुसार सुख या दुःखमें परिणत होकर भिन्न परिमाणरूप ही हैं।

सभी चेष्टाएँ संकल्पमूलक ही हुआ करती हैं। मनुका स्पष्ट वचन है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

इसलिये किसी भी प्रकारकी चेष्टाओंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उनके मूल संकल्पोंका अध्ययन करना अनिवार्य है। विचार करके देखा जाय तो मनुष्यका एक ही मूल संकल्प है, जो देश-कालके भेदसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी पड़ता है। वह संकल्प है—दुःखका मूलोच्छेद और सुखकी अखण्ड उपलब्धि करना।

अर्थशास्त्र एकाकी इस संकल्पकी पूर्ति करानेमें असमर्थ है। वह इसकी पूर्तिके सकल साधनोंपर विचार न करके केवल आर्थिक साधनोंपर ही विचार करता है। अन्य सब शास्त्र भी इसी संकल्पकी पूर्तिके साधनोंपर प्रकाश डालनेमें तत्पर हैं, अतः अर्थशास्त्र उनका विरोधी न बनकर उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अपनेको अधिकतम उपयोगी बना सकता है। यदि यह बात सत्य है तो अर्थशास्त्रको अन्य शास्त्रोंद्वारा सुनिर्णीत सिद्धान्तों और नियमोंका भरपूर उपयोग करना पड़ेगा। भारतीय अर्थशास्त्रकी यही विशेषता है कि यह धर्मके साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अग्रसर होता है।

अमुक पदार्थ सुखद है या दुःखद है, व्यवहारमें इसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग पाया जाता है। पर विचारकी कसौटीपर कसकर देखा जाय तो वस्तु या चेष्टा साक्षात् सुखद या दुःखद नहीं। भोक्ताकी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करनेपर ही वह सुखद कही जा सकती है। दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सकता है कि वासनाका उपशान्त होनेपर स्वतःसिद्ध सुखका जो अनुभव होता है, उसका सम्बन्ध उस वस्तुसे मान लिया जाता है। इसी प्रकार कोई वस्तु या चेष्टा साक्षात् दुःखद भी नहीं है। अवाञ्छित फल उत्पन्न करने अथवा वाञ्छित फलमें बाधा डालनेपर ही वह दुःखद मानी जाती है। आवश्यकताएँ—चाहे वे शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी कोटिकी हों—

परिवर्तनशील हैं। शिक्षा, आदर्श, रहन-सहन, जीविकोपार्जनकी प्रणाली आदि बातोंमें परिवर्तन आनेपर आवश्यकताओंमें भी परिवर्तन हो जाता है। पुरानी आवश्यकताएँ आवश्यकताओंकी कोटिसे बाहर हो जाती हैं। एतावता उनकी पूर्ति करनेवाले पदार्थ भी सुखद नहीं रह जाते। सुखके साधन होनेके नाते ही पदार्थोंकी चाह की जाती है। जब मनुष्य अपने अनुभव और बुद्धिके आधारपर उनमें सुखसाधनता नहीं समझता, तब उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता। इसीलिये जो वस्तु किसी कालमें बहुमूल्य मानी जाती है, कालान्तरमें परिस्थिति बदल जानेके कारण वही अकिंचित्कर हो जाती है।

शारीरिक आवश्यकताएँ प्रायः सीमित हैं और सुविधापूर्वक पूरी की जा सकती हैं। संकोच-विकासशीलता (Elasticity) उनमें अति न्यून है। परंतु मानसिक आवश्यकताएँ अत्यन्त संकोच-विकासशील और निस्सीम हैं।

आवश्यकताके प्रति एक दृष्टिकोण और हो सकता है। अभावकी अनुभूतिसे भिन्न आवश्यकता नामका कोई पदार्थ नहीं। किसी वस्तुकी प्राप्तिकी चाह होना ही उसकी आवश्यकता है। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी चाह ही सम्भव है। प्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी चाह तो एक असंगत शब्द-योजना है। वस्तुका अप्राप्त होना ही उसका अभाव है। ज्ञात अभाव ही अभावकी अनुभूति है। अतः कहा जा सकता है कि अभावकी अनुभूति और आवश्यकता दोनों एक ही पदार्थ हैं।

अभाव वासना-सापेक्ष ही संगत कहा जा सकता है। अर्थात् कोई वासना हो और यत्पदार्थविषयक वह वासना है, उसकी उपलब्धि जिस कालमें न हो, उसी कालमें यह कथन संगत हो सकता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है या उसका अभाव है। जिसकी वासना ही नहीं, उसका भावाभाव दोनों निरर्थक हैं। अभावकी अनुभूतिको सरलताके लिये अभाव ही कह लें। आवश्यकता या अभाव वासनाके समकाल ही हुआ करते हैं।

जीवनोपयोगी—न्यूनतम वस्तु-सम्बन्धी वासनाओंको छोड़कर शेष सभी वासनाएँ अध्यात्मज्ञानसे भली प्रकार शान्त की जा सकती हैं। वासनाकी शान्तिमें ही सुख है, यह दिखाया जा चुका है। अभीप्सित पदार्थके उपभोगसे भी वासनाकी शान्ति होती है और अध्यात्मज्ञानसे भी। अन्तर यह है कि पदार्थके उपभोगसे क्षणिक शान्ति होती है, कालान्तरमें वह वासना पुनः जाग्रत् होती है। ज्ञानसे शान्त हुई वासना सर्वदाके लिये शान्त हो जाती है। उपभोगकी एक विशेषता यह है कि उससे अन्तःकरणमें भोगके संस्कार पड़ते हैं और ये संस्कार भोग-वासनाको और बलवती बनाते हैं। भोग-वासना जितनी बलवती होगी, अतृप्त रहनेपर वह उतनी ही अधिक मात्रामें व्यक्तिको दुखी करेगी। अधिकांश यही देखा जाता है कि जितना-जितना भोग किया जाता है, भोग-तृष्णा उतनी-ही-उतनी बढ़ती जाती है और एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि भोग्य पदार्थकी उपलब्धिमें थोड़ा भी विलम्ब असह्य हो जाता है। अतः भोगजन्य सुख क्षणिक और अनेक दोषदूषित होता है। इसी अभिप्रायसे परम दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥

'जो इन सब विषयोंको प्राप्त कर लेता है और जो इन सबका त्याग कर देता है, उनमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवालेकी अपेक्षा त्याग करनेवाला ही उत्तम है।'

इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके लिये शारीरिक या बौद्धिक श्रम और अपेक्षित समय अवश्य ही लगाने पड़ेंगे। अकस्मात् उपलब्ध पदार्थ इसका अपवाद अवश्य है, पर इससे उक्त नियममें कोई दोष नहीं आता। अभीष्ट पदार्थके भोगद्वारा सुखानुभूति करनेमें दो प्रधान दोष हैं—प्रथम तो यह कि भोगसे क्षणिक तृप्ति तो चाहे हो जाय, पर भोग-लालसा उसी प्रकार वृद्धिंगत होती है जैसे वह्निकी ज्वाला घृताहुतियोंसे। भोग-लालसा जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-ही-वैसे अशान्ति, अतृप्ति और मानसिक वेदना भी बढ़ती जाती है। इसलिये अनियन्त्रित दशामें भोगमार्ग अपने प्राथमिक प्रयोजनको ही नष्ट कर देता है। भोगमार्गका द्वितीय प्रधान दोष यह है कि भोग-सुख-सम्पन्न जनोंके प्रति भोग-सुख-विरहित जनोंके अन्तःकरणोंमें यह प्रायः विद्वेषाग्नि प्रज्वलित करता है। इस प्रसङ्गमें भोगका अर्थ विलासिता समझना चाहिये। शास्त्रोक्तरीत्या शारीरिक, बौद्धिक श्रम और समयका सदुपयोग करके मनुष्य विषय-वासनाको भी क्षीण कर सकता है। ज्ञानके साधनोंको अपनाकर ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। शरीर-मन-बुद्धिकी चेष्टा और अपेक्षित समय चाहिये दोनोंके लिये—पदार्थकी प्राप्तिके लिये भी और ज्ञाननिष्ठाके लिये भी। ये सब मनुष्यको प्रकृतिसे ही प्राप्त हैं। अतः जो इन प्रकृतिदत्त साधनोंसे क्षणिक और अनेक-

दोष-दूषित भोग-सुखका त्याग करके वासना-क्षयरूप निर्मल निष्कलङ्क शाश्वत सुखकी प्राप्ति करता है, वह उत्तम क्यों न माना जाय ?

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धिकी अपेक्षा वासना-क्षयके मार्गमें सुख अधिक है। अधिक सुखकी ओर व्यक्तिकी रागतः प्रवृत्ति है। अतः न्यायतः पुरुषकी प्रवृत्ति भौतिक सुख-साधन-संग्रह-की ओर न होकर ज्ञानप्राप्तिकी ओर होनी चाहिये। परंतु ऐसा देखा नहीं जाता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

'कहीं सहस्रोंमें कोई एक ज्ञानप्राप्तिके लिये यत्न करता है।' नहीं तो ९९९ सुखके भौतिक साधनोंकी प्राप्तिके लिये व्यग्र दिखायी देते हैं। इसका कारण क्या है ? यह बात हम कह चुके हैं कि यदि अधिक सुख-साधनकी उपलब्धि उद्योग करनेपर भी तत्काल या निकट भविष्यमें शक्य न दिखायी देती हो और न्यून सुखके साधनोंको अपनानेमें अपने नैतिक विचारोंका प्रबल विरोध न हो तो उसीमें व्यक्ति-की प्रवृत्ति हो जायगी। ज्ञानके साधन अति कठिन होनेके कारण सहस्रोंमें किसी विरलेको ही आकृष्ट कर पाते हैं। भौतिक सुख-साधन अपेक्षाकृत सुलभ होनेके कारण पूर्वापेक्षा आकर्षक होते हैं।

इस प्रसङ्गमें यह भी स्मरणीय है कि सभी प्रकारकी प्रवृत्तियोंके मूलमें उनके सजातीय संस्कार होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके आकर्षण-केन्द्र भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। इस भिन्नताका हेतु उनके संस्कारोंकी भिन्नता ही है। मनुष्योंके संस्कारोंका विश्लेषण करके देखा जाय तो पता चलेगा कि अधिकांश जनोंके अन्तःकरण त्यागकी अपेक्षा भोगके संस्कारोंसे ही अधिक संस्कारित हैं। संस्कारोंके अनुरूप मार्गसे चलनेमें स्वाभाविक ही सुगमता जान पड़ती है। इसीलिये मानव-समाजकी बहुत बड़ी संख्या आत्मसुखकी अपेक्षा अकिञ्चित्कर होनेपर भी भौतिक सुखके पीछे ही दौड़ रही है। यह दौड़ रोकी नहीं जा सकती। इसी रहस्यमें अर्थ-शास्त्रकी उपादेयता संनिहित है।

त्याग और भोग तेज-तिमिरवत् परस्पर विरुद्ध हैं। पर विशेषता यह है कि दोनों ही सुखोपलब्धिके हेतु हैं। प्रत्येकसे प्राप्त होनेवाले सुखोंमें तारतम्य भले ही हो पर प्रकार-भेद नहीं है। मनुष्यके सामने यदि विवशता न हो तो वह नित्य-निरतिशय सुखसे कम किसी भी स्थितिको स्वीकार नहीं कर सकता। अल्पमात्रिक और अल्पकालिक सुखकी अपेक्षा अधिकमात्रिक और चिरकालिक सुख मनुष्य पसंद करता है, यदि अन्य परिस्थितियाँ समान हों। यह सर्वसाधारण अनुभव है और इसी अनुभवसिद्ध नियमका युक्तिपूर्ण निष्कर्ष है कि मनुष्यकी अन्तिम अभिलाषा नित्य-निरतिशय सुख प्राप्त करनेकी है। भोगजन्य सुख अनित्य और सातिशय ही देखा जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि अर्थशास्त्र कितनी भी पूर्णता प्राप्त कर ले, वह मनुष्यकी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

दूसरी ओर त्याग-मार्गसे यदि वासनाक्षय सम्भव है तो वासनाजालसे मुक्त होनेपर नित्य-निरतिशय सुखकी प्राप्ति युक्तिसंगत दिखायी देती है; क्योंकि वासनाका अतृप्त रहना ही दुःख है और उसका उपशम सुख। अनुभवका विश्लेषण करके देखा जाय तो प्रत्येक बार सुखका आविर्भाव वासना-तिरोधानका समकालिक होता है। अर्थात् जितने कालतक वासना तिरोहित रहती है, उतने ही कालतक सुखकी अनुभूति होती रहती है। यदि किन्हीं प्रतिबन्धोंसे अभिलषित वस्तुका उपभोग करनेपर भी वासना तिरोहित न हो तो अतृप्ति और सुखाभावकी चेतना उपस्थित रहती है। निष्कर्ष यह निकला कि सुख और वासना परस्पर विपरीत स्थितिवाले हैं। जहाँ वासना उपस्थित है तो सुख अनुपस्थित है और सुख उपस्थित हुआ है तो वासना अनुपस्थित है। इसलिये यदि सर्वकालके लिये वासना-जाल किसी भी उपायसे छिन्न-भिन्न किया जा सके तो उसी उपायसे नित्य-निरतिशय सुख प्राप्त किया जा सकता है। अध्यात्मशास्त्रोंके वचन और ज्ञानीजनोंके अनुभव यह विश्वास दिलाते हैं कि शास्त्रोक्त विधिना निवृत्तिमार्गके अनुशासनका यथावत् पालन करते हुए वासना-जालसे छुटकारा हो सकता है।

निवृत्तिपरक शास्त्र मनुष्यकी जिस अभीष्ट सिद्धिका विश्वास दिलाते हैं, वह अर्थशास्त्रद्वारा सम्भव नहीं—यह सोपपत्ति कह चुके हैं। जीवन-सम्बन्धी अनिवार्य आवश्यकताओं को छोड़कर सुखके लिये मनुष्यकी शेष चेष्टाएँ अर्थशास्त्रके अध्ययनक्षेत्रमें तभी अवतरित होती हैं, जब वह आध्यात्मिक उपायोंका अवलम्बन करनेमें अपनेको असमर्थ देखता है। यदि उस मार्गपर चलनेकी सामर्थ्य उसे प्राप्त हो सके तो वह इसे अपने जीवनकी सफलता मानेगा और इस सफलतासे प्रसन्न होगा। यदि यह सत्य है तो अर्थशास्त्रकी अधिक

उपादेयता भौतिक सुख-सामग्रियोंकी उपलब्धि और उपभोगका ऐसा मार्ग प्रशस्त करनेमें है, जिसपर चलता हुआ मनुष्य सुखेन नित्य-निरतिशय सुखके साधनोंकी योग्यता सम्पादन कर सके। भारतीय अर्थशास्त्रकी यही विशेषता है।

चिरंतन सुख प्राप्त करानेका दावा अर्थशास्त्र नहीं करता और चिरंतन सुखोपलब्धि ही मनुष्यका मुख्य इष्ट है। मुख्य इष्टका हनन करके अवान्तर इष्ट प्राप्त करानेवाला कोई भी उपाय मनुष्य विचारपूर्वक ग्रहण नहीं कर सकता। अतः कोई भी अर्थशास्त्र जो ऐसे नियम-उपनियम प्रस्तुत करता है जो मुख्य इष्टका घात करनेवाले हैं, चाहे वह कितना ही आपात-रमणीय हो, निष्पक्ष विचार करनेपर ग्रहणीय सिद्ध नहीं होता। तब जिस उपायसे चिरंतन सुख प्राप्त किया जा सकता है उसके साथ अर्थशास्त्रको सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ेगा। धर्मचिन्तन सुखको प्राप्त करा देनेका दावा करता है। यदि उसका दावा मानने योग्य है तो धर्मके साथ अर्थ-शास्त्रका समन्वय हो जाना सर्वथा उचित ही है। धर्मके सम्बन्धमें प्रधान दो मत प्रचलित हैं। एक मत आस्तिकोंका है और दूसरा नास्तिकोंका। आस्तिकोंका विश्वास है कि अधर्म-परिवर्जनपूर्वक धर्मानुष्ठानका जो फल धर्मशास्त्रोंमें बतलाया गया है, वह किसी भी प्रकार असत्य नहीं हो सकता। नास्तिकोंका कथन है कि धर्म ढकोसला है। मार्क्सके मतानुसार तो वह अफीमकी गोली है, जो तथाकथित शोषित-वर्गको अचेतनताकी अवस्थामें रखकर शोषण-तन्त्रको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये है। दोनों पक्षोंसे अपने-अपने समर्थनमें प्रभूत युक्तियाँ और उपपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पर इतना स्पष्ट है कि धर्मके अस्तित्व और शक्तिका खण्डन करनेवाले नास्तिकोंके तर्क और प्रमाण असंदिग्ध एवं अकाट्य नहीं हैं।

नास्तिकोंके सारे तर्क दृष्टिमें रखते हुए भट्टवार्तिक, न्यायकुसुमाञ्जलि आदि आस्तिक ग्रन्थोंका मनन करनेसे उक्त कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

अर्थशास्त्रको दोमेंसे एक मार्ग अवश्य चुनना है। या तो वह धर्मानुकूल मार्ग अपनाये या धर्मका अतिक्रमण करता हुआ चले। ऐसी स्थितिमें लोक-न्यायसे भी अर्थशास्त्रको धर्मके साथ समन्वय करते हुए चलना लाभप्रद होगा।

एक दृष्टान्त देकर सुस्पष्ट करें। मान लीजिये आप एक अपरिचित देशमें पहुँच गये। वहाँ एक व्यक्ति आपसे कहता है कि यदि आप यहाँपर अमुक प्रकारका आचरण करेंगे तो इस देशके नियमानुसार दण्डके भागी होंगे और परिणामतः चिरकालतक भीषण यातना भोगनी पड़ेगी। वहीं खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'यह धूर्त है, झूठ बोलता है; इसकी बात मत मानो।' तब आप क्या करेंगे? सम्भावित और बुद्धिमत्ताका मार्ग यही होगा कि आप प्रथम व्यक्तिके कथनानुसार चलें। इस प्रकार चलनेसे आपको न केवल यातनासे छुटकारा मिलेगा अपितु विपुल लाभ भी होगा।

इसीलिये भारतीय अर्थशास्त्र धर्मद्वारा निषिद्ध क्षेत्रोंमें पादक्षेप नहीं करता। 'अर्थशास्त्राद्धि बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः'—अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् है। याज्ञवल्क्यस्मृतिका यह निर्णय भारतीय अर्थशास्त्रीको मान्य है। प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री कौटिल्यने भी इस सिद्धान्तको अपने अर्थशास्त्रका आधार बनाया है। आगे हम इस बातपर प्रकाश डालेंगे। धार्मिक निर्णयोंको अपनी सीमा स्वीकार करना ही भारतीय अर्थशास्त्रकी सबसे बड़ी विशेषता है।

कहा जा चुका है कि वासनाकी शान्तिमें ही सुख है और वासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति बिना आत्मज्ञानके हो नहीं सकती। इसलिये बिना आत्मज्ञानके दुःखकी यथार्थ निवृत्ति कथमपि सम्भव नहीं। श्वेताश्वतर-उपनिषद्की एक श्रुति विशिष्ट शैलीसे इसी अभिप्रायको व्यक्त करती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

जब मनुष्य चर्मवत् आकाशका वेष्टन करनेमें समर्थ होंगे, तभी आत्मतत्त्वके विज्ञानके बिना भी दुःखोंका अन्त हो जायगा। अतः शाश्वत सुखका मार्ग संक्षेपसे यह हो सकता है कि जीवनका लक्ष्य विषय-भोगको न बनाकर धर्माचरण-पुरस्सर तत्त्व-जिज्ञासाको बनाना चाहिये। स्वस्थ और संतुष्ट जीवन उसकी अनिवार्य पूर्वस्थिति (Imperative Precondition) है। इसलिये जीवन-रक्षा, स्वास्थ्य और न्याय एवं चित्तप्रसादके लिये धर्माविरुद्ध विषयोंका सेवन करना चाहिये। विषयोंकी उपलब्धिके लिये अर्थ अपेक्षित है। अतः उचित और आवश्यक समय धर्माविरुद्ध अर्थोपार्जनमें भी लगाना चाहिये।

यहाँ एक विरोध दिखायी देता है, जिसका परिहार आवश्यक है। जीवनकी स्वाभाविक गति विषयोंकी ओर है और तत्त्वज्ञान विषयोंसे मुख मोड़े बिना खपुष्पसे देवाराधन

करनेके तुल्य अशक्य है। तो क्या जीवनकी स्वाभाविक गतिमें बाँध लगाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करना सम्भव है? जीवनकी इस प्रातीतिक स्वाभाविक गति और तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके बीचकी खाईको पाटनेके लिये धर्म सेतुका काम करता है, जिसका अवलम्बन करके व्यक्ति इस किनारेसे उस किनारेपर पहुँच सकता है। धर्मका विरोध न भोगसे है न तत्त्वज्ञानसे प्रत्युत दोनोंके साथ उसका सामञ्जस्य है। धर्म भोगका बहिष्कार नहीं करता, केवल उसे मर्यादित करता है। अमर्यादित भोग भोक्ताके लिये हितकर भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'भोगे रोगभयम्'—लोककी सुनिश्चित अनुभूति है। तब यदि मर्यादा माननी ही है तो धर्मकी ही मर्यादा क्यों न स्वीकार कर ली जाय? निष्काम धर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञानकी क्षमता आती है और यह क्षमता आते ही अभी जो विषयोंकी ओरसे मुख मोड़ना असम्भव-सा दिखायी देता है, फिर अनायास शक्य हो जाता है। इसलिये चिरंतन सुखके मार्गके साथ यदि अर्थशास्त्रको समन्वय करना अभीष्ट है तो धर्मको अपनानेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। भारतीय अर्थशास्त्रके धर्म-नियन्त्रित होनेका यही हेतु है।

शङ्का की जा सकती है कि भारतीय अर्थशास्त्रके सम्बन्धमें इतना विचार-विमर्श किया जा रहा है तो क्या वस्तुतः भारतीय अर्थशास्त्र-जैसी कोई वस्तु है भी या लेखकके मनकी कल्पनामात्र है? अर्थशास्त्रके नामपर केवल कौटिल्यका ही ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसे आधुनिक युगकी दृष्टिसे अर्थशास्त्र कहना तो अधिक समीचीन न होगा। उस ग्रन्थसे वर्तमान आर्थिक समस्याओंका समाधान भी नहीं होता। तब हम आर्थिक क्षेत्रमें निरर्थक भारतीयताका राग क्यों अलापें? पाश्चात्त्य मनीषियोंद्वारा सम्यक् विचारपूर्वक सुनिबद्ध अर्थशास्त्रको ही क्यों न अपना लें, जिससे आजकी सभी समस्याओंका हल भी निकल आता है?

यह सत्य है कि पाश्चात्त्य विचारकोंने सामाजिक विज्ञान (Sociology) की एक शाखाके रूपमें अर्थशास्त्रको जिस प्रकार एक क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें उपस्थापित किया है, उस प्रकार भारतीय विचारकोंने इस दिशामें कोई प्रयास नहीं किया। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसा कोई प्रयास करनेके लिये यहाँ आधार नहीं। सर्वविदित है कि भारतीय जीवन चार पुरुषार्थोंकी प्राप्तिमें ही पूर्णता मानता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके स्वरूप और साधनोंपर प्रकाश डालनेमें तत्पर कहा जाता है। इसी अभिप्रायसे महाभारत, शान्तिपर्वमें धर्मराज युधिष्ठिर बाण-शय्यापर पड़े हुए गाङ्गेय भीष्मसे हितकी बात जाननेके लिये कहते हैं—

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत। 'भरतश्रेष्ठ! वेद धर्म, अर्थ और कामका ही कथन करते हैं।' यद्यपि मोक्ष भी वेदोंमें विहित है, फिर भी 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्यायके अनुसार अधिकांश श्रुतियाँ धर्म-अर्थ-कामपरक होनेके कारण वैसा कहा गया है—इतिहास-पुराणके कर्ता महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास स्वयं ही कहते हैं कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

'इतिहास और पुराणोंके द्वारा वेदका ही उपोद्बलन किया गया है।' तो जैसे वेद बाहुल्येन धर्म-अर्थ-कामका ही व्यपदेश करते हैं, वैसे ही इतिहास और पुराण भी अधिकांशमें इन्हींपर प्रकाश डालते हैं। शुक्र, बृहस्पति, नारद, कणिक, कामन्दक आदिके नीतिग्रन्थोंमें भी इसकी पर्याप्त सामग्री है। अतः पाश्चात्त्य ढंगके क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें भारतीय अर्थशास्त्र भले ही उपलब्ध न हो, पर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, इतिहासों और नीतिग्रन्थोंमें भी इसकी पर्याप्त सामग्री है। अतः पाश्चात्त्य ढंगके क्रमबद्ध विज्ञानके रूपमें भारतीय अर्थशास्त्र भले ही उपलब्ध न हो पर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, इतिहासों और नीतिग्रन्थोंमें भी तद्विषयक प्रभूत सामग्री इतस्ततः विकीर्ण है। कौटिल्यने भी इसी आधारभित्तिपर अपने कालकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओंका हल उपस्थित किया है। उसी आधारभित्तिपर हम अपने समयकी समस्याओंका हल ढूँढ़ सकते हैं।

अर्थविषयक इतनी पुष्कल सामग्री भारतीय शास्त्रोंमें विद्यमान है कि उसे भारतीय अर्थशास्त्रकी संज्ञा देना कथमपि अनुपयुक्त नहीं। जो यह कहा गया है कि पाश्चात्त्य मनीषियोंद्वारा सम्यक् विचारपूर्वक सुनिबद्ध अर्थशास्त्र ही हम क्यों न अपना लें, जिससे आजकी सभी समस्याओंका हल भी निकल आता है, तो इसका उत्तर यह है कि उपयोगी कोई भी पदार्थ अपनानेमें हमें हिचक नहीं—यदि वह धर्मकी मर्यादाओंके ढाँचेमें सटीक बैठ जाता है; क्योंकि यह पूर्व ही दर्शाया जा चुका है कि अर्थशास्त्रकी अधिकतम उपादेयता धर्मके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेमें है। यदि आर्थिक समस्याओंके अभारतीय हलोंका धर्मके साथ असामञ्जस्य है तो उन्हें अपनानेकी अपेक्षा उक्त आधारभित्तिपर नये हल ढूँढ निकालना अधिक उपयुक्त होगा। प्रायः अभारतीय हल भारतके लिये ज्यों-के-त्यों अपनाने योग्य नहीं हैं; इसलिये और भी विशेष रूपसे भारतीय अर्थशास्त्रकी आधार गर्भित भित्तिका विवेचन अनिवार्य हो गया है।

भारतीय ईमानदारी

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'हमें सम्राट्के दर्शन होंगे ?' यात्रीका प्रश्न उचित था। उसके अपने देशमें सम्राट्का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। सामान्य जनकी तो बात ही दूर, मध्यवित्त पुरुषके लिये भी वे भेंटें एकत्र कर लेना सरल नहीं जो सम्राट्के सम्मुख पहुँचनेवाले प्रत्येक नवीन व्यक्तिको, जो सम्राट्से पहले-पहल मिल रहा हो, ले जानी आवश्यक हैं। 'मेरे पास केवल ये दो माणिक्य और एक पद्मराग है।'

'आप निश्चिन्त रहें ! भारतके सम्राट्का दर्शन अलभ्य कभी नहीं रहा है।' जो मार्गदर्शक साथ था उसने बतलाया—'वे प्रजाके पिता हैं और प्रत्येक प्रजाजन उनसे उसी सरलतासे मिल सकता है जैसे पुत्र अपने पितासे। आप तो अतिथि हैं। आपने सुना नहीं कि अतिथि भारतमें पूज्य होता है—सम्राट्के लिये भी पूज्य।'

'लेकिन मेरी भेंट·····!' यात्रीको विश्वास नहीं हो रहा था। उसके अविश्वासका कारण था। वह चीनका निवासी है; किंतु अपने सम्राट्के दर्शन उसे अब हुए—केवल इसलिये हुए कि वह भारतकी यात्रा करने जा रहा था। उसके सम्राट्ने उसका सम्मान किया इसलिये कि वह भारतके सम्राट्का दर्शन कर सकेगा। भारतका सम्राट्—जिसका नाम लेकर चीनका राजराजेश्वर सात बार घुटनोंके बल झुक पड़ा—कितना महान् होगा वह।

'आप भेंटकी बात क्यों सोचते हैं ? भारतको अतिथिका सौहार्द अपेक्षित है, उपहार नहीं।' परंतु सहसा मार्गदर्शक गम्भीर हो गया—'हम भारत पहुँच पायेंगे या नहीं, प्रश्न इतना ही है।'

'क्यों ?' यात्रीने भी पथ-प्रदर्शकके साथ आकाशकी ओर देखा। उसने एक दीर्घ श्वास ली। आकाश एक कोनेसे कपोतकर्बुर मेघोंसे ढकता जा रहा था। इसका अर्थ था कि हिमपात प्रारम्भ होनेवाला है।

'हम आशा नहीं कर सकते कि और तीन दिन हिमपात नहीं होगा !' पथ-प्रदर्शकने हताश भावसे कहा—'आगे बढ़नेका अर्थ आप समझ सकते हैं। यदि आप आज्ञा दें तो हमारे घोड़ोंमें अभी इतनी शक्ति है कि हम पिछले मठतक लौट जायँ। मार्ग इतना देखा है कि हिमपात प्रारम्भ भी हो गया तो हम भटकेंगे नहीं। शीतकाल हमें अब इस प्रदेशमें ही व्यतीत करना है।'

यात्री बिना कोई उत्तर दिये घोड़ेसे उतर पड़ा। उसने इधर-उधर देखा और समीपकी एक पहाड़ीपर चढ़ गया। मार्गदर्शकने केवल इतना देखा कि ऊपर जाकर वह घुटनोंके बल झुक गया है और बार-बार भारतकी ओर मुख किये अभिवादन कर रहा है।

'सर्वदर्शी तथागत साक्षी हैं, मैं भारत-सम्राट्का उपहार भारतीय सीमामें रख आया हूँ।' यात्री थोड़ी ही देरमें लौट आया—'अब हम लौट सकते हैं। भाग्य अनुकूल रहा तो मैं अवश्य भारत जाऊँगा; किंतु सम्राट्के उपहार लेकर मैं लौटूँ और मठमें·····नहीं, यह मुझसे नहीं हो सकता।'

'आपका अनुमान सत्य है। यह पहाड़ी भारतीय सीमामें है।' मार्गदर्शकने बतलाया—'हिम यदि अपने साथ न ले जाय तो कोई मनुष्य आपके उपहारोंको स्पर्श भी नहीं करेगा। भारतीय सम्पत्ति छूनेका साहस सुदूर मरुभूमिके दस्युओंमें भी नहीं है।'

× × ×

'देव ! मैं इस योग्य नहीं हूँ।' उत्तरापथके वणिक्-प्रधान उपस्थित हुए थे आज स्थाण्वीश्वरमें। उन्होंने

इस बार केवल कुछ शैलेय, कस्तूरिका और उत्तम मृग-चर्म सम्राट्के सम्मुख उपहारमें रक्खे, इससे सभासदों-को आश्चर्य हुआ। ये मणियोंका अम्बार लगा देनेवाले उत्तरापथ-प्रधान—किंतु उससे अधिक आश्चर्य तब सभासदोंको हुआ जब सर्वथा अप्रत्याशित भावसे सम्राट्-ने उठकर वह उपहार स्वयं स्वीकार किया और प्रधान मन्त्रीको न देकर पार्श्वरक्षकको आदेश दे दिया कि ये वस्तुएँ उनके पूजा-कक्षमें रख दी जायँ। किसीका उपहार आराध्यकी सेवामें अर्पित करें सम्राट्, इतना सम्मान पहिली बार दिया उन्होंने इनको और अब तो आश्चर्यकी सीमा हो गयी सभासदोंकी। ये प्रधान महोदय सम्राट्के संकेत करनेपर भी अपने सदाके निश्चित आसनको स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

'आप मेरी भूल क्षमा करें। सचमुच आप उस हीन आसनके योग्य नहीं हैं।' सम्राट् खड़े हुए और उन्होंने हाथ पकड़कर उत्तरापथके प्रधानको अपने सिंहासनके समीप—देशके गौरवभूत सम्मान्य जनोंके लिये निश्चित आसनोंमेंसे एकपर बैठा दिया।

'श्रीमान् मेरी प्रार्थना·····!' प्रधानके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे। वे गद्गद कण्ठसे बोलते उठने लगे आसनसे।

'प्रार्थना पीछे सुनी जायगी। पहले आप इस अपने सम्राट्को क्षमा कर दें।' सम्राट्ने उन्हें न उठने दिया और न बोलने ही दिया। 'उत्तरापथमें भयानक हिमपात हुआ। वहाँके प्रजाजन गृहहीन हो गये। उनके पशु आखेट हो गये हिमके। उनकी अपार क्षति हुई और अपनेको क्षत्रिय कहलानेवाला, देशकी रक्षाका उत्तर-दायित्व लेनेवाला वहाँ पहुँचतक नहीं सका। क्या हो गया जो आरण्य-दस्युओंका उसे प्रतिरोध करना था। देशकी विस्तृत सीमाको वह एक साथ सम्हाल नहीं सकता तो उसे सिंहासनपर बैठे रहनेका अधिकार क्या है? उत्तरापथकी प्रजाकी उपेक्षा करनेवाला वहाँका सम्राट् कैसे कहला सकता है?'

'श्रीमान्की प्रजा निरुपद्रव है। स्थाण्वीश्वरका प्रताप प्रकृतिके कोपपर भी विजयी है।' प्रधानने सम्राट्के हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'प्रजाका ऐसा कोई क्षति नहीं जिसकी क्षति-पूर्ति न कर दी गयी हो। सब गृह पूर्ववत् आमोदपूर्ण हैं और उत्तरापथका प्रत्येक जन पशुओंको वनमें ले जानेसे पूर्व श्रीमान्की मङ्गल-कामना करता है।'

'यह सब जिसकी कृपासे हुआ, जिसने सम्राट्के लिये अपना सर्वस्व लुटा दिया, वह आज कहाँ है।' सम्राट्का स्वर भरा हुआ था—'वह महीने वन्य कन्दमूलपर अपने शिशुओंको और अपनेको जिला रखता है। सम्राट्ने उसकी कोई सुधि नहीं ली और उसे विवश होकर निर्लज्ज सम्राट्के समीप स्थाण्वीश्वर उपस्थित होना पड़ा।'

'सम्राट्! सम्राट्!' चिल्ला उठा उत्तरापथका वह वृद्ध केसरी—'मैं और नहीं सुन सकूँगा!' उसके ललाटपर पसीनेकी बूँदें चमकीं और नेत्रोंकी धारा चल ही रही थी।

'आप पहले मुझे क्षमा करें!' सम्मुख खड़े होकर सम्राट्ने हाथ जोड़े।

'किसीको—आपको भी अधिकार नहीं है स्थाण्वीश्वरके सिंहासनकी मर्यादा नष्ट करें! विराजमान हों!' सुपुष्ट दीर्घदेह पर्वतीय प्रधानने सम्राट्को सिंहासनपर बैठनेके लिये बाध्य किया। 'मैंने कुछ नहीं किया जो स्तुत्य हो। हिमपातसे पशु गृह नष्ट हुए। प्रकृतिके कोपको सह लेनेके अतिरिक्त उपाय क्या था। मेरे पास जो कुछ था, वह मेरे के पाससे ही आया था। आकाशसे तो मेरे घर गिरता नहीं था। जिनका द्रव्य था, अवसरपर उन सेवामें लगा देनेकी सद्बुद्धि मुझमें आयी, यह पुण्यकीर्ति सम्राट्का प्रताप।'

'श्रीमान् ! मुझे मेरी बात कह लेने दें !' सम्राट् कुछ कहते जा रहे थे, उन्हें प्रधानने रोक दिया। 'पर्वतीय जीवन ही कन्द-मूलपर व्यतीत करनेका जीवन है, किंतु मेरी जो आर्थिक स्थिति है, उसमें उत्तरापथका वणिक्-प्रधानपद स्थाण्वीश्वरके गौरवको देखते मेरे अनुरूप नहीं है। मेरे निश्चित आसनपर अब कौन बैठेगा, यह स्थाण्वीश्वरके सम्मान्य सभासद् निर्णय करेंगे; किंतु मैं एक प्रार्थना लेकर आया हूँ।'

'आपका आसन आपके कुमार भूषित करेंगे अबसे !' राज्यके महामात्यने तनिक हँसकर घोषणा कर दी। सभासदोंका समर्थन मिल गया एक हर्षोन्मत्त जयध्वनिसे। 'आपको सम्राट्ने जो आसन दिया है, उसपर बैठकर प्रार्थना नहीं की जा सकती—आदेश दिया जा सकता है।'

'हिमपात प्रारम्भ हो गया था। मैं त्रिविष्टप सीमान्त देख नहीं सका। अब पता लगा है कि सीमान्तके अरुणा शिखरपर कोई यात्री अपने दो माणिक्य और एक पद्मराग छोड़ गया है।' प्रधानने अपनी बात सुनायी—'वह जीवित है या नहीं, पता नहीं है। रत्न वहाँसे हटा लेनेपर वह आवे तो निराश लौट सकता है। वहाँ रहने दें तो गलते हुए हिम, वन्यपशु आदि उन्हें रक्षित रहने देंगे—संदिग्ध है।'

'आप उन रत्नोंकी रक्षाके लिये अपने दो कुमार उस निर्जन, वनस्पतिशून्य प्रदेशमें छोड़ आये हैं।' सम्राट्को अपने इतने विस्तृत देशके सुदूर प्रान्तकी इस नन्ही-सी बातका भी पता है, यह जानकर वृद्ध प्रधान भी चौंक पड़े। किंतु सम्राट्ने कहा—'आप उन रत्नोंको स्थाण्वीश्वर भेज दें। वहाँ एक बड़ा पाषाण-खण्ड गड़वा दें यह शिला-लेख अङ्कित करके कि 'जिनके रत्न हैं, वे स्थाण्वीश्वर पधारनेकी कृपा करें। रत्न सुरक्षित हैं।'

'मैं मुक्त हुआ—श्रीमान्की कृपा !' पर्वतीय प्रधानने हाथ जोड़े।

'आप स्थाण्वीश्वरसे इच्छानुसार प्रस्थान करनेके लिये भी मुक्त हैं।' सम्राट्के अधरोंपर स्मित आया—'किंतु स्थाण्वीश्वरके महामान्य सभासदोंके गौरव-रक्षणकी जो व्यवस्था राज्य करे, उसमें बाधा उपस्थित करनेके लिये आपको कोई स्वतन्त्रता कभी नहीं रहेगी।'

इसके साथ सम्राट्ने महामन्त्रीकी ओर देखा। यह आदेश था—'आज उत्तरापथके वणिक्-प्रधान स्थाण्वीश्वरके महामान्य सभासद् बना दिये गये हैं। उनके गौरवके उपयुक्त वस्त्र, आभरण, वाहन तथा उनके गृहपर भेजनेके लिये उपयुक्त द्रव्यकी व्यवस्था हो जानी चाहिये।' महामन्त्रीने भी केवल मस्तक झुकाकर मूक स्वीकृति सूचित कर दी थी।

× × ×

'ऊपर आओ ऊपर !' चीनी यात्री ग्रीष्मके मध्यमें लौटा। वह सीमान्तपर पहुँचकर रुका और मार्गदर्शकको नीचे छोड़कर पहाड़ीके ऊपर चढ़ गया, किंतु ऊपर पहुँचकर वह पुकारने लगा मार्गदर्शकको।

'यह क्या है ? क्या लिखा है इसपर ? मैंने ठीक यहीं अपने तीनों रत्न छोड़े थे।' मार्गदर्शकको पुकारकर उसने बताया, यद्यपि मार्गदर्शक इतने पास आ गया था कि धीरेसे बोलना ही पर्याप्त था।

'यह शिला-लेख है।' मार्गदर्शकने पढ़ा शिला-लेख—'तुम्हारे रत्न स्थाण्वीश्वरके कोषमें सुरक्षित हैं। भारतके देवोपम सम्राट्ने इस शिलालेखमें प्रार्थना की है कि तुम अवश्य उनके अतिथि बनो।'

'वे मुझे जानते हैं ! सम्राट् मुझे जानते हैं !' चीनी-यात्री तो हक्का-बक्का हो रहा।

'यह भारतभूमि है। इसमें तुम्हारे रत्न रह गये तो उन्हें सम्राट्तक पहुँचना था ही और अब यदि तुम

सम्राट्से मिलना न भी चाहो तो वे तुमसे मिल लेंगे।' मार्गदर्शकने श्रद्धाभरे स्वरमें कहा—'मैं नहीं जानता कि सम्राट् सर्वज्ञ हैं या नहीं; किंतु तुम शीघ्र देख लोगे कि उन्हें ज्ञात हो जायगा कि उनकी भूमिमें चुपचाप रत्न रख जानेवाला उनकी सीमामें आ गया है।'

मार्गदर्शक अत्युक्ति नहीं कर रहा था। प्रथम भारतीय जनपदमें पहुँचनेसे पूर्व ही उत्तरापथके वणिक्-प्रधानने अपने कुछ साथियोंके साथ आगे बढ़कर यात्रीकी अभ्यर्थना की—'सम्भवतः आपने पहले वर्ष भी भारत पधारनेका प्रयास किया था। यों तो आप भारतभूमिमें स्वच्छन्द यात्रा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं; किंतु सम्राट् कृतज्ञ होंगे यदि आप स्थाण्वीश्वर पधारें।'

यात्री अवाक् हो गया इस प्रथम स्वागतकी भव्यता और विनम्रतासे ही। उसका आश्चर्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अनेक बार उसने मार्गदर्शकसे कहा—'मुझे पता नहीं था कि भारतमें सचमुच आकाशके देवता रहते हैं। हमारे पुरोहित यह बात हमसे कहते हैं तो हमलोग मुख घुमाकर हँसते हैं। कितने मूर्ख हैं हमलोग।'

'आप निर्विघ्न पहुँच सके? कोई कष्ट तो नहीं हुआ आपको भारतीय सीमामें?' स्थाण्वीश्वरमें स्वागत-सत्कारके पश्चात् स्वयं सम्राट्ने अतिथिके आवासपर पदार्पण किया।

'भगवान् तथागत!' चीनी अतिथि तो पृथ्वीपर गिर गया प्रणिपात करता हुआ। उसके कण्ठसे शब्द नहीं निकलता था।

'मैं भगवान् बुद्धका एक तुच्छ श्रद्धालु जन हूँ।' सम्राट्ने अतिथिका भाव समझ लिया—'परंतु यह तो है कि आप तथागतके पवित्र देशमें हैं। यदि आप विश्राम कर लिया है तो मेरे साथ पधारें।'

'ये आपके तीनों रत्न!' सम्राट्ने रत्नागारमें ले जाकर अतिथिको खड़ा कर दिया। उसके तीनों उसके हाथपर रख दिये। 'आपके रत्न हमारी सीमा इतने कालतक पड़े रहे, हम आपतक सूचना भी न पहुँचा सके—अतः हमपर अनुग्रह करके आप कोई रत्न और स्वीकार कर लें।'

चीनी अतिथि देख रहा था कि रत्नागारके तीनों साथ रखनेयोग्य भी उसके रत्न नहीं हैं; परंतु अब सावधान हो चुका था। उसे भारतभूमिके वायुमण्डल पर्याप्त रहना पड़ा था। उसने कहा—'ये रत्न आप तथागतके सिंहासनमें जड़ित करनेको अर्पित कर दें। मैं तो केवल अनुमति चाहिये आपकी इस दिव्यधरामें आराध्यके पदोंसे अङ्कित पावन तीर्थोंके दर्शनकी।'

'उसपर तो कभी प्रतिबन्ध नहीं था भद्र!' सम्राट् यात्रीको लेकर लौटे—'किसी तीर्थयात्रीकी व्यवस्थाका पुण्य हमें प्राप्त हो, यह हमारा सौभाग्य है।'

रुकूँगा नहीं; डिगूँगा नहीं

अपनोंके दिग्भ्रमसे मैं खीझ उठता हूँ, पीड़ित हो उठता हूँ, पर डगमगाता नहीं।
निश्चित राहमें मेरी आस्था है। लँगड़ा-लँगड़ाकर भी उसपर चलता रहूँगा जरूर, बढ़ता रहूँगा जरूर।
कितना अच्छा होता, यदि अपनोंका साथ रहता, संबल रहता!
पर इसके अभावमें—
रुकूँगा नहीं, डिगूँगा नहीं। राहपर तो चलना ही है, बढ़ना ही है।
अमृत पीकर तो सभी जीवित रहते हैं। शिवको विष पीकर ही जीवित रहना है।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रेमीकी अनन्यता

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथातथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

(श्रीचैतन्यमहाप्रभु)

(लावनी)

दूर करो, ठुकराओ चाहे, प्यारे ! घरसे निकलवाओ ।
खूब सताओ, पर मुझको मनसे न कभी तुम बिसराओ ॥

सदा चाहती मिले रहो तुम, पर जो तुम्हें यह चाह नहीं ।
कभी मत मिलो, दूर रहो, मुझको इसकी परवाह नहीं ॥
सुखसे सदा रहो तुम प्यारे ! इसके सिवा कुछ चाह नहीं ।
दुख देते जाओ चुपके-से रखने भी दो गवाह नहीं ॥
चाहे जैसे रखो मुझे, पर मनसे कभी न भूल जाओ ॥ खूब०

नहीं चाहती सुखमें हिस्सा, नहीं चाहती धनमें भाग ।
नहीं चाहती राय सुनो तुम, नहीं चाहती मैं अनुराग ॥
नहीं चाहती आदर दो तुम, नहीं चाहती प्रेम-पराग ।
यही चाहती भूलो मत, तुम सुखसे रहो, बस यही सुहाग ॥
अपनी चीजको चाहे जैसे बरतो, कभी मत सकुचाओ ॥ खूब०

यही सुहाग बड़ा भारी है, जो तुम नहीं भुलाते हो ।
सता सताकर निर्दयतासे मुझको सदा रुलाते हो ॥
दुःखोंके संदेश भेजकर बरबस पास बुलाते हो ।
ठुकराते, गिर पड़ती, तब तुम भुज भर स्वयं उठाते हो ॥
इसी तरह मेरी सुख-साधोंको पूरी करते जाओ ॥ खूब०

रुची तुम्हारी मेरी रुचि हो, चाह तुम्हारी मेरी चाह ।
हो चाहे प्रतिकूल सर्वथा, इसकी मुझे न कुछ परवाह ॥
चाहे दम घुट जाये, मुखसे कभी नहीं निकलेगी आह ।
तुम ही प्राण-प्राण हो मेरे, तुम ही सब चाहोंकी चाह ॥
मेरा भाव नहीं बदलेगा, भले बदलते तुम जाओ ॥ खूब०

अनन्यभक्तिका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

समय बहुत ही अमूल्य है, अतः एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करते-करते ही सोना चाहिये। इस प्रकार सोनेसे रातका शयनकाल भी साधनकाल बन जाता है।

दिनमें चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते जैसे गोपियाँ अपना समय बिताया करती थीं, उसी तरह समय बिताना चाहिये। वे गायें दुहते समय, दही मथते समय, झाड़ू देते समय, घर लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते और खिलाते समय—हर समय वाणीसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा मनसे भगवान्‌का ध्यान किया करती थीं।* उसी प्रकार हमलोगोंको भी करना चाहिये; इसमें जरा भी कमी नहीं रहनी चाहिये।

प्रातः और सायंकाल—दोनों कालोंमें साधनके लिये नियमितरूपसे भी हमें समय लगाना चाहिये। नियमितरूपसे हम जो समय लगावें, उसे भी बहुत ही मूल्यवान् बना लेना चाहिये। भगवान्‌के नाम-जपके साथ निम्नलिखित छः बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रक्खा जाय तो नाम-जप बहुत मूल्यवान् बन सकता है—

(१) नाम-जप हो सके तो मनसे, नहीं तो, श्वासके द्वारा करे; वह भी न हो सके तो जिह्वाके द्वारा ही किया जाय।

(२) नाम-जपके समय, जिसका नाम है, उस नामी (भगवान्) को याद रखना चाहिये।

(३) नाम-जप गुप्तरूपसे करे। किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ।

(४) नाम-जप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

(५) नाम-जप प्रेममें विह्वल होकर करना चाहिये।

(६) नाम-जप निष्कामभावसे करना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक भाव मूल्यवान् है। श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव—इनमेंसे तो एक भी साथ रहे तो उससे हमारा संसारसागरसे उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌का ध्यान करनेके समय ये छः बातें साथमें होनी चाहिये—

(१) भगवान्‌के नामका जप।

(२) संसारसे वैराग्य।

(३) भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाकी स्मृति।

(४) इन सबमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझना।

(५) निरन्तरता।

(६) निष्कामभाव।

इस प्रकार यदि ध्यान किया जाय और वह ध्यान यदि एक क्षण भी हो जाय तो उसके समान न तप है, न तीर्थ है, न व्रत है, न दान है, न यज्ञ है—कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अपने समयको मूल्यवान् बनाना चाहिये।

गीताका पाठ इस प्रकार करना चाहिये—एक मनुष्य अठारहों अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ करता है और दूसरा मनुष्य केवल एक अध्यायका ही अर्थ और भाव समझकर पाठ करता है तो पहलेवालेकी अपेक्षा वह एक अध्यायका पाठ करनेवाला श्रेष्ठ है। अर्थ और भाव को समझकर हृदयमें धारण करे और फिर उसे कार्यान्वित करे यानी कार्यरूपमें परिणत करे तो वह सबसे उत्तम

---

* श्रीमद्भागवतमें कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१० । ४४ । १५)

है। यही बात रामायण आदिके पाठके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पूजा हमें मानसिक करनी चाहिये, मानो प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं। भगवान्‌का ध्यान करके पूजा करे, भोग लगाये, आरती करे, फिर स्तुति-प्रार्थना करे। ये सब भी भावसे मन्त्रोंका अर्थ समझते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे और प्रेममें विह्वल होकर करे। चित्रपट आदिके सहारे यदि ध्यान किया जाय तो उस-उस चित्रपट या मूर्तिका नहीं, साक्षात् भगवान्‌का ही ध्यान करे। चित्र तो उनके स्वरूपका लक्ष्य करा देता है। यह ध्यान और पूजा भी मूल्यवान् है; इस पूजामें दूसरी जगह मन जानेकी गुंजाइश नहीं। क्योंकि मानसिक पूजामें भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक ही होता है। जिस शरीरसे भगवान्‌की हम पूजा करते हैं, वह भी मानसिक होता है। उसकी सामग्री भी मानसिक होती है और जो क्रिया की जाती है, वह भी मानसिक ही होती है। इस प्रकारकी पूजामें मनके इधर-उधर जानेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना भी भावसहित, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक करे। भगवान्‌के सम्बन्धमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और मुझे भी मिलेंगे। इस प्रकार भगवान्‌के अस्तित्व एवं सुलभताके विषयमें विश्वास रखना चाहिये।

विवेकपूर्वक वैराग्य हो और वैराग्यपूर्वक उपरति हो तो शीघ्र संसारसे वृत्तियाँ हटकर परमात्मामें अपने-आप ही लग जाती हैं। चित्तकी प्रीति और चित्तकी वृत्ति—दोनों एक ही जगह रहती हैं। जहाँ हमारी प्रीति होगी वहाँ हमारे चित्तकी वृत्ति अपने-आप ही लग जायगी, अतः भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेममें प्रधान हेतु श्रद्धा है और श्रद्धामें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी शुद्धि है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७। ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धा भी साधारण नहीं, अतिशय—परम श्रद्धा होनी चाहिये। परम श्रद्धा उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर हो। कोई बात प्रत्यक्षमें तो नहीं दीखती, किंतु श्रद्धास्पदके वचनोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि वह वस्तु प्रत्यक्षसे भी बढ़कर स्पष्ट दीखने लगे। राजा द्रुपद और उनकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें ऐसी ही श्रद्धा थी। शिखण्डीके विषयमें श्रीशिवजीने उनसे कह रक्खा था कि वह प्रथम लड़कीके रूपमें उत्पन्न होकर फिर लड़का बन जायगा। फलतः राजा द्रुपदको लड़की हुई, किंतु उन्होंने उसे लड़का ही समझा और दूसरी लड़कीके साथ उसका विवाह भी कर दिया। प्रत्यक्ष लड़की रहते हुए भी उसे लड़का मान लिया। ऐसा ही विश्वास भगवान्‌के वचनोंमें तथा गीताके वचनोंमें होना चाहिये।

ज्ञान, वैराग्य, एकान्तवास, निष्कामभाव, नाम-जप, श्रद्धा और प्रेम—ये सभी बहुत मूल्यवान् हैं। इनके संयोगसे भगवान्‌का ध्यान अपने-आप होने लगता है; क्योंकि ये सब ध्यानमें सहायक हैं।

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्मसे तथा भगवान्‌के नामके जप और ध्यानसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होती है और श्रद्धा होनेसे प्रेम होता है—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'—प्रेमके बढ़नेपर मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको यथार्थरूपसे समझ जाता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य—सभी मूल्यवान् हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—इन सबमें गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका दर्शन किया जाय और गुण-प्रभावका भी तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो हृदयका भाव अपने-आप बढ़ जाता है तथा साधकका जीवन ही पलट जाता है, उसकी अवस्थामें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

ये सब बातें सुन-सुनकर चित्तमें हर्ष हो, प्रसन्नता हो, शान्ति मिले, आनन्दकी अनुभूति हो, भगवान्‌के मिलनेकी आशा हो जाय तो भी साधककी अवस्था बहुत शीघ्र बदल सकती है और मिनटोंमें भगवान् मिल सकते हैं।

जब चित्तकी अवस्था बदल जाती है, उस समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, नासिकासे भी जल बहने लगता है, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय—सबमें आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है।

ऐसी अवस्था न हो तो भगवान्‌के वियोगमें दुःख होना चाहिये और दुःखमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि भगवान्‌के बिना जीवन व्यर्थ है। विरहकी व्याकुलतामें उसकी वैसी ही दशा हो जानी चाहिये, जैसी भरतजी महाराजकी श्रीरामके विरहमें हुई थी। भरतजी-की दशाका चित्रण करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

इसके लिये हमलोगोंको सद्गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय इनका सेवन करना चाहिये और इनके विपरीत दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद, निद्रा और भोग—इन सबको साधनमें महान् विघ्न समझकर इनका स्वरूपसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; इन्हें क्षणभरके लिये भी आश्रय नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनेमें जो एक-एक क्षणका विलम्ब हो रहा है, वह युगके समान प्रतीत होना चाहिये। भरतजी जब भगवान्‌से मिलनेके लिये चित्रकूट जा रहे थे, उस समय वहाँ पहुँचनेमें जो विलम्ब हो रहा था, वह उन्हें असह्य हो रहा था। वैसे ही हमलोगोंको भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह असह्य होना चाहिये। जलके वियोगमें मछलीकी जैसी दशा होती है, जैसी तड़पन होती है, वैसी तड़पन भगवान्‌के विरहमें होने लगे तो फिर भगवान् मिलनेमें विशेष विलम्ब नहीं करते।

साथ ही हमलोगोंको एकनिष्ठ होना चाहिये। जैसे पपीहा एकनिष्ठ होता है, वह आकाशसे गिरी हुई बूँदको ही ग्रहण करता है, भूमिपर पड़ा जल नहीं पीता चाहे वह गङ्गाजल ही क्यों न हो, उसी प्रकार एक परमात्माके सिवा और कोई भी चीज हमारे काम-की नहीं होनी चाहिये।

ध्यानमें हमारी चकोर पक्षीकी तरह एकाग्रता होनी चाहिये। जब पूर्णिमाका चन्द्रमा उदय होता है, तब चकोर पक्षी उदय होनेसे लेकर अस्त होनेतक उसकी ओर देखता ही रहता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह उसे एकटक देखता ही रहता है, उसके अमृतमय स्वरूपका रसपान करता ही रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी रूप-माधुरीका रसपान करते रहना चाहिये।

रुक्मिणीकी तरह भगवान्‌के विरहमें हमारी व्याकुलता होनी चाहिये। हमें ऐसा निश्चय करना चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌को बाध्य होकर उस प्रेमीके पास पहुँचना ही पड़ता है। अतः ऐसी निष्ठा होनी चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो जीकर ही क्या करना है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिये; अपितु भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें हमारी ऐसी दशा हो जानी चाहिये कि हमारे प्राण निकलनेके लिये छटपटाने लगें।

श्रीभरतजी कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'अवधि बीत जानेपर भी भगवान् नहीं पहुँचें और फिर भी मैं जीता रहूँ तो संसारमें मेरे समान पापी कौन होगा ?'

अतः हमें चाहिये कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ-से मनको हटाकर भगवान्‌में लगाते रहें। भगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे। अर्थात् जहाँ मन जाय वहाँसे वशमें करके परमात्मामें नियुक्त करे।'

अथवा जहाँ मन जाय, वहीं परमात्माको देखे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भक्त चार प्रकारके होते हैं—अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

इस प्रकार उक्त चारों भक्तोंमें ज्ञानीकी भगवान्‌ने विशेष प्रशंसा की है, एकनिष्ठ ज्ञानीको श्रेष्ठ और अपना अतिशय प्यारा कहा है; क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतः तन्मय होकर भगवान्‌को भजना चाहिये।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।' क्योंकि उसकी दृष्टिमें मेरे सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है। लोगोंकी दृष्टिमें तो वह संसारमें रहता हुआ सब काम करता है; पर वास्तवमें वह संसारमें स्थित नहीं है, मुझमें ही स्थित है।

इन सब बातोंको समझकर अपनी स्थिति ज्ञानी महात्माओंकी-जैसी बनानी चाहिये। उच्चकोटिके जो साधक ज्ञानी भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान्‌को भजते हैं;

अतः उनके लिये भगवान् सुलभ हैं । भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इसलिये भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(गीता १० । ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ।'

किस प्रकारसे भजते हैं, इसका उत्तर भगवान्‌के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(गीता १० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

इस प्रकार वे भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमसे भजते हुए मेरी कृपासे मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ७)

'अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ यानी केवट बनकर इस संसारसागरसे उनको पार कर देता हूँ, इसमें विलम्बका काम नहीं ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।' अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है । अर्थात् जहाँतक वे साधन कर चुके हैं, उसकी तो रक्षा करता हूँ और जो उनमें कमी है, उसकी पूर्ति करता हूँ । दूसरे शब्दोंमें आजतक जिस वस्तुकी—परम पदकी उन्हें प्राप्ति नहीं हुई, (उसके लिये भगवान् वादा करते हैं कि) उसे मैं प्राप्त करा देता हूँ ।

भगवान्‌की इस घोषणापर ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसा ही बनना चाहिये । इस प्रकारकी अनन्यभक्तिसे मनुष्य जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है । भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

इसीका नाम एकनिष्ठ भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण, अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति है।

ये सब बातें जो भगवान्‌ने कही हैं, इनके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन बनाना चाहिये। इस प्रकारका जीवन बनाकर ही संसारमें जीना धन्य है। संसारके सभी पदार्थ लोगोंकी दृष्टिमें संसारी हैं, अपनी दृष्टिमें नहीं। अपनी दृष्टिमें तो जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब भगवान्‌के हैं तथा मैं भगवान्‌का और भगवान् मेरे हैं, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही है—इस प्रकार समझकर सबको भगवान् देखे और सबमें भगवान्‌को देखता रहे। गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

"बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।"

अतएव या तो सबमें भगवान्‌को देखे, या सबको भगवान् समझता रहे और आनन्दमें मुग्ध होता रहे। इससे स्थिति नीची हो ही क्यों?

संसारसे अपना प्रयोजन ही क्या है? चाहे कुछ भी हो, अपने तो यही समझे कि सब भगवान्‌का है, मैं भगवान्‌का हूँ, सब भगवान्‌में है, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌की प्रेरणासे—उनकी आज्ञासे ही हो रही है, या मैं उनके लिये ही सब कुछ कर रहा हूँ, भगवान् जो करवा रहे हैं वही कर रहा हूँ। ये सब भाव भगवान्‌के दर्शनमें सहायक हैं। अतः इस प्रकार समझकर हर समय सर्वत्र भगवान्‌का अनुभव करे, उनको कभी न भूले।

याचना

नाथ! तुम्हारे पाद-पद्ममें मेरी मति स्थिर रहे निरन्तर।
तेरी भक्ति-ज्योतिसे पूरित हो जाये मेरा यह अन्तर॥
मलिन पङ्ककी ओर हमारा मन जब आकर्षित हो जावे।
तव प्रसादसे उसमें पङ्कजका सौन्दर्य फलित हो जावे॥
माता-पिता, बंधु, भगिनी, भार्या—सब मुझे छोड़ हट जावें।
प्राण-सखा, सङ्गी पुर-परिजनके अन्तर मुझसे फट जावें॥
तब भी तेरा स्वर मेरे प्राणोंमें गूँजा करे दयामय!
प्रेमपूर्ण तव आवाहनमें विगलित हो जावें मम संशय॥
जब जग-मगपर पग डगमग डगमग हों, मन विचलित हो जावे।
विफल कामनाओंके कारण मेरा हृदय दलित हो जावे॥
अन्ध-वासनाओंसे पूरित मन मम जब बन जाय अमावस।
तेरी दया वहाँ बरसा दे पूर्णचन्द्र-ज्योतित-राका-रस॥
जगके अमित प्रलोभ-प्रवञ्चित दिशा-भ्रमित कातर मम अन्तर।
मानस-क्षितिज तमावृत कम्पित शिथिल चरण अस्फुट जीवन-स्वर॥
ध्रुव बन उगो हमारा पथ ज्योतित, मन भी ज्योतिर्मय कर दो।
सब कुछ मेरा बने, तुम्हारा रिक्त पात्र मेरा यह भर दो॥
नाथ! तुम्हारे पाद-पद्ममें मेरी मति स्थिर रहे निरन्तर।
तेरी भक्ति-ज्योतिसे पूरित हो जाये मेरा यह अन्तर॥

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

हिंदू साधु-संन्यासियोंके लिये कानून

गताङ्कमें इस विधेयकके सम्बन्धमें 'हिंदू साधु-संन्यासियोंका नियन्त्रण' शीर्षकमें कुछ लिखा गया था। अब यहाँ नीचे पूरा विधेयक दिया जाता है।

विधेयक

२७ जुलाई, १९५६ को निम्नलिखित विधेयक लोकसभामें उपस्थित किया गया--

१९५६ का विधेयक नं० ३७

भारतीय साधु-संन्यासियोंकी रजिस्ट्री एवं लाइसेंसका विधेयक

भारतीय प्रजातन्त्रके सप्तम वर्षमें संसद्के द्वारा निम्नलिखित कानून बनाया जाय--

१. (१) इस कानूनका नाम साधुओं तथा संन्यासियों-का रजिस्ट्रेशन एवं लाइसेंसिंग ऐक्ट, १९··· होगा।

(२) यह समस्त भारतवर्षमें लागू होगा।

(३) यह तुरंत लागू हो जायगा।

२. इस कानूनमें जबतक कि प्रसङ्गसे दूसरे अर्थ न निकलते हों—

(१) 'लाइसेंसिंग अधिकारी' का तात्पर्य उस स्थानके जिलाधीशसे है, जिसमें कि साधु या संन्यासी दीक्षाके समय निवास करता हो।

(२) 'प्रेस्क्राइब्ड' का अर्थ है लाइसेंसिंग अधिकारी-द्वारा बनाये हुए नियमोंसे निर्दिष्ट।

(३) 'साधु' अथवा 'संन्यासी' से तात्पर्य उस व्यक्तिसे है, जो अपनेको किसी ऐसी धार्मिक संस्था, समाज या मठका सदस्य घोषित करता है, जिसकी स्थापना या निर्वाहका उद्देश्य हिंदुओंके किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभागके सिद्धान्तों अथवा परम्पराओंकी रक्षा या संवर्द्धन हो।

३. (१) बिना अपनी सविधि रजिस्ट्री कराये और लाइसेंस देनेवाले अधिकारीसे प्रार्थनापत्रके द्वारा लाइसेंस प्राप्त किये कोई भी न तो अपनेको साधु अथवा संन्यासी नामसे विभूषित कर सकता है और न घोषित।

(२) किसी व्यक्तिको साधु या संन्यासी होते ही तुरंत लाइसेंस देनेवाले अधिकारीके सम्मुख जाकर अपनी रजिस्ट्री करा लेनी होगी और एक लाइसेंस प्राप्त कर लेना होगा।

(३) प्रत्येक लाइसेंसिंग अधिकारी निर्दिष्ट रूपसे एक रजिस्टर रक्खेगा, जिसमें कि साधु अथवा संन्यासीके सम्बन्धमें निम्नलिखित विवरणका उल्लेख होगा।

क. उसका दीक्षाके पूर्व तथा उत्तर कालका नाम।

ख. उसकी अवस्था, उसका धर्म तथा वह स्त्री या पुरुष।

ग. उसका स्थायी निवासस्थान।

घ. दीक्षाके पूर्व एवं बादमें उसका व्यवसाय और वृत्ति।

ङ. दीक्षित होनेका स्थान एवं तारीख।

च. उस संस्था, सम्प्रदाय या मठका नाम, जिसमें वह दीक्षित हुआ है।

(४) लाइसेंसिंग अधिकारी प्रतिवर्ष समस्त साधुओं तथा संन्यासियोंकी सूची उस प्रकार प्रकाशित करेगा जैसा कि निर्दिष्ट किया गया हो।

४. (१) साधु अथवा संन्यासीके रूपमें रजिस्ट्री करानेके लिये तथा धारा ३ के अनुसार लाइसेंस प्राप्त करनेके लिये लाइसेंस देनेवाले अधिकारीको लिखित प्रार्थनापत्र देना होगा और उसका रूप एवं उसमें दिये हुए विवरण पूर्व निश्चित स्वरूपके अनुसार होंगे।

(२) उपधारा (१) के अनुसार प्रार्थनापत्र आने पर लाइसेंसिंग अधिकारी आवश्यक जाँच करनेके पश्चात् निर्दिष्ट फार्मपर एक लाइसेंस देगा, जिसमें ऐसी शर्तें होंगी जिन्हें लाइसेंसिंग अधिकारी उचित समझेगा। लाइसेंसिंग अधिकारीको लिखित कारण देनेके पश्चात् यह अधिकार होगा कि वह किसी व्यक्तिको लाइसेंस न दे।

(३) उपधारा (२) के अनुसार प्राप्त लाइसेंस एक वर्षतक लागू रहेगा, यदि उसको फिरसे चालू, स्थगित या समाप्त न कर दिया जाय। लाइसेंस देनेवाला अधिकारी किसी लाइसेंसको स्थगित या समाप्त कर सकता है। यदि उसे इस बातका संतोषजनक प्रमाण मिल जाय कि अमुक साधु या संन्यासी असदाचारमय जीवन बिता रहा है या ऐसे कार्य

लगा है जो शान्तिके लिये घातक हैं अथवा अपनी संस्था, समाज या मठसे अब उसका सम्बन्ध नहीं रहा।

५. (१) कोई व्यक्ति या साधु या संन्यासी जो धारा ३ और ४ के नियमोंके विरुद्ध आचरण करता अथवा करवाता है, वह ऐसे दण्डका भागी बनेगा जिसमें ५००) तक जुर्माना हो सकता है और दो वर्षतककी कैद हो सकती है अथवा दोनों हो सकते हैं।

(२) इस विधानके नियमोंके द्वारा दिये हुए लाइसेंसकी बातों तथा शर्तोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले साधु अथवा संन्यासीको पाँच सौ रुपयेतकके जुर्मानेका दण्ड तो मिलेगा ही, साथ ही उसका लाइसेंस भी रद्द कर दिया जायगा।

विधेयकके उद्देश्यों और कारणोंका उल्लेख

हमारे देशमें साधुओं एवं संन्यासियोंकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। संत-समाजकी आड़में उनमेंसे बहुत-से पापाचारमें लीन हो जाते हैं, भीख माँगना तथा ऐसे अन्य समाजविरोधी कर्मोंका आचरण करते हैं, जो अवाञ्छनीय हैं और जिन्हें यदि नहीं रोका गया तो अपराधोंकी संख्या अनवरोध बढ़ चलेगी।

उक्त विधेयक प्रथमतः तो एक अखिल भारतीय रजिस्टर रखकर उनकी यथार्थ संस्थाका ज्ञान रखनेमें सहायक होगा।

इसके अतिरिक्त संत-समाजको यह अनावश्यक बदनामी और अपना उल्लू सीधा करनेवालोंके हथकंडोंका शिकार होनेसे बचायेगा तथा यह सरकारको उन बहुत-से अपराधोंका पता लगानेमें सहायक होगा, जिनमें इन साधु या संन्यासी नामधारियोंका हाथ रहता है।

(यहाँतक विधेयकका अनुवाद है।)

विधेयकके उपर्युक्त रूपको देखनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि इससे साधु-संन्यासी-समाजकी रक्षा नहीं होगी, वरं यह उनकी जड़ काटनेमें ही सहायक होगा। प्राचीन कालकी बात छोड़ दीजिये, अभी पिछले दिनों देशमें स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी सरस्वती, श्रीतैलंग स्वामी, स्वामी भास्करानन्दजी, स्वामी हरिहर बाबा आदि प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। रमण महर्षि भी साधु ही थे। भगवान् शङ्कराचार्यकी गद्दीपर बहुत बड़े-बड़े महात्मा हो चुके हैं। स्वामी रामानुजाचार्य तथा अन्यान्य मान्य सम्प्रदायोंमें भी बहुत महात्मा हो चुके हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस साधु ही थे। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानन्द आदि संन्यासी ही थे, जिन्होंने सुदूर अमेरिकामें जाकर भारतके अध्यात्मकी गौरव-पताका फहरायी थी। ऐसे अनेकों विरक्त महात्मा थे और अब भी हैं, जिनका अस्तित्व ही देशकी पवित्रताके लिये पर्याप्त प्रभाव रखता है। इस विधेयकमें साधु या संन्यासीकी जो परिभाषा की गयी है, उसमें ऐसे कोई भी आचार्य संत-महात्मा नहीं बच सकते। न किसी भी सम्प्रदायके कोई मठाधीश, मण्डलेश्वर, धर्माचार्य इससे छुटकारा पा सकते हैं।

आश्चर्यकी बात है कि इस विधेयकके अनुसार साधु-संन्यासीको अपना व्यवसाय या जीवन-निर्वाहका उपाय भी बताना पड़ेगा तथा नियम न मानने या रजिस्ट्री न करानेपर जुर्माना देना पड़ेगा। सर्वत्यागी साधु या संन्यासी न तो धर्मतः कोई व्यवसाय करते हैं और न धन ही रखते हैं। फिर वे क्या व्यवसाय बतायेंगे और जुर्मानाके रुपये कहाँसे देंगे। इस विधेयकके निर्माताको वस्तुतः हिंदू साधु-संन्यासीके रूपका ही पता नहीं है।

इस विधेयकके अनुसार किसी भी विरोधी संस्थाके कार्यकर्ता या प्रचारक साधु-संन्यासीको 'शान्तिके लिये घातक कार्य करनेवाला' (dangerous to peace) बतलाकर उसका लाइसेंस रद्द किया जा सकता है। यह विधेयक भारतके त्यागमूर्ति साधु-संन्यासियोंपर प्रत्यक्ष आक्रमण है और पवित्र वैराग्य तथा सर्वत्यागके सिद्धान्तपर कुठाराघात करनेवाला है।

हो सकता है कि यह विधेयक गैरसरकारी हो, पर सरकारका समर्थन प्राप्त होनेपर इसके पास होनेमें क्या कठिनता होगी।

रही दुराचारियों और समाजविरोधी कार्य करनेवालोंकी बात, सो बदमाश, लुच्चे-लफंगे कहाँ, किस समाज या किस क्षेत्रमें नहीं हैं? पर उनके रहनेसे सारे समाजको दूषित नहीं माना जा सकता और इस विधेयकसे ऐसे लोगोंका कुछ बिगड़ेगा भी नहीं। बिना त्याग-वैराग्यके केवल लाइसेंसके आधारपर साधु-संन्यासी बननेवाले स्वार्थीलोग तो बहुत निकल आयेंगे, जो अपनेको समाज-विरोधी काम न करनेवाले बताकर लाइसेंस लेकर साधुओंकी सूचीमें आ जायँगे और मनमानी करते रहेंगे। सच्चे साधु-संन्यासियोंके रूपको बेचारे मजिस्ट्रेट क्या समझेंगे।

वास्तवमें यह विधेयक हिंदूधर्मके एक प्रधानतम अङ्गपर आक्रमण करनेवाला है और इसलिये इसका घोर विरोध होना चाहिये। हमारी समझसे हमारे साधु-संन्यासीसमाजको तथा आस्तिक जनताको अभी इस घातक विधेयकका पता नहीं लगा होगा, इसीसे इसका घोर विरोध नहीं हो रहा है। अब उपर्युक्त विधेयकको पढ़कर सभी सम्प्रदायोंके साधु संन्यासियों, मठाधीशों, आचार्यों तथा मण्डलेश्वरोंको चाहिये कि अपनी साधु-उचित नीतिसे इसका घोर विरोध करके विधेयकके निर्माताको विधेयक वापस लेनेके लिये बाध्य करें।

राजस्थान हिंदू-पब्लिक ट्रस्टबिल

एक सज्जनने समाचारपत्रकी एक कटिंग भेजकर यह बतलाया है कि राजस्थानमें एक 'राजस्थान हिंदू-पब्लिक ट्रस्टबिल' उपस्थित किया गया है। उक्त समाचारपत्रमें प्रकाशित समाचारके अनुसार इस विधेयकके कानून बन जानेपर सभी मन्दिरों, धर्मशालाओं, मठों, सदाव्रतों, गोशालाओं, दयास्थलों, पिंजरापोलों, सरायोंके ट्रस्ट बनवाने पड़ेंगे, रजिस्ट्री करवानी पड़ेगी तथा आमदनीका दो आना प्रति रुपया सरकारको देना पड़ेगा और ऐसे धर्मादेके धन-जायदादपर सरकारका नियन्त्रण होगा। इस विधेयकका असली रूप हमारे सामने नहीं है, इससे हम विशेष कुछ नहीं कह सकते; पर इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हमारी सरकारें हिंदुओंके ही धर्मकार्योंपर इतनी कृपा क्यों कर रही हैं? राजस्थानमें सैकड़ों धर्मशालाएँ हैं, कुएँ हैं, सदाव्रत हैं, मन्दिर हैं, उन सबके बनवानेवालोंमेंसे बहुत-से रहे ही नहीं, उनके ट्रस्ट कौन बनायेगा, कैसे बनायेगा तथा धर्मादेकी रकम जिस कामके लिये निकाली गयी है, दाताके इच्छानुसार उसी काममें लगनी चाहिये। उसपर सरकारका अधिकार या उसमें सरकारका हिस्सा माँगना कदापि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। राजस्थाननिवासी लोगोंको तथा दाताओंको विधेयकके स्वरूपका पता लगाकर जो-जो बातें आपत्तिजनक हों, उनका घोर विरोध करना चाहिये और शान्तिपूर्ण उपायोंके द्वारा धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये विशेषरूपसे प्रयत्नशील होना चाहिये।

दृष्टि-दृष्टिका भेद

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

भिक्षुककी दृष्टिमें—

दाता महान् है। वह उसे उसकी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करता है। अथवा ताम्र-रजत आदिके सिक्के उसकी झोलीमें डालता है, जिससे वह अपने जीवनके अभावोंकी कुछ पूर्ति कर सके, अपने भिक्षुकत्वमें किंचित् न्यूनता ला सके।

दाताकी दृष्टिमें—

भिक्षुक महान् है—उससे भी अधिक दाता प्रदान करता है अन्न-जल-वस्त्रादि नित्यके जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ अथवा इसी हेतु ताम्र-रजत आदिके साधारण सिक्के घर बैठे-बैठे कभी प्रकट तो कभी मन-ही-मन गर्वसे फूल-फूलकर; परंतु भिक्षुक तो लुटाता है आत्म-सम्मानकी मुहरें दाताके द्वारपर खड़ा-खड़ा·····'दीनता—आधीनताकी प्रतिमूर्ति बनकर और इस तरह प्रदान करता है दाताको भी राजा बननेका सुअवसर!

और यथार्थ दृष्टिके नाते—

कौन दाता है, कौन भिक्षुक? कौन लघु है, कौन महान्? एक लीलाभर हो रही है उस एककी। नाम-रूपोंमें एकमेक हो रहा है—कर रहा है वह एक हाँ—एकत्व-समुद्र लहरा रहा है स्वयंमें समाया-समाया विचलित एवं भ्रमित-दृष्टि खा रहे हैं, खाते रहते हैं····· दुःख-सुखरूपी काल्पनिक लहरोंके थपेड़े; लेकिन जो सिद्ध दृष्टि हैं, उनकी और बात है। वे तो यथार्थताके दिशासूचक यन्त्रसे सुसज्जित स्वयंताके पोतमें बैठकर ही यह जीवनयात्रा करते हैं और फलस्वरूप सदा मंजिलपर पहुँच जाते हैं। पहुँच क्या जाते हैं, पहुँचे हुए ही होते हैं।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्। शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

'भगवान् श्रीहरिके नामकीर्तनसे शारीरिक, मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है, स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मसम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणीके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। खेद है कि कुछ विशेष कारणोंसे गतवर्षमें हुए नाम-जपकी संख्याका हिसाब अभीतक तैयार नहीं हो पाया है। इसके लिये हम कृपालु जपकर्ताओंसे हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हैं। जपकी संख्या तथा स्थानोंकी नामावली 'कल्याण' के अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार है—

१-यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२-इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (१८ नवम्बर १९५६) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (१४ अप्रैल १९५७) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१४को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय तब तो बहुत ही उत्तम है।

३-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४-एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठने के समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें; जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्री पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता–'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक–'कल्याण', गोरखपुर

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

तीर्थाङ्क

(१) 'कल्याण'का यह ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। इसके बाद ३१वें वर्षका प्रथम अङ्क तीर्थाङ्कके रूपमें निकलेगा। तीर्थाङ्ककी सामग्री प्रायः संकलित हो चुकी है और प्रेसमें दी जा रही है। प्राचीन तीर्थोंके अतिरिक्त इसमें संततीर्थ, जैनतीर्थ, बौद्धतीर्थ एवं सिखतीर्थोंका भी संक्षिप्त वर्णन रहेगा। उसमें लगभग ७०० पृष्ठोंकी निम्नलिखित सामग्री रहेगी–

१–तीर्थोंका शास्त्रोक्त स्वरूप एवं माहात्म्य, तीर्थोंके प्रकार, तीर्थसेवनकी विधि, तीर्थोंमें पालनीय नियम आदि।

२–समग्र भारतके प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध लगभग डेढ़ हजार तीर्थोंका संक्षिप्त विवरण; वहाँके दर्शनीय मन्दिरों, पवित्र सरोवरों, कूप, नदी, घाट आदिका वर्णन।

३–मुख्य-मुख्य तीर्थोंका संक्षिप्त माहात्म्य, इतिहास तथा वहाँके पवित्र स्थानोंसे सम्बन्धित घटनाएँ।

४–तीर्थोंमें या उनके आसपास अवस्थित प्राचीन आचार्यों एवं प्रसिद्ध संतोंकी बैठक, मठ या समाधिका विवरण।

५–तीर्थके दर्शनीय स्थानोंकी परस्पर दूरी।

६–तीर्थसे निकटतम स्टेशनका नाम और वहाँसे तीर्थके मुख्य स्थानका अन्तर, मार्ग तथा पहुँचनेके साधन।

७–तीर्थमें यात्रियोंके ठहरनेके स्थान (धर्मशाला आदि) का विवरण।

८–तीर्थके मुख्य उत्सव एवं मेलोंका विवरण।

९–सप्त पुरियों, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों, वैष्णव दिव्यदेशों एवं शैव-क्षेत्रों तथा शक्ति-पीठोंका विवरण।

१०–विविध भगवद्विग्रहोंके रंगीन चित्र तथा मन्दिरों, घाटों, सरोवरों एवं अन्य दर्शनीय स्थानोंके सैकड़ों चित्र।

११–तीर्थोंका संस्थान-स्थान निर्देश करनेवाले अनेकों मानचित्र।

(२) यह अङ्क बड़ा ही रोचक, आकर्षक एवं शिक्षाप्रद होगा। भारतकी किसी भी भाषामें इतना सुन्दर एवं उपयोगी संग्रह कदाचित् अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इस दृष्टिसे इसकी माँग बहुत अधिक हो सकती है। अतः जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये ७॥) तुरंत भेज दें। रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' अवश्य लिखनेकी कृपा करें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें और जहाँतक हो सके नये-नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये भिजवानेका सफल प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

(३) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न बनना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

(४) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा महाभारत-विभाग 'कल्याण'से सर्वथा अलग है। अतः 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी 'मैनेजर गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर महाभारत-विभाग, गीताप्रेस' के नामसे अलग भेजें।

(५) जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८।।।) भेजें। परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी देर होना सम्भव है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचना

भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार अभी स्वस्थ नहीं हुए हैं, सम्भवतः वे जलवायुपरिवर्तनार्थ शीघ्र अन्यत्र चले जायँ। वे पत्रोंको प्रायः न तो पढ़ते-पढ़ाते हैं, न प्रायः उनका उत्तर लिखते-लिखवाते हैं, ऐसी अवस्थामें उनके आत्मीय-स्वजनोंके सिवा अन्य महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे गीताप्रेस या कल्याण-सम्बन्धी पत्र उनके नाम कृपया न लिखें। उनके नाम आये हुए पत्रोंका उत्तर सम्पादनविभाग-की ओरसे यथासाध्य देनेकी चेष्टा की जा रही है। पर यदि किन्हींके पत्रोंके उत्तर न पहुँचें तो वे महानुभाव परिस्थिति समझकर क्षमा करें।

निवेदक—चिम्मनलाल गोस्वामी

दो नयी पुस्तकें

महत्त्वपूर्ण शिक्षा

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४७६, चार बहुरंगे चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च १)।

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रीगोयन्दकाजीने कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सदाचार, वैराग्य, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि सार्वजनिक शिक्षाके विषयोंको बहुत ही सरल और सुन्दर ढंगसे तथा अनेक कथा-कहानियोंद्वारा भी समझाया है। इसे पढ़कर काममें लानेवाले सभी स्त्री-पुरुषोंको विशेष लाभ हो सकता है।

महाभारत—मूलमात्र (प्रथम खण्ड)

(आदि, सभा और वनपर्व)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ८०४, तीन रंगीन चित्र, मूल्य ६) डाकखर्च २।≈) पूरे कपड़ेकी जिल्द।

गीताप्रेससे प्रकाशित बड़े आकारकी मूल भागवतकी तरह ही दो कालममें पूरे महाभारतका मूल-पाठ प्रकाशित करनेका विचार है। प्रथम तीन पर्व (आदि, सभा और वन) छप गये हैं। आगेके भी पर्व क्रमशः छप रहे हैं। जिन्हें लेना हो वे मँगवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

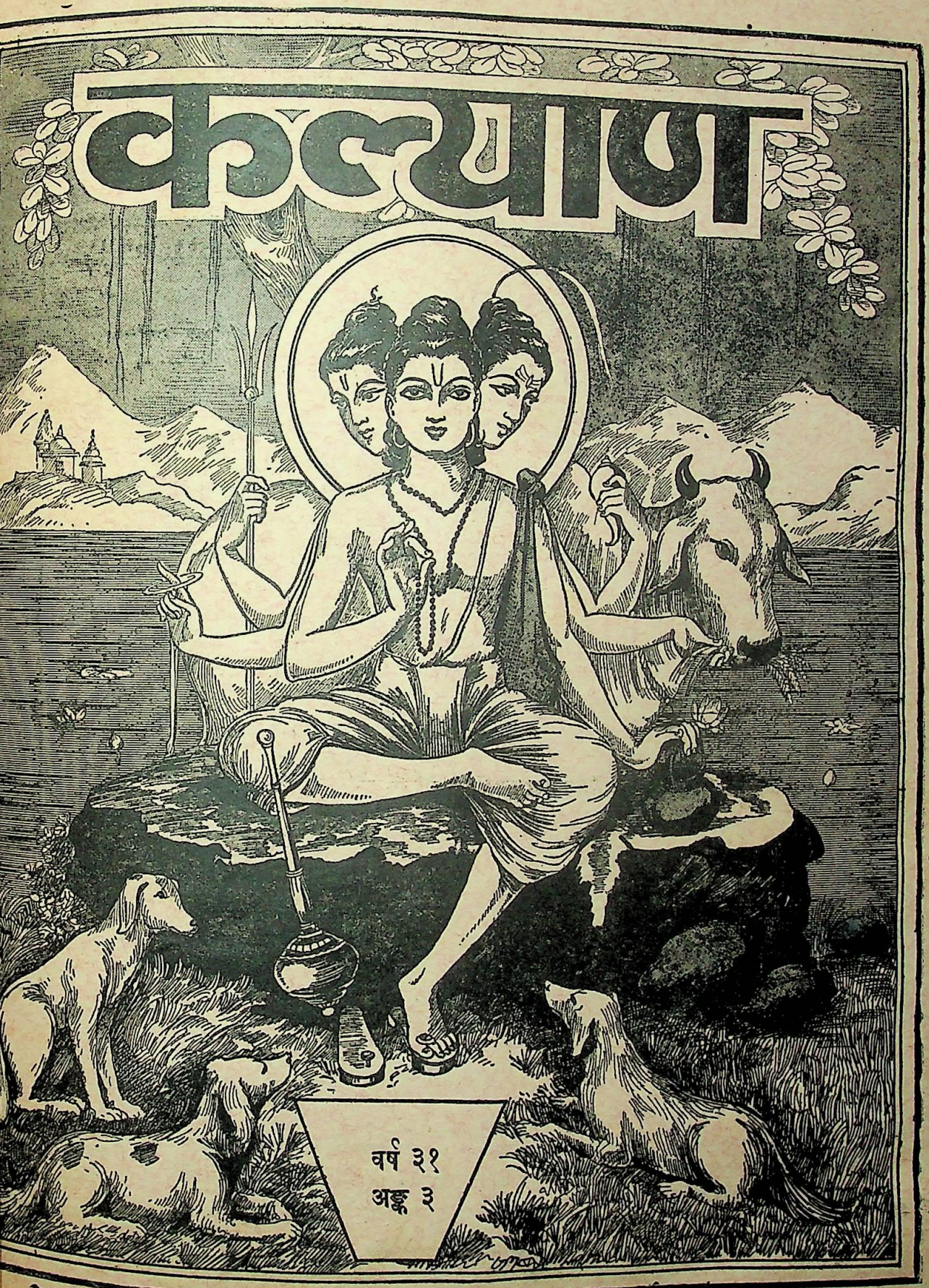

वर्ष ३१
अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१३, मार्च १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–श्रीराधा-गोपाल-वन्दना [कविता]	७६९
२–कल्याण (शिव)	७७०
३–जीवन्मुक्ति (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)	७७१
४–गायत्री-जपकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	७७७
५–सत्सङ्ग-सुधा	७७९
६–विषयोंमें सुख नहीं [कविता] ...	७८७
७–स्वर्ग-नरक क्या हैं ? [अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकार्तिकेयजी महाराजके सत्सङ्गसे] (प्रेषक—श्रीज्ञानानन्दजी) ...	७८८
८–नन्दनन्दन-चरण [कविता] ...	७९०
९–साधन-भूमि (साधुवेशमें एक पथिक) ...	७९१
१०–शिवाराधन ही परम सिद्धि है [कविता]	७९२
११–पागलकी झोली [रामनाम-दातव्य-औषधालय] (श्रीमत्सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)	७९३
१२–उपनिषदोंकी प्रेरणा (श्रीकाका कालेलकर महोदय) (अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर)	७९८
१३–अहिंसा (श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम्० ए०, विद्यावारिधि) ...	८०१
१४–शुभचिन्तनका प्रभाव (स्वामी पारसनाथजी)	८०४
१५–पुण्यात्मा कौन है ? (संकलित) ...	८०७
१६–श्रीजानकी-जयन्ती (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	८०८
१७–मनको प्रबोध [कविता] ...	८११
१८–महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर) ...	८१३
१९–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)	८१८
२०–कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा (बहिन श्रीकृष्णा सहगल) ...	८२४
२१–अध्यात्म, भौतिकता और जीवन (श्रीप्रतापसिंहजी चौहान, एम्० ए० ...	

चित्र-सूची

तिरंगा

१–युगल-छटा ७६९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्०, ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

युगल-छटा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

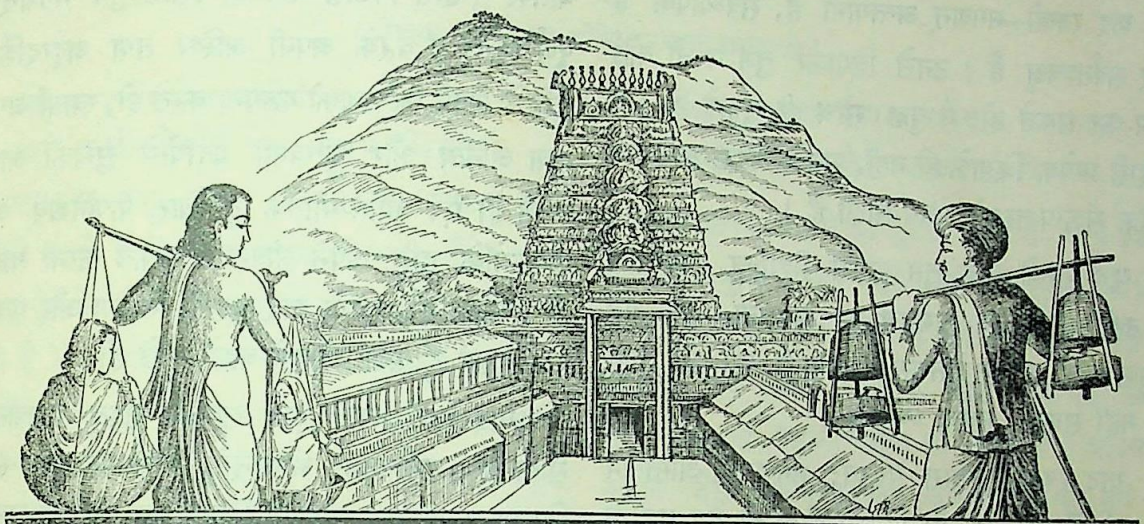

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१३, मार्च १९५७ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३६४

श्रीराधा-गोपाल-वन्दना

भज मन श्री राधे-गोपाल ।
करुना निधि कोमल चित तिन कौ, दीनन के प्रतिपाल ॥
जिन कौ ध्यान किएँ सुख उपजै, दूर होत दुख-जाल ।
माया रहति चरन की चेरी, डरपत जिन सौं काल ॥
बिहरत श्रीबृंदाबन माहीं, दोउ गरबैयाँ डाल ।
बिलसत रास बिलास रँगीले गावत गीत रसाल ॥
हँस-हँस छीन लेत मन छल कर चंचल नैन बिसाल ।
सरसमाधुरी सरनागत कौं छिन मैं करैं निहाल ॥

याद रक्खो—भगवान् अन्तर्यामी हैं, सर्वव्यापक हैं और सर्वतश्चक्षु हैं। उनसे छिपाकर तुम न तो कोई काम कर सकते हो न कुछ सोच ही सकते हो। वे तुम्हारी प्रत्येक क्रियाके ही नहीं, मनके अंदर उठनेवाली प्रत्येक संकल्प-तरङ्गके नित्य-साक्षी हैं।

याद रक्खो—जब तुम उनसे छिपाकर कुछ सोच ही नहीं सकते, तब तुम्हारा यह समझना—कि मैंने अमुक कार्य अत्यन्त गुप्तरूपसे किया है, इसे कोई जान ही नहीं सकता, सर्वथा व्यर्थ है।

याद रक्खो—तुम्हारा वस्तुतः भगवान्के अस्तित्वमें ही पूर्ण विश्वास नहीं है; विश्वास होता तो तुम यह भी समझते कि भगवान् तुम्हारी प्रत्येक चेष्टाको जानते-देखते हैं—फिर छिपकर बुराई करनेकी तुम्हारे मनमें कल्पना ही नहीं आती। तुम यदि कोई बुरा काम करते होते हो और उस समय कोई दूसरा आदमी तुम्हें देख लेता है तो तुम उसे तुरंत छोड़ देते हो, चाहे वह आदमी कैसा ही—कोई भी हो; और जहाँ कोई सम्मान्य पुरुष या शासनके अधिकारी हों, वहाँ—उनके सामने तो तुम बुरा कर्म करनेकी बात सोच भी नहीं सकते। भगवान्के समान परम सम्मान्य तथा भगवान्के समान समस्त लोक-लोकपालोंके शासक—सर्वलोकमहेश्वर दूसरा कौन होगा। अतः उनकी संनिधिमें तो तुम कभी कोई बुरा काम कर ही नहीं सकते। परंतु तुम करते हो; इससे यह प्रमाणित होता है कि तुमको इस बातपर विश्वास ही नहीं है कि वे यहाँपर तुम्हारे कार्योंको देख रहे हैं। विश्वास करो—सच्चे आस्तिक बनो, फिर तुम सारे पापोंसे सहज ही छूट जाओगे।

याद रक्खो—भगवान्के समान तुम्हारा परम सुहृद्, सच्चा हितैषी, तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इसका सच्चा ज्ञान रखनेवाला और तुम्हारा कल्याण करनेमें पूर्ण समर्थ दूसरा कोई है ही नहीं। परंतु इस बातपर तुम्हारा विश्वास नहीं है; इसीसे तुम भगवान्पर पूर्ण निर्भर न करके अपनी अस्थिर तथा अदूरदर्शिनी बुद्धिसे अपने कल्याणकी कल्पना करते हो, स्वार्थी जगत् तथा अनित्य और दुःखमय पदार्थोंसे सुखकी आशा रखते हो एवं भाँति-भाँतिके दुर्विचार, पापनिश्चय और पापकर्मोंके द्वारा अपने जीवनको सफल करना चाहते हो। परिणाममें एकके बाद दूसरी निराशा और एकके बाद दूसरे दुःखके प्रवाहमें बहते रहते हो।

याद रक्खो—यदि तुम सहज सुहृद् भगवान्के सौहार्दपर, सर्वज्ञानमय भगवान्के निर्णयपर और सर्व नियन्ता भगवान्की शक्तिपर विश्वास कर लोगे तो समस्त पाप-तापोंसे, सारी अशान्ति-पीड़ासे छूटकर सुखी हो जाओगे तथा जैसे छोटा शिशु सब प्रकारसे माताका सर्वथा निर्भर करता है, वैसे ही भगवान्पर निर्भर करने लगोगे।

याद रक्खो—फिर भगवान् स्वयं ही तुम्हारे योग-क्षेमका वहन करेंगे। तुम्हारी यथार्थ आवश्यकताकी पूर्ति तथा तुम्हारा कल्याण करनेवाले जो कुछ भी पदार्थ तुम्हें प्राप्त हैं, उनकी रक्षा सर्वशक्तिमान् भगवान् करेंगे और जो तुम्हारे लिये आवश्यक तथा कल्याणकर है, पर तुम्हारे पास नहीं है, उसको भगवान् ही प्राप्त करा देंगे। तुम तो फिर आनन्द तथा परम सुखमें निमग्न रहकर भगवान्का मङ्गलमय चिन्तन करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की प्रसन्नताके लिये शरीर-मनसे यथायोग्य कर्म करते रहोगे। तब तुम्हारे प्रत्येक कर्मसे भगवान्की पूजा होगी और तुम्हारे प्रत्येक कर्मसे भगवान् प्रसन्न होंगे। इसलिये भगवान्की सत्ता, सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता, सुहृदता, सर्व शक्तिमत्ता, अनन्त ज्ञानमयतापर विश्वास करो और अपनेको सर्वतोभावसे उनके चरणोंमें डालकर मानव जीवनको सफल कर लो।

'शिव'

जीवन्मुक्ति

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया ।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तर यावन्न भिद्यते ॥

मानव-जीवनका लक्ष्य समझाते हुए महात्मा हम-लोगोंसे कहते हैं कि 'यह मानव-शरीररूपी नौका तुम्हें महान् पुण्यके योगसे, ईश्वरकी दयासे, बड़ी कठिनतासे मिली है । यह कहीं किसी चट्टानसे टकराकर टूट जाय, उससे पहले ही इस दुःख-समुद्रके पार पहुँच जाना चाहिये । यदि कहीं पार पहुँचनेसे पहले ही यह नाव टूट गयी तो फिर ऐसा सुयोग मिलना बहुत कठिन हो जायगा । अतएव दूसरे सभी कामोंको छोड़कर पहले उस पार पहुँच जानेके लिये प्रयत्न करो ।'

यहाँ दुःखसमुद्रसे तरनेका मनुष्य-शरीरको जो साधन बतलाया है, उसका तात्पर्य यह है कि इस जगत्में जन्म-मरणके समान बड़ा दुःख और कोई नहीं है । इसीलिये बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरनेकी स्थितिको 'दुःखसमुद्र' नाम दिया गया है । केवल मानव-शरीरके द्वारा ही इससे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, अतः इस लाभको प्राप्त किये बिना ही यदि शरीर छूट जाता है तो उसे मिले हुए अवसरका व्यर्थ चला जाना समझना चाहिये । अतएव आज अपने यहाँ 'जीवन्मुक्ति'के सम्बन्धमें विचार करेंगे, जिससे हमें यह निश्चय हो जाय कि इसी शरीरमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है तथा उस मार्गपर जानेके लिये प्रेरणा मिले और जगत्के भोग-पदार्थोंकी भूलभुलैयामें हम न भूले रहें ।

अब, जीवन्मुक्तिके सम्बन्धमें विचार करनेसे पहले मुक्तिका स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि इसके पश्चात् ही यह बात समझमें आ सकती है कि जीवन्मुक्ति सम्भव है या नहीं । मुक्तिकी एक व्याख्या श्रीविद्यारण्य स्वामीने इस प्रकार की है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्नबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥

ब्रह्म-तत्त्वके ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, अन्य किसी भी रीतिसे मुक्ति सम्भव नहीं । खोलकर समझानेके लिये आगे दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि स्वप्नके अनर्थको दूर करनेके लिये अपने जागनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है । यह दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर है । अविद्याके कारण जैसे बन्धनका भ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही निद्रारूपी अविद्या-दोषके कारण स्वप्नका अनर्थ उत्पन्न होता है । स्वप्नकी निवृत्तिके लिये निद्रारूपी अविद्याका नाश आवश्यक है, इसके बिना अन्य किसी भी उपायसे स्वप्नके अनर्थका नाश नहीं होता । इसी प्रकार बन्धनके भ्रमका निवारण करनेके लिये केवल अविद्याकी निवृत्ति करनी है । अविद्याकी निवृत्ति विद्यासे होती है । अतः विद्या अर्थात् ज्ञानके उदयमात्रसे बन्धनका भ्रम मिट जाता है । इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति और मुक्ति—दोनों समकालीन हैं । इसलिये यथार्थ ज्ञानका—तत्त्वज्ञानका उदय होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता ।

यहाँ कुछ लोग विरोध करते हुए कहते हैं कि 'अनेक जन्मोंतक महान् कठिन साधन करनेके पश्चात् मुक्ति मिलती है । मुक्ति उतनी सुलभ वस्तु नहीं है, जितनी आप कहते हैं ।' एक समय एक प्रतिष्ठित वकील मेरे पास आये । वे अच्छे वकील थे, साथ ही अध्यात्ममार्गमें बहुश्रुत भी थे । मुक्तिसम्बन्धी चर्चा चलनेपर उन्होंने कहा—'स्वामीजी ! मुक्ति यदि इतनी सहज होती जितनी आप कहते हैं, तो आज संसार-का कहीं नाम-निशान भी नहीं रहता । देखिये न, गीतामें श्रीभगवान्ने भी कहा है—

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'
(७ । १९)

—बहुत जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी मुझे प्राप्त कर सकता है । फिर—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
(६ । ४५)

—सावधानीके साथ यत्न करनेपर पापरहित हुआ योगी अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है ।' आदि ।

उत्तरमें मैंने कहा—वकील साहब ! आप ही विचार कीजिये । आपने कितनी परीक्षाएँ दी होंगी ? पर कभी आपके मनमें ऐसा विचार भी आया था कि इस वर्ष पास न हुए तो दूसरे वर्ष, दूसरे वर्ष भी पास न हुए तो तीसरे या चौथे वर्ष पास हो जायँगे ?' यद्यपि आप यह जानते ही होंगे कि परीक्षामें बैठनेवाले सौ विद्यार्थियोंमें भाग्यसे ही तीस या पैंतीस उत्तीर्ण होते हैं; परंतु निश्चय तो सौ-में-सौ विद्यार्थियोंका यह होता है कि 'मैं तो पास होऊँगा ही ।' ऐसा निश्चय न हो तो परीक्षाके लिये तनतोड़ परिश्रम ही नहीं हो सकता । परंतु जब परीक्षाफल निकलता है, तब अनुत्तीर्ण विद्यार्थी इस प्रकार मनको समझा लेते, जब सौमें तीस-पैंतीस विद्यार्थी ही उत्तीर्ण हुआ करते हैं, तब यदि मैं अनुत्तीर्ण हो गया तो इसमें कौन-सी बात हुई; अबकी बार खूब मेहनत करके पास हो जाऊँगा । इसी प्रकार अध्यात्ममार्गमें भी सभीको एक ही जन्ममें मुक्ति नहीं मिलती—यह बात सत्य है और उसमें भी बहुत-से कारण होते हैं । कहीं विषयासक्ति बाधक हो जाती है तो कहीं कुतर्क करनेकी आदत अड़चन डाल देती है । कहीं बुद्धिकी मन्दताके कारण बोध होनेमें देर लगती है तो कहीं दुराग्रह बाधा देता है ।

परंतु 'अनेक जन्मोंबाद जब मुक्ति होनी होगी, तब हो जायगी ।' साधनके प्रारम्भमें ही ऐसा विचार आ जायगा तो फिर साधन होगा ही नहीं । अतएव निश्चय तो यही होना चाहिये कि इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त करनी है । यों करनेपर भी यदि विलम्ब दिखलायी दे, तब 'इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करूँगा—' ऐसा आश्वासन पानेके लिये इस प्रकार के श्लोकोंका उपयोग करना चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्यको जैसे वर्तमान जन्ममें ही मुक्ति नहीं होती, वैसे ही वर्तमान जन्ममें मुक्ति होगी ही नहीं—ऐसा भी कोई नियम नहीं है । चाहे अनेक जन्मोंके बाद मुक्ति हो, परंतु वह होगी तो वर्तमान जन्ममें ही न ? तब फिर, यही जन्म मुक्ति प्राप्त करनेके लिये अन्तिम जन्म है—ऐसा निश्चय क्यों नहीं करना चाहिये और मिले हुए सुअवसरको व्यर्थ क्यों खो देना चाहिये ? अतएव मैं इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त करूँगा—ऐसा ही निश्चय रखना इष्ट है । यह बात व्यावहारिक क्षेत्रमें तो मनुष्य समझ सकता है और इसे सत्य भी मानता है, परंतु मुक्तिके विषयमें यह उसके गले नहीं उतरती । इसका कारण यह है कि वैसा करनेपर उसे विषयोंका त्याग करना तथा साधनके लिये परिश्रम करना पड़ता है; और ये दोनों काम वह करना चाहता नहीं, इसीलिये ऐसे बहाने बनाता है ।

महाभारत, शान्तिपर्वमें मुक्तिका स्वरूप समझाते हुए भीष्मपितामहने कहा है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है कि अमुक स्थानमें जाकर उसे लाया जाय, वह कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है कि अमुक प्रदेशमें ही होती हो, जहाँसे उसे मँगवाया जा सके । अज्ञानके कारण जो हृदयमें गाँठ पड़ गयी है, उसे काट डालने या खोल देनेका नाम ही है—मोक्ष । अब यहाँ 'हृदयग्रन्थि' शब्दको समझना होगा । हृदयका अर्थ है अन्तःकरण और उसके साथ आत्मा

का एकाकार हो जाना अर्थात् अपने स्वरूपको भूलकर स्वयं अन्तःकरणरूप हो जाना—इसीका नाम है हृदय-ग्रन्थि। इसीको कई बार देहाध्यास भी कहा जाता है।

योगदर्शनमें भी अविद्याकी निवृत्तिपूर्वक ज्ञानकी प्राप्तिको ही मुक्तिका स्वरूप बतलाया गया है—

दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

द्रष्टा—आत्माका जो दृश्य—शरीरके साथ संयोग हो गया है—एकात्मता हो गयी है, देहाध्यास हो गया है, यही जन्म-मरणरूप दुःखका कारण है। फिर कहा है—

'तस्य हेतुरविद्या।'

आत्माको देहाध्यास होनेका कारण अविद्या—अज्ञान—स्वरूपका अज्ञान—मैं कौन हूँ, इसकी विस्मृति है। अतः देहाध्यासकी निवृत्तिके लिये अविद्याको निवृत्त करना आवश्यक है। वे कहते हैं—

'तदभावात् (अविद्याया अभावात्) संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।'

अविद्याका नाश होनेपर स्वरूपका ज्ञान होनेसे देहाध्यास निवृत्त हो जायगा। यों देहाध्यासकी निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है।

यहाँतक हमने मुक्तिका स्वरूप समझा और ब्रह्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान ही मुक्तिका स्वरूप है, इस निर्णयपर हम पहुँचे। इसी बातको बहुत संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि 'मैं देह हूँ' यों मानना अविद्याका स्वरूप है और इसीलिये 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा निश्चय करना स्वरूपका ज्ञान है। इस ज्ञानसे भिन्न मुक्तिका दूसरा स्वरूप नहीं है। संक्षेपमें, 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा पक्का निश्चय होना (अपरोक्ष अनुभव होना) ही मुक्ति है।

अब जीवन्मुक्ति सम्भव है कि नहीं—यह देखना है। यह तो समझ लिया गया कि ज्ञान ही मुक्ति है; परंतु यह ज्ञान शरीर रहते हो सकता है, या शरीरके नाश होनेपर ही होता है—यह समझना है। शास्त्र तो कहते हैं कि इस मानव-शरीरमें ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्य किसी भी शरीरमें ऐसी योग्यता नहीं है।

श्रीभागवतकार कहते हैं—

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-*
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

श्लोकके पहले दो चरणोंमें मानवशरीरका गौरव समझानेके बाद कहते हैं कि यह शरीर स्वभावसे ही क्षणभङ्गुर है, इसलिये मृत्युके वश होनेके पहले ही आत्मकल्याण कर लेना चाहिये अर्थात् तत्त्वज्ञान सम्पादन करके मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये। विषय-पदार्थ तो सभी शरीरोंमें समान रूपसे प्राप्त हैं, अतः उनकी प्राप्ति मनुष्यजीवनका लक्ष्य नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ शरीर नाश होनेके पहले ही मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये—ऐसा स्पष्ट कहा है।

श्रुति-भगवती भी कहती है—

यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

यहाँ भी पहले दो चरणोंमें मानवशरीरकी विशिष्टता बतलाकर कहते हैं कि ऐसा देवदुर्लभ मानवशरीर मिलनेपर भी जो मूढ पुरुष अपनी मुक्तिके लिये उद्यम नहीं करता, वह आत्महत्या करता है और इस प्रकार अपनी ही मूर्खतासे अपना अहित करता है—अपने ही विनाशको बुलाता है।

---

* अध्यात्मरामायणमें अविद्याकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद् यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥

'मैं देह हूँ' इस बुद्धिको ही अविद्या कहा जाता है और 'मैं देह नहीं, आत्मा हूँ' इस बुद्धिको विद्या कहते हैं। अविद्या जन्म-मरणकी हेतु है और विद्या उसका निवारण करनेवाली है। अतएव मुमुक्षु पुरुषको सदा विद्याका अभ्यास करना चाहिये।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणको यह उपदेश दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने, शरीरके विद्यमान रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, यह कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

जिन भाग्यवान् साधकोंका मन सुख-दुःखमें समान रह सकता है, उन्होंने इसी शरीरमें—वर्तमान शरीरके जीवनकालमें ही जन्म-मृत्युको जीत लिया है अर्थात् वे मुक्त हो गये हैं ।

यहाँतक हम इस निश्चयपर पहुँचे कि ज्ञानके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति शरीरके जीवित रहते ही हो सकती है और इसलिये शास्त्रोंका आदेश भी इसी प्रकारका है । अब देखना है कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद शरीर जीवित रह सकता है या नहीं ।

ज्ञान होनेका आधार चित्तशुद्धि है । अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान अपने-आप ही प्रकट होता है । इस प्रकार ज्ञानका आधार स्थूलशरीरपर नहीं, अपितु सूक्ष्मशरीर है और स्थूलशरीरके जीवित रहनेका आधार उसका प्रारब्ध-भोग है । प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर, ज्ञान हुआ हो या न हुआ हो, सूक्ष्मशरीर उस स्थूलशरीरका त्याग कर ही देता है; इससे वह नाश हो जाता है । अतः ज्ञान होनेके बाद शरीरका नाश होना ही चाहिये—ऐसी बात नहीं देखनेमें आती । प्रारब्धके भोगोंकी समाप्तितक ज्ञान होनेके बाद भी शरीर जीवित रह सकता है, भोग समाप्त होनेपर उसका नाश होता है । यों शरीरके जीवन या मरणके साथ ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

दूसरे प्रकारसे देखें तो मनोमय और विज्ञानमय कोशके शुद्ध होनेपर ज्ञानका उदय होता है । शरीरके जीवित रहने या न रहनेका आधार प्राणमय और अन्नमय कोषका सम्बन्ध चालू रहना है । इस बातकी साक्षी देता हुआ वैद्यकशास्त्र कहता है—

शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते ।
कालेन तद्वियोगाद्धि पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः ॥

इस प्रकार अगले प्रकरणके अनुसार शरीर और प्राणवायु—इन दोनोंका संयोग जबतक बना रहता है तबतक उसे 'आयु' या जीवन कहते हैं और काल पाकर जब अन्नमय और प्राणमय कोषका वियोग हो जाता है—प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं—तब वह 'मरण' कहलाता है ।

फिर ज्ञान होनेसे पहले आनन्दमय कोश बहुत ही संकुचित रहता है और उसका अनुभव केवल सुषुप्ति अवस्थामें ही होता है । ज्ञान होनेके बाद वह विस्तार पाकर चारों कोशोंको ढक लेता है और अन्तःकरण अन्तर्मुख हो या न हो, सभी अवस्थाओंमें आनन्दका अनुभव होता रहता है । इस प्रकार विक्षेप न रहनेके कारण प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं और उनकी गति धीमी गम्भीर बन जाती है । साधारण रीतिसे प्राण बारह अंगुल बाहर जाकर वापस लौटता है । इसके स्थानमें ज्ञानीके शरीरमेंसे, प्राण केवल आठसे छः अंगुल ही दूर जाता है ।

प्राण जिस प्रकार शरीरको जीवित रखता है, उसी प्रकार उसे हानि पहुँचानेवाला भी प्राण ही है । जबतक प्राण निरुद्ध रहता है, उतने समयतक शरीरकी हानि नहीं होती, इसलिये उस समय उस हानिकी पूर्तिके लिये अन्न या जलकी आवश्यकता नहीं होती, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है । एक मनुष्य यदि छः महीनेकी समाधि लेता है तो उसका उतना समय आयुमानमें नहीं गिना जाता । इसका कारण भी यही है । यों ज्ञानीका प्राण बहुत धीरे चलता रहनेके कारण शरीरको उस समय हानि नहीं पहुँचती । इसलिये ज्ञानीका शरीर अधिक लंबे कालतक भी जीवित रह सकता है । अतएव 'ज्ञान प्राप्त होनेके बाद शरीरका नाश होना ही चाहिये'—यह बात तो सर्वथा असत्य सिद्ध होती है । वरं ज्ञानके कारण शरीर अधिक दिनोंतक टिका रह सकता है, ऐसा अनुमान सहज होता है और अनुभव भी यही कहता है ।

अब जीवन्मुक्तके विषयमें बार-बार किये जानेवाले प्रश्नपर विचार करते हैं कि 'ज्ञानी विधि-निषेधकी कैदमें नहीं है, अतएव उसके द्वारा निषिद्ध आचरण हो सकते हैं या नहीं ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध आचरण हो ही नहीं सकते। ज्ञानी तो अन्तःकरणको शुद्ध करते समय ही दूषित संस्कारमात्रका नाश कर चुकता है। इसलिये ज्ञानोत्तर-कालमें उसके अन्तःकरणमें एक भी भोगवासना नहीं रह सकती; क्योंकि जो अन्तःकरण वासनाशून्य नहीं हो जाता, उसमें ज्ञानका उदय होता ही नहीं।

'निषिद्ध आचरण करनेपर भी ज्ञानीको कोई हानि नहीं पहुँचती'—इस भावके वाक्य उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें अवश्य ही देखनेमें आते हैं; तथापि उनका यह भाव नहीं है कि ज्ञानी निषिद्ध आचरण करता है। ऐसे वाक्य तो केवल ज्ञानीकी लोकोत्तर स्थिति समझानेके लिये आलंकारिक प्रयोगमात्र हैं। हमलोग कई बार व्यवहारमें भी ऐसे वाक्योंका प्रयोग किया करते हैं। उदाहरणके लिये—'बालूके पेरनेसे कदाचित् तेल निकल भी जाय, पर इस कंजूसके हाथसे तो पैसा निकलेगा ही नहीं।' 'उसके अक्षर तो भाई, मानो मोतीके दाने ही हैं।' ऐसे वाक्य आलंकारिक भाषाके प्रयोग हैं। इसलिये उनका शब्दार्थ न ग्रहण करके भावार्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

विहित कर्म निष्कामभावसे हो सकते हैं और बहुत-से ज्ञानी ऐसे कर्म करते देखे भी जाते हैं; परंतु कामना—भोग-लालसा—'इस कर्मसे मुझे सुख मिलेगा'—ऐसी आशाके बिना निषिद्ध कर्म तो कभी बनते ही नहीं। इस बातकी साक्षी देते हुए शास्त्र कहता है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते कर्म तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

इस जगत्में कामनाशून्य ब्रह्मज्ञानीके द्वारा आसक्तिपूर्वक कर्म होते कहीं देखनेमें नहीं आते। यदि ज्ञानी आसक्तिपूर्वक कर्म करता दिखायी देता है तो समझना चाहिये कि अभी उसके अन्तःकरणमें कहीं भोग-कामना छिपी बैठी है। इसलिये वह 'ब्रह्मज्ञानी' नहीं, परंतु 'भ्रम ज्ञानी' है अर्थात् ज्ञानी होनेका उसे केवल भ्रम हो गया है।

जिस ज्ञानीने अपने आनन्दस्वरूपका निश्चय कर लिया है, वह किसी कालमें भी नश्वर भोग-पदार्थोंसे आनन्द प्राप्त करनेकी आशा क्यों करेगा। इस प्रसङ्गको श्रीअष्टावक्र मुनिने यों समझाया है—

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
शल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः॥

इस जगत्के कोई भी भोगपदार्थ आत्मतृप्त ज्ञानीको सुखरूप नहीं प्रतीत होते। इसलिये उनकी प्राप्तिसे उसे किसी प्रकारका आनन्द भी नहीं मिलता। दृष्टान्त देते हुए फिर कहते हैं कि कुन्दुरुवृक्षके पत्तोंको खाकर तृप्त हुआ हाथी क्या कभी नीमके कड़वे पत्तोंको खानेकी इच्छा कर सकता है ? इसी प्रकार जिस ज्ञानीने अपने आनन्दस्वरूपको जान लिया है, उसे किसी भी विषयसे हर्ष नहीं होता; क्योंकि वह तो आत्माराम और आत्मतृप्त ही होता है।

ज्ञानीके सम्बन्धमें दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि 'ज्ञानी कर्म करता है या नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि इस सम्बन्धमें ज्ञानीपर शास्त्रका कोई शासन नहीं है। अतएव यह बात उसके स्वभावपर निर्भर करती है। जिस ज्ञानीके द्वारा साधनकालमें कर्म और उपासना अधिक की हुई होती है, उस ज्ञानीका कर्म करनेका स्वभाव हो जाता है। अतएव ऐसा ज्ञानी निष्कामभावसे शुभ कर्म करता ही रहता है और इससे उसको कोई क्षति नहीं पहुँचती तथा जिस ज्ञानीने साधन-कालमें केवल ध्यान, विचार और एकान्त-सेवन ही किया है, वह शुभ कर्मसे भी उदासीन रहता है और गुपचुप अकेला पड़ा रहता है। इस प्रकार ज्ञानीके लिये कर्म करना या न करना उसके स्वभावपर निर्भर करता है, वह स्वयं तो दोनों बातोंमें स्वतन्त्र है।

तीसरा प्रश्न यह होता है कि 'ज्ञानीको प्रारब्ध भोगना पड़ता है या नहीं ? उसका शरीर है, इसलिये प्रारब्ध तो होना ही चाहिये; क्योंकि प्रारब्ध-भोगके

बिना शरीर रह ही नहीं सकता ।' इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहना है कि प्रारब्धके भोग तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंको भोगने ही पड़ते हैं; क्योंकि यह कर्मका अटल सिद्धान्त है । 'प्रारब्धं भोगतो नश्येत्' प्रारब्धका भोगके बिना क्षय होता ही नहीं; परंतु भोग-भोगमें अन्तर है । ज्ञानी अपने आत्मस्वरूपको सिद्ध कर चुकता है, अतएव वह शरीरका द्रष्टामात्र रहता है । शरीर अपने सुख-दुःख भोगे, इसमें देखनेवालेका भला, क्या लगता है ।

फिर ज्ञानीको तो संसारके मिथ्यात्वका निश्चय हो चुका रहता है । अतएव किसी भी सांसारिक घटनासे वह विचलित नहीं होता । हमलोग जब नाटक देखते हैं, तब जहाँ करुण-दृश्य सामने आता है, वहाँ हमारी आँखोंमें आँसू आ जाते हैं । वीर-रसका दृश्य देखनेपर हम कुर्सीपरसे उछल पड़ते हैं । इसी प्रकार जब हास्य-रसका थाल रोसा जाता है, तब हँसने लगते हैं । यों प्रसङ्गानुसार चेष्टा करते रहनेपर भी हम समझते हैं कि यह तो केवल नाटक है । इसमें हँसना भी मिथ्या है और रोना भी उतना ही मिथ्या है । इसी प्रकार ज्ञानी भी हँसनेके प्रसङ्गमें हँसता और रोनेके प्रसङ्गमें रोता है—यों प्रसङ्गानुसार यथायोग्य व्यवहार करते रहनेपर भी उसका निश्चय वही होता है कि 'यह सब मिथ्या प्रपञ्च है, नाटककी भाँति दृश्यमात्र है ।'

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

'ज्ञानी समस्त लौकिक व्यवहारोंको यथायोग्य करता हुआ भी अन्तरमें सबको मिथ्या समझता हुआ किसी भी स्थितिमें हर्ष या उद्वेगको नहीं प्राप्त होता, अखण्ड शान्तिमें स्थित रहता है । यों जो सदा परिपूर्ण आत्मस्वरूपमें निमग्न रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है ।'

जीवन्मुक्तकी व्याख्या करते हुए आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने कहा है—

जीवन्मुक्तस्य तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्यो[illegible] अनुवृत्तदेहादिप्रत्ययः ।

तत्त्वज्ञानके द्वारा जिसने अविद्याका सर्वथा नाश [illegible] दिया है, ऐसे ज्ञानीका देह विद्यमान रहते हुए उ[illegible] द्वारा यथायोग्य व्यवहार हुआ करते हैं । ऐसा ब्रह्म[illegible] पुरुष जीवन्मुक्त है ।

मुक्ति, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—ये शब्द [illegible] होनेपर भी एक ही स्थितिके वाचक हैं । अविद्या[illegible] निवृत्तिका अर्थ है—मुक्ति । अब, ऐसे मुक्त पुरु[illegible] शरीर जीवित है—जहाँ यह बताना होता है, [illegible] 'जीवन्मुक्त' या 'जीवन्मुक्ति' शब्दका प्रयोग होता [illegible] और उस जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर जब पञ्चत्वको प्[illegible] हो जाता है, तब वह 'विदेह कैवल्यको प्राप्त हो गया'—यों कहा जाता है । ऐसी मुक्तिका नाम 'विदे[illegible] मुक्ति' है । इसके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है [illegible] श्रीशङ्कराचार्य भी कहते हैं—

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवल[illegible]
यत् किंचित् पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुः श्रुतिः ॥

'जिस मनुष्यने अपने जीवनकालमें ही मुक्ति प्राप्त [illegible] ली है, वही शरीर गिरनेके बाद विदेहमुक्त होता है [illegible] जिसने जीवात्मा और परमात्मामें अभेदका निश्चय न[illegible] किया, उसे तो शरीर गिरनेके बाद फिरसे जन्म-मर[illegible] चक्करमें घूमना पड़ता है, ऐसी बात यजुर्वेदमें कही [illegible] है ।'* ऐसे जीवन्मुक्तकी ही विदेहमुक्ति होती है ।

इस प्रसङ्गको श्रुतिका समर्थन भी इस प्र[illegible] मिलता है—'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्त हु[illegible] पुरुष फिर मुक्त होता है । जो पुरुष मुक्ति प्राप्त क[illegible] जीवन्मुक्त कहलाता था, वही पुरुष देहका विलय हो[illegible] बाद 'विदेहमुक्त' कहलाता है । विदेहमुक्तिकी प्राप्तिके लि[illegible] कोई साधन नहीं करना पड़ता । शरीरका नाश होने[illegible] जीवन्मुक्त पुरुष विदेहमुक्तिको ही प्राप्त करता है ।

* यजुर्वेदकी यह श्रुति इस प्रकार है—

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति ।' जब यह पुरुष ब्रह्ममें जरा भी भेद देखता है, जीवात्मा [illegible] परमात्मामें जरा भी भेद देखता है, तब इसे भयकी प्राप्ति होती है अर्थात् इसे जन्म-मरणरूप संसारमें भटकना पड़ता है ।

गायत्री-जपकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें पापोंके नाश और आत्मोद्धारके लिये गायत्री-जप और गायत्री-पुरश्चरणके समान अन्य कोई जप और पुरश्चरण नहीं है। गायत्रीका जप तीर्थ, व्रत, तप और दानसे भी बढ़कर है। इसलिये अधिकारप्राप्त द्विजको विशुद्ध और एकान्त स्थानमें निवास करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे अधिक-से-अधिक गायत्री-का जप करना चाहिये। गायत्रीका जप यदि मानसिक किया जाय तो वह विशेष लाभप्रद होता है। श्रीमनु महाराज कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२। ८५)

'दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (कानाफूँसीके स्वरमें किया जानेवाला) सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

फिर जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक किया जाता है, उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है। उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अतएव हमलोगोंको गायत्रीका जप श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक मानसिक ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा है। गायत्रीमन्त्रमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। इस प्रकार एक ही मन्त्रमें उक्त तीनों बातोंका समावेश बहुत ही कम मिलता है। इस मन्त्रके छन्दका नाम गायत्री है, इसलिये इसे गायत्री-मन्त्र कहते हैं। गायत्रीदेवीको ही परमात्मा समझनेवाले उनके उपासक इस मन्त्रमें गायत्री-देवीकी ही स्तुति, ध्यान और प्रार्थना मानते हैं। इसकी अधिष्ठातृ-देवता भी वे गायत्रीको ही मानते हैं। उनका यह मानना भी ठीक ही है; क्योंकि सृष्टिकर्ता परमात्माकी शिवके उपासक शिवरूपमें, विष्णुके उपासक विष्णुरूपमें, सूर्यके उपासक सूर्यरूपमें और देवीके उपासक देवीरूपमें उपासना करके परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। कारण स्पष्ट है। नाम-रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबका लक्ष्य एकमात्र परमात्मा ही हैं और लक्ष्य ही प्रधान वस्तु है; अतः उन-उन उपासकोंको परमात्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होना युक्तिसंगत ही है। सभी नाम और रूप परमात्माके ही तो हैं।

गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। श्रीनारायणो-पनिषद्में कहा गया है—

'गायत्री च्छन्दसां मातेति' (मन्त्र ३४)

अर्थात् गायत्री समस्त वेदोंकी माता है।

गायत्रीका माहात्म्य बतलाते हुए शङ्खस्मृति कहती है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥
(शङ्खस्मृति १२। २४-२५)

'गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है। (इतना ही नहीं, इस जीवनमें) वह मनोवाञ्छित भोग भी प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी तथा सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली है। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्रीदेवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

संवर्तस्मृतिमें भी आया है—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥
(२१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कोई नहीं है। अतः प्रणव (ॐकार) सहित तीन व्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।'

श्रीमनुजी कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(२।७८)

'इस ओंकार और व्याहृतिसहित गायत्रीका दोनों कालोंमें जप करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका पुण्यफल पा लेता है।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

'जो पुरुष तीन वर्षतक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'

श्रीगायत्रीकी महिमाके सम्बन्धमें महाभारत, शान्ति-पर्वके १९९ वें और २०० वें अध्यायोंमें एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर उसको सावित्रीदेवीने साक्षात् दर्शन देकर कहा—'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ।' परंतु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था, वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेद-माता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे उसने यह प्रार्थना की—'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने पुनः जप आरम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और व्यतीत हो गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिया और स्वर्गादि लोक माँगनेको कहा। परंतु ब्राह्मणने धर्मको भी वैसा ही उत्तर दिया, वह बोला—'मुझे सनातन लोकोंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है? मैं तो गायत्रीका जप करके शान्ति प्राप्त करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिमाण करनेवाले देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाले देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाले देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ खिंचे हुए चले आये। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्तसे निकले हुए राजा इक्ष्वाकु वहाँ आ पहुँचे। राजाने तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परंतु ब्राह्मणने कहा—'मैंने तो प्रवृत्तिधर्मको त्यागकर निवृत्तिधर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम ही कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किंतु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियधर्म

दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्य-फलको ब्राह्मण स्वीकार कर लें। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मण और राजा दोनोंके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुञ्ज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा—'अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है।' इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब वह ब्रह्माके मुखमें प्रविष्ट हो गया।

इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्रीजपका महान् फल बतलाया गया है। अतः हमलोगोंको भी गायत्रीकी इस महत्ताको समझकर इस अल्पायास-साध्य गायत्रीजपके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र लाभ उठाना चाहिये।

सत्सङ्ग-सुधा

१. आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं—इस बातको गिरह बाँधकर याद कर लें। यहाँ बैठे हुए यदि आप कलकत्तेकी दूकानका चिन्तन करते हैं तो आप असलमें कलकत्तेमें ही हैं। इसी प्रकार यदि शरीर यहाँ है, पर मन शरीरको छोड़कर दिव्य वृन्दावनधाममें है तो आप वृन्दावनधाममें ही हैं। प्रारब्ध पूरा होनेपर शरीर गिर जायगा तथा आप सदाके लिये उसी लीलामें सम्मिलित हो जायँगे। सब कुछ आपकी इच्छापर निर्भर है। इस अटूट बातको मानकर साधनामें लगे रहनेसे ही उन्नति हो सकती है।

२. आपके मनकी दशाका तो मुझे ज्ञान है नहीं कि उसमें क्या है। पर मेरा तो यह विश्वास है कि जिस दिन आप यथार्थमें चाहने लगियेगा कि मेरा मन व्रजलीलामें फँस जाय, उसी दिन उसी क्षण अपने-आप आपको मनके रोकनेकी नयी-नयी युक्तियाँ सूझने लगेंगी कि ऐसे रोकें, ऐसे फँसायें, ऐसे करें। नहीं होता है, इसमें भगवान् ही जानें क्या कारण है। मुझे अनुमान होता है कि वह व्याकुलता ही मनमें शायद नहीं है। कभी-कभी सोडावाटरके जोशकी तरह चित्त चाहता है, फिर ठंडा पड़ जाता है।

३. यहाँ घड़ी दीख रही है; पर यह बिल्कुल सत्य बात है कि इसी घड़ीकी जगह श्रीकृष्ण हैं। अब जबतक आप घड़ी देखना बंद नहीं करेंगे, तबतक श्रीकृष्ण कैसे दीख सकते हैं; क्योंकि मन तो एक है और वह एक ही काम करेगा—चाहे घड़ीको देखे या श्रीकृष्णको। श्रीकृष्णको देखनेपर घड़ी नहीं दीखेगी और घड़ीको देखनेपर श्रीकृष्ण नहीं दीखेंगे। वैसे ही मनसे या तो जगत्‌का चिन्तन होगा या श्रीकृष्णका। जहाँ जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन आपका मन करता है, वह पदार्थ उनकी ही मायाकी रचना है, उनकी एक लीला है। जबतक आप इस लीलाको छोड़कर उनकी उस दिव्य चिन्मय लीलामें मन नहीं ले जायँगे, तबतक कोई दूसरा क्या करेगा। आप कहें कि हमसे ऐसा होता नहीं—इसका साफ उत्तर है कि आपका मन अभी यह चाहता नहीं कि इस लीलाको छोड़कर उस परम लीलामें जाय।

४. आरम्भमें कठिनाई होती है। पर ऐसी-ऐसी युक्तियाँ हैं कि जिनके करनेसे मन वशमें होगा ही। जबतक मन उसमें लीन नहीं होगा, तबतक केवल पढ़कर वह आनन्द आप ले ही नहीं सकते। आप

करना चाहें तो मैं एक युक्ति बतलाता हूँ; पर वह होगी करनेसे ही। मान लें आप 'हरे राम' जपते हैं। इसको जपते रहें; पर प्रत्येक मन्त्रके उच्चारणके साथ एक बार आप यह ध्यान कीजिये कि श्रीप्रिया-प्रियतम एक वृक्षके नीचे खड़े हैं। संध्याके समय कहीं चले गये। टीबेपर बैठकर देखिये—एक सड़क है, अत्यन्त सुन्दर सड़क है और उसपर वृक्ष-ही-वृक्ष लगे हैं। अब प्रत्येक वृक्षके नीचे आप एक बार श्रीकृष्णको एवं राधारानीको देखिये तथा मालाकी मनिया फेरते चले जाइये। इस प्रकार तीन माला अर्थात् ३०० वृक्षके नीचे ३०० बार श्रीप्रिया-प्रियतमका दिव्य चिन्तन कीजिये, इस दृढ़ निश्चयके साथ कि यह करना ही है। यह अभ्यास यदि बढ़ गया और कहीं १६ माला हरे रामके षोडश नामकी हो गयी तो आगे मनको टिकानेमें बड़ी सुविधा होगी। पहले तीन मालासे आरम्भ करें।

वास्तवमें यदि आप चाहते हैं तो आपको यह करना ही पड़ेगा। धीरे-धीरे मनकी बदमाशी मिटानी ही पड़ेगी। आप देखें, मन तो जैसे आज बदमाशी कर रहा है, मरते समय और भी अधिक बदमाशी कर सकता है तथा पता नहीं कब किस सङ्गमें फँसकर मनपर कैसा रंग चढ़े। अतः उसके पहले ही मनकी बदमाशीको पूरी तरह मिटा दें। उसके लिये यह बड़ी सुन्दर युक्ति है।

एक युक्ति और भी है। पर पहले आप इसे करें, फिर आगेकी युक्ति कभी पीछे बतायी जा सकती है। वह युक्ति संक्षेपमें यह है कि जैसे मालाका नियम जो चल रहा है, वह चले; पर खूब कड़ाईसे यह नियम बना लेना पड़ता है कि लगातार तीन-चार घंटे बैठकर व्रज-सम्बन्धी ५००० चीजोंको याद करूँगा। एक-दो सेकंडके लिये उन पाँच हजार चीजोंको याद कर ही लूँगा, चाहे मन कितनी ही बदमाशी करे। उसके लिये एक किताब बनाकर अपने पास रख लेनी चाहिये तथा १-२-३ ऐसे नंबर लगाकर, जैसे पाठ किया जाता है [illegible] एक-एक चीजको पढ़ते जाना चाहिये और उसका [illegible] एक सेकंडके लिये ही चित्र बाँधते जाना चाहिये [illegible] जीभसे नाम चलते रहना चाहिये। होता यह है कि [illegible] भागने लगता है; पर नियमके कारण जहाँ साल, [illegible] महीना प्रतिदिन दृढ़तासे ऐसा हुआ कि मनको ठीक [illegible] समय प्रतिदिन वहाँ आना पड़ेगा। पर बिना [illegible] इन नियमोंको करना पड़ता है, तब सफलता मिल [illegible] है। हाजिरी, मुलाहिजा, शिष्टाचारके फेरमें पड़नेपर [illegible] कोई भी नियम नहीं सधता। पहले आप यह [illegible] मालावाला नियम आजसे या कलसे शुरू करें [illegible] इसको खूब कड़ाईसे चलायें।

देखें—विषयोंमें सुख नहीं है, पर तो भी सुखकी भ्रान्ति होती है। इसका रहस्य मैं आपसे निवेदन करता [illegible] कि यह भ्रान्ति क्यों होती है। मान लें खूब जोरसे [illegible] लगी है; अब खानेके समय बड़ा आनन्द मिलता है [illegible] पर असलमें यह जो आनन्द मिलता है, वह खाने [illegible] वस्तुसे नहीं आता; वह आता है उन भगवान्‌से, [illegible] हृदयमें बैठे हैं। होता यह है कि मनमें इच्छा हुई, [illegible] इच्छा हुई कि कुछ खाऊँ। इसी इच्छाकी पूर्ति जब [illegible] है, तब उतनी देरके लिये मनकी चञ्चलता मिट [illegible] है और वह स्थिर हो जाता है। स्थिर मनपर आत्मा [illegible] सुख प्रतिबिम्बित होने लगता है और मनुष्यको आनन्द [illegible] का अनुभव होता है। असलमें तो मनके टिक [illegible] आत्माके आनन्दकी छाया मनपर पड़ी है, इसीलि [illegible] आनन्दका अनुभव हुआ है।

इसी प्रकार सभी विषयोंकी बात है। इच्छा [illegible] और जब वह इच्छा पूर्ण होने लगती है, तब उतनी देर [illegible] लिये मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होते ही आत्मा [illegible] छाया उसपर पड़ने लग जाती है और मनुष्य मूर्खता [illegible] मान बैठता है कि अमुक विषयसे मुझे सुख मिला है [illegible] अवश्य ही इस बातपर आसानीसे विश्वास होना [illegible] कठिन है, पर सत्य बात तो यही है।

इसीलिये मनको ठीक स्थिर करनेकी आवश्यकता है। यही मन जब भगवान्‌में स्थिर हो जाता है, तब फिर वह सुख कभी मिटता नहीं। वह आनन्द नित्य है और उसे प्राप्त करके जीव निहाल हो जाता है। इसलिये इसको आप अवश्य करें, लीलामें मन लगानेमें कोई परिश्रम नहीं है। पर हमसे नहीं होता, इसका उत्तर मेरे पास नहीं है।

५. अनादिकालसे विषयोंके संस्कार मनमें हैं और विषयोंकी इच्छा होती है। प्रत्येक विषयकी कामनाके साथ ही मन उसकी पूर्तिके लिये व्याकुल होता है। पूर्ति हुई, व्याकुलता मिटी। पर यह मिटेगी थोड़ी देरके लिये ही; क्योंकि उतनी देरतक आत्माकी छाया मनपर पड़ी थी। जैसे हिलते हुए दर्पणमें मुख नहीं दीखता, स्थिर होनेपर दीखने लग जाता है, वैसे ही चञ्चल मनमें आत्माका सुख प्रतिबिम्बित नहीं होता। जब मन-दर्पण थोड़ी देरके लिये शान्त होता है, तब उसका हिलना बंद होकर आत्माका प्रतिबिम्ब उसपर पड़ता है। फिर कुछ क्षणके बाद दर्पण हिलने लगता है। इसी तरह विषयकी पूर्ति, सुख—फिर विषयकी कामना और व्याकुलता—यह चक्कर चलता रहता है। असलमें वह सुख भी छाया है, असली नहीं। असली सुख तो उस वस्तुमें है, जिसकी छाया पड़ती है। वह परम वस्तु हैं भगवान्।

६. लीला-वस्तुओंके पाठका नियम लेकर साधना करनी पड़ती है। एक वाक्य पढ़ा और फिर उस चीजका एक सेकंड मनमें चित्र बाँधकर देख लिया। फिर दूसरा वाक्य पढ़ा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। तीसरा वाक्य पढ़ा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। यह पाठ जिस दिन पाँच हजार वस्तुओंका लगातार पूरा हुआ कि लगातार ६ घंटे लीलाका ध्यान हो जायगा। जैसे—

१. राधाकुण्डका जल चमचमा रहा है।
२. कुण्डपर कमलके फूल हैं।
३. कमलके हरे-हरे चौड़े पत्ते हैं।
४. नीले-लाल-उजले तीन तरहके कमल हैं।
५. कमलके फूलपर काले-काले भौंरे मँडरा रहे हैं।
६. पवनके कारण कमलकी डंठी हिल रही है।
७. कमलके मूलके पास एक हंस बैठा है।
८. हंस उजले रंगका है।
९. हंस बोल रहा है।
१०. राधाकुण्ड बहुत लंबा-चौड़ा है।
११. पूर्वकी ओर करीब एक फर्लांग लंबा है।

इस प्रकार प्रतिदिन नियमसे करना पड़ता है। आनन्द आये या न आये। मनकी बदमाशीसे कभी-कभी जी ऊबेगा, पर तुले रहनेपर मन फिर लग जायगा।

और भी युक्तियाँ हैं—जैसे भागवतका पाठ करना हो। अब प्रत्येक श्लोकपर जब एक बार प्रिया-प्रियतमकी छविका चित्र बँध जायगा, तब दूसरा श्लोक पढ़ेंगे। इस प्रकार यदि बारह अध्याय पाठका नियम हो तो तीन घंटे ध्यान हो जायगा। अठारह अध्याय गीता-पाठका नियम हो तो तीन घंटे बीत जायँगे। पर होगा लगनसे करनेपर।

७. लगनकी तत्परताके लिये एक युक्ति है। वह यह है कि नींद खुलते ही हृदयसे श्रीप्रिया-प्रियतमसे निवेदन करें कि अब जीवन तुम्हारे हाथमें है और फिर एक काम करें—एक रूमाल बराबर पास रखें, उसमें गाँठ बाँध दें। गाँठ देते समय यह पद गाते रहें—

नंदलाल सौं मेरो मन मान्यो, कहा करेगो कोय री।
हौं तो चरन कमल लपटानी, होनी होय सो होय री॥
गृह पति मात पिता मोहि त्रासत, हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो जिय ऐसी बनि आई, बिधना रच्यो है संजोग री॥
जो मेरौ यह लोक जायगौ, अरु परलोक नसाय री।
नंदनँदन को तऊ न छाँडौं, मिलूँगी निसान बजाय री॥
यह तनु फिर बहुरौ नहिं पैये बल्लभ बेष मुरार री।
परमानंद स्वामी के ऊपर सरबस डारौं वार री॥

यह पढ़कर गाँठ बाँध लें और जहाँ जायँ, जहाँ बैठें, रूमालको सामने रखे रहें तथा बार-बार मन-ही-

मन निश्चय दृढ़ करते रहें, हमें यही करना है। चाहे सारा संसार जल जाय, नष्ट हो जाय; पर हमें यह एक ही काम करना है। दिनभर वह गाँठ सामने रखें, प्रातःकाल फिर उठकर उसे खोलें, खोलकर फिर पद गाते हुए बाँध दें। इससे बड़ी सहायता मिलती है। किसीको पता भी नहीं चलता कि गाँठ किसलिये है। रूमाल है, किसी कामके लिये गाँठ दी हुई होगी अथवा कोई चीज बाँधी हुई होगी—लोग यही समझेंगे। पर वह सामने हाथमें सदा पड़ा रहे। जहाँ गये, हाथमें लेकर बैठे रहे।

प्रेम गली अति साँकरी ता में द्वै न समाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

× × ×

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकौ आपना तो चलौ हमारे साथ॥

ये बिल्कुल सच्ची बातें हैं। महाभारतमें तो यहाँतक कहा है कि यदि जीवोंपर दया करने जाओ और उससे मन फँसने लग जाय तो फिर इस कार्यकी भी उपेक्षा कर दो।

प्रेम-पंथ अति ही बिकट, देखत भागैं लोग।
कोउक बिरले चलि सकैं, जिन त्याग्यौ सब भोग॥

बिल्कुल संसारकी दृष्टिमें निकम्मा हो जाना पड़ता है, तब रास्ता तय होता है। फिर तो एक-से-एक युक्ति सूझने लगेगी। सोचिये, एक दिन तो सब छूटेगा ही; फिर इससे बड़ी मूर्खता क्या होगी कि हम ऐसे नश्वर पदार्थोंके पीछे अनमोल जीवन व्यर्थ खो दें। पर खोते ही हैं। विषय अनादिकालसे मनमें धँसे हुए हैं और मन एक बार भी भगवान्‌में नहीं फँसा। नहीं तो जिस दिन फँसा कि बस विषय स्वाहा हुए। ललितकिशोरीजी पहले करोड़पति थे; पर जब वैराग्य हुआ और प्रिया-प्रीतमका रंग चढ़ा, तब उन्होंने गाया—

बन बन फिरना बेहतर हमको, रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तरे पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥

नारायणस्वामी तो कहते हैं—

जाहे लगन लगी घनस्याम की।
धरत कहूँ पग परत कितैहू, भूलि जाय सुध धाम की।
छबि निहारि नहिं रहत सार कछु, निसि-दिन पल-छिन-जाम की।
जित मुहँ उठै तितै ही धावै, सुरति न छाया घाम की।
अस्तुति निंदा करौ भले हीं, मेंड़ तजी कुल-गाम की।
नारायन बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की।

पर इन सबको जीवनमें उतारनेसे ही काम बनता है, बातें करनेसे नहीं।

८. एक अकाट्य नियम है—मनसे एक ही काम होगा। श्रीकृष्णका चिन्तन या विषयका चिन्तन। आपको विश्वास कोई कैसे करा दे; पर यदि शास्त्रपर विश्वास करें तो शास्त्र इस सिद्धान्तसे भरे पड़े हैं कि भगवान् सर्वत्र हैं। प्रह्लादके लिये वे खंभेसे निकल पड़े। उसी प्रकार सच्चे विश्वासी भक्तके लिये आज भी भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें खंभेसे निकल सकते हैं। आपके मकानके प्रत्येक खंभेमें श्रीकृष्ण हैं; पर जबतक आप मकानके खंभेमें मन फँसाये रहियेगा, तबतक श्रीकृष्ण क्यों आने लगे। वे तो चाहनेवालेके सामने आते हैं। आप या कोई भी कहता है—कि 'हे भगवन्, मकान नहीं छूटे, धन नहीं छूटे, रुपया-पुत्र बना रहे।' तो श्रीकृष्ण कहते हैं—'यह मेरे श्रीकृष्णरूपको नहीं चाहता, पर यह मेरा जो मायिक रूप है—धन, पुत्र, मकान—उसीको चाहता है। तब मैं अपने असली रूपमें क्यों आऊँ।'

सारांश यह है कि श्रीकृष्णको कहीं ढूँढ़ने जानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है मनसे सब कुछ निकालकर उनमें मन फँसा देनेकी। फिर तो उनकी असली बात है, वह सामने आ जायगी। श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं, दूसरी वस्तु है ही नहीं—यह प्रत्यक्ष करके निहाल हो जायँगे। यही दृष्टि श्रीगोपीजनोंकी थी। जहाँ दृष्टि पड़ती थी, वहीं श्रीकृष्ण उन्हें प्रत्यक्ष हो जाते थे

९. बिल्कुल ही अंधेर-खाता है। गीताका पाठ करते हैं, पर उसके श्लोकोंपर विश्वास नहीं। होना भी कठिन है; क्योंकि जब चाह ही नहीं, लगन ही नहीं, तब हो कैसे? मनमें जलन हो, तब तो भगवान्‌के सामने रोये। पर मनुष्य तो विषयोंमें सुख देखता है। भगवान्‌के ध्यानकी बात सुननेपर केवल मुँहसे कहता है—'हाँ, अच्छी बात है'; पर भीतरसे वह उसे झूठ ही समझता है। नहीं तो, विषय नहीं छूटनेपर मन चौबीस घंटे रोता रहे।

देखिये, आप इस बातका अनुभव करते होंगे कि जब-जब आप भगवान्‌से हटते हैं, तभी-तभी अशान्ति और बढ़ती है। एक बार नहीं, बार-बार यही बात होगी। पर फिर भी जैसे कुत्तेकी पूँछ सीधी होती ही नहीं, वैसे ही मनुष्य विषयके मैलेसे निकलना नहीं चाहता। बड़ी दयनीय दशा है। अभी तो इन्द्रियाँ काम कर रही हैं और थोड़ी-बहुत साधना भी हो सकती है—सफलता भी मिल सकती है। मान लें, कुछ भी सफलता न मिले; फिर भी रातको सोते समय मनमें यह अपूर्व शान्ति तो रहेगी ही कि हमने इतनी चेष्टा कर ली। इसीलिये जपमें संख्या रखनेकी बात कही जाती है। आप करके देखें—जिस दिन बीस माला जपते हुए ध्यानकी चेष्टा होगी, उस दिन सोते समय मन आनन्दसे भर जायगा कि आज मैंने श्रीप्रिया-प्रियतमको दो हजार बार याद करनेकी चेष्टा तो की। कम-से-कम पंद्रह सौ बार स्मरण तो हुआ ही होगा। ओह! पंद्रह सौ बार आज भगवान् याद आये।' बस, यह संख्या आनन्दमें डुबा देगी। फिर संख्या बढ़ेगी। जिस दिन कहीं पाँच हजार बार अधिक सफल चेष्टा हो गयी, तब तो और भी आनन्द आयेगा। आप करके जाँच लीजिये। इस संख्याकी पूर्तिसे भी बड़ा आनन्द आयेगा। अवश्य ही जैसे बताया है, वैसे करनेपर होगा। एक मनिया मालाकी फिरी कि उसके साथ झाँकी बाँधनेकी चेष्टा हुई। इस प्रकार एक माला पूरी होते ही मनमें यह स्फुरणा होगी कि सौ बार चेष्टा हुई। अच्छा बीस बार ठीक नहीं हुई होगी, असी बार तो ठीक हुई होगी। अहा! कितना आनन्द है, कितने सौभाग्यकी बात है—मुझे असी बार श्यामसुन्दर एवं राधारानी याद आ गये; नहीं, नहीं, असी बार हमारे मनमें आ गये। इस प्रकार प्रत्येक माला आपके जीवनको उत्तरोत्तर आनन्दसे भर देगी। पर यह बात होगी लगनसे करनेपर तथा विषयोंको स्वाहा करनेकी दृढ़ धारणा करके चलनेपर।

१०. आज सोच रहा था—मेरा कौन है? कई स्फुरणाएँ हुईं। लोग पूछते थे कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? स्वस्थ हैं? मनमें आया 'स्वस्थ'का क्या अर्थ है? फिर सोचा—व्याकरणके अनुसार तो 'स्व'-'स्थ' अर्थात् जो स्वमें स्थित हो, वह स्वस्थ है। पुनः सोचने लगा—मेरा अपना कौन है? मनमे उत्तर मिला—श्रीकृष्ण हैं। और कौन हैं? राधारानी हैं। और कौन हैं? मनसे पुनः उत्तर मिला—श्रीगोपीजन हैं। और कौन हैं? श्रीनित्य दिव्य वृन्दावनधाम। और भी आगे मनमें कई बातें आयीं, सब कई कारणोंसे बता नहीं सकूँगा। पर इन्हीं बातोंपर आप भी आज विचार कीजिये। इन चारोंके सिवा और कौन-सी वस्तु है, जो आपकी है। जो आपकी है, वह मरनेके बाद भी साथ रहनी चाहिये। पर यहाँके तो धन, पुत्र, स्त्री, पद, गौरव—सभी छूट जायँगे, यहाँतक कि शरीर भी छूट जायगा। ये वस्तुएँ आपकी तो हैं नहीं। किंतु इन चारोंको देखिये—श्रीश्यामसुन्दर कभी नहीं छूटेंगे, राधारानी कभी नहीं छूटेंगी। श्रीगोपीजन कभी नहीं छूटेंगे, वृन्दावन भी कभी नहीं छूटेगा। यह इसीलिये कि ये नित्य हैं, नित्य आपके साथ रहते हैं, इनका कभी विनाश-वियोग होता ही नहीं तथा ये बार-बार आपके मनमें आते हैं, यह इनकी कितनी दया है। पर जब आप इन्हें पराया मानकर छोड़ देते हैं और परायेको अपना मानकर इनकी जगह याद करने लगते हैं, तब फिर ये छिप

जाते हैं। ये सोचते हैं—'अच्छी बात है, भाई! तुम मुझे चाहते ही नहीं तो क्या करूँ। तुम याद करते हो, याद करते ही तुम्हारे मनमें आकर उपस्थित हो जाता हूँ; पर मेरे आनेके बाद भी फिर तुम मुझको तो ढँक देते हो और उसकी जगह स्त्री-पुत्र-धनको बैठा देते हो। अब बोलो, मेरा क्या अपराध है?'

११. केवल विश्वास चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास होते ही सब काम बना-बनाया है। सकाम-निष्कामकी बात नहीं है। बात है भगवान्‌का भजन करनेकी, विश्वासपूर्वक भगवान्‌को स्मरण करनेकी। फिर चाहे किसी भी कामनासे आप भगवान्‌को क्यों न भजें, आपको श्रीभगवान् ही मिलेंगे। श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके समान प्रेमकी शिक्षा देनेवाला और कौन मिलेगा। उन्होंने एक जगह स्वयं अपने प्रिय-से-प्रिय शिष्य श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए कहा था—'अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन' (यदि मनुष्य किसी दूसरी कामनासे भी श्रीकृष्णका भजन करे तो) 'न माँगिले ओ श्रीकृष्ण तारे देन स्व-चरण' (श्रीकृष्ण न माँगनेपर भी उसे अपने चरणोंको ही दे डालते हैं)। ऐसा क्यों? इसपर कहते हैं—'कृष्ण कहे (श्रीकृष्ण सोचते हैं) आमाय भजे (यह मेरा भजन तो करता है) (पर) माँगे विषय-सुख (माँगता है विषय-सुख)। (ओह!) अमृत छाड़ि माँगे विष एइ बड़ मूर्ख (यह अमृत छोड़कर विष माँगता है—देखो तो, यह कितना मूर्ख है।) (किंतु) आमि विज्ञ (मैं तो मूर्ख नहीं हूँ—मैं तो जानता हूँ, सब कुछ जानता हूँ। किस बातमें इसका मङ्गल है, किसमें अमङ्गल है—सब जानता हूँ।) एइ मूर्खे विषय केन दिव (मैं भला जान-बूझकर, इसका हितैषी होकर भी इस मूर्खको विषय देकर ही कैसे टाल दूँ। मैं तो) स्वचरण दिया विषय भुलाइब (इसे अपने चरणोंका प्रेम देकर इसका विषय-प्रेम भुला दूँगा—इसके विषय-प्रेमको नष्ट कर दूँगा)।

सफलता होगी,—पर निरन्तर उनको भजनेसे, उनको याद करनेसे। भाव चाहे कुछ भी हो। आप करते नहीं, यही कमी है। वास्तवमें आप चाहते ही नहीं तब क्या हो।

१२. संत पाकर भी यदि जीवन भगवन्मय नहीं बन रहा है तो दो ही बात हो सकती है। आप जिसे संत मानते हैं, वह संत नहीं है या आप चाहते नहीं। श्रीगौराङ्गप्रभुकी शक्तिवाला संत कोई हो तो आपका काम बन सकता है। पर उसमें भी 'सब धान बाईस पसेरी' नहीं होगा। अधिकारीके अनुसार एवं श्रद्धा तत्परताके कारण तारतम्य हो ही जायगा। श्रीगौरांग महाप्रभुने उस मल्लाहको भी प्रेम-दान दिया और रूप सनातन, रघुनाथ—इन तीनों गोस्वामिगणको भी। पर क्या दोनोंको समान प्रेम मिला? मल्लाहमें बीज बो गया और गोस्वामियोंमें फल लगा दिया गया। एक व्यक्ति, मान लें, सर्वशक्तिमान् है। उसे आप चाहते हैं कि बस, सब कुछ लेकर मुझे आप अपनेको दीजिये। दूसरा चाहता है—हमें तो रोटी-कपड़ा दीजिये। तीसरा चाहता है—'हमें तो बस खूब मान-सम्मान दीजिये।' चौथा चाहता है, 'हमें तो आपकी सेवा चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।' अब वह व्यक्ति है तो बड़ा प्रेमी और उसके पास जो सबसे बढ़िया-से-बढ़िया चीज है, वही वह सबको देना चाहता है; पर लेनेवाला चाहते नहीं, वह उसकी दी हुई उस चीजको भी फेंक देता है। इसीलिये वह व्यक्ति सोचता है—क्या हर्ज है, तुम जो चाहोगे, वही देंगे। इसमें उसका क्या अपराध है?

१३. प्रेमकी चाह है—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। उस इच्छाको छिपाये रखकर जीभसे निरन्तर नाम लीजिये। इसमें कोई परिश्रम नहीं। फिर देखिये, यह इच्छा आगकी तरह बढ़ने लगेगी। इसमें कोशिश करनेपर निश्चय सफलता होगी ही। मन लगना कठिन है, ठीक है। न सही। पर जीभसे नामका उच्चारण

तो चाहनेपर अवश्य होगा। आप एक ही काम करें, शेष सब भगवान् करेंगे—वह काम है जीभसे निरन्तर नाम-जप। यह भगवत्-कृपापर अवश्य निर्भर है। पर भगवान्‌की आपपर कृपा है, विश्वास कीजिये। पूर्ण कृपा है और यह नामकी साधना निश्चय ही हो सकती है। यदि कोई कहे कि हमसे तो नहीं होता तो समझ लीजिये कि वह असलमें नाम लेना ही नहीं चाहता। एक बहुत बड़े संतने हमसे एक बार कहा था कि 'भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें; पर यदि कोई सचमुच चाहे कि हमसे निरन्तर नाम-जप हो और इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी।' भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर अपनी पूरी शक्ति लगाइये। शक्ति लगानेपर निश्चय ही नामजप होगा। जो ऊँची-से-ऊँची वस्तु है, जिससे परे कुछ भी नहीं है, वह सब बिना परिश्रम मिल जायगा। आप तो केवल एक व्रत ले लें। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बस, जीभ मशीनकी तरह नामका उच्चारण करती रहे। फिर अपने-आप सब हो जायगा। सारी बात भगवान्‌की कृपासे हो जायगी। मनका पाप मिट जायगा। मनकी चञ्चलता मिट जायगी। विषयानुराग नष्ट हो जायगा। संतोंके प्रति निश्चल निःस्वार्थ प्रेमभरा आकर्षण उत्पन्न होगा, भगवान्‌पर संशयहीन विश्वास उत्पन्न होगा। इस प्रकार सब कुछ अपने-आप होकर अत्यन्त दुर्लभ वस्तु, जो भगवत्प्रेम है, वह भी सच्ची इच्छा होनेपर मिल जायगा। केवल एक व्रत—निरन्तर जीभसे नाम। जैसे किसी मशीन-का स्विच दबा देनेपर वह अविराम चलती ही रहती है—बड़ी-बड़ी मीलोंमें देखा होगा, वैसे ही जीभको भगवान्‌के नामकी मशीन बना दें। अच्छी बात जो भी मनमें आये, कीजिये; पर जीभसे नाम लेते रहिये। इसके बिना साकार या निराकार—किसी भी प्रकारका ध्यान लगना बड़ा ही कठिन है। होता क्या है कि अधिकांशतः वृत्तियाँ शून्यमें लीन हो जाती हैं और लोग उसे ध्यान मान लेते हैं। मनमें भगवान्‌का जो भाव हो, वही रखें; पर जीभ नाम लेती रहे। एक केवल नामकी शर्त पूरी कर दें।

१४. हमारे जँचनेकी तो एक ही बात है। चाहे जैसे हो, दो काममें एक काम कर ही लेना चाहिये और जल्दी-से-जल्दी कर लेना चाहिये। या तो इस संसारको सर्वथा भूल जायँ तथा मनके सामने निरन्तर श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन और श्रीवृन्दावन ही नाचता रहे। अथवा जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय, वहीं-वहीं यह दृढ़ भाव, कभी भी नहीं टलनेवाला भाव हो जाय कि जो कुछ दीखता है, जो कुछ सुनायी पड़ रहा है, सब कुछ श्रीकृष्ण हैं, सब उन्हींकी लीला है। दोमेंसे एक हुए बिना मनका द्वेष मिटना कठिन है और जहाँतक द्वेष है, वहाँतक शान्ति मिलनी कठिन है। इन दोनोंमें अत्यन्त सहायक होता है—निरन्तर नामका अभ्यास। पर सब बात इसीपर निर्भर है कि हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवान् बन जायँ। यह ठीक-ठीक समझ लें कि जबतक कई और-और लक्ष्य रहेंगे, तबतक रास्ता कट जानेपर भी वह स्थिति सामने आनेमें बहुत विलम्ब लगेगा और जीवनभर अशान्ति कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। एकमात्र लक्ष्य भगवान् हो जायँ तथा फिर जो भी चेष्टा करें, वह यह ध्यानमें रखकर करें कि यह चेष्टा मुझे अपने लक्ष्यसे गिरानेवाली है या उठानेवाली, तब फिर रास्ता बड़ी शीघ्रतासे कटेगा। उदाहरणके लिये आप····गये। वहाँ जाकर दिन-रातमें आपने अनेकों चेष्टाएँ कीं, खाया-पीया, घूमे, सोये, लोगोंसे मिले। अब विचार करके देखें कि आपने जो भी चेष्टाएँ की हैं, उनमें कौन-सी चेष्टा किस उद्देश्यको लेकर की है। उस दिन रास्तेमें आपने किसी सज्जनसे बात की। अब बात करते समय आपका एकमात्र लक्ष्य यदि श्रीकृष्ण होंगे तो आपके मनकी दशा दोमेंसे एक प्रकारकी होगी। या तो

आपको उक्त सज्जनके रूपमें श्रीकृष्णकी अनुभूति होगी और बात करते-करते आप आनन्दमें मुग्ध होते रहियेगा। अथवा मन बिल्कुल उपराम रहनेसे उस समय ऊपरी मन-से तो आप बात करेंगे और भीतरी मन आपका श्रीकृष्णके रूपमें, गुणोंमें, लीलाओंमें लगा रहेगा। ऐसा न होकर यदि और कुछ आपका भाव है तो साफ-साफ यह बात समझ सकते हैं कि आपका लक्ष्य श्रीकृष्ण नहीं हैं। देखें, दिव्य वृन्दावनसे सुन्दर यह स्थान नहीं है। दिव्य वृन्दावनके महलोंसे अधिक सुन्दर यहाँका कोई भी भवन नहीं है। पर जब आपका मन इस भवनके देखनेपर चलता है, तब फिर यह समझ लेना चाहिये कि अभी तो यह वृन्दावन देखना ही नहीं चाहता; क्योंकि यह नियम है कि लक्ष्य श्रीकृष्ण हो जानेपर दिन-रात मस्तिष्क यही सोचता रहेगा कि कैसे वह रास्ता तय हो। उस समय यहाँका भवन आपको सुहायेगा नहीं। हाँ, यदि यह भाव हो कि सब कुछ श्रीकृष्णकी लीला है, तब तो कुछ कहना बनता ही नहीं। पर इसमें भी एक सावधानीकी आवश्यकता है। बढ़िया-बढ़िया चीजोंको लीला मान लेना आसान है; परीक्षा तो तब होती है, जब गरमी पड़ रही हो पानी मिले नहीं और मन भीतरसे कहे कि यह भी श्रीकृष्णकी ही एक लीला है। खूब ठंडाई पीनेको मिले, मोटर घूमनेके लिये हो, हाथ जोड़े सेवा करनेवाले खड़े हों, उनमें श्रीकृष्णकी लीला मानना सरल है। इसीलिये आपसे प्रेमवश निवेदन किया है कि कहीं भी जायँ, कुछ भी करें, अपना लक्ष्य न भूलें। हम अमुक काम क्यों करते हैं—यह खूब विचारकर उसे करें।

किसीके यहाँ आप जीमने बैठे हैं। अब उस समय भी आपको यह ध्यान रहेगा कि हम खाते क्यों हैं? श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये या भोग भोगनेके लिये? भोग भोगनेके लिये खाना दूसरी तरहका होता है तथा श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये खाना दूसरी तरहका। आप खायेंगे वे ही चीजें तथा जितनी खाते हैं, उतनी ही खायेंगे; पर श्रीकृष्ण लक्ष्य होनेपर आपका मन उस समय श्रीकृ का ही चिन्तन करता रहेगा या परोसनेवालेमें भी श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दीखेंगे तथा आपका मन आन भरता ही रहेगा।

यदि हमारा लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं तो फिर संसारके चित्र तो बहुत अधिक पहलेसे ही भरे हैं, अब यहाँके भवनको और क्यों भरें। यह नया ही तो भरेगा। उसकी जगह यदि श्रीकृष्णके निकुञ्जोंको याद कर सकें, जो एक-से-एक बढ़कर जिनकी छाया भी संसारके समस्त बगीचोंकी सुन्द नहीं छू सकती, उन निकुञ्जोंमें मन फँसायें तो कि लाभ हो। स्वयं शान्ति पायें तथा अपने पास रहनेवा को भी शान्ति दें। हाँ, एक बात है। मन बदमाश। यह रुके नहीं तो एक और उपाय है जैसे उस महलमें गये थे। वहाँ पता नहीं क्या देखा। पर जो-जो चीज आपने देखी, उसी-उसीके आ दिव्य वृन्दावनकी कल्पना उसी समय साथ-साथ जाते तो जैसे जहरके साथ अमृत भरा जाय, वैसे इन संस्कारोंके साथ ही एक ऐसी दिव्य चीज मस्ति घुसती चली जाती कि वह बहुत काम देनेवाली जाती। आपकी बात नहीं, पर प्रायः ऐसा ही होगा कि इन चीजोंको देखते समय भगवान्‌को तो हम भूल हैं और चीज—माया-माया केवल दीखती है—जि परिणाम होता है दुःख।

इस मनसे ही तो लड़ना है। इसीमें तो बहा है। इससे कहिये—'यार! अनादि कालसे तेरे ही मैं श्रीकृष्णसे बिछुड़ा हुआ हूँ। पर अब श्रीकृ कृपासे तुझे मैं श्रीकृष्णके पास ले जाकर निहाल दूँगा। स्वयं निहाल हो जाऊँगा।' यह न करके का कहा करेंगे तो फिर तो यह अभी भवन देखनेको कहता है, फिर मंडी देखनेको कहेगा, दूकान सम्ह के लिये कहेगा। इसपर तो शासन करना हो

चतुराईसे जैसे यह आपको धोखा देता है, वैसे ही चतुराईसे आप इसे बाँध लीजिये। जब यह बहुत अड़ जाय कि मैं तो अमुक चीज देखूँगा ही और यदि वह पापकी बात न हो तो दिखा दीजिये। पर उसके साथ ही किसी-न-किसी रूपमें श्रीकृष्णको भी जोड़े रखिये, जिससे इस जहरका असर न हो।

अत्यन्त प्रेमसे कहता हूँ, कोई बात अनुचित हो तो क्षमा कीजिये। प्रेमवश कह रहा हूँ। इस शरीरको बिल्कुल मनसे उतार देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मामूली सर्दी-गरमी भी यदि सहन नहीं होगी तो फिर वृन्दावनमें जीवन कैसे बीतेगा। वहाँ तो मच्छर खूब काटेंगे। पानी गरम-गरम पीनेको मिलेगा। पासमें यदि पैसा न न रहा तो खानेका भी ठिकाना नहीं कि रोज मिले ही। फिर यदि पित्त गरम होनेकी परवा बनी रही तो व्रजमें वास कैसे कर सकेंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि खायें-पीयें नहीं। अच्छी तरह खाइये, पर मनसे ये चीजें उतर जायँ। लू चल रही है। अब बार-बार सोचिये—'अरे बाप रे! बहुत लू चल रही है' तो अशान्ति बढ़ेगी। यह न करके सोचिये, 'अहा! क्या ही सुन्दर जीवन दो दिनके लिये मिला है, घर रहते तो इस लूका आनन्द कहाँ मिलता।' फिर मनमें आनन्द होने लगेगा।

भागवतमें कहा है—आकाश, वायु, अग्नि, पानी, पृथ्वी, नक्षत्र, सभी प्राणी, सभी दिशाएँ, सभी पेड़, सभी नदियाँ—ये सब-के-सब, चाहे अचर हों या चर हों—कोई भूत हो—सब श्रीकृष्णके शरीर हैं, यों मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे। अब लू चल रही है, गरमी है; उसमें आग है ही तथा वायु भी है। यदि यह भावना हो जाय कि अग्नि एवं वायुरूपसे मेरे शरीरको श्रीकृष्ण ही छू रहे हैं तो कितना आनन्द हो।

१५. खूब तत्परतासे नित्य वस्तुमें मन डुबाइये। नहीं तो सच मानिये, इतना पश्चात्ताप हो सकता है कि उसकी कोई सीमा नहीं है। बिल्कुल गाँठ बाँधकर रख लें। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके सिवा यदि मन कुछ भी चिन्तन करता है तो समझ लें कि घाटेका कोई हिसाब ही नहीं है। अभी पता नहीं लगता, अभी चेष्टा नहीं होती; पर इन्द्रियाँ मरनेके समय इतनी व्याकुल हो जाती हैं कि बिना अभ्यास भगवान्‌में मन स्थिर होना बड़ा ही कठिन होता है। अतः जीवन-का शेष समय पूरा श्रीभगवान्‌में लगाइये। बड़ी तेजीसे रास्ता काटिये, नहीं तो परिवार-धन-जनमें कहीं मन फँसा रहा और मृत्यु हो गयी तो जीवन बिल्कुल व्यर्थ ही हो गया समझिये। (क्रमशः)

विषयोंमें सुख नहीं

जो सुख-रूपी जल हेतु विषय-मग जाते।
वे मृग-जल-जलधि-तरंग सदृश जल पाते॥
जैसे मृग-तृष्णा-जलसे प्यास न मिटती।
वैसे विषयोंसे सुखकी चाह न मिटती॥
ज्यों बालूके पेरे से तेल न पावै।
ज्यों जल-मन्थनसे घृत-सीकार नहिं आवै॥
कारण, न धूलमें तेल, न जलमें घी है।
वैसे ही विषयोंमें सुख-लेश नहीं है॥
जो सुख चहिये तो हरिको हरदम भजिये।
हरिके पवित्र भावोंसे तन-मन सजिये॥

स्वर्ग-नरक क्या हैं ?

[अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकार्तिकेयजी महाराजके सत्सङ्गसे]

(प्रेषक—श्रीज्ञानानन्दजी)

प्रश्न—स्वर्ग-नरक क्या हैं ? वहाँ प्राणी अपने कर्मोंका फल किस प्रकार भोगता है ?

उत्तर—वास्तवमें देखा जाय तो तृष्णाकी अधिकता अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंके भोगनेकी तथा मान-प्रतिष्ठा इत्यादिकी इच्छा जिसके हृदयमें घुसी हुई है, वह लोकमें चाहे कितना ही भोगैश्वर्यसम्पन्न तथा महान् लब्धप्रतिष्ठ क्यों न हो, वह दुखी ही है अर्थात् उसका नरकमें ही निवास है।

'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः ।'

जिसकी भोगेच्छा जितनी बढ़ी होती है, उसका उतने ही बड़े नरक (दुःख) में वास समझना चाहिये। यह तो लोकमें प्रत्यक्ष ही है कि तृष्णा और चिन्ताका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिसके हृदयमें जितनी तृष्णा है, उतनी ही मात्रामें चिन्ता अवश्य होगी और जितनी चिन्ता जिसके हृदयमें है, उतना ही वह लोकमें दुखी भी माना जाता है।

शास्त्र, संत-वाणी और निजी अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है कि यह भोगेच्छा ही सम्पूर्ण पापों (दुराचारों) की जड़ है। गीतामें जब अर्जुनने भगवान्‌से यह प्रश्न किया कि, 'भगवन्! न चाहनेपर भी बलात्कारसे पापाचरणमें लगा देनेवाला गुप्त शत्रु कौन है ?' तब श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

अर्थात् हे अर्जुन ! इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करने तथा भोगनेकी कामना ही, जिसकी उत्पत्तिका कारण रजोगुण है तथा जो वह अग्नि है, जो विषयरूपी घृतको पाकर अति प्रबलरूपसे बढ़ती ही जाती है अर्थात् कभी शान्त नहीं होती,—छोटेसे लेकर बड़े-से-बड़े महान् पापोंके करानेमें भी प्रधान हेतु कही गयी है। इसी पिशाचिनीके वशीभूत होकर प्राणी नाना प्रकारके दुराचरण करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अक्षय परमानन्द आत्म (भगवत्)- सुखसे वञ्चित भी हो ही जाता है, साथ ही अनन्त कालके लिये चौरासी लाख योनिरूपी महान् दुःखगर्त (नरक) में गिर जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि इन्द्रियोंके विषय तथा विष (जहर) में निश्चय ही महान् अन्तर है अर्थात् विषसे कई लाखगुना प्रभावकारी विषय है। उस विषको तो जब आदमी खाता है तब मरता है; परंतु विषय तो स्मरणमात्र करनेवालेको एक बार ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ज्ञान, ध्यान, भजन और तपस्याको नष्टकर चौरासी लाख बार मृत्युकी यन्त्रणा देकर अर्थात् कूकर-शूकर आदि महान् दुःखदायी योनियोंमें भटकाते हैं।

अहि-विष तौ काटे चढ़ै, यह चितवत चढ़ि जाय ।
ग्यान ध्यान को नष्ट करि, चौरासी लै जाय ।
महा हलाहल विषय है, इन सम विष नहिं कोय ।
एक बार भच्छन किये, चौरासी घर होय ।

अस्तु, महान् प्रयत्न करके विषय (जगत्)-चिन्तन का परित्याग करना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब हम दृढ़तापूर्वक आत्म (भगवत्)-चिन्तनका निरन्तर अभ्यास करें।

यह तो प्रत्यक्षवादद्वारा भी सिद्ध है कि यह जीव जिस-जिसका स्मरण करता है, उसके गुणोंको ग्रहण करता हुआ उसमें आसक्तिको प्राप्त करता है। भगवान् श्रीगीताजीमें भी भगवान् यही बतला रहे हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

अर्थात् विषय-चिन्तनसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है तथा

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते। (श्रीमद्भा०)

—मेरा चिन्तन बराबर करते रहनेसे समस्त दुर्गुणोंसे मुक्त होकर यह चित्त मेरे ही गुणोंसे सम्पन्न हो मद्रूपताको प्राप्त होता हुआ मुझमें पूर्ण प्रेमासक्तिको प्राप्त करता है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि तृष्णा ही नरक है। यह इस मृत्युलोकका नरक हुआ। इसके अतिरिक्त एक और भी नरक है, जिसको महर्षियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर बताया है तथा जो जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) से आठ लाख मीलकी दूरीपर दक्षिणमें संयमनी (यम) पुरीके समीप विख्यात है, जहाँके सम्राट् श्रीयमराज हैं।

यह नरकपुरी दुराचारियोंको दुराचारका फल भुगतानेके लिये ईश्वरद्वारा बनायी हुई संसारकी सबसे बड़ी जेल है। यमराजके असंख्यों भट (सिपाही), जो यमदूतके नामसे विख्यात हैं, दुराचारियोंको उनकी आयुके समाप्त होनेपर उनके उदानवायुरूप* प्राणोंको यम-यन्त्रके द्वारा निकालकर अपने साथमें लाये हुए अङ्गुष्ठमात्र शरीरमें प्रवेश कराकर घोर यातना देते हुए यमपुरी ले जाते हैं। वहाँ ले जाकर इस दुराचारी जीवको यमराजके निर्णयके अनुसार अनेक नरकोंमें प्राणान्त कष्ट देते हैं—जैसे अग्निसे तपाये हुए लाल खंभोंसे लिपटाना, अत्यन्त संतप्त रेतीपर मीलों दौड़ाना, करोड़ों बिच्छुओंसे एक साथ बिंधवाना इत्यादि। जो बहुत बड़े दुराचारी होते हैं, उनको इससे भी अधिक घोर कष्टदायक नरकोंमें सैकड़ों वर्षोंतक कष्ट पहुँचाया जाता है; परंतु विशेषता यह है कि दैवेच्छासे घोर कष्टोंको भोगते हुए भी नरकके प्राणी मृत्युको नहीं प्राप्त होते।

इसी प्रकार दुराचारी (पापी) लोग जहाँ रहकर अपने पाप-(बुरे) कर्मोंके फलको भोगते हैं, ऐसे लोकको ऋषियोंने नरकके नामसे वर्णन किया है। अब स्वर्ग क्या है, इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।

अर्थात् तृष्णा (भोगेच्छा) का नाश ही वास्तवमें स्वर्ग है—

तृष्णानाश स्वर्ग है भाई। तृष्णावृद्धि नरक अधिकाई॥

क्योंकि यह तो प्रत्यक्षवादसे सिद्ध ही है कि भोगेच्छाके नाशसे चिन्ता, दुःख और शोकका अभाव हो जाता है तथा सहज प्रसन्नताकी अनुभूति होने लगती है।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह॥

अन्यत्र भी संतोंने ठीक ही कहा है—

चाह चमारी चूहरी, सौ नीचन की नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था, (जो) चाह न होती बीच॥

जिस समय प्राणी सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर हार्दिक प्रसन्नताको प्राप्त करता है, उस समय उसका स्वर्गमें ही नहीं, अपितु स्वर्गसे भी अनन्तगुने सुखदायी वैकुण्ठमें ही वास समझना चाहिये।

---

* पाठकोंको यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस प्रकार मालाकी मणियाँ धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदानवायुरूपी धागेमें मन तथा आँख, कान, रसना, नाक, त्वचा इत्यादि इन्द्रियाँ गुँथी रहती हैं। उदानवायुरूप प्राणको बाहर निकालनेपर अन्य प्राणोंके साथ मन-इन्द्रियाँ इत्यादि अपने-आप ही स्थूलशरीरसे बाहर हो जाती हैं। योगीलोग इसी उदानवायुको जीतकर परकायप्रवेशरूप सिद्धिको प्राप्त करते हैं। इन्हीं मन-प्राण-इन्द्रियोंके समुदायको ही शास्त्रोंमें आत्माका सूक्ष्मशरीर कहा है। बाहरसे दिखायी पड़नेवाले आँख, कान इत्यादि अङ्ग नहीं हैं, ये दिखायी पड़नेवाले नेत्रादि इन्द्रियोंके गोलक (डिब्बे) हैं। इन्द्रियाँ सूक्ष्म आकारवाली होती हैं, जो इन नेत्रोंसे नहीं दिखायी पड़तीं। यह सूक्ष्मशरीर ही नरक, स्वर्ग इत्यादि लोकोंमें अपने कर्मानुसार भ्रमण करता रहता है अर्थात् कभी देव, कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य इत्यादि स्थूलशरीरोंको न चाहनेपर भी ईश्वरीय नियमानुसार बरबस प्राप्त करता रहता है।

इसके सिवा एक और स्वर्गलोकका वर्णन शास्त्रोंमें आया है, जो मृत्युलोकसे कई करोड़ मीलकी दूरीपर पूर्व दिशामें स्थित है। वहाँके सम्राट् 'इन्द्रदेव' कहलाते हैं। वहाँ जिसने जितने अच्छे सत्कर्म (पुण्य) किये हैं, उनके अनुसार वह उतने वर्षोंतक वहाँ रहकर वहाँके मृत्युलोककी अपेक्षा कई लाख गुने सुखदायी भोगोंको भोगता है। पश्चात्, पुण्य क्षीण हो जानेपर उसे मृत्युलोकमें गिरा दिया जाता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(गीता ९। २१)

वहाँके सुखोंका वर्णन ऋषियोंने इस प्रकार किया है कि वहाँके निवासी शब्द, स्पर्श आदि विषयोंको (जो यहाँकी अपेक्षा दिव्य हैं) निरन्तर भोगते रहनेपर भी कभी बुढ़ापा या किसी भी रोगके शिकार नहीं होते। वहाँके सभी लोग अणिमा आदि सिद्धियोंसे सम्पन्न होते हैं।

यह सब होते हुए भी भगवत्-सुख (सर्वदुःख-रहित अक्षय परमानन्द)से, जो उनके सुखसे उतना ही महान् है जितना एक बूँदकी अपेक्षा अनन्त समुद्र महान् होता है और जो सदा-सर्वदा रहनेवाला है—जब कि स्वर्गका सुख क्षणभङ्गुर है, और जिस सुखको प्राप्त करके प्राणी काम-क्रोधादिक सम्पूर्ण मानसिक तथा जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा आदि शारीरिक तथा शीत-उष्णादिक सम्पूर्ण दैविक द्वन्द्वोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, स्वर्गनिवासी वञ्चित ही रहते हैं तथा पातित्याशङ्काके साथ-साथ ईर्ष्या, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, राग-द्वेष इत्यादि सम्पूर्ण मानसिक द्वन्द्वोंसे उत्तम, मध्यम आदि सभी श्रेणीके लोग जलते ही रहते हैं। साथ ही यह भय तो वहाँके निवासियोंको सदैव घेरे रहता है कि अवधि समाप्त होनेपर मैं यहाँसे निश्चय ही गिरा दिया जाऊँगा। इस प्रकार स्वर्ग भी वास्तवमें सुखदायी सिद्ध नहीं होता।

वास्तवमें पूर्ण सुखकी अर्थात् सब द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर अक्षय परमानन्दकी प्राप्ति उसीको होती है, जिसने सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा (श्रीहरि) के युगल चरणारविन्दका पूर्ण आश्रय ग्रहण कर लिया है।

नन्दनन्दन-चरण

भजि मन ! नंद-नंदन-चरन।
परम पंकज अति मनोहर, सकल सुख के करन॥
सनक-संकर ध्यान धारत, निगम-आगम बरन।
सेस, सारद, रिषय, नारद, संत चिंतन सरन॥
पद-पराग-प्रताप दुर्लभ, रमा कौ हित-करन।
परसि गंगा भई पावन, तिहूँ पुर धन-घरन॥
चित्त चिंतन करत जग-अघ हरत, तारन-तरन।
गए तरि लै नाम केते, पतित, हरि-पुर-घरन॥
जासु पद-रज-परस गौतम-नारि-गति-उद्धरन।
जासु महिमा प्रगटि केवट, धोइ पग सिर धरन॥
कृष्न-पद-मकरंद पावन, और नहिं सरबरन।
सूर भजि चरनारबिंदनि, मिटै जीवन-मरन॥

साधन-भूमि

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें विवेकी मानव ही अपने जीवनमें अपूर्णतासे दुखी होकर पूर्णताकी प्राप्तिके लिये साधनका प्रश्न उठाते हैं।·····वास्तवमें जिसके द्वारा कुछ भी प्राप्त किया जाता है, वही उस वस्तुके प्राप्त करनेका साधन है। रूप-दर्शनके लिये नेत्र, शब्द-श्रवणके लिये श्रवणेन्द्रिय, गन्ध-ग्रहणके लिये घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शके लिये त्वगिन्द्रिय, किसी स्थूल वस्तुको पकड़ने तथा उठानेके लिये हाथ, कहीं गमन करनेके लिये पैर अथवा मानने तथा प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके लिये मन, चिन्तनके लिये चित्त, सम्बन्धित वस्तु और व्यक्तिके विषयमें निश्चय और विचार करनेके लिये बुद्धि तथा किसीके साथ आत्मरूप होने या मिलनेके लिये अहंकार साधन हैं।·····ज्ञानकी कमीके कारण सुखोपभोगकी तृष्णापूर्तिके लिये प्राप्त जीवनरूपी साधनका उपयोग करते रहना दुःखका मार्ग है और यथार्थ ज्ञान अथवा सद्विवेकके सहारे मिले हुए जीवनरूपी साधनका सेवामें सदुपयोग करना और बदलेमें कुछ न चाहना शान्तिका मार्ग है। दुखी होकर फिर सुखके पीछे दौड़ना अज्ञानीकी गति है, दुखी होकर संसारमें संयोग-भोगका सुख न चाहते हुए शान्ति प्राप्त करना ज्ञानीकी सद्गति है।·····इन्द्रिय, वाणी, मन तथा चित्तके साथ जिस किसी भी अशुभ, असुन्दर और अपवित्र वस्तु या भावका संयोग हो गया है, उसका बहिष्कार करना ही उनकी शुद्धिके लिये साधना है।

अनेक साधक ऐसे दीख पड़ते हैं, जो अपूर्ण साधनाको पूर्ण साधना मानकर संतुष्ट होते रहते हैं। कुछ देर एकान्तसेवनके परिणामस्वरूप मनके विश्रामको—अन्तर्मुखी वृत्ति होनेपर शान्ति और स्थिरभावके रसास्वादको परमानन्द समझनेवाले साधकोंकी दुर्बलताका पता तब चलता है, जब प्रारब्धवश अचानक कहीं लाभमें हानि, प्रिय-संयोगमें वियोग तथा सम्मान और अधिकारमें अपमान और अपयशका अवसर उपस्थित होता है; ऐसे साधक उसी प्रकार चिन्तित, भयातुर और दुःखसे आक्रान्त दीख पड़ते हैं, जिस प्रकार साधनाभ्यास न करनेवाले लोभी-मोही-अभिमानी प्राणी चिन्तित, भयातुर और दुखी होते रहते हैं। वास्तवमें जिसकी साधना जीवनकी किसी अवस्था, वर्ष, मास, दिवस, घंटे-घड़ीमें सीमित है, उसे अभी साधनाका पूर्ण परिज्ञान नहीं है। यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेनेकी बात है कि जीवनमें शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति—जो कुछ भी प्राप्त है, वही साधन है—उसीसे मनोऽभिलषित साध्यकी प्राप्ति होती है, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक—परमार्थ हो। साधना बाह्य और आभ्यन्तर—दो तरहकी होती है। जो बाह्य साधनोंमें अपने-आपको बाँध लेता है, उसमें साधना करनेका अभिमान तो आ जाता है; पर जो साधना होनी चाहिये, उसका ज्ञान नहीं होता। बाहरी साधनासे ऊपरके दोष ढक जाते हैं, ऊपरसे जीवनका रूप शुभ—सुन्दर प्रतीत होने लगता है; किंतु भीतर दोष छिपे रह जाते हैं, असुन्दरता—मलिनता बनी रहती है।

दान, तप, सेवाकर्म, जप, कीर्तन, पाठ, पूजा आदि बाहरी क्रियाप्रधान साधनाएँ हैं; इन्हींके पीछे दया, करुणा, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता, सर्वहितकी भावना तथा निष्काम प्रीति आन्तरिक साधनाएँ हैं; बाहरी साधनाकी सफलता भीतरी साधनाके सहयोगपर निर्भर करती है।·····अन्तःकरणकी शुद्धि ही सर्वोत्तम साधना है। अन्तःकरण ही अन्तरङ्ग साधन है, जिसके द्वारा भीतरी—वास्तविक साधना चलती है। साधनाके पीछे सुविधि, सुविधिके पीछे भाव और भावके साथ यथार्थ

विवेक तथा विवेकके भीतर प्रेमकी अत्यन्त आवश्यकता है; प्रेमका योग परमानन्दस्वरूप परमात्मासे ही होना चाहिये—यही वास्तविक पूर्ण साधना है।

जिसकी क्रिया-शक्तिका इन्द्रियोंके विषय-रसोंके ग्रहणमें व्यय होता रहता है, जिसका भाव-बल संसारकी सुखद वस्तुओंके पीछे लगा रहता है, जिसके विवेकका सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही उपयोग होता रहता है और जिसकी प्रीति—ममता सांसारिक सम्बन्धियोंमें ही आबद्ध है, उसकी साधना परमार्थकी सिद्धिमें सफल नहीं हो सकती।.....साधनाके मध्यमें किसी प्रकारका रसास्वाद ही उन्नति—प्रगतिको रोक देता है।.....रसास्वादसे विरक्त साधकमें स्वतः ही सद्गुरु-कृपासे सुविधि, सद्भाव, सद्विवेक और प्रेमका सुयोग होता रहता है और यह उसे परमानन्द परमात्मामें समस्थित कर देता है।

साधककी अन्तिम सफलता त्याग और प्रेमकी पूर्णतापर ही निर्भर करती है। अपने परम लक्ष्यके अतिरिक्त किसी भी सुखद वस्तु, अथवा व्यक्ति और भोगरसका चिन्तन ही साधनामें महान् विघ्न है। उत्तम साधना वही है, जिसके द्वारा भोगकामनाओं और सांसारिक रागकी निवृत्ति हो और परमात्मामें ही पूर्ण अनुरक्ति हो। सर्वोत्कृष्ट आराधना वही है, जिससे अपने प्रियतम प्रभुके अनन्त दया-दान और प्रेम तथा अहैतुकी कृपामें चित्त स्थिर रहे—शान्त रहे। सर्वश्रेष्ठ उपासना वह है, जिससे अपने प्रियतम प्रभु—आराध्य-देवके सांनिध्यमें उन्हींकी महिमाका मनन करते हुए मन निर्विकार—अचञ्चल हो, उन्हींके नित्य [illegible] बुद्धि समस्थिर हो और हृदय अनुरागसे परिपूर्ण—तृप्त हो।

जो इन्द्रियोंको वशमें रखकर धन तथा मान[illegible] इच्छाका त्याग करके उदार दानी और परहितक[illegible] होता है, मिले हुए तन-धनादि पदार्थोंको अपना [illegible] मानकर उनका सेवामें सदुपयोग करता है तथा अ[illegible] वस्तुका चिन्तन छोड़ देता है, अपने ऊपर होनेवा[illegible] दूसरोंके अधिकारके अनुसार अपना कर्तव्य पूरा क[illegible] है और दूसरोंपर रहनेवाले अपने अधिकारका त्याग [illegible] देता है, राग-द्वेषसे अपने आपको मुक्तकर तृप्त—[illegible] रहता है, अपनी प्रसन्नता अपनेसे भिन्न वस्तु [illegible] व्यक्तिके आश्रित नहीं रखता, सबसे निराश होकर—भीतर-ही-भीतर सबसे माना हुआ सम्बन्ध तोड़कर केव[illegible] सर्वव्यापक, अविनाशी परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ [illegible] है, उसीकी साधना पूर्ण होती है।

जो बहिर्मुखी, विषयाकार—दृश्याकार मनोवृत्ति[illegible] अन्तर्मुखी बनाकर उसे अन्तरात्मा अथवा विश्वात्मा [illegible] परमात्मामें लगाता है, अपने चित्तको संसारकी अनेक[illegible] से मोड़कर आत्मतत्त्वकी एकताका अनुभव करता है [illegible] साधना उसीकी पूर्ण होती है।.....दुःख-द्वन्द्व[illegible] मुक्त, नित्यतृप्त आनन्दमय जीवन ही साध्य है [illegible] दुःख-द्वन्द्वोंसे घिरा हुआ अनित्य जीवन ही इस प[illegible] साध्यकी प्राप्तिका साधन है।.....मिले हुए जीव[illegible] रूपी साधनका भोग नहीं, सदुपयोग ही साधना है [illegible] असत्-सङ्गका पूर्ण त्याग, सत्यका पूर्ण ज्ञान और स[illegible] ही पूर्ण प्रेम साधनाकी सिद्धि है।

शिवाराधन ही परमसिद्धि है

दानि जो चारि पदारथको, त्रिपुरारि, तिहूँ पुरमें सिर टीको।
भोरो भलो, भले भायको भूखो, भलोई कियो सुमिरें तुलसीको॥
ता बिनु आसको दास भयो, कबहूँ न मिट्यो लघु लालचु जीको।
साधो कहा करि साधन तैं, जो पै राधो नहीं पति पारबतीको॥

पागलकी झोली

[रामनाम दातव्य औषधालय]

(लेखक—श्रीमत्सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

राम-राम सीताराम ! पागलको एक भक्तने बाजारमें एक मकान दे दिया है। पागलने उस घरके बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख रक्खा है—

'रामनाम दातव्य चिकित्सालय'

घरके भीतर-बाहर रामनाम लिखे हैं । दस-बारह गमलोंमें तुलसीके पेड़ लगे हैं। पास ही तुलसीका एक बड़ा बगीचा है। पागल बैठा राम-राम कर रहा है।

एक स्त्रीने आकर पूछा—बाबा, क्या यही पागलका दवाखाना है ?

पागल—हाँ, राम-राम तुम्हें क्या बीमारी है राम-राम ?

स्त्री—सिरमें बड़ा दर्द हो रहा है।

पागल—केवल राम-राम करो। सबेरे नाकसे जल पीओ। तीन बार नहाओ और कम खाओ। सदा राम-राम रटो। बस, रोग मिट जायगा।

स्त्री—मेरा रोग मिट जायगा, बाबा ?

पागल—राम-राम, राम-राम ! निश्चय ही मिट जायगा। बोलो राम-राम, राम-राम।

स्त्री—राम-राम करती-करती प्रणाम करके चली गयी।

(एक वृद्धने आकर प्रणाम किया)

वृद्ध—मुझे बचाओ, बाबा ?

पागल—तुम्हें क्या हुआ है राम-राम ?

वृद्ध—मुझे दमेका रोग है।

पागल—राम-राम, तुलसीका बगीचा लगाकर सब समय उसीमें रहनेकी चेष्टा करो। सहज ही हजम हो जाय, ऐसी चीज खाओ और केवल राम-राम करो। प्रातः-संध्या नियम-पूर्वक राम-राम जपो।

वृद्ध—मेरा रोग मिट जायगा, बाबा ?

पागल—जगत्में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो राम-नामसे न हो सके। राम-राम, राम-राम।

वृद्ध प्रणाम करके राम-राम रटता हुआ जाने लगा।

पागल—राम-राम, सीताराम, सीताराम।

(एक युवकका प्रवेश और प्रणाम)

पागल—राम-राम, सीताराम—तुम्हें क्या रोग है, भैया !

युवक—मुझे तपेदिक (यक्ष्मा) हो गया है।

पागल—घरके पास कोई नदी है ?

युवक—हाँ, गङ्गाके किनारेपर ही घर है।

पागल—राम-राम, सीताराम। बगीचा भी है, राम-राम।

युवक—हाँ, है।

पागल—राम-राम, राम-राम। दो-एक बीघे भूमिमें तुलसी लगा दो। उसके बीचमें एक कुटिया बनाकर उसके चारों ओर राम-नाम लिख दो। धूप और वर्षाके समय कुटियामें रहो। शेष समय खुलेमें तुलसीके समीप बैठकर राम-राम करो।

युवक—मैं अच्छा हो जाऊँगा ?

पागल—राम-राम करते हुए अच्छे होते भी देखे हैं और मरते भी देखे हैं। जिसका मरनेका समय आ गया है, उसे कौन बचायेगा ? राम-राम करो। सुबह-शाम-दुपहरको नियमसे जप करो। राम-राम, क्या खाओगे ?

युवक—बतलाइये, क्या खाऊँ ?

पागल—राम-राम, सीताराम। महीन चावल, कच्चा केला, मटरकी दाल, ऊखका गुड़, सेंधा नमक और गायका दूध—जितना पच सके उतना खाओ और राम-राम करो। तुम्हारे हृदयमें राम हैं। उनसे पूर्वकृत अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना करो।

युवक—मैंने क्या अपराध किया है ?

पागल—मनमाना भोजन, अनियमित स्त्री-सङ्ग, जहाँ-तहाँ, जब-तब, जिस-किसीके हाथका खाना। मद्य-मांस, बटेर, मुर्गी, अंडा, प्याज, लहसुन—इन सब अखाद्य चीजोंके खानेसे मनुष्यको बीमारी होती है। राम-राम तुमने ये सब अत्याचार किये हैं, राम-राम ?

युवक—हाँ, खान-पान और स्त्री-सङ्गमें तो मैंने कभी कोई विचार नहीं किया।

पागल—राम-राम जो हो चुका है, उसके लिये तो कोई चारा नहीं है। केवल राम-राम करो। भीतर राम हैं; जबतक वे उत्तर न दें, तबतक राम-राम करते ही रहो।

युवक—मन बड़ा ही अस्थिर है।

पागल—राम-राम, उसे होने दो। राम-राम करते-करते मन स्थिर हो जायगा। यक्ष्मा लगनेवाला रोग है, किसीको पास न आने देना। थूक-कफ जमीनमें गाड़ना, राम-राम कम-से-कम २॥ सेर जल रोज पीना। बाहरके गाँवोंमें अच्छा जल और हवा खूब सस्ते हैं। खुली हवामें सदा रहना। राम-राम-राम। तुम भी बोलो—राम-राम-राम।

युवक राम-राम बोलता हुआ प्रणाम करके चला गया।

(एक बालकका प्रवेश)

पागल—राम-राम तुमको क्या बीमारी है?

बालक—नींदमें सोते हुए बिछौनेपर पेशाब हो जाता है। और पढ़ा हुआ कण्ठस्थ नहीं होता।

पागल—राम-राम। पिताको, माताको और दूसरे गुरुजनोंको प्रातःकाल, दुपहर और संध्याको—तीन बार प्रणाम करना। तुलसीके पत्तोंका रस पीना और सदा राम-राम करना। सुबह-शाम दस-दस हजार राम-नामका जप करना। रात्रिको भोजन मत करना, जल न पीना। कड़े बिछौनेपर सोना। बिछौनेपर बैठकर पाँच हजार राम-नाम जप करना। राम-राम-राम, बोलो राम-राम।

बालक—गिनती कैसे रक्खूँ?

पागल—तुलसीकी मालासे जपकी संख्या रखना। राम-राम, राम-राम।

बालक प्रणाम करके राम-राम करता हुआ चला गया।

पागल—राम-राम, राम-राम, सीताराम।

(एक युवतीका प्रवेश)

पागल—राम-राम-राम। बताओ, तुम्हें क्या हुआ है?

युवती—मेरे स्वामी मुझे स्वीकार नहीं करते।

पागल—राम-राम, सीताराम। सदा पवित्र भावसे रहना। किसी पुरुषके पास मत जाना, पुरुषको मत देखना। सुबह, दुपहर, शाम—तीन बार पाँच-पाँच हजार राम-नाम जपना और सदा ही राम-राम करना। राम-राम-राम।

युवती—राम-राम करनेसे क्या स्वामी मुझे स्वीकार कर लेंगे?

पागल—राम-राम निश्चय ही कर लेंगे। रामके पास जो जिस भावसे जाता है, वह वही पाता है। उठते, बैठते, खाते, सोते—सब समय राम-राम करना।

युवती राम-राम करती हुई चली गयी।

पागल—राम-राम, सीताराम, जय जय राम, सीताराम।

(एक विधवाका प्रवेश)

पागल—राम-राम, सीताराम। तुम्हें क्या हुआ है, माँ?

विधवा—मैं विधवा हूँ। खाने-पहननेका कोई कष्ट नहीं है, परंतु मुझको कुछ भी अच्छा नहीं लगता। सब सूना-सूना—कोई-कोई पुनर्विवाहकी बात करते हैं।

पागल—राम-राम, तुम सचमुच शान्ति चाहती हो?

विधवा—हाँ, बाबा! मैं सचमुच शान्ति चाहती हूँ।

पागल—राम-राम, जो सधवा हैं, वे खूब शान्तिमें हैं—क्या तुम ऐसा मानती हो?

विधवा—नहीं, बाबा। उनको तो बड़ी पीड़ा भोगते देखा जाता है।

पागल—राम-राम, सीताराम। तब विवाह होनेपर तुम्हें शान्ति मिल जायगी, यह कैसे निश्चय कर लिया?

विधवा—कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती हूँ, बाबा! आप मुझे रास्ता दिखा दें, मैं वास्तविक शान्ति चाहती हूँ।

पागल—राम-राम, सीताराम। पुरुषसे दूर रहना। एक समय हविष्यान्न खाना। एक लाख राम-नामका रोज नियमसे जप करना और उठते-बैठते, खाते-सोते राम-राम करना। लिखना-पढ़ना जानती हो?

विधवा—हाँ, जानती हूँ।

पागल—तो गीता, रामायण, महाभारत पढ़ना। राम-राम सीताराम। राम-रामका जप करना। लीलाचिन्तन करना। एकादशीको निर्जल व्रत करना। शिवरात्रि, रामनवमी, महाष्टमी, जन्माष्टमी आदि तिथियोंपर भी उपवास रखना। विधवाका जीवन व्यर्थ नहीं है। परम आनन्दका निवास है अपने भीतर। भगवान् हृदयमें हैं। राम-राम करके उन्हें पुकारना। वे भीतरसे उत्तर देंगे। भ्रमर, वंशी, वीणा, बादल—कितने शब्दोंसे तुम्हें पुकारेंगे। इन सब आवाजोंको सुनते-सुनते जितना ही भीतर प्रवेश करोगी, उतना ही प्रकाश दिखायी देगा। फिर और भी पुकारते-पुकारते अग्रसर होकर केवल आनन्दनिर्मित प्रकाशके राज्यमें जा पहुँचोगी। उस प्रकाशसे मन-प्राण भर जायँगे। इसके पश्चात् प्रकाशका आकाश आयेगा। राम-राम करके उस आकाशमें डूब जाओगी। भगवान् दर्शन देंगे। राम-राम!

विधवा—मैं क्या डूब सकूँगी ?

पागल—राम-राम, खूब डूब सकोगी। जब जीभ है और वह राम-राम उच्चारण कर सकती है, तब चिन्ता क्या है ? केवल राम-राम करो। तुम नहीं रहोगी। तुम्हारे ढाँचेमें भीतर-बाहर भगवान् आकर बस जायँगे। तुम नहीं रहोगी। रहेंगे केवल राम। राम-राम-राम करो। पुरुषसे सर्वथा दूर रहो। अधिक क्या—भगवान् हों, गुरु हों, महापुरुष हों, पुरुष पुरुष ही है !

विधवा—विधवाका जीवन निष्फल नहीं है ?

पागल—राम-राम-राम। जीवनकी सफलता है भगवत्प्राप्तिमें। विधवाका जीवन तो मुक्त-जीवन है। केवल राम-राम करो। सर्वथा प्रकाशके राज्यमें जा पहुँचोगी।

विधवा—राम-राम करती हुई चली गयी।

(एक युवकका प्रवेश)

पागल—तुमको क्या है ?

युवक—संसारमें बड़ा अभाव है। प्रायः ही रोग लगे रहते हैं। सोचता हूँ—अच्छा बनूँगा, संयमसे रहूँगा, पर बन नहीं पाता। परवश होकर अपराध कर बैठता हूँ।

पागल—राम-राम, सीताराम। केवल राम-राम करो, सब कुछ ठीक हो जायगा। सात्त्विक आहार है—शरीर-मनकी परम औषध। केवल आहार-शुद्धिके द्वारा ही चित्त-शुद्धि होती है। मांस-मद्यका सेवन तो नहीं करते हो ?

युवक—और दिन तो नहीं करता, रविवारको छुट्टीके दिन करता हूँ।

पागल—अरे रविवारके लिये तो खास तौरपर शास्त्र कहते हैं—

आमिषं मधुपानं च यः करोति रवेर्दिने।
सप्तजन्म भवेद् रोगी जन्म जन्म दरिद्रता॥
स्त्रीतैलं मधुमांसानि यस्त्यजेत्तु रवेर्दिने।
न व्याधिशोकदारिद्र्यं सूर्यलोकं स गच्छति॥

अर्थात् जो मनुष्य रविवारके दिन मद्यमांस—आमिष-पदार्थ और मधुपान करता है, वह सात जन्मोंतक रोगी होता है और जन्म-जन्ममें दरिद्र होता है। जो व्यक्ति स्त्री, तेल एवं मधु-मांसका रविवारको त्याग करता है, वह रोग, शोक और दारिद्र्यसे ग्रस्त नहीं होता और सूर्यलोकको जाता है। रविवार-को नमक और अदरक भी नहीं खाना चाहिये। जो शरीरको स्वस्थ रखना चाहते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है शास्त्रके मार्ग-पर चलना। किस तिथिको कौन-सी वस्तु नहीं खानी चाहिये—यह जानते हो, सीताराम ?

युवक—नहीं जानता।

पागल—उसे जानकर खान-पानके सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये।

युवक—तिथिके साथ खान-पानका क्या सम्बन्ध है ?

पागल—राम-राम ! अमावस्या-पूर्णिमाकी बात, अण्डकोष-वृद्धि आदि बीमारियाँ बढ़ती हैं—यह तो जानते हो ?

युवक—यह जानता हूँ।

पागल—राम-राम-राम। मनुष्यका सब कुछ सूर्यपर निर्भर है। सूर्यने प्राणरूपसे प्रत्येक जीवको धारण कर रक्खा है। सभीके बाह्य प्राण हैं सूर्य। अमावस्या-पूर्णिमाको सूर्यकी गतिसे रक्त दूषित हो जाता है। वात आदि रोग बढ़ जाते हैं। प्रतिपदाको सूर्यकी गति कुम्हड़ेपर पड़ती है, जिससे कुम्हड़ा विकृत हो जाता है—अतः कुम्हड़ा खानेसे बीमारी होती है। अष्टमीको सूर्यकी गति नारियलको दूषित करती है। उससे मेधा विकृत होती है। इसीसे कहते हैं कि अष्टमीको नारियल खानेवाला मूर्ख होता है। त्रयोदशीको सूर्यकी गति बैंगनपर पड़ती है, इससे शुक्रको दूषित करनेवाले जीवाणु पैदा हो जाते हैं; कहते हैं कि इसीसे पुत्र-हानि होती है। राम-राम-राम, सीताराम।

युवक—ये सब बातें ठीक समझमें नहीं आतीं।

पागल—राम-राम-राम। जो बात करनेसे समझमें आती है, वह तो तुमने की नहीं। जो मिला, सो खाकर केवल शरीरको नष्ट किया है। विचारपति उडरफने द्वादशीके अन्तमें एक बैंगनको काटकर दूरबीनसे उसे देखना शुरू किया। ज्यों ही त्रयोदशी तिथि आयी कि उसीके साथ-साथ बैंगनमें छोटे-छोटे जीवाणु भर गये। फिर चतुर्दशी आते ही देखा गया तो कीड़े नहीं थे। राम-राम, सीताराम। सभी सूर्यका खेल है। राम-राम करना। सूर्यको प्रणाम करना। सदा ही सात्त्विक आहार करना। रविवारको जो मद्य-मांसका सेवन करते हो, उसे बिल्कुल छोड़ देना और राम-राम करना।

युवक—क्या राम-राम करनेसे मेरी दरिद्रता भी दूर हो जायगी ?

पागल—राम-राम, सीताराम—अरे यह तो भगवान्‌का तुम-पर अनुग्रह है। वे कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः॥

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन शीघ्र हरण

कर लेता हूँ।' केवल राम-राम करो। वे सारा भार लेकर तुमको बिल्कुल निश्चिन्त कर देंगे। उनकी प्रतिज्ञा है—जो अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हैं, उनके पास जो कुछ नहीं है वह मैं ला देता हूँ; और जो है, उसकी मैं रक्षा करता हूँ। कोई चिन्ता नहीं है। एक भी नाम व्यर्थ नहीं जायगा। तुम कितने ही बड़े पापी, कितने ही दुर्बल, कितने ही असंयमी क्यों न हो, तथापि तुम्हारे लिये आशा है। केवल राम-राम करो। रोग, शोक, अभाव, कामादिके अत्याचार सब दूर हो जायँगे।

युवक राम-राम करता हुआ चला गया।

(एक बाबूका प्रवेश)

पागल—राम-राम, सीताराम।

बाबू—क्यों, बाबा! यहाँ किस मतलबसे बैठे हो?

पागल—राम-नाम दातव्य चिकित्सालय है।

बाबू—तुम्हारे राम-नामसे कौन-कौन-से रोग मिटते हैं?

पागल—जगत्‌में ऐसा कोई रोग नहीं है, जो राम-नामसे न मिटता हो। ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका राम-नामसे समाधान न होता हो—इस बातको सभी शास्त्रोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है।

बाबू—अरे पागल बाबा! यह विज्ञानका युग है, अब उन खूँसट ऋषियोंके सड़े शास्त्रोंकी बातोंको कोई नहीं मानेगा।

पागल—राम-राम, सीताराम, जय जय राम। सड़े शास्त्रोंकी बातोंको न माननेका फल ही तो इतने रोग, इतना अभाव, गाँव-गाँवमें अस्पताल हैं। स्थान-स्थानपर यक्ष्माके अस्पताल, जगह-जगह स्त्रियोंके अस्पताल उच्चकण्ठसे विज्ञानकी जय-घोषणा कर रहे हैं सीताराम। करोड़ों कण्ठोंसे निकलती हुई 'हाय अन्न, हाय अन्न' की चीत्कार-ध्वनिरूप शास्त्रापमानका विजय-डंका सारे देशमें बज रहा है। प्रत्येक घरमें अशान्तिका दावानल धधक रहा है और नर-नारियोंके आकुल क्रन्दनरूपमें विज्ञानकी विजय-ध्वनिने सबके कानोंमें ताले लगा दिये हैं। विज्ञानने केवल भोगका संवाद देकर मनकी ज्वालाको और भी बढ़ा दिया है। राम-राम शान्ति बाहर नहीं है। शान्ति भीतर है और भीतर प्रवेश करनेका मन्त्र है—राम-राम करना।

बाबू—तुम्हारी सड़ी पोथियोंकी और शुष्क वैरागियोंकी बात मैं नहीं सुनना चाहता। इस युगके किसी शिक्षित गण्य-मान्य पुरुषने तुम्हारे राम-नामकी बात, राम-नामसे रोग आदि मिटनेकी बात कही हो तो वह बतलाओ।

पागल—राम-राम, सीताराम। महात्मा गांधीका नाम सुना है?

बाबू—(प्रणाम करके) जगत्‌में ऐसा कौन है, जिसने उनका नाम नहीं सुना।

पागल—राम-राम, सीताराम। उनकी बात मानते हो?

बाबू—सौ बार, हजार बार मानता हूँ।

पागल—राम-राम! सुनो—

'आज मेरा एकमात्र वैद्य राम हैं। जैसा कि, प्रार्थनामें गाये गये भजनोंमें कहा गया है। राम तमाम शारीरिक, मानसिक और नैतिक बुराइयोंको दूर करनेवाला है। जिसके दिलमें राम-नाम है, उसे और किसी दवाकी जरूरत नहीं है। रामके उपासकको मिट्टी और पानीके इलाजकी भी जरूरत नहीं है।' (राम-नामकी महिमा, पृष्ठ ९५)

बाबू—ये सब बातें महात्माजीने कही हैं?

पागल—राम-राम। गुपचुप नहीं कही हैं। लिखकर रख गये हैं। (पुस्तक लेकर) 'ऐसे ही चित्तकी अशान्तिमें जो रामनामका आश्रय लेता है, वह जीत जाता है।' (पृष्ठ ९५) 'नामकी महिमा सिर्फ तुलसीदासजीने गायी है, ऐसा नहीं है। बाइबलमें भी मैं वही पाता हूँ। दसवें रोमनके १३ कलममें कहते हैं 'जो कोई ईश्वरका नाम लेंगे, वे मुक्त हो जायँगे।' (पृष्ठ ६६)

व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपाय भी अनेक हैं। यदि व्याधिको एक ही देखें और उसको मिटानेवाला वैद्य एक राम ही है, ऐसा समझें तो बहुत-सी झंझटोंसे हम बच जायँ।

बाबू—ये सब बातें उनकी किस पुस्तकमें हैं?

पागल—राम-राम। उनके किसी भक्तने उनकी बहुत-सी पुस्तकों और 'हरिजन-सेवक' मेंसे वाणी एकत्र करके 'राम-नामकी महिमा' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसीमें है। और भी सुनोगे?

बाबू—सुनूँगा नहीं? बापूजीकी बात तो जबतक जीऊँगा, सुनता रहूँगा।

पागल—"विषय जीतनेका सुवर्ण नियम 'राम-राम'के सिवा कोई नहीं है। स्वप्नमें व्रतभङ्ग हुआ तो उसका प्रायश्चित्त। सामान्यतः अधिक सावधानी और जागृति आते ही राम-राम है।

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय राम-नाम है। कोई भी व्याधि हो, अगर मनुष्य हृदयसे राम-नाम ले

तो व्याधि नष्ट होनी ही चाहिये।' 'राम-नाम यानी ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गॉड।' (राम-नामकी महिमा ४७) 'प्राकृतिक चिकित्सामें मध्यबिन्दु तो राम-नाम ही है न? राम-नामसे आदमी सुरक्षित बनता है। शर्त यह है कि राम-नाम भीतरसे निकलना चाहिये।' 'सत्य और अहिंसापर अमल करनेके लिये जितनी दवाइयाँ हैं, उनमें सबसे अच्छी दवा राम-नाम है।'

'मेरे रामका जन्तर-मन्तरसे कोई वास्ता नहीं है।'

'सच्चा डाक्टर तो राम ही है।' (पृष्ठ ४८)

'कोई भी व्याधि हो, अगर मनुष्य हृदयसे राम-नाम ले तो व्याधि नष्ट होनी ही चाहिये।' (पृष्ठ ७६)

'और मेरा दावा है कि शारीरिक रोगोंको दूर करनेके लिये राम-नाम सबसे बढ़िया इलाज है।'

'श्रद्धापूर्वक राम-नाम उच्चारण करनेसे एकाग्रचित्त हो सकते हैं।' (पृष्ठ ९९)

'करोड़ोंके हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर सबल साधन नहीं है।'

'राम-नामका चमत्कार सबको प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वह हृदयसे निकलना चाहिये।' 'नाम-जपपर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-रूपकी जिसने खोज की, वह अनुभवी था और उसकी खोज अत्यन्त महत्त्वकी है—यह मेरा दृढ़ विश्वास है। निरक्षरकी भी शुद्धिका द्वार खुला रहना चाहिये। यह नाम-जपसे होता है। (पृष्ठ १२२)

'इससे मनुष्य कुदरती तौरपर यह समझ लेता है कि सारी बीमारियोंका एकमात्र इलाज सच्चे दिलसे भगवान्‌का नाम जपना है।'

पागल—राम-राम—सुनी सीताराम, महात्माजीकी बात?

बाबू—उन्होंने 'दिलसे' के ऊपर खूब जोर दिया है। तोता पक्षीकी तरह मुखसे राम-नाम बोलनेसे कुछ नहीं होगा।

पागल—राम-राम! मन-प्राणको एक करके एकाग्र चित्तसे नाम जपनेपर उसका फल तत्काल मिलता है, यह बात ध्रुव सत्य है। किंतु जो यह नहीं कर सकते, उनके लिये शास्त्र 'हेलया श्रद्धया' अवहेलनासे हो, श्रद्धासे हो; भक्तिसे हो, अभक्तिसे हो—येन केन प्रकारेण—जिस-किसी प्रकारसे भी हो, राम-नाम सुननेसे, राम-नाम जपनेसे मनुष्य कृतार्थ होता है। किन्हीं एक दूसरे महात्माने कहा है—

'तन-मनसे भजन न बन पड़े तो केवल वचनसे ही भजन करना चाहिये। भजनमें स्वयं ऐसी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे आगे चलकर अपने-आप ही सब कुछ भजनमय हो जाता है।' राम-राम।

बाबू—पागल बाबा! तुम्हारी बातें मुझे बहुत अच्छी लगीं। एक बात पूछता हूँ। इस राम-नामका जप रोगी या अभावग्रस्त मनुष्य अपने रोगनाश और अभावके निवारणके लिये करे तो ठीक है। पर जिसके रोग, अभाव, अशान्ति नहीं है, वह क्यों व्यर्थ परिश्रम करे?

पागल—राम-राम, सीताराम। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसको शारीरिक या मानसिक रोग न हो या जिसको कभी किसी विषयका अभाव न रहता हो। अतएव सभीको राम-नाम लेना चाहिये। राम-नामका अर्थ है—भगवान्‌का नाम, गुरु-प्रदत्त नाम। उस नामके जपसे ही वह गन्तव्य स्थानपर पहुँच जायगा।

बाबू—गन्तव्य स्थान कहाँ है? मनुष्य जन्मता है, कुछ दिन जीता है, फिर मर जाता है। जीवनभर मनुष्य कितनी अशान्ति, कितना संताप भोगता है; ऐसा क्या है जिसकी प्राप्तिसे उसे शान्ति मिल सकती है। क्या संसारमें रहकर भी मनुष्य आनन्दसे रह सकता है?

पागल—'मैं' को पाकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। मनुष्य जिसको 'मैं' कहता है, वह 'मैं' नहीं है; वह तो 'मैं' का ढाँचा है।

बाबू—'मैं' क्या है, कौन है, वह 'मैं' कहाँ है?

पागल—'मैं' भगवान्‌का अंश है। 'मैं' बिन्दु है, 'मैं' ज्योति है, 'मैं' का स्थान हृदय है। शुद्ध अन्नका आहार, सत्सङ्ग, प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल भगवान्‌की आराधना—जप-ध्यान करनेसे नादात्मक, ज्योतिर्मय प्रणवात्माके दर्शन होते हैं। राम-राम-राम!

बाबू—तब 'ज्योति' ही आत्मा है?

पागल—राम-राम, सीताराम! हाँ।

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरा माययाऽऽवृताः॥

(अन्नपूर्णा और रुद्रहृदयोपनिषद्)

'अपने शरीरमें सर्वसाक्षी या पारमार्थिक स्वरूप-ज्योतिको वे ही देख सकते हैं, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं। जो मायाके द्वारा आवृत हैं, वे उसे नहीं देख सकते।

ज्योतिरेव परं ब्रह्म ज्योतिरेव परं सुखम्।
ज्योतिरेव परा शान्तिर्ज्योतिरेव परं पदम्॥

(रामगीता)

'ज्योति ही परब्रह्म है, ज्योति ही परम सुख है, ज्योति ही परम शान्ति है, ज्योति ही परमपद है।'

बाबू—दोष क्या हैं ?

पागल—राम-राम ! काम, क्रोध, विश्वास, भय, निद्रा आदि

(मण्डलब्राह्मणोपनिषद्)

बाबू—ये कैसे दूर हों ?

पागल—संकल्पशून्यता, क्षमा, निष्कामभाव, प्रमाद-शून्यता, लघु आहार, तत्त्वसेवा आदि करनेपर।

बाबू—जो यह न कर सकें ?

पागल—राम-राम करनेपर सब कुछ हो जायगा। मनुष्य जो चाहेगा, राम-रामसे वही पायेगा ! शुद्ध आहार, सत्सङ्ग और राम-राम। बस, इससे बढ़कर संसार-रोगकी और दवा नहीं है।

बाबू—मैं तो प्रवृत्तिका दास हो रहा हूँ। शुद्ध आहार, सत्सङ्ग करनेकी शक्ति नहीं है। मेरे लिये भी कोई उपाय है ?

पागल—केवल राम-राम करो। उठते-बैठते, जागते-सोते चलाओ राम-नाम। राम-नामकी रटनसे बस, एक ऐसा पागलपन पैदा हो जाय। जहाँ इस संगीतमें लगे कि निश्चिन्त हुए। यह खींचकर ले जायगा और सदाके लिये आनन्द-सागरमें डुबा देगा ? राम-राम, सीताराम, जय जय राम-सीताराम। गाओ राम, बोलो राम, जपो राम। राम-राम-राम।

राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे।
कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे॥
राम-सुमिरत सब बिधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे॥
रामनाम महामनि, फनि जग-जाल रे।
मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे॥
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे॥
राम नाम प्रेम-परमारथको सार रे।
रामनाम तुलसीका जीवन-अधार रे॥

राम-राम-राम

उपनिषदोंकी प्रेरणा

[मूललेखक—श्रीकाका कालेलकर महोदय]

(अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर)

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'

(छान्दोग्य० ७। २६। २)

'सनातनी लोग इस वचनका उपयोग बड़े प्रमाणमें करते हैं। आहार शुद्ध रहनेसे मनुष्यका चरित्र, उसका मन और उसके भाव शुद्ध होते हैं; सत्त्वशुद्धि होनेसे स्मृति ध्रुव—निश्चल होती है, इत्यादि।'

इस वचनपर कुछ गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। सामान्य अर्थ तो स्पष्ट ही है। यदि हम मांसादि तमोगुणी अथवा विकारोत्तेजक चीजोंको न खायें, बासी अथवा सड़ी-गली चीजोंको न खायें, तो हमारा शरीर, मन सब पवित्र रहे। आहार-शुद्धिका अर्थ इतना ही करनेमें आता है कि शास्त्रोंमें जिन वस्तुओंको खानेकी मनाही की गयी हो, वे हमें नहीं खानी चाहिये।

यहूदियोंमें भी ऐसे बहुत-से नियम थे और हैं। ऐसे नियमोंसे अलग ईसामसीहने अपना एक सूत्र लोगोंके सामने उपस्थित किया कि 'मनुष्यके शरीरके पेटमें जानेवाली चीजें उसे अपवित्र नहीं बनातीं; किंतु उसके शरीरमेंसे, उसके मुँहमेंसे जो चीजें बाहर निकलती हैं, उससे वह अपवित्र होता है।' इसका मतलब यह है कि मनुष्य आहारके रूपमें जो चीजें खाये, न खानेके दिन भी खाये, तो भी वह अपवित्र नहीं गिना जायेगा; किंतु यदि किसीके मुँहसे गालियाँ निकलती है, क्रोधके वचन निकलते हैं, वह किसीको शाप देता है, तो इससे वह अवश्य भ्रष्ट हो

जायगा। यहूदियोंकी धार्मिक रूढ़ियोंके उत्तरके रूपमें यह वचन ठीक है; परंतु लोग धर्म-वचनों, कायदेके वचनोंका अक्षरशः अर्थ करते हैं और उसके मूल उद्देश्यको नष्ट करते हैं।

ईसामसीहके उपर्युक्त वचनको शास्त्रीय सिद्धान्तके रूपमें हम नहीं लेंगे। सड़ी-गली चीज मनुष्य खा लेता है तो उसका आध्यात्मिक असर भले ही तुरंत न हो, फिर भी शरीर तो भ्रष्ट होता ही है। नर-भक्षकोंको मांससे भले ही कुछ हानि न होती हो, तो भी भावनाकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्य-प्राणीको मारकर उसका मांस खानेवाला अवश्य पतित तो होता ही है।

जो चीज मनुष्यके अंदर जाती है, उसका असर उसके शरीर और मनपर हुए बिना रहता नहीं।

और मनुष्यके मुखमेंसे अथवा उसके शरीरमेंसे जो चीजें निकलती हैं, वे यदि दुर्गन्धवाली हों, रोगयुक्त हों, तो सारे वायुमण्डलको और समाजको उससे जरूर हानि पहुँचेगी। हम नहीं मानते कि ईसामसीहने कोई सनातन, शास्त्रीय, त्रिकालाबाधित सिद्धान्तके रूपमें ये वचन उच्चारित किये; उन्होंने चिढ़कर इतना ही कहा था कि मनुष्य क्या खाता है, इसकी मीमांसा किसलिये करने बैठे हो? वह अपने भाइयोंके साथ किस तरह व्यवहार करता है, यही एकमात्र महत्त्वकी बात है।

किसी एक ऋषिको अपच हुआ था और उनके मुँहमेंसे जो उच्छ्वास निकलता था, वह दुर्गन्धवाला था, और इससे उनके आस-पास बैठनेवाले लोगोंको हानि पहुँचेगी—ऐसा सोचा गया। अतः वे किसीको अपने पास बैठने नहीं देते थे; फिर भी उनका प्रवचन धर्म-तेजसे भरा होनेके कारण हजारों लोग उनका प्रवचन सुननेके लिये आते थे और उनके चरित्रपर अच्छे-से-अच्छा धार्मिक असर होता था।

यदि कोई कवि चरित्र-भ्रष्ट हो तो उसका असर समाजपर अवश्य होगा। उसके अच्छे-से-अच्छे वचनों-का भी समाजपर जरा भी असर नहीं होगा। परंतु यदि उसके चरित्रके विषयमें लोग कुछ भी नहीं जानते होंगे तो उसके वचनोंका सीधा अर्थ समझकर लाभ उठा सकेंगे।

मनुष्यके स्वभावकी कमजोरी एक अलग वस्तु है और दुष्टता एक अलग वस्तु। किसीके विषयमें विचार करते समय हमें यह भेद भूल नहीं जाना चाहिये।

अब हम उपनिषदोंके मूल वचनोंका जरा गम्भीरतासे विचार करेंगे। आहारका अर्थ केवल खाने-पीनेकी वस्तुएँ—इतना सीमित नहीं करना चाहिये। हमारी सारी इन्द्रियाँ जो-जो चीजें लेती हैं, पुष्टिकी दृष्टिसे या सुख प्राप्त करनेकी दृष्टिसे इन्द्रियाँ जो-जो स्वीकार करती हैं, वे सब आहार हैं। हम अपनी आँखोंसे जो कुछ देखते हैं, कानोंसे जो कुछ सुनते हैं, वह भी आहार ही है। खाने-पीनेकी वस्तुओंके विषयमें जैसी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है, वैसी ही इन्द्रियोंके सारे व्यापारोंके विषयमें भी आवश्यक है। सावधानी ही अमृतत्व ला देती है। 'अप्पमादो अमतपदम्।' गफलतमें नहीं रहना, सचेत होकर चलना, भूलें न करनी—यही अमृतत्वका मार्ग है। 'पमादो मच्युनो पदम्'। प्रमाद, गफलत, असावधानी, बेपरवाही, अन्धापन—यही मृत्युका मार्ग है।

अब हम विचार करेंगे कि आहारशुद्धिकी किसलिये जरूरत है। हम यदि रजोगुण और तमोगुण बढ़ानेवाली चीजोंका सेवन करेंगे तो सत्त्वशुद्धिपर उसका खराब ही असर होगा। शास्त्रोंमें ऐसी चीजोंका वर्णन दिया गया है। इस जमानेकी धारणाके अनुसार यह बात योग्य ही थी। परंतु आज हम यह नहीं मानते। टमाटर-जैसे पदार्थोंको पहले लोग निषिद्ध मानते थे, आज हम ऐसा नहीं मानते। अनुभव और ज्ञानकी वृद्धिके साथ पुराने वचनोंमें हमें परिवर्तन करना पड़ेगा। फिर भी यह सिद्धान्त तो त्रिकालके लिये सही ही है कि आहारका असर चरित्रपर हुए बिना रहता नहीं।

फिर भी आहारशुद्धिकी एक और महत्त्वकी बात है, जिसपर विशेष लक्ष्य देना आवश्यक है। शुद्ध आहार वह है जो कि हमें ईमानदारीसे मिला हो। अगर सात्त्विक पदार्थ हम कहींसे चोरी करके लाये हों तो उसके सेवनसे हमारी सत्त्वशुद्धि खतरेमें पड़े बिना नहीं रहेगी। अन्यायसे गरीबोंको लूटकर अथवा चूसकर हम जो धन अर्जित करें, वह पापमूलक है। उसके सेवनसे चरित्र भ्रष्ट होता है। आहारशुद्धिका यह महत्त्वका अर्थ केवल शुद्ध भोजन ही नहीं, बल्कि प्रामाणिक जीवन (हानेस्ट लिविंग) भी है। कहीं भी किसीके अज्ञानका या उसकी दुर्दशाका हम गैर-वाजिब लाभ उठायें तो हमारी आहारशुद्धि भङ्ग हो गयी, ऐसा जानना चाहिये।

प्रामाणिक आहार भी यदि हम परिवारके सारे सदस्योंको बाँटकर न खायें, हमारे आहारपर जिन-जिन लोगोंका न्यायपूर्वक अधिकार है, उनका हिस्सा दिये बिना ही खायें, उपभोग करें, तो वह भी आहार-शुद्धिके व्यवहारसे च्युत होना गिना जायगा।

आहार और शुद्धि इन दोनों शब्दोंका व्यापक अर्थ करनेसे हमें उपनिषद्के इन वचनोंका सही अर्थ समझमें आ जाता है और सत्त्वशुद्धि क्या है, यह भी भलीभाँति पता चलता है। सत्त्वका अर्थ है—हमारे शरीर, मन, चित्त, अहंकार आदिका महत्त्वपूर्ण साररूप भाग। जिन-जिन बातोंसे हमारा चरित्र बना है, वे सब बातें सत्त्वमें आ जाती हैं। सत्त्व अर्थात् चरित्र।

ईशोपनिषद्में कहा है—'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।' किसीका धन बहाना नहीं, किसीके धनपर लोभी गिद्धकी दृष्टिसे देखना ही नहीं। समाजके पुरुषार्थसे जो धन-संग्रह होता है, वह समाजका है। जो वस्तुएँ समाजकी ओरसे पारितोषिक रूपमें मिलती हैं, वे अपनी हैं। जो हमें नहीं मिली हैं, वे यदि हम लें तो उसमें 'अदत्त-आदान' का दोष लगता है और हमारी आहार-शुद्धि भङ्ग हो जाती है।

श्रीशङ्कराचार्यने अपने एक स्तोत्रमें थोड़े शब्दोंमें इन सब बातोंकी स्पष्टता कर दी है। 'यल्लभते निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।' अपनी स्वयंकी मेहनतसे जो कुछ धन अर्जित करो, उसीसे अपने चित्तको संतोष दो। अपनी मेहनतसे जो कुछ भी आहार या आराम मिले, उससे संतोष मानो और अपनी प्रसन्नता कायम रक्खो—यही है आचार्यका उपदेश। आहार-शुद्धिका यह सबसे बड़ा भाग है। इन्द्रियोंद्वारा जिस किसी विषयका सेवन होता है, उसकी शुद्धि होनेसे मनुष्यका सारा व्यक्तित्व सत्त्वशुद्ध होता है। उसके विचार, उसकी दृष्टि, उसका उद्देश्य—यह सब शुद्ध होनेसे उसमें एक प्रकारकी जागरूकता आती है। 'मैं कौन हूँ? मेरे जीवनका उद्देश्य क्या है? किस आदर्शको लेकर मैं जी रहा हूँ?' ऐसी जागरूकताको स्मृति कहा जाता है। स्मृतिका नाश होनेसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञका वर्णन करते समय जिसका वर्णन किया गया है, वही यह स्मृति है। जब मनुष्य वासनाके वशीभूत होकर असंयत होता है, तब वह स्मृति खो बैठता है। पर जिससे असंयमके सारे कारण दूर रहेंगे, वह स्मृतिमान् रहेगा। ऐसा स्मृतिमान् मनुष्य ही आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। स्मृतिलाभसे बुद्धि ऐसी शुद्ध, जाग्रत् और तेज होती है कि मनमें जरा भी संदेह नहीं रहता। इसीको ग्रन्थियोंका टूटना कहा जाता है। मोक्षका यह वर्णन है।

अतः मनुष्यको इसकी साधना करनी चाहिये। यह मुख्यतः प्राणायाम आदिकी नहीं, अपितु यम-नियम आदिकी है। यम, शम, दम—यह सब आहार-शुद्धिका ही फल है।

भगवद्गीतामें दैवीसम्पत्का जो वर्णन किया गया है, उसमें अभयके बाद सत्त्वशुद्धिको ही स्थान दिया गया है। यही है मुख्य साधना।

अहिंसा

अर्थ, अधिकारी, प्रयोजन और व्यवस्था

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम० ए०, विद्यावारिधि)

अहिंसा और हिंसा—ये दोनों शब्द बहुत प्राचीन हैं। हिंस्-धातुका सामान्य अर्थ 'मारना' है। इसे सभी जानते हैं। वेदका एक महान् उपदेश अथवा आदेश है—

'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि ।'

सर्वभूत—प्राणिमात्र—की हिंसा मत करो। किसी प्राणीका हनन करना हिंसा है और न करना अहिंसा है। अहिंसा एक प्रकारकी क्रिया-निवृत्ति है। इसका तात्पर्य उस पापसे दूर रहनेमें है। जिससे प्राणीको दुःख हो या उसकी प्राणहानि हो, यह हिंसाका स्वरूप है। इसके विपरीत पुण्यरूप प्रक्रियाको दया कहते हैं। 'हिंसा' पाप है और 'दया' पुण्य है। हिंसारूप पापसे निवृत्तिका नाम अहिंसा है। हिंसाका न्यूनाधिक निषेध सभी धर्मोंमें है। ईसाई-धर्ममें भी आज्ञा है—'Thou shalt not kill' अर्थात् किसीको मारना मत। इसी प्रकार प्रत्येक धर्ममें खास-खास अपवाद भी हैं। प्राचीन मानवधर्ममें चार मुख्य अपवाद हैं—यज्ञमें यज्ञपशुका वध, मांसाहारियोंके लिये अमुक प्राणीको छोड़कर अन्यका वध, धर्मयुद्धमें अनिवार्य हिंसा और धर्मशासनके लिये राज्यके द्वारा दिया जानेवाला प्राणदण्ड। पहले दो अपवादोंमें पशु आदि प्राणियोंका और पिछले दोनोंमें मनुष्योंकी हिंसाका प्रसङ्ग आता है।

बाइबलमें संत ल्यूककी वार्तामें जब संत जॉनसे सिपाही पूछते हैं कि 'क्राइस्ट आनेवाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये?' इसके उत्तरमें वे तीन आज्ञा करते हैं—किसी मनुष्यपर बलप्रयोग (violence) नहीं करना, किसीपर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हें जो रोजी मिलती हो, उसीमें संतुष्ट रहना। वर्तमानमें जो अहिंसाका प्रयोग non-violence के अर्थमें किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तारके कारण ही किया जाता है। अंग्रेजीके Non-violence का बलप्रयोग न करना—यह अर्थ ही मौलिक है। खास करके राजनीतिमें इस शब्दके आ जानेके कारण, हिंसा और अहिंसा—ये शब्द मनुष्यकी हिंसाके लिये ही लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है। और सामनेवालेको चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारोंका प्रयोग करना अथवा किसीके साथ युद्ध या लड़ाई करनेके प्रसङ्गमें इसका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जैसे 'सत्याग्रह' और 'passive resistance'—इन दोनोंका अर्थ एक नहीं है, वैसे ही अहिंसक और non-violentका अर्थ भी एक नहीं है। वस्तुको यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है। उदाहरणके लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थमें मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है। आजकल जैसे भारत राज्यमें हो रहा है—वैसे लाखों-करोड़ों मछलियोंको मारना, लाखों-हजारों गायों और बंदरोंका वध करना, असंख्य टिड्डियोंकी हत्या करना और लाखों-करोड़ों कीट-कृमियोंको दवाओंके लिये मार डालना—ये सभी हिंसा हैं। अहिंसाकी नवीन व्याख्यामें इनकी तो किसीको परवा ही नहीं है। इसका एक मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि ईसाई आदि जातियाँ 'मनुष्यमें ही आत्मा है, अन्य किसी भी प्राणीमें आत्मा नहीं है' ऐसा मानती हैं। पुराने जमानेमें प्रचलित 'हॉवर्ड'की प्राइमरमें एक ऐसा वाक्य था जो सीखना पड़ता था—वह यह कि 'गायके आत्मा नहीं है।'

ऐसे प्राणियोंको मारनेका धंधा या रोजगार जब राज्य हाथमें ले लेता है, तब वह धार्मिक लोगोंको बहुत खलता है और 'सेक्यूलर स्टेट'—धर्मनिरपेक्ष राज्य जब

ऐसे हिंसात्मक कार्योंमें प्रवृत्त होता है, तब उसका पाप प्रजाको लगता है या नहीं और उसका फल उसे भोगना पड़ता है या नहीं—ऐसे अवान्तर प्रश्न भी उठ खड़े होते हैं। सनातनधर्ममें और जैनधर्ममें भी ऐसी हिंसा बहुत ही निषिद्ध मानी जाती है और इस हिंसाके विरुद्ध कहीं-कहीं खलबली तथा शोरगुल भी बहुत है; परंतु हिरण्मय पात्र सामने आ जाता होगा।

'हिंसा' अब्दके अर्थका कुछ विस्तार करनेपर उसमें दूसरे मनुष्यका जी दुखाना भी आ सकता है। हिंसा अनेक प्रकारकी कही गयी है—जैसे मानसिक, वाचिक और शारीरिक हिंसा; ज्ञात और अज्ञात हिंसा। फिर, उसके प्रेरक बलके अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस विभाग भी किये जा सकते हैं। किसीको दुःख हो, ऐसी भावना करना 'मानसिक हिंसा', किसीको गाली देना या अपशब्द कहना 'वाचिक हिंसा' और किसीको पत्थर आदि मारना—यह 'कायिक हिंसा' है। जान-बूझकर ऐसी हिंसा करना 'ज्ञात हिंसा' और चलने, खाने या बोलने आदिके समय अनजानमें होनेवाली 'अज्ञात हिंसा' है। जैन साधु अहिंसाका जितना आग्रह रखते हैं, उतना दुनियामें दूसरे किसी भी धर्मके साधु शायद ही रखते होंगे। वे खटमल, मच्छर, चींटी, चींटे तथा अन्य किसी भी प्राणीकी हिंसा न हो, इसके लिये बड़ी सावधानी रखते हैं। मुहँपर पट्टी बाँधते हैं, दीपक भी जितनी देर आवश्यक हो, उतनी ही देर रखते हैं, भोजन भी गृहस्थके घरसे बना हुआ ही लाकर करते हैं। इसके दो फल तो सामने देखे जाते हैं। जीव-दयाके पुण्यसे जैनी प्रायः पैसे-टकेसे सुखी दिखायी देते हैं; दूसरी ओर, राज्यके अङ्गरूप युद्ध या संग्राम आदिमें उनको ये आदर्श प्रतिकूलतामें रखते नजर आते हैं। जीव-दयाकी दृष्टिसे लोग कबूतरोंके लिये स्थान बनाते हैं, चींटियोंको दाने डालते हैं और मानव-बन्धुओंके सुखके लिये अनेक दान-पुण्य करते हैं। पिंजरापोलोंमें भी वे पशुओंका पालन-पोषण करते हैं। अल्पसंख्यक होनेपर भी धर्मका पालन करनेसे जाति कितनी सुखी हो सकती है, कितनी आगे बढ़ सकती है, इसके उदाहरण जैन और पारसी—दोनों प्रत्यक्ष हैं। बौद्ध-धर्ममें भी अहिंसापर जोर तो दिया गया है, परंतु वह जैन-धर्मके समान नहीं है।

अब यह देखना है कि अहिंसा और दयाका पालन करनेसे तात्त्विक स्वाभाविकता और सुयोग्यता किस प्रकार बुद्धिगम्य होती है। तत्त्वदृष्टिसे आत्मा सर्वव्यापक है और पृथक्-पृथक् अन्तःकरणके द्वारा वह उस सुख-दुःखको भोगता है अथवा अनुभव करता है, देखता है। इस कारणसे अथवा परिस्थितिवश—आत्माकी एक सामान्य भूमिका-अधिष्ठानके कारण एक जीवको जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भाव होते हैं, उनकी छाया या पर्दा दूसरे जीवोंपर भी पड़ता है। इसीलिये कहा गया है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
(ईशा० ६)

ज्यों-ज्यों मनुष्यकी तपस्या और शक्तियाँ बढ़ती हैं त्यों-ही-त्यों उसका असर और प्रत्याघात भी विशेष बढ़ता है। इसीलिये एक मनुष्य अपने जीवनको उन्नत करता है तो उससे समस्त जगत्को लाभ होता है और पाप करता है तो उसका आवरण भी सबपर पड़ता है। अतः जो सम्पूर्ण विश्वको एक परम आत्मामें देखता है और समस्त विश्वमें एक अनुस्यूत—पिरोये हुए आत्माको देखता है, उसीकी दृष्टि उचित है और इसीलिये वह किसीकी निन्दा-स्तुति भी नहीं करता, फिर दुःख देने या हिंसा करना तो उससे बन ही कैसे सकता है। आत्मासे खाली कोई भी स्थान नहीं है; क्योंकि समस्त सर्व वर्तमान तथा प्राचीन दर्शनोंके सिद्धान्तानुसार, वह अखण्ड चेतनसे परिपूर्ण है। उसीमें ये छोटे-बड़े

दिखायी दे रहे हैं और अन्तःकरणके द्वारा वह जीव-भावको प्राप्त होता है। इस अन्तःकरणके ऊपर अच्छे-बुरे संस्कारोंकी तहें पड़ी हुई हैं। जैसे-जैसे सदाचारी जीवनसे वे धुलती जाती हैं, वैसे-वैसे ही अन्तःकरण निर्मल होता जाता है और उसको सृष्टिके जीवोंका दर्शन अधिक स्पष्टरूपमें अभेदरूपसे होता जाता है। इस प्रकार ईशिता, वशिता, परकाय-प्रवेश, परचित्तज्ञान इत्यादि सिद्धियाँ भी आत्माके सर्वव्यापी और सबका अधिष्ठान होनेके कारण ही प्राप्त होती हैं। पाप-पुण्य, कार्य-अकार्य आदिकी व्यवस्था भी सर्वव्यापक आत्माके साक्षात्कारके लिये ही है।

इस अहिंसा और दयाको समाजके एक प्रकारके 'शील' कहा जा सकता है। इनका और राज्यका सम्बन्ध भी जरा देख लें। प्रजाके सदाचारके चार पाद कहे जा सकते हैं— १—सत्य, २—अहिंसा, ३—तपश्चर्या और ४—पवित्रता। इन चारोंकी यथासम्भव रक्षा करना राज्यका परम कर्तव्य है; क्योंकि ये प्रजाकी उन्नति, सुख-शान्ति और समृद्धि तथा शक्तिके मूल हैं। सत्य या प्रामाणिकताका नाश होनेपर प्रजाका पतन होता है। अहिंसाको भुलाकर हिंसाका आश्रय लेनेसे पाप बढ़ते और दुःख आ पड़ते हैं। तपस्याके बिना शक्ति और उन्नतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और पवित्रता न रहे तो समाज पतित हो जाय, वह रोगोंसे घिर जाय और परिताप बढ़ जायँ। जैसे तपस्या और पवित्रता विशेष प्रधान सद्गुण हैं, वैसे ही सत्य और दया भी विशेष प्रसिद्ध सद्गुण हैं और इसलिये इन दोनोंके सम्बन्धमें राज्यकी जिम्मेवारी बहुत अधिक है। इनकी वृद्धि और ह्रासपर ही प्रजाकी अपनी आन्तरिक और अन्ताराष्ट्रिय भूमिकाका आधार रहता है। अणुबम आदि जैसे बाह्य शक्तिके द्योतक हैं, वैसे ही उपर्युक्त शील आन्तरिक शक्तिके द्योतक हैं।

इस अहिंसाकी उसके विशाल अर्थमें—अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी इसकी अभिवृद्धि कैसे की जाय, यह इस समयका भी एक महाप्रश्न है। इस समय बमके भयसे वैराग्य हुआ है, पर यह श्मशान-वैराग्यके सदृश है। इस वैराग्यको स्थिर और विशेष व्यापक करनेके लिये अधीर नहीं होना चाहिये। एक संत व्यक्तिका वैराग्य भी सरोवरमें फेंके हुए फलकी तरह अनेक वृत्तोंमें फैलता है और उसको हिलाता है। इस अहिंसा-वृद्धिके लिये तीन प्रकारके उपाय बतलाये गये हैं—(१) दूसरेसे उद्विग्न नहीं होना, दूसरेको उद्विग्न नहीं करना; (२) अतिवादमें नहीं उतरना, किसीका अपमान नहीं करना; (३) शरीर तथा आत्माको अलग समझना और किसीसे भी वैर नहीं करना। पर इसका आधार यह है—

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥
(श्रीमद्भा० ११।१८।३२)

परम आत्मा एक ही है। वह पञ्चभूतोंमें और जीवोंमें व्यापक है। जैसे जलके अनेक पात्रोंमें एक ही चन्द्रमा अनेक रूपोंमें दिखायी देता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें यह एक आत्मा अनेक रूपोंमें दीखता है—भिन्न-भिन्न आदर्शों और प्रतिमाओंको दिखला रहा है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥
(कठोपनिषद् २।५।९)

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है।

शुभचिन्तनका प्रभाव

(लेखक—स्वामी पारसनाथजी)

सेठ गंगासरनजी काशीमें रहते थे। वे भगवान् शङ्करजीके सच्चे भक्त थे। सोमवती अमावस्याका प्रातः-काल था। मणिकर्णिका घाटपर अनेक नर-नारी, साधु-संन्यासी स्नान कर रहे थे। 'जय गङ्गे' 'जय शङ्कर' और 'जय सूर्यदेव'के नारे लगाये जा रहे थे। भक्त गंगासरन-जी भी स्नान कर रहे थे। तबतक अलवरके मन्दिरपरसे कोई गङ्गामें कूदा और डुबकियाँ खाने लगा। किसीकी हिम्मत न पड़ी जो उस डूबनेवालेको बचानेकी कोशिश करता; क्योंकि कभी-कभी डूबनेवाला अपने बचाने-वालेको इस तरह पकड़ता है कि दोनों डूब मरते हैं, परंतु सेठजीका हृदय करुणासे भर गया। वे तैरना भी जानते थे। चार हाथ मारे और डूबनेवालेको जा थामा। किनारेपर लाकर देखा तो वह सेठजीका ही मुनीम नन्दलाल था। पेटसे पानी निकालनेके बाद जब नन्दलाल-को होशमें देखा, तब भक्तजीने कहा—

'मुनीमजी! आपको किसने गङ्गाजीमें फेंका था?'

'किसीने नहीं।'

'तो क्या किसीका धक्का खाकर आप गिरे थे?'

'नहीं तो।'

'फिर क्या बात थी?'

'मैं स्वयं ही आत्महत्या करना चाहता था।'

'वह क्यों?'

'मैंने आपके पाँच हजार रुपये सट्टेमें बरबाद कर दिये हैं। मैंने सोचा कि आप मुझे गबनके अभियोगमें गिरफ्तार कराकर जेलमें बंद करा देंगे। अपनी बदनामी-से बचनेके लिये मैंने मर जाना उत्तम समझा था।'

'एक शर्तपर मैं तुम्हारा अपराध क्षमा कर सकता हूँ।'

'वह शर्त क्या है?'

'प्रतिज्ञा करो कि आजसे किसी प्रकारका जुआ नहीं खेलोगे—सट्टा नहीं करोगे।'

'प्रतिज्ञा करता हूँ और जगद्गुरु शङ्कर भगवान्‌की शपथ खाता हूँ।'

'जाओ, माफ किया। पाँच हजारकी रकम नाम घरेलू खर्चमें डाल देना।'

'परंतु अब आप मुझे अपने यहाँ मुनीम नहीं रक्खेंगे?'

'रक्खूँगा क्यों नहीं? भूल हो जाना स्वाभाविक है। फिर तुम नवयुवक हो। लोभमें आकर भूल कर बैठे। नन्दलाल! मैं तुम्हें अपना छोटा भाई मानता हूँ, चिन्ता मत करो।'

मुनीमने अपने दयालु मालिकके चरणोंमें सिर रख दिया।

× × ×

अगले वर्ष सेठ गंगासरनजीको कपड़ेके व्यापारमें एक लाखकी बचत हुई। मुनीम नन्दलालको फिर लोभ-भूतने घेरा। अबकी बार सेठजीके प्राण लेनेकी तरकीब सोची जाने लगी। उसने सोचा—यदि सेठजी बीमार उठ जायँ तो विधवा सेठानी और बालक शंकरलाल मेरे ही भरोसे रह जायँगे। वे दोनों क्या जानें कि 'पिसा काटा और तत्काल धन' किसे कहते हैं? बुद्धिमानीसे भरे हीले-हवालेसे यह एक लाख मेरी तिजोरीमें पहुँचेगा। किसीको कुछ खबर भी न होगी, अन्तमें घाटा दिखला दूँगा। व्यापारमें लाभ ही नहीं होता। घाटा भी तो होता है?

संध्याका समय था। नन्दलाल अपने घरसे एक गिलास दूध शंखिया डालकर सेठके पास ले गया और बोला—'दस दिन हुए मेरी गायने बच्चा दिया था। आजसे दूध लेना शुरू किया जायगा। आपकी बड़ी

कहा—पहिला गिलास मालिकको पिला आओ। तब हमलोग दूधका उपयोग करेंगे।'

सेठजी बोले—'गिलास मेजपर रखकर घर चले जाओ। मैं भी भोजन करने जा रहा हूँ। सोते समय तुम्हारा लाया हुआ यह दूध मैं अवश्य पी लूँगा।'

मेजपर वह विषाक्त दूध रखकर दुष्ट मुनीम चला गया।

भोजन करके सेठजी आये तो देखा कि गिलास खाली पड़ा है। सारा दूध पड़ोसीकी पालतू बिल्ली पी गयी। सुबह सुना कि पड़ोसीकी बिल्ली मर गयी। वह क्यों मरी, कैसे मरी—इस बातकी छानबीन नहीं की गयी। पशुके मरने-जीनेकी चिन्ता मनुष्य नहीं करता। दूकानपर सेठको गद्दीपर बैठा देख मुनीमको महान् आश्चर्य हुआ, परंतु वह बोला कुछ नहीं।

रातको स्वप्नमें सेठजीको भगवान् शङ्करजीके दर्शन हुए। भगवान् कह रहे थे—'तुमने जिस दुष्ट मुनीमको पाँच हजारके गबनके मामलेमें क्षमा कर दिया था, उसने दूधमें शंखिया मिलाकर तुमको समाप्त करनेका षड्यन्त्र रचा था। मैंने प्रेरणा करके बिल्ली भेजी थी और तुम्हारे प्राण बचाये थे। उसी विषसे पड़ोसीकी बिल्ली मरी थी।'

सेठने उसी समय जाकर सेठानीको अपना सपना सुनाया। सुनकर बेचारी सेठानी सहम गयी। फिर सँभलकर बोली—'जब वह तुम्हारा ऐसा अशुभचिन्तक है, तब उसे निकाल बाहर करो। कोई दूसरा ईमानदार मुनीम रख लो।'

'मैं अपने शुभचिन्तनके द्वारा उसका अशुभचिन्तन नष्ट कर डालूँगा!' सेठने दृढ़ताके साथ कहा।

'यह कैसे हो सकता है?' सेठानीने आश्चर्यचकित होकर प्रश्न किया।

'मैं अपने मनमें उसके प्रति वैर-भावना नहीं रक्खूँगा—बल्कि प्रेम भावनाको बढ़ाता रहूँगा।'

'इससे क्या होगा?'

'जब हम किसीके प्रति शत्रुताके विचार रखते हैं, तब वह भावना उसमें जाकर उसकी शत्रुताको और भी बढ़ा देती है। दिलको दिलसे राह होती है!'

'मैं नहीं समझी।'

'एक दृष्टान्त देता हूँ। तब तुम समझ जाओगी। एक बार बादशाह अकबर प्रधान मन्त्री बीरबलके साथ सैर करने शहरसे बाहर निकले। सामनेसे एक लकड़हारा आता दिखायी पड़ा। बादशाहने पूछा—'यह लकड़हारा मेरे प्रति कैसे विचार रखता है?' बीरबलने उत्तर दिया—'जैसे विचार आप उसके प्रति रखेंगे, वैसे ही वह भी रखेगा; क्योंकि दिलको दिलसे राह है।' बादशाह एक पेड़पर चढ़ गये और कहने लगे—'साला लकड़हारा मेरे जंगलकी लकड़ियाँ बिना इजाजत चुराकर काट लाता है और अपना खर्च चलाता है। कल इसे फाँसी देंगे।' तबतक वह लकड़हारा पास आ पहुँचा। बीरबलने कहा—'लकड़हारे! तुमने सुना या नहीं कि आज बादशाह अकबर मर गया?' लकड़हारेने लकड़ीका गट्ठा फेंक दिया और नाचने लगा। बोला—"बड़ा अच्छा हुआ। बड़ा बदमाश बादशाह था। मीनाबाजारमें एक राजपूतनीको बुरी नजरसे देखा तो उसने छातीमें कटार घुसेड़ दिया होता। 'माता' कहकर क्षमा माँगी, तब प्राण बचे थे। मैं तो प्रसाद बाँटूँगा। खूब मरा!" बादशाहने बीरबलका सिद्धान्त मान लिया।

'फिर क्या हुआ?' सेठानीकी उत्सुकता बढ़ी।

'उसी समय एक वृद्धा घास लिये आती दिखलायी पड़ी। बादशाह पेड़पर ही छिपा बैठा रहा; क्योंकि वह शुभचिन्तन और अशुभचिन्तनका प्रभाव देखना चाहता था। अशुभचिन्तनका प्रभाव वह देख चुका था। अबकी बार शुभचिन्तनका प्रभाव देखनेके लिये

बादशाहने कहा—'बीरन ! वह देखो, एक बेचारी वृद्धा आ रही है। कमर झुक गयी है—मुँहमें दाँत भी न होंगे। लाठीके सहारे चल रही है। अपनी गायके लिये थोड़ी घास छील लायी है। दस रुपये माहवारी इसकी पेंशन आजसे बाँध दो—वज़ीरे आज़म !' जब बुढ़िया पास आयी, तब बीरबल कहने लगे—'बूढ़ी माई ! तुमने सुना कि आज आधी रातके समय बादशाह अकबरको काला नाग सूँघ गया। सुबह कबर भी लग गयी !' बुढ़ियाने घास पटक दिया और रो-रोकर कहने लगी—'गजब हो गया। राम-राम, बड़ा बुरा हुआ। ऐसा दयालु बादशाह अब कहाँ मिलेगा। हिंदू-मुसलमान दोनों उसकी दो आँखें थीं। बीरबल प्रधान मन्त्री, मानसिंह सेनापति और टोडरमल खजाना-मन्त्री। फिर—गोवध कतई बंद। मजाल क्या कि कोई किसी गायकी पूँछका एक बाल भी खींच ले ! भगवान्, तुम मेरे प्राण ले लेते—बादशाहको न मारते !'

× × ×

प्रातः गङ्गास्नानके बाद भक्तजी विश्वनाथ-मन्दिरमें गये। पूजन करके हाथ जोड़ बोले—'अन्तर्यामी भोलानाथ ! मुझे अपने मुनीमके पतनका आन्तरिक दुःख है; परंतु मेरे मनमें उसके प्रति जरा भी द्वेष देखें तो बेशक मुझे दण्ड दें। भगवान् ! आप मेरे मुनीमका चित्त शुद्ध कर दीजिये। यदि उसकी लोभभावना दूर न हुई तो मेरी भक्तिका क्या फल हुआ ? काम-क्रोध-लोभ—ये ही तीन मानवके प्रबलतम शत्रु हैं। मुझे अपने जीवनका भय नहीं है। क्योंकि—

'तुम रहते जिसके मन भीतर,
उसको परवाह नहीं होती,
जंगलमें कितने काँटे हैं,
पैरोंमें कितने छाले हैं !'

मैं तो 'आत्मसमर्पण' करके निश्चिन्त हो गया हूँ।'

× × ×

साँझको एक सँपेरा मुनीमजीके घरके सामनेसे निकला। मुनीमने उसे बुलाकर कहा—'तुम्हारे पास कोई ऐसा साँप है, जिसके विष-दाँत तोड़े न गये हों ?'

'जी हाँ—इसी पेटीमें मौजूद है। कल ही पकड़ा था।'

'तुम उसे बेच दो। ये लो पाँच रुपये।'

सँपेरेने वह विषधर फणिधर एक मिट्टीकी हाँडीमें बंद कर दिया और मुँहपर कपड़ा बाँध दिया।

जब रातके दस बजे, तब हाँडी लेकर नन्दलाल सेठजीके मकानपर पहुँचा। जिस कमरेमें सेठजी सोते थे, उसकी खिड़कीका एक शीशा टूटा हुआ था। खिड़कीके नीचे ही भक्तजीका पलंग रहता था। नन्दलालने उसी खिड़कीके द्वारा वह काला साँप अंदर फेंक दिया, जो सेठजीकी रजाईके ऊपर जा गिरा। हँसता हुआ नन्दलाल लौट गया।

प्रातः जब सेठजी रजाईसे बाहर निकले, तो सेठानी भी वहाँ खड़ी थी। उसी समय रजाईमेंसे एक काला साँप निकला और पलंगपरसे नीचे उतर गया। सेठानी चीख पड़ी। नौकरको बुलाने लगी।

'नौकरको क्यों पुकारती हो ?' सेठजी बोले।

'इस साँपको मरवाऊँगी। आपको काटा तो नहीं ?' सेठानीने कहा।

'मेरी प्रेमपरीक्षा लेनेके लिये भगवान् भोलानाथने अपने गलेका हार भेजा था। रातभर साथ सोता रहा। कभी मेरा हाथ पड़ गया, तो कभी पैर भी पड़ गया। परंतु काटता तो रातभरमें सौ बार काट सकता था।' सेठने कहा।

तबतक लाठी लेकर नौकर आ गया। सेठजी बोले—'हीरा, लाठीको रख दो ! एक कटोरा दूध ले आओ। दूध पिलाकर सर्पदेवताको जाने दो, जहाँ वे जाना चाहें। खबरदार ! मारना मत !'

'और वह इसी घरमें रहने लगे ?' सेठानीने व्यङ्ग्य किया।

'कोई परवा नहीं, रहने दो। भला, साँप कहाँ नहीं रहते ? साँपपर ही पृथ्वी टिकी है !' सेठजीने कहा।

रातको सेठजीने सपनेमें फिर भोलानाथको बैलपर चढ़े हुए मुसकाते देखा। भगवान्‌ने मुनीमवाली सर्प-क्रिया बयान कर दी। सेठने कहा—'कुछ हो, अपने शुभचिन्तनके द्वारा मुनीमके अशुभचिन्तनको नष्ट करना है। आपका आशीर्वाद है, इस परीक्षामें पास हो ही जाऊँगा। आप भी इसमें मेरी सहायता करें।'

× × ×

अपने दोनों अशुभचिन्तन विफल देख मुनीम नन्दलालने तीसरी स्कीम सोची। उसने दो नामी चोरोंसे दोस्ती गाँठी। एक दिन आधी रातके समय नन्दलाल उन दोनों चोरोंको लेकर सेठजीके मकानके पीछे जा पहुँचा। सेंध लगवाकर तीनों भीतर घुसे। सेठजीकी तिजौरी जिस कमरेमें रहती थी, उस कमरेको मुनीम जानता था। ज्यों ही मुनीम उस कमरेमें पहुँचा, उसने सामने काशीके कोतवाल भगवान् कालभैरवको त्रिशूल लिये, खजानेके पहरेपर खड़ा देखा। भय खाकर भागना चाहा तो भगवान्‌ने उसे पकड़ लिया। दो तमाचे लगाकर कहा—'कमीने ! जिसने तुझे आत्महत्यासे बचाया, उसके प्रति बदमाशी-पर-बदमाशी करता ही चला जा रहा है ? आज तुझे खतम करूँगा।'

दोनों चोर भाग गये। मुनीमने भगवान् भूतनाथके चरण पकड़ लिये और गिड़गिड़ाने लगा—'आज मेरा सारा अशुभचिन्तन मर गया। मैं अभी सेठजीसे माफी माँगता हूँ। अपने सुधारके लिये यह एक मौका दीजिये।'

वही हुआ। मुनीमने जाकर सेठजीको जगाया और उनके चरण पकड़कर अपने तीनों अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी। सेठजीने हँसकर मुनीमको छातीसे लगा लिया और कहा—'मेरे शुभचिन्तनकी विजय हुई।'

और—वास्तवमें नास्तिक मुनीम ईमानदार आस्तिक बन गया था।

पुण्यात्मा कौन है ?

परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनः। परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते॥
संतस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः। आर्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः। मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः॥
तस्मात्परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा। वरं निरयपातोऽत्र वरं प्राणवियोजनम्।
न पुनः क्षणमार्त्तानामार्तिनाशमृते सुखम्॥

(पद्म० पाताल० ९७। ३२-३५)

जो चिदानन्द-वृक्षकी भाँति दूसरोंके ताप दूर करके उन्हें आह्लादित करते हैं तथा जो परोपकारके लिये स्वयं कष्ट उठाते हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं। संसारमें वे ही संत हैं, जो दूसरोंके दुःखका नाश करते हैं तथा पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर करनेके लिये जिन्होंने अपने प्राणोंको तिनकेके समान निछावर कर दिया है। जो मनुष्य सदा दूसरोंकी भलाईके लिये उद्यत रहते हैं, उन्होंने ही इस पृथ्वीको धारण कर रक्खा है। जहाँ सदा अपने मनको ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरकके ही समान है, अतः साधुपुरुष सदा दूसरोंके सुखसे ही सुखी होते हैं। यहाँ नरकमें गिरना अच्छा, प्राणोंसे वियोग हो जाना भी अच्छा; किंतु पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर किये बिना एक क्षण भी सुख भोगना अच्छा नहीं है।

श्रीजानकी-जयन्ती

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

मङ्गलमयी कल्याणमयी पराम्बा जगज्जननी भगवती श्रीसीताका प्राकट्य वैशाख-शुक्ला[1] ९, मङ्गलवारको मध्याह्न-कालमें हुआ था। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर'में लिखा है—

पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां
श्रीमाधवे मासि सिते हलाग्रतः।
भुवोऽर्चयित्वा जनकेन कर्षणे
सीताऽऽविरासीद् व्रतमत्र कुर्यात्॥ (८०)

वैशाखमासके शुक्लपक्षकी मङ्गलवार तथा पुष्य नक्षत्रसंयुक्त नवमी तिथिको जब श्रीजनकजी पृथ्वीकी पूजा कर उसे जोत रहे थे, तब हलके अगले भागसे श्रीसीता प्रादुर्भूत हुई थीं, अतएव उस दिन मुमुक्षु वैष्णवको चाहिये कि व्रत, उत्सव तथा पूजन आदि करे।

वाल्मीकीय रामायणके 'क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्नि-शिखोपमा' (उत्तरका० १७।३७)—इस श्लोककी टीकामें श्रीनागोजी भट्टने भी महासुन्दरी-तन्त्रके वचनसे इसे ही श्रीजानकी-जयन्ती होना स्वीकार किया है। वहाँका वचन है—

वैशाखे शुक्लनवम्यामुत्पन्ना सावनीसुता।
सीतामुखात्सा संजाता पालिता जनकेन च॥
रामपत्नी महाभागा सीता नामेति विश्रुता।
तस्मिन् दिने रामभक्ताः श्रद्धाभक्तिसमन्विताः॥
महोत्सवपराः सर्वे वित्तशाठ्यविवर्जिताः।

'महासुन्दरी-तन्त्र' के अनुसार इस दिन पुराणपठन एवं श्रीसूक्तपठन श्रीरामके प्राप्तिकारक हैं—

वैशाखसितनवम्यां पुराणपठनं तथा।
लक्ष्मीसूक्तं पठंस्तत्र याति रामं सनातनम्॥

इससे सौभाग्य, धन-धान्यकी वृद्धि, पुत्रादि संतति-विस्तार तथा सभी पापोंसे शुद्धि हो जाती है—

सौभाग्यं धनधान्यं च पुत्रसंततिविस्तृतम्।
रामप्रसादाल्लभते मुच्यते सर्वपातकात्॥

'शब्दकल्पद्रुम' कोषमें भी भविष्यपुराणके वचनसे कहा गया है कि त्रेतायुगमें श्रीसूर्यके उत्तरायण होने पर वैशाख-शुक्ला नवमी, मङ्गलवारके मध्याह्नकालमें श्रीसीताका प्रादुर्भाव हुआ था—

त्रेतायुगे उत्तराशां गते कमलिनीपतौ।
सर्वर्तुनिकरश्रेष्ठे ऋतौ तु कुसुमाकरे।
मासि पुण्यतमे विप्र माधवे माधवप्रिये।
नवम्यां शुक्लपक्षे च वासरे मङ्गले शुभे।
सार्पे ऋक्षे च मध्याह्ने जानकी जनकालये।
आविर्भूता स्वयं देवी योगेषु गतिरुत्तमा।

(शब्दकल्पद्रुम-परिशिष्ट)

'अगस्त्यसंहिता'में भी यही बात कही गयी है—

मासोत्तमे महापुण्ये वैशाखे माधवप्रिये।
कुजवारे शुक्लपक्षे नवमी पुष्यसंयुता।

× × ×

पृथिव्याः पूजनं कृत्वा जनकस्तु नरेश्वरः।
हलेन कर्षणं चक्रे सर्वेषां पश्यतां सताम्।
लाङ्गलस्य मुखाग्रात्तु रमा कन्या विनिर्गता।
भित्त्वा क्षितितलं सद्यः सीतानाम्ना बभूव सा।

व्रत-निर्णय

श्रीरामनवमीके समान ही यह भी दशमी-विद्धा न हो, मध्याह्नव्यापिनी ही ग्राह्य होती है। यदि नवमी दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो तो पिछले दिन व्रत करना चाहिये—

'इयमपि तुल्यभावेन पूर्ववत्'। पूर्वेणापि मध्याह्नव्यापिन्येव ग्राह्या॥ दिनद्वयमध्याह्ने व्याप्तिस्तु परैवेति बोध्यम्, पूर्वविद्धानिषेधेन परविद्धाया ग्राह्यत्वेन स्वीकारात्'

(श्रीरघुवरशरणजीकृत वैष्णवमता०की अर्थप्रकाशिका व्याख्या)

---

१. निर्णयसिन्धुकारने फाल्गुन-कृष्ण अष्टमी को सीतोत्पत्ति माना है, वह ठीक नहीं जान पड़ता। एक तो वह वचन ही स्थल-निर्देशरहित है, दूसरे वैशाख-शुक्ला नवमीको जानकी-जन्मके प्रतिपादक वचनोंसे, जो बहुत जगह मिलते हैं, उसका विरोध होता है।

भविष्यपुराणका भी मत है कि अष्टमीविद्धा इस नवमीके उपोषणसे फलमें न्यूनता आती है तथा यह मध्याह्नव्यापिनी ही ग्राह्य है, दोनों दिन मध्याह्नव्यापिनी होनेपर परा उपोष्य है—

अष्टम्यां यदि विद्धा स्यान्नवमी माधवे सिते।
कुर्यान्नेदं व्रतं तस्यां कृतं चेन्न्यूनता भवेत्॥
मध्याह्नव्यापिनी ग्राह्या व्रतेऽस्मिन् नवमी तिथिः।
दिनद्वयगतायां तु तस्यां कार्या परा नरैः॥

यदि मध्याह्नव्यापिनी आदि योग न भी हों, तो भी यह दिन बड़ा पापनाशक तथा पवित्र माना गया है—

'एतैर्योगैर्विनापि स्यात्तद्दिनं पापनाशनम्।
(भविष्य)

व्रत-माहात्म्य

श्रीजानकीनवमी-व्रतकी गणना नित्य आवश्यक श्रेष्ठ व्रतोंमें है। जो इसका अनुष्ठान नहीं करता, वह नरकगामी होता है। इस दिन अन्न खानेवालेके लिये कहा गया है कि वह मानो कृमिसमूहके साथ पूय आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भोजन करता है—

यस्तु नो कुरुते मोहाज्जानकीजन्मसम्भवम्।
व्रतं स पच्यते घोरे नरके नात्र संशयः॥
तस्मिन्नहनि मूढात्मा भुङ्क्तेऽप्यन्नं तु यो नरः।
मुने स कृमिसंघातं सपूयं खादति स्फुटम्॥

जो इस व्रतका आचरण करता है, उसे सभी यज्ञों, षोडशमहादान, सर्वपृथ्वीदान, सर्वतीर्थपर्यटन तथा सर्वभूतदयाका फल प्राप्त होता है—

कुरुते यो व्रतं सोऽपि पृथ्वीदानफलं लभेत्।
महाषोडशदानानां यज्ञानां मुनिपुङ्गव॥
प्राप्नोति सर्वतीर्थानां प्राप्नुयात् सकलं फलम्।
सर्वभूतदयां कृत्वा फलमाप्नोति यज्जनः॥
तत् प्राप्नोति व्रतादस्मान्नात्र कार्या विचारणा।
(शब्दकल्प० परि० में उद्धृत भविष्यपुराणका वचन)

व्रतानुष्ठान-विधि

भविष्यपुराणके अनुसार श्रीजानकीनवमी-व्रतके आचरणकी विधि यह है कि व्रतीको सप्तमीके दिन प्रातः उठकर शौचादिसे निवृत्त हो किसी नदी आदिमें स्नान करके नित्यकर्म करना चाहिये। वहाँ संध्या-तर्पण आदि कर चुकनेपर उस दिन एक बार हविष्य भोजन करके पूरे संयमसे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिये। सम्भव हो तो भूमिपर ही शयन करे। दूसरे दिन अष्टमीको प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक तीर्थमें स्नान करके सोलह, आठ या चार स्तम्भोंसे मण्डित एक रम्य मण्डप बनाना चाहिये। उसे सुन्दर तोरण तथा वितानोंसे सजाना चाहिये। दरवाजोंको शङ्ख, चक्र, पताका आदिसे अलंकृत करे। प्रत्येक स्तम्भके सामने कलश रखे और शुद्ध तण्डुलराशिपर पूर्णपात्र स्थापित करे। बीचमें मिट्टीकी चार हाथकी एक वेदी बनाये, जो एक हाथ ऊँची हो। फिर यथाशक्ति पाद्य, अर्घ्य, एक या दो पल सोनेकी सीताकी प्रतिमा बनाये, जिसके चार भुजाएँ हों। शक्ति न हो तो चाँदी, पीतल, मिट्टी या गूलरके काष्ठकी ही प्रतिमा बनाये। यह भी सम्भव न हो तो दीवालपर या वस्त्रपर या कागज आदिपर बना चित्र ही रख ले। फिर सूतिकागारका निर्माण करके उसे सँवारकर चारों ओरसे कपड़ेसे ढँक दे। उसमें पर्यङ्क (पलंग) पर महाबुद्धिमती श्रीविदेहरानी सुनयनाको शयन कराये। उन्हींके बगलमें स्तनपायिनी मैथिलीको सुलाये। चित्रमें जातकर्म करते हुए महाराज जनकको भी दिखलाना चाहिये। पुरोधा शतानन्दजीका भी अवश्य समावेश करना चाहिये। यथाशक्ति स्वर्ण आदिका हल, चाँदीका खेत, सोनेका सिंहासन तथा पूर्णपात्रावृत ताम्रमय घट भी सजाना चाहिये। उस घड़ेमें तीर्थोंका जल तथा पञ्चरत्नादि छोड़ने चाहिये। फिर शास्त्रकुशल आचार्यका वरण करना चाहिये, साथ ही १६ या ८ ऋत्विजोंका भी वरण किया जाय। तत्पश्चात् अष्टदल कमलपर कलश रखकर वहीं रत्नसिंहासनपर श्रीसीताकी प्रतिमा रख उनका आवाहन करे। एकाग्रचित्त होकर मूलमन्त्रसे तीन बार प्राणायाम करे। मूलमन्त्रके*

* 'श्रीसीतायै नमः' यह मूलमन्त्र है।

जनक ऋषि, गायत्री छन्द, सीता देवता हैं। इनका न्यास इस प्रकार करना चाहिये—

ॐ जनकाय ऋषये नमः मूर्ध्नि। गायत्रीछन्दसे नमः मुखे। सीतादेवतायै नमः हृदि। श्रीं नमः नाभौ। शक्तयैः नमः पादयोः।

फिर श्रीं आदि छः बीज-मन्त्रोंसे करन्यास एवं अङ्गन्यास करके चार भुजाओंसे युक्त, सुवर्णके समान कान्तिवाली श्रीराघवसहित सीताका ध्यान करे। फिर हाथ जोड़कर मूलमन्त्रका उच्चारण करता हुआ नमस्कार करके प्रतिमाका अधिवासन कर दे और उस रातमें ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करे।

श्रीजानकी-पूजन-विधि

श्रीजानकी-नवमीके दिन शौचादिसे निवृत्त होकर, किसी पवित्र नदी आदिमें स्नान-संध्यादि करके प्रथम प्रहर पूजामें तथा दूसरा नृत्य-वादनादिमें बिताकर मध्याह्नकालमें एकाग्र चित्तसे पूजा करे। उसकी विधि यह है—आसनपर बैठकर पूर्वोक्त प्रकारसे मूल-मन्त्रका अपने अङ्गोंमें विन्यास करे। मूलमन्त्रसे शङ्खको स्थापितकर उसमें अङ्कुश-मुद्रासे चिन्मय तीर्थका चिन्तन करते हुए जल रखे। फिर मूल-मन्त्रसे सात बार उस जलको अभिमन्त्रित करे। उससे सामग्रीका प्रोक्षण करे। पूजाके पात्र ताम्र अथवा स्वर्णके होने चाहिये। पहले हल-चालनसे समुद्भूत, श्रीसीतादेवीका चिन्तन करते हुए पुष्पाञ्जलि दे और फूलोंको प्रतिमाके सिरपर रख दे। श्रीसूक्त*के 'हिरण्यवर्णां०, आदि मन्त्रोंद्वारा आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य प्रदान करे। 'चन्द्र प्रभासां०' मन्त्रसे आचमन कराये। 'आप्यायस्व०'† मन्त्रसे दूध, 'दधिक्राव्णो०' से दधिस्नान, 'घृतं०' से घृत, 'मधु वाता०' से मधुस्नान, 'अपाः०' से शर्करास्नान, 'आदित्यवर्णे०'से पञ्चामृतस्नान तथा 'स्वादुयवस०' आदि तीर्थाम्बुसे क्रमशः स्नान कराये। 'उपैतु मां देवसखः०' इस मन्त्रसे भी स्नान कराना चाहिये। स्नान कराकर प्रतिमाको रत्नसिंहासनमें स्थापित करा दे। फिर 'क्षुत्पिपासां०' मन्त्रसे वस्त्र, 'गन्धद्वारां०' से चन्दन* तथा 'मनसः काममाकूतिं०' से आभरणालंकार अर्पित करे। कोमल तुलसीपत्र तथा पुष्पोंसे प्रतिमाकी पूजा करे। वहीं १०८ बार मूलमन्त्रका भी जप करे। तत्पश्चात् व्रती—

देवी पद्मालया साक्षादवतीर्णा यदालये।
मिथिलापतये तस्मै जनकाय नमो नमः।

—इस मन्त्रसे राजा जनककी पूजा करे।

फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे महामति सुनयना, पुरोहित शतानन्दजी तथा हलका पूजन करे।

महामति सुनयनाकी पूजाका मन्त्र—

श्रीसीताजननी मातर्महिषी जनकस्य च।
पूजां गृहाण मद्दत्तां महामति नमोऽस्तु ते।

शतानन्दजीके पूजनका मन्त्र—

निधानं सर्वविद्यानां विद्वत्कुलविभूषणः।
जनकस्य पुरोधास्त्वं शतानन्दाय ते नमः।

हल-पूजन-मन्त्र—

जीवयस्यखिलं विश्वं चालयन् वसुधातलम्।
प्रादुर्भावयसे सीतां सीर तुभ्यं नमोऽस्तु ते।

तत्पश्चात् अष्टदलोंके बीच जया इत्यादि आठ सखियोंकी भी चन्दन-अक्षतादिसे पूजा करे। बहिर्मण्डलमें १६ अणिमादि देवताओंकी अर्चना करे। फिर 'सृजन्तु स्निग्धानि' से दशाङ्ग धूप, 'आर्द्रां पुष्करिणीं०' से दीप, 'आर्द्रां यः करिणीं०' से नैवेद्य अर्पितकर तत्पश्चात् निवेदन करे तथा साङ्गतासिद्ध्यर्थं यथाशक्ति दक्षिणा दे। तत्पश्चात् महानीराजन (आरती) करके पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। साष्टाङ्ग प्रणाम करे। फिर पूर्वोक्त ऋत्विजोंका

* श्रीसूक्तके सभी मन्त्र कल्याणके उपनिषदङ्कके ६५५ पृष्ठपर सानुवाद प्रकाशित हैं, वहीं देखने चाहिये।

† दूध आदि पाँच अलग-अलग द्रव्योंसे तथा तीर्थाम्बुसे स्नान करानेके मन्त्र शुक्ल यजुर्वेदके हैं तथा तीर्थाङ्कके पृ० १४-१५ पर पूरे दिये गये हैं।

* चन्दनमें कस्तूरी, कपूर, केसर मिलाना चाहिये।

मूल-मन्त्रसे पायस-शर्कराकी १००८ या १०८ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद प्रदक्षिणा करके तुलसीदल एवं पुष्पोंसे भगवतीके चरणोंमें पुनः पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर बड़ी श्रद्धा, भक्ति तथा दीनतासे उनके दोनों चरणोंको पकड़कर निम्न मन्त्रसे प्रार्थना करे—

दुरन्तसंसारसमुद्रमग्नं
सीते शरण्यां शरणागतं त्वाम्।
उद्धारयस्वाशु कृतं मयैतद्
व्रतं ततो देवि मयि प्रसीद॥

तब पुनः साष्टाङ्ग प्रणाम करके, पुनः पुष्पाञ्जलि देकर 'नीलनीरजदलायतेक्षणां०' आदि स्तोत्रसे अथवा 'या सीता[1]०' इस मन्त्रसे भगवतीकी स्तुति करे। तत्पश्चात् शेष सारा दिवस तथा रात्रिका समय भी गीत-वादित्र आदिद्वारा जागरण करते हुए ही व्यतीत करे।

दशमीके प्रातःकाल पुनः पूर्वोक्त विधिसे प्रतिमाकी पूजा करके आचार्यकी भी पूजा करे और सोपस्करा वह प्रतिमा आचार्यको दान कर दे। उन्हें यथाशक्ति सवत्सा गौ तथा दक्षिणा भी देनी चाहिये। फिर श्रीसीताकी प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक पूर्णाहुति करके मण्डपका विसर्जन करे। दूसरे ब्राह्मणोंको भी भूयसी तथा अतिथि आदिको अन्नदान करना चाहिये। इस तरह सभीको संतुष्टकर सकुटुम्ब पारण करना चाहिये।

इस प्रकार व्रतोत्सव करनेवालेपर भगवती सीता सदा प्रसन्न रहती हैं। जिसके घर सीताकी प्रतिमा नित्य पूजी जाती हो, वह उसमें भी श्रीसीताकी यह पूजा कर सकता है। यदि सीताका कोई अर्चा-विग्रह न हो तो शालग्राममें ही सीताकी भावनासे पूजा करनी चाहिये। इन्द्रादि देवतागण, गन्धर्व, किन्नर—सभी इस प्रकार जानकी-जयन्त्युत्सव मनाया करते हैं। इसके आचरणसे भगवान् राघवेन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा अश्वमेधादि यज्ञ एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी यात्राका फल मिलता है।

मनको प्रबोध

(खड़ी बोली)

अरे मन ! भज नित नन्दकिशोर।
ललितत्रिभङ्ग मनोहर छविमय ऋषि-मुनि-मानस-चोर॥
अतुलित परम प्रेम-रस-निधि नित नव माधुर्य-निधान।
अति उदार सौन्दर्य-सुधार्णव सच्चित्-सुख की खान॥
सहज विरक्त ज्ञानि-जन-मन-आकर्षक अङ्ग प्रत्यङ्ग।
उदित रूप-रवि जहाँ, वहाँ मर चुका तमिस्र अनङ्ग॥
भोग-रोग दे त्याग, सदा जो दुःखद और अनित्य।
स्याम-रूप वर सुधा-तरंगिणिमें कर मज्जन नित्य॥

१. या सीतावनिसम्भवाथ मिथिलापालेन संवर्द्धिता पद्माक्षी नृपतेः सुतानलगता या मातुलिङ्गोद्भवा।
या रत्ने लयमागता जलनिधौ या वेदवाराङ्गना लङ्कां सा मृगलोचना शशिमुखी मां पातु रामप्रिया॥

महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

किन्हीं महापुरुष, महात्मा पुरुषसे जब कभी मिलना हो जाय, तब उनके सङ्गसे साधकको किस प्रकार लाभ उठाना चाहिये? यह प्रश्न है। महापुरुषोंके सङ्गसे लाभ मनुष्यकी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर करता है। उनकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है—यद्यपि श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे, भाषणसे, वार्तालापसे, सङ्गसे, उनके पास निवास करनेसे सभी प्रकारसे लाभ होता रहता है। जितनी अधिक श्रद्धा उनके प्रति होती है, उतना ही अधिक लाभ भी होता है; किंतु कम श्रद्धा होनेपर भी मनुष्य उनकी आज्ञाका पालन करके लाभ उठा सकता है। अवश्य ही इतनी बात समझमें आ जानी चाहिये कि महापुरुषका वचन शास्त्रका वचन है और इनके वचनका पालन करनेसे निश्चय ही हमारा कल्याण हो जायगा। इतनी श्रद्धा हो जानेपर महापुरुषकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे आज्ञा नहीं देते। ऐसी स्थितिमें श्रद्धालु मनुष्य उनके संकेतसे भी लाभ उठा सकता है, उनके सिद्धान्तसे भी लाभ उठा सकता है, उनके आचरणोंसे लाभ उठा सकता है; क्योंकि वे आचरण आदर्श होते हैं। महापुरुषोंको आदर्श मानकर हम विशेष लाभ उठा सकते हैं। उनके आदर्शके अनुरूप कर्म करके, महापुरुष जिस प्रकारसे आचरण करता है, उसी प्रकार आचरण करके हम लाभान्वित हो सकते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे पुरुष उसीका अनुसरण करते हैं। वह जिस बातको प्रमाण बना देता है, सब लोग उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा थे, महात्माओंके भी महात्मा थे। उनका अनुकरण करना तो और भी अधिक लाभकी बात है। महात्मा पुरुषोंके आचरणके अनुसार व्यवहार करना ही मुक्तिको देनेवाला है; फिर साक्षात् परमात्मा यदि अवतार लेकर पधारें और उनके आचरणका अनुकरण किया जाय तो फिर कहना ही क्या।

कोई-कोई कहते हैं कि महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, किंतु उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। यह बात हमारी समझमें नहीं आती, यह न्याय भी नहीं है। यदि बात ऐसी हो तो हम किसका अनुकरण करेंगे? अनुकरणीय तो महापुरुष ही होते हैं। उनके दो भेद हैं—१—भगवत्प्राप्त पुरुष, ये भी महापुरुष ही हैं। २—महापुरुषोंके महापुरुष साक्षात् भगवान्।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकारका व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको भी करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजने अपने माता-पिताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने माता-पिताके साथ करना चाहिये। भगवान्ने अपनी सौतेली माताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपनी माताके तुल्य ताई, चाची, मौसी, मामी, सास आदि अथवा उन्हींके समान पदवाली अन्य माताओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने भाइयोंके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपने भाइयों और बन्धुओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जनकनन्दिनी भगवती सीताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपनी धर्मपत्नीके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लव-कुशके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने पुत्रोंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके साथ जैसा व्यवहार किया, हमें अपने नौकर-चाकर, मुनीम, गुमाश्ता आदिके साथ—जो अपने नीचे काम करनेवाले हैं वैसा ही करना चाहिये। भगवान्ने जैसा व्यवहार ऋषि-मुनियोंके साथ किया, वैसा ही व्यवहार हमें साधुओंके साथ, ब्राह्मणोंके साथ, महात्माओंके साथ, ज्ञानी और भक्तोंके साथ करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक व्यवहारमें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये। उन्हींके आदर्शके अनुरूप जीवन बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे बहुत शीघ्र मनुष्यका उद्धार हो सकता है। ऐसा करनेमें बार-बार भगवान्की स्मृति तो होती ही है, साथ ही भगवान्के चरित्रगत गुणोंका अनुशीलन होनेसे वे गुण हमारे अंदर आते हैं, जिससे हमारे आचरणोंका सुधार होता है। केवल उनकी स्मृतिसे ही हमारी आत्मा शुद्ध होकर कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकती है; क्योंकि

भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श एवं वार्तालापकी भाँति उनके चिन्तनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

भगवान् अपने अवताररूपमें इस समय विद्यमान नहीं हैं, व्यापकरूपमें विद्यमान हैं, उनकी लीलाएँ तथा चरित्र भी ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनसे हम जान सकते हैं कि भगवान्‌ने अमुकके साथ अमुक ढंगसे व्यवहार किया। उसीके अनुसार हमलोगोंको भी जहाँ जैसा प्रसङ्ग हो, वहाँ वैसा व्यवहार करना चाहिये। साथ ही भगवान्‌की लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यका दिग्दर्शन करना चाहिये।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की एक लीलाको ले लीजिये। भगवान् लङ्का-विजयके अनन्तर सीता, लक्ष्मण एवं अन्य सबके साथ अयोध्या लौट रहे हैं। उनका एक-एक चरित्र अनुकरणीय है। रास्तेमें बंदरोंके साथ, राक्षसोंके साथ उनकी बात-चीत हो रही है, अपनी धर्मपत्नी जगज्जननी सीताके साथ भी वे बातचीत कर रहे हैं और उन्हें मार्गके दृश्य दिखला रहे हैं। बंदरोंसे वे कह रहे हैं—'यह अयोध्यानगरी—मेरी जन्मभूमि है, यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मुक्ति हो जाती है। अयोध्यामें वास करनेसे मुक्ति हो जाती है। यह मुझको वैकुण्ठसे भी बढ़कर प्यारी है।' साथ-साथ उनसे विनोद भी करते जाते हैं। हमलोगोंको अपने अनुयायियोंके साथ, अपनेसे छोटोंके साथ ऐसा ही मधुर एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। अयोध्या पहुँचकर श्रीराम मुनियोंके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे मिलते हैं। बड़ोंके साथ हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा भगवान्‌ने उस अवसरपर मुनियोंके साथ किया। भाइयोंके साथ भी वे यथायोग्य व्यवहार करते हैं। सारी प्रजा प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के दर्शनोंके लिये उमड़ आती है, तब भगवान् समान भावसे, बड़े प्रेम एवं आदरपूर्वक सबसे यथायोग्य मिलते हैं। ऐसे अवसरोंपर हमें भी सबसे इसी प्रकार मिलना चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि इस लीलामें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको किस प्रकार देखा जाय? विचार करनेपर पता लगेगा कि उनकी लीलामें पद-पदपर गुण भरे हुए हैं। भगवान्‌का व्यवहार दयासे पूर्ण है, प्रेमसे पूर्ण है, विनयसे पूर्ण है। उनके बड़ोंके साथ व्यवहारमें विनय है, छोटोंके साथ व्यवहारमें प्रेम है, दया भरी हुई है। इसी प्रकार उनके चरित्रमें प्रभाव भी देखना चाहिये। वे एक ही क्षणमें अनन्त रूप धारण करके बड़प्पनके अभिमानसे शून्य होकर सबसे यथायोग्य मिलते हैं। यह उनका कैसा विलक्षण प्रभाव है! अब उनके चरित्रका रहस्य समझना चाहिये। अवधवासी उन्हें अतिशय प्रिय क्यों थे? इसका रहस्य, वे स्वयं कहते हैं, कोई विरला ही जानता है। इस कथनसे उन्होंने यह दिखलाया कि अवधवासियोंका उनमें अतिशय प्रेम था। इसीलिये वे उनको अतिशय प्रिय थे। साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही श्रीराम थे, यह उनका तत्त्व है। इस प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको समझना चाहिये तथा उस लीलासे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उनके व्यवहारमें नीति, धर्म, प्रेम एवं विनय ओतप्रोत रहते हैं। हमारा भी व्यवहार ऐसा ही होना चाहिये। हमारे व्यवहारमें भी नीति, धर्म, प्रेम एवं त्याग ओतप्रोत रहने चाहिये।

इसी प्रकार संसारमें जो महापुरुष हो गये हैं अथवा जो महापुरुष वर्तमानकालमें ईश्वरकी कृपासे हमें मिल गये हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, उनके संकेतका अनुवर्तन करना चाहिये। संकेतका अर्थ यह कि बिना बोले इशारेसे उन्होंने कोई बात कह दी अथवा जिज्ञासाके भावसे कोई बात पूछ ली। मान लीजिये, उन्होंने आपसे पूछा—जप, ध्यान होता है न? उनके इस प्रकार पूछनेपर आपको जप और ध्यान प्रारम्भ कर देना चाहिये, यदि नहीं करते हों तो। प्रश्नके रूपमें उनका आपके लिये यह संकेत ही है कि आप ऐसा करें। यदि वे किसी कामके लिये आपको साक्षात् प्रेरणा कर दें, तब तो आपको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये। आज्ञा और प्रेरणाका अर्थ प्रायः मिलता-जुलता-सा है। प्रेरणाका स्वरूप यह है—'प्रातःकाल बड़े सबेरे उठना चाहिये। सूर्योदयसे पहले ही स्नान करके यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादा तो यह है कि संध्या और भी जल्दी रात रहते ही प्रारम्भ कर दी जाय और सूर्योदयतक गायत्रीका जप करते रहा जाय। संध्या-गायत्रीमें जिनका अधिकार नहीं है अर्थात् जिनके यज्ञोपवीत नहीं हैं—जैसे स्त्रियाँ, शूद्र एवं बालक आदि, उनके लिये वे महापुरुष यह कह सकते हैं कि 'भगवान्‌के नामका जप एवं स्वरूपका ध्यान, गीताका पाठ, भगवान्‌की मानसिक पूजा या मूर्तिपूजा, अपनी आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना, भगवान्‌के गुणोंका गान, यह तो अवश्य ही करना चाहिये। सोनेके समय भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको याद करते-करते

सोना चाहिये। अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा, प्रेम, विश्वास हो तो निर्गुण-निराकार तत्त्वका ध्यान करते-करते शयन करना चाहिये और काम करते समय लक्ष्य भगवान्‌की ओर रहना चाहिये।' यह प्रेरणाके रूपमें एक प्रकारकी आज्ञा ही है। इसके उत्तरमें हमारे यह कहनेपर कि 'जो आप कहते हैं, बहुत ठीक है और तदनुसार यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है, किंतु मन भगवान्‌में नहीं लगता' यदि महात्मा यह कहें कि मन न लगे, तो भी ऐसा करते रहो, तो यह उनकी स्पष्ट आज्ञा हुई। इसके भी आगे यदि वे यह कह दें कि 'करते-करते मन लगने लगेगा' तो यह उनका आशीर्वाद हुआ, जो भविष्यकी बात कह दी। दूसरे शब्दोंमें यह उनका एक प्रकारसे वरदान हो गया। अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो—यह आज्ञा है। अमुक कार्य करनेसे अवश्य सफलता मिलेगी, यह एक प्रकारका आशीर्वाद है, वरदान है।

किसी संतके पास निवास करनेसे भी हमको बहुत लाभ मिल सकता है। उनका हाव-भाव, उनकी चितवन आदि देखते रहनेसे उनके संस्कार हमारे हृदयमें जमते हैं। काम करनेके समय उन संस्कारोंके अनुसार हमारे चित्तमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार हमारी चेष्टा भी उसी प्रकार होने लगती है। और तो और, महापुरुषोंके दर्शन मात्रसे उनके स्वरूपके, उनके चरित्रके संस्कार हमारे हृदयपर पड़ते हैं और चरित्रके साथ-साथ उनके गुणोंका भाव भी हमारे हृदयमें आने लगता है। वे किसीका उपकार करते हैं तो उन्हें देखकर हमारे मनमें यह भाव आता है कि ये बड़े ही दयालु हैं, बड़े ही उदारचित्त हैं। उनमें हमारी विशेष श्रद्धा होती है तो उनके हृदयका भाव हमारे हृदयपर प्रतिफलित होने लगता है। उनके समीप रहनेसे उनके जो सिद्धान्त हैं, जो मान्यताएँ हैं, उनका ज्ञान बढ़ता चला जाता है और उसके अनुसार आगे जाकर हमारे भी वैसे ही सिद्धान्त बन जाते हैं। महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया उपदेशसे ओतप्रोत रहती है; उसमें नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार भरे रहते हैं। श्रद्धा होनेसे इनका स्पष्ट दिग्दर्शन होता है तथा साथ ही यह भाव भी पैदा होता है कि हम भी ऐसे बनें। यह भाव बहुत लाभदायक होता है। बार-बार उस भावकी स्फुरणा होनेसे कभी वह वैसा बन भी सकता है।

हमने बालकपनमें महापुरुषोंके दर्शन किये थे। उनकी स्मृति बहुत बार होती है, जिससे हमें बहुत अधिक लाभ होता है। इससे हम समझते हैं कि आपलोग भी यदि ऐसा करें तो आपलोगोंको भी विशेष लाभ होना चाहिये। महापुरुषोंके चरित्रोंकी स्मृतिसे उनका अनुकरण करनेकी इच्छा होती है और फलतः कुछ अंशोंमें वैसी चेष्टा बननेमें भी आती है, कम-से-कम उनकी छाप तो हृदयपर पड़ती ही है। जितनी अधिक किसी महापुरुषमें हमारी श्रद्धा होती है, उतने ही अधिक उनके आचरणोंके हृदयपर संस्कार जमते हैं और संस्कारोंके अनुसार ही स्फुरणा होनेसे वैसे ही आचरण भी हमसे भी होने लगते हैं। जब-जब प्रसङ्ग आये, तब-तब उनके आचरणोंको याद कर लेनेसे उनके अनुसार आचरण बनने लगते हैं। महापुरुषोंके हृदयके भावका उनका सङ्ग करनेवाले व्यक्तिके हृदयपर भी निश्चित प्रभाव पड़ता है और आगे जाकर वह भी वैसा ही महापुरुष बन सकता है। जो महापुरुष बनना चाहे, उसके वैसा बननेमें सबसे बढ़कर सहायक महापुरुषोंका सङ्ग, उनके समीप वास करना, उनके संकेतके अनुसार चलना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके शासनमें रहना है। ये सभी साधन एक प्रकारसे महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार साधन करते-करते आगे जाकर साधक भी महापुरुष बन सकता है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे महापुरुषोंसे भेंट हो जानेपर उनके सङ्गसे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, यह बात आपको संक्षेपसे ऊपर बतलायी गयी।

अर्जुनको भगवान् गीतामें ज्ञान प्राप्त करनेकी पद्धति इस प्रकार बतलाते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

अर्जुन! उस ज्ञानको तू प्राप्त कर। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे। यहाँ यह प्रश्न होता है—उस ज्ञानको कैसे प्राप्त किया जाय? इसका उत्तर है—'प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।' अर्थात् उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करके, उनकी सेवा करके और जिज्ञासुभावसे प्रश्न करके। उनकी सेवा क्या है? उनकी आज्ञाका पालन ही सेवा है। आज्ञापालनके समान और कोई सेवा नहीं है। तुलसीकृत रामायणमें भगवान्‌ने भी यह बात अपनी प्रजासे कही है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

मेरी आज्ञा माननेवाला ही मेरा सेवक है और वही मेरा अतिशय प्यारा, प्रियतम है। एक तो होता है प्रिय, एक

प्रियतर, एक प्रियतम । जो सबसे बढ़कर प्यारा है, उसे प्रियतम कहते हैं । उदाहरणके लिये पतिव्रता स्त्रीका पति ही प्रियतम है । भगवान् कहते हैं—'वही मेरा सेवक है और वही मेरा प्रियतम है, जो मेरे शासनको मानता है, मेरी आज्ञाका पालन करता है ।' स्वामी एवं गुरुके आज्ञापालनका विशेष महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है । नीचे पूर्वकालकी एक कथा दी जाती है, उसमें आज्ञापालनकी ही प्रधानता है ।

जबालाका पुत्र सत्यकाम नामका एक ब्रह्मचारी था, जो गुरुकुलमें वास करता था । उसको गुरुकी आज्ञा हुई—'हमारी चार सौ गौओंको वनमें ले जाकर चराओ । जब इनकी संख्या एक हजार हो जाय, तब इन्हें लौटा लाना ।' सत्यकामके चित्तमें विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाके पालन करनेसे उसका कल्याण हो जायगा । उसने वैसा ही किया । अब वे गौएँ बढ़ते-बढ़ते एक हजार हो गयीं । तब एक बैलने सत्यकामसे कहा—'हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, गुरुका ध्येय सिद्ध हो गया । अब हमलोगोंको आश्रममें ले चलो ।' सत्यकामने कहा—ठीक है । तदनुसार वह गौओंको गुरुजीके आश्रममें ले जा रहा था कि मार्गमें ही उसे ब्रह्मज्ञान हो गया । जब वह आश्रमपर पहुँचा, तब गुरुने उसके मुखारविन्दको देखकर कहा—तुम्हारा खिला हुआ मुखकमल देखनेसे ऐसा लगता है कि तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया, तुम्हारे चेहरेपर बड़ी भारी शान्ति है । सत्यकामने कहा—आपकी कृपासे ही ऐसा सम्भव हुआ है; किंतु मैं आपसे ज्ञानकी बात सुनना चाहता हूँ । इसके बाद गुरुने उसे उपदेश दिया । यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गुरुकी आज्ञाका पालन करते-करते सत्यकामको अपने-आप ही परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो गया । फिर महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेसे हमको यथार्थ ज्ञान हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या । गुरु हो किंतु महात्मा न हो, तब भी उसकी आज्ञाका बड़ा भारी महत्त्व है । फिर यदि कोई महात्मा हो और उसमें हमारा गुरुभाव हो, तब तो ज्ञान हमें अपने-आप निश्चय ही हो जायगा । आत्मकल्याणमें भाव ही प्रधान है ।

आज्ञापालनकी तो बात ही क्या, महात्मा पुरुषोंका तो सङ्ग ही सब प्रकारसे लाभदायक होता है । सत्सङ्गकी बड़ी महिमा शास्त्रोंने गायी है । रामचरितमानसमें लङ्किनी राक्षसी हनुमान्‌जीसे कहती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

'मेरे प्यारे हनुमान् ! स्वर्ग तथा अपवर्ग अर्थात् मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखो और दूसरी ओर एक क्षणके सत्सङ्गको । एक क्षणके सत्सङ्गसे हमें जो वास्तविक आनन्द मिलता है, जो सच्चा सुख मिलता है, वैसा सुख स्वर्ग और मुक्ति दोनोंको एक साथ प्राप्त होनेपर भी नहीं मिलता ।' यहाँ कोई यह कह सकते हैं कि 'स्वर्गकी बात तो ठीक है, वह तो अल्प है ही; किंतु मुक्तिके सुखसे भी सत्सङ्गका सुख विशेष बतलाया गया, यह बात समझमें नहीं आयी ।' इसका उत्तर यह है कि 'सत्' नाम है भगवान्‌का; उनमें जो प्रेम है, वही वास्तविक सत्सङ्ग है । मुख्य सत्सङ्ग तो यही है, और इसे प्रेमी लोग मुक्तिसे भी बढ़कर मानते हैं । सत्सङ्गका दूसरा अर्थ है, भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग । इसकी भी बड़ी भारी महिमा है । मान लीजिये भगवान् किसी समय अवतार लेकर भूतलपर पधारें और हम उनके साथ रहें, संसारमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये विचरण करें तो उसमें जो आनन्द आयेगा, उस सत्सङ्गमें जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होगी, वह आनन्द मुक्तिमें कहाँ है ?

एक मनुष्य स्वयं भोजन करता है और दूसरा बहुत-से भूखों एवं अनाथोंको, जो अन्नके बिना छटपटा रहे हैं, भोजन कराता है । बहुत-से भूखों एवं असमर्थोंको भोजन करानेमें जो सुख है, वह स्वयं भोजन करनेमें नहीं मिलता । इसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुषोंके साथ रहकर लोगोंका कल्याण करते हुए विचरण करनेमें भक्तको कितना आनन्द आता होगा, इसका अनुमान करना कठिन है । फिर यदि स्वयं भगवान्‌का साथ मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है । अतः यह स्पष्ट है कि भगवत्प्राप्त पुरुषोंके साथ रहकर संसारमें भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करनेमें, संसारके दुखी-अनाथ प्राणियोंका उद्धार करते रहनेमें जो आनन्द है, वह मुक्तिमें नहीं है ।

एक ओर तो कोई मनुष्य काशीमें मरकर स्वयं मुक्तिलाभ करता है; क्योंकि काशीमें मरनेसे शास्त्रोंमें मुक्ति कही गयी है—'काश्यां हि मरणान्मुक्तिः'—और दूसरी ओर उसी काशीमें रहकर शिवजी महाराज मुक्तिका सदावर्त बाँटते हैं । दोनोंमेंसे शिवजी महाराजको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह काशीमें जाकर मरनेवालेको थोड़े ही प्राप्त होता है । जो कुछ भी हो, अपने मनमें तो यही भाव रखना उत्तम है कि 'प्रभो ! हमको मुक्ति नहीं चाहिये । हमारे द्वारा लोगोंकी मुक्ति होती रहे । हमारा चाहे जन्म होता रहे, उसमें कोई चिन्ताकी बात

नहीं है। मनुष्य यदि मुक्ति दिलानेवाले काममें महापुरुषोंका साझीदार बना रहे तो उसे कितना आनन्द हो। सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जानेपर फिर जहाँतक बने, उनका सङ्ग अपनी ओरसे छोड़ना नहीं चाहिये। कोई कहे—स्वयं महात्मा यदि छोड़ दें तो ? इसका उत्तर यही है कि वे तो छोड़ना जानते ही नहीं।

धर्म, ईश्वर एवं महात्मा पुरुष पकड़ना जानते हैं, छोड़ना नहीं। जिसे वे एक बार पकड़ लेते हैं, उसको वे छोड़ते नहीं। हमीं उन्हें छोड़ दें तो बात दूसरी है। धर्मको कोई छोड़ दे, धर्मका कोई त्याग कर दे, तो धर्मका क्या वश ? किंतु जो धर्मको नहीं छोड़ते, धर्म भी उन्हें कदापि नहीं छोड़ता। मनुष्य जब मर जाता है, उसके बन्धु-बान्धव उसके साथ श्मशानतक जाते हैं और वहाँ उसे छोड़कर चले आते हैं। धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जो प्राणीके साथ मृत्युके अनन्तर भी जाती है। ईश्वरकी कृपासे यदि किसी महापुरुषका सङ्ग मिल जाय तो फिर किसी बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उससे बढ़कर और कोई वस्तु हो तो उसकी हम आवश्यकता समझें। उससे बढ़कर तो भगवान् हैं, जो प्रेम होनेपर अपने-आप ही हमसे आ मिलेंगे। भगवान्के मिलनेकी भी इच्छा रखना आवश्यक नहीं है।

मूल प्रश्न यह था कि महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय तो क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि उनसे वार्तालाप करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उनकी आज्ञाके पालनमें जो आनन्द है, वह मुक्तिके सुखसे भी बढ़कर है; क्योंकि मुक्ति तो उस महापुरुषके चरणोंमें लोटती है। सत्सङ्गके बिना भगवान् मिलते नहीं, भगवान्के मिले बिना मुक्ति नहीं मिलती। तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'हे तात ! सत्सङ्गके बिना भगवान्की कथा सुननेको नहीं मिलती। (भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी कथा, उनके नाम, रूप, लीला एवं धामकी कथा, भगवान्के माहात्म्यकी कथा—ये सब हरिकथाके अन्तर्गत हैं।) हरिकी कथाके बिना मोह अर्थात् अज्ञानका नाश नहीं होता। अज्ञानका नाश हुए बिना भगवान्में दृढ़ प्रेम नहीं हो सकता। (बिना दृढ़ प्रेमके भगवान् नहीं मिलते)।'

अतः मूल सबका सत्सङ्ग ही है। इसीलिये हमें सत्सङ्गका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये और सत्सङ्गमें रहकर रात-दिन भगवान्की चर्चा करनी चाहिये। भगवान्की चर्चाको छोड़कर एक मिनट भी दूसरे काममें यदि हम बिताते हैं तो यह हमारी भारी मूर्खता है। भगवान्की चर्चा अमृतके समान है, दूसरी बातें विषके समान हैं। जो अमृतका त्याग करके विषको ग्रहण करता है, उसको लोग मूर्ख ही कहेंगे। महात्माओंका दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन, सब कुछ अमृतसे भी बढ़कर—या यों कह सकते हैं कि वह रसमय, आनन्दमय एवं प्रेममय है। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखता ही रहता है, उसी प्रकार हम भी महात्माके मुखको निहारते रहें—उनकी अमृतमय वाणीको कानोंसे सुनते ही रहें।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की कटै कोटि अपराध॥

'सत्सङ्ग एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनटका भी मिल जाय तो बहुत आनन्द मानना चाहिये। यदि इतना न मिले, अपितु आधी घड़ी अर्थात् १२ मिनट अथवा पाव घड़ी अर्थात् ६ मिनटका भी उपलब्ध हो जाय, तो उतनेसे ही हमारे करोड़ों अपराध नष्ट हो जायँगे।' उनके दर्शनसे, भाषणसे, स्पर्शसे, वार्तालापसे पापोंका नाश होता ही रहता है। तीर्थोंसे भी बढ़कर सत्सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले महात्मा ही होते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ बने हैं, वे सब-के-सब सत्पुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान्के प्रभावसे बने हैं। महात्मा भरतने सब तीर्थोंका जल एकत्रित करके जिस कूएँमें रखा था, वह आज संसारमें भरतकूपके नामसे प्रसिद्ध है और महान् तीर्थ माना जाता है। भरद्वाज ऋषिका आश्रम भी उन्हींके कारण आज तीर्थ माना जाता है। एक क्या, जितने भी ऋषि हुए हैं, उन सभीके वासस्थान आज तीर्थोंमें परिगणित हैं। संतोंकी तो यहाँतक महिमा है कि जहाँ-जहाँ उनके चरण टिकते हैं, वह भूमि—स्थान पवित्र हो जाता है, उनका कुल पवित्र हो जाता है। शास्त्र कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्क० माहेश्वर, कौमार० १५। १४०)

'ज्ञान एवं आनन्दके अपार समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें जिनका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे पुरुषोंके चरण पड़नेसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। उनके दर्शन, भाषण एवं

वार्तालापसे उनका कुल पवित्र हो जाता है; फिर उन्हें जन्म देनेवाली माता यदि मुक्त हो जाय तो कहना ही क्या है।'

महात्मा पुरुष दूसरोंके साथ जो उत्तम व्यवहार करते हैं, दूसरोंका जो उपकार करते हैं, वह तो महत्त्वकी बात है ही; किंतु इससे भी बढ़कर महत्त्वकी बात यह है कि जो उनके सम्पर्कमें आ जाते हैं, उन्हें भी वे महात्मा बना देते हैं। और तो और, उनके सङ्गसे अन्ततोगत्वा पापी भी महात्मा बन जाते हैं।

ऊपर यह बात कही गयी कि एक मनुष्य तो सदावर्त लेकर स्वयं अपना पेट भरता है और दूसरा भिखारियोंको, भूखोंको, अपंगोंको भोजन कराता है, स्वयं उसमेंसे नहीं लेता। परंतु क्या दूसरोंको अन्न बाँटनेवाला स्वयं भूखा रह सकता है? यदि उसके साधन सीमित हों और वह अपनी सारी भोजन-सामग्री दूसरोंको बाँट दे, अपने लिये एक दाना भी न रखे, तो वह अवश्य भूखा रह सकता है; परंतु ऐसे उदार-हृदय परदुःखकातर पुरुषको भूखा रहनेमें भी आनन्दकी अनुभूति होती है। राजा रन्तिदेवको तो एक बार ४८ दिनोंतक भूखा रहना पड़ा था। बात यह थी कि उनके पास जो कुछ था, उसे उन्होंने दुखी, अनाथ एवं आतुरोंको दे दिया था। इसीलिये उनकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। जो मनुष्य स्वयं भूखा रहकर अपने हिस्सेका भोजन दूसरेको दे देता है, उसका यह त्याग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी तुलनामें एकादशीका निराहार-व्रत भी नगण्य है।

महाभारतके अश्वमेधपर्वमें एक कथा आती है। किसी देशमें एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो शिलोञ्छवृत्तिसे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन करता था तथा अतिथि-सेवा भी करता था। एक बार उसे सात दिनतक कुछ भी खानेको नहीं मिला। सात दिन बाद उसे जौ मिले, उन्हें भूनकर तथा सत्तू बनाकर वह खानेकी तैयारी करने लगा। उस ब्राह्मणके घरमें उसकी स्त्री थी, जवान पुत्र था और पुत्रवधू थी। उसी समय दैवयोगसे एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। उस अतिथिको ब्राह्मणने अपना हिस्सा दे दिया; किंतु उससे अतिथिकी तृप्ति नहीं हुई। तब ब्राह्मणने अपनी स्त्रीके आग्रहपर उसका भाग भी ब्राह्मणको दे दिया। इसपर भी जब ब्राह्मणदेवता तृप्त नहीं हुए, तब उसने अपने पुत्रका हिस्सा और इसके बाद पुत्रवधूका भाग भी अभ्यागतको दे दिया। समागत तृप्त हो गया और उसने अपना परिचय इस प्रकार दिया। उन्होंने कहा—'मैं साक्षात् धर्मराज हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारणकर तुम्हारे यहाँ आया था। तुमने हमको जीत लिया।' उसी समय उन्होंने अपने विमानको स्मरण किया, विमान तुरंत आ गया और उसपर बैठकर वे चारों उसी शरीरसे भगवान्‌के परमधाममें चले गये। एक दिनके भोजन-त्यागका यह फल है।

यह तो अन्नदानकी बात हुई। यदि किसीको भगवान् कृपा करके ऐसा अधिकार दे दें कि जैसे अन्नका सदावर्त बाँटनेवाला दूसरोंको अन्न बाँटकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वह मुक्तिका सदावर्त बाँटने लगे तो उसे ऐसा करनेमें कितना आनन्द मिलेगा—जरा सोचकर देखिये।

राजा जनकने अपनी जनकपुरीमें मुक्तिका सदावर्त खोल रखा था। राजा अश्वपति भी अपने देशमें मुक्तिका वितरण किया करते थे। उनके यहाँ ऋषिलोग उपदेश ग्रहण करने आते थे और वे ज्ञानका उपदेश करके उनको मुक्त कर देते थे। बतलाइये, उनके समान कोई दूसरा हो सकता है? उनसे भी बढ़कर राजा कीर्तिमान् हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। सारे भूमण्डलके वे एकच्छत्र सम्राट् थे। उन्होंने सारी पृथ्वीके मनुष्योंको भक्तिका उपदेश करके कृतार्थ कर दिया। उस समय हमलोग किसी मनुष्येतर योनिमें रहे होंगे; यदि मनुष्यके शरीरमें होते तो हमलोगोंका भी कल्याण कभीका हो गया होता। उस समय न जाने किस योनिमें कहाँ हमलोग भटक रहे थे। वह अवसर हमलोगोंके हाथसे निकल गया, यद्यपि कीर्तिमान् १०००० वर्षतक जीवित रहे। दस हजार वर्षतक पृथ्वीपर जितने भी मानव थे, सबका उद्धार होता रहा। उनमेंसे एक भी यमके लोकमें नहीं गया, सब-के-सब भगवान्‌के परमधामको चले गये। ऐसी कथा स्कन्दपुराणमें आती है।

फिर भी हमलोग उस समय कल्याणसे वञ्चित रह ही गये। इसकी भी कोई परवा न करके हमलोगोंको तो ऐसा भाव रखना चाहिये कि सबका कल्याण हो जाय। यह भाव जिनका है, ऐसे महापुरुषोंका सङ्ग यदि हमें मिल जाय तो फिर हमलोगोंको और करना ही क्या रह जाय। बस, उनके साथ रहकर हमलोग मुक्तिका सदावर्त बाँटते हुए संसारमें विचरते रहें। जबतक संसारका एक जीव भी शेष रहे, तबतक यदि घूमते रहें तो भी क्या आपत्ति है, प्रत्युत बड़े आनन्दकी बात है।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

१—पलनेमें

'उठ ! तल !' दिगम्बर स्वर्णगौर छोटा-सा दाऊ अपने छोटे भाईका पलना पकड़कर खड़ा है। वह समझ नहीं पाता कि क्यों उसका यह अनुज उसके साथ खेलने नहीं चल सकता। बार-बार अपने हाथसे छोटे भाईका हाथ छूता है और अपनी तोतली बोलीमें उससे उठकर चलने और खेलनेको कहता है।

कटिमें मणिजटित नन्हे-नन्हें घुँघुरुओंकी मेखला, चरणोंमें नूपुर, हाथोंमें पतले कङ्कण, वक्षपर छोटे मुक्ताओंकी माला, नेत्रोंमें अञ्जन और भालपर घिरी घुँघराली अलकोंके मध्य एक भ्रमर-शिशु-सा कज्जलका बिन्दु—दाऊ पलनेसे टिका खड़ा है। एक हाथसे उसने पलना पकड़ रखा है। उसकी दृष्टि पलनेमें लेटे अपने छोटे भाईपर ही है।

अत्यन्त सुकोमल, दूधके फेन-जैसे उजले आस्तरणपर नीलसुन्दर चित पड़ा है। अपने छोटे-छोटे चरणोंसे शरीरपर पड़ा झीना पीताम्बर पैताने हटा दिया है इसने। बार-बार चरण उछाल रहा है और दोनों नन्हे हाथ उठा रहा है। अपना दन्तहीन छोटा-सा मुख बार-बार खोलकर किलक रहा है और देख रहा है स्थिर दृष्टिसे दाऊके भालपर लगे कज्जल-बिन्दुको। दोनों हाथोंसे उस नन्हें बिन्दुको पकड़ लेना चाहता है।

'तल !' दाऊ झुक गया है पलनेपर। उसका मुख छोटे भाईके मुखके पास आ गया है। नन्हे कोमल श्यामके कर कभी उसके नेत्र, कभी भाल, कभी नासिका छूते हैं और कभी अलकोंमें वे पतली अँगुलियाँ उलझती हैं। किलक रहा है वह सुकुमार ! यह मुख, यह कज्जलबिन्दु उसके इतने पास आ गया ? उसके लिये वह बिन्दु भी हाथोंमें ले लेने योग्य कोई वस्तु ही है, किंतु अभी उसके हाथ कहाँ ठीक काम करते हैं। उसकी नन्ही अँगुलियाँ कहाँ कोई वस्तु उठा पाती हैं।

'अरे, छोड़।' अभीसे यह चपल नटखट है। बड़े भाईकी अलकें मुट्ठीमें आ गयी हैं इसके और अब यह उन्हें खींचता किलक रहा है। दाऊ सिर झुकाये जा रहा है।

'क्यों रे, तू दादाके केश खींचता है ?' मैयाने हँसकर दाऊकी अलकें अपने लालकी मुट्ठी खोलकर छुड़ा दीं।

'उठ।' यह केश खींचे या नाक नोचे, है अत्यन्त प्रिय। दाऊ इसके साथ खेलना चाहता है। इसे छोड़कर कहीं जाते नहीं बनता उससे और इससे ही अपने बड़े भाईके बिना कहाँ रहा जाता है। दाऊ पलनेके पाससे हट जाय तो अभी रोने लगेगा।

'यह अभी नहीं जायगा। तू यहीं इसके साथ खेल !' मैया हँस रही है; परंतु दाऊको यह बात ठीक लगती है। यह नहीं चलता तो दाऊ ही इसके पास बैठेगा। वह दोनों हाथों पलना पकड़कर उसपर चढ़ रहा है।

२—सहायता

'मैं उतारूँ ? रो मत।' दाऊ अपने छोटे भाईकी सहायता करने आया है। अपने छोटे-छोटे हाथ बढ़ाकर उसे अपनी गोदमें लेना चाहता है।

कन्हाई अभी घुटनोंके बल सरकता है। आज पहली बार द्वारकी चौखट पार करनेका उसने प्रयत्न किया। किसी प्रकार देहलीपर चढ़ तो गया हाथ और पेटके बल, किंतु उतरा नहीं जाता। चौखटपर बैठा बड़े असमञ्जसमें पड़ा है। कभी हाथ झुकाता है, कभी पैर लटकाता है। बहुत ऊँची है यह चौखट उसके लिये।

जब कोई बस न चला, मोहन ऊँ ऊँ करने लगा। वह घरमें और बाहर भी देखता जाता है—कोई क्यों उसकी सहायता करने नहीं आता ? अब यह उसका बड़ा भाई आ गया है, परंतु दाऊ घरकी ओर खड़े होकर ही मोहनको गोदमें लेना चाहता है। श्यामको आज द्वारसे बाहर जाना है। वह बड़े भाईकी ओर हाथ बढ़ानेके बदले बार-बार बाहर झुकता है और दाऊकी ओर देखता है। उसे बोलना कहाँ आता है कि कह सके—मुझे बाहर उतार दो।

'तू बाहर उतरेगा ?' दाऊने बात समझ तो ली। वह स्वयं द्वारसे बाहर आया और अब हाथ बढ़ानेपर श्यामने दोनों भुजाएँ गोदमें जानेके लिये उठा दीं।

दाऊ बल है तो क्या हो गया, अभी है तो दिगम्बर शिशु ही। उसका शरीर इतना बड़ा कहाँ है कि अपने छोटे भाईको पूरा उठा सके। अब श्यामसुन्दरको भुजाओंमें कंधेके पाससे पकड़कर भर लिया है इसने और अपने उदरके सहारे उतार रहा है किसी प्रकार। कृष्णचन्द्र बड़े भाईको दोनों हाथोंसे पकड़े लटक रहा है।

चौखटसे उतर जानेपर मोहनने दो क्षण देखा उस चौखटको—'ओह, कितनी ऊँची है यह देहली भी।' बड़े भाईकी ओर देखकर हँसा और फिर यह सरक चला है। यथासम्भव शीघ्रतासे द्वारसे दूर, खूब दूर भाग जाना चाहता है वह। दाऊ चल रहा है अपने अनुजके पीछे-पीछे।

श्यामसुन्दर पीछे मुड़कर बार-बार देखता है—'आज द्वारसे कितनी दूर चला आया वह।' बहुत प्रसन्न हो रहा है मन-ही-मन।

३—सहारा

'आ! चल!' नन्हेसे नंग-धड़ंग दाऊने अपने छोटे भाईके दोनों हाथ पकड़ लिये हैं और उसे चलना सिखा रहा है। श्यामसुन्दर बड़ा प्रसन्न है। वह हँस रहा है। अटपटे चरण रखता हिलता हुआ चल रहा है अग्रजके हाथके सहारे।

'चल तू, चल!' दाऊ अभी कहाँ समझ पाता है कि कन्हाई उसकी गतिसे नहीं चल सकता। अनेक बार लगभग घसिटते हुए, आगेको झुके हुए श्यामको चलना पड़ता है; क्योंकि दाऊ अधिक गतिसे पीछेकी ओर हटता है। परंतु मोहन प्रसन्न है, वह आगेको झुककर भी हँसता जा रहा है।

श्यामसुन्दर स्वयं खड़े होनेमें समर्थ हो गया है। वह दीवाल पकड़कर या अन्य किसी सहारेसे खड़ा हो जाता है और तब एक-दो डग चलनेका प्रयत्न करता है। वैसे चलनेयोग्य नहीं हैं अभी उसके सुकुमार चरण।

'तू अपने-आप चलेगा? गिरना मत।' दाऊके हाथसे अपने हाथ छुड़ानेका प्रयत्न किया कृष्णने और दाऊने हाथ छोड़ दिया; परंतु कहीं छोटा भाई गिर न पड़े, यह आशङ्का इस नन्हे-से गोरे कुमारको है। अपनी तोतली भाषामें यह उसे सावधान कर रहा है।

श्याम हाथ छुड़ाकर खड़ा रहा दो क्षण। अपने शरीरके भारको संतुलित किये बिना भला, कैसे चल सकता है वह। एक डग ठीक चल सका; किंतु इस चल पानेकी प्रसन्नतामें दूसरा डग शीघ्रतामें उठ गया। लद्से भूमिपर लुढ़क गया वह।

'मैं उठाऊँ?' दाऊ पास, और पास आ खड़ा हुआ। उसका यह कनूँ गिरकर भी हँस रहा है। दोनों हाथ इसने आगे भूमिपर टेक रखे हैं और मुख ऊपर करके बड़े भाईकी ओर देखता हँस रहा है। अलकोंसे घिरा इसका छोटा-सा यह प्रसन्न मुख···।

'ला, हाथ दे!' दाऊ दोनों हाथ नीचे बढ़ाये खड़ा है। श्याम अभी भूमिसे हाथ उठा नहीं रहा है। वह बड़े भाईकी ओर देख-देखकर हँसता ही जा रहा है।

दोनों हाथ भूमिसे कृष्णने ऊपर उठा दिये। दाऊने उन्हें पकड़ लिया और सहायता दी छोटे भाईको उठ खड़े होनेमें। श्यामसुन्दर अब फिर चलनेका प्रयत्न करने लगा है।

'अच्छा, तू चलने लगा है।' यह कोई आ गयी है और अपने उल्लासको न रोककर बोल पड़ी है। कन्हाईने मुख घुमाकर देखा और झपटकर बड़े भाईके कण्ठमें दोनों हाथ डालकर हँसता हुआ लिपट गया है वह संकोचसे। दाऊ इस प्रकार अकस्मात् श्यामके लिपटनेसे डगमग हो गया है। छोटे भाईको दोनों भुजाओंसे समेटकर वह स्थिर रहनेका प्रयत्न कर रहा है।

४—उत्सुकता

'श्याम, क्या कर रहा है तू?' मैया बहुत देरतक चुपचाप देखती रही अपने नीलसुन्दरकी क्रीड़ा। अन्तमें भीतर दबायी हँसी रुक नहीं सकी, हँस पड़ी वह और तब श्यामसुन्दरने मुख घुमाकर उसकी ओर देखा।

कटिमें नन्हे घुँघुरुओंवाली मञ्जुल मेखला, चरणोंमें नूपुर, करोंमें पतले कङ्कण, कण्ठमें मुक्ताकी छोटी-सी माला, भालपर कज्जल-बिन्दु। दिगम्बर दो शिशु व्रजराजके आँगनमें एक दूसरेके सामने भूमिपर बैठे हैं। एक इन्दीवर-सुन्दर और दूसरा स्वर्ण-गौर। दोनों अपनी क्रीड़ामें तल्लीन। मैया कबसे खड़ी-खड़ी उन्हें देख रही है, इसका उन्हें तनिक भी पता नहीं।

कन्हाई अभी घुटनोंके बल सरकता है। अपने बड़े भाईके सामने बायीं हथेली भूमिपर टेके, उसपर कुछ झुका बैठा है। बार-बार दाऊके दूधकी बूँदोंसे उज्ज्वल दाँत झाँककर देखता है और फिर दाहिने हाथके अँगूठे एवं तर्जनीसे कोई एक दाँत चुटकीसे पकड़ता है। चुटकी उठाकर फिर अपने मुखमें ले जाकर दाँतके स्थानपर लगाता है। दाऊके मुखमें इतने उज्ज्वल, इतने सुन्दर दाँत हैं। उसके मुखमें एक भी क्यों नहीं है? अपनी समझसे वह प्रयत्न कर रहा है बड़े भाईके दो-एक दाँत उठाकर अपने मुखमें लगा लेनेका।

दाऊ अपने छोटे भाईके सामने पालथी मारे बैठा है। वह मुख खोल देता है, जब श्याम उसके मुखमें झाँककर देखना चाहता है या हाथ ले जाकर मुख खोलनेका संकेत करता है। उसके मुखमें इतने दाँत हैं; उसका छोटा भाई उनमेंसे कुछ लेकर अपने मुखमें लगा ले, इसमें उसे कोई आपत्ति नहीं दीखती।

मैयाकी हँसी रुकी नहीं। दोनोंके अञ्जनरञ्जित बड़े-बड़े नेत्र मैयाकी ओर गये। श्यामने घुँघराले बालोंसे घिरा सुन्दर मुख घुमाकर देखा मैयाकी ओर और फिर मुड़कर घुटनोंके बल यथाशीघ्र सरक गया उसके पास। वह मैयाकी अँगुली पकड़कर उसे खींच रहा है। बार-बार अपना मुख खोलकर अँगुलीसे दिखाता है—'इसमें दाँत क्यों नहीं हैं?' और दाऊकी ओर देखकर मैयाको खींचता है, खीझता है। उसकी एक-एक भङ्गी कह रही है—'तू दाऊके दाँत मेरे मुखमें लगा दे।'

मैया हँसती है—हँसते-हँसते लोट-पोट-सी हो रही है।

'अरे, दाँत तो मैयाके मुखमें भी हैं। श्यामसुन्दर अब हठ कर रहा है, मैयाके मुखमें बार-बार अपने हाथ ले जाता है, मैयाकी अँगुली ले जाता है—'तू अपने दाँत मेरे मुखमें लगा।'

५—निरीक्षण

'मैया!' श्यामसुन्दर रो रहा है। पता नहीं क्या हुआ है; पता नहीं क्या खो गया है या वह कुछ चाहता है—पक्षियोंकी छाया पकड़ना या दर्पणमें पड़ा अपना प्रतिबिम्ब पकड़ना और वह हो नहीं पाता। मैया भी पता नहीं कहाँ चली गयी है कि अपने नन्हे कन्हाईकी पुकार सुन नहीं रही है।

'माँ! माँ!' माता रोहिणी भी पता नहीं कहाँ क्या करने लगी हैं। श्याम—नंगा श्याम आँगनमें भूमिपर बैठा खीझ रहा है। वह बार-बार अपने हाथ हिला रहा है, नन्हे चरण हिला रहा है, सिर झकझोर रहा है और रो रहा है। रोते-रोते इधर-उधर देखता जाता है—'कोई क्यों नहीं सुनता? कोई क्यों उसके पास नहीं आता? घरकी सब दासियाँ किधर भाग गयीं?' उसे एक ओरसे सबपर झुँझलाहट हो रही है।

'कनूँ!' यह आया अपने छोटे-छोटे चरणोंसे लदबद दौड़ता उसका बड़ा भाई। दाऊ आकर मोहनके सामने उकड़ूँ बैठ गया और अपने छोटे भाईके अश्रु पोंछनेका प्रयत्न करने लगा। वह अपने कनूँको आश्वासन देना चाहता है।

कन्हाईने सहसा रोना-खीझना बंद कर दिया। उसकी दृष्टि दाऊके वक्षपर पड़ी मोतियोंकी मालापर चली गयी। दाऊकी स्वर्ण-गौर देहकान्तिसे उज्ज्वल मोती कुछ पीले लगते हैं। मोहन एक हाथ भूमिमें टेककर झुक गया। दहिने हाथकी तर्जनी और अँगूठेसे मोतीके एक दानेको पकड़नेका प्रयास करते हुए वह बड़े ध्यानसे उसे देख रहा है।

'तू लेगा इसे?' दाऊ अपने छोटे भाईको पूरी माला ही अपने गलेसे उतारकर पहना देना चाहता है।

श्यामसुन्दरको अवकाश नहीं है। वह मोतीके इस दानेका निरीक्षण कर रहा है। सम्भवतः उलट-पलटकर देख रहा है कि इसमें कैसे श्वेत एवं पीत छटा हिलती-डोलती है। दाऊ माला क्यों हिला रहा है? क्यों उठाना चाहता है उसे यहाँसे? बिना बड़े भाईके मुखकी ओर देखे, बिना कुछ बोले अपना बायाँ हाथ भूमिसे उठाकर दाऊके वक्षपर रख दिया मोहनने। अपनी उत्फुल्ल कमल-जैसी छोटी हथेलीसे मालाका एक अंश दबा दिया, जिससे दाऊ माला हिलाकर उसके निरीक्षणमें बाधा न दे सके।

बड़े-बड़े दीर्घ दृग् जमे हैं दाऊके वक्षके उस नन्हे मोतीपर। कपोलोंपर दो बूँदें चमक रही हैं अबतक। माँ और मैया दोनों आ गयी हैं; किंतु उनका लाला निरीक्षणमें लगा है। वह इस समय अपने सामने बैठे दाऊके मुखकी ओर भी देख नहीं रहा है। दाऊ, मैया और माँके नेत्र अपलक उसके श्रीमुखकी एकाग्रभङ्गीका इसी सुसमयमें निरीक्षण कर सकते हैं।

६—स्नान

सुनते हैं—भगवान् विष्णु सिन्धुशायी हैं। रात-दिन समुद्रमें ही सोते रहते हैं; इधर यह घुटनों सरकनेवाला नन्हा चञ्चल नन्दनन्दन—इसे कहीं पानी मिल भर जाय। आँगनमें दो बूँद पानी भी मिले तो उसे अपनी लाल-लाल हथेलीसे फैलाता रहेगा। बीच-बीचमें मुड़कर इधर-उधर देखेगा, हँसेगा।

कहीं दो चुल्लू पानी मिल जाय किसी छोटे बर्तनमें—कन्हाई उसे भूमिपर फैला लेगा। दोनों हाथ, घुटने कीचड़में लथपथ कर लेगा। पेटके बल सो जायगा वहीं और फिर इधर-उधर ढूँढ़ेगा बड़े भाईको। दाऊके पास सरक जायगा और उसे भी ले आयेगा उस कीचड़में खेलनेके लिये।

'श्याम, तू मछली है क्या?' माता रोहिणी पता नहीं कितनी देरसे अपने इस चपलकी क्रीड़ा देख रही हैं। अब उन्हें लगता है कि बच्चेको अधिक देर जलमें नहीं रहना चाहिये।

मैयाने दोनों भाइयोंको नहला दिया था। केश सँवार दिये थे। शृङ्गार किया था। परंतु इससे क्या हुआ? आँगनमें बड़े सारे कठौतेमें पानी भरा हुआ था। कृष्णचन्द्रको इतना अधिक जल मिल गया, अब वह स्नान कैसे न करे।

कन्हाईने जल देखा और आनन्दसे कठौतेके पास बैठकर

ताली बजाने लगा। झाँककर देखा उसने जलमें अपना मुख और फिर हाथ डालकर उस प्रतिबिम्बको पकड़नेके प्रयत्नमें लग गया।

'ऊँ, ऊँ !' कृष्णचन्द्र मुड़कर हाथकी अँगुलियाँ हिलाकर अपने बड़े भाईको समीप बुला रहा है। जलमें जो बालक दीखता है, वह उसके हाथ नहीं आता—यह बार-बार संकेत करता है।

दाऊ आया और कठौतेमें घुसकर बैठ गया। अब प्रतिबिम्ब दीखता नहीं तो उसकी बात कौन सोचे। श्याम भी स्नान क्यों न करे। वह अपने बड़े भाईके पास उसके सामने जलमें लेट गया।

कठौतेका जल चारों ओर फैल रहा है। दाऊ पालथी मारे जलमें बैठा है। कभी छोटी-सी अञ्जलिसे अपने कंधोंपर जल डालता है, कभी अपने छोटे भाईके मस्तक या पीठपर।

कठौतेमें बड़े भाईके सामने पेटके बल श्याम लेटा है। वह मुख घुमा-घुमाकर बड़े भाई या माँकी ओर देख लेता है बीच-बीचमें। हँसता जाता है। हाथ-पैर उछालता है और मछलीके समान बार-बार चपलतापूर्वक कुलबुलाता है। माँ उसे झुककर उठाना चाहती है; किंतु वह निकलना कहाँ चाहता है पानीसे।

भगवान् विष्णु क्या मत्स्यावतार ले पाते इस जलशायीको देखनेके पश्चात् ?

७—अध्ययन

'ऊँ, गूँ,' पता नहीं क्या, कन्हाई कुछ बोल रहा है—क्या बोल रहा है, यह कैसे कहा जा सकता है। अपनी समझसे वह पढ़ रहा है। झूम-झूमकर पढ़ रहा है वह।

द्वारके सामने मार्गकी धूलिमें कृष्णचन्द्र बैठा है। दाऊने ही सहायता देकर इसे चौखट पार कराया होगा। मैयाने उबटन लगाकर इसके सहज स्निग्ध अङ्गको और चिकना कर दिया है। घुँघराले केश तैलसिञ्चित हैं और सँवारे हुए हैं। नेत्रोंमें अञ्जन लगा है और भालपर एक बिन्दु है काजलका। घुटनों चलनेके कारण पैर और दोनों हाथ धूलिसे सन गये हैं। नासिकापर, दहिने कपोलपर और उदरपर धूलिसनी अँगुलियोंकी छाप लग रही है। अब यह बायें पैरकी पालथी मारे, दहिना चरण कुछ मोड़कर फैलाये, बायीं हथेली भूमिपर टेके झुका बैठा है और दहिने हाथकी पतली तर्जनीसे धूलिमें रेखाएँ खींचता और झूम-झूमकर 'गूँ-गाँ' करता जा रहा है। बड़े जोरसे अध्ययनमें लगा है यह।

अपने छोटे भाईके सामने दिगम्बर दाऊ बैठा है पूरी पालथी मारकर बायें हाथको टेककर उसके सहारे आगेको झुका। उसका भी मैयाने श्यामके समान ही शृङ्गार किया है; किंतु उसके मुख, कपोल, वक्ष तथा उदरपर उसके अनुजके धूलिभरे करोंकी छाप पर्याप्त अधिक है। श्याम बार-बार उसके मुख या वक्षपर पूरा हाथ रखकर संकेत करता है कि वह देखे, उसके छोटे भाईने कितना अधिक लिख लिया है।

'बाबा, ताऊ, मैया' दाऊके मुखमें जो आता है—व्यक्तियोंका, गायोंका, बछड़ोंका नाम वह बोलता जाता है। यह नियम थोड़े ही है कि कोई नाम दस-पाँच बार आवृत्ति न करे। वह कोई-न-कोई नाम अँधाधुंध बोलता जाता है और धूलिमें सामने आड़ी, टेढ़ी, चक्करदार उलझी रेखाएँ तर्जनीसे खींचता जाता है।

श्यामसुन्दर चकितभावसे देखता है अपने अग्रजकी ओर। ओह, उसका यह दादा इतना भारी विद्वान् है। इतने सारे नाम लिख सकता है। नहीं, वह छोटा विद्वान् नहीं रहेगा। मस्तक झुकाकर बड़ी शीघ्रतासे दाऊकी खींची रेखाओंपर एक सिरेसे दूसरे सिरेतक बड़ी-बड़ी उलझी रेखाएँ वह खींच रहा है। खूब सिर हिला रहा है। अधिक शीघ्रतासे 'गूँ-गूँ' करने लगा है। बीच-बीचमें मुख उठाकर बड़े भाईकी ओर मुसकराता हुआ देखता है, मानो कहता हो—'दादा, देख ! मैंने भी कितना लिख दिया है।'

ये दोनों महापण्डित धुआँधार अध्ययनमें लगे हैं इस समय। अब इन्होंने अपने सामने भूमिपर जो बड़ा भारी शास्त्र लिख दिया है, वह किसीकी समझमें नहीं आता तो ये क्या करें।

८—संकोचमें

श्यामसुन्दर अभी बोलना सीख रहा है। वह 'माँ,' 'दादा', 'बाबा' कह लेता है। 'दाऊ' तो बहुत पहले कहना आ गया था उसे। आज सबेरे-सबेरे वह मैयाके पास मथानी पकड़कर आ खड़ा हुआ है। अपनी छोटी-सी हथेली फैलाकर कह रहा है—'दादा।'

'अच्छा, माखन निकलने तो दे।' मैया बार-बार समझाती है; किंतु मोहनको तो स्वयं अपने 'दादा'को आज माखन खिलाना है। उसे जल्दी पड़ी है। कहीं दाऊ यहीं आ गया तो ? नहीं, श्याम आज ले जाकर उसे माखन खिलायेगा अपने हाथों। वह अपने हाथों ही खिलायेगा। हाथ नहीं लगाने देगा बड़े भाईको। उसे उतावली है। वह

मैयाके मुखको, नाकको बार-बार हाथसे पकड़ता है। बार-बार खीझता है। उसे क्यों जल्दीसे माखन नहीं दे दिया जाता ?

'लाला ! नेक-सा माखन मुझे भी दे।' यह कौन आ टपकी ? इतनी देरमें, इतनी हठपर तो कहीं मैयाने माखन दिया है और यह बीचमें ही माँगनेवाली आ गयी। श्यामने अपना मस्तक जोरसे हिला दिया और उससे बचकर निकलनेके लिये दूसरी ओर मुड़ा।

'नेक-सा तो दे दे।' गोपिकाने आगे होकर हाथ फैलाकर मार्ग रोक दिया।

दहिने हाथकी लाल हथेलीपर थोड़ा-सा उज्ज्वल माखन लिये, बायें हाथको भूमिपर टेके दिगम्बर नीलसुन्दर घुटनोंके बल सरक जाना चाहता है गोपिकासे बचकर। चरणोंमें नूपुर, कटिमें मेखला, कण्ठमें मुक्ताहार, भालपर बिखरी अलकोंके बीच कज्जलबिन्दु। वह कभी इधर और कभी उधर खिसकता है गोपीसे बचनेके लिये।

'नेक दे दे।' गोपिका मार्ग रोके आग्रह कर रही है।

'दादा !' मोहन बैठ गया। उसने मुड़कर मैयाकी ओर देखा और फिर गोपीकी ओर संकेत किया बायें हाथसे उसने।

'यह तुझे जाने नहीं देती ? दादाका माखन माँगती है ? दे दे इसे थोड़ा-सा।' मैयाने स्नेहसे पुचकारा।

कन्हाई अपना छोटा-सा सिर झुकाकर सोचने लगा है। वह क्या करे ? अपने बड़े भाईका भाग इसे दे या न दे ? बायें हाथकी तर्जनी और अँगूठेको वह माखनमें लगाये है। दो सरसोंके बराबर माखन अँगुलीपर उठा पाया है बहुत सोच-विचारकर। अब इतना भी दे या न दे ? हाथ बढ़ाते-बढ़ाते भी खींच लिया उसने। यह तो दाऊ दादाका भाग है न, नहीं देगा। अपने घुँघराले बालोंको मस्तक हिलाकर झकझोर दिया उसने।

मैया पुचकार रही है—'दे दे, लाला।'

गोपी हाथ फैलाये माँग रही है—'नेक दे दे।'

दोनोंके बीचमें माखनमें बायें हाथका अँगूठा और तर्जनी लगाये संकोचमें पड़ा यह त्रिभुवन-सुन्दर.....।

९—गायन

'दादा, दादा, दादा' आज श्यामसुन्दर गायन कर रहा है। वह अकेला गोष्ठमें आ बैठा है और झूम-झूमकर गा रहा है। अपने गानपर स्वयं मुग्ध हो रहा है।

'कौन आ गया ?' मोहनको तनिक आहट मिली और संकोचसे उसका गान सहसा बंद हो गया। सिर घुमाकर उसने पीछेकी ओर देखा। 'दादा !' यह तो उसका दाऊ दादा है। इससे संकोच करनेकी तो कोई बात है नहीं। कन्हाईका सुन्दर मुख हास्यसे खिल उठा। उसके अरुण पतले अधरोंपर नन्हे दाँतोंकी उज्ज्वल दूध-सी कान्ति चमक गयी। पता नहीं कब आ गया यह दाऊ दादा गुपचुप उसके पीछे।

'तूँ गा।' दाऊ अबतक छोटे भाईके पीछे खड़ा था, अब आकर दाहिनी ओर बैठ गया।

'दा.. दा, दा...दा, दा...दा' श्यामसुन्दरके गानका आनन्द बढ़ गया है। जम गया है उसका गायन अब। वह झूम-झूमकर गाने लगा है।

'बा..बा, बा..बा, बा..बा' दाऊ भी छोटे भाईके साथ गा रहा है। वह कभी ताली बजाता है, कभी चुटकी बजानेका यत्न करता है अपनी पतली नन्ही अँगुलियोंसे।

पूरा गोष्ठ सूना पड़ा है। गोबर और गोमूत्रसे भरा-सा है। गायें चरने चली गयी हैं, पर गोष्ठ अभी स्वच्छ नहीं हुआ है। श्रीकृष्णने कछनी तो कहीं खोलकर फेंक दी है। चरण तथा कटिसे नीचेका पूरा भाग गोबरसे सना है। मैयाने अलकोंमें तेल डालकर उन्हें सँवार दिया है। एक माला सजा दी है अलकोंपर और एक मयूरपिच्छ लगा दिया है। नेत्रोंमें अञ्जन और भालपर कज्जलका बिन्दु है। वक्षपर मुक्ताकी माला है। सिर हिला-हिलाकर ताली बजानेका यत्न करते हुए झूम-झूमकर गा रहा है वह।

दाऊ नीली कछनी बाँधे अपने भाईके समान ही सजा-बजा बैठा है उसके दहिनी ओर। केवल चरण ही उसके गोबरमें पड़े हैं। वह भी झूम रहा है, गा रहा है।

श्याम 'दादा, दादा' करके गा रहा है, तब तो उसका दादा उसके समीप बैठा है। फिर दाऊ 'बाबा' करके गा रहा है तो बाबा नहीं आयेंगे ? परंतु बाबा गोष्ठके द्वारपर ही ठिठके भावमुग्ध खड़े हैं। आगे आनेसे उनके इन अपूर्व गायकोंके गानेमें बाधा पड़ेगी। उनके दोनों गायक—तुम्बुरु कहीं सुन लें इनका यह गान, तो अपनी वीणा पत्थरपर दे मारें। कितनी कर्कश है उनकी वीणा इस स्वरलहरीके समक्ष !

१०—नित्यबन्धु

'कन्हाई, तेरा दादा कहाँ है ?' यह गोपी आज श्यामको खिझाना चाहती है। मोहनकी बड़ी-बड़ी अञ्जनरञ्जित रतनारी आँखोंमें खीझकी जो छटा है...।

श्यामने मुख घुमाकर आँगनमें बैठे अपने अग्रजकी ओर देख लिया और उसके अधरोंपर उज्ज्वल हास्य चमक उठा।

'ना, तेरा दादा वह नहीं है।' गोपीने मुख बनाया। वह जो बड़ी आँधी आयी थी, तेरे दादाको वनमें उठा ले गयी।'

'मेरे दादाको आँधी वनमें उठा ले गयी?' भोला कृष्ण नहीं जानता कि आँधी कोई पशु है, पक्षी है या राक्षस है; किंतु उसे आँधीपर बड़ा क्रोध आया है। नन्हे हाथोंकी मुट्ठियाँ बँध गयी हैं और सिर हिलाकर वह जोरसे 'ना, ना' कर रहा है।

'ना क्या, आँधी तो ले गयी तेरे दादाको।' गोपी हँस रही है।

'कहाँ है आँधी?' जैसे वह मिल जाय तो यह उसकी नाकपर घूसे मारेगा।

'वह क्या अब बैठी है? वह तो भाग गयी, दूर भाग गयी और तेरे दादाको भी ले गयी।' गोपीका हास्य रुक नहीं पा रहा है।

कनूँ दोनों हाथोंको हिला रहा है। धप्से भूमिपर बैठ गया है। सिर झकझोर रहा है। उसके सुन्दर नेत्रोंमें अश्रु आ गये हैं।

'तू रोता क्यों है? यह तो झूठी है। वह क्या बैठा है तेरा दादा।' मैयाको अपने लालके नेत्रोंमें अश्रु सह्य नहीं। कितना भोला है उसका सुकुमार पुत्र।

'दादा।' श्याम झटपट उठा और दौड़ गया बड़े भाईके पास। दाऊके सामने बैठकर उसके दोनों हाथ बड़े प्रेमसे पकड़ लिये उसने।

'यह तेरा दादा कहाँ है, यह तो भद्रका दादा है।' गोपीने फिर चिढ़ानेका प्रयत्न किया।

'मेरा दादा है।' श्यामने और कसकर अग्रजके हाथ पकड़े और उसके मुखकी ओर देखा। उसके नेत्र कह रहे हैं—'दादा, तू तो मेरा ही है न?'

दाऊ अपने आगे सटकर अपनी गोदमें झुके अपने इस छोटे भाईके कंधेपर एक हाथ धरे बड़े स्नेहसे इसे देख रहा है। श्याम एक हाथसे बड़े भाईका हाथ पकड़े है और मुख गोपीकी ओर किये दूसरे हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे घूसा दिखा रहा है।

यह उसका दादा है—सदासे, सर्वदासे उसका। जो इसे उससे छीनना चाहेगा, उसे यह मारेगा नहीं? कौन छीन सकता है भला, दाऊको उससे।

११—खीझ

'दादा! दादा कहाँ है?' श्यामसुन्दर जगते ही अपने बड़े भाईको ढूँढेगा, यह तो जानी हुई बात है। नेत्र खोलनेसे भी पहले उसने 'दादा, दादा' की रट लगायी और हाथसे टटोलना प्रारम्भ किया। यह क्या कि चारों ओर देखनेपर भी उसका दाऊ उसे दीखता नहीं।

'तू झटपट मुँह धुला ले। दाऊके पास जायगा न तू? दाऊ गाय दुहने चला गया है।' मैयाने हँसते-हँसते अपने लालको गोदमें उठाया।

'दादा गाय दुहने चला गया?' कृष्णचन्द्रका प्रसन्न मुख गम्भीर हुआ।

'अरे, अभी तो गया है। तू भी झटपट उसके पास पहुँच जायगा। मुँह धुला ले तो तुझे मैं ले चलती हूँ!' परंतु अब यह कहाँ सुनता है ऐसे आश्वासन। अब मैयाकी गोदमेंसे उतरनेके लिये छटपटाने लगा है। मैयाकी नाक, मुख, केश नोचने लगा है। क्यों नहीं मैयाने इसे पहले जगाया?

'अच्छा, रो मत! चल गोष्ठ लिये चलती हूँ।' सबेरे-सबेरे यह रूठ जायगा तो न दूध पियेगा न माखन खायगा; परंतु यह तो मैयाके साथ गोष्ठमें जानेको भी प्रस्तुत नहीं। गोदसे उतरनेको मचल ही रहा है। हाथ-पैर झुँझलाहटसे हिला रहा है।

'तू अपने ही जायगा? जा, दौड़ जा।' गोदसे उतार दिया मैयाने; परंतु यह तो भूमिपर लोटपोट होने लगा है। क्यों दाऊ इसे छोड़कर गोष्ठ भाग गया? नहीं जायगा यह उसके पास। मैया क्या करे? उसका यह नन्हा नीलसुन्दर भूमिपर लोट रहा है। छूने नहीं देता अपना शरीर। उठानेका प्रयत्न करनेपर नोचने लगता है। मुँह धोनेका प्रयत्न करनेपर जलका पात्र पैर मारकर लुढ़का दिया इसने।

अञ्जन कपोलोंपर फैल रहा है। अलकें बिखरी हैं और दोनों हाथोंसे खीझ-खीझकर श्याम उन्हें नोच रहा है, खींच रहा है। बड़े-बड़े लोचनोंसे बड़ी-बड़ी बूँदें गिर रही हैं। भूमण्डल चञ्चल हो रहा है। मुख अरुण हो उठा है। जो छोटी-मोटी वस्तु हाथ आती है, उसीको फेंक देता है, पटक देता है, पैर मारकर लुढ़का देता है। मैयासे बार-बार दूर जाकर भूमिपर लोटने लगता है।

'यह क्या?' दाऊ बड़े उल्लाससे छोटी-सी दोहनी लिये आया। अपने हाथसे दुहा दूध छोटे भाईको पिलाने ला रहा था वह। आँगनमें दृष्टि गयी और दोहनी हाथसे छूट गिरी। फूट गयी वह भड़से। दूध फैल गया चारों ओर। दाऊको

यह सब देखनेका अवकाश नहीं। वह उस फैले दूधमें डूबे चरणोंके चिह्न आँगनमें बनाता अपने अनुजके पास आ बैठा है।

'किसने मारा है तुझे ?' कृष्णके नेत्रोंमें अश्रु हैं, वह अपनी कोमल अलकें खींच रहा है, तो दाऊके नेत्रोंके बिन्दु रुके कैसे रहेंगे। परंतु कनूँ आज बड़े भाईसे खीझ गया है। वह दाऊके हाथको बार-बार हटा देता है। मुख दूसरी ओर करके लेट जाता है। बार-बार दाऊ उसके सामने बैठता है और वह करवट बदल लेता है; किंतु उसका केश नोचना बंद हो गया है। बंद हो गयी हैं हिचकियाँ। अब खीझ जा रही है, रूठना भी जायगा ही। कबतक वह अपने दादासे रूठा रहेगा ?

और यह जो उसके दादाके रतनारे नेत्रोंसे आँसू गिर रहे हैं.....

कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा*

(लेखिका—बहिन श्रीकृष्णा सहगल)

किसी पहाड़ी प्रदेशके एक छोटे-से गाँवमें एक निर्धन दम्पति रहा करते थे। पत्नीका नाम कमला था। वह बहुत ही नेक, दयालुहृदया और धैर्यवाली थी। उसे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत प्राप्त होता, वह उसीमें संतुष्ट रहती। परंतु उसका पति रामलाल बहुत ही चिड़चिड़ा और तेज मिजाजका था, बात-बातपर क्रोधित हो उठता। इसके अतिरिक्त उसमें एक बहुत बड़ा दुर्गुण यह था कि वह बहुत ही निकम्मा, आलसी और कामचोर था। मेहनत-मजदूरी तो वह कुछ करता नहीं था, परंतु पेटू था प्रथम श्रेणीका। 'काम करनको आलसी, भोजनको हुशियार'—बस, यही हिसाब था उसका। कमला बेचारी पासकी पहाड़ीसे या किसी जंगलसे लकड़ियाँ बीन लाती और उन्हें बेचनेपर जो कुछ मिलता, उससे वह दाल-आटा इत्यादि खाने-पीनेकी सामग्री खरीदकर ले आती। साथ ही वह लोगोंके घरोंमें भी चक्की पीसना, बर्तन माँजना, कपड़े धोना इत्यादि छोटे-मोटे काम करती रहती। इससे भी उसे थोड़े-बहुत पैसे मिल जाते और यदा-कदा पहननेको भी कोई फटा-पुराना कपड़ा अथवा खानेकी चीज मिल जाती थी। इस तरह दिन बीत रहे थे। उधर पतिदेवकी यह हालत थी कि पत्नीके कियेका अहसान मानने अथवा स्वयं कुछ कमाकर लानेकी बात तो दूर रही, उल्टे उसीसे पैसे छीनकर वह गाँवकी भट्ठीसे ताड़ी या ठर्रा इत्यादि पीकर रोज ही नशेमें चूर होकर आता। कभी खानेको भोजन कम होता या कमला और पैसे देनेसे इन्कार करती तो उसे गालियाँ देता और छड़ी लेकर खूब पीटता। वह तो सदा चढ़े घोड़े सवार ही रहता। कभी-कभी तो अकारण ही उसे मारने अथवा बुरा-भला कहने लगता। सारांश यह कि वह बहुत ही अन्यायी और निर्दयी था। दूसरेकी कठिनाइयोंको वह बहुत ही कम समझता।

पहले तो कुछ समयतक कमला यह सब कुछ सहती रही, परंतु सहनशीलताकी भी सीमा होती है। रामलाल तो अपने पुरुषपनका अनुचित लाभ उठानेपर उतारू था; ऐसी दशामें वह बेचारी उसके मनमाने अत्याचार कहाँतक सहती। परंतु कमला बेचारीका था ही कौन जो उसकी सहायता करता? माँ-बाप तो कभीके परलोक सिधार चुके थे। समाज भी गरीबोंकी नहीं सुनता। केवल भगवान्‌का ही उसको सहारा था। आखिर उसने निश्चय किया कि वह भगवान्‌को सब कुछ बनायेगी और प्रार्थना करेगी कि उसके जीवनकी यह दशा बदले।

गाँवसे बाहर एक पुराना विष्णुभगवान्‌का मन्दिर था। एक दिन वह सचमुच ही भगवान्‌से शिकायत करने घरसे चल पड़ी। वह अपने ध्यानमें अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चली जा रही थी। मार्गमें उसे एक बूढ़ी ग्वालिन मिली, जो भूमिपर पड़े हुए एक बहुत बड़े दूधके मटकेको उठानेका प्रयत्न कर रही थी। परंतु वह बेचारी इतनी निर्बल थी कि बहुत यत्न करनेपर भी उस मटकेको उठाकर अपने सिरपर न रख सकी। उस वृद्धाने जब कमलाको जाते देखा तब वह पूछ ही बैठी—'बेटी ! तुम कौन हो और इतनी जल्दी-जल्दी कहाँ जा रही हो ? यदि तुम्हें देर न हो तो यह मटका मेरे साथ उठाकर मेरे सिरपर रखवाती जाओ।'

* एक विदेशी लोककथाके आधारपर।

'मेरा पति मुझे बहुत तंग करता है, इसलिये मैं भगवान्‌से प्रार्थना करने जा रही हूँ।' कमलाने भोलेपनसे प्रत्युत्तरमें कहा और साथ ही वह बड़ी प्रसन्नतासे उस बूढ़ी माताकी सहायता करके आगे बढ़ी। वह बूढ़ी ग्वालिन भी उसे 'जीती रहो, बेटी! ईश्वर तेरा भला करे' इत्यादि आशीर्वाद देते नहीं थकी।

कमलाने बहुत ही नम्र और विशाल हृदय पाया था; उसे झट दूसरेपर दया आ जाती, दूसरेके दुःखमें उसका दिल बहुत दुखी हो उठता और वह सबके साथ सहानुभूति करती। वह स्वयं भी तो निर्धन थी, इसलिये गरीबोंकी अनुभूतियों अथवा परिस्थितियोंको वह सदा समझती थी। किसीको दुखी देखकर उसका दिल रो उठता।

जब वह कुछ आगे पहुँची, तब उसने लकड़ीकी एक रेढ़ीमें एक कोढ़ी व्यक्तिको लेटे देखा। दोपहरका समय था और सूर्यकी तमतमाती धूप उस कोढ़ीपर भी पड़ रही थी। कोढ़ीने कमलासे कुछ भीख माँगी, परंतु कमला बेचारीके पास देनेको था ही क्या। फिर भी उसने सुधाभरे मीठे स्वरमें कहा—'बाबा, इस समय तो मेरे पास कुछ भी नहीं है; फिर कभी दूँगी।'

इसपर कोढ़ी बोला—'अच्छा देवी! गरमीके मारे मेरा बुरा हाल है। आज मेरी बेटीको बुखार आ गया था, इसलिये वह यहाँ ठहर नहीं सकी। अतः यदि तुम मुझे यहाँसे हटाकर छायामें कर दो और इस लोटेमें थोड़ा जल ही ला दो तो मुझपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी; भगवान् तुम्हें बहुत देगा!'

कमलाको तो पहलेसे ही उस कोढ़ीकी दशा देखकर बहुत तरस आ रहा था। उसकी बातें सुनकर उस अपंगके प्रति करुणासे उसका हृदय भर आया और उसने दयावश उसकी रेढ़ीको खींचकर सड़कके किनारे एक बहुत बड़े बरगदके वृक्षकी छायामें कर दिया। तत्पश्चात् उसका लोटा लेकर वह जल लेने चली। अभी वह दो-चार कदम ही आगे बढ़ी थी कि उसे उस वृद्धाका ध्यान आया और सोचने लगी—'क्यों न उस ग्वालिनसे दो-चार घूँट दूधके ही माँग लाऊँ, अभी तो वह सामने ही दीख रही है। कदाचित् वह थोड़ा दूध दे भी देगी।' इस विचारके आते ही वह उल्टे पाँव घूम पड़ी। वह वृद्धा तो बहुत धीरे-धीरे जा रही थी, इसलिये कमला शीघ्रतापूर्वक चलकर उसके समीप पहुँच गयी और कोढ़ीकी बात बताते हुए उसके लिये थोड़ा-सा दूध उससे माँगा। वृद्धाने बड़ी प्रसन्नतासे आधा लोटा दूध उसे दे दिया। कोढ़ी वह दूध पीकर बहुत तृप्त हुआ और कमलाको अनेकों आशीर्वाद देता हुआ उस वृक्षके नीचे ठंडी हवा तथा शीतल छायामें सुखसे सो गया!

उस गरीब अपंग कोढ़ीकी किंचित् सेवा करके कमलाको अपार आनन्द तथा शान्तिका अनुभव हो रहा था, वह संतुष्ट मनसे मन्दिरकी ओर आगे बढ़ने लगी। परंतु अभी वह थोड़ी ही दूर गयी थी कि उसे कुछ चरवाहे मिले। वे काफी प्यासे दिखायी पड़ते थे। उन्होंने कमलाको देखते ही उसे सम्बोधित करके कहा, 'बहिन! हमें बड़ी प्यास लगी हुई है, परंतु हम आज पहली बार ही इस नयी दिशामें आये हैं। यहाँ हमारी बहुत-सी गौएँ, भैंसें तथा बकरियाँ घास चर रही हैं; इसलिये कहीं ऐसा न हो कि हम उन्हें छोड़कर पानीकी खोजमें जायँ और वे कहीं दूसरी ओर ही निकल जायँ। फिर इस स्थानसे अपरिचित होनेके कारण हम यहाँके रास्तों और झरनोंसे भी तो अनभिज्ञ ही हैं। अतः यदि तुम हमें इस बर्तनमें थोड़ा जल ला दो तो हम तुम्हारे बहुत आभारी होंगे।'

उन्हें अजनबी जानकर कमलाने उनकी सहायता करनी चाही और उनसे उनका मिट्टीका बर्तन लेकर वह पासके किसी झरनेसे उनके लिये जल भर लायी। उस कड़कती धूप और लूमें शीतल तथा मीठा जल पीकर चरवाहोंके प्राणोंमें प्राण आ गये। वे सब कमलाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसको बहुत-बहुत धन्यवाद देने लगे और अपनी गायोंके पीछे चल पड़े। कमला भी अपने लक्ष्यस्थानकी ओर अग्रसर हुई।

मन्दिर अब समीप ही था। मन्दिरमें पहुँचकर उसने प्रार्थना करते हुए दोनों हाथ जोड़कर भगवान्‌की मूर्तिको प्रणाम किया। उसके हृदयकी सच्ची पुकार सुनकर भगवान् विष्णु अपने चतुर्भुज रूपमें उसके सामने प्रकट हो गये और आशीर्वाद देते हुए उन्होंने उसके आनेका कारण पूछा।

कमला बेचारी बड़ी सीधी-सादी, छलरहित और सरल स्वभावकी थी। उसको अधिक बातें बनाना तो आता नहीं था। अतः वह निष्कपट हृदयसे अपने साधारण शब्दोंमें ही बोली—'भगवान्‌जी! भगवान्‌जी!! मेरा पति बिना अपराध ही मुझे बहुत पीटता है; आप उसे केवल यह समझा दें कि वह मुझे मारा न करे।'

'एवमस्तु—ऐसा ही होगा' भगवान्‌ने हाथ बढ़ाकर उसे आशीर्वाद देते हुए कहा और पूछा—'बस, इतना ही या

कुछ और भी ? तुम्हें जो कुछ भी चाहिये, तुम मुझसे माँग सकती हो ।'

संतोषी हृदयकी कमलाने कहा—'नहीं, भगवान्‌जी ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं मेहनत-मजदूरी करके खाने-पहननेका सामान ले आती हूँ । आप केवल मेरे पतिको ही अच्छी सीख दे दें कि जिससे वह कोमल स्वभावका बन जाय और हमारी गृहस्थी सुखी हो जाय । आपकी कृपासे और तो सब कुछ है ।' कमला चाहती तो भगवान्‌से सैकड़ों वस्तुएँ माँग सकती थी, परंतु उसने अन्य कुछ भी नहीं माँगा ।

प्रभु उसके इन शब्दोंसे अत्यन्त प्रभावित होकर कहने लगे—'बेटी ! मैं तुम्हारे निःस्वार्थ तथा विशुद्ध भावसे बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम अवश्य कोई वरदान माँग लो । मैं तुम्हारी सारी कमियोंको पूर्ण करूँगा ।'

परंतु जब कमलाने कहा—'प्रभो ! मुझे कभी किसी अभावका अनुभव ही नहीं होता, मैं प्रत्येक स्थितिको स्वामीकी कृपा मानकर प्रसन्न रहती हूँ,' तब फिर भगवान्‌ने अनजान-से बनकर उससे प्रश्न किया—'बेटी ! तुम महलमें रहती हो या झोंपड़ीमें ? तुम्हारे घरमें कितने दास-दासियाँ हैं ?'

'पिताजी ! मैं तो टूटी-फूटी झोंपड़ीमें रहती हूँ—हमारे घर नौकर-चाकर कहाँ । मैं तो सारा काम स्वयं ही करती हूँ ।' कमलाने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया ।

'अच्छा ! तुम क्या खाती-पीती हो—खीर-पूड़ी-हलवा, बढ़िया-बढ़िया मिष्टान्न, दूध-मलाई, संतरे-सेब इत्यादि ?'

'नहीं, प्रभुजी ! हम तो केवल सूखी रोटी और दाल ही जुटा पाते हैं, इतने पकवानोंका तो कभी प्रश्न ही नहीं उठता ।'

'अच्छा ! तो सूखी रोटी और दाल जिस थालीमें खाती हो, वह किस चीजकी बनी है—सोनेकी, चाँदीकी, काँसी-पीतलकी या मिट्टीकी ?'

'नहीं, भगवान्‌जी ! हमारे पास तो मिट्टीकी एक तश्तरी भी नहीं है । मैं तो जंगलमेंसे केलेके पत्ते तोड़ लाती हूँ । नहीं तो हाथपर ही रखकर खा लेती हूँ ।'

'अच्छा, तो बताओ—सोती कहाँ हो ? सुन्दर पलंग या चारपाईपर ? ओढ़ती क्या हो ?' भगवान् उसपर इन सब प्रश्नोंकी बौछार किये जा रहे थे ।

'प्रभुजी ! बढ़िया पलंग और नीचे डालनेके रुईदार नरम गद्दे न तो हमारे पास हैं न हमें उनकी कभी याद ही आती है । आपकी बनायी पृथ्वी ही हमारा बिछावन है । ओढ़नेको बढ़िया कम्बल तथा मखमली रजाइयाँ खरीदना तो हमारी बिसात-के बाहर है । इसीलिये सर्दी-गरमी—दोनोंमें ही जो फटे-पुराने चीथड़े मिल जाते हैं उन्हींपर हम खुशीसे गुजारा कर लेते हैं ।' कमला भी धैर्यपूर्वक सभी प्रश्नोंके उत्तर दिये जा रही थी ।

भगवान् उसकी ये सब बातें सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले—'बेटी ! निस्संदेह तुम्हारे पास भौतिक धन-दौलत नहीं है, परंतु तुम्हारे पास एक ऐसी निधि है, जो कि बड़े-बड़े धनियोंके पास भी नहीं होती । हर हालतमें प्रभुकी कृपाका अनुभव, जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोष, चाहका अभाव, हृदयकी विशालता एवं उदारता, दुखियोंके प्रति दया और उनकी सहायता करनेकी वृत्ति, मधुर वचनोंसे उन्हें सान्त्वना देना तथा उत्तम विचार रखना—यह एक अमूल्य खजाना है । सुख-दुःख तो केवल कर्मोंके ही भोग हैं । जाओ, आजसे तुम्हें किसी भी बातका अभाव नहीं रहेगा, लक्ष्मी तुम्हारे चरण चूमेगी । मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त बड़े ही प्रिय लगते हैं । जाओ, मेरी याद करती रहना, आजसे तुम्हें किसी प्रकारका दुःख नहीं रहेगा ।' भगवान् उसे यह आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये । कमला भी भगवान्‌की मूर्तिको मस्तक नवाकर वापस लौटने लगी । इस समय उसके मनमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य छाया था । जाते समय तो वह तेजीसे जा रही थी, परंतु अब उसके कदम बड़े आरामसे धीरे-धीरे पड़ रहे थे, उसके चेहरेसे भी प्रसन्नता टपक रही थी । लौटते समय उसे फिर वे ही चरवाहे मिले और कहने लगे—'बहिन ! तुमने हमें स्वादिष्ट शीतल जल पिलाकर संतुष्ट किया था, इसलिये हम भी उस उपकारका बदला चुकाना चाहते हैं । अतः जिस बर्तनमें तुम हमारे लिये जल लायी थीं, हमने उसीके नीचे तुम्हारे लिये एक उपहार रखा है; तुम्हें वह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा ।'

मिट्टीका वह बर्तन भूमिपर उल्टाकर रक्खा हुआ था । कमलाने जो उसे सीधा करके उठाया तो देखकर दंग रह गयी । वहाँ अमूल्य रत्नोंसे जड़ी एक सोनेकी ईंट थी । और वे चरवाहे जानते हैं कौन थे ? वे थे देवता—वे कमलाकी परीक्षा लेने आये थे । कमलाको रत्नोंसे जड़ी स्वर्णकी ईंट देते हुए उन्होंने कहा, 'बहिन कमला ! तुम इसमेंसे जितने चाहोगी, उतने ही हीरे, मोती, पन्ने इत्यादि रत्न निकाल सकोगी, उनकी संख्या कभी भी कम नहीं होगी ।'

कमला अब और भी प्रसन्नतासे सोनेकी ईंट लेकर आगे

बढ़ी। वह कोढ़ी अभी उस वृक्षके नीचे ही लेटा था। जब कमला उसके सामनेसे होकर निकली, तब उसने दयावश उस ईंटमेंसे कुछ रत्न निकालकर उसको देना चाहे। अब तो कोढ़ी बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसी समय उसके स्थानपर गोप-बालकके रूपमें भगवान् श्यामसुन्दर 'मनमोहन' वहाँ प्रकट हो गये। उनके अपूर्व तेजका कहना ही क्या था। उनकी अलौकिक आभा तथा प्रभामण्डलके दिव्य प्रकाशके सामने आँखें ठहरती ही न थीं। कमला उनकी अद्वितीय शोभा तथा मनमोहन छविको मन्त्र-मुग्ध-सी हुई निहारती ही रह गयी। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण ही उस कोढ़ीके रूपमें कमलाकी परीक्षा लेने बैठे थे। कमला और रामलाल संतानहीन थे, सो कन्हैयाने उसे पुत्र-प्राप्तिका वरदान दिया और साथ ही यह आशीर्वाद दिया कि वह बालक बहुत तेजस्वी तथा सर्वगुणसम्पन्न होगा। इतना कहकर मुरली-मनोहर भगवान् 'मनमोहन' वहीं अन्तर्धान हो गये।

कमला भी अपने घरकी ओर बढ़ी। अब उसे वही वृद्ध ग्वालिन खाली मटका लिये वापस आती मिली और प्रसन्न मुखसे बोली, 'बेटी! यह लो कुछ रुपये। आज तुम्हारी सहायतासे ही मैं इतना बड़ा दूधका मटका उठाकर ले गयी थी और थोड़ी ही दूर जानेपर मुझे एक सेठ मिले, जिन्हें दूधकी बड़ी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने बड़े मँहगे दामोंपर मुझसे वह सारा दूध खरीद लिया। आज मुझे सदाकी अपेक्षा तीनगुना अधिक दाम मिले हैं इसलिये कि वे फालतू पैसे मुझे तुम्हारे ही भाग्यसे मिले हैं वे मैं तुम्हें ही देना चाहती हूँ।' वास्तवमें साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी ही उस बूढ़ी ग्वालिनके रूपमें थीं और यह कहते हुए लक्ष्मीजीने अपने चतुर्भुज रूपमें उसे दर्शन दिये। लक्ष्मी तो भगवान्‌की ही शक्ति ठहरीं। जिसपर भगवान्‌की इस शक्ति, साक्षात् लक्ष्मी-देवीकी कृपा हो, वह किस बातसे वञ्चित रह सकता है। लक्ष्मीजीने उसे वे रुपये देते हुए कहा 'तुम जहाँ भी ये रुपये रखोगी, वहाँ ये सदा उतने ही रहेंगे, कभी भी कम न होंगे। जाओ, तुम सौभाग्यवती होओ और सदा सुखी रहो।' लक्ष्मीजी यह आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गयीं।

कमलाके घर लौटनेतक संध्या हो चुकी थी। उसका पति सदाकी ही भाँति आज भी नशेमें चूर था; परंतु वह आज बहुत शान्त था, कमलाको उसने कुछ भी डाँट-डपट नहीं बतायी। न इतनी देरसे उसके घर लौटनेका कारण ही पूछा। घरमें भोजन भी तैयार न था, परंतु रामलालको आज क्रोध नहीं आया। वह कमलाके चरणोंमें गिरकर जोर-जोरसे रो पड़ा। उसे अपने किये कर्मोंपर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। वह उसी भाँति रोनेके स्वरमें बोला, 'देवी कमला! मैं तुम्हारे साथ जो अनुचित व्यवहार तथा निर्दयताका बर्ताव करता आया हूँ, उसका मुझे बहुत ही दुःख है। आज मेरा सारा समय ही पिछली बातें सोचते बीता है। भगवान्‌ने मुझे तुम-जैसी देवी दी, परंतु मैंने तुम्हारी कदर नहीं की। मैं अब प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे कभी मैं मदिराको हाथ नहीं लगाऊँगा और तुम्हारे योग्य बनकर दिखाऊँगा।' रामलालका हृदय आत्मग्लानिसे भर उठा।

कमलाको अपने कानोंपर विश्वास नहीं हो रहा था, वह आज इस ईश्वरीय देनपर अपनेको संसारभरमें सुखी समझ रही थी। रामलालका एक फटा-पुराना कोट खूँटीपर लटक रहा था। कमलाने देवी लक्ष्मीजीवाले रुपये उसीकी जेबमें डाल दिये और सोनेकी ईंटको अपने टूटी-फूटी पेटीमें रख दिया। अब तो कमलाको मजदूरी करनेकी आवश्यकता न थी, उसने ईंटमेंसे बहुतसे रत्न निकालकर रामलालको दिये। रामलालने शहर जाकर उन्हें एक जौहरीके पास बेचना चाहा। जौहरीने उन्हें देखा तो वह आँखें फाड़कर देखता ही रह गया—वे अत्यन्त मूल्यवान् थे। केवल बड़े-बड़े राजा महाराजा या करोड़पति सेठ ही उन्हें खरीदनेकी सामर्थ्य रखते थे। जौहरीको आशा थी कि वह उन्हें बहुत मँहगे दामोंपर बेच सकेगा। इसलिये उसने रामलालको भी अच्छी कीमत दे दी। रामलाल उन रुपयोंसे सभी आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर लौटा। दूसरी बार वह किसी अन्य जौहरीके पास गया तो उसने उसे पहलेसे दुगुनी कीमत दी, तीसरी बार एक नये जौहरीसे उसे तिगुनी कीमत प्राप्त हुई। अब तो रामलालकी आँखें खुलीं—उसे जब पता लगा कि ऐसे अनुपम प्रकारके रत्न तो यहाँ किसीके भी पास नहीं हैं, तब वह स्वयं ही बड़ा जौहरी बन गया। उसका व्यापार खूब चल निकला। अब उसके टूटे झोंपड़ेके स्थानपर बहुत बड़ा महल खड़ा था—सोने-चाँदीके बर्तन, दास-दासियाँ, घोड़े-गाड़ी आदि सभी कुछ उसके पास था। रामलाल अपने व्यापारके सिलसिलेमें शहरवाली मुख्य दुकानकी देखभालके लिये महीनेमें चार-पाँच बार अपनी गाड़ीपर सवार होकर शहरका चक्कर लगा आता। गाँवभरमें उसकी धाक थी और अब वह सबसे अधिक धनवान् था।

[शेष आगे]

अध्यात्म, भौतिकता और जीवन

(लेखक—श्रीप्रतापसिंहजी चौहान, एम्० ए०)

अध्यात्म और भौतिकताका जीवनसे क्या सम्बन्ध है, इसे लेकर इस निबन्धमें कोई नवीन खोज नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्राचीन ऋषियोंसे लेकर अर्वाचीन विद्वानों-तकने अपने विभिन्न ग्रन्थों तथा व्याख्याओंद्वारा इस विषयपर अनुभव-सिद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। लोगोंने उन मार्ग-प्रदर्शनोंको माना है, समझा है, अनुभव किया है और उससे वे लाभान्वित भी हुए हैं; किंतु फिर भी उलझनें रह ही गयी हैं। जिस प्रकार सूर्य कभी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने प्रकाश-द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित कर दिया है; क्योंकि उसके अनवरत प्रकाश-दान करते रहनेपर भी संसारमें अनेक ऐसी गुहाएँ और स्थान शेष रह जाते हैं, जिन्होंने कभी भगवान् भुवनभास्करकी एक भी किरण नहीं देखी है। भगवान् राम, कृष्ण और बुद्धके कालमें भी नास्तिक रहे हैं। वर्तमान युगमें भी चालीस-पचास वर्ष-पूर्व परमहंस रामकृष्णके अलौकिक आध्यात्मिक व्यक्तित्व-को देखकर भी अनास्था शेष नहीं रही—नास्तिकताके इस अद्भुत युगको देखकर कौन यह कहनेका साहस कर सकता है। अतएव उन महापुरुषोंकी बानियों तथा आध्यात्मिक स्थापनाओंकी पुनरावृत्तिकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन्होंने अपने कालमें अनुभव की थी। आज भी लोग आध्यात्मिक जीवन तथा भौतिक जीवनके मध्य विभाजक रेखा न खींच सकनेके कारण अत्यन्त भ्रममें पड़े हुए हैं तथा इसी कारण अध्यात्मके प्रति एक विचित्र पूर्वग्रह बनाये हुए हैं।

मैं अपने उपर्युक्त कथनको एक उदाहरणद्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। अभी जन्माष्टमीके अवकाशमें मुझे अपने एक अस्वस्थ मित्रको देखनेके लिये कानपुर जाना पड़ा। मेरे इन मित्रने मुझे पत्रद्वारा सूचित कर दिया था कि आप दो-तीन दिनके लिये मेरे पास आइये, दो-तीन घंटे मेरे लिये पर्याप्त नहीं हैं। अतएव, मैंने मध्यम मार्ग अपनाया और एक दिन तथा एक रात उनके साथ रहा। मेरे ये मित्र खान-पान तथा रहन-सहनमें बिल्कुल अंग्रेज हैं। बर्किंघमसे इन्होंने केमिस्ट्रीमें पी-एच्० डी० प्राप्त की है तथा योरपके विभिन्न देशोंमें लगभग तीन-चार वर्ष रहे हैं। भोजनके लिये एक कमरेको डाइनिंग रूम बना रखा है। वहींपर एक बड़ी मेजके चारों ओर कुर्सियोंपर बैठकर परिवारके अधिकांश स्त्री-पुरुषके तथा बच्चे भोजन करते हैं। अधिकांश मैं इसलिये कहता हूँ कि उनकी माताजी तथा दो-एक अन्य जन भी भोजनकी भारतीय परम्परामें ही आस्था रखते हैं। मुझे भी एक दिनके लिये अपनी रूढ़िवादिताको तिलाञ्जलि देकर इस आरोपित प्रगतिशीलताको वरण करना पड़ा। ऋषियोंने ऐसे ही समयोंके लिये आपद्धर्मका विधान किया है। पता नहीं, भोजन-प्रणालीकी इस मान्यताके तात्कालिक परि-वर्तनको आपद्धर्मके अन्तर्गत लिया जा सकता है या नहीं; किंतु मैंने इसे आपद्धर्मके अन्तर्गत ही मानकर संतोष किया। मेजपर सुस्वादु भारतीय भोजनके साथ-साथ कुछ पाश्चात्त्य प्रकारका भोजन भी था। इस भोजनमें अंडे प्रधान थे। पेस्ट्री आदि भोज्य पदार्थ भी थे। पता नहीं इन अभारतीय अभोज्य पदार्थोंकी योजना (मैं इन्हें अभोज्य इसलिये मानता हूँ कि इनका प्रयोग सवर्ण जातियोंमें ब्राह्मणों और आध्यात्मिक साधकोंके लिये वर्जित माना गया है और मेरे मित्र महोदय उच्च वर्णके रूढ़िवादी ब्राह्मणकुलके हैं, यद्यपि अब इन भोज्य पदार्थोंका प्रचार प्रायः सभी उच्चवर्गोंमें भी अबाधगतिसे स्थान पा चुका है) मेरे व्यक्तित्वके विरोधरूपमें की गयी थी अथवा यह उनका नैतिक, स्वाभाविक क्रम था। मैं तो उसे स्वाभाविक रूपमें ही ग्रहण करता हूँ, चाहे उनकी मनोवृत्ति जैसी रही हो। अंडोंकी शक्ति और उपादेयतापर वहाँके अन्य जनोंमें सराहनापूर्ण वार्तालाप

चल रहा था। इसी बीच एक सज्जनने मुझसे कहा कि 'आप इस शक्तिके प्रतीक अंडेको क्यों स्वीकार नहीं कर रहे हैं?' मैंने देखा वे भी नहीं खा रहे थे और इसीसे बल प्राप्त करके मैंने स्मितके साथ कहा कि आप भी तो इस फलाहार (अंडेमें जान न होनेके कारण पाश्चात्त्य देशोंमें इसे Vegetable के अन्तर्गत ही ग्रहण किया जाता है) को कृतार्थ नहीं कर रहे हैं। मेरे इस वार्तालापको मेरे प्रगतिशील डा० मित्रने सुना, मानो अभी-तक वे मुझे परास्त करनेके इस शुभावसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बोले—'हाँ, आप अंडा क्यों नहीं खा रहे हैं? इसमें....?' आगे वे कुछ कहें इसके पहले ही मैंने उत्तर दिया 'जी, इसीलिये।' और अपने कथनको स्पष्ट करते हुए मैंने आगे कहा—'मैंने तो आपसे यह प्रश्न नहीं किया कि आप अंडा क्यों खाते हैं। मैंने खानेवालोंके लिये भी अपना किसी प्रकारका अभिमत नहीं प्रकट किया। क्या मेरे व्यवहारका यह क्रियात्मक उत्तर आपके प्रश्नके लिये पर्याप्त नहीं है?' वे मेरी ओर इस प्रकार देखते रहे मानो वे मेरे कथनके अभिप्रायको न समझ सके हों। मैंने उनसे कहा—'भाई, यदि हिंसा-अहिंसाके विवादात्मक प्रश्नको छोड़ भी दें तो प्रकृति-के ऊपर भोजनके इस अनिवार्य प्रभावको किस प्रकार अस्वीकार किया जा सकता है। जिस प्रकारका भोजन किया जायगा, निःसंदेह उसी प्रकारका मन बनेगा और वैसे ही उस व्यक्तिके कार्य होंगे। व्यक्तियोंके समूहसे समाजका निर्माण होता है। अस्तु, उसी प्रकारका समाज भी बनेगा।' मेरे मित्रने इसका प्रतिवाद किया, किंतु वे स्वयं जानते थे कि उनके द्वारा प्रयुक्त तर्क कितने शिथिल थे; क्योंकि प्रत्यक्षके समक्ष सभी प्रमाण निरर्थक सिद्ध होते हैं।

आपाततः उपर्युक्त घटनाका उल्लेख विषयके शीर्षक-के साथ असंगत-सा प्रतीत होगा; किंतु गम्भीरतापूर्वक सोचनेपर इस उदाहरणमें तथ्यका आभास अवश्य मिलेगा। जन्माष्टमीकी उक्त घटनाका मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा है और उसीसे प्रेरणा प्राप्त करके मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अध्यात्म और भौतिकताको लेकर जीवनमें जो एक भ्रम घर कर गया है, उसके विषयमें मैं भी कुछ लिखूँ, यद्यपि मैं अपनी सीमाओंसे पूर्ण अवगत हूँ और मैं यह दावा नहीं करता कि अध्यात्म तथा भौतिकताके सम्बन्धमें मेरा यह विवेचन अन्तिम शब्द होगा।

ऊपर मैंने कहा है कि भोजनका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। भोजन अध्यात्म और भौतिकताके लिये मेरुदण्डके समान है। भोजनके ही प्रभावसे मानव-मन अध्यात्म और भौतिकताको ग्रहण करता है। इस बातको आमिषभोजी और निरामिषभोजी पशु-पक्षियोंके स्वभावद्वारा अधिक सरलतासे समझा जा सकता है। हिंस्र पशुओंमें सिंहका प्रथम स्थान है। उसके आमिषा-हारने ही उसे इतना दुर्दान्त बना दिया है। उसकी भयंकरता और हिंस्र स्वभावसे सभी परिचित हैं। इसके विपरीत गायको ले लीजिये। विशुद्ध शाकाहारी तथा निरामिषभोजी पशु है। इसकी प्रकृति अपने भोजनके कारण ही इतनी कोमल, मृदु और अहिंस्र है। इसी कारण जब किसी व्यक्तिको अत्यन्त ऋजु स्वभावका देखा जाता है, तब उसके लिये प्रायः लोगोंको यह कहते हुए पाया गया है कि 'बेचारा बड़ा सीधा है, बिल्कुल गाय।' इसी प्रकार पक्षियोंके स्वभावके भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि जैसा भोजन किया जायगा, वैसा ही स्वभाव बनेगा और तदनुकूल ही व्यक्तिके आचरण भी बनेंगे।

अतएव भोजनद्वारा मानव-प्रकृतिका निर्माण सारे संसारमें त्रिविध देखा जाता है। आर्य मनीषियोंने इसीके अनुसार भोजनको भी तीन वर्गोंमें विभाजित कर दिया है। मानव-स्वभाव क्रमसे सत्त्वगुणसम्पन्न, रजोगुण-सम्पन्न और तमोगुण-सम्पन्न माना गया है। इसीके अनुसार भोजन भी सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी वर्गोंमें विभाजित किया गया है। सत्त्वगुणी भोजनके अन्तर्गत प्रायः अधिकांश शाक, दुग्ध, घी,

दही, चावल, गेहूँ, जौ, मूँग आदि भोज्य-सामग्री स्वीकृत हुई है। तरकारियोंमें लहसुन, प्याज आदि रजोगुण तथा तमोगुण उत्पन्न करनेवाली तरकारियाँ वर्जित मानी गयी हैं। सत्त्वगुणी स्वभावमें पूर्णता लानेके लिये उपर्युक्त भोज्य-पदार्थोंका भी मिताहार ही होना चाहिये। सत्त्वगुणी भोजनसम्बन्धी यह व्यवस्था यहींतक अलम् नहीं हो जाती; वरं भोज्य सामग्रीके अतिरिक्त भोजन-निर्माण करनेवालेका मन भी पूर्ण शुद्ध, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा स्नेहिल होना चाहिये। यदि उसके मनमें इसके प्रतिकूल किसी प्रकारका विकार होगा तो उसका प्रभाव भी असंदिग्धरूपसे भोजनपर पड़ेगा और वह दोष उतनी ही मात्रामें भोजन करनेवालेके मनमें भी आ जायगा। इसी प्रकार कुछ शैथिल्यके साथ रजोगुणी भोजनको भी समझना चाहिये। रजोगुणी भोजनमें स्वादका अत्यन्त ध्यान रखा जाता है, इसलिये उसके निर्माणमें भी अधिक व्यय होता है। यह भोजन अधिक गरिष्ठ होता है। दुग्धके सम्पूर्ण विकार इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। घीका प्रयोग अतिशय मात्रामें होता है। सात्त्विक व्यक्तियोंकी अपेक्षा इस प्रकारके भोजन करनेवाले व्यक्ति अधिक मात्रामें भोजन भी करते हैं। संक्षेपमें इस प्रकारका भोजन और इस वर्गके व्यक्ति सत्त्वगुणी और तमोगुणी व्यक्तियों तथा सत्त्वगुणी भोजन और तमोगुणी भोजनके मध्यबिन्दुके रूपमें हैं—ठीक उसी प्रकार, जैसे बाल्यावस्था और यौवनके मध्यमें वयः-संधिका काल। तमोगुणी भोजनमें प्रायः सभी उत्तेजक भोज्य पदार्थ माने गये हैं। इनमें मांस, मछली, अंडे, कटु, तिक्त, कषाय आदि प्रमुख पदार्थ हैं। अपने स्वभावके अनुकूल ही प्रत्येक व्यक्ति अपने भोजनका चुनाव करता है, उसीके अनुसार उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना हो सकती है। उसीके अनुसार वह संसारसे विरक्ति और अनुरक्ति प्रकट करता है। उसीके अनुसार वह संसारी अथवा असंसारी या दोनोंका संयुक्त भाव रखता है।

सात्त्विक भावसम्पन्न व्यक्ति धर्मभीरु या धार्मिक होता है। रजोगुणसम्पन्न व्यक्तिका स्वभाव अर्द्ध-धार्मिक तथा अर्द्ध-सांसारिकता या भौतिकतासम्पन्न होता है। तमोगुणी व्यक्ति घोर संसारी अथवा भौतिक भावापन्न होता है। इस स्थलपर मैं 'धर्म' शब्दकी परिभाषा या अर्थ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आधुनिक कालमें 'धर्म' शब्दके साथ जितनी अधार्मिकताका व्यवहार किया गया है, उतना अन्य किसी शब्दके साथ नहीं। आजकल अधिकांश व्यक्ति धर्मको अत्यन्त रूढ़िवादिता-के अर्थमें प्रयुक्त करने लगे हैं, जो प्रगतिशीलताका निपट विरोधी है। किंतु 'धर्म' शब्द न तो प्रगतिशील है और न अप्रगतिशील; वह जो है, वही है। न तो रत्तीभर कम, न रत्तीभर अधिक और वास्तविकता तो यह है कि बिना धर्मके किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तुका अस्तित्व एक दिन भी स्थिर नहीं रह सकता—चाहे वह व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक, और चाहे वह वस्तु लोहनिर्मित हो, चाहे कोई वनस्पति। उसकी व्याप्ति प्रगतिशील, अप्रगतिशील तथा स्थिर—सभी पदार्थोंमें एक समान है। 'धारयति इति धर्मः'। अर्थात् जो सबको धारण किये हुए है या जिसमें सब धरे हुए हैं, वह धर्म है। यदि परिभाषाकी व्याख्या की जाय तो उस व्याख्याका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है—यावत् पदार्थोंको चिरकालतक जो अपने परिवेशमें सुरक्षित रखता है, उसके योग-क्षेमका पूर्णतया वहन करता है, उस अनुपम शक्तिको हम 'धर्म' के नामसे सम्बोधित करते हैं। मानवके लिये धर्मके उस महद्रूपके एक अंशका वर्णन करते हुए मनुने मनुस्मृतिमें कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् यदि मनुष्य अपनी नैतिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक सत्ता बनाये रखना चाहता है तो उसकी धारणाशक्ति अच्छी होनी चाहिये, उसके क्षमाका भाव होना चाहिये, उसमें अस्तेय होना चाहिये, उसे मन-सहित इन्द्रियोंका स्वामी होना चाहिये, इन्द्रियोंपर उसका पूर्ण अनुशासन होना चाहिये, धैर्य धारण करनेकी उसमें शक्ति होनी चाहिये, अविद्याका त्याग होना चाहिये, उसे सत्यवादी होना चाहिये तथा उसमें क्रोधका लेशमात्र भी न होना चाहिये। मनुस्मृतिकारको पूर्ण निश्चय है कि जो भी व्यक्ति उपर्युक्त दसों धार्मिक गुणोंसे सम्पन्न होगा, वह अति दीर्घकालतक अभ्युदयमय जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें निःश्रेयसका अधिकारी बनेगा। वह लौकिक तथा पारलौकिक दोनों सुखोंका पूर्ण अनुभव कर सकेगा। धर्मके उपर्युक्त दसों लक्षण सभी मतोंके अनुयायियोंको समानरूपसे लाभप्रद हैं। मनुद्वारा स्थापित धर्मकी इस परिभाषासे मेरी उपर्युक्त व्याख्यापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अर्थात् धर्मके इन्हीं दसों लक्षणोंका अनुगमन करनेसे जीवन भली-प्रकार सुरक्षित रह सकता है। इनमें एक भी लक्षणकी अवहेलना करनेसे उतनी ही मात्रामें जीवनमें अशान्ति आ जायगी और वह उतने ही अंशमें अरक्षित हो जायगा।

अस्तु, यदि व्यक्तिका मन पूर्णतया सत्त्वगुणमें अधिष्ठित होगा तो वह धर्मवान् कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि वह सद्-असद्-विचार-सम्पन्न होकर संसारके पदार्थोंका भोग करता हुआ निःश्रेयसका अधिकारी हो सकता है और सात्त्विकतासे वह जिस मात्रामें च्युत होगा, उतने ही अंशमें वह संसारमें लिप्त हो जायगा अर्थात् भौतिकभावापन्न होगा। उतने ही अंशमें उसका मन अशान्त हो जायगा। सांसारिकतामें आविष्ट होनेके कारण वह उसके भोगमें भी पूर्ण सुखका अनुभव नहीं कर पायेगा; क्योंकि अशान्त मनसे किसी भी वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

किंतु धर्मसे भी ऊपर अध्यात्म है। धर्म मानो क्षेत्र हो, जिसमें अध्यात्मरूपी बीज वपन किया जाता है। अध्यात्म अथवा आत्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रक्रिया मानवका सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये ऋषियोंने साधनाकी अनेक सरणियोंकी प्रतिष्ठा की है। उन सभी सरणियोंको सरलतासे दो स्थूल भागोंमें विभाजित किया जा जकता है—१. विचार या ज्ञान-मार्गीय तथा २. साधना या योग-मार्गीय। एक तीसरा भाग भी सम्भव हो सकता है—भक्तिमार्गीय सरणि; किंतु भक्तिको मैं हृदयप्रधान होनेके कारण शुष्क ज्ञानसे पृथक् मानता हूँ और इसीलिये उसके स्वरूपको योगके अन्तर्गत ही स्वीकार करता हूँ। ज्ञानमार्गीय साधनाके अन्तर्गत विचार या ज्ञान ही प्रधान होता है। पर दर्शनोंमेंसे प्रायः पाँचमें तर्क और विचारद्वारा आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया गया है—प्रकृति, जीव और ब्रह्मके निरूपणका भगीरथ-प्रयत्न किया गया है। भारतीय दर्शनोंकी स्थापनाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण और महनीय हैं, इसपर इस स्थलपर कुछ कहना विषयान्तर होगा; किंतु आत्मसाक्षात्कार केवल विचार और तर्कके आधारपर सम्भव नहीं है, इसके सत्यको विभिन्न दर्शनोंके प्रतिष्ठापकोंने भी स्वीकार किया है। विचारके क्षेत्रमें उपनिषदोंका प्रमुख स्थान है। कठोपनिषत्कारने यह स्वीकार किया है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' अर्थात् इस आत्माको बुद्धि—मेधा या शास्त्रज्ञान अथवा व्याख्यानद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। निश्चय ही उपनिषद् यहाँ अहंकारशून्य शुद्ध तार्किक ज्ञानकी ही बात करता है। उसे यहाँ स्वार्थ और अहंकारपूर्ण अज्ञान अभिप्रेत नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान-मार्गका निष्कर्ष है कि 'अहं' (Ego) को नष्ट करनेसे अपने वास्तविक स्वरूप आत्माके दर्शन हो सकते हैं। सबसे अन्तिम दर्शन वेदान्त अपनी स्थापनाके द्वारा इसी

निष्कर्षपर पहुँचा है। 'अहं' के पूर्ण निरसनका अर्थ होता है—अपनी वासनाओं तथा स्वार्थोंका उस अलौकिक शक्तिके चरणोंमें पूर्ण समर्पण; किंतु यह मार्ग इतना दुरूह और अगम है कि सफलताको अवसर कई जन्मोंके सतत अभ्यासके पश्चात् भी प्राप्त हो सकेगा—निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीलिये कहा है—'ग्यान पंथ कृपान कै धारा।' निश्चय ही वह तलवारकी धारके ऊपर चलनेके ही समान है।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्मकी सर्वोपरि उपलब्धि अहंकारके पूर्ण त्यागमें है। रूढ योगकी क्रियात्मक प्रक्रियाओंद्वारा भी आत्मदर्शनके प्रयत्न किये गये हैं। योगकी इन प्रक्रियाओंमें हठयोग और राजयोग प्रमुख हैं। आसन, प्राणायामद्वारा समाधिकी प्राप्ति हठयोगकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है; किंतु इस प्रक्रियामें मन तभीतक लयकी स्थितिमें रहता है, जबतक वह समाधिके अन्तर्गत है। इसके पश्चात् वह पुनः अनेक संकल्प-विकल्पोंमें रत हो जाता है। अतएव उसे आत्मानन्दका क्षणिक ही आभास होता है। और फिर समाधि-अवस्थामें भी जडता ही रहती है। मन आनन्दमें नहीं आविष्ट हो पाता। इसीलिये हठयोगद्वारा प्राप्त समाधिको जड-समाधि कहते हैं।

योगकी दूसरी प्रक्रिया है राजयोग। इस प्रक्रियामें मनको एकाग्र करके उसके लय करनेका प्रयास किया जाता है। इस योगकी अनेक विधियाँ हैं; किंतु सभीमें ध्यानद्वारा मनोलयका प्रयत्न है। भक्ति भी योगके अन्तर्गत ही मानी गयी है। इसमें किसी भी देव-विग्रहके समक्ष पूर्ण प्रणति या आत्मसमर्पण स्वीकार किया जाता है। इसमें प्रभुके प्रति पूर्ण राग तथा प्रणति होनेके कारण 'अहं' का पूर्ण निरसन अत्यन्त सरल दृष्टिगोचर होता है।

योगकी सम्पूर्ण प्रक्रियाओंमें आत्मप्राप्तिके मार्गमें जैसी सफलता 'सुरतिशब्द योग' को मिली है, वैसी अन्य किसी साधना-पद्धतिको कदाचित् नहीं मिली। इस परम्पराका कबीरसे लेकर आजतकका एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा महनीय इतिहास है। हिंदी-साहित्यके इतिहासकारोंने इसे 'संत-मत' की संज्ञा दी है। इनके ग्रन्थोंका परिशीलन भर किया गया है। इधर विद्वानोंके अनेक शोध-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं; किंतु ये विद्वान् चूँकि उनकी साधना-पद्धतिसे पूर्ण परिचित नहीं रहे हैं, इसलिये उनके ग्रन्थों और योगमतके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके। संतोंके साधना-मार्गमें ज्ञान, विज्ञान तथा भक्तिका अद्भुत समन्वय मिलता है। इनकी साधनासे अहंका पूर्ण निरसन सम्भव है। मनका सम्पूर्ण लय भी इन्हींके साधनद्वारा सम्भव है। संतोंने तो पूर्ण दावेके साथ अपने मतको सर्वोपरि सरल साधना और सर्वोपरि आध्यात्मिक उपलब्धिके रूपमें स्वीकार किया है।

अस्तु, अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि मानव-जीवनकी चरम उपलब्धि आत्मसाक्षात्कार है और यह आत्म-साक्षात्कार तभी सम्भव हो सकता है, जब हम या तो विचार एवं तर्कद्वारा 'अहं' का पूर्ण निरसन करें या फिर योगकी अनेक प्रक्रियाओंमेंसे किसी एकका अनुगमन करके मनोलयद्वारा 'अहं' पर विजय प्राप्त करें। किंतु इसके लिये मनकी अवस्थिति सद्धर्मपर होनी अनिवार्य है और सद्धर्मके लिये मनका सत्त्वगुणपर अधिष्ठित होना परमावश्यक है। तथा मन सत्त्वगुणपर तभी अधिष्ठित हो सकता है, जब व्यक्ति संयमपूर्वक सत्त्वगुणी भोजन करे। इस प्रकारका योगी ही भौतिक जगत्के या संसारी जीवनके सुखोंका आनन्द भी उठा सकता है। अतएव जीवनमें भौतिकताको अध्यात्मके परिवेषमें ही स्वीकार करना चाहिये, तभी अभ्युदय और निःश्रेयसकी सम्पूर्ण प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

श्रीहरिः

ग्राहक बनिये ! ग्राहक बनाइये !!

कल्याणका जनवरी, १९५७ का विशेषाङ्क 'तीर्थाङ्क'

पृष्ठ-संख्या ७३६, रंगीन चित्र ३४, दुरंगा १, लाइन १, मान-चित्र ८, सादे चित्र ५३२, मू० ७॥), वार्षिक चंदा विशेषाङ्कसहित ७॥), डाक-खर्च हमारा ।

इस तीर्थाङ्कमें १८०० से ऊपर तीर्थोंका विवरण दिया गया है । उनमेंसे प्रायः सभी प्राचीन पुराणप्रसिद्ध तीर्थोंका शास्त्रोक्त माहात्म्य भी दिया गया है । साथ ही २१ प्रधान गणपति-क्षेत्रों, १०८ दिव्य शिव-क्षेत्रों, २७४ पवित्र शैव-स्थलों, १२ ज्योतिर्लिङ्गों, १०८ दिव्य विष्णु-स्थानों, १०८ वैष्णव दिव्य-देशों, १०८ दिव्य शक्ति-स्थानों, ५१ शक्तिपीठों एवं १२ प्रधान देवी-विग्रहोंका वर्णन भी आया है । इनके अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य धार्मिक सम्प्रदायोंके तीर्थस्थलोंका भी विवरण संगृहीत किया गया है । कुछ उपयोगी लेख भी दिये गये हैं । साथ ही पञ्चदेवोंकी पूजन-विधि, विष्णु-शिव आदिके ध्यान, तीर्थयात्राकी विधि, तीर्थयात्रियोंके लिये पालनीय नियम, तीर्थोंमें श्राद्ध करनेकी विधि तथा प्रधान-प्रधान तीर्थों एवं प्रसिद्ध विग्रहोंकी स्तुतियाँ भी दी गयी हैं । अङ्ककी उपयोगिता एवं रोचकता बढ़ानेके लिये इसमें ८ मानचित्र, ३४ रंगीन एवं पाँच सौसे ऊपर सादे स्थल-चित्रोंका समावेश किया गया है । इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क अत्यन्त संग्रहणीय एवं कामकी वस्तु बन गया है । रोचकतामें तथा चित्रोंकी संख्या एवं सामग्रीकी विविधताकी दृष्टिसे तो यह अङ्क 'कल्याण'के अबतकके सभी विशेषाङ्कोंसे बाजी मार ले गया है ।

इस 'तीर्थाङ्क' में जिन तीर्थों एवं भगवद्विग्रहोंका वर्णन तथा चित्राङ्कन किया गया है, उनकी स्मृति भी अन्तःकरणको पवित्र करनेवाली, पापोंका नाश करनेवाली तथा भगवद्भाव एवं संत-महिमासे हृदयको भर देनेवाली है । साथ ही इसमें आये हुए वर्णनोंके पढ़नेसे पवित्र भारतभूमिके विभिन्न भागोंका महत्त्व प्रकट होता है, वहाँकी विशेषताओंका ज्ञान होता है, राष्ट्रियता एवं पारस्परिक एकताके भाव जाग्रत् होते हैं तथा क्षुद्र, संकीर्ण विचारोंसे ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण बनानेमें सहायता मिलती है । इसके अतिरिक्त इस अङ्कमें विविध लेखोंद्वारा तीर्थयात्रा, तीर्थदर्शन एवं तीर्थोंमें अवगाहनका महत्त्व व्यक्त किया गया है तथा उन विभिन्न स्थलोंकी यात्राका मार्गनिर्देश तथा आवश्यक परिचय भी दिया गया है, जिससे तीर्थयात्रियोंके लिये यह विशेष उपयोगी बन गया है । इस दृष्टिसे इसका जितना प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही देशका कल्याण होगा । अतएव प्रत्येक कल्याणप्रेमी महोदय विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण' के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें ।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका चैत्र बदी १४, दिनाङ्क ३० मार्चके लगभग ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति उनका आषाढ़तक वहाँ ठहरनेका विचार है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लायें, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

तीन नयी पुस्तकें

परम साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३७२, पाँच बहुरंगे चित्र, मूल्य १) सजिल्द १।=), डाकखर्च १)।

इसमें शारीरिक, भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि सब प्रकारकी उन्नतिका विवेचन किया गया है, जो कि सभीके लिये लाभदायक है। इसके सिवा, भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार बतलाते हुए सत्यपालन, निष्कामकर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, बालकों और स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा तथा देशकी उन्नति आदि सर्वसाधारणके लिये उपयोगी विषयोंका भी प्रतिपादन किया गया है। साथ ही शिक्षाप्रद कथा-कहानी भी दी गयी है एवं भजन-ध्यानरूप भगवद्भक्तिका विषय तो इसमें बहुत विस्तारसे दिया ही गया है। समयकी अमोलकता, साधनके लिये चेतावनी, सत्सङ्ग और महापुरुषोंका प्रभाव तथा गोपी-प्रेमका रहस्य भी बतलाया गया है। गीता-रामायणकी महत्ता एवं इनके मुख्य-मुख्य उपयोगी प्रसङ्गोंका संकलन भी इस पुस्तकमें किया गया है। इसमें ऐसी-ऐसी सुगम बातें हैं, जिनको साधारण पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष और बच्चे भी काममें ला सकते हैं।

कल्याणके वर्ष २६ तथा २७ में निकले हुए श्रीगोयन्दकाजीके अधिकांश लेखोंसे ही यह पुस्तक तैयार की गयी है। आशा है कि पाठकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

बालकोंको सीख

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०, आर्टपेपरपर छपा सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य =) मात्र।

इस छोटी-सी पुस्तकमें छोटे-छोटे वाक्योंमें बालकोंके मनपर उत्तम संस्कार डालनेवाली बहुत-सी कामकी बातें दी गयी हैं, जो उनके चरित्र-निर्माणमें पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती हैं। पुस्तकमें १७ पाठ हैं, जिनके नाम हैं— 'कृतज्ञ रहो, प्रतिज्ञा करो, आदर, प्रणाम करो, आज्ञापालन, स्वागत-सत्कार, व्यवहार, धक्का-मुक्की, मत करो, गंदी आदतें, घमंड मत करो, काम करनेमें लजाओ मत, अपने हाथ जगन्नाथ, तुम्हारे मित्र, उन लोगोंसे दूर रहो, भूल जाओ और मत भूलो'।

बालकके आचरण

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०, सुन्दर आकर्षक मुखपृष्ठ, मोटे टाइपोंमें अच्छी छपाई, मूल्य =) मात्र।

बालकके आचरण कैसे होने चाहिये, यही इस छोटी-सी पुस्तकमें दिखाया गया है। चरित्र-निर्माण शिक्षाका प्राण है, मुख्य अङ्ग है। इस पुस्तकसे बालकोंके चरित्र-निर्माणमें एवं आदर्श जीवन बनानेमें पर्याप्त प्रेरणा मिल सकती है। देशकी लाज, धर्मका पालन, जातिकी मर्यादा, त्यागने योग्य काम, बिना पूछे न करो, क्षमा माँग लो, त्याग, महान् बनोगे ? स्मरण रखो, धनका उपयोग, बलका उपयोग, बुद्धिका उपयोग, अच्छे पुरुष—बुरे पुरुष, साथ-साथ, कभी मत करो और मनुष्य—इन सोलह पाठोंमें यह पुस्तक विभाजित है।

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे हमारी पुस्तकें माँगिये। इससे आप भारी डाकखर्चसे बच सकते हैं। सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण

वर्ष ३१

अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीता-राम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१४, अप्रैल १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–भजनकी महत्ता, सकाम यज्ञसे नश्वर स्वर्गकी प्राप्ति [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ...	८३३
२–कल्याण ('शिव')... ...	८३४
३–काममें लाने योग्य आवश्यक बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा उपदिष्ट)	८३५
४–वंशीका विलक्षण प्रेम [कविता] ...	८३५
५–सत्सङ्ग-सुधा	८३६
६–सत्सङ्ग (स्व० श्रीमगनलालजी देसाई)	८४२
७–परम सेवासे कल्याण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	८४६
८–जीवनका उद्देश्य—शान्ति (प्रो० श्रीप्रियदर्शन रामेश्वरम्) ...	८५०
९–निष्काम कर्म (स्व० श्रीपानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहराव)	८५२
१०–फिलमोर और उनकी साधना ...	८५५
११–रूप-तत्त्व (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)	८५८
१२–जनक-दुलारी ! [कविता] (डा० श्रीरामकुमारजी वर्मा एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	८३२
१३–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)	८६३
१४–कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा (बहिन श्रीकृष्णा सहगल) ...	८६९
१५–गरीबी और बेकारी (श्रीमेघराज अग्रवाल, बी० एस्-सी, ए० एम्०, आई० ई०) ...	८७३
१६–और जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	८७५
१७–आदर्श सम्पुट, प्रेम-चरणामृत (श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल्०बी०)	८७९
१८–दुग्धं गीतामृतं महत् (डा० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्०)	८८०
१९–'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य' [कहानी] (श्री 'चक्र')	८८४
२०–ना जाने का रूपमें नारायण मिल जायँ (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी) ...	८८७
२१–लोकप्रियता (श्रीहरिभगवानजी एम्० एस्-सी०, विज्ञानरत्न) ...	८८९
२२–प्रार्थना [कविता] ...	८९१
२३–भक्त चतुर्भुजदास (पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग बी० ए०, साहित्यरत्न) ...	८९२
२४–तीर्थाङ्कका शुद्धि-पत्र ...	८९५

चित्र-सूची

तिरंगा

१–सकाम यज्ञोंका फल—स्वर्ग-सुख ८३३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≈)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

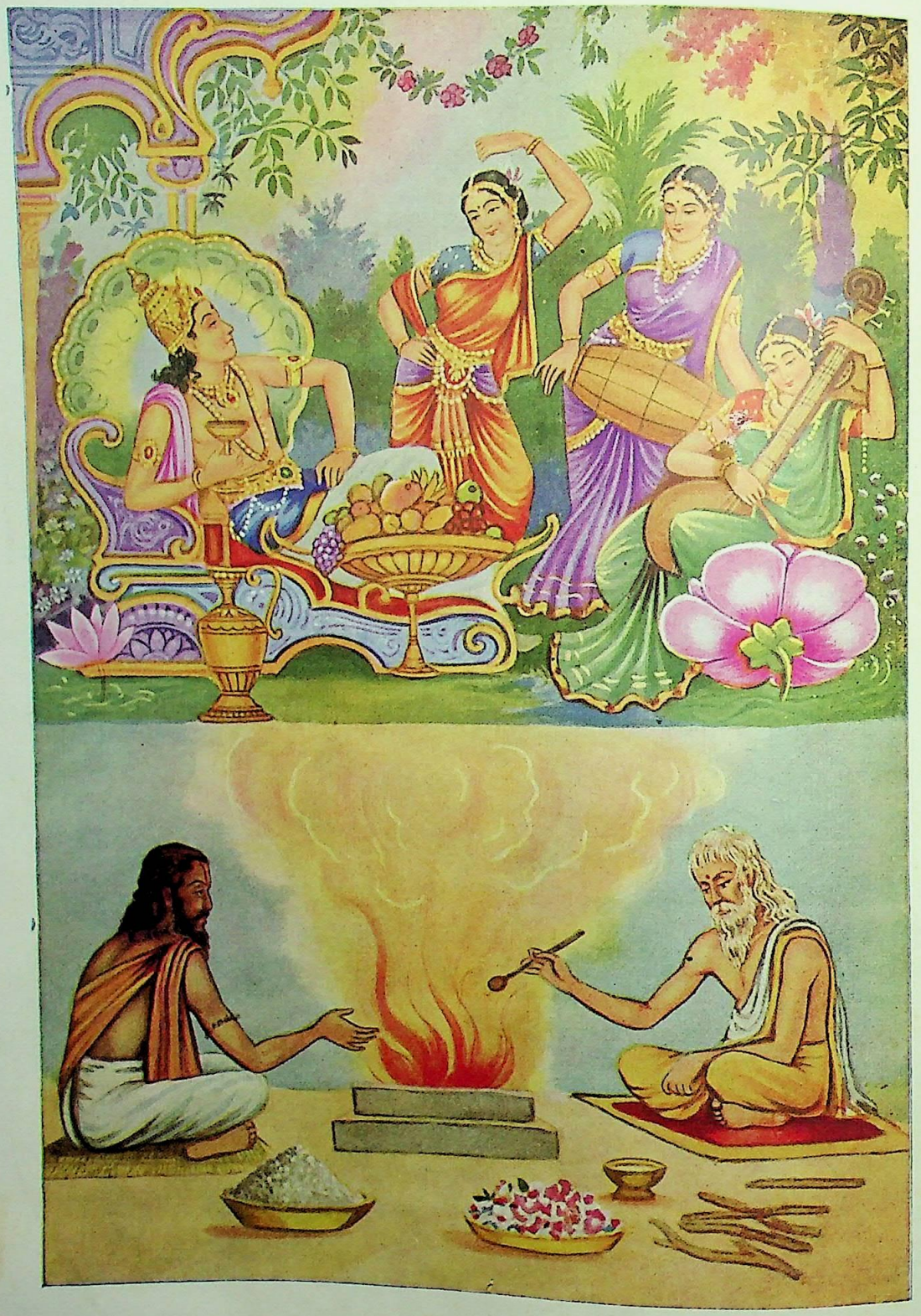

सकाम यज्ञोंका फल—स्वर्ग-सुख

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

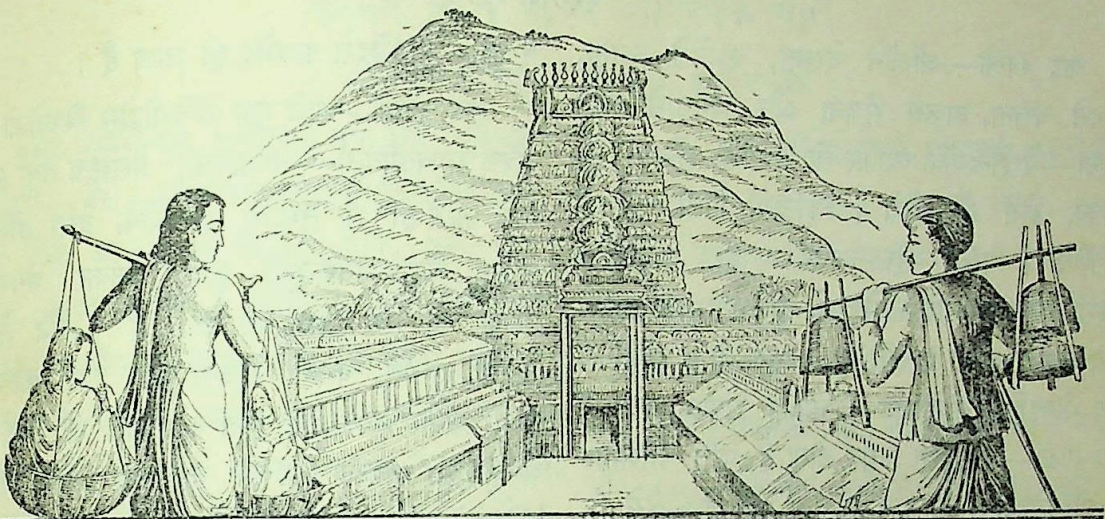

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१४, अप्रैल १९५७ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३६५

भजनकी महत्ता, सकाम यज्ञसे नश्वर स्वर्गकी प्राप्ति

परम धन हरि को भजन अकाम ।
आठहु जाम निकाम काम तजि भजिय स्याम अभिराम ॥
वेद विहित आचरत कामजुत जग्य जाग जे लोग ।
पाइ पुन्य सुरधाम लहत वे सकल दिव्य सुख भोग ॥
मुदित होत कछु काल भोगि नित सुरपति सदन बिसाल ।
होत छीन जब पुन्य, पुहुमि पर परत ब्यथित तत्काल ॥
जे सकाम अनुसरत श्रौत मत, ते कबहूँ न अघात ।
आवागमन चक्र चढ़ि संतत इत आवत उत जात ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

याद रक्खो—आँखोंसे देखना, कानोंसे सुनना, जीभसे चखना, नाकसे सूँघना और चमड़ीसे स्पर्श करना—ये इन्द्रियोंके व्यापार तो जबतक इन्द्रियाँ हैं, तबतक होते ही रहेंगे। इन्द्रियाँ मिली ही हैं इसीलिये। परंतु यही व्यापार—यही इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरना यदि भोगेच्छासे होता है तो उससे नित्य नये दुःखोंकी उत्पत्ति होती रहती है। इन्द्रियोंके साथ भोगदृष्टिसे होनेवाला विषयोंका संयोग आरम्भमें बड़ा मीठा—अमृत-सा प्रतीत होता है; परंतु परिणाममें वह घोर विषके समान फल देनेवाला होता है—वैसे ही, जैसे संखिया-सदृश विषसे दूषित मिठाई। अतएव कभी भोगदृष्टिसे विषयोंका सेवन मत करो।

याद रक्खो—यदि तुम्हारी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं तो जिस इन्द्रियको जब तुम अपनी इच्छासे स्वतन्त्रतापूर्वक हित समझकर जिस विषयमें लगाते हो, उसीमें लगती है। वे तुम्हें जबरदस्ती किसी विषयमें खींचकर नहीं लगा सकतीं। न विषयोंमें राग-द्वेष है न मन ही बलात्कारसे तुम्हें किसी विषयकी ओर खींचकर लगा सकता है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिसे जीवनयात्रा चलानेके लिये परिणाम सोचकर इन्द्रियोंको यथायोग्य विषयोंमें लगाते हो—जिस वस्तुको जब देखना आवश्यक तथा उचित हो, उसीको देखते हो; इसी प्रकार आवश्यकता तथा औचित्य देखकर ही सुनते, रस लेते, सूँघते और स्पर्श करते हो तो उससे चित्तमें निर्मलता तथा प्रसन्नता आती है और उसका फल होता है—सारे दुःखोंका नाश।

याद रक्खो—वे ही विषय यदि भोगदृष्टिसे राग-द्वेषपूर्वक मन-इन्द्रियोंके वशमें होकर भोगे जाते हैं तो उनसे निश्चय ही बार-बार दुःख उत्पन्न होते रहते हैं और राग-द्वेषरहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यथायोग्य इन्द्रियोंके द्वारा उनका उपयोग करते हो तो दुःखोंका नाश होता है। विषय वे ही और इन्द्रियाँ भी वे ही—भावभेदसे फलभेद हो जाता है।

याद रक्खो—यदि तुम इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन केवल भगवत्प्रीत्यर्थ—भगवान्‌की प्रसन्नता तथा पूजाके लिये करते हो तो तुम्हारी इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की पूजा बनकर भगवान्‌की प्रसन्नताका परम कारण बन जाती है। फिर तुम्हारा देखना, सुनना, चखना, सूँघना और स्पर्श करना—सभी व्यापार भगवान्‌की पूजा बन जाते हैं और तुम भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय हो जाते हो। फिर तुम्हारी इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌का कार्य होता है, भगवान्‌की चेष्टा होती है। तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा मन और तुम—सभी भगवान्‌की लीला सम्पन्न करनेके साधन—यन्त्र बन जाते हैं। वे यन्त्री जिस यन्त्रसे जब जो काम लेना चाहते हैं, लेते हैं। तुम्हारा अभिमान नष्ट हो जाता है। तुम करनेवाले भी नहीं रहते। भगवान् यन्त्रीके द्वारा संचालित होकर यन्त्रकी भाँति तुम्हारे शरीर, इन्द्रिय, मनके द्वारा भगवान्‌के कार्य होते रहते हैं। तुम्हारा जीवन भगवान्‌का कार्य सम्पन्न करनेवाला साधन बनकर धन्य हो जाता है। अतः तुम अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कार्यको, इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको भगवान्‌की पूजाके भावसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही करो।

याद रक्खो—इन्द्रियोंकी जो चेष्टा, मन-बुद्धिके द्वारा होनेवाला जो कार्य भगवान्‌की पूजाके लिये होगा, उसके सारे दोष अपने-आप निकलकर वह कार्य सबके अनुकरण तथा आचरण करने योग्य, परम पवित्र बन जायगा और जो चेष्टा तथा जो कार्य भोगके लिये होगा, उसमें सारे दोष अपने-आप आ जायँगे और उन कर्मोंकी संज्ञा पाप हो जायगी। परिणामस्वरूप तुम्हें दुःख होगा और तुम्हारे उस कार्यका जो अनुकरण करेगा, उसे भी पापभागी होकर दुःख भोगने पड़ेंगे।

'शिव'

काममें लाने योग्य आवश्यक बातें

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा उपदिष्ट)

सबेरे कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटे पूर्व उठना चाहिये—जैसे ६ बजे सूर्योदय होता हो तो ५ बजे उठना। फिर शौच जाकर, हाथ-पैर-मुँह धोकर, कुल्ला करके स्नान करना चाहिये। तदनन्तर अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासना तथा गायत्री-जप करना चाहिये। संध्या और गायत्रीका जप सबेरे सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना चाहिये तथा सभीको भगवन्नामजप, ध्यान, गीता-रामायण आदिका अर्थ और भावसहित पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि ईश्वरोपासना अवश्य करनी चाहिये। उसके बाद घरमें गुरुजनोंको प्रणाम करके तथा शरीरकी स्थितिके अनुसार व्यायाम करके अपने शरीरके अनुकूल दूध आदि पवित्र पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। भोजन नित्य बलिवैश्वदेव करके एवं मौन होकर करना चाहिये।

निम्नलिखित नियमोंका पालन करना चाहिये—

(१) हाथका बुना हुआ पवित्र वस्त्र पहनना।

(२) व्यापारमें झूठ-कपटका, चोरबाजारीका और सेलटैक्स-इन्कमटैक्सकी चोरी आदिका त्याग करना एवं किसीको भी कष्ट न देते हुए दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे सबके साथ सत्यतापूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करने और हर समय भगवान्‌को याद रखनेका प्रयत्न करना।

(३) बाजारकी, होटलकी, स्टेशनकी, खोमचेकी—बाहरकी बनी हुई किसी प्रकारकी मिठाई, पावरोटी, बिस्कुट, चाय आदिको काममें नहीं लाना। बाजारकी केवल प्राकृतिक चीजें—जैसे साग, फल, मेवा, दूध, घी, अनाज आदि पवित्र पदार्थोंको ही काममें लाना।

(४) चमड़ेकी किसी भी चीजको काममें न लेना।

(५) गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी नहीं करना।

(६) ताश, चौपड़, लाटरी, जूआ आदिसे सदा दूर रहना।

(७) सिनेमा, नाटक आदि नहीं देखना; क्योंकि इनमें हर प्रकारसे हानि ही है।

(८) चमड़ा, चर्बी, हड्डी आदिसे सम्बन्धित अपवित्र—घृणित पदार्थोंको काममें नहीं लाना एवं उनका व्यापार भी नहीं करना।

(९) फालतू कामोंमें, विषयभोगोंमें, खेल-तमाशोंमें, पापकर्ममें, प्रमादमें और अधिक सोनेमें अपने समयको बर्बाद नहीं करना।

(१०) ऐश-आराम, भोग, स्वाद-शौकीनीमें कम-से-कम खर्च करना।

(११) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, बुद्धि, सदाचार आदि सद्‌गुणोंकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना।

वंशीका विलक्षण प्रेम

बिछुरत मोहन अधर तें, रहत न जेहि घट साँस।
बंसी-सम पायौ न हम, प्रेम-प्रीतिको आँस॥
पोर पोर तन आपनो, प्रथम छिदापौ जाय।
तब बंसी नँदलाल पै, भई सुहागिन आय॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

१६. एक भगवान् ही ऐसे हैं, जिनको पकड़ लेनेपर, फिर कभी किसी भी अवस्थामें तनिक भी दुःख नहीं होता। जो जितने अंशमें पकड़ लेता है, उतने अंशमें उसका दुःख कम हो जाता है तथा पूरा पकड़ लेनेपर दुःख बिल्कुल नहीं होता। अब आप देखें—लोग बेचारे कितने दुखी रहते हैं। यदि उनमेंसे कोई भगवान्‌को पकड़ ले तो वह दुखी नहीं होगा; क्योंकि उसके मनमें यह दृढ़ विश्वास रहेगा कि परमसुहृद् सर्वशक्तिमान् भगवान् साथ हैं, फिर क्या डर है। आप निश्चय समझिये—जो काम सर्वथा असम्भव है, भगवान् चाहें तो क्षणभरमें उसे कर दे सकते हैं। उनके लिये कोई ऐसी बात ही नहीं है, जिसे वे न कर सकें। केवल विश्वास चाहिये। एक कथा आती है—महाप्रभु श्रीचैतन्य कीर्तन कर रहे थे श्रीवासजीके आँगनमें। श्रीवासजीका लड़का मर गया; पर श्रीवासजीने स्त्रियोंसे कहा कि 'यदि रोओगी तो महाप्रभुका कीर्तन भङ्ग हो जायगा और यह हुआ तो मैं गङ्गामें डूबकर प्राण दे दूँगा।' स्त्रियाँ डर गयीं। अब बेटा भीतर मरा पड़ा है और आँगनमें कीर्तन करते हुए महाप्रभु नाच रहे हैं; पर धीरे-धीरे और लोगोंको यह बात मालूम हो गयी, सबका उत्साह कम होने लगा और सब धीरे-धीरे नाचना छोड़कर बैठ गये। महाप्रभुको बहुत देर बाद बाह्य-ज्ञान हुआ। वे बोले—'क्या बात है? मालूम होता है कोई अनिष्ट घटना घट गयी है।' लोगोंने उन्हें सारी बात कह दी। महाप्रभुने लड़केको मँगवाया और लगे नाचने। लड़केमें प्राणका संचार हो गया। श्रीवासने देखा—यह तो गजब हो गया; इस लड़केका बड़ा सौभाग्य था कि उसकी ऐसी मृत्यु हुई थी। लड़का बातें करने लगा। फिर श्रीवासने प्रार्थना की कि 'महाप्रभो! ऐसा मत करो।' इसके बादकी ठीक घटना हमें याद नहीं; शायद जब घरके सभी लोगोंको संतोष हो गया कि इसको मरनेका ऐसा सौभाग्य और नहीं प्राप्त होगा, तब फिर महाप्रभुने कहा 'अच्छा, यही सही।' यह इसलिये हुआ था कि श्रीवासका यह भाव था कि महाप्रभु साक्षात् भगवान् हैं। पर श्रीवासके लिये प्रभुने वैसा नहीं किया था, किया था उस लड़केकी माताके संतोषके लिये। ऐसी कोई घटना नहीं है कि जिसे भगवान् न कर सकें।

१७. जहाँ भगवान्‌में एवं संतमें विश्वास है, वहाँ सब कुछ सम्भव है। गोपीप्रेमके उपासक एक बहुत बड़े संत नरोत्तमदास हो गये हैं। वे जातिके कायस्थ थे। पर ब्राह्मणलोग उनको बहुत मानते थे। इसपर ब्राह्मणोंकी एक बहुत बड़ी टोलीने उनका विरोध किया। बहुत-से ब्राह्मण शिष्य भी थे, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। आखिर नरोत्तमदासजीकी आयु समाप्त हुई। वे गङ्गातट-पर मरे। मरते समय बोली बंद हो गयी। फिर तो ब्राह्मणोंकी एक बहुत बड़ी भीड़ने मजाक उड़ाना शुरू किया। कोई कहता—'बहुत ठीक हुआ, बड़ा भक्त बना था।' कोई कुछ कहता, कोई कुछ। उनका शरीर छूट गया, पर उनके ब्राह्मण शिष्योंको बड़ा दुःख हुआ। एक शिष्य बड़ा विश्वासी था। वह ब्राह्मण था। उसने मन-ही-मन प्रार्थना की—'गुरुदेव! एक बार जी उठिये तथा इन सभी ब्राह्मणोंका उद्धार करके जाइये।' उसकी प्रार्थना सच्चे हृदयकी थी। बिल्कुल जलानेकी तैयारी हो रही थी कि नरोत्तमजी धीरे-धीरे उठ बैठे और लगे हँसने। अब तो ब्राह्मणलोगोंका होश गुम हो गया; क्योंकि उन्होंने उन्हें बहुत गालियाँ दी थीं। आखिर एक-एक ब्राह्मणने आकर क्षमा माँगी और सब शिष्य हुए। सबने उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली। इसके बाद सात दिनके

लगभग वे जीते रहे। अन्तिम दिन बोले—'मुझे गङ्गामें ले चलो। गङ्गामें जाकर खड़े हुए शिष्योंसे कहा—'मेरा शरीर मलो।' शिष्योंने शरीर मलना शुरू किया। ऐसा मालूम हुआ मानो उनका शरीर दूधका पुतला था, पानीमें घुल गया।

१८. चार चीजें हैं, जो बिना श्रद्धाके भी काम देती हैं—(१)नाम (२) धाम (३) लीला (४) संत। इनमेंसे किसीके साथ प्राणकी बाजी लगाकर जुड़ जाय। नामसे जुड़े तो फिर ऐसा हो जाय कि प्राण छूटे, पर नाम नहीं छूटे। २. धामसे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि चाहे बम बरसे, व्रज-रजपर ही प्राण छोड़ेंगे; यहाँसे बाहर नहीं जायँगे। ३. लीलासे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि इस जगत्को बिल्कुल भूल जाय—यहाँतक कि चर्म-चक्षुसे भी हर जगह लीला-ही-लीला देखे। ४. संतसे जुड़े तो ऐसा कि प्राण रहते तो अलग नहीं होऊँगा, मुर्दा शरीर ही अलग होगा। ऐसा होनेपर ही श्रीप्रिया-प्रियतमकी कृपा प्रकट होती है।

१९. भगवान् सबकी सँभाल करते हैं; फिर जो उनका हो गया है, उसकी करें—इसमें कहना ही क्या है। एक संतकी बात है। वे बदरीधाम जा रहे थे। रास्तेमें टट्टी लगने लगी। चालीस-पचास टट्टियाँ लगीं। अब साथियोंने तो उन्हें छोड़ दिया। वे बिचारे एक रास्तेसे कुछ हटकर जंगलमें गुफामें जाकर पड़ रहे। दूसरे दिन एक बूढ़ा आया एक पुड़िया दवा और दही-भात लेकर। संतने दवा खा ली और दही-भात खा लिया। तीन-चार दिन वह रोज दवा और दही-भात लाता रहा और वे खाते रहे। तीन-चार दिन बाद उनके मनमें कौतूहल हुआ कि यह कौन है; अतः जब वह दही-भात लेकर आया, तब उन्होंने उससे पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'इससे तुम्हें मतलब? दवा ले लो, दही-भात खा लो।' संत बोले—'पहले बताओ कि तुम कौन हो।' वह बोला कि 'यह नहीं बताऊँगा।' बाबा बोले—'मैं भी दही-भात नहीं खाता।' उसने कहा 'मत खाओ' और यों कहकर वह लौटने लगा। पुनः कुछ देर बाद आया और बोला—'खा लो।' बाबा बोले—'बताओ।' आखिर वहीं उस बूढ़ेकी जगह भगवान् प्रकट हो गये। संत बोले—'महाराज! कुछ अनुमान हो गया था कि इस भयानक जंगलमें आपके सिवा और कौन होगा। पर नाथ! क्या स्वयं आप इस प्रकारकी सेवा भी करते हैं?' भगवान्ने कहा—'जहाँ कोई होता है, वहाँ तो प्रेरणा कर देता हूँ; नहीं होता तो स्वयं आता हूँ।' यह सच्ची घटना है और कुछ ही समय पहलेकी बात है।

२०. दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं; वे भगवान्के बहुत ही विश्वासी थे, गाँवके जमीनदार थे। एक साल अकाल पड़ा। कोठेका अनाज तो बाँट ही दिया, अपना मकानतक बेचकर गरीबोंको लुटा दिया। स्त्री-पुरुष पेड़के नीचे रहने लगे। उनका नियम था—एकादशीका उपवास करना, फिर द्वादशीके दिन ब्राह्मण-भोजन कराके तब पारण करना। एकादशीके दिन वे पंढरपुर जाया करते थे। इस बार भी गये, दर्शन किया; किंतु पासमें कुछ नहीं था। कुछ दिन पहले बहुत धनी थे, पर आज फूटी कौड़ी भी पास नहीं थी। लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले। एक पैसेकी फूल-माला ली, एक पैसेका प्रसाद चढ़ा दिया तथा एक पैसा दक्षिणामें दे दिया। दूसरे दिन लकड़ी बेचनेपर फिर तीन पैसे मिले। उनका आटा ले लिया, पर अब केवल आटेका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। दोपहर हो गया। एक-एक करके ब्राह्मण आते, पर खाली आटा देखकर अस्वीकार कर देते। अन्तमें भक्तदम्पति मनमें सोचने लगे—'प्रभो! मेरा नियम क्या आज भङ्ग होगा?' इतनेमें एक ब्राह्मण आया, जो अत्यन्त बूढ़ा था। बोला—'पटेल! बड़ी भूख लगी है।' उस बेचारेने लजाकर कहा—'महाराज! मेरे पास तो केवल आटा है।' ब्राह्मणने कहा—

'फिर क्या चाहिये। यहींसे थोड़े कंडे इकट्ठे कर लें। मैं बाटी बनाकर खा लूँगा।' यही हुआ, बाटी बनने लगी। इतनेमें एक बुढ़िया आयी। ब्राह्मण बोले—'बड़ा अच्छा हुआ, पटेल; यह मेरी स्त्री है, हम दोनों प्रसाद पा लेंगे।' पटेल लज्जित हो गये, सोचने लगे—'एक आदमीके लिये भी आटा पर्याप्त नहीं है, दो कैसे जीमेंगे।' पर भगवान्‌की लीला थी, बाटी बनायी गयी और ब्राह्मणने कहा—'एक पत्तल तुम अपने लिये भी ले लो।' पटेल बड़े विचारमें पड़ गये। अन्ततोगत्वा बहुत कहने-सुननेके बाद ब्राह्मण-ब्राह्मणी जीमने लगे। कुछ खाकर अन्तर्धान हो गये। पटेल बड़े चकित हुए। प्रसाद पाकर मन्दिरमें दर्शन करने गये, वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष चिन्मय रूप धारणकर बात करने लगे। बहुत बातें हुईं। अन्तमें भगवान् बोले—'भाई! हमें ऐसी ही बाटियाँ खानेमें आनन्द आता है।' पटेलने पूछा—'महाराज! तब क्या आप बड़े-बड़े यज्ञोंमें नहीं जाते?' भगवान्‌ने कहा—'वे लोग हमको खिलाना ही नहीं चाहते।' पटेलसे भगवान्‌ने फिर कहा—'कल तमाशा देखना, उसी ब्राह्मणके वेशमें मैं कल अमुक जगह जाऊँगा; देखना, मेरी कैसी पूजा वहाँ होती है।'

एक बहुत बड़े धनीके यहाँ यज्ञ था। हजारों ब्राह्मणोंका निमन्त्रण था। ठीक जीमनेके अवसरपर वे ही बूढ़े बाबा पहुँचे और बोले—'जय हो दाताकी! एक पत्तल हमें भी मिल जाय। बहुत भूखा हूँ।' लोगोंने पूछा—'आपको निमन्त्रण मिला है?' ब्राह्मण बोले—'निमन्त्रण तो नहीं मिला, पर हूँ बहुत भूखा; बड़ा पुण्य होगा।' ब्राह्मणकी एक बात भी उन लोगोंने नहीं सुनी। आखिर ब्राह्मण जबर्दस्ती एक पत्तल लेकर बैठ गये। अब तो धनिक बाबूके क्रोधका पार नहीं रहा। उन्होंने हाथ पकड़कर ब्राह्मणको निकलवा दिया। पटेल देख रहे थे। बूढ़े ब्राह्मण पटेलको इशारा करके कह रहे थे—'देखा—हमारा सत्कार कैसा होता है?' फिर कहा—'अब देखो, क्या होता है।' उसी समय बहुत जोरकी आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरने लगे। सारा यज्ञ नष्ट हो गया। एक ब्राह्मण भी भोजन नहीं कर सका। कथा बहुत विस्तारसे एवं बहुत लंबी है। सारांश यह कि किसी भी दुखीको देखकर उसमें विशेष रूपसे भगवान्‌को देखना चाहिये।

२१. असलमें तो आर्त्त भक्त, अर्थार्थी भक्त भी बनना बड़ा कठिन है। कोई सच्चा आर्त्त, सच्चा अर्थार्थी हो जाय, तब तो फिर क्या पूछना। उसका दुःख भी मिट जाय एवं भगवान्‌को पाकर वह कृतार्थ भी हो जाय—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आर्त्त भक्त हो चाहे अर्थार्थी, उसमें अनन्यनिष्ठा होनी ही चाहिये। अनन्यनिष्ठाका अर्थ यह कि और सभीपरसे—सभी साधनोंपरसे भरोसा उठाकर मनमें यह निश्चय कर ले कि 'मेरा यह काम तो भगवान् ही पूरा करेंगे।' मान लें हमें कोई बीमारी है। अब यदि ठीक-ठीक मनमें यह निश्चय हो कि यह बीमारी प्रभुसे ही दूर करवानी है तो फिर निश्चय मानिये प्रभु उसे दूर कर देंगे। पर यदि कोई कहता है कि 'प्रभु तो दूर करेंगे ही, पर निमित्त तो दवा बनेगी।', तो समझ लीजिये कि असलमें उसका विश्वास भगवान्‌पर नहीं है, विश्वास दवापर है। फिर भगवान् भी जब अच्छा करेंगे, तब सीधे जादूकी तरह नहीं करेंगे, किसी दवासे ही करेंगे। ऐसा न होकर यदि यह धारणा कर लें कि दवासे क्या होगा, प्रभु अच्छा करेंगे, तो सच मानिये बिना दवाके कठिन-से-कठिन रोग—जिसका अच्छा होना असम्भव मान लिया गया है अच्छा हो सकता है और एक क्षणमें ऐसा हो सकता है मानो उस बीमारीका कोई चिह्न भी नहीं रह गया हो—मानो वह बीमारी कभी हुई ही न थी।

इसी प्रकार अर्थार्थी भक्त भी भगवान्‌की कृपा पाकर एक क्षणमें निहाल हो सकता है तथा एक क्षणमें एक अत्यन्त दरिद्रको अरबपति, असंख्यपति भगवान् बना सकते हैं। कोई कहे कि 'मैं धनके लिये भजन

करता हूँ' तो उसे सोचना चाहिये कि मेरी निष्ठा भगवान्‌पर है या नहीं। यदि निष्ठा है तो उसकी यह पहचान है। कोई उसे आकर यह कहे कि 'हम गारंटी करते हैं—तुम यह सौदा कर लो, तुम्हें जरूर लाख रुपये मिल जायँगे। नहीं मिलें तो मैं लाख रुपये तुम्हें अपने पाससे दूँगा।' इसपर भी यदि उसका मन डिगे तथा वह यह नहीं करके भजन ही करता रहे, तब वह सच्चा अर्थार्थी भक्त है और उसके लिये फिर भगवान् अपना सम्पूर्ण भंडार खोलकर उसे निहाल कर देंगे। आजकल लोग भजन तो करते हैं, दो-चार माला जपते हैं, पर साथ ही सौदे-सट्टेमें भी रुपया लगाते रहते हैं। यह अर्थार्थी भक्तका लक्षण तो है नहीं। इसी कारण आजकल न तो आर्त्त भक्तके लिये जादूका-सा खेल भगवान् करते हैं और न अर्थार्थीको ही जादूकी तरह कोटिपति बनाते।

२२. भगवान्‌से सच्चे मनसे प्रार्थना कीजिये—'मेरे नाथ! यदि आप हमें इसी गिरी अवस्थामें देखना पसंद करते हैं, इस प्रकारसे निरन्तर हमारे मनमें अशान्ति बनी रहने देनेमें ही आपका चित्त प्रसन्न होता है—बार-बार मेरे सामने आप आते हैं और आपका मैं तिरस्कार कर देता हूँ, यदि इसी घृणित अवस्थामें मुझे रखकर आप प्रसन्नताका अनुभव करते हैं तो फिर आपकी इच्छा करते पूर्ण हो, नाथ! क्योंकि आप यदि ऐसा चाहते हैं तो इसीमें मेरा परम मङ्गल है। पर यदि ये सब दोष मेरी कमीके कारण होते हों— मेरी तत्परताकी कमीके कारण, मेरे अविश्वासके कारण होते हों, तो प्रभो! अब बहुत हो चुका नाथ! अब कृपा करके इसी क्षण इन्हें मिटा दो। मैं अबोध हूँ, अज्ञानी हूँ, पतित हूँ; मुझे पता नहीं कि मेरे मनमें ये दोष किस कारणसे होते हैं। इनके मिटनेका जो उपाय सुनता हूँ, उसका आचरण भी मुझसे नहीं होता—क्यों नहीं होता, इसका कारण भी मैं नहीं जानता। अतएव हे दयाके सागर! अब मेरी ओर निहारो और फिर जो उचित हो, करो शान्ति यदि मेरी कमीके कारण मुझे नहीं मिल रही है तो फिर मेरी उस कमीको मिटा दो, इसी क्षण मिटा दो और यदि तुम्हारी इच्छासे शान्ति नहीं मिल रही हो, तब तो मुझे कुछ कहना है ही नहीं; यह अशान्ति ही मेरा परम प्रिय धन है—मैं ऐसा अनुभव करने लगूँ; क्योंकि तुम मेरे स्वामी हो, तुम्हारा मुझपर पूर्ण अधिकार है। मैं तुम्हारी वस्तु हूँ; तुम जैसे रखना चाहो, वैसे ही रक्खो।'

यह है प्रेममिश्रित भावकी प्रार्थना। यह नहीं हो। और शान्ति चाहिये—जैसे भी हो, शान्ति मिलनी चाहिये, तो फिर यह कामना सीधे शब्दोंमें करके यही माँगना चाहिये कि 'हमको शान्ति दो, हे नाथ! शान्ति चाहिये, शान्ति दो।' शान्ति पानेके लिये यही सर्वोत्तम उपाय मैं जानता हूँ, करता हूँ। वही मैंने आपको भी बतला दिया।

२३. यदि उनपर विश्वास न होता हो तो यह भी उन्हींसे कहिये, उन्हींसे पूछिये—'नाथ! कहाँसे विश्वास लाऊँ? पैसेसे खरीदनेकी चीज तो यह है नहीं, तुम कह सकते हो, उपाय बतलाता हूँ उसे करो। पर नाथ! उपाय पता नहीं क्यों, मुझसे नहीं होते। सुन लेता हूँ, यत्किंचित् करनेकी भी चेष्टा करता हूँ; पर वे मुझसे हो नहीं पाते, ठीक मौकेपर मैं फेल हो जाता हूँ। अब तुम्हीं बताओ नाथ! क्या करूँ? यदि तुम कहो कि काम, क्रोध, लोभको मेरे बलपर डाँटो तो नाथ! मेरा आपके बलपर यथार्थ विश्वास ही नहीं होता। क्या करूँ?'

२४. सोचकर देखिये, हृदयकी बात किससे कहें? कौन ऐसा है, जो सर्वसमर्थ है और हमारी सहायता कर सकता है? तो यही उत्तर मिलेगा—एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं। उनमें शक्तिकी कमी नहीं। वे हमारे मित्र भी हैं तथा उन्हें हमारी इस घृणित दशाका पूरा-पूरा

पता भी है । फिर उनको छोड़कर और किसकी शरणमें जायँ ? सूरदासने गाया है—'तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?' काम, क्रोध, लोभसे तंग आकर कहिये—काम, क्रोध, लोभ—ये तीनों, क्या नाथ ! आपसे अधिक शक्तिशाली हैं ? नहीं हैं, आपको यह पता भी है कि इसको ये तंग करते हैं, आप मेरे मित्र भी हैं तथा आपमें इन्हें मार डालनेकी शक्ति भी है—फिर मेरी ऐसी घृणित दशा क्यों है ? नहीं जानता । तुम्हीं जानो ।' सार बात यह है कि किसी प्रकार भगवान्‌से जुड़िये, चाहे सकाम भावसे ही सही ।

२५. पार्वतीजीने पूछा—मुझे श्रीकृष्णकी महिमा कुछ बताइये । शंकरने कहा—'देवि ! जिसके चरण-नखकी महिमाका वर्णन असम्भव है, उसकी महिमा क्या बताऊँ ।' फिर बोले—'सुनो—प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक मैं—शङ्कर रहता हूँ । हम तीनोंके तीनों उन श्रीकृष्णकी कलाके करोड़वें अंशसे उत्पन्न होते हैं । इतने तो वे प्रभावशाली हैं । प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक कामदेव रहता है । वह इतना सुन्दर है कि समस्त ब्रह्माण्डको मोहित किये रहता है । पर उसमें जो सुन्दरता है, वह श्रीकृष्णकी सुन्दरताका करोड़वाँ-करोड़वाँ अंश है । वे इतने सुन्दर हैं ! उनके शरीरसे इतना तेज, इतनी चमक निकलती है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जितने सूर्य हैं, सब-के-सब उस चमकके करोड़वें अंशसे प्रकाशित होते हैं ! उनमें श्रीकृष्णकी अङ्ग-प्रभाके करोड़वें अंशसे प्रकाश आता है । जगत्‌में जितनी मनको मोहनेवाली सुगन्धियाँ हैं, सुगन्धित फूल हैं, सबमें श्रीकृष्णके अङ्ग-गन्धके करोड़वें अंशसे गन्ध आती है । और बहुत-सी बातें बतायी हैं—वे सब कविकी कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य हैं । तथा सचमुच ही किसीको श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्यपर विश्वास हो जाय तो फिर उसको जीवनमें केवल श्रीकृष्णकी ही चाह रहेगी, बाकी चाहें सब मिट जायँगी ।

२६. आप सात बातोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगाकर चेष्टा कीजिये । प्रेम उत्पन्न होनेके पहले ये सात बातें अवश्य हो जाती हैं, तब प्रेम प्रकट होता है । नहीं तो, आप हों या कोई हो, रास्ता तय करना बड़ा ही कठिन है ।

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ ले जाय ॥

—यह बिल्कुल सत्य है । बहुत बात कर लेंगे, लीला भी सुन लेंगे, लाभ भी थोड़ा होगा ही, पर इन सातके आये बिना वास्तविक प्रेम प्रकट ही नहीं होता । यह ठीक है कि पूर्णरूपसे ये सात बातें तो तभी होती हैं, जब भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है; पर उसके पहले साधकको चाहिये कि वह इनको अपने अंदर पूरी-पूरी उतारनेके लिये सम्पूर्ण प्रयत्न करे । वे बातें ये हैं—

(१) शान्ति रखना—इसके लिये दृष्टान्त शास्त्रमें आता है कि राजा परीक्षित् बिना अन्न-जलके सात दिन कथा सुनते रहे; पर उनमें शान्ति इतनी थी कि अन्न-जल उन्हें याद ही न आता था ।

(२) भगवान्‌के भजनके सिवा और किसी काममें समय बिल्कुल नहीं लगाना ।

(३) संसारके समस्त भोगोंसे ऐसा वैराग्य हो जाय कि वे विष्ठा-से दीखने लग जायँ । जिस प्रकार विष्ठाको देखकर घृणा होने लगती है, मुँह-नाक बंद करके हम चलते हैं कि कहीं दुर्गन्ध न आ जाय, ठीक उसी प्रकार समस्त भोगोंसे आन्तरिक घृणा हो जाय ।

(४) मनमें अपने अंदर मानका बिल्कुल भाव ही न रहे । शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि राजा भरत जब प्रेमके लिये व्याकुल हुए, तब वे इतने अधिक मानशून्य हो गये थे कि राज्य करते समय जिन-जिन राजाओंपर

विजय प्राप्त की थी, जिन-जिनसे शत्रुता थी, उन्हींके घरमें जाते थे और उनकी दी हुई रोटीके टुकड़े माँग-माँगकर पेट भरते हुए भजन करते थे—और अपने शत्रुको ही नहीं, वरं चाण्डालतकको प्रणाम करते थे।

(५) दिन-रात मनमें यह विश्वास, यह भरोसा बढ़ता रहे कि मुझे श्रीकृष्ण अवश्य-अवश्य मिलेंगे। यह विश्वास मनसे एक क्षणके लिये भी दूर न हो।

(६) निरन्तर नामका गान अतिशय प्रेमसे हो, भाररूपसे नहीं—मालाकी संख्या पूरी करनेके लिये नहीं; बल्कि नाम इतना प्यारा लगे कि प्राण भले छूट जायँ, पर नाम नहीं छूटे।

(७) जहाँ-जहाँ भगवान्‌की लीलाएँ हुई हैं, उन स्थानोंमें अतिशय प्रेम हो।

ये सात बातें तो धारण करनेकी हैं और चार बातें विघ्नरूप हैं, जिनसे बचनेकी चेष्टा प्राणोंकी बाजी लगाकर करनी चाहिये। ये चार बातें ही प्रेमकी प्राप्तिमें बाधक होती हैं। जहाँ ये छूटीं कि बस, प्रेमका रास्ता बड़ी शीघ्रतासे तय होने लगता है। इनको शास्त्रमें 'अनर्थ' कहते हैं, जो असलमें भगवान्‌से हटाते रहते हैं। वे चार ये हैं—

(१) दुष्कृतजात अनर्थ—अर्थात् पूर्वजीवनमें तथा इस जीवनमें आपने जो-जो बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार मनपर जमा रहते हैं और वे बार-बार बुरे कर्मोंकी स्फुरणा कराकर साधकको घसीट ले जाते हैं। अतः पहले जो हो चुके, उनके लिये तो क्या किया जाय; पर अब यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बुरे कर्म हमारे द्वारा भूलसे भी कभी न हों। झूठ-कपट आदि सभी बुरे कर्म मार्गसे बहुत दूर हट जायँ।

(२) सुकृतजात अनर्थ—आपने जो पूर्वजीवनमें एवं इस जीवनमें पुण्य किये हैं, उनके फल आकर बाधा डालते हैं—जैसे पुण्यके फलसे आपको धन-मान प्राप्त हो गया है जो आपके मार्गमें बाधा दे रहा है। इससे बचनेका उपाय यह है कि सच्चे मनसे भगवान्‌को अपने सब पुण्य समर्पण कर दिये जायँ तथा भीतरी हृदयसे उनका फल नहीं चाहा जाय।

(३) अपराधजात अनर्थ—दस प्रकारके नामापराध एवं चौंसठ प्रकारके सेवापराधोंसे जहाँतक हो बचना चाहिये। ये इतने भयानक दोष हैं कि बहुत ऊँचे उठे हुए साधकोंको भी नीचे गिरा देते हैं। इनसे बचनेका उपाय है— सच्चे मनसे भगवान्‌से प्रार्थना करना कि 'हे नाथ! मुझे अपराधसे बचाओ' तथा जान-बूझकर कभी अपराध न करनेकी पूरी चेष्टा करना। अबतक बहुत अपराध हो चुके हैं और अब भी होते हैं; इसीलिये रास्ता रुक रहा है।

(४) भक्तिजात अनर्थ—यह विघ्न आपको कम सतायेगा, यह हमारे-जैसे संन्यासी तथा साधकोंको बहुत तंग करता है। यह है भक्ति करके उसके द्वारा सम्मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहना। इससे भी मार्ग रुक जाता है। इन चारों अनर्थोंसे बचते हुए उपर्युक्त सातोंको धारण करनेकी चेष्टा करें। खुशामदकी बात दूसरी है; पर सच बात तो यह है कि रास्ता तय करना हो तो फिर ये काम अवश्य कीजिये। मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा; मैं आपसे जो बातें कहूँगा, उनसे मेरा तो लाभ ही होगा। पर आपका रास्ता मेरी समझसे तो तभी तय होगा, जब कि आप कमर कसकर चलनेके लिये तैयार हो जायँगे।

धन, स्त्री, शरीरका अभिमान रत्ती-रत्ती चूर हुए बिना रास्ता कटेगा नहीं। खूब तेजीसे चलिये, नहीं तो मर जाइयेगा। मरते समय चित्तकी वृत्ति जहाँ रहेगी, वहीं आप चले जायँगे। मकान, रुपया, धन, परिवार, मान-बड़ाई—सब-के-सब या तो आपको पहले ही छोड़ देंगे या आप इनको छोड़कर चले जायँगे।

विष्ठा-मूत्रसे भरा हुआ यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा। इसे जानवर खा जायँगे तो यह विष्ठा बन जायगा। जलाया जायगा तो इसकी राख हो जायगी और गाड़ दिया गया तो सड़कर कीड़ोंके रूपमें परिणत हो जायगा। इसके आरामकी तथा विलासकी चिन्ता छोड़िये।

ये बातें केवल सुननेकी नहीं हैं, करनेसे होगा। बड़ी तत्परतासे करनेपर होगा। नहीं तो सुनते रहिये—न शान्ति मिलेगी, न दुःख मिटेगा। प्रेम तो कहाँसे मिलेगा!

आप नित्य ये सब बातें सुनते हैं, पर फिर भी रुपये एवं परिवारकी ममता तथा अभिमान नहीं मिटते। इसका अर्थ यह है कि अभी आप रास्तेपर चलनेके लिये तैयार नहीं हैं। यदि प्रत्येक बार आप मनको दण्ड देने लगें तो फिर मन सीधा हो जाय।

सत्सङ्ग

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

सत्यं परं धीमहि—अहिंसा परमो धर्मः।

प्राणी कर्म करता है और उसके फलस्वरूप भोग-प्राप्तिकी इच्छा करता है। प्राणिमात्र सुखके लिये भोगकी इच्छा करते हैं। इसके लिये कर्मफलका त्याग करना चाहिये, भोगमें सुखबुद्धिका त्याग करना चाहिये, जगत्के प्राणी-पदार्थसे मुझे सुख होगा—इस बुद्धिका त्याग करना चाहिये। नौकरी करनेवाला नौकर कर्म करता है, वह वेतनकी इच्छा करता है—यह बन्धन नहीं है; व्यापारी माल देकर कीमत माँगता है, यह बन्धन नहीं। परंतु जीवमात्र अमुक वस्तु मुझे मिले तो मैं सुखी बनूँ और अमुक बातसे मैं दुखी हूँ, इस भावनाको छोड़ दे। मैं शरीर या जीव हूँ, यह भावना छोड़े बिना तथा मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, परम सुखका धाम हूँ—इस भावनाके जागे बिना कभी सुख नहीं होगा। इसलिये बार-बार मैं आत्मस्वरूप हूँ, ऐसी भावना करे। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं, ज्ञान-जैसा पवित्र कुछ नहीं। जगत्को देखते समय इच्छाकी अनेक तरङ्गें चित्तमें उठती हैं। उनका शमन करनेवाला ज्ञान है। तप, दान, व्रत, नियम आदि साधनोंसे इच्छाका सम्पूर्णतया शमन नहीं होता। योगसे भी शमन नहीं होता। ये सब यदि निष्काम हों तो ज्ञान पैदा करते हैं और ज्ञानसे इच्छाका शमन होता है। इसलिये भोग-त्यागके इच्छुक, आत्यन्तिक शान्ति, मोक्षके इच्छुक, अखण्ड सुखके इच्छुकको बारंबार भावना करनी चाहिये कि मैं नित्य हूँ, मुक्त हूँ, अविकारी हूँ, असङ्ग हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ और जगत् बाजीगरके खेलके समान मिथ्या है। समझदार आदमी मदारीके खेलमें दिखाये जानेवाले आमके फलकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानी जगत्के मिथ्या पदार्थोंसे सुखकी आशा नहीं रखता।

ज्ञानका वास्तविक उदय हुए बिना पूर्ण शान्ति नहीं होती, इच्छाओंका शमन नहीं होता। इच्छाओंके शमनके लिये ऊपर श्रेष्ठ उपाय बतलाये गये हैं। दूसरा उपाय यह है कि मनको—जो अनेकों इच्छाएँ करता है, तप, व्रत-नियम, भक्ति, ध्यान, दान आदिमें लगाये और यह इच्छा करे कि इन सबका फल मुझे मुक्ति मिले।

सहवाससे इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। मुमुक्षु जगत्की क्रीडाका सङ्ग छोड़े। हम जैसे बनना चाहते हैं वैसे बने हुए पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैसे बन सकते हैं। इसलिये जो शान्त, इन्द्रिय-निग्रही, ज्ञानी, भक्त, दयालु और वासनामात्रसे मुक्त पुरुष हो या उस मार्गपर चलनेवाला हो, उसका सङ्ग करे। तैरनेवालेके सङ्गसे मनुष्य पार जा सकता है, डूबतेका सङ्ग करनेसे डूबता है। इसलिये अपनेसे श्रेष्ठका सङ्ग करे।

मनुष्यकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वह बनता है । चित्त एक ऐसी वस्तु है कि वह जो दृढ़ भावना करता है, वैसा ही अपनेको देखता है । 'आत्मा सत्यस्वरूप है' यह भावना बारंबार करनेसे समय आनेपर आत्माको वैसा देखता है ।

सांसारिक वासनावाले जीवके लिये सम्पूर्ण सङ्गत्याग करना शक्य नहीं है । जब-जब प्रसङ्ग पड़े, तब-तब उपयोगके अनुसार अपना काम निकालने भरतक सङ्ग करे और उसमें भी यदि वह वासनावाला पुरुष भोग-सम्बन्धी बातोंमें उतरे तो वहाँसे चलता बने । उदाहरणके लिये एक व्यसनी है, वह आफिसमें अपने साथ ही क्लर्कका काम करता है । उसके साथ आफिसका काम करनेमें दोष नहीं है । परंतु जब वह होटलमें जानेका विचार करे, तब उसके साथ न जाय । इसी प्रकार संसारमें लीन सभी जीवोंके विषयमें समझना चाहिये । इच्छा जीतना कठिन है । एक ऋषि यमुनाके जलमें बैठकर जप, तप, ध्यान करते थे । ब्रह्मचारी थे, कई घंटे वे बैठ सकते थे और इच्छानुसार जीनेकी शक्ति उनमें थी । मछलियोंकी क्रीडा देखकर उन्हें ब्याह करनेकी इच्छा हो गयी । उनमें नाना रूप धारण करनेकी सिद्धि थी, फिर भी वे भोगेच्छाका त्याग नहीं कर सके । यह सङ्गका फल है । इसलिये दृष्टिसङ्गका त्याग करे । इसका उपाय यह है कि रास्ता चलते जमीनपर दृष्टि रखकर चले । मनुष्यकी दृष्टि सहज ही स्त्रीके ऊपर ठहर जाती है; इसलिये यदि उसपर दृष्टि पड़े तो तुरंत उसे हटा ले, ठहरने न दे । स्त्रियोंमें बैठना पड़े तो आँखें मूँदकर बैठे । एक पुरुषको स्त्री न थी । वे एक विधवा और उसकी लड़कीके साथ रहते थे, कुछ दिनोंतक मुझे उनके साथ रहनेका काम पड़ा । वे जब घरमें बैठते, तब आँखें बंद ही रखते । आँखें मूँदकर बैठनेमें बहुत लाभ है, भोग-वासनाका जहर मुख्यतया मनुष्यपर आँख और कानके द्वारा चढ़ता है । कानकी अपेक्षा भी आँख अधिक बलवती है । परस्त्रीके साथ कभी एकान्त-सेवन न करे—बातचीत, हास्य-विनोद न करे । जब परस्त्रीके साथ कोई काम आ पड़े तो उसको मा-बहिन कहकर बारंबार सम्बोधन करे । परमात्मासे यही प्रार्थना नित्य करे कि 'हे प्रभु ! अपनी मायासे तुम मुझे बचाना ।' मनुष्य अपनी शक्तिसे कभी भोग-वासनाका त्याग नहीं कर सकता । ईश्वरकी शरण ले ले तो उसकी दयासे वह वासनामुक्त हो सकता है । इसलिये भोगवासना त्यागनेमें जैसे ज्ञान साधन है, वैसे ही भक्ति तथा परमात्माकी शरण भी साधन है । इस साधनसे परमात्मा उसे ज्ञान देता है, उसको डूबनेसे बचाता है । महाराज पाण्डु जानते थे कि भोगसे उनकी मृत्यु होगी । माद्रीने उनको मना किया, परंतु वे भोगेच्छा छोड़ न सके और मृत्युको प्राप्त हो गये । भोगवासना छोड़ना कठिन है; जो ज्ञानका दम्भ करके भोग छोड़नेकी बातें करता है, वह मूर्ख है, ठग है । उसके हृदयमें भोगका रस और उसकी स्मृति वर्तमान है ।

भोगमें सुख नहीं है । सुखके बदले दुःख है । विचार करनेपर यह बात समझमें आती है तथा शास्त्र और संत ऐसा कहते हैं । फिर भी उसकी इच्छा छूटती नहीं । जीवके अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण ऐसा होता है । योगी भी इससे नहीं बचे । इसके अमोघ उपाय हैं ज्ञान, विचार, भक्ति, परमात्माकी शरण और जहाँतक हो सके, सङ्गका त्याग ।

भोग-त्यागके लिये, इच्छाओंको—चाहे वे बड़ी हों या छोटी—कम करनेका अभ्यास करे । जिसके बिना चल सके, वह वस्तु पास हो या सुलभ भी हो तो भी उसको न भोगे । मन यदि इच्छा करे तो उससे पूछे कि इसकी क्या आवश्यकता है ? जीवनयात्रा मात्रकी इच्छा मनकी स्वीकार करे, शेष मनकी तरङ्गोंको काटता ही जाय । मन मूर्खका बिगड़ा और स्वतन्त्र हुआ मन्त्री है । वह आत्माको नचाता है । इस मनको अब वशमें करना है । धीरे-धीरे कुछ शिक्षासे, कुछ समझा-बुझाकर, कुछ उसका कहना करके इस बिगड़े हुए मनको वशमें करनेका यत्न करना चाहिये ।

भोग-वासनाके त्यागमें भोजनका मुख्य स्थान है। इसलिये उन्मादकारी भोजन न करे। ऐसा भोजन इन्द्रियों और मनको मथ डालता है। जैसे सङ्ग इच्छा उत्पन्न करनेमें कारण है, वैसे ही खान-पान पैदा हुई इच्छाको बढ़ानेमें कारण है। खान-पान और सङ्ग—इन दोनोंके भोग-वासनाके त्यागमें परहेजका संयम रूपमें सहायक हैं और ज्ञान, भक्ति, विचार, परमात्माकी शरण, एकान्त, सत्सङ्ग और वैराग्य—ये औषधरूप हैं। रोग मिटानेमें औषध और परहेज दोनों जरूरी हैं। पड़ी हुई टेव सहज ही छूटती नहीं, इसके लिये धीरे-धीरे सतत प्रयत्न आवश्यक है।

एक मनुष्य व्यसनी या विषयी है, उसे उस व्यसन या विषयको छोड़ना है। वह पहले सप्ताहके सात दिनोंमें किसी एक दिन उसके त्यागका नियम ले ले और उस नियमका भङ्ग हो तो उपवास करनेका दण्ड रक्खे तथा उस उपवासके दिन विशेष प्रभु-प्रार्थना करे। जैसे-जैसे वह त्याग-दिवस सिद्ध होता जाय, वैसे-वैसे उसको बढ़ाता जाय। इस अभ्याससे वासना क्षीण होती जाती है। सारे व्यसनोंका पूर्ण त्याग ही आवश्यक है। स्त्रीमें पूर्ण विषय-त्याग तबतक कठिन है, जबतक मनुष्य किसी विशेष कार्यमें पूरा नहीं लग जाता। फिर भी स्त्री और पुरुष दोनों एक साथ ईश्वरके मार्गपर चलें तो वह सुलभ हो सकता है।

पुरुषकी अपेक्षा स्त्री विषय-त्यागकी इच्छा करे तो वह दृढ़ रहती है। निश्चय करनेके बाद स्त्री प्रायः डिगती नहीं। तप, व्रत-नियम आदिमें स्त्रियाँ पुरुषकी अपेक्षा दृढ़ निश्चयवाली और बलवान् होती हैं। सहन करनेमें स्त्रियाँ बढ़ जाती हैं। अपनी स्त्री विषयपर विजय प्राप्त करनेके लिये किला है। स्त्रीके सङ्गमें रहकर, यानी स्त्रीका एक-बारगी त्याग न करके धीरे-धीरे भोग-त्याग करना बहुत सुलभ है। देवता तथा ऋषि-मुनि स्त्रीसहित रहते सुने गये हैं। जब अपनी भोग-वासना शिथिल पड़ जाती है, तब स्त्रीका साथ परमार्थके मार्गमें बहुत ही सहायक होता है। भोगका यथार्थ विचार करनेसे भोगेच्छाका शमन होता है। सारे ब्रह्माण्डके जीव मुख्यतः जिह्वा और उपस्थके भोगके पीछे पागल हैं। जिह्वाभोगका अर्थ है—विविध पदार्थोंको विष्ठारूप या मांसरूप बना देनेकी क्रिया। अनेक जन्मोंतक भोजन किया, अनेकों पदार्थ खाये; पर तृप्ति नहीं। मनुष्य भोजन करता है और खा लेनेपर उससे ऊब जाता है। यदि खानेवाला सच्चा हो और खानेका पदार्थ सच हो तो उससे खानेवाला तृप्त हो जाय। परंतु भोक्ता और भोग्य दोनों ही विलक्षण हैं, तब तृप्ति कैसे हो। जीवित मनुष्यका लकड़ीके बनावटी आमसे किस प्रकार पेट भर सकता है?

अपना जीवन भोजन और भोगमें नष्ट हो जाता है, सारे जीवनमें हम दूसरा क्या काम करते हैं? रात-दिन हम काम करते हैं। सबेरेसे रातके दस बजेतक औरतें काम करती हैं और भोजन बनाने, पानी भरने, अनाज सँवारने, भोजन कराने-करने तथा घर-बासन साफ करनेमें काल-यापन करती हैं। जिह्वापर स्वाद तो उतनी ही देरका है, जितनी देर वह पदार्थ जीभपर है। फिर तो वह विष्ठा बन जाता है। एक पलके झूठे स्वादके लिये स्त्रियोंको सारा दिन पूरा कर देना पड़ता है। यदि जीवन चलानेमात्रके लिये ही भोजन होता तो पाव-आध घंटा एक समय भोजनके लिये बस था, शेष समयमें परमार्थ-साधन होता। मनुष्य खानेके पदार्थोंके लिये ही धंधा या नौकरी करता है न? जीवन टिका रहे, इसके लिये तो बहुत थोड़े पदार्थोंकी अपेक्षा है। उसके लिये इतना अधिक श्रम होता ही नहीं। हम तो मोहके पीछे मरते हैं! मनकी इच्छाएँ कभी पूरी होनेकी नहीं हैं; उनको जबतक कम नहीं किया जायगा, तबतक प्रतिदिन अनेकों भोग भोगनेपर भी, मन ऐसा अभागा है कि वह अतृप्त ही रहेगा। तृप्ति, संतोष, अप्राप्तकी अनिच्छा, प्राणी-पदार्थसे सुख-बुद्धिका त्याग हुए बिना कभी शान्ति हो नहीं सकती। सुख उसका नाम है, जिसमें श्रम न हो। शरीरका मुख्य अङ्गप्राण है। जिह्वा और उपस्थके भोगमें प्राणको दूसरे प्रत्येक श्रमकी अपेक्षा

अधिक श्रम करना पड़ता है। इन दोनों भोगोंमें प्राणका क्षय अधिकाधिक होता है। प्राण जीवका प्यारा धन है, जगत्के सारे धनोंकी अपेक्षा बढ़कर है। ऐसा अमूल्य धन इन दोनों भोगोंमें अधिकाधिक नाशको प्राप्त होता है। फिर भी हम कहते हैं कि इनसे मुझको सुख होता है। यह हमारी मूर्खता है। विषय-भोगमें इकट्ठे हुए वीर्यका नाश और पतनके सिवा और क्या विशेषता है? जैसे प्राण जीवनका आधार है, वैसे वीर्य शरीरका आधार है। इस वीर्यको हम भोगमें—क्षणिक भोगमें नाश कर देते हैं। सारा जीवन जीभ और उपस्थके भोगमें नष्ट करते हैं। रात-दिन श्रम, नींद—किसीकी भी परवा न करके झूठ, कपट, चोरी, जुआ आदि अनेक कुकर्म करके इन दोनों भोगोंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते रहते हैं और जीवनके सच्चे साधनका नाश करते हैं। फिर भी हम बुद्धिमान् कहलानेका दम भरते हैं। ये बातें संक्षेपमें लिखी गयी हैं। ये सच्ची बातें हैं, कविकी कल्पना नहीं हैं। विचार करनेपर इनका तथ्य ज्ञात हो जायगा, इनका बारंबार विचार करनेसे भोग-वासना शान्त होती है।

सुख उसका नाम है, जिसके भोगमें थकावट न हो, अरुचि न हो, अभाव न हो। चाहे जितना स्वादिष्ट भोजन हो, पेट भरते ही हमारी उसके प्रति अरुचि हो जाती है। हम उससे ऊब जाते हैं। उसको खाने-पचानेमें हम थक जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिह्वा-रसमें सुख नहीं है। विषय-भोगमें वीर्य गिरते ही हम श्रमित हो जाते हैं। शरीर मलिन और मुख निस्तेज हो जाता है। उसके बाद चाहे-जैसी सुन्दरी स्त्री हो, अनुकूल सम्भोग हो, हमको वह आकर्षक नहीं लगती। इससे जान पड़ता है कि विषय-भोगमें सच्चा सुख नहीं है।

आत्म-सुख ऐसा है, जिसमें लगनेपर हम उसे छोड़ ही नहीं सकते, उसमें हमको रस मिलता है। उसका हमको व्यसन पड़ जाता है। उससे हम ऊबते नहीं, थकते नहीं। इसके विपरीत जीवन, चेतना, शक्ति, स्फूर्ति और आनन्दका अनुभव होता है। आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है, सुखस्वरूप है। चित्तमें इच्छा उत्पन्न होनेके पहले चित्त सुखस्वरूप ही होता है। जगत्में श्रम सुखके लिये नहीं। श्रमके बिना भी चित्त सदा सुखरूप है। जब इच्छा होती है, तब उससे श्रम होता है और उससे दुःख होता है। सुखके लिये श्रमकी अपेक्षा नहीं है। दुःखके लिये ही श्रमकी आवश्यकता है। सुख तो नित्य सुप्राप्त है। इच्छाएँ मनमें न उठें तो बस, अखण्ड सुख है। इच्छा उत्पन्न होनेके पहले चित्तमें इच्छाका अभाव ही रहता है। मैं सुखस्वरूप हूँ, आनन्द-स्वरूप हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, जन्म-मरण-रहित हूँ, अविकारी हूँ, आशा-तृष्णासे रहित हूँ—यह भावना नित्य करे।

प्राणी जो कुछ भी करनेके लिये आग्रह करता है, वह दुःखके लिये ही है। सुखके लिये इच्छा-त्यागके सिवा और कुछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। जिस प्रमाणमें इच्छाका त्याग होता है, उसी प्रमाणमें तुरंत सुखका अनुभव होता है। जो इच्छा करता है, वह भिखमंगा है। जो इच्छा करता है, वह कृपण है। जिसको कभी इच्छा नहीं होती, वही श्रेष्ठ ऐश्वर्यसम्पन्न है। इच्छा बढ़ते-बढ़ते पशुत्व आता है। इच्छा दास बनाती है, परतन्त्र बनाती है।

सारी इच्छाएँ दूसरेसे पूरी होती हैं। इसलिये इच्छा-वाला पराधीन है। पराधीन कभी सुखी नहीं होता। जो इच्छारहित है, वह स्वतन्त्र है। जो अपनेसे संतुष्ट है, वह दरिद्र नहीं है। वह भिखमंगा नहीं है। वह अखिल ऐश्वर्यसम्पन्न है। इच्छा-त्याग अद्भुत शक्ति है। इच्छा-त्यागसे देवत्व प्राप्त होता है। जीव इच्छाके समूल त्यागसे परमात्मा बनता है। इच्छासे जीव और अनिच्छासे परमात्मा होता है। परमात्मा तुम्हें इच्छा-त्याग करनेका बल प्रदान करें।

परम सेवासे कल्याण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारके प्रायः सभी प्राणी दुःखमें निमग्न हैं। दुःखके दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दुःख भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक दुःख' है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक दुःख' है। 'आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय, छल-कपट, अहंता-ममता आदि अध्यात्मविषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सब तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है तथा शरीर और इन्द्रियोंमें होनेवाले रोगोंको व्याधि कहते हैं। एवं पारलौकिक दुःख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुनः इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। इन सभी प्रकारके दुःखोंका सर्वथा अभाव परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमें उसकी आत्मा सब दुःखोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीर-सम्बन्धी दुःखोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता। वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके सङ्ग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्तिपूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है।

श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसीलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही साध्य हैं। अतः साधकको उनके गुण और आचरणोंका लक्ष्य रखकर उनके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतर' कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ।'

अतः सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये । उस सेवाके दो रूप होते हैं— (१) सेवा और (२) परम सेवा ।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी कष्टके कारण जो दुखी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दुःख निवृत्त करके उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है । इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—

(१) कोई बीमार—आतुर व्यक्ति जो सड़कपर पड़ा है, जिसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है ऐसे व्यक्तिको अस्पतालमें भर्ती कराके या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र और दवा, चिकित्सा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना अथवा करवा देना । धनहीन गरीब अनाथ बीमारोंकी सेवा बहुत ही उत्तम है । अतः प्रत्येक भाईको यह सेवा-कार्य करना चाहिये । धर्मार्थ चिकित्सा-संस्थाओंमें काम करनेवाले एवं निष्कामी वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे संस्थामें तो फीस लें ही नहीं; घरपर जाकर भी फीस न लें ।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वयं कर देना या दूसरोंसे करवा देना ।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और स्थान आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना ।

(४) जिनके न माता-पिता हैं न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिग लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान, और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना ।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना ।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो, उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना ।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहिनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है । घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं । इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है । उन विधवाओंके पास जो भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं । यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है । इसलिये माता-बहिनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये चाहे उनका ब्याज कम ही मिले ।

विधवा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमें तथा मन-इन्द्रियोंके संयमरूप तपमें बिताना चाहिये एवं नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उप-

योगी है। बिना घरका काम-धंधा किये भोजन करना त्याज्य है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्तःकरण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना एवं काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम समझते हुए निःस्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहिनोंके साथ उत्तम व्यवहार एवं उनकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुखी, अनाथ, आतुर और गायकी सेवासे भी बढ़कर है। इसके विपरीत उसको कष्ट देना तो महान् हानिकर है; क्योंकि दुखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरनाक होती है।

इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुखी हैं, उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी, स्थान आदिके अभावमें दुखी हों या रोगी और वृद्ध हो जानेके कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनका प्रबन्ध करना।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवमात्रकी रक्षा करना, उनको दुःखसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है।

यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है।

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सब दुःखोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्त्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार हैं। जैसे—

(१) संसारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वकी चीज है। क्योंकि ये सब साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं; किंतु जो मरणासन्न है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद तो हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्‌में लग जाय तो उसका कल्याण उसी समय

हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अतः इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका भी कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो गया; क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है। हम अपना कल्याण नहीं कर सके किंतु हमारेद्वारा किसी एक मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा भी यह जीवन सफल हो गया। हम भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगेंगे, तो भी भगवान् हमारा कल्याण ही करना चाहेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ और अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर रहे हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह काम सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये ऐसा मौका प्राप्त हो जाय तो उसे नहीं छोड़ना चाहिये। लाख काम छोड़कर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ, 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'महाभारत' आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवन-चरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक पुस्तकोंको विवाह-द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना; साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोकहितार्थ वितरण करना-कराना; ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक पुस्तकोंको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना; दूकान खोलकर या लारियों-द्वारा, ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा'में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके—परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः॥

नदियाँ स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते तथा मेघ अपने लिये नहीं बरसता। सज्जनों-की सम्पत्ति तो परोपकारके लिये ही होती है।

विरला जानन्ति गुणान् विरलाः कुर्वन्ति निर्धने स्नेहम्।
विरलाः परकार्यरताः परदुःखेनापि दुःखिता विरलाः॥

विरले ही गुणोंको समझते हैं, विरले ही निर्धनोंसे प्रेम करते हैं, दूसरोंके कार्य-साधनमें तत्पर और परदुःखसे दुखित होनेवाले भी विरले ही होते हैं।

जीवनका उद्देश्य—शान्ति

(लेखक—प्रो० श्रीप्रियदर्शन रामेश्वरम्)

किसी मनुष्यमें शान्तिका होना इस बातका चिह्न है कि उसने जीवनतत्त्वको पहचान लिया है, उसका अनुभव परिपक्व हो चुका है और एक सीमातक उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है।

वास्तवमें हमारे दैनिक जीवनका जो भी रूप बना हुआ है, वह हमारे मनका प्रतिबिम्ब मात्र है। अपने मनसे ही हम इस वर्तमान संसारको साक्षात् नरक बना डालते हैं और यदि चाहें तो इस धरतीको स्वर्ग बना सकते हैं।

अंगरेज विद्वान् शेक्सपियर कहा करते थे कि 'मन एक उद्यान है, जिसमें आप चाहें तो सुन्दर पुष्प विकसित करें, चाहे इसे ऊजड़ पड़ा रहने दें। यदि उसमें अच्छे-अच्छे बीज नहीं डाले जायँगे तो बहुत-से निकम्मे बीज अपने-आप गिर जायँगे और जंगली घास पैदा कर देंगे। बाग़के मालीकी भाँति आप उसमें सद्विचाररूपी पेड़-पौधे लगाइये तथा बुरे और निकम्मे विचारोंको निकाल फेंकिये।'

इसका अर्थ यही है कि मनको लचकदार बनाइये। शान्ति तथा संतोष प्राप्त करनेकी आदत डालिये। आप जहाँ भी हैं, जैसे भी हैं, हजारोंसे अच्छे हैं। यह बात मनसे कदापि न निकलने दीजिये। अपना अस्तित्व मानसिक धरातलपर आधारित कीजिये; क्योंकि मनुष्यको जितना इस बातका ज्ञान होता जाता है कि 'मेरा अस्तित्व मानसिक विचारसे हुआ है' उतना ही वह शान्तचित्त होता जाता है। उसकी सद्बुद्धि बढ़ती जाती है और वह पश्चात्ताप, ईर्ष्या, उग्रता आदिको छोड़कर दृढ़, शान्त तथा गम्भीर बनता जाता है।

व्यक्तिगत अनुभव

जीवनमें अनेकों कठिनाइयाँ भोगनेके पश्चात् 'बुद्धि' का आना स्वाभाविक है। मेरा निजी अनुभव है कि अब मैं पहलेसे काफी शान्तचित्त हो गया हूँ और अपनेको वशमें रखना जान गया हूँ तथा परिणामतः अब मेरी स्वाभाविक इच्छा यह रहती है कि किस तरह दूसरोंकी सेवा करूँ तथा उन्हें लाभ पहुँचाऊँ। किसीके प्रति साधारण-सा उपकार करनेमें, उसे थोड़ी-सी भी सहायता देनेमें जो मानसिक सुख एवं शान्ति मिलती है, उसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन करना प्रायः असम्भव है।

'जैसे भी मिले, मनुष्यको शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जितना अधिक शान्त होते जायँगे, उतना ही अधिक सफलता आपके पद चूमेगी। उतनी ही अधिक भलाई करनेकी शक्ति आपमें उत्पन्न होगी।' बाइबिलके उपर्युक्त वाक्यमें सार भरा है। इसका एक दूसरा पहलू भी है। शान्तचित्त व्यक्तिके साथ सभी लोग आदर तथा प्रेमका व्यवहार करते हैं। प्रसिद्ध अमरीकी मनोवैज्ञानिक एमर्सनके शब्दोंमें शान्तचित्त व्यक्ति एक सूखी और प्यासी भूमिपर छायादार पेड़के समान है। जोरसे पानी बरसे अथवा कड़ी धूप पड़े, उसे इसकी कोई चिन्ता नहीं होती। उसकी शान्ति तथा प्रसन्नचित्ततामें कोई खलबली नहीं होती। उसके मानसिक क्षेत्रमें कभी भूचाल नहीं आता। आनन्द—अथाह आनन्द उसे प्राप्त हो चुका है।

कार्लाइलके सुप्रसिद्ध वचन हैं—शान्ति आत्मोन्नतिका अन्तिम पाठ है। प्रसिद्ध भारतीय संत कबीरदासका एक दोहा भी इसी तथ्यको भलीभाँति प्रतिपादित करता है—

कबिरा यह तनु है तवा तपत सदा त्रैताप।
सांति होत जब सांति पद पावै राम प्रताप॥

यह 'शान्तिपद' वही वस्तु है, जिसे जीवनका फूलना और आत्माका फलना कहा गया है। इसका मूल्य ज्ञान एवं बुद्धिसे भी अधिक है यह स्वर्ण और हीरकसे करोड़-गुना मूल्यवान् है। शान्त व्यक्ति रुपये बटोरनेकी इच्छाको निम्न तथा हेय समझता है। प्रसिद्ध नाविक मैगलेन—जिसने विश्वमें सर्वप्रथम भूमण्डलका नावद्वारा चक्कर लगाया था, जो जीवनभर नाव-जहाजोंपर तथा तूफानी लहरोंपर ही झूलता रहा, एक अत्यन्त शान्तचित्त व्यक्ति था। उससे पूछा गया—इस उथल-पुथलमें तुम्हें शान्ति कैसे मिलती है? तो उसका उत्तर था—'हलचल और उथल-पुथल तो समुद्रके ऊपरी भागमें रहती हैं। मेरा मन तो समुद्रके तहकी भाँति हो गया है, जहाँ सदैव शान्ति स्थापित रहती है, कभी तूफान नहीं आता।'

आजके युगमें, जब कि 'जीवन तथा जीनेकी कला' के विषयमें मनुष्योंको शिक्षित करनेकी प्रथा ही नहीं है, ऐसे करोड़ों व्यक्ति मिल जायँगे, जिन्होंने अपनी जिंदगी-को साक्षात् नरकमें बदल लिया है। अपने तेज स्वभावके कारण उन्होंने क्रोधसे सारी सुन्दरता तथा मधुरिमाका विनाश कर दिया है। उनको सभी शत्रु-ही-शत्रु दृष्टि-गोचर होते हैं। यह बाहरी पहलू रहा। अब ऐसे मनुष्योंके मनकी ओर ध्यान दें तो और भी अधिक चिन्ताकी बात है। इनलोगोंने अपने मनको वशमें न रखनेके कारण अपने जीवनको नष्ट कर लिया है—सुखकी आहुति दे डाली है। वासनाके वशीभूत होकर क्रोधसे लाल-पीले होते रहते हैं तथा शोकके कारण विवश हो-कर रोने-पीटने लगते हैं। भय और चिन्ता छायाकी भाँति सदैव उनके साथ रहती हैं। मनपर उनका कोई नियन्त्रण नहीं होता।

दूसरी ओर उस मनुष्यको देखिये, जिसे 'जीना' आता है। अपने मनको अपनी अवस्थाओंके अनुकूल लचकदार बनाना उसे खूब आता है। मन उसके पूर्ण नियन्त्रणमें उसके विचार शुद्ध एवं पवित्र हो गये हैं। उसने शोकपर आत्मिक विजय प्राप्त कर ली है। आचार्य श्रीरामशर्माके शब्दोंमें उसने इस भूतलको ही स्वर्ग बना लिया है। इस ज्ञानवान् मनुष्यके चारों ओर एक अपूर्व वातावरण बन गया है, जो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है कि आप भी चाहें तो अपने विचारोंसे स्वर्गको नरक और नरकको स्वर्ग बना सकते हैं, दुःखोंमें रहते हुए सुखका अनुभव कर सकते हैं अथवा सब सुखोंके रहते हुए दुखी बने रह सकते हैं।

आइये! जीवनमें एक नया अध्याय प्रारम्भ करें। बुरे तथा गंदे विचारोंको मनसे बिल्कुल निकाल फेंकें। मनमें शान्ति स्थापित करें। फिर देखें कि यही संसार, जिसे आप दुःख तथा आपत्तिका घर समझ रहे हैं, आपके लिये सुखधाम तथा स्वर्गभूमि बन जायगा और जो कुछ आप चाहेंगे, वह आपको मिल जायगा।

स्मरण रखिये! मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ, आप पहलेसे ही इस सत्यसे परिचित हैं। मानसिक शान्तिसे आप सामर्थ्यवान् होते हैं। सबका भला चाहना, सबको अच्छा समझना, सबसे मेल-जोल रखना, प्रत्येक मनुष्यके उत्तम गुणोंको देखना आदि तभी सम्भव है जब आप शान्तचित्त हों। उक्त साधन साक्षात् स्वर्गके द्वार हैं। जो मनुष्य प्रत्येक प्राणीकी ओर मित्र-भाव रखता है और उसके हितकी चिन्ता करता है, उसे अवश्य शान्ति मिलेगी और वह शान्ति चिरस्थायी रहेगी।

स्मरण रखिये कि आप चाहे जहाँ भी हैं, जीवनके समुद्रमें एक नावके समान लहलहा रहे हैं। मनका पतवार शान्तिके साथ दृढ़तासे पकड़े रहिये। चञ्चल, अधीर मत होइये। शान्तिमें शक्ति है, नैसर्गिक बल है। आपको किनारा मिल जायगा; किंतु तबतक आप बार-बार मनसे कहते रहिये— 'शान्त हो, शान्त हो।'

निष्काम कर्म

(लेखक—स्व० श्रीपानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहराव)

आजीवन किसी-न-किसी सत्कर्मका आचरण करना हमारा धर्म है। उसमें हमारी स्वतन्त्रता है। तुम सदा सत्कर्म करो। उसके फलकी चिन्ता मत करो। फलके साधनभूत कर्मका तुम्हें निर्विशेषता और निष्कलमषताके साथ निरालस रहकर आचरण करना चाहिये। तुम प्रयत्नमें सदा अप्रमत्त रहो, जागरूक रहो और पूर्ण श्रद्धा-युक्त रहो। फलकी तुम्हें इतनी चिन्ता क्यों? फल-सम्पादक कर्मका जब तुम पूरा आचरण करोगे, तब उसका फल तुमको क्यों न मिलेगा? जब तुम्हारे अंदर प्रयत्नबल होगा, तब फलकी सिद्धि क्यों न होगी? परंतु सर्वदा फलपर ही ध्यान मत रखो। उसकी प्राप्तिकी अनावश्यक आतुरता छोड़ो। फलसम्पादनमें तुम्हारी जितनी अधिक आतुरता होगी, उतनी अधिक उस कर्ममें दुर्बलता आ जायगी और सम्भव है कि तब फल सिद्ध न हो। एक दिव्य तेजःपूर्ण दीपक जल रहा है, उसको देखते ही आँखें चौंधिया रही हैं। उसके पास पहुँचनेमें जल्दी मत करो। जल्दी-जल्दी जाने लगोगे तो मुँहके बल गिर पड़ोगे। सामनेवाले उस दीपकके कारण बीचका मार्ग अन्धकारमय हो गया है। निरन्तर तैयारीके साथ और नित्य जागरूकताके साथ यदि तुम फूँक-फूँककर चरण रखते जाओगे तो उस दीपकके पास सुखपूर्वक अवश्य पहुँच सकोगे। किसी फलका मनमें निश्चय कर लेनेपर उसकी चिन्ता बिल्कुल छोड़ देनी चाहिये। केवल उसके साधक कर्मोंका सावधानी तथा लगनके साथ आचरणमात्र करते रहना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्रयत्नोंमें सफलता ही होगी। सबमें सफलता ही होती तो क्या पृथ्वी अबतक स्वर्ग नहीं बन जाती? तुम एक कर्म करना चाहते हो। उसके लिये प्रयत्न करते हो। परंतु तुम्हारे उस कर्मकी पूर्ति नहीं होती। क्या तुम जाँचकर देखते हो कि उसकी फल-सिद्धि क्यों नहीं होती? जब तुम उसके कारणका अन्वेषण नहीं करते तो स्पष्ट होता है कि तुम फल-प्राप्तिके लिये पर्याप्त प्रयत्न नहीं करते। सौ कर्मोंमें निन्यानबेतक कर्म प्रायः प्रयत्नाभावके ही कारण निष्फल होते हैं। अतः तुम्हारे लिये प्रयत्न ही प्रधान है, फल प्रधान नहीं है। निरन्तर फलकी वाञ्छा करके तुम प्रयत्नमें त्रुटि कर रहे हो। इसलिये तुमसे फलसिद्धि दूर भाग रही है। धैर्य विलुप्त हो रहा है। तुम सिर पीट-पीटकर रो रहे हो। रो-रोकर उस प्रयत्नका त्याग भी तो नहीं करते। फिरसे प्रयत्न करते हो। तब भी तुममें त्रिकरण-शुद्धि नहीं आती। फलकी आतुरतासे प्रयत्नमें जल्दी करते हो। फिर उसमें विफल होकर रो-रोकर छाती पीटने लगते हो। सुखानुभवकी वाञ्छा करते हो। धनके लिये परिदेवन करते हो। दरिद्राधम होकर देहत्याग करते हो, सर्व-जन-वशीकरणके बड़े-बड़े यत्न करते हो, समस्त-जन-दासतामें रोदन करते हो। दूसरोंको उपदेश देनेके लिये गला फाड़ते हो। दूसरोंकी जूतियाँ खाकर चुप हो जाते हो। संसारभरके पालनकी इच्छा करते हो। भगवान्‌को भी वशमें करनेके लिये रज्जुओंका प्रबन्ध करते हो। दूसरोंके चरणोंका आश्रय लेते हो। अपने घरकी दासीके हाथसे तमाचे खाते हो। यह है तुम्हारे जीवनका क्रम। तुमने कभी सोचा कि इसका क्या कारण है। फलसम्बन्धी तुम्हारी अत्यासक्ति ही इसका कारण है। अतः तुम फलकी आतुरताको छोड़ो। प्रयत्न करते जाओ। पूर्ण प्रयत्न करना ही तुम्हारा धर्म है। फल दैवाधीन है, वह मिले या न मिले। जिसमें ऐसी मनःस्थिरता हो, वही संसारकी यात्रा सुचारुरूपसे का

सकता है। जिसमें त्रिकरण-शुद्धि न हो, वह देहयात्रा चलानेके योग्य नहीं है। प्रयत्नमें तुम्हारी जितनी आसक्ति हो, उतना ही फलत्यागका आग्रह भी होना चाहिये। हमारे पूर्वजोंका कहना है कि प्रत्येक कर्म-फलको श्रीकृष्णार्पण करना चाहिये। केवल तोतेकी तरह रटकर श्रीकृष्णार्पण नहीं करना चाहिये। त्रिकरण-शुद्धिके साथ देवार्पण करना चाहिये। गीताके उपदेश—'फलाभिसंधिसे रहित होकर काम करो'—का सार यही है। यदि तुम ऐसा करते तो तुम्हें दुःख क्यों होता? उत्साहहीनता क्यों आती? धैर्यशून्यता क्यों होती? परंतु तुम अन्यथा आचरण करके संसारमें झोंके खा रहे हो। अपने कार्यनाशका कारण दूसरोंको बता रहे हो। दूसरोंको दोष दे रहे हो। संसारको बुरा बता रहे हो। कालको दुष्काल कह रहे हो। अपने-आपको दोष दो। अपने-आपका तिरस्कार करो। व्यर्थ दूसरोंकी निन्दा क्यों कर रहे हो? प्रयत्न तो तुमने किया। दूसरोंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा? क्या संसार अच्छा नहीं है? तब तुम ऐसे संसारमें क्यों रहे? जब जमाना बुरा है तो तुम कैसे अच्छे हुए? क्या एक तुम्हारे सिवा सारा संसार बुरा है? सुनो! वास्तवमें संसार न तो बुरा है और न अच्छा है। उसपर अच्छाई-बुराईका आरोपण तुम स्वयं कर रहे हो। जितने फलकी तुम्हारी योग्यता होगी, उतनेसे बढ़कर फल तुम्हें कुछ न मिल सकेगा। खूब सोच लो, दोषी तुम हो या संसार? यदि तुम पूर्ण कर्माचरण करते तो तुम्हें उसका पूर्ण फल मिल जाता। वैसा न किया तो सोचो, दोष तुम्हारा है या संसारका? इसके अतिरिक्त एक बात और है। वस्तुतः तुम्हारे अंदर न यथार्थ अनुराग है, न यथार्थ त्याग है और न यथार्थ शक्ति है। तुम अपने पुत्रसे प्रेम करते हो। संसारमें पुत्रसे बढ़कर हितकर वस्तु तुम्हारे लिये और क्या है? यदि वह पुत्र तुम्हारे प्रति तटस्थ रहा तो तुम आँखें निकालने लगते हो। बाहरसे नहीं तो आखिर मनसे उसको शाप देते हो। यदि तुम्हारा पुत्र तुमसे प्रेम न करेगा तो पता नहीं तुम्हारे अनुरागमें कौन-सी कमी हो जायगी? जितना अधिक प्रेम पिता अपने पुत्रपर प्रकट करता है, क्या उतना पुत्र अपने पिताके प्रति कहीं दिखाता है? न जाने जगत्में कितने पिता तुम्हारी तरह रो रहे हैं। तुम संकटके समय किसीकी रक्षा करते हो। धन देकर उसके संकटोंको दूर करते हो। पर यदि वह तुम्हारे प्रति अपनी कृतज्ञता न प्रकट करे तो उसको कोसते हो, कृतघ्न बताते हो, उसको कब्जेमें लानेका प्रयत्न करते हो। तुमने हृदयपूर्वक त्याग करके उसकी रक्षा की है तो फिर तुम्हें उसकी कृतज्ञतासे क्या काम है? हो सकता है कि वह तुम्हारा उपकार भूल जाय। परंतु तुम अपने सत्-स्वभावको क्यों छोड़ते हो? सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारा प्रत्येक कर्म बदलेमें फलप्राप्तिकी अपेक्षासे भरा है। तुम अपने ही लिये दूसरेका हित करते हो। अपने ही लिये दूसरोंपर त्याग करते हो। अपने ही लिये दूसरोंसे प्रेम करते हो। अपने ही लिये दूसरोंकी रक्षा करते हो। यथार्थ प्रेम या त्याग तुम्हारे अंदर है ही नहीं। संसारके महान् कर्मोंमें प्रायः सौमें निन्यानबे कर्म दूकानकी लेन-देनके समान होते हैं। सर्वत्र 'यह लो'—'वह दो'— यही ढंग चल रहा है। भक्तिमें भी तुम्हारा जीवन इसी प्रकार चल रहा है। तुम्हारी भक्ति भी यथार्थ नहीं रही। अपनी पत्नीको सुखसे प्रसन्न हो जाय, इसके लिये सत्यनारायणकथाकी मनौती कर लेते हो। जब देखो, बड़ी-बड़ी इच्छाएँ—अत्यन्त शीघ्र इच्छाओंके पूर्ण होनेकी आतुरता—विफल होनेका रुदन—दूसरोंपर विघ्नदोषोंका आरोपण—संसार और भगवान्पर बुराईके आरोपण—तुम्हारे जीवनका यही सार दिखायी दे रहा है। इतने रुदन और इतने क्रोध-शापोंका कारण क्या है? तुम्हारा अपने किये कर्मके प्रतिफलकी इच्छा ही इसका प्रधान कारण है। यदि तुम प्रतिफलकी इच्छा न करते तो तुमको

यातना किस बातकी होती ? क्यों दूसरोंको दोष देना पड़ता ? क्यों अभिशाप देने पड़ते ? क्यों रोना-धोना पड़ता ? सृष्टिमें जितने जीव हैं, वे सब तुम्हारे भाई हैं। तुम त्रिकरणशुद्ध होकर उनसे प्रेम करो। उनसे बदला पानेकी आकांक्षा मत करो। बदला पानेकी इच्छा करना निन्द्य और निम्नकोटिकी चीज है। वह भिक्षुकके योग्य कर्म है। अतः तुम भले ही मर जाओ, पर किसीके सामने जाकर 'देहि' मत कहो। तुम्हें जो कुछ मिलना है, वह घोर जंगलमें भी मिल जायगा। समुद्रके मध्यसे मिल जायगा। आकाशसे गिरकर मिल जायगा। परंतु तुमको इस बातका निश्चय नहीं है। यह निश्चय पक्का होता तो न तो तुम इतने दुखी होते और न तुम्हारा जीवन इतना भ्रष्ट ही होता। कामना देवी तुम्हारे दाँत तोड़ रही है। फिर भी तुम निर्लज्ज होकर दूसरोंके सामने हाथ पसारते हो। सुनो ! कभी किसी मनुष्यसे कुछ मत माँगो। भगवान्‌से भी कुछ मत माँगो। शक्तिभर सत्कर्म करो। तनिक भी उसके फलकी चिन्ता मत करो। जिस प्रकार पुष्प विकसित होकर, अपना सारा सौरभ पवनमें लुटाकर मुरझा जाता है और जमीनपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार फलापेक्षारहित होकर जन-कल्याणका सत्कार्य करते हुए प्राणत्याग करो। जिस प्रकार मेघ कुम्भवृष्टि—द्रोणवृष्टि—करके धरादेवीको सस्य-श्यामला बनाकर आकाशमें विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम फलकी वाञ्छासे रहित होकर यथासाध्य दूसरोंपर अनुराग प्रकट करके परम पदको प्राप्त करो। ख्यातिकी आकांक्षा करना भी दोष है। जिससे तुम्हारी हानि होती दीखे, ऐसे भी सत्कर्मका निःशङ्क होकर आचरण करो। तुमसे मैं पूछता हूँ—मानव तुम हो या वे रामानुज हैं, जिन्होंने गुरु-तिरस्कार-दोषको भी स्वीकार करके समस्त लोगोंको सबके परम कल्याणकारक मन्त्रराजका उपदेश दे दिया था। मनुष्य तुम हो या वे महात्मा बुद्ध हैं, जिन्होंने अपना वध करनेके लिये आये हुए कुमार्गगामी मनुष्योंको भी सन्मार्गी बनाया था ? मनुष्य तुम हो या वे ईसा हैं, जिन्होंने अपने एक गालपर तमाचा लगानेवालेको दूसरा गाल दिखानेकी बात कही थी ? तुम्हारा जीवन सच्चा है या उस साध्वीका, जिसने अपनी एक ओरके भूषणोंको चोरोंके ले लेनेपर शेष भूषणोंको भी लुटानेके लिये दूसरी करवट ले ली थी ? तुम्हें धिक्कार है। तुम्हारी फलाकांक्षाको धिक्कार है, किसीको एक पाई देकर तुम उससे पूरा रुपया वसूल करना चाहते हो ? कौपीनके बदलेमें कंबल ले लेना चाहते हो ? तुम भगवान्‌के साथ भी यही निन्द्य सौदा करते हो ? ऐसे निन्द्य कर्मोंको अबसे पूरा छोड़ दो, सदा निष्कामभावसे प्रभुप्रीत्यर्थ सत्कर्म करो। फलकी चिन्ता कभी मत करो, प्रयत्नमें कमी मत आने दो। मनुष्य होकर चलो। ऐसा प्रवर्तन करो, जिससे संसारको तुम्हारे अंदर भगवान्‌के तेजके अंशका भान हो। इसी कर्म-रहस्य-तत्त्वको हमारे पूर्वजोंने बताया है।

(अनुवादक—श्रीबुलुसु उदयभास्करम् 'विशारद')

सन्तोऽनपेक्षा मच्चिताः प्रणताः समदर्शिनः। निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्। अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

सन्तजन किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करते, वे मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं, तथा अति नम्र, समदर्शी, ममताशून्य, अहंकारहीन, निर्द्वन्द्व एवं संचय न करनेवाले होते हैं। जो साधुजन तितिक्षु, करुणामय, समस्त प्राणियोंके हितैषी, शत्रुहीन और शान्तस्वभाव होते हैं वे साधुओंमें भूषणरूप हैं।

फिलमोर और उनकी साधना

जो मनुष्य अपने अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी अग्निको जलाये रखता है, कभी उसे बुझने नहीं देता, उसके सारे दोष भस्मसात् होते जाते हैं। उस अग्निके प्रकाशमें उसका जीवन देदीप्यमान होता रहता है। दूसरे लोग भी जो उसके सम्पर्कमें आते हैं, उस प्रकाशमें अपना रास्ता खोज लेते हैं। संसारमें ऐसे महान् पुरुष बिरले ही होते हैं, जो अपने अन्तःकरणमें ज्ञानाग्निको प्रज्वलित रखते हुए दूसरोंके अन्तःकरणमें भी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करनेका जीवनभर प्रयास करते रहते हैं। ऐसे लोक-हिताकाङ्क्षी पुरुषोंमें अमेरिकाके चार्ल्स फिलमोर साहबका नाम बड़े ही आदरके साथ लिया जा सकता है। संसारमें बहुत कम लोग होंगे, जो फिलमोर साहबके समान अपने जीवनको प्रभुप्रार्थनामय बनानेमें सफल हुए हों! वे चौरानबे वर्षतक जीये और उनके जीवनके अन्तिम साठ वर्ष निरन्तर भगवत्प्रार्थनाके अमृत-फलके आस्वादनमें व्यतीत हुए। फिलमोर साहबका निश्चय था कि मनुष्य आनन्दमय प्रभुका अंश है, अतएव मानवजीवन स्वभावतः आनन्दमय है। प्रभुमय जीवनकी अनुभूतिसे ही मनुष्य वास्तविक आनन्दका अधिकारी होता है। भगवत्-महिमासे आँखें मूँद लेनेके कारण ही प्राणी दुःख भोगता है और उसके प्रति जागरूक रहनेसे वह सुखी रहता है। जीवनको प्रभुमय समझकर उसे तदनुकूल यापन करना ही जीवनकी पूर्णता है—इस सिद्धान्तका अनुगमन करते हुए फिलमोर अपने पीछे जो एक आदर्श छोड़ गये हैं, उसको ठीक-ठीक समझनेके लिये उनकी जीवन-साधनापर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

चार्ल्स फिलमोर एक बड़े ही परिश्रमी गृहस्थ थे। बहुत ही साधारण स्थितिसे उन्नति करके वे धन संचयकर एक चाँदीकी खानमें साझीदार हो गये। उनको अपने अनुकूल ही परिश्रम करनेवाली सहधर्मिणी मिल गयी थी—मर्टिली फिलमोर। दोनों दम्पति हृदयके सरल और भगवान्‌में बड़ा पक्का विश्वास रखनेवाले थे। नियमित रूपसे प्रार्थनामन्दिरमें जाना और प्रभु-प्रार्थना करना उनके जीवनका प्रधान अङ्ग था। जिनका हृदय निष्कपट होता है और जो प्रभुकी कृपाके भिखारी होते हैं, उनकी जीवन-नौकाको पार लगानेके लिये प्रभु स्वयं अपने हाथोंमें पतवार ले लेते हैं, किसी दूसरे मार्ग-प्रदर्शककी आवश्यकता नहीं होती।

फिलमोरने अचानक एक स्वप्न देखा। एक अदृश्य आवाज सुनायी पड़ी—'मेरे पीछे आओ।' सपनेमें वे छायाके पीछे-पीछे कंसास शहरकी एक सड़कपर पहुँचे। छाया रुक गयी। आवाज आयी—'तुमको याद होगा कुछ वर्ष पूर्व सपनेमें तुमने इस स्थानको देखा था और तुमको बतलाया गया था कि यहाँ तुम्हें एक काम करना है। फिर याद दिलाया जाता है कि तुमको यहाँ एक काम करना है और एक अदृश्य शक्ति तुम्हारी सहायता-के लिये सदा तुम्हारे पीछे रहेगी।' जागनेपर फिलमोरको याद आया कि कुछ वर्ष पहले उन्होंने सचमुच ऐसा एक सपना देखा था। वे आध्यात्मिक चिन्तनमें लग गये। ईसाई धर्मग्रन्थोंके अतिरिक्त हिंदुओं और बौद्धोंके अध्यात्मका भी उन्होंने गहरा स्वाध्याय किया। उनका विचार था कि सत्य जहाँ कहीं भी मिले, उसे खुले दिलसे ग्रहण करना चाहिये।

एक दिन फिलमोर दम्पति प्रार्थनामन्दिरमें एक नवागत उपदेशकका भाषण सुनने गये। चार्ल्सको ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वक्ताके विचार उनके विचारोंके साथ एक ही स्रोतमें प्रवाहित हो रहे हैं। श्रीमती फिलमोरको एक नयी चीज मिली। वक्ताने बतलाया था कि हमारे जीवनकी चेतना चैतन्यमूर्ति प्रभुका ही अङ्ग है, प्रभुका ही रूप है। श्रीमती रोगपीड़िता थीं

और डाक्टर लोग दवा करके हार चुके थे। घर लौटनेपर उनके मनमें एक ही बात रह-रहकर उठने लगी—'हम प्रभुके हैं; हमको रोग नहीं हो सकता।' उन्होंने सोचा, जीवन तो सर्वत्र है—"नन्हे-से कीड़ेमें है और मनुष्यमें भी है। पर कीड़ा मनुष्य क्यों नहीं बना? कारण यह है कि चेतना होनेमें एक-सी होनेपर भी कीड़ेमें मनुष्यकी अपेक्षा बहुत कम बुद्धि है। बुद्धिके साथ ही चेतना शरीरका निर्माण करती है। चेतना एक प्रकारकी शक्ति है और उस शक्तिकी प्रेरणा बुद्धिके द्वारा होनी चाहिये। हम अपनी बुद्धिको चिन्तन और भाषणके द्वारा व्यक्त करते हैं। इसलिये शरीरके प्रत्येक अंशमें व्याप्त चेतनाके बारेमें हम सोच सकते हैं, उससे बातें कर सकते हैं।" रोगसे त्राण पानेका एक नया नुसखा मिला। उन्होंने चिन्तन करना आरम्भ किया कि 'मेरे शरीरके अणु-अणुमें चेतना—प्रभुकी शक्ति व्याप्त हो रही है। उसके पास रोग कैसे टिक सकते हैं, दोष कहाँ ठहर सकते हैं।' बस, रोग छू-मन्तर होने लगे। उसने प्रभुसे प्रार्थना की—'भगवन्! आपकी चेतनाको मैंने अपने शरीरमें धारण कर उसे भ्रष्ट कर दिया है, इस मेरे घोर अपराधको क्षमा कीजिये। प्रभु! मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि आपकी परम पवित्र सत्ता यानी मेरे शरीर और मनमें व्याप्त चेतनाको स्वतन्त्र रूपसे सचाई और पवित्रताके बीच प्रवाहित होने दूँगी, दूषित चिन्तन या भाषणके द्वारा उसकी गतिमें अवरोध पैदा न करूँगी। प्रभु! आपकी सत्ता यानी चेतनाका उपयोग मैं अपने चिन्तन और भाषणमें करती हूँ। इन्हें परम पवित्र बनाये रखनेकी चेष्टामें मेरी मदद करो, पतितपावन!

प्रभु-प्रार्थनाके बलसे श्रीमती फिलमोरके रोग दूर हो गये और उनको नवजीवन प्राप्त हुआ! कहाँ तो डाक्टरोंने उन्हें जवाब दे रखा था, और कहाँ उनको स्वल्प कालमें ही प्रभुकी कृपासे अपूर्व स्वास्थ्य-लाभ! इस अद्भुत चमत्कारको देखकर लोग दंग रह गये! प्रार्थनाकी असीम शक्तिमें उनका विश्वास जम गया। उनकी देखादेखी रोग-निवारणके लिये प्रभुकी कृपाके भिखारी बढ़ने लगे। श्रीमती फिलमोरको लोक-सेवाका एक बिल्कुल ही नया रास्ता मिल गया!

चार्ल्स फिलमोरने अपनी धर्मपत्नीके इस चमत्कृत चरित्रको देखा और वे उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। उन्होंने सोचा कि संसारके सभी धर्मोंके संतोंने प्रभुको सर्वव्यापी और चेतनस्वरूप बतलाया है, अतएव वे हमारे निकटतम हैं; वे आत्मस्वरूप हैं तो हमारी आत्मा हैं। ऐसी अवस्थामें हम उनसे बातें कर सकते हैं और वे हमारी बातें सुन सकते हैं। इसमें किसीको संदेह नहीं होना चाहिये।' इसके बाद वे प्रतिदिन रात्रिमें एक निश्चित समयपर अकेले बैठ जाते और यह अनुभव करनेकी साधना करते कि 'हमारा मन प्रभुकी चेतनासे ओतप्रोत है।' महीनों उनकी यह साधना चलती रही। उसके बाद ऐसा समय आया कि उनको सच्चे सपने दीखने लगे। पहले तो उन्होंने उसपर ध्यान न दिया; पर जब उन्होंने देखा कि सपनेमें जो घटना उन्हें दीख पड़ी थी, वह ज्यों-की-त्यों प्रत्यक्ष घटित हुई, तब उनको अपनी साधनाकी गुह्य शक्तिपर विश्वास बढ़ा और यहींसे उनका जीवन सत्यकी अनुभूतिके मार्गमें उतरा। फिलमोर अधूरा दिल लेकर चलनेवाले जीव न थे। एक बार जब उनको सत्यकी अनुभूतिका प्रकाश दृग्-गोचर हुआ, तब वे पूरी शक्तिके साथ उस ओर मिल पड़े। उन्होंने अपनी स्त्रीको तथा औरोंको प्रभु-प्रार्थनाके बलसे स्वास्थ्य-लाभ करते देखा था। यह एक दूसरा सत्य भी उनके सामने प्रत्यक्ष प्रमाणित होते दीख पड़ा। लोगोंमें उसके प्रचारकी प्रेरणा उनके मनमें उठी और उन्होंने 'माडर्न थाट' (अभिनवविचार) नामक एक मासिकपत्र निकाला। उस पत्रके द्वारा मनको पवित्र और स्वस्थ रखनेका अभ्यास करने तथा मनकी एकाग्रता-

के साधनको बढ़ानेकी शिक्षा दी जाने लगी। दो वर्षके बाद एक दिन वसन्त ऋतुमें फिलमोर-दम्पति अपने छात्रोंके साथ सायं-प्रार्थनामें बैठे थे। जब वे चुपचाप—मौनावलम्बन किये बैठे थे, चार्ल्स फिलमोरके मनमें अचानक 'यूनिटी' शब्द आविर्भूत हुआ। वे उछल पड़े—बस, यही शब्द है, हमारे अनुष्ठानका लक्ष्य यही है, हम इसी शब्दकी खोजमें थे। आगे चलकर इसी 'यूनिटी' (मिलन) शब्दको केन्द्रित करके फिलमोर दम्पतिने अभिनव आध्यात्मिक साधनका एक महान् आन्दोलन खड़ा कर दिया।

'सोसायटी आव् सायलेंट यूनिटी' (मौन-मिलन-समाज) नामक एक संस्था स्थापित की गयी और उसका मुखपत्र 'यूनिटी' प्रकाशित किया गया। उस पत्रका एक मात्र लक्ष्य था आध्यात्मिक साधनाका प्रसार; उसमें व्यावसायिक विज्ञापनोंके लिये स्थान न था। श्रीमती फिलमोरने एक संडे-स्कूल (रविवार-विद्यालय) खोला और बच्चोंके लिये एक 'वी विज्डम' नामक मासिक पत्र निकाला।

इस सोसायटीने अमेरिकामें आध्यात्मिक साधनाका जो मार्ग प्रदर्शित किया, उसके तीन मुख्य स्तम्भ थे—सत्सङ्ग, ध्यान और प्रार्थना। दैनिक प्रार्थनाके लिये सबेरे ८ बजे और रातको ९ बजे सोसायटीके सदस्य यानी साधक-वृन्द इकट्ठे होते। एक साथ प्रार्थना करनेके बाद कुछ समयतक निस्तब्ध—मौन साधनका नियम था। दिनमें एक बार फिलमोर साहबका प्रवचन होता। मौनकालमें प्रभुकी सत्ताकी यानी चेतनाकी पूर्ण अनुभूतिमें साधक तल्लीन हो जाते थे। यही उनकी ध्यान-साधना थी। 'प्रभुकी सर्वव्यापिनी चेतना शरीर और मन-प्राणके अणु-अणुमें व्याप्त है, हमारी जीवन-चेतना उसी प्रभुकी चेतनाके असीम सागरकी एक हल्की तरङ्ग है, उस तरङ्गसे हमारा सारा आन्तरिक और बाह्य जीवन परिप्लावित हो रहा है। इसके प्रत्येक अवयवमें अभिनव आनन्द और पवित्रताका संचार हो रहा है। प्रभु आनन्दमय हैं, पवित्रतम हैं। हमारे लघु मानव-जीवनमें उनकी असीम कृपाकी धारा प्रवाहित हो रही है और हम कृतार्थ हो रहे हैं।' यह था उनकी अनुभूतिका आधार। इसके बाद 'सायलेंट हेल्प' (मौन-अनुग्रह) का कार्यक्रम होता, यह भी उनकी मौन-साधनाका एक अङ्ग था; बल्कि इसको मुख्य अङ्ग कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस मौन प्रार्थनाके द्वारा व्यक्तिविशेषका रोग-निवारण किया जाता था। रोगी अपने रोगके विषयमें 'यूनिटी' के प्रधान ऋत्विक् फिलमोर साहबके पास लिखते थे और मौन प्रार्थना-कालमें सब साधक एक साथ उसके निवारणके लिये प्रभुसे प्रार्थना करते थे। रोगीके साथ साधक-मण्डलीकी समकालीन सामूहिक प्रार्थनासे प्रभुका अनुग्रह प्राप्त होता था और वह रोगी स्वास्थ्य-लाभ करता था।

प्रार्थनाकी इस अपूर्व शक्तिका प्रभाव देखकर अमेरिकामें विभिन्न स्थानोंमें 'यूनिटी' के केन्द्र खुलने लगे। सब केन्द्रोंके लिये रातकी प्रार्थनाका समय नौ बजेके स्थानमें बारह बजे कर दिया गया। 'यूनिटी' पत्रिकाके ग्राहकोंकी संख्या तेजीसे बढ़ने लगी। दुनियाँके दूसरे मुल्कोंमें भी प्रचार बढ़ा। 'यूनिटी' और 'वी विज्डम' की लाखों-लाखों प्रतियाँ खपने लगीं। इनके अतिरिक्त 'यू', 'डेली वर्ड', 'गुड बिजिनेस' आदि दूसरे पाँच पत्र क्रमशः इस सोसायटीके द्वारा प्रकाशित होने लगे। नयी दुनियाँमें एक अभिनव आध्यात्मिक साधनाकी धारा बह चली।

आज फिलमोर दम्पति संसारमें नहीं हैं। 'यूनिटी' संस्थाके प्रधान संचालक उनके ज्येष्ठ और सुयोग्य पुत्र श्रीलावेल फिलमोर हैं। संस्थाके पास अपना निजी विशाल प्रार्थना-गृह, विशाल प्रेस तथा यूनिटी सेवाश्रम है। हजारों केन्द्रोंमें उनके अलग-अलग प्रार्थना-गृह हैं। लाखों आदमी फिलमोरकी साधनासे प्रभावित होकर प्रार्थनामय

जीवनका आनन्द ले रहे हैं। हजारों आदमी मौन प्रार्थना-की शक्तिसे स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। यह सब फिलमोर साहबके विश्वासका चमत्कार है। भगवान्‌में उनका अटूट विश्वास था। वे अपनेको तथा सारे विश्व-मानवको भगवान्‌का पुत्र मानते थे; अतएव उनकी दृष्टिमें जो स्थान एक श्वेताङ्गके लिये था, वही स्थान काले-कलूटे नीग्रोके लिये था। समदर्शिता, अहैतुक प्रेम आदि अनेक दैवी गुणोंका उनमें अच्छा विकास हुआ था। यूनिटी-आन्दोलनके द्वारा फिलमोरने अपने अमर जीवनका एक विशुद्ध आदर्श विश्वकी आनेवाली पीढ़ियोंके लिये रख छोड़ा है।

रूप-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

परब्रह्मका प्रधान अभिधान है—परम पुरुष। जो विश्वात्मा, विश्वपति तथा विश्वातीत तत्त्वस्वरूप है, वही पुरुष है। वैदिक ऋषि विश्वमानवको आह्वान करके तारस्वरसे घोषणा करते हैं—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'

यह पुरुष सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् है। निश्चय ही सहस्रशीर्षा आदि वर्णन समष्टि-वैभवकी दृष्टिसे हैं; क्योंकि—

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥

(श्रीमद्भा० २।६।१५)

वह फिर जब बाह्य विश्वब्रह्माण्डरूपमें अपने त्रिगुण वैभव, अपनी अव्यक्त सत्ताको अभिव्यक्त करता है—'गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः'—गुणाश्रित होकर भी अनन्त त्रिगुणशक्तिके प्रभावको प्रकट करता है, तब भी अपने पुरुष-तत्त्वसे विच्छिन्न नहीं होता। तब भी वह विराट् पुरुष रहता है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

(मुण्डक २।१।४)

यह पुरुष ही गीतामें स्वरूपत्रयसम्पन्न है—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम। वही भागवतका लीला-पुरुषोत्तम है—

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्। (१०।२३।३६)

परब्रह्म परमेश्वर पुरुष ही है—इस विषयमें शास्त्रकार, सिद्ध योगी, मुनि आदि कोई भी किसी प्रकारका संशय नहीं प्रकट करते। अब यह जिज्ञासा होती है कि इस परब्रह्म पुरुषका, इस ब्रह्मण्यदेवका स्वरूपरूप, नित्य तत्त्वरूप क्या है? गीतामें अर्जुनके 'शाश्वतं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्' श्रीकृष्ण वासुदेव हैं। श्रीकृष्ण ही आदिदेव हैं—'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'। वे ही विभु हैं अर्थात् भूमा पुरुष हैं। वे ही शाश्वत पुरुष तत्त्व हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—इसकी आलोचना यहाँ नहीं करेंगे। श्रीगोपालतापनी-श्रुति परमेश्वरके नित्य रूपके ध्यानके प्रसङ्गमें कहती है—'द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्'। द्वारकामें, हस्तिनापुरमें श्रीकृष्णभगवान् चतुर्भुज और द्विभुज हैं। कभी चतुर्भुज हैं, कभी द्विभुज हैं। नित्य तत्त्वमें श्रुतिकी ध्यानदृष्टिमें वे चतुर्भुज नहीं हैं, द्विभुज हैं।

श्रीकृष्ण या श्रीनारायणकी 'कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधर' की बात मैं पीछे कहूँगा। पहले यह जानना है कि 'पुरुष' क्या वस्तु है। पुरुष मानव-मूर्ति है। 'मर्त्यलिङ्गमधोक्षजः' पुरुष मानवाकृति नहीं, अन्य रूप है—ऐसी धारणा नहीं की जा सकती। भागवतमें कहा है—'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्' (११।२०।१७)—नरमूर्ति सब मूर्तियोंका आदर्श है।' सभी जीवाकृतियोंकी मूल प्रतिमा है। निम्नतम जीव-समूह मानव-मूर्तिप्राप्तिके लिये क्रमशः ऊर्ध्वपथ आरोहण करके अग्रसर होते जा रहे हैं। अथवा इस मूर्तिकी भूमिसे अवरोहण करके दूर-दूर चले जा रहे हैं। मुख्य मानवाकृतिके सहस्रों विकृत भावोंसे सहस्रों जीवोंका आविर्भाव हो रहा है। जीवके क्रम-विकासकी जो विवर्त्तन-क्रिया है, जो लाखों वर्षोंका समुन्मीलन-क्रिया-प्रवाह है, उसकी पराकाष्ठा है मानवदेह। इसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर, पूर्णतर, सर्वाङ्गसुन्दरतर देहकी कोई कल्पना नहीं कर सकता। सबका अन्तःकरण, समस्त ज्ञान-विज्ञानका विचार मानवदेहको ही सर्वोत्तमरूपमें स्वीकार करता है।

निखिल देह-विभागके विन्यास और विकासमें मानव-देह ही Ne plus ultra. 'परं न यत्परम्' है—जिससे बढ़कर, जिसके बिना और कोई प्रियतर, मनोज्ञतर नहीं है। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

हमने तैत्तिरीय-श्रुतिमें देखा है कि जीव-जीवनके अन्तर्गत सारे ही तत्त्व पुरुषाकृति हैं, पुरुषविध हैं। देह, प्राण, मन, ज्ञान, आनन्दको लेकर समुन्नत जीव पञ्चव्यूहात्मक होता है। देहमें, प्राणमें, मनमें, ज्ञानमें, आनन्दमें—विभिन्न भावोंमें जीव पुरुषविध है। अर्थात् देह जैसे पुरुषाकार है, प्राण भी वैसे ही तथा मन, ज्ञान, आनन्द भी वैसे ही पुरुषाकार हैं। क्या यह मूर्ति सबकी आद्य मूर्ति है? निश्चय ही देहसे प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द नहीं होते। आनन्द ही मूल तत्त्व है, आद्या-शक्ति है। आनन्दसे सब तत्त्वोंका उद्भव है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' वह आनन्द पुरुषविध है।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्यतर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव।

अर्थात् यह आनन्द मूर्तिमान् है—पुरुष-मूर्ति है अर्थात् मानव-मूर्ति है। इस नराकृति परमानन्दके सम्बन्धमें भागवत कहता है—

'केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्।'
(१०।३।१३)

सब आत्माओंका आत्मा, सच्चिदानन्द परब्रह्मतत्त्व मूर्तिमान् है। यह सब शास्त्रोंकी पहली बात न होकर भी अन्तिम बात है, अन्तिम सिद्धान्त है।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' से 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' होकर 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'

—इस विकासमार्गसे ब्रह्मतत्त्व बहुत दूरतक वक्रगतिसे घूमता हुआ अग्रसर होता है। अन्तमें बृहदारण्यक-श्रुति रहस्यका द्वार खोल देती है—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। × × स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। ××ततो मनुष्या अजायन्त। (१।४।१,३)

सृष्टिके पूर्व यह विश्व आत्मा मात्र था। 'इदम् अग्रे आत्मा आसीत्'—यह पहले आत्मा था। यह आत्मा पुरुषाकार था, पुरुषविध था। पुरुषको अकेले-अकेले बहुत ही निरानन्द लगने लगा। पुरुष आनन्दस्वरूप होकर भी आनन्दके अभावका अनुभव करने लगा। यह जो आनन्दके अभावका अनुभव है, यह आनन्दका स्वभाव है; क्योंकि आनन्द प्रीतिमय है। प्रीतिका स्वभाव है अपनेको विलीन कर देना। प्रीति अपनेको दान करके ही पूर्ण होती है। अपने-आपमें पूर्ण होकर भी वह अपूर्ण है। 'एकाकी न रमते'—यह सृष्टिकी मूल मन्त्रशक्ति है। परब्रह्मके हृदयमें कामना जाग्रत् हुई। 'समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम्' तत्त्व होकर भी वह कामनासे चञ्चल हो उठा। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि'। सबसे आगे सर्वोपरि कामका उद्बोधन हुआ। 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।' उसने कामना की—मैं बहुतरूपमें बहुप्रज होकर अपनेको व्यक्त करूँगा। 'सोऽकामयत' कहकर ही तैत्तिरीय-श्रुति कहती है—'स तपोऽतप्यत्'—परब्रह्मकी कामना ही तपस्या है। पूर्णकामकी कामना ही तपःक्लेश है। जो प्रीति या अनुराग है, वह निरवच्छिन्न आनन्द नहीं है। आनन्दकी अपेक्षा गहन और गम्भीर भावशक्ति है, निबिड़ आनन्द-वेदना है। ब्रह्मकी तपस्या यही स्वरूपान्तर्गत प्रेमानन्द-वेदना है। 'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।' आनन्द ही निरानन्द है, वही तपस्या है, वही सृष्टि है, वही विसर्जन है, वही कर्म है। यह जीवाविर्भाव-तत्त्व है। 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'—यह परमेश्वरका आत्मविसर्जनमय यज्ञ है। 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।' इस सुगभीर श्रुति-वाक्यके अर्थ-रहस्यका यहाँ समाधान करना होगा।

विश्वका तथा विश्वातीत वैकुण्ठादि धामका जो परम-तत्त्व, परमकारण तथा परमाश्रय है, वह पुरुषविध अर्थात् पुरुषाकृति है। सब कारणोंका कारण रम्य-रूपमय पुरुष है। जो 'लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' है, वह एक ही समय गुप्तरूप तथा व्यक्तरूप है। एक ही समय 'योगमाया समावृतः' (गीता), 'त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतिः' (श्रीमद्भा० १०।१६।४२) और 'अनावृतप्रकाशः', 'पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः', 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद् भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहः।' आदि उपनिषद्-साहित्यमें प्रायः सर्वत्र ही अनभिव्यक्त ब्रह्मविषयक वाक्य हैं। रूपको अनिरूपित रखकर ब्रह्मशक्ति, ब्रह्मविभाव, ब्रह्मानुभव प्रकार आदिका ही विवरण, विवृति, विचार उपनिषद्के ऋषियोंने प्रकट किया है। तिलमें जैसे तेल, दधिमें जैसे घी, काष्ठमें जैसे अग्नि रहती

है, वैसे ही ब्रह्म विश्वमय होकर विद्यमान है। वह अनन्त है, वह आत्मा है, विश्वरूप है, सत्य है, ज्ञान है, गुहाहित, गह्वरेष्ठ, पुरातन, दुर्दर्श, गूढ़ और अनुप्रविष्ट है। वह मनोमय, प्राणशरीरनेता तथा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः' है। वह सर्ववित्, सर्वकर्मा, सर्वकाम और अकर्त्ता है। वह सर्वरस, सर्वगन्ध है। वह ज्योति है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' वह 'हिरण्मये परे कोशे' ध्यानयोगद्वारा दर्शनीय है। चन्द्र-सूर्य उसके चक्षु हैं, वह तडिद्गर्भ मेघकी कान्तिवाला है! वह अज, ध्रुव, देव, विशुद्ध, 'प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः' है। वह अग्निमें, सलिलमें, ओषधि-वनस्पतिमें है। 'स एको आलवानीशत ईशनीभिः' है। वह अचल होते हुए भी मनसे भी द्रुतगतिवाला है। देवगण नित्य उसके पीछे दौड़ते रहते हैं, तो भी उसे नहीं पकड़ पाते। इत्यादि रूपमय ब्रह्मके अरूप-वर्त्ममें अनन्त प्रकारकी उपलब्धिकी प्रणाली श्रुति प्रकट करती है।

यह ज्ञानमार्गकी ब्रह्मानुभावना है। परब्रह्मको जानने, समझने, धारण करनेमें इसी धाराका अनुसरण करना पड़ता है। ब्रह्मकी इस कल्याण-गुणावली, इस सुविमल विशेषण-समूहका अनुशीलन-अनुधावन करते-करते साधक भूल जाता है कि ब्रह्मरूपदर्शनमें ही सब साधनोंकी सार्थकता है। दर्शन ही प्राप्ति है। और जो कुछ है, सब अनुमानके आकाशपुष्पकी माला है। ज्ञान-मुग्ध साधक अमृतदुग्धरसपानकी बात भूल जाता है ज्ञानके शुष्क आनन्दके संशोषण, सम्मोहन, स्तम्भनके प्रभावमें; परंतु श्रुति तथा श्रुतिके द्वारा अनुगृहीत तत्त्वदर्शी ऋषि रूपकी बात नहीं भूलते। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' उनका मूल-मन्त्र है। 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'—इत्यादि ऋषिकी परमाकांक्षाका दिग्दर्शन है। 'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयः,' 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्,' 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' 'तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'। यह रूप, यह ज्योति तथा इसके दर्शनकी बात श्रुति कभी भूलती नहीं। प्राचीन ऋषि भी नहीं भूलते।

रूप ही तत्त्व है, तत्त्व ही रूप है। अरूप तत्त्व नहीं है। रूप और अरूप, इन दोनों मार्गोंपर चित्तका भाव-प्रवाह चलता है। अरूप कभी रूप-भावनाका द्वार खोल नहीं सकता। परंतु रूप अरूप-भावनाके नाना स्रोतमें अपने प्रभावको प्रकट कर सकता है। रूपके अनन्त प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छायाएँ हो सकती हैं। एक रूपके, एक रूपमय तत्त्वके अनेक प्रभाव, अनेक विभाव, अनेक वैभव, अनेक भाव, अनेक शक्तियाँ, अनेक गुण तथा अनेक क्रिया होती हैं। रूपसे भिन्न भावमें विभावित होनेपर ही सब कुछ अरूपमें परिणत होता है—रूपमयके स्वरूपसे भिन्न होकर, केवल चिन्तनमात्र होकर निराकार हो जाता है, abstract concept हो जाता है। विभिन्न विभाव-भावनाकी छायामें—जिसका विभाव होता है, उसके रूपकी किरणें आच्छन्न हो जाती हैं। गुण गुनते-गुनते रूपकी वर्णावली याद नहीं रहती। रूप विस्मृत होनेपर गुणकी रश्मियाँ धीरे-धीरे बुझकर हवा हो जाती हैं और अन्तमें निर्गुणके—निर्विशेषके आकाशमें विलीन हो जाती हैं। रूपानुभूतिके रससे ही गुण फूलके समान फुल्ल रहता है, अन्यथा झड़कर दार्शनिकके अनादरकी धूलिमें लोटता है। ब्रह्म और साधक दोनोंका प्राण, सत्ता और संजीवन यह रूप है। ब्रह्मका रूप प्रतिष्ठित होते ही वह अपरिमित शक्ति-सौन्दर्य-सम्पदासे समृद्ध हो उठता है और तत्तत् ब्रह्म-वैभवके यत्किंचित् भावनाके प्रभावसे ही साधकका हृदय नव-नव भावरसमें तरङ्गित होता रहता है। मायाबन्धन छिन्न होना चाहता है। रूपका प्रत्याख्यान होनेपर 'रूप मिथ्या है' यह अकल्याणकारक ज्ञान प्रबल होता है और तब अन्धकार और शून्यकी यात्रा आरम्भ होती है। आनन्दकी किरणें, अमृतरसकी राशियाँ एक-एक करके बुझने लगती हैं। ब्रह्म-वैभव-भावनाके, पूर्णैश्वर्यतत्त्वावशीलनकी स्वास्थ्य-सम्पद्में क्षयरोग—यक्ष्मा प्रवेश करता है। चिन्तन-समृद्धि दिन-दिन क्षीण होती रहती है। ज्ञान-विज्ञानकी दरिद्रता दार्शनिक गर्वके, शून्य वेदान्तिक दम्भके उच्च प्रस्तरासनपर उपवेशन करके अन्तमें विशीर्ण होकर निर्वाणको प्राप्त होती है। जो दुर्बुद्धिवश रूपतत्त्वका परिहार करके निर्विकल्पतत्त्वके पथके पथिक बनते हैं, समस्त वस्तु-तत्त्व ही उनका बहिष्कार करके चले जाते हैं। वे नेति-नेति-भावनात्मक महाशून्य ब्रह्माकाशमें अपनेको उड़ाकर कृतार्थ होते हैं।

विश्व अनन्तरूपसम्पन्न है। समस्त अव्यक्त शक्तियाँ किसी-न-किसी सुयोग्य अथवा सुरम्य रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करती हैं। उत्पतनशक्ति विहङ्गमें अभिव्यक्त होती है। संतरणशक्ति मछलीमें, गुञ्जनशक्ति मधुपमें, ऊर्णाजालवयन-शक्ति ऊर्णनाभमें, पत्र-पुष्प-प्रकाशशक्ति वृक्षमें, वर्ण-गन्ध-संकलनशक्ति पुष्पमें, कलकूजनशक्ति कोकिलमें, विषदंशन-शक्ति सर्पमें, चारुनर्तनशक्ति मयूरमें अभिव्यक्त होती है। जगत्में जो कुछ देखा जाता है, सब किसी-न-किसी अव्यक्त

शक्तिका प्रकट प्रकाश है। निखिल शक्तियाँ जिस पराशक्तिसे संचारित होती हैं, वह पराशक्ति रूपमयी है। जगत्‌की सारी संचारणशक्ति, सारी सृजनशक्ति, सारी प्रवर्त्तन-प्रगतिशक्ति आद्यरूपशक्तिसे प्रवर्तित होकर, दुरन्तरूपाकाङ्क्षासे प्रणोदित होकर पुनः-पुनः नव-नव-रूपप्राप्तिके अभियानमें प्रतिपल चल रही हैं। रूपाकाङ्क्षामें ही शक्ति अनुप्राणित होती है, dynamic बनती है।

'प्राकृत विश्व ही रूपका राज्य है। अप्राकृत आनन्द ब्रह्मका असीम साम्राज्य है, सब आकाशवत् शून्य है, अमूर्त्त-शक्तिसिन्धु अथवा अनन्त अनिर्वचनीय सत्तामात्र है—यह दार्शनिक समाजका एक निदारुण संस्कार है। प्रकृति जब रूप-रङ्गिणी है, रूप-प्रकाशिनी है, तब पुरुष निश्चय ही रूपवर्जित, अरूप, निराकार है—यह अनुमान मिथ्या है।

'अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'—इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रकृतिकी रूप-घोषणा करते हैं। परंतु प्रकृति तो पुरुषकी छाया है। 'छायेव यस्य भुवनानि बिभर्त्ति दुर्गा।' पुरुषकी रूपशक्तिके संचारके द्वारा ही प्रकृति रूपवती है। पुरुषके प्रभावसे जैसे प्रकृति चेतन होती है, अन्यथा वह अचेतन है, जडरूप है, वैसे ही पुरुषरूप प्रभावमें ही प्रकृति विचित्ररूपसम्पन्ना होती है। विश्व जैसे रूपमें परिपूर्ण है, मूर्त्ति-विलसित है, ब्रह्मलोक भी उसी प्रकार रूप-परिपूर्ण है, मूर्त्ति-विलसित है। ब्रह्मधाम शून्यधाम नहीं है, पूर्ण है। उस पूर्णताके तत्त्वको श्रुति स्पष्टाक्षरोंमें व्यक्त करती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

'यह राज्य जैसे परिपूर्ण है, वह राज्य भी वैसे ही परिपूर्ण है।' श्रुति इस प्रकार न कहकर 'वह राज्य जैसे पूर्ण है, यह राज्य भी वैसे ही पूर्ण है' इस प्रकार कहती है। इस वाक्य-विन्यासका विशेष तात्पर्य है। वह राज्य जैसे पूर्ण है, यह राज्य भी वैसे ही पूर्ण है—अर्थात् तदनुसार ही पूर्ण है, अर्थात् उस राज्यका छायानुपाती है। उस राज्यके सुदूर प्रतिबिम्ब-विज्ञानसे यह राज्य निर्मित और रूपाकृत हुआ है। छान्दोग्य-श्रुति कहती है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ×× चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि—इति··।

श्रुति प्रकट करती है कि ब्रह्मतत्त्व श्याम है और ब्रह्मलोक शबल है अर्थात् विचित्र रूप-सामग्री-शोभासे सम्पन्न है। ऋषिके प्राणकी आशा है कि वह श्याम ब्रह्मके शरणापन्न होकर सर्वतोभावेन सत्त्वशुद्धि लाभ करके, समस्त मायामालिन्य-से विहीन होकर शत-शत-काम-रम्य शोभासामग्री-सम्पत्तिसे सम्पन्न ब्रह्मधाममें प्रवेश करे। तैत्तिरीय उपनिषद्‌के प्रारम्भमें भी यही तत्त्व प्रकाशित हुआ है। जो ब्रह्मविद्यामें पारदर्शी होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है, वह सर्वज्ञ परब्रह्मका सहचर (सहचरी) होकर ब्रह्मलोकमें 'सर्वान् कामान् अश्नुते'—सब प्रकार-के वाञ्छित विषयोंका उपभोग करता है। जिसके साहचर्यमें आनन्द-विलास रस-सुखसम्भोग सम्भव है, वह ब्रह्मतत्त्व कभी निराकार, नीरूप नहीं है; वह निश्चय ही रसमय, रूपमय पुरुष है। अथर्वश्रुतिने ब्रह्मको पहले ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' कहकर वर्णन किया है। साथ ही यह भी कहा है कि उस ब्रह्मको जो हृदयगुहामें—हृदयदेशमें उपलब्ध करते हैं, अध्यात्मयोगको प्राप्त करते हैं, वे ही उस ब्रह्मके साथ विविध प्रकारका आनन्द उपभोग करते हैं।

अतएव जो सत्यस्वरूप है, ज्ञान-विज्ञानमय तथा अनाद्यनन्त है, वही रूपवान् है, रसरञ्जित है; वही रूपब्रह्म है, रसब्रह्म है,—

'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

रस ही तत्त्व है, रस ही रूप है; आनन्द ही तत्त्व है, आनन्द ही रूप है। रूप ही तत्त्व है, तत्त्व ही रूप है; जो अरूप है, वह विज्ञान-विजृम्भण मात्र है। रूप माया-विलसित है—यह बात स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है; क्योंकि रूप-मयका नित्य रूपरस विलास-वैभवका आयोजन करनेके लिये रूपमयकी अपनी अन्तरङ्गाशक्ति योगमाया सर्वदा व्याप्त रहती है।

अरूप ब्रह्मके अनुशीलनद्वारा जो ब्रह्म-निर्वाण मुक्तिके रथपर आकाशमें आरोहण करते रहते हैं, अन्ततक 'अहं ब्रह्मा-स्मि' भावना ही उनके मुक्ति-पथका विघ्न बनी रहती है। 'अहं ब्रह्मास्मि'के कारण वे ब्रह्मतत्त्वसे विच्युत होकर अहंकारतत्त्वमें अथवा बुद्धितत्त्वमें बद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मको हटाकर बुद्धि-रूपिणी माया साधकके चित्तपर अधिकार कर बैठती है। तब धीरे-धीरे ब्रह्मात्मवादीका पतन होने लगता है। इस साधन-विपर्ययको लक्ष्य करके ही (१०।२।३२) भागवत सूचित करता है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

समस्त सौन्दर्यकी निर्यास-रस-मूर्ति जो रूप है, उस रूपके प्रति अनादर प्रकट करके जो निराकार-विज्ञानकी आराधनामें आत्मविसर्जन करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी वह चेष्टा फलवती नहीं होती; क्योंकि उनके मन-बुद्धि-चित्त विशुद्ध नहीं होते, क्योंकि अन्तःकरणमें अहङ्कारका बीज उग जाता है । भक्तिहीनताका यही विषमय फल है । भक्तिहीनताका कारण है अरूपभावना । रूपप्रत्याख्यानके फलसे अहङ्काररूपिणी मायाके अधीन साधक साधन-भ्रष्ट होकर निम्नगामी हो जाता है ।

रूपसाधना ही परमपुरुषार्थप्राप्तिका परम पथ है । ब्रह्मरूप ज्योतिसे प्राण-मन-नयन एक बार भर जायँ तो मायाका मोह-कुज्झटिकाजाल उस ज्योतिमें लुप्त हो जाता है । यह रूप ही अमृत है—'आनन्दरूपममृतम्' । रूप-विद्युत्के स्पर्शसे प्राणमें दिव्यानुराग प्रकट होता है । अनुराग-आनन्दके आवेगसे भरा हुआ प्रेमालोक प्रस्फुरित हो उठता है । प्रेमानन्दस्पन्दन वाञ्छित रूपब्रह्मको आकर्षण करके प्रेमीके प्राणके आलिङ्गनमें समर्पण करता है । 'भक्त्या मामभिजानाति' । प्रेमभक्ति ही ब्रह्मविज्ञान है । ब्रह्मविजय मन्त्र-शक्ति है । पूर्ण प्रेमभक्ति रूपकी अपेक्षा करती है । रूपमयके प्रति ही प्रेमोद्बोधन सम्भव है, प्रेमसाधना रूपके प्रभावसे ही सुधामयी होती है और 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।' अव्यक्त अरूपकी साधना क्लेशमय और अनिश्चय है । रूपप्रत्याख्यान करनेवालेके पतनका भय अधिक होता है । रूपवान् भगवान् अनुरागमयी व्रजकिशोरियोंको लक्ष्य करके कहते हैं—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८२ । ४५)

भगवत्-रूपतत्त्व सभी शास्त्रोंमें—नाना रहस्य-जालसे समावृत हो रहा है । रूपके इस रहस्यावरणका कारण क्या है, इसको हम स्वतन्त्ररूपसे अनुसंधान करके देखेंगे । कुमार ध्रुवकी ब्रह्मरूपदर्शनस्वरूप साधनाकी सिद्धिके विषयमें यहाँ उल्लेख करके इस आलोचनाका उपसंहार करेंगे ।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥

'हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्' जो रूप है, वही रूप कुमारकी अध्यात्मसाधनाके परिपाकसे बाहर सम्मुख नयनगोचर हुआ—'बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ।'

जनक-दुलारी !

(रचयिता—डा० श्रीरामकुमारजी वर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मातु मेरी जनक-दुलारी नेह-पूरित हैं,
सुधि लेत जग के जरे-से जन-जन की ।
माथे बीच तिलक करन हित नित्य चाहौं,
एक रेख रावरे चरन-रज-कन की ॥
निज सेवा सेवक सों ऐसी बनि आवै कछु,
जैसे लव-कुस कीन्ही इन चरनन की ।
केवट को दीनी मनि-मुद्रिका उतारि तब,
धारौ मातु ! मुद्रिका सो अब मेरे मन की ॥

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

१२—कलेऊ

'मैं अपने हाथ खाऊँगा ।' मैयाने कटोरेमें दूध-भात मिला दिया है । राम-श्यामको उसने अपने सामने बैठाया कलेऊ करानेको और एक ग्रास उठाया, किंतु कन्हाईने मुख हटा लिया और दोनों हाथोंसे कटोरा उठा लिया उसने खड़े होकर ।

'दादा, आ तू ।' कृष्ण अपने दादाके बिना तो भोजन कर नहीं सकता । कटोरा दोनों हाथोंमें लिये खड़ा है वह और देख रहा है कि बड़ा भाई उसके साथ चलनेको प्रस्तुत होता है या नहीं । 'अच्छा ! अपने ही हाथोंसे तुम दोनों खा लो ।' दाऊको अपने मुखकी ओर देखते देख मैयाने अनुमति दे दी ।

कृष्णचन्द्र आँगनमें आगे कटोरा धरकर बैठ गया है दोनों चरण दो ओर फैलाकर । दाऊ अब उसके सामने जा बैठा है । ये दोनों दिगम्बर—कटिमें मेखला, करोंमें कङ्कण, चरणोंमें नूपुर और वक्षपर हार । अलकोंसे घिरे उनके मुख देखने ही योग्य हैं ।

दोनों अपने मुखमें कम ग्रास डालते हैं, प्रायः दूसरेके मुखमें ही देनेका प्रयत्न करते हैं । दोनोंके मुख, कर, वक्ष, उदर, दूधसे सने हैं । यत्र-तत्र चावल पड़ा है अङ्गोंपर । भूमिपर और जानुपर भी दूध-भात बिखर रहा है ।

'लाल, मुझे भी एक ग्रास खिला दे ।' यह कोई गोपिका आ बैठी है दोनोंसे तनिक दूर ।

श्यामसुन्दरने दो-तीन चावल हाथमें उठाकर उसकी ओर हाथ किया; उसने जब लेनेके लिये हाथ बढ़ाया, तब इस नटखटने अपना हाथ खींच लिया और उस ग्रासको अपने मुखमें डालता हुआ हँस रहा है ।

'दाऊ ! तेरा छोटा भाई तो देता नहीं, तू ही दे दे, लाल ! तू तो राजा है, एक ग्रास दे दे मुझे ।' अब इसने बड़े भाईसे माँग की ।

दाऊने अपने नन्हे हाथके अनुसार पूरा ही ग्रास उठाया है । वह इस गोपिकाको देने जा रहा है यह ग्रास ।

दाऊके हाथ बढ़ाते ही श्याम झटपट खिसक आया दाऊ और गोपीके बीचमें । अपना छोटा-सा मुख पूरा खोलकर दाऊके हाथको ग्राससमेत इसने मुखमें ले लिया है ।

बड़ा है कुछ दाऊका ग्रास । कन्हाईका पूरा मुख भर गया है । वह उस ग्रासको कण्ठसे उतारनेका प्रयत्न तो पीछे करेगा, अभी तो भरे मुख गोपिकाकी ओर मुड़कर देख रहा है । हँस रहे हैं इसके नेत्र—'बड़ी आयी है यह दादाके हाथसे ग्रास लेनेवाली । आ, ले ।'

अँगूठा नचा रहा है यह चपल ।

१३—खेल

'राम, कहाँ है तू ?' माता रोहिणी अपने राम-श्यामको ढूँढ़ने निकली हैं । ये दोनों बहुत चञ्चल हैं । तनिक किसी काममें लगो कि पता नहीं किधर निकल भागते हैं ।

दोनों साथ ही होंगे । जैसे एक गायके छोटे-बड़े बछड़े प्रायः साथ ही चरते हैं, साथ ही खेलते हैं, साथ ही सटकर बैठते हैं—वे दोनों भी साथ ही रहते हैं । कन्हाई इधर-उधर घूमेगा, भागेगा, नाचेगा और घूम-फिरकर बड़े भाईके सामने उससे सटकर आ बैठेगा । दाऊ अपने छोटे भाईके साथ ही लगा रहता है । दोनों साथ रहते हैं, यही थोड़ा-सा संतोष है, किंतु कहाँ हैं दोनों ? माताको जब अपने पुत्र नहीं दीखते, वह व्याकुल हो जाती है ।

'कृष्ण, चल कलेऊ तो कर ले ।' यह मण्डली जमी है दोनोंकी द्वारके बाहर धूलिमें । माता पास गयी बालकोंको घरमें ले आनेके लये ।

'माँ, तू पकड़ इसे ।' श्यामने एक बिल्लीका बच्चा पकड़ रखा है । सफेद-सफेद नरम-नरम बच्चा—बार-बार मुख खोलकर म्याऊँ-म्याऊँ करता है । दो बच्चे और हैं बिल्लीके—एक सुनहला और एक काला । ये दोनों भी कन्हाईके इधर-उधर, आगे-पीछे म्याऊँ-म्याऊँ करते घूम रहे हैं । बार-बार उसके शरीरसे अपना शरीर रगड़ते हैं । दाऊने कुत्तेका एक मोटा-सा पिल्ला पकड़ रखा है और उसे लिये आ रहा है छोटे भाईके पास । अब श्यामसुन्दर

चाहता है कि माँ उसके बिल्लीके बच्चेको ले ले तो वह पिल्ला पकड़े । दाऊके पास कितना अच्छा पिल्ला है । तीन-चार पिल्ले और भी कूँ-कूँ करते उसके साथ आ रहे हैं।

'छोड़ दे, छोड़ दे इसे।' माताने दोनोंको एक साथ समझाना चाहा। 'इनकी माँ इन्हें दूध पिलायेगी।

'हम दोनों इनको दूध पिलायेंगे।' तुतलाते हुए श्यामसुन्दरने माताकी ओर देखकर कहा।

'तू किसको-किसको दूध पिलायेगा ?' माताको हँसी आ गयी।

बात ठीक है। मार्गमें धूलि-धूसर यह कन्हाई अकेला तो है नहीं। इसके चारों ओर म्याऊँ-म्याऊँ करती यह घूमती बिल्ली और उसके बच्चे, वह दाऊके साथ कूँ-कूँ करती कुतिया अपने पिल्ले लिये आ रही है। ये मयूर इधर-उधर नाच रहे हैं और बंदरोंकी मण्डली मकानोंपर उछल-कूद इसीलिये तो कर रही है कि उसे नीचे आनेका अवसर मिले।

'मैं सबको दूध पिलाऊँगा।' कन्हाईने देखा इधर-उधर। उसके लाल-लाल अधरोंपर दूध-सा उज्ज्वल हास्य खिल उठा। बिल्लीका बच्चा लिये हुए उठ खड़ा हुआ वह घरमें चलनेके लिये। उसके बाबाके घरमें दूधका क्या टोटा है।

१४—हँसी

'कनूँ ! वह बाट तो ले आ, लाल।' मैया चाहती है कि उसके पुत्रके हाथ-पैरोंमें कुछ शक्ति आये। यह चञ्चल प्रायः घरसे भाग जाता है। यहाँ कुछ काममें लगा रहे, यहीं खेलता रहे तो अच्छा।

'अरे, सब-के-सब मत उठा। एक ले आ।' हड़बड़ाकर मैयाने मना किया। छोटे-बड़े कई बाट एकके ऊपर एक रक्खे हैं। श्याम एक साथ सबको उठाना चाहता है। मैयाकी आज्ञाका पालन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नतासे दौड़ गया है, किंतु इतने बाट एक साथ उससे कैसे उठेंगे ? उसके प्रयत्नमें कहीं कोई खिसककर गिरे और चोट लगे तो·····?

नन्हा-सा कन्हाई—कटिमें कछनीतक नहीं है। अलकें बहुत कम बिखरी हैं। अङ्गोंमें कुछ थोड़े चिह्न हैं धूलि लगनेके, किंतु थोड़े ही हैं वे। मैयाने कुछ ही देर पहले अपने पुत्रको उबटन लगाकर नहलाया है। उसकी अलकोंमें अब भी मैयाकी सजाई मालतीके पुष्पोंका छोटा-सा गुच्छा लगा है। नेत्रोंका कज्जल अभी भी फैला नहीं है और भालपर गोरोचनकी खौरके बीचका काला बिन्दु भी ज्यों-का-त्यों है।

कृष्णने मैयाकी ओर मुड़कर देखा और किंचित् हँसकर बैठ गया बाटोंके समीप। उसे कौन-सा बाट ले जाना है ? सबसे बड़ा बाट ले जायगा वह। ले ही जाना है तो छोटा बाट क्यों ले जाय। लेकिन बड़ा बाट सबसे नीचे है। उसके ऊपरके दो एक बाट उठाकर बैठे-बैठे उसने धीरेसे भूमिपर रख दिये। अब शेष बाट बैठे-बैठे नहीं उठाये जा सकते। उठकर खड़ा हो गया वह और झुककर एक-एकको उठाकर नीचे रखने लगा किसी प्रकार।

ओह ! कितना भारी है यह बाट ? श्यामसुन्दर दूसरे बाटोंको उठाने-धरनेमें ही थक गया है और उसपर यह तो पूरे ढाई सेरका है। कन्हाई दोनों हाथों उठानेका प्रयत्न कर रहा है उसे। मुख लाल-लाल हो गया है। भालपर स्वेद-बिन्दु छा गये हैं।

कृष्णचन्द्र इधर-उधर देखने लगा है। 'कोई सहायता नहीं करेगा ?' मैया मना कर रही है। वह छोटा बाट लाने-को कह रही है और हँस रही है। क्यों हँस रही है वह ? श्याम छोटा बाट नहीं ले जायगा। वह तो इसीको ले जायगा। दोनों हाथोंसे पूरी शक्ति लगा रहा है वह।

यह दाऊ क्यों हँस रहा है ? क्या मिल गया है इसे ? यह तो ताली बजा-बजाकर नाच-नाचकर हँस रहा है। कन्हाईसे बाट नहीं उठता और यह हँसता है। मोहन अब रो पड़ेगा। कोई उठाकर उसके सिरपर बाट रख देता···। वह देख रहा है बड़ी कातरतासे इधर-उधर।

'नहीं उठता यह तुझसे ? ला मैं उठा दूँ।' बहुत भली हैं माता रोहिणी। ये श्यामकी सदा सहायता करती हैं। बाट उठाकर कृष्णचन्द्रके मस्तकपर धर दिया है इन्होंने, किंतु हाथसे उसका पूरा भार उठाये हैं। श्यामने दोनों हाथों बाटको पकड़ रखा है मस्तकपर और बड़ी प्रसन्नतासे मैयाके पास आ रहा है। माता रोहिणी पीछे-पीछे बाट सम्हाले आ रही हैं।

'मेरा लाल ले आया बाट।' मैयाने अङ्कमें लेना चाहा। स्वयं बाट सिरपरसे ही सम्हालकर ले लिया, पर यह दाऊ क्यों हँस रहा है ? यह तो हँसता ही जा रहा है। श्यामसुन्दर

बड़े भाईकी ओर मुड़कर अपनी सफलताके लिये हँस पड़ा है और हँसता हुआ यह दाऊ तो दोनों हाथ फैलाकर लिपट ही गया है उससे।

१५—क्रोध

'दाऊ कुछ अच्छा लड़का नहीं।' यह गोपी आज श्यामसुन्दरको खिझा रही है।

'अच्छा है, बहुत अच्छा है।' कृष्णचन्द्रने चौंककर देखा उसकी ओर और पूरे बलसे कहकर खड़ा हो गया। उसका दादा कहीं बुरा हो सकता है!

'उहुँ, तनिक भी अच्छा नहीं।' गोपी मुख बना रही है।

'तू अच्छी नहीं। बुरी है तू।' कन्हाई झगड़नेके लिये उद्यत हो गया है। वह इस गोपीकी नाक नोच लेगा। इसके केश खींचेगा। यह क्यों उसके बड़े भाईकी निन्दा करती है? वह धमका रहा है—'दादाको आने दे।'

'क्या कर लेगा तेरा दादा? बुरा लड़का है वह।' श्यामको अपने हाथोंसे रोक रखा है इसने। वह छटपटा रहा है। बार-बार हाथ बढ़ा रहा है मुख या केश नोच लेनेके लिये।

'कनूँ! अरे यह क्या?' मैयाने देखा कि उसका नन्हा लाल गोपीसे हाथ छुड़ाकर घरमें दौड़ गया है। बड़े प्रयत्नसे दोनों हाथोंमें एक बड़ी-सी लाठी लिये आ रहा है। इतनी बड़ी लाठीको उठाकर ले आना ही उसके लिये श्रमसाध्य हो रहा है।

'मारूँगा इसे।' पतले-पतले लाल-लाल होठ फड़क रहे हैं। उज्ज्वल दन्तावली अधरको दबाये है। भ्रूमण्डल कठोर हो रहा है। कमल-दल-लोचन अरुण हो उठे हैं और उनमें जल आ गया है। दोनों हाथोंमें लाठी सम्हाले ढाई वर्षके नीलसुन्दरका श्रीमुख अरुण हो रहा है क्रोधसे।

'अरे ठहर!' मैया दौड़कर पास आ गयी है। इस चपलके लिये किसीके ऊपर लाठी पटक देना कोई बड़ी बात नहीं।

'यह दादाको बुरा कहती है। मैं इसे मारूँगा।' कृष्णचन्द्र मैयाको लाठी नहीं देना चाहता। वह तिरछे होकर खड़ा है। क्रोधसे काँप रहे हैं उसके पैर।

'कौन कहता है कि तेरा दादा बुरा है? तेरा दादा तो राजा है।' मैया अपने पुत्रको पुचकार रही है।

'दादा!' यह आया दाऊ। यह बाबाके पाससे दौड़ा-दौड़ा आ रहा है। श्यामने लाठी फेंक दी भूमिपर और दौड़कर बड़े भाईके पास पहुँचा—'तू इसे मार! यह तुझे बुरा बताती है।'

बड़े भाईका हाथ एक हाथमें लिये, दूसरे हाथसे गोपिका-की ओर संकेत करता रोषमें भरा यह कन्हाई। गोपी अब साहस नहीं कर सकती। बड़े भाईके मुखकी ओर मुड़कर देख रहा है यह और दाऊ तो इसके इस मुखको देखनेमें ही मग्न है। इसकी बात समझने और गोपीकी ओर देखनेका उसे अवकाश ही नहीं।

१६—दुग्धपान

'मैया! मैया! कनूँ तो बछड़ा है।' दाऊ ताली बजा-बजाकर कूद रहा है, हँस रहा है। अपने छोटे भाईको गायके थनमें मुँह लगाकर दूध पीते देख बड़ी प्रसन्नता हुई है उसे।

दो क्षण ये दोनों न दीखें तो मैया व्याकुल हो जाती है। घरका काम-धंधा छोड़कर ढूँढ़ने चल देती है। आज तो दोनों ही सबेरे-सबेरे बिना कलेऊ किये चुपचाप खिसक आये हैं गोष्ठमें। मैया, पता नहीं, कहाँ-कहाँ ढूँढ़ती यहाँ पहुँची है।

'श्यामसुन्दर, तू बछड़ा हो गया है क्या रे?' मैया तनिक दूर ही खड़ी रह गयी है। उसका कृष्णचन्द्र भूखा है। गायका ही दूध वह कुछ पी ले, तो भी ठीक। घरमें तो बार-बार हठ करनेपर भी दूध पीना नहीं चाहता। पास जानेसे कहीं गाय इधर-उधर हटी···। थोड़ी दूर खड़ी मैया मन्द-मन्द हँस रही है।

कन्हाई गायका थन मुखमें लिये आँख उठाकर देख लेता है बछड़ेकी ओर। इतना सुन्दर, इतना चञ्चल बछड़ा क्या बुरा है जो दाऊ और मैया उसे बछड़ा बताती है? बछड़ा बनना अच्छा ही लगता है उसे और बछड़ा तो कूद रहा है, फुदक रहा है, बराबर उसको सूँघकर अद्भुत शब्द करता है—"ब्याँ।"

मैया देखती है अपने पुत्रको और अपनी इस कपिलाको। कितनी सीधी, कितनी स्नेहमयी है यह कपिला भी। गर्दन घुमाकर बारंबार सूँघती है कृष्णचन्द्रको। बारंबार हुंकार

कर रही है। बार-बार जिह्वा निकालती है चाट लेनेको और फिर हटा लेती है। इतना समझती है यह कि उसकी रूखी जीभ इस सुकुमार शरीरको छूने योग्य नहीं है।

'कनूँ बछड़ा है।' दाऊ उछल रहा है प्रसन्नतासे।

मोहन थनसे मुख हटाकर मैयाकी ओर देख रहा है। दूधसे भरा है उसका मुख और मुसकरा रहा है वह। पतले लाल अधरसे दूधकी बूँदें गिर रही हैं।

'आ! आ जा, लाल!' मैयाने दोनों हाथ बढ़ा दिये उल्लाससे। किंतु कपिलाके चारों थनोंसे जो उज्ज्वल धारा झर रही है, अभी उससे यह तृप्त कहाँ हुआ है। यह तो फिर मुख घुमाकर लग गया है दूध पीनेमें।

दोनों हाथ भूमिपर टेके, घुटनोंके बल गर्दन कुछ ऊपर उठाये, मुखमें गायका थन लिये यह श्यामसुन्दर! अब तो दाऊ भी अपने छोटे भाईके सामने गायकी दूसरी ओर आ बैठा है। अपना मुख खोलकर दोनों छोटे हाथोंसे गायका थन पकड़कर वह मुखमें दूधकी धारा लेने लगा है।

१७—कछुआ भी, मछली भी

'दाऊ मुझे कछुआ कहता है।' मोहन बड़े भाईके विरुद्ध मैयाके पास अभियोग ले आया है। उसकी सुन्दर भौंहें और सुन्दर हो उठी हैं। मैयाका एक हाथ पकड़कर दूसरे हाथसे वह दाऊको दिखा रहा है। यह दाऊ उसे पानीका कछुआ बताये, यह भी कोई बात है।

'मैया, यह मना करनेपर भी पानीमें जानेसे नहीं रुकता। पानीमें तो कछुआ ही देरतक रहता है न!' दाऊने भी मैयाका दूसरा हाथ पकड़ लिया आकर।

'तू पानीमें क्यों जाता है?' मैयाने दाऊका पक्ष लिया। वह स्वयं नहीं चाहती कि श्याम यमुनातटपर खेलते समय जलमें उतरा करे।

'तू मछली है।' कन्हाईने मस्तक झुकाकर सोचा। जब मैया उसका पक्ष नहीं लेती, तब दाऊको चिढ़ानेका कोई उपाय उसे स्वयं निकालना ही चाहिये।

'मैं क्या पानीमें रहता हूँ कि मछली हूँ?' दाऊने मुँह बनाया। उसे मछली बनना बिलकुल पसंद नहीं।

'मछली है तू, मछली।' श्यामने मैयाका हाथ छोड़ दिया और ताली बजा-बजाकर नाचते हुए बड़े भाईको चिढ़ाने लगा। मैया अब इन दोनोंके बीचमें पड़ना नहीं चाहती। वह तो नाचते, मुख मटकाते श्यामकी शोभा देख रही है।

'तू ही कछुआ भी है और मछली भी।' दाऊने भी चिढ़ाया बदलेमें। 'हैं!' श्यामने नृत्य करना बंद कर दिया। वह अकेला ही कछुआ भी और मछली भी। बड़ी विचित्र भङ्गीसे वह देख रहा है बड़े भाईकी ओर।

'तू काला-काला कछुआ है और गिलगिली-सी मछली है।' दाऊने विशेषण जोड़े और ताली बजाकर हँसने लगा।

लो, श्याम धपसे भूमिपर बैठ गया। वह दोनों हाथ खीझकर हिला रहा है। मस्तक झकझोर रहा है। ऊँ-ऊँ कर रहा है। वह भले कछुआ या मछली होता, पर काला-कलूटा कछुआ और गिलगिली मछली एक साथ बनना उसे बहुत खराब लगता है।

दाऊ ताली बजाकर कूदता हुआ चिढ़ा रहा है। श्याम भूमिपर बैठा खीझ रहा है। अब वह लोट जायगा—भूमिपर लोट जायगा। क्यों चिढ़ाता है यह दाऊ उसे।

मैया झुककर पुचकार रही है। उठा रही है और दाऊको कृत्रिम रोषसे नेत्र बनाये हुए धमका रही है। भला, मैयाका यह कनूँ कछुआ-मछली कैसे हो सकता है।

१८—भोजन

'ले, मुख खोल।' बाबाने दही-भातका नन्हा-सा मीठा ग्रास उठाया, किंतु मोहनने हँसकर मुख घुमा लिया।

श्रीव्रजराज भोजन करने बैठे हैं। उनकी थालीके पास दाहिनी ओर राम और बाँयीं ओर श्यामका आसन लगा है। बाबा दोनों बालकोंके मुखमें ग्रास देते जा रहे हैं।

बालक कहीं पण्डितोंकी भाँति चुपचाप गुमसुम भोजन करते हैं! श्याम बीच-बीचमें उठ खड़ा होता है। कभी वह नाचता है, कभी मटकता है, कभी दाऊके पास आ बैठता है, कभी बाबाके पीछे जा खड़ा होता है। दाऊ अपने छोटे भाईके उठते ही उसीकी ओर देखने लगता है। बाबा बार-बार पुचकारकर कन्हाईको बुलाते हैं। वह अनेक बार मुख बंद कर लेता है ग्रास लेनेके समय। बाबा उसे फुसलाकर खिलाते हैं। मैया पंखा झलती पास आ बैठी है, अपने लालकी लीला देख-देखकर मग्न हो रही है। वह भी बार-बार श्यामको पुचकारकर भोजनके लिये प्रोत्साहित कर रही है।

दाऊ कभी स्वयं ग्रास उठाकर अपने छोटे भाईको

खिलाता है, कभी बाबाको खिलाता है, कभी स्वयं खाता है। श्याम कभी थालीमें पूरा हाथ नचाता है, कभी हथेली धर देता है और कभी अंगूठे और तर्जनीसे एक चावल उठाकर अपने मुखमें रखता है बहुत धीरेसे।

मोहन कभी एक चावलका नन्हा ग्रास बड़े भाईके मुखमें झुककर देता है और कभी बाबाके मुखमें देनेको हाथ उठाता है। बाबा मुख झुकाकर उसके करका चावल ले लेते हैं मुखमें।

कभी बीचमें श्याम वही एक चावलका ग्रास लिये बाँयीं हथेली भूमिपर टेककर उठता है और मैयाके पास पहुँच जाता है। सब भोजन करते हैं तो मैया क्यों बैठी रहे। वह मैयाके मुखमें ग्रास देनेको हाथ बढ़ाता है। व्रजराजके अधरों-पर मुसकान आ जाती है। मैया हँसते-हँसते मुख हटा लेती है और किसी प्रकार हाथमें वह ग्रास ले लेती है। कन्हाई बीच-बीचमें मैयाका हाथ या साड़ी पकड़कर खींचता है—'चल, तू भी खा।' मैया हँसती है और किसी प्रकार मनाती है।

श्रीव्रजराजकी दाढ़ी और पेटपर उनके पुत्रोंने उजली बूँदें गिरा दी हैं। राम-श्यामके मुख, कर, वक्ष, उदर दधि-चावलसे भूषित हो रहे हैं।

'तेरा पेट भर गया?' मुख हटाते श्यामसे बाबाने पूछा। पेट भरना चाहिये, यह तो कन्हाईने सोचा ही नहीं था। भोजन तो मुखमें लेनेकी वस्तु है, उससे पेट भी भरा जाता है? बाबाका पेट तब अभी कहाँ भरा है। उसमें अभी एक छोटा गड्ढा दीखता है। कन्हाई अपना एक चावलका ग्रास उठाकर बाबाकी नाभिमें भर रहा है। बाबाका पेट भर रहा है वह, फिर यह मैया इतनी हँसती क्यों है?

१९—रूठा दाऊ

'कनूँ, तेरा दादा रूठा बैठा है। उसे मना ला, लाल।' मैया जानती है कि रूठनेपर दाऊको केवल उसका छोटा भाई ही मना सकता है।

श्याम रूठता है तो पृथ्वीपर लोटपोट हो जाता है। पैर तथा हाथ जोर-जोरसे हिलाता है, मैयाके केश-वस्त्र नोचता है और जो वस्तु हाथमें आ जाय, उसे पटक देता है। दहेंड़ियाँ और मटके फोड़ देता है। माखन फेंकने लगता है। दही-दूध पृथ्वीपर ढुलका देता है। जो भी उपद्रव करते बनता है, सब करता है।

दाऊ प्रसन्न हो तो भले मैयाकी चोटी खींच ले और दही-माखन फैलाकर खेले; किंतु रूठनेपर वह गुमसुम बन जाता है। घरके किसी कोनेमें जा बैठता है और कोई मनाये, कोई पुचकारे, आँख उठाकर देखेगा भी नहीं उसकी ओर।

कृष्ण अनेक बार रूठता है और उसके रूठनेमें भी एक छटा, एक आनन्द, एक मोहकता है। वह रूठे तो मैया मना लेगी; किंतु दाऊका रूठना—यह जन्मसे पूरे एक वर्षतक—श्यामसुन्दरके जन्मतक न तो बोला और न हँसा या मुस्कराया; गूँगा बना रहा वर्षभर! इसके रूठनेसे मैया डरती है। कोई नहीं चाहता कि यह रूठे। इसे डाँटनेकी बात भी कोई नहीं सोचता।

आज दाऊ रूठ गया है। मैया मोहनको डाँट रही थी, यह छोटे भाईको बचाने आया तो इसकी बात नहीं सुनी गयी। अब रूठकर कोनेमें जा बैठा है। कोई कन्हाईको कुछ कहे, यह बिलकुल सह नहीं सकता।

'लाल!' मैयाने देखा इसे मुख लटकाकर हटते और चौंक गयी। झट पुचकारने लपकी, गोदमें उठाया, मुख पोंछा; किंतु दाऊ तो रूठ चुका। वह क्या इतनी सरलतासे मानता है? मैयाकी गोदसे उतर गया और कोनेमें जा बैठा है।

श्यामसुन्दर बड़े भाईके पास आ गया, कंधेपर हाथ रखकर दो क्षण पीछे खड़ा रहा, सामने आया और फिर बैठ गया। दाऊ तो देखता ही नहीं उसकी ओर। उसने तो मुख झुका रखा है और नेत्र नीचे कर लिये हैं। मोहनने बैठे-बैठे ही झुककर अपना मस्तक भूमिपर रख लिया है। ऊपर मुख करके वह झाँककर देख रहा है बड़े भाईके नेत्रोंकी ओर।

'दादा!' बड़ी मधुरतासे एक क्षण भूमिमें सिर रखकर स्थिर रहनेके पश्चात् बुलाया श्यामसुन्दरने। अब क्या दाऊ रूठा ही रहेगा? अपने अनुजके इस भोले सुन्दर मुखको नहीं देखेगा वह? उसके नेत्र खुल गये हैं। देख रहा है वह कन्हाईकी ओर।

'दादा!' श्यामने मस्तक उठा लिया है और अपने बड़े भाईके दोनों कपोलोंपर अपने नन्हे कर रखकर मना रहा है उसे। किंतु अब दाऊ रूठा कहाँ है? वह कहीं श्यामसे रूठ सकता है?

२०-निर्माण

'दादा, मेरा घड़ा देख।' श्यामसुन्दरने गीली मिट्टीके एक छोटे गोलेमें थोड़ा गड्ढा बना लिया है। वह प्रसन्न हो रहा है कि उसने तनी शीघ्र घड़ा बना लिया।

'घड़ा कहीं ऐसा होता है? यह तो हँड़िया भी नहीं है।' यह मण्डलीभद्र चिढ़ाने लगा है मोहनको।

'तेरा कुछ नहीं बना है? तुझे कुछ बनाने नहीं आता।' अब झुँझलाकर कृष्णने अपना खिलौना पटक दिया और मण्डलीभद्रके सारे खिलौने मसल दिये। कोई इसे चिढ़ा दे तो फिर उसके खिलौने बचे कैसे रह सकते हैं। यह तो एक ओरसे सभी बालकोंके खिलौने हाथोंसे, पैरोंसे कुचलने, मसलने, बिगाड़ने लगा है। जो अपने खिलौने छिपाना, बचाना चाहते हैं, उनसे झगड़ रहा है। उनके खिलौने बिगाड़नेको छीना-झपटी कर रहा है। इसका खिलौना नहीं बना, तो दूसरोंका कैसे बना रहेगा।

वर्षा होकर निकल गयी है। भूमि गीली है अब भी, किंतु आकाश स्वच्छ है। प्रातःकालीन धूपने वृक्षोंकी चोटियोंको सुनहला कर दिया है। झुंड-के-झुंड छोटे-छोटे बालक गोकुलमें नन्दभवनके सामने मार्गके दोनों ओर एकत्र हो गये हैं। अभी-अभी घरोंसे आये हैं वे। सबके केश सँवारे गये हैं। सबके नेत्र अञ्जनरञ्जित हैं। सबके शरीर नाना अलंकारोंसे अलंकृत हैं। कुछ कछनी लगाये हैं, कुछ दिगम्बर हैं।

बालक गीली मिट्टीसे खिलौने बना रहे हैं। अपने हाथ-पैर उन्होंने मिट्टीसे सान लिये हैं। कोई खड़ा है, कोई बैठा है। वे अपनी समझसे घड़े, हँड़िया, दीपक, गाय, बछड़े, मनुष्य आदि बना रहे हैं मिट्टीसे और फिर बड़े उल्लाससे दिखलाते हैं दूसरोंको।

कन्हाई झगड़ रहा है, उलझ रहा है, सबके खिलौने बिगाड़ रहा है। इसके कर-चरण तो मिट्टीमें सने ही हैं, स्निग्ध शरीरपर स्थान-स्थानपर मिट्टीकी रेखाएँ इस झगड़ेमें लग गयी हैं। अलकें बिखर गयी हैं। कछनी ढीली-ढाली हो गयी है। बच्चे अपने खिलौने बचानेके ही प्रयत्नमें हैं, पर यह बलात् झगड़ रहा है, झपट्टे मार रहा है और इतनेपर भी स्वयं रो रहा है। बड़ी-बड़ी बूँदें नेत्रोंसे कपोलोंपर आ गयी हैं इसके।

'तू रो मत। मैं तेरे लिये घड़े बना देता हूँ।' दाऊ अपने छोटे भाईको मना रहा है। अपने मिट्टीसे सने हाथसे ही उसके अश्रु पोंछ रहा है।

'मैं बनाऊँगा, तू यहाँ बैठकर देख। तू मत बना।' कन्हाई चाहता है कि दाऊ अलग कुछ न बनाये। दाऊ भी बैठ गया है छोटे भाईके सामने। झुककर बड़े ध्यानसे वह कन्हाईके प्रयत्नको देख रहा है और सम्मति भी देता जाता है।

लोग कहते हैं कि यह इतना बड़ा ब्रह्माण्ड इसीने बनाया है। हाथमें मिट्टीका नन्हा गोला लिये जितने प्रयत्न, जितनी एकाग्रतासे यह एक खिलौना बनानेमें जुटा है, उतने प्रयत्नसे क्या ब्रह्माण्ड बनाया होगा इसने!

२१-उलझन

'कनूँ!' दाऊ क्या करे? उसका यह छोटा भाई बहुत अधिक चञ्चल है और प्रायः दाऊके शरीरपर ही लोटपोट हुआ करता है। कभी गलेमें दोनों हाथ डालकर पीठपर चिपकेगा, कभी पेटपर सिर रखकर सोना चाहेगा और कभी बगलमें सटकर बैठ जायगा। न इसे बड़े भाईके बिना चैन पड़ती और न दाऊसे इसके बिना दो क्षण रहा जाता है। आज इस चपलने अपना सिर बड़े भाईके सिरपर रखकर खूब हिलाया, रगड़ा और अब दोनों भाइयोंकी घुँघुराली अलकें परस्पर उलझ गयी हैं। दाऊ बहुत चाहता है कि सुलझा ले इस उलझनको, पर यह क्या उसके बसकी बात है? उसके छोटे-छोटे हाथ केशोंकी उलझन कैसे सुलझायें?

यह कनूँ पूरा नटखट है। केश उलझाकर अब हँस रहा है। ताली बजाकर मग्न हो रहा है। इसे अब इसमें कोई झंझट ही नहीं दीखती कि अपना सिर बड़े भाईके सिरसे दूर हटाया नहीं जा सकता। यह तो सिर हिला-हिलाकर दाऊके प्रयत्नको और भी विफल किये दे रहा है। बार-बार अग्रजकी ओर देखता है और हँसता है। इसके खिले लोचन कहते हैं—'दादा! तेरी अलकें उलझ गयीं।' जैसे इसकी अलकें उनमें नहीं उलझी हैं।

केश खिंचेंगे तो कृष्णको कष्ट होगा। दुखेगा इसका सिर। दाऊ अच्छी उलझनमें पड़ गया है। कन्हाई हँसता है, सिर हिलाता है और दाऊको अपना मस्तक उसके मस्तकसे सटाये रखना पड़ता है।

'चल, मैयाके पास चलें।' हाथ पकड़कर बड़े भाईने

छोटे भाईको उठाया।

नन्हा-सा दिगम्बर कृष्णचन्द्र—कटिमें मेखला और चरणमें रुनझुन करते नूपुर। बड़ा प्रसन्न है। अटपट पदोंसे नाचता-सा, झूमता-सा, बीच-बीचमें ताली बजाता जा रहा है। अपने अनुजका बंधा पकड़े उससे कुछ अंगुल बड़ा उसका स्वर्ण-गौर अग्रज कटिमें जरा-सी नीली कछनी बाँधे अपना सिर कुछ झुकाये बड़े प्रयत्नसे इस चेष्टामें लगा है कि कहीं उसका मस्तक छोटे भाईके मस्तकसे कुछ अंगुल हट न जाय। उसका प्रयत्न बहुत कठिन है; क्योंकि यह कनूँ तो तनिक भी ध्यान ही नहीं देता कि अलकें उलझी हैं।

'मैया!' दाऊने मैयाको पुकारा। मैया ही पास आ जाय तो इस प्रयत्नपूर्वक चलनेके श्रमसे बचा जा सके। 'कनूँने मेरे केश उलझा दिये हैं।' कन्हाईको इस अभियोगमें कोई आपत्ति नहीं। वह ताली बजाकर हँस रहा है।

'यह क्या किया तुम दोनोंने?' मैया हँस उठी देखते ही। वह अपने दोनों पुत्रोंको सामने बैठाकर उनकी उलझी अलकें सुलझाने लगी है।

कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा

(लेखिका—बहिन श्रीकृष्णा सहगल)

[गताङ्कसे आगे]

रामलालके पड़ोसमें लाला धौंसीराम नामक एक सराफ रहता था। उसकी पत्नीका नाम था ईरषा। वह सर्वथा अपने नामके ही अनुरूप थी। इन दोनोंसे रामलालका वैभव नहीं देखा गया। ईरषा पहले तो कमलासे कभी सीधे मुँह बात भी नहीं करती थी; परंतु जबसे कमलाके पास धन आया, तबसे वह कमलाकी बड़ी अन्तरङ्ग सहेली बन बैठी—प्रतिदिन उसके घर जाती, ऊपरसे तो मीठी-मीठी बातें करती, परंतु मनमें उससे द्वेष रखती और भीतर-ही-भीतर सदा जलती रहती। कंजूस वह इतनी थी कि उसके द्वारपर यदि कोई भिखारी भूला-भटका आ जाता तो उसे पैसा मिलना तो दूर रहा, हाँ गालियोंकी बौछारसे उसका अच्छा सत्कार अवश्य होता। गाँव-भरमें उसकी कृपणता प्रसिद्ध थी—यहाँतक कि कोई भी व्यक्ति उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं रखता था। वह थी भी बड़ी झगड़ालू प्रकृतिकी—जहाँ-कहीं भी बैठती, हर-किसीकी निन्दा-चुगली करती और एक दूसरीसे लड़ाइयाँ करवाती रहती।

यों तो लाला धौंसीरामके पास धनकी कमी न थी, पर वह सब धन अनुचित रीतिसे ही कमाया गया था। उसकी अपनी खून-पसीनेकी कमाई न थी। उसकी जवाहरात तथा आभूषणोंकी अपनी दूकान तो थी ही, वह गहने बनानेका काम भी करता था फलतः वह लोगोंके गहने बनाते समय उनमें आधेसे भी अधिक खोट डाल देता और उनसे दाम लेता पूरे सोनेके—इस प्रकार बेचारे कई भोलेभाले देहाती उसके द्वारा ठगे जाते। पेंडू लोग विवाह-शादियोंमें तो अच्छे खासे ठोस सोनेके जेवर बनवाते हैं, धौंसीरामका नाम विख्यात हो गया था, इसके बाप-दादाके समयकी दूकान चलती थी और वे ईमानदारीसे काम करते थे। इसलिये आसपासके भी सभी गाँवोंसे लोग उसीके पास आते। वह वजन करनेमें भी गड़बड़ी कर जाता, एक तोलेको सवा तोला कहता, आठ माशेको दस माशे बताता, चार रत्तियोंकी उसके यहाँ छः रत्तियाँ बन जातीं, अपढ़ लोग उसके माप-तौलको क्या जानें; आखिर ज़बान भी तो कोई चीज है, लोग उसकी बातका विश्वास कर जाते। झूठे मोतियोंको सच्चा कहकर बेच देता। इस प्रकार निस्संदेह उसके पास धन बहुत अधिक हो गया था, पर उसका दिल बड़ा नहीं था। वह दान देनेमें या किसी दीन-दुखियाकी सहायता करनेमें सर्वथा अनुदार था। कोई उससे सहायताके लिये कहता तो वह तमककर उत्तर देता—यदि कोई सम्बन्धी ग़रीब है तो हम क्या करें! हमारे पास क्या आसमानसे पैसे टपकते हैं, हम भी तो मेहनत-मज़दूरी करते हैं, दिनभर दूकानपर बैठना पड़ता है, बहीखातेका सारा हिसाब रखते हैं, दौड़-धूप मगज़-पच्ची करते हैं, तब कहीं जाकर चार पैसे बनते हैं!

वे दोनों पति-पत्नी थे भी बड़े घमंडी, अपने धनके मदमें सदा चूर रहते। किंतु भगवान् तो सब कुछ जानते हैं; उनका इस प्रकार धोखेसे कमाया पैसा भी उल्टी राहसे निकल जाता, कभी बेटा बीमार हो जाता तो कभी बेटी। डाक्टर-

वैद्य उनसे दुगुनी फीस ले जाते। एक बार घरमें सेंध लग गयी और चोरोंने अच्छी खासी रकम उड़ा ली। चूँकि वे किसीके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे, इसलिये गाँववाले भी ऊपर-ऊपरसे तो उनके साथ सहानुभूति प्रकट करते, परंतु मनमें प्रसन्न ही होते। एक बार लच्छू भंगीका बेटा बड़ा सख्त बीमार पड़ा, उसे इलाजके लिये कुछ रुपयोंकी आवश्यकता थी। उसकी पत्नीने आकर बड़ी दीनताके साथ ईरषासे कुछ सहायता माँगी; पर ईरषाने उस बेचारीको टका-सा जवाब दे दिया। खैर, यह तो उसके दैनिक कारनामोंकी बात हुई, अब ज़रा आगेका हाल भी सुनिये।

हाँ तो हम कह रहे थे कि लाला धौंसीराम और ईरषा रामलाल तथा कमलाके वैभवको देखकर जला करते थे। एक बात जो उन्हें बहुत अखरती थी, वह थी उनकी मान-प्रतिष्ठा। गाँवके सभी लोग उनके शील एवं गुणोंके कारण प्रसन्न होकर उनकी प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा करते। वैसे ईरषाका आना-जाना तो उनके घरमें अब बहुत अधिक था। उसने एक दिन बात-ही-बातमें कमलासे उनके इतने धनी बन जानेका रहस्य पूछा। कमला-बेचारी सरल स्वभाव और निष्कपट हृदयकी स्त्री थी। उसे हेर-फेर या छल-छिपाव करना नहीं आता था। उसने अपने भोलेपनसे उसे सारी गाथा कह सुनायी। ईरषाने घर आकर वह सारी-की-सारी बात ज्यों-की-त्यों अपने पतिको सुनाते हुए कहा कि अबसे तुम भी मदिरापान किया करो। धौंसीराममें यदि कोई अच्छी बात थी तो यही कि उसमें जुआ खेलने या मदिरा इत्यादि पीनेका व्यसन नहीं था। अब ईरषा कमलाके वैभवको देखकर सदा-सर्वदा उसे मद्यपान करनेके लिये कहती। पहले-पहले तो धौंसीरामने बात नहीं मानी, परंतु फिर उसने सोचा—'इर्ज ही क्या है, एक-दो घूँट पीनेसे मुझे कोई लत थोड़े ही पड़ जायगी। आखिर ईरषा भी तो धन कमानेके विचारसे ही कहती है न; समझूँगा कि यह भी एक व्यापारका तरीका है, और उसने पीना शुरू कर दिया। अब मदिरा जो उसके मुँह लगी और मस्तीमें झूमनेका जो नया स्वाद पड़ा तो वह व्यसन फिर घर-बाहर चौपट होनेपर भी न छूटा। ईरषाने कहा कि 'अब तुम मुझको कभी-कभी मारा करो।' धौंसीराम तो बड़ा पत्नीभक्त था, उसने आजतक पत्नीकी कभी उपेक्षा भी नहीं की थी और न कभी वह उससे बुरी तरह पेश ही आया था। इसलिये पत्नीपर हाथ उठानेको उसका मन नहीं होता था; परंतु जब ईरषाने बड़ा हठ किया, तब उसने झूठ-मूठ ही अनमने होकर दो-चार हलके हाथ जमा दिये। ईरषाने रोना शुरू कर दिया और अगले ही दिन भगवान्‌के पास शिकायत लेकर चल पड़ी।

चलते-चलते मार्गमें उसे वही बूढ़ी मिली। उसने ईरषाको देखकर उसे कहा कि 'तुम जरा मेरी मटकी उठवाकर मेरे सिरपर रखवाती जाओ' परंतु कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली—कहाँ इतने बड़े धनी सराफकी पत्नी और कहाँ वह भिखारिन बुढ़िया। उसका और ईरषाका मुकाबला ही क्या! ईरषाने इसको अपना अपमान समझा और लगी मनमें सोचने—'ऊँह, मैंने आजतक घरपर भी कभी कोई मटका-वटका नहीं उठाया। सभी काम दास-दासियाँ करती हैं। इस बुढ़ियाकी मजाल तो देखो—बड़ी आयी है मुझपर हुक्म चलानेवाली—कहती है मटका उठवा दो!' ईरषाका मुख क्रोधके मारे तमतमा उठा और वह अपने बड़प्पनकी शानमें तुनककर बोली—'जा-जा, अपना काम कर; मुझसे नहीं उठाया जाता तेरा यह बोझा। नहीं उठता था तो क्यों घरसे चली थी? अपने बेटे-बेटियोंमेंसे किसीको साथ ले आयी होता, वह उठा देता। मैं क्या तेरी नौकराइन हूँ और बिल्कुल निठल्ली बैठी हूँ? मेरा अपना समय बहुत मूल्यवान् है, मैं व्यर्थमें तुझ-जैसी गंदी औरतोंके काम करनेमें अपना समय नष्ट नहीं कर सकती।' और वह भुनभुनाती हुई आगे निकल गयी। कुछ दूर चलनेपर उसे भी वही कोढ़ी मिला और उसने वही कमलावाली बात उसके आगे दोहरायी। ईरषाने तो कोढ़ीको देखते ही अपनी आँखोंपर हाथ रख लिये और घृणासे अपने-आप ही बोल उठी 'छिः-छिः, राम-राम-राम—इतना गंदा शरीर कोढ़से भरा हुआ, देखते ही जी मिचलाता है। कौन इसके गंदे लोटेको हाथ लगाये और इस चमचमाती धूपमें पानी लाकर दे। मैं तो इसकी गंदी रेढ़ीको खींचकर कभी भी छायामें नहीं कर सकती। इस मूर्खको कहते भी शर्म नहीं आती—इन निगोड़े भिखमंगोंकी बिसात तो देखो, न आन देखते हैं न बान—इसको पता नहीं कि मैं कौन हूँ। मुफ्तखोर कहींके, माँगकर खाना आसान जो है। इसीलिये···'और फिर वह कुछ अकड़कर रोषसे बोली—'बेटीको बुखार था तो मैं क्या करूँ? तुम्हारे बापकी नौकर थोड़े ही हूँ। तू भी घरपर ही बैठता। हमारे पास भी घर लुटानेको पैसे नहीं हैं। मेहनतकी कमाई है, मेहनतकी; तुम लोगोंको तो झोली पसारकर माँगनेकी आदत पड़ गयी है।' और वह थू-थू करती मुँहपर रूमाल रखकर नाक-भौं सिकोड़ती आगे

चली गयी।

कुछ दूरीपर उसे वे ही चरवाहे मिले और उन्होंने उसको भी पानी पिलानेको कहा। ईरषा उनसे भी अभिमानपूर्वक बोली—'मैं क्या करूँ ? गौओंकी रखवालीके लिये अपने किसी साथीसे कहो, वह कर देगा। मेरा समय बहुत कीमती है, मैं उसे व्यर्थ कामोंमें नहीं गँवा सकती। हट्टे-कट्टे जवान हो, खुद जाकर कहीं झरना ढूँढ लो। मुझे क्या बेगार पड़ी है जो तुम-जैसे अच्छे-भले जवानोंको इतनी दूरसे पानी लाकर दूँ ?' और वह अपने ही घमंडमें बड़बड़ाती आगे बढ़ गयी।

मन्दिर अब निकट ही था, ईरषाने वहाँ पहुँचकर भगवान्‌की मूर्तिको नमस्कार किया और बड़े घमंडके साथ एक अठन्नी वहाँ फेंक दी। भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, उन्हें धनकी चाह-परवा थोड़े ही है। उन्होंने तो दुर्योधनके स्वादिष्ट पदार्थों और मेवेको त्यागकर विदुरके प्रेमसे आकर्षित होकर उसका साग ही स्वीकार किया था। अपने भक्तजन भगवान्‌को सदा ही प्रिय होते हैं। अवश्य ही बुरे लोग भी उनको अप्रिय नहीं होते, वे तो उन दुष्टोंको भी सुधरनेका अवसर देते हैं और उनकी भी सदा सुनते हैं। ईरषाके सामने भगवान् प्रकट तो नहीं हुए, पर आकाशवाणीमें बोले—'कहो बेटी! क्या चाहती हो ?' ईरषाकी खुशीका ठिकाना न था, वह फूलकर कुप्पा हुई जा रही थी। उसने फटाफट उत्तर दिया—'बहुत बड़े आलीशान महल, दास-दासियाँ, मोटर-ताँगे, बाग-बगीचे—सभी कुछ।'

'हूँ ?' भगवान्‌ने उसकी फरमायशें सुनकर पूछा—'हाँ, तो पहले कहाँ रहती हो—किसी टूटे-फूटे खँडहरमें ? वहाँ दास-दासियाँ या मोटर-ताँगा नहीं है ? सारा काम खुद ही करती हो क्या ?'

'वाह, मैं क्यों खँडहरमें रहने लगी, वहाँ रहें मेरे दुश्मन। मैं तो पक्की बढ़िया इमारतमें रहती हूँ। और मुझसे काम तो होता नहीं। नौकर हैं, वे ही भोजन पकाते हैं और झाड़-बुहारी तथा बाजारका सभी काम करते हैं। हाँ, मोटर नहीं है; पर घोड़ागाड़ी तो है।'

'अच्छा! तब तो तुम बहुत धनवान् होओगी। तुम लोगोंको अच्छा भोजन मिल जाता है या सादी दाल-रोटी ही मिलती है ? घरमें सामान भी काफी होगा ?'

'दाल-रोटी खाय मेरी बला—हम तो रोज खीर-पूरी, हलवा, बर्फी, अच्छे-अच्छे फल और पकवान खाते हैं। मेरे पतिकी जवाहरातकी अपनी दूकान है, अतः हमारे घरमें तो बर्तन भी सब सोने-चाँदीके हैं।'

'अच्छा! तब तो तुम्हारे पति बहुत भले जान पड़ते हैं, वे तुम्हें बहुत ही सुखी रखते होंगे ?'

'जी·····नहीं, परमात्माजी ?' ईरषा अपनी बातपर तनिक जोर देकर और ऊपरसे बनावटी खेद प्रकट करते हुए कहने लगी—'वे तो बड़े दुष्ट हैं, नित्यप्रति मद्यपान करते हैं और मुझे बहुत ही पीटते हैं—मैं उन्हींकी तो शिकायत करने आयी हूँ।'

'तुम बहुत बातूनी और झूठी हो।' भगवान् उससे बोले। 'तुम्हारा पति तुम्हें कभी नहीं मारता; वह तो तुम्हें बहुत चाहता है और तुमसे बड़ा प्रेम करता है। परंतु हाँ, दैनिक व्यवहारमें तुम्हारा पति लोगोंसे बहुत छल-कपट करता है। याद रखो—मैं सभी स्थानोंपर गुप्तरूपसे निवास करता हूँ, मुझसे तो कोई भी रहस्य छिपा नहीं रह सकता। भोले-भाले लोगोंको अवश्य धोखा दिया जा सकता है, परंतु मेरी आँखोंमें कोई भी धूल नहीं झोंक सकता। मैं प्रत्येक व्यक्तिके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्योंसे ही नहीं, उसके मनकी बातोंसे भी परिचित हूँ। तुम्हारे पतिकी कमाई नेकनीयती और ईमानदारीकी नहीं, बल्कि सब धोखेबाजीकी खोटी कमाई है। यह मत भूलो कि पापका पैसा जैसे आता है, वैसे ही वापिस भी चला जाता है। तुम्हारे पास धन-दौलत—किसी चीजका अभाव नहीं है, परंतु फिर भी तुम्हारी तृष्णा नहीं मिटी। तुम दोनों ही स्वार्थी हो। जाओ, तुम्हारे पास जो कुछ है, उसीमें संतुष्ट रहना सीखो।'

इतना कहकर आकाशवाणी रुक गयी और ईरषा क्रोधसे पैर पटकती खिन्न मनसे वापिस लौटने लगी। वापिसीके समय उसने देखा कि एक ऊँचे टीलेपर अद्वितीय कान्तिसे युक्त एक सुन्दर-सा बालक बैठा बाँसुरी बजा रहा है और आस-पास वे ही चरवाहे तथा और भी कई ग्वाल-बाल तालियाँ बजा-बजाकर नाच-गा रहे हैं। पर उसे इसमें कोई आनन्द नहीं आया। उसी वृक्षके नीचे वहीं निकट ही उन चरवाहोंका मिट्टीका बर्तन उल्टा पड़ा था, उसपर नजर पड़ते ही ईरषाको कमलाकी स्वर्णकी ईंटवाली बात याद आ गयी और वह ललचायी आँखोंसे उस ओर देखने लगी। चरवाहे और ग्वाल-बाल अपने नृत्य तथा आँखमिचौनीके खेलमें मस्त थे। ईरषाने चुपके-से धीरे-धीरे उस घड़ेको सीधा किया, उसके

नीचे एक बड़ा-सा गोबरका ढेर था। उस गोबरमेंसे एक बिच्छू निकला और उसने ईरषाके पाँवमें डंक मार दिया। दर्दके मारे वह जोरसे जो चिल्लायी तो उसका चीत्कार सुनकर चरवाहोंके रूपमें वे देवता दौड़कर वहाँ आ गये और जोर-जोरसे हँसने लगे। उनके अट्टहाससे वह वन गूँज उठा। ईरषाने जो पहलेवाले उन दोनों चरवाहोंको देखा तो लज्जित होकर वहाँसे भागी—

आगे वही कोढ़ी बैठा था, पर ईरषाके देखते-ही-देखते वह एक सुन्दर बालकके रूपमें प्रकट हो गया। उसका शरीर सुन्दर गहनोंसे सजा था। ईरषाने दो-तीन बार आँखें मलकर देखा कि कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रही हैं; परंतु जब हरबार ही उसे अमूल्य आभूषणों तथा वस्त्रोंसे सुसज्जित वह सलोना बालक ही दिखायी दिया, तब उसके मनमें लालच उमड़ा। सोचने लगी कि 'क्यों न इस नन्हे बालकको फुसलाकर इसके रत्नजड़ित दो-चार गहने ही उड़ा लूँ।' इस विचारसे वह उसकी ओर आगे बढ़ी ही थी कि फिर वही कोढ़ीका रूप उसके सामने आ गया और वह जोर-जोरसे अट्टहास करके हँसते हुए कहने लगा—'तुम बहुत ही लालची और स्वार्थी हो। तुम्हारे पास इतना धन है, परंतु फिर भी तुमने मुझको चार-आने पैसे नहीं दिये। वह धन किस कामका जो योग्य पात्र-को दानमें न दिया जाय या भले कामोंमें न लगाया जाय।'

इसके पश्चात् वह कोढ़ी फिर बोला—'देखो, बेटी! तुम्हें मैं एक कामकी बात बताता हूँ मनुष्यको कभी भी दुष्टता, क्रोध, कुटिलता अथवा अभिमान नहीं करना चाहिये। घमंडका सिर सदा ही नीचा होता है। क्रोध और घमंड मनुष्यके अपने शत्रु होते हैं—क्रोधी व्यक्तिका विवेक जाता रहता है और गुस्सेमें स्वयं उसीको पता नहीं चलता कि उसे क्या करना चाहिये अथवा क्या नहीं। गुस्सेमें किये हुए कार्यपर बादमें सदा पछतावा रहता है। बुद्धिमान् व्यक्ति अपनेसे बड़े और पूजनीय वृद्धजनोंके अतिरिक्त विद्वान्, तपस्वी, महात्मा तथा गुरुजनों—सभीका आदर करते हैं; किसीका अपमान करना अथवा रुपयेके मदमें किसी निर्धनका दिल दुखाना तथा उनका निरादर-तिरस्कार करना उनसे नहीं बन पड़ता। बेटी! ऊँचे-नीचे सभीके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव करना और सहानुभूति तथा सहायता देकर दुखियोंके दुःख हरना तथा सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग करना—ये ही अच्छे व्यक्तिके लक्षण हैं। भगवान्‌के घरमें निर्धन और धनीका अन्तर नहीं है। भगवान्‌को तो दोनों ही प्रिय हैं। वे तो केवल हृदयकी परख करते हैं। ऊँच और नीचके नियम तो मनुष्य और समाजके द्वारा ही बनाये गये हैं; इसीलिये जो लोग अपनेसे नीचे लोगोंकी सहायता करते हैं, भगवान् उन्हें अनन्तगुना देते हैं।'

यद्यपि कोढ़ीके शब्दोंमें बड़ा स्नेह, वात्सल्य और सदुपदेश था, फिर भी ईरषाने समझा कि चूँकि उसने कोढ़ीको पानी नहीं पिलाया, अथवा कुछ दिया नहीं, इसीलिये वह उससे कुछ प्राप्त करनेके विचारसे दानकी महत्ता अथवा गरीबोंकी सहायता करना इत्यादि बड़ी-बड़ी बातें बघार रहा है। वह गुस्सेसे बोली, 'जा-जा, रहने दे अपने उपदेश; इतना ज्ञानी है तो यहाँ सड़कोंपर भीख माँगता क्यों फिरता है। तेरी महत्ता तुझे ही प्राप्त हो।' उस मूर्खको क्या पता था कि साक्षात् भगवान् ही उसकी परीक्षा ले रहे थे। वह कोढ़ी-को यों फटकारती हुई अपने घरकी ओर आने लगी। रास्तेमें उसे वही बुढ़िया ग्वालिन मिली तो सही, परंतु उसे वृद्धासे भी कुछ प्राप्त नहीं हुआ। तब वह मन मसोसकर जली-भुनी घर पहुँची।

धौंसीमलको तो अब मदिरा तथा जूएका चस्का लग ही चुका था, अतः दूकानपर बैठनेको उसका जी ही न चाहता था। कहाँ तो पहले वह रातके नौ बजेसे पूर्व दूकान बंद नहीं करता और पाई-पाईका हिसाब रखता था, कहाँ अब संध्यासे पहले ही उसका मन ताश खेलने और अपने मित्रोंकी धमाचौकड़ीमें शामिल होनेको उतावला हो उठता है।..... उधर लोगोंकी भी आँखें खुल रही थीं। वे उसके खोट मिलाने अथवा झूठे तथा कपटभरे व्यवहारको खूब समझने लगे थे। इसलिये वे भी उसकी दूकानपर कम ही आते। रामलाल भी तो जौहरी ही था, अतः सब उसके पास चले जाते।

रामलालकी सज्जनता तथा ईमानदारीके कारण सभी उसी-के पास जाना पसंद करते। वह एक तो कम दामोंपर चीज देता, किसीको धोखा नहीं देता, खरा माल देता। यदि कोई चीज अपने पास न भी होती तो शहरसे उन्हीं दामोंपर मँगवा देता। सारा गाँव उससे प्रसन्न था। धौंसीमलका कारोबार तो अब घट ही गया था। बाकी रहा-सहा भी मदिरा और जूएमें चौपट हुआ जा रहा था। ईरषा अपने भाग्यपर रोती रहती। उसने कभी किसी गरीबका भला, सत्कार नहीं किया था, न किसीके साथ कभी सहानुभूति ही प्रकट की थी। अतः अब लोग भी अपने अपमानका बदला समझकर उसके बुरे दिनोंसे प्रसन्न होते। पहले वे दो गाली

खाकर भी ऊपरसे नहीं बोलते थे, पर मनमें अवश्य बुरा-भला कहते थे। कहते हैं न कि जो किसीकी गाली, अपमान (निन्दा) या कटु वचनोंको सह लेता है, उस व्यक्तिका आन्तरिक दुःख ही इतना अधिक होता है कि वह अपमान या बुराई करनेवालेको जला डालता है—साथ ही वह उसके पुण्य तथा अच्छे कर्मोंको भी ले लेता है। धौंसीराम और ईरषाके विषयमें यह बात बिल्कुल ठीक उतरी थी, उनके पुण्य अब क्षीण हो चले थे।

रामलाल और कमलाके शील, स्वभाव अथवा उदार वर्तावके कारण लोग उनकी प्रशंसा करते। साधु-भिखमंगा कोई भी उनके द्वारसे खाली न जाता। अतिथि-सत्कारमें वे दम्पति कोई त्रुटि नहीं रखते। कमला कभी भी किसीके प्रति कठोर वचन मुँहसे न निकालती और यही ध्यान रखती कि कहीं क्रोधवश किसीके दिलको जलानेवाली या उसके मर्मको चोट पहुँचानेवाली कोई भी बात कभी मुँहसे न निकल जाय। गली-मुहल्लेकी औरतें उसके हित-मित भाषण तथा समझदारीके कारण अपने दिलकी सारी बातें उसके आगे खोलकर रख देतीं, अपने दुःखोंका रोना रोतीं और वह अपने विवेक अथवा बुद्धिमानीसे उनके घरके मामलोंमें उन्हें नेक सलाह देती, सदा सद्व्यवहारकी शिक्षा देती और उनके दुःख-दर्दको दूर करनेका सच्चा प्रयास करती।

समय पाकर उन दम्पतिके यहाँ एक बड़ा ही सुकोमल और सुन्दर, चाँद-सा गोरा पुत्र उत्पन्न हुआ। कमलाको 'मनमोहन' भगवान्‌के बालगोपाल-रूपके दर्शनोंकी स्मृति अब भी बनी थी, अतः बच्चेको उसने भगवान्‌की कृपासे 'मनमोहनरूप' ही जाना और उन्होंने उसका नाम भी 'मनमोहन' ही रखा।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।'

बचपनसे ही वह बालक अपनी तीक्ष्ण बुद्धि तथा अपूर्व प्रतिभाका परिचय देने लगा। वह बालक प्रभुके आशीर्वादसे सर्वगुणसम्पन्न था और बड़ा होकर उसने सत्कर्मोंद्वारा अपने माता-पिताके नामको और भी उज्ज्वल कर दिया। रामलाल और कमला उस-जैसे पुत्ररत्नको पाकर फूले न समाते थे।

गरीबी और बेकारी

(लेखक—श्रीमेघराज अग्रवाल, बी० एस्-सी०, ए० एम्०, आई० ई०)

आज संसारपर आर्थिक संकट छाया हुआ है और इस देशमें ही नहीं, प्रायः सभी देशोंमें लोग गरीबी और बेकारीसे बेचैन हैं। यह विज्ञानका युग है और विज्ञानके सहारेसे मनुष्य अणुकी गहराई तक पहुँच चुका है। यदि मनुष्य थोड़ी बुद्धिसे काम ले तो संसारके सब लोग बड़ी आसानीसे सुखी हो सकते हैं; पर चारों ओर इससे उल्टा ही दृश्य दिखायी पड़ रहा है।

इस गरीबी और बेकारीकी समस्यापर यदि गहरी दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बेकार वह व्यक्ति है, जिसके पास अपनी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये पैसा नहीं है और वह उस पैसेको प्राप्त करनेके लिये कामकी खोजमें है। धनी व्यक्ति, जिसके पास जरूरतोंकी पूर्तिके लिये पर्याप्त पैसा है, कोई काम न करता हुआ भी बेकार नहीं कहा जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जरूरतोंकी पूर्ति ही असली चीज है और पैसा उन जरूरतोंकी पूर्तिका केवल एक साधन है। जरूरतोंका पूरा न होना ही गरीबी है।

वर्तमान उद्योगप्रणालीका यह मूल सिद्धान्त है कि जनताकी जरूरतोंको खूब बढ़ा दिया जाय, जिससे उद्योग-पति खूब पैसा कमाते रहें। मनुष्य तो अपनी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये काम करता है और पसीना बहाता है, पर यह उद्योगपद्धति मनुष्यकी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये नहीं, वरं उनको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये अग्रसर रहती है। जो वस्तु मनुष्यकी जरूरतोंको पूरा करती है, वह उसकी गरीबीको दूर करती है; और जो वस्तु इसके विपरीत जरूरतोंको बढ़ाती है, वह गरीबीको बढ़ाती है। इसका यह अर्थ हुआ कि वर्तमान उद्योगपद्धति मनुष्यके हितके विरुद्ध काम करती है। इस मूल सिद्धान्तका प्रभाव आज हम अपने जीवनकी प्रायः सभी वस्तुओंमें अनुभव करते हैं और यह सिद्धान्त ही मनुष्यको गरीबीकी ओर खींचे लिये जा रहा है। मनुष्यको जीवनके लिये भोजन आवश्यक है और यदि कोई व्यक्ति इस आवश्यक पदार्थको प्राप्त नहीं कर सकता तो वह गरीब कहा जाता है। पर यदि मनुष्यको भोजनकी जरूरत ही न रहे तो भोजन न मिलना गरीबीका कारण न बनेगा।

इस उद्योगप्रणालीके इस मूल सिद्धान्तका फल यह है कि आजकल पैसा खर्च करनेपर जरूरतें पूरी नहीं होतीं, पर और अधिक बढ़ जाती हैं। सिगरेट और चाय—इस

युगकी दो विशेष वस्तुएँ हैं। वर्तमान समाजमें सिगरेट और चाय पीनेवाला ही सभ्य समझा जाता है। जो व्यक्ति इन चीजोंसे दूर रहता है, उसको जंगली या मूर्खकी उपाधि दी जाती है। सिगरेट पीनेपर पैसा खर्च होता है, पर इससे हमारी कोई भी जरूरत पूरी नहीं होती, उलटा सिगरेट पीनेसे जो रोग पैदा होते हैं, उनपर और पैसा खर्च करना पड़ता है। चाय पीनेपर पैसा लगता है और उससे जो हानि शरीरको होती है, उसको दूर करनेके लिये भी काफी पैसा लगता है।

दाँत साफ करनेके लिये गुणकारी स्वच्छ दाँतुन बिना पैसेके ही मिल जाता है, पर विज्ञापनोंके चक्करमें पड़कर लोग दाँतोंको खराब करनेवाली क्रीम और ब्रशपर पैसा लगाते हैं। प्रकृतिके सरल नियमोंके पालनसे स्वास्थ्य और सौन्दर्य अपने-आप ही मिल जाते हैं; पर मनुष्य प्रकृतिको लात मारकर दवाकी बोतलों, पाउडरों और क्रीमोंकी शीशियोंमें इनको खोजता रहता है। इन दवाइयों और क्रीम आदिपर रुपया भी लगता है और इससे स्वास्थ्य भी खराब होता है।

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नये-नये ढंगकी इस युगकी बनावटी वस्तुओंपर पैसा भी खर्च होता है और उनसे बीमारी भी मिलती है। इन वस्तुओंके सेवनसे हम बीमारीको अपने उद्योगसे प्राप्त किये पैसेसे मोल लेते हैं। सिगरेट और चाय बिना पैसेके तो मिलते नहीं, इसलिये बिना पैसा खर्च किये सिगरेट और चायसे पैदा होनेवाले रोग भी हमको नहीं मिल सकते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह और ऐसी ही अन्य बहुत-सी बनावटी वस्तुएँ हमें गरीबी और दुःखकी ओर ले जानेका काम करती हैं।

इसके विपरीत जब हम प्राकृतिक वस्तुओंपर ध्यान देते हैं, तब पता चलता है कि उनके सेवनसे हमारी बहुत-सी जरूरतें पूरी हो जाती हैं। इसलिये वे वस्तुएँ गरीबी और बीमारीको दूर करनेका काम करती हैं।

दूध और शहद भारतीय सभ्यताके आधार हैं, भारतीय अर्थशास्त्र और भारतीय प्रकृतिके अटल नियमोंके आधारपर बने हैं। आवश्यकताओंकी पूर्ति और मनुष्यका हित ही इस अर्थनीतिके उद्देश्य हैं। गाय दूध, घी, दही—सब कुछ देती है, जिनके सेवनसे मनुष्यका शरीर ही नहीं, उसकी आत्मा भी तृप्त हो जाती है। इनके सेवनसे सब रोग दूर भाग जाते हैं। दूधकी कमीके कारण ही आज घर-घर क्षय, नेत्र-रोग और अन्य कई रोग तेजीसे बढ़ते जा रहे हैं। रोग दूर भाग गये तो उनपर खर्च होनेवाला पैसा भी बच गया। गायका गोबर बहुत बढ़िया खाद है और आज जो देशमें अन्नकी कमी है, वह इस खादकी कमीके कारण ही है। आजकल कठिनाईसे बारह मन गेहूँ प्रति एकड़ होता है। इस गोबरसे यह आसानीसे पंद्रह मन हो सकता है। बैल खेत जोतने, पानी खींचने आदि कितने ही कामोंमें आते हैं। एक ही गायसे बहुत-सी गायें और बैल पैदा हो जाते हैं। पशुके मर जानेपर चमड़ा, हड्डी आदि सब काममें आ जाते हैं।

शहदसे मनुष्यके स्वास्थ्यको जो लाभ होता है, वह तो प्रायः सब लोग जानते हैं। मधुमक्खीका बहुत बड़ा लाभ यह भी है कि इससे खेतों और बगीचोंकी उपज बहुत अधिक हो जाती है। कनाडामें ३½ करोड़ पौंड शहद हर साल पैदा होता है और अमरीकाके किसान शहदसे १५ करोड़ रुपया हर साल कमाते हैं; पर इस अभागे देशमें करोड़ों रुपयेका शहद धूप और हवासे फूलोंमें ही सूख जाता है; क्योंकि उसको जमा करनेके लिये यहाँ मधुमक्खियाँ ही नहीं हैं। लाखों शहदके छत्ते शहद निकालनेमें ही नष्ट कर दिये जाते हैं।

शहद अमृत है; पर विदेशोंमें मधुमक्खीकी सेवा केवल शहदके लिये नहीं होती, पर इसलिये होती है कि इससे खेती और बगीचोंकी उपज बहुत बढ़ जाती है। शहदसे जो आय होती है, उससे लगभग १५ गुना लाभ खेतीको होता है। विदेशोंमें खेतीकी इतनी उपज इसी कारणसे होती है। यदि हम प्रकृतिके इन सरल साधनोंसे लाभ न उठायें तो भूखे मरनेके सिवा और क्या पा सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गाय और मधुमक्खी मनुष्यकी बहुत-सी जरूरतोंको पूरा करती हैं और इसलिये गरीबीको दूर करनेका काम करती हैं। हम गरीब क्यों होते जा रहे हैं? इसीलिये कि हमने गरीबीको दूर करनेवाले दूध, शहद आदिको त्यागकर गरीबीको लानेवाले सिगरेट और चाय आदिको अपना लिया है। सत्य तो यह है कि यदि गरीबी दूर हो सकती है तो केवल गाय और मधुमक्खीसे, अन्नकी समस्या सुलझ सकती है गाय और मधुमक्खीसे, रोगोंसे छुटकारा मिल सकता है तो भी इनसे ही। गायकी सेवाके बिना गरीबीकी समस्या दूर हो ही नहीं सकती।

संसारकी प्रत्येक वस्तु और मनुष्य प्रकृतिके अटल नियमोंसे बँधे हैं। विज्ञानके चक्करमें पड़कर मनुष्य प्रकृतिको

ठुकरा रहा है, पर प्रकृति तो उसके रोम-रोममें व्यापक है। प्रकृतिकी शक्तिके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं,—एक भूकम्प आता है और हजारों मनुष्य कीड़ोंकी तरह मर जाते हैं। एक नदीमें बाढ़ आती है तो गाँव-के-गाँव साफ हो जाते हैं। प्रकृतिके सरल नियमोंके पालनसे मनुष्यको सुख मिलता है और जितना ही वह प्रकृतिसे दूर होता है उतना ही गरीब, रोगी और दुखी होता जाता है। बनावटी चीजोंको प्राप्त करने और बनावटी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये मनुष्य दौड़-धूप करता है। यदि हम शान्तचित्तसे ध्यान दें तो बहुत-सी चीजें जो जरूरी समझी जाती हैं, वास्तवमें जरूरी नहीं हैं। उनको छोड़ देनेसे हमें लाभ भी होगा और जरूरतें कम होनेसे आर्थिक समस्याएँ भी बहुत सरल तथा कम हो जायँगी। प्रकृतिकी शरण लेकर और हानिकर बनावटी वस्तुओंके त्यागसे हम बहुत कम पैसोंसे ही अपनी सब जरूरतोंको पूरा कर सकते हैं और उन कम पैसोंको प्राप्त करनेके लिये हमें दौड़-धूप भी कम करनी होगी।

और, जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ?

[मत्सर, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है पचीसों वर्ष पहलेकी।

किसीने देखा एक श्रीमतीजीको।

साथियोंने बताया—वे एम्० ए० पास हैं।

एक तो महिला, दूसरे एम्० ए० पास !

वे पुरुष, केवल मैट्रिक !

उन्हें कैसा कैसा तो लगा—!

काश, मैं भी एम्० ए० पास होता !

× × ×

यह भावना थी Inferiority Complex की, हीनताकी, मत्सरकी—एक महिला मुझसे आगे बढ़ गयी !

× × ×

मेरे एक साथी हैं।

मैंने उनकी भूलें सुधारी हैं।

लोग मानते हैं कि योग्यतामें वे मेरे पासंगके बराबर भी नहीं।

पर आज वे मुझसे कई गुना पैसा पाते हैं।

मुझे अकसर उलहने मिलते हैं—तुम त्यागके ही ढकोसलेमें पड़े हो। देखो, वे कितने मजेमें हैं ! 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला चीनी हो गया !'

× × ×

एक पड़ोसीके घर कार आयी।

एक दिन रेडियो आया।

टेलीफोन लगा।

कितनोंको मत्सर हुआ—

'हैं रे अकबरा, तेरे जे ठाट !'

कहते हैं कि एक दिन अकबर शिकारको गया।

रातको अकेला जंगलमें जा फँसा।

एक गरीब वनवासीने उसे शरण दी।

प्रेमसे कोदो-साँवाकी मोटी रोटी खिलायी।

पानी पिलाया झरनेका।

आग जलाकर रातभर गरमाया।

सुबह अकबर जब चलने लगा, तब निमन्त्रण देता आया उस वनवासीको।

एक रोज उस वनवासीने सोचा—चलूँ, 'अकबरा' से मिल आऊँ।

खोजता-खोजता पहुँचा राजधानीमें।

अकबर उसे देख बड़ा खुश हुआ और लगा उसे अपना माल-खजाना दिखाने।

वनवासी आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखता जाता था और कहता जाता था—"हैं रे अकबरा, तेरे जे ठाट !"

× × ×

अभी उसी दिन तो एक सज्जन कह रहे थे कि··· राज्यका··मन्त्री पहले अकसर हमारे घर आया करता था, वहीं खाता, वहीं सो जाता। बादमें मैं चला गया अमेरिका। कई वर्ष बाद लौटा तो सुना कि वह 'मिनिस्टर' बन गया है। मिलने गया तो सीधे मुँह बात करना तो अलग, उसने मुझे पहचाना भी नहीं।

और मैं देख रहा था कि इन सज्जनके मुँहसे मत्सरकी

ही भावनाएँ बोल रही हैं।

× × ×

सुत बित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥

रुपया-पैसा, धन-दौलत, जर-जमीन, कार-बँगला, पद-सम्मान, बेटा-बेटी, वैभव-ऐश्वर्य—आदि तरह-तरहकी चीजें हमें रात-दिन ललचाया करती हैं।

हम सब इसी फेरमें पड़े रहते हैं।

और इसी फेरमें जब हम देखते हैं कि इससे छोटा हमसे कम हैसियतका कोई व्यक्ति अथवा हमारा कोई समकक्ष अथवा कोई भी अन्य व्यक्ति किसी भी दिशामें हमसे आगे बढ़ जाता है, हमें मात दे देता है, तो हमारा कलेजा भीतरसे कसक उठता है। उसमें जलन पैदा हो जाती है।

इस जलनका ही नाम है—मत्सर!
इस जलनका ही नाम है— ईर्ष्या!
इस जलनका ही नाम है—डाह!

× × ×

तुलसीबाबा कहते हैं—

खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी।
जरहिं सदा पर संपति देखी॥

मत्सरकी कैसी सुन्दर व्याख्या!

दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर जलना मत्सर है।

दूसरोंका वैभव देखकर कुढ़ना मत्सर है।

दूसरोंका उत्कर्ष देखकर चिढ़ना मत्सर है।

× × ×

किसीके पास मुझसे अधिक पैसा हो जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीको मुझसे ऊँचा पद मिल जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीको मुझसे अधिक आदर और सम्मान मिल जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीमें मुझसे अधिक योग्यता आ जाती है, मैं जल उठता हूँ।

मेरा मकान बिना पलस्तरका है, पचीसों बार धक्के खानेपर भी सीमेंटका परमिट नहीं मिल पा रहा है और मेरे पड़ोसीके मकानपर पलस्तर हो रहा है, कलई हो रही है; मैं जल उठता हूँ।

किसीकी रद्दी-से-रद्दी किताबें छप रही हैं और पैसेके अभावमें मेरी बढ़िया-से-बढ़िया पुस्तकोंको दीमकें चाट रही हैं, मैं जल उठता हूँ।

मेरे पास चार ही साड़ियाँ हैं और बगलवालीके पास दस साड़ियाँ हैं। मेरे हाथ सूने हैं और उनके पास सोनेके कंगन हैं। श्रीमतीजी मचली फिर रही हैं—'जीजी नचिहैं तो हमहूँ नचब!'

× × ×

बात है १९३०-३२ की।

उन्हें गाँधीकी हवा लग गयी।

कालेज छोड़कर आ गये मैदानमें।

वे भी सविनय अवज्ञा-आन्दोलनके सैनिक बने।

इतना तो ठीक।

समयकी पुकार, युगकी पुकार, कर्तव्यकी पुकार, देशकी पुकार—उनका राजनीतिमें कूदना उचित ही था।

बल्कि वैसा न करना ही गलत होता।

पिताजीका देहान्त भी उन्हें पथसे विचलित न कर सका।

× × ×

पर बात यहींतक होती तो गनीमत थी।

'नया मुल्ला प्याज अधिक खाता है।'

गाँधीजी लँगोटी लगाते हैं तो वे क्यों न लगायें!

उनके पास भी आ गये खादीके दो गमछे—दो-दो गजके।

एक गमछा पहनते, एक ओढ़ते।

कड़कड़ाती सर्दीमें भी इतने ही परिग्रहसे काम चलाते!

× × ×

इतना ही नहीं।

नमक खाना भी उन्होंने छोड़ दिया!

रोटी, गुड़ और दूध—बस, केवल इतना ही उनका आहार रह गया।

× × ×

कोई छः महीने चला यह स्वाँग।

"मर जाओगे यहाँ 'सी' क्लासमें—नमक न खाओगे तो!" कहकर जेलके साथियोंने नमक खानेको उन्हें राजी कर लिया।

बाहर निकले तो कुछ बुजुर्गोंने धोती-कुर्ता पहननेको भी तैयार कर लिया।

× × ×

और अभी उसी दिन तो भाईजी कह रहे थे—'लोगोंको दिखानेको ही तो ये कुर्ता, पाजामा पहनते हैं, वर्ना इन्हें क्या !—कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः !'

× × ×

मैं मानता हूँ कि त्यागका भी मत्सर होता है, हो सकता है। अपरिग्रहमें भी मत्सर हो सकता है।

लँगोटी लगानेमें, कौपीन पहननेमें भी दिखावा हो सकता है। दूसरोंसे सम्मान पानेकी, अपनेको बड़ा दिखानेकी भावना हो सकती है। 'त्यागवीर', 'महात्मा' कहलानेकी वासना हो सकती है।

और जब ऐसा है, तब ऐसे त्यागका मूल ही क्या।

× × ×

सच्चा अपरिग्रह तो इन बाह्य बातोंपर निर्भर ही नहीं करता।

वहाँ कपड़ा रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक।

नंगा रहकर भी मनुष्य परिग्रही हो सकता है और सूट-बूट पहनकर भी अपरिग्रही ?

त्याग और अपरिग्रह बाहरकी नहीं, भीतरकी वृत्ति होती है।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

× × ×

कोई सोचते हैं—

मेरे कई साथी एम्० एल्० ए० (विधानसभाके सदस्य) बन गये।

मेरे पढ़ाये हुए शिष्य एम्० पी० (संसद्के सदस्य) बन गये।

मेरे साथ एक मेजपर बैठकर काम करनेवाले कितने ही साथी 'मिनिस्टर' (मन्त्री) बन गये।

और मैं दस-पंद्रह साल पहले जहाँ था, वहीं आज भी हूँ!

× × ×

लोग कहते हैं—'तुम बुद्धू हो।'

कितने ही सगे-सम्बन्धी उनसे कहते हैं—'तू मूर्ख है! बहती गङ्गामें हाथ नहीं धोता। तेरे साथी कहाँसे-कहाँ पहुँच गये, तू अभी घास ही खोदता पड़ा है! तू इनमें किससे कम है ? तू एम्० ए० पास नहीं क्या ? तू योग्य नहीं क्या ? तू पढ़ा-लिखा विद्वान् नहीं क्या ? तू देशभक्त नहीं क्या ? तूने जेलें नहीं काटीं क्या ? तू नजरबंद नहीं रहा क्या ? तूने देशके लिये कष्ट नहीं सहा क्या ? तूने त्याग नहीं किया क्या ? तब तू क्यों चुप बैठा है ? न अपने लिये सही, कम-से-कम हमारे ही लिये तू राजनीतिमें उतर, विधानसभामें जा, लोकसभामें जा, मिनिस्टर बन ! तेरे चलते हमारी भी शान बढ़े, हमारी भी पूछ हो, हम भी कुछ बन जायँ !.....'

और वे हैं कि इन बातोंको इस कान सुनते हैं, उस कान उड़ा देते हैं।

चाहते तो वे भी देशभक्तिकी हुंडी भुना सकते थे।

कुछ नहीं तो (Political sufferer) राजनीतिक पीड़ितके नामपर कुछ चाँदी काट सकते थे—कुछ रुपये, कुछ भूमि, कुछ लायसंस, कुछ ठेके, कुछ पद प्राप्त कर सकते थे, कई बार लोगोंने इसके लिये उकसाया भी, पर वे तो इन ओछी बातोंमें विश्वास ही नहीं करते।

सेवा और कर्तव्यका पुरस्कार माँगना वे मानवका अधःपतन मानते हैं और सेवाका अपमान भी।

और फिर, यह खेल उनके बसका भी नहीं।

Politics is a dirty game.

राजनीतिका खेल बड़ा गंदा होता है।

बड़ों-बड़ोंको इसमें झूठ बोलना पड़ता है।

बड़ों-बड़ोंको इसमें सत्यकी हत्या करनी पड़ती है।

अनुशासनके नामपर, दलबंदीके नामपर अपने मुँहपर ताला लगाकर, झूठको सच और सचको झूठ बताना पड़ता है।

सत्तामें असत्यका, अन्यायका, शोषणका समर्थन करना ही पड़ता है।

वे मान लेते हैं कि यह खेल मुझसे सपर नहीं सकता।

इसके लिये मैं अयोग्य हूँ, सोलह आना अयोग्य।

× × ×

मत्सर किसीसे भी हो सकता है।

अपने हमजोलियोंसे तो मत्सर होता ही है, अपनेसे छोटोंसे भी मत्सर होता है, बड़ोंसे भी।

× × ×

करोड़पती सेठ हैं, ऐश्वर्य और वैभवका पार नहीं है, हवेलियाँ आकाशसे बातें करती हैं, मोटरें इतनी चमकदार हैं कि दृष्टि नहीं ठहरती; पर सेठजीसे जरा एकान्तमें पूछिये—'कहिये, सेठजी ! मजेमें हैं न ?'

एक ठंढी आह खींचकर सेठजी कहेंगे—'क्या कहूँ, पण्डतजी ? अमुक सेठ सट्टेमें मुझसे बाजी मार ले गया !

अमुक सेठको सोने-चाँदीके फाटकेमें मुझसे ड्यौढ़ा लाभ हो गया !·····''

सेठजी दूसरे सेठोंसे तो मत्सर करते ही हैं, उस घिसुआ मजदूरसे भी उन्हें मत्सर होता है, जो उनकी हवेलीके बगलमें टूटी झोंपड़ीमें रहता है—'भगवान्‌का अन्याय तो देखो कि इस घिसुआके यहाँ रात-दिन चें-पें मची रहती है और मेरे घरमें एक बच्चा भी नहीं ! जहाँ दूध पीनेके भी लाले हैं, वहाँ बच्चोंकी यह पलटन और जहाँ किसी बातकी कमी नहीं, वहाँ हम बच्चेके दर्शनके लिये तरसते हैं। एक दत्तक बेटा ले रखा है, पर उससे कहीं जीकी भूख मिटती है ?'

× × ×

और, हमारे ये पण्डितजी ?

नित्य वेदान्तकी ही भाषा बोलते हैं।

वेद और स्मृति, गीता और भागवतकी ही बात-बातपर दुहाई देते हैं।

क्या इनका हृदय मत्सरसे शून्य है ?

राम कहिये।

जरा टटोल कर भी तो देखिये।

इस बातका विश्वास हो जाय कि आप उनकी खिल्ली न उड़ायेंगे तो वे आपको अवश्य ही बता देंगे कि अमुक विद्वान्‌की ख्याति सुनकर उनका जी जल उठता है। अमुक पण्डितकी कीर्ति-पताका फहराते देख उनके कलेजेपर साँप लोटने लगता है।·····

× × ×

उन महात्माजीकी क्या हालत है ?

वे तो बड़े त्यागी हैं, कष्टसहिष्णु हैं, सदाचारी हैं ?

क्या उन्होंने मत्सरपर विजय प्राप्त कर ली है ?

ऊँ हूँ !

दूसरे लोगोंकी, अन्य महात्माओंकी प्रशंसा सुनकर वे भी तो जल उठते हैं। आँख खोलकर देखनेपर आप कबूल कर लेंगे—

कोई सफा न देखा दिलका, साँचा बना झिलमिलका।
कोई बिल्ली कोई बगुला देखा, पहने फकीरी खिलका॥

उस मन्थराको तो देखिये—

भला राजासे दरिद्रा दासीको क्या मत्सर ?

वाल्मीकि महाराज कहते हैं—

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत॥
सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥

रामको तिलक हो या भरतको, मन्थराका क्या बनता-बिगड़ता ? कहती भी है वह—

कोउ नृप होइ हमहि का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

फिर ऐसा क्यों ?

दीख मंथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलक सुनि भा उर दाहू॥

उसका हृदय क्यों जल रहा है ?

इस मत्सरका कारण है—सङ्ग-दोष।

× × ×

कैकेयीसे मन्थराका अनन्य प्रेम ठहरा।

फिर वह कैसे सहन करे कि कैकेयीके बेटेको गद्दी न मिले, कौसल्याके बेटेको मिले !

हम जिस महात्मापर श्रद्धा रखते हैं, जिस गुरु या जिस विद्वान्‌के सम्पर्कमें रहते हैं, उसकी प्रशंसा करनेके बदले यदि कोई किसी अन्य महात्मा, गुरु या विद्वान्‌की प्रशंसा करने लगे तो हम जल उठते हैं।

ऐसा है यह मत्सरका जाल।

× × ×

इस मत्सरका कोई ठिकाना है ?

जिसे देखिये, वही इसकी आगमें जल रहा है।

निःस्वो वष्टि शतं दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिं को गतः॥

जिसके पास कुछ नहीं है, जो अकिंचन है, उसे सौ चाहिये।

सौवालेको हजार चाहिये, हजारवालेको लाख।

लखपती पृथ्वीपति होना चाहता है।

पृथ्वीपति चक्रवर्ती बनना चाहता है।

चक्रवर्तीको इन्द्र बननेकी कामना है।

इन्द्र ब्रह्मा बनना चाहता है, ब्रह्मा शिव और शिव विष्णु।

किसने पार पाया है आशाकी इस सीमाका ?

सब एक-दूसरेसे मत्सर करते हैं !

× × ×

कोई एम्० एल्० ए० बननेको आकुल है, कोई एम्० पी०।

कोई पार्लमेंटरी सेक्रेटरी बननेको बेचैन है, कोई मिनिस्टर।

कोई मुख्यमन्त्री बननेके दाँव-पेंच लगा रहा है, कोई प्रधान मन्त्री।

और राष्ट्रपति बननेके लिये तो न जाने कितने लोग मुँह बाये फिरते हैं !

× × ×

कौपीन लगाकर लोग मठाधीश बननेको मुकदमे लड़ते हैं ?

आदमी—सच्चा और ईमानदार आदमी बनना तो दूर, लोग 'भगवान्' बननेको आकुल रहते हैं !

× × ×

सारांश मत्सरके, ईर्ष्याके असंख्य रूप हैं।

मूर्ख तो मूर्ख, 'पठित मूर्ख' भी मत्सरके शिकार रहते हैं।

बड़े-बड़े महात्मा, बड़े-बड़े संन्यासी, बड़े-बड़े महापुरुष भी मत्सरकी आगमें जलते रहते हैं।

आपका सम्मान हो रहा है, मेरा नहीं हो रहा है। आपको फूल-मालाएँ चढ़ायी जा रही हैं, मुझे कोई नहीं पूछता। आपका नाम छपता है, मेरा नहीं छपता। आपकी पूछ हो रही है, मेरी नहीं हो रही है। आपकी कद्र है, मेरी नहीं है !

बस, मैं मत्सरकी आगमें सुलग रहा हूँ।

× × ×

खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, रहने आदिकी कोई कमी न होनेपर भी मैं रात-दिन बेचैन रहता हूँ; क्योंकि दूसरे लोग—मेरे पड़ोसी, मेरे सहयोगी, मेरे परिचित, मेरे समकक्ष, मुझसे छोटे, मुझसे बड़े लोग मुझसे आगे बढ़े जा रहे हैं।

यह भावना मुझे सालती है।

यह भावना मुझे काटती है।

यह भावना मुझे पेरती है।

और इसीको कहते हैं—'मत्सर !'

× × ×

आदर्श-सम्पुट, प्रेम-चरणामृत

(श्रीबालकृष्ण बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सदैव अपनों ही द्वारा जहरके प्याले बढ़ाये गये मेरी ओर—पीनेके लिये, खाली कर देनेके लिये।
और सदैव मैंने उन्हें पी डाला,—खाली कर दिया।
फिर भी—
जीवित हूँ, ज्योतित हूँ;
क्योंकि—
मेरे मन-मन्दिरमें आदर्श-सम्पुटमें प्रेम-चरणामृत सदैव सुलभ रहा, सदैव उपलब्ध रहा।

दुग्धं गीतामृतं महत्

(लेखक—डा० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्०)

गीता भारतीय साहित्यकी अनमोल निधि है। दार्शनिक परम्परामें उसे समस्त उपनिषदोंका सार माना जाता है। वस्तुतः उसमें प्राचीन कालकी अनेक दार्शनिक विचार-धाराओंका समन्वय है। ज्ञान, कर्म और भक्तिकी त्रिवेणीके संगमपर स्थित साधनाका यह अक्षय-वट मानव-मङ्गलका महातीर्थ है। आध्यात्मिक साधना और सांस्कृतिक शीलके सूक्ष्म और व्यापक तत्त्वोंका जैसे सरल, सुबोध और सुन्दर रूपमें निरूपण गीतामें मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी सरलता, स्वच्छता और सुन्दरताके कारण ही गीता विद्वानोंका अलंकार और साधारण जनोंका कण्ठहार रही है। गीतामें प्राप्त होनेवाला कर्म और योगका सुन्दर समन्वय मानवीय संस्कृतिके मङ्गलका सनातन संदेश है।

यद्यपि गीतामें पूर्वकालकी अनेक विचार-धाराओंका समन्वय हुआ है, फिर भी उसमें उपनिषदोंके विचार-तत्त्वकी प्रधानता है। कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि गीता एक भागवत-सम्प्रदायकी उपनिषद् है। गीता-की सरल और प्राञ्जल शैली पद्यमय उपनिषदोंसे बहुत कुछ मिलती है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दी जानेवाली पुष्पिकाके 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' शब्द इस बातके प्रमाण हैं कि दार्शनिक परम्परामें गीता-का पद उपनिषदोंके ही समान था। गीताकी पाठ-परम्परा-में प्रचलित निम्न श्लोक इस बातका प्रमाण है कि विचार, विभूति और मान दोनोंकी दृष्टिसे ही गीता एक उपनिषद् ही नहीं वरं उपनिषदोंका सार-सर्वस्व है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता-माहात्म्यकी परम्परामें प्रचलित उक्त श्लोक गीताके गौरवका ही सूचक नहीं है वरं इसके साथ-साथ उपनिषद् और गीता दोनोंके स्वरूपके गम्भीर रहस्योंका प्रकाशक है। इसके अतिरिक्त उपनिषद्, गीता, श्रीकृष्ण, अर्जुन और सुधी पाठक—सबके स्थान, सम्बन्ध और महत्त्वके अद्भुत मर्म माहात्म्यके इस अनुष्टुप्के दो सरल पदोंमें छिपे हुए हैं। उपनिषद् वेदोंका ज्ञानकाण्ड होनेके कारण ज्ञानका मूल है। वे गीतासे प्राचीन और उसकी प्रेरणा हैं। अतः गीताके माहात्म्यके प्रसङ्गमें उपनिषदोंका प्रथम उल्लेख किया गया है। गीतामें सभी उपनिषदोंसे त्रिविध तत्त्वोंका सार ग्रहण किया गया है। वह किसी एक उपनिषद्पर आश्रित नहीं है। इसीलिये उपनिषदोंको 'सर्व' पदसे विशेषित किया गया है। समस्त उपनिषद्-साहित्य गीताकी दार्शनिक पीठिका है। इन उपनिषदोंको माहात्म्यके रूपकमें गौ माना गया है। उपनिषदोंका समूह एक गो-वर्ग है। गीता इसी उपनिषद्-रूपी गो-वर्गका समाहित दुग्ध है। गौसे दुग्ध प्राप्त होता है, उसी प्रकार गीताका ज्ञानामृत भी उपनिषदोंसे प्राप्त हुआ है। इस एक सरल ग्रामीण रूपकका मम बड़ा गम्भीर है। इसका प्रयोजन केवल काव्य-सौन्दर्य अथवा उपनिषदों और गीताके आधाराधेय-सम्बन्धका निर्वाह नहीं है। इससे भी बढ़कर इसका अभिप्राय उपनिषदों और गीता दोनोंके स्वरूपके निगूढ़ मर्मका उद्घाटन है।

उपनिषद् गीताके दुग्धामृतका आधार होनेके कारण ही गो-कल्प नहीं हैं। उपनिषदोंमें गौके अन्य मुख्य गुणोंकी उपस्थिति इस रूपककी सार्थकता है। गौ स्वभावसे सरल और स्वरूपसे पवित्र होती है। अपने सौम्य रूप और मधुर प्रकृतिके कारण वह बाल-वृद्ध सबको प्रिय होती है। भारतीय संस्कृतिका वह प्राण है। उसके औरस वृषभ कृषि और व्यापारके साधन तथा

वाहन बनकर देशके आर्थिक जीवनके अवलम्बन हैं। अपने दुग्धामृतसे देशकी संतानोंका पोषण और स्वास्थ्य-संवर्धन करनेके कारण गौ वस्तुतः हमारी माता है। 'गौ माता' पद हमारे भाषा-व्यवहारमें इसी तथ्यकी प्रतिष्ठाका सूचक है। गौ हमारी संस्कृतिकी पूज्य विभूति और देशके गौरवकी प्रतीक है। उपनिषद् भी गौके समान गुण और गौरवसे पूर्ण है। भाषा-शैलीकी दृष्टिसे वे गौके स्वभावके समान सरल और मधुर हैं। गौके स्वरूपके समान ही वे स्वच्छ और पवित्र हैं। गौके समान ही वे हमारी अमूल्य सांस्कृतिक विभूति हैं। जिस प्रकार गौके दुग्धामृतद्वारा बाल्यकालसे ही शरीरका पोषण-संवर्धन होता है, उसी प्रकार आरम्भसे ही उपनिषदोंके अमृत तत्त्वोंसे हमारे मन और आत्माका पोषण और विकास होता है। जिस प्रकार गौकी संतान, वृषभ देशके आर्थिक जीवनके अवलम्बन हैं, उसी प्रकार उपनिषदोंसे प्रसूत धर्मशास्त्र, पुराण आदिका विशाल और शक्तिमान् साहित्य हमारे धार्मिक जीवनका आधार है। गौके समान पूज्य और पवित्र उपनिषदोंका दुग्धामृत हमारे सांस्कृतिक जीवनका प्रमुख पेय और हमारे आध्यात्मिक जीवनका सारमय पाथेय है।

गौके समान पूज्य और पवित्र उपनिषद् हमारी श्रद्धा और अर्चनाके योग्य हैं; किंतु इस पूजा और अर्चनाके साथ हमारे जीवनमें उनका महत्त्वपूर्ण उपयोग है। उनसे ज्ञानका दुग्धामृत और आत्मिक जीवनका पोषण प्राप्त करनेके लिये उनकी सेवा तथा उनके दोहनकी आवश्यकता है। गौ स्वभावसे बहुत सरल होती है; अतः साधारणतः कोई भी उसका दूध निकाल सकता है; किंतु विधिपूर्वक सेवा और दोहनके लिये एक कुशल 'गोपाल' की आवश्यकता है। साधारण जन साधारण रीतिसे ही एक-दो गायका अपने उपयोगके लिये कुछ दूध निकाल सकते हैं, किंतु सर्वजनके उपयोगके लिये एक विशाल गौसमूहसे पर्याप्त मात्रामें दूध निकालना एक कुशल गोपालका ही काम है। साधारण जन एक-दो गायकी ही सेवा भी कर सकते हैं। एक विशाल गोवर्गकी समुचित सेवा एक योग्य और समर्थ गोपाल ही कर सकता है। इसी प्रकार उपनिषद्रूपी गौ-समूहसे समुचित सेवापूर्वक जनहितके लिये प्रचुर दुग्धामृत निकालना श्रीकृष्ण-जैसे सिद्ध और समर्थ गोपालका ही काम है। साधारण जन अपनी रुचि और तुष्टिके अनुसार एक-दो उपनिषदोंसे उपयोगी तत्त्व ग्रहणकर अपना आध्यात्मिक कल्याण कर सकते हैं; किंतु 'समस्त' उपनिषदोंसे प्रभूत ज्ञानामृत ग्रहणकर उसे लोकहितके लिये भेंट करनेमें श्रीकृष्णके समान महान् प्रतिभा ही समर्थ है। माहात्म्यके 'दोग्धा गोपालनन्दनः' पदका यही तात्पर्य है। श्रीकृष्ण उपनिषद्-रूपी गौओंसे गीतारूपी दुग्धामृतके समर्थ दोग्धा ही नहीं हैं, वे उनके कुशल पालक और सेवक भी हैं। श्रीकृष्ण जन्मसे तथा कुलसे गोपाल थे। इस तथ्यने इस रूपक तथा उसके निर्वाहमें 'गोपाल' पदको अत्यन्त उपयुक्त और सार्थक बना दिया।

किंतु एक कुशल और समर्थ गोपालको भी गोदोहनके लिये बछड़ेकी अपेक्षा होती है। बछड़ा गोदोहनका निमित्त है। उसके सुकुमार शरीर और प्राणके पोषणके लिये ही गायके थनोंसे दूधका स्रवण आरम्भ होता है। इसी प्रकार उपनिषदोंसे भी ज्ञानामृत निकालनेके लिये एक वत्सकी आवश्यकता है। अर्जुन वह वत्स है। ज्ञानके प्रसङ्गमें वह मनुष्यकी आकुल आत्माका प्रतीक है। जिज्ञासु तथा ज्ञान-ग्रहणके लिये आकुल जीव श्रुति माताके लिये अपने वत्सके समान ही प्रिय और पोषणीय है; किंतु बछड़ा गोदोहनका निमित्त मात्र है। गौका समस्त दूध उसके ही अर्थ नहीं है। कदाचित् वह उस सबको ग्रहण भी नहीं कर सकता

और यदि ग्रहण करनेमें समर्थ भी हो तो यह लोकके लिये कल्याणकर नहीं है। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' अर्जुनके इस वचनसे यह विदित होता है कि वह गीताके तत्त्वको ग्रहण करनेमें समर्थ हुआ। उससे इसका क्षुद्र हृदयदौर्बल्य अवश्य दूर हो गया; किंतु इसमें संदेह है कि अर्जुन गीताके समस्त गहन तत्त्वोंके ग्रहणमें समर्थ है। उसकी आवश्यकता-पूर्तिके योग्य तत्त्व उसे अवश्य ही प्राप्त हो गया। वस्तुतः जिस प्रकार बछड़ा गोपालके लिये गोदोहनका निमित्तमात्र होता है, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये गीताके दिव्य उपदेशका निमित्तमात्र है। वह उपदेश तो समस्त विश्वके लिये है, ठीक वैसे ही एक विशाल गो-समूहका दोहन करनेवाले गोपालकी दुग्ध-राशि लोकके स्वास्थ्य और कल्याणके लिये होती है। एक अन्य प्रसङ्गमें श्रीकृष्णकी 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' यह उक्ति एक दूरगत ध्वनिके द्वारा कदाचित् इस भावका भी संकेत करती है।

अस्तु, वत्सके समान अर्जुन गीताके दिव्य उपदेशका निमित्तमात्र है। अर्जुनके निमित्तसे भगवान्‌ने समस्त लोकके उपकारके लिये यह ज्ञानामृत-का सत्र खोला है; किंतु मुक्त सत्रसे भी पोषक-तत्त्व ग्रहण करनेकी रुचि और चेष्टा सब लोगोंमें नहीं होती। पौष्टिक तत्त्वोंसे अपनेको पुष्ट करनेकी सचेतनता बुद्धिमान् लोगोंमें ही होती है। लौकिक क्षेत्रमें उन्नति करनेके लिये सभीमें स्वाभाविक कामना होती है; किंतु आध्यात्मिक क्षेत्रमें विकास करनेकी सद्-बुद्धि सबमें नहीं होती। चटपटे और स्वादिष्ट व्यञ्जनोंमें प्रायः सबकी रुचि होती है, यद्यपि वे स्वास्थ्यके लिये अधिकांश हितकर नहीं होते। कम स्वादिष्ट होते हुए भी पौष्टिक पदार्थोंके सेवनकी रुचि कुछ बुद्धिमान् लोग ही यत्न-पूर्वक उपार्जित करते हैं। दूधके बारेमें भी कहा जाता है कि वह सबको रुचिकर नहीं होता। बच्चे भी कुछ बड़े होकर उससे अरुचि करने लगते हैं; किंतु व्यायाम करनेवाले तथा स्वास्थ्य-निर्माणके इच्छुक सचेतनतापूर्वक दूधमें रुचि उत्पन्न करते हैं और उसे अपने भोजनका आवश्यक अङ्ग बनाते हैं। लौकिक जीवनमें वे बुद्धिमान् हैं। उन्हें सुधी कहना चाहिये। ज्ञान और अध्यात्मके क्षेत्रमें गीताके दुग्धामृतके सेवनमें रुचि रखनेवाले ही 'सुधी-भोक्ता' हैं। अच्छी बुद्धिवाले ही जीवनमें ज्ञानामृतका सेवन करते हैं। अर्जुनरूपी वत्सके निमित्तसे प्राप्त गीतारूपी दुग्धामृतकी प्रभूत राशि ऐसे ही सुधी भोक्ताओंके लिये है।

गीता उपनिषद्‌रूपी गो-समूहसे निकाला हुआ महान् दुग्धामृत है (दुग्धं गीतामृतं महत्), जिसका सुधी व्यक्ति सेवन करते हैं। दुग्ध वस्तुतः पृथ्वीका अमृत है! वह केवल वर्णमें ही अमृतके समान (श्वेत) नहीं है वरं गुणमें भी उसीके समान संजीवन है। माहात्म्यके उक्त रूपकमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व गीताको दुग्ध मानना ही है। दुग्ध जीवनका स्वाभाविक, आवश्यक और पूर्ण भोजन है। दूध ही एक ऐसा भोजन है, जिसे आबाल-वृद्ध सभी सरलतासे ग्रहण कर सकते हैं। दूधके समान ही गीताका ज्ञानामृत भी सर्वोपकारी है। दुग्धमें कुछ ऐसे आवश्यक तत्त्व होते हैं, जिनके कारण वर्तमान स्वास्थ्य-वेत्ता भी उसे मनुष्यके भोजनका आवश्यक अङ्ग मानते हैं। इसके साथ-साथ दुग्ध पूर्ण भोजन भी है। डाक्टरोंकी यह राय है कि मनुष्यके शरीरके पोषण और विकासके लिये जो भोजन-तत्त्व आवश्यक हैं, वे सब दुग्धमें वर्तमान हैं। दूधके समान ही गीताका ज्ञानामृत भी मनुष्यके आन्तरिक जीवनके पोषणके लिये आवश्यक और पूर्ण आध्यात्मिक भोजन है। जिस प्रकार दूधमें शरीरके पोषण और विकासके लिये आवश्यक सभी भोजन-तत्त्व वर्तमान रहते हैं, उसी प्रकार गीतामें भी मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनके पोषण और विकासके

लिये अपेक्षित सभी आवश्यक साधन-तत्त्व वर्तमान हैं। ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप त्रिविध साधन-मार्गोंके विस्तृत विवेचनके अतिरिक्त ब्राह्मी स्थितिसे लेकर आहार, आसन आदितकके नियमोंका निरूपण गीतामें मिलता है। गीता दर्शनका सिद्धान्त-शास्त्र नहीं है, वह अध्यात्मके तत्त्वोंका तथा साधनाकी विधियोंका एक ग्राह्य और व्यवहार्य उद्घाटन है। दर्शन-ग्रन्थोंके तर्ककी मिर्च-खटाई तथा पौराणिक भक्ति-ग्रन्थोंकी नमक-मिठाई-से युक्त दर्शन और भक्तिके विविध व्यञ्जनतुल्य ग्रन्थ मनीषियों और श्रद्धालुओंको चाहे अधिक रुचिकर हों; किंतु गीता इन उत्तेजनाओं और प्ररोचनाओंसे रहित दुग्धके समान एक सरल और सात्त्विक आध्यात्मिक भोजन है। अतिशय तर्क और अन्ध-श्रद्धा-से मुक्त साधुमना साधकोंके लिये यह परिपूर्ण आधार है। दूधके समान कोई भी साधक इसे अपने जीवन-का पूर्णाधार बना सकता है; क्योंकि इसमें सभी अपेक्षित तत्त्व वर्तमान हैं। फिर भी यदि वैचित्र्यका इच्छुक मनुष्य इसे पूर्ण आधार न बना सके, तो भी दूधके समान ही जीवनके पोषणमें गीताका एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार समस्त भोजन-के बाद अन्तमें दूधका सेवन हितकर है, उसी प्रकार सभी शास्त्रोंके सेवनके बाद गीताका ग्रहण साधनाके लिये श्रेयस्कर है। आयुर्वेदके निघण्टुओंके विश्लेषणके अनुसार दूध गीताके ही शब्दोंमें 'रस्य, स्निग्ध, स्थिर और हृद्य' सात्त्विक आहार है तथा आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका वर्द्धक है। सात्त्विक और सरस होनेके कारण यह सुपाच्य भी है।

गीता भी दूधके समान ही रस्य और स्निग्ध सात्त्विक, आध्यात्मिक भोजन है। दूधके समान ही अपने मौलिक रूपमें इसका ग्रहण सर्वोत्तम है। भावनाकी कुछ उष्णता देकर इसे अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है। प्रेमकी मधुरताका पुट इसे अधिक सुस्वादु और रुचिकर बना सकता है। दर्शनके आचार्यों-ने तर्कके अम्लका पुट देकर इसका जो दही जमाया है, वह विचारके लवणके संयोगसे अनेक प्रकारसे हितकर है। दहीके समान गीताकी दर्शन-सीमित व्याख्याएँ विकारहारिणी हैं। यों तो उसकी छाछ भी हितकर है, किंतु विचारसे मथित गीताका तत्त्व-सार-रूप नवनीत ही सर्वोत्तम है। गीताके स्रष्टा गोपालका वही प्रसिद्ध अभीष्ट भी है। अस्तु, अनेक रूपोंमें यह गीताका दुग्धामृत विकारनाशक और हितकर है।

रूपकको पूर्ण करनेके लिये माहात्म्यके ही दो अन्य पदोंके सहयोगसे गीताके दुग्धामृतका महत्त्व पूर्णतः स्पष्ट कर देना गीताके माहात्म्यका अनुरूप उपसंहार है। दूधके सेवनसे पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करनेके लिये कुछ व्यायाम भी आवश्यक है। छोटा बच्चा भी हाथ-पैर हिलाकर माँका दूध पचाता है। पहलवान लोग कुश्ती और कसरतसे प्रभूत मात्रामें दूध हजम करते हैं। व्यायामसे सुपचित होकर दूध हमारे शरीरका रस और रक्त बनता है। बिना व्यायामके उसका देहसे एकाकार होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार गीताके दुग्धामृतको आत्मसात् करनेके लिये योग, नियम, प्राणायाम आदि आध्यात्मिक व्यायाम अपेक्षित हैं। साधनाके व्यायामद्वारा हमारे मनसे एकाकार होकर उसका सार-तत्त्व हमारी आत्माकी विभूति बनता है। माहात्म्यके 'यः पठेत् प्रयतः पुमान्' तथा 'प्राणायामपरस्य च' पदोंका यही अभिप्राय है।

'स्वधर्मेणाराधनमच्युतस्य'

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'काल्हू कल मर गया।' पण्डित दीनानाथ दोनों समय संध्या करनेवाले आचारनिष्ठ शुद्ध सनातनधर्मी ब्राह्मण हैं। वे आजके सुधारकोंसे सहानुभूति रखनेवाले नहीं, उनको 'कलियुगके अग्रदूत' कहनेवाले हैं; किंतु आज उनका स्वर अत्यन्त शिथिल है। उनका मुख उदास-उदास है। चिन्ता, शोक, वेदना—पता नहीं क्या-क्या है उनमें और आज सूर्योदयसे पूर्व ही वे जो घरसे निकलनेको विवश हुए हैं, यह विवशता क्या कम दुःखद है। अपने खेत-खलिहानसे निश्चिन्त कर दिया था जिसने उन्हें, वह काल्हू तो कल मर गया। अब यह बेचारा ब्राह्मण—यह हलवाहा ढूँढ़ने निकला है तब, जब उसे स्नान करना है, संध्या करनेका समय समीप आ गया है।

'काल्हू मर गया?' पूछनेवालेको भी काल्हूसे सहानुभूति है। गाँवमें वैसे भी ऊँच-नीचका भेद हृदयोंमें अन्तर नहीं डालता। अस्पृश्य वहाँ पराये नहीं हुआ करते। उनका प्रत्येक घरसे सम्बन्ध होता है। वे यदि पण्डितजीको 'भैया' कहते हैं तो पण्डितजीके बच्चे उन्हें 'चाचा' कहते हैं। यह सरल शुद्ध स्नेह गाँवका स्वभाव है। फिर काल्हू— वह तो किसीके लिये पराया नहीं था। सबका अपना था, सबकी समयपर सहायता कर देनेवाला।

'तुम तो कल कचहरी गये थे, भैया?' पण्डित दीनानाथके नेत्र भर आये। 'कल दोपहरतक वह गाय-बैलोंकी सार-सम्हाल करता रहा। स्नान करने गया और तालाबमें स्नान करके देरतक नहीं लौटा। घरसे उसकी बिटिया पूछने आयी उसे तो पता लगा कि घर भी नहीं गया।'

'डूब गया काल्हू?' पूछनेवाला चौंका—'वह तो तैरना जानता था।'

'मैं उसे पुकारता सरोवरकी ओर गया।' पण्डितजीने प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक नहीं माना। वे कहते गये—'वहाँ कोई नहीं मिला। सब घाट सूने पड़े थे। उसके डूबनेका डर मुझे नहीं था। उधरसे मन्दिरकी ओर होकर लौटा। वह प्रतिदिनकी भाँति मन्दिरके चबूतरेके नीचे द्वारके सम्मुख दण्डवत् किये पृथ्वीपर पड़ा था। मैंने पुकारा और जब वह बोला नहीं, तब उसके पास जाकर उसे हिला देना चाहा। वह तो शङ्करजीके पास जा चुका था।'

'हृदय बंद हो गया उसका।' गाँवोंमें भी कुछ नये पढ़े-लिखे लोग तो हैं ही। वे सज्जन अपनी विद्वत्ता व्यक्त करने लगे—'यह रोग तो बड़ोंको ही होता है। परिश्रम करनेवाले ग्रामीणोंका हृदय तो सुदृढ़ होता है। काल्हूकी यह मृत्यु अद्भुत है।'

'वह धर्मात्मा था। उसकी मृत्यु चारपाईपर पड़े-पड़े कैसे होती।' पण्डित दीनानाथ-जैसे धार्मिक नियमनिष्ठका भी काल्हूके सम्बन्धमें यही निर्णय था कि वह धर्मात्मा था। वे कह रहे थे—'कल एकादशीके दिन भगवान् शङ्करको प्रणाम करते हुए उसने शरीर छोड़ा, वह तो सीधे भगवान्‌के धाम गया होगा।'

काल्हू चमार—अस्पृश्य ग्रामीण, जिसे अपना नाम लिखनातक नहीं आता था, जो न दोपहरसे पूर्व स्नान कर पाता था न कोई स्तुति जानता था। व्रत जिसने जाना नहीं, पूजनका जिसे अधिकार नहीं, मन्दिरके चबूतरेपर पैर रखनेकी जिसने कभी इच्छा नहीं की, वह 'काल्हू चमार धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्‌के धाम गया होगा'—गाँवके सबसे बड़े संस्कृतके विद्वान्, पक्के कर्मनिष्ठ पण्डित दीनानाथ यह कहते हैं। काल्हू उनका हलवाहा था, उनके घर हड्डीतोड़ परिश्रम करते वह बचपनसे बढ़ा था, कहीं पण्डितजी उसके साथ पक्षपात तो नहीं करते?

कल एकादशी थी। काल्हू कभी व्रत नहीं करता था, किंतु मरा तो वह कल। सुना है एकादशीको मरनेवाला भगवान्‌के धाममें जाता है। ठीक स्मरण आया, कल शुक्लपक्षकी एकादशी थी। काल्हू लगभग दो पहर दिन चढ़े मरा और मरा भी कहाँ—ठीक भगवान् शङ्करके मन्दिरके सामने दण्डवत् करते। तब वह धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्‌के धाम गया होगा—यह बात संदेह करनेयोग्य तो जान नहीं पड़ती।

× × ×

'आज ईख बोनी थी। दो दिनसे गन्नोंके बोझ पानीमें पड़े हैं।' पण्डित दीनानाथने कहा। 'पता नहीं काल्हू किसे कह आया था। सबेरे किसे कहाँ ढूँढ़ूँ?'

संसारका स्वभाव ही यही है। अपने सगे-सम्बन्धियों, स्त्री-पुत्रोंतकको जो शोक होता है, अपने लिये होता है। अपनी सुख-सुविधाके छिन जानेका ही दुःख होता है। पण्डित दीनानाथको भी इसी प्रकारका दुःख है। जब निश्चिन्त स्नान-संध्या करनी चाहिये, एक नियमनिष्ठ ब्राह्मणको चमारोंकी बस्तीमें जाना पड़ रहा है। आजकल हलवाहे मिलने कठिन ही हैं। सभी किसी-न-किसीका हल पकड़े हैं और गाँवमें जिनके भी खेत हैं, गन्ना तो उन सभीको बो देना ठहरा इन्हीं दस-पाँच दिनोंमें।

काल्हू केवल हलवाहा नहीं था। वह पण्डितजीकी खेती और पशुओंका पूरा प्रबन्धक था। किसी दिन तो दूसरोंके समान पण्डितजीको प्रातः उसे पुकारना नहीं पड़ा। रात्रिके अन्तिम प्रहरमें आकाशमें शुक्र दिखायी पड़ा और काल्हू आ जाता पण्डितजीके यहाँ। बैलोंको खली-भूसा देता और उसका हल खेतमें पहुँच जाता सबसे पहिले।

'काल्हू! कल कौन-कौन आयेंगे?' बोने, काटने आदिके समय अधिक मजदूर आवश्यक होते हैं। काल्हूको ही उनका प्रबन्ध करना था। पण्डितजी केवल पूछ लेते। उन्हें तो काल्हूसे ही पता लगता कि कल किधर हल जायगा।

'तुम अपना बोझा उठा लो!' फसल खलिहानमें आ गयी। सब काटनेवाले मजदूरोंको 'बन्नी' (मजदूरीके रूपमें फसलका ही कुछ भाग) दी जा चुकी। अपने हलवाहेका 'हक' है कि अपनी पसंदका एक पूरा बोझा वह अपने लिये चुन ले; किंतु काल्हू कुछ दूसरे ढंगका है। पण्डितजीका यही आदेश उसने कभी स्वीकार नहीं किया। उसका भी एक सिद्धान्त है—'स्वामी हाथ उठाकर जो दे दें, वही लाखका।' पण्डितजीको ही बताना पड़ेगा कि काल्हू कौन-सा बोझा ले जाय और ऐसे समय किसान कृपण नहीं हुआ करता।

काल्हूने कभी एक तिनका नहीं लिया। एक मुट्ठी अन्नपर उसकी नीयत नहीं डिगी। यह कहनेकी बात नहीं है। काल्हूकी सावधान दृष्टि सदा यह रही कि कोई और भी कहीं पण्डितजीके खेत-खलिहानमें हाथ न चला सके। पण्डितजी निश्चिन्त थे काल्हूके रहते और काल्हूको कभी पण्डितजीकी खेती परायी नहीं प्रतीत हुई। परिश्रमसे 'जी चुरानेवाले दूसरे हुआ करते हैं।'

'इनका क्या दे दें, काल्हू?' खेतीका काम कम अवकाश देता है; किंतु इधर काल्हूको अपनी कन्याके हाथ पीले करनेकी चिन्ता हो गयी थी। वह मुँह खोल-कर माँगता तो पण्डितजी सौ-पचासके लिये जी छोटा करनेवाले नहीं थे; परंतु वह उनसे भी माँगना जो नहीं चाहता। अब रात्रिमें जूते बनाने लगा था। पण्डितजीके घरसे पहर रात गये लौटता और तब राँपी लेकर बैठ जाता। सात दिनमें भी एक जोड़ी बन जाय तो हर्ज क्या है। उसके गवाँरू जूते बूढ़े किसानोंको बड़े अच्छे लगते हैं। वे चलते खूब हैं और वह तो जूता दे जाता है। किसी-न-किसीके यहाँ रख जायगा।

'आप पहिनकर देख लें भैया!' काल्हूकी बँधी बात है। 'पैरमें ठीक आता है या नहीं! तनिक चलकर

देख लें। ठीक आ जाय तो जो भैयाकी मर्जी दे देंगे, दाम कहीं भागे जाते हैं!' मोल-भाव काल्हू करता नहीं। गाँवके लोग पैसे देनेमें उदार नहीं होते। अन्न तो वे आधसेर अधिक दे देंगे; किंतु पैसा एक भी अधिक देना अखरता है उन्हें। यह स्वीकार करना ही होगा कि यदि काल्हू मोल-भाव करनेमें पटु होता तो उसे उससे कहीं अधिक मूल्य मिलता, जो अब वह पा जाता था।

हाँ, तो पण्डित दीनानाथजीका दुःख काल्हूके लिये कम, अपने लिये ही अधिक है। अब वे कहाँ हलवाहा ढूँढें? कैसे गन्ना बोनेकी व्यवस्था करें? स्नान-संध्याका समय हो रहा है और काल्हूके कारण वे इधरसे तो वर्षोंसे अपरिचित रहे हैं। उन्हें तो काल्हूने जैसे बीचधारामें छोड़ दिया है। उनकी व्याकुलता—किंतु क्या संसारके सभी स्वजनोंकी व्याकुलता इसी कोटिकी नहीं होती? केवल पण्डितजीको क्यों दोष दिया जाय।

'अब तो भैया, यह सब करना ही पड़ेगा!' लंबी साँस ली पण्डितजीने। 'काल्हू क्या गया, मेरा सगा भाई उठ गया।' उनकी आँखोंमें आँसू आ गये।

'बेटी, अब रोनेसे तो कुछ होता नहीं है।' पण्डितजी सायंकाल काल्हूकी कन्या तथा उसकी पत्नीको आश्वासन दे रहे थे। 'काल्हू मेरा भाई था। उसके क्रिया-कर्ममें जो लगे, यहाँसे ले जानेमें संकोच मत करना।'

'चाचा!' रो रही थी बेचारी लड़की। मनुष्य रुदनके अतिरिक्त और कर क्या सकता है। मृत्युपर उसका बस कहाँ है। 'हमारे पास देनेको कुछ नहीं है। माँके साथ मैं भी आपके यहाँ मजदूरी करके.....,

'ऐसी बात मत कह, बेटी!' पण्डितजीने आँखें पोंछ लीं। 'काल्हू नहीं रहा तो क्या तेरा इस घरमें कुछ नहीं रह गया।'

पण्डितजीने क्या-क्या दिया, पता नहीं; किंतु जब वे माँ-बेटी उनके यहाँसे लौट रही थीं, तब उनके पास एक बड़ी गठरी थी अच्छे-से मोटे कपड़ेमें बँधी हुई।

पण्डित दीनानाथजी बहुत दुखी हैं। ब्राह्मण होकर कल वे एक चमारकी अर्थीके साथ गङ्गाकिनारेतक गये थे। आज सबेरे हलवाहे ढूँढ़ने निकलकर भी चमरटोली-तक जा नहीं सके। वे मार्गसे ही लौट आये थे। उनके खेतोंमें आज हल नहीं चला। गाँवके वे सम्मानित व्यक्ति हैं। वे सम्पन्न हैं और इधर कई गाँवोंमें उनके जैसा संस्कृतका पण्डित भी नहीं है। संध्या-पूजामें उनकी निष्ठाने गाँवोंमें उनके प्रति और श्रद्धा बढ़ा दी है। उन्हें इस दुःखमें आश्वासन देने उनके यहाँ शामको गाँवके बड़े-बूढ़े तथा और लोग भी आ गये हैं।

'बेचारी अनाथ हो गयी।' एकने सहज भावसे कह दिया दोनोंको जाते देखकर। वैसे चमारकी पत्नी और कन्याके लिये कोई विशेष चिन्ता नहीं थी उसे।

'सबके नाथ तो भगवान् हैं और वे इनको भला, कैसे भूल सकते हैं।' पण्डितजीकी दृष्टि अभी कन्याको आगे करके चली जाती रोती काल्हूकी पत्नीकी ओर ही थी। 'काल्हू धर्मात्मा था। भगवान्‌का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री और पुत्रीकी चिन्ता वे परमपालक कर लेंगे।'

'काल्हू धर्मात्मा था—भक्त था।' पण्डितजीकी यह बात कुछ जँचती नहीं थी। लोगोंको कल यह अखरा ही था कि उनके श्रद्धाभाजन पण्डितजी एक चमारकी अर्थीके साथ गये। लोग काल्हूकी प्रशंसा सुनने या करने नहीं आये थे। काल्हूसे उन्हें अब कोई काम नहीं था और चमारकी स्त्रीकी चिन्ता क्या, वह कल नहीं तो परसों किसी औरके पास बैठ जा सकती है। पण्डितजीकी यह प्रशंसा सुनकर लोगोंने परस्पर देखा एक दूसरेकी ओर—ये कितने भोले हैं।

'आप कोई चिन्ता न करें। आपके लिये अच्छा हलवाहा हम ढूँढ़ देंगे। हम मिलकर कल आपके गन्ने बो देंगे। दूसरी सहायताके लिये भी हम सब सदा प्रस्तुत रहेंगे। आप स्वीकार करें तो....कलसे आपके यहाँ काम करने लगे। वह अभी युवक है। बलवान् है। काम करनेमें चतुर है और ईमानदार है। काल्हूके बिना आपका कोई काम अटकेगा नहीं।' लोग यह या ऐसी ही बातें करने-कहने आये थे। उनका सोचना

ठीक ही था कि पण्डितजीका शोक अपने लिये है—अपनी असुविधाओंके लिये और उन्हें वे दूर कर सकते हैं। यहाँ आनेपर यह बात ही दूसरी डगर चल पड़ी।

'काल्लू ईमानदार था। परिश्रमी था। सीधा था। अच्छा आदमी था वह।' एक वृद्धने बात समाप्त कर देनेके ढंगपर कहा। अच्छा आदमी—इससे अधिक काल्लूको वे और कुछ माननेको प्रस्तुत नहीं थे। यों अच्छा आदमी और धर्मात्माकी दार्शनिक विवेचना उन्होंने न कभी की थी और न करनेकी उनमें क्षमता थी। 'जब दूसरे चमार लोगोंके उकसानेपर मन्दिरमें जाकर उसे भ्रष्ट कर आये, वह अपनी पूरी पंचायतके हठपर भी मन्दिरके चबूतरेपर नहीं चढ़ा और मन्दिरके सामने दण्डवत् करनेसे किसी दिन चूका भी नहीं। उसमें श्रद्धा तो थी शंकरजीके लिये।'

'और धर्मात्मामें क्या होता है? बड़े-बड़े कामोंमें ही धर्म निहित हो, ऐसी बात तो है नहीं। सचाई, ईमानदारी, अपने कर्तव्यका पालन—बड़े-बड़े यज्ञ, दान आदि दूसरे धर्मोंसे भी बड़े हैं।' पण्डित दीनानाथजीने सम्भवतः लोगोंका भाव समझ लिया था। वे बड़ी गम्भीरतासे एक बार सबकी ओर देखकर कह रहे थे—'अपनी शक्ति, स्थिति और वर्णाश्रमके अनुसार अपने कर्तव्यका ईमानदारीसे पालन भगवान्‌की सच्ची आराधना है। काल्लू एकादशीको शंकरजीके सम्मुख बिना किसी कष्टके शरीर छोड़ गया—यही बात बतलाती है कि प्रभुने उसकी सेवा स्वीकार कर ली।'

देहातके सरल-सीधे लोगोंने श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया पण्डितजीका तर्क। आपका उर्वर मस्तिष्क न स्वीकार करता हो तो कोई और मार्ग अन्वेषण करना चाहिये।

ना जाने का रूपमें नारायण मिल जायँ

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी)

आज-कल भिक्षावृत्ति एक कला भी है और व्यवसाय भी। दुःख-प्रदर्शनके नित्य नये ढंग निकाले जाते हैं तथा सहस्रों व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक रूपसे करुणाकी याचना करने लगे हैं। प्रश्न उठता है कि दान इत्यादिके रूपमें सहायता की जाय अथवा नहीं? दाताकी दृष्टिसे दोनों ही स्थितियोंमें खतरा है। सहायता यदि नहीं दी जाती, तो बहुत-से व्यक्ति हमारी सहायता एवं करुणासे वञ्चित रह जायँगे और यदि सहायता की जाय तो फिर किसकी की जाय? किसीके माथेपर तो लिखा नहीं है कि यह वास्तवमें जरूरतमंद है, अथवा इसने केवल स्वाँग बना रखा है। ऐसी स्थितिमें अधिक सम्भावना इस बातकी है कि हम दान देकर एक सामाजिक अभिशापको प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। पात्र-कुपात्रके विवेक एवं निर्णयकी समस्या अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नहीं, यह समस्या शाश्वत और सनातन है।

इस समस्याका एक ही उपचार है। पात्र-कुपात्रके विवेचनमें दाता अपनी शक्ति और अपने समयको नष्ट न करे। ऐसा करनेसे मनमें क्षोभ और पश्चात्ताप-जैसी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। हम बहुत सोच-समझकर किसीकी सहायता करते हैं। बादमें हमें विदित होता है कि हम धोखा खा गये। हमने जिसको दान दिया है, उसको वस्तुतः हमारी सहायताकी आवश्यकता ही न थी। ऐसी स्थितिमें हमारे मनमें क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत हम किसी व्यक्तिको मना कर देते हैं। बादमें पता चलता है कि उस व्यक्तिको वास्तवमें हमारी सहायताकी आवश्यकता थी। आप सहमत होंगे कि यह स्थिति हमारे पश्चात्ताप, कभी-कभी आत्म-ग्लानिका हेतु बनती है।

पात्रापात्रके विवेकके पूर्व हमें एक अन्य प्रश्नपर विचार कर लेना चाहिये। हम किसीकी सहायता करते ही क्यों हैं? उत्तर स्पष्ट है। करुणा नामका मनोवेग हमें करुणाके कारणके निवारणके लिये प्रेरित करता है।

अथवा यों कहिये कि हमारा शील, हमारी सद्वृत्तियाँ हमें संसारका दुःख कम करनेके लिये प्रेरित करती हैं। करुणा करते समय हम मनोवेगोंके क्षेत्रमें कार्य करते हैं, बुद्धि अथवा विश्लेषणात्मक विवेचनके क्षेत्रसे हम दूर हट जाते हैं। उस समय हम यदि बुद्धिके क्षेत्रमें हों तो कदाचित् करुणा ही न करें और तब पात्रापात्रके निर्णयका प्रश्न उत्पन्न न हो। विश्लेषणात्मक विवेचन हमें अपने स्वार्थसिद्धिकी प्रेरणा देता है। हम तुरंत सोचने लगते हैं कि अपनी जो सम्पत्ति हम इस अन्य व्यक्तिको दे रहे हैं, उसके द्वारा हमारे अमुक-अमुक कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, हम मकानका किराया चुका सकते हैं, अपने बालकके लिये मिठाई ला सकते हैं, पत्नीके लिये औषधकी व्यवस्था कर सकते हैं, स्वयं अपने लिये कोट सिलवा सकते हैं—आदि। ऐसी स्थितिमें हम अपने-आपमें इतने लिप्त हो जायँगे कि अन्यव्यक्तिकी सहायताका प्रश्न हमारे लिये अत्यन्त गौण बन जायगा।

सारांश यह है कि परदुःखानुभूतिके फलस्वरूप करुणा उत्पन्न होती है और उसके कारण सहायताकी ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः करुणाके क्षेत्रमें विवेचन तथा विश्लेषणके लिये कोई स्थान नहीं है।

करुणाके द्वारा पराया दुःख कम होता है—बस, करुणा करनेके लिये इतना समझ लेना पर्याप्त है और इसी कारण वह मानवका सबसे बड़ा गुण एवं धर्म माना जाता है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

समस्त विश्वमें एक ही शक्ति व्याप्त है, विश्वका प्रत्येक अणु उसी सर्वशक्तिमान्‌का अंश है। अतः उस सर्वव्यापिनी शक्तिके प्रति संवेदनशील होना हमारी शक्तियों एवं ज्ञानेन्द्रियोंका चरम विकास है। पराये दुःखको अपना दुःख समझना मानवताका चिह्न है। पर-दुःखानुभूतिका क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा, मनुष्यता उतनी ही विकसित समझी जायगी।

विश्वका प्रत्येक अणु जब हमारा ही एक अङ्ग है, तब फिर पात्र-अपात्रका विवेक ही व्यर्थ है। ऐसी दशामें अपने-परायेका भेद ही लुप्त हो जाता है। हमारे पास जो कुछ है, वह केवल 'हम' नामके एक अंशविशेषका न होकर 'ये सब' नामके बृहत् रूपकी धरोहर है। मनकी यह अवस्था उत्पन्न होनेपर दान अथवा त्यागमें जो आनन्द है, वह संग्रह अथवा ना करनेमें कहाँ! अपने हिस्सेकी मिठाई जब हम अपने पुत्रको खिला देते हैं, तब हमें कितने आनन्दका अनुभव होता है! संसारके प्राणीमात्रके प्रति जिस व्यक्तिका यह दृष्टिकोण हो, उसकी दानशीलता अभ्यासकी नहीं, अपितु स्वभावकी वस्तु बन जाती है। यथा—

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जायँ।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नायँ॥

करुणा मनुष्यका धर्म है, दूसरेकी सहायता करना मनुष्यत्वका तकाजा है। इस सम्बन्धमें आगा-पीछा सोचना आदमीके दर्जेसे नीचे गिर जाना है। विभीषणके शरणमें आनेपर भगवान् श्रीरामने अपने अनुचरों एवं सहयोगियोंका ध्यान मानव-हृदयकी इसी विशालताकी ओर आकर्षित किया था—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

भले-बुरेकी पहचान असम्भव है, उसके सम्बन्धमें विचार करना व्यर्थ है; क्योंकि बुराइयोंका चिन्तन मनको दूषित कर देता है। सब हमारे ही अङ्ग हैं, अतः हमें सबका विश्वास और स्वागत करना चाहिये—

तुलसी या संसार में सब सौं मिलिये धाय।
ना जाने का रूप में नारायन मिलि जाय॥

करुणाका अवसर प्राप्त होनेपर हम अपनी शक्तिके अनुरूप सहायता करके अपने कर्तव्यका पालन कर दें। आवश्यक अथवा अनावश्यक रूपसे याचना करनेका उत्तरदायित्व याचकके ऊपर है, दातापर नहीं।

लोकप्रियता

(लेखक—श्रीहरिभगवानजी एम्० एस-सी०, विज्ञानरत्न)

राजनीतिक लोकप्रियताकी व्याख्या करते हुए इंगलैंडकी विधान-सभाके एक प्रमुख सदस्यने कहा था—'यह एक ऐसे कलाकारकी कला है, जो श्रमजीवी और पूँजीपति दोनों वर्गके लोगोंको उनके विरोधात्मक हितोंकी रक्षा करनेका आश्वासन देता है और ऐसा करनेमें इस बातको ध्यानमें रखता है कि किसी वर्गका ऐसा लाभ न हो जाय, जिससे दूसरे वर्गके सदस्योंमें उसकी मानहानि हो।' अत्युक्ति भले ही हो; किंतु उपर्युक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञ सामाजिक कल्याणकी भावनासे ही सदैव कार्य नहीं करते, अपने पद एवं अपनी लोकप्रियताको स्थिर रखनेके लिये वे समयानुसार विभिन्न मार्गोंका अनुसरण करते हैं।

एक दूसरे सरलहृदय राजनीतिज्ञने अपने मनोभावोंका वर्णन करते हुए कहा—'मैं लोकप्रियताके घने बादलोंमें सदैव विचरण किया करता हूँ। मेरे प्रत्येक वाक्यको रेकर्ड करनेकी और प्रत्येक गतिकी फोटो लेनेकी चेष्टा की जाती है। मुझे राष्ट्रका कर्णधार कहा जाता है और विश्वशान्तिका दूत।

'किंतु मैं अपने आपको दूसरे लोगोंकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। मुझे अपनी निर्बलताका ज्ञान है। मैं जानता हूँ कि बाल्यकालमें मेरे द्वारा निर्मित देशकी उन्नतिकी कोई भी योजना अभीतक पूर्ण नहीं हुई है। युद्धसे घबराते हुए भी मुझे युद्ध करना पड़ता है, दलबंदीसे घृणा करते हुए भी मुझे उसका सहारा लेना पड़ता है, लोकप्रियताको स्थिर रखनेके लिये मुझे देशकी प्रगतिका असत्य चित्रण करना पड़ता है। अपनी इस दुःखद परिस्थितिका ध्यान करके मैं सोचने लगता हूँ कि क्या संसारमें मुझ-सा अभागा कोई और भी है।'

ये हैं एक विश्वप्रिय महान् पुरुषके उद्गार! ये हैं एक ऐसे महापुरुषके शब्द, जिसको सम्पूर्ण संसार बड़ा भाग्यशाली समझता है; किंतु उसका अपने लिये मत इससे भिन्न है।

लोकप्रियता एक झूठी कसौटी है, जिसपर मनुष्यकी महानताको अथवा देशकी उन्नतिको परखनेका असफल प्रयत्न किया जाता है। महात्मा अरविन्दने एक स्थलपर लिखा है—

'लोकप्रियताके आधारपर किसी चीजका मूल्याङ्कन अनुचित है। लोकप्रिय बननेके लिये तो दूसरोंको प्रसन्न रखना पड़ता है और उनके अनुसार कार्य करना पड़ता है। इसके लिये तो सामूहिक दुर्गुणोंको भूलना पड़ता है, उनको बतानेसे तो अपयश मिलता है।'

इमर्सनने लिखा है—'दुनियामें रहकर दुनियावी तरीकेसे काम करना सरल है, एकान्तमें रहकर अपने तरीकेसे काम करना भी सरल है; किंतु महान् पुरुष वह है, जो दुनियामें रहकर अपनी शैलीसे काम करता है।'

अतः संसारमें रहकर लोकप्रियताके मार्गका अनुसरण करना, दूसरे लोगोंकी बातोंका ध्यान रखते हुए काम करना, सांसारिक जीवनको बितानेका सरलतम उपाय है। इससे आंशिक सुख मिल सकता है; किंतु जीवनको समझनेके लिये, अपने दृष्टिकोणको विस्तृत करनेके लिये, लोकप्रियताके सीमित क्षेत्रसे निकलना पड़ेगा।

× × ×

लोकप्रिय बननेकी भावनासे ही मिलती-जुलती दूसरी भावना अपयशसे बचनेकी होती है। वस्तुतः ये एक ही भावनाके दो पार्श्व हैं, एक ही सिक्केके दो पक्ष हैं। केवल लोकप्रिय बननेकी भावनासे विभिन्न स्तरोंपर हानि होनेकी आशङ्का रहती है; किंतु अपयशसे बचनेकी भावनासे सामाजिक कल्याण भी होता है। कैसे?

जब दक्षिण अफ्रिकामें गांधीजी रहते थे, तब एक बार कस्तूरबासे उनका झगड़ा हो गया। सेवाभावसे किसीके मल-मूत्र साफ करनेकी बात थी। 'बा' को यह कार्य घृणित लगता था। गांधीजी इसपर क्रोधित हो उठे और क्रोधके आवेशमें उन्होंने बा को घरसे निकाल दिया। जैसे ही गांधीजी गृह-द्वार बंद करने चले, अश्रुपूर्ण बा ने कहा, 'जरा सोचो! हमारे-तुम्हारे बीचके इस प्रकारके झगड़ेको देखकर पास-पड़ोसके लोग क्या कहेंगे?' वाक्य साधारण था; किंतु यह क्रोधकी भड़की हुई अग्निको शान्त करनेके लिये पर्याप्तसे भी अधिक था।

जब पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष आदिमें झगड़ा होता है, तब अपयशसे बचनेकी भावनासे ही अनेक झगड़े शान्तिपूर्ण विधिसे सुलझ जाया करते हैं और जब यह विचार मनमें आ जाता है कि समाजका काम कुछ-न-कुछ कहना ही है—यह जो कहेगा, उसको हम सुन लेंगे,

तब मनुष्यपरसे एक प्रकारका अङ्कुश हट जाता है और वह अपनी मनमानी करने लगता है।

× × ×

तथ्य यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्यको एकान्तमें सुख मिल सकता है; किंतु एकान्तमें सुख तभी प्राप्त होता है, जब उसकी पर्याप्त मानसिक उन्नति हो चुकी हो और समूहसे उसका मन ऊब चुका हो। एकान्तकी खोज केवल परिवर्तनके लिये होती है।

यदि समाज मनुष्यके लिये एक आवश्यकता है तो मनुष्यकी समाजके प्रति कुछ स्वाभाविक भावनाएँ होनी चाहिये। लोकप्रियताकी अथवा अपयशसे बचनेकी भावना वस्तुतः मनुष्यकी समाजके प्रति स्वाभाविक भावना है। फलतः इस भावनाका स्रोत मनुष्यकी अन्तरतम प्रवृत्तियोंसे सम्बद्ध है।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें मनुष्यकी तीन मूल कामनाएँ बतायी गयी हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा। इन सबमें लोकैषणा—यशःप्राप्तिकी इच्छा सबसे अधिक तीव्र मानी गयी है और इसीलिये इसका त्याग सबसे कठिन है। इसका त्याग मनुष्योन्नतिकी पहली सीढ़ी है।

वैज्ञानिकोंने भी यशकी कामनाको काफी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जुंग नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकने सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओंके मूलको समाजमें मान प्राप्त करनेकी इच्छासे सम्बद्ध किया है। एक दूसरे प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आडलरने उच्च स्थान प्राप्त करके अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छाको मनुष्यकी सर्वोपरि कामना बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकप्रियता अथवा अपयशसे बचनेकी इच्छा मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति है। अतः इसका विकास—दमन नहीं—व्यक्तित्वके पूर्ण विकासके लिये आवश्यक है; किंतु इसका विकास नियन्त्रित होना चाहिये, नहीं तो परिणाम भयंकर हो सकता है। कैसे?

नैपोलियन जब सेंट हेलेनामें नजरबंद था, तब लोगोंने उससे पूछा, 'तुममें विश्व-विजय करनेकी इच्छा कैसे जाग्रत् हुई?' उसने उत्तर दिया, 'मेरी गरीब माँने मुझको बड़े श्रमसे पाल-पोसकर बड़ा किया। बड़े होनेपर मुझे ऐसा भान हुआ कि मोहल्ले और पास-पड़ोसके लोग मुझे नीची नजरोंसे देखते हैं। मुझमें पड़ोसियोंको कुछ कर दिखानेकी भावना जाग्रत् हुई। मान-प्राप्त सिपाही बनकर मैंने अपनी इस इच्छाकी पूर्ति की; किंतु कामनाकी पूर्तिसे कामना और बढ़ती जाती है। मोहल्लेसे मैं शहरतक बढ़ा, शहरसे राष्ट्रकी ओर और राष्ट्रसे विश्वकी ओर। मैं संसारको कुछ कर दिखाना चाहता था।' इसमें संदेह नहीं कि नैपोलियन महान् था; किंतु हम उसकी भयानक विध्वंसकके रूपमें याद करते हैं; उसके लिये हमारे शान्तिपूर्ण हृदयमें कोई स्थान नहीं। क्यों? केवल इसलिये कि विश्वविजयसे उसने अपनी लोकप्रियताकी कामनाको पूर्ण करनेकी चेष्टा की। विश्वहित करनेकी भावनाका उसमें अभाव था। लोकप्रियता उसके लिये साधन न रहकर साध्य बन गयी थी, यशःप्राप्तिकी भावनाके अनियन्त्रित विकाससे वह कुत्सित हो उठी थी।

गांधीजीने अफ्रिकामें सत्याग्रह क्यों किया? बिहारमें नीलकी खेती करनेवालोंका साथ उन्होंने क्यों दिया? 'भारत छोड़ो' आन्दोलनका नेतृत्व क्यों किया? नोआखालीमें हिंदू-मुसल्मानोंके झगड़ेको शान्त करनेकी उन्होंने चेष्टा क्यों की? इसलिये नहीं कि वे लोकप्रिय बनना चाहते थे, प्रत्युत इसलिये कि वे देश-हित, जन-हित, समाज-सेवा करना चाहते थे। हिंदू-मुसल्मानोंके झगड़ेमें यदि उन्होंने हिंदुओंका साथ दिया होता तो उन्हें गोली खाकर शहीद न बनना पड़ता और कुछ क्षेत्रोंमें उन्हें अपयश न मिला होता; किंतु उन्होंने वह किया, जो उन्हें समयानुकूल करना चाहिये था। इसीलिये वे राष्ट्रपिता माने जाते हैं और विश्ववन्द्य हैं।

जब जन-सेवा, लोकसंग्रहकी भावनासे प्रेरित होकर कार्य किया जाता है, तब आरम्भमें अपयश भले ही मिले, किंतु अन्तमें लोकप्रियता ही मिलती है। जनसमुदायके हृदयमें स्थान उपकार करनेसे मिलता है, बात करनेसे नहीं। यदि उपकार करनेकी भावना प्रमुख है तो लोकप्रियता स्वाभाविकरूपसे मिलेगी और यदि लोकप्रियता प्राप्त करना ही उद्देश्य है तो अन्तमें मानहानि ही होगी।

समाजमें प्रगतिशील विचारोंके प्रचार करनेमें आरम्भमें कठिनाई पड़ा करती है; क्योंकि परिवर्तन करनेमें साधारणतया लोगोंको अड़चनें होती हैं। फलतः किसी भी उपकारके करनेके लिये आरम्भमें विरोध सहना पड़ता है और यही व्यक्तिकी सफलताका परीक्षा-क्षेत्र है। यदि व्यक्ति समाजके विरोधको सहन करते हुए अपनी उपकारभावनाकी पूर्तिमें संलग्न रहता है तो क्रमशः समाजके लोगोंमें उसके किये गये उपकार सम्मुख आते-जाते हैं; इससे धीरे-धीरे विरोध कम होता जाता है और लोकप्रियता बढ़ने लगती है।

गांधीजीने जब नमक-सत्याग्रह करनेका आदेश दिया तब आरम्भमें इस विचारका बड़ा विरोध हुआ। इसकी बात

सुनकर मोतीलाल नेहरू-जैसे कुशल राजनीतिज्ञने कहा—'ब्रिटिश साम्राज्य-जैसी शक्तिके विरुद्ध नमक-जैसी छोटी चीजका सत्याग्रह करनेसे कैसे मोर्चा लिया जा सकता है? वस्तुतः महान् कार्य बड़ी चीजोंको करनेसे नहीं, छोटी चीजको बड़े ढंगसे करनेसे होता है।'

फलतः प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्त्तामें परहित-भावना प्रधान होनी चाहिये। उसमें जनसमुदायकी भावनाओंके परखनेकी शक्ति होनी चाहिये, उनके विरोधको सहन करनेका गाम्भीर्य होना चाहिये। साधारण रूपसे सामाजिक आलोचनाओं-का ध्यान रखना चाहिये; किंतु वे यदि व्यक्ति अथवा समाजकी उन्नतिमें ही बाधक होती हैं तो उनका परित्याग ही श्रेयस्कर है। जनसमुदायकी भावनाओंको केवल स्पष्ट करनेसे थोड़े कालके लिये सफलता मिल सकती है; किंतु स्थायी लोकप्रियताकी प्राप्तिके लिये आत्मसमर्पण करना होगा, जनसमुदायसे आत्मिक एकाकारता करनी होगी। जब व्यक्ति इस अवस्थापर पहुँच जाता है, तब उसके लिये लोकप्रियताका कोई महत्त्व नहीं रहता। स्थायी लोकप्रियता उसी समय मिलती है, जब उसकी चाह मनसे निकल चुकी हो।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३। २५)

जिस प्रकार लोग फलासक्त होकर काम करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोक-संग्रहकी भावनासे अनासक्त होकर काम करते हैं। फलप्राप्तिकी इच्छासे रहित होकर ही कार्य करना चाहिये; क्योंकि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

कर्ममें हमारा अधिकार है, फलमें नहीं। लोक-हित करना हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिये। वस्तुतः लोकप्रियता तो लोक-हितके कर्मका फल है। लोकप्रियतारूपी फलसे विमुख होकर हमें लोक-हितकी ओर एकाग्रचित्तसे बढ़ना चाहिये और यही हमारा धर्म है; क्योंकि परोपकार पुण्य है और परपीडन पाप है—अठारहों पुराणों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका सार यह है।

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे॥

परोपकार करते समय यदि मनमें अभिमान आ गया या लोकप्रियता प्राप्त करनेकी भावना जाग गयी तो कार्य निम्नस्तर-का हो जायगा। मनुष्यको लोकप्रियताकी भावनासे ऊपर उठनेका प्रयत्न करना चाहिये, इस भावनाके दासत्वको छोड़नेका प्रयास करना चाहिये।

प्रार्थना

(व्रज-भाषा)

अब मोहि एक भरोसौ तेरौ।
भक्ति-भाव सौं बिरत, कलुष रत, मोहावृत, बिषयन कौ चेरौ॥
काम-लोभ-मद-मोह बसत निसि बासर किये हिये महँ डेरौ।
सिरपर मीच, नीच नहिं चितवत, रहत सदा रोगनि सौं घेरौ॥
परमारथ की बात कहत नित, भोगन सौं अनुराग घनेरौ।
बारबार अनुभवत—नाहिं कोउ तो सो हितू, न तो सौ नेरौ॥
तदपि बिसारि तोहि हौं पाँवर सुमिरौं कामज सुखहि अनेरौ।
अब तौ बस तू ही अवलंबन, तो बिनु और न कोऊ मेरौ॥
निज पन बिरद बिचारि दयामय! कृपा अहैतुक सौं नित प्रेरौ।
तू ही मोहि उबार बिषम भवसागर सौं, कर छोह बडेरौ॥

भक्त चतुर्भुजदास

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग बी० ए०, साहित्यरत्न)

अष्टछापके कवियोंमें सूरको भाव-साम्राज्यका एकछत्र अधिपति माना गया है, अन्य कवियोंको उनका भावानुगामी। किंतु सूरके साथ ही यदि हम अन्य महानुभावोंकी वाणीका भी अनुशीलन करें तो उनमें भी हम वैसी ही भावुकता, वही रसावेश और वैसी ही तल्लीनता पायेंगे। सभी एक ही रस, एक ही पीड़ामें पगे हैं; आराध्य भी तो सभीके एक ही हैं रसेश श्रीकृष्ण।

चतुर्भुजदास भी श्यामसुन्दरकी उसी रूप-माधुरीमें निमग्न हैं, जिसका आस्वाद पानेके लिये सभी अष्टसखा सर्वदा आतुर और वियोग-व्याकुल हैं। उनकी आँखोंकी 'बान' और लगनको देखिये—

नैननि ऐसिये बानि परी।
बिनु देखे गिरिधरनलाल मुख जुग भर गनत घरी॥
मारगु जात उलटि चपलनु मोहन तन दृष्टि परी।
जब ही तें लागी जक इकटक निमि मरजाद टरी॥
चत्रुभुजदास छुड़ावन कौ हठु मैं बिधि बहुत करी।
त्यों सरबसु हरि कों हरि दीनो देह दसा बिसरी॥

एक क्षणका वियोग भी असह्य है। इसीलिये निमिकी मर्यादाको भङ्ग करके एकटक, पलक गिराये बिना गिरिधरलालको ये नेत्र निरवधि देख रहे हैं; यहाँ मर्यादा और विधि-निषेधको कौन पूछता? कितने चपल हैं ये नेत्र कि मार्ग चलते-चलते ही उनसे ये जा उलझे। और इसका परिणाम हमें भुगतना पड़ा सर्वस्व समर्पण—हृदय, आत्मा, समग्र जीवनके निवेदनके रूपमें; फिर क्यों न आत्मविस्मृतिकी दशा प्राप्त हो? ऐसे हैं ये रसमत्त नेत्र, इसीलिये कविने इन्हें कुरङ्गकी कितनी सुन्दर उपमा दी है—

नैन कुरंगी रति रस माते फिरत तरल अनियारे।
नवल किसोर स्याम घन तन बन पाए हैं नव निधि वारे॥
नाना बरन भए सुख पोषे स्याम सेत रतनारे।
'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधरन कृपा रँग रँगि रचि रुचिर सँवारे॥

हरिणके नेत्रोंकी भाँति उनकी सहज चपलता और तरलित भावोंकी विचक्षणता तथा संगीत-रसमें निमग्न आत्माकी सम्पूर्ण विस्मृति उनके अपने गुण हैं। सघन श्याम मेघोंकी तरह गहन प्रेम-रससे भरे श्यामसुन्दरके अनुराग-रागमें वे रँगे हुए हैं। इसीलिये श्याम-वर्णमें समाविष्ट श्वेत-रतनारे आदि समस्त रंगोंकी झलक, विविध सुखोंसे परिपुष्ट भावोंकी झाँकी हमें वहाँ मिलती है। हृदयके अनेक संचारी भाव अनुभाव-रूपमें चक्षुपटलपर विलसित होनेके कारण ही तो वे 'तरल', सरस और 'अनियारे', अनूठे हैं। कविके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणका यह एक परिपुष्ट उदाहरण है।

चतुर्भुजदास उस असीम सौन्दर्य-निधिके आराधक हैं, जिसमें व्रजसीमन्तिनियोंने अवगाहन कर एकतान भावसे अपनेको केन्द्रित कर दिया था। रूप-ठगी व्रज-सुन्दरीके शब्दोंमें ही देखिये—

तब ते और न कछू सुहाइ।
सुंदरस्याम जबहि तें देखे खरिक दुहावत गाइ॥
आवति हुती चली मारग सखि हौं अपने सतभाइ।
मदनगोपाल देखि कै इकटक रही ठगी मुरझाइ॥
बिसरी लोक लाज गृह कारज बंधु पिता अरु माइ।
दास 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिबरधर तन मन लियो चुराइ॥

जबसे खिरकमें गोदोहन करते हुए 'सुन्दर श्याम'को देखा है, उनके कोटि-कन्दर्पलावण्यसे ऐसी ठगौरी पड़ी है कि उनपर टकटकी लग गयी। घरके कार्यका तो भान ही किसे रहे, स्वजन और परिजनोंके प्रति लज्जाका भाव भी विलीन हो गया। चेतना ही कहाँ, जो कहींका अनुसंधान रहे। 'मुरझाइ'में कितनी निस्पन्दता औ गहरी वेदना छिपी हुई है! 'तन-मनके चोर'ने अपने पास छोड़ा ही क्या, जो हृदयकी पँखुड़ियोंको विकासका अवकाश दे। उल्लासके क्षणोंमें ही चित्त किसी भी ओर रमता है। किसीसे बँध जाने और बँधकर भी न पा सकनेकी स्थितिमें और कुछ कैसे सुहा सकता है। कितनी विवशता है!

इसीलिये, उस मधुर दर्शन, मिलनके पल निकल जानेपर उनके वियोगमें एक-एक क्षण युगके समान बीत रहा है। वह मन्द, मधुर, मादक मुसकान कैसे भुलायी जा सकती है। कितनी बिडम्बना है कि जब मिलनकी घड़ी आयी, तब चित्त इतना भावाविष्ट हो गया कि उनसे दो बात भी न हो सकी। सुयोग मिलनेपर भी भावमुग्धताके कारण जिसके मनकी न हो सकी है, ऐसी किसी मुग्धाका चित्रण कविकी मर्मस्पर्शी वाणीमें देखें—

तब त जुग समान पल जात ।
जा दिन तें देखे सखि मोहन मो तन मुरि मुसिकात ॥
दरसन देत ठगौरी मेली कहि न सकी कछु बात ।
बीतत घरी पहर क्रम क्रम अब कर मीडत पछितात ॥
हिरदै गड़ी मदन मूरति मन अटक्यो साँवल गात ।
चत्रुभुज प्रभु गिरिधरन मिलन कौं नैन बहुत अकुलात ॥

कितना पछतावा है, कितनी आतुरता है ! वह मदन-मोहिनी मूर्ति अन्तरतममें गड़ गयी है, उसे निकालना दुष्कर है; मन भी तो साथ नहीं, जो इसके लिये प्रयास किया जा सके। वह तो उस 'साँवरगात'से जा अटका है, कितना सुन्दर आदान-प्रदान हुआ है। अब आँखें उस रूपकी प्यासमें तड़प रही हैं। इस भावव्यापारका माध्यम भी तो ये ही हैं। इन्हें अपने कियेका फल भोगना ही चाहिये।

हृदयकी व्यथा ही आँखोंमें आ झलकती है और क्रमशः अङ्ग-अङ्गकी गति-विधिमें उसकी स्पष्ट छाया फैल जाती है। कवि अपने हृदयकी तालाबेली, मनको डाँवाडोल कर देनेवाली वियोग-व्यथा किसी विरहिणीका प्रतिनिधित्व करता हुआ इस प्रकार चित्रित करता है—

उठी फिरि फिरि आवति निज द्वार ।
गृह आगमन सोई हो तब ते देखे नंदकुमार ॥
सुंदर स्याम कमल दल लोचन सोभा सिंधु अपार ।
ता दिन ते आतुर भए मग तन चितवत बारंबार ॥
भोर भवन ते निकसे मोहन चलनि गयंद सुठार ।
'चत्रुभुज' प्रभु गिरिधरन मिलन कौं करत अनेक बिचार ॥

मनमोहनको अपने द्वारसे जाते हुए एक बार देख लिया है। बस, उन कमलदललोचन श्यामसुन्दरके अपार शोभा-सिन्धुमें बार-बार निमज्जन करनेके लिये वह उन्मन—उन्मत्त हो उठी है। एक क्षण चैन नहीं। आँगन और ड्योढ़ी एक कर रखी है। न जाने कब वे वहाँसे निकल पड़ें। दृष्टि भी मार्गपर लगी हुई है। लौट-लौटकर वहीं जाती है। कितनी बेचैनी और मनोमन्थनकी दशा है ! वह अपने रंग-बिरंगे सपनोंकी भाव-धारामें न जाने कबतक डूबी हुई इसी प्रकार दिवानिशि बिताती रहती है।

धीरे-धीरे यह तन्मयता उन्मादके रूपमें बदल जाती है। मनकी चञ्चलता, गतिकी स्थिरता और उस अनन्तकी अनन्त साधनाकी विवेचना दो सखियोंके बीच हुए प्रश्न-संवादसे और स्पष्ट हो जाती है।

प री तू धरिये धरी क्यों आवै ?
नंदनंदन सों हेतु कहा है सा क्यों न मोहि बतावै ॥
दीपक बार द्वार मंगल करि फेर बारने धावै ।
हिये अँधारौ उजारौ चाहत सो दीपक क्यों जावै ॥
मनि माला आँगन में लै लै तोर डार बगरावै ।
बीनन मिस मोहन अवलोकत यों ही पहर बितावै ॥
ब्रह्मादिक जाकौ ध्यान धरत हैं, खोजत अनत न पावै ।
चत्रुभुज प्रभु गिरधर छबि निरखत इनहिं रूखें सचु पावै ॥

उन्मत्त, मूक, जडकी भाँति बार-बार किसी भी बहानेसे वह नन्द-भवनके चक्कर काट रही है। नन्दनन्दनसे उसे क्या प्रयोजन है, उनके प्रति उसकी कैसी लगन है, वह किसीको नहीं बताती। आखिर प्रेम तो मौन साधनाकी निधि है, विज्ञप्ति या घोषणाकी वस्तु थोड़े ही है। प्रियके आगमनकी वह अनुक्षण बाट जोहती है। अपने भवनमें दीपक जला देती है, फिर द्वारपर दौड़कर आती है—सम्भवतः अपनी तल्लीनतामें प्रियकी पदचापकी ध्वनिकी कल्पना करके। किंतु भीतर जो एक निराशाका अन्धकार छाया हुआ है, जिसमें वह आशा-प्रकाशकी रश्मियाँ लाना चाहती है। भला, वह अन्धकार इस भवनके दीपकसे दूर हट सकता है ? यह आशा-निराशा, सुख-दुःखकी आँखमिचौनी कबतक चलती रहेगी, कौन जाने ? यशोदाके आँगनमें अपनी मणिमालाको तोड़-तोड़कर, मानो हृदयके भाव-मुक्ताओंकी कितनी ही अञ्जलियाँ बिखेरकर वह उन्हें बीनती है और इसी बहाने मन-मोहनके दर्शन करती हुई एक पहर बिता देती है। कितनी चातुरी है ! ब्रह्मादिकके ध्यानमें भी जो नहीं आता, उसकी मुख-छविसे वह अपनेको परितृप्त करती रहती है—हृदयसे उसकी सौन्दर्य-सुधाका स्वाद लेती रहती है।

चतुर्भुजदास भी उसी पगली ग्वालिनीकी तरह नन्दनन्दनके मुख-दर्शनका कोई-न-कोई बहाना निकाल ही लेते हैं, उनकी आँखोंमें बड़ा सुन्दर चित्र उतरता है।

कर ले निकसी घन दोहनी ।
भोरहि स्याम बदन देखन कौ आलस अँग छबि सोहनी ।
मानो सोभा निधि मथि काढ़ी मनसिज मन को मोहनी ।
खरिक के डगर चली हित पागी रसिक कुँवर के गोहनी ॥
गाइ दुहावनके मिस तब त्रिय नंदनँदन मुख जोहनी ।
चत्रुभुज प्रभु गिरिधरनलाल की चितवनि मृदु मुसकोहनी ॥

प्रभातकी उल्लासमयी वेलामें रसिक कुँवरके मुख-दर्शनके लिये गोदोहनके मिस खरिकके मार्गपर दोहनी हाथमें लेकर जानेवाली रसपगी अङ्ग-अङ्ग अलसित छबिसे विलसित, शोभा-सिन्धुसे मथकर काढ़ी गयी उस मनसिज-मन-मोहिनीकी कल्पना कीजिये। उसके रूप-लावण्यकी मृदुताके साथ ही उसके भावविभोर हृदयका भी अनुमान कीजिये और

आस्वादन कीजिये; नन्दनन्दनकी मन्दस्मितिसंवलित चितवनसे प्राप्त मधुरिमाका नवनीत-हृदय कवि, ग्वालिनी और रूप-माधुरी—तीनों यहाँ तद्रूप, तदाकार-से दिखायी देते हैं।

अब यह पूर्वानुराग अनुदिन बढ़ता जा रहा है। मिलनकी लालसा बलवती हो रही है, सदा-सर्वत्र लालगिरिधरकी प्रेम-रज्जुमें बँधे रहें—इसके लिये प्रयास हो रहे हैं। उधर प्रेमीके मधुर आकर्षणसे प्रिय भी समीप खिंचते चले आ रहे हैं, दो हृदय एक होकर रहेंगे—

या ही ते फिरत सदा बन खोरी।
कबहुँक अंचर गहत मंद हँसि सहज लेत रति जोरी॥
ठलटत नाहिं 'चतुर्भुज' प्रभु तजि हारी मनहिं निहोरी।
बाढ़ी प्रीति लाल गिरिधर सौं लोक बेद तृन तोरी॥

उत्कट प्रेमकी धाराका वेग लोक-वेदकी मर्यादामें बाँधा नहीं जा सकता। प्रेम तो उन्मुक्तता, स्वच्छन्दता चाहता है। परमगोपनीय अव्यक्त तत्त्व होते हुए भी अपनी चरमावधिमें वह स्वतएव अनायास व्यक्त हो जाता है। तब अन्य भौतिक बन्धन, आवरण या परिसीमन उसे पङ्गु नहीं कर सकते। तभी तो प्रिया-प्रियतम वन-वन, गली-गली प्रेमकी वंशी बजाते हुए उन्मुक्त विचरण करते हैं। एक मन्द मुसकानमें ही दो प्रेमी-हृदयभावोंकी टूटी कड़ियोंको जोड़कर स्वयं ही सदाके लिये अनजाने एक-दूसरेके हृदयमें बंदी बन जाते हैं। कवि इसी गोपी-भावमें तादात्म्य पाता है। कवि-वाणी उसी भाव-वीणाकी झंकार है, जिसमें उसके सर्वस्वकी माधुरी खेला करती है।

प्रेमियोंकी एकरूपता, उनकी एकरसता कविके ही शब्दोंमें परखें—

माई! मेरौ माधौ सौं मन मान्यौ।
अपनौ तन और कमल नैन कौ एक ठौर लै सान्यौ॥
एक गोबिंदचंद के कारन बैर सबन सौं ठान्यौ।
लोक लाज कुल कानि सबै तजि, मैं अपन्यौत घर आन्यौ॥
अब कैसें बिलगु होइ मेरी सजनी दूध मिल्यौ जैसें पान्यौ।
'चतुर्भुज' प्रभु मिली हौं गिरिधर पैंहलें की पहिचान्यौ॥

प्रेम तो मन मानेका सौदा है, दो हृदयोंका स्वेच्छासे सर्वदाके लिये बँध जानेका समझौता है। जब जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल जाय, उसकी अहंता-ममता समूल विनष्ट हो जाय, जो दैन्यकी परमावधि है, और तभी सर्वस्व-समर्पणकी कोटि आती है। फिर प्रभु में जीवसे या हरि भी भक्तसे विलग नहीं रह सकते। वे भक्तका अस्तित्व विलय होनेपर अपना अस्तित्व भी उसके अधीन छोड़ देते हैं। उसकी परवशताके आगे स्वयं परवश हो जाते हैं। दो स्थितियाँ भिन्न प्रतीत होती हुई भी फलमें कितनी एक हैं। इसीलिये गोपाङ्गनाएँ एक गोविन्दचन्द्रकी साधना करती हैं, भले ही इसके परिणाममें उन्हें सम्पूर्ण विश्वसे वैर मोल लेना पड़े। इस वैरका हरिके प्रेमके आगे मूल्य भी क्या? यह तो दूध और पानीकी-सी एकात्मकता है—जहाँ दूध-ही-दूध है, पानीकी पहचान ही उठ गयी और यह युग-युगके, जन्म-जन्मके संस्कार, प्रेम और साधनाका फल है—ऐसा वे विश्वास करती हैं। कवि घोषित करता है, 'पहले की पहिचान्यौ'.....

इतनी एकात्मकता—तद्रूपता अनन्य प्रेम बिना नहीं हो सकती। अहर्निशि वही लगन, वही उलझन, वही मनन। फिर मिलनमें क्या व्यवधान हो सकता है? कवि-चित्रकारकी तूलिकाका एक ऐसा भी कलाचित्र देखिये—

आजु सखी तोहि लागि रही रट।
गोबिंद लेहु, लेहु कोउ गोबिंद कहति फिरति बन में घट औघट॥
दधिको नाउ बिसरि गयौ देखत स्यामसुँदर ओढ़ें सुभग पीत पट।
माँगत दान ठगौरी मेली 'चतुर्भुज' प्रभु गिरधरनागर नट॥

निकली तो दधि बेचने, किंतु 'गोविन्द लेहु लेहु कोउ गोविन्द' की रट लगाती घर और वनमें फिरने लगी। लगन ही जो ठहरी। गोविन्द और ग्वालिनी एकरस, एकरूप हो गये। पीतपट ओढ़े हुए श्यामसुन्दरको देखकर वह अपने आपको ही भूल गयी, दधिको कौन कहे? दानमें मानो उसने अपना हृदय ही दे दिया, उसकी ऐसी मोहिनीसे छली गयी।

इस प्रकार चतुर्भुजदास अपने परमाराध्य नन्दनन्दनकी रूप-माधुरीमें आसक्त हैं, निरन्तर उनके प्रेम-रससे आपूरित हैं, वे क्षण-क्षण अधिकाधिक शोभायमान मुख-सरोजके पावन परागके लुब्ध मधुकर हैं। वे अङ्ग-अङ्गकी माधुरीपर न्योछावर होते हैं। चितवनोंसे सुखकी वर्षा हो रही है और उसमें सराबोर कविका भावुक हृदय स्वयं भावविगलित होकर गा उठता है—

बलिहारी हौं चारु कपोलनु की।
छिनु छिनु मैं प्रतिबिंब अधिक छबि झलकनि कुंडल लोलनु की॥
बदन सरोज निकट कुंचित कच भाँति मधुप के टोलनु की।
दायें दिसन कहनि हँसि कै कछु अति मदु मीठे बोलनु की॥
मृग मद तिलक भ्रकुटि बिच राजनि सिर चंद्रिका अमोलनु की॥
'चतुर्भुज' प्रभु गिरधर सुख बरषत चितवनि नैन सलोलनु की॥

तीर्थाङ्कका शुद्धि-पत्र

'कल्याण'के गत विशेषाङ्क तीर्थाङ्कमें आये हुए तीर्थोंके विवरणमें कुछ भूलें छप गयी हैं। उन-उन स्थानोंके निवासी तथा तत्सम्बन्धित जानकारी रखनेवाले सज्जनोंने जैसी सूचनाएँ भेजी हैं, उनके आधारपर पाठक-पाठिकाएँ कृपया अपनी-अपनी प्रतिमें इस प्रकार सुधार कर लें—

पृष्ठ-सं०	शीर्षक	स्थल-निर्देश	अशुद्ध	शुद्ध
४३	अमरनाथ	पैरा ३, पंक्ति ३, ४, ५	काठगोदाम	पठानकोट
५०	टिहरीसे धरासू	पंक्ति ३	भिलंगना नदी	भागीरथी गङ्गा
५७	चमोली	पंक्ति ४	जोशीमठतक	पीपलकोटीतक
८८	रावलीघाट	दूसरे कालमकी अन्तिम दूसरी पंक्ति	सम्राट् भरत	सम्राट् दुष्यन्त
९०	काम्पिल	पंक्ति १	जिला बदायूँ	जिला फर्रुखाबाद
११२	खेरेश्वर* महादेव	पंक्ति ३	राजापुर	बर्राजपुर
११३	क्षीरेश्वर	पंक्ति १	कानपुर-दिल्ली लाइनपर शिवराजपुर	कानपुर-अछनेरा लाइनपर बर्राजपुर
११९	राजापुर	अन्तिम दूसरी पंक्ति	महोबा है।	महेवा है
			महोबाका वर्णन चित्रकूट-के साथ जायगा।	यह वाक्य निकाल देना चाहिये
१४०	दुर्वासाधाम	पंक्ति ४	गोमती नदीके किनारे	टौंस व मझुई नदियोंके संगमपर
१८८	परशुरामकुण्ड (टिप्पणी)	पंक्ति २	धारामें लुप्त	क्षतिग्रस्त†
२२२	चम्पकारण्य	पंक्ति १-२	रायपुरसे ७३ मीलपर नवापारारोड है।	रायपुरसे नवापारा राजिम २८ मील है।
		पंक्ति ३	नवापारारोड	राजिम
२२४	अमरकण्टक	पैरा ४, पंक्ति २	रीवासे पक्की	रीवासे कच्ची
२२५	,,	पैरा १, पंक्ति ३	इस स्टेशनपर	अनूपपुर स्टेशनपर
२३४	माहिष्मती (महेश्वर)	पंक्ति २	३५ मील	३१ मील
२९६	नाथद्वारा	पंक्ति ५	४ मील	७ मील
		पंक्ति ६	रास्तेमें	नाथद्वारा स्टेशनसे नगरके मोटरमार्गमें
		पैरा २, नीचेकी २-३ पंक्ति	दिलवाड़ा ग्रामके पास	सिहाड़ग्राममें पीपलके वृक्षके नीचे

* इसी स्थानका अगले पृष्ठपर क्षीरेश्वर नामसे अलग उल्लेख किया गया है।

† यहाँ मकर-संक्रान्तिमें मेला लगता है। जानेका मार्ग यों है। पूर्वोत्तर रेलवेके साखून स्टेशनसे मोटरबोटद्वारा पुरानी सदिया जाय, वहाँसे मोटरबसद्वारा तेजू, तथा तेजूसे मिसमीघाट जाकर वहाँसे २ मील आगे पैदल जानेपर परशुरामकुण्ड मिलता है। मेलेके अवसरपर तेजूसे मिसमीघाटतक सरकारी बसें चलती हैं।

२९६ नाथद्वारा	अन्तिम पैरा, पंक्ति ४-५	श्रीनवनीतलालजी और श्रीविट्ठलनाथजी	श्रीविट्ठलनाथजी
	पंक्ति ६	श्रीनाथजीके मन्दिरमें	श्रीतिलकायित महाराजके मोतीमहल
२९७ काँकरोली	अन्तिम पैरा	यहाँ आस-पास श्रीबालकृष्ण-लाल, लाल बाबा, व्रजभूषण-लालजी आदिके मन्दिर हैं	यह वाक्य निकाल दें।
३२१ दक्षिणभारतके कुछ मन्दिर (चित्र)		वेदपुष्करिणी	कल्याणतीर्थ
३२७ मेलूकोटे (यादवगिरि)	पहले कालमकी अन्तिम पंक्ति	पञ्चतरणी	कल्याणतीर्थ या कल्याणी*
४४९ कश्यपाश्रम	पंक्ति २	पर स्थानका पता नहीं है	यह स्थान कसावखेड़े (औरंगाबाद दक्षिण)में है
५३५ मुख्य जलप्रपात	३-कपिलधारा	(ऊँचाई) ३००फुट	९० फुट

नोट—पृष्ठ १५० पर 'सीतामढ़ी'के विवरणके अन्तमें ये वाक्य जोड़ देने चाहिये—

एक स्थानीय महानुभावका कहना है कि जिस उर्विजाकुण्डसे आद्याशक्ति भगवती सीताजी आविर्भूत हुई थीं, वह पुराणप्रसिद्ध स्थान मन्दिरके निकट दक्षिणमें है—पुनौरामें कोई उर्विजाकुण्ड नहीं है।

उपर्युक्त भूलोंके अतिरिक्त पृष्ठ ५४२–४६ पर छपे 'श्वेताम्बर-जैनतीर्थ' शीर्षक लेखमें आये हुए बिहार प्रदेशके सम्मेदशिखर, पावापुर, राजगृह, नालन्दा, चम्पापुर तथा पटनाका; उत्कलप्रदेशके उदयागरि एवं खण्डगिरिका; उत्तरप्रदेशके वाराणसी, सारनाथके पार्श्ववर्ती सिंहपुर एवं चन्द्रपुर, अयोध्या, रत्नपुर, कम्पिलपुर, प्रयागके अक्षयवट, मथुरा, सौरीपुर एवं हस्तिनापुरका तथा सौराष्ट्रके गिरनार तीर्थका विवरण इसलिये नहीं दिया गया कि वे दिगम्बरोंके तीर्थ भी हैं तथा उनका वर्णन उसी लेखके ठीक पहले छपे हुए 'दिगम्बर-जैनतीर्थ' शीर्षक लेखमें दिया जा चुका था अथवा तीर्थाङ्कमें अन्यत्र उनका समावेश हो चुका था। पाठकगण कृपया श्वेताम्बर-जैनतीर्थोंमें उक्त तीर्थोंको भी सम्मिलित कर लें।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–प्रकाशनकी अवधि—मासिक

३–मुद्रकका नाम—घनश्यामदास जालान

जातीयता—भारतीय

पता—साहबगंज, गोरखपुर

४–प्रकाशकका नाम—घनश्यामदास जालान

जातीयता—भारतीय

पता—साहबगंज, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्०ए०, शास्त्री

जातीयता—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचारपत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं।—श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं, घनश्यामदास जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

ता० २८ फरवरी १९५७

घनश्यामदास जालान
प्रकाशक

* वेदपुष्करिणी इससे भिन्न है।

श्रीहरिः

चार नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

बालकोंकी बोलचाल

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४८, आर्टपेपरपर छपा सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य =)॥ मात्र। डाकखर्च अलग।

इस पुस्तकमें बालक किस प्रकार बोले, किस प्रकार बैठे, किस प्रकार चले, किस प्रकार पढ़े, किस प्रकार लिखे, किस प्रकार सफाई एवं सावधानी रखे—इत्यादि बातें बड़े सरल ढंगसे समझायी गयी हैं। साथ ही स्वास्थ्यके प्रारम्भिक नियम भी बताये गये हैं।

पुस्तकमें १८ पाठ हैं—बोलना सीखो, बैठना सीखो, चलना सीखो, पढ़ना सीखो, लिखना सीखो, कूड़ा सँभालकर डालो, कुछ भी नष्ट मत करो, समयपर काम, सावधानी, एक समयपर एक काम, नियम-पालन करो, जहाँ-तहाँ थूको मत, जहाँ-तहाँ छिनको मत, सफाई, ठिकाने रखो, सम्भालकर रखो, रोग और रोगी तथा स्वस्थ बालक।

बालककी दिनचर्या

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य =) मात्र। डाकखर्च अलग।

बालक कैसे जागे, कैसे सोये और जागनेके समयसे लेकर सोनेतक क्या-क्या और कैसे-कैसे करे—यही इस छोटी-सी पुस्तकमें संक्षेपतः बताया गया है। इसमें एक प्रकारसे बालककी पूरी दिनचर्या आ गयी है तथा साथ ही स्वास्थ्य और सफाईके प्रारम्भिक नियमोंका भी दिग्दर्शन कराया गया है। पूरी पुस्तक लाइन ब्लाकोंसे सजे हुए १८ पाठोंमें विभक्त है।

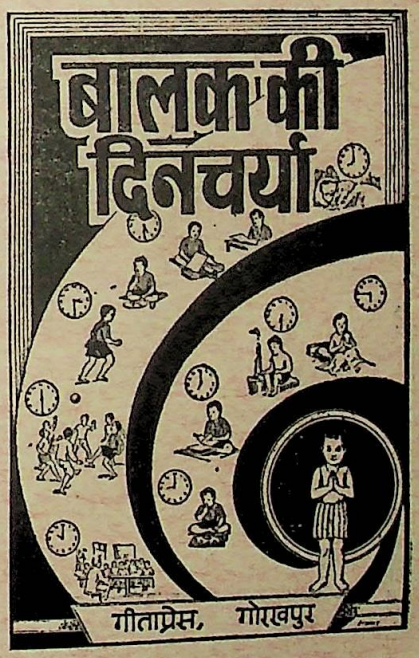

बालकके गुण

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४८, सुन्दर रंगीन मुखपृष्ठ, मूल्य ≡)॥ मात्र। डाकखर्च अलग।

संसारमें गुणोंकी ही पूजा होती है। अच्छे गुण ही जीवनको उच्च एवं सुखी बनाते हैं। इस छोटी-सी पुस्तकमें ऐसे ही कुछ गुणोंकी चर्चा की गयी है तथा चित्रोंद्वारा भी उनपर प्रकाश डाला गया है।

पुस्तकमें १९ पाठ हैं, यथा—सत्य, दया, क्षमा, धैर्य, सहनशीलता, नम्रता, सादगी, स्वदेशी, पवित्रता, श्रद्धा, भूलो मत, भूलो मत, सच्चा सुख, अच्छेका फल अच्छा, अच्छा क्या ? खुला रखो—बंद कर लो, कटुताको सहो, नियन्त्रण रखो, अवश्य करनेके काम और शिक्षाप्रद वेद-वचन।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

नयी पुस्तक ! श्रीहरिः नयी पुस्तक !!

श्रीशुक-सुधा-सागर

(भगवान् वेदव्यासकृत 'श्रीमद्भागवत'के बारहो स्कन्धोंकी सरल हिंदी व्याख्या श्लोकाङ्कसहित)

आकार बहुत बड़ा २२×२९ चार पेजी, लगभग ११ इंच×१४॥ इंच, टाइप बहुत बड़े, पृष्ठ-संख्या १३६०, बहुरंगे सुन्दर २० चित्र, मूल्य २०), कमीशन १।), बाकी १८।।।) । एक प्रतिका वजन लगभग ऽ६ सेर, डाकखर्च ६।।।), कुल २५॥) । रेलसे मँगवानेपर पैकिंग ॥=), रजिस्ट्री-खर्च ॥=) जोड़कर कुल २०) भेजना चाहिये । एक साथ पाँच प्रतियाँ मँगवानेपर कमीशन १५), रेलभाड़ा मालगाड़ीका फ्री एवं पारसलका आधा लगेगा ।

☞ पुस्तक जिन टाइपोंमें छपी है, उनका नमूना—

श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात् वाङ्मय स्वरूप माना गया है । इसमें प्रेम, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य—सभी कूट-कूटकर भरे हुए हैं । इसका एक-एक श्लोक मन्त्रवत् माना जाता है । इसीसे धर्म-प्राण जनतामें इसका इतना आदर है ।

जो लोग संस्कृतसे अनभिज्ञ हैं, अतएव जिनकी अनुवादमात्र पढ़नेकी रुचि है, ऐसे लोगोंकी सुविधाके लिये पूरे श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद 'श्रीभागवत-सुधा-सागर'के नामसे छापा गया था । यद्यपि उसके टाइप बहुत छोटे नहीं हैं फिर भी इसी भाषानुवादको बृहत् आकारमें तथा खूब मोटे टाइपोंमें छापनेकी माँग बराबर आती रही है । इसीलिये यह महान् ग्रन्थ इतने मोटे टाइपोंमें तथा बृहत् आकारमें 'श्रीशुक-सुधा-सागर'के नामसे पुनः छापा गया है ।

प्रस्तुत अनुवादमें मूल श्लोकोंके अन्तर्गत प्रत्येक शब्दके भावकी रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें उनकी व्याख्या की गयी है । अतएव इसे अनुवाद न कहकर 'सरल संक्षिप्त व्याख्या' कहना अधिक उपयुक्त होगा । स्थान-स्थानपर, विशेष करके दशम स्कन्धमें कई जगह श्रीभगवान्‌की मधुर लीलाओंके रसास्वादनके लिये और लीला-रहस्यको समझनेके लिये टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं, जिससे ग्रन्थकी उपादेयता और सुन्दरता विशेष बढ़ गयी है और साथ ही आकार भी कुछ बढ़ गया है । चित्र भी अधिक दिये गये हैं ।

ग्रन्थके आरम्भमें पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके छः अध्याय तथा अन्तमें स्कन्द-महापुराणके श्रीमद्भागवत माहात्म्यके चार अध्याय दिये गये हैं, जिनसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी अधिक हो गयी है ।

आशा है कि जनता इस सुधासागरमें अवगाहन कर—इसका रसास्वादन कर कृतकृत्य हो सकेगी ।

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे हमारी पुस्तकें माँगिये । इससे आप भारी डाकखर्चसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

वर्ष ३१] * [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०१४, जुलाई १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—बाल-माधुरी [कविता] ...	१०२५
२—कल्याण ('शिव') ...	१०२६
३—संसारमें सार क्या है ? (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ...	१०२७
४—परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ...	१०३१
५—सत्सङ्ग-सुधा	१०३९
६—श्रीराधा-कृष्णका अलौकिक विहार [कविता]	१०४७
७—साधनकी सफलता साधुवेषमें एक पथिक)	१०४८
८—मनका दृढ आधार (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)	१०५०
९—एक वैज्ञानिकका ईश्वरमें विश्वास [सात कारण] (श्रीयुत ए० क्रेसी मॉरिसन (न्यूयार्क ऐकैडेमी आव् साइंसके भूतपूर्व सभापति ...	१०५२
१०—जो नहीं था, वह मर गया (श्रीप्रतापशेठजी) ...	१०५५
११—श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी) ...	१०५७
१२—मूर्खता [कहानी] (श्री'चक्र')	१०६१
१३—'बस, इतनी-सी चाह' [कविता] (श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-ऐट-ला, विद्यावारिधि)	१०६४
१४—भक्त-जीवनका एक स्मरणीय प्रसङ्ग (विद्वान् श्रीयुत के० नारायणन्)	१०६५
१५—राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१०६६
१६—दान-लीला [कविता] (श्रीसूरदासजी)	१०७२
१७—समाजमें विवाह-विभ्राट् (स्वामी श्रीपारसनाथजी) ...	१०७३
१८—पागलकी झोली (श्रीमत् सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज) ...	१०७६
१९—विष्णु और लक्ष्मीकी एक रूपता (संत विनोबा)	१०७९
२०—कामके पत्र	१०८०
२१—हिंदू-संस्कृतिका मातृवाद (श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री) ...	१०८२
२२—भाव-जागरण (श्रीयोगराजजी थानी)	१०८४
२३—प्यारेसे—मनकी बात [कविता] ...	१०८५
२४—'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क भक्ति-अङ्क	१०८६

चित्र-सूची

तिरंगा

१—बालकराम १०२५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≈)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

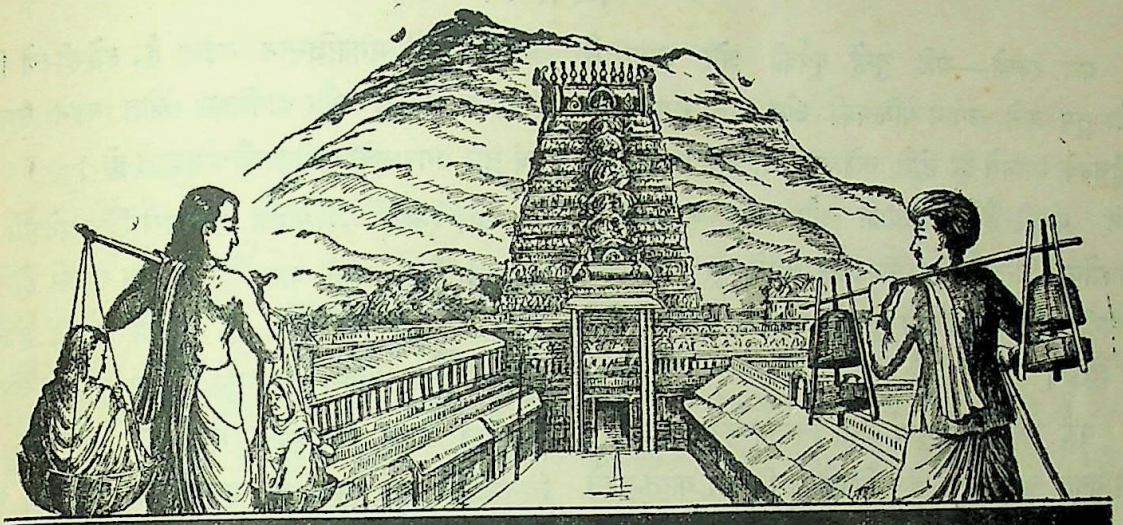

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१४, जुलाई १९५७ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ३६८

बाल-माधुरी

आज तो निहार रामचंद्र कौ मुखारबिंद,
चंदहू ते अधिक छबि लागत सुहाई री ।
केसर कौ तिलक भाल, गरे सोहै मुक्तमाल,
घूँघरवारी अलकन पर कुण्डल छबि छाई री ॥
अनियारे अरुन नैन, बोलत अति ललित बैन,
मधुर मुसकान पर मदनहू लजाई री ।
ऐसे आनंदकंद निरखत मिट जात द्वंद
छबि पर बनमाल 'कान्हर' गई हौं बिकाई री ॥

याद रक्खो—यदि तुम्हें पूर्वकी ओर जाना है और तुम जाने लगोगे पश्चिमकी ओर—तो तुम अपने पहुँचनेके स्थानसे दूर होते चले जाओगे; इसी प्रकार तुम्हें यदि करनी है भगवत्प्राप्ति और तुम करते रहोगे विषयोंका चिन्तन तो भगवत्प्राप्ति तुमसे दूर होती चली जायगी एवं इस दिशामें तुम्हारे जीवनमें सफलता होगी ही नहीं।

याद रक्खो—मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बनता चला जाता है। विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयोंमें डूबकर वह विषयरूप बन जाता है और भगवान्‌का चिन्तन करते-करते भगवद्रूप।

याद रक्खो—तुम जिस प्रकारका चिन्तन करोगे, उसी प्रकारका वातावरण तुम्हारे लिये बनता चला जायगा। भगवान्‌में चित्त लगाते रहोगे तो तुम्हें वैसा ही साहित्य, वैसी ही साधन-सामग्री, वैसा ही सङ्ग क्रमशः मिलता जायगा। विषय और विषयी जगत्‌से अपने-आप ही सम्बन्ध कटता चला जायगा। भगवान्‌की ही चर्चा करने लगोगे तो विषयी पुरुष—जिनको विषय-चर्चा ही प्रिय लगती है—तुम्हारे पास आना-बैठना बंद कर देंगे और भगवच्चर्चा करनेवाले लोग तुम्हारे पास आने-बैठने लगेंगे।

याद रक्खो—सारे अनर्थों, पापों तथा पतनका मूल है—विषयचिन्तन। विषय-चिन्तनसे विषयासक्ति—विषयकामना बढ़कर मनुष्यके विवेकको खो देती है और बुद्धिभ्रष्ट होकर मनुष्य चाहे जैसे कुकर्म कर बैठता है, जिनके बुरे फलसे छुटकारा मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

याद रक्खो—भगवान्‌की लीला, भगवान्‌के गुणानुवाद, भगवान्‌के तत्त्व और स्वरूपका चिन्तन, भगवत्-सम्बन्धी कथोपकथन आदिसे भगवच्चिन्तन बढ़ता है और ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों चित्तमें सात्त्विक आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है एवं तुम भगवान्‌के समीप पहुँचते जाते हो।

याद रक्खो—संसारके चिन्तनसे चित्त-प्रदेशमें व्यर्थका कूड़ा भरता चला जाता है, राग-द्वेष उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं, अशान्ति होती है, पापमें प्रवृत्ति होती है, चित्तका स्थिर, शान्त तथा सुखी रहना बंद हो जाता है, दिन-रात जलन बनी रहती है, मरते समयतक चित्त चिन्ताओंसे भरा रहता है, भगवान्‌का मङ्गलमय स्मरण छूट जाता है और मानव-जीवन विफल ही नहीं, पापका भारी भार संग्रह करके अनन्त दुःखमय जन्मोंका कारण बन जाता है। इसलिये जैसे भी हो, संसारचिन्तनके बदलेमें भगवच्चिन्तनका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—कई बार भगवच्चिन्तनके नामपर भी विषय-चिन्तन होता रहता है, जो विषयासक्ति और विषय-कामनाको बढ़ाता है। इससे खूब सावधान रहो तथा भगवान्‌का वैसा ही विशुद्ध चिन्तन करो, जिससे विषय-चिन्तनको स्थान ही न मिले।

याद रक्खो—भगवान्‌के शृङ्गार और उनकी मधुर शृङ्गारलीलाका चिन्तन जहाँ शुकदेव मुनि, श्रीचैतन्य महाप्रभु, सनातन-रूप गोस्वामी, सूरदास, नन्ददास आदि विरक्तोंके लिये भगवान्‌के निर्मल दिव्य प्रेम-रसकी प्राप्तिका पवित्रतम अमोघ साधन है और वैसे विषयविरक्त भगवत्प्रेमियोंका प्रियतम जीवन है, वहाँ विषयासक्त, इन्द्रियाराम लोगोंके लिये वही भोग-वासना उत्पन्न करने, बढ़ाने तथा उनके घोर पतनका साधन हो सकता है। इसलिये सावधान रहो। चित्तकी ओर अन्तर्दृष्टि करके सदा देखते रहो, उसमें कहीं तनिक भी भोग-वासना तो नहीं आ गयी है।

'शिव'

संसारमें सार क्या है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

शास्त्रमें एक वचन मिलता है—

यत् सारभूतं तदुपासनीय
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रात् ॥

भाव यह है कि संसारमें जो सार वस्तु हो, मनुष्य उसीका सेवन करे, अर्थात् पुरुषार्थद्वारा सार वस्तुको प्राप्त करे और असार वस्तुओंमें न फँसे। दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे दूध और पानी मिलाकर हंसको दो तो वह साररूप दूधको ग्रहण करेगा और असार वस्तु पानीको छोड़ देगा, उसी प्रकार मनुष्यको भी करना चाहिये।

अतएव यदि सारको ग्रहण करना है तो संसारमें सार वस्तु क्या है—यह जान लेना चाहिये। जिस मनुष्यमें विवेक-बुद्धि जाग्रत् नहीं हुई होती, वह तो विषयभोगके साधनोंको ही साररूप मानता है, इस कारण सारे जीवनको इन साधनोंके जुटानेमें ही लगा देता है। भोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, बल्कि उससे भोगतृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है; परिणाम यह होता है कि मनुष्य मृत्युकी अन्तिम घड़ी-तक विषय-चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसके फलस्वरूप आसुर योनियोंको ही प्राप्त होता है। यह बात हुई उन मनुष्योंकी—

जो 'कामोपभोगपरम' हैं अर्थात् काम्य वस्तुओंको प्राप्त करके उनका भोग भोगनेमें ही जीवनको सार्थक समझते हैं। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रोंमें पामर और विषयीकी संज्ञा दी गयी है।

परंतु जो मुमुक्षु पुरुष हैं, वे इस बातको जानते हैं कि भोग-पदार्थ दुःखयोनि और आगमापायी हैं, अतः उनसे कोई सच्चा और स्थायी सुख नहीं मिलता। इससे वे लोग विषयोंको विषवत् त्याग देते हैं और संसारमें साररूप क्या है—इसका विचार करते हैं। सारे संसारका सार खोजना तो एक बहुत व्यापक प्रश्न है; इसलिये पहले छोटे-छोटे परिचित उदाहरणोंको देखें, जिससे मूल प्रश्नका समझना सहज हो जाय।

एक आदमीके पास एक सोनेकी अँगूठी है। उस अँगूठीको निहाईपर रखकर उसपर हथौड़ा मारा जाय तो क्या होगा ? अँगूठीका आकार नष्ट हो जायगा और हथौड़ेसे पीटा सोनेका टुकड़ा दीख पड़ेगा। वह सोना एक समय अँगूठीके रूपमें था, ऐसी केवल स्मृतिमात्र रह जायगी। अब उसको एक बर्तनमें रखकर भट्ठीपर चढ़ायेंगे तो वह अँगूठी गलकर एक छोटी सोनेकी गुटिका बन जायगी और तब यह स्मृति भी शेष नहीं रहेगी कि वह गुटिका पहले अँगूठीके रूपमें थी। इस सारे प्रयोगका सार इतना ही है कि अँगूठी जब उत्पन्न नहीं हुई थी, उस समय भी सोना तो था ही। पीछे सुनारने उस सोनेसे एक आकृति तैयार की और उस आकृतिका नाम 'अँगूठी' रखा। नाम तो आकृति बननेके बाद ही पड़ा। पीछे जब उस आकृतिको नष्ट कर दिया गया, तब उसका नाम भी नष्ट हो गया और सोना अवशेष रह गया। नरसी मेहताने अपने एक भजनमें यही बात इस प्रकार कही है—

'घाट घड़्या पछी नामरूप झूजवाँ, अन्ते तो हेम नुं हेम होय।' अर्थात् आकृति गढ़नेके बाद नाम-रूपका अस्तित्व होता है, फिर अन्तमें सोने-का-सोना ही रह जाता है। यही बात दूसरी तरह कहें तो कह सकते हैं कि पहले सोना था, पीछे उसने एक रूप धारण किया और उस रूपका नाम अँगूठी रखा गया। फिर सोनेने अपनी उस आकृतिको अपनेमें समेट लिया और इस प्रकार नाम-रूप दोनोंका नाश हो गया और सोना फिर अपने मूल स्वरूपमें आ गया।

अब अँगूठीके विषयपर फिर आइये। अँगूठीमेंसे सोना निकाल लें तो क्या बच रहेगा ? यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सोनेने ही नाम-रूप धारण किया

था, इसलिये अँगूठीमेंसे सोना निकाल लेनेपर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता; क्योंकि नाम और रूप दोनों ही सोनेमें कल्पित थे।

परंतु अँगूठीमेंसे सोना प्रत्यक्षरूपमें निकाला नहीं जा सकता, अतएव इसको समझनेके लिये सूक्ष्म रीतिसे विचार करना पड़ता है। अतः इससे एक और स्थूल दृष्टान्त लीजिये।

एक मिट्टीका घड़ा लीजिये। वह घड़ा और कोई वस्तु ही नहीं है, केवल मिट्टीके द्वारा धारण की गयी एक विशेष आकृति है। और उस आकृतिको मिट्टीकी दूसरी आकृतिसे पृथक् दिखलानेके लिये उसको 'घड़ा' नाममात्र दिया जाता है। यह घड़ा कच्चा है, अर्थात् इसकी आकृति अवाँमें पकायी नहीं गयी। अब पानीसे भरा एक बड़ा बर्तन लीजिये और इस घड़ेको उसमें डुबा दीजिये। एक आध घंटेके बाद देखिये तो वह घड़ा दिखायी नहीं पड़ेगा। घड़ेकी मिट्टी पानीमें गल गयी, इससे घड़ेकी आकृति नष्ट हो गयी। और जब आकृति नष्ट हो गयी, तब 'घड़ा' नाम किसको दिया जाय? इसलिये घड़ेकी मिट्टी निकाल लीजिये तो नाम-रूप दोनोंका नाश हो जाता है और मिट्टी अवशेष रह जाती है और घड़ेकी आकृति बननेसे पूर्व मिट्टी तो थी ही। मध्यमें मिट्टीने एक आकार धारण किया, जिसको हमने 'घड़ा' नाम दिया। फिर पीछे उस घड़ेको पानीमें डालनेपर मिट्टी गल गयी और नाम-रूप नष्ट हो गये तथा मिट्टी बर्तनकी पेंदीमें बैठ गयी।

अब यहाँ भी हम घड़ेमेंसे मिट्टीको प्रत्यक्ष रूपमें नहीं ले सकते, इसलिये मिट्टी पानीमें गल गयी—यह बात बुद्धिके सहारे समझनी पड़ती है। अतः अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिये, जिसमें बुद्धिकी कुछ भी सहायता न लेनी पड़े और सारी बात प्रत्यक्ष समझमें आ जाय।

एक वस्त्रका टुकड़ा लीजिये। अब यह पता लगाइये कि वह किस प्रकार बना है। रूईसे सूत बना और सूतको बुननेसे वस्त्र बना। अब इस वस्त्रमेंसे एक-एक करके सूतके तारोंको निकालते जाइये। सब तारोंको निकाल लेंगे, तब क्या बाकी रहेगा? कुछ भी बाकी न रहेगा। रहेंगे तो वे सूतके तार ही रहेंगे और वस्त्रका कोई नाम-निशान भी न रहेगा। सूतके तारोंने एक साथ मिलकर जो वस्त्रका आकार धारण किया था, वह आकार तारोंके अलग-अलग हो जानेसे नष्ट हो गया और आकारके नष्ट होते ही 'वस्त्र' नामका भी नाश हो गया। प्रकारान्तरसे कह सकते हैं कि वस्त्रके उत्पन्न होनेके पहले सूत था। उस सूतके तारोंको व्यवस्थित रीतिसे मिलानेसे वस्त्र बना और फिर उन तारोंको अलग-अलग कर देनेसे वस्त्रका नाश हो गया।

अब तीनों दृष्टान्तोंको साथ लेकर देखिये। अँगूठीमें मानो सोना साररूप था; क्योंकि अँगूठीका आकार और 'अँगूठी' नाम तो नाशवान् ही हैं, इस कारण वहाँ साररूप कुछ है तो वह सोना ही है। इसी प्रकार घड़ेके दृष्टान्तमें भी मिट्टी साररूप है; क्योंकि आकृति और उसका नाम तो नाशको प्राप्त होता है, पर मिट्टी ज्यों-की-त्यों रहती है। वस्त्रके दृष्टान्तमें भी नाम और रूप नाशको प्राप्त होते हैं, परंतु सूत तो ज्यों-का-त्यों रहता है। अतएव अँगूठीका आधार सोना है, घड़ेका आधार मिट्टी है और वस्त्रका आधार सूत है। अथवा अँगूठी सोनेके सिवा और कुछ नहीं है, घड़ा मिट्टीके सिवा और कुछ नहीं है और वस्त्र सूतके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि उनकी उत्पत्ति सोने, मिट्टी और सूतसे ही क्रमशः होती है। जिससे जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसको उसका उपादान कारण कहते हैं; अतएव अँगूठीका उपादान कारण सोना है, घड़ेका मिट्टी है और वस्त्रका सूत है; और इस कारण उनमें साररूपमें सोना, मिट्टी और सूत हैं। नाम और रूप कल्पित होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं। यहाँ एक ही बातको अनेक प्रकारसे बहुत बार कहा गया है, यह बोधकी दृढ़ताके लिये आवश्यक समझकर कहा गया है। इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं माना जाता। इसके समर्थनमें वेदान्तसूत्र कहता है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।'

अर्थात् उपदेशको हृदयमें दृढ़ होनेके लिये एक ही बात बारंबार समझायी जाती है। वसिष्ठ ऋषिने भी श्रीभगवान् रघुनाथजीसे कहा है—

भूयो निपुणबोधाय शृणु किंचिद् रघूद्वह।
पुनः पुनर्यत् कथितं तदज्ञेऽप्यवतिष्ठते॥

'बोधकी विशेष दृढ़ताके लिये एक बार फिर कहता हूँ, सावधान होकर सुनो; क्योंकि एक ही बात अनेक प्रकारोंसे कही जाती है तो उससे मन्द बुद्धिवालेको भी बोध हो जाता है।'

हमने जिस बातको इतना विस्तारपूर्वक कहा है, उसीको श्रीगौडपादाचार्यने एक ही श्लोकमें समझाया है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

भाव यह है कि नाम और रूप जैसे वस्तुकी उत्पत्तिके पूर्व नहीं होते, वैसे ही वस्तुका नाश होनेपर भी नहीं रहते। वे मध्यकालमें दीखते हैं, तो भी उनको मिथ्या ही जानो। 'अँगूठी' नाम और उसका रूप सुनारके द्वारा गढ़े जानेके पूर्व नहीं थे, बीचमें दिखायी दिये हैं। और अँगूठीको गला देनेके बाद वे अदृश्य हो गये। इसलिये बीचमें जो अँगूठी नाम और उसकी आकृति दीख पड़ते हैं, उनको मिथ्या समझना चाहिये; क्योंकि उनमें स्वर्ण ही सत्य है। और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तु मध्यमें सत्य-सी दीख पड़ती है, क्योंकि हम उसका उपयोग करते हैं; परंतु तात्त्विक दृष्टिसे वह सत्य नहीं बल्कि कल्पित होनेके कारण मिथ्या है, अर्थात् केवल व्यवहार-कालमें प्रतीत होती है, इसलिये उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। दृष्टान्त देकर और भी समझाते हुए वे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

अर्थात् स्वप्नके पदार्थ, इन्द्रजालका खेल, बादलोंमें दीखनेवाला गन्धर्व नगर तथा दूसरी अनेकों आकृतियाँ-जैसे दीखती हैं, तथापि मिथ्या ही होती हैं, केवल देखने मात्रको होती हैं; उसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक विश्व-प्रपञ्च जो दीख पड़ता है मिथ्या ही है—ऐसा तत्त्वज्ञानी समझते हैं।

इसी प्रकार सृष्टिके उत्पन्न होनेके पहले एक परमात्मा ही था। उसको एकसे अनेक रूप होकर रमण करनेकी इच्छा हुई और इसलिये उसने अपने ही भीतरसे इस संसारकी रचना की। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—अर्थात् अपनेमेंसे जगत्को रचकर उसमें स्वयं जीवरूपसे प्रवेश किया। अतएव यह निश्चित हो गया कि परमात्मा इस सृष्टिका उपादान कारण है; क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि जिसमेंसे जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह उसका उपादान कारण होती है।

अब यहाँ यह विचारनेकी बात है कि अँगूठी बनानेमें सोना और सुनार—इन दोनोंकी जरूरत पड़ती है, घड़ा बनानेके लिये मिट्टी और कुम्भकार दोनों चाहिये तथा वस्त्रके लिये सूत और जुलाहा दोनों चाहिये। अतः जिससे जो वस्तु बनती है, वह उसका उपादान-कारण, तथा जो बनाता है वह निमित्त-कारण कहलाता है। यहाँ इस सृष्टिकी रचनामें यदि ईश्वरको उपादान-कारण मानें तो फिर निमित्त-कारण क्या है ? उसका भी पता लगाना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण यह है कि ईश्वर स्वयं ही उपादान-कारण और निमित्त-कारण दोनों है। जैसे मकड़ी अपने शरीरमेंसे लार निकालकर जाला बनाती है, अतएव उसका निमित्त और उपादान दोनों कारण मकड़ी ही होती है, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। अर्थात् उपादान भी स्वयं ही है और उपादानमेंसे सृष्टि रचनेवाला भी वह स्वयं ही है।

हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि किसी भी वस्तुमें साररूप तो उसका उपादान-कारण ही होता है, उपादान-कारणसे कार्यकी भिन्न सत्ता नहीं होती। जैसे अँगूठीमें सोना, घड़ेमें मिट्टी तथा वस्त्रमें सूत ही सार है, वैसे ही इस संसारमें साररूप इसका उपादानकारण ही होना चाहिये और वह है ईश्वर या परमात्मा। जैसे वस्तुमेंसे उपादान निकाल लेनेपर कुछ भी शेष नहीं रहता, उसी प्रकार संसारमेंसे यदि ईश्वरको हटा दिया जाय तो संसार नहीं रह सकता।

अब ईश्वर ही जगत्का उपादान-कारण है, इसका प्रमाण देखिये। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।

अर्थात् इस समस्त जगत्में मैं अव्यक्तरूपसे व्याप्त हूँ। जैसे अँगूठीमें सोना, अथवा घड़ेमें मिट्टी व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही ईश्वर जगत्में व्याप्त रहता है। यहाँ कदाचित् अर्जुन प्रश्न करें कि 'महाराज! आप तो रथमें यहाँ मेरे सामने बैठे हैं और फिर कहते हैं कि मैं सारे जगत्में व्याप्त हो रहा हूँ;—यह कैसे हो सकता है?' इसीलिये भगवान् पहलेसे ही कह रहे हैं—'मया अव्यक्तमूर्तिना'। मैं इस अवतार-स्वरूपसे तो तुम्हारा रथ हाँकता हूँ—यह ठीक है; परंतु मेरा जो मूल सर्वव्यापक स्वरूप है, जो इन्द्रियोंसे अगोचर है, उस स्वरूपसे मै सर्व जगत्में व्याप्त हो रहा हूँ।

फिर दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।

अर्थात् हे अर्जुन! जैसे अँगूठी सोनेसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार मुझसे भिन्न इस संसारमें कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् मैं ही इस जगत्रूपमें दृष्टि-गोचर हो रहा हूँ। इस जगत्का उपादान-कारण मैं ही हूँ। इसलिये मेरे सिवा जगत् दूसरा कुछ नहीं है।

ब्राह्मण लोग प्रतिदिन शंकरकी पूजा करके आरती उतारते समय गाते हैं—

कर्पूरगौरं करुणावतारं
संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे
भवं भवानीसहितं नमामि॥

यहाँ शंकरका एक विशेषण 'संसारसार' भी है। अर्थात् इस संसारमें कुछ साररूप है तो वह एक ईश्वर ही है; क्योंकि उसके सिवा जगत् कोई वस्तु नहीं। अब इस साररूप वस्तुको खोजें कहाँ? ऐसा किसी भक्तके मनमें प्रश्न हो तो कहते हैं—'सदा वसन्तं हृदयारविन्दे।' अर्थात् प्राणी मात्रके हृदयकमलमें उनका नित्य निवास है। इसलिये ईश्वरको खोजनेके लिये कहीं बाहर दौड़नेकी जरूरत नहीं। हृदयको शुद्ध करनेसे वहीं उनका दर्शन हो जायगा।

श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥

जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए रूपके भीतर और बाहर चारों ओर दर्पणका काच ही रहता है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं होता, इसी प्रकार इस शरीरमें भी, इस जगत्में भी अंदर और बाहर, चारों ओर एकमात्र परमेश्वर ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक है, अतएव वह कहीं नहीं है—यह कहना ही नहीं बनता। स्वर्ण जैसे अँगूठीमें है, वैसे ही ईश्वर जगत्में है। इस कारण यदि स्वर्णके बिना अँगूठीका अस्तित्व रह सकता हो तो ईश्वरके बिना जगत्का भी अस्तित्व रह सकता है।

ऊपर जो बात श्रीअष्टावक्र मुनिने सुन्दर दृष्टान्तके द्वारा समझायी है, उसी प्रसङ्गको श्रीवसिष्ठ ऋषिने एक नाटकके रूपकसे श्रीरामचन्द्रजीको समझाया है; उसका उल्लेख करके निबन्ध समाप्त करूँगा।

अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽयं
एकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः॥

अनेकों विकारोंसे भरे हुए, नियति-रूपी नटीके विलासोंसे युक्त इस संसार नामक अनादि महानाटकमें सर्वदा प्रकाशमान यह प्रत्यगात्मारूप एक राजा ही देखने-वाला है। वस्तुतः देखनेमें यह राजा नटीसे तथा नाटकसे भिन्न नहीं है। द्रष्टा पुरुष दर्शन और दृश्यसे अभिन्न ही है।

इसलिये इस संसारमें कोई साररूप है तो वह एक परमेश्वर है, दूसरा कुछ नहीं। जो दिखलायी देता है, वह तो केवल दिखावामात्र, दृश्यमात्र है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपने लिखा, 'मैंने छः वर्षसे आध्यात्मिक क्रियाका साधन आरम्भ किया है, पर उसमें प्रगति नहीं होती।' इससे ज्ञात होता है कि आप जो साधन कर रहे हैं, वह ठीक आपकी समझमें नहीं आया। साधनमें निम्नलिखित बातें होनेपर उसमें मन लग सकता है—

(क) साधन ऐसा होना चाहिये, जिसमें साधककी रुचि हो।

(ख) जो साधन किया जाय, वह साधककी योग्यता और प्रकृतिके अनुरूप हो अर्थात् जिसको साधक अनायास सहज स्वभावसे ही कर सकता हो।

(ग) जिसमें साधकका श्रद्धा-विश्वास हो कि यह साधन अवश्य ही मुझे मेरे लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

इस प्रकार साधनका चुनाव हो जाय और साधक उसे समझ ले तो फिर साधन साधकका स्वभाव बन जाता है। उसके करनेमें न तो आलस्य और प्रमाद बाधक हो सकता है और न मनकी चञ्चलता ही।

(२) ईश्वर सबका शासक, स्वामी, रक्षक और हितकारी है; वह सर्वत्र है। जो अन्य किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, एकमात्र उसीसे मिलनेके लिये व्याकुल हो जाता है, उसे वह तत्काल मिल जाता है। उससे साधक जिस प्रकार और जिस रूपमें मिलना चाहता है, वह उसी रूपमें साधकको मिल जाता है। मिलनेके बाद यह शङ्का अपने-आप मिट जाती है कि वह मिलेगा या नहीं। मिलनेके बाद जो स्थिति होती है, उसका वर्णन गीता अध्याय १२, श्लोक १३ से १९ तक देख लीजिये। वहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण लिखे हैं।

(३) यह संसार अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील और नाशवान् है—जिस रूपमें दिखायी देता है, उस रूपमें नहीं रहता। जो-जो बननेवाली चीजें हैं, वे सभी अनित्य होती हैं। बननेवाली वस्तुका बिगड़ना अनिवार्य है, यह सबके अनुभवमें आता है। यह जीवोंको अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये और मनुष्योंको कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिये बना है। पुण्य और पाप तो मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार स्वयं करता है। यदि संसारमें पाप न हो तो पुण्य किसे कहते हैं—यह पता ही न चले; यदि दुःख न हो तो सुखकी क्या पहचान?

सृष्टि बननेके पूर्व आप, हम और सभी प्राणी अव्यक्तरूपमें थे एवं भगवान्‌में ही उनकी प्रकृतिके आश्रित थे। बादमें अपने-अपने पूर्वकर्मानुसार यथासमय प्रकट होते रहे।

(४) ईश्वरकी इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह समझ जिनकी है, वे तो कुछ नहीं करते और उनके द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें कोई पाप नहीं होता। पर जो मनुष्य सुखभोगके लालचसे एवं दुःखके भयसे मनमाना कर्म करना चाहते हैं, अपनेको उस कर्मका कर्ता मानते हैं, भगवान्‌के विधानको न मानकर उसका उल्लङ्घन करते हैं, वे ही दोषके भागी होते हैं। कर्म करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है और उसका विधान भी बता दिया है, उसको हरेक मनुष्य समझता भी है, फिर भी उसका उल्लङ्घन करता है, इसलिये ही वह दोषी होता है। जो इस रहस्यको समझ लेता

है कि उसकी कृपाके बिना कुछ नहीं होता, वह अपनी ओरसे कुछ नहीं करता, अतः उसका 'करना' 'होने'में बदल जाता है।

(५) छः वैरियोंमें लोभ और क्रोध अधिक बलवान् हैं; इनका कारण काम है और उसका भी कारण मोह अर्थात् अज्ञान है।

इनसे निस्तार पानेके लिये साधकको चाहिये कि उसकी जो अज्ञानसे भोगोंमें सुख-बुद्धि हो रही है, उसे अपने विवेकद्वारा मिटाये, इनमें आसक्त न हो। भोगोंका लालच छोड़ देनेपर सभी वैरियोंसे निस्तार हो जायगा।

क्रोधको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, उसे भगवान्‌का विधान मान ले, अपने अधिकारका त्याग कर दे, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करे, उनके कर्तव्यकी ओर दृष्टिपात न करे और अपने कर्तव्यका पालन भगवान्‌की सेवाके नाते करता चला जाय।

(६) बिना अनुमतिके किसीकी वस्तुको ले लेना अवश्य ही पापकर्म है। किस कर्ममें कितना पाप होता है, उसका कर्ताको क्या दण्ड मिलता है और कब मिलता है—यह फलदाताके हाथमें है। प्रभुके कानूनमें सब बातोंका विधान अवश्य है, पर उससे पूरा-पूरा नाप-तौल नहीं किया जा सकता। विस्तार देखना हो तो धर्मशास्त्र और पुराणोंमें देख सकते हैं। जहाँ नरक-यातनाका वर्णन आता है वहाँ लिखा है कि कर्मका फल इस जन्ममें भी मिलता है और आगामी जन्ममें भी।

(२)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद क्या करना चाहिये—यह प्रश्न भगवत्प्राप्त पुरुषके जीवनमें नहीं रहता; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। फिर भी उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिद्वारा वही क्रिया अपने आप हुआ करती है, जो होनी चाहिये। उसकी प्रत्येक क्रियामें लोकहित भरा रहता है।

(२) भगवत्प्राप्तिके उपाय अनेक हैं। उनके मुख्यरूपमें तीन भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं—(१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग, (३) कर्मयोग। निष्काम-भाव, वैराग्य, समता, शम, दम, तितिक्षा, विवेक आदि दैवी सम्पदाकी सभी मार्गोंमें आवश्यकता है एवं दुर्गुण और दुराचाररूप आसुरी सम्पदाका त्याग भी सब प्रकारके साधनोंमें होना चाहिये।

(३) मनुष्योंकी आसक्ति भोगोंमें हो रही है, वे समझते हैं कि इन भोगोंके द्वारा हम मनकी बात पूरी करके सुखी हो जायँगे। इस मिथ्या धारणाके कारण और भगवत्प्राप्तिके महत्त्वमें विश्वास न होनेके कारण मनुष्यमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

(४) जो मनुष्य विवेकके द्वारा जगत्‌की अनित्यता, क्षणभङ्गुरता, दुःखरूपता और सारहीनताको समझ गये हैं और इस परिवर्तनशील अशान्त अभावपूर्ण जीवनसे विरक्त होकर आत्मकल्याणकी आवश्यकता समझते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं।

(५) भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर मनुष्य सब प्रकारके दुःख, भय और चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उसे सुख और अमृतमय नित्य जीवन प्राप्त होता है। उसके जीवनमें पराधीनता और किसी प्रकारका अभाव नहीं रहता।

(६) भगवान्‌की प्राप्तिके जो उपाय हैं, वे सब शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा समस्त व्यावहारिक कार्योंको सुन्दर और निर्दोष बना देनेवाले हैं। अतः उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।

मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह आदिके वशमें होकर भेद मानने लग जाता है।

(७) भगवान्‌की प्राप्ति मनुष्य जब चाहता है, तभी हो जाती है। इस कारण समयकी कोई अवधि नहीं है। केवल एक ही शर्त है कि भगवान्‌के सिवा अन्य किसी प्रकारकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये।

(८) नित्यमुक्त, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ, सर्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको पा लेना, उनका साक्षात् हो जाना ही भगवत्प्राप्ति है।

(९) 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे की गयी है। जिसमें उपर्युक्त गुण हों और अन्य भी समस्त सद्गुणोंका जो भंडार हो तथा जो सर्वव्यापी निर्गुण निराकार निर्विशेष भी हो, वह भगवान् है।

(१०) 'भगवान्', 'आप', 'यह' और 'मैं'—इनमें भेद है। यह भेद जीवोंकी दृष्टिसे है और अनादि है, ब्रह्मकी दृष्टिसे नहीं।

(३)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपका 'मैं' दो भागोंमें विभक्त है। एक तो आपने जिसको अपना स्वरूप मान रखा है—यह मनुष्य-जीवन जो कि भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आपको मिला है और आपसे सर्वथा भिन्न है।

दूसरा आपका वास्तविक स्वरूप है, जो उस प्रभुका ही अंश है और उसीकी जातिका है।

आपका कर्तव्य क्या है, इसकी परिभाषा बहुत लंबी-चौड़ी है। उसका विस्तार पत्रमें नहीं लिखा जा सकता। मनुष्यका कर्त्तव्य बतानेके लिये असंख्य पुस्तकें और ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। संक्षेपमें आपका कर्तव्य वही हो सकता है, जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका अहित न हो, जिसे करनेकी शक्ति, सामग्री और आवश्यक साधन आपको प्राप्त हो एवं जो आपके वर्ण-आश्रम-धर्मके अनुसार आपके लिये विहित हो और जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो।

(२) आप अपनेको जहाँ समझ रहे हैं, वहीं हैं। वास्तवमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों। शरीरमें आपका खास स्थान हृदय माना गया है। अपना स्वरूप आप स्वयं ही जान सकते हैं, उसका वर्णन नहीं होता। संसारमें विभिन्नता होना अनिवार्य है, स्वाभाविक है और अनादि है।

(३) आप यहाँ (मनुष्य-शरीरमें) अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगकर संसारसे उऋण होकर सदाके लिये इसके बन्धनसे छूटनेके लिये आये हैं। इसके पहले आप इस संसारमें ही थे, पर किस शरीरमें अपना अस्तित्व मानते थे, यह कोई नहीं बता सकता। योगविद्यासे आप स्वयं तो जान सकते हैं।

(४) जिस शरीरको छोड़कर आप इस मनुष्य-शरीरमें आये हैं, उसके संस्कार दब गये हैं, इस कारण उनकी स्मृति नहीं हो रही है। निमित्त पाकर हो सकती है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आप जब माताके गर्भमें थे, उस समयकी भी तो कोई बात याद नहीं है। करीब तीन सालतकके बालकपनमें—बहुत छोटी अवस्थामें जो काम किये थे, वे भी याद नहीं हैं। रोज जो स्वप्न आता है, वह याद नहीं रहता। इसके अतिरिक्त और भी बहुत बातें स्मरण नहीं रहतीं, यह सबका अनुभव है; फिर पूर्व जन्मकी बात याद न रहना कोई आश्चर्य नहीं है।

(५) आपका आवागमन इसलिये चालू है कि आप संसारके देनदार हैं। उससे लिया तो बहुत है, दिया कुछ नहीं। जो कुछ भी दिया है, वह भी बदलेमें अधिक लेनेके लिये ही दिया है। यह लेन-

देनका खाता जबतक चुकती नहीं हो जाता, तबतक आवागमन कैसे छूटे ?

(६) आपका चरम लक्ष्य क्या है, यह तो आप जानें; पर मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य संसारके बन्धनसे छूटकर अपने परम प्रियतम प्रभुको पा लेना ही है ।

(७) भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे जो विवेक मिला है, उसके द्वारा संसारका स्वरूप तो प्रत्यक्ष दिखलायी दे रहा है कि इसमें कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, सभी प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं । अतः इनमें आसक्त होना, इनसे सम्बन्ध जोड़ना, इनकी इच्छा करना अपने विवेककी अवहेलना करना है । दूसरी बात रही भगवान्‌को जाननेकी, सो भगवान्‌को जीव कैसे जाने; क्योंकि उन्हें जाननेका साधन उसके पास है नहीं । अतः उनको जाननेका प्रयत्न न करके साधकको चाहिये कि उनको मान ले अर्थात् दृढ़ विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर ले कि भगवान् हैं और वे मेरे हैं । मैं और यह समस्त विश्व भी उन्हींका है । इस प्रकार मान लेनेपर वे स्वयं ही कृपा करके अपना साक्षात्कार साधकको करा देते हैं, प्रयत्नद्वारा वे नहीं जाने जाते; क्योंकि वे असीम और अनन्त हैं और प्रयत्न सीमित होता है ।

(८) ईश्वरमें आस्था (निष्ठा) विश्वास करनेपर ही हो सकती है । जिनकी उनपर आस्था है, उनकी और वेद-शास्त्रकी बात माननेपर, प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली उनकी महिमाको देखकर उसपर विचार करनेसे और अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बना लेनेसे ईश्वरमें आस्था सहज ही हो सकती है ।

(९) भगवान्‌का प्रभाव क्या है, इसका उत्तर इस छोटेसे पत्रमें कैसे लिखा जाय । उनके प्रभावका वर्णन करनेमें बहुत कुछ कहकर भी कोई पूर्णतया नहीं कह सका । अतः इतना मान लेना ही साधकके लिये अलं है कि इस जगत्‌में जो भी कोई व्यक्ति, पदार्थ आदि प्रभावशाली प्रतीत होते हैं, उन सबका प्रभाव उन्हींके प्रभावके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है । (गीता १०। ४१-४२)

(१०) भगवत्प्राप्त महापुरुषका जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है । इसके अतिरिक्त प्रभुकी कृपासे मनुष्यको जो विवेक मिला है, वह भी गुरुतत्त्व है । जो उसका आदर नहीं करता, वह गुरुका भी आदर नहीं कर सकता ।

(११) हरिकी कृपा तो अनन्त है, सदैव है और सबपर है । उसका अनुभव उस कृपाका आदर करनेपर—अपनेको उन कृपालुका कृतज्ञ बना लेनेपर और उनके आदेशानुसार जीवन बना लेनेपर सुगमतासे हो सकता है ।

(१२) प्रभु अवश्य ही विभु हैं । ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रभु न हों । स्थानकी पवित्रता और अपवित्रता तो मनुष्योंकी दृष्टिमें है और उसका प्रभाव भी उन्हींपर पड़ता है । आप विचार करें—क्या आपके शरीरमें जहाँ मल-मूत्रका स्थान है, वहाँ आप नहीं हैं । इस दृष्टिसे आपकी यह शङ्का ही बेसमझीकी है । मल और मूत्र जब आपके शरीरसे अलग होते हैं, तभी उनको अपवित्र कहा जाता है । शरीरमें रहते हुए तो कोई भेद नहीं है ।

(१३) वर्ण और आश्रमोंकी व्यवस्था मनुष्य-समाजको सुखी और स्वस्थ तथा सर्वहितकारी बनानेके लिये परम आवश्यक है और इहलोक-परलोकमें कल्याणकारी है । इस विषयमें आप अधिक क्या जानना चाहते हैं, विस्तारपूर्वक पूछनेपर उत्तर दिया जा सकता है ।

(१४) धर्मका बन्धन सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये है । इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाले कर्तव्यका ही दूसरा नाम धर्म है । वास्तवमें

धर्मका कोई बन्धन नहीं होता। मनुष्यके कर्तव्यका जो विधान है, उसीको धर्मके नामसे कहा जाता है। बिना विधानके कोई भी व्यवस्था नहीं रह सकती।

(१५) धर्मका आश्रय छोड़ देनेपर अधर्मका आश्रय मिलेगा, जिसका परिणाम दुःख, अशान्ति, पराधीनता, अव्यवस्था और पतन अनिवार्य है। दुःख किसीको अभीष्ट नहीं है, अतः धर्मका आश्रय परम आवश्यक है।

(१६) सनातन धर्म उस धर्मका नाम है, जो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला हो—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिक सूत्र) तथा जो अनादि है, जो ईश्वरीय विधान है, जो सबके लिये मानने योग्य है। उसमें जो भेद दिखायी दे रहे हैं, इसका कारण कहीं तो स्वार्थी लोगोंद्वारा स्वार्थवश किया हुआ प्रचार है और कहीं वह अधिकारीके भेदसे आवश्यक है; क्योंकि सब मनुष्य एक ही मार्गसे नहीं चल सकते। प्रत्येककी बुद्धि, योग्यता, प्रकृति और समझमें भेद होता है। उसके अनुसार उनकी साधनामें भेद होना भी आवश्यक है। ऐसा मतभेद उस सनातन धर्मकी विशेषता और महानताका द्योतक है।

(१७) परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये आपको उसी मान्यताको साधनके रूपमें अपनाना चाहिये, जो रुचिकर हो, जिसपर आपका दृढ़ विश्वास हो, जिस मान्यताके अनुरूप आप सहजमें ही अपना जीवन बना सकें। जिस मान्यतामें न तो किसीके अहितकी भावना हो, न किसीके साथ द्वेष हो, न किसीकी निन्दा हो—ऐसी सर्वहितकारी मान्यतासे तथा ईश्वरकी भक्ति और ज्ञानसे परम शान्ति मिल सकती है।

अब मानससम्बन्धी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है—

(१) रामचरितमानस कैसा है, यह तो उसमें स्वयं तुलसीदासजीने लिखा ही है। दूसरा कोई उससे अधिक क्या बतायेगा। उसके प्रचारका हेतु तो यही मानना चाहिये कि मनुष्योंका भगवान्‌में प्रेम हो, विश्वास हो और वे उनके जीवनकी कथासे अपने-अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करें एवं ईश्वरकी भक्तिद्वारा उनको प्राप्त करें।

(२) श्रोता और वक्ताके लक्षण भी रामचरितमानसके आरम्भमें ही तुलसीदासजीने स्वयं बता दिये हैं। वक्ता सदाचारी, भगवान् रामका प्रेमी भक्त, लोभ और कामनासे रहित अवश्य होना चाहिये। श्रोताके हृदयमें भगवान् रामपर श्रद्धा और उनके चरित्र सुननेकी लालसा होनी चाहिये।

(३) श्रीमानसके कथाप्रबन्धमें विचित्रता सबके लिये एक-सी नहीं है। जिसकी जैसी धारणा है, उसको वैसी ही विचित्रता प्रतीत होती है।

(४) शंकर-धनुषको बड़े-बड़े योद्धा नहीं उठा सके, इसमें भगवान् रामद्वारा अभिमानियोंका अभिमान नाश करना और अपने भक्तोंकी श्रद्धाको बढ़ाना इत्यादि बहुत रहस्य हैं।

श्रीलक्ष्मणजीको राक्षसलोग ही नहीं, स्वयं रावण भी नहीं उठा सका—इसमें भी रावण आदिको जो अपने बल-पराक्रमका अभिमान था, उसका नाश करना और लक्ष्मणजीकी महिमाका प्राकट्य आदि रहस्य भरा पड़ा है।

(५) भगवान् राघवेन्द्रने मनुष्यका स्वाँग लिया था। अतः उस स्वाँगके अनुरूप लीला न की जाती तो सारा खेल ही बिगड़ जाता। अपने स्वाँगका पूर्णतया निर्वाह करना ही इन सब लीलाओंका उद्देश्य है। सुग्रीवके साथ श्रीरामने जो क्रोधकी लीला की, उसमें यदि सचमुच क्रोध होता तो क्या वे यह कहते कि—

'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

इसी प्रकार सीताहरणके समय उन्होंने जो शोक और

विषादकी लीला की, उसमें भी वास्तवमें दुःख नहीं था। शबरी और ऋषि-मुनियोंके मिलनमें एवं नारदके साथ हुई बातोंके प्रसङ्गमें इसका रहस्य खुल जाता है।

फुलवारीमें जो हर्षकी लीला है, उसका रहस्य भी लक्ष्मणके सामने भगवान्‌ने ही खोल दिया है।

(६) हनुमान्‌जी ब्रह्मपाशमें स्वयं अपनी इच्छासे उसका मान रखने और रावणसे मिलनेके लिये बँधे थे।

इसी प्रकार भगवान् राम भी नागपाशका आदर करने और युद्धकी शोभा बढ़ानेके लिये स्वयं अपनी इच्छासे ही नागपाशमें बँधे थे।

(७) मानसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। शब्दका अर्थ प्रसङ्गके अनुसार हुआ करता है, उसे समझना चाहिये। 'सत्' शब्द सत्ताका, श्रेष्ठताका और संख्याका भी वाचक होता है। सत्य बोलनेको भी 'सत्' कहते हैं। आपने जो उदाहरण दिखाये हैं, उनमें तीनों ही अर्थ क्रमसे आये हैं।

(८) 'दूना' शब्द गणितकी दृष्टिसे किसी-न-किसी प्रकारके नाप-तौलकी ओर संकेत करता है। पर आपके पूछे हुए प्रसङ्गोंमें सुख और सुहागका तो नाप-तौल हो सकता है, क्योंकि वह वर्णन सीमितभाव-विषयक है। परंतु भगवान् रामका प्रेम असीम है, उसका नाप-तौल नहीं हो सकता; अतः श्रीहनुमान्‌जीके कथनमें जो 'दूना' शब्दका प्रयोग है, वह इस भावका द्योतक है कि हे माता! श्रीरामजीका आपके प्रति प्रेम आपसे भी अधिक है। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको भी आश्वासन देनेके लिये ही 'दूना' शब्दका प्रयोग किया है, नाप-तौलकी दृष्टिसे नहीं।

(९) जनकजीने जो चित्रकूटमें सीताजीको उपदेश दिया है, वहाँ 'गुरु' शब्द बड़ोंका वाचक है। श्रीरामजीके जो-जो माननीय पूज्य थे, वे सभी गुरुके अर्थमें सम्मिलित हैं। अतः स्त्रियोंके लिये गुरु बनानेकी बात नहीं है।

(१०) रामनामका स्मरण गोप्य होते हुए भी किसीको सुनाकर करनेका निषेध नहीं है। शब्द यदि दूसरेको न सुनायी दे, पर भाव यह हो कि मैं रामनामका जप करता हूँ, उसे गुप्त रखता हूँ—इसे लोग जानें, तो वह वास्तवमें गुप्त नहीं है। सुनाकर किया जाय, पर उसमें किसी प्रकारकी मान-बड़ाईकी या अपना महत्त्व प्रकट करनेकी भावना नहीं है तो वह गुप्त ही है। यही इसका रहस्य है।

किसी मन्त्रके मनमें अपने-आप होनेवाले स्मरणका दोष नहीं है।

(११) भगवान् श्रीरामको समस्त अयोध्यावासी साक्षात् परब्रह्म जानते थे, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सबके भावका क्या पता लगे। परंतु उनको चाहते सभी थे, उनके प्रति प्रेम सबका था। हाँ, सबका प्रेम एक-सा नहीं हो सकता। अयोध्याका प्रभाव जाननेवाला ही उसका प्रभाव बतानेमें शायद समर्थ न हो तो मैं उसे कैसे बताऊँ?

(१२) मानसमें सीता-वनवास, लव-कुशका, यौवराज्याभिषेक, लक्ष्मणजीके त्यागका प्रसङ्ग नहीं कहा गया। सम्भव है गोस्वामीजीको यह वर्णन रुचिकर नहीं रहा हो।

'गये जहाँ सीतल अमराई' वाला प्रसङ्ग परम धाम पधारनेका हो, यह बात नहीं है।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र गीताप्रेस, गोरखपुर होकर मि[illegible] समाचार ज्ञात हुए।

आपने लिखा कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ। पर यह बात कहाँतक ठीक है, इसपर विचार करना चाहिये। अपने मनसे ही पूछिये कि भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, उसका आपको कितना दुःख है। यदि दुःख नहीं है तो वह चाह कैसी!

संसारमें देखा जाता है कि छोटी-से-छोटी आवश्यकताकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य महान् दुखी हो जाता है, उसे चैन नहीं पड़ता; पर भगवान्‌के न मिलनेपर वह चैनसे रह सकता है । फिर भी उसे यह भान होता है कि मैं भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ ।

वास्तवमें बात ऐसी है—जो सचमुच भगवान्‌से मिलना चाहता है, भगवान् उससे मिलनेके लिये आतुर हो उठते हैं । पर जो भगवान्‌को सुखकी सामग्री बनाकर उनको प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् कैसे मिलें ? जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहेगा, उसे अन्य किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा क्यों रहेगी ?

आपने पूछा कि निष्कामभाव प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें कैसे बर्तना चाहिये सो जो साधक निष्काम-भाव प्राप्त करना चाहे, उसे किसी भी व्यक्ति या पदार्थसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा नहीं रखनी चाहिये । अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये, किंतु उसका अभिमान नहीं करना चाहिये । बदलेमें न तो किसीसे कुछ लेना चाहिये, न पानेकी आशा ही रखनी चाहिये । दूसरेके कर्तव्यको नहीं देखना चाहिये । किसीके दोषोंको नहीं देखना चाहिये । समस्त व्यक्ति, वस्तुएँ भगवान्‌की हैं; अतः कोई न तो मेरा है, न पराया है; ऐसा भाव रखना चाहिये । सबका हित करनेका भाव रखना चाहिये । किसीका भी अहित न तो करना चाहिये, न मनमें किसीका अहित चाहना ही चाहिये । ऐसा करनेसे निष्कामभाव प्राप्त हो सकता है ।

शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तु न तो किसीसे माँगनी चाहिये और न उसका भार भगवान्‌पर ही छोड़ना चाहिये । बिना याचना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे शरीरके उपयोगमें लगा देना चाहिये । न मिले तो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाना चाहिये । समझना चाहिये कि आज भगवान् अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं। यदि आवश्यकतासे अधिक वस्तु प्राप्त हो जाय तो जिनको आवश्यकता हो, उनके हितमें उसको लगा देना चाहिये । शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्राप्त हो तो उसको शरीरके हितमें लगा देना चाहिये और उसमें भी भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेममें निमग्न रहना चाहिये । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि न तो निष्काम-भावका अभिमान हो और न प्राप्त वस्तुओंके उपभोग-का सुख हो ।

आपने लिखा कि मैं दिनभर नामजप करता हूँ, यह अच्छी बात है; पर क्या रात्रिमें नाम-जप नहीं करते ? यदि ऐसा हो तो निरन्तर करनेका अभ्यास करना चाहिये ।

नामजप विधिपूर्वक होता है या नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये । नामजपके लिये अन्य कर्मोंकी भाँति कोई विशेष विधि-विधान नहीं है । उसके लिये तो नाम और नामीके साथ अपनापना ही पर्याप्त है । जिसका नाम लेता हूँ, वह मेरा है और मैं उसका हूँ—यह भाव निस्संदेह और दृढ़ होना चाहिये ।

ध्यानसहित आदर और प्रेमपूर्वक किया हुआ जप अनन्त फल देनेवाला है । साधारण जपके साथ उसकी १० गुना और १०० गुना कहकर तुलना नहीं की जा सकती तथा वैसा जप करनेवालेकी दृष्टि भी समय, संख्या और फलपर नहीं रहती । वह तो अपने प्रियतम-का स्मरण इसलिये करता है कि उसके किये बिना उसे चैन नहीं पड़ता, वह बिना किये रह नहीं सकता; क्योंकि वह स्मरण ही उसका जीवन है । यदि उसका सहारा न होता तो उसके लिये अपने प्रियके वियोगमें जीवित रहना भी असम्भव हो जाता ।

संख्या पूरी करनेके लिये जपमें जल्दीबाजी न करके भावपूर्वक जप करना चाहिये।

जप करते समय कोई आ जाय तो उसे भगवान्‌का भेजा हुआ समझकर आदर और प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिये। पर ऐसी बातें ही करनी चाहिये, जिनमें उसका हित भरा हो। ऐसी बातोंमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये, जो किसी अन्यके दोषों या निन्दा-स्तुतिसे सम्बन्ध रखती हो या जो व्यर्थ चर्चा हो।

साधन किसीके देख लेनेसे प्रकट हो जाता है और न देखनेसे गुप्त रहता है, ऐसी बात नहीं है। साधन वही गुप्त है, जो किसीको दिखानेकी भावनासे न किया जाता हो, जिसके करनेका साधकके मनमें अभिमान न हो, जिसके फलस्वरूप वह किसीसे कुछ आशा न करता हो।

नामजपके अपराध १० बताये जाते हैं; पर वास्तवमें उसकी महिमापर विश्वास न होना और उसके बदलेमें किसी प्रकारका सुख चाहना यही अपराध है। दूसरे अपराधोंका जन्म इनके कारण ही होता है।

साधकके मनमें ऐसा भाव नहीं आना चाहिये कि मैं किसी दूसरेका अन्न खाता हूँ। उसे तो समझना चाहिये कि मुझे जो कुछ शारीरिक सेवाके लिये प्राप्त होता है, वह सब कुछ भगवान्‌का है और यह शरीर भी उन्हींका है। उन्हींकी वस्तुका उनके आदेशानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये उपभोग करनेमें मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। करने-करानेवाले भी वास्तवमें वे ही हैं; क्योंकि जो कुछ करनेकी शक्ति और योग्यता है, वह भी तो उन्हींकी दी हुई है और मैं स्वयं भी उन्हींका हूँ, फिर दूसरा है ही कौन?

निष्कामभावमें तो इसके लिये भी स्थान नहीं है कि मैं साधन करता हूँ, उसका फल मिलेगा और आधा हिस्सा अन्नदाताको मिल जायगा; क्योंकि उसके मनमें तो फलका संकल्प ही नहीं रहता, फिर यह शङ्का कैसे हो कि इसका आधा फल अन्नदाताको मिलेगा। यदि कोई फल होता है और सब-का-सब सभी लोगोंको मिलता रहे तो उसे इसकी चिन्ता क्यों होनी चाहिये।

आहारशुद्धिके विषयमें आपने पूछा सो जिसके आचरण और भाव शुद्ध हैं; जो यथासाध्य अपनी जानकारीके अनुसार पवित्रतापूर्वक भोजन तैयार करता है, उसका बनाया हुआ अन्न शुद्ध है; पर साधकको तो वह तभी स्वीकृत होना चाहिये, जब उसे स्वीकार न करनेपर देनेवालेको दुःख हो और शरीरके लिये उसकी आवश्यकता हो। किसी प्रकारके स्वादसे या मान-प्रतिष्ठासे प्रेरित होकर स्वीकार नहीं करना चाहिये तथा अभिमानसे प्रेरित होकर उसका त्याग भी नहीं करना चाहिये। यदि स्वीकार न करना ही उचित समझा जाय तो बड़ी नम्रताके साथ स्वीकार न करनेका सच्चा कारण निवेदन करके उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये ताकि उसके मनपर किसी प्रकारका आघात न पहुँचे।

जिसमें सबका हित हो, वही काम करने योग्य है और जिसमें किसीका भी अहित होता हो, वह करने योग्य नहीं है। इसी सूत्रको लेकर कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय कर लेना चाहिये। जिसके करनेकी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसके करनेका विधान हो, जो वर्तमानमें करना आवश्यक हो और जो हितकर हो, वही करना चाहिये। प्रत्येक कामके विषयमें अलग-अलग कहाँतक लिखा जाय।

आपके मनमें उठनेवाली शङ्काओंका उत्तर विचार करनेपर अपने-आप मिल सकता है। उसपर भी कोई बात पूछनेकी मनमें उठे तो बिना संकोच पूछ लिया करें।

कल्याणका भार तो भगवान्‌ने किसी दूसरेपर नहीं छोड़ा है, अपने ही हाथमें रखा है। जो अपना

कल्याण चाहता है, उसका कल्याण करनेके लिये प्रभु हर समय तैयार रहते हैं। अतः साधकको दूसरे किसीसे भी अपने कल्याणकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

रामायणमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि 'शंकर भजन बिना नर भक्ति न पावइ मोरि', इसका मुख्य अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि जो लोग भ्रमवश भगवान् शंकर और राममें भेदबुद्धि करके राग-द्वेष कर लेते हैं, वे भूल करते हैं। वास्तवमें भगवान् राम और शंकर दो नहीं हैं। रामभक्तके लिये शंकर रामका प्रेमी है, इसलिये भक्तका गुरु है और शिवभक्तके लिये राम शंकरका प्रेमी है, इसलिये वह शंकर-भक्तका गुरु है। जिसको भी रामका प्रेम प्राप्त करना है, उसे उस प्रेमकी शिक्षा भगवान् शंकरसे मिलेगी। उसको वैसा ही भजन, स्मरण और प्रेम करना पड़ेगा, जैसा भगवान् शंकर करते हैं; अतः उसके लिये शंकरकी भक्ति आवश्यक है। उसी प्रकार शंकरके भक्तके लिये रामभक्ति आवश्यक है।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

४८. काम करते समय जिस किसी वस्तुपर दृष्टि जाय, उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छविको देखनेका अभ्यास कीजिये। साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे। छूटे, फिर पकड़ें, इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ जीभसे नाम एवं मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिल्कुल आपत्ति नहीं। साधना न हो तो दोषकी बात बिल्कुल नहीं है; पर उसके लिये मनमें महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें—समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणापर मन एक सेकंडके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार-बार करते ही गये तो फिर मैं तो संशयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देंगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोंको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नहीं बँधता तो घबराइये मत। कभी वृन्दावन तो गये ही हैं। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमें हो उसकी, उन पेड़-पत्तोंकी धुँधली-सी स्मृति मानस-पटलपर क्या नहीं ला सकते? मैं ठीक कहता हूँ—मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेंगे वह एक बारकी स्मृति—उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली-सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझें, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेंगे और स्वयं राधा-रानी एवं श्रीकृष्ण उस लता-रूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोड़ेंगे तथा आप चाहें तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं। व्रजकी लताका ध्यान करके लता बनने-वाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्त-को श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेंगे और विश्वास कर सकेंगे।

स्वयं तो पहले तत्त्वतः श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रज-के लता बनेंगे; क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता जड वस्तु नहीं है, वह सच्चिदानन्दमय है। सोचिये,

श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है—बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते हैं, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते हैं, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं! आपसे क्या लता, पेड़, पत्ते, मिट्टीके घड़े, पीतलके कलसेका भी ध्यान नहीं हो सकता? और मजा यह है कि इनमेंसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिल्कुल सच्चिदानन्दमय राज्यमें ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

संध्या-समय, आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती हैं। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस-पटलपर लाकर देखें—गायें आ रही हैं, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन है; क्योंकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमें। पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेड़में, पेड़से मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी पगडंडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमें, धूलिमें (सब सच्चिदानन्दमय हैं) मन लगाकर कहीं—कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते हैं। क्या परिश्रम है? केवल चाहकी कमी है।

यहाँ बैठे-बैठे इस कलममें देखें, भावना करें—यह पेड़-सा दीखता है, वृन्दावनमें हरे पेड़ोंका रंग इससे कुछ भिन्न है। अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेंगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देंगे। वे देखेंगे, अपनी जानमें इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है। गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड़-लता मुझे प्यारे हैं—इसने मेरी प्यारी वस्तुओंका चिन्तन किया है। इसका तो मैं ऋणी हूँ। यह भी जाने दें; और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा राधा। ये शब्द भावुकताकी बात नहीं है—श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे——

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी। आप केवल व्रज-लीलामें मनको थोड़ा-सा भी ले जानेका अभ्यास डाल लें, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बड़े-बड़े ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नहीं होती। समस्त जीवन रचे-पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भाग्यमें बहुत ही कम हाथ लगते हैं; क्योंकि उन्हें भगवत्कृपाका अवलम्बन प्रायः नहीं रहता। पर यह व्रज-लीला ऐसी है कि इसमें रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है। नहीं तो, रुचि असम्भव है। आप तो अपना परम सौभाग्य समझें। अब केवल थोड़ा-सा और आगे बढ़ जाइये। इस व्रज-लीलाकी कल्पनामें अपने मनको तदाकार कर दें। यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती। अवश्य ही यह होनी चाहिये सच्ची। व्रजभावसे भावित चित्तसे लता, पेड़, पत्ते, पगडंडी, वन, गायें, गोशालाकी भीत, साड़ी, साफा देखते-देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा। वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड़-बुन रहेगी ही नहीं, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा।

४९. अत्यन्त तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ, गंदी-से-गंदी चीज आगमें पड़कर अपना समस्त मैल—अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें

आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार किसी भी भगवत्-प्रेमी संतमें मिलिये तो सही, मिलते ही थोड़ा नहीं, पूरा-का-पूरा—सब कुछ, जो भी वे हैं, जो भी उनमें है, सब—आपमें उतर आयेगा। आग तो जड है और संत चेतन ही नहीं, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमें रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है, कोई दृष्टान्त नहीं है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ लें। आप ठीक-ठीक उसी रसमें ढलकर, अपने-आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है—यह समझना सम्भव ही नहीं है। वह रस सच्चिदानन्दमय है; आप स्वयं जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड़ लेंगे, तबतक उस रसका आस्वाद नहीं हो सकता। अभी तो मन प्यारा लगता है, पुत्र, परिवार, धन प्यारे लगते हैं। जड वस्तुओंकी तह-की-तह चारों ओरसे लिपटी हुई है। वास्तविक आनन्दकी बात छोड़ दें; संतके प्रति साधारण-से सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हमलोगोंमें-से शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो। देखें, मैं कहता हूँ—'आप यह कार्य कर दें' और संत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं। दोनों ही शब्द हैं; पर दोनोंमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमें यह अहंकार वर्तमान है कि 'मैं हूँ'; परंतु 'आप यह कार्य कर दें'—संतके मुखसे निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर है, जो कहता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'
'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥'

परंतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है, निश्चय नहीं मिलता। मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती। वहाँ, संतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो 'सुहृदं सर्वभूतानां'की घोषणा करता है, जिसमें केवल आनन्द-ही-आनन्द है। पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा हो जानी चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है। ऐसा क्यों होता है? इसीलिये कि उसमें मिले नहीं। आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारों ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर वह मिला भी लेगी निश्चय; परंतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नहीं। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उसमें मिल जानेकी तीव्र लालसा नहीं रखते। विश्वास कीजिये—'आप चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो; पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायगा। अस्तु, मिलिये। उसमें मिलिये। अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये। दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा कीजिये। दिन-रात सोचिये, संत कितने कृपालु हैं। दिन-रात यह विचार कीजिये—'कृपामय! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नहीं।' दिन-रात नाम लीजिये, चलते-फिरते नाम लीजिये। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा कीजिये कि संतका संग नहीं छूटे। दिन-रात यही सोचिये कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको संन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा। परंतु यह ठीक है,

नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिल्कुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका; परंतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें, तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी। आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है, इसीलिये कहता हूँ—'रोटी मुझे भी भगवान् ही देते हैं, कपड़े भी वे ही देते हैं, आपको भी वे ही देते हैं और देंगे। फिर अपनी एवं परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं—वे उन्हें नष्ट कर दें, तोड़ दें, फेंक दें या जो भी चाहें करें। मैं क्यों कहूँ,—ऐसा करें, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं—उनकी चाह ही, बस आपकी चाह।' यह भाव ही संत-चरणोंमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है।

५०. आप पाँच सूत्रोंको याद रखें—

१. विषय-त्यागसे प्रेम।

२. लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम।

३. अखण्ड तैलधारावत् भजनसे प्रेम।

४. पर मुख्यतः भगवान्‌के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है। और—

५. यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

पर निमित्तरूप उपाय है—रोना, भगवान्‌के सामने रोते जाना। मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये।

५१. पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रह-पर ही मनमें आये; अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमें है—इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्‌पर छोड़कर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमें समय बिताना—यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

५२. एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो; परंतु जब भी, जिस प्रकार भी बुरे विचार मनमें आयें; उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी संतके पास भेजते रहो; फिर कोई परवा नहीं।

५३. विज्ञानका नियम है—काँच ही नहीं, समस्त धातु बनते ही हैं सूर्यसे। सूर्यकी किरणोंसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है। सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही। उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एवं संतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से-उच्च अधिकारी बन सकता है। आज व्याख्यानमें सुना—लाखों वर्षके अन्धकारको मिटनेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है। जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी। प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा। ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, कुछ भी जरूरत नहीं है। जरूरत है—बस, आप सच्चे मनसे चाह लें इनकी कृपाको ग्रहण करना। निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी। उस सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि दूसरी कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य वस्तुसे मिटे नहीं।

५४. सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण—दोनों ही बातोंके लिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बड़ी विलक्षण हो जायगी। जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य

रह जायगा—कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे, किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जाय। उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति विनोदमें भी आपको बता देगा तो आप वही करनेके लिये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा। वह करना नहीं पड़ता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है। पर अभी क्या दशा है—विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है। भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय—सबसे सरल उपाय, जिसमें मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत-समाप्तिके समय बताया है; पर उसे कौन करनेके लिये तैयार है? भगवान्‌ने कहा है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १६-१७, १९)

'हँसनेवालोंकी परवा छोड़ दो, लज्जा एवं देहाभिमानादि भी छोड़ दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। जबतक सभी भूतोंमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एवं वाणीकी वृत्तिसे ऐसी उपासना करो। भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमें सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोंमें मन, वाणी एवं शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना की जाय।'

ये श्रीभगवान् कृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर उपदेशक न कोई है, न हुआ है, न होगा। पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा। तरह-तरहकी युक्तियोंका, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देंगे। इसी प्रकार महापुरुषोंमें श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व-त्यागका प्रश्न खड़ा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड़ दीजिये, तुच्छ-से-तुच्छ त्याग भी नहीं सहजमें होगा। आपको जीवन-निर्वाहके लिये कमी नहीं है। पर मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरा-सा कहीं भी उसमें नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय तो सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। ठीक ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, संतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने-आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

५५. हमलोग असलमें भगवान्‌की महिमा जानते ही नहीं। जानते होते, तो उन भगवान्‌का साक्षात् करके उनके साथ तरह-तरहके नित्य नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषको देखकर जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना असम्भव है। आप विचारें, भारतवर्षके मुख्य मन्त्रीसे मिलकर जब कोई आदमी बँगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर थोड़ा मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये तथा कहीं वह किसीको मोटरमें साथ बैठा ले, उस समय तो उसके गौरवकी—उसके मनमें अपने ऊँचे होनेकी भावनाकी जो तरङ्गें उठती हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भला, ऐसे-ऐसे अनन्त मुख्य मन्त्री लाट ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके इशारेसे एक क्षणमें पलक मारते-मारते बन जाते हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं, वह अखिलब्रह्माण्डपति स्वयं जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, उसके साथ तरह-तरहकी लीला करें, तो ऐसे पुरुषसे बढ़कर जगत्‌में और कौन है? मान लें कोई महापुरुष है, वह एकान्त कमरेमें बैठा भगवान्‌से बातें कर रहा है, उसी समय आप आये, बाहरसे पुकारा और पुकारते ही वह महापुरुष आपसे

बड़े प्रेमसे कहे—आओ, पधारो। अब यदि आप रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते, तो फिर ऐसा अनुभव होता कि जगत्‌में हमसे बढ़कर भाग्यवान् कोई नहीं। अशान्तिकी तो छाया भी आपको नहीं छू सकती। और मन उस अतुलनीय आनन्दसे निरन्तर इस प्रकार भरा रहता कि जगत् आपको देखकर दंग रह जाता। अरे, जिन आँखोंसे उस महापुरुषने अभी-अभी भगवान्‌को देखा है, अभी-अभी जिस शरीरको भगवान्‌ने स्पर्श किया है, उन्हीं आँखोंसे वह महापुरुष आपको देख रहा है, उसी शरीरसे आपको स्पर्श कर रहा है। सच मानिये—यदि किसी दिन भगवान्‌की अपार कृपासे भगवान्‌की महत्तापर विश्वास कीजियेगा, उसी दिन बस, महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है—यह समझ सकियेगा। मन बिल्कुल विषयोंसे कूट-कूटकर भरा है। हमलोगोंका मन एकदम गंदा है, इसीलिये महापुरुषके दर्शनका हमें आनन्द नहीं मिलता। समझना-समझाना कठिन है; पर वस्तुतः महापुरुषके सङ्गका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, उस आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती। वह आनन्द क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है, कभी समाप्त नहीं होता। हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोग प्रार्थना करें—'प्रभो! अत्यन्त पामर, दीन, हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो। नाथ! तुम्हारे जन संतोंके प्रति निस्स्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो।' प्रतिदिन प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे बड़ा काम होता है। सच मानिये—ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् न दे सकें। ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें। वे असम्भवको सम्भव, एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं। पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है।

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमें आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शंका-संदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी। भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई।
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहे नाथ भलाई॥

'नाथ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता, तब मेरे नाथ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो।'

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं। निश्चय मानिये—जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्‌में, विनोदकी भाषामें कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें। अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी? एक ओर अखिल ब्रह्माण्ड-पति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा। इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्‌की होगी।

५६. सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं। काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ—सब सूर्य ही बनाते हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है। पर उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमेंसे किसीपर तो किरण खूब चमकती है, किसीपर किरण पड़कर थोड़ा गरम होकर ही रह जाती है। इसी प्रकार अहैतुकी कृपा ही सबमें भगवद्‌विश्वास पैदा करती है। धीरे-धीरे यह कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामें पड़े रहकर अपने-आप अन्तःकरण पूर्ण कृपा-प्रकाशका अधिकारी बन जाता है। इसलिये घबराना नहीं चाहिये—बस, पड़े रहना चाहिये।

कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें फिर आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा।

५७. यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा; परंतु भगवान्‌में यह बात नहीं है। भगवान् और भगवान्‌का स्मरण दो वस्तु नहीं हैं। जिस समय आप भगवान्‌की मूर्ति अपने मानस-पटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमें आ जाते हैं। पर वे बोलते इसीलिये नहीं हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और थोड़ी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं। यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रखे तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायँगे; क्योंकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं। जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं। आप ही सोचें—धन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसीसे पूछी थी? नहीं पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी; क्योंकि धनकी चाह थी। इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौड़ेगी। धन तो चाहनेमात्र-से नहीं मिलता, उसके लिये न जानें कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं। पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है। 'हे नाथ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायँगे। आप ही सोचें—जब भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं? और जब उसकी कीमत आपके मनमें ज्यादे है तो भगवान् क्यों आयें? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है; पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे। मैं तो अपनी बात कहता हूँ—सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे।

५८. मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई।
जहँ जहँ अंगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि
इक रसना मो पै बरनि न जाई।
गोबिंद प्रभु की बानिक ऊपर
बलि बलि रसिक चुड़ामनि राई॥

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेनेपर भी श्यामसुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता। त्रिभुवनमें सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते हैं; पर शास्त्रमें ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोड़वें अंशके करोड़वें अंशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है। श्रीकृष्णके एक-एक अङ्गपर करोड़ों कामदेवकी छवि फीकी पड़ जाती है। यह केवल भावुकताकी बात नहीं है। सचमुच ही जिन संतोंको उनकी हलकी-सी झाँकी मिल जाती है, वे बिल्कुल पागल-से हो जाते हैं। इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोंका हृदय बिक जाता है। साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकों-का नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण नाम सुननेका एवं उनकी वंशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हें प्राप्त होता है। बस, एक बार इन तीनोंमेंसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्‌में कहीं कोई तुलना ही नहीं है। सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे हैं, उन्हें 'हिलग'के पद कहते हैं। यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता। जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर

भजन-स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है। अस्तु, जब गोपियोंकी व्याकुलता—श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हें सेवाका अधिकार मिलता है। फिर एक लीला होती है—विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोंको छोड़कर मथुरा चले जाते हैं और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं। इसी वियोगकी दशामें प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है। प्रेम क्या वस्तु है, यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओंने लीला देख-देखकर जो पद लिखे हैं, वे विरहके पद कहे जाते हैं। महात्माओंके जो पद मिलते हैं, उनमें भी कुछ ऐसे हैं, जो कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर—अनुभव करके लिखे गये हैं। यह निर्णय पहुँचे हुए संतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौन कल्पनाका। पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये, पामर प्राणियोंके लिये तो सभी पद—चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों—पवित्र करनेवाले ही हैं। अतः श्रद्धासे युक्त होकर व्रज-सुन्दरियोंकी कैसी दशा होती है, प्रेमकी कैसी विलक्षण अतुलनीय अवस्था होती है—इसे सुनकर कृतार्थ होनेकी आशासे, उन व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए उनकी कृपाके एक कणकी भीख माँगते हुए हम-लोग उनकी विरह-चर्चा करें, सुनें। मन लगानेके उद्देश्यसे, नहीं, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करें।

उन विरहके पदोंमें भी कई तो श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके। पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं। अस्तु, किसीके भी हों, हमारे-जैसोंको चरणोंमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओंको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें—यही राधारानीसे, व्रजसुन्दरियोंसे एवं श्रीकृष्णसे प्रार्थना है।

५९. प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमें होता है। रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है। उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है—प्रेम-वैचित्त्य। इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमें ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोंमें भी होना सम्भव है। इसमें होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमें रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर लेटी रहती हैं, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमें छोड़कर कहीं चले गये और रोने लगती हैं—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है। श्रीकृष्णकी गोदमें रहकर ही ऐसी दशा होती है। श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द-निमग्न होते हैं तथा राधा-प्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते हैं।

रासलीलामें सब गोपियोंको छोड़कर श्रीकृष्ण राधा-रानीको एकान्तमें ले चले। वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरङ्गोंका प्रवाह आरम्भ हुआ। श्लोकोंमें उसका संकेत श्रीशुकदेवजीने किया है। इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई। यह मान यहाँका निकृष्ट अभिमान नहीं है। लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर चले गये; पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी। यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नहीं कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका संकेत प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपनी रासकी टीकामें इसका संकेत भी किया है। अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते-बढ़ते वैचित्त्य-की अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगीं कि

श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं। 'हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमें पड़ी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही हैं और श्रीकृष्ण आनन्दमें डूब रहे हैं। श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं। उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामें ले चलें, उन्हें गोपियाँ दीखने लग जाती हैं। इसलिये श्रीकृष्ण वहीं वृक्षोंकी आड़में खड़े हो जाते हैं। गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामें पाती हैं, उनको चेत कराती हैं। राधारानी समझती हैं कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर बहुत पहले चले गये हैं; पर श्रीकृष्ण तो उन्हें अभी-अभी छोड़कर गये हैं। इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजीमें ही होता है। हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्न स्तरमें भी जा पहुँचें तो जगत्की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती हैं—एक सखियोंके साथ, सखियोंकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमें, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं। प्रेमके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है। उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मञ्जरियोंको, दासियोंको, सहेलियोंको, सखियोंको निकुञ्ज-छिद्रोंसे होता है और कुछका तो बिल्कुल ही नहीं होता।

ऐश्वर्य, गुण, ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों-की-त्यों रहती है; पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम—सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है।

श्रीराधा-कृष्णका अलौकिक विहार

करत हरि नृत्य नव रंग राधा संग लेत नव गति भेद चरचरी ताल के।
परसपर दरस रस मत्त भए ततथेई थेई गति लेत संगीत सुरसाल के॥ १॥
फरहरत बहिबर थरहरत उर हार भरहरत भ्रमर बर बिमल बनमाल के।
खसित सित कुसुम सिर हँसत कुंतल मनो लसत कल झलमलत स्वेद कन भाल के॥ २॥
अंग अंगन लटक मटक भृंगन भ्रौंह पटक पट ताल कोमल चरन चाल के।
चमक चल कुंडलन दमक दसनावली बिबिध बिद्युत भाव लोचन बिसाल के॥ ३॥
बजत अनुसार द्रिमद्रिम मिरदँग निनाद झमक झंकार कटि किंकिनी झाल के।
तरल ताटंक तड़ित नील नव जलद में यों बिराजत प्रिया पास गोपाल के॥ ४॥
जुबति जन जूथ अगनित बदन चंद्रमा चंद भयो मंद उद्योत तिहिं काल के।
मुदित अनुराग बस राग रागिनी तान गान गति गर्ब रंभादि सुर बाल के॥ ५॥
गगनचर सघन रस मगन बरषत फूल वार डारत रतन जतन भर थाल के।
एक रसना 'गदाधर' न बरनत बनै चरित अदभुत कुँवर गिरिधरन लाल के॥ ६॥

साधनकी सफलता

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मानव-जीवन साधन-भूमि है; शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, अहंवृत्ति—सब-के-सब साधन ही हैं और ये परमात्माकी कृपासे ही हमें मिले हैं। इस समग्र जीवन-रूपी साधन-भूमिमें हम प्राप्त साधनद्वारा सब कुछ ग्रहण करते हैं और गृहीत वस्तुका विपरीत परिणाम भोगकर या देखकर साधनद्वारा उनका त्याग कर देते हैं। गुरु-प्रदत्त विवेकद्वारा हमें बहुत ही सुन्दर बात विदित हुई कि साधनके सहारे हमलोग कुछ भी ग्रहण करने और छोड़नेके लिये स्वाधीन हैं; साथ-ही-साथ हमें बहुत हितकर स्वतन्त्रता भी मिली है कि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, उसका हम दुरुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम अनेक कष्ट और दुःखके रूपमें भोगना पड़ता है तथा सदुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम सुख-शान्ति-आनन्दके रूपमें देखा जा सकता है। शास्त्र, संत और गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा प्रेरणा मिलती है कि शरीर-बल कर्म करनेका साधन है, इसका सदुपयोग दूसरोंकी सेवा-सहायतामें होना चाहिये। इन्द्रियाँ भी साधन हैं, इनकी शक्तिका सदुपयोग सेवा-सहायताके कर्म विधिपूर्वक करनेमें है। मन भी साधन है—इसमें भावकी शक्ति है, सर्व-हितकारी प्रवृत्तिमें बदल देनेसे इसका सदुपयोग हो जाता है; ऐसा करते ही संकल्प शुद्ध हो जाते हैं, भावना पवित्र बन जाती है और निरन्तर उच्चतम आदर्श-का ही मनन होने लगता है। अशुभ संकल्पकी पूर्ति शक्तिका दुरुपयोग है; शुभ संकल्पकी पूर्ति मनःशक्तिका सदुपयोग है। दुरुपयोगसे दुर्गति और सदुपयोगसे सद्-गति होती है। चित्त भी साधन है, इसमें चिन्तनकी शक्ति है, चिन्तनगत वस्तु या भावकी ही तद्रूपता मिलती है। पवित्र वस्तु, सद्गुण और परम शुद्ध आत्माका ही चिन्तन करना चित्तकी शक्तिका सदुपयोग है। बुद्धि भी सर्वोच्च साधन है, इसमें दर्शनकी शक्ति है। जिस प्रकार नेत्रद्वारा स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धिद्वारा प्रत्येक पदार्थका भीतरी रूप देखा जाता है। मनकी भाव-शक्तिसे किसी भी वस्तुको अपनाया या स्वीकार किया जाता है तो बुद्धिकी दर्शनशक्तिसे स्वीकृत-को सम्यक् प्रकार देखा जाता है—स्वीकृतिके परिणामका ज्ञान होता है। यह बुद्धि प्रपञ्च और परमार्थ—दोनोंके ज्ञानका साधन है।·····शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्तके समस्त कर्मव्यापारके पीछे यदि बुद्धिरूपी साधनका सदु-पयोग न किया जाय तो जीवनकी गति घोर अन्धकारमें होती है। बुद्धिरूपी साधनके सदुपयोगसे मानवतामें दिव्यता प्राप्त होती है। जीवनमें चैतन्य-सत्ता—आत्माके योगसे बुद्धिमें ही अहंवृत्ति स्फुरित होती है; यह अहं भी साधन है, इसमें सब कुछ आत्मसात् करनेकी अथवा भिन्नतामें अभिन्नता प्राप्त करनेकी शक्ति है। इस शक्तिके द्वारा देहादि असत् वस्तुओंसे अभिन्नता स्वीकार करना शक्तिका दुरुपयोग है और सर्वाश्रय परमाधार अविनाशी आत्मा—परमात्मामें अभिन्नताका अनुभव करना प्राप्त शक्तिका सदुपयोग है।·····जीवनरूपी साधन-भूमिमें प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यको पतितावस्थाकी वेदना भोगनी पड़ती है और सदुपयोगसे ही उच्चावस्था, मुक्तावस्थाका आनन्दानुभव होता है। गुरुप्रदत्त विवेकके प्रकाशमें ही साधनका सदुपयोग किया जा सकता है। वास्तवमें परमार्थ-सिद्धिके लिये जो साधना बतायी गयी है, वह दोष-निवृत्तिके लिये ही है। प्रायः हमलोग शास्त्र और संतके वाक्य तो पकड़ लेते हैं पर उनके भीतरी रहस्यको नहीं देख पाते। अनेक परमार्थी साधक वर्षोंसे अपने ढंगसे साधना करते रहते हैं; पर उससे जो स्थिरता, समता, शान्ति, शक्ति मिलनी चाहिये,

वह नहीं मिलती, ऐसा होनेपर भी प्रमादवश भूलकी शोध नहीं की जाती है और प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर साधनासे ही साधक निराश हो जाते हैं और कभी-कभी तो भगवान्‌की कृपा न होनेकी त्रुटि निकालने लगते हैं। विचारशील पुरुष जानते हैं कि भगवान्‌की कृपाका कहीं भी अभाव नहीं है; अभाव तो है उस दृष्टिका, जिसके द्वारा कृपाका नित्य दर्शन हो सकता है; यह दृष्टि गुरु-प्रदत्त विवेकसे मिलती है और गुरु-प्रदत्त विवेक सुलभ होता है श्रद्धापूर्वक तत्त्वज्ञानी पुरुषकी सुसंगतिसे।

यह सत्पुरुषोंका ही अनुभव है कि जीवकी अहंकार-रूपी ग्रन्थि जबतक नहीं खुलती, वह विनत होकर सम्पूर्ण भावसे अपने आपको अपनेसे महान्‌की शरणमें समर्पित नहीं करता अथवा लघुता, क्षुद्रता, न्यूनताकी वेदनासे व्यथित होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मासे प्रार्थी नहीं बनता, तबतक उसके स्वच्छन्दता-प्रमाद आदि दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती। दृश्यको अदृश्य करना और अदृश्यमें दृश्यको रखकर सदा सम, शान्त, निर्द्वन्द्व रहना ज्ञानी महापुरुषकी कला है। इसके प्रतापसे मनुष्योंका मोह उन्हें नहीं व्यापता। एक अज्ञानीके लाखों अभिप्राय हुआ करें, पर लाखों तत्त्वज्ञानियोंका एक ही अभिप्राय होता है, एक ही लक्ष्य होता है। वे अनेकता-के पीछे निरन्तर एक तत्त्वका अनुभव करते हुए पूर्ण शान्त रहते हैं। तत्त्वज्ञानीके सङ्गसे साधकको अपने भीतर जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होता है, वह कोई बात रटकर याद करनेकी तरह नहीं है; वह तो ऐसा प्रकाश है, जो जीवनकी अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं और हर्ष-शोकके मध्यमें प्रकाशित रहता है और सामयिक कर्तव्य स्पष्ट करते हुए परमार्थीको निर्भय और निश्चिन्त रखता है। जिस ज्ञानके द्वारा साधक असत् वस्तुसे विरक्त और सत्य तत्त्वमें अनुरक्त न हो सके, वह ज्ञान नहीं, विद्याभिमान है। आध्यात्मिक सामर्थ्य प्राप्त होनेपर जो कुछ अकरणीय और अशुभ है, वह संयमी साधकके द्वारा होता ही नहीं; और जो कुछ करणीय है, शुभ है, वह अनायास ही होता रहता है। उसके द्वारा सभीका हित होता है, किसीका अहित होता ही नहीं। आत्म-निरीक्षण करते हुए निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि कहीं प्राप्त शक्ति और जीवनरूपी साधनका दुरुपयोग न हो जाय।

समस्त कर्मोंकी सबसे बड़ी ग्रन्थि राग-द्वेषकी है, इसीमें अहंकार बद्ध रहता है, इसकी निवृत्तिका उपाय त्याग और प्रेम ही है। त्याग-प्रेमकी पूर्णताके लिये गुरु-प्रदत्त विवेककी आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों रागका त्याग होता जाता है, इच्छाएँ घटती जाती है, त्यों-त्यों बन्धन कटते जाते हैं, दुःख कम होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों द्वेष मिटता जाता है, अशुभ संकल्प हटते जाते हैं, त्यों-त्यों संघर्ष और भेद-भाव भी मिटते जाते हैं, अशान्ति हटती जाती है; अन्तमें राग-द्वेषके पूर्ण अभावमें—त्याग-प्रेमकी पूर्णतामें ही अगाध शान्ति और अखण्ड एक रसका अनुभव होता है। अशुद्धके चिन्तनसे ही चित्त अशुद्ध होता है, शुद्धके चिन्तनसे ही चित्त शुद्ध होता है। साधकको भगवान्‌के गुण, दिव्य रूप, लीला-धामके चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रहना चाहिये। वास्तवमें अपने कर्तव्यको पूर्ण करते रहना ही मानवका चरम लक्ष्य नहीं है, इससे भी आगे परमानन्द परमात्माका नित्य योग प्राप्त करना अन्तिम ध्येय है; यही परम पुरुषार्थ है।

उद्बोधन

रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि।
भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि॥

मनका दृढ आधार

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌ने मनके रूपमें हमारे भीतर एक दैवीशक्तिसे सम्पन्न वस्तुको निहित कर रखा है। हम नित्यप्रति मनकी शक्तियोंको देखते हैं, परंतु उसकी गहराईके भीतर कभी नहीं उतरते। यदि हम सावधानीसे उसमें उतरें तो हमें पता चलेगा कि उसके भीतर कितनी शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। इसीलिये वैदिक ऋषियोंने मनको 'शिवसंकल्प' होनेकी अनवरत प्रार्थना की है। मन जो भी संकल्प करता है, उसे कार्यरूपमें परिणत कर देता है। अतएव आवश्यक है कि मनका संकल्प 'शिव' हो, रौद्र न हो; विधायक हो, विनाशक न हो; कल्याणका स्रष्टा हो, विनाशका रचयिता न हो। जितने बड़े-बड़े मङ्गल कार्योंकी संघटना हम देखते हैं, उनके भीतर यह मनका 'शिवसंकल्प' सदा जागरूक रहता है। किसी भी कार्यको व्यवहारके स्तरपर आनेसे पहले मानसिक तथा वाचनिक स्थितिसे होकर जाना ही पड़ता है। इसलिये अपने यहाँ एकाकारताका प्रतीक है—मनसा-वाचा-कर्मणाका सिद्धान्त। उपनिषदोंका यही कथन है कि व्यक्ति मनके द्वारा जो चिन्तन करता है, उसीको वचनोंके द्वारा प्रकट करता है तथा आगे चलकर उसे ही वह कार्यके रूपमें निष्पन्न करता है। अतएव यदि आप किसी शुभ कार्यको करनेके लिये उद्युक्त हैं तो सर्वप्रथम अपने मनके संकल्पको कल्याणकारी बनाइये। वही मूल स्रोत है। कार्य-मन्दाकिनीका मन ही स्रोतभूत हिमाचल है। कार्य-सरिता अपनी पुष्टि तथा समृद्धिके लिये वहींसे पवित्र संकल्प-सलिलको एकत्र करती रहती है। यह माना सिद्धान्त है कि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी शक्ति विलक्षण तथा व्यापक है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तथा गहराईतक पहुँचानेवाली होती है। होमियोपैथिक औषधोंके चुनावमें यही तो सिद्धान्त काम करता है। जो दवा जितनी सूक्ष्म होगी, उसका प्रभाव उतना ही अधिक, चिरस्थायी तथा दीर्घकालीन होगा। 'बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः' भारविके इस कथनका संकेत ऐसे ही सूक्ष्म औषधकी ओर है।

मन अणु माना गया है। उसकी शक्ति आणविक शक्ति है। आजकलकी भाषामें वह 'ऐटमबम'की तरह कार्यशाली है। बमका प्रयोग हानिके लिये ही हो रहा है, परंतु वह विधायिनी शक्तिके उत्पादनके लिये भी लगाया जा सकता है और आजका वैज्ञानिक उसी उपायके खोजनेमें लगा है, जिससे वह संचालितशक्ति हानि न उत्पन्नकर लाभ ही पैदा करे। मनकी भी ठीक यही दशा है। वह हमारे शरीरके भीतर रहनेवाला 'ऐटमबम' ही है। वैदिक ऋषियोंने मनकी दो शक्तियोंपर विशेषरूपसे जोर दिया है। एक शक्ति है—नयनशक्ति और दूसरी है नियमनशक्ति। इस सुप्रसिद्ध मन्त्रमें इन्हीं दोनों शक्तियोंकी ओर लक्ष्य किया गया है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

इस मन्त्रमें सुन्दर सारथिकी उपमा मनसे तथा इन्द्रियोंकी उपमा घोड़ोंसे बड़े सुन्दर ढंगसे दी गयी है। 'अश्व' तथा 'वाजी' शब्द सामान्यतः घोड़ेके लिये प्रयुक्त होते हैं, परंतु दोनोंमें अन्तर है। अश्व है साधारण घोड़ा, जो टिक-टिक करता हुआ अपना रास्ता तै किया करता है; परंतु 'वाजी' है वह तीव्र गतिवाला, जोरोंसे दौड़नेवाला घोड़ा, जिसे यदि न रोका जाय तो वह किसी भयानक दुर्घटनामें अपने सवारको डाल देगा। सुयोग्य सारथि प्रथम प्रकारके घोड़ोंको मार्गमें ले जाता है—उन्हें चाबुक मारकर आगे बढ़नेको बाध्य करता है, परंतु वह वाजीको उन्मार्गमें जानेसे रोकता है लगामको जोरोंसे खींचकर। एकका वह नयन करता है, तो दूसरेका नियमन (नियन्त्रण)। मनका ठीक यही कार्य है। कुछ आदमी स्वभावसे इतने शिथिल होते हैं कि मनको उन्हें प्रेरित करनेकी आवश्यकता होती है और कुछ ऐसे उद्धत होते हैं कि उन्हें विवेकमार्गपर रोककर रखनेकी आवश्यकता होती है। मन दोनों ही कार्य करता है। वह हृदयमें प्रतिष्ठित होता है (हृत्प्रतिष्ठम्) तथा कभी वृद्ध नहीं होता (अजिरम्)। शरीर जीर्ण-शीर्ण भले हो जाय, झुर्रियाँ भले लटकने लगें, भले ही वह अपने पैरोंपर सीधे न खड़ा हो सके और लकुटिया टेककर ही वह चल-फिर सके; परंतु क्या मनकी दशा वैसी होती है? वह एकदम जवान बना रहता है, शक्तियोंका पुञ्ज बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वीके नीचेसे झरना स्वयं फूट निकलता है, उसी प्रकार मनकी शक्तियाँ भी

वृद्धावस्थामें भी उससे फूटकर निकला करती हैं। यह निश्चित है मन कभी बूढ़ा नहीं होता। वह नितान्त वेगशाली है। उससे शीघ्रगामी वस्तुका पता नहीं है। शीघ्रगमनमें मन ही उपमानभूत है। इस विषयमें वह कभी उपमेय नहीं होता। लङ्काको पार करनेवाले मारुत-नन्दन हनुमान्‌जी 'मनोजव' बतलाये गये हैं। ऐसे प्रभावशाली मनके संकल्प=इच्छाएँ शिव हों, कल्याणकारी हों—वैदिक ऋषि-की यही प्रार्थना है और इससे सुन्दर प्रार्थना और हो ही क्या सकती है। गीता कहती है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' मनुष्य श्रद्धाका पुञ्ज है। वह संकल्पका खजाना है। इसीलिये संकल्पके शिवत्वकी प्रार्थनाकी गयी है।

हमारे मनमें बड़ी भारी शक्ति भरी हुई है। मन तो जीता-जागता डायनमो है, जिससे अपनी इच्छाके अनुसार बिजली पैदा की जा सकती है। मन जो इच्छा करता है वह एक दिन पूरा हुए बिना न रहेगी। जितना मन शुद्ध होगा, उतना ही जोर उसकी इच्छामें बना रहेगा। प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी बातें हमने पुराणोंमें सुनी हैं। मन उनका इतना सात्त्विक था कि जिस वस्तुकी उन्होंने इच्छा की, वह तुरंत पैदा हो जाती थी। आजकल अशुद्ध मन यह काम नहीं कर सकता; पर इसे तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसमें असीम शक्ति भरी हुई है।

तब हमें अपने मनसे कैसे काम लेना चाहिये? मन जिधर जायगा, उधर ही उसकी शक्ति खर्च होगी। मान लीजिये कि मेरा मन किसी लोभ्य वस्तुपर लगा हुआ है, तब तो उतनी उसकी शक्ति घट जायगी। यदि दूसरी ओरसे भी उसी जोरकी अभिलाषा हो तो दोनों मिलकर अनुकूल भावका अनुभव करेंगे। पर यदि उधरसे अनुकूल भावकी प्रेरणा नहीं हुई तो हमारा मन बेहाथ हो जायगा, उसकी सारी शक्ति मारी जायगी। इस कारणसे वह अपनेको हीन, क्षीण पायेगा। इस संसारके पदार्थ नश्वर ही तो हैं। अतः उनसे यदि मन लगा तो कभी-न-कभी आधारके नाश हो जानेपर मनकी क्या बुरी दशा होगी, इसका भी तो विचार करना चाहिये। स्त्रीमें मन लगा है, कभी वह संसारसे चल बसती है। जिस प्रकार बिना जंजीरकी नाव आँधीके समय नदीकी उत्ताल तरङ्गोंके ऊपर थपेड़े खाती हुई सीधी नहीं रह सकती, उलटकर सरिताके नीचे जाने लगती है, ठीक वही दशा इस आश्रयहीन मनकी हो जाती है। शोक चारों ओरसे इसे थपेड़े मारने लगता है। विकलताकी आँधी चारों ओरसे बहने लगती है। फल यही होता है कि चित्त काबूमें नहीं रहता, पागल हो जाता है। किसीका थोड़े समयके लिये और किसी-का तो सदाके लिये। मनकी प्रवृत्तिके वेगावेगके ऊपर यह परिणाम अवलम्बित रहता है। यह तो हुई नश्वर आश्रयपर अवलम्बित रहनेवाले मनकी दुर्दशाकी करुण-कहानी।

ऐसे मनको ठहरानेके लिये हमें दृढ़ आधारकी आवश्यकता होती है। एक तो स्वयं चञ्चल ठहरा, जविष्ठ ठहरा। फिर यदि वह चञ्चल विषयकी ओर लगाया जायगा, तब वह और भी चञ्चल हो उठेगा। तूफानके समय मल्लाह अपनी नावको ठोस जमीनमें खूँटोंको गाड़कर टिकाता है। यदि जमीन दलदली हो तो न तो नावका पता चलेगा और न मल्लाहका। दोनों बेकिनार हो रहेंगे। ठीक यही दशा मनकी है। यदि दृढ आधारपर उसे हम नहीं टिकायेंगे तो वह हमें कहींका न रखेगा। न इस घाट लगेगा और न उस घाट। वह हमें अथाह सागरमें ले जाकर झोंक देगा। इसीलिये संतोंका कहना है कि मनको बाँधनेके लिये दृढ़ रस्सी चाहिये, उसे टिकनेके लिये दृढ़ आधार चाहिये, उसे पकड़ रखनेके लिये दृढ़ प्रलोभन चाहिये। तभी वह काबूमें आ सकता है। हम नहीं कहते कि उसे मार डालो। उसे जीवित रहने दो। वह मारे मरेगा नहीं। परंतु उसका उपद्रव करनेका जो स्वभाव है उसे तो दूर भगा दो। उसे शुभ कर्मोंमें लगाओ—यही ऋषियोंका साग्रह कथन है।

इसके लिये हम क्या करें? मनका उपयोग अपने हितमें कैसे करें? उपाय तो आपाततः कठिन है। पर अभ्याससे कौन वस्तु साध्य नहीं होती। पहले तो इसे बाहर जाने ही न दीजिये। जितना बाहर जायगा, उतना ही यह क्षीणशक्ति—हीनवीर्य—होता जायगा। इसकी शक्तिको भीतर-ही-भीतर संचित कीजिये। किसी भी इष्टदेवमें इसे लगा दीजिये। बस, अनश्वर देवताके साथ यह सदा खेला करे। यदि यह रूपका लालची है तो घनश्यामकी पीताम्बर-कलित मयूर-पुच्छधारी वनविहारी छविको सदा निरखा करे। यदि मधुर शब्दोंके सुननेकी अभिलाषा उठती है तो तीनों लोकोंको भुला देनेवाली काम-मन्त्रसे अनुप्राणित मुरलीकी आवाजको सुना करे। यदि हाथ-पाँव अपने-अपने काम करनेके लिये उतावले हो रहे हैं तो इन्हें भगवान्‌के ही काममें लगा दो। हाथ भगवान्‌के विग्रहकी पूजा करें तथा पाँव मन्दिरमें जा-जाकर अपनी चरितार्थता अनुभव किया करें। यदि नाकसे सुगन्धित वस्तुके सूँघनेकी इच्छा है तो वनमालीके शरीरस्पर्शसे परिचित होनेवाली

पुष्पमाला तथा तुलसीकी गन्धका आनन्द लिया करो। ये वस्तुएँ हैं किनकी ? उनकी, जो इस जगत्के नियन्ता हैं, सबके आधार हैं, सदा रहनेवाले हैं, सर्वत्र रहनेवाले हैं। यदि ऐसे व्यक्तिमें हमारा मन लगा रहेगा तो क्या उसकी शक्ति कभी क्षीण होगी। क्या उसे कभी विचलित होनेका अवसर आयेगा ? नहीं, कभी नहीं। आनन्दमयी माँके साथ जो मन क्रीड़ा करता है, उसे असुख कहाँ ? सच्चिदानन्दके साथ जो रहता है, उसे बेचैनी कहाँ ? गोपी-सखाके साथ जो वृन्दावनकी हरियालीका मजा लेता है, उसे उदास या सूखा रहनेका अवसर कहाँ ?

अतः प्यारो ! छोड़ो पुत्र-कलत्रकी ममता। छोड़ो उनमें चित्त लगाना, जोड़ो इसे भगवान्के अरविन्दसुन्दर चरणद्वन्द्वमें। तभी कल्याण होगा। तभी एकान्त मङ्गल होगा। तभी विषय वा गुणोंसे मुक्ति लाभ करोगे। अन्यथा नहीं। तथास्तु—

शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

एक वैज्ञानिकका ईश्वरमें विश्वास

[सात कारण]

(ले०—श्रीयुत ए० क्रेसी मॉरिसन (न्यूयार्क एकैडेमी आव्साइंसके भूतपूर्व सभापति)

हम अभी वैज्ञानिक युगके उषःकालमें ही निवास करते हैं और प्रकाशकी प्रत्येक रश्मि किसी विचारशील स्रष्टाकी निर्माण-चातुरीको ही अधिकाधिक आलोकित कर रही है। डार्विनके बाद इन ९० वर्षोंमें हमने आश्चर्यजनक गवेषणाएँ की हैं। विज्ञानजनित विनय एवं ज्ञानकी भूमिसे उपजी श्रद्धाके द्वारा हम क्रमशः ईश्वराभिज्ञताके समीप पहुँच रहे हैं।

भगवान्के प्रति मेरे अपने विश्वासके सात कारण हैं—

पहला—गणितशास्त्रके स्थायी नियमोंद्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि विश्वकी कल्पना और रचना किसी निर्माणशास्त्रीकी बुद्धिसे हुई है।

मान लीजिये आपने दस पैसोंपर क्रमशः १ से १० तककी संख्या लिखी और उन्हें अपनी जेबमें डालकर अच्छी तरहसे हिला-मिला दिया। अब आप एक संख्यावाले पैसेको निकालकर फिर सबको हिला-मिलाकर दो संख्यावाले पैसेको निकालिये और फिर सबको हिला-मिलाकर तीन संख्यावाले पैसेको निकालिये और इसी क्रमसे दसों पैसोंको निकालनेकी चेष्टा कीजिये। गणितकी प्रक्रियाद्वारा हमें यह विदित है कि एक संख्यावाले पैसेको पहली ही बार निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रति दस बारकी चेष्टामें एक बार होगी। क्रमसे एक और दो संख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रतिशत चेष्टामें केवल एक बार होगी। एक, दो और तीन संख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना १००० बारमें एक बार होगी और इसी तरहसे यह हिसाब बढ़ता ही जायगा। विश्वास होना कठिन है, परंतु इसी तरहसे क्रमपूर्वक दसों पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना दस अरब बारकी चेष्टामें केवल एक बार होगी।

इस दृष्टान्तके आधारपर यह कहते नहीं बनता कि पृथ्वीपर जीवधारियोंके रहनेके लिये परमावश्यक नियमोंका पारस्परिक अत्यन्त उचित सम्बन्ध केवल एक आकस्मिक घटनामात्र है। पृथ्वी अपनी धुरीपर घंटेमें एक हजार चक्कर लगाती है। यदि यह घंटेमें दस ही बार घूमती तो हमारे दिन और रात आजसे दसगुने बड़े होते और प्रतिदिन सूर्य सारे पेड़-पौधोंको भस्म कर डालता तथा यदि कोई अंकुर कहीं बच भी रहता तो बड़ी लंबी रातकी सर्दीमें उसे पाला मार जाता। हमारे जीवनके परम साधन सूर्यके धरातलका तापमान १००००° फारेनहाइट है; और हमारी पृथ्वी उससे ठीक उतनी ही दूरी पर है जहाँ कि यह सनातन अग्न्याधार हमें केवल आवश्यकतानुरूप पर्याप्तमात्र उष्णता प्रदान करता है, न अधिक न कम। हमें सूर्यसे जितनी गर्मी मिलती है, कहीं उसकी आधी ही मिले तो हम सर्दीके मारे जम जायँ और यदि कहीं जितनी गर्मी प्राप्त होती है उसकी आधी और बढ़ जाय तो फिर सब भून उठेंगे। पृथ्वी अपनी धूरीपर सीधी न खड़ी होकर २३° का कोण बनाती हुई झुकी है जिसके कारण ऋतुओंका होना सम्भव हुआ है। यदि यह झुकाव न होता तो समुद्रसे उठे हुए जल-बाष्प

सुदूर उत्तर या दक्षिणकी ओर जाकर बरसते और हमारे महाद्वीप बर्फसे ढके रहते। चन्द्रमा जहाँ है, वहाँ न रहकर यदि हमसे ५० सहस्र मीलकी दूरी पर स्थित होता तो इतने प्रबल ज्वार आते कि दिनमें दो-दो बार सारे महाद्वीप जलमग्न हो जाते; बड़े-बड़े पहाड़ भी कट-कटकर सफाचट हो जाते। पृथ्वीकी ऊपरी परत दस फुट भी और मोटी होती तो हवामें ओषजन (Oxygen) नामक वायु नहीं होता और इसके अभावमें सारा प्राणि-जगत् मृत्युकी गोदमें सो जाता। इसी प्रकार यदि समुद्र भी कुछ ही फुट और गहरे होते तो ये वायुके कर्बन द्विओषित (carbon de oxide) एवं ओषजन अंशोंको सोख लेते और पृथ्वी वनस्पति-शून्य हो जाती। अथवा यदि हमारा वायुमण्डल वर्तमानसे अत्यधिक सूक्ष्म होता तो करोड़ोंकी संख्यामें जलते हुए उल्कापात होते रहते और संसारमें नित्य सर्वत्र आग लगती रहती। इन तथा असंख्य अन्य उदाहरणोंको देखते हुए लाखोंमें एक बार भी ऐसी कल्पनाकी सम्भावना नहीं होती कि प्राणिमय जगत्की रचना आकस्मिक है।

दूसरा—प्राणियोंकी स्वप्रयोजन सिद्ध करनेकी बौद्धिक क्षमता ही किसी सर्वव्यापी चिच्छक्तिकी ओर संकेत करती है।

जीवन अथवा प्राण क्या वस्तु है, इसकी अभीतक कोई मनुष्य थाह नहीं लगा पाया है। न इसमें भार है, न इसकी कोई रूपरेखा है; फिर भी शक्ति इसमें है। वर्द्धनशील जड़से चट्टानतक चटक जाती है। चेतनशक्तिने जल, स्थल और वायुपर विजय प्राप्त की है; उसने तत्त्वोंको अधीन करके उन्हें अपने मिश्रणसे बने हुए पदार्थोंमेंसे अलग-अलग होने और मिलकर फिर वही रूप धारण करनेको बाध्य किया है। महच्चेतन मूर्तिकार बनकर सभी जीवधारियोंको रूप प्रदान करता है, कलाकार बनकर प्रत्येक पत्ते और प्रत्येक वृक्षकी कल्पनाको साकार करता है, प्रत्येक पुष्पमें रंग भरता है। चतुर संगीतज्ञकी भाँति प्रत्येक पक्षीको उसने प्रेम-गीत सिखाया है। यही चेतना फलों और मसालोंमें उनका सूक्ष्म स्वाद एवं गुलाबमें उसका सौरभ बनकर बैठी है। यही जल और कार्बोनिका अम्लको शर्करा तथा काष्ठमें परिणत कर देती है और ऐसा करते समय ओषजनकी सृष्टि करती है, जिससे प्राणिवर्गको प्राणवायु प्राप्त हो। अत्यन्त छोटे, दुर्निरीक्ष्य, पारदर्शी, गतिमान्, गोंदके घोलकी बूँदकी तरह, सूर्यसे शक्ति ग्रहण करनेवाले जीवनबीज (Protoplasm) की ओर जरा ध्यान दीजिये। यह अकेला कोष (cell) नीहारके सदृश पारदर्शी, बिन्दुमात्र अपने उरमें चेतनाका बीज धारण किये रहता है। छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें इस चेतनाको वितरित करनेकी इसमें शक्ति वर्तमान है। इसकी शक्ति समस्त वनस्पतियों, पशुओं और मानवोंसे बढ़कर है; क्योंकि यह चेतनाका बीज है। प्रकृतिसे चेतनाकी सृष्टि नहीं हुई है। अग्निदग्ध पर्वत और क्षारहीन सागर चेतनसृष्टिके आवश्यक उपकरण नहीं जुटा सकते।

फिर चेतना कहाँसे आयी ?

तीसरा—पशु-पक्षियोंमें बुद्धिका होना अकाट्यरूपसे इस बातकी ओर संकेत करता है कि कोई ऐसा स्रष्टा है, जिसने सब प्रकारसे असहाय छोटे-छोटे प्राणियोंमें भी सहज बुद्धि रख दी है।

छोटी साल्मन (एक प्रकारकी विलायती मछली) वर्षों समुद्रमें रहकर अपनी ही नदीमें वापस आ जाती है और उसी किनारेको पकड़े हुए आगे बढ़ती है जिससे वह सहायक नदी मिलती है, जिसमें साल्मन पैदा हुई थी। कौन उसे इस तरह ठीक-ठीक वापस ले जाता है ? यदि आप उसे दूसरी सहायक नदीमें छोड़ दें तो उसे तुरंत पता लग जायगा कि वह गलत रास्तेपर है। वह नीचे उतरकर मुख्य नदीमें आयेगी और फिर अपनीवाली सहायक नदीमें जाकर ठीक स्थानपर पहुँच जायगी।

ईल नामक मछलीका चमत्कार समझना तो और भी कठिन है। ये विचित्र जीव अपने जीवनकी प्रौढ़ावस्थामें सभी स्थानोंके जलाशयों और नदियोंसे निकल-निकलकर बर्मूडाज़-द्वीपके पास सागरके एक गहरे दहमें जाते हैं। यूरोपकी ईलें सहस्रों मीलका रास्ता तय करके वहाँ पहुँचती हैं। वहीं वे सब बच्चे देकर मर जाती हैं। इन छोटे बच्चोंके पास सिवा इसके कि वे विजन जलराशिमें पड़े हैं और कुछ जाननेका कोई साधन देखनेमें तो नहीं आता। फिर भी वे वहाँसे लौटकर उन्हीं किनारोंपर आ लगते हैं, जहाँसे उनके माता-पिता चले थे। इतना ही नहीं, आगे बढ़ते हुए वे अपने पूर्वजोंवाली नदियों, झीलों और जलाशयोंमें भी जा पहुँचते हैं। इसलिये किसी भी जलाशयसे ईलें सदाके लिये लुप्त नहीं हो जातीं। पर अमेरिकाकी कोई भी ईल योरपमें नहीं मिलती और न योरपकी ईलें अमेरिकाके समुद्रोंमें पायी गयी हैं।

प्रकृतिकी ऐसी व्यवस्था है कि योरपकी गर्भिणी ईलें एक वर्ष बाद प्रौढ़ावस्थाको प्राप्त होती हैं; क्योंकि दहमें पहुँचनेके लिये उन्हें लंबा रास्ता समाप्त करना रहता है। [योरप और अमेरिका दोनों ही स्थानोंसे वे वहाँ ठीक प्रजननकालपर एक साथ ही पहुँच जाती हैं।] इस प्रकार यातायातका ज्ञान उनमें कहाँसे आता है ?

ततैया या बर्रैं छोटे झींगुरको पकड़कर पृथ्वीमें एक छेद करके उसमें डाल देती है और उसको ऐसी जगह डंक मारती है, जिससे वह मरता नहीं अपितु चेतनाशून्य होकर सुरक्षित भोजनके रूपमें पड़ा रहता है। अब ततैया अंडे देती है ताकि उसके बच्चे जब बाहर आयें तब इस सुरक्षित भोजनको, बिना उसकी जान लिये, धीरे-धीरे खाते रहें। मरे शरीरका मांस उनके लिये प्राणघातक सिद्ध होगा। बच्चोंको पैदा करके माँ ततैया तो उड़ जाती है और मर जाती है। वह अपने बच्चोंको कभी देखती नहीं। निश्चय ही सभी ततैयाएँ इस क्रियाको जीवनमें केवल एक बार और पहली ही बार ठीक-ठीक करती आ रही हैं, नहीं तो ततैयाओंकी जाति ही मिट जाती। ऐसी रहस्यमयी क्रियापद्धतिके बोधको परिस्थितियोंके प्रभावसे उत्पन्न कहकर नहीं टाला जा सकता। अवश्य ही यह किसीकी देन है।

चौथा—मनुष्यमें पशु-पक्षियोंकी सहजा बुद्धिसे भी विशेष एक वस्तु विवेकशक्ति है।

दसतक गिननेकी अथवा दसका केवल अर्थ ही समझनेकी अपनी योग्यताका कोई और जीव कोई उल्लेख नहीं छोड़ गया है। यदि सहजा बुद्धि बाँसुरीके केवल एक स्वरके तुल्य है, जो मीठी है पर सीमित भी है, तो मानवमस्तिष्कमें संगीतके सभी वाद्य-यन्त्रोंके समस्त सुरोंका संग्रह है। इस चौथे कारणपर अधिक विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। मानवीय बुद्धिको धन्यवाद है कि हम इतना तो विचार कर ही सकते हैं कि आज हम जो कुछ हैं, वह समष्टि बुद्धिका ही एक कण प्राप्त करके हैं।

पाँचवाँ—आज हम जीवमात्रके स्वरूप-रहस्यको खोल देनेवाले उस तत्त्वको जानते हैं, जिसका पता डार्विनको नहीं था। वह (रजो-वीर्यात्मक) द्विविध जननपरमाणुओं (Genes) का चमत्कार है।

ये जननपरमाणु इतने छोटे होते हैं कि यदि सारे जीवित मनुष्योंके स्वरूप-विधायक समस्त जननपरमाणुओंको एकत्र किया जाय तो उँगलीकी एक पोर-जितने चौड़े और गहरे छेदको भी पूरा नहीं भर सकेंगे। फिर भी ये अत्यन्त छोटे जननपरमाणु और इनके सहायक जीवन-बीजमध्यस्थ रञ्जनशील तन्तु (Chromosomes) प्रत्येक जीवित कोषमें वर्तमान रहते हैं और ये ही सारे मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियोंके स्वभाव-स्वरूपकी कुंजी हैं। दो अरब मनुष्योंके स्वभाव-स्वरूपको एकत्रित करनेके लिये उँगलीकी पोर-बराबर छेद कितना छोटा स्थान है ! पर ये बातें हैं निर्विवाद सत्य। भला, ये जीवन-परमाणु कैसे असंख्य पूर्वजोंकी सामान्य चारित्र्यगत छापको इतने अत्यन्ताल्प स्थानमें सुरक्षित रखते हैं ? वास्तवमें विकास यहीं—इस कोषसे ही आरम्भ होता है, जिसमें जीवन-परमाणु रहते और बढ़ते हैं। पृथ्वीके समस्त प्राणियोंके स्वरूप-विकासपर इन दुर्निरीक्ष्य जीवनपरमाणुओंका एकच्छत्र शासन किसी ऐसी अद्भुत चातुरी और कार्यपटुताका उदाहरण है, जिसका उद्गम कोई सर्वकारण-कारण ज्ञानराशि ही हो सकती है। किसी अन्य कल्पनासे यहाँ काम चलता नहीं।

छठा—प्रकृतिकी विलक्षण व्यवस्थितता हमें यह समझनेके लिये बाध्य करती है कि कोई अनन्त ज्ञानराशि ही इतनी दूरदर्शिता और प्रबन्धपटुतासे सृजन-कार्यका सम्पादन कर सकती है।

कई वर्षों पहले आस्ट्रेलियामें बाड़के लिये एक जातिकी नागफनी लगायी गयी। आस्ट्रेलियामें इसके नाशक कृमि-कीट थे नहीं, इसलिये यह नागफनी खूब बढ़ चली। इसका भयंकर विस्तार इतना बढ़ने लगा कि कुछ ही समयमें इसने इंग्लैंडके क्षेत्रफलके बराबर पृथ्वी छेंक ली। नगरों और गाँवोंमें भी यह इतनी अधिक हो गयी कि वहाँके रहनेवालोंको अलग हट जाना पड़ा। उनके खेतोंको यह नष्ट करती चली जा रही थी। इससे त्राण पानेका उपाय खोजनेमें कृमि-कीट-शास्त्रविशारदोंने संसार छान डाला। अन्तमें उन्होंने एक कीड़ा खोज निकाला जो केवल नागफनीपर ही अवलम्बित रहता है। यह सिवा उसके और कुछ नहीं खाता। इसका वंश भी खूब जल्दी बढ़ता है तथा आस्ट्रेलियामें इसको हानि पहुँचानेवाला अन्य कोई जीव नहीं था। इसलिये शीघ्र ही पशुजगत्‌ने वनस्पतिपर विजय पायी। अब नागफनीकी बढ़ती हुई सेना पीछे हट गयी है। साथ-ही-साथ कुछको छोड़कर शेष कीड़े भी लुप्त हो गये हैं। पर जितने बचे हैं, वे नागफनीको सदा नियन्त्रणमें रखनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकारके नियन्त्रण और नियमनकी व्यवस्था संसारमें सर्वत्र देखनेको मिलती है। अति शीघ्र वंश-विस्तार करनेवाले कीट-पतंगोंका भला, क्यों नहीं पृथ्वीपर सर्वाधिक प्रभुत्व हो गया।

इसका कारण यह है कि उनके पास मनुष्यकी भाँति फुफ्फुस-यन्त्र नहीं है। वे नलिकाओंद्वारा साँस लेते हैं। परंतु जब वे बढ़ते हैं तो ये नलिकाएँ उनकी शरीरवृद्धिके अनुपातसे नहीं बढ़तीं। इसीलिये कोई कीट-पतंग बृहत्काय नहीं हुआ। उनके शारीरिक विकासकी यह रुकावट उनको नियन्त्रणमें रखती है। यदि यह नियन्त्रण न होता तो मनुष्यका आज अस्तित्व ही न मिलता। सिंहके समान शरीरवाली एक ततैयासे भेंट होनेकी जरा कल्पना कीजिये।

सातवाँ—मनुष्यके द्वारा भगवान्‌की धारणा सम्भव है, यह बात ही एक अद्वितीय प्रमाण है।

भगवद्धारणा मनुष्यकी एक दिव्य मानसिक प्रक्रियासे सम्भव है। यह मानसिक प्रक्रिया संसारके इतर प्राणियोंको उपलब्ध नहीं है। इसका नाम है ध्यान। इसके द्वारा मनुष्य और केवल मनुष्य ही अदृश्य वस्तुओंका साक्षी बन सकता है। ध्यानद्वारा दृष्टिगोचर होनेवाले दृश्योंका विस्तार निस्सीम है। मनुष्यका परिपक्व ध्यान जब एक आध्यात्मिक वस्तु बन जाती है तब वह सबमें उपयोगिता और सप्रयोजनताको देख सकता है, इस महान् सत्यका दर्शन कर सकता है कि भगवान् सर्वत्र और सबमें हैं और सबसे समीप तो हमारे अपने हृदयमें ही वर्तमान हैं।

ध्यानकी दृष्टिसे भी प्रार्थना* की ये पंक्तियाँ नितान्त सत्य हैं—

आकाश-पटलपर अङ्कित है प्रभुका गुण-गौरव-यशोगान।
अम्बरके उरमें चमक रहा उनके करका कौशल महान॥

जो नहीं था, वह मर गया

(लेखक—श्रीप्रतापशेठजी)

'मैं हूँ', इसके लिये तो किसी भी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है; परंतु मेरे शरीर है या नहीं—यह विचारणीय है। यदि शरीर होता, तो जैसे मैं आत्मस्वरूप हूँ, वैसे ही शरीर भी आत्मस्वरूप होना चाहिये था और फिर उसको भी प्रमाणकी आवश्यकता न होती; किंतु अपने लिये जैसे अन्य पदार्थ विषय होते हैं, वैसे ही अपना शरीर भी विषय होता है। वह जब हमारी बुद्धिका विषय होता है, तभी उसमें विषयता आती है और उसकी मृत्यु होती है। किंतु बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर—ये द्रष्टास्वरूप हों तो इनका नाश कभी नहीं होता। नाश वही होता है, जो उनका विषय होता है। यदि द्रष्टास्वरूप बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीरका नाश होता तो अपनेको नाश समझता ही नहीं।

बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर आदि जो द्रष्टारूप हैं, उनपर बुद्धिके द्वारा लगायी हुई विषयोंकी सापेक्षता यदि पूर्णतया निकाल दी जाय तो वे आत्मस्वरूप ही हैं। उनका नाश कभी होता ही नहीं। उनका नाश होता तो वे अपनेको कभी समझते ही नहीं और समझनेवालेका न होनेसे नाशका कोई स्वरूप ही नहीं रहता। नाश जिनका होना समझा जाता है उन बुद्धि आदि इन्द्रियोंका न होकर उनके रूप-रसादि विषयोंका ही होता है।

अपनी किसी भी क्रियाके होनेके समय तो वह अपना विषय नहीं रहती; क्योंकि विषय होनेके लिये जो पदार्थ विषय होता है, वह पहले होना चाहिये। अतः वैसी क्रिया भी विषय होनेके पहले होनी चाहिये। परंतु विषय होनेके पहले किसी क्रियाका स्वरूप और उसका अर्थ नहीं रहता, यानी क्रिया आत्मस्वरूप ही रहती है। इसका भाव यह है कि किसी भी वस्तुको रूप और अर्थकी प्राप्ति होती है तो वह बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होती है। अतः मृत्युको भी जो मृत्युका स्वरूप और अर्थ प्राप्त होता है, वह भी बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होता है। अर्थात् जबतक बुद्धि है, तभीतक मृत्यु है। बुद्धिके अतिरिक्त मृत्यु या जगत्‌की भावाभावरूपी कोई भी वस्तु मूलतः नहीं है। सब परमात्मस्वरूप ही है। परमात्माको ही बुद्धि गुण लगाकर जगत् बनाती है और हमारी मृत्यु भी उसीके अंदरकी एक चीज है।

अपने जन्मके समय 'मैं जन्मा' ऐसा ज्ञान अपनेको नहीं होता, वह पीछे उत्पन्न होता है। इसीसे यह सिद्ध है कि

* बाइबिलके प्रार्थना-खण्डकी १९वीं प्रार्थनाकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

यह ज्ञान झूठा है। जहाँ जन्मका ही ज्ञान नहीं, वहाँ जन्मसापेक्ष मृत्युको कैसे सत्य माना जाय ?

हमको जो भी ज्ञान होता है, वह सब वस्तु या क्रियाके बादमें ही होता है। ज्ञान होनेके पहले वस्तु या क्रिया होनी चाहिये; तभी हम कह सकते हैं कि अमुक बातका ज्ञान हुआ। यानी ज्ञानका स्वरूप ही यह है कि वह पीछेसे होता है, इसलिये वह अनुभवकी तरह सत्य नहीं होता, अतएव शरीरको यदि बुद्धिने विषय नहीं किया तो वह भी परमात्मस्वरूप ही है। जैसे जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उनको यदि विषय नहीं किया जाय तो वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं, वैसे ही हमारा शरीर और हमारे शरीरकी समस्त क्रियाएँ भी यदि उनको बुद्धिने विषय नहीं किया है—सब परमात्मस्वरूप ही हैं। जगत्का, हमारे शरीरका और उसकी सब क्रियाओंका स्वरूप विषयता ही है और यह विषयता बुद्धिकी अपेक्षासे है। इस बुद्धिको ही माया कहते हैं। यही सब जगत्की कर्त्री है। जगत्को, अपने शरीरको और सब क्रियाओंको विषय नहीं किया जायगा तो उससे 'मैं' 'तू' का भेद निकल जायगा और एक परमात्मा ही रह जायगा।

'मैं' स्वयं तो 'मैं' हूँ, परंतु दूसरेको यही 'मैं' तू दीखता है। काशीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परंतु बद्रीनाथको वह 'तू' दीखता है। ऐसे ही बद्रीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परंतु काशीनाथको बद्रीनाथ 'तू' दीखता है। यानी 'मैं' को जब हम बुद्धिसे जानने जाते हैं, तब वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दूसरा परोक्ष पदार्थ बन जाता है। अपने शरीरकी भी यही बात है। उसको भी हम जब विषय करेंगे, तभी उस विषय होनेवाले शरीरकी मृत्यु होगी। मृत्यु हमारा विषय होनेके कारण वह 'मैं' को कभी नहीं प्राप्त होती, वह विषय होनेवाले 'तू' को ही प्राप्त होती है और वह मृत्यु भी 'तू' की हो या 'मैं' की, वह होनी है विचारमें ही। प्रत्यक्ष मृत्यु कभी किसीको आती ही नहीं। विषय करनेमें पदार्थ बदल जाता है, 'मैं' का 'तू' हो जाता है। परमात्माका जगत् बन जाता है। यह सब बुद्धिरूपी मायाका ही कर्तृत्व है। इसी 'तू' के अनेक भेद होते हैं। सर्वभक्षक कालादि भी इस बुद्धिरूपी मायाकी ही संतति हैं। निरपेक्ष वर्तमानको तो बुद्धि पकड़ ही नहीं सकती। निरपेक्ष वर्तमान तो परमात्मास्वरूप ही है; उसको यदि बुद्धिमें या ज्ञानमें लानेका प्रयत्न किया जायगा तो वह भी भूतकाल बन जायगा; क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान होगा, वह वस्तु ज्ञान होनेके पूर्व होनी चाहिये, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है। परंतु वह ज्ञान विपर्यस्त ही होता है; क्योंकि वह वर्तमानमें नहीं होता। अपराध बननेके समय जो उपस्थित न हो, उसकी गवाही कैसे सत्य मानी जाय।

बुद्धिके बिना तो कालको भी कालका स्वरूप ही प्राप्त नहीं रहता। बुद्धिके बिना काल परमात्मस्वरूप ही है। जो पदार्थ बुद्धिमें आनेवाले हैं, वे सब कालघटित ही हैं; उन्हींको जगत् कहते हैं। यह जगत् बुद्धिरूपी मायाका ही बनाया हुआ है।

यदि यह भेद 'मैं' में यानी आत्मामें है, ऐसा मानें तो फिर वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दृश्य जड पदार्थ बन जायगा। 'मैं' स्वयं तो 'केवल और स्वतःसिद्ध' पदार्थ है और जो 'केवल और स्वतःसिद्ध' होता है, उसका नाश कभी नहीं होता; क्योंकि उसमें नाशके अवयवभूत परमाणु नहीं होते। इसलिये आत्मा कभी मरता नहीं और जो मरता है, वह काशीनाथका बद्रीनाथ और बद्रीनाथका काशीनाथ मरता है। यानी काशीनाथको जो बद्रीनाथ 'तू' दीखता है और बद्रीनाथको जो काशीनाथ 'तू' दीखता है। वह 'तू' ही मरता है। परंतु तू कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा कहना पड़ता है। स्वयं काशीनाथ और बद्रीनाथ तो 'केवलस्वरूप, स्वतःसिद्ध और अद्वितीय पदार्थ' हैं। केवलस्वरूपके लिये मरण कहाँ ? जो मरते हैं, वे सब 'तू' स्वरूप ही मरते हैं। परंतु 'तू' कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा ही कहना उचित है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी)

[गतवर्ष पृष्ठ १३८५ से आगे]

"भावमय श्रीभरतलाल 'श्रीराम सीय शयन अवनि'का दर्शन करने गये हैं।" यह मङ्गलसम्पन्न संवाद श्रीराम-प्रेम-रस-रसिक नागरिकोंमें पूर्णरूपेण व्याप्त हो गया। वे भी अपनी 'नयन मन जरनि'को विनष्ट करनेके लिये उत्कण्ठित हो गये। वे अपनी गतिका अवरोध करनेमें असमर्थ हो गये—आर्त होकर दौड़ पड़े श्रीभरतका अनुगमन करनेके लिये। उनका एकमात्र लक्ष्य था—'श्रीराम सीय विश्रामस्थल।'

वे उस परमपावनी स्थलीको निहार रहे हैं। अवलोकन करनेके अनन्तर सस्नेह परिक्रमा करके सनम्र अभिवादन करनेमें प्रवृत्त हो गये। उस कठिन 'दर्भ-साथरी'का अवलोकन करनेके पश्चात् उनके वियोगी मनमें 'अवधराज-प्रासाद-स्थित श्रीराम-सीय-शयनागार'की स्मृति सबल हो गयी और वे सोचने लगे—कितना मनोरम शयनागार था—शयनके लिये मञ्जुल पलंग, प्रकाशके लिये शीतल मणिदीप और दुग्धफेनकी भाँति सुकोमल, सुचिक्कण और विशद वस्त्र, उपधान और गद्दियाँ—ये सभी सुसाधन समुपस्थित थे वहाँ। और यहाँ·····। कितना विशाल वैषम्य है यहाँ और वहाँके शयनकक्षमें। हमारे श्रीराघवकी सुकोमला त्वचाको कितने कष्टप्रद हुए होंगे ये दर्भसमूह! प्रभुने यहाँ किस प्रकार रात्रि बितायी होगी! इस कल्पनामात्रसे उनका वदन विवर्ण हो गया। उनके मनको करुणाने अधिकृत कर लिया। नेत्रकोण अम्बुसंयुक्त हो गये। फिर वे असहिष्णु होकर श्रीकैकेयीको दोष देने लगे। वाम विधाताको भी निर्दोष समझना अनुचित था उनकी भावमयी दृष्टिमें। विभिन्न-विभिन्न भावना एवं विचारके नागरिक, विभिन्न-विभिन्न व्यक्तियोंके व्यक्तित्वकी श्लाघा करते हुए अपनेको निन्द्य समझने लगे। परमपावनी भक्ति-भागीरथीमें सुमज्जन करनेवाले नागरिक भैया भरतको साधुवाद देने लगे—'धन्य हो स्नेहमय! आपकी ही पुनीत प्रीतिके कारण हम पुनः श्रीराम-दर्शनका मनोहर लाभ ले सकेंगे। अन्यथा कृपालु श्रीरामभद्रने तो तमसा नदीके तटपर हमारे दैहिक कष्टका अनुभव करके हमारा परित्याग कर ही दिया था।' ज्ञानार्णवमें डुबकियाँ लगानेवाला जन-समुदाय चक्रवर्ती श्रीदशरथजीके सत्य स्नेहकी प्रशंसा करने लगा। 'धन्य हो हमारे दिवंगत सम्राट्! कितना अविकल स्नेह था श्रीरामके पावन पदोंमें आपका। श्री-रामभद्रका वियोग होते ही आपके प्राण पखेरू हो गये—

जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥

'किंतु हम तो आजतक जीवित हैं श्रीरामसे वियुक्त होकर। सत्यस्नेही! हम आपका अनुसरण करनेमें असमर्थ ही रहे।' कर्मठ नागरिक श्रीगुहके परम पुनीत आत्मनिवेदनकी सराहना करते हुए उनकी अपेक्षा अपने-को निन्द्य समझने लगे। इसी प्रकार सम्पूर्ण निशा व्यतीत हो गयी। मनकी कल्पनाएँ समाप्त न हो सकीं। श्रीरामविरहदग्ध नागरिक निद्रादेवीका आवाहन करनेमें असमर्थ ही रहे—सो न सके।

भगवान् भुवनभास्करकी अरुणिमा आखण्डल-दिशाके पूत वक्षस्पर अपनी आभा बिखेरनेमें संलग्न हो गयी। श्रीराघव-दर्शनाभिलाषी जनोंकी अभिलाषा वृद्धिंगत हो गयी। चार घटिकामें ही सम्पूर्ण समाज देवनदीके उस पार हो गया। यह श्रीनिषादके परिश्रम और सुप्रबन्धका परिणाम था। अब आइये, श्रीभरतलालकी एक अनुराग-मयी झाँकीका दर्शन करें।

प्रात क्रिया करि मातु पद बंदि गुरहि सिरु नाइ ।
आगें किए निषाद गन दीन्हेउ कटकु चलाइ ॥

कियउ निषादनाथ अगुआईं । मातु पालकीं सकल चलाईं ॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा । बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा ॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू । सुमिरे लखन सहित सिय रामू ॥
गवने भरत पयादेहिं पाए । कोतल संग जाहिं डोरिआए ॥

प्रातःकालीन शौच, स्नान, संध्या-वन्दनादि दैनिक कर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीभरतने क्रमशः सम्मान्या माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ श्रीवशिष्ठजीके चरणोंकी वन्दना की। वन्यपथप्रदर्शक निषादगणको आगे करके सेनाको प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी। तदनन्तर श्रीनिषादराज स्वयं आगे चले। इन्हींके संरक्षणमें माताओंकी शिबिकाओंने भी प्रयाण किया। श्रीभरतने लघुबन्धु श्रीशत्रुघ्नकुमारको निषादका सहगामी बना दिया। 'श्रीशत्रुघ्नको भी श्रीभरतलाल आज अपने सहवासमें नहीं ले रहे हैं' यह एक विशिष्ट विषय है। भूसुर-वृन्दको सहगामी बनाकर श्रीगुरुदेवने भी प्रस्थान किया। सम्पूर्ण समाजके प्रस्थान कर लेनेपर परम पवित्रसलिला श्रीसुरसरिताकी वन्दना करके, सानुज श्रीसीतारामका मङ्गलमय स्मरण करके, प्रेममय श्रीभरतलाल भी गमन करनेमें प्रवृत्त हुए; किंतु और लोगोंकी गति-विधिमें और इनकी गति-विधिमें भूमि-आकाशका अन्तर है। अन्य समस्त जन-समुदाय वाहनोंपर सवार है और ये 'पयादेहिं पाएँ' हैं। अश्व लेकर सुसेवक साथमें चल रहे हैं और सोच रहे हैं—अभी हमारे स्वामीकी पैदल ही चलनेकी इच्छा है। कुछ दूर चलकर अवश्य ही घोड़ेपर सवार हो जायँगे; परंतु श्रीभरतकी इस पैदलयात्राका क्या रहस्य है, आगे चलकर स्वयमेव ज्ञात हो जायगा।

प्रस्तुत यात्रासम्बन्धी श्रीभरतलालकी गतिविधिमें क्रमभङ्ग है। महामहिम श्रीभरतलालकी इस यात्राके गमन-क्रमका भावपूर्ण परिवर्तन उनकी परमोज्ज्वलस्नेहमहिमाकी ओर सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करनेके हेतु हमारे मन और मस्तिष्कको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। आइये, उस सुमधुर स्नेह-सुधासागरमें हम अपने-अपने सु-मनको सुप्रवृत्त करानेका प्रयत्न करें।

आज श्रीभरतलालकी स्नेह एवं त्यागसे युक्त यात्राका श्रीगणेश—आदि दिवस है। 'श्रीदशरथलालित राम और श्रीकौसल्यापालिता सुकुमारी श्रीमैथिली काननके कठिन कण्टकाकीर्ण कठोर पथमें होंगे' इस भावमय विचारके कारण भावुक श्रीभरतलाल वाहनपर सवार न हो सके। 'भरत अनुगामी' श्रीशत्रुघ्नकुमार तो अनुगामी ही ठहरे।

बन सिय राम समुझि मन माहीं । सानुज भरत पयादेहिं जाहीं ॥

श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका प्रभाव पीछे आनेवाले नागरिकोंपर पड़ा—भलीभाँति पड़ा। पड़ना भी चाहिये था; क्योंकि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' उनकी इस भावसंवलित क्रियाका अवलोकन करके प्रत्येक नागरिकमें अनुरागमयी भावनाकी प्रबलता हो गयी। उनका पवित्र मन अनुरागग्रस्त हो गया। फलतः अश्वारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे। धन्य हो भैया भरतलाल! धन्य है आपका स्नेह! धन्य है आपकी स्नेह-संयुक्ता क्रिया, जिसका इतना महान् प्रभाव है कि साथ चलनेवाले लोग अनायास ही अनुकरण करनेके लिये मचल पड़े।

देखि सनेह लोग अनुरागे । उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥

अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी और सानुज श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें पुत्रवत्सला राजमाता श्रीकौसल्या असमर्थ हो गयीं। वे शीघ्र ही चल पड़ीं अपने विनयावनत सुपुत्र श्रीभरतलालकी ओर। उन्होंने अत्यन्त संनिकट पहुँचकर शिबिकाको रखवा दिया और बड़ी ही कोमल वाणीसे बोलीं।

जाइ समीप राखि निज डोली । राममातु मृदु बानी बोली ॥

कविकुलकमलदिवाकर पूज्यचरण श्रीगोस्वामीजीने राजमाताको लक्ष्य करके जिस शब्दका प्रयोग किया है,

वह शब्द कितना भावसंयुक्त है ! वह शब्द कवि और माता कौशल्या दोनोंके गौरवका ही सूचक नहीं है, अपितु दोनोंके स्वरूपगत गाम्भीर्यका भी प्रकाशक है । 'राममातु' इस शब्दका अर्थ-गाम्भीर्य विचारकर मानसावगाहियोंका हृदय आनन्दसमुद्रमें हिलोरे लेने लगता है । उनका मस्तक स्वयमेव विनम्र हो जाता है पूज्य महाकविके पूत पादपद्मोंमें । अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी करुण दशा देखनेमें असमर्थ हो जाना 'राममातु'का ही कार्य है । यह शब्द महाप्रभु श्रीरामकी महत्ताकी ओर दृष्टिपात करनेके लिये भी हमें लुब्ध कर रहा है ।

'पितुराज्ञा गरीयसी' समझकर श्रीराम वनिता-बंधु-समेत रथारूढ़ हो गये । श्रेष्ठ सूत सुमंत सारथ्य कर रहे हैं । रथकी गमनक्रिया आरम्भ हो गयी । रामस्नेही प्रजा भी व्याकुल होकर दौड़ पड़ी । जनसमुदाय रघुवर-विरहाग्नि सहन करनेमें असमर्थ हो गया । चरणोंके साथ-साथ मन भी तीव्र विचारधारामें प्रवाहित हो चला । विचार-धारा शान्त हो गयी—विचार सुनिश्चित हो गया ।

.....। राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं ॥
जहाँ राम तहँ सबुइ समाजू । बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू ॥

इस विचारके सुदृढ़ होते ही अवशिष्ट ममताओंके बन्धन भी शिथिल हो गये । फिर तो—'बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ ।' किंतु श्रीरामभद्र अपनी प्रिय प्रजाका यह करुण-दृश्य न देख सके ।

कहनामय रघुनाथ गोसाईं । बेगि पाइअहिं पीर पराईं ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए । बहु बिधि राम लोग समुझाए ॥
किए धरम उपदेस घनेरे । लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे ॥
सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई । असमंजस बस भे रघुराई ॥

देखा आपने—यह है, श्रीरामभद्रकी कृपालुता ! इसीलिये महाकविने मैयाको भी 'राममातु' ही कहना विशेष उपयुक्त समझा । अस्तु,

तात चढ़हु रथ बलि महतारी । होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू । सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥

'मेरे लाल ! मैया बलैया लेती है । तुम रथपर आरूढ़ हो लो । अन्यथा तुम्हारा यह प्रिय परिवार महान् क्लेश प्राप्त करेगा । यद्यपि स्नेहका उत्कर्ष पैदल चलनेमें ही है, तथापि सम्पूर्ण समाज श्रीरामविरहसे अत्यन्त शोकसे क्षीणकाय हो गया है । मार्गमें पैदल चलनेयोग्य इनका शरीर नहीं रहा है । तुम्हारे पैदल चलनेपर इसमेंका एक व्यक्ति भी सवारीपर नहीं चलेगा । ध्वनित: 'बचन रचना अति नागर' श्रीरामकी मैयाने यह भी कह दिया—यदि तू पैदल चलेगा तो मैं भी शिबिकाका परित्याग कर दूँगी ।'

कारणरहित कृपालु श्रीरामकी माँकी वाणीमें कितनी विशाल आत्मीयता है, कितनी मधुरिमा है ! राममातुकी बानी अनुराग-सानी, साथ ही कितनी ओजस्विनी है । उस वाणीको श्रवण करनेके पश्चात् श्रीभरतको बिना 'ननु-न-च' किये ही—अविलम्ब अपने निश्चयमें परिवर्तन करना पड़ा ।

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई । रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई ॥

वे स्नेहमयी मैयाकी आज्ञा शिरोधारण करके उनके पावन पादपद्मोंमें प्रणत हो गये । दोनों भाई रथारूढ़ होकर आगे चले । मन-की-मनमें ही रह गयी ।

हाँ, तो मैं निवेदन कर रहा था कि प्रस्तुत प्रसङ्गमें श्रीभरतलालके गमन-क्रमका परिवर्तन बड़ा ही भावपूर्ण है । आज श्रीभरतने सोचा—"यहाँतक रथपर चढ़कर आना विशेष जघन्य कृत्य नहीं था । यहाँतक तो मेरे आराध्य भी रथपर ही चढ़कर आये थे, किंतु शृङ्गवेरपुरमें ही सत्यव्रती श्रीरामने मस्तकपर जटा निर्मित करके 'तापसवेष बिसेष उदासी' वेषकी रचना की थी । श्रीसुमंतको भी साथमें लेना अनुचित समझा था उन्होंने । इस स्थलसे मेरे जीवनाधार श्रीराघवेन्द्र देवी सीता और भाग्यवान् लखनलालके साथ 'बिनु पानहिन्ह पयादेहिं धाए' गये हैं । यदि मैं विगत दिवसकी

भाँति ही आज भी रथपर सवार होता हूँ तो 'मिटै भगति पथ होइ अनीती' यह सोचकर भावुक भैया भरतलालने आज अपना अनुगमन करनेके लिये एक व्यक्तिको भी अपने पीछे नहीं छोड़ा, सहवासी श्रीशत्रुघ्नकुमारको भी नहीं। सम्पूर्ण समाजको प्रस्थान करा देनेके पश्चात् स्वयं चल रहे हैं।

'श्रीभरत आज पैदल गमन कर रहे हैं' इस समाचारका अंशमात्र भी लोग मार्गमें कर्णगत न कर सके। करते भी कैसे ? त्रैलोक्यकी समस्त क्रियाएँ 'उरप्रेरक' की प्रेरणासे ही जो होती हैं। उसकी सत्ताके बिना तो पीपलका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो फिर—प्राणाधिक श्रीभरतकी परम पवित्र भावनामयी अभिलाषाको पूर्ण करनेमें 'उर प्रेरक रघुबंसविभूषन' को भी चाहे अनिच्छाहीसे दिया हो—साथ देना ही पड़ा।

अपने सुकुमार स्वामीकी इस दुःखद यात्राका अवलोकन करनेमें सुसेवक असमर्थ हो गये। उनके धैर्यका बाँध टूट गया। वे लगे प्रार्थना करने—'स्वामी ! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमिमें गमन करने योग्य नहीं हैं। नाथ ! इन घोड़ोंके साथ-साथ हम सेवकोंको भी सनाथ करें—रथारूढ़ हो जायँ।' इन विनयावनत वचनोंकी उन्होंने एक बार नहीं, कई बार पुनरावृत्ति की।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥

किंतु प्रेमव्रती श्रीभरत अपने प्रेमपथपर अटल ही रहे। उन्होंने सेवकोंके वचनोंका उत्तर देते हुए जिन वाक्योंका अपने श्रीमुखसे उच्चारण किया, उन वाक्योंका आनन्द श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही लें।

राम पयादेहिं पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धर्म कठोरा॥

'मेरे उपास्यदेव शिरीष-पुष्पाधिक सुकोमल श्रीराघवेन्द्र सरकार इसी कठोर मार्गसे पैदल ही गये हैं। उन परम सुकुमार महाप्रभु श्रीरामके लिये किसीने भी रथ-गज-अश्वोंकी रचना नहीं की और मेरे लिये—सेवकके लिये—उनके अनुचरके लिये रथ-गज-अश्वसमूहोंका निर्माण किया गया है। भैया ! उचित तो यह है कि इस पथपर—श्रीराम-चरण-पावन पथपर मेरा मस्तक पड़े; क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंमें कठिनतम धर्म तो सेवक-धर्म ही है और मैं हूँ श्रीराघवेन्द्र सरकारके पावन पादपद्मोंका एक भृत्य।'

अहा ! कितने भावपूर्ण ये वचन हैं। एक-एक वाक्य श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत है। इन वचनोंमें सेवकोंके लिये कितना मधुर शिक्षण है। इन ओजस्वी वचनोंको सुनकर सेवकगण निरुत्तर होकर मौन हो गये। मौन ही क्यों, वे आत्मग्लानिका भी विशेषानुभव करने लगे।

देखि भरत गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक गन गरहिं गलानी॥

आज अवधवासी जनसमुदायके साथ तीर्थराज प्रयाग भी भक्तशिरोमणि श्रीभरतकी प्रतीक्षामें आतुर थे। श्रीभरतलाल भी सानुराग 'श्रीसीताराम श्रीसीताराम' उच्चारण करते हुए तीसरे पहर प्रयागमें प्रविष्ट हुए। जनसमुदायने श्रीभरतके पैदल चलकर आनेका संवाद सुना। सम्पूर्ण समाज दुःखकी छायासे आच्छन्न हो गया।

भरत पयादेहिं आए आजू। भएउ दुखित सुनि सकल समाजू॥

आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतलालके मनपर तो नहीं, किंतु पैरोंमें तो छाले डाल ही दिये।

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥

मूर्खता

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'सबका मूल्य है।' नाम देना उत्तम नहीं;क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। किसीकी आलोचना नहीं कर रहे थे वे, सहज स्वभाववश अपने सरल विश्वासकी बात व्यक्त कर रहे थे। 'यह दूसरी बात कि किसीका मूल्य बहुत कम है और किसीका बहुत अधिक; किंतु सबको क्रय किया जा सकता है!'

'यद्यपि यह अर्थप्रधान युग है, तथापि सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है।' मैंने प्रतिवाद किया। 'ऐसे लोगोंकी संख्या पर्याप्त अधिक है, जो किसी भी मूल्यपर क्रय नहीं किये जा सकते। अपने ही यहाँ.....'

'ऐसे कुछ ही अपवाद निकलेंगे।' बात यह है कि उनके सम्मुख कुछ नाम रख दिये गये थे और उन नामोंकी महत्ता अस्वीकार करनेका उपाय नहीं था।

'एक सीमातक अर्थ आवश्यक होता है।' मैंने स्पष्ट किया। 'मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि बहुत बड़ी सीमातक; किंतु एक सीमातक ही। व्यक्तिके व्यक्तित्व-को वह तभी क्रय कर सकता है, जब व्यक्ति मूर्ख हो। अपनेको मूर्ख बनाये बिना कोई अर्थके हाथों अपनेको सौंप नहीं सकता।'

'बड़े-बड़े विद्वान्, सुप्रख्यात साधु और महान् लेखक.....' वे प्रसिद्ध नामोंकी पूरी पंक्ति बोल गये।

'मैंने कितने बीज चुने हैं!' बड़े उल्लाससे एक बच्ची पास आ गयी। उसकी मुट्ठीमें चिरमिटीके लाल-लाल चमकते सुन्दर बीज थे।

'चल, खेल अभी!' बच्ची उन्हींकी थी, उन्होंने डाँट दिया। उसके भोले मुखपर उदासी आ गयी।

'बड़े सुन्दर बीज हैं तुम्हारे, मैं दो ले लूँ?' मैंने उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया।

'नहीं।' मुट्ठी कसकर बाँध ली बच्चीने।

'तुम छोटे भैयाको ले आओ तो तुम्हें और बीज तोड़ दूँगा।' मैंने प्रलोभन दिया, क्योंकि मेरे मित्र उसे डाँटने जा रहे थे।

'पहले तोड़ दीजिये।' बच्चीके आग्रहमें बल नहीं था। बीज मिलते हों तो वह छोटे भाईको ले आयेगी। केवल तनिक पक्का आश्वासन अपेक्षित था। वह आश्वासन उसे मिल गया और वह दौड़ गयी छोटे भाईको ले आने।

'वह इसके केश नोचेगा, इससे झगड़ेगा और यह रो जायगी।' मैंने मित्रकी ओर देखा। बच्ची होनेपर भी इस कन्याका अपने छोटे भाईसे इतना स्नेह है कि उसे मार नहीं पाती, उसके द्वारा पिटनेपर भी। माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्यार है। बच्चा अकारण भी रो उठे तो बालिका डाँटी जायगी।

उसका अबोध हृदय इस भयको अनुभव करने लगा है। हो सकता है, इसी भयसे छोटे भाईका ऊधम वह सह लेती हो—'बीजोंका क्या करेगी यह? ये बीज इसके क्या काम आयेंगे?'

'थोड़ी देर खेलेगी, प्रसन्न होगी और फेंक देगी!' मित्रने साधारण ढंगसे कहा।

'उसका अवसर भी अब नहीं आना है।' बात सच थी, उसका छोटा भाई उसके पासके बीज भी छीन लेगा और झगड़ेगा ऊपरसे।

'बच्चोंमें इतनी समझ कहाँ होती है।' मित्रका ध्यान उस बातपर नहीं था, जो उन्होंने प्रारम्भ की थी।

'एक समय था, बहुत वर्षोंका लंबा समय था वह, जब मेरे पास कभी दो-चार दिनको दस रुपये होते थे।'

मेरी बात विशेष नहीं लगनी चाहिये। भारतके अधिकांश ग्रामीणोंकी स्थिति यही है और भारतकी जन-संख्याका बड़ा भाग ग्रामोंमें रहता है। 'उन दिनों सनक थी—रुपया कैसे आये, इसके भाँति-भाँतिके उपाय सोचता रहता था। अपने आलस्यसे उनमेंसे कोई काममें नहीं आ सका—यह दूसरी बात।'

'अच्छा, तो आप कहानी सुनाने लगे हैं।' मेरे मित्र समझते हैं कि कहानीलेखक सत्य भी कहे तो वह होती कहानी ही है।

'उन दिनों एक साधु मिल गये थे। वे कहते थे कि उन्हें स्वर्ण बनाना आता है।' मैंने मित्रका प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि घटना सत्य हो या कल्पित—उसमें समर्थित सत्य है, तो घटनाके स्वरूपपर विवाद क्यों?

'उन्होंने आपको कुछ सिखलाया?' मेरे मित्रमें उत्कण्ठाका संचार हो गया। स्वर्ण घटित करनेकी प्रक्रियाके प्रति या कहानी सुननेके प्रति थी वह उत्कण्ठा—आप समझ लें। आप भी वह सब सुननेको उत्सुक होंगे।

× × ×

'आपने कभी स्वर्ण बनाया है?' मैंने उस साधुसे पूछा था।

'कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।' संक्षिप्त उत्तर था।

'अब बना देखें!' मैंने आग्रह किया।

'अब भी कोई आवश्यकता नहीं।' उन्होंने उपेक्षा कर दी।

'परीक्षणके लिये!'

'प्रक्रियामें मुझे पूरा विश्वास है और कुतूहल मुझे सदा अरुचिकर लगता है।' साधु तो साधु ठहरे।

'प्रक्रिया बता देनेकी कृपा करेंगे?' मैंने प्रार्थना की।

'बताना न होता तो तुमसे चर्चा क्यों करता?'

साधु सीधे और स्पष्टवादी थे। 'किंतु इससे पूर्व तुम ठीक समझाओ कि स्वर्णका उपयोग क्या करोगे?'

'आप हँसेंगे। मैं वह सब आपको नहीं सुनाऊँगा। सम्भव है आपने भी सम्पन्न हो जानेका कभी स्वप्न देखा हो। भवन कैसा बनवाना है, उसकी साज-सज्जा कैसी रखनी है, क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँसे, किस प्रकारके मँगाने हैं—देखा है कभी आपने ऐसा स्वप्न? देखा है तो आपसे कुछ कहना नहीं। आप मेरी बात समझ जायँगे। न देखा हो तो आपके सम्मुख मुझे अपनी हँसी कराना नहीं।'

साधु बड़े धैर्यसे सुनते रहे मेरी कल्पना। दो-ढाई घंटे पूरे वे सुनते ही नहीं रहे, मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे। मेरे स्वप्नको बृहत् करने और स्पष्ट करनेमें योग देते रहे।

'अब कल बातें करेंगे।' अन्तमें वे अपने आवश्यक कार्यसे उठ गये। आप समझ सकते हैं कि मैंने कितनी उत्सुकतासे उस 'कल' की प्रतीक्षा की होगी।

'तुम्हारा स्वप्न सत्य हो जायगा तब? समझ लो कि सब कुछ हो गया।' साधुने दूसरे दिन स्वयं प्रारम्भ किया, यद्यपि मैं कम उत्सुक नहीं था प्रारम्भ करनेके लिये। उनके स्थानपर मैं समयसे कुछ पहले ही पहुँचकर प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगता था कि आज उनका पूजा-पाठ पूरा भी होगा या नहीं।

'इस प्रकार रहना होगा। लोग इतना सम्मान करेंगे।' मैंने अपनी स्वप्न-कल्पनाको स्पष्ट करनेमें संकोच नहीं किया।

'एक दिन बीमार पड़ोगे!' साधु हँसे नहीं।

कौन-कौन डाक्टर आयेंगे, कैसे लोग देखने आया करेंगे, आदि इस सम्बन्धके स्वप्न भी सुना दिये मैंने।

'डाक्टर बहुत-से इन्जेक्शन देगा! शरीर उठनेमें असमर्थ रहेगा।' अवश्य वे साधु भी पक्के कहानीकार होंगे। उन्होंने बड़ी भयानक बातें बतायीं—'नौकर मनमानी करेंगे। पड़े-पड़े चिड़चिड़ाते रहोगे।'

तिरस्कार, असमर्थता, हानि—इन सबका बड़ा भयानक वर्णन था साधुके शब्दोंमें। कठिनाई यह थी कि मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यदि मेरा स्वप्न सत्य होता है तो साधुकी कल्पनाके सत्य होनेकी सम्भावना ही अधिक थी।

प्रतिकूल स्वजनोंका तिरस्कार, अकृतज्ञ सेवकोंकी उपेक्षा, असमर्थता, रोग, हानि और बिना कुछ बोले कुढ़ते रहना; क्योंकि जो इतनी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पा लेगा, उसे अपने सम्मानको दूसरोंके सम्मुख तो सदा सँभालकर रखना होगा—कितनी भयंकर कल्पना थी।

जो लोग मेरे समान स्वप्न देखते हों, उन्हें अवश्य उस साधुसे मिल लेना चाहिये। वे स्वर्ण बनाना भी जानते हैं और पशुप्राय मनुष्यको समझाकर मनुष्य बनाना भी। कठिनाई यही है कि मैं उनसे पचीस वर्ष पूर्व मिला था। वे गङ्गाकिनारे पर्यटन करनेवाले परिव्राजक थे। तीन दिन मेरे समीप रुके थे। कोई पता उनका मुझे ज्ञात नहीं।

'अन्तमें मर जाओगे!' साधुने अपनी बात समाप्त की। अवश्य समवेदनाके बहुत तार आयेंगे। समाचार-पत्र बड़े-बड़े शीर्षक देंगे। बड़े समारोहसे अन्त्येष्टि होगी। भव्य समाधि बनेगी। मर जानेवालेको इन सबसे क्या लाभ। उसे यमदूत नरककी यन्त्रणा देते होंगे—नरकका वर्णन सुना है तुमने? सम्पत्तिके साथ भोग और तब नरक। बुरी बात है—बहुत बुरे स्थानपर तुम्हारा स्वप्न समाप्त होता है। अच्छा, अब कल।'

मैं उस 'कल' भी गया। अवश्य मुझमें अब वह उत्साह नहीं रह गया था। साधुने कमण्डलु उठा लिया था और गीली कौपीन भी कंधेपर डाल ली थी। वे अब जानेवाले थे।

'इस पुड़ियामें दो चावल पारद-भस्म है!' चलते-चलते उन्होंने कहा—'तुम इसे पिघले ताम्रमें डाल दो तो स्वर्ण बन जायगा। ऐसी मूर्खता न करो तो अच्छा। इसकी खुराक एक चावल है। दमा या दूसरे किसी रोगसे मरणासन्न व्यक्तिको दे दोगे तो एक बार देनेसे ही वह कष्टसे पूरा छुटकारा पा जायगा।'

साधु कहीं किसीके होते हैं। मुझे एक नन्ही पुड़िया देकर वे चले गये। उनका फिर कभी कोई पता नहीं लगा। आप समझ सकते हैं कि मैंने उनका पता लगानेका कम प्रयत्न नहीं किया होगा—कोई लाभ नहीं हुआ।

× × ×

'आपने स्वर्ण बनाया?' मेरे मित्रने पूछा और सम्भवतः आप भी यही पूछना चाहेंगे।

'प्रयत्न भी नहीं कर सका।' निराश होना पड़ा मित्रको—यह तो बहुत पीछे पता चला कि ताँबेको पिघला लेना सामान्यतः सरल नहीं है। सम्भवतः एक सप्ताह पश्चात् ही रेलकी यात्राके समय एक अपरिचित यात्रीको दमेका दौरा हुआ। बड़ी दारुण वेदना थी उसे। एक चावल भस्म मैंने दे दी। इसी प्रकार एक महिलाको यात्रामें हिस्टीरियाका दौरा हुआ और शेष भस्म दे दी गयी। तत्काल दोनोंको आशातीत लाभ हुआ था। दोनों अपरिचित थे, अतः पीछेकी बातका मुझे पता नहीं।'

'प्रारब्धमें नहीं था स्वर्ण आपके।' मित्र खिन्न हो उठे।

'साधुने एक वस्तु मुझे और दी थी।' मैंने उन्हें बताया; क्योंकि उन्हें खिन्न करनेको तो यह कथा मैंने सुनानी प्रारम्भ नहीं की थी।

'वह क्या?' सोल्लास पूछा उन्होंने।

'विचारकी एक शैली।' मैंने उनकी उत्सुकतामें साथ नहीं दिया। 'सम्पत्ति और दूसरे साधनोंका मोह

मूर्खता है। उनका अन्तिम परिणाम तो दूर—उनके उपयोगकी ठीक स्थिति भी समझ ली जाय तो उनका मोह समाप्त हो जाय।'

'आपने जो नाम गिनाये और वैसे और भी लोग' मैं अपनी बात कह रहा था—'सब आपकी बच्चीके समान हैं—उनकी विद्या और प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो। यह बच्ची ही कहाँ कम विद्वान् मानती है अपनेको। अपने अक्षरज्ञानका पर्याप्त गौरव है उसे। चिरमिटीके बीजोंमें उसका विचारहीन आकर्षण—ऐश्वर्यका सारा आकर्षण इससे उच्चकोटिका नहीं।'

'आपकी दार्शनिकता अपनी समझमें नहीं आती।' मित्र बोले।

'सीधी बात है।' मैं समझाना चाहता था। 'परमात्मा दयामय है, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उसकी अपार कृपापर विश्वास न भी हो तो हम सब प्रारब्धको तो मानते ही हैं।'

'प्रारब्ध नहीं था, इसीसे तो हाथमें आकर भी स्वर्ण बनानेकी विधि आप सीख नहीं सके।' मित्रका मन नहीं अटका था।

'मैंने यह सीखा कि शरीरमें आसक्ति भी सम्पत्तिकी तथा स्वजनोंकी आसक्तिके समान मूर्खता है।' अब मैं भी बात समाप्त कर देना चाहता था। 'शरीर रोगी होगा, असमर्थ होगा और अन्तमें साथ छोड़ देगा। शत्रुसे भी बुरा व्यवहार स्वजनोंको करते सर्वत्र देखा जा सकता है। शरीरका सुख, इसका सम्मान और इसकी स्मृति सुरक्षित रखनेमें जो नरककी चिन्ता न करे, जो इन्हें ही अपना मान ले, उससे बड़ा मूर्ख कौन?'

'अब दीजिये मुझे चिरमिटी!' बच्ची आ गयी थी। छोटे भाईको वह साथ लायी थी। अब मुझे चिरमिटी तोड़ने उठना था; क्योंकि वह बच्चा भी मचल रहा था—'मुझे चिरमिटी दीजिये।'

'बस इतनी-सी चाह'

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, वार-एट-ला, विद्यावारिधि)

धरा धाम धन नहीं चाहिए, सुख संपद सम्मान।
नित्य चित्तमें रमे रमापति, निज सेवक लघु जान॥ १॥
शुभ करणी सद् ज्ञान हेतु हो, मेरा इन्द्रिय-ग्राम।
सात्त्विक जीवन साधन बन वे, सफल करें निज नाम॥ २॥
काम क्रोध मद लोभ मोह के, सारे बंधन काट।
मन बन जाये हरिका मन्दिर, खुलकर ज्ञान कपाट॥ ३॥
राम-नाम जपका रस रसना, करके अबिरल पान।
जन-जनका तन शीतल कर दे, बनकर विनय निधान॥ ४॥
हों चरितार्थ युगल कर करके, जन हित के नित काम।
उनका सतत परिश्रम देवे, दुखियोंको आराम॥ ५॥
जहाँ कृष्ण सीतापति विचरे, निज-लीला विस्तार।
उस पावन पथपर पद चलकर, पावें मोद अपार॥ ६॥
जन-सेवामय प्रभु-पूजा में, रहे अमित उत्साह।
रहूँ मगन हरि-मिलन-लगन में, बस इतनी-सी चाह॥ ७॥

भक्त-जीवनका एक स्मरणीय प्रसङ्ग

(लेखक—विद्वान् श्रीयुत के. नारायणन्)

गङ्गा उमड़ आयी !

भक्तिकी शक्ति अपरिमित है। अनेकों महान् व्यक्तियोंने सच्ची भक्तिके प्रभावसे बहुत-से अद्भुत कार्य कर दिखाये हैं। एकलव्यने केवल गुरुभक्तिके द्वारा धनुर्विद्या सीख ली थी। शिवाजीने गुरुभक्तिके प्रभावसे निडर होकर बाघिनका दूध दुहा था। श्रीमुत्तुस्वामि दीक्षितरने भक्तिपूर्वक अमृतवर्षिणी राग गाकर पानी बरसाया था। इसी प्रकारके महानुभावोंमें तिरुविशनल्लूर अय्यावय्यर भी एक हैं।

अय्यावय्यर बड़े भक्तिमान् ब्राह्मण थे। नित्य नियमित रूपसे संध्या और पूजा-पाठ करते थे। संस्कृतके बड़े विद्वान् थे। वेद तथा आगमोंमें अच्छा अधिकार रखते थे। सारा गाँव उनका बड़ा आदर करता था। वे यथासाध्य दूसरोंकी सहायता भी करते थे।

एक बार उनके पिताके श्राद्धका दिन था। ब्राह्मण-लोग आ गये थे। मन्त्रोच्चारण हो रहा था। ब्रह्मभोजके लिये तैयारियाँ हो रही थीं। श्राद्धके अवसरपर इधर एक ब्राह्मणको प्रधानरूपसे भोजन दिया जाता है। उस भोजनको विष्णुका भोजन कहा जाता है।

इस समय अय्यावय्यर किसी कामसे घरके पिछवाड़े-की ओर गये। वहाँ थोड़ी दूरपर एक भूखा निम्न जातिका मनुष्य खड़ा था। भूखके मारे उसका पेट पीठसे चिपक गया था। आँखें धँस गयी थीं। वह अय्यावय्यरसे बड़े विनीत भावसे बोला—'स्वामिन्! चार दिनसे कुछ नहीं खाया है। भूखसे तड़प रहा हूँ। कृपा करके कुछ खानेको दें, भूख सही नहीं जाती। प्राण निकले जा रहे हैं।'

अय्यावय्यरका हृदय पिघल उठा। वे तुरंत अंदर गये। और कोई भोजनका सामान तैयार नहीं था; विष्णुके लिये जो भोजनसामग्री पत्तेपर रखी थी, उसीको लाकर अय्यावय्यरने उसके हाथमें दे दिया। वह उसे बड़े चावसे खाकर तृप्त हो गया। उसका हृदय खिल उठा।

इधर पुरोहितोंने देखा तो उनमें बड़ी खलबली मची। अय्यावय्यरने श्राद्धके दिन विष्णु-भोजन किसी निम्न जातिके मनुष्यको दे दिया। यह सबके लिये असह्य था। पुरोहितोंने कह दिया कि अय्यावय्यर प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तो उन्हें जातिभ्रष्ट कर दिया जायगा। प्रायश्चित्त यह था कि गङ्गास्नान किया जाय।

अय्यावय्यर सोचमें पड़ गये। उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि उन्होंने ठीक ही किया। उनकी दृष्टि-में क्षुधासे मरनेवाले एक जीवको भोजन देना एक बड़ा शुभ कार्य था—वह विष्णु-भोजन ही था, उन्हें इसमें कोई गलती दिखायी नहीं पड़ी। पर अब आज श्राद्ध कैसे हो! गङ्गास्नान कैसे किया जाय। गङ्गा तो यहाँसे हजारों कोस दूर है।

अय्यावय्यर सीधे अपने घरके पीछे जो कुआँ था, उसकी ओर गये। उन्होंने उसके पास खड़े होकर आँखें मूँद लीं और वे कातर स्वरसे भगवती गङ्गादेवीकी प्रार्थना करने लगे—'कैसा आश्चर्य, कुएँमें जल उमड़ने लगा। जलका स्तर धीरे-धीरे ऊँचा होता गया और अन्तमें वह कुएँके ऊपरतक आ गया। अय्यावय्यरकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे पुरोहितोंके पास आकर बोले—'देखिये, गङ्गाजल आ गया!' पुरोहित अचंभेमें पड़ गये। सब कुएँके पास आ खड़े हुए तो देखा कि कुआँ फेनीले पानीसे उमड़ रहा है।

सबसे बड़े पुरोहितने कहा—'अय्यावय्यर! आप धन्य हैं! हम संकुचित विचारवाले आपकी महिमा क्या जानें?'

फिर क्या था। गङ्गाजल मिल गया था। पुरोहितोंका मन-परिवर्तन भी हो गया था। अय्यावय्यरने स्नान किया और श्राद्धका कार्य विधिपूर्वक सुसम्पन्न हुआ।

आज भी वह दिन बड़ी भक्ति-श्रद्धासे मनाया जाता है। भक्तिमान् ब्राह्मणलोग उस दिन तिरुविशनल्लूरमें इकट्ठे होते हैं और अय्यावय्यरका यशोगान करते हैं।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

४५—प्रागल्भ्य

'क्यों रे, तूने खोले हैं बछड़े ?' किसे पता था कि आज यह गोप अभी घरपर ही है। राम-श्याम बालसखाओंके साथ गोकुलकी गलियोंसे उछलते-कूदते नित्यकी भाँति धूम करते घूम रहे हैं। गोप चले गये हैं गायें चराने और गोपियाँ इन बालकोंकी ललित क्रीड़ा देखनेमें लगी हैं। इस गोपके गोष्ठसे बालकोंने सब बँधे बछड़े खोल दिये। किंतु जब यह घरसे निकला, सब-के-सब ताली बजाते भाग खड़े हुए हैं। दौड़कर सबसे पीछे भागते एक डेढ़ वर्षके नन्हे दिगम्बर बालकका हाथ पकड़ लिया है इसने और डाँट रहा है उसे। बड़ा क्रोधी है यह गोप।

'मैंने नहीं खोले हैं।' बेचारे बालकके नेत्र भर आये हैं। भयसे उसकी तोतली वाणी और अस्पष्ट हो गयी है। कातर हो रहा है वह।

'मैंने खोले हैं बछड़े।' किसी सखाको कोई कुछ कहे, यह श्याम सह नहीं सकता। यह लौट आया कन्हाई। दो वर्षका यह नीलसुन्दर इतने बड़े हट्टे-कट्टे गोपके सामने तनकर खड़ा हो गया है—'इसे छोड़ दो।' वाणीमें जो रोब है, खड़े होनेमें जो अकड़ है, देखने ही योग्य है वह।

'तूने खोले हैं ? क्यों खोले ?' गोपने बालकका हाथ छोड़ दिया और श्यामका हाथ पकड़ा।

'हाँ, खोले तो मैंने ही हैं।' सखा छूट गया और कृष्णकी वह प्रगल्भता चली गयी। झुक गया है उसका सुन्दर मुख। पीछे मुड़कर देख रहा है वह, कोई उसकी सहायता करेगा या नहीं ?

'क्या हुआ जो बछड़े खोल दिये ? हाथ छोड़ दो !' यह आया दौड़ता हुआ दाऊ। झटक दिया हाथ आते ही इसने गोपका। इसकी तेजस्विता तो फिर इसीके योग्य है। 'तुमने क्यों पकड़ा कन्हाईका हाथ ?' नन्हा-सा यह गौरसुन्दर इस प्रकार इतने बड़े गोपसे पूछ रहा है, जैसे कोई सम्राट् किसी सामान्य व्यक्तिको फटकार रहा हो।

'इसने बछड़े खोल दिये। वे वनमें भाग जायँगे और गायोंका दूध पी डालेंगे। तुम अपने छोटे भाईको मना क्यों नहीं करते ?' गोप हँस तो नहीं सका; पर उसके मुखपर जो डाँटनेका भाव था, वह चला गया है। इस दाऊसे वह झगड़ नहीं सकता। क्या हुआ जो यह तीन वर्षका बालक है। गोप जानता है कि यह रुष्ट हो जाय तो उसके घरमें एक भी मटका बचेगा नहीं। उसके ऊखलतकको यह पटककर फोड़ फेंकेगा। साथ ही ये सब बालक खड़े हो गये हैं। अब इन्हें डराया नहीं जा सकता। मधुमक्खियोंके इस छत्तेको छेड़नेमें अब कुशल नहीं है।

'बछड़े अपनी माँका दूध पियेंगे, तुम अपनी माँका दूध पियो।' उसकी पत्नी द्वारकी ओटमें हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है। व्रजके ये दोनों युवराज उसके दढ़ियल पतिको उसकी बुढ़िया माँका दूध पीनेका आदेश दे रहे हैं, जैसे अभी स्वयं वे अपनी माताओंका दूध पीते हैं। बेचारा गोप खड़ा-खड़ा देख रहा है और उसे अँगूठा दिखाते, ताली बजाते, दौड़े जा रहे हैं ये बालक।

४६—पावस-नृत्य

'कनूँ, तू मयूरसे अच्छा नाचता है।' नन्हा तोक ताली बजाकर कूद रहा है। झुंड-के-झुंड मयूर इधर-उधर ठुमक-ठुमककर नृत्य कर रहे हैं। किंतु श्यामसुन्दरके नृत्यकी शोभा तो भिन्न ही है।

'दादा, तू भी नाच !' कन्हाईने बड़े भाईका हाथ पकड़ा और दोनों गोल चक्कर काटने लगे।

'अरे !' हाथ छोड़कर अलग-अलग राम-श्याम सैकड़ों बालकोंके साथ दोनों हाथ फैलाये गोल-गोल फिरते रहे और घूमकर भूमिमें बैठ गये। वे बैठते हैं और फिर उठते हैं। उठते हैं और फिर बैठते हैं।

नीचे कोमल वालुका और ऊपर मेघाच्छन्न आकाश। नन्ही फुहियाँ बरस रही हैं। अलकोंमें हीरक-कनियाँ उलझती जा रही हैं। बालक चक्कर काट रहे हैं, घूमकर गिर रहे हैं और हँस रहे हैं।

मयूरपिच्छ लहरा रहा है, अलकें हिल रही हैं,

पटुका फहरा रहा है, वनमाला वक्षपर चञ्चल हो रही है, पीली कछनी उड़ रही है, मोहन दोनों हाथ फैलाये शीघ्रतासे गोल घूम रहा है और घूम रहा है उसके समीप ही उसीकी भाँति हाथ फैलाये उसका नीलाम्बरधारी अग्रज।

'पृथ्वी नाचती है, पेड़ नाचते हैं, गृह नाचते हैं।' बालक हँस रहे हैं चक्कर काटते हुए। वे एक दूसरेको घूमकर पकड़ते हैं और बद्-बद् गिरते हैं भूमिपर।

'दादा!' श्यामने घूमते-घूमते गिरनेसे बचनेके लिये दाऊको पकड़ लिया। दोनों भाई एक दूसरेको पकड़े धप-से हो रहे।

'दादा!' भूमिपर एक हाथ टेके, एक हाथसे बड़े भाई-को पकड़े कन्हाई कभी सिर इधर झुकाता है और कभी उधर। वह खुलकर हँसता है—'दादा, सब नाच रहे हैं।'

'तू नाचेगा तो सब नाचेंगे ही।' दाऊने भी एक हाथसे छोटे भाईको सम्हाल रखा है। वह जानता है कि उसके अनुजको अभी चक्कर-सा लगता होगा।

'मैं कहाँ नाच रहा हूँ?' श्याम अब स्थिर हो रहा है। वह स्थिर हो या चञ्चल, किंतु स्थिर तो वही है। शेष सब तो नाच ही रहे हैं। उससे कोई कहता क्यों नहीं—'तू नचा रहा है, इससे सब नाच रहे हैं।'

'कनूँ, उठ! मैं तेरे साथ नाचूँगा।' तोकने हाथ पकड़ लिया। इस कनूँके साथ नाचनेवाले ये कुमार—पावस-नृत्य तो इन्हींका है। यों नाच तो सभी रहे हैं, पर सब नाच रहे हैं ग्रीष्मके झोकोंसे विवश संतप्त धरापर।

४७-मैंने कृपा की

'दादा, देख तो!' श्यामने एक कंकड़ हाथमें उठाया। 'तू घड़ा फोड़ेगा इसका?' दाऊने रोकना चाहा।

'इसके घड़ेसे इतना मोटा पानी निकलेगा।' अपनी पतली कनिष्ठिका दिखायी मोहनने। वह यह सोचकर प्रसन्न हो गया है कि घड़ेसे पानीकी धारा गिरेगी।

कालिन्दीके कोमल पुलिनपर प्रातःकाल छोटे-छोटे बालक खेल रहे हैं। किसी-किसीकी कटिमें कछनी है, नहीं तो सब दिगम्बर ही हैं। रेतमें घरौंदे बनाते हैं, गड्ढे खोदते हैं, लेट लगाते हैं और एक दूसरेपर रेत उछालते हैं। हँसना, कूदना, दौड़ना, ताली पीटना और कोलाहल—आनन्दकी क्रीड़ा चल रही है। अलकोंमें धूल भर गयी है, यह सोचनेका इन्हें अवकाश कहाँ।

घाटसे एक गोपी अपने घड़े भरकर ऊपर आयी। खड़ी होकर एकटक देखने लगी शिशुओंकी क्रीड़ा। कन्हाईने देखा उसके घड़ेको और एक नया खेल सूझ गया उसे।

मोहन प्रसन्न हो रहा है—दाऊ तो बस, इतना देखना जानता है। उसका छोटा भाई प्रसन्न रहे, बस। कनूँके खेलमें वह बाधा नहीं देता। वह तो स्वयं श्यामके साथ खेलमें योग देता है, यदि उसके योगसे श्यामके अधरोंपर हास्यकी रेखा दीख पड़े। कितना प्रसन्न हो रहा है कन्हाई घड़ेमेंसे जल गिरनेकी कल्पनासे!

'इसका घड़ा तो मैंने·····'गोपिकाने मैयाको उलाहना दिया है। मैया श्यामको डाँटेगी। दाऊ अपने छोटे भाईको बचानेके लिये स्वयं अपने ऊपर आगेसे ही अपराध ले लेना चाहता है।

'हाँ मैया, दादाने देखा है।' श्याम बीचमें ही बोल पड़ा। 'मैंने इसपर कृपा की।'

'अच्छा, मेरा बेटा अब कृपालु हो गया है!' मैयाको हँसी आ गयी।

'मैंने तो एक घड़ेमें थोड़ा-सा छेद किया।' श्यामने अपनी अँगुली दिखाकर बताया—'इतना मोटा पानी निकलने लगा घड़ेसे। इसने फिर तो तीनों घड़े पटक दिये। फट्से फूट गये सब। इसने घड़े क्यों फोड़े?' जैसे अपराधिनी वही है और उसीको डाँट पड़नी चाहिये।

'देख मैया, इतने बड़े-बड़े घड़े थे।' दोनों हाथ फैलाकर बताया मोहनने। 'दो घड़े सिरपर और कटिपर रखकर यह ऐसे तो चलती थी।' अब कन्हाई जो मटककर चल रहा है—गोपिकाको हँसी न आये तो और क्या हो।

'मैं घड़ेको न फोड़ता तो इसकी कटि टूट नहीं जाती?' बड़े भाईकी ओर अब उसने देखा। जैसे पूछता हो—'दादा, ठीक है न?' इस चञ्चलके नेत्र क्या-क्या कहते हैं, अब कोई कैसे समझे?

४८-वस्त्र-धारण

'श्याम, आ। मैं तुझे कछनी पहना दूँ।' ऋषभ गोपकुमारोंमें बड़ा है। वह कन्हाईकी सहायता करना चाहता है।

'मैं पहिन लूँगा।' कृष्णचन्द्र अपने प्रयत्नमें है। वह कछनीको कटिमें लपेट लेना चाहता है। बीच-बीचमें रुककर

दूसरे सखाओंकी ओर देखता है—वे कैसे कछनी बाँध रहे हैं।

एक ओरसे लपेटनेपर चिकना कौशेय वस्त्र दूसरी ओरसे खिसक जाता है। एक छोर नन्हे हाथोंमें आता है तो दूसरा छूट जाता है। श्यामसुन्दर अच्छी उलझनमें पड़ा है। वह कभी एक छोरसे, कभी दूसरे कोनेसे और कभी बीचोबीचसे कछनीको बाँधनेका प्रयास कर रहा है। कोई पद्धति ठीक नहीं बैठती।

बालकोंने कछनी खोलकर इस छोटे झरनेमें स्नान किया है। सबके अङ्ग धुल गये हैं। मोहनकी अलकोंसे अब भी बिन्दु झर रहे हैं। एक-दो पुष्प अभी भी अलकोंमें उलझे हैं। करोंमें पतले कङ्कण, भुजाओंमें हल्के अङ्गद, वक्षपर मुक्तामालके ऊपर गुंजाओंकी माला और उनमेंसे झाँकता श्रीवत्स-चिह्न, कण्ठमें कौस्तुभ, कटिमें मणिजटित स्वर्ण-मेखला, चरणोंमें नूपुर। धुले हुए विकच कुवलयकी यह शोभा। बछड़े दूर चर रहे हैं और बालक अपने-अपने वस्त्र पहिननेमें लगे हैं।

'दादा!' श्याम अन्तमें झुँझला गया। उसने कछनी पैरोंके पास भूमिमें डाल दी और दो क्षण उसे देखता रहा। फिर हाथमें उसे उठाकर बड़े भाईके सामने जा खड़ा हुआ।

'ला, मैं पहिना दूँ।' दाऊने स्वयं वस्त्र पहिन लिये हैं। अपने छोटे भाईके हाथसे कछनी लेकर वह घुटनोंके बल बैठ गया है। दिगम्बर श्याम उसके सम्मुख खड़ा है और सिर नीचे करके ध्यानसे देख रहा है—सीख लेना चाहता है कछनी बाँधना।

'श्यामसे कुछ अंगुल ही तो बड़ा है यह दाऊ। एक वर्ष बड़ा क्या कोई बहुत बड़ा होता है? परंतु दाऊको कछनी बहुत अच्छी बाँधनी आती है, यदि यह चञ्चल कन्हाई चुपचाप खड़ा रहे।'

'दादा!' मोहन अपनी कछनी बँधते-न-बँधते ताली बजाकर भाग जाना चाहता है। इसने वह एक बहुत सुन्दर पक्षी देख लिया है।

'तनिक रुक।' दाऊने भागने नहीं दिया।

'वह-वह पीला पक्षी।' कन्हाईको भला, अब कोई कितने क्षण रोक सकता है। दाऊ शीघ्रता करनेमें लगा है।

४९—गाय ब्यायी

'दादा! दादा! कपिलाने बछड़ा दिया है। बड़ा सुन्दर बछड़ा है। आ, देख तू।' श्यामसुन्दर बहुत प्रसन्न है। वह जल्दी-जल्दी मैयाको, माता रोहिणीको और बाबाको यह शुभ समाचार दे आया है। उसकी कपिलाने दूध-सा उजला बछड़ा दिया है। अपने बड़े भाईको ले जाकर तुरंत वह बछड़ा दिखा देना चाहता है।

'गाय भूखी है। मैं इसके लिये कुछ ले आता हूँ।' दाऊने बछड़ेको देखा और उसका ध्यान कपिलाकी ओर गया। तुरंतकी ब्यायी गाय भूखी तो होगी ही। कितना खाली दीखता है उसका पेट। गोपोंने उसके आगे बहुत कुछ रख दिया है, पर इससे होता क्या है। कपिलाको तो दाऊ या श्यामके हाथसे कुछ चाहिये।

'ले, खा ले!' छोटे-से पात्रमें यह नीलाम्बरधारी छोटा बालक कुछ अन्न लाया है और फिर दौड़ गया है एक मुट्ठी दूर्वा लेने। कपिला अन्नकी ओर देखनेके स्थानपर उसकी ओर देख-देखकर हुंकार कर रही है।

'उठ! उठ तू!' श्यामसुन्दर बछड़ेके पास आ बैठा है। अपने लाल-लाल दोनों नन्हे हाथोंसे उठनेमें यह बछड़ेकी सहायता कर रहा है। बछड़ा अभी ठिकानेसे उठ नहीं पाता और चलनेमें उसके पैर लड़खड़ाते हैं। गिर पड़ता है बार-बार वह। अपनी माँके बदले वह कन्हाईको ही सूँघ लेना चाहता है उसके चारों ओर घूमकर। श्याम हँसता है, मुख हटाता है, जब बछड़ा उसका मुख और सिर सूँघनेका प्रयत्न करता है। दोनों हाथोंसे बछड़ेका मुख पकड़कर मोहन उसे बार-बार पुचकार रहा है।

कपिला बार-बार हुंकार कर रही है। वह अपने सामने बैठे दाऊको कभी सूँघती है, कभी दाऊके हाथसे तृण लेती है या उसकी छोटी टोकरीसे अन्नके दो-एक ग्रास खा लेती है और फिर हुंकार करके श्यामसुन्दरकी ओर शीघ्रतासे लपकती है। वह अपने नवजात बछड़ेको चाट ले या इस नीलसुकुमारको सूँघे? बछड़ा तो कहीं जाता नहीं, पर यह श्याम और यह गौर कहीं उसके पाससे दूर न चले जायँ—कपिला आज अत्यन्त आतुर हो रही है। बार-बार हुंकार करती है। बार-बार सूँघती है दोनोंको।

'दादा, तू इसे उठना सिखा।' श्यामसुन्दर बहुत उत्सुक है कि यह नन्हा बछड़ा फुदकने लगे। बछड़ा उठता है तो कन्हाई उससे तनिक दूर हट जाता है कि वह उसके

पास दौड़कर आवे; पर बछड़ा अनेक बार लड़खड़ा जाता है। वह खड़ा ही हो पाता है पैर फैलाकर।

दाऊ अब अपने छोटे भाईके पास आ गया है। किसीको उठना और श्यामकी ओर चलना उसे छोड़कर भला, कौन सिखा सकता है। किंतु कपिला तो हुंकार करने और इन्हें सूँघनेमें ही व्यस्त है और उसका यह नन्हा बछड़ा भी अभीसे इनके आस-पास मँडरानेका यत्न करने लगा है।

५०—जागरण

'हुम्मा! हुम्मा!' गायें बहुत रात पहले ही पुकारने लगती हैं। बछड़े गोष्ठसे भागकर द्वारपर आ जुटते हैं। मैयाको लगता है कि सब उसके लालको जगाना चाहते हैं।

कन्हाई सो रहा है। दूध-से उजले पलंगपर वह नीलमकी सुकुमार मूर्ति-जैसा—उसके इधर-उधर अलस पड़े लाल-लाल कर-चरण। अलकें मुखपर घिर आयी हैं। झीना पीत पट मैयाने उढ़ा दिया है उसे। बड़ी-बड़ी पलकें बंद हैं।

'श्यामसुन्दर!' मैया कुछ क्षण देखती रही अपलक। अब यदि वह धीरेसे न जगाये तो सखाओंके आ जानेपर यह उसका लाल ठिकानेसे मुख भी नहीं धोने देगा। इसे वनमें जानेकी हड़बड़ी पड़ेगी। खीझेगा न जगानेके लिये।

'ऊँ, ऊँ!' कृष्ण तनिक हिला, दोनों हाथोंको नेत्र मलनेके लिये ले गया और फिर शिथिल हो रहा।

'कनूँ!' मैयाने फिर पुचकारा।

'दादा!' नेत्र बंद किये-किये ही हाथसे अपनी शय्यापर बड़े भाईको टटोल लेना चाहता है वह। उसके स्वर एवं गतिमें अलसभाव है।

'देख तो, दाऊ कबसे उठ गया है!' मैयाने फिर सचेत किया।

'दादा!' श्यामसुन्दरको अपना दादा मिल नहीं रहा है। अब उसने अँगड़ाई ली, किंतु फिर पेटके बल होकर सो गया। दोनों हाथ मस्तकके पास इधर-उधर पड़ गये।

'दादा!' दो क्षण रुककर अपने-आप फिर हाथसे ढूँढ़ा उसने। 'दादा उठ गया' यह बात धीरे-धीरे समझ रहा है वह। अब दोनों हाथोंसे नेत्र मल रहा है। काजल फैलकर कपोलोंतक आ गया है। हथेलियोंपर काली रेखाएँ बन गयी हैं।

यह उठ बैठा वह शय्यापर नेत्र मलते-मलते। अभीतक भी पलकें खुली नहीं हैं। कटिकी कछनी ढीली-ढाली हो रही है। दोनों चरण आधे मुड़े हैं।

'दादा!' श्यामने पलकें खोल दीं। कैसा है उसका यह दादा! पता नहीं कब जग गया। कब धीरेसे उठ गया और कबसे पलंग पकड़े अपने छोटे भाईके मुखको चुपचाप देख रहा है। कनूँ पुकारता है, पर यह बोलता ही नहीं। धीरे-धीरे हँसता जाता है। कभी-कभी मैयाकी ओर देख भर लेता है।

'दादा!' कन्हाईके अधरोंपर भी मन्द मुसकान झलक उठी। उसकी भङ्गिमा कहती है—'अच्छा, दादा तो यह रहा। मुझसे पहले जग गया?'

और वहींसे झुककर अपनी दोनों भुजाएँ बड़े भाईके गलेमें डाल दीं उसने।

५१—वनकी ओर

'राम! अपने छोटे भाईको साथ ही रखना बेटा! इसे धूपमें मत घूमने देना। तुमलोग यमुनामें मत उतरना। देखो, पेड़पर कोई न चढ़े भला और परस्पर झगड़ना भी मत। कन्हाईकी सँभाल रखना लाल!' मैयाको पता नहीं कितनी सूचनाएँ देनी हैं। उसका नीलसुन्दर वनकी ओर जा रहा है। इसे किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। धक-धक् कर रहा है मैयाका हृदय।

श्यामसुन्दरको शीघ्रता है और दाऊ तो प्रस्तुत भी हो गया। सखाओंमें कुछ भीतर आ गये हैं और कुछ द्वारपरसे पुकार रहे हैं। अब मैयाकी सूचनाएँ कहाँ सुनते हैं ये दोनों।

लहराता मयूरपिच्छ, सम्हाली-सजायी अलकावली पुष्पमाल्यसे सजी हुई, कपोलोंपर झलमलाते मणि-कुण्डल, भालपर केसरकी भव्य खौरके मध्य कज्जलका बिन्दु, अञ्जन-रञ्जित तनिक रतनारे दीर्घ दृग, कंधोंपर लहराते नील-पीतपट, कण्ठमें मुक्ताकी माला एवं घुटनोंतक लटकती वैजयन्ती माला, एक कंधेसे नीचे लटकता छीका और दूसरेपर पड़ा काला कम्बल, बायें हाथमें शृङ्ग, दाहिनेमें बेंत, कटिकी कछनीमें लगी मुरलिका। मत्त गजराजकी गतिसे झूमते ये राम-श्याम निकले द्वारसे।

उछलते-कूदते चिकने चञ्चल रंग-बिरंगे सहस्रों बछड़ोंका समुदाय आगे-आगे चल रहा है। बछड़े बार-बार पीछे मुड़ आते हैं और दोनों भाइयोंको सूँघकर कूदते-फुदकते फिर आगे चले जाते हैं।

सहस्रों गोप-शिशु—सब-के-सब सुन्दर, सुपुष्ट और चपल। सबको सजाया है उनकी माताओंने। तैलस्निग्ध अलकें, अञ्जन-मञ्जु लोचन, आभरण-भूषित देह, धौतोज्ज्वल वसन—सब लकुट, कम्बल, छीके, वेत्र, शृङ्ग, रस्सियाँ लिये हैं। सब हँसते हैं, कूदते-से हैं और बछड़ोंको हाँकते हुए गाते जा रहे हैं।

आरतीके थाल सजाये खड़ी हैं द्वारोंपर वृद्धाएँ, माताएँ। मार्गमें दोनों ओर खड़े हैं गोपगण। छज्जोंसे पुष्प झर रहे हैं। दूर्वाङ्कुर एवं लाजाके साथ केसरके सीकर बरस रहे हैं।

'कनूँ कोई धूम नहीं करेगा। मैं उसे कहीं इधर-उधर नहीं जाने दूँगा।' दाऊने मैयाको द्वारपर आश्वासन दिया।

'मैं तेरे लिये बहुत-से जामुन लाऊँगा। मैयाके लिये भी और बाबाके लिये भी।' कृष्णचन्द्रने द्वारसे कुछ आगे जाकर, मुड़कर अपनी ओर अपलक देखती माता रोहिणीको पुकार-कर कहा।

'अरे नहीं! जामुनपर चढ़ना मत। नहीं चाहिये किसीको यहाँ जामुन! मैं बनसे मँगाये लेती हूँ।' माताकी पुकार कहाँ सुनता है यह चपल। वह कभी इधर जाता है, कभी उधर देखता है। कभी पीछे मुड़ता है, कभी नाचता है। उसे घेरकर नाच रहे हैं, गा रहे हैं ये गोपकुमार। वनकी ओर बढ़ी जा रही है यह मधुर मण्डली।

५२—उपहार

'दादा! बता तो, मैं क्या लाया हूँ?' पीताम्बरके भीतर कोई गोल वस्तु छिपाये यह श्यामसुन्दर दौड़ा-दौड़ा हँसता-हँसता आया और दाऊके सामने बैठ गया।

किसी गोपकुमारको—कहना यह चाहिये कि व्रजमें किसी-को, स्वयं दाऊको भी कोई सुन्दर स्वादिष्ट या आकर्षक वस्तु मिले तो वह उसी समय कृष्णचन्द्रके लिये सुरक्षित हो जायगी। उसे पानेवाला झटपट श्यामके पास उसे पहुँचाना चाहेगा। और यह श्याम—कोई रत्न, कोई बड़ा-सा पुष्प-गुच्छ, कोई सुन्दर फल, कोई लुभावना फूल, कोई भी वस्तु जो इसे पसंद आ जाय, उसे लेकर दाऊके पास भागेगा। इसे लगता है कि सारी उत्तम वस्तुएँ इसके बड़े भाईको ही मिल जानी चाहिये।

'मयूरका बच्चा।' दाऊने बिना रुके, बिना झिझके उत्तर दे दिया। वैसे कोई भी जानता है कि मयूरका बच्चा इस प्रकार पीतपटमें बंद करके लानेपर हिले-डुले बिना नहीं रहेगा।

'नहीं दादा, तू देखकर बता।' श्यामने पीतपटकी वह पोटली सामने कर दी; किंतु दाऊने जब हाथ बढ़ाया, उसने पोटली दूर हटा ली—'तू छू मत।'

'श्रीदामाका गेंद।' दाऊ हँस पड़ा। वैसे उस पोटलीसे जो सुरभि आ रही है, वह पहेली समझनेकी आवश्यकता नहीं रखती।

'अच्छा, तनिक देख ले।' कन्हाईने अँगुली रखने जितना अंश उस वस्तुका दिखलाया।

'पका बिल्व!' कोई फल है, पीला-पीला यही दीख रहा है।

'अच्छा, तू मुख खोल!' मोहनने अग्रजके चिबुकपर अपना दाहिना हाथ रख दिया।

'तू पहले दिखा!' दाऊने फिर हाथ बढ़ाया।

'ना, मुख खोल तू।' श्यामने पोटली हटा ली।

'रह, मुझे देख लेने दे।' दाऊके मुख खोलनेपर कृष्णचन्द्रने झटसे पटुकेमेंसे एक सुन्दर सुपक्व आम निकाल-कर बड़े भाईके मुखसे लगा दिया; किंतु जैसे ही दाऊने उसे काटना चाहा—जैसे कन्हाईको कुछ स्मरण आ गया। उसने झट आम हटा लिया और अपने मुखसे लगाता बोला—'कहीं खट्टा हुआ तो?'

'दादा, देख कितना मीठा है?' थोड़ा-सा काटकर मुखमें लेते ही मोहन उल्लसित हो गया। उसने आम बड़े भाईके मुखमें लगा दिया। कन्हाईके अधरोंपर आमके रसकी पीताभ छटा—अपने हाथमें आम लेकर वह अग्रजको खिला रहा है उसके सामने बैठा घुटनोंके बल कुछ उझका-सा, 'मीठा है न?'

'भला, यह भी पूछनेकी बात है? इतनी मिठास और भी कहीं क्या सम्भव है?'

५३—शृङ्गार

'तू मेरा पुष्प मत तोड़।' श्याम अपने बड़े भाईका शृङ्गार करना चाहता है। उसे स्वयं सब प्रसाधन-सामग्री एकत्र करनी है। अब उसके देखे पसंद किये पुष्प, प्रवाल आदि कोई लेने लगे तो वह झगड़ेगा नहीं?

'अच्छा ले। तू ही ले ले इसे।' ऋषभ सीधा है।

कन्हाईसे झगड़ना उसे रुचता नहीं। अब उसके तोड़े फूलको यह नटखट अपना बता रहा है तो इसीका सही। दूसरा तोड़ लेगा वह।

'तूने मेरा पुष्प तोड़ा क्यों? इसे वहीं लगा दे।' श्याम तो झगड़नेका बहाना ढूँढ़ता रहता है। भला, टूटा फूल कहीं फिर टहनीमें जुड़ा करता है।

'फूल तेरा सही, ले!' बेचारा ऋषभ अब कैसे इसे मनाये?

'मैं तेरा तोड़ा क्यों लूँ? मैं अपने आप तोड़ूँगा। इसे जहाँ था वहीं लगा।' कन्हाई झगड़ेपर उतर आया है। यह देखता ही नहीं कि ऋषभ इससे कितना बड़ा और कितना तगड़ा है।

'ला, मैं लगा देता हूँ।' भद्र बीचमें पड़ा। अभीतक न तो दाऊका श्रृङ्गार हुआ न श्यामका। अब झगड़ा बढ़ा तो और भी देर होगी।

'दादा, अब तू चुपचाप बैठा रह। हिलना मत!' मोहन बहुत प्रसन्न है। झगड़ा करके ऋषभसे जीत गया है वह। भद्रने उसका फूल फिर टहनीसे लगा दिया। क्या हुआ जो काँटेमें उलझा दिया गया था वह पुष्प—तोड़ा तो श्यामने स्वयं ही। अब नाचता-कूदता वह बड़े भाईके पास आ बैठा है उसका श्रृङ्गार करने।

चारों ओर अरुण हरित पल्लवोंसे लहराते फल-भारसे झुके वृक्ष। पुष्पगुच्छोंसे लदी लहराती लताएँ। कूजते पक्षी, नाचते मयूर, उछलते-किलकते कपिदल और सहस्रशः बछड़े चरते, कूदते या बैठे खड़े। हरित मृदुल यत्र-तत्र नन्हे सुमनोंसे सज्जित मञ्जुल भूमि। बालक मयूरपिच्छ, गुञ्जा, पुष्प, पल्लव चयन करने तथा एक दूसरेको सजानेमें लगे हैं।

पुष्पित कदम्बके नीचे स्नान-धौत स्वर्णाभ, नीलवसन यह बैठा है दाऊ और अब यह उसका इन्दीवर-सुन्दर, पीतवसन अनुज उसके पास आ बैठा है बड़े भाईका श्रृङ्गार करने।

अलकोंमें ढेरों पुष्प-गुच्छ, कानोंपर किसलयदल, कक्षमें मयूरपिच्छ, गलेमें गुञ्जा तथा वनपुष्पोंकी अनेक मालाएँ, करमें गेरू, खड़िया, रामरजकी डलियाँ और कमलके पुष्प। प्रसाधनकी सामग्री अपने अङ्गोंपर ही रख ली है इसने और अब एक-एक उठाकर दाऊको सजानेमें जुट पड़ा है।

'दादा, तू हिलना मत!' अच्छा अनुरोध है। स्वयं तो एक-एक वस्तु सजाकर फिर नाचता है और दादा हिले भी नहीं। पर दादा क्या हिल सकता है इस समय।

५४-प्रेम

'दादा!' यह कन्नू अपने दादाको सदा अकारण ही पुकारे, ऐसा कुछ नहीं है। इसका तो यह एक स्वभाव हो गया है। सोतेमें भी यह अनेक बार 'दादा, दादा' कर उठता है। इसकी यह पुकार भी बड़ी अद्भुत है। प्रत्येक बार इसके स्वरमें उत्साह, कुतूहल, प्रेम—पता नहीं क्या-क्या होता है। प्रायः यह ऐसे उत्साहसे पुकारता है, जैसे कोई बहुत अद्भुत बात अपने दादासे कहने जा रहा हो या फिर इसका दादा इसे कई युगोंके बाद मिला हो।

और यह दाऊ है कि कन्हाई जब भी पुकारेगा, इसके नेत्र उसकी ओर घूम ही जायँगे। बदलेमें यह बहुत कम बार पुकारता है, बहुत कम बार सम्बोधन करता है। बस, नेत्र उठाकर देखेगा छोटे भाईकी ओर। उस समय इसके नेत्रोंकी भावभरी भङ्गी देखने ही योग्य होती है वह छटा तो। दाऊ गाढ़ निद्रामें हो, कन्हाई पुकार ले उसे, तो उस समय भी वह 'हूँ, हाँ' अवश्य कर उठेगा और उसके नेत्र न सही, पर हाथ निद्रामें ही अपने छोटे भाईको टटोल लेनेके लिये हिल उठेंगे।

बसंतकी यह पुष्पित, किसलयमण्डित वनश्री। हरित दूर्वासे आच्छादित भूमितल। पशु-पक्षियोंका आनन्द-उल्लास और भ्रमरोंका मत्त गुञ्जन सार्थक हो गया है आज। आज राम-श्याम दोनोंने सुमनोंसे अपनेको सजाया है। उज्ज्वल पुष्पोंकी छोटी मालाओंमें नीचे पाटलके पुष्प लगाकर उन्हें इन दोनोंने कानोंमें पहिन लिया है। कानोंको घेरकर, रत्न-कुण्डलोंको बंदी करके शोभित वे मालाएँ और कपोलोंपर लटकते पाटलके मृदुल सुमन। सघन स्निग्ध मृदुल घुँघराली अलकराशि भी उज्ज्वल मोटी मालासे घिरी है और फहरा रहे हैं मस्तकपर मयूरपिच्छ। कलाइयोंमें स्वर्ण-मल्लिकाकी माला आज कंगन बन गयी है और भुजाओंके स्वर्णाङ्गद यूथिका-सुमनोंके अङ्गदोंके साहचर्यसे अत्यधिक भूषित हो गये हैं। वक्षपर गुञ्जा, कुन्द, तुलसीदलकी उत्तरोत्तर बड़ी मालाओंको अपने अङ्कमें लिये पचरंगे पुष्पोंकी खूब मोटी वैजयन्ती माला घुटनोंतक लटक रही है।

दाऊ एक सघन नाटे फैले हुए छत्राकार तमालके नीचे

बैठा है एक शिलापर। उसके दोनों चरण शिलासे नीचे हरित दूर्वापर दो विकच सरोज-जैसे लगते हैं।

'दादा !' यह आया है फुदकता हुआ कन्हाई। अपने नीलाम्बरधारी अग्रजकी बायीं ओर मुड़ा हुआ बैठ गया है यह अपने दोनों हाथोंसे बड़े भाईके बायें कंधेको पकड़कर।

'दादा !' इसके सम्बोधनमें केवल प्रेम है। सम्बोधनके लिये ही सम्बोधन है यह और दाऊ मुख घुमाकर अपलक देख रहा है अपने इस अनुजकी ओर। उसे कुछ बोलना नहीं और जो मोहनके इस भावमुग्ध मुखको देख लेगा, बोल पायेगा वह ?

५५—स्वत्व

'अरी छोरियो ! कहाँ जा रही हो सब ?' दाऊने पूछ लिया। आज वह एक लाल-लाल किसलयोंसे लदे कदम्बके नीचे जमकर बैठा है। गौएँ आगे-पीछे, इधर-उधर चरनेमें लगी हैं। कन्हाई लगता है कि सखाओंके साथ कहीं पास ही खेलमें लगा होगा।

'दही बेचने।' रंग-बिरंगे वस्त्रों एवं अलंकारोंसे सजी छोटी-छोटी दहेंड़ियाँ सिरपर रखे पाँचसे दस वर्षतककी बालिकाओंका झुंड—वे सब खड़ी हो गयीं। बड़े संकोचसे किसी एक अलक्ष्य कण्ठने उनमेंसे उत्तर दिया।

'हमें दही नहीं खिलाओगी ?' दाऊ आज मौजमें है।

'लो, खा लो !' एक साथ ढेर-सी दहेंड़ियाँ सामने रख दी गयीं बड़ी उमंगके साथ।

'हम तो हँसी कर रहे थे। ले जाओ तुम सब।' सच-मुच दाऊ अबतक सहज-भावमें ही बोल रहा था।

'थोड़ा-सा भी नहीं खाओगे ?' स्वर अत्यन्त अनुरोध-पूर्ण तथा कातर हो उठे। हृदय कहने लगे—'हाय, हाय ! हमारा दही आज क्या व्यर्थ ही जायगा ? बड़े भाईने यदि अस्वीकार कर दिया तो छोटा भाई आँख उठाकर भी देखने-वाला नहीं है।

'अच्छा, लाओ !' सामने शिलाको फूँककर स्वच्छ कर दिया नीलाम्बरधारीने। उसे छीना-झपटी नहीं आती, किंतु कोई आग्रहपूर्वक नैवेद्य अर्पित करना चाहे तो अस्वीकार नहीं कर सकता वह।

'तुम इसीमेंसे खा लो !' दहेंड़ियाँ जूठी हो जायँगी, यह बात इन नन्ही बालिकाओंके मनमें नहीं आती।

एक स्पर्धा-सी—कोई पिछड़ा नहीं चाहती। कहीं दाऊने बस कर दिया तो ? जो दहेंड़ियाँ यहाँ अछूती रहेंगी—अभागी ही रह जायँगी आगे भी वे।

'हमारा भाग हमको देकर तब आगे जाओ !' कन्हाई तो बड़े भैया-जैसा सीधा नहीं है। वह माँगना जानता ही नहीं।

'बड़े भागवाले आये हैं !' लड़कियोंने परस्पर देखा और नेत्र कड़े किये—'बड़े भैयाने सारी-की-सारी दहेंड़ियाँ जूठी कर दीं और अब ये चले हैं भाग लेने।'

'तब तो सब दही मेरा है !' मोहन उज्ज्वल तथा श्याम पर्वतोंके बीच साँकरी खोरमें दोनों पैर फैलाये, कटिदेशपर दोनों हाथ रखे, मार्ग रोके केसरी-शावकके समान तना खड़ा है—'मेरे दादाका प्रसाद है, कुछ तुम्हारे दादा-का नहीं। धर दो सब दहेंड़ियाँ !'

कौन-सी पोथी कहती है कि बड़े भाईका प्रसाद छोटे भाईका स्वत्व नहीं है ? अब यदि कोई किसीका स्वत्व न दे तो वह छीनेगा। दहेंड़ियाँ तो फूटनेवाली ठहरीं।

दान-लीला

बेंचन चली दधि ब्रजनारि।
सीस धरि धरि माट मटुकी, बढ़ी सोभा भारि॥
निकसि ब्रज के गई ग्वैंडै, हरष भईं सुकुमारि।
चली गावति कृष्न के गुन हृदयँ ध्यान बिचारि॥
सबनि कें मन जो मिलैं हरि, कोउ न कहति उघारि।
सूर प्रभु घट घटहिं ब्यापी, जानि लईं बनवारि॥

समाजमें विवाह-विभ्राट्

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी)

आगरेके मास्टर ताराचंदको अपनी लड़कीके लिये एक लड़केकी आवश्यकता थी। उनके मित्र हीरालाल मास्टरने एक लड़का बतलाया। रविवारके दिन वे दोनों लड़का देखनेके लिये बरेली गये। लड़का बी० ए० में पढ़ता था, उसका पिता सरकारी नौकर था। जब मित्रसहित मास्टर ताराचंद वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने लड़केके पितासे भेट की। लड़केके पिताने कहा—'अभी तो लड़का पढ़ता है। जबतक वह पढ़ता है, उसके विवाहका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।'

मास्टरने पूछा—'आखिर कबतक पढ़ता रहेगा?' लड़केका पिता कलेक्टर साहबका पेशकार था। मास्टरकी बात सुनकर पेशकारने उत्तर दिया—'यह तो उसकी मरजीकी बात है और विवाह करना भी उसीकी मरजीपर है। यदि वह चाहे तो मैं आज ही उसका विवाह कर दूँ, परंतु अभी विवाहकी उसकी इच्छा नहीं है।'

यह सुनकर मास्टर ताराचंदने अपने मित्र हीरालाल मास्टरसे कुछ संकेत किया। तब हीरालालने पेशकार साहबसे कहा—'खैर, सम्बन्ध पक्का कर लेनेमें क्या हानि है? विवाह चाहे जब करें—आप।'

नाक-भौंह चढ़ाकर पेशकारने उत्तर दिया—'हाँ, हानि तो कोई नहीं है। लड़की पढ़ती होगी?'

मास्टर ताराचंद बोले—'हिंदी मिडिल पास करनेके बाद पढ़ना छोड़ दिया है।'

'आपने उसका पढ़ना क्यों छुड़ा दिया?' पेशकारने कहा। 'आवश्यकताके लिये इतनी शिक्षा काफी है। इसीलिये छुड़ा दिया। कुछ घरका काम-काज भी तो सीखना चाहिये!' मास्टर ताराचंदने उत्तर दिया।

'आपने गलती की। घरका काम सीखनेके लिये सारा जीवन पड़ा था। कम-से-कम अंग्रेजीमें मैट्रिक पास कराना था। गाना जानती है? सितार-हारमोनियम बजा लेती है? कुछ नाचना भी जानती है?' पेशकारने प्रश्न किया।

यह सुनकर मास्टर ताराचंदको गुस्सा आ गया। खूनका घूँट पीकर उन्होंने कहा—'गाना-नाचना तो नहीं जानती।'

मुँह सिकोड़कर सिर हिलाते हुए पेशकार साहब बोले—'तब तो सम्बन्ध होना कठिन है। मेरा लड़का यदुनाथ ऐसी लड़कीसे कदापि विवाह न करेगा। गाना-बजाना और नाचना जानना लड़कीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।'

अब मास्टर ताराचंदसे न रहा गया। सोचा—यह सम्बन्ध तो होनेसे रहा, इसलिये मुँहतोड़ उत्तर देनेमें क्या हर्ज है? वे बोले—'हाँ साहब, आजकलके नौजवानोंको पढ़ने-लिखनेके बाद भी बेकारीका सामना करना पड़ता है। इसी कारण वे पढ़ी-लिखी, गाने-बजाने-नाचनेमें एक्सपर्ट बीबी तलाश किया करते हैं। ताकि यदि नौकरी न मिली तो अपनी स्त्रीको किसी फिल्म-कम्पनीमें भरती कराकर अपना पेट भर सकें। आपका विचार तो बुरा नहीं है; क्योंकि पढ़े-लिखे नौजवान चाहे बरसों बेकार बैठे रहें, गाने-बजाने-नाचनेमें निपुण पढ़ी-लिखी स्त्री जब चाहे तब कार्यमें लग सकती है। पहिले जमानेके आदमी चाहते थे कि खुद कमायें और बीबीको खिलायें। अबके मर्द चाहते हैं कि बीबी कमाये और वे उसकी कमाईपर गुजर करें।'

मास्टर ताराचंदका सारगर्भित व्यंग सुनकर पेशकार साहबका चेहरा उतर गया। लड़खड़ाती जबानसे वे कहने लगे—'आप बड़ी सख्त बात कह गये हैं!'

मास्टरने उत्तर दिया—'मैंने सख्त-मुलायम कुछ नहीं कहा है। मैंने तो वर्तमान समयके वातावरणका बयान किया है। लड़का तो खैर लड़का ही है; परंतु मुझे तो आपके विचारोंपर तरस आता है। आप अनुभवशील वृद्ध होकर भी ऐसे गंदे विचार रखते हैं? क्षमा करना। आप घरकी रानी और जीवन-सङ्गिनी नहीं चाहते हैं, आपको गृह-लक्ष्मीकी आवश्यकता नहीं है, आपको जरूरत है एक ऐसी स्त्रीकी जो वक्त पड़नेपर गा-नाचकर रोटी चला सके।'

यह कहकर मास्टर ताराचंद अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ उठकर चले गये। रास्तेमें मास्टर ताराचंदने अपने मित्रसे कहा—'देखी आपने पेशकारकी असभ्यता!' लड़कीके पितासे पूछते हैं—'लड़कीको गाना-बजाना-नाचना सिखलाया या नहीं? और कुछ न पूछा। न तो यह पूछा कि गृहस्थीका क्या-क्या काम जानती है। भोजन बनाना आता

है या नहीं । सीना-पिरोना आता है या नहीं ? उनको गृहलक्ष्मी नहीं चाहिये—सोसायटी गर्ल चाहिये ।'

एक ठंडी साँस खींचकर मास्टर हीरालालने कहा—'हेडमास्टर साहब, हमारा हिंदू-समाज धीरे-धीरे अंग्रेजी-समाज बन जाना चाहता है । हम 'काले अंग्रेज' बनते जा रहे हैं और हिंदू संस्कृतिको सत्यानाशमें मिलाते जा रहे हैं ।'

'फिर भी कहा जाता है कि हम प्रगति कर रहे हैं, उन्नतिकी ओर जा रहे हैं । इनक़लाब ला रहे हैं, समाजको कल्याणके पहाड़पर चढ़ा रहे हैं ।' हेडमास्टर ताराचंदने उत्तर दिया ।

दूसरे रविवारको मास्टर ताराचंद और मास्टर हीरालाल एक दूसरा लड़का देखनेके लिये अलीगढ़ गये । लड़का एम्० ए० में पढ़ता था । लड़केका पिता मर चुका था । उसका चाचा श्यामलाल—तालोंके कारखानेका मालिक था । घरकी हैसियत अच्छी थी । अपना मकान था । नौकर-चाकर भी दौड़ रहे थे । श्यामलालने मास्टरसे पहला सवाल किया—

'लड़कीने कहाँतक शिक्षा पायी है ?'

'हिंदी मिडिल पास किया है ?'

'हिंदी मिडिल ? अंग्रेजी नहीं पढ़ायी ?'

'अंग्रेजी घरपर कुछ सीखी है । नाम-धाम पढ़ लेती है । तार और चिट्ठी भी मामूली तौरपर समझ लेती है ।'

'तब तो आपने बहुत अंग्रेजी पढ़ा दी है ।'

'काफी है । यदि आपको जरूरत पड़ी तो वह किसी दफ्तरमें ऐड्रेस वगैरह लिखनेकी नौकरी कर लेगी ।'

अब तो श्यामलालजी चकरा गये । मास्टर ताराचंदको गौरसे देखकर बोले—'इसका क्या मतलब ?'

मास्टर साहबने उत्तर दिया—'अंग्रेजी शिक्षाका उपयोग यही हो सकता है । यानी आवश्यकता पड़नेपर कहीं नौकरी करके रोटीका प्रबन्ध कर सके ।'

इसपर वहाँ जो लोग बैठे थे, फरमायशी कहकहा लगाते हुए हँस पड़े । बाबू श्यामलालजी भी खूब हँसे । फिर बोले—'शिक्षाका आदर्श है सभ्यता सिखलाना, न कि नौकरी कराना ।'

तब मास्टर ताराचंदने उत्तर दिया—'यह तो आज मुझे एक नयी बात बतायी है आपने ! मुझे आजतक ज्ञात न था कि शिक्षाका लक्ष्य सभ्य बनना है । मैं तो यही समझता था कि रोटी कमानेके लिये ही पढ़ना-लिखना आवश्यक है ।'

श्यामलालजी बोले—'यदि आपका ऐसा विचार था तो वह गलत था । मुझे आश्चर्य है कि आप हेडमास्टर होकर भी ऐसे विचार रखते हैं !'

'मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, बाबू साहब !' मास्टरने व्यंग किया । श्यामलाल कहने लगे—'बात यह है कि लड़का एम्० ए० में पढ़ रहा है । उसकी इच्छा है कि किसी अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कीसे ब्याह किया जाय । लड़की अधिक पढ़ी-लिखी न हो तो कम-से-कम मैट्रिक, एफ० ए० तक अवश्य पढ़ी होनी चाहिये ।'

मुसकराकर मास्टर साहब कहने लगे—'चाहिये भी यही । लड़का हो अंग्रेजीका विद्वान् और लड़की हिंदी ही जानती हो तो बड़ी कठिनाई पड़ती है । पति अंग्रेजी बोलता है, पत्नी हिंदी बोलती है । न पतिकी बात पत्नी समझती है और न पत्नीकी बात पति समझता है । ऐसी दशामें निभाव होना कठिन है ।'

'यह तो आप मजाक कर रहे हैं ।' श्यामलालने कहा । 'अच्छा ! यह मजाक है ? मैंने तो सच समझकर कहा था ।' मास्टर बोले ।

तब मास्टर हीरालालने कहा—'वैसे लड़की खाना पकाना, सिलाई और गृहस्थीके कामोंमें होशियार है ।'

श्यामलाल बोले—'खाना तो हमारा लड़का भी बहुत अच्छा पका लेता है । बैंगनका भरता तो ऐसा बनाता है कि कमाल कर देता है ।'

मुसकराकर मास्टर ताराचंद कहने लगे—'ऐसी दशामें लड़कीको पाकशास्त्रकी शिक्षा देना बेकार हो गया । सिलाई-वाली मशीन भी वह चला ही लेता होगा ? थोड़ा संतान-पालनकी शिक्षा भी उसे दिला देते तो सारा झगड़ा खतम हो जाता ।'

'झगड़ा क्या खतम हो जाता ?' अचकचाकर श्याम-लालने पूछा ।

'यही कि लड़की अंग्रेजी पढ़ी हो और घर-गृहस्थीके काम जानती हो या न जानती हो । बाकी काम तो आपका लड़का जानता ही है । खाना पकाना, सिलाई करना और संतान पालनमें वह कमाल हासिल ही कर चुकेगा । बीबी केवल गिट-पिट करनेको रह जायगी । यदि अवसर पड़ेगा तो कमाकर खिला भी सकेगी । पति घरका काम करेगा और पत्नी आफिस जायगी ।'

मास्टर ताराचंदकी चुटकीपर फिर सब लोग हँस उठे।

दोनों हाथ मलकर मास्टर हीरालाल कहने लगे—'हमारे वर्तमान समाजकी बुद्धि तो देखिये। लोग हिंदी पढ़ी-लिखी लड़कीको, फिर चाहे वह कितनी अच्छी हिंदी क्यों न जानती हो, पढ़ी-लिखी ही नहीं समझते। घरेलू कामोंमें दक्ष होना कोई तालीम ही नहीं मानी जाती। मातृभाषामें चाहे वह लिखना-पढ़ना न जानती हो, परंतु अंग्रेजीमें होशियार हो। तभी वह शिक्षिता है। वह बैंगनका भरता बनाना न जानती हो, तब भी कोई हर्ज नहीं। उसे फटा कपड़ा सीना न आता हो, तब भी कोई त्रुटि नहीं। शिशुपालनकी तमीज न हो, तब भी काम चल जायगा; परंतु यदि वह गिटपिट न करती हो, टेनिस न खेलती हो, सिनेमा न देखती हो, पतिके आवारा दोस्तोंसे लपककर हाथ मिलाना न जानती हो, तो काम नहीं चल सकता। स्त्री-शिक्षाके विषयमें लोगोंका दृष्टिकोण कैसा बदला है कि कमाल है।'

इसके बाद दोनों मास्टर उठकर अपने घर निराश होकर लौट गये।

× × × ×

मास्टर ताराचंदका लड़का कैलाशनाथ एम्० ए० पास करके एक कालेजमें प्रोफेसर हो गया था। रविवारका दिन था। मास्टर ताराचंद तो अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ कानपुर गये हुए थे अपनी लड़कीके लिये लड़का देखने। इधर तबतक एक साहब अपनी लड़कीके लिये लड़का तलाश करते हुए, कैलाशनाथके कसरेमें आ विराजे। यों बातचीत हुई—

'मास्टर ताराचंदजी कहाँ हैं?'

'वे तो कानपुर गये हुए हैं।'

'क्यों?'

'लड़कीके लिये वरकी तलाशमें।'

'और मैं अपनी लड़कीके लिये वरकी तलाशमें इधर आया हूँ। सुना था कि उनका इकलौता पुत्र कैलाशनाथ कुँवारा है। कैलाश बाबू कहाँ हैं?'

'मेरा ही नाम कैलाशनाथ है।'

'अच्छा! तो आप करते क्या हैं?'

'सनातन धर्म कालेजमें प्रोफेसर हूँ।'

'बड़ी खुशीकी बात है। मगर यह नौकरी उतनी अच्छी नहीं, जितनी दूसरी नौकरियाँ होती हैं। इसमें ऊपरकी आमदनी नहीं होती।'

'मुझे जो कुछ मिलता है, वह सब ऊपरसे ही भगवान्से ही मिलता है!'

बाबूजी खिलखिलाकर हँस उठे। कहने लगे—'यह तो ठीक है, भगवान्का दिया हुआ ही सब पाते हैं; परंतु बँधे पैसे बँधे हुए ही होते हैं। आजकलके जमानेमें बँधे पैसोंसे कैसे काम चल सकता है? बुरा न मानना, बँधे हुए पैसोंकी साहिबीसे तहसीलकी चपरासगीरीमें अधिक फायदा है।'

'मगर वह बेईमानीकी कमाई होती है।'

'ईमानकी कमाईवालोंका दीवाला निकल जाता है। आपने अपने पिताका रुपया पानीमें बहा दिया, आजकलकी मास्टरी और प्रोफेसरीमें क्या रक्खा है? पुलिस, कचहरी, जंगलातमें होते तो सारी जिंदगी मौजमें कटती। कुछ नहीं तो किसी रजवाड़ेमें ही घुस जाते। चार ही सालमें हवेली बनवा लेते। मेरे पड़ोसमें एक लड़का रहता है। केवल इन्ट्रेंस पास किया था। कुम्भके मेलेमें टिकट बेचनेपर उसकी नौकरी लग गयी थी। केवल एक महीने ही रहा था। तनख्वाहके अलावा आठ हजार कमा लाया है। रेलके अफसर उसपर बहुत खुश हैं। कहते थे कि प्रत्येक कुम्भपर तुम्हारी ड्यूटी लगायी जायगी। इसके तीन साल बाद अर्द्ध-कुम्भी पड़ रही है और छः साल बाद कुम्भ आयेगा। अब हिसाब लगा लो कि केवल टिकट बेचकर ही वह अपने जीवनमें लखपती हो जायगा या नहीं?'

'रिश्वत लेते उसे शरम नहीं आयी? लाखों मुसाफिर अपने घरसे दूर परदेशमें पड़े होते हैं। वहाँ पड़े-पड़े भूख-प्यास-बीमारी सहते रहते हैं। जब वे घरको भागते हैं, तब उनसे रिश्वत लेता होगा वह नर-पिशाच!'

'ऊपरकी आमदनीमें दोष नहीं होता। मान लो कि कोई आदमी रातको बिना बत्तीके साइकिलपर निकला, सिपाहीने पकड़ लिया, वह चालान करनेके बजाय दो रुपये लेकर छोड़ देता है। यदि चालान करता तो पाँच रुपया जुर्माना होता। ऊपरकी आमदनीकी बदौलत ही उसे तीन रुपयेकी बचत हो गयी। उधर सिपाहीका भी भला हो जाता है। उसे तनख्वाह ही क्या मिलती है!'

'परंतु बिना बत्तीवाला साइकिलसवार आगे चलकर किसीसे टकरा भी जा सकता है। किसी लड़केको चोट पहुँचा दी, किसी भले आदमीके कपड़े बिगाड़ दिये तो क्या कोई अच्छा नतीजा निकला ? उसका चालान होना ही मुनासिब था।'

'अभी आपका लड़कपन नहीं गया है--रिश्वत कौन नहीं लेता ? नजराना, डाली-भेंट और चंदा-रिश्वतके ही दूसरे नाम हैं। चापलूसी, सिफारिश भी तो रिश्वत ही है।'

'मैं तो ऊपरकी आमदनीसे नफरत रखता हूँ।'

'तब मैं सम्बन्ध भी नहीं कर सकता।'

'सम्बन्धके लिये आपको मजबूर कौन करता है ? जो रिश्वत लेता हो, ब्लैकमेल करता हो, ऊपरकी आमदनी रखता हो, उसीसे अपनी लड़कीका सम्बन्ध कीजिये। मना कौन करता है ? और मना करनेसे भला, आप मान भी सकते हैं ?'

और सचमुच वे चुपचाप चले गये। जब मास्टर ताराचंद आये, तब कैलाशनाथने उनको यह सारा हाल सुनाया। मास्टरने कहा--

'समाजमें आज विवाह भी अभिशाप बन रहा है !'

पागलकी झोली

[मुर्देकी खोपड़ी बोली-'साधु सावधान']

(लेखक--श्रीमत् सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

पागल एक दिन गङ्गातटपर श्मशानमें बैठा राम-राम कर रहा था। श्मशान जनशून्य था। संध्या हो रही थी। इसी समय आवाज आयी--'साधु सावधान'। पागलने राम-राम करते हुए इधर-उधर देखा, कोई दिखायी नहीं दिया। केवल एक मुर्देकी खोपड़ी पड़ी थी। खोपड़ी अपनी उज्ज्वल दन्तपंक्तिको फैलाती हुई बोली 'साधु सावधान'।

पागल--राम-राम। मुर्देकी खोपड़ी बोल रही है !

खोपड़ी--तुम बोल सकते हो और मैं नहीं बोल सकती ?

पागल--मैं जीता हूँ, तुम तो मर गये हो--सीताराम।

खोपड़ी--तुम जी रहे हो, यह किसने कहा ? तुम भी तो मर गये हो, कालके मुखमें पड़े हो; काल प्रतिक्षण तुम्हारा ग्रास कर रहा है। तुम भी तो मुर्दोंमें ही शामिल हो, बन्धु !

पागल--राम-राम ! 'साधु सावधान' यह तुमने क्यों कहा ?

खोपड़ी--साधु सजकर बगल बजाते हुए बीच रास्तेमें मजा कर रहे हो इसलिये।

पागल--बीच रास्तेमें ?

खोपड़ी--हाँ, बीच रास्तेमें। तुम्हें कहाँ जाना है, जानते हो ?

पागल--राम-राम, बताओ।

खोपड़ी--हिमालयकी भाँति जमा हुआ एक 'मैं'का राज्य है, वहाँ जाना है। जबतक वहाँ नहीं पहुँच जाते, तबतक रास्तेमें ही भटक रहे हो--जानते हो ?

पागल--राम-राम, वहाँ पहुँच गया--इसका कैसे पता लगेगा ?

खोपड़ी--जब दो चीजें कुछ भी नहीं रह जायँगी। गङ्गाजल और नालेका जल, फूलोंका हार और जूतोंकी माला, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान, जीवन और मृत्यु, शत्रु और मित्र--सब एक हो जायँगे। तुम जड-उन्मत्तकी भाँति समता धारण करके विचरोगे। जमे हुए 'एक' के साथ सदाके लिये मिल जाओगे।

पागल--वहाँ पहुँचनेके लिये ही तो राम-राम करता हुआ बगल बजाता फिरता हूँ, बन्धु !

खोपड़ी--पर जो लोग तुमको चारों ओरसे घेरकर ताण्डव मचाते हुए रास्ता रोके खड़े हैं, उन्हें पहचानते हो ?

पागल—राम-राम, तुम किनकी बात कह रहे हो ?

खोपड़ी—उन चेले-चाटियोंकी, जिनमें कोई कहता है—'आप महापुरुष महात्मा हैं, जगत्का परम कल्याण कर रहे हैं;' कोई साक्षात् भगवान् बतलाकर जय बोल रहे हैं; कोई गहने-कपड़े, रेशमी चद्दर देकर पूजा कर रहे हैं; कोई तरह-तरहकी विलास-सामग्री लाकर सामने रख रहे हैं; कोई गन्ध-पुष्प, धूप-दीप दान कर रहे हैं; कोई पैरोंतक लटकती हुई मालासे सजा रहे हैं; कोई चन्दन-चर्चित करनेके लिये व्याकुल हैं; कोई शरीरपर इत्र-फुलैल लगानेके लिये अत्यन्त व्यग्र हैं; कोई पूजाके लिये छायाचित्र उतारना चाहते हैं; कोई मठ-मन्दिर बनवाकर प्रचार करनेको उत्सुक हैं।

शिष्य गुरुसे मन्त्र ग्रहण करता था भगवत्साक्षात्कारके लिये; पर अब उसको त्यागकर कोई 'मेरे गुरु अवतार हैं'—यों ढोल बजाते हुए देश-देशान्तरमें प्रचार करते फिरते हैं, निरीह भोले लोगोंको धोखा देकर स्वयं 'साक्षात् विष्णु-पार्षद' बनकर उनसे पूजा कराते हैं। यह सब तुम्हारा प्रचार नहीं है, नाम बदलकर आत्मप्रचार करना है। 'मेरे गुरु अवतार हैं' यों कहकर साधारण भोले लोगोंको विस्मित, चकित और साधु-सज्जनोंके सामने तुमको उपहासास्पद बनाते हैं। आकाशकी भाँति अखण्ड असीम अनन्त तुम्हारे स्वरूपको वे एक सड़े पुराने ढाँचेमें अटकाकर रखनेके लिये व्याकुल हैं। वे बार-बार तुमको उस टूटे ढाँचेमें भरकर तुमनें ढाँचेका अभिमान जगा देना चाहते हैं। कोई तो विष्णुका पार्षद बनकर गृहस्थोंके मनमें विश्वास पैदा करके निस्संकोच उनका सर्वनाश कर रहे हैं, तो कोई कितने छल-कौशलसे, कितने रूपोंमें केवल तुम्हारे परम स्वरूपको भुलाना चाहते हैं। आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, एकमात्र आत्मा ही है—इस ज्ञानको नष्ट करनेके लिये कोई-कोई तो कमर कसकर खड़े हो गये हैं और ढेर-के-ढेर रुपये बहा रहे हैं। कोई 'हमारे गुरु अवतार हैं' कहकर लोगोंको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं तो कोई 'भगवान्के पार्षद' सजकर अपनी विषयवासना चरितार्थ कर रहे हैं। इस प्रकार तुम्हारे देहात्मबोधको जगानेके लिये निरन्तर जो जी-जानसे लग रहे हैं—जानते हो, वे कौन हैं ?

पागल—तुम्हीं बतलाओ !

खोपड़ी—वे हैं देवताओंके द्वारा भेजे हुए विघ्न—

कुयोगिनो ये विहितान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।२९)

'जो अधूरे योगी देवताओंद्वारा उपस्थित किये हुए स्वजनरूपी विघ्नोंसे मार्गच्युत हो जाते हैं।'

अतः बन्धु-बान्धव, भक्त, चेला-चाटी—जो मार्गमें रोड़े अटकाते हैं और देहात्मबोध जगानेके लिये सतत सचेष्ट रहते हैं, वे देवताओंके द्वारा प्रेरित विघ्न हैं। तुम देवताओंको अतिक्रम करके अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त करो—इसे देवता नहीं चाहते। इसीसे वे भक्त शिष्य सजकर आते हैं और तुम्हें इस पुराने ढाँचेमें अटकाये रखना चाहते हैं। मन्दिरके देवता नहीं, घटाकाश नहीं—तुम असीम अव्यक्त अनिर्वचनीय निरञ्जन निष्कल हो। एकमात्र तुम्हीं हो—इस बातको भुलाकर वे तुम्हें इस टूटे ढाँचेमें भर रखना चाहते हैं। इसीसे मैंने कहा—'साधु, सावधान।'

और ये जो स्त्रियाँ 'बाबा' 'बाबा' पुकारती हुई कितना प्यार, कितनी प्रीति, कितनी भक्ति दिखाती हैं—जानते हो, ये कौन हैं ?

पागल—बतलाओ।

खोपड़ी—ये 'देवमाया' हैं, तुम्हें भुलाना चाहती हैं। स्वयं शुकदेवने कहा है—अजितेन्द्रिय व्यक्ति देवमाया-रूपिणी नारीको देखकर उसपर लुब्ध हो जाता है और पतङ्गके अग्निमें पड़नेकी भाँति अन्धकारमय नरकमें जा गिरता है। साधुओंको स्त्रीसे दूर रहना चाहिये। जो

ऐसा नहीं कर सकता, उसकी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहती। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—आत्मवान् पुरुषको स्त्री और स्त्री-सङ्गी पुरुषोंका सङ्ग दूरसे त्यागकर निरापद निर्जन स्थानमें बैठकर अनलसभावसे मेरा ध्यान करना चाहिये—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

नारीके और नारीसङ्गी पुरुषके सङ्गसे जितना और जैसा दुःख प्राप्त होता है और संसारबन्धन होता है, उतना और वैसा दुःख किसी भी दूसरे संसर्गसे नहीं होता। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान !' इस विद्याको प्राप्त करनेमें कौन समर्थ होते हैं—जानते हो ?

पागल—बतलाओ।

खोपड़ी—जो साँपके समान जनसङ्गसे भय करता है, मिष्टान्नको विषके समान समझता है, स्त्रियोंको राक्षसीके रूपमें देखता है, वही ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर सकता है। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान !'

पागल—'राम,राम,सीताराम—अच्छा,बन्धु ! बताओ—मैं क्या करूँ ?'

खोपड़ी—सबसे ओझल हो जाओ, तुम्हारा चिह्न भी कोई न देखने पाये। तुम जी रहे हो, यह भी किसीको पता न लगे। भागो, भागो।

पागल—राम-राम, हँसा दिया तुमने तो बन्धु ! क्या तुम यह समझते हो कि मनुष्य अपनी इच्छासे कुछ कर सकता है ! जो होना है, सब हो ही रहा है। कोई भी स्वाधीन नहीं है, बन्धु ! मैं जानता हूँ मैं निराश्रय नहीं हूँ। मेरे एक रक्षक—चालक हैं, जो सदा-सर्वदा मेरी रक्षा करते हैं और मुझे चलाते हैं। राम, राम, सीताराम। बन्धु ! जैसे लोगोंका एक दल महापुरुष अवतार कहकर हल्ला मचा रहा है, वैसे ही एक दूसरा दल भी है जो पाखण्डी, बदमाश, धर्मध्वजी और कपटी कहकर आनन्दका उपभोग करता है। यह जानती हो न ?

खोपड़ी—हाँ जानती हूँ।

पागल—मैं दोनों ही दलोंके लोगोंको क्या समझता हूँ, जानती हो ?

खोपड़ी—बतलाओ।

पागल—सबको अपना इष्ट-देवता मानकर मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ। माताओंको जगन्माता जानकर मन-ही-मन प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ। मैं लोकालयमें रहने या सर्वसङ्गका त्याग करके वनमें जानेके लिये स्वाधीन नहीं हूँ। जिन्होंने मुझे लोकालयमें रखा है, उनकी जिस दिन इच्छा होगी, उस दिन वे वनमें ले जायँगे। उन्होंने भक्तश्रेष्ठ उद्धवको यह अन्तिम उपदेश दिया था—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।२९।१९)

'मन, वाणी, शरीरकी सभी वृत्तियोंसे समस्त प्राणियोंमें मेरी ही भावना करे—मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन मानता हूँ।'

इसीसे मन-ही-मन सबको 'सब तुम्हीं हो' कहकर प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ और राम-राम करता हूँ।

जनसङ्गका त्याग करके वनमें जानेके लिये कह रहे हो, बन्धु ? सौभरि मुनि सर्वत्याग करके कठिन तपस्या करते थे; एक दिन जलमें मछलियोंको संसार करते देख लिया कि उनकी भी संसार करनेकी इच्छा हो गयी। राजा भरत धन-जन-राज्य-ऐश्वर्य सब छोड़कर वनमें रहते थे; एक हरिनमें ममता करके हरिन बन गये। वनमें भी कौवे, सियार, लोमड़ी, बिल्ली, मयूर, हरिन आदि हैं। केवल मनुष्यका सङ्ग ही नहीं, बन्धु ! राम,राम, सीताराम ! हरिन, मयूर, वृक्षोंका सङ्ग करके भी मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है राम-राम। जानते हो, बन्धु ? जो अपने पैरोंपर खड़े होना चाहते हैं,

अपनेको बड़ा मानकर चलते हैं, उनको पद-पदपर विपत्तिका सामना करना पड़ता है और जो शरणागत दास होकर, यन्त्र होकर, स्वामीके—यन्त्रीके चलाये चलते हैं, उनकी वे निरन्तर रक्षा करते हैं।

शरणागत दास 'अपनेको महापुरुष, महात्मा या अवतार कभी नहीं मानता; पर लोग तो सदासे कहते ही आये हैं, आगे भी कहेंगे। मैं तो जैसे 'पाखण्डी' 'धर्मध्वजी', 'मान-बड़ाईका भूखा' इत्यादि सुनकर राम-राम करता हूँ, वैसे ही 'महात्मा' 'महापुरुष' 'भगवान्' सुनकर भी राम-राम करता हूँ। जानते हो—मैं तो अपनेको माँकी गोदमें पड़ा नंगा शरणागत शिशु समझता हूँ और उसीपर निर्भर हो रहा हूँ। मैं जानता हूँ—

खेलत बालक ब्याल सँग मेलइ पावक हाथ।
तुलसी सिसु पितु मात सम राखत सिय रघुनाथ॥

जो कुछ भी हो, बन्धु! तुमने मेरी शुभ कामना करके जो इतना सावधान कर दिया, इसके लिये मैं तुम्हारा साधुवाद तथा तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

इतना कहकर पागलने ज्यों ही दण्डवत् प्रणाम करना चाहा त्यों ही देखा कि वहाँ कोई मुर्देकी खोपड़ी नहीं है, उसके गुरुदेव ही खड़े-खड़े हँस रहे हैं। पागलने नयन-जलसे उनके चरणयुगलको धो दिया!

जय राम! सीताराम!!

विष्णु और लक्ष्मीकी एकरूपता

(संत विनोबा)

कुछ लोग कहते हैं, भूदान-आन्दोलन केवल आर्थिक है, आध्यात्मिक नहीं। लोग समझते नहीं कि मन्दिरमें प्रसादके तौरपर मिठाई बाँटे जानेसे ही मन्दिर हलवाई-की दूकान नहीं बन जाता। मिठाई वहाँ धर्मका चिह्न-मात्र है। उसी तरह यह जमीन बाँटना, लेना आदि कोरा बँटवारा नहीं है। यह सब प्रेमसे हो रहा है। जमीनका बँटवारा तो छीनकर या कानूनसे भी हो सकता था। तब इसे आर्थिक आन्दोलनमात्र कहा जा सकता था, लेकिन यहाँ तो सब कुछ प्रेमसे ही होता है।

धर्मके साथ अर्थका होना भी क्या कोई पाप है? विष्णुके साथ लक्ष्मी, शिवके साथ शक्तिका होना क्या पाप है? धर्मके साथ अर्थके आ जानेसे ही वह आर्थिक-मात्र नहीं हो जाता। इस आन्दोलनका स्वाद है—करुणा, जो चखनेमें मीठा है और उसका रूप है अर्थशास्त्र। केवल रूप तो कोई अर्थ नहीं रखता। बगीचेके केलेकी मधुरता गोबरके नकली केलोंमें नहीं आती, यद्यपि उनका रूप केलेका ही रहता है। वैसे ही कानूनसे जमीन बाँटना या छीनना गोबरके केलेके समान ही है, और यहाँ तो प्रेमका भी बँटवारा है।

इस आन्दोलनमें विष्णु और लक्ष्मी, शिव और शक्ति, मिठास और सौन्दर्य साथ-साथ हैं। केवल ऊपरसे नहीं, गहराईमें जाकर देखना होगा।

(प्रेषक—दुर्गाप्रसाद)

त्वमम्बा सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता।
त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्॥

'भगवती लक्ष्मी! तुम सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हो, देवदेव श्रीहरि ही इसके पिता हैं। तुम्हारे और भगवान् विष्णुके द्वारा यह चराचर जगत् व्याप्त है।'

कामके पत्र

(१)

दस पवित्र साधन

सप्रेम हरिस्मरण । तुम्हारा पत्र मिला । तुमने साधनके सम्बन्धमें पूछा सो बड़ी अच्छी बात है । नाम-जपमें तुम्हारा प्रेम है ही । कलियुगमें नामका आश्रय ही सबसे बड़ा साधन है । उसे तुम कर ही रहे हो । जीवनमें उतारनेके योग्य कुछ अति आवश्यक साधन लिख रहा हूँ—

१—प्रतिदिन एक लाख भगवन्नाम-जप ।

२—अधिक-से-अधिक मन्त्र-जप ।

३—भगवान्‌का अपने प्रति अत्यन्त अनुग्रह, सहज सौहार्द, असीम कृपा, परम स्नेह मानकर उनपर बार-बार दृढ़ विश्वास करते तथा बढ़ाते हुए, नित्य अति प्रसन्न रहते हुए, भगवान्‌के प्रति अपनेको—अपने सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, कामना-वासना, ममता-मोहसहित सब प्रकारसे अर्पण कर देना । अपनेको सर्वथा उनका ही बना देना; और इस समर्पणके भाव-को प्रतिदिन प्रातःकाल तथा रात्रिको सोते समय दृढ़ बनाना । बार-बार इसकी आवृत्ति करते हुए इसको अपने जीवनमें उतारना ।

४—घरवालोंके उपकार, उनके ममत्व, उनके सद्व्यवहारको ही याद करना और प्रतिदिन उनके लिये सद्भावना करते हुए भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना कि उनमें सबके प्रति सौहार्द, त्याग, भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेम उत्पन्न हों ।

५—सबमें भगवद्भाव करना ।

६—किसीका कभी अहित न सोचना, न करना, न किसीके दोष देखना ।

७—किसीकी निन्दा-चुगली न करना ।

८—क्रोधकी क्रिया न करना ।

९—नित्य किसी गरीबकी कुछ सेवा निरभिमान-भावसे करना ।

१०—नित्य तुलसी सींचना तथा भगवान्‌के चढ़ाया हुआ तुलसीपत्र खाना ।

इन दसों बातोंको जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करना । भगवत्कृपाके बलपर यह दृढ़ विश्वास करना कि ये बातें मेरे जीवनका सहज स्वभाव बन जायँगी । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

बुराई न देखकर प्रेम करना चाहिये

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा, वह यथार्थ है; पर मैं इसके लिये क्या करूँ ? सत्य कहूँ तो—आप जरा भी अत्युक्ति न मानियेगा—मैं स्वयं इतनी दुर्बलताओंसे, इतने दोषोंसे भरा हूँ कि दूसरोंके दोषोंकी आलोचना करना तो दूरकी बात है, उनकी ओर देखनेका भी अधिकारी नहीं हूँ । जन्मसे अबतक असंख्य अपराध बने हैं, अब भी बन रहे हैं । ऊपरके साज और मन-की यथार्थ स्थितिमें कितना अन्तर है, इसे अन्तर्यामी ही जानते हैं । यह सब जानते हुए भी दोषोंसे मुक्त नहीं हुआ जाता । यह कितना बड़ा अपराध है । इतनेपर भी दयासागर अपनी दयासे, अपनी अनोखी कृपासे, अपने सहज सौहार्दसे कभी वञ्चित तो करते ही नहीं, अपनी कृपासुधाके समुद्रमें सदा डुबाये रखते हैं । इस घृणित नरक-कीटपर कितनी कृपा वे करते हैं, इसकी सीमा ही नहीं है । मैं आपसे क्या बताऊँ ? मेरी तो आपसे भी यही प्रार्थना है कि दूसरे क्या करते हैं, इस बातपर ध्यान मत दीजिये ।

तेरे भाएँ जो करौ भलौ बुरौ संसार ।
नारायन तू बैठि कै अपनौ भवन बुहार ॥

एक महात्मा लिखते हैं—'जितना हम सोचते हैं

कि उस पुरुषमें इतनी बुराई है, उतनी ही बुराई हम उसे देते हैं। जो जितना कमजोर होगा, उतना ही अधिक दूसरोंके विचारोंका उसपर प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार हम जितना दूसरोंको बुरा समझते हैं, उतना ही उनके प्रति बुराईके हम भागी होते हैं। उसी प्रकार जब हम किसी मनुष्यको अच्छा, सच्चा, ईमानदार समझते हैं तो उसके जीवनपर हम अपना बहुत ही अधिक प्रभाव डालते हैं। यदि हम उनसे प्यार करते हैं, जो हमारे सम्पर्कमें आते हैं, तो वे भी हमसे प्यार करने लगते हैं। यदि आप चाहते हैं कि संसार आपसे प्रेम करे तो आप पहले संसारके लोगोंसे प्रेम कीजिये।

'एक प्रकारसे चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम है। प्रेम जीवनकी कुंजी है। प्रेमका प्रभाव इतना अधिक होता है कि उससे संसार हिल उठता है। सबके साथ चौबीसों घंटे प्रेम करनेकी ही भावना कीजिये और देखिये—आपको सब ओरसे प्रेम-ही-प्रेम मिलेगा। यदि आप लोगोंसे घृणा-द्वेष करेंगे तो चारों ओरसे आपको घृणा-द्वेष ही प्राप्त होंगे और आप उनसे संतप्त तथा विक्षिप्त होने लगेंगे। बुराई करनेसे भयंकर विष उत्पन्न होता है। बुराई, घृणा, द्वेष-ईर्ष्या—तीरकी तरह लौटकर हमींको बेधती हैं और ऐसा घाव हृदयमें करती हैं कि जो प्रायः कभी अच्छा नहीं हो सकता।'

अतएव हमें चाहिये कि किसीकी बुराई न देखें, किसीको बुरा न समझें। हममें कितनी बुराइयाँ भरी हैं—यह जानते हुए भी भगवान् उनको कैसे सह रहे हैं! वे कभी हमसे न तो घृणा करते हैं न जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे ही वञ्चित रखते हैं। उन्हींकी भाँति हमें किसीसे घृणा न करके सबके साथ अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। हम जितना ही दूसरोंसे प्रेम करेंगे, उतना ही अधिक प्रेम उसके बदलेमें हमें प्राप्त होगा। शेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवान्‌की शरणमें ही जीवनकी सफलता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है—संसारमें किसी भी वस्तु, स्थिति या प्राणि-पदार्थमें शान्ति नहीं है। पर हम इन्हींसे शान्तिकी आशा रखते हैं; तब बताइये, शान्ति कैसे मिले। संसारके प्राणिपदार्थोंकी ममता, उनकी कामना और उनकी आसक्ति तो निरन्तर काम-क्रोधादिका ही आश्रय दिलायेंगी, जो हमारे लिये दुःखोंकी परम्परा उत्पन्न कर देगा। इन काम-क्रोधादिके परायण होकर, इनके वशमें होकर, इनका आज्ञाकारी गुलाम बनकर मनुष्य क्या-क्या नहीं करता; पर ये कभी उसको सन्मार्गपर आने ही नहीं देते। एक साधकने इनसे घबराकर भगवान् श्रीकृष्णसे शरणकी प्रार्थना करते हुए कहा है—

कामादीनां कति न कतिधा पालितादुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते! साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये॥

'मैं कामादिके कितने बुरे-बुरे आदेश कितनी प्रकारसे पालन करता रहा; पर मेरे प्रति न तो उन कामादिको दया आयी और न अपनेको दया करनेमें असमर्थ जानकर उन्हें लाज ही आयी; वे अपनी चालसे बाज आये ही नहीं। अब हे यदुनाथ! मुझमें बुद्धि आ गयी है और मैं उनको छोड़कर तुम्हारे अभय चरणोंकी शरणमें आ गया हूँ। तुम मुझको अपने दासत्वमें नियुक्त कर लो।'

सभी अन्याश्रयोंको छोड़कर एकमात्र भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे ही सुख-शान्ति मिलेगी और उसीसे जीवन सफल होगा। शेष भगवत्कृपा।

हिंदू-संस्कृतिका मातृवाद

(लेखक—श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री)

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

मातृभावनामें पूर्ण दैवीगुणोंको पाकर हिंदूने मुहुर्मुहुः माताकी महिमा पुराणोंमें गायी है। जिस वस्तुमें हिंदूको अधिकाधिक पूज्यभाव अपेक्षित है, जिसका प्रत्युपकार हिंदू कभी पूरा नहीं कर सकता तथा जिसके चरणोंमें वह अपनी अगाध श्रद्धा अर्पण करना चाहता है, उसे वह 'माता' शब्दसे विभूषित करता है। इस 'माता' शब्दमें हिंदूकी समस्त श्रद्धा, अटल विश्वास, पूरी पूज्यभावना और मानवोचित एवं दैवी—सम्पूर्ण गुण मानो कूट-कूटकर भरे हैं। 'माता ताभ्यो गरीयसी' आदि वाक्योंद्वारा माताको सर्वश्रेष्ठ माना है। माताको वेद और ब्रह्मसे भी बढ़कर माना है—

माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः ।

सम्पूर्ण तीर्थोंका निवास मातामें ही बताया गया है। केवल माताकी ही सेवासे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति कही गयी है। इस अनन्त गुणविभूषित साक्षात् ब्रह्मस्वरूप 'माता' शब्दका हिंदू-संस्कृतिमें किस-किसके लिये और क्यों प्रयोग किया गया है, संक्षेपमें आज इसी विषयपर विचार करना है।

हिंदूकी पहली माता वह है, जो उसे जन्म देती है। अपार कष्ट सहन करके वह बालकको दस मास उदरमें धारण करती है; कहीं गर्भमें विकृति न हो जाय, अतः पथ्य पदार्थ खाती-पीती और बड़ी सावधानीसे रहती है, अपने ही रक्तादिसे गर्भको पुष्ट करती है और अन्तमें प्रसव-पीड़ा जैसी विकराल वेदनाका सामना करके शिशुको जन्म देती है—

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ।
प्रजायते सुतान् माता दुःखेन महता विभो ॥

स्वयं गीलेमें सोकर बालकको सूखेमें सुलाती है, अपनी सारी सद्भावनाएँ बालककी एकमात्र मुसकानपर न्यौछावर कर देती है; भले स्वयं रोगी हो जाय, परंतु सदा बालकके नीरोग रहनेके लिये कामना करती है; उसके समस्त सुख तथा प्राण मानो बालकमें ही केन्द्रित हो जाते हैं।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

'पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, परंतु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती।' वह अपनी छातीका दूध पिला-पिलाकर पुत्रकी पुष्टि करती है। यदि माँ जलपूर्ण पात्र लिये चली आ रही है और बालक रो रहा है तो पानीके पात्र जैसे-तैसे रखकर जबतक वह अपने बालकको छातीसे नहीं लगा लेती, तबतक उसके प्राण शान्ति नहीं पायेंगे—

मातस्तु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥

इस प्रकार बालक जब डेढ़-दो वर्षका हो जाता है, तब माता उसे सर्टिफिकेट दे देती है, 'बेटा ! अब तुझे दूध नहीं पिलाऊँगी।' 'क्यों माँ ! मुझे दूध क्यों नहीं पिलायेगी ? बिना दूधके तो मैं जीवित ही न रह सकूँगा।' 'पुत्र ! अब तेरा छोटा भाई मेरे गर्भमें आ गया है, इसलिये अब तुझे दूध नहीं मिलेगा।' बालक इन बातोंको क्या समझे, उसे तो दूध चाहिये—'माँ'·····'माँ'·····बालक सायंकालतक इसी प्रकार चिल्लाता रहा, परंतु फिर भी जन्मदात्री माँका दूध उसे न मिला और मिलता भी कहाँसे !

इतनेमें संध्याके समय जंगलसे घास चरकर गाय लौटती है। उसने देखा कि बालकका फूल-सा मुखड़ा कुम्हलाया हुआ है। दूधके लिये 'माँ'·····'माँ'·····चिल्ला रहा है। उसका मातृत्व जाग उठा। स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। तुरंत बालकके पास जाकर बोली—'वत्स ! रोओ मत, मैं हूँ तेरी माँ। मेरे दो स्तनोंका दूध तू पीना और दोका मेरे बछड़ेको पिलाना। मेरे बछड़े बैल बनकर खेतमें अनाज पैदा करेंगे और मैं घरमें दूध-दही उत्पन्न करूँगी। मौजसे जीवन बिताना, बेटा ! दूध पीना, यदि दूध-ही-दूधसे कुछ अरुचि हो जाय तो दूधमें किंचित् खटाई डालकर दही जमा लेना। दही खाना। यदि दहीसे भी तृप्ति हो जाये तो मथ करके नवनीत और छाँछ बना लेना, घी खाना—

विना गोरसं को रसो भूपतिषु,
विना गोरसं को रसो भोजनेषु ।

'बिना दूध, दही और घीके भला, भोजनमें कौन आनन्द रखा है। और देख बेटा ! यदि तुझे कभी दुर्भाग्यवश विषधर सर्प काट खाय, तो मेरे ही घृतको पीना आरम्भ कर देना और जबतक वमन न हो जाय तबतक पीते जाना।

जब वमन हो जाय, तब समझना कि सर्पदंशका विष निर्मूल हो गया। गोबर और मूत्र भी मेरा व्यर्थ मत फेंक देना। घर-द्वार लीपना, जिससे रोगोत्पादक कीटाणु नष्ट हो जायँ। और बचे तो खेतमें डाल देना, बेटा! दस दाने बोओगे और दो सौ दाने उत्पन्न होंगे। संसारमें गोबरसे अच्छी कोई खाद नहीं है। मेरे इस पञ्चगव्यकी महिमा अपार है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च।
गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत्॥

'मरनेके उपरान्त भी मुझे ऐसे ही मत फेंक देना। पहले तो मेरे चमड़ेके जूते बनवाकर अपने पैरोंकी काँटे और धूपसे रक्षा करना, फिर मेरे रक्त और हड्डियोंको खेतमें डाल देना। मुझमें एक पदार्थ और भी रहता है, जिसे गोरोचन कहते हैं। बेटा! उसे भी रखना, वह भी अनेक प्रकारके ऐश्वर्यको बढ़ानेवाला है। मैं तेरी माँ और तू मेरा पुत्र।' इस प्रकार हिंदूकी दूसरी माँ है गायमाता।

गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

हिंदू-संस्कृतिमें गायको रुद्र, वसु, आदित्य आदि सभीसे पूज्य माना गया है। वह केवल दूध देनेकी मशीन नहीं वरं साक्षात् भगवती है, दुर्गा है, माता है और कामधेनु है।

'मङ्गलायतनं दिव्याः सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा।'

परंतु खाना-पीना और मौज उड़ाना ही तो जीवन नहीं है? फिर मनुष्यका क्या कर्तव्य है? उसे कैसे जीना चाहिये? उसे व्यवहार कैसे करना चाहिये? उसके जन्मकी सार्थकता क्या है? आदि-आदि जो भी प्रश्न मानवके उत्कृष्ट मस्तिष्कमें उत्पन्न हुए, उन सबका समाधान करती है हिंदूकी तीसरी माँ—गीता माँ।

जीवन जाते देर नहीं लगती। वृद्धावस्था और रोगके कारण शरीर जर्जर हो गया। अब कुछ नहीं सुहाता। अन्न बंद, दूध बंद।

यह मेरी सम्पत्ति, ये मेरे महल, यह मेरी स्त्री और पुत्र इत्यादिके माया-मोहमें फँसे जब पापी प्राण नहीं निकलते, ऐसे प्राण-संकट-कालमें सावधान करती है गीता माँ—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

तू क्यों घबराता है, इस देहके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा कभी नहीं मरता। उसे न शस्त्र काट सकते हैं न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न वायु सुखा सकता है। तेरे कर्मोंके अनुसार फिर तुझे शरीर प्राप्त होगा—**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**

अपनी भूलोंको याद करके अगले जन्ममें शुभ कर्म करनेकी प्रतिज्ञा कर, यह आत्मा (जीवात्मा) इस पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरको प्राप्त होता है। कुछ सान्त्वना बँधी और 'कर्मानुगो गच्छति जीव एकः' के सिद्धान्तानुसार जीव पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको छोड़कर अन्यत्र चला गया।

लाओ अब गङ्गाजल मुखमें डाल दो। क्यों? क्योंकि हिंदूने क्षण-क्षण अनुभव करके संसारके समस्त जलोंका स्वयं परीक्षण करके स्वर्गसे पधारी त्रिपथगा गङ्गामें डंकेकी चोट छाप लगा दी, कि इससे अच्छा जल संसारमें कहीं नहीं है। गङ्गाकी महिमा अनन्त है—

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥

चौथी माँ है—गङ्गा माँ।

अब इस मृत शरीरको कौन रखे। इसे घरमेंसे निकाल दो। यह अस्पृश्य और त्याज्य है। तब पाँचवीं माँ भारत माता कहती है—पुत्र! मेरी ही मिट्टीसे तुम्हारी काया बनी, मुझमें ही खेल-कूदकर तुम बड़े हुए और मैंने ही अपनी छाती फाड़-फाड़कर तुम्हें अन्न एवं जल दिया। आज तुम्हारे इस मृत शरीरको जब कहीं जगह नहीं है, तब आओ, वत्स! मैं तुम्हें अपनी गोदमें सदाके लिये छिपा लेती हूँ।

गङ्गास्नानं गवां सेवा गीताध्ययन मेव च।
सुखाय जननीसेवा मातृभूमेश्च वन्दनम्॥

आजके युगमें हिंदू-संस्कृतिके प्रतीकोंके प्रति अवहेलनाके भाव दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। इन सांस्कृतिक प्रतीकोंको मातृभावका दुग्धसिंचन करके पुनः पल्लवित, पुष्पित और गौरवान्वित करना ही प्रस्तुत लेखका अपना दृष्टिकोण है।

भाव-जागरण

(लेखक—श्रीयोगराजजी थानी)

ग्रीष्म ऋतुके दोपहरके समय जब प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य आकाशमें स्थिर होकर पृथ्वीपर मानो भीषण आग उगल रहा था, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी-तक भी हाँफ रहे थे। वृक्षोंकी छाया भी सिमटकर फिरसे लंबी होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। दूर-दूरतक कोई आता-जाता दिखायी नहीं दे रहा था। वे सरोवर और नदियाँ जो अपने पानीकी अधिकतापर मान किया करती थीं, सूखकर पानीके लिये तरस रही थीं। वे ठंडी तेज हवाके झोंके, जो वृक्षोंतकको हिलानेका अभिमान किया करते थे, एक पलके लिये भी अपनी झलक नहीं दिखा रहे थे। वे मनुष्य-जातिके पुरुष जो अपनेको बलशाली कहते थे और बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंको सह सकनेके लिये सदैव तत्पर रहते थे, बाहर आनेका साहस नहीं कर रहे थे।

इसी देशका एक राजकुमार अपने महलकी खिड़कीसे बाहर गर्मीके वातावरणको देख रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि एक संन्यासीपर पड़ी, जो हाथमें 'ॐ'की पताका लिये, नंगे पाँव और नंगे सिर जलती हुई भूमिपर निश्चिन्ततापूर्वक चला जा रहा था। राजकुमारको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु वह संन्यासी चला ही जा रहा था। भगवान् ही जानें उस संन्यासीमें जीवधारियोंकी भाँति ये वही पाँच तत्त्व थे या नहीं। राजकुमार बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी ओर देखता रहा। संन्यासीके मुखपर तेज था, लालिमा थी। राजकुमारको जिज्ञासा हुई, भावोंमें जागरण हुआ, विचारधारा बदली और जब संन्यासी ठीक महलके नीचेसे होकर गुजरा, तब राजकुमारने श्रद्धापूर्वक पुकारा—'महात्मन्! ठहरियेगा।'

संन्यासी रुक गया। इतनेमें राजकुमार भी जा पहुँचा और आश्चर्यान्वित होकर राजकुमारने पूछा—'महाराज! इस नगरीमें तो पशु-पक्षी भी इस समय अपनी माँदों या घोंसलोंमें पड़े व्याकुल हो रहे हैं, आप पताका हाथमें लिये कहाँ जा रहे हैं? क्यों जा रहे हैं?'

संन्यासीने उत्तर दिया—'कुमार! कदाचित् तुम नहीं जानते कि जब एक प्राणी इस संसारमें आता है, तब जन्मके समय वह खुद तो रोता है, पर उसके जन्मपर उसके आस-पासके लोग हँसते हैं। मनुष्यको अपना जीवन इस प्रकारसे व्यतीत करना चाहिये कि जब वह संसारसे विदा हो, उस समय और सब तो रो रहे हों परंतु वह स्वयं हँस रहा हो। इस तथ्य एवं सत्यको पूर्ण करनेके लिये प्रभु-भक्ति भी एक मार्ग है और इसीलिये मैं यह साधना और तप कर रहा हूँ ताकि मरनेके समय मुझे यह पश्चात्ताप न करना पड़े कि मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया और उस परम पिता परमात्माकी उपासना भी न कर सका।'

राजकुमारने फिर पूछा—'महात्मन्! क्या यह पृथ्वी आपको गरम नहीं लग रही है और आपके पैर नहीं जल रहे हैं? देखिये, सूर्य कितनी भयंकर आग बरसा रहा है?'

संन्यासीने उत्तर दिया—'यह केवल समझने और महसूस करनेकी बात है। जिस प्रकार एक आदमी बाजारमें किसी अन्य व्यक्तिसे गाली सुनकर लड़ मरनेके लिये भी तैयार हो जाता है, पर वही गाली यदि स्नेहसे उसे कोई अपना सम्बन्धी ही देता है तो वह उसकी परवातक नहीं करता। इसी प्रकार इस धरतीसे भी मेरा सम्बन्ध है और इसकी गरमी मुझे किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं देती।'

संन्यासीकी इन बातोंने राजकुमारको अपनी ओर खींच लिया। उसके भाव बदलते गये और वह संन्यासीके विचारों, भावों, आदर्शों, ध्येयों, उद्देश्यों और लक्ष्योंके प्रति आकर्षित होता गया। इतना आकर्षित हो गया कि उसने साधुके साथ जानेका आग्रह किया। संन्यासीने उत्तर दिया—'तुमने राजाके यहाँ जन्म लिया है, आरामसे रहो, नरम गलीचोंपर सोओ। मेरे साथ चलोगे तो तुम्हें इन सब चीजोंका परित्याग करना पड़ेगा; काँटों और पत्थरोंकी सेजको तुम सहन न कर सकोगे। हम जिस पत्थरको गलीचा समझकर उसपर रात-रात गुजार देते हैं, प्रातः उसीके नीचे हमें विषैले साँपोंके दर्शन होते हैं।'

परंतु राजकुमारकी आस्थाको और उसके भक्तिमें लीन होनेके विश्वासको संन्यासी अपने भयपूर्ण शब्दसे डिगा नहीं सके। कुमारका आग्रह और भी तीव्रतर हो गया।

पर संन्यासीको अब भी विश्वास नहीं था राजकुमारपर। संन्यासी यही सोचता था, राजकुमार नवयुवक है, भावुक है। आज तो भक्तिकी भावनासे ओतप्रोत है, न जाने कल यह आजके सुमार्गको कुमार्ग समझ बैठे और आजकी भक्तिभावनाको यह भूल समझ बैठे। इसीलिये राजकुमारके दृढ़ विश्वासकी परीक्षा लेनेके लिये उसने एक प्रश्न किया इस आशा और विश्वासपर कि प्रश्न सुन लेनेके पश्चात् राजकुमार भक्तिकी धुनको छोड़ देगा। संन्यासीने कहा—'कुमार! तुम्हें भगवान्ने इतना धन-धान्य दिया है, नौकर-चाकर दिये हैं, अच्छे कुलमें पैदा किया है, राजकुमार बनाया और कुछ ही वर्षोंमें वह तुम्हें राजा भी बना देगा; अतः तुम यहींपर रहो और राजतिलकके शुभ दिन-

की प्रतीक्षा करो। भगवान्‌के दिये धन-धान्यको, भगवान्‌द्वारा दिये गये ऐश्वर्यको त्यागकर, ठुकराकर यदि तुम वनमें चले जाओगे तो क्या यह उस भगवान्‌का अपमान न होगा, जिसकी तुम उपासना करनेकी इच्छा रखते हो।'

यही प्रश्न था कि इसका उत्तर देना राजकुमारके लिये असम्भव होगा। जिसके लिये संन्यासीकी ऐसी कल्पना थी। पर कल्पना साकार नहीं हुई और राजकुमारने कहा—'महात्मन्! एक व्यापारी व्यापार करता है और उसमें उसे पर्याप्त लाभ होता है; पर यदि वह उस लाभवाली रकमको घर बैठकर ही खा-पी लेता है, आरामके मोह और वासनामें पड़ जाता है और इस आशापर व्यापार छोड़ बैठता है कि जीवनके लिये पर्याप्त धन है तो वह बेसमझ और नादान व्यापारी है। सच्चा और वास्तविक व्यापारी तो वही है, जो अपने व्यापारमें आये हुए लाभके द्वारा फिर व्यापार करता है और करता ही जाता है। मैं भी एक व्यापारी हूँ। मैंने पीछे भी एक व्यापार किया था; भगवान्‌ने उस व्यापारको सही और उचित समझकर मुझे यह वरदान दिया कि मुझे एक असाधारण व्यक्ति बनाया और राजाके यहाँ पैदा किया। भगवान्‌ने मेरे पिछले कर्मोंको शुभ समझा था, अतएव अब मैं क्यों न और अच्छे कर्म करूँ और फिर प्रभुभक्तिका व्यापार करूँ, ताकि भगवान् मुझे समझदार व्यापारी समझकर और भी अधिक लाभ दें, जिससे मेरा अगला जन्म भी सुखी और वास्तविक मनुष्यका-सा जन्म हो जाय।'

संन्यासीके पास इस तर्कका कोई उत्तर न था। वह मूक हो गया और कहने लगा—'ठीक ही तो है, देर तो केवल भावोंके जागनेकी है; यदि एक बार भी भाव जाग गये तो समझ लीजिये जीवन सफल हो गया। मनुष्य दुनियाके किसी भी मोहमें नहीं फँस सकता। दुनियाके सारे लालच यदि एकत्रित हो जायँ, तो भी उसे अपने अटल विश्वाससे विचलित नहीं कर सकते। भाव जागा तो समझिये मनुष्यने अपने उद्देश्य, अपने लक्ष्यको पा लिया।' अब राजकुमारके भावोंका जागरण हो गया था, उसे अब प्रभु-भक्तिकी लगन लग चुकी थी।

प्यारेसे—मनकी बात

हो चाहे तुम सर्वदोषमय, दोषरहित, गुणमय, गुणहीन।
निर्मल मन अति हो चाहे, हो चाहे मन अत्यन्त मलीन॥
प्यार करो, चाहे ठुकराओ, आदर दो, चाहे दुत्कार।
तुम ही मेरे एक प्राणधन, तुम ही मेरे प्राणाधार॥
कोटिगुना कोई हो तुमसे बढ़कर सुखद, रूप-गुण-धाम।
मैं तो नित्य तुम्हारा ही हूँ, नहीं किसीसे कुछ भी काम॥
फूट जायँ वे पापिनि आँखें, बहरे हो जायँ वे कान।
देखें, सुनें, भूलकर भी जो अन्य किसीका रूप, बखान॥
निन्दा करो पेट भर चाहे, मैं नित तुम्हें सराहूँगा।
दारुण दुःख सदा दो तो भी, मैं तुम ही को चाहूँगा॥
बदतर से बदतर हालतमें भी तुमको न उलाहूँगा।
मरकर भी तुमको पाऊँगा, संतत प्रेम निबाहूँगा॥
कभी नहीं उपजेगी मेरे मनमें अन्य किसीकी चाह।
नरकोंकी, दुर्गतिकी कुछ भी मुझे नहीं होगी परवाह॥
एक तुम्हारा ही बस, होगा मुझपर सदा पूर्ण अधिकार।
एक तुम्हीं बस, नित्य रहोगे मेरे सब कुछ, सरबस-सार॥

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क

भक्ति-अङ्क

कृपालु विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील सुलेखक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकाशित करना निश्चय हुआ है। यद्यपि भक्ताङ्क और 'भक्त-चरिताङ्क' पहले निकल चुके हैं, उनमें भक्तोंके चरित्र पर्याप्त आ गये हैं, साथ ही 'कल्याण'में 'भक्ति'-विषयक साहित्य भी बहुत प्रकाशित हो चुका है, तथापि भक्तिके स्वरूपका विविध दृष्टियोंसे विवेचनपूर्वक भक्ति-सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला कोई स्वतन्त्र विशेषाङ्क अबतक नहीं प्रकाशित किया जा सका था। 'कल्याण' के भक्तहृदय पाठक-पाठिकाओंकी बहुत समयसे इसके लिये माँग थी। अतः 'भक्ति-अङ्क' के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रह करनेका कार्य आरम्भ किया जा रहा है। इसलिये 'कल्याण'के प्रेमी विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील आदरणीय सुलेखकों-सुलेखिकाओंसे प्रार्थना है कि वे अपना लेख आगामी एक मासके अंदर ही शीघ्र भेजनेकी कृपा करें।

लेख ऐसा होना चाहिये, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यसे युक्त हो। कागजके एक पीठपर काफी हासिया छोड़कर अच्छी भाषा तथा अच्छे अक्षरोंमें लिखा गया हो। किसी भी सम्प्रदाय या व्यक्तिपर या किसी अन्य सिद्धान्तपर जिसमें तनिक भी आक्षेप न हो, जो बहुत बड़ा न हो और सिद्धान्तका प्रतिपादक होनेके साथ ही रोचक भी हो।

लेख बहुत अधिक संख्यामें आ जानेपर सबके लेखों तथा कविताओंका छपना सम्भव नहीं होता। कई सज्जन उत्साहसे लेख भेज देते हैं; पर वे तथ्यहीन तथा अशुद्धियोंसे भरे होते हैं; ऐसे लेखोंका भी छपना सम्भव नहीं। एक विषयके बहुत-से लेख आ जानेपर सबका छपना सम्भव नहीं, विषयान्तर होनेपर भी छपना सम्भव नहीं और 'कल्याण'के परिमित पृष्ठ होनेके कारण स्थानाभावसे भी सब लेखोंका छपना सम्भव नहीं—इन सब बातोंपर भलीभाँति विचार करके लेखक महानुभाव कृपया तथ्यपूर्ण छोटे लेख भेजें और न छपनेपर हमारी परिस्थितिको समझकर हमें क्षमा करनेकी कृपा करें, यह करबद्ध प्रार्थना है।

लेखोंकी विषयसूची नीचे छपी है, इनमेंसे किसी विषयपर या भक्तिसम्बन्धी अन्य किसी भी विषयपर लेख लिख सकते हैं। लेख हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, अंगरेजी—इनमेंसे किसी भी भाषामें भेजा जा सकता है।

निवेदक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक

'भक्ति-अङ्क' की विषय-सूची

१–वेदोंमें भक्ति
२–दर्शनोंमें भक्ति
३–उपनिषदोंमें भक्ति
४–पुराणोंमें भक्ति
५–रामायणमें भक्ति
६–श्रीमद्भागवतमें भक्तिका विलक्षण रूप
७–महाभारतमें भक्ति
८–रामचरितमानसमें भक्ति
९–श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्ति
(क) द्वादश अध्यायोक्त भक्ति
(ख) चतुर्विध भक्ति
(ग) प्रपत्ति-भक्ति
(घ) सकाम-भक्ति
(ङ) देव-भक्ति
१०–तन्त्रशास्त्रमें भक्ति
११–निर्गुणभक्ति–उदाहरणसहित
१२–प्रेम-भक्ति—उदाहरणसहित
१३–परा-भक्ति—उदाहरणसहित
१४–आत्माराम परमहंसोंका चित्त खींचनेवाली दिव्यभक्ति–उदाहरण-सहित
१५–ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति
१६–ज्ञान-कर्मादिसंस्पर्शशून्य भक्ति
१७–शरणभक्ति—उदाहरणसहित
१८–पुष्टि-भक्ति—उदाहरणसहित
१९–निर्भरा भक्ति—उदाहरणसहित
२०–फलरूपा भक्ति—उदाहरणसहित
२१–रागात्मिका, रागानुगा और वैधी भक्तिके भेद—उदाहरणसहित
२२–नवधा भक्तिके विभिन्न भेद—उदाहरणसहित
२३–भक्तिके विभिन्न भाव और प्रकार-भेद—उदाहरणसहित
२४–भक्ति-तत्त्व—उदाहरणसहित
२५–भक्ति-रस-तत्त्व—उदाहरणसहित
२६–भक्तिके पाँच प्रधान रसों और रतियों-का भेद—उदाहरणसहित (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर)
२७–भक्तिके विभिन्न रस-स्तर-उदाहरण-सहित (स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव)
२८–निष्काम भक्तिके भेद—उदाहरण-सहित
२९–सकाम भक्तिके भेद—उदाहरण-सहित
३०–भक्तिकी सुलभता और सरलता
३१–भक्तिकी दुर्लभता
३२–भक्ति-साधना
३३–भक्तिका माहात्म्य
३४–भक्ति और ज्ञान
३५–भक्ति और वैराग्य
३६–भक्ति और योग
३७–भक्ति और दैवी सम्पत्ति
३८–भक्ति और सेवा
३९–भक्ति और कर्तव्यनिष्ठा
४०–भक्तिमें सर्वधर्मत्याग
४१–भक्ति और निष्काम कर्म
४२–भक्ति और वर्णाश्रमधर्म
४३–भक्ति और राजनीति
४४–भक्ति और समाजसेवा
४५–भक्ति और सदाचार
४६–वैष्णव सदाचार
४७–परतत्त्वका स्वरूप
४८–ब्रह्मतत्त्वका स्वरूप
४९–सम्बन्धतत्त्वका स्वरूप
५०–सम्बन्धतत्त्वमें जीवतत्त्व
५१–सम्बन्धतत्त्वमें अवतारवाद
५२–सम्बन्धतत्त्वमें श्रीकृष्ण
५३–प्रयोजनतत्त्व
५४–अभिधेयतत्त्व
५५–भगवत्तत्त्व
५६–भक्तितत्त्व
५७–शक्तितत्त्व
५८–श्रीराधाभाव
५९–श्रीगोपीभाव
६०–सिद्धसखीदेह
६१–भगवान्के दिव्य सगुण साकार रूपका दिव्यत्व और सच्चिदानन्दत्व
६२–भगवान्का नित्यवर्धनशील दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य–उदाहरणसहित
६३–भगवान्के एक-एक अङ्ग-अवयव-की अनुपम सुन्दरता और मधुरता—उदाहरणसहित
६४–भगवान्के आत्मारामगणाकर्षी दिव्य गुण
६५–प्रेमास्पद भगवान् और प्रेमी भक्त
६६–स्वामी भगवान्, सेवक भक्त
६७–भगवान्की अहैतुकी दया और सर्वभूत-सौहार्द
६८–शरणागतवत्सल भगवान् और शरणागत भक्त
६९–निर्बलके बल भगवान्
७०–दीन और दीनबन्धु
७१–पतित और पतितपावन
७२–प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें मुक्तिकी नगण्यता
७३–भक्त और भुक्ति-मुक्ति
७४–भक्तका सर्वस्व-समर्पण या सर्व-बलिदान
७५–ममता भगवान्में और अहंता भगवान्के दासत्वमें
७६–भक्तोंमें सहज उदारता, सर्वभूत-हितैषिता, अमान, अक्रोध और निष्कामभावना–उदाहरणसहित
७७–भक्तोंकी मृत्युकालीन विलक्षण अभिलाषाएँ—उदाहरणसहित
७८–भक्तोंके विभिन्न स्वरूप—उदाहरण-सहित

७९–भक्तापराध
८०–भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन
८१–सेवा-माहात्म्य
८२–पूजाके विविध उपचार
८३–सेवापराध
८४–भक्तिमें भगवन्नामकी प्रधानता
८५–कलियुगका परम साधन भगवन्नाम
८६–भगवन्नामकी अपार महिमा
८७–नामापराध
८८–साधु और साधुसङ्गकी महत्ता—उदाहरणसहित
८९–सत्सङ्गका स्वरूप और फल—उदाहरणसहित
९०–मोक्षके साथ भी तुलना न किये जा सकनेवाले भगवत्प्रेमियोंके क्षणिक सङ्गकी विलक्षणता
९१–भक्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी परम आवश्यकता
९२–श्रीरामाष्टयामपूजा-पद्धति
९३–श्रीकृष्णाष्टयामपूजा-पद्धति
९४–श्रीसीतारामाष्टयामपूजा-पद्धति
९५–श्रीराधाकृष्णाष्टयामपूजा-पद्धति
९६–श्रीउमामहेश्वराष्टयामपूजा-पद्धति
९७–प्रार्थनाका महत्त्व
९८–प्रार्थनाका स्वरूप
९९–प्रार्थनासे संकटनाश—उदाहरणसहित
१००–प्रार्थनासे मनोभिलाषकी पूर्ति—उदाहरणसहित
१०१–आर्य सनातनधर्ममें भक्ति
१०२–बौद्धधर्ममें भक्ति
१०३–जैनधर्ममें भक्ति
१०४–सिखधर्ममें भक्ति
१०५–पारसीधर्ममें भक्ति
१०६–ईसाईधर्ममें भक्ति
१०७–इस्लामधर्ममें भक्ति
१०८–श्रीशंकराचार्य और भक्ति
१०९–श्रीरामानुजाचार्य और भक्ति
११०–श्रीनिम्बार्काचार्य और भक्ति
१११–श्रीमध्वाचार्य और भक्ति
११२–श्रीरामानन्दाचार्य और भक्ति
११३–श्रीवल्लभाचार्य और भक्ति
११४–श्रीचैतन्यमहाप्रभु और भक्ति
११५–निर्गुणी संत और भक्ति
११६–वृन्दावनके विभिन्न सम्प्रदायोंकी भक्ति
११७–अवधके विभिन्न सम्प्रदायोंकी भक्ति
११८–आळवार भक्तोंके भाव
११९–महाराष्ट्र भक्तोंके भाव
१२०–दाक्षिणात्य भक्तोंके भाव
१२१–बंगीय (गौडीय) भक्तोंके भाव
१२२–उत्तरप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२३–विहारप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२४–मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव
१२५–पञ्चनदीय भक्तोंके भाव
१२६–उत्कल भक्तोंके भाव
१२७–असम भक्तोंके भाव
१२८–राजस्थानीय भक्तोंके भाव
१२९–पर्वतीय भक्तोंके भाव
१३०–सनकादिकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३१–नारदकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३२–वाल्मीकिकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३३–व्यासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३४–शुकदेवकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३५–देवताओंकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३६–असुरोंकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३७–प्रह्लादकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३८–ध्रुवकी भक्ति—उदाहरणसहित
१३९–शबरीकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४०–भरतकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४१–मीराँकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४२–नरसीकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४३–सूरदासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४४–तुलसीदासकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४५–एकनाथकी भक्ति—उदाहरणसहित
१४६–भक्त कवि—उदाहरणसहित
१४७–नामप्रेमी भक्तोंके भाव
१४८–व्रजभक्तोंका महत्त्व
१४९–अवधके भक्तोंका महत्त्व
१५०–काशीके भक्तोंका महत्त्व
१५१–श्रीरामभक्तिके विविध रूप
१५२–श्रीकृष्णभक्तिके विविध रूप
१५३–श्रीविष्णुभक्तिके विविध रूप
१५४–श्रीशिवभक्तिके विविध रूप
१५५–श्रीशक्ति-भक्तिके विविध रूप
१५६–श्रीसूर्य-गणेशादिकी भक्तिके विविध रूप
१५७–महात्मा गांधी और भक्ति
१५८–लोकमान्य तिलक और भक्ति
१५९–रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भक्ति
१६०–श्रीअरविन्द और भक्ति
१६१–श्रीरामकृष्ण परमहंस और भक्ति
१६२–श्रीविवेकानन्द और भक्ति
१६३–भक्ति और चमत्कार
१६४–भक्तिके नामपर ढोंग और दुराचार
१६५–भक्तिके सहायक प्रधान साधन
१६६–भक्तिके बाधक प्रधान अन्तराय, उनका स्वरूप और उनसे बचनेके साधन
१६७–भक्तिके प्रधान क्षेत्र
१६८–देशभक्तिका यथार्थ रूप और उसका ईश्वरभक्तिसे सम्बन्ध
१६९–बंगालके तरुण मरणोन्मादी क्रान्तिकारियोंकी भक्ति
१७०– भक्ति और भूदान-यज्ञ
१७१–भक्तिके प्रधान ग्रन्थ—नारदपाञ्चरात्र, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र आदि

श्रीहरिः

चार नयी पुस्तकें !

प्रकाशित हो गयी !!

श्रीमन्महाभारतम्

(मूलमात्रम्, द्वितीयं खण्डम्)

[विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोणपर्व]

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७६४, चार सुन्दर बहुरंगे चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ६), डाकखर्च २।)

पूरे महाभारतका मूल-पाठ प्रकाशित करनेकी योजनाके अन्तर्गत आदि, सभा और वनपर्वको प्रथम खण्डके रूपमें लगभग ६ मास पूर्व प्रकाशित कर दिया गया था। अब विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोण—इन चारों पर्वोंका मूल-पाठ द्वितीय खण्डके नामसे निकाला गया है। यह भी गीताप्रेससे प्रकाशित बड़े आकारकी मूल भागवतकी तरह ही दो कालममें दिया गया है। जिन्हें लेना हो, वे मँगवानेकी कृपा करें।

मनुष्य-जीवनकी सफलता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३५८, सुन्दर बहुरंगे पाँच चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च ।।।≡)

इसमें मनुष्यमात्रके लिये लाभदायक सब प्रकारकी उन्नति करनेके उपाय बतलाये गये हैं। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार और इन्द्रियोंके संयमकी बातें और उत्तम गुण, उत्तम भाव, सत्पुरुषोंके सङ्ग, महिमा, गुण, प्रभाव आदिका विस्तृत विवेचन किया गया है। स्त्रियोंको घरवालोंके साथ ए भाइयोंको परस्पर किस प्रकार त्यागपूर्वक प्रेम-व्यवहार करना चाहिये, यह भी दिखाया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'कल्याण'के २८ और २९ वें वर्षमें प्रकाशित श्रीगोयन्दकाजीके अधिकांश लेखोंसे ही तैयार की गयी है। आशा है कि पाठकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

(पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक)

लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, एम० पी०

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १०८, मूल्य ।।), डाकखर्च ।।-)

'कल्याण' वर्ष ३० के अङ्क ३ से ६ तक धारावाहिक रूपसे प्रकाशित यह नाटक अब पुस्तकरूपमें पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। इसमें श्रीवल्लभाचार्यजीके जीवनकी प्रायः सभी प्रमुख घटनाओंको स्थान देनेका प्रयत्न किया गया है। नाटकके अधिकांश पद उसी समयके वल्लभीय सम्प्रदायके महाकवियोंद्वारा रचित हैं।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी-रचित

रामाज्ञा-प्रश्न

(सरल भावार्थसहित)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य ।=), डाकखर्च ॥≡)

यह ग्रन्थ सात सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रत्येक सर्गमें सात-सात सप्तक और प्रत्येक सप्तकमें सात-सात दोहे हैं। इसमें श्रीरामचरितमानसकी कथा वर्णित है, परंतु क्रम भिन्न है। प्रथम सर्ग तथा चतुर्थ सर्गमें बालकाण्डकी कथा है। द्वितीयमें अयोध्याकाण्ड तथा कुछ अरण्यकाण्डकी, तृतीय सर्गमें अरण्य और किष्किन्धाकाण्डकी, पञ्चममें सुन्दर तथा लङ्का-काण्डकी और षष्ठ सर्गमें राज्याभिषेककी तथा कुछ अन्य कथाएँ हैं। सप्तम सर्गमें स्फुट दोहे और शकुन देखनेकी विधि है।

मनुष्य-जीवनकी सफलता, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और रामाज्ञा-प्रश्न—इन तीनों पुस्तकोंको एक साथ मँगवानेपर मूल्य १॥।=), डाकखर्च १=), कुल ३) भेजना चाहिये।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेके पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे पुस्तकें प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये। इससे आप भारी डाक-खर्चसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें); मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन; मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡)।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविताएँ ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पृष्ठ ८०८, तिरंगे चित्र २५ तथा इकरंगे २०१; मूल्य ७॥) मात्र।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें); मूल्य ७॥), सजिल्दका ८।॥)।

२९ वें वर्षका संत-वाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे ४२, संतोंके सादे चित्र १४०; मूल्य ७॥), सजिल्द ८।॥)।

चालू वर्षका तीर्थाङ्क—वार्षिक मूल्य ७॥) है।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

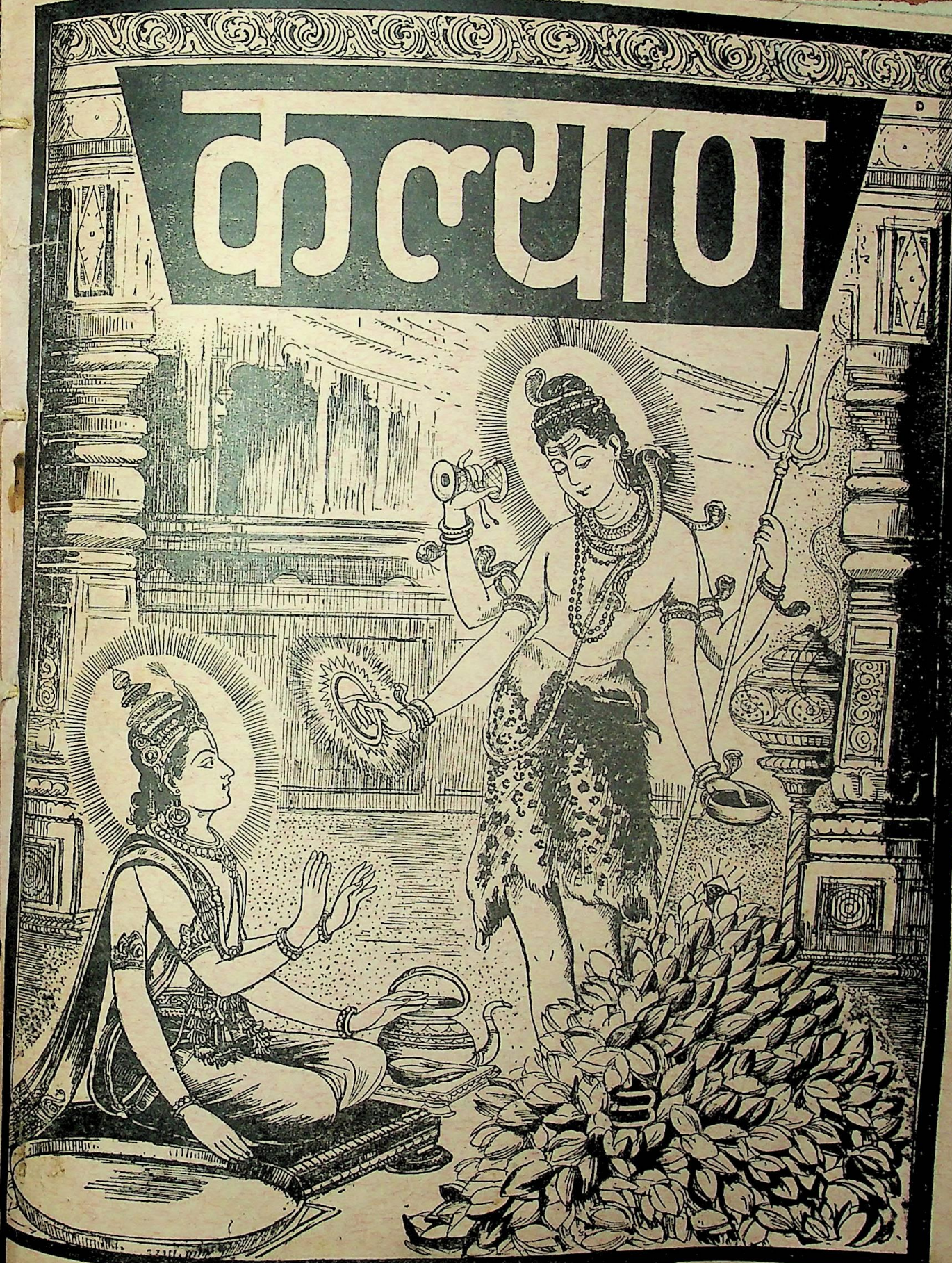

वर्ष ३१ अङ्क ८

गीताप्रेस

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०१४, अगस्त १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—ऋक्षराजद्वारा मणियुक्त कन्या-अर्पण [कविता] (श्रीमद्भागवतके प्राचीन पद्यानुवादसे) ...	१०८९
२—कल्याण ('शिव') ...	१०९०
३—संसार मनोमात्र है (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ...	१०९१
४—सर्वोपयोगी सार-सार बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर) ...	१०९७
५—सत्सङ्ग-सुधा	११०१
६—भगवान्‌की लगन (डा० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ...	११०७
७—घरघाला बाँसुरी [कविता] ('निधिनेह')	११०८
८—सुराज्य (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)	११०९
९—'इक दिन जाना है भाई !' (बाबू श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) ...	१११२
१०—खोपरी परी रही [कविता] ...	१११५
११—पांडू जौहरी (लेखक—श्रीरमणलाल सोनी; अनुवादक—श्रीजयशंकर पंड्या)	१११६
१२—शरीर ही मनुष्यका गृह है [कहानी] (श्री'चक्र')	११२४
१३—चेतावनी [कविता] ('किसोर') ...	११२६
१४—परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ...	११२७
१५—राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)	११३५
१६—कृष्णदीवानी ताज [कहानी] (श्रीसुनीता अग्रवाल) ...	११४२
१७—अपरिग्रह (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ) ...	११४६
१८—आशा [कविता] ...	११४९
१९—एक योगीकी इच्छामृत्यु [सत्य घटना] (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ...	११५०
२०—भेंट [गद्यगीत] (श्रीदिनेशनन्दिनी डालमिया)	११५२

चित्र-सूची

तिरंगा

१—ऋक्षराजका कन्यादान	१०८९

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

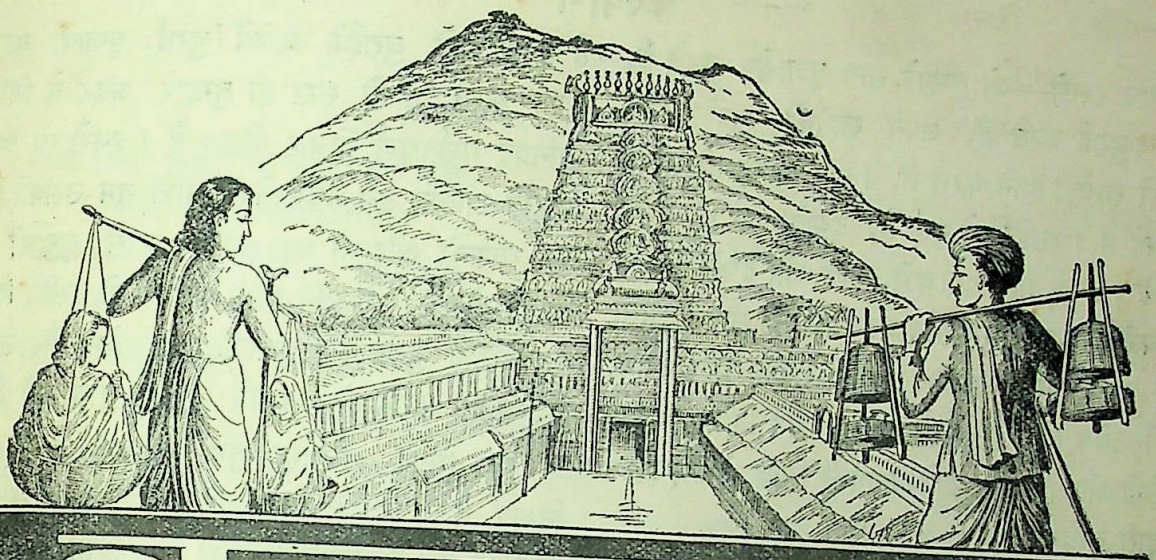

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१४, अगस्त १९५७ { संख्या ८ पूर्ण संख्या ३६९

ऋक्षराजद्वारा मणियुक्त कन्या-अर्पण

जानेउँ मैं तुम त्रिभुवन ईसा । पुरुष पुरान बिष्नु जगदीसा ॥
संभव पालि करहु संघारा । एक अनेक सकल आधारा ॥

× × × ×

एहि बिधि रिच्छराज जब जाना । हरि बोले तब करि सनमाना ॥
निज कर कंज प्रथम तेहि गाता । परस्यो दीन बंधु जन त्राता ॥
परम कृपाल भक्त भय भंजन । मंद हास जुत कह जदुनंदन ॥
अहो रिच्छपति मैं इत आयो । कारन तासु न तोहि सुनायो ॥
एहि मनि कारन मो कहँ लोगू । मिथ्या दोष लगावइ रोगू ॥
सो वह रोग मिटै मनि पाए । देउँ तिन्हहि जिन्ह दोष लगाए ॥
बचन सुनत हरषा रिच्छेसा । हरषित चित सिर धरेउ निदेसा ॥
निज कन्या प्रभु लायक जानी । मनि जुत निज कर अरपेउ आनी ॥

[श्रीमद्भागवतके प्राचीन पद्यानुवादसे]

कल्याण

याद रक्खो—जो तुम्हारे साथ घृणा-द्वेष करते हैं, अन्याय-बुराई करते हैं, अपने स्वार्थकी रक्षाके लिये तुम्हारे स्वार्थकी हानि करते हैं, वे स्वयं अपना ही अनिष्ट कर रहे हैं। इसलिये वे मूर्ख हैं, दयाके पात्र हैं, प्रेमके पात्र हैं। उनके प्रति दया करो, घृणा और द्वेषके बदलेमें प्रेम करो, अन्याय और बुराईके बदलेमें उनके साथ उदारता और भलाई बरतो, उनके स्वार्थकी रक्षाके लिये अपना स्वार्थ छोड़ दो। तुम्हें सब ओरसे प्रेम मिलेगा, भलाई मिलेगी और तुम्हारे सच्चे स्वार्थकी सिद्धि होगी। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—सारा ब्रह्माण्ड एक ही ईश्वरका विराट् शरीर है, तुम उसके एक अङ्ग हो। तुम्हारा न अलग स्वार्थ है, न अलग लाभ है। सबका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ है, सबको होनेवाला लाभ ही तुम्हारा लाभ है। अतएव कभी भूलकर भी ऐसा काम न करो, जिसमें सबका लाभ न हो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—बाहरका कोई मनुष्य तुम्हारा शत्रु नहीं है, तुम्हारा बुरे विचारोंसे भरा मन ही तुम्हारा शत्रु है। इसलिये जब तुम्हें यह दिखायी दे कि अमुक मनुष्य बिना ही कारण तुमसे घृणा, द्वेष और शत्रुता कर रहा है, उसका स्वभाव ही बुरा है, जो तुम्हारे साथ सहज ही बुराई करता है, तब अपने अंदरकी ओर गहराईसे देखो और जाँच करो—कहीं तुम्हारे मनमें उसके प्रति या उसी-जैसे किसी दूसरेके प्रति घृणा, द्वेष या शत्रुताके छिपे भाव तो नहीं हैं? तुम्हारे द्वारा किसी भी प्रकारसे उसकी अनिष्टचिन्ता तो नहीं हो रही है? उसके पतन तथा दुःखमें तुम्हारे मनमें सूक्ष्म भी सुखका अनुभव तो नहीं हो रहा है? यदि ऐसी कोई बात हो तो उसे तुरंत निकालकर उसके प्रति प्रेम करो, उसका हित-चिन्तन और हित-साधन करो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—यदि वस्तुतः कोई अपने बुरे स्वभावके वश होकर ही तुम्हारी बुराई करता है तो उसका भी प्रतीकार बदलेमें उसकी बुराई करनेमें नहीं है। तुम यदि बुराईके बदलेमें बुराई, घृणाके बदलेमें घृणा करते हो तो स्पष्ट ही तुम्हारे अंदर ये निश्चित हानिप्रद मूर्खतापूर्ण विचार मौजूद हैं। इनसे तो अग्निमें आहुति डालकर उसे भड़कानेकी भाँति तुम उसकी बुराई तथा घृणाको और भी बढ़ा दोगे। इससे तुम्हारी और उसकी दोनोंकी ही हानि होगी। लाभ तो इसीमें है कि तुम उसकी बुराई तथा घृणाका बदला प्रेम और उसका हित-साधन करके दो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—जितना तुम यह सोचते हो और निश्चय करते हो कि अमुक मनुष्यमें इतनी बुराई है, इतने अवगुण हैं, उतनी ही बुराई तथा उतने ही अवगुण तुम उसको दे देते हो। उसमें बुराई नहीं है तो आ जाती है और किसी अंशमें है तो बढ़ जाती है। अतएव तुम उस बुराईके निश्चित भागी होते हो। इसी प्रकार तुम यदि किसीमें गुण देखते हो तो उसे गुण देते हो; अतएव सबमें गुण देखकर सबसे प्यार करो, इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—प्रेमसे प्रेम उत्पन्न होता है, सेवासे सेवा-भावना बढ़ती है, घृणासे घृणा बढ़ती है और अहितसे अहित-भावना बढ़ती है। तुम जो दोगे, वही तुम्हारे पास अनन्तगुना होकर लौट आयेगा। तुम सबसे प्रेम करो—तुम्हें सब ओरसे प्रेम-ही-प्रेम मिलेगा। तुम्हारे हृदयमें, तुम्हारे आस-पास, तुम्हारे वातावरणमें प्रेम-सुधाकी आनन्दमयी नदी बहने लगेगी, जो तुम्हें तथा तुम्हारे साथ ही सबको सुखी बनानेमें समर्थ होगी। अतएव सदा सबसे प्रेम करो। घृणा, द्वेषका सामना विशेष प्रेमसे करो—इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—जो मनुष्य जितना ही अधिक और स्वार्थरहित प्रेम करता है, उतना ही अधिक भगवान् उसके समीप आते हैं; क्योंकि भगवान् प्रेमस्वरूप ही हैं और जितनी ही भगवान्‌की अधिक समीपता होगी, उतने ही सबमें भगवान्‌के दर्शन सहज सुलभ हो जायँगे। फिर तो तुम्हें सर्वत्र सबमें भगवान् और भगवान्‌के दिव्य गुण ही दिखायी देंगे; अतः यही करो—इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

'शिव'

संसार मनोमात्र है

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

सती मदालसा अपने पुत्रको पलनेपर झुलाते समय गाती है कि 'हे पुत्र ! तुम स्वरूपसे शुद्ध हो, बुद्ध हो तथा नित्य मुक्त हो, इस मायामय संसारके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं । यह संसार जो दीखता है, स्वप्नके समान मनोमात्र है; इसलिये मोहरूपी निद्रासे जाग जाओ ।'

'संसार तो भाई ! मनोमात्र है'—यह बात सुनते ही एक सज्जन बोल उठे—'यह क्या कह रहे हो ? देखती आँखोंपर पट्टी क्यों बाँधते हो ? संसार तो प्रत्यक्ष है; जैसे हाथमें रखे आँवलेको देखनेके लिये दर्पणकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्यक्ष वस्तुको सिद्ध करनेमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती । संसार तो प्रत्यक्ष है और उसमें शहर, गाँव, नदी, पर्वत, जंगल, बाग-बगीचे, महल, झोंपड़ी—सब प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं । कहीं तो ब्याहके गीत गाये जाते हैं तो कहीं मृत्युका रोना-पीटना सुनायी देता है । कहीं पुत्र-जन्मके उपलक्ष्यमें मिठाई बँटती है तो कहीं किसीके इकलौते बेटेके मरनेपर हाहाकार सुनायी देता है । कोई भूखसे व्याकुल होकर एक टुकड़े रोटीके लिये तरस रहा है तो कहीं अन्नके ढेर-के-ढेर पड़े हैं । ऐसे अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे दृश्य प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं; तो भी आप कहते हैं कि यह सब मनोमात्र है । यह जीती मक्खी कैसे निगली जाय ?'

इसका उत्तर इतना ही है कि 'भाई ! जरा धीरज रखो । आँखसे दीखनेवाली सभी वस्तुएँ सच्ची नहीं होतीं; तथा जिस रूपमें वे दीखती हैं, उस रूपमें भी नहीं होतीं । इसलिये यह कहना नहीं बनता कि जितनी आँखसे दीखती हैं उतनी ही वस्तुएँ हैं और जो नहीं दीखता, वह नहीं है । यह बात जल्दी मानी नहीं जा सकती । फिर इस बुद्धिवाद और तर्कके युगमें तो कोई मानेगा ही कैसे ? अतएव इस बातको समझनेके लिये कुछ दृष्टान्तोंकी आवश्यकता है, जिनसे बात आसानीसे समझमें आ जाय और फिर हृदयमें भी उतर आये ।

देखिये, यह एक हीरा है । इस हीरेको एक जौहरी और एक उपाधिधारी सज्जन देखते हैं । हीरेको हाथमें लेकर और देखकर उपाधिधारी महाशय कहते हैं कि 'ओहो ! हीरा तो बहुत अच्छा है । इसकी चमक देखनेसे तो जान पड़ता है कि यह बहुत ही मूल्यवान् है ।' उधर जौहरी हीरेको हाथमें लेकर झट अपनी जेबसे यन्त्र निकालता है और उसकी सहायतासे हीरेकी ठीक-ठीक जाँच करता है । देख लेनेके बाद कहता है कि 'इस हीरेकी चमक तो बहुत अच्छी है; पर इसमें अमुक ऐसी बड़ी कमी है कि इसकी कीमत एक कौड़ीकी भी नहीं है । मेरी रायसे इस हीरेको घरमें रखना भी नहीं चाहिये । नहीं तो अनिष्ट होगा ।'

अब इसमें किस प्रत्यक्ष ज्ञानको सत्य मानें ? इसका विचार आप स्वयं कर लें । इसलिये जो आँखोंसे दीखता है, वह सदा यथार्थरूपमें ही नहीं दीखता ।

दूसरा उदाहरण लीजिये । एक काँचका प्याला पड़ा है । उसमें पानी भरा है । निरी आँखोंसे देखनेपर वह पानी स्वच्छ दीखता है, परंतु सूक्ष्मदर्शक यन्त्रकी सहायतासे देखेंगे तो उसमें असंख्य जीव दीख पड़ेंगे । फिर भला, प्रत्यक्षकी क्या महिमा रह गयी ?

तीसरा दृष्टान्त लीजिये । सामान्य मनुष्यको सूर्य

थाली-जितना गोल दीखता है और ऐसा लगता है कि वह पृथ्वीके आसपास घूम रहा है; क्योंकि वह प्रतिदिन सबेरे उगता और शामको अस्त होता प्रत्यक्ष दीखता है। परंतु जिसको खगोल-विद्याका ज्ञान है, उसकी दृष्टिमें तो सूर्य पृथ्वीकी अपेक्षा कई लाख गुना बड़ा है और पृथ्वी उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करती हुई अपनी धुरीके ऊपर भी लट्टूके समान घूमती रहती है। इसी कारण ऋतु तथा दिन-रात यथासमय हुआ करते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञानका क्या मूल्य है ?

इन सब दृष्टान्तोंसे यह प्रत्यक्ष समझ आ जायगा कि ज्ञान दो प्रकारसे होता है—(१) केवल निरी आँखोंसे देखकर और (२) किसी यन्त्रकी सहायतासे, अथवा शिक्षित सूक्ष्म बुद्धिकी सहायतासे देखकर। इनमें पहले प्रकारका ज्ञान तो सर्वसाधारणको एक-सा ही होता है; क्योंकि इसमें आँखसे जितना दीख सकता है, उतना ही दीखता है। यह ज्ञान बहुधा अज्ञान ही होता है। दूसरे प्रकारका ज्ञान बहुत अंशोंमें यथार्थ होता है। 'बहुत अंशोंमें' लिखनेका कारण यह है कि हमारे बनाये हुए यन्त्र परिमित शक्तिवाले होते हैं तथा हमारी आँखोंमें देखनेकी शक्ति भी सीमित होती है। इसलिये आज जो दीखता है, वही त्रिकालाबाधित सत्यस्वरूपमें है—यह कहा नहीं जा सकता; क्योंकि भविष्यमें दूसरे यन्त्रोंका आविष्कार हो सकता है और उसके द्वारा जैसे भूतकालमें हो चुका है, वैसे ही आज जिसको हम सत्य कहते हैं, वह असत्य भी निकल सकता है।*

पहले प्रकारके ज्ञानको सामान्य ज्ञान और दूसरे प्रकारके ज्ञानको विशिष्ट ज्ञान कह सकते हैं। हीरेके दृष्टान्तमें यन्त्रकी सहायतासे विशेष ज्ञान हुआ, यद्यपि उसमें भी बुद्धिकी कुशलताकी अपेक्षा तो थी ही और सूर्यके दृष्टान्तमें उस विषयके अध्ययनके द्वारा प्राप्त सूक्ष्म बुद्धिको लेकर विशेष ज्ञान होता है।

ये दो प्रकारके ज्ञान आपके सामने आये। अब एक तीसरे प्रकारके ज्ञानको भी समझ लीजिये। वह है भ्रमज्ञान। कभी-कभी भ्रमसे भी कार्यसिद्धि होती दीखती है। इस कारण भ्रमको भ्रमज्ञान नाम दिया जाता है। बल्कि तत्त्वज्ञानकी बातोंको समझनेमें तो भ्रमज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध होता है और इस कारण 'संवादी भ्रम' को एक प्रमाण माना जाता है।*

सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो सामान्य ज्ञान अधिकांशमें भ्रम नहीं तो और क्या है ? जिस जलमें असंख्य कीटाणु भरे हों, उसको स्वच्छ जल कहना और पृथ्वीकी अपेक्षा लाखों गुना बड़े सूर्यको थाली-जैसा कहना भ्रम नहीं तो और क्या है ?

दो आदमी शामके अँधेरेमें चले जा रहे हैं। रास्तेमें कुछ काली-काली वस्तु पड़ी देखकर दोनों आदमी चौंककर खड़े हो गये। एक आदमी उसे सर्प समझकर पीछे लौटनेके लिये तैयार हो जाता है। तब दूसरा आदमी कहता है—'इसमें इतनी डरनेकी बात क्या है ? साँप कभी एकदम यों ही नहीं काट लेता।' वह आदमी अपनी जेबसे दियासलाई निकालकर एक बत्ती सुलगाकर थोड़ा समीप जाकर देखता है तो जान पड़ता है कि वह साँप नहीं है। इतनेमें दियासलाई बुझ जाती है।

* पिछले दिनों पश्चिमी वैज्ञानिकोंमें सूर्य सचमुच स्थिर है या नहीं, इस विषयमें मतभेद हो गया है। उनके शोधका परिणाम क्या होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। हमारे शास्त्रोंमें तो दोनों पक्ष हैं। एक पक्ष सूर्यको स्थिर मानता है और दूसरा पक्ष पृथ्वीको स्थिर मानता है। फिर भी ग्रह-गणितमें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि ग्रहणादि योगका समय दोनोंमें एक ही आता है।

* पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य मुनि कहते हैं—

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनादि तथा मुक्तिफलप्रदम्॥

जैसे संवादी भ्रम स्वयं भ्रम होनेपर भी फल देनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना भी मुक्तिफल प्रदान करनेमें समर्थ होती है।

फिर निश्चय करनेके लिये कुछ और पास जाकर वह दूसरी दियासलाई जलाता है तो देखता है कि एक चिथड़ेकी लीरी पड़ी हुई है और हवासे हिलनेके कारण अँधेरेमें साँप-जैसी लगती है। तीसरी दियासलाईकी बत्ती जलाकर वह चिथड़ेमें लगा देता है। चिथड़ेके जलते ही प्रकाश हो उठता है और सर्प कहीं खोजनेपर भी नहीं मिलता। जो चिथड़ा साँपके रूपमें दीखता था, वह जल गया; तब फिर साँपकी भ्रान्ति कैसे हो? भ्रान्ति होनेके लिये कोई आधार तो चाहिये ही। शास्त्रमें इसीको 'अधिष्ठान' कहते हैं। शास्त्रीय भाषामें कहें तो कह सकते हैं कि साँपकी भ्रान्ति होनेमें चिथड़ेकी लीरी अधिष्ठान है।

इसी प्रकार बहुधा चमकती सीपमें चाँदीकी भ्रान्ति हो जाती है और इस भ्रमज्ञानका दृष्टान्त तत्त्वज्ञानमें बहुत दिया जाता है।

यह भ्रमज्ञान दो प्रकारका होता है—(१) निरुपाधिक और (२) सोपाधिक। चिथड़ेकी लीरीमें होनेवाली साँपकी भ्रान्ति निरुपाधिक भ्रमका दृष्टान्त है; क्योंकि यहाँ यह निश्चय हो जानेपर ही कि चिथड़ेकी लीरी है, साँपकी भ्रान्ति दूर होती है। परंतु सोपाधिक भ्रममें ऐसा नहीं होता।

एक स्फटिक मणि पड़ी है। उसके पास ही एक लाल पुष्प पड़ा है। दूरसे देखनेपर स्फटिक लाल रंगका दीख पड़ता है; पास जाकर देखिये तो वह बिल्कुल सफेद है। इसलिये बुद्धिसे यह निश्चय हो सकता है कि स्फटिकमें किसी भी प्रकारका रंग नहीं होता; तथापि जबतक लाल पुष्प हटाया न जायगा; तबतक वह लाल रंगका ही दीखेगा। लाल पुष्पको दूर करके हरी पत्ती रख दें तो स्फटिक हरे रंगका दीखेगा। पीला फूल रख दें तो पीले रंगका दिखलायी देगा। इसी प्रकार बुद्धिसे निश्चय किया जा सकता है कि स्फटिकमें किसी प्रकारका रंग नहीं है। परंतु जबतक रंगीन वस्तुकी उपाधि उसके पास पड़ी है, तबतक स्फटिक उस वस्तुके रंगका दीखेगा ही। उपाधिको दूर करते ही वह अपने शुद्ध स्वरूपमें दीखने लगेगा। इसलिये इस भ्रमको सोपाधिक भ्रम कहते हैं।

ये तो हुए शास्त्रमें दिये जानेवाले दृष्टान्त। परंतु व्यावहारिक दृष्टान्तसे भी यह बात समझी जा सकती है। एक आदमी काले काँचका चश्मा पहने है। उसके सामने थालीमें भात, चनेकी दाल, मूँग, उड़द और छोटी-छोटी गेहूँकी चपातियाँ रखो। उसको यह सारा अन्न काले रंगका दीख पड़ेगा, यद्यपि बुद्धिसे वह इस बातको जानता है कि चावल सफेद होता है, चनेकी दाल पीली होती है, मूँग हरा होता है, उड़द काला होता है और गेहूँ लालिमा लिये हुए होता है। जबतक चश्मेकी उपाधि दूर नहीं की जायगी, तबतक तो सब काला ही दीखेगा। यह हुआ सोपाधिक भ्रमका व्यावहारिक दृष्टान्त।

यहाँतक आकर हमने यह निश्चय कर लिया कि आँखसे जो प्रत्यक्ष दीखता है, वह सत्य ही हो—ऐसी बात नहीं; तथा वह अपने यथार्थ रूपमें दीख पड़ता हो—ऐसी बात भी नहीं है। दियासलाई जलानेके पहले साँप प्रत्यक्ष ही था और सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे देखनेके पूर्व प्यालेका पानी भी स्वच्छ जान पड़ता था।

वेदान्तदर्शन तो कहता है कि आँखसे जो दीखता है, नाकसे जो सूँघा जाता है, जीभसे जो चखा जाता है तथा त्वचासे स्पर्श किया जाता है, वह सभी मिथ्या है। 'मिथ्या ही है'—इसका अर्थ यह है कि वह सब परिवर्तनशील है तथा क्षणमें नाश होनेवाला है, इसलिये वह एक स्वरूपमें स्थिर नहीं रह सकता। जो आज क्षुद्र कीटके रूपमें दीखता है, वह कालान्तरमें स्वर्गमें जाकर इन्द्रके आसनपर बैठ सकता है। इस प्रकारके क्षण-क्षणमें बदलनेवाले संसारमें ज्ञानीकी आस्था कैसे रह सकती है? जो आज सुकोमल बालक है, वह कुछ ही समय बाद तगड़ा जवान दीख पड़ता है और

देखते ही-देखते हाथमें लाठी लेकर उसके टेकेपर बड़ी कठिनतासे डगमगाता हुआ चलता है, फिर मरकर मिट्टीमें मिल जाता है। यह स्थिति प्राणिमात्रकी जहाँ नित्य ही देखनेमें आती है, उस संसारमें भला, कौन समझदार आदमी विश्वास करेगा ? आज पौधेमें जो नाजुक कली होती है, वह दूसरे दिन खिलकर सुन्दर पुष्प बन जाती है और तीसरे ही दिन सूखकर झड़ जाती है, ऐसे क्षणभङ्गुर संसारके प्रति क्या बुद्धिमान् पुरुषकी सत्यबुद्धि हो सकती है ? जो आज लक्ष्मीवान् है और संसारमें सर्वत्र जिसका जय-जयकार बोला जाता है, वह एक दिन ऐसा आता है कि गली-गली भीख माँगता दीख पड़ता है; फिर भला, ऐसे संसारको कौन सच्चा कहेगा ? जो आदमी आज प्रखर बुद्धिवाला समझा जाता है, जिसकी विद्वान्के रूपमें सारे जगत्में प्रसिद्धि है, ऐसे मनुष्यके मस्तिष्कका एक-आध ज्ञानतन्तु बिगड़ जानेपर उसको जगत्में पागलकी तरह इधर-उधर भटकते देखनेवाला कोई आदमी इस संसारको कैसे स्थिर कह सकता है। जो प्राणी आज कबूतरके रूपमें दीख पड़ता है, कल वही सर्प या सिंह हो जाता है और परसों वही देव या दानवरूपमें दीखता है ऐसे क्षणभङ्गुर संसारको कौन मिथ्या नहीं कहेगा ?

बुद्धिको स्थिर करके, वृत्तिको तटस्थ रखकर कोई भी विचारशील पुरुष इस प्रकार संसारका अवलोकन थोड़ी देर भी करता रहे तो उसको यह विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता कि जो संसाररूपमें दीख पड़ता है, वह भ्रान्ति ही है और वेदान्तदर्शन जो संसारको मिथ्या कहता है, वह यथार्थ ही है—एकान्तमें बैठकर स्थिर चित्तसे यह विचार करते रहना चाहिये।

यह बात झटपट समझमें आनेवाली नहीं है। इसको समझनेके लिये एक प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। जैसे किसी वैज्ञानिक प्रयोगके लिये साधन तथा प्रयोगके रहस्यकी जानकारी आवश्यक होती है, उसी प्रकार वेदान्तदर्शनके सिद्धान्तको समझनेके लिये भी योग्यता प्राप्त होनी चाहिये। वह योग्यता है साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर अन्तःकरणके दोषोंको निवृत्त करना। इसके बिना सिद्धान्तका रहस्य समझमें नहीं आता।

इतनी योग्यता प्राप्त करनेके पहले, अभी तो हमें 'संसार मनोमात्र है' इस बातको तर्कसे देखना है। इस बुद्धिवादके तर्कप्रधान युगमें जो बात तर्कसे समझायी जाती है, वह झट समझमें आ जाती है।

हम जब जागते होते हैं, तब हमारा मन आँखसे जगत्के प्राणिपदार्थोंको देखता है, कानसे सुनता है, नाकसे सूँघता है आदि। इसका अर्थ इतना ही है कि मन जब बहिर्मुख होता है, तब संसार बाहर दीखता है, जिसको हम 'जाग्रत् प्रपञ्च' कहते हैं। जब हम सो जाते हैं, तब मन स्थूलशरीरके साथका सम्बन्ध छोड़कर अन्तर्मुख होता है। उस समय किसी भी इन्द्रियके साथ मनका सम्बन्ध नहीं रहता। निद्राकालमें 'हिता' नामक एक अत्यन्त सूक्ष्म नाडीमें जाग्रत्के संसारके समान ही स्वप्न-संसारकी रचना मन करता है, जिसको हम 'स्वप्न-प्रपञ्च' कहते हैं। इस 'हिता' नाडीकी सूक्ष्मता जानने योग्य है। वह सिरके बालके सौवें भाग-जैसी सूक्ष्म है, फिर भी उसमें मन जाग्रत्-प्रपञ्चके समान ही स्वप्न-जगत्की सृष्टि करता है। ऐसी सूक्ष्म नाडीमें इतना बड़ा संसार कैसे समा सकता है, यह भी विचारणीय है। अब यही मन जब अपने उपादान अज्ञानमें लयको प्राप्त होता है, तब उस स्थितिको हम सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्थामें संसारका कारण मन लयको प्राप्त हो जाता है, फलतः संसारकी रचना करनेवाला अन्य कोई नहीं रह जाता; अतएव संसारकी प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मनकी इन तीनों अवस्थाओंमें साक्षी-रूपसे उपस्थित ही रहता है। यदि आत्मा विद्यमान न हो तो जाग्रत् अवस्थामें जाग्रत्-प्रपञ्चका अनुभव कौन करे,

स्वप्नावस्थामें स्वप्न-प्रपञ्चका अनुभव कौन करे तथा फिर सुषुप्ति अवस्थामें संसार कहीं है ही नहीं—यह अनुभव किसको हो ? इसलिये मनकी इन तीनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला आत्मा तो सर्वत्र ही अनुस्यूत रहता है। जाग्रत्-स्वप्नमें क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च दीखता है और सुषुप्तिमें प्रपञ्च नहीं दीखता—इसका कारण यही है कि संसार मनोमात्र है। यह बात अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे सिद्ध की जा सकती है। अन्वय—अर्थात् जहाँ मन है, वहाँ संसार भासता है—जैसे जाग्रत्-स्वप्नावस्थामें मन रहता है, इसलिये वहाँ संसार दिखलायी देता है। और व्यतिरेक अर्थात् जहाँ मन नहीं, वहाँ संसार भी नहीं दीखता। सुषुप्ति-अवस्थामें मन लयको प्राप्त होता है अर्थात् हाजिर नहीं रहता, इसलिये वहाँ संसार भी नहीं दिखलायी देता।

यहाँतक हमने यह सिद्ध किया कि संसार मनका धर्म है, आत्माका नहीं। आत्मा तो केवल द्रष्टारूपमें मनकी संसार-रचना और लयको समान भावसे देखता है। मन जब संसारकी रचना करता है, तब आत्माको कोई आनन्द नहीं होता तथा जब उसका लय करता है, तब उसको कोई खेद नहीं होता। सभी अवस्थाओंमें आत्मा निर्विकार और शान्त रहता है। इस बातके समर्थनमें अब कुछ शास्त्रोंका प्रमाण भी देख लीजिये। आप्तवाक्य भी एक स्वतन्त्र प्रमाण होता है। इसलिये जब जो कोई बात युक्तिसे समझायी जाती है और उसका शास्त्रसे समर्थन मिलता है, तभी उस सिद्धान्तको यथार्थ समझना चाहिये। इस बातको समझना और समझकर अनुभवमें उतारना तो साधन-सापेक्ष है। इसलिये जो साधन-सम्पन्न हैं, वे तो इसे अवश्य ही समझ लेंगे और संतोषका अनुभव करेंगे। जिनके पास सूक्ष्मबुद्धि है, पर वैराग्य आदि साधन नहीं है, वे बुद्धिसे विचारको ग्रहण तो कर सकेंगे पर अनुभवमें नहीं उतार सकेंगे और जिनके पास कोई साधन ही नहीं है, उन्हें तो यह बात गपोड़बाजी अथवा मिथ्या प्रलाप जान पड़नेकी पूरी सम्भावना है।

इस प्रसङ्गमें योगवासिष्ठमें कहा गया है—

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

भाव यह है कि चित्त अर्थात् मन जब रागादि पाँच क्लेशोंसे दूषित होता है, तब मन ही संसाररूपमें भासित होता है। वे पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जब मन इन पाँच क्लेशोंसे घिरा होता है, तब वही संसाररूपमें दीखता है और जब उसी मनको इन पाँचों क्लेशोंसे मुक्त करके शुद्ध कर लिया जाता है, तब संसार नहीं दीखता।

फिर दूसरे प्रसङ्गमें कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात् मन ही जन्म-मरणरूप संसारबन्धनका कारण है, उसी प्रकार मोक्ष देनेवाला भी मन ही है। जो मन विषयभोगमें आसक्ति रखता है, वही संसार-बन्धन कराता है और जब वह विषय-विमुख होता है, तब मोक्ष भी वही दिलाता है।

इस सम्बन्धमें श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसद् भवेत्॥

निद्राकालमें मन जैसे स्वप्नसंसारकी सृष्टि करता है, वैसे ही राग-द्वेषादिसे युक्त मन बाह्य संसारकी रचना करता है। इस प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्च भी स्वप्न-प्रपञ्चके समान ही मनोमात्र है; स्वप्न जैसे निद्रा-कालमें सत्य जान पड़ता है, उसी प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्च भी ज्ञानरूपी जागृति जबतक नहीं आती, तभीतक सत्य जान पड़ता है।

इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्॥

एक चमकती हुई बड़ी सीप पड़ी है। उसके ऊपर सूर्यका प्रकाश पड़ता है। दूरसे वह ऐसी लगती है मानो चाँदी हो। परंतु यह चाँदी तभीतक दीख पड़ती है, जबतक पास जाकर सीपीका ज्ञान नहीं प्राप्त कर लिया जाता। जिस क्षण यह निश्चय हो जायगा कि वह सीप पड़ी है, उसी क्षण चाँदीका दीखना बंद हो जायगा।

इसी प्रकार एक और अद्वितीय ब्रह्मका जो इस जगत्का अधिष्ठान है (उसी प्रकार जैसे सीप चाँदीके ज्ञानका अधिष्ठान थी, चिथड़ेकी लीरी जैसे सर्पज्ञानका अधिष्ठान थी) जबतक ज्ञान नहीं होता, तभीतक यह जगत् दीख पड़ता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अधिष्ठानके ज्ञानके पहले चाँदी और सर्प दीख पड़ते थे।

इस ज्ञानका अनुभव करनेके लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। शरणमें जाते समय गुरुके प्रति कैसा भाव होना चाहिये—यह बतलाते हुए श्रुति कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

पहले तो ईश्वरके प्रति परम भक्ति होनी चाहिये। ईश्वरके प्रति यदि परम अनुराग न हो तो भला, उनको प्राप्त करनेका प्रयत्न ही कैसे हो सकता है? फिर ईश्वरके प्रति जैसा भक्ति-भाव हो, वैसा ही गुरुके प्रति होना चाहिये। गुरुमें ईश्वरबुद्धि न हो तो यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकारकी योग्यतावाले शिष्यको बोध करानेसे ज्ञान तुरंत अपने-आप स्फुरित होता है।

अब गुरुके पास किस प्रकार विनयसे जाना चाहिये, यह समझाते हुए श्रीकृष्ण भगवान् गीतामें कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अत्यन्त दीनभावसे साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करना, अर्थात् बहुत ही नम्रभावसे गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। गुरु बोध प्रदान करें, उस समय जो बात समझमें न आये, उसको प्रश्न करके विवेकपूर्वक पूछना चाहिये, जिससे मनमें संशय न रह जाय। इन दोनोंसे बढ़कर आवश्यक बात तो यह है कि गुरुकी सेवा करके उनको संतुष्ट रखना चाहिये। ऐसा करते-करते गुरु प्रसन्न होकर एक दिन अवश्य ज्ञानका स्वरूप समझा देंगे और साधक कृतकृत्य हो जायगा।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चो यः प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिकालमें जो कुछ प्रपञ्चरूपमें दिखलायी देता है, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। इसलिये प्रपञ्चकी सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न या स्वतन्त्र नहीं है। (जैसे चाँदीकी सत्ता सीपकी सत्तासे तथा साँपकी सत्ता चिथड़ेकी लीरीकी सत्तासे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार उससे स्वतन्त्र भी नहीं होती।) इस सारे प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप जो ब्रह्म है, वही मैं स्वयं हूँ—यह बात जब संशय-विपर्ययसे रहित होकर निश्चय हो जाती है, तब साधक सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है, जन्म-मृत्युरूप संसारसे तर जाता है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाता है।

ॐ नमो नारायणाय।

सर्वोपयोगी सार-सार बातें

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

आपको सार-सार बात बतलायी जाती है। एक तो अपने शरीरको कोई रोग हो जाय तो उसके वशीभूत नहीं होना चाहिये और बीमारीको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये। महत्त्व देनेसे शरीरमें देहाभिमान और आसक्तिकी वृद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे हर समय काम लेना चाहिये और उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जिससे अपने आत्माका कल्याण हो, उद्धार हो—वैसा ही काम हमें शरीर आदिसे लेना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि अपनेमें कोई बुरी आदत हो या कोई दुर्व्यसन हो तो उसको दूर करनेके लिये उससे सम्बन्ध त्याग देना चाहिये। नहीं तो उसका दूर होना कठिन है। उदाहरणके लिये यदि हमारी पाँच व्यक्तियोंके साथ बैठकर ताश या चौपड़ खेलनेकी बान पड़ गयी हो तो उस बुरी टेवको छुड़ानेके लिये जहाँ लोग ताश-चौपड़ खेलते हों, वहाँ उनके पास कभी नहीं जाना चाहिये। यदि कहीं इस प्रकारका संयोग उपस्थित हो जाय तो दूरसे ही उस मार्गसे हट जाना चाहिये। अथवा कोई कुमार्गमें जानेवाला मनुष्य हो और उसके सङ्गसे अपनेमें कोई बुरी आदत आ गयी हो तो पुनः उस कुमार्गगामी पुरुषका कभी सङ्ग ही न करे। संसारके लोगोंमें या अपनेमें जितनी भी कुटेवें हैं, सबकी-सब आसक्तिके ही कारण हैं। आसक्तिका नाम ही सङ्ग है। संयोगका नाम भी सङ्ग है। अतः उक्त दोनों-ही अर्थोंमें सङ्गका त्याग कर देना चाहिये।

आसक्तिका त्याग हो सके, तब तो आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये; सर्वोत्तम बात यही है किंतु हम यदि ऐसा न कर सकें तो बुराईके साथ कम-से-कम सम्बन्ध-विच्छेद तो कर ही देना चाहिये। जगत्‌में जितने और जो भी मनुष्य हैं, उनसे अधिकांश जो पाप होते हैं, उनका एकमात्र कारण आसक्ति ही है। यह आसक्ति इसलिये है कि भोगोंमें हमारी सुख-बुद्धि है, हमें भोगोंमें सुखकी प्रतीति होती है। वास्तवमें भोगोंमें सुख है ही नहीं। ऐसी दशामें विवेकद्वारा बुद्धिसे मनको समझाना चाहिये और समझा-बुझाकर इस सुख-बुद्धिका त्याग कराना चाहिये।

समय नामकी जो वस्तु है, वह बहुत ही मूल्यवान् है। लाख रुपया व्यय करनेपर भी एक क्षणका भी समय नहीं मिल सकता। अतः हमको अपने समयका आदर करना चाहिये। जो समयका आदर करता है, वह कालको जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है। फिर उसे काल कभी नहीं मार सकता। यों समझना चाहिये कि अपने समयको नष्ट करना मनुष्य-जन्मको नष्ट करना है।

एक ओर रुपया हो और दूसरी ओर समय, तो समयके लिये रुपयोंका त्याग किया जा सकता है; किंतु अपने समयको अवश्य काममें लाना चाहिये। जो अनुभवी पुरुष हैं, उनके सङ्गसे हमें लाभ उठाना चाहिये। इसी प्रकार जो वयोवृद्ध अर्थात् अवस्थामें अपनेसे बड़े हों, उनके परिपक्व अनुभवसे भी लाभ उठाना चाहिये। साथ ही महात्माओं, ज्ञानियों, सज्जनों और भक्तों तथा जितने भी उच्च कोटिके अच्छे-अच्छे पुरुष हैं, उनके सङ्गका लाभ लेना चाहिये। इसके विपरीत नास्तिक, पापी, नीच और दुर्व्यसनी पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। उनके साथ मित्रता तो कभी करनी ही नहीं। यदि किसी समय उनसे भेंट हो भी जाय तो भीतरसे प्रीति नहीं करनी चाहिये; मनमें उनके प्रति उपेक्षा-बुद्धि ही रखनी चाहिये। योगदर्शनमें बतलाया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।' (१ । ३३)

'सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्माओंमें क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त निर्मल होता है ।'

ऊपरसे संयोग होनेपर भी भीतरसे जो उपेक्षा है, वह बहुत मूल्यवान् वस्तु है । बाहरका संयोग हानि नहीं पहुँचा सकता, यदि भीतरमें उपेक्षा हो—जैसा कि पहले कह आये हैं ।

'सङ्ग' शब्द आसक्तिका वाचक है और प्रीतिका भी । भीतरसे प्रीति अथवा आसक्तिका त्याग कर दिया जाय तो बाहरका संयोग उतना हानिकारक नहीं होता ।

परमात्माने जो कुछ भी ज्ञान अपनेको दिया है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिये । ठीक उपयोग किये जानेसे उत्तरोत्तर उस ज्ञानकी वृद्धि होती है और वृद्धि होते-होते उस बढ़े हुए ज्ञानके द्वारा परमात्माको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है । परमात्माके विषयका जो ज्ञान है, उसे उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये । ईश्वरने जो हमलोगोंको ऐश्वर्य अर्थात् भोग-सामग्री दी है, उसका भी उचित रूपमें उपयोग करना चाहिये । अवश्य ही यह समझना चाहिये कि यह जो सामग्री भगवान्‌ने हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है, न कि भोगके लिये । उन सम्पूर्ण सामग्रियोंको ईश्वरकी सम्पत्ति समझकर और सबमें ईश्वरको व्यापक जानकर उन सामग्रियोंसे जगद्रूप जनार्दनकी सेवा करना ही मुक्तिका मार्ग है । भगवान्‌की दी हुई सामग्रीसे ही भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये । यों समझना चाहिये कि 'हम तो निमित्तमात्र हैं, भगवान्‌की सामग्री भगवान्‌को ही अर्पण कर रहे हैं । इसमें हमारा क्या है, हमारे द्वारा तो उन्हींकी वस्तु उन्हींको सौंपी जाती है । उनकी वस्तु उन्हें न देकर यदि हम अपने उपभोगमें लायें तो यह तो एक प्रकारसे चोरी ही होगी ।' भगवान् गीतामें कहते हैं—

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥'

देवताओंकी दी हुई वस्तुको जो उन देवताओंको दिये बिना ही स्वयं भोगता है, वह चोर ही है ।

भगवान्‌की दी हुई वस्तु उन्हें अर्पित करके यदि हम शरीर-निर्वाहके लिये काममें लायें, तब तो वह हमारे लिये भगवान्‌का प्रसाद बन जाता है और उस भगवत्प्रसादसे बुद्धि शुद्ध होकर हमारे आत्माका कल्याण हो जाता है । यह एक प्रकारसे सिद्धान्तकी बात है कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर प्राणिमात्रका अधिकार है । इसलिये सबको देनेके बाद जो बच रहे, वही हमारे लिये प्रसाद है । अपने शरीरमें तथा मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंमें जो बल है, उसीका नाम आत्मबल है । मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—सबका नाम आत्मा है । यदि हम इनका दुरुपयोग करेंगे तो आगे जाकर हमें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा । इसलिये पहलेसे ही सावधान रहकर हमें अपनी शक्तियोंका उपयोग उचित रूपसे करना चाहिये । भगवान्‌ने जो सामग्री हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है । जो भी मनुष्य इस प्रकारकी सामग्रीको पाकर अपने आत्माका कल्याण नहीं करता, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है, यद्यपि समय बीत जानेपर इस पश्चात्तापसे कोई विशेष लाभ नहीं होता । इन सब बातोंको सोचकर हमें भगवत्कृपासे प्राप्त सामग्री और सामर्थ्यका उचित उपयोग करना चाहिये । अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें जो शक्ति है, उसके सदुपयोगमात्रसे हमारा कल्याण हो सकता है; और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है । यह शक्ति ही पर्याप्त है । इसका उपयोग हम ठीक करें तो थोड़े ही समयमें इसी शक्तिके द्वारा हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं; किंतु यदि इसका उपयोग हम ठीकसे न करें तो सौ वर्ष बीत जानेपर भी हम उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं और अन्तमें यह सब सामग्री हमारे लिये बेकार हो जाती है; क्योंकि उससे हमारा सम्बन्ध-

विच्छेद हो जाता है। किसी भी वस्तुके साथ संयोग होनेपर उसका वियोग अवश्यम्भावी है; क्योंकि संयोग वियोगको लिये हुए ही होता है अर्थात् संयोगका परिणाम वियोग निश्चित है। यह समझकर जबतक शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके साथ हमारा संयोग है, तभीतक उनसे जो कुछ लाभ हमें उठाना हो उठा लेना चाहिये। इसी प्रकार जो हमारे कुटुम्बी हैं—स्त्री है, पुत्र हैं तथा और जितने भी हमारे सम्बन्धी अथवा प्रेमी हैं, उनका भी उपयोग हमलोगोंको उचितरूपसे करना चाहिये। उन सबको भगवान्‌की सेवामें लगा देना ही उनका समुचित उपयोग है और यही हमारा उनके प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य है। स्त्री हो तो उसे भी हम भगवान्‌की भक्तिमें लगायें। पुत्र हो तो उसे भी और जो हमारे प्यारे मित्र, कुटुम्बी आदि हों, उन सबको भी सच्चे काममें—जिससे उनका कल्याण हो, ऐसे काममें लगाना ही हमारा कर्त्तव्य है। सबके कल्याणके अन्तर्गत ही हमारा अपना कल्याण है। अपने कल्याणके लिये भगवान्‌से कोई अलग प्रार्थना नहीं करनी है। सबमें ही तो हम हैं। दूसरोंके हितके लिये हम अपने ऐश्वर्यका त्याग कर देते हैं—यह तो महत्त्वका कार्य है ही; इससे भी बढ़कर मूल्यवान् कार्य यह है कि दूसरोंके कल्याणके लिये हम अपने कल्याणका भी त्याग कर दें। यह और भी महत्त्वपूर्ण त्याग है। मान लीजिये भगवान् हमसे यह कहें कि मैं तुमको दर्शन दे सकता हूँ, चाहे तुम कर लो या जिसे तुम कराना चाहो, उसे करा दो। ऐसा अवसर आनेपर यदि हम स्वयं दर्शन न करके किसी दूसरेको दर्शन देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करें तो यह त्याग हमारे लिये विशेष मूल्यवान् है।

दूसरोंके साथ हम जो व्यवहार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके प्रति उदारताका बर्ताव करते हैं—यह भी हमारा बहुत उत्तम कार्य है; किंतु इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि हमारे उत्तम आचरणके प्रभावसे दूसरा पुरुष भी वैसा ही बन जाय। मान लीजिये कि मैंने किसीका उपकार किया, सेवा की और उसके हृदयपर यह छाप पड़ी कि 'किसीका उपकार करना, सेवा करना उत्तम बात है; मेरे द्वारा भी किसीकी सेवा बन जाय तो मेरा अहोभाग्य है।' इस प्रकारका भाव उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया तो यह हमारे द्वारा उसकी विशेष सेवा हुई। दूसरोंको शिक्षा देनेकी यह बहुत अच्छी पद्धति है। हम किसीको कहें कि 'तुम लोगोंका उपकार किया करो, सेवा किया करो' इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तरीका यह है कि हम उसकी सेवा करके अपनी क्रियासे उसे शिक्षा दें, उपदेश देकर नहीं।

इसी प्रकार जो मनुष्य स्वयं सत्य बोलता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, ईश्वरकी भक्ति करता है, उसका जो लोगोंके मनपर यह असर पड़ता है कि सत्य बोलना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये, यह शिक्षा देनेका प्रकार बहुत ही उच्चकोटिका है। वाणीके द्वारा शिक्षा या उपदेश देनेका उतना मूल्य नहीं है, जितना आचरण करके उस आचरणके द्वारा शिक्षा देनेका है।

साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे अंदर कहीं दिखाऊपन न आ जाय, अथवा अहंकार न आ जाय कि 'मैं शिक्षा देनेवाला हूँ, मुझसे लोग शिक्षा लें, लोग मेरे आचरणको देखकर, उसे आदर्श मानकर ग्रहण करें।' यह भाव हमारे मनमें नहीं आना चाहिये, अपितु यह भाव आना चाहिये कि लोगोंका कल्याण कैसे हो, लोग उच्चकोटिके कैसे बनें।

पिता स्वयं विद्वान् होनेपर भी अपने लड़केको, अपनेसे जो अधिक विद्वान् होते हैं, उनके पास शिक्षा लेनेके लिये भेजता है। वह हृदयसे चाहता है कि मुझसे भी अधिक योग्य मेरा लड़का बने। लड़का ही क्यों, और लोग भी तो हमारे भाई हैं। सभी हमारे पूज्य हैं, सभी हमारे मित्र हैं। इतना ही नहीं, वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार तो सभी हमारे आत्मा, हमारे अपने स्वरूप हैं। इन सबका जो कल्याण है, वह हमारा ही तो कल्याण है।

भाई-भाईमें तथा अपने कुटुम्बमें और मित्रोंमें जब बहुत अधिक प्रेम होता है, तब उनके लाभसे मनुष्य अधिक प्रसन्न होता है। अपने लाभसे तो सभी हर्षित होते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि सबको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा है; किंतु अपने आत्मासे भी बढ़कर जब दूसरे प्यारे होते हैं, तब उनके लाभसे अधिक प्रसन्नता होती है। होनी भी यही चाहिये। यही तो इस बातकी परीक्षा है कि हमारा आत्मभाव कितना अधिक विस्तृत हुआ है।

मान लीजिये, हमें एक लाख रुपये मिले और हमारे मित्रको दो लाख रुपये मिले। अब यदि मित्रको अधिक रुपया मिलनेपर हमें अधिक प्रसन्नता हो, तब यह समझना चाहिये कि हमारा उसके साथ सच्चा मैत्रीभाव है और वह हमें प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा है, शरीरसे भी बढ़कर प्यारा है। इसी प्रकार दूसरोंको उन्नत देखकर हमें अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। यह बहुत ही उच्चकोटिका भाव है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि हमें जो पुत्र प्यारा लगता है, वह पुत्रके लिये नहीं, अपितु हमारे लिये ही प्यारा लगता है अर्थात् हमारे स्वार्थके लिये ही हमें अपना पुत्र प्यारा लगता है। हमारी स्त्री जो हमको प्यारी लगती है, वह हमारे सुखके लिये ही प्यारी लगती है। किंतु यह तो एक स्वार्थकी बात है, जो सारे संसारमें पायी जाती है। उच्चकोटिकी बात तो यह है कि हम जिससे भी प्यार करें, उसके लिये ही करें—न कि अपने स्वार्थके लिये; क्योंकि महात्मालोग जिस किसीसे भी प्यार करते हैं, उसके हितके लिये ही करते हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं। यह भाव जिनके हृदयमें होता है, उन्हींका असर होता है और उन्हींकी शिक्षा लगती है। भगवान्‌की दयासे सब लोगोंका उद्धार हो जाय, सबका कल्याण हो जाय, सब भगवान्‌के भक्त बन जायँ—ऐसा भाव मनमें रखना बहुत ही उत्तम है।

एक मनुष्य अपना कल्याण चाहता है और दूसरा सबका कल्याण चाहता है, उन दोनोंमें सबका कल्याण चाहनेवाला ही उत्तम है। भगवान्‌के यहाँ किसी बातकी कमी तो है नहीं। वे चाहें तो एक क्षणमें सबका कल्याण कर सकते हैं। परमात्माके पास मुक्तिका जो भण्डार है, वह तो अटूट है। भगवान्‌की इच्छासे यदि सारी दुनियाका कल्याण हो सकता हो तो सबके कल्याणकी इच्छा रखना यह अत्यधिक उत्तम भाव है।

सबका कल्याण हो जाय, ऐसा भाव रखना तो उत्तम है; किंतु अपना प्रभाव दूसरोंपर पड़े, यह इच्छा रखनेसे अहंकार आता है। अतः ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे अहंकार भी न आये और दूसरोंके कल्याणका भाव भी मनमें बना रहे। इसके लिये यह भाव रखना उत्तम है कि किसीके द्वारा भी हो, सबका कल्याण होना चाहिये। लोगोंके कल्याणमें मैं ही निमित्त बनूँ, ऐसा आग्रह रखना ठीक नहीं। निमित्त भगवान् चाहे किसीको बनायें, अपने तो यही भाव रखना चाहिये कि सबका परम हित हो, अर्थात् सबका कल्याण हो।

ध्यानसहित भगवान्‌का नाम-जप करना बहुत ही उत्तम है। उसे सभी कोई करें। हमारी बात मानकर ही करें, ऐसी बात नहीं। अपने गुरुकी बात मानकर, अच्छे-अच्छे महात्मा पुरुषोंकी बात मानकर या किसीकी भी बात मानकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करें, जिससे उनका कल्याण हो। किंतु हमारी जो उत्तम क्रिया है, उसको लोग देखेंगे अथवा धारण करेंगे तो उनका भी हित होगा—इस प्रकार अपनी क्रियाओंमें उत्तमताकी कल्पना करना अच्छा नहीं; क्योंकि उससे अभिमान बढ़ता है। अतः हमें तो यही समझना चाहिये कि मेरी क्रिया अत्यन्त साधारण है; जो उत्तम पुरुष हैं, उन्हींका अनुकरण करना चाहिये।

सत्सङ्ग-सुधा

[गतङ्कसे आगे]

६०. जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्णकी प्राप्ति बनाकर जबतक मनसे अधिक-से-अधिक श्रीकृष्ण-चिन्तन नहीं होता, तबतक प्रेमी भक्तोंके प्रति आकर्षण तेजीसे बढ़ना कठिन है। आवश्यकता है केवल इसी बातकी—जिस किसी भी प्रकारसे मनमें श्रीकृष्णके गुणोंकी, लीलाकी, नामकी मधुर-मधुर स्मृति बनी ही रहे। बस, इसी बातकी चेष्टा करें, इसीमें जीवनका साफल्य है और ऐसा करनेसे ही रास्ता तय होगा।

आँखोंके सामने आप यह स्थान देख रहे हैं, पाल तना दीख पड़ रहा है; पर यहींपर दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन-राज्य है, यहींपर श्रीकृष्ण हैं और समस्त लीला ठीक यहींपर चल रही है। मनसे चिन्तन कीजिये—'संध्याका समय है, वनसे श्रीकृष्ण गायें चराकर लौट रहे हैं। आगे गायोंकी कतार है, गायें हुमग-हुमगकर श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हैं। पीछे भी गायोंकी कतार है। बीचमें श्रीकृष्ण अत्यन्त मधुर स्वरसे वंशी बजा रहे हैं, ध्वनिकी मधुरताके कारण गायोंमें भी एक अत्यन्त शान्ति-सी बीच-बीचमें आ जाती है। श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हुए हैं। घुँघराले केश मन्द-मन्द हवाके झोंकोंसे ललाटपर आ जाते हैं। उन्हें वे बायें हाथसे हटा देते हैं। सड़कके किनारे श्रीगोपीजनोंकी कतार लगी हुई है। श्रीकृष्ण अपने बालोंको हटाकर कभी किनारेकी ओर, कभी पीछेकी ओर ताक देते हैं, मुसकुरा देते हैं। थोड़ा आगे बढ़ते हैं, गायें भी आगे बढ़ती हैं। ग्वालबाल कभी उनके पीछे हो जाते हैं, कभी आगे।.....'इस प्रकार मनको कभी गायमें, कभी ग्वालबालमें, कभी श्रीकृष्णमें, कभी श्रीकृष्णके मुकुटमें, कभी उनकी घुँघराली अलकोंमें, कभी वंशीमें, कभी चरणोंमें, कभी वृन्दावनके कदम्बके पेड़में, कभी आमके पेड़में और कभी अमरूदके पेड़में स्थिर करनेकी चेष्टा करें। मनको मुकुट देखनेमें लगाया और फिर आसानीसे जितनी देर वह टिक सके, उतनी देर उसे टिकाकर, जब हटने लगे तो उनके किसी दूसरे अङ्गमें लगा लें। फिर वहाँसे उचटे तो तीसरे अङ्गमें लगाते रहिये। वन, नदी, पर्वत, गाय, सड़क, गोपी, ग्वाल-बाल, आम, अमरूद, छीके, डंडे, बाँसुरी—ऐसी अनन्त चीजें हैं, जिनमें चाहियेगा तो मन लगा सकते हैं। बस, मनको फुरसत मत दीजिये। जीभ तो मशीनकी तरह नाम लेती रहे और मन वृन्दावनके किसी भी पदार्थका चिन्तन ही करता रहे। बहुत जरूरी हो, तभी मनको बाहर लाइये। नहीं तो, अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको वृन्दावनीय किसी भी पदार्थमें तदाकार करते रहिये। अभ्यास करनेसे होगा, खूब आसानीसे होने लगेगा। सब भूलकर इसकी चेष्टा कीजिये; नहीं करेंगे तो फिर कोई उपाय नहीं है।

जहाँ भीत दीखती है, मकान दीखते हैं, टीले दीखते हैं, कूँआ दीखता है, पेड़ दीखते हैं, वहाँ आँख मूँदकर एक बार खूब दृढ़तासे निश्चय कीजिये—'ओह! यहाँ तो वृन्दावन है; बस, वे पेड़, वे दृश्य हैं; बस, सामने श्रीकृष्ण हैं, गायें हैं; बस-बस यही हैं।' इस प्रकार जितनी लीलाएँ पढ़ी हैं, सुनी हैं, जितनी सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनमेंसे जिसकी ओर मन टने, उसीमें रम जाइये। तभी रास्ता तय होगा। मनको तन्मय करना पड़ेगा ही, चाहे कैसे भी करें। उनकी कृपाका आश्रय लेकर करें तो कुछ भी असम्भव नहीं।

घबराना नहीं चाहिये। जिनकी अनन्त कृपासे मनमें धुँधली लालसा पैदा हुई है, उनकी कृपा निश्चय ही आगे भी बढ़ा ले जायगी। जल्दी या देरी, पहुँचना तो है ही। राधा! राधा! राधा!

अभ्याससे सफलता मिलेगी ही। नाम तो खूब जल्दी सध जायगा। हाँ, मनको खास स्वरूपकी ओर अथवा लीलाकी ओर लगाकर दूसरा काम करनेमें विशेष गाढ़े अभ्यासकी आवश्यकता है। बीच-बीचमें जल्दी-जल्दी स्मृति तो थोड़े ही अभ्याससे सम्भव है।

६१. छिनहिं छिन सुरति होति री माई।
बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई॥
साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई।
रूप सुधा आनंद सिंधुमें झलमलात तरुनाई॥
अंग अंग प्रति मैन सैन सजि धीरज देत छुड़ाई।
उड़ि उड़ि लगत दृगनि टोना सो जगमोहनी कन्हाई॥
मरियत सोचि सोचि बिन बातनि हौं बन गहन भुलाई।
बल्लभ औचक आय मंद हँसि गहि भुज कंठ लगाई॥

पद्यका भावार्थ यह है—श्रीगोपी अथवा श्रीराधाजी कहती हैं—'सखि! बार-बार स्मृति हो रही है। वह बोलना, मिलना, चलना, मुसकाते हुए देखना, प्रीतिकी रीति, प्यारभरी चतुरता बार-बार याद आ जाती है। संध्याके समय श्यामसुन्दर गायोंके साथ आते थे, उस समय उनकी मनोहर छवि देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सुन्दरतारूपी आनन्दमय—अमृतमय समुद्र लहरा रहा हो और तरुणता (किशोरावस्था) रूपी तरङ्गें उसमें झलमल-झलमल कर रही हों। श्यामसुन्दरका एक-एक अङ्ग क्या था, मानो कामदेवकी सेना हो। धीरज बरबस छूट जाता था। आँखोंपर किसी अङ्गकी छवि पड़ते ही मालूम पड़ता था मानो श्यामसुन्दररूप जादूगरने टोना फेंका हो। समस्त जगत्‌को मोहनेवाले कन्हाई अपने अङ्गोंकी छविका टोना फेंककर हमें मोहित कर लेते थे। एक दिन मैं वनमें, गहन वनमें भूल गयी थी—उन प्रसङ्गोंकी याद कर-करके मृत्युका-सा दुःख होता है। इतनेमें ही अचानक श्यामसुन्दर आये और मन्द-मन्द मुसकाकर मेरी भुजाओंको पकड़कर मुझे कण्ठसे लगा लिया।'

पदके इन भावोंपर एकान्तमें बैठकर विचार कीजिये। विचार करते समय मनमें एक रसकी धारा बह उठेगी। आप उसमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जायँगे।

६२. सभी प्रेममयी लीला तथा सभी ऐश्वर्यमयी लीला, समस्त लीलाओंका आधार भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं। श्रीकृष्ण लीलाका आस्वाद लेते हैं और श्रीराधाजी लीलाका आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीलाके भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाके भी अनन्त स्तर हैं। व्रजलीलामें ग्वालबालोंके साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनोंके साथ जो लीला होती है तथा श्रीराधाजीके साथ—केवल एक श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, इन तीनोंमें बड़ा अन्तर होता है।

इन तीनों लीलाओंमें भी कई स्तर हैं। इन स्तरोंका अनुभव प्रेमी साधककी साधनापर ही निर्भर रहता है। जो जितना ऊँचा होता है, वह उतने ही ऊँचे स्तरका अनुभव करता है। इन तीन लीलाओंमें जो गोप—ग्वालबालके सङ्गकी लीला है, उसका अनुभव तो कुछ भाग्यवान् संत कर पाते हैं। उनकी संख्या भी बहुत कम ही है। पर श्रीगोपीजनोंके साथकी लीलाका अनुभव करनेवाले संत तो बहुत ही थोड़े होते हैं तथा श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, उस लीलाको अनुभव करनेवाले तो इने-गिने कुछ बिरले ही होते हैं। बात कर लेना आसान है। शास्त्र पढ़कर हम बहुत-सी बातें, लोगोंको चकित कर देनेवाली बातें बता सकते हैं; परंतु सचमुच इन लीलाओंका दर्शन होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, इनमें स्वयं सम्मिलित होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य तो श्रीराधारानीकी, श्रीकृष्णकी महान् कृपासे किसी-किसीको ही होता है। जहाँ समस्त परमार्थ-साधना एवं साध्यतत्त्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीला-तत्त्वका श्रीगणेश होता है। पर यह बात दिमागमें तबतक नहीं आ सकती, जबतक कि भगवत्कृपासे अन्तःकरण सर्वथा निर्मल होकर कृपाके ही परायण नहीं हो जाता।

वेदान्तकी सच्ची साधना यदि हो और सचमुच हम ब्रह्मप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके बाद वस्तुतः

आगे जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय साधनाका मार्ग है, वह आरम्भ हो; तब कहीं सम्भव है कि मनुष्य असली सगुण-तत्त्वका रहस्य समझ सके। नहीं तो, होता क्या है कि दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो जाती है। पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्त्व है, जो सर्वथा किसी भी साधनाके द्वारा नहीं समझा जा सकता। उस स्थितिकी प्राप्ति सभी ब्रह्म-प्राप्त पुरुषोंको भी हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है। हो भी सकती है, नहीं भी।

ये सब उल्टी-सीधी बातें शास्त्रीय ज्ञान, तत्त्वज्ञानकी चर्चा आदि तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाय, यदि स्वप्नमें भी उसे एक हल्की-सी श्रीकृष्णके रूपकी झाँकी देखनेको मिल जाय। वह जबतक नहीं मिलती, तभीतक सारी बहस, सारी उधेड़-बुन है। नारायणस्वामी थे—एक बार वे बैठे हुए थे, सामने श्रीकृष्ण दीखे। वे लगे दौड़ने। दौड़ते-दौड़ते कुसुमसरोवरपर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीकृष्ण पीठकी ओर आ गये। फिर पीछे दौड़े, दौड़ते-दौड़ते अपने स्थानपर आ गये। इसी प्रकार दिनभर दौड़ते देखकर पुजारीने पूछा—'बाबा! क्यों दौड़ते हो?' उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। बहुत आग्रह करनेपर बोले—'भैया! श्रीकृष्ण दीखते हैं, दीखनेपर ऐसी इच्छा होती है कि पकड़कर इनके हृदयमें समा जाऊँ; पर वे भागने लगते हैं। मैं भी दौड़ने लगता हूँ। दौड़ते-दौड़ते जब थक जाता हूँ, तब वे पीछे दीखने लग जाते हैं। मैं फिर पीछेकी ओर दौड़ने लगता हूँ। सारे दिन यही लीला चलती रहती है।' पुजारीने पूछा—'बाबा! उनसे कुछ पूछते नहीं?' स्वामीजीने कहा—'पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं और सोचता हूँ—यह बात पूछूँगा, यह शास्त्रीय बात जान लूँगा; पर रूप देखते ही सब भूल जाता हूँ। बस, देखते ही रह जानेकी इच्छा छोड़कर बाकी सब भूल जाता हूँ।'

६३. श्रीकृष्ण श्रीगोपीजनोंसे कुरुक्षेत्रमें मिलनेपर कहते हैं—'गोपियो! तुमने हमें कृतघ्न समझा होगा; क्या करें, काम-काजकी भीड़में लग गये। देखो, ईश्वर ही प्राणियोंका संयोग कराता है और वही पुनः वियोग कराता है।.....सौभाग्यकी बात है कि हमारे प्रति तुमलोगोंका प्रेम निश्चल रहा। बस, यह प्रेम ही सचमुच सार है।' इस प्रकारका भाव श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। पर वास्तवमें श्रीकृष्ण गोपीजनोंसे हटकर भी नहीं हटे थे, श्रीकृष्ण हटते ही नहीं। उद्धवजीके ज्ञानका गर्व शान्त होनेपर जब वे श्रीकृष्णके पास लौटे हैं, उस समयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन नन्ददासजीने किया है—

गोपी गुन गावन लग्यौ, मोहन गुन गयौ भूलि।

× × ×

करुनामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूँठी।
जब ही लौं नहिं लख्यौ तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यौ ब्रज जाय कै तुम्हरौ निर्दय रूप।
जे तुम कौं अवलंबहीं तिन कौं मेलौ कूप॥
कौन यह धर्म है।

पुनि पुनि कहै अहो स्याम! जाय बृंदाबन रहिये॥
परम प्रेम कौ पुंज जहाँ गोपिन सँग लहिये।
और काम सब छाँड़ि कै उन लोगन सुख देहु॥
नातरु टूट्यौ जात है अबहीं नेहु सनेहु।
करौगे फिरि कहा॥

सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ।
बिबस प्रेम आबेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहिं साँवर गात।
कल्पतरोरुह साँवरौ ब्रजबनिता भईं पात॥
उलहि अँग-अंग ते।

ह्वै सचेत कहि भले सखा! पठए सुधि ल्यावन॥
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन।
मोमें उन में अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं॥
ज्यौं देखौ मो माहिं वे, त्यौं हौं उनहीं माहिं॥
तरंगनि बारि ज्यौं।

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी ॥
ऊधौ भ्रमहि निवारि डारि मुख मोह की जारी ।
अपने रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय ॥
'नंददास' पावन भये जो यह लीला गाय ।
प्रेम रस पुंजनी ॥

श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं, श्रीगोपियाँ हैं । श्रीराधा, श्रीगोपियाँ ही श्रीकृष्ण हैं । पर वियोगके बिना प्रेमका विकास नहीं होता—यह दिखानेके लिये, जगत्के साधकोंको कृतार्थ करनेके लिये, प्रेम-साधनाकी पद्धति सिखानेके लिये वियोगका अभिनयमात्र किया गया था ।

व्रजमें आज भी लीला चलती रहती है, नित्य रसमयी लीलाका प्रवाह अनादि कालसे चलता आ रहा है । अनन्तकालतक चलता रहेगा । साधक जब उस लीलामें प्रवेश करता है, तब पहले कुछ दिन वहाँ नित्य सखियोंके सङ्गमें रहकर पकाया जाता है । वही हिलग-की स्थिति है । इसके बाद जब व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब रासमें सर्वप्रथम मिलन होकर—अनन्तकालके लिये स्वयं भी सेवामें अधिकार पाकर निहाल हो जाता है । यह एक साधारण नियम है । यों तो श्रीकृष्ण जो चाहें, वही नियम साधकके लिये बन जायगा ।

प्रेममें त्याग-ही-त्याग है । जिसके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही साध्य-साधन हैं, उसीके लिये यह पथ है, दूसरेके लिये इसकी गुंजाइश नहीं है । पतिव्रताकी तरह उसे बाट देखनी पड़ती है कि पतिका संदेशा लेकर कौन आता स्वयं चलकर दूतकी तलाशमें पतिव्रता नहीं जाती । स्वामीका दूत ही पतिव्रताके पास आता है । उसी प्रकार साधक श्रीकृष्णका नाम लेकर निरन्तर आँसू बहाता रहता है और श्रीकृष्णकी ओरसे समयोचित—अधिकारोचित चेष्टा होती है ।

मनमें तीव्र लगन, तीव्र चाह, उत्कण्ठाकी तीव्र आग है; पर बाहर किससे कहे ? साधक समझता है—'मेरे नाथ ! तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारे पास साधन है, तुम चाहो तो आ सकते हो; पर मैं चलकर भी तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकता । मेरे जीवनधन ! अनन्त जीवनकी चाह लेकर बैठा हूँ, कृपाकी डोरीको स्वयं कृपा करके पकड़ा दो । अंधा हूँ, पथ नहीं जानता । मेरे प्रियतम ! जिस पथसे चलना चाहता हूँ, उसमें कोई साथी नहीं । तुम्हारे सिवा अवलम्बन नहीं, एकमात्र तुम्हीं सम्हाल सकते हो । सम्हाल लो, नाथ !' ऐसी प्रार्थना हो, निरन्तर मशीनकी तरह नाम मुँहसे निकलता रहे तथा मन लीलाकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता रहे—यही करना चाहिये ।

आप सायंकाल ज्योनारमें बैठे रह सकते हैं, पर मनसे अपनेको बरसानेके सरोवरपर रख सकते हैं, देख सकते हैं । वहाँ श्रीराधारानी हैं, ललिता हैं, श्रीकृष्ण हैं, मधुर वंशी बज रही है । सब हो सकता है; पर चलना होगा आपको ही, इसकी तैयारी करनी पड़ेगी आपको ही । सारा प्रपञ्च, सारा व्यवहार इसीके अनुकूल होनेपर ही स्वीकार्य है; अन्यथा तुरंत सबकी आहुति देनेके लिये सच्ची लगन रखनी पड़ेगी । मित्र रहेंगे, परिवार रहेगा, माँ रहेगी, पुत्र रहेंगे; आपके सिरपर पगड़ी, टोपी, बदनपर कोट भी ऐसा ही रहेगा; पर मनमें एक विलक्षण व्याकुलताकी आग जलती रहेगी । यह जलन बढ़ती ही चली जायगी । 'कैसे श्रीकृष्ण-चरणोंमें न्यौछावर हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ ?' एकान्तमें बैठकर रो पड़ियेगा । यह होगा उनकी कृपासे ही; पर उसके पहले आप भावना कीजिये, उनकी कृपा अनन्त है । कृपाको ग्रहण करते चले जाइये । 'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें द्वै न समाय ।'

६४. यहाँ आप जो वन, पर्वत, नदी, झरने, स्त्री, पुरुष, हिरन, गाय, पक्षी, महल, सड़क देखते हैं, जो कुछ भी स्त्री-पुरुषोंमें, पिता-पुत्रमें, मित्र-मित्रमें प्रेमका

भाव देखते हैं, इन्हें देखकर उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी कुछ कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें वह राज्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी उन-उन चीजोंके आधारपर ही ये चीजें भी कल्पित हुई हैं, उसके आधारपर ही ये चीजें हैं, उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी छाया-जैसी हैं। समझने-समझानेके लिये कोई दृष्टान्त ही नहीं है। एक दिन सोच रहा था, कैसे समझाऊँ? पासमें कमण्डलु पड़ा था, सूर्यकी किरणोंमें उसकी छाया पड़ रही थी। मैंने कमण्डलुको घुमाना शुरू किया। विचित्र-सी छाया बनती गयी। उस छायाको देखकर कभी तो यह अनुमान हो सकता था कि कमण्डलु इस छायाका आधार है; पर कभी-कभी तो यह पता ही नहीं लग सकता था कि ऐसी छायाका आधार भी कमण्डलु हो सकता है। कुछ ऐसे ही यहाँ भी समझ सकते हैं। यहाँ जो कुछ दीख रहा है—पहाड़, नदी, वन, सूर्य, चन्द्र, गाय, सरोवर, बर्तन, साड़ी, डंडा, स्त्री-पुरुषका ढाँचा, आपसमें प्रेमका व्यवहार—सब-की-सब चीजें उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी नकल हैं। इन सबका आधार वह सच्चिदानन्दमय राज्य ही है। पर वह दिव्य राज्य त्रिगुणात्मक मायाके आवरणके अन्तरालसे प्रतिभासित होकर विकृत हो जाता है। जहाँ आपको ये चीजें दीखती हैं, वहींपर महान् अनिर्वचनीय दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन है। पर अभी तो उसकी कल्पना सर्वथा असम्भव है। हाँ, इनको न देखकर इसके आधारपर दृष्टि डालते ही, मन टिकाते ही, इस भ्रान्तिमय छायास्वरूप राज्यकी निवृत्ति हो जायगी; फिर वह चीज देखनेको मिलेगी, जो सर्वथा सब ओरसे विकारहीन, सच्चिदानन्दमय है।

सच्चे वेदान्ती तो साधना करके सत्तास्वरूप सच्चिदानन्दमय राज्यमें विलीन हो जाते हैं। पर जो लड़ने-झगड़नेवाले हैं, उन्हें यह समझाना ही कठिन है कि ऐसी भ्रान्ति इस रूपमें क्यों होती है। उनकी बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि ठीक इस भ्रान्तिके अन्तरालमें कुछ-न-कुछ ऐसी ही, ज्यों-की-त्यों चीज है, जिसके कारण यह भ्रान्ति है।

यहाँ आप पदोंमें सुनते हैं—श्रीकृष्ण गोपियोंको छेड़ते हैं, किसीका हाथ पकड़ लेते हैं। अब ये चेष्टाएँ यद्यपि हैं ठीक ऐसी ही, पर ऐसी होकर भी ये लौकिक नहीं, परम दिव्य हैं, सर्वथा चित्-आनन्दसे सब ओरसे ओतप्रोत हैं। उन्हें बुद्धिसे समझा ही नहीं जा सकता। उनका तो कोई विरले भाग्यवान् महात्मा ही अनुभव करते हैं। अनुभवके पहले तो इन लीला-प्रसङ्गोंमें यहाँकी विकारमयी चीजोंके विकारमय भावोंका ही अधिकांश आरोप हो जाता है। महात्मालोग ऐसी लीलाको चीनीके तूँबेसे उपमा देते हैं। चीनीका बनाया हुआ तूँबा देखकर कोइ भी समझ नहीं सकता कि यह कड़वे तूँबेके अतिरिक्त कोई और चीज है। वह उसकी कटुताकी ही कल्पना सर्वथा करता है। ऐसे ही इस लीलाकी अत्यन्त माधुर्यमयी, सच्चिदानन्दमयी बातें भी अनधिकारियोंके द्वारा विकृत हो जाती हैं। सर्वथा श्रीकृष्णकी कृपासे जो साधनामें प्रवृत्त होता है, वही अनुभव करके निहाल होता है, अन्यथा कोई भी उपाय नहीं है। खूब सोच लें, यह दृढ़ सिद्धान्त मान लें—समस्त जागतिक आसक्ति मिटाकर, समस्त आश्रय त्यागकर श्रीकृष्णको पकड़ना होगा; केवल तभी इस लीलाका उन्मेष सम्भव है। नहीं तो ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंमें भी इसका उन्मेष हो ही, यह नियम नहीं है।

६५. जितनी चीजें आप देखते हैं, जो आपको प्यारी लगती हैं, जो भाव आपको प्यारा लगता है, यहाँ इस राज्यके सम्बन्धसे तोड़कर उसे दिव्य राज्यसे जोड़ दीजिये। सुन्दर-से-सुन्दर बगीचा देखा है, कुञ्ज देखी है, उसीके आधारपर उसमें दिव्यताका भाव करके, उसीका वृन्दावन-कुञ्जके रूपमें चिन्तन कीजिये। आपके मनमें बढ़िया-से-बढ़िया घड़ेकी जो कल्पना हो, उसका

मानसिक चित्र खींचकर उससे श्रीकृष्णका हाथ धुलाना है—यह समझकर उस कलसेका ध्यान कीजिये। इसी प्रकार जिस लीलाका भी वर्णन पढ़ते हैं, उसके प्रत्येक वाक्यमें एक-एक दो-दो चीजोंका उल्लेख मिलेगा, जिन्हें आपने देखा है। बस, उन्हींका चिन्तन कीजिये। एकसे मन उचटते ही दूसरेसे जोड़ दीजिये। जिस प्रकारसे भी हो, मनको उसी राज्यकी किसी वस्तुसे जोड़े रहिये। फिर निश्चय मानिये कि उसीको निमित्त बनाकर श्रीकृष्णके दिव्य राज्यमें प्रवेशाधिकार मिल जायगा। मन टिकते ही, इस भ्रान्तिमय राज्यकी निवृत्ति हो जायगी और फिर ठीक उसी जगह सत्य वस्तु, जो पहलेसे ही है, निरन्तर है, प्रकाशित हो जायगी। पूरी चेष्टा करके मनको इस जगत्से निकालकर, यहींपर चलती हुई लीलामें, परम रमणीयरूपमें, वृक्ष, बासन, साड़ी, पगड़ी आदिमें जोड़ दें; फिर निश्चय अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। अभी मन दिन-रात चिन्तन करता है रतनगढ़, कलकत्ता, पेटी, तिजोरी, कागज, पेंसिल, गली, सड़क, यहाँके बासन, यहाँके कपड़ोंका। इनके बदले उसे वृन्दावनीय पदार्थोंमें जोड़िये। यही करना है, बस, इतना ही करना है। फिर भगवान्की कृपाका समुद्र उथलकर आपके सामने असली वस्तुको प्रकट कर देगा।

६६. भगवान्की समस्त लीलाओंका आधार (मूल) एकमात्र श्रीराधिकाजी ही हैं। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण-की ह्लादिनी शक्ति हैं, स्वरूपा शक्ति हैं। ये ही अनन्त रूप धारण करके श्रीकृष्ण-लीलाका सामञ्जस्य करती हैं। श्रीराधाजीकी प्रेमलीला इतनी ऊँची है कि वस्तुतः वे जिसे कृपा करके कुछ दिखाना चाहें, वही देख सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे आज भी हैं और भावनाके अनुसार जैसी भी इच्छा कीजियेगा, वैसी ही उसी क्षण उस इच्छाकी पूर्ति कर सकती हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही राधा हैं। इनमें तनिक भी, रत्तीभर भी किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, व्रजमें हुई थी।

तीन महात्मा घूम रहे थे। घूमते-घूमते उनमें जो कुछअधिक आयुके थे, वे तो थक गये। उन्होंने कहा—'भैया, अब तुमलोग जाओ; मैं तो अब यहीं आराम करूँगा।' तीनोंने दिनभर कुछ भी नहीं खाया था। अतः एक तो ठहर गये, दो आगे बढ़े। बरसाना निकट आ गया। दोनों बड़े श्रद्धालु थे। दोनोंने आपसमें सलाह करके यह निश्चित किया कि आज चलो, श्रीजीके अतिथि बनें। बात विनोदमें हुई थी, अतः उन लोगोंने फिर इसपर विचार नहीं किया। सोचा—अब रात हो गयी है, कहाँ माँगने जायँ; यहीं रातमें मन्दिरमें जो कुछ प्रसाद मिल जायगा, उसे खाकर पानी पी लेंगे। उस दिन मन्दिरमें उत्सव था। उत्सव देखनेमें लग गये। उत्सव समाप्त हुआ, लोग चले गये। करीब ग्यारह बजे मन्दिरके पुजारीजी जोर-जोरसे पुकारकर कहने लगे—'अरे यहाँ दो आदमी श्रीजीके अतिथि कौन हैं?' इन लोगोंने आवाज सुनी, वह विनोदकी बात याद आ गयी। फिर प्रेममें विभोर हो गये। दोनोंने कह दिया—कोई होगा। पश्चात् पुजारीजी इन दोनोंको ले गये और प्रसादमें जो-जो बढ़िया-से-बढ़िया चीजें थीं, भरपेट खूब प्रेमसे दोनोंको खिलायीं। इन लोगोंने प्रेममें भरकर खूब आनन्दसे प्रसाद पाया तथा पूर्ण तृप्त होकर उसके बाद एक छतरीमें जाकर सो रहे, वह वहाँसे दूर, कुछ ही दूर हटकर थी। जो सोनेके बाद दोनोंको एक ही समय एक ही स्वप्न आया। दोनोंने देखा, 'एक अत्यन्त सुन्दर बारह वर्षकी बालिका आयी है और पूछ रही है—'क्यों, तुमलोगोंने भरपेट भोजन तो किया? हमारे अतिथि हो न?' उन लोगोंने स्वप्नमें ही कहा—'खूब छककर खाया।' बालिका बोली—'पर आज प्रसादमें खूब बढ़िया पान था, पुजारी वह देना भूल गया। वही पान लेकर मैं आयी हूँ।' यह कहकर उसने दोनोंके पास दो-दो खिल्लियाँ पानकी रख दीं। उसी समय दोनों-की नींद खुल गयी। उठकर देखा तो सिरहाने दो-दो

बीड़े पानके रखे हुए हैं । दोनों रोने लगे, प्रेमसे व्याकुल हो गये । पानकी बीड़ी मुँहमें रखकर प्रेममें अधीर हो गये । दोनोंने अपना स्वप्न एक दूसरेको सुनाया—एक ही समयमें दोनोंको एक ही स्वप्न हुआ था।

यह सच्ची घटना है और जिनको ऐसा अनुभव हुआ है, वे शायद जीवित हैं । बात इतनी ही है कि श्रीराधारानी, श्रीकृष्ण केवल विश्वास देखते हैं; फिर जैसे भरपेट भोजन देकर उनको अतिथिके रूपमें स्वीकार कर लिया, वैसे ही सच्चे विश्वासके साथ उनका दर्शन चाहनेवाले, उनकी लीलाको देखकर कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवालेको वे अतिथि बनाकर उसका अतिथि-सत्कार कर सकते हैं । उनके लिये सभी समान हैं, किसीके प्रति भेदभाव नहीं है । अतः आप यदि अनन्य मनसे आतुर होकर श्रीकृष्णसे, श्रीराधारानीसे चाहें कि 'बस, आपका निरन्तर चिन्तन हो, निरन्तर आपकी लीला सुननेको मिले' तो सच मानिये, देरीका काम नहीं है। अवश्य इस प्रार्थनाको वे सुनेंगे । पर प्रार्थना सच्ची हो तब । जबतक आपकी प्रार्थना सच्ची नहीं हो, तबतक झूठे ही मनसे बार-बार कहते रहिये । झूठी प्रार्थनाको भी वे कृपा करके समयपर सच्ची बना देते हैं ।

आपकी यह चाह बड़ी उत्तम है कि निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण बना रहे और लीला सुननेको मिले । यह बहुत ही उत्तम चाह है । बस चाहते चले जाइये, झूठी-सच्ची जैसी भी चाह हो—चाहते ही चले जाइये । चाह बनी रहेगी तो वह कभी सच्ची भी हो जायगी और किसी-न-किसी दिन पूर्ण कृपाका प्रकाश होगा ही ।

भगवान्‌की लगन

(लेखक—डा० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०)

(१)

भगवान्‌का साक्षात्कार करनेके लिये किसको अधिक बढ़ाना चाहिये—हृदयको या मस्तिष्कको ? मस्तिष्कके द्वारा उसका साक्षात्कार करनेकी प्रक्रिया ज्ञानमार्गके नामसे अभिहित होती है और हृदयके द्वारा उसको जानना भक्तिमार्गके नामसे कहा जाता है । इन दोनोंमें हृदयको ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ माना है । हृदयके द्वारा भगवान्‌को पाना सुकर है । जैसे बिजलीके द्वारा किसीको छू दिया जाय, तो शरीरभरमें सनसनी-सी फैल जाती है, उसी प्रकार हृदयको जाग्रत् करनेपर शरीरभरमें विशेष चेतनता फैल जाती है । हृदयमें भावावेश होनेपर मनुष्यमें विशेष शक्ति आ जाती है, जिसके बलपर वह अशक्य कार्योंको भी कर डालता है । इसीलिये भावोन्मेषके लिये सदा बड़े लोगोंका ध्यान रहता है । राजनीतिक नेता इसीलिये हृदयको अपील करके जनताको उकसाया करते हैं, मस्तिष्कको अपील करनेपर वह काम हो नहीं सकता । उसमें मीन-मेष करनेके लिये बहुतसे स्थान होते हैं। तर्क-वितर्क करनेकी बहुत जगह रहती है, पर हृदयपर प्रभाव डालते ही अन्य इन्द्रियाँ शिथिल होकर उसीमें केन्द्रित हो जाती हैं । अतः हृदयको जाग्रत् करना क्या है, समग्र चेतनापर एकदम अधिकार करना है । इसीलिये हृदयको उन्नत बनानेकी बात अपना महत्त्व रखती है ।

भगवान्‌को पानेके लिये जितने साधन किये जाते हैं, उनके द्वारा यदि हृदय विकसित न हो तो उनका विशेष उपयोग नहीं है । मन्त्रजप तभी सार्थक है, जब उससे भगवान्‌में प्रीति जगे; स्तोत्रपाठका तभी उपयोग है, जब उससे भगवान्‌के रूप या स्वभावका सच्चा परिचय मिलते हुए उनमें अनुराग बढ़े । यदि इनसे यह काम न होगा तो इनको अधूरा कहना होगा । अच्छा, तो मनुष्यकी सब इन्द्रियोंमें बाहरीकी अपेक्षा अन्तःकी शक्तिशालिता स्फुट ही है और इस त्रिविध अन्तःकरणमें हृदय सर्व श्रेष्ठ है । अतः उसीके द्वारा किये गये कार्य सफल हो सकते हैं और अधिक शीघ्रतासे हो सकते हैं । इसलिये इसकी जागृतिके लिये सदा सावधान रहना चाहिये । यदि वह चक्र जाग्रत् हो गया तो भगवत्साक्षात्कारमें विलम्ब न होगा ।

(२)

हृदयमें भगवान्‌के लिये व्याकुलता होना कितना कठिन है । संसारके प्रेमी जनोंके लिये हम संसारी जीवोंका हृदय व्याकुल हो जाता है। प्रणयिजनोंमेंसे किसीको किसी प्रकारकी

हानि पहुँचेगी, इस कल्पनासे ही हृदयमें व्याकुलता आ घुसती है। हृदय कभी स्त्रीके लिये व्याकुल है, तो कभी पुत्रके लिये चिन्तित है। कभी संचित धन-राशिके लिये व्याकुल है, तो कभी अपने ऐश-आरामके साधन एकत्र करनेमें मगन है। इन चीजोंमें उसका मन अपनेसे लगता है। समझता है ये चीजें हमारी हैं, ये वस्तुएँ हमारे कामकी हैं। अतएव इनके लिये व्याकुल बना रहता है। पर भगवान्‌के लिये क्या कभी वह व्याकुल होता है? कभी नहीं। जो हमारा परम आधार है, जिससे वियुक्त होनेपर असंख्य जनन-मरणके विकट दुःखोंको काटते-काटते भी उनका अन्त नहीं होता। जो हमारा एकमात्र गम्य स्थान है अथवा जो हमारा सच्चा किल्बिषरहित स्वरूप है, उस भगवान्‌के लिये क्या हमलोग उस व्याकुलताका कभी अनुभव करते हैं, जिसे हम अपने स्त्री-पुत्रादिके लिये नित्यप्रति किया करते हैं। हृदयपर हाथ रखकर पूछा जाय तो वह निषेधात्मक उत्तर देता है। जब व्याकुलता ही नहीं, तब भगवान्‌का साक्षात्कार कैसे हो? भगवान्‌के लिये जब हृदयसे पुकार उठे, तब तो वह आये। हृदयमें जिसके व्याकुलता है, वह उसपर आक्रमण करके बैठा रहता ही है। यदि भगवान्‌के लिये व्याकुलता रहेगी तो हृदयमें भगवान्‌का संचार अवश्य हो जायगा। अतएव ओ मेरे हृदय! उस मित्रके लिये व्याकुल हो, जिसके समान बन्धु दूसरा इस जगत्‌में कोई नहीं। उस माताके लिये रो, जिसके समान ममतावाली माता कोई है ही नहीं। उस पिताकी चिन्ता कर, जिसके समान पुत्र-वत्सल दुनियामें कोई नहीं। उस प्रियतमके लिये व्याकुल बन, जिसके समान सुन्दर और रसमय प्रेमी कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उसे जो चाहे, सो समझ; परंतु उसके लिये व्याकुल अवश्य हो। आलस्य छोड़कर उसके पीछे पड़, तभी तो वह मिलेगा। अन्यथा मृगमरीचिकाकी भाँति वह केवल विकल्पमात्र बना रहेगा। अतः यदि कल्याण चाहता है तो बस, व्याकुल बन। खाते व्याकुल बन, पीते व्याकुल बन। सोते व्याकुल बन। हरदम व्याकुल बना रह उसके लिये। वह जरूर मिलेगा, व्याकुलता जरूर मिटेगी; पर उसके लिये व्याकुलता सच्ची होनी चाहिये। अतएव संतलोग झूठी व्याकुलताकी भी सराहना करते हैं। आखिर वह सच्चे मार्गपर तो चल रहा है।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

भगवान् थोड़ेहीसे प्रसन्न हो जाते हैं। वे भक्तोंसे बहुत नहीं चाहते। श्रीकर्दमजीने अपनी स्तुति (भागवत स्कन्ध ३, अध्याय २१) में इसी बातपर विशेष जोर दिया है कि भगवान् आत्मज्ञानके द्वारा प्राणियोंको कर्मोंके फलसे उपरति देते हैं तथा अपनी मायासे इस जगत्‌का व्यवहार चलानेके लिये अनेकों साधनोंको उत्पन्न करते हैं। ऐसा होनेपर भी वे थोड़ी-सी आराधनासे ही भक्तोंका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं। ऐसे भगवान्‌को हम सदा नमस्कार करते हैं—

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम्।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम्॥

(भागवत ३। २१। २१)

वह थोड़ी भी आराधना नहीं, जिसमें व्याकुलता न हो। भक्तके प्रेममय हृदयकी पहचान तो होती है इसी व्याकुलताकी बदौलत। व्याकुलता उसीके लिये होती है, जिसे चित्त नितान्त चाहता है और जिसके वियोगमें वह असीम वेदनाका अनुभव करता है। उपासनामें इस मानस स्थितिकी नितान्त आवश्यकता है। यदि उपासना करते समय चित्त द्रवीभूत नहीं होता, उसका काठिन्य कोमलताके रूपमें परिणत नहीं हो जाता, तो वह क्या सच्ची उपासना है? वह तो केवल नियमकी पाबंदी है। सच्ची लगनके लिये व्याकुलता महनीय भेषज है।

घरघाला बाँसुरी

खेलत हौ खरिकान धँसे गुनी गोरस लालची नंदके लाला,
पोरन पोरन सौं परचीं तुम्हरी नस जानतीं गोकुल बाला।
नैनन सैननके नटिहा, करिहाँ मटकै, लटकै गलमाला,
खोलती हौं सिगरे गुन लाल, न बोलती यों बँसुरी घरघाला॥

'निधिनेह'

सुराज्य

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)

गोस्वामीजीने लिखा है—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥
जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

इन पंक्तियोंमें राजनीतिका बड़ा अच्छा तत्त्व आ गया है। राज्य-व्यवस्थाके प्रधान अङ्ग हैं राजा-रानी, अमात्य (मन्त्री या सचिव), राज्य-कोष, राजसेना, राज्य अथवा देश और राजधानी।

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।

इस व्यवस्थाका उद्देश्य है—कण्टक बननेवाले आततायियों-का उन्मूलन करना और इस तरह प्रजाको सब प्रकार सुखी तथा समृद्ध बनाना। चाहे एकतन्त्र राज्य हो, चाहे गणतन्त्र हो, सभीके सम्बन्धमें इन तत्त्वोंपर विचार करनेकी आवश्यकता होती है। राजाके अर्थमें राष्ट्रपति, प्रजातन्त्रीय मन्त्री, कार्यपालनाधिकारी आदि सभी सम्मिलित हैं। मन्त्री-के (सचिवके) अर्थमें प्रजातन्त्रात्मक सचिव तो हैं ही; साथ ही विधान-सभासद्, संसद्-सदस्य, राजनीतिक दलोंके पदाधिकारी आदि भी सम्मिलित हैं। रानीके अर्थमें राजाके स्नेही, उसके अवैतनिक सलाहकार, शासनतन्त्रसे निरपेक्ष रहकर भी उसके परम हितकी कामनावाले, राजाकी सुविधाओं-की व्यवस्थावाले, शासनको रूखा तर्कवादी होनेसे बचानेवाले आदि-आदि सब सम्मिलित हैं।

अब राज्यव्यवस्थाके एक-एक अङ्गपर विचार कीजिये। गोस्वामीजी कहते हैं कि राजाको विवेकका अवतार होना चाहिये। वह मूर्तिमान् विवेक हो। जिसके हाथमें शासनसूत्र है, उसका विवेक ही गड़बड़ा गया तो फिर सुराज्यकी समाप्ति ही समझिये। विवेक ही उसका धर्म है। जो धर्मशील नरनाथ है, उसके पास ही साम-दाम-दण्ड-भेदकी नृप-नीतियाँ मुकुट-स्वरूप होकर रह सकती हैं। मानव-स्वभाव समता और विषमताके पेचीदे सम्मिश्रणसे कुछ इस तरहका रहा करता है कि उसको नियन्त्रित रखने और साथ ही उन्नत करते रहनेके लिये निर्मल विवेककी ही सबल भुजाएँ चाहिये। समता और विषमतावाले वर्णाश्रम-धर्मको प्रधानता देनेवाला परम्परागत धर्म-शास्त्र, या नये-नये कानूनोंके रूपमें युग-धर्म-को अथवा देश-कालको प्रधानता देनेवाला नव-निर्मित विधि-शास्त्र ही अकेला इस शासन-तन्त्रको चलानेके लिये पर्याप्त नहीं है। असली शासन तो शास्त्रों या शास्त्र-पंक्तियोंसे नहीं, किंतु व्यक्तियोंसे चलता है। शास्त्र-वाक्य कितने भी अच्छे हों, किंतु उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति यदि निकम्मे, चोर या घूसखोर रहें तो शासन केवल कागजी शासन रह जायगा। जैसे केवल शास्त्रसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही शासकके केवल शीलसे भी काम नहीं चल सकता। बड़े-बड़े शीलवान् शासक फेल हो गये हैं जबतक कि उन्होंने इस बातका भी प्रबन्ध नहीं कर लिया कि उनके आदेशोंसे शासितकी अभीष्ट-सिद्धि हो पायी कि नहीं। चक्रके चक्रव्यूहमें फँसकर बेचारा भगवान् पण्डित भूतताको प्राप्त हो गया। छात्रोंको दानका विचार रखनेवाले राजासे यह कह दिया गया कि उसके राज्यमें कोई अभावग्रस्त ही नहीं है। इसी तरहके ढेरों उदाहरण दिये जा सकते हैं। शासन-तन्त्रके प्रयोक्ताका विवेक ही वह तत्त्व है, जिसके द्वारा देश-काल-पात्रकी पूरी परख हो सकती और किस परिस्थितिमें क्या करना विशेष हितकर होगा, इसका निर्णय हो सकता है। दूर बैठकर यह निर्णय करना कठिन है। स्थानिक कर्मचारी अथवा 'मैन ऑन दि स्पाट'की इसीलिये इतनी महत्ता है। उसके विवेकको उचित सम्मान देना ही चाहिये। विवेकशील शासककी दृष्टिमें बहुमत और अल्पमतका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। वह तो विवेककी तुलाको ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। जनमतको लोग अस्थिर कहा करते हैं। उस बालूपर भीत उठाकर कितना सुदृढ़ महल बनाया जा सकेगा। विवेकशील शासकके लिये उत्तमोत्तम नियमोपनियम बनाते रहनेका भी कोई विशेष मूल्य नहीं रहता; क्योंकि आखिर वह गहना किस कामका, जिससे अङ्ग कटे। उसका तो परम ध्येय यही होता है कि वह—

पालइ पोसइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक।

गोस्वामीजीका यह दोहा, जिसमें वे कहते हैं कि—

मुखिआ मुखु सो चाहिएँ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोसइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

राजधर्म-सर्वस्व बतलानेमें बड़े मार्केका है। उसका भी इस प्रसङ्गमें स्मरण कर लिया जाय।

दूसरा तत्त्व है सचिवोंका। जितने भी लोग पदेन परामर्शदाता हैं, चाहे वे प्रतिनिधि-मण्डलके सदस्य हों, चाहे राज्य-परिषद्के सदस्य हों, चाहे सचिवालयके सदस्य हों और चाहे विविध राजनीतिक दलोंके अधिकारी हों, वे सब सचिव ही हैं। सचिवोंको विरागकी प्रतिमूर्ति अथवा उसका मूर्तिमान् अवतार होना चाहिये। यों तो राजनीतिका अर्थ ही हो गया है—स्वार्थ या आत्मोदय; और इसलिये आजकल पूरे वेतनभोगी सचिवोंको छोड़कर शेष सब किसी-न-किसी स्वार्थका प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु जिस किसी सलाहमें सचिवका निजी स्वार्थ संनिहित होगा अथवा जो सलाह वह अपने स्वार्थकी प्रेरणासे देगा, वह कहाँतक विवेकानुकूल होगी, यह कहना कठिन है। अपने या अपने दलके स्वार्थसे वस्तुस्थिति-को सामने रखना एक बात है और अनासक्तभावसे वस्तुस्थिति-का विचार करके राय देना एक दूसरी ही बात है। पूर्वकालमें सचिवमण्डलमें ऐसे ही व्यक्ति रखे जाते थे, जिनकी निःस्वार्थ सेवाओंका पूरा विश्वास हो चुकता था। इन्हें एक प्रकारसे ब्राह्मणवर्ग कह सकते हैं। शासक-वर्ग अथवा क्षत्रिय-वर्ग इससे एकदम पृथक् था। शासक-वर्ग तो अब भी पृथक् ही रह सकता है और प्रायः रहता भी है, परंतु उसके सचिव-वर्गके लिये विशेषतः अवैतनिक सचिववर्गके लिये उनकी मर्यादा बाँधनेवाले उपयुक्त नियम अभीतक बन नहीं पाये हैं। इसलिये एक ओर वे अपने-अपने स्वार्थ भी अपने साथ चिपकाये रखते हैं और दूसरी ओर अपनेको भी शासक मानकर समय-असमय जब चाहे, तब शासनमें हस्तक्षेप किया करते हैं, जिससे शासकको अपने विवेकके प्रयोगका उन्मुक्त वातावरण नहीं मिलने पाता। सुराज्यके लिये यह सबसे बड़ी बाधा है।

अब तीसरा तत्त्व देखिये। 'शांति सुमति सुचि सुंदर रानी।' रानी राजाकी परमहितैषिणी, उसको सब तरहसे प्रसन्न रखनेवाली, उसके जीवनमें सरसता लानेवाली, उसकी अवैतनिक सलाहकार, शासनसे तटस्थ रहते हुए भी शासनके सम्बन्धमें समुचित परामर्श देनेवाली, न्यायकी कठोरताको दयाकी कोमलतासे आर्द्र रखनेवाली, स्नेहसिक्त वातावरणको समृद्ध करनेवाली होती है। इसलिये ऐसा दल भी शासन-व्यवस्थाका एक आवश्यक अङ्ग है। संस्कृतके नीति-कारोंने उन्हें सुहृत्की संज्ञा दी है। गोस्वामीजीने रानीके भावमें उन्हें समाविष्ट कर लिया है। ऐसे दलमें बाहरी और भीतरी दोनों तरहका सौन्दर्य आवश्यक है। व्यवहारका सौन्दर्य बाहरी है और विचारों तथा चारित्र्यका सौन्दर्य—दिमाग और दिलका सौन्दर्य—भीतरी है। 'सुमति' से विचारका सौन्दर्य, 'शुचि'से चारित्र्यका सौन्दर्य और 'सुन्दर' से रूपका अथवा व्यवहारका सौन्दर्य, लक्षित किया गया है। नारीकी पूर्णता सुमति, शुचिता और सुन्दरतामें ही है। राजाकी रानी अथवा अर्धाङ्गिनीको तथा राजाके सुहृदोंको शान्तिका मूर्ति-मन्त रूप होना चाहिये। विवेक मस्तिष्ककी वस्तु है और शान्ति हृदयकी। राज्य-व्यवस्था बहुत विवेकपूर्ण हो; परंतु फिर भी यदि वह हृदयको संतोष नहीं दे सकती—शासकके हृदयको और शासितके हृदयको भी, तो वह अधूरी ही है। जन-संतोषके लिये कई अवसरोंपर विवेकपूर्ण व्यवस्थाओंमें भी हेर-फेर करना पड़ जाता है। लोगोंमें शान्ति बनी रहे, यह शासनका मुख्य ध्येय रहता है। वह शान्ति भी मुर्दोंकी-सी न हो। वह जीवित-जाग्रत् शान्ति हो, जो सद्विचार, सच्चारित्र्य और सद्व्यवहारको प्राणवान् करते हुए बनी रहे। शासक ऐसे लोगोंसे मेल-जोल बढ़ाये, जो 'सुमति-शुचि-सुन्दर' शान्ति-के वर्धक हों, यों तो संसारमें व्यर्थकी चिल्लाहट मचानेवालों और चाटुकारोंकी कमी नहीं है, परंतु उनको बढ़ावा देते रहनेसे व्यर्थकी अशान्ति ही बढ़ती है। (इस प्रसङ्गमें नारीकी महिमा-का जो संकेत हो गया है, वह भी अवलोकनीय है।)

चौथा तत्त्व है राजकोषका। आजकल राजकोषका अर्थ माना जाता है रुपया-पैसा तथा अस्त्र-शस्त्र। परंतु क्या मानव-समाजका यही वास्तविक धन है? धनका असली अर्थ है, वह शक्ति जिससे भविष्यकी सुख-सुविधा खरीदी जा सके। क्या हम अस्त्र-शस्त्रसे या रुपये-पैसोंसे भविष्यकी सुख-सुविधा खरीद सकते हैं? यदि ऐसा है तो रावणको किस बातकी कमी थी! भविष्यकी सुख-सुविधा 'कामार्थधर्म' में नहीं; किंतु 'धर्मार्थकाम' में निहित है, वह राष्ट्रके चारित्र्यमें निहित है। राज्यव्यवस्थाका वही सच्चा कोष है। यह चारित्र्य-आस्तिक्य भावके बलपर—चित्तमें रामचरण-आश्रित रहनेके चावपर—विशेषरूपसे निर्भर रहता है। अतएव सुराज्यके कोषकी सर्वाङ्गीण पूर्णता इसीमें है कि उसके चित्तका चाव रामचरणा-श्रयके प्रति हो। 'सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥' यह वह मूलस्रोत है, जिसका जल पाकर समृद्धि-की सभी नदियाँ उमड़ उठती हैं और जिन समृद्धि-सरिताओंमें

यह मूलस्रोत नहीं है, वे पूर्व-सुकृतका क्षणिक चमत्कार दिखाकर देखते-देखते अन्तर्धान हो जाती हैं।

'सजरु मूल जिन्ह सरितन्हि नाहीं। समय गएँ पुनि जाहिं सुखाहीं॥

जिस राज्य-व्यवस्थाने धर्मकी परवा न की, वह राष्ट्रकी सामूहिकताकी भी कबतक परवा करेगी, अन्ताराष्ट्रीय सौहार्द-पर भी कहाँतक दृढ़ आस्था रख सकेगी? मनुष्यका अनुचित गर्व ढहानेमें, विद्वेषकी सँकरी सीमाएँ काटनेमें, प्रेमके विस्तारको विश्वबन्धुत्वतक ही नहीं किंतु 'विश्वात्मैक्य' तक ले जानेमें, मानव-जीवनके सच्चे ध्येयको सर्वोपरि रखकर उसे आगे बढ़ानेमें ईश्वर-निष्ठासे बढ़कर और कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं। यह सच्चा कोष जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्रके हाथ लग गया, वह भविष्यकी सारी सुख-सुविधाएँ खरीदनेमें पूरा सक्षम हो जाता है।

पाँचवाँ तत्त्व है—राज्य अथवा देश या राष्ट्रका। उसे न केवल सुहावन, किंतु पावन भी होना चाहिये। सुव्यवस्थित बसा हुआ राज्य सुहावन रहता ही है और यदि उसमें पावन विचारधारा बहती हो तो उसे वास्तविक देश कहना चाहिये। अन्यथा वह देश होते हुए भी विपिन है। और यदि विपिनको भी सुव्यवस्थित और पावन ढंगपर बसा दिया गया तो वही उत्तम देश बन जाता है।

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहहिं दिवस जहँ तरनि प्रकासू॥

राज्यव्यवस्थाने यदि सुहावन देशको पावन न बनाया तो उससे लाभ ही क्या? वास्तवमें तो सुहावन देश वही है, जो पावन भी हो। जो देशका हाल है, वही राष्ट्रका भी समझिये। पूरा राष्ट्र ही व्यवहारमें सुहावन हो और विचार तथा भावमें पावन हो, तभी सुराज्य है।

छठा तत्त्व है—राजधानी। गोस्वामीजीने लिखा है कि राजधानीको शैलके समान होना चाहिये। संस्कृतके नीति-कारोंने इसे ही दुर्गकी संज्ञा दी है। प्रत्येक राज्यमें एक केन्द्र तो ऐसा होना ही चाहिये, जहाँसे सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था संचालित हो। उस केन्द्रका न केवल भौतिक स्तर किंतु मानसिक स्तर भी ऊँचा होना चाहिये, जहाँसे चारों ओरके क्षेत्रोंका भली-भाँति निरीक्षण हो सके। वह शैल या दुर्गके समान सुदृढ़ और सारगर्भ हो। उससे निःसृत विचारों, भावों और साधनों-के निर्झर पूरे राज्यके प्रदेशको (समूचे विपिनको) हरा-भरा रखें। शैलमें जलभंडार उसी विपिनसे आता है—पृथिवीमें सूखकर अन्तर्निहित स्रोतोंसे होकर; परंतु वह अलक्षित रहता है। वही जलभंडार अनेक गुना अधिक होकर जन-कल्याण-के लिये प्रवाहित होता है, जिसे दुनिया देखती है। इस प्रसङ्गमें आय-कर-व्यवस्थाका जितना सुन्दर चित्रण मनु और कालि-दासने किया है, वह भी ध्यानमें रखा जाने योग्य है।

सातवाँ तत्त्व है—राजसेना। राज्य-व्यवस्थाके लिये राज्य-सेना रखना आवश्यक होता है। सेना न केवल बाहरी आक्रमणका प्रतीकार करती है, किंतु आन्तरिक शान्ति भी बनाये रखती है, जिससे किसी भी ओरसे कोई विकृति न आने पावे। असली सेना वेतनभोगियोंकी नहीं रहा करती। सच्चा सैनिक वह है, जो अनुशासनका पूर्णव्रती हो और संयमका सच्चा धनी हो। यम और नियमके तत्त्वोंसे बढ़कर और कोई सैनिक शक्ति नहीं है, जो किसी भी जन-समाजको भीतरी अशान्ति और बाहरी आक्रमणोंसे सदाके लिये बचा सके। यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम हैं—तप, शौच, संतोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। देश-कालके अनुसार इन सैनिकोंका क्या रूप तथा कैसा प्रशिक्षण रहे, यह देखना विवेक रूपी नरेशका काम है; परंतु यदि वह इस सैनिकशक्तिको भलीभाँति संगठितरूपमें बढ़ाकर नहीं रख रहा है तो न तो वह आन्तरिक अशान्तिको दूर रख सकेगा, न बाहरी आक्रमणसे ही अपनेको या अपने राज्यको बचा सकेगा।

ऐसे राज्यका यदि कोई शत्रु हो सकता है तो वह है मानव-स्वभावमें बरबस प्रवेश करनेवाला मोह। मोहको ही गोस्वामीजीने सब व्याधियोंका मूल कहा है। मोहको ही उन्होंने 'रावण' बताया है। विवेकका यदि कोई प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है तो वह है मोह। मोहके बलपर ही क्षुद्र स्वार्थ सिर उठाता है और समाजमें काम, क्रोध, लोभ या रागद्वेष, आलस्य, अनाचार, अनास्था आदिके चक्र चलते हैं। ये ही सब उसके दल जिनके बलपर हैं, वह विवेकके सुराज्यपर आक्रमण करता रहता है। यदि विवेकके पास यम-नियमके सैनिक प्रबल हैं, अनासक्तिका सचिव जाग्रत् है, ईश्वर-निष्ठाका कोष भरपूर है, शान्तिका साहचर्य विद्यमान है तो वह मोहपर और उसके समूचे दल-बलपर भी अवश्य विजय प्राप्त करेगा। मोहको इसप्रकार उसने पछाड़ दिया तो फिर उसका राज्य निष्कण्टक हो जायगा और वह अपने राज्यके सुख-सम्पत्ति और सुकालका पूरा प्रवर्तक बन जायगा।

सम्पदा बाहरका साधन है, सुख मनकी स्थिति है और सुकाल इन दोनोंका संयोग करानेवाला अवसर है। सुराज्यमें इन तीनोंका सामञ्जस्य तो होना ही चाहिये। यह होगा तब,

जब यम-नियमके द्वारा मोहको परास्त किया जाय और विवेक, वैराग्य, ईश्वरनिष्ठा तथा जाग्रत् शान्तिका उचित मूल्याङ्कन हो। यही गोस्वामीजीकी सुराज्यकी कल्पना है। इसे ही आगे चलकर उन्होंने 'रामराज्य'के रूपमें दिखाया है।

चित्रकूटमें भगवान् रामने निवास किया। उनके निवास करते ही वनकी सम्पत्ति लहलहा उठी। मानो सुराज्य पाकर प्रजा प्रफुल्ल हो उठी हो। वहाँ शान्तिपूर्ण विवेकका साम्राज्य छा गया, वैराग्यका बोलबाला हुआ, यम और नियमके प्रचारसे मोह सदलबल भाग खड़ा हुआ और पूरा विपिन सुहावन तथा पावन हो गया। सबमें राम-चरणाश्रित रहनेका चाव खिल उठा। जहाँ प्रभुका निवास है, वहीं सुराज्य है। सुराज्यका प्रेमी प्रभुके इस निवासको पहिचाने, यही इस वर्णनमें गोस्वामीजीका संकेत है। मुगलोंकी विदेशी सत्तामें सुराज्यके दर्शन करने हों तो प्रत्येक भारतीय अपने चित्तरूपी चित्रकूटमें रामको बसा ले, यही उनका परोक्ष उपदेश था।

'इक दिन जाना है भाई !'

(लेखक—बाबू श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

आया है सो जायगा राजा रंक फकीर।
कोउ सिंघासन चढ़ि चले कोऊ बँधे जँजीर॥

राजा-रंक, योगी-महात्मा, पापी-धर्मवान्, अमीर-गरीब सबको एक दिन जाना है। बड़े-बड़े किले, अट्टालिकाएँ, सुरम्य उद्यान—सब मृत्युदेवके एक-एक ग्रास हैं। चन्द्रमुखी स्त्रियाँ, प्यारा पुत्र, सुन्दर शरीर, प्रबल यौवन, भयंकर सत्ता—सभी कालके गर्भमें विलीन हो जाती हैं—इस तरह विलीन हो जाती हैं कि ढूँढ़नेपर भी उनका पता नहीं चलता। मुसकराते हुए राजभवनकी जगह बीभत्स श्मशान-भूमि है; प्राचीन नगरोंकी छातीपर घास-पात, वृक्ष, जंगल, उल्लू और सियारका राज्य है। जिस घरमें बालक-बालिकाओं, युवक-युवतियों और जेठे-बड़ोंका कोलाहल होता था, वहाँ आज निस्तब्धता छायी हुई है। उत्तम कुल, अनन्त सम्पत्ति, बड़ी चतुरता, अतुल बल कोई भी एक क्षणके लिये बचा सकनेमें असमर्थ हैं। सर्वभक्षी मृत्युदेव ! तेरे चरणोंमें प्रणाम है।

ईश्वरकी लीला बड़ी विचित्र है। वह कितना सुन्दर और उपयोगी मनुष्य-शरीर बनाता है ! फिर उसे मृत्युके मुखमें चला जाने देता है ! एक ओर संसारकी रचना करता है और दूसरी ओर प्रलयके दृश्य दिखलाता है। वह चूहे बनाकर बिल्ली भी बनाता है, सर्प भी बनाता है और गिद्ध भी, मृग-के साथ सिंह बनाता है और मछलीके साथ मकरकी सृष्टि करता है। उसकी कारीगरी लवा और बाज बनानेमें, उदय-के साथ अस्त करनेमें और जन्मके साथ मरणको गूँथ देनेमें ही चरितार्थ हो रही है। वह बड़ा ही विचित्र खिलाड़ी है। उसके खेलोंका रहस्य वही जाने। एक ओर छठीका उत्सव है, दूसरी ओर श्मशानकी तैयारी है। कहीं एक युवतीके माथेपर सिन्दूर चढ़ रहा है, कहीं दूसरी अभागिनीका जीवन-सर्वस्व कूच कर रहा है। मिलनका अन्त वियोगमें होता है। मुसाफिरखानेमें देखिये, लोग अपनी-अपनी गठरियाँ बाँध रहे हैं। सब धीरे-धीरे तैयारी कर रहे हैं—कोई जानकर और कोई अनजानमें। बूढ़ा औरंगजेब रोता हुआ जा रहा है और युवक अभिमन्यु हँसता हुआ।

मृत्युदेवको भला, कौन अपने पास ठहराना चाहेगा ? इसीलिये उसने अपना घर श्मशानभूमिमें बनाया है। उसके राज्यमें भेदभाव नहीं है। वह राजाको जितनी जमीन देता है, उतनी ही भिखारीको। उसकी निगाहमें बड़ी समानता है, उसके आगे सब बराबर हैं। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े—सबके लिये एक ही तराजू है। समदर्शी मृत्युकी गोदमें आजन्मके वैरी एक साथ सोते हैं। उसके राज्यमें हिंदू-मुसल्मान और ब्राह्मण-शूद्रका भेद-भाव नहीं। परंतु राज्यमदमें बड़े-बड़े समदर्शी अन्याय करने लगते हैं। राजसत्ता सबको मतवाला बना देती है, इसीलिये समदर्शी मृत्युदेव भी अत्याचार और स्वेच्छाचारसे नहीं चूकते। वे नन्हे-नन्हे बच्चोंपर भी अपना हाथ साफ करते हैं और तरुण-समुदायको भी कुचल डालते हैं। जहाँ किसी राज्यमें अंधेर होने लगता है, वहाँ राजद्रोही भी पैदा हो जाते हैं। देखिये न, मृत्युदेवके राज्यमें भी कुछ बागी दिखायी पड़ते हैं। जितने समाधिवाले तपस्वी, प्राणायामवाले सिद्ध, अखण्ड ब्रह्मचर्यवाले व्रती, अचल तप करनेवाले योगी और विषय-वासनासे दूर रहनेवाले महापुरुष हैं—सब-के-सब बागी हैं। इन लोगोंने मृत्युदेवके एकच्छत्र राज्यमें प्रजासत्ताका झंडा लगा देनेका बीड़ा उठाया है।

ये मृत्युकी दवा ढूँढ़ते रहते हैं। बड़ी आयु कमानेकी योजनामें जो लगे हैं, वे सब मृत्युदेवके राज्यमें षड्यन्त्र कर रहे हैं। वे मृत्यु-की-मृत्यु—अमरता-से मेल करते हैं और नादिरशाह कालको धता बतलाकर आयु-मर्यादाका उल्लङ्घन कर जाते हैं।

अकालमृत्यु बड़ी बुरी बला है। अधखिली कलीके मुरझा जानेसे किसे दुःख नहीं होता ? कच्चे फलमें स्वाद ही क्या रहता है ? आप कच्ची कलीको तोड़िये तो झाड़ रो देगा। यही नहीं, उसकी नोकमें घाव हो जायगा। बच्चोंके मरनेपर माता पिताकी दशा कैसी करुणाजनक हो जाती है ! जवानीमें मरनेवालोंको देखकर पड़ोसका पत्थर भी हिल जाता है। फाँसीसे मरना, साँप-बिच्छूकी भेंट होना, अग्निदेव-की बलि बनना, प्लेग-हैजाका एक निवाला हो जाना, दबकर मर जाना किसे अच्छा लग सकता है ? असमयमें जाना किसे पसंद होगा ? कुछ लोग कहा करते हैं कि जबतक आयु है, तबतक काल उनका कुछ नहीं कर सकता; ये लोग ऐसी अकाल-मृत्युके सिद्धान्तको नहीं मानते; परंतु ये भी अस्पताल और वैद्य-डाक्टरोंके पास जाते जरूर हैं ! आप सिद्धान्तको मानें या न मानें, परंतु वस्तु-स्थितिसे आँखें नहीं मूँद सकते।

स्वाधीन-मृत्यु—अपनी इच्छासे मरना कौन न चाहेगा ? यदि प्रत्येक आदमी अपनी फुरसत, इच्छा और सुभीतेसे मरने लगे तो संसारमें सुख बढ़ेगा या दुःख ? अपनी इच्छासे यात्रा करते समय सभीको आनन्द होता है। नदीके किनारेका वृक्ष यह नहीं जानता कि वह कब गिरेगा; किसी दिन अचानक उसकी जड़ जलधारासे उखड़ जाती है और वह धड़ामसे गिर पड़ता है। इस तरह उसका अन्त पराधीन रहता है। पक्षी एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर अपनी इच्छासे उड़ जाता है, अतएव इसकी यात्रा स्वाधीन होती है। भीष्मपितामहने इच्छामरणका अधिकार प्राप्त कर लिया था। ऐसे महापुरुष मरते नहीं; जब-तक इच्छा रहती है, तबतक जीते हैं और अपना कार्य पूरा करके या तो महाप्रस्थानके लिये वनवास स्वीकार करते हैं या अन्तिम समाधिद्वारा परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

जीतेमें भी मृत्यु होती है। कोई यह न समझे कि मृत्यु मरनेपर ही हो सकती है। जिसका सभी जगह अपयश होता है, वह जीतेमें भी मरा है। कलङ्कीका जीना ही तो मरना है। एक महात्माका कथन है कि डरपोक बिना मौतके मर जाता है। दरिद्रता मौतका एक दूसरा नाम है। गुसाईं तुलसीदास-जीने साफ शब्दोंमें कहा है कि शराबी, कामी, कंजूस, मूर्ख, अत्यन्त दरिद्र, यशहीन, बहुत बूढ़ा, सदा रोगी, सतत क्रोधी, ईश्वरविमुख, देवता और साधुओंसे शत्रुता करनेवाला, अपने ही शरीरको पालनेवाला, निन्दा करनेवाला और पापोंका प्रेमी—ये चौदह प्रकारके प्राणी जीते ही मुर्देके समान हैं। सत्कर्मोंके साथ क्षणभरका जीना भी श्रेष्ठ है, दोनों लोक बिगाड़नेवाले दुष्कर्म करते हुए कल्प-कल्पान्तर तकका जीना भी व्यर्थ है।

जिस तरह आदमी जीते-जी मुर्दा हो सकता है, उसी तरह वह मरनेपर भी जिंदा रहता है। देशके शहीद लोग, 'जिंदगी कहते हैं दुनियासे गुजर जानेको।' सत्कर्म और लोकोपकार करनेवाले सदा जीवित रहते हैं।

मरना भला है उसका, जो अपने लिये जिये।
जीता है वह, जो मर चुका इन्सानके लिये।

कुटिल काल सबको खा जाता है, परंतु वह नाम और यशको नहीं खा सकता। कीर्ति अविनाशिनी है। इसीलिये प्राचीन भारतवासी किसी प्रकारके स्मारक नहीं बनाते थे। वे जानते थे कि काल स्मारकको भी खा जाता है। वे केवल सत्कर्म करना जानते थे और सत्कर्म तथा परोपकारको ही अपना सच्चा स्मारक समझते थे। यथार्थमें मृत व्यक्तियोंके सद्गुणोंकी चर्चा और उनके पादचिह्नोंपर चलना ही उनका वास्तविक स्मारक है। जीवित हिंदूजातिसे बढ़कर राम और कृष्णका और क्या अच्छा स्मारक हो सकता है ? ईसाई संसार ही ईसामसीहका स्मारक है। महाराणा प्रतापका स्मारक मेवाड़की चतुस्सीमाकी प्रत्येक इंच भूमि ही है। रामायणका प्रत्येक अक्षर गुसाईं तुलसीदासजीका स्मारक है। जयचंद अपने नैतिक पतनको सुनहली कविताओं और सुभाषित वाक्योंके नीचे नहीं छिपा सकता। समाधिस्थानोंमें देखिये, अयोग्य और नीच व्यक्ति अपने पापपूर्ण पैसेके बलपर सुन्दर-से-सुन्दर समाधि बनवाकर मानो संसारको मरनेके बाद भी धोखा देना चाहता है। लोकहितकी दृष्टिसे केवल राष्ट्रिय आत्माओंका स्मारक बनाना आवश्यक है। महापुरुषोंका स्मारक ही वीर-पूजाका भाव जाग्रत् कर सकता है। जो पुतले और समाधिके चबूतरे जीवित जन-समुदायके लिये कोई सँदेसा नहीं रखते, उसको तैयार करानेवाला धन और परिश्रम सब व्यर्थ है। एक पश्चिमी उक्ति है कि 'जनताकी स्मरणशक्ति अस्थायी होती है। अतएव अपनी विस्मृतिशीलता-का प्रायश्चित्त उसने महापुरुषोंके स्मारक बनानेकी प्रथाका जन्म देकर किया है।'

जीवन और मरण क्या है ? वैद्यलोग बतलाते हैं कि 'शरीर और प्राणका संयोग जीवन और वियोग मरण है।' भक्त कहते हैं, 'सत्सङ्ग जीवन और कुसङ्ग मृत्यु है।' वीर कहता है, 'साहस जीवन और कायरता ही मृत्यु है।' ज्ञानी कहता है—त्याग जीवन और वासना मरण है। परोपकार और स्वार्थ, पुरुषार्थ और आलस्य, उत्साह और निराशा, एकता और फूट, सच और झूठ, जीवन तथा मृत्युके जोड़े हैं। मृत्युसे सभी लोग नहीं डरते। कर्तव्यजीवी तथा धीर पुरुष न्याय-मार्गपर चलते हैं और हर समय मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये तैयार रहते हैं। ये आजके कामको कलपर नहीं टालते; क्योंकि कल-परसों करते-करते काल बलीका तमाचा आ लगता है। ये उद्यत जीव कहते हैं 'हम भी जानेको थे; कल न गये, आज गये।' ये लोग अभी-अभी मर जानेको और युगान्तरके बाद मर जानेको बराबर समझते हैं—'अद्यैव मे मरणमस्तु युगान्तरे वा।' मरनेपर जो अपना अस्तित्व छोड़ जाता है, उसका थोड़ा-सा जीना भी सार्थक है। सुकरातमें इतनी तेज अक्ल नहीं रहती कि वह मित्रोंके कहनेसे जेलकी दीवालसे कूदकर भाग जाता; जहरके प्यालेको हँसते-हँसते पीकर वह अमर हो गया है। ईसामसीह सूलीपर चढ़ाया गया था, पर वह आज आधी दुनियामें जी रहा है। तलवारकी धारपर दौड़ना तो बालक प्रह्लादके जीवनका खेल था।

स्वाभाविक मृत्यु न तो डरनेकी बात है न दुःखकी। जैसे अग्निका धर्म जलाना है, पानीका धर्म शीतलता है, वैसे ही शरीरका धर्म नश्वरता है। आँधी पहले पुराने वृक्षोंको गिराती है। पानीका बुलबुला नष्ट होनेके लिये ही पैदा होता है, बिजली लुप्त होनेके लिये ही चमकती है, फल टूटनेके लिये ही पकते हैं। मनुष्य फटे-पुराने कपड़ोंको बदल देता है, वह नित्य नये कपड़े पहिननेका आदी है। उसका शरीर भी तो जीवात्माकी एक चादर है। जब चादर जीर्ण हो जाय तो उसका बदल दिया जाना अचम्भेकी बात नहीं। मरनेपर कुटुम्बी लोग रोते हैं। कुटुम्ब एक वृक्ष ही तो है; वृक्षपर अनेक प्रकारके पक्षी आकर बैठते हैं और सबेरा होनेपर इधर-उधर दसों दिशाओंमें उड़ जाते हैं। इसमें न तो अचंभेकी बात है और न शोककी। आयु सौ वर्षकी होती है। कितनी बड़ी अवधि है, जिसका अन्त ही नहीं मालूम होता। पचास वर्ष सोनेमें चले जाते हैं, कुछ बचपन खा लेता है, कुछ नौकरी-चाकरी, दुःख-सुख, रोग-शोकमें बीत जाते हैं। यों ही सारी पूँजी खर्च हो जाती है। एक, दो, तीन, चार गिनते जाइये; बस, गिनते जाइये। दिन और रात, महीने और वर्ष, बचपन और किशोरावस्था, जवानी और बुढ़ापा एक-एककर धीरे-धीरे इस खूबीके साथ कदम बढ़ाते हैं कि किसीको पता ही नहीं चलता। बस, एक दिन खेल खतम होनेका मौका आता है, नाटकका अन्तिम परदा गिरता है और इच्छा होने अथवा न होनेपर भी चलना पड़ता है। इसलिये पहलेसे सचेत हो जाना बड़ा अच्छा है। 'ऐ मुसाफिर ! कूचका सामान कर। इस सरामें है बसेरा चंद रोज।' और आजकल तो सौ वर्षोंमें तीन पीढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं।

वीरमरण सबके भाग्यमें नहीं लिखा रहता। पहले जमानेमें क्षत्रियलोग पुत्रको राज्य देकर रणमें प्राणत्याग करते थे। आजकल तो हिंदुओंमें बस, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र ही अधिकतर शेष हैं। कभी-कभी एकाध कर्मवीर क्षत्रिय दिखायी पड़ जाता है। खटियामें सड़कर मरना प्राचीन क्षत्रियोंके लिये पाप था; इसीलिये संग्रामका अवसर न होनेपर वे मृत्युको निकट देखकर अनशन-व्रत (प्रायोपवेशन), जलसमाधि, चितासेवन आदिके द्वारा प्राण छोड़ते थे। यह जानकर कि शरीर केवल एक बार मरता है। हमारे प्राचीन वीर सम्मुख मरणकी बड़ी प्रशंसा करते थे। संसारका प्रपञ्च भी एक बड़ा युद्धक्षेत्र ही है। इस क्षेत्रमें जो पुरुषार्थी धर्मयुद्ध करते-करते जीता रहे अथवा मर जाय, वही सच्चा वीर है; उसकी पराजय भी विजय है।

काल बड़ा चोर है। वह ऐसे समयमें सेंध लगाता है, जब किसीको पता ही नहीं लगता। उसका निशाना कभी नहीं चूकता। सबके सो जानेपर भी वह सदैव जागता रहता है। वैद्यराज दवा घोलते रह जाते हैं, पण्डितजी मृत्युञ्जयका पाठ पूरा नहीं कर पाते, लेन-देन, बही-खातेका हिसाब अधूरा रह जाता है और जीव चल बसता है। काल अपने आनेके समयकी सूचना नहीं देता, हमारे जानेका समय नहीं बतलाता, दुनियाको, हमारी आवश्यकता है, इसकी परवा नहीं करता, रोनेसे पिघलता नहीं। वह न तो दयालु पिताको साथ जाने देता है न प्यारी स्त्रीको, न करुणार्द्र माता हमें बचा सकती है न सहोदर भाई। कालको कोई नहीं टाल सकता। दौलत और असबाब, हाथी और घोड़े, शरीरके आभूषण और दिलके अरमानको जहाँ-का-तहाँ छोड़कर खाली हाथ जाना पड़ता है। हाँ, एक ऐसा मित्र है, जो साथ जानेसे नहीं रुकता। वह कालके भी सिरपर बैठकर साथ जाता है। वह है 'धर्म'।

भाई ! हमें और आपको एक दिन जरूर जाना है। जो मरनेके बाद भी जीना चाहता है, उसे प्रतिक्षण याद रखना होगा कि उसे भी किसी दिन जाना है। जिसने बचपनमें शक्तिका, जवानीमें विद्याका, प्रौढ़ावस्थामें अतुल धनका संग्रह न किया, उसने कुछ न किया। जिसने द्रव्य यज्ञके द्वारा देवताओंका ऋण चुका दिया हो, संततिके द्वारा पिताका ऋण चुका दिया हो और उपकारके द्वारा संसारका ऋण चुका दिया हो, वह मरनेका अधिकारी हो जाता है, उसके लिये मृत्यु हँसी-खेल है। मालिकके पाससे जब बुलावेका समन आयेगा, तब उसकी तामील करनी ही होगी। जो हर समय इस निमन्त्रणके लिये तैयार रहता है, उसे मालिकके पास जानेमें दुःख या कष्ट नहीं होता। जो तैयार नहीं रहता, वह रोता है, एक क्षणकी और भिक्षा माँगता है, कुछ जरूरी कामोंका बच जाना बतलाता है, परंतु—

'कालो हि दुरतिक्रमः'

कालकी रेलगाड़ी एक पलके लिये भी ठहरती नहीं। जिसने सारा जीवन यों ही गँवा दिया, उसपर काल एक पलके लिये विश्वास नहीं कर सकता। उसे वह एक क्षणकी भी अन्तिम भिक्षा नहीं दे सकता। जब जाना ही निश्चित है, तब पूरी तैयारीसे जाना अच्छा है। इसलिये कवि कहता है—

कर्म है अपना जीवन-प्राण, कर्ममें बसते हैं भगवान।
कर्म है मातृभूमिका मान, कर्म पर आओ, हो बलिदान॥

प्रिय पाठको ! मनुष्य-शरीर परमपिता परमात्माका अमूल्य दान है। वह एक पवित्र धरोहर है। उसका दुरुपयोग करना माता, पिता, गुरु और ईश्वरको तथा स्वयं अपनेको धोखा देना है। धनुषसे छूटा हुआ तीर और आयुका बीता हुआ समय वापस नहीं आता। समय चूक जानेपर पश्चात्ताप करना वृथा है। जीवन उसीका सार्थक है, जो अपने नश्वर शरीरके द्वारा कुछ उपयोगी कार्य कर जाता है। इस विशाल जगत्में कार्योंकी कमी कभी न रहेगी। संसारसे विदा होनेपर ईश्वर प्रत्येक व्यक्तिसे पूछेगा कि तुमने अपने शरीरके द्वारा क्या किया। मृत्यु-समयका परम संतोष ही ईश्वरकी प्रसन्नताका प्रमाण है। झूठा, पापी, ढोंगी और दुराचारी जीव अन्तिम समयमें सुखी और संतुष्ट कदापि नहीं रह सकता। जीवनभर कर्तव्य-पालन करनेवाले व्यक्ति अद्भुत वीरता और शान्तिके साथ प्राणत्याग करते देखे जाते हैं, उन्हें परमपिता अपनी गोदमें स्थान अवश्य देता है। अतएव हमें राजर्षि भर्तृहरिके इन मार्मिक वचनोंको उठते-बैठते, सोते-जागते स्मरण रखना चाहिये—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात् जबतक अपना शरीर नीरोग और पुष्ट है और वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति न्यून नहीं हुई और आयुष्य भी क्षीण नहीं हुआ है, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि अपने कल्याणके लिये यत्न अच्छी तरहसे कर लें; जब घर जलने लगे तभी कुआँ खोदनेके उद्योगसे क्या लाभ होगा ?

खोपरी परी रही

राखे पाँव पाप पंथ, कोटिक कुकर्म कीन्हे,
फैली बेल भारी फरी पाप की फरी रही।
बार भए सेत, तोऊ केती अनरीती करी,
रीती नहीं करी पोट पाप की भरी रही॥
हरि तें न हेत कीन्हौ, नाम नहिं लीन्हौ एक,
धन धन धौल धाम धरती धरी रही।
कीन्हौ नहिं चेत, भए प्रेत, अंत रेत भए,
खेल गए खेली; खेत खोपरी परी रही॥

पांडू जौहरी

(लेखक—श्रीरमणलाल सोनी, अनुवादक—श्रीजयशंकर पंड्या)

(१)

सैकड़ों वर्ष पहलेकी यह कहानी है।

पांडूके माता-पिता उसके शैशवमें ही स्वर्गगामी हो चुके थे। पांडूकी विधवा फूफीने उसका पालन-पोषण किया। उचित उम्र होते ही पांडूका ब्याह हुआ और तदनन्तर उसने काशीपुरीमें एक छोटी-सी दूकान आरम्भ की। व्यापारमें धीरे-धीरे उसकी प्रतिभा विकसित होने लगी और कुछ वर्षोंमें तो पांडूका नाम शहरके प्रमुख सेठोंमें लिया जाने लगा। देश-विदेशके बड़े-बड़े व्यापारी उसके यहाँ हीरे-पन्ने जवाहरात लेकर बेचने आते। जौहरी तो वह ऐसा था कि उसके द्वारा आँकी गयी कीमतसे एक पाई भी अधिक मिलनेकी आशा करना व्यर्थ माना जाता था।

पांडू जौहरी एक दिन अपने रथपर सवार होकर पाटलीपुत्रसे वाराणसी आ रहे थे। बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे वे सुसज्जित थे। उनका सारथि भी मदमस्त एवं रोबदार था। अचानक उनकी दृष्टि एक साधुपर पड़ी, जो नीचा मुँह किये चला जा रहा था। साधुका सिर खुला था; वह पसीनेसे तर, दहकती रेतपर नंगे पाँव चल रहा था। पांडू जौहरी साधुकी शान्त, सौम्य एवं श्रान्त मूर्तिको निहार रहे थे। अनायास ही वे सोचने लगे, 'आह! बेचारा कितना दुखी है। क्यों न इसे रथमें बैठा लिया जाय।' साधुके समीप आते ही उन्होंने रथ ठहराया और साधुसे रथमें बैठनेकी नम्र प्रार्थना की। साधुने मौन स्वीकृति दी।

रथारूढ़ होनेके पश्चात् साधुने कहा, 'सेठ! आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की है। ईश्वर और गुरुकी कृपासे मैं आपके ऋणका बदला चुकाना नहीं भूलूँगा।'

सेठको यह सुनकर हँसी आ गयी। उन्होंने सोचा, 'इसके पास क्या है? एक लँगोटी! यह मेरा ऋण क्या चुकायेगा?' जीवनभर धनके विचारोंमें तन्मय रहनेवाले सेठको क्या पता था कि धन-दौलतके सिवा अन्य प्रकारसे भी मनुष्य अपने ऋणसे उऋण हो सकता है।

कुछ क्षण बाद साधुने एक दृष्टान्त दिया।

'एक पण्डित था। सभी शास्त्रोंमें वह पारंगत था। उसे गर्व था कि संसारमें मेरे सीखने योग्य कोई भी विद्या अवशेष नहीं है। वह अपनी विद्वत्ताका सेहरा बाँधे देश-विदेशमें भ्रमण करता, पण्डितोंकी सभाओं एवं राजदरबारोंमें अपनी विद्वत्ताके चमत्कारोंसे सबको प्रभावित करता। उसका ऐश्वर्य इतना बढ़ गया कि नौकर-चाकर पानी पिलायें तो पीता····· स्नान करायें, तब स्नान करता। दैवयोगसे एक बार उसके ग्रामको लुटेरोंने लूटा। पण्डितजीका घर भी बच न सका। जब लुटेरोंने पण्डितजीके घरको लूटना आरम्भ किया, तब पण्डितजी गला फाड़-फाड़कर उन्हें समझाने लगे—'अरे मूर्खो! तुम क्या कर रहे हो, इसका भी तुम्हें ध्यान है? मैं पण्डितवर्य हूँ। सभी शास्त्रोंमें पारंगत हूँ। सैकड़ों सभाओंका विजेता हूँ।'

यह सुनकर पांडू जौहरी हँसी न रोक सके।

साधुने कहा, 'हँसने-जैसी ही बात है सेठ! जंगली लुटेरोंके सामने श्लोक वैसे ही रहे, जैसे—

'भैंसके आगे बीन बजाई भैंस लगी पगुराय॥'

लुटेरोंने सोचा—इसकी भाषा तो समझमें नहीं आती, पर इसके गलेमें चिल्लानेकी शक्ति अधिक है। अतः वे पण्डितजीके हाथ-पाँव बाँधकर अपने साथ ले गये। दूर जंगलके समीप एक सरोवरके बीच ऊसर टापू था। वहाँ पण्डितजीको अकेला छोड़कर लुटेरे चले गये।

लुटेरोंके जानेके बाद पण्डित पागलकी भाँति इधर-उधर भटकने लगा। पर कहीं उसे आश्रययोग्य स्थान न मिला। मध्याह्नतक तो पण्डितकी भूख प्रबल हो उठी। पर क्या खाय। आकुल-व्याकुल होकर वह बहुत मारा-मारा फिरा, पर क्षुधा शान्त करने लायक कुछ भी उसे प्राप्त न हुआ। तैरकर उस पार जाय तो कुछ प्राप्त हो सके। अब पण्डितको ध्यान आया कि वह तैरना नहीं जानता था। वह संसारके सभी शास्त्रोंमें पारंगत हुआ पर तैरनेकी विद्यामें तो वह इस पार ही रह गया था। ढेरों विद्याओंमें निपुण वह पण्डित उस ऊजड़ टापूमें अपनी स्थितिपर आँसू बहाने लगा। ठीक ही कहा है, 'मैं क्या हूँ और क्या नहीं, इसका गर्व करना व्यर्थ है। वास्तवमें तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।'

साधु मन्द-मन्द मुसकाने लगा। मार्ग भर साधुने सद्धर्मके

ऐसे अनेक दृष्टान्त दिये और सेठ हाँ-हाँ करते हुए उन्हें चुपचाप सुनते रहे।

आगे एक सकरा मार्ग आया। रथ तीव्र गतिसे उड़ा जा रहा था कि मार्गमें एक बैलगाड़ी रेतमें फँसी दिखायी दी। गाड़ी चावलोंकी बोरियोंसे लदी थी। गाड़ीका एक पहिया गड्ढेमें फँस गया था। बेचारा कृषक अथक प्रयत्न कर रहा था, किंतु अत्यधिक बोझके कारण गाड़ी निकालनेमें सफल नहीं हो पा रहा था।

इस गाड़ीने सेठके रथको रोक रखा। गाड़ीवालेने सेठसे अनुनय-विनय की—'आपका सारथि थोड़ी सहायता करे तो अभी पहिया निकल जाय। बोरियोंका बोझ अधिक है।'

यह सुन सेठ लाल-पीले होते हुए बोले, 'बोरियोंका बोझ अधिक है तो फेंक दे। दुष्ट! शक्तिके उपरान्त बोझ भरता है और बैलोंको मारता है। ऐसे घातकियोंको तो सूलीपर चढ़ाना चाहिये।'

सेठने सारथिको आदेश दिया—'महादत्त! फेंक दे इसकी बोरियाँ और हटा दे गाड़ी। हम कहाँतक खड़े तपते रहेंगे?'

गाड़ीवाला गिड़गिड़ाता रहा और महादत्तने बोरियाँ फेंक दीं·····उसने गाड़ी एक ओर ढकेलकर रथको तीव्र गतिसे हाँका।

रथ चला ही था कि उस साधुने कहा, 'सेठ! मैं यहीं उतर जाऊँगा। आपके ऋणसे उऋण होनेका अवसर मुझे अभी हाथ लगा है।'

सेठ दंग रह गये। उन्होंने पूछा—'इतनेमें आपको अवसर भी हाथ लग गया? पहले ऋण भी तो चढ़ने दीजिये।'

'ऋण तो बहुत चढ़ चुका है, सेठ!' साधुने कहा। 'इतना भी चुका पाया तो भगवान्‌की कृपा ही समझूँगा।' साधु रथसे उतरकर उस गाड़ीकी ओर चला।

सेठने पूछा, 'उस ओर कहाँ चले?'

साधुने कहा—'इस गरीब गाड़ीवालेका हाथ बँटाने·· मैं इसे सहायता देकर आपके ऋणसे उऋण होऊँगा।'

'यह कैसे सम्भव है?' सेठने पूछा।

'यह तो बहुत ही सरलतासे हो सकता है, सेठ! यह गाड़ीवाला आपका सम्बन्धी है, आपके सौभाग्यसे इसका भाग्य जुड़ा हुआ है।'

सेठने साधुकी बातको उपहास समझकर रथ चलानेका आदेश दिया।

(२

बेचारा गाड़ीवाला 'इतनी बोरियाँ कैसे चढ़ाऊँगा····· समयानुसार वाराणसी कैसे पहुँचूँगा' इसी चिन्तामें घुल रहा था। निराशाने उसकी कमर तोड़ दी थी। इसी समय साधुने उसके समीप जाकर उसे धीरज बँधाते हुए कहा—'आओ, हम दोनों बोरियाँ चढ़ा दें।'

गाड़ीवालेको धीरज बँधी। सजल नेत्रोंसे वह बोला—'महाराज! ये वैभवशाली कितने दुष्ट हैं। दयाकी तो एक बूँद भी इनमें नहीं होती। सेठका मैंने क्या बिगाड़ा था जो इन्होंने मेरी बोरियाँ फेंकवा दीं।'

साधुने कहा—'भाई! पैसा मादक वस्तु है। शराबका नशा कदाचित् न भी चढ़े, किंतु धनकी मादकता प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। ऐसे धनके साथ अगर अज्ञानता मिल जाय तो फिर अवशेष ही क्या रहे? तू ही सोच! तू अगर इस सेठके स्थानपर रथपर चढ़कर जा रहा होता और मार्गमें किसी गरीबकी गाड़ी तेरा मार्ग रोकती तो तू क्या करता?'

गाड़ीवाला सोचने लगा। उसे स्मरण हुआ कि उसे अपनी अच्छी आमदनीका कितना गर्व था, किस प्रकार वह फूला-फूला फिरता था। एक बार छोटे भाईने उसकी सलाहकी अवगणना की थी·····कितना लाल-पीला हुआ था वह उसपर! इस सेठकी भी तो वही स्थिति थी। उसे अपना दोष स्पष्ट दीख पड़ा। हाथ जोड़कर उसने साधुसे कहा—'महाराज! आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं भी सेठके स्थानपर होता तो यही करता·····मैं मूर्ख हूँ, अज्ञानी हूँ, अभिमानी हूँ, किंतु प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे कभी ऐसा कृत्य नहीं करूँगा, जिससे किसीको दुःख पहुँचे।'

साधुने 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दिया और कहा—'दूसरोंके दोषोंको देखनेके पहले मानव यदि अपने गुण-दोषोंका विचार करे तो अवश्य ही पापसे बच जाय।'

बोरियाँ व्यवस्थित रख दी गयीं। गाड़ी आगे चली। थोड़ी ही दूर गये थे कि गाड़ीवालेको कुछ पड़ा हुआ

दीखा। नीचे उतरकर देखा तो स्वर्ण-मुहरोंकी भरी थैली थी! गाड़ीवालेने साधुकी ओर देखा। साधुने कहा—'उठा ले·····ज्ञात होता है उस सेठकी गिर पड़ी है। काशी जाकर उस सेठको दे देना। यह कभी न भूलना कि उस सेठके भाग्यसे तेरा भाग्य भी जुड़ा हुआ है।' और तब साधुने उसे उस सेठका पता बताया। थोड़ी दूर जाकर साधु अलग हुआ और गाड़ीवाला काशी पहुँचा।

(३)

काशीमें मल्लिक नामक एक व्यापारी था। उसने काशिराजको उच्च श्रेणीके चावलोंकी कुछ बोरियाँ पहुँचानेका सौदा किया था। आज अवधि समाप्त हो रही थी। अभीतक चावलोंका पता नहीं था। शहरमें भी कहीं चावल उपलब्ध नहीं थे; क्योंकि उसके प्रतिस्पर्धीने नगरके सारे चावल खरीद लिये थे। वह अब मल्लिकसे मनमाना मूल्य लेना चाहता था। इस विपत्तिसे त्राण पानेका मार्ग प्राप्त करने वह अपने घनिष्ठ मित्र पांडू जौहरीके पास गया। उसने पांडूसे कहा—'मेरे चावलोंकी गाड़ी आज पहुँचनी चाहिये थी, पर न जाने क्यों अभीतक नहीं पहुँची! हाय मैं लुट गया·····अब मैं क्या करूँ?' एक दीर्घ निःश्वास मल्लिकके मुँहसे निकल गया। पांडूको उस गाड़ीकी याद आयी। उसने कहा, 'मार्गमें मुझे चावलोंकी बोरियोंसे लदी एक गाड़ी मिली थी; किंतु वह कब पहुँचे, कह नहीं सकता। मैंने उस गाड़ीपरसे सभी बोरियाँ नीचे फेंकवा दी थीं। अकेला गाड़ीवाला कब सारी बोरियाँ चढ़ा पायेगा और कब पहुँचेगा?'

मल्लिकने कहा—'यह क्या कहते हैं आप? मेरे घनिष्ठ मित्र होकर भी आपने मेरे चावल फेंकवा दिये! यह क्या किया आपने?'

'किंतु मैं क्या जानता था कि एक अपरिचित गाड़ीवालेको विपत्तिमें डालते हुए मैं अपने ही मित्रपर वज्राघात कर रहा हूँ।' जौहरीने कहा।

'मुझे जब मेरे प्रतिस्पर्धीसे मुँहमाँगे दाम देकर चावल खरीदने पड़ेंगे·····किंतु इतना नकद मेरे पास कहाँ है?' मल्लिकने कहा।

नकदका नाम सुनते ही सेठको अपनी स्वर्ण-मुहरोंकी थैलीका ध्यान आया। घर पहुँचकर उसे रथसे तो उतारी नहीं थी, फिर गयी कहाँ? क्षणभरमें तो सेठके होश-हवास हवा हो गये! 'हाय! मेरी जीवनभरकी कमाई धूलमें मिल गयी। मैं दर-दरका भिखारी हो गया।'

मल्लिक आपत्तिमें सान्त्वना प्राप्त करने पांडूके पास आया था, किंतु अब पांडूको ही सान्त्वना देनेका अवसर उपस्थित हुआ। श्रीमंत मानकर जिसके सामने मल्लिकने हाथ पसारा था, वह स्वयं भिखारी निकला!

पांडूको अब सुध-बुध न रही। पागलकी भाँति वह चिल्लाने लगा। सारथि महादत्तको बुलाकर उसे आड़े हाथों लिया—'दुष्ट! रथसे मेरी थैली कहाँ अदृश्य हो गयी?' महादत्तको थैलीके विषयमें कुछ भी ज्ञात होता तो जवाब देता। उसे मौन देखकर सेठकी आँखोंसे अंगारे बरसने लगे। सेठने उसपर चोरीका आरोप लगाकर कोतवालको सौंप दिया। कोतवालने महादत्तको बुरी तरह पीटा। निरपराध बेचारे महादत्तकी बुरी गति हुई।

यहाँ इस प्रकार ऊहापोह मची थी कि दूसरी ओर वह गाड़ीवाला पांडू जौहरीका पता पूछता हुआ आ पहुँचा। उसने स्वर्ण-मुहरोंकी थैली सेठको सौंपते हुए कहा—'इस थैलीको सँभाल लीजिये।' सेठके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे गाड़ीवालेकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते रहे।

उन्हें अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। वे सोच रहे थे—'जिसकी बोरियाँ फेंकवा दी थीं, यही वह गाड़ीवाला है? वही क्या मुझे उपकृत कर रहा है?' हर्षके आवेशमें सेठने गाड़ीवालेको गलेसे लगा लिया और बोले—'भाई! तूने मेरी लाज रख ली।'

गाड़ीवालेने कहा—'सेठ! यह सब उस साधु पुरुषके सदुपदेशोंका परिणाम है। मैं तो उनके साथ केवल दो डग ही चला हूँ, इतनेमें ही उन्होंने ज्ञानके प्रकाशसे मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि मेरा भाग्य आपके भाग्यसे जुड़ा है।'

यह सुनकर सेठ चौंके। उन्हें स्मरण हुआ कि इसी प्रकारके शब्द साधुने उनसे भी कहे थे। किंतु धनके मदमें उन्होंने इस ओर ध्यानतक नहीं दिया था। उन्हें उस पण्डितका दृष्टान्त भी याद आया।

'मैं क्या हूँ और क्या नहीं, उसका गर्व व्यर्थ है। वास्तवमें देखा जाय तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।' ये शब्द साधुने उन्हें ही सम्बोधित करके कहे थे, ऐसा उन्हें प्रतीत होने लगा।

क्षणोंमें ही समस्त वातावरणमें अनोखा परिवर्तन हो गया। पांडू सेठ सिर पीटते थे·····वे हँसने लगे। मल्लिकके हर्षकी सीमा न थी। उसकी बात रह गयी। थैली मिलनेसे सेठकी प्रतिष्ठा टिक सकी। महादत्त निर्दोष सिद्ध हुआ और कारावाससे मुक्त हुआ।

(४)

पांडू जौहरी विचारमग्न हुए—'जिस साधुके क्षणिक सहवाससे मेरा इतना उपकार हुआ, उसका चिर सहवास तो अवश्य ही महान् लाभप्रद होगा।'

इसके पहले उन्हें कभी साधु-संतोंकी शरण लेनेका विचार-तक नहीं आया था। किंतु आज उनके हृदय-तलमें अनोखी तरंगें उठ रही थीं। जिस साधुके क्षणिक सहवाससे गाड़ीवालेने स्वर्ण-मुहरोंका मोह त्याग दिया, वह साधु कितना तेजस्वी होगा। मैं उससे अवश्य मिलूँगा। साधुके दर्शनोंके लिये सेठ व्याकुल हो उठे।

पांडू जौहरीने साधुकी खोजमें प्रस्थान किया और साधुको पाकर ही उन्हें शान्ति हुई। साधुके चरणोंमें सिर रखकर बोले—'देव! मुझे ज्ञानामृतका दान देकर कृतज्ञ कीजिये।'

साधुने कहा—'अब क्या उपदेश दूँ! जो उपदेश देना था, वह तो दे चुका। फिर भी सुनो—'यह कभी न भूलो कि तुम्हारी ही भाँति सुख-दुःखका अनुभव दूसरेको भी होता है। अन्य तुम्हारे साथ किस प्रकार व्यवहार करें कि तुम्हें आनन्द हो—इसका विचार करके ही उनके प्रति व्यवहार करना। परोपकारका एक भी अवसर हाथसे न जाने देना।····· खेतमें बोये हुए सभी बीज नहीं फलते, परंतु जीवनमें बोये हुए सत्कर्मोंके बीजोंमें एक भी व्यर्थ नहीं जाता।'

सेठने कहा—'महाराज! अन्योंका विचार करनेका आदेश आपने मुझे दिया; किंतु मेरा प्रथम कर्तव्य क्या हो·····'अपनेको सम्हालना या अन्यको? अन्योंकी संख्या भी तो असंख्य है और यदि मैं दूसरोंके कार्यमें हस्तक्षेप करूँ तो वे उसे कैसे स्वीकार करेंगे।'

साधुने कहा—'सेठ! स्वयंको सम्हालना ही प्रथम कर्तव्य है·····'स्वयं' का अर्थ अपने आत्मासे है। शरीरसे आत्मा श्रेष्ठ है। आत्माको नरकमें ढकेलकर··'खान-पान, राग-रंग, भोग-विलासमें डूबे रहकर शरीर नहीं सम्हाला जाता। केवल शरीरको रखनेसे आत्मा नहीं रहता, परंतु आत्माको सम्हालनेसे शरीर रहेगा·····'एक रूपमें नहीं तो दूसरे रूपमें। शरीर आत्माके अधीन है। आत्मा अमर और स्वाधीन है! शरीरकी ओर कम ध्यान देकर मानव जितना आत्माकी उज्ज्वलताकी ओर अग्रसर होगा, उतना ही अधिक वह दूसरोंकी सहायता कर सकेगा। आत्माद्वारा ही स्थायी उपकार सम्भव है। एक आत्माकी सहस्रों रश्मियाँ अन्य सहस्रों आत्माओंके प्रवेशद्वार खोल देती हैं। श्रद्धा एवं विश्वास रखो कि तुम उन लाखों··करोड़ों, अनन्तोंको सम्हाल सकोगे। इसमें अन्योंके कार्यमें हस्तक्षेप करनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऐसी कल्पना भी भ्रम है; क्योंकि इसमें 'मैं' और 'अन्य' का भेद ही लुप्त हो जाता है। 'मैं' और 'अन्य' के मध्य एक सूक्ष्म पर्दा है, जो दोनोंको विभिन्न रूपोंमें प्रदर्शित करता है। यही माया है। मानव अपना अर्थात् आत्माका कल्याण सोचे और उसीके अनुसार आचरण करने लगे तो उसकी ओजस्वितासे वह पर्दा अदृश्य होने लगता है। और तब 'मैं' और 'अन्य' का भेद नहीं रह जाता।'

पांडूने पूछा—'भगवन्! सुखका सरल मार्ग क्या है?'

साधुने कहा—'सरल मार्ग तो ज्ञात नहीं है। हाँ, सीधा और सच्चा मार्ग अवश्य ज्ञात है। दूसरोंको सुखी-सम्पन्न बनाने और सुखी देखनेमें जो आनन्द है, वही वास्तविक सुख है। यही सुखका एकमात्र सीधा मार्ग है।'

पांडू सेठने कहा, 'किंतु कई लोग हमारा अहित सोचते हैं। इसका उपाय?'

साधुने कहा—'यदि कोई अहित सोचे तो सोचने दो। अन्य यदि कीचड़में अपने हाथ मैले करते हैं तो आप भी करेंगे क्या? दूसरे हमारा अहित कर रहे हैं, ऐसी मान्यताकी भी क्या आवश्यकता है! मनुष्यका अहित वह स्वयं करता है, अन्य कोई नहीं। आप अपने कर्तव्यानुसार सदैव अपना और अन्योंका हित सोचिये। न्यायका कार्य कर्मके नियमों-पर छोड़िये।'

'कर्मका नियम क्या है, महाराज!'

'कर्मके नियमका अर्थ है क्रिया और प्रतिक्रियाका नियम··बीज और फलका नियम। मानव-मानसशास्त्रकी नींवमें और जगत्के शुद्ध एवं सर्वोच्च व्यवहारमें इस कर्मका नियम निहित है। इस नियमके अनुसार जिन किन्हींके साथ आप क्षणिक सम्बन्ध रखते हैं, वे सभी आपको थोड़ा बहुत प्रभावित किये बिना नहीं रहते। एक बार प्रभावित कर

जानेवाला मनुष्य पुनः मिलता है तो उसका प्रभाव दृढ़ बन जाता है। यही प्रभाव 'संस्कार' कहलाता है। यह प्रभाव स्थूल शरीरपर नहीं पड़ता, बल्कि सूक्ष्म शरीरपर पड़ता है। प्रभाव जितना ही अधिक गहरा होगा, उतना ही अधिक स्थायी होगा। एक बार दृढ़ प्रभाव डाल जानेवाला व्यक्ति सौ वर्ष पश्चात् मिले, तो भी शीघ्र ही पहिचाना जाता है।'

'यह क्योंकर सम्भव है, स्वामी ?'

साधु मधुर स्मितके साथ बोले—'आपका ही दृष्टान्त मैं देता हूँ। उस दिन रथमें बैठानेके लिये आपने मुझे क्यों बुलाया था ?'

'आपको प्रखर धूपमें चलते देखकर मेरी दया उमड़ पड़ी थी।'

'इस प्रकार धूपमें चलते हुए पहले कभी क्या आपने किसीको नहीं देखा ? प्रत्येक प्रसङ्गपर प्रत्येकको रथमें बैठानेके लिये कभी आपने कहा था ? या बताइये, वह गाड़ीवाला कितना संकटग्रस्त था, उसपर आपको दया क्यों नहीं आयी ? उसकी बोरियाँ फेंकवा देनेकी ही इच्छा आपको क्यों हुई ?'

'कुछ भी समझमें नहीं आता, देव !'

'सुनो, मुझे देखकर दया और गाड़ीवालेको देखकर क्रोध उत्पन्न होनेका एकमात्र कारण हमारा आपके सूक्ष्म शरीरपर डाला हुआ प्रभाव ही है। उत्तम प्रभावका परिणाम प्रेम·····ममता एवं बुरेका फल रोष ही है।'

'किंतु मैंने जीवनमें न तो कभी आपको देखा है और न कभी उस गाड़ीवालेको ही ! फिर यह प्रभाव पड़ा कब ?'

साधुने मधुर हास्य करते हुए कहा—'पहले·····बहुत पहले·····इस जीवनके पहले पड़ा हुआ यह प्रभाव है।'

पांडू जौहरी मूढ़वत् सुनते रहे। क्षणभरके लिये तो उनके नेत्र भी मुँद गये·····मानो वे अपने पूर्वजन्मकी कर्मकथा मानसपटलपर पढ़नेका प्रयास कर रहे हों।

साधुकी शान्त-स्वस्थ वाणी पुनः सुनायी दी। वे बोले—'सेठ ! अतीतके सँकरे मार्गमें ज्ञानदीप लेकर धीरे-धीरे मार्ग ढूँढ़ते जाना·····एक दिन सर्वस्व प्राप्त हो जायगा। किंतु वर्तमानमें तुम कहाँ स्थित हो और भविष्यके असंख्य गली-कूचोंसे तुम्हारा मार्ग किस गलीसे गुजरता है, उसे ठीक-ठीक समझ लेना, भूलना नहीं।'

साधुको वन्दन कर पांडूने प्रस्थान किया।

(५)

पांडू जौहरी अब साधु-संतोंकी ओर अत्यधिक आकर्षित हुए। कौशाम्बी नगरीमें उन्होंने एक सुन्दर विहार बनवाया, जहाँ साधु-संत एवं श्रमण रह सकें, तत्त्वचिन्तन कर सकें। देशके कोने-कोनेसे साधु-संत उस विहारमें आकर बसने लगे। पाठशालाएँ प्रारम्भ हुईं। आठों पहर धर्मशास्त्रोंका अध्ययन होने लगा। विद्वानोंके विवाद एवं ब्रह्मज्ञानियोंके अनुभवपूर्ण तर्क सुनायी पड़ने लगे। चित्रकार साधु-विहारकी दीवारोंपर धार्मिक चित्र चित्रित करने लगे। शिल्पकार, कलाकार अपनी भक्तिको पाषाणोंमें मूर्तरूप देने लगे। कवि लोकभाषामें कथानक रचने लगे। देखते-देखते तो कौशाम्बीका विहार संस्कृतका आगार बन गया।

(६)

पांडू जौहरीका सारथि महादत्त चोरीके अपराधसे मुक्त तो हुआ, परंतु निर्दोष होते हुए भी सेठने उसपर आरोप लगाया और सताया था। अतः वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसमें प्रतिहिंसाकी भावना इतनी प्रबल हो गयी कि वह गाँव छोड़कर जंगलोंमें चला गया और लुटेरोंकी एक टोलीका सरदार बना। पथिकोंको लूटकर अपनी जीविका चलाने लगा!

पांडू जौहरीसे बदला लेनेकी धुन उसपर सवार थी और उसे एक दिन अवसर भी हाथ लग गया। पांडू जौहरीने एक राजाके लिये एक मुकुट एवं अन्य अलंकार बनवाये थे·····अपने अङ्गरक्षकोंको साथ लेकर वे राजाको आभूषण देने जा रहे थे।

सेठको इस सौदेमें अत्यधिक आमदनीकी आशा थी। जीवनका यह अन्तिम सौदा था। इसके बाद समस्त जीवन सत्सङ्गतिमें व्यतीत करनेका उन्होंने दृढ़ संकल्प किया था।

लुटेरे महादत्तको सूचना मिली कि पांडू जौहरी इसी जंगलके मार्गसे जा रहा है। प्रतिहिंसाका इससे उत्तम अवसर और क्या प्राप्त होगा ? उसने अपने साथियोंको तैयार किया और अचानक सेठपर आक्रमण कर दिया। लुटेरोंके अचानक आक्रमण और प्रबल शक्तिके आगे सेठके अङ्गरक्षकोंके पैर उखड़ गये। लुटेरोंने सेठका सारा माल लूट लिया··सेठके पहने हुए सभी अलंकार उतरवा लिये। महादत्तने सेठके वक्षःस्थलपर लात मारी और रथसे फेंकते हुए कहा—'दुष्ट ! नारकी कुत्ते ! उस दिन विश्वासपात्र महादत्तपर चोरीका

मिथ्या आरोप लगाते हुए तुझे लज्जा न आयी।' महादत्त अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित हुआ।

सेठने महादत्तको पहिचाना। वे बोले—'क्या तू मुझसे बदला ले रहा है? मुझे दर-दरकी ठोकरें खाते देखना चाहता है?'

महादत्तने कहा, 'तूने यह मेरी कैसी हालत बना दी है! न खाने-पीनेका पता है न घर-द्वारका ठिकाना है। पेड़ोंके नीचे पड़े रहना,···पत्थरोंका सिरहाना लेना, निरपराध पथिकोंको लूटना, उनके प्राणोंका प्यासा बने रहना! तूने मेरी वनमानुषीसे भी हीन हालत बना डाली है!'

भयभीत पांडू सेठने कहा—'यह कुकृत्य करना छोड़ दे, महादत्त!' 'छोड़ दूँ? छोड़ दूँ तो भूखा न मरूँ···प्रतिष्ठा-पूर्वक जीवन-यापन करनेके सभी मार्ग अब मेरे लिये बंद हो चुके हैं। पकड़ा जाऊँ तो फाँसी दिये बिना मुझे कौन छोड़ेगा?' 'मैं तेरे अपराध क्षमा करवा दूँगा···मेरे घर रखूँगा' सेठने कहा। महादत्त बोला, 'तुम्हारी दयाकी ही तो यह बलिहारी है! एक बार तुम्हारी सेवा करनेका परिणाम मैं भुगत रहा हूँ, दुबारा उसका आनन्द लेना नहीं चाहता। अब मुझे तुमपर विश्वास नहीं रहा। साथ ही मैं अपने कर्तव्य-परायण साथियोंको छोड़ना भी नहीं चाहता। तुम्हारी तरह स्वार्थान्ध मैं नहीं हूँ।'

सेठको वहाँ कराहता छोड़ महादत्त अपने साथियोंके साथ लूटका माल लेकर अरण्यमें अदृश्य हो गया।

साधुके शब्द सेठकी आँखोंके आगे अङ्कित होने लगे—'दूसरोंको सुखी, सम्पन्न देखनेमें जो आनन्द है, वही वास्तविक सुख है। तुम अपने कर्तव्यानुसार प्राणिमात्रका हित सोचो···। न्यायका कार्य कर्मके नियमपर छोड़ो। 'मैं' एवं 'अन्य' के मध्य मायाका आवरण है। आत्माकी उज्ज्वलताकी ओर ध्यान दो। आत्मोन्नतिके आलोकके आगे वह आवरण अदृश्य होने लगेगा।' क्षणभरमें ही सेठका क्रोध पानी हो गया। वे भली प्रकार समझ सके कि उन्हें अपने ही कृत्योंका परिणाम भुगतना पड़ रहा है। महादत्तके जीवनपर जो प्रभाव अङ्कित हुआ है, वही बोल रहा है। यही बुरा प्रभाव है। यदि उसे भलीप्रकार प्रभावित किया जाय तो बुरे प्रभावकी शक्ति क्षीण हो जायगी। उन्होंने कोतवालको लूटकी सूचना नहीं देनेका संकल्प किया। 'मैं किसीका नाम नहीं लूँगा, चाहे मुझे मेरे धनकी फूटी कौड़ी भी न मिले। भले ही वे मेरे धनका सुखसे उपभोग करें। जबतक वह धन रहेगा, तबतक तो वे दूसरोंको नहीं सतायेंगे। इस प्रकार मेरा धन असंख्य मानवोंके भावी दुष्कर्मोंको रोकने एवं असंख्य अज्ञात निर्दोषोंको बचानेमें कारणरूप होगा।' इस सदुपयोगसे सेठको संतोष हुआ। उन्हें एक अलौकिक सुखका अनुभव हुआ।·····एक अद्भुत रहस्य ज्ञात हुआ! 'त्यागमें जो सुख निहित है, वह भोगमें नहीं है। दूसरोंको देनेमें जो सुखकी अनुभूति प्राप्त होती है, वह भंडार भरनेमें नहीं होती!' शान्तचित्त सेठने घरकी ओर प्रस्थान किया!

(७)

महादत्तने जिन्हें अपना कर्तव्यपरायण एवं ईमानदार साथी कहकर सम्बोधित किया था, उन्हींके साथ उसका कुछ दिनों पश्चात् कलह हो गया। उस लूटके मालके विषयमें ही यह कलह था। समस्त धन महादत्तने एक गुप्त स्थानपर गाड़ रखा था। उसके अतिरिक्त अन्य किसीको उस स्थानकी जानकारी नहीं थी। अभी उस धनको बाहर निकालनेकी उसकी इच्छा नहीं थी। उसके साथी अपनी माँगपर दृढ़ थे। 'हमारा हिस्सा लेकर ही हम घर जायेंगे, बाल-बच्चोंके साथ रहकर सुखसे जीवन-यापन करेंगे।' महादत्त कहता—"अभी नहीं। अभी धन निकालनेसे पकड़े जानेकी सम्भावना है।' साथियोंने कहा, 'तू झूठा है। सारा धन 'तू' ही हड़प जाना चाहता है।"

महादत्तने सेठको स्वार्थान्ध कहा था। आज उसके ही साथी उसे हेठी गालियाँ दे रहे थे। महादत्त हृष्ट-पुष्ट था,··· गुस्सेका तेज था। बात बढ़ी और पलभरमें ही हथियार उछलने लगे। एक ओर महादत्त और दूसरी ओर उसके ईमानदार साथी! महादत्तने अपना हाथ दिखाया। पाँच-सातको तो पलभरमें उसने धराशायी कर दिया, अन्य प्राण लेकर भागे। वह स्वयं भी अत्यधिक घायल हो चुका था। युद्धकी उष्णता शान्त होते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

दैवयोगसे वे दयानिधान साधु भी इसी वनमार्गसे जा रहे थे। अचानक मारकाटकी आवाज सुनकर वे प्राणोंका मोह त्यागकर उस ओर मुड़े। महादत्तके साथी भाग गये थे और वह मूर्छित अवस्थामें पड़ा था। साधुने लाशोंके ढेरपर करुण दृष्टि डाली और एकमात्र जीवित लाश महादत्तके समीप आये·····। उसका सिर अपने अङ्कमें लिया और कमण्डलुसे उसे पानी पिलाने लगे।

कुछ क्षण पश्चात् महादत्त होशमें आया। उसने आँखें

खोलीं। एक सौम्य, शान्त और श्रान्त मूर्ति उसकी सेवामें तन्मय थी। उनके नेत्रोंसे प्रेम निथर रहा था। महादत्तको स्वरूप कुछ परिचित ज्ञात हुआ। साधुने शान्त स्वरमें कहा, 'मकड़ीके जालके एक सूत्रका अवलम्ब लेकर भी मानव नरकसे बच सकता है। इसलिये जीवनमें कोई सत्कर्म किया हो तो उसका स्मरण कर, उस सुकृत्यमें ही मनको केन्द्रित कर।'

अति मन्द एवं लड़खड़ाती वाणीमें महादत्तने कहा—'सत्कर्म तो कभी कोई किया ही नहीं। स्मरण कहाँसे करूँ भगवन्! किंतु ज्ञात होता है जाने-अनजाने कभी कोई सुकृत्य अवश्य हो गया है। नहीं तो आज अन्तिम समय आपके अङ्कमें सिर रखकर मरनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकता?' साधुने कहा—'तू धन्य है भाई! यह तेरा सौभाग्य है कि जिस रहस्यको मैं पांडू जौहरीको नहीं समझा सका, उसे तूने सहजमें ही समझ लिया।'

पांडू जौहरीका नाम सुनते ही महादत्त चौंका! वह बोला, 'पांडू जौहरी? काशीके पांडू जौहरी? कौशाम्बीके विहारके अधिष्ठाता? आप उनसे परिचित हैं? आप उन्हें क्या समझा रहे थे? कहिये·····कहिये, मुझे उनसे आवश्यक कार्य है।' बोलते-बोलते वह उत्तेजित हो गया। 'साधुने कहा—'हाँ वे ही काशी·····कौशाम्बीवाले पांडू जौहरी! एक बार मुझे धूपमें नंगे पैर चलते देखकर उन्होंने अपने रथमें बैठा लिया था। मार्गमें एक गरीब गाड़ीवालेको देखकर उन्हें क्रोध हुआ था। स्वर्णमुहरोंकी थैली गँवा बैठनेपर निर्दोष सेवक महादत्तपर चोरीका आरोप लगाया था।·····मैं उन्हें इसका कारण समझा रहा था·····'

'निर्दोष महादत्त?' महादत्त बोल उठा। 'महाराज! अब मैं आपको पूर्णतया पहचान पाया हूँ। क्या वास्तवमें वह महादत्त निर्दोष था?'

'हाँ, उस चोरीतक तो वह निर्दोष था।·····' साधुने कहा।

'चोरीतक ही·····?' महादत्त गुनगुनाया। 'किंतु महाराज! प्रहार किये बिना कभी आघात नहीं होता। उसी प्रकार उस महादत्तने कभी कोई दुष्कर्म तो किया ही होगा। उसके बिना उसपर यह दोषारोपण सम्भव नहीं।'

'मेरे कहनेका भी यही तात्पर्य है और यही रहस्य मैं सेठको समझा रहा था। हमारी दृष्टि सदैव फलको ही निहारती है। बीज तो पृथ्वीमें होता है। वह इतना अदृश्य होता है कि ढूँढनेपर भी नहीं मिलता, परंतु प्रखर प्रतिभावान् विद्वान् कहते हैं कि उसका अस्तित्व अवश्य है। पांडू यह बात न समझ सका, किंतु ज्ञात होता है कि तू यह बात ठीक तरह समझ सका है।'

रक्तमें सने हुए हाथोंको कठिन परिश्रमसे जोड़ते हुए महादत्तने कहा, 'भगवन्! दया कीजिये! आशीर्वाद दीजिये कि मैं पूरी बात समझ सकनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ।'

साधुने 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दिया।

महादत्तने पुनः कहा, 'मैं ही पांडू जौहरीका अभागा सेवक महादत्त हूँ, परंतु आज आपका आशीर्वाद प्राप्त कर सुभागी हूँ। पांडूसे बदला लेने मैं लुटेरा बना। अनेकों निर्दोषोंके प्राण लिये—लूटा और आतङ्क फैलाया। सेठको भी लूटा और घायल किया तथा अन्तमें मेरी यह स्थिति हुई। मेरी इस स्थितिके लिये मैं स्वयं ही उत्तरदायी हूँ। मैं स्पष्ट देख सकता हूँ कि मेरे हाथों बोया गया बीज ही आज पुष्पित और फलित हुआ है।'

महादत्तने क्षणभर नेत्र मूँद लिये और तब साधुके सौम्य मुखपर नेत्र स्थिर करते हुए वह बोला, 'प्रभो! पांडू जौहरीका समस्त धन मैंने एक स्थानपर सुरक्षित रखा है। मेरे सिवा अन्य कोई उस स्थानसे परिचित नहीं है। उसे कहिये, वहाँसे वह ले जाय।' उसने साधुको गुप्त स्थान बताया।

''पांडू जौहरीसे कहना कि 'महादत्त आपको याद करता था। यदि दैवयोगसे कभी भेंट हो तो उसे पहिचानना न भूलना। उसे अपने घर सेवक रखनेका आपने वचन दिया है।'' बोलते-बोलते उसने नेत्र मूँद लिये और गुनगुनाया, 'सेठ! मैं तुम्हारे ही घर आऊँगा।'

साधुने देखा तो महादत्तके प्राणपखेरू उड़ चुके थे। कौशाम्बी जाकर साधुने पांडू जौहरीको पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। सेठने महादत्त और उसके साथियोंकी विधिपूर्वक दाह-क्रिया की, निर्देशित स्थानसे धन प्राप्त किया और राजाको बेचकर उत्कृष्ट लाभ प्राप्त किया। समस्त सम्पत्ति पुत्र-परिवारको सौंपकर पांडू जौहरीने विहारमें वास किया और शेष जीवन ईश्वर-भक्ति एवं लोकसेवामें व्यतीत करने लगे।

(८)

पांडू जौहरी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। उनकी शय्याको साधु-मण्डली घेरे बैठी थी। एक साधु उनके सिरहाने बैठे थे। उनके मुख-कमलपर शान्त स्मित दीप्त था। पांडू सेठ नेत्र मूँदे कुछ चिन्तन कर रहे थे।

साधुने पूछा, 'बन्धुवर ! क्या चिन्तन कर रहे हो ?' उसी प्रकार अविचल भावसे पांडूने उत्तर दिया—'अध्ययन कर रहा हूँ।'

साधुमण्डली ध्यानपूर्वक सुनती रही। वातावरणकी नीरवतामें हृदयका स्पन्दन भी स्पष्ट सुनायी पड़ता था।

पांडूकी क्षीण वाणीने स्तब्धता भङ्ग की। 'दया ! क्या ही अद्वितीय दया है ! ऐसे भीषण अन्धकारमें मुझे मार्ग उपलब्ध हुआ ही कैसे ? इतने पापकर्मोंके उपरान्त भी यह अनुपम शान्ति मुझे प्राप्त हुई ही कैसे ? ओह ! वह मैं हूँ ! कितना बर्बर ! कितना घातक ! हाय, बेचारेके मैंने प्राण लिये और मैं भाग गया! पुनः मैं लौटा ! मैंने चोरी की और दूसरेपर दोषारोपण किया ! ओह ! फिर मैं आया ! इस समय प्रतिहिंसाकी अग्निमें मैं दहक रहा हूँ। मेरे रोम-रोममें हिंसा व्याप्त है। रात्रिके भीषण अन्धकारमें मैंने उसके घरमें आग लगा दी। उसकी लहलहाती फसल जला दी ! उसके स्त्री-बच्चोंको दर-दरकी ठोकरें खानेपर विवश कर दिया। ओह। पुनः मैं लौटा ! इस बार मैं मेरे ही स्त्री-बच्चोंको निरीहावस्थामें छोड़कर चला गया। मैं किसी अन्यके अपराधका भागी बना और मेरे हाथ-पैर काट डाले गये। मैं कुत्तेकी मौत मारा गया। इस बार मैं राजकुमार होकर लौटा। वैभवके मदमें मैंने अकारण ही सेना इकट्ठी की और विश्वविजयी बनने चला। असंख्य निरपराधोंके प्राणोंका मैं प्यासा·····! उनके प्राण लेकर अपनी पिपासा शान्त करनेका असफल प्रयत्न किया। मैंने रक्तकी वैतरणी प्रवाहित कर दी। किंतु मैं हारा·····कैद हुआ और हाथीके पैरोंतले कुचला गया। ओह ! क्या ही अनुपम दया है !'

साधुने धीरेसे कहा, 'सहोदर ! रक्तमें करुणा·····दया दीखती है !' पांडूने कदाचित् साधुके शब्द नहीं सुने। उनकी वाग्धारा आगे प्रवाहित हुई, 'आह ! क्या ही अद्वितीय दया है ! मैंने किसी अन्यको नहीं मारा, मैंने मेरे ही प्राण लिये हैं। मैंने किसी अन्यका घर नहीं जलाया, मेरा ही घर जलाया है। मैं किसी अन्यके अपराधमें नहीं अपितु अपने ही अपराधसे दण्डित हुआ हूँ। मैंने किसीसे बदला नहीं लिया, अपनेसे ही लिया है। मुझे किसीने हाथीके पैरोंतले नहीं रौंदा, मुझे किसीने नहीं छला—मुझे किसीने नहीं मारा, नहीं सताया, मुझे किसीने भूखा-प्यासा नहीं रखा, वरं मैंने ही अपने पैरोंपर स्वयं कुठाराघात किया है। सब कारणोंका मैं ही मूल-कारण हूँ। मैं अधम हूँ ! अहंकार ही अधःपतन है। अहम् ही अवनति है। इसी 'मैं' ने मेरे नेत्रों पर अज्ञानताके अन्धकारकी पट्टी बाँधकर मुझे ठोकरें मारी हैं।'

क्षणभर रुककर पुनः बोले—'दया, दया है। अन्धकारमें भी हीरेकी चमक छिपी नहीं रहती। उसी प्रकार कुकृत्यों, पापकर्मोंके ढेरमें डूबा हुआ मेरा तृणसम सत्कर्म सहस्रों वर्षोंके अन्धकारमें भी चमक रहा है। ओह ! देखते-ही-देखते तो उस बीजसे सघन वट-वृक्ष बन गया ! जो धूलमें मिल गया था, वही आज विशाल बनकर सिर ऊँचा किये स्थित है ! धन्य है, मेरे साधु। क्या ही अद्भुत तेरी करुणा है !'

'प्रथम जब आप मेरे द्वारपर पधारे, तब मुझ अज्ञानीने आपको धक्के देकर निकाल दिया; परंतु पीछे मुझे क्षोभ हुआ। पुनः आप मेरे अनाथ सहोदर बनकर अवतरित हुए, उस समय मैंने आपको रूखी रोटी दी। देनेयोग्य बहुत कुछ था मेरे पास, पर मैंने आपको कुछ भी न दिया !'

'तीसरी बार आप पधारे मेरे घर पुत्र-रत्न बनकर—मेरे कुल-दीपक होकर ! किंतु इस बार आपको देनेके पहले ही मेरा सर्वस्व लुट गया और मैं कुछ भी न दे सका ! चौथी बार आप आये, हम झगड़ पड़े,·····किंतु विजय आपके पक्षमें रही ! मैं हारा ! पुनः आप अवतरित हुए ! मैंने कहा, 'आप लोभी हैं, लालची हैं, कृपण हैं। केवल लेते ही हैं; देते कुछ भी नहीं।' परंतु आज मैं सम्पूर्णतया समझ सकता हूँ कि लोभी, लालची, कृपण आप नहीं, मैं हूँ !'

'पुनः आप आये, क्षणभर आप मेरे रथमें विराजमान हुए। इतनेमें तो आपने मेरे समस्त आयुष्यको निरख-परख लिया। भगवन् ! अब नहीं पढ़ सकता ! सर्वत्र प्रबल प्रकाश फैल गया है। अब अधिक अध्ययनकी उत्कण्ठा भी नहीं ! ·····अग्निकण अग्नि बन गया है। अब वह अग्निकण नहीं, प्रबल अनल है। वह महान् है ! वह धन्य है !'

साधुने पांडूके सिरपर अपना आनन्ददायक कर-कमल रखा और स्वेद पोंछा।

पांडूने कुछ क्षण पश्चात् नेत्र खोले। क्षणभर पहले हुए साक्षात्कारका दिव्य आनन्दालोक उनके नेत्रोंसे झलक रहा था। उन नेत्रोंमें अनुपम शान्ति थी—स्वस्थता थी।

साधुने पांडूका हाथ अपने हाथमें लेते हुए, साधुमण्डलीसे कहा,—'आज बन्धुको सम्यक् दर्शन लाभ हुआ है ! बन्धुको अर्हत्-पद उपलब्ध हुआ है।'

क्षणभर पश्चात् पांडूने नेत्र मूँद लिये।

साधुमण्डलीने भगवान्‌का गुणानुवाद किया।

शरीर ही मनुष्यका गृह है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'तुम साधु क्यों नहीं हो जाते ?' उनका स्नेह था मुझपर। वे सम्मान्य विद्वान् थे। उनके नामके साथ न्याय-सांख्य-वेदान्ततीर्थ लिखा जाता था। साधुओंका एक बड़ा समुदाय उनमें श्रद्धा रखता था। वे मण्डलीश्वर थे; क्योंकि महामहामण्डलेश्वर तो क्या, मण्डलेश्वरकी उपाधि भी उस समयतक प्रचलित नहीं हुई थी। सरलता, सौम्यता, सादगी प्रभृति सद्गुण उनमें पर्याप्त थे।

'नारायण ! कपड़े रँगनेमें क्या रखा है ? इस चक्करमें तुम मत आना।' उनका भी मुझपर स्नेह था। वे भी संन्यासी थे, किंतु मण्डलीश्वर नहीं थे। उन मण्डलीश्वरके मठसे कुछ दूर एक उजड़ा-सा उद्यान था, उसी उद्यानकी खँडहर-प्राय एक कुटिया उनका आवास थी। उनके नामके साथ कोई उपाधि नहीं थी। वे वेदान्तके विद्वान् तो थे; किंतु उनकी विशिष्टता विद्वत्तामें नहीं थी। त्यागकी मूर्ति थे वे। कुटियामें कुछ पुस्तकें, चटाई, कमण्डलु, कौपीन और टाटके टुकड़े—यही उनका समूचा संग्रह था।

ग्रीष्ममें एक महीने गङ्गा किनारे आ जानेका नियम-सा बन गया था। मण्डलीश्वरका मठ मुझे आश्रय देता था, भोजन देता था और विरक्त महापुरुषकी संनिधि मेरी श्रद्धाको सुपुष्ट करती थी। दोनों मेरे आदरणीय थे, दोनोंका वात्सल्य प्राप्त था मुझे।

'महाराज ! अपनेमें मैं अभी साधु होनेकी योग्यता नहीं पाता !' मैं मण्डलीश्वरके वैभवकी उपेक्षा करके भी उनकी विद्या, उनकी सादगी एवं सद्गुण तथा उनके स्नेहका सम्मान करता था। उनके सम्मुख मुझे बोलनेमें संकोच होता था। आज भी उनके प्रति मेरे मनमें सम्मान है।

'आपकी कृपा है ! मुझे अपने इन वस्त्रोंमें पूरा संतोष है।' महापुरुषके वात्सल्यने मुझे कुछ धृष्ट बना दिया था। वे आनन्दकी मूर्ति ! उनके सम्मुख तो संकोच स्वयं नहीं आ पाता था। उनका स्मरण आज भी मेरी श्रद्धाको सम्बल देता है।

'आप साधु हैं, आपने इतना वैभव क्यों एकत्र किया ! इस विशाल मठसे आपको प्रयोजन ?' मेरी अल्पज्ञताने मेरे मनमें ये प्रश्न अनेक बार उठाये। किंतु मण्डलीश्वरजीके सम्मुख इन्हें पूछनेकी धृष्टता मुझमें कभी नहीं आयी।

'आप साधु हैं, ऐसी अवस्थामें साधुओंके यहाँ भिक्षा लेने क्यों जाते हैं ?' उन वीतराग महात्मासे तो इससे भी अधिक धृष्टता की जा सकती थी, की जाती थी। वे खुलकर हँसते थे ऐसे प्रश्नोंपर। वे एक दिन एक ही बार भिक्षा ग्रहण करते थे और रात्रि-दिनमें केवल दो बार जल पीते थे। भिक्षा वे संन्यासियोंके मठोंसे ले आते थे। एक दिन एक मठसे मिली भिक्षा पर्याप्त होती थी।

'नारायण !' मेरे प्रश्नके उत्तरमें उनका आनन्दहास्य उद्गत हुआ—'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, उन्हें तुम गृहस्थ क्यों नहीं कहते ?'

'मैं हँसी कर रहा था, नारायण !' वे प्रायः सबको नारायण कहते थे। 'जब साधु संग्रही हो जाय—भले वह संग्रह सेवार्थ हो, तब उससे भिक्षा लेनेमें कोई दोष नहीं रह जाता !'

× × ×

'मुझे, मेरे बच्चोंको आश्रय चाहिये !' वे बहुत भटक चुके थे। किरायेका मकान—कोई टूटा खँड़हरतक नहीं मिल रहा था। किराया कहाँसे दिया जायगा, यह पीछे सोचनेकी बात थी। 'हम सबको आज दो दिनसे दाना नहीं मिला है।'

'आप सब पहले भोजन कर लें !' किसीको एक-दो समय भोजन करा देना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है उसे आजके समयमें आवास देना।

'मेरा पैतृक घर था, भूमि थी; किंतु दुर्भाग्य !' वे रो पड़े। असहाय, अनाश्रय एक परिवार रखनेवाला सद्गृहस्थ क्या करे ? उन्होंने बताया—'दस वर्ष पूर्व कोसीने वह सब ले लिया ! इसी अनाथावस्थामें मैंने स्थान छोड़ा। कोसीसे दस मील दूर दूसरा घर बनाया। खेत लिये, गृहस्थी जमायी। आजसे तीन वर्ष पूर्व कोसी वहाँ भी पहुँच गयी। उसने सब भूमि ले लिया। उसके पश्चात् मैं नैपालमें जा बसा था। कोसी दूर थी—वहाँसे बीस मील दूर; किंतु कोसी

पिशाचिनी है। वह मेरे पीछे पड़ गयी है। इस बार उसने रात्रिमें अचानक आक्रमण किया। किसी प्रकार प्राण बच सके हैं।'

कोसी—बिहारकी प्रलयंकरी नदी कोसी प्रतिवर्ष वर्षामें कितने ग्राम उजाड़ती है, कितने प्राणियोंका बलिदान लेती है, कुछ ठिकाना है! उसकी बदलती धाराएँ—कब किस वर्ष वह किधर दस-बीस मीलका धावा मार देगी, कौन कह सकता है।

'मैं यहाँ सर्वथा अपरिचित हूँ। आप सबकी सद्भावना ही मेरी सहायिका है!' उन्हें, उनके बच्चोंको, पत्नीको आश्रय चाहिये। रहनेके लिये स्थान और करनेके लिये काम। करनेके लिये काम न होगा तो भोजन कहाँसे आयेगा?

'ये सद्गृहस्थ आश्रयहीन हो गये हैं!' मेरे एक श्रद्धेयने उनकी व्यवस्था सम्हाल ली थी। एक सम्मानित सम्पन्न व्यक्तिसे उन्होंने चर्चा चला दी थी और अन्तमें आश्वासन मिल गया—'कुछ-न-कुछ प्रबन्ध हो जायगा। एक कमरा है अमुक गलीके मकानमें; अच्छा तो नहीं है, परंतु अभी उसीसे काम चला लें।'

'अब ये गृहस्थ तो हुए!' मैंने अपने उन श्रद्धेयसे सम्पन्न व्यक्तिके चले जानेपर हँसकर कहा।

'गृहस्थ तो ये हैं ही।' उनका उत्तर भी सहास्य मिला—'गृहहीन हो जानेसे ये गृहस्थ नहीं थे, ऐसी बात तो नहीं है।' एक श्लोकार्द्ध कह दिया उन्होंने—

'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।'

मुझे स्मरण आ रहा है—काशीमें दशाश्वमेधघाटसे ऊपर एक तिकोना पार्क है। उसकी एक ओर भिक्षुकोंका समुदाय सदा पड़ा दीखता है। गङ्गा-स्नान करने जाते-आते लोगोंकी उदारता ही उनकी आजीविका है। वे भिक्षुक—वे प्रायः सब गृहस्थ हैं। वैसे उनके घरके नामपर कहीं एक चटाई भी नहीं टँगी है। वहीं सड़कके फुटपाथपर उनका जन्म होता है, वहीं बढ़ते रहते हैं और वहीं मर जाते हैं। अवश्य वर्षामें उन्हें आस-पास किसी दूकानके छज्जेके नीचे भागना पड़ता है।

'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, वे गृहस्थ नहीं हैं?' मुझे वर्षों पूर्व सुना वह महापुरुषका परिहास स्मरण आ गया। मेरे मनने कहा—'नहीं, वे गृहस्थ नहीं हैं।' ये कराल-कालिका कोसीके आखेट सद्गृहस्थ और काशीके वे फुटपाथके भिक्षुक—कहाँ है इनके पास गृह? तब गृह होना गृहस्थका लक्षण कैसे हो सकता है?'

हाँ, मेरे ही कहाँ गृह है। मुझसे जब कोई पूछता है, प्रायः लोग पूछते हैं—'आपका घर कहाँ है?' उन्हें क्या उत्तर दूँ? उन्हें कहाँ संतोष होता है इस उत्तरसे—'जब जहाँ रहूँ।' 'जन्मभूमि कहीं तो होगी?' मुझे इसमें अस्वीकृति कहाँ है; किंतु घर—अब वहाँ कोई घर तो रहा नहीं है। अवश्य ही अभी किसी अन्यने वहाँ अपना घर नहीं बनाया है। कभी कोई घर यहाँ था, उस भूतपूर्व कच्चे घरका स्मरण दो एक स्थानोंपर फुट-दो-फुट ऊँची अबतक बची खँडहरकी भित्तियाँ दिला सकती हैं। इसे घर तो नहीं कहा जा सकता?

× × ×

'आप अपनेको किस आश्रममें मानते हैं?' एक सुहृद्ने स्नेहपूर्वक पूछा।

'गृहस्थ!' मेरा उत्तर उन्हें अटपटा लगता है; किंतु मुझे उन महापुरुषकी बात स्मरण है—'नारायण! साधु बननेकी आवश्यकता नहीं है।'

मेरे एक बाबा थे। मेरे पिताजीके चाचा लगते थे, इससे हम उन्हें बाबा कहते थे। पता नहीं यह कैसा सम्बन्ध था—मुझे अब स्मरण नहीं है। आयुमें वे पिताजीसे दस वर्ष छोटे थे। हमारे घरके ठीक सामने उनका घर था। अबतक उनकी आकृति मुझे याद है। वैसे अब उनके घरके स्थान-पर कोई और आ बसा है।

सुदृढ़ शरीर, साँवला रंग, क्रोधी स्वभाव—अपने घरमें बाबा अकेले थे। उनका विवाह हुआ नहीं था। पर्याप्त बड़ी अवस्थातक वे अपने विवाहके लिये उत्सुक रहे—विवाह हो नहीं सका। क्यों नहीं हो सका, मैं कैसे बता सकता हूँ। उनकी जब मृत्यु हुई, मैं चौदह-पंद्रह वर्षसे बड़ा नहीं था।

उनके दो बैल थे। बड़े कुशल माने जाते थे वे अपनी खेतीके कार्यमें। उनके क्रोधी स्वभावके कारण उनके समीप मैं प्रायः नहीं जाता था।

'मेरे वे बाबा गृहस्थ थे—आपको कोई आपत्ति है इस बातमें?' मैंने अपने उन सुहृदको इतनी कथा सुनाकर पूछा।

'नहीं!' उन्होंने स्वीकार किया। 'भारतके ग्रामोंमें ऐसे सैकड़ों—सहस्रों कहना चाहिये—लोग हैं, जो अविवाहित हैं। फिर भी उन्हें गृहस्थ तो मानना ही पड़ेगा।'

'जो उपार्जन करके खाय, वह गृहस्थ और जो दान-जीवी हो, वह साधु !' मैंने हँसते हुए परिभाषा कर दी—सच मानिये, यह सर्वथा परिहास है। इस अपूर्ण परिभाषाके आप पीछे पड़ेंगे तो चंदेपर चलनेवाली अनेक संस्थाओंके संचालक तथा कार्यकर्ता साधु सिद्ध हो जायँगे। वैसे मेरे वे सुहृद् इसी परिभाषासे संतुष्ट हो गये थे। मेरा पीछा छोड़ दिया उन्होंने—मुझे तो यही अभीष्ट था।

× × ×

'स्त्रीको ही गृह बता दिया, जैसे उसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं !' उस दिन चला गया था एक सुप्रख्यात साधुके समीप। एक उज्ज्वल वस्त्रधारी सज्जन बड़े आवेशमें कह रहे थे—'नारीका कोई महत्त्व ही नहीं माना गया। वह भी एक सुविधाकी सामग्री बना दी गयी।'

'बात ऐसी नहीं है !' साधु सरलभावसे स्नेहपूर्वक समझा रहे थे। 'नारीका महत्त्व तो बहुत अधिक माना गया है। वह माता है—माताको कौन महत्त्व नहीं देगा ? देहासक्तिको दृढ़ करनेवाले साधन गृह कहे गये और इसीसे ईंट-पत्थरकी दीवारोंका घेरा गृह कहा जाता है। उनका निर्माण देहकी सुरक्षाके लिये होता है।'

'गृहका कोई विशेष अर्थ करते हैं आप ?' मैंने पूछ लिया।

'मनुष्य-शरीर ही गृह है।' मुझे उत्तर मिला।

'तब मनुष्य-शरीर ही क्यों ?' मेरा प्रश्न बना रहा—'पशु-पक्षी, देव-दानव, तृण-तरु, कीटादि समस्त शरीर क्यों नहीं ?'

'उनमें जीव कर्म-संस्कार ग्रहण नहीं करता।' साधुका स्पष्ट उत्तर था। 'वे तो मनुष्य देहकी संतति हैं। यहींके कर्म-संस्कारोंकी उनमें भोग-परम्परा प्राप्त होती है।'

'तब सभी मनुष्य गृहस्थ हैं ?' इस बार उन सज्जनने पूछा था। साधु संन्यासी हैं, इस बातपर उनका प्रश्न व्यंग करता लगता था।

'जबतक देहासक्तिका कोई अंश अवशिष्ट है, जीव देहमें स्थित है। इस प्रकार जबतक देहासक्ति है, मनुष्य गृहस्थ है।' साधुने व्यंगपर ध्यान दिये बिना समझाया। 'यह देहासक्ति पुरुषकी नारीसे, नारीकी पुरुषसे दृढ़ होती है—इसीलिये विवाहको गृहस्थाश्रम कह दिया गया। दीवारोंके घेरे भी इसीलिये गृह हैं कि वे अपने अधिपतिको अपनेमें आसक्त करके उसका देहाभिमान दृढ़ करते हैं।'

'मेरे बाबा गृहस्थ थे, बिना गृहिणीके होनेपर भी। वे कोसीके आक्रमणसे आक्रान्त सज्जन गृहस्थ थे, भले उनका कहीं कोई गृह न रह गया हो ! गृहस्थ—देहासक्त !' मैंने साधुको सादर सिर झुकाया !

चेतावनी

देखौ यातें अच्छौ समै फेरि ना मिलैगो मित,
कौन जानै कौन-से जठर माहिं झूलौगे।
कहत 'किसोर' जो पै मानिहौ न मेरी कही,
जैसौ कछू बैहौ तैसौ नखन अरूलौगे॥
फेरि आखिरी पै दुःख तुम ही सहौगे अंध,
अनल दहौगे, वे कहैंगे सो कबूलौगे।
ऐसे तौ न फूलौगे न बतियाँ बसूलौगे,
हरि भजन जो भूलौगे तो हर भाँति भूलौगे॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सादर हरिस्मरण । आपके दो पत्र मिले, समाचार विदित हुए । उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का ध्यान जिस प्रकार अनायास निरन्तर हो सके, उसी प्रकारसे करना चाहिये । यदि निरन्तर न हो सके तो जिस कालमें अवकाश मिले, जब करनेकी रुचि हो, तभी करना चाहिये । जबतक किया जा सके, मन थके नहीं, तबतक करते रहना चाहिये ।

(२) गीताके पठन-पाठनसे सब कुछ हो सकता है । आवश्यकता है विश्वास, रुचि और भावकी । इनकी कमी हो तो किसी भी क्रियासे पूरा लाभ नहीं हो सकता ।

(३) गीता पढ़नेके लिये स्थानकी खास आवश्यकता नहीं है, भाव चाहिये । भाव रहे तो जहाँ पढ़नेका अवसर मिल जाय, वही स्थान उत्तम है ।

(४) आप यदि गीताद्वारा ही भगवान्‌की भक्ति करना चाहते हैं, यदि आपकी गीतापर श्रद्धा है, तो उसके कथनानुसार अपने जीवनको कामनासे रहित, प्रभु-प्रेमसे भरपूर और कर्तव्य-परायण बना लेना चाहिये ।

(५) भगवान् श्रीकृष्ण वही हैं, जो आपका इष्ट है । जो आपके इष्टदेव हैं, उन्होंने ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश दिया है—ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये; फिर इष्ट बदलनेका प्रश्न ही नहीं आयेगा । भगवान् श्रीकृष्णके अनेक नाम हैं । मन्त्र और नाम जो आपको प्रिय हों, जिनमें सुगमतासे मन लगता हो, वे ही ठीक हैं ।

(६) गीता पढ़नेसे सब कुछ हो सकता है । प्रश्न (२) के उत्तरमें देख लें ।

(७) भगवान्‌के सभी रूप अनादि और अनन्त हैं । अतः किसी एकको आदि नहीं कहा जा सकता ।

(८) भाव और प्रेमपूर्वक किया हुआ ओंकारका जप अवश्य स्वीकार होता है । नाडीद्वारा, श्वासद्वारा, जिह्वा-द्वारा और मनद्वारा—चाहे जिस द्वारसे सुगमतापूर्वक किया जाय, कोई आपत्ति नहीं है । हो सके तो मनद्वारा जप करना सबसे बढ़कर है । ध्यान उसका होना चाहिये, जिसको आप सर्वोपरि सब प्रकारसे पूर्ण मानते हैं ।

(९) भगवान्‌ने मूल गीतामें तो यह बात कहीं भी नहीं कही है कि गीताके तीन अध्यायके पाठ-से गङ्गास्नानका फल होता है । कहीं गीता-माहात्म्यमें कहा हो तो वह बात दूसरी है । गङ्गास्नानका फल भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार होता है एवं गीतापाठका भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार ही होता है । अतः साधक-को फलके प्रलोभनमें न पड़कर कर्तव्य-पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

(१०) गीतामें वह ज्ञान पूर्णरूपसे भरा है, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है । उसे समझनेके लिये रामायण आदिको पढ़ना भी सहायक है । गीतामें गुरु-महिमा और संत-महिमा ४ । ३४; १२ । १३ से १९; १४ । २२ से २६ तक देखें और भी स्थान-स्थानमें कही है ।

(११) मांस न खानेका संकल्प कर लेनेके बाद बीमारी मिटनेके प्रलोभनमें आकर मांस खाना स्वीकार नहीं करना चाहिये । विवश किसीको कोई नहीं कर सकता है, अपनी ही कमजोरीसे विवशता प्रतीत होती है । भगवान् तो बड़े दयालु हैं । उनकी ओरसे तो क्षमा होना असम्भव नहीं है, पर साधकको अपनी कमजोरीका दुःख और प्रभुकी महिमाका परिचय होना आवश्यक है ।

(१२) गीतामय जीवन बनानेमें कोई पराधीनता नहीं है। नौकरी भी भगवान्‌के नाते कर्तव्य-पालनके लिये करनी चाहिये, रोटीकी गरजसे नहीं; रोटी तो सबको मिलती है। झूठ न बोलनेवालेको अच्छी नौकरी मिल सकती है। लोभका परित्याग कर देनेपर दरिद्रताका सदाके लिये अन्त हो जाता है। लोभ रहते हुए पराधीनता और दरिद्रताका अन्त नहीं होता।

(१३) भगवत्प्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है, श्रद्धा-प्रेमका फल है। सत्सङ्ग किसी सोसाइटीका (Society) नाम नहीं है। सत् तत्त्व भगवान् हैं, उनमें प्रेमका होना ही मुख्य सत्सङ्ग है। इसीलिये उनके विषयकी चर्चाको भी सत्सङ्ग कहा जाता है। भगवत्प्राप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता—यह सर्वथा ठीक है। श्रद्धापूर्वक किया हुआ भजन-स्मरण कर्म नहीं है, उपासना है। दूसरे कर्मोंमें जो निष्कामभाव है, वह भी साधन है, क्रिया नहीं।

(१४) एक पिताके अनेक लड़कोंका स्वभाव विभिन्न होता है। उसका मुख्य कारण तो उनके पूर्वजन्मके संस्कार हैं ही। इसके सिवा वर्तमानका सङ्ग, शिक्षा एवं परिस्थिति भी कारण हैं।

(१५) गीतामें मन लगाना बहुत अच्छा है। गीताध्ययन भगवान्‌को बहुत प्रिय है, यह सब ठीक है। किंतु उसमें कही हुई बातको मानना ही उसका वास्तविक अध्ययन है। इस बातको नहीं भूलना चाहिये।

(१६) भगवान्‌की शरणमें जाना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। पर इसका सम्बन्ध किसी भी आश्रमसे नहीं है। कोई भी आश्रम भगवान्‌की शरणमें जानेसे नहीं रोक सकता। अर्जुन भी तो गृहस्थ थे, क्या वे भगवान्‌के शरणागत नहीं थे? जो आश्रम या परिस्थिति अपने-आप प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान मानकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके आज्ञानुसार कार्य करना चाहिये।

भगवान्‌के सिवा किसीको अपना नहीं मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनपर निर्भर रहना, ममता और अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना—ये सभी शरणागतिके अङ्ग हैं। वस्तु, व्यक्ति और मकान आदिका बन्धन उनको अपना माननेसे और उनके द्वारा सुख-भोगकी आशा करनेसे होता है; अन्यथा नहीं।

(१७) जिसकी सांसारिक वस्तुओंमें आसक्ति न रही हो, उसे पागल वे ही लोग कहते हैं, जो स्वयं सुखभोगके प्रलोभनसे और दुःखभोगके भयसे आक्रान्त होकर पागल हो रहे हैं। अतः साधकपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।

(१८) भगवान्‌की पूजा गीता अध्याय १८ श्लोक ४६ के अनुसार सुगमतासे की जा सकती है। किसी साकार स्वरूपकी मानस-पूजा करनी हो तो उसकी विधि 'प्रेम-भक्ति-प्रकाश' नामक पुस्तकमें देख सकते हैं। दाम ~) आना है।

(१९) भगवान्‌का चिन्तन, जप, पाठ, स्वाध्याय आदि जहाँ भी सुगमतासे किया जा सके, करना चाहिये। स्वास्थ्यके लिये खुली हवा अच्छी है, उसका कोई विरोध नहीं है; पर वह न मिले तो प्राप्त स्थानमें भी भजन-ध्यान तो करना ही है।

(२०) नदी-किनारेकी विशेषता इसीलिये है कि वहाँ शुद्ध हवा और जल सुगमतासे मिल जाता है, एकान्तमें विघ्न नहीं आते। प्रधानता तो भावकी है।

(२१) जप गङ्गाके भीतर खड़े होकर भी किया जा सकता है, बाहर किनारेपर स्वच्छ स्थानपर बैठकर भी किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगमतासे मन लगे वैसे ही करना चाहिये।

(२२) 'सोऽहम्' का जप अद्वैतभावके साधकोंके लिये उपयोगी है, भक्तिभाववालोंके लिये नहीं।

(२३) 'अनहद' शब्दको सुननेका अभ्यास

रातमें दो या तीन बजे जब हल्ला-गुल्ला सर्वथा शान्त हो, उस समय करना अच्छा रहता है; पर आलस्य आता हो तो ठीक नहीं होता। जितनी देर सुगमतासे शान्तिपूर्वक साधन हो सके, उतने ही समयतक करना ठीक रहता है। ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति और इष्टके दर्शनोंका सम्बन्ध तो विश्वास, विवेक और प्रेमसे है। केवल उपर्युक्त अभ्याससे कुछ नहीं हो सकता।

(२४) सादगीके रहन-सहनसे अभिप्राय यह है कि किसी प्रकारकी शौकीनी, ऐश-आराम और स्वादकी भावना न रहे; व्यर्थका खर्च न किया जाय। जूते कपड़ेके भी मिलते हैं। चमड़ेके जूतोंकी अपेक्षा उनपर खर्च कम लगता है और वे पवित्र भी होते हैं।

(२५) गुरु वही है, जो भगवान्‌की ओर लगानेमें सहायक हो। गायत्रीका उपदेश देनेवाला अथवा विद्या पढ़ानेवाला भी गुरु माना जाता है। जिन्होंने यह कहा कि आपसे गीता नहीं चलेगी, उनको या तो गीताके महत्त्वका ज्ञान नहीं होगा या आपकी योग्यता उन्होंने वैसी नहीं समझी होगी। क्यों मना करते हैं—यह तो वे ही बता सकते हैं, जिन्होंने मना किया था। मैं क्या लिखूँ? भगवान् सबके गुरु हैं। अतः उनका आश्रय लेकर आप रुचिके अनुसार साधन कर सकते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(२)

दूसरे पत्रका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) जिस मन्त्रका निरन्तर जप किया जाय, उसके लिये प्रकारकी कोई खास बात नहीं है। श्वाससे, नाडीसे, जीभसे—जैसे भी सुगमतासे किया जा सके, वैसे ही करना उत्तम है। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम बढ़नेसे दूसरी ओरसे मन अपने-आप हट जाता है। मनसे जप करना सबसे उत्तम है।

(२) भगवान् श्रीशंकर श्रीरामके भक्त हैं। श्रीराम उनके इष्ट हैं। रामायणमें श्रीरामके चरित्रका वर्णन है, इस कारण वे उसके पाठसे प्रसन्न रहते हैं।

(३) 'ॐ नमः शिवाय'—यह पौराणिक मन्त्र है। शिवजीके उपासकको इस मन्त्रका जप करना चाहिये। यदि 'शिव', 'शिव' इस प्रकार उनके नामका ही जप किया जाय तो वह भी अच्छा है जैसी रुचि हो, उसी प्रकार करना चाहिये।

(४) रामायणके मासपारायण, नवाह्नपारायण आदि विशेष अनुष्ठान हैं। जिनका जैसा विश्वास है, उनके लिये वैसे ही करना ठीक है। अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करना सभीके लिये सर्वोत्तम है। इसमें किसीका विवाद नहीं है।

(५) सुन्दरकाण्डकी विशेषता सकाम भाववाले मानते हैं या श्रीहनुमान्‌जीके भक्त मानते हैं, क्योंकि उसमें हनुमान्‌जीकी महिमाका अधिक वर्णन है। मेरी मान्यतामें तो सभी काण्ड अच्छे हैं।

(६) संध्या एक नित्यकर्म है, उसे करनेका समय तो निकालना ही अच्छा है। नौकरीका समय तो निश्चित रहता है, उसमें विवशताकी कोई बात नहीं है।

(७) बगीचे या जंगलमें आसनकी व्यवस्था न हो सके तो कोई बात नहीं। स्वच्छ जगहमें बैठकर भी भजन-स्मरण करना अच्छा है।

(८) एकादशीका व्रत यदि बीमारीमें छूट गया तो कोई अपराध नहीं है। कमजोरीमें उपवास नहीं करना चाहिये, भजन-स्मरणके नियमोंका पालन करना चाहिये। नियमका नाम ही व्रत है।

(९) रावणका पिता विश्रवा था, यह रामायणमें स्पष्ट लिखा हुआ है। इसमें विवादकी कोई बात नहीं है। बहस करना साधकके लिये सर्वथा अनावश्यक है। अतः आपको इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। ग्रन्थों-

को झूठा बनानेवाले उनके मर्मको नहीं समझते। उन भोले भाइयोंपर क्रोध नहीं करना चाहिये।

(१०) चित्र बनानेवाले भगवान्‌की बातें ग्रन्थोंमें पढ़-सुनकर अपने-अपने भाव और समझके अनुरूप चित्र बनाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपका उनको प्रत्यक्ष नहीं है।

(११) चारों वेद अनादि हैं। ब्रह्माजीके मुखसे तो उनका प्राकट्य माना जाता है। ब्रह्माजीने उनकी रचना की—ऐसी बात नहीं है। गायत्री देवी ब्रह्माजीकी पत्नी हैं, इसलिये उनको वेदमाता कहना उचित ही है। ब्रह्माजीकी पूजा पुष्करमें होती है। उनकी मूर्ति चार मुखोंवाली है।

(१२) मन्त्रमें शक्ति साधकके भावानुसार प्रकट होती है। गायत्री मन्त्र, गीता और इष्टके नाममन्त्र—सभी ठीक हैं; सबमें एक ही प्रभुकी शक्ति है। कमी-बेशीकी कल्पना साधक अपने भाव और विश्वासके अनुसार कर लेता है।

(१३) पार्वती भगवान् शङ्करकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। साधक अपने भाव और प्रेमके अनुरूप जैसा ठीक समझें कर सकते हैं। इसमें आपत्तिकी कोई बात नहीं है।

(१४) उपवास आदिका विधान ऋषियोंने अपनी-अपनी साधनाके अनुरूप किया है। इसमें सबका एक मत नहीं हो सकता। अतः जिस साधकका जिसमें विश्वास हो, उसके लिये वही उत्तम है। चतुर्दशीको शिव-पार्वतीका विवाह हुआ था—ऐसा कहा जाता है। इस कारण शिव-भक्त उस दिन व्रत किया करते हैं।

(३)

सादर विनयपूर्वक प्रणाम! आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। आपकी बातोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) दुविधामें कभी शान्ति नहीं मिलती। सांसारिक भोग-वासनाओंके रहते हुए मनुष्य कभी दुविधासे छूट नहीं सकता। अतः शान्तिके इच्छुकको सांसारिक इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(२) आप जो यह चाहते हैं कि भगवान्‌को पानेकी इच्छाके सिवा और कोई इच्छा मेरे मनमें न रहे, यह तो बहुत ही उत्तम है; पर यह आप केवल बुद्धिके बलपर चाहते हैं। यह यदि आपकी वास्तविक इच्छा होती तो दूसरी इच्छाका अपने-आप अन्त हो जाता; क्योंकि जो सच्ची इच्छा होती है, वह जबतक पूरी नहीं होती, तबतक मनुष्यको चैन नहीं पड़ता। किसी प्रकारका भोग उसे रुचिकर नहीं होता।

(३) आपने लिखा कि मैं अपने मनको बहुत समझाता हूँ, सो मनको समझानेसे काम नहीं चलेगा; आप स्वयं समझिये। मन बेचारा तो आपकी अनुमति पाकर ही विषयोंकी ओर दौड़ता है। आप स्वयं नाना प्रकारके भोगोंको सुखरूप मानते हैं, तब आपका मन उनकी ओर जाता है। आपकी बुद्धि आपको उनकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता और परिणाम-दुःखताका भी अनुभव कराती है; पर आप उसकी ओर देखते ही नहीं, इन्द्रियोंके ज्ञानपर विश्वास करके भोगोंमें लगे रहते हैं और दोष मनको देते हैं।

(४) पूर्वजन्मका प्रारब्ध किसीके भजन-स्मरणमें बाधा नहीं दे सकता। भगवान्‌की मर्जी भी ऐसी नहीं है कि प्राणी संसारमें फँसा रहे, मेरी ओर न लगे; प्रत्युत पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप जो कुछ मिला है और मिलेगा, वह सब कुछ प्रभु-प्राप्तिके लिये साधन-सामग्री है। भगवान्‌ने जो प्राणीको यह मनुष्य-शरीर और सामग्री दी है, वह अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये ही दी है। अतः भजन न बननेमें साधकको अपना ही दोष समझकर उसे दूर करना चाहिये। पूर्वकृत कर्मोंका, मनका दोष या प्रभुकी मर्जीका बहाना लेकर अपने मनको निराश और निरुत्साह नहीं करना चाहिये।

(५) भगवान्‌की कृपा तो अपार है। आप जितनी मानते हैं, उससे भी बहुत अधिक है। उसका आदर करना चाहिये। प्रभुका कृतज्ञ होना चाहिये और पद-पदपर उनकी कृपाका दर्शन करके उनके प्रेममें विभोर होते रहना चाहिये।

(६) पर स्त्रीपर बुरी दृष्टि होनेका कारण एकमात्र उसमें सुखकी प्रतीति है। उसका परिणाम जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे दुःख है, उसपर अविश्वास और बेपरवाही ही इस सुखकी प्रतीतिको सुरक्षित रखती है। इस सुख-प्रतीतिका सर्वनाश तो भगवत्प्रेमके प्राकट्यसे ही हो सकता है। जब मनुष्यके जीवनमें भगवान्‌का प्रेम, जो नित्य रस-स्वरूप है, जाग्रत् हो उठता है, तब तो सब प्रकारके तथाकथित रस नीरस हो जाते हैं; पर उसके पहले यह स्त्री-विषयक रस समूल नष्ट नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि उस प्रभुपर विश्वास करके एकमात्र उसीको अपना सर्वस्व समझे और उसमें प्रेम करे। वह प्रेम शुद्ध हृदयमें प्रकट होता है। हृदयकी शुद्धिके लिये यह परम आवश्यक है कि साधक न तो किसीका बुरा करे और न चाहे तथा ईश्वरके नामका जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करे। कामके वेगको रोकनेके लिये परिश्रम, संयम, सदाचार, सेवा और विषयोंमें दोषदर्शन भी आवश्यक है। यदि इनका पालन निष्कामभावसे किया जाय तो इनसे अन्तःकरण भी शुद्ध होता है।

परिश्रमी मनुष्यको बुरे संकल्पोंके लिये अवकाश नहीं मिलता। संयमसे मन वशमें होता है। सदाचार बुरी प्रवृत्तिको रोकता है और सेवाभावसे सुख-भोगकी प्रवृत्तिका नाश होता है। विषयोंमें दोषदृष्टि करनेसे मनमें वैराग्य हो जाता है।

(७) काम-वासनाके नाशके लिये सर्वोत्तम अनुष्ठान तो एकमात्र भगवान्‌का प्रेमपूर्वक स्मरण ही है।

(८) गीता और रामायणके पाठका अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, यह आप मानसाङ्क या गीतातत्त्वाङ्कमें देख सकते हैं अथवा हनुमानप्रसाद पोद्दारसे पूछ सकते हैं।

(९) पश्चात्तापसे बढ़कर कठोर दण्ड मेरी समझमें कोई नहीं है। जिस पापकर्मके लिये मनुष्यको सच्चा पश्चात्ताप हो जाता है, वह उसके जीवनमें प्रायः दुबारा नहीं आ सकता। यह प्रभुकी कृपा और प्राकृतिक नियम है।

(४)

सादर हरिस्मरण! आपका कार्ड मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) राजयोग सिद्ध हो जानेके बाद प्राणायाम आदिकी क्रिया करनी नहीं पड़ती, स्वभावसे ही होने लगती है। जिसमें करना पड़ता है, वह राजयोग नहीं है, हठयोग है। पुस्तक जबतक मन बहलानेके लिये या मनकी इच्छा-पूर्तिके लिये पढ़ी जाती है, उसके अर्थको समझकर उसके अनुसार जीवन नहीं बनाया जाता, तबतक उससे विशेष लाभ नहीं होता। इसी प्रकार सद्भावरहित क्रियासे भी विशेष लाभ नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि पुस्तकमें लिखे हुए उपदेशको समझकर उसके अनुरूप अपना जीवन बनाये एवं क्रियाके साथ सद्भावकी वृद्धि करे। किसी भी क्रियाका उद्देश्य सांसारिक सुखकी प्राप्ति न हो, बल्कि प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन हो। ऐसा होनेपर पुस्तक पढ़ना और क्रिया दोनों ही साधकके लिये हितकर हो सकती हैं।

(२) जीव शरीरसे निकलकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ प्राणोंके सहारे अन्तिम वासना और चिन्तनके अनुसार देहान्तरमें चला जाता है (गीता ८। ६; १५। ७-८)। सुखकी इच्छा प्रत्येक प्राणीको है, दुःख कोई नहीं चाहता, पर अज्ञानवश दुःखको ही सुख मानकर उसे चाहता और पकड़नेकी

चेष्टा करता है। इस कारण सुख न मिलकर उसे दुःख ही मिलता है, क्योंकि जिन-जिन विषयोंको वह सुखप्रद समझकर चाहता है, वे या तो मिलते ही नहीं, मिलते हैं तो रहते नहीं। इस प्रकार उनका वियोग निश्चित है। अन्तमें वे दुःख छोड़कर चले जाते हैं।

(३) पुनर्जन्मका प्रमाण गीतादि शास्त्र हैं (गीता २। १३–२२) तथा मनुष्यों और अन्य प्राणियोंकी जाति, आयु, भोग और प्रकृतिका एक दूसरेसे न मिलना भी पुनर्जन्मका प्रमाण है। आप भूतकालमें कौन थे एवं भविष्यमें क्या होंगे—यह तो तभी मालूम हो सकता है, जब आप सब प्रकारकी कामनाका त्याग करके मनको एकाग्र कर सकें और ध्यानयोगद्वारा इसे जाननेका प्रयत्न करें। पर इसे जाननेपर भी लाभ क्या होगा, यह विचारणीय है।

मुसल्मान पुनर्जन्म नहीं मानते, यह उनकी मर्जी है। माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं, पर किसीके न माननेसे सत्यका नाश नहीं हो सकता।

(४) बीज और वृक्षकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसके पूर्वापरका निर्णय करना अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार है। इसका निर्णय साधकके लिये आवश्यक भी नहीं है। कुछ मानना ही हो तो पहले बीजका होना मानना ही उचित प्रतीत होता है। सर्वशक्तिमान् प्रभु बिना वृक्षके भी बीजको बना सकते हैं। प्रलयकालमें भी बीजरूपमें सृष्टि सुरक्षित रहती है। उसीसे उसका विस्तार होता है।

(५) मरता है शरीर, उसीको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण मृत्युसे भय होता है। अपनेको शरीरसे अलग अनुभव कर लेनेपर उस भयकी निवृत्ति हो जाती है। वास्तवमें तो शरीरकी मृत्यु क्षयरूपमें प्रतिक्षण हो रही है। यदि यह बात ठीक समझमें आ जाय तो इस मृत्युमय शरीरसे साधक असङ्ग हो सकता है।

(६) सर्वज्ञका ज्ञान सर्वज्ञकी कृपासे वह जिसको कराता है, उसीको होता है। वह ज्ञान होनेके बाद ज्ञान किसको हुआ ? इसका पता नहीं चलता; क्योंकि यह बतावे कौन ?

(७) भगवान् अनेक नहीं होते, एक ही भगवान्‌के नाम और रूप अनेक हो सकते हैं। उनमेंसे जिस साधकको जो नाम-रूप प्रिय हो, जिसपर उसकी यह श्रद्धा हो कि यही सर्वथा पूर्ण है और इसके स्मरण-चिन्तनसे मुझे सत्यका साक्षात्कार और असार संसारसे मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है, वहीं उसे मोक्षप्रद हो जायगा। अतः इस रहस्यको समझकर पहले अपनी श्रद्धाको दृढ़ करना चाहिये।

× × ×

(५)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

प्रभुसे शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करना तभी आवश्यक होता है जब कि उनकी दी हुई शक्तिका साधक उनके विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाता। मिली हुई शक्तिका सदुपयोग करनेवालेको आवश्यक शक्ति और सामग्री अपने-आप प्रभुकी कृपासे मिलती रहती हैं। यह उस कृपासागरका स्वाभाविक नियम है।

दुःख संसारमें नहीं है। प्राणी स्वयं ही अपनी भूलसे अज्ञानके कारण दुःख भोगता रहता है। जिसको हम दुःख कहते हैं, वह प्रतिकूल परिस्थिति तो भगवान्‌की वह कृपा है, जो संसारमें फँसे हुए प्राणीको उसमें दोष दिखाकर सुखकी दासतासे छुड़ाती है। अतः साधकको प्रतिकूलतासे घबराना नहीं चाहिये। धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये।

आपने लिखा कि पूर्वजन्मके पापोंके कारण मेरी

जबान खराब है सो ऐसी बात नहीं है। जबानको तो आप स्वयं ही भले खराब करें। इसमें न तो पूर्वजन्मका दोष है न जबानका ही। अतः आपको अपना जीवन संयमी बनाना चाहिये। जबान भगवान्‌की कृपासे मिला हुआ यन्त्र है। उससे आप जैसा चाहें बोल सकते हैं। अतः भगवान्‌के आज्ञानुसार उससे सत्य, प्रिय और हितकर शब्द बोलिये और स्वाध्याय कीजिये। जिनसे किसीको उद्वेग हो, बुरा लगे—ऐसे वचन भूलकर भी न बोलें—यही वाणीका सदुपयोग है। इससे वाणी अपने-आप शुद्ध हो जाती है।

जो व्यक्ति आपकी बातोंपर हँसते हैं, उनसे न तो द्वेष करना चाहिये, न उनको बुरा या दोषी ही समझना चाहिये। उनकी बातोंपर धैर्यपूर्वक विचार करके जो न्यायसंगत और हितकर हो, उसे सरलतापूर्वक मान लेना चाहिये। दुःख करना तो सर्वथा ही बुरा है। उससे कोई लाभ नहीं होता।

हर एक मनुष्य अपना जीवन जब चाहे उज्ज्वल बना सकता है। इससे निराश होना बड़ी भारी भूल है। जीवनको मलिन किसी दूसरेने नहीं बनाया है। प्राणी स्वयं ही अपनी जानकारीका अभिमान करके जीवनको मलिन बना लेता है। अतः उसे उज्ज्वल बनाना उसके हाथमें है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

आप अपने दुःखका कारण दूसरे लोगोंको मानते हैं, यह भूल है। आपका मूल्य तो आपने स्वयं ही घटा रखा है। आप प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग न करें तो अपने-आप मूल्य बढ़ जा सकता है और जीवन आनन्दमय बन सकता है।

भगवान् बुद्धकी भाँति भ्रमण करना तो बड़े ही सौभाग्यकी बात है। वैसा वैराग्य हो जानेपर तो आपको कोई दुःख देनेवाला दिखायी ही नहीं देता, फिर आप इस संसारसे असङ्ग हो जाते और प्रभुसे आपका अटल प्रेम हो जाता; पर वैसी बात है नहीं।

आपका मन किसी काममें नहीं लगता, इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि आप प्राप्त ज्ञानका आदर नहीं करते। इन्द्रियोंके वशमें होकर वह काम भी कर लेते हैं, जो आप स्वयं ही पसंद नहीं करते। यही अपने ज्ञानका अनादर है। हर एक मनुष्य जानता है कि किसीको कटुशब्द नहीं कहना चाहिये, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये, किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये इत्यादि; क्योंकि जब कोई दूसरा हमपर क्रोध करता है या हमें कटुशब्द कहता है, तब हमें बुरा मालूम होता है। फिर भी हम दूसरोंपर क्रोध करते हैं, उनको कटुशब्द कहते हैं। यही अपने ज्ञानका अनादर है। अतः इस विषयमें खूब सावधान रहना चाहिये।

शान्ति न मिलनेका एकमात्र कारण दूसरोंसे सुखकी आशा करना और उन्हें दुःख देना है। ऐसा न करनेपर शान्ति तो स्वाभाविक सर्वत्र परिपूर्ण है।

समाचारपत्रोंमें यदि आप अनेक प्रकारके अत्याचारोंकी बात पढ़ें तो तत्काल अपने जीवनका अध्ययन करें और सोचें कि ऐसा अपराध मुझसे कहीं किसीके साथ मनसे या कार्यरूपमें बनता है या नहीं। यदि बनता हो तो तत्काल उसका त्याग कर दें और जिसके साथ बुराई की हो, उससे क्षमा माँग लें। दूसरे क्या-क्या भूल कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं—इसे सोचनेमें आपको कोई लाभ नहीं है।

आपने पूछा कि यह संसार क्या है, सो वास्तवमें तो यह उस सर्वसमर्थ सर्वान्तर्यामीकी लीलास्थली है। अतः साधकको चाहिये कि इसके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये, स्वामीको निकट समझते हुए, अपने स्वाँगके अनुसार खेल करे। जगत् परिवर्तनशील और नाशवान् है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भोगोंसे घृणा न करके उनमें ममता और आसक्तिका त्याग करना अधिक उपयोगी है। किसी प्रकारके सुख-भोगकी इच्छा ही प्राणीको उसका दास बना देती है। इस कारण वह अपने नित्य-स्वामी परमेश्वरका दास नहीं बन पाता।

आजकल विवाहोंमें जो दोष आ गये हैं, उनको आप अपने जीवनमें न आने दें। विवाहको पुण्यकर्म समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार एक सद्गृहस्थका जीवन-यापन करें, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। अधिक संतान उत्पन्न करना बुरा समझें तो न करें। विचार-द्वारा जिस वासनाको हम न मिटा सकें, उसको संयमपूर्वक नियमित उपभोगद्वारा मिटानेके लिये ही गृहस्थ-जीवन है। अतः साधकके लिये यह बड़े लाभकी परिस्थिति है।

बालक अपना प्रारब्ध साथ लेकर आते हैं। उनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। साधकको तो चाहिये कि वह अपने कर्तव्यसे न चूके; फिर जो कुछ होगा, वह ठीक ही होगा। निर्वाह तो सबका वह प्रभु ही करता है, जिसका यह विश्व है। मनुष्य तो निमित्तमात्र ही है। वह ऐसा अभिमान व्यर्थ ही करता है कि मैं निर्वाह करता हूँ।

अन्नके लिये भटकना उसे ही पड़ता है, जो प्राप्त बलका सदुपयोग नहीं करता तथा आवश्यक श्रम नहीं करता एवं दूसरोंसे कुछ पानेकी आशा रखता है। बुद्धिका आदर करनेवालेकी बुद्धि कभी विपरीत नहीं होती। अतः उसके लिये कोई भी समय या परिस्थिति हानिकारक नहीं है। हर प्रकारसे अपमान उसीका होता है, जो स्वयं गलत रास्तेसे चलता है।

इस युगमें ही क्यों, कभी भी दूसरा कोई किसीका नहीं है। अतः साधकको किसीसे भी कुछ नहीं चाहना चाहिये और अन्य किसीको भी अपना न मान-कर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर उसपर ही निर्भर हो जाना चाहिये, इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है।

संसारसे छूटनेका उपाय, इससे जो कुछ लिया है, उसे लौटा देना और बदलेमें कुछ न लेकर उऋण हो जाना है, जो कर्तव्य-पालनद्वारा बड़ी सुगमतासे हो सकता है। आपका कोई भी ऐसा कर्तव्य नहीं है, जिसे आप नहीं कर सकते और जिसके करनेके साधन आपके पास नहीं हैं। इस दृष्टि-से कर्तव्य-पालन बड़ा ही सुगम है।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके अपने-आपको उनके समर्पण कर देना अर्थात् ऐसा मान लेना कि मैं उन प्रभुका हूँ, जिनका यह समस्त जगत् है और एकमात्र प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं, और कोई भी मेरा नहीं है। यह शरीर जिसको मैं अपना समझता हूँ, यह भी मेरा नहीं है। यह मुझे भगवान्‌की कृपासे उनकी सेवाके लिये मिला हुआ स्वाँग है। यह भाव दृढ़ होनेपर बड़ी सुगमतासे भगवान्‌का निरन्तर भजन-स्मरण तथा उनमें प्रेम भी हो सकता है।

(२) संसारसे किसी प्रकारका सुख-भोग न चाहनेसे और प्राप्त शक्तिद्वारा उसकी सेवा कर देनेसे अपने-आप उस संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है अर्थात् उसके प्रति ममताका नाश हो जाता है। अपना नाम भी तो संसारका ही अंश है। उसकी इच्छा रखते हुए आप संसारसे सम्बन्ध कैसे छोड़ सकेंगे? यह तो आपको संसारसे और भी अधिक जकड़कर बाँध देगा। अतः यदि भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना है और संसारसे तोड़ना है तो अपने नाम या यशको विषके समान समझकर उसकी इच्छाका त्याग कर दीजिये और एकमात्र भगवान्‌के प्रेमको छोड़कर और किसी भी वस्तुकी भी इच्छा मत रखिये।

(३) किसीपर भी अपना कोई अधिकार न मानना और किसीसे भी कुछ न चाहना, दूसरेके कर्तव्यकी ओर न देखना, अपने कर्तव्य-पालनद्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करते रहना एवं परेच्छासे जो भी मनके प्रतिकूल घटना हो, उसे भगवान्‌का विधान मान लेना—यह क्रोधको जीतनेका बड़ा ही सरल और सुगम उपाय है। अपने मनकी बात दूसरोंसे पूरी करानेकी आशा ही क्रोधकी जड़ है।

(४) कामनाका त्याग कर देनेके बाद आप कामी कैसे रहेंगे ? प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालनद्वारा सबका हित करना—यही बड़ी-से-बड़ी सेवा है। प्रभुका नाम लेना और गुणोंका गान करना—यही तो जीभका सर्वोत्तम सदुपयोग है। विवाहको झंझट न मानकर धर्मका आवश्यक अङ्ग समझें और पत्नीका हित तथा गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाना चाहिये। शादी करनेसे घृणा तो अपने शरीर-सुखके लोभके कारण और पारिवारिक भरण-पोषणकी झंझटसे भयभीत होकर हुई है, जो सर्वथा निराधार है। वास्तवमें वैराग्य होता तो जीवनमें क्रोध कहाँसे आता ? शान्तिका उपाय एकमात्र भगवान्‌का आश्रय (शरण) है।

आवश्यक बातोंका उत्तर यथास्थान लिखा गया है। मैं किसीका गुरु बननेका अधिकारी नहीं हूँ। अतः कृपा करके मुझे 'गुरुदेव' लिखकर लज्जित न करें।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गतांकसे आगे]

५६—उलाहना

'दादा, कनूँ मेरा दावँ नहीं देता। मैं मारूँगा उसे।' श्रीदाम रोषमें है। उसका गौर मुख कुछ लाल हो गया है। उसके बड़े-बड़े नेत्र भरे-से हैं। दाऊ यहाँ न होता तो वह अवश्य श्यामसे झगड़ पड़ता। यह भी कोई बात है कि कन्हाई उसका दावँ नहीं देता और उलटे उसे अँगूठा दिखाकर चिढ़ाता है। वह दौड़नेमें कृष्णसे कुछ दुर्बल तो है ही नहीं। किंतु यह दाऊ दादा फिर छोटे भाईका पक्ष न लेने लगे।

'यह कुछ अच्छी बात नहीं।' दाऊके लिये तो सभी सखा समान हैं। वह भला, क्यों छोटे भाईका पक्ष करे। उसने कहा—'कहाँ है कनूँ ?'

'दादा !' श्याम बड़े भाईके सामने आकर ऐसा बन जाता है कि देखते ही बनता है।

'तू श्रीदामसे झगड़ता क्यों है ?' उसका·····'किंतु छोटे भाईके मुखकी ओर देखते ही दाऊ बोलते-बोलते रुक गया। उसने श्रीदामसे कहा—'चलो, मैं कन्हाईके बदले दावँ चुका दूँ।'

'ना ! दावँ तो मैं इसीसे लूँगा।' श्रीदामका हठ अनुचित कौन कहे। जो खेलता हो, दावँ उसीको देना चाहिये।

'किंतु यह तो थक गया दीखता है।' दाऊने फिर देखा अपने छोटे भाईकी ओर।

'थक गया है ?' श्रीदामने भी श्यामकी ओर देखा। उसे लगा कि वह अबतक क्यों नहीं इस बातको जान सका। कितना सुकुमार है उसका यह नीलसुन्दर सखा। इसके भालपर पसीनेकी बूँदें झलमलाने लगी हैं। कपोल अरुण हो गये हैं। केशोंके सुमन अस्त-व्यस्त बन गये हैं। श्वासकी गति भी बढ़ गयी जान पड़ती है।

'श्याम, तू इधर आ।' श्रीदामने हाथ पकड़ लिया और तमाल-मूलकी ओर चलनेको खींचने लगा।

'मैं थका कहाँ हूँ ? तू थक गया हो तो वहाँ सो जा।' कन्हाई अपनेको दुर्बल कैसे मान ले ? वह किससे अल्पशक्ति है कि पहले थक जायगा ?

'दादा, यह कनूँ मानता नहीं है। तू डाँट न इसे।' तोकका उलाहना न सुना जाय, ऐसा सम्भव नहीं। नन्दा

तोक एक कमलका पत्ता दौड़कर तोड़ लाया है। अब श्याम थका हो या न थका हो, उसे सुबलकी गोदमें सिर रखकर झटपट सो जाना चाहिये। तोक जो अपने पत्तेसे उसे वायु करना चाहता है।

इतने उलाहना देनेवाले और अकेला श्यामसुन्दर। सब कहते हैं तो थका कैसे नहीं है वह ? अब उसे तमालके नीचे विश्राम तो करना ही पड़ेगा।

५७—स्नेहाश्रय

'दादा, तू बुला इन सबको।' कन्हाई हँस रहा है। उसे वनके ये नन्हे जीव सदा घेरे ही रहते हैं। शशक उसके चरणोंको अपनी लाल-लाल कोमल जिह्वासे चाट लिया करते हैं बार-बार। गिलहरियाँ उनसे भी अधिक धृष्ट हैं। वे श्यामके अङ्कको ही अपनी शय्या बनाना चाहती हैं। पक्षियोंका समुदाय पृथक् फुदकता-उड़ता रहता है। इसके चारों ओर मृग बछड़ोंके समान इसे बार-बार सूँघते रहना चाहते हैं।

'तू एक बच्चा लेगा कृष्णमृगका ?' दाऊ बड़े स्नेहसे एक मृगीको दूर्वा खिला रहा है। मृगीका नवजात शिशु दाऊके पास उससे सटकर बैठ गया है।

'मैं इसे घर ले चलूँगा।' श्यामसुन्दरने मुड़कर देखा बड़े भाईके पास बैठे मृगशावकको। सचमुच बहुत सुन्दर बच्चा है। दौड़ आया कन्हाई और गोदमें भर लिया उसने उस शावकको।

'इसकी माँ भी चलेगी।' दाऊने मृगीको पुचकारा।

'मैं इसे भी ले चलूँगा।' श्यामके लिये यह कोई नयी बात नहीं है। ढेरों वनपशु उसको घेरे नित्य गोष्ठमें पहुँचते हैं। दो-चार वह स्वयं ले जाता है तो सौ पचास अपने-आप भागे चले चलते हैं साथ-साथ।

'कनूँ, यह कोई गाय या बछड़ा नहीं है। तू इसे बाँधेगा तो रोयेगा यह।' माता रोहिणी मना लेती है मोहनको। कोई रोये, यह कृष्णचन्द्र सह नहीं सकता। वनपशु या तो घड़ी-दो-घड़ी गोष्ठमें खेल-कूद करके वनमें लौट आते हैं या फिर नन्दभवनके प्राङ्गणमें, गोष्ठमें या द्वारपर बैठकर रात्रि-विश्राम करते हैं वे। प्रातः कन्हाईके साथ ही वे वनमें लौटते हैं।

'कनूँ ! देख, वह बँदरिया आ रही है अपना बच्चा लेकर। तू उसके बच्चेको नहीं ले चलेगा ?' दाऊ परिहास कर रहा है।

'नहीं दादा, तू उसे भगा दे। वह मुझे दाँत दिखाती है और खों-खों करती है।' कृष्ण पहले ही मुँह बनाकर उसे चिढ़ाने लगा है।

दाऊ किसे भगा दे ? बँदरिया श्यामके समीप आ गयी है। मयूर इस नवजलधर सुन्दरको घेरकर नृत्य कर रहे हैं। पक्षी इसके चारों ओर चहक रहे हैं। शशक इसके चरणोंमें लोट-पोट हो रहे हैं। गिलहरियाँ बार-बार इसका पीतपट खींचती हैं और पीठ फुलाकर पूँछ हिलाकर चीं-चीं करती हैं। मृग इसे अपलक देखते हैं। यह सबका—प्राणिमात्रका स्नेहाश्रय दाऊका छोटा भाई।

'तू सबको ले चल।' दाऊ श्यामके पाससे जीवोंको भगा दे, यह कैसे शक्य है। वह तो अपने छोटे भाईके पास सबको पहुँचाता ही है।

५८—बाल-विनोद

'भद्र है !' किसीने वृक्षमूलमें चुपचाप बैठे दाऊके नेत्र पीछेसे आकर बंद कर लिये हैं। कौन होगा यह ? यह युग-युगका परिचित स्पर्श—किंतु नेत्र बंद करनेवाला प्रसन्न हो रहा होगा। उसके नेत्र खिल रहे होंगे। झटपट नाम बता देना कुछ अच्छी बात नहीं है।

'तोक, मेरे नेत्र छोड़ दे।' दाऊने दूसरा नाम लिया। वैसे तोककी नन्ही हथेलियाँ उसके दीर्घ दृगोंको ढक लेंगी, यह सोचना ही कठिन है।

'सुबल, श्रीदाम, विशाल, ऋषभ, अर्जुन·····' एकके बाद दूसरा नाम लिया जा रहा है। नेत्र बंद करनेवाला बोलता नहीं, हँसता भी नहीं। वह पीठसे चिपका पीछे छिपा है।

'हौआ है !' अब दाऊ हँसते हुए बोला और नेत्रोंपर धरे दोनों कर पकड़ लिये उसने।

'दादा नहीं बता सका।' कन्हाई खिलखिलाता, ताली बजाता, नाचता-कूदता सामने आ गया। 'तू नहीं बता सका न ?'

'मैं तो नहीं बता सका।' दाऊके अधरोंपर भी स्मित है। 'अब तू मेरी बड़ी अँगुली बता।'

पुष्पित कदम्बके नीचे पालथी मारे दाऊ बैठा है। उसने

दाहिने हाथकी अँगुलियोंको बायें हाथकी मुट्ठीसे छिपा रखा है। नखोंकी तनिक-तनिक नोक और अँगुलियोंके लाल-लाल रक्तकी बूँदों-जैसे अग्रभाग—अब इसमें तो सब अँगुलियाँ एक-जैसी हो रही हैं। पता नहीं, कहाँ छिपी है बड़ी अँगुली।

कुछ बालक खड़े-खड़े झुककर देख रहे हैं, कुछ घुटनोंके बल उझककर और कुछ एक दूसरेका सहारा लेकर।

कृष्णचन्द्र अपने बड़े भाईके सामने एकदम सटकर उकड़ूँ बैठा है। उसके शरीरका कुछ बोझ भी दाऊके घुटनोंपर ही है। मयूरपिच्छ लहरा रहा है, अलकें हिल रही हैं, कानोंके पुष्पगुच्छ कपोलपालीपर स्थिर हो रहे हैं। मस्तक झुकाये, दोनों हाथसे दाऊकी मुट्ठी पकड़े वह ध्यानसे बड़ी अँगुलीकी खोजमें है।

'तू छोड़ दे!' एक अँगुली अपनी तर्जनी और अँगूठेसे मोहनने पकड़ ली है।

'अरे, यह तो तर्जनी है।' मुट्ठी खुलते ही सब-के-सब हँस पड़े हैं और यह कन्हाई भी हँसते-हँसते भाईकी गोदमें ही लोट-पोट हो रहा है। तर्जनी झटसे छोड़कर मध्यमा पकड़ ली इसने और अपनी चतुरतापर अब स्वयं मगन हो रहा है।

५९—चञ्चल

'श्याम, तू बड़ा चञ्चल है रे!' माता रोहिणीने किसी प्रकार कन्हाईका एक हाथ पकड़ा।

श्रीकृष्णचन्द्र पूरा दिन वनमें बिताकर लौटा है। सखा अपने गोष्ठोंमें गौएँ बाँधने गये हैं। उनके आनेके पहले मोहनको स्नान करा देना है। वस्त्र बदल देने हैं। सखाओंके आनेके पश्चात् यह सब होनेसे रहा। फिर तो यह उनके साथ धूम करनेमें लग जायगा। वे बालक आते ही होंगे और यह चपल कभी द्वारतक भाग जाता है, कभी किसी वस्तुको उलटता-पुलटता है और कभी कुछ करने लगता है। माता स्नान कराना चाहती है, किंतु यह बार-बार भाग जाता है।

'नहीं माँ, चञ्चल तो दाऊ दादा है!' श्यामसुन्दरने दूसरे हाथसे अपने बड़े भाईकी ओर संकेत किया। 'मैं तो खेलता हूँ, कूदता हूँ और दौड़ता भी हूँ। मैं चञ्चल कहाँ हूँ माँ?'

'दाऊ क्या चञ्चलता करता है?' माता जानती हैं कि उनके इस नन्हे कृष्णके शब्दकोषमें शब्दोंके ऐसे-ऐसे अर्थ हैं, जिन्हें कोई ऋषि-मुनि भी नहीं जानता होगा।

'दाऊ दादा तो बहुत कम खेलता है।' कन्हाईने फिर बड़े भाईकी ओर देखा। 'वह जो बड़ा भारी भाण्डीरवट है न, इतना बड़ा' अपनी दोनों नन्ही भुजाएँ श्रीकृष्णने फैला दीं, मानो भाण्डीरवटकी पूरी विस्तृति हो गयी इतनेमें। माता अधरोंमें मुस्कराकर रह गयी।

'यह दाऊ दादा उसके नीचे जड़से सटकर गुमसुम देवता-जैसा बैठ जाता है।' श्यामने माताके मुखकी ओर देखकर कहा—'देख माँ, इस प्रकार देवता-सा बैठ जाता है दादा!'

कन्हाई भूमिपर वहीं बैठ गया। उसने अपनी बायीं जाँघपर दाहिना चरणतल रख लिया। पीठ सीधी करके नेत्र अधमुँदे कर लिये।

श्रीव्रजराजका प्राङ्गण, समीपमें रंग-बिरंगी साड़ी पहिने वात्सल्यमूर्ति माता रोहिणी और एक ओर श्रीबलराम। कन्हाई अपने अग्रजका अनुकरण कर रहा है। कटिमें पीताम्बरकी कछनी, कण्ठमें कौस्तुभ, वक्षपर वनमालाकी ओटसे झाँकता-सा श्रीवत्स। पटुका कहीं गिरा दिया है इसने। धूलि-धूसर अलकोंसे घिरा सुन्दर मुख, अर्धोन्मीलित विशाल नेत्र, वाम जानुपर लाल-लाल चरणतल, घुटनोंपर पड़े पाणिपद्म, सीधा शरीर और ध्यानकी विचित्र मुद्रा। गोरज-मण्डित मृदुल श्याम अङ्गकी यह शोभा—विभूतिभूषित कोई योगीश्वर भी इस छटाके चिन्तनसे कृतार्थ हो सकता है।

'कनूँ, क्या कर रहा है तू?' मैया यशोदा प्रतीक्षा कर रही थी कि उसका कन्हाई स्नान करके कलेऊ करने आता होगा और यह तो अभी यहाँ योगिराज बना बैठा है।

'मैं कह रहा था, दाऊ दादा बहुत चञ्चल है!' श्याम झटपट उठकर मैयाके पास पहुँच गया। कौन चञ्चलताकी इस परिभाषाको अस्वीकार कर सकता है?

६०—ऊँघ

'राम, दूध पी ले, बेटा! तू दूध पी तो श्याम भी पीयेगा।' माता रोहिणी अपने आगे बैठाये है अपने स्वर्णगौर कुमारको। दाऊ दोनों चरण आधे मोड़े बैठ गया है और उसके दोनों हाथ भी दूधके कटोरेपर हैं, किंतु नेत्र बंद हैं। अलकें बिखरी हैं मुखपर। वह अधर कटोरेपर लगाकर भी ऊँघ रहा है। माता अपने हाथसे कटोरा सम्हाले है और बार-बार स्नेहपूर्वक दूध पी लेनेके लिये कह रही है।

'दूध पी तो श्याम भी पीयेगा।' नींदके वेगमें भी दाऊ जैसे कुछ-न-कुछ समझ लेता है इस बातको। उसके अधर हिल जाते हैं। बहुत छोटे दो-एक घूँट लेकर वह फिर ऊँघने लगता है।

'लाल, तू नहीं पीयेगा तो तेरा दादा भी भूखा रह जायगा।' मैया यशोदाके पास भी यही एक मन्त्र है। उनकी गोदमें यह आधा लेटा, दोनों चरण फैलाये जो नील-सुन्दर है, वह दाऊकी भाँति शान्त तो है नहीं। कटोरा पकड़ना तो दूर, मुखके पास कटोरा ले जानेपर यह अपने हाथसे उसे हटा देने, दूध फैला देनेका प्रयत्न नींदमें भी करता है। मैया एक हाथमें कटोरा लिये है और दूसरेसे इसे सम्हाले है। बड़ा भाई इसके दूध न पीनेसे भूखा सो जायगा, इस नामपर इसके भी अधर दो-चार बूँद दूध भीतर ले लेते हैं।

'दोनों दिनभर गायोंके पीछे वन-वन भटकते हैं। बालकोंके साथ धूम मचाते रहते हैं। थक जाते हैं बहुत अधिक।' माता रोहिणीके नेत्र भर आये हैं। वे दाहिने हाथमें कटोरा सम्हाले हुए बायें हाथको बढ़ाकर मैयाकी गोदमें लेटे श्यामसुन्दरके फैले हुए चरण बहुत धीरे-धीरे दबाने लगी हैं।

'कितना मना करती हूँ, पर दोमेंसे एक भी नहीं मानता।' मैयाके नेत्रोंमें अपार वात्सल्य है। अब ये दोनों ही सो गये हैं। कटोरेका पूरा दूध तो जगते रहते भी कभी पीया नहीं इन्होंने, पर दो घूँट भी पी लें तो माताओंको संतोष हो जाय। दिनभर थकते हैं, दूध भी नहीं पीयेंगे तो दुबले हो ही जायँगे।

'पी ले, लाल ! पी ले, बेटा।' दोनों माताएँ बार-बार आग्रह कर रही हैं। ये दोनों ही पूरी ऊँघमें हैं। यदा-कदा ही हिलते हैं इनके अधर। बहुत थोड़ी बूँदें कण्ठसे नीचे उतर पाती हैं।

पास-पास आमने-सामने बैठी हैं दोनों माताएँ। माता रोहिणीके सामने नेत्र बंद किये बैठा दाऊ और मैया यशोदाकी गोदमें लेटा कन्हाई। बंद हैं दोनोंके विशाल दृग्। बिखरी हैं इनके चन्द्रमुखपर अलकें। दीपकके प्रकाशमें दूधसने इनके अधरोंकी अपूर्व छटा है। चिबुकतक आ गयी है दूधकी रेखा। इन दोनोंकी यह ऊँघ—पर कहीं किसी भी जागरणमें क्या इतना सौन्दर्य सम्भव है ?

६१—मल्लयुद्ध

'दादा, मैं तुझसे लड़ूँगा।' श्यामके लिये यह नयी बात नहीं है। श्रीदाम, भद्र, सुबल आदि उसे प्रायः पटकनी दे देते हैं। सखाओंसे द्वन्द्व करके तो हारनेमें और हारकर भी अपनेको विजयी तथा जयीको पराजित बताकर चिढ़ानेमें आनन्द है। द्वन्द्वमें जीतता तो कन्हाई दाऊसे ही है। वैसे वह भी समझता है कि तोकको जैसे सब जयी बना देते हैं, वैसी ही जय उसकी भी है।

'अच्छा आ।' दाऊ जानता है कि उसके इस सुकुमार छोटे भाईको दूसरे मल्लक्रीड़ामें बहुत थका देते हैं।

पटुके उतारकर दोनोंने एकत्र रख दिये। उनके ऊपर ही रख दीं मालाएँ, वेत्र, शृङ्ग और मुरली। अलकें समेटकर बाँध लीं। कछनी कसकर पूरी कछनी कर ली गयी। अब दोनोंने ताल ठोंकी।

श्रीयमुनाजीकी सुकोमल वालुकापर बालकोंकी क्रीडा चल रही है। दौड़कर एक-दूसरेको छूना, कूदना, वृषभ बनकर सिरसे टक्कर लेना—सब विभिन्न खेलोंमें लगे हैं। उनके मध्य ये राम-श्याम मल्लयुद्ध कर रहे हैं।

कन्हाई चिड़ियाकी भाँति फुदकता है और मछली-सा चिकना तो है ही। वह इधरसे उधर कूदता है। दाऊ जान-बूझकर उसे बार-बार सरक जाने देता है।

राम और श्याम—इन्दीवर और स्वर्णकमलकी परस्पर गुँथी यह जोड़ी। दोनोंके मुख किंचित् लाल हो रहे हैं। दाऊ छोटे भाईको प्रोत्साहित कर रहा है और श्याम प्रयत्न कर रहा है—बल लगा रहा है।

'दादा तो गिर गया।' श्यामसुन्दर ताली बजाकर हँसा।

'अभी तूने चित कहाँ किया ?' दोनों घुटने मोड़े, दोनों हाथ सिरसे आगे किये दाऊ रेतपर स्थिर पड़ा है—'चित कर।'

कन्हाई अब फिर जुट गया है। बड़े भाईकी पीठपर लेटकर कभी उसका हाथ खींचता है, कभी पैर। कभी एक ओर झुकता है और कभी दूसरी ओर। अब उसके भालपर स्वेद-सीकर चमकने लगे हैं।

'दादा, उठ तू।' कृष्णचन्द्रने दाऊको चित कर दिया और बहुत प्रसन्न हुआ। अपने दादाके ऊपर चढ़कर वह

बैठ नहीं सकता। दाऊ तो चित होकर चुपचाप पड़ गया है। वह जैसे विश्राम कर रहा है। कन्हाई उसके दाहिनी ओर पेटके पास सटकर बैठा है और मुट्ठी-मुट्ठी रेत उसके पेट तथा छातीपर डालकर कभी-कभी मल देता है।

धूलि-धूसर ये गौर-श्याम अङ्ग, यह मल्लयुद्धके पश्चात् अलस भाव—वायु अपने कोमल करोंसे इनका स्वेद सुखानेमें लग गया है।

६२—भोला श्याम

'कनूँ, तेरा पटुका कहाँ गया ?' दाऊने देखा कि उसके छोटे भाईके कंधेपर पीतपट नहीं है। यह कन्हाईकी कोई नयी बात नहीं। एक मुरलिका तो इसे प्राणोंसे प्यारी है। उसे फेटमें खोंसे रहेगा, हाथमें लिये रहेगा, काँखमें दबाये रहेगा। सोते समय भी उसे पासमें सम्हालकर रखेगा। किंतु दूसरी सब वस्तुएँ—पटुका, वेत्र, शृंग, माला आदि जहाँ चाहे वहाँ डाल देगा और भूल जायगा। दाऊको ही इसकी वस्तुओंका ध्यान रखना पड़ता है।

'हूँ !' श्यामने अपने वक्षकी ओर देखा। इसे अबतक यही पता नहीं कि पटुका कंधेपर नहीं है। फिर दोनों हाथ थोड़े फैलाकर एक बार बड़े भाईकी ओर देखकर वह ऐसे हँस पड़ा—'अरे, वह तो खो गया।'

'सुबल, तूने चुराया है क्या ?' कृष्णचन्द्र जानता है कि यही बात श्रीदामसे कहनेपर वह झगड़ने लगेगा।

'मैं क्यों छिपाने लगा।' सुबलने तटस्थ उत्तर दे दिया।

'कोई मुस्कराता नहीं, कोई हँसता नहीं, कोई नेत्र मटकाकर दूसरेसे संकेत नहीं करता। तब पटुका क्या हुआ ?' श्यामने सखाओंके मुखकी ओर घूमकर देखा, किंतु उसे शङ्का करनेका कोई चिह्न नहीं मिला।

'कनूँ, मैं बताऊँ ?' तोकने आकर हाथ पकड़ लिया और उत्तरकी अपेक्षा किये बिना बताया उसने—'तेरा पटुका धर्मने लिया है। वह रहा वह !'

'अरे, हाँ।' दोनों हाथोंसे ताली बजाकर प्रसन्नतासे श्यामसुन्दर कूद पड़ा और दौड़ा। अपने सफेद बड़े वृषभकी पीठपर पटुका रखकर खेलमें लग गया था, यह उसे भूल ही गया। धर्म अब उठ खड़ा हुआ है। वह पीठपर पटुका लिये चरनेमें लग गया है। उत्तुङ्ग उज्ज्वल वृषभकी पीठपर श्यामका स्वर्णिम पीतपट। श्यामसुन्दर दौड़ रहा है—दौड़ा जा रहा है।

पटुका उतारकर कंधेपर रखकर मोहन फिर दौड़ा आया और बड़े भाईके आगे आकर खड़ा हो गया।

सघन पुष्पित वनोंमें थोड़ी दूरपर गायें चर रही हैं। तमालके नीचे एक शिलापर नीलाम्बरधारी दाऊ बैठा है। उसके आस-पास गोपकुमार खड़े तथा बैठे हैं। उसके सामने आकर यह खड़ा हो गया उसका छोटा भाई।

दौड़नेसे भालपर स्वेद-बिन्दु झलमला आये हैं। कमल-मुख अरुणाभ हो उठा है। बहुत प्रसन्न है मोहन दोनों हाथोंसे पटुकेके दोनों छोर कुछ उठाये। मानो उसके नेत्र कह रहे हैं—'दादा, यह रहा मेरा पटुका। देख, मैं ढूँढ़ लाया।'

६३—मानद

'श्याम, मैं हार गया।' श्रीदाम इस कन्हैयाके समान झंझटी नहीं है। बार-बार खेलमें वह जीतता है, एक बार हार ही गया तो क्या हुआ ? उसे अपनी हार छिपानी नहीं है।

'कनूँ, मैं हार गया क्या ?' यह तोक भी कूदता हुआ निर्णय लेने आ पहुँचा है।

'तू भी कहीं हारता है ? तू तो जीत गया है।' सच्ची बात है, तोक कभी हारता नहीं। वह चाहे जिस पक्षमें रहे, पक्ष हारे या जीते, तोक तो जीतेगा ही। नन्हे तोकको भला पराजित कौन कह सकता है। उसे तो सभी अपनी पीठपर ढो देना चाहते हैं।

'नहीं, मैं हारूँगा !' आज तोकको दूसरी धुन है। वह हारका रस लेना चाहता है।

'तू किसको ढोयेगा ?' श्याम हँस पड़ा।

'दाऊको, वृषभको, श्रीदामको, विशालको—सबको।' उमंगमें तोक एक स्वरसे सब बड़े तगड़े बालकोंके नाम गिना गया।

'तब इस श्रीदामको पहले ढो।' कन्हाईने परिहास किया।

'दाम ! आ बैठ तू मेरी पीठपर।' तोक हाथ और घुटनोंके बल लेट गया झटपट।

'मैं तो हार गया हूँ।' श्रीदामके नेत्रोंमें पराजयका खेद है। वैसे इस तोकको वह अनेक बार ढो चुका है। तोकको ढोनेमें हार-जीत क्या ? वह जिसकी पीठपर

बैठना चाहे, वही हँसकर अपनेको हारा मान लेगा और ढोयेगा उसे।

'तुझे गिनना भी नहीं आता। अभी तो खेलका एक दावँ बाकी ही है।' श्याम हार जाय तो श्रीदामसे झगड़ लेगा कि नहीं हारा है। दावँ देनेसे भाग खड़ा होगा, किंतु किसी सखाके नेत्रमें खेदकी रेखा उससे सही नहीं जा सकती।

'क्या एक दावँ बाकी है?' श्रीदाम चौंका। उसने गिनती तो ठीक की है, किंतु कहीं भूल गया होगा। उसके नेत्रोंमें उल्लास आया। अब इस अन्तिम दावँमें कौन हारेगा, यह भी क्या पूछना है।

'दादा, तू बैठ मेरी पीठपर। मैं तुझे गिराऊँगा नहीं।' तोक अब दाऊसे आग्रह कर रहा है।

'चल, तुझे ऐसा पटकता हूँ कि तू भी समझेगा।' श्याम श्रीदामको खिझा रहा है।

श्याम और तोक दोनों नीलसुन्दर, दोनों पीताम्बर-परिधान, दोनों घुटनों और हाथके बल भूमिपर। श्यामकी पीठपर श्रीदाम और तोककी पीठपर दाऊ। दोनों स्वर्ण-गौर। दोनों नीलाम्बरधारी। दोनों चल अपने पैरों रहे हैं और पीठपर बैठनेका नाटक कर रहे हैं। एक जोड़ी है—'बस, अब रहने दे।'

और उत्तर—'ना, बैठा रह तू।'

दूसरी जोड़ी है—'उतर, नहीं तो पटकता हूँ।'

ऊपरसे—'अभी चुपचाप चला चल।'

६४—छाक आयी

'दादा, दादा, छाक आ गयी!' श्यामसुन्दर प्रसन्नतासे नाच उठा है। पर्वतकी ऊँची चोटीपर यह यही देखने चढ़ा था कि छाक आ रही है या नहीं। भूख इससे दो क्षण भी सही नहीं जाती और अब इसमें छाक लानेवालियोंका क्या दोष है कि उन्हें देर होती है। बेचारियोंको नित्य वन-वन भटकना पड़ता है। ये बालक बिना पता-ठिकाना दिये कभी एक ओर तो कभी दूसरी ओर बछड़े हाँक लाते हैं।

'सुबल! तोक! भद्र! अरे छाक आ गयी। दौड़ आओ! दौड़ आओ सब!' श्रीकृष्ण कूदता-उछलता उतर रहा है। एक प्रपातके पास बैठे अपने बड़े भाईके पास दौड़ा आ रहा है।

'दादा, छाक आ गयी!' मोहन वर्षासे धुली शिलाको आसन बनाकर बैठ गया है दाऊके पास, किंतु यह क्या ऐसे बैठ सकता है? दो-दो क्षणपर खड़ा होता है, उचक-उचककर देखता है—'इतनी देरमें भी सब नहीं आयीं?'

'सब छाक मेरी है। है न?' अब यह भी कोई बात है। छाक तो प्रायः सबके घरोंसे आती है; पर श्यामका हठ है कि उसीकी मैयाने सब छाक भेजी है।

'सब तेरी ही है, लाल!' ये छाक लानेवाली गोपियाँ मोहनकी ओर चुपचाप देखने लगी हैं। 'अब तू अपने मित्रोंके साथ भोग लगा।'

'तुम सब बैठ जाओ!' श्यामसुन्दर पूरी सामग्री अपने सामने रखकर बैठ गया है। अपने हाथों ही वह सबको परसेगा। यह काम छाक लानेवालियोंको कभी वह करने नहीं देता।

'तू बस नमक खा ले!' यह उपहास तो चलना ही है। किसीको केवल अचार, किसीको केवल दो चावल और किसीके सामने मोदकोंका बड़ा भारी स्तूप लगाकर यह अब हँसेगा। बालक कहीं इस प्रकार भोजन करते हैं? किसके सामने क्या रखा गया, इसका प्रश्न कहाँ है। पूरे पदार्थ ही सबके सामने हैं। जिसे जहाँसे जो रुचे, उठा ले और जब कोई आधा मोदक दाँतसे काटकर शेष कन्हाई, दाऊ या किसी दूसरेके मुखमें देने लगेगा—'देख कितना स्वादिष्ट है!' भला, कौन मुख बंद कर सकता है उस समय।

'तेरा माखन खट्टा है! सब मुझे दे दे!' यह खट्टे माखनकी पहचान आपने न सुनी हो तो इस मण्डलीमें सुन जायँ।

'दादा, देख न—कितना मीठा दही है।' पूरा दाहिना हाथ दहीमें डुबाकर श्यामसुन्दरने थोड़ा-सा खाया और हाथ बड़े भाईके मुखकी ओर कर दिया। दाऊ अब उसकी अँगुलियाँ मुखमें लिये दहीका स्वाद ले रहा है।

'कनूँ, देखें हम!' सभी उत्सुक हैं हाथ रोककर कन्हाई-की दहीसे उज्ज्वल अँगुलियाँ चाट लेनेके लिये।

आपके मुखमें पानी नहीं आता क्या? न आये तो आप पूरे कर्मकाण्डी!

६५—आँख-मिचौनी

'दादा! मैं बताऊँ, भद्र कहाँ छिपा है?' यह कनूँ इतना भी नहीं समझता कि उसे स्वयं भी छिपना चाहिये। दाऊको नेत्र बंद करना था। दूसरे बालकोंके साथ श्याम भी भागकर

कुञ्जोंमें छिप तो गया, किंतु जब दाऊ नेत्र खोलकर इधर-उधर देखने लगा है, तब यह अपने-आप निकल पड़ा है बताने।

'तू छिप तो सही !' दाऊका यह छोटा भाई कितना भोला है।

'अच्छा, तू आँख बंद कर तो मैं उस माधवी-कुञ्जमें छिप जाऊँ।' यह अच्छी रही। छिपनेवाला पहले बताये दे रहा है कि वह कहाँ छिपेगा। श्याम न भी बताये तो भी क्या होता है। वह छिप कहाँ सकता है। जहाँ वह छिपेगा, मयूर घूम-फिरकर वहीं नाचेंगे, भौंरे वहीं मँडरायेंगे, बंदर वहीं उछल-कूद करेंगे और बछड़े वहीं दौड़-दौड़ जायेंगे। फिर अपनी अङ्ग-कान्तिको कृष्णचन्द्र कहाँ छिपाये ? वह छिप नहीं पाता और वही छिप रहे तो उसे ढूँढेगा कौन ?

'मैं यहाँ हूँ, दादा !' श्याम पुकारता नहीं, पर कुञ्जमेंसे बार-बार झाँकता है, फुसफुसाता है और हाथ हिलाकर बुलाता है। उसका यह 'दादा' उसे क्यों नहीं ढूँढता ? वह क्यों दूसरे बालकोंको ढूँढ रहा है ? कृष्ण अब ऊब गया है। वह निकल आया है कुञ्जसे—'मैं नहीं छिपूँगा। तू छिप जा, मैं ढूँढूँगा।'

'मैंने तुझे देख लिया है।' कन्हाई ढूँढेगा तो यही झगड़ा होगा। वह खेलके एक भी नियम समझता नहीं और झगड़नेको सदा उतारू रहता है। अब आज सुबलसे उलझ पड़ा है।

'तूने देख लिया तो क्या हुआ, छुआ तो नहीं।' सुबल क्यों अकारण 'चोर' बने ?

'आँखसे तो छू लिया था !' अब इन दार्शनिक-सार्वभौम-जीको कौन समझाये कि खेलमें आँखसे देखना स्पर्श नहीं माना जा सकता।

'हाथसे तो हाथ नहीं छुआ था !' सुबल हँस पड़ा।

'ले, अब छू लिया।' कन्हाईने हाथ पकड़ लिया उसका।

'अब छूनेसे क्या होता है ?' बात तो ठीक है, पर जब यह नटखट माने। यह तो सदा ऐसे ही झगड़ता है।

'होता क्यों नहीं ?' किसमें इतनी बुद्धि है जो इन देवताको समझा सके।

'सुबल ! कनूँके बदले मैं दावँ दूँगा।' दाऊ छोटे भाईका झगड़ा निबटाने प्रायः आगे आ जाता है।

'ना, मैंने इसे छू लिया है।' मोहन तो अपना हठ ही करेगा।

'अच्छा, मैं सुबलके बदले दावँ देता हूँ।' दाऊ विवादको समाप्त करना चाहता है।

'आँख तो मैं बंद करूँगा। मैं ढूँढूँगा सबको। तू छिप जा !' कृष्णचन्द्र अब बड़े भाईका हाथ पकड़कर उसे छिपनेको कह रहा है। यह सदाका ढूँढनेवाला—ढूँढनेमें ही आनन्द आता है इसे।

६६—आँधी आयी

'हम्मा।' गायोंने कान खड़े कर लिये हैं। चरना बंद करके वे स्वयं एकत्र हो गयी हैं झुंड-की-झुंड और अब लगता है कि गोष्ठको भागनेवाली ही हैं।

'कनूँ ! देख, आँधी आ रही है।' कपि इधर-उधर छिपने लगे हैं। पक्षी उड़ते हैं आकुल-से और चीलें ऊपर—खूब ऊपर मण्डल बनाकर चक्कर काटने लगी हैं। गोपकुमार ठीक ही तो कहते हैं कि आँधी आ रही है। दिशाएँ धूमिल हो रही हैं और पश्चिम आकाशमें कपिश रंगकी घटा-सी घेरे आ रही है; किंतु कन्हाई तो नाच रहा है। यह दोनों हाथ पूरे फैलाकर गोल-गोल घूम रहा है।

'दादा, अभीसे हम घर चलेंगे ?' अभी सायंकाल होनेमें देर है, परंतु गायें और बालक तो घर जानेको प्रस्तुत होने लगे हैं।

'आँधी आ रही है। चल, हम भाग चलें।' दाऊ चाहता है कि कृष्णचन्द्र अब घर चले।

'गायोंको हाँक दो !' श्यामने सखाओंको सम्मति दे दी। जब सब चलना चाहते हैं, तब ऐसा ही सही; किंतु अभी कुछ देर और नाच लेना चाहता है वह। 'दादा, मैं तेरे साथ अभी चलता हूँ।'

'भाग, कनूँ।' अब दाऊने हाथ पकड़ा छोटे भाईका। आँधी तो आ ही गयी। वृक्ष भरपूर हिलने लगे हैं। धूल उड़ी आ रही है। गायें भागकर भी भाग नहीं पातीं। वे बार-बार घूम आती हैं श्यामसुन्दरको देखने।

'दादा !' अब भागा यह कन्हाई बड़े भाईका हाथ पकड़कर। उड़ रही हैं अलकें, उड़ रहा है मयूरपिच्छ, हिल रही है वनमाला और फर्र-फर्र हो रही है कछनी। मुख नीचे किये, एक दूसरेसे सटे भागे जा रहे हैं राम-श्याम।

'अरे!' हाथसे पकड़े रहनेपर भी उड़ गया पीतपट। वह गया, वह गया।

'तू ठहर।' दाऊ झपटा, किंतु मोहन उसका हाथ कहाँ छोड़ रहा है।

'मेरा पटुका स्वर्ण-यूथिकाने ओढ़ लिया है।' अग्रजकी ओर देखकर कृष्णचन्द्र हँस पड़ा।

'यह फिर उड़ जायगा। तू इसे भी बाँध ले।' मोहन लतापरसे उतारकर अपना पटुका अब दाऊकी कटिमें ही लपेट रहा है।

'वृक्षोंके नीचे नहीं जाना चाहिये।' दाऊ कह तो ठीक रहा है, पर गुफा दूर है अभी। दोनों भागे जा रहे हैं। भागे ही जा रहे हैं सिर झुकाये।

कृष्णदीवानी ताज

[कहानी]

(लेखिका—श्रीसुनीता अग्रवाल)

[हमारी इस कहानीका समय १६ वीं शताब्दी है। उस समय उत्तराखण्डमें मुगल-सम्राट् अकबरका झंडा फहरा रहा था। उसी परम प्रतापी अकबरके हरममें ताज भी थी। इसी कृष्णदीवानी ताजकी किंवदन्तियोंके आधारपर यह कहानी है। इतिहास भी तो स्वयं किंवदन्तियोंके अतिरिक्त और है ही क्या? लेखिका—]

उस समय हिंदुस्तानमें मुगलोंका झंडा पूरी तरह फहरा नहीं सका था। अभी उत्तरी भारतके भी कुछ इलाके जीते नहीं जा सके थे। उन्हीं दिनों आगरेमें अब्बास खाँ नामका एक मुगल जागीरदार, जो बैरम खाँकी उम्रका था और जिसने बाबर, हुमायूँ और अकबरके लिये उन्हींके साथ लड़ाइयाँ लड़ी थीं, अपनी एकमात्र संतान ताजके साथ रहता था। ताजका बचपनका नाम हमीदा था। उसकी माँ बचपनमें ही चल बसी थी। इसीलिये बापका लाड़-प्यार उसे खूब मिला था।

अब्बासखाँ पाँचहजारी मनसबदार था। उस उम्रमें भी, जब कि उसके सारे दोस्त कब्रोंमें कयामतकी प्रतीक्षा करते हुए सो रहे थे, वह अपने कर्तव्यपर डटा था। वह बाबर और हुमायूँकी निशानी अकबरकी तब भी सेवा कर रहा था जब कि बैरम खाँ सिपहसालार गद्दारी दिखा चुके थे।

अकबरपर ही नहीं, सारे मुगलवंशपर उसके बड़े एहसान थे। खुद अकबरको भी एक बार लड़ाईमें दुश्मनके घेरेसे उसने निकाला था, परिणामतः वह भी उसे बहुत मानता था।

एक दिन जब अकबर दरबारमें बैठा राज्यके बारेमें बातें कर रहा था, तभी उसको खबर मिली कि चाँदबीबीके किलेपर कुमुककी जरूरत है, वहाँ मुगल-सेनाकी कमी है। अकबरका चिन्तित मुख देखकर अब्बास खाँ दरबारमें शेर-जैसा गर्जा—'जहाँपनाहको अल्लाहताला सेहत बख्शे, वे आफताब-सी चमक और महताब-सी ठंडक लेकर आलममें सुकून बरसाएँ। मालिकेहिंद शाने मुगलानाको इस खबरसे फिक्रमन्द होनेकी जर्रेभर भी जरूरत नहीं। अभी हजूरके खादिम अब्बास खाँ-जैसे, जो शहंशाहके इशारेपर ही खूनकी दरिया बरसा सकते, बर्केतवाँ बनकर दुश्मनोंपर टूट सकते हैं, बहुत तादादमें मौजूद हैं। आका इशारा करे तो यह बूढ़ा अब्बास ही, जिसकी रगोंमें बाबर-हुमायूँके नमककी नमकीनी अब भी मौजूद है, चाँदबीबी-जैसी हजारोंको काफी है।' सारा दरबार 'शहंशाह अकबर जिंदाबाद' के नारोंसे गूँज उठा।

जब दरबारमें शान्ति छायी, तब अकबरने गम्भीरतासे कहा—'हमें अपने सिपाहियों और अपने सिपहसालारोंसे यही उम्मीद है और भरोसा भी है। लेकिन अब्बास खाँ!

तुम्हें यह नहीं भुला देना चाहिये कि तुम्हारा शहंशाह अभी बच्चा है; तुम हमारे सिपहसालार ही नहीं, सरपरस्त भी हो; हमें डर है कि अनगिनत गुमनाम मुगलोंके खूनसे सींचे हुए सल्तनतके इस दरख्तको तुम्हारा नासमझ बादशाह कहीं गुमराहीकी आँधीमें उखड़कर गिर न जाने दे। हमें, मुगल सल्तनतको अभी तुम्हारी और तुम-जैसे दूसरे वफादार सरदारोंकी जरूरत महसूस होती है। इस कामको कोई और मनसबदार भी बाआसानी, बाखुशी और बाहोशियारी अन्जाम दे सकता है।'

दरबार फिर मुगल सल्तनत और शहंशाह अकबरके नारे लगाने लगा। अब्बास खाँने फिरसे अपने ही जानेकी इच्छा प्रकट की और वह इस आज्ञाको पा गया।

अब्बास खाँ अपने महलपर आया। वहाँ सोलह सालकी कमसिनीसे दबी, नजाकतकी पुतली हमीदा खड़ी थी। उसे दिलासा देकर वह लड़ाईपर चला गया। हमीदाने अपने बापको बहुत बार इस तरह लड़ाइयोंपर जाते देखा था और हर बार विजयी होकर वापस लौटते हुए भी; पर आज, न जाने क्यों, यह उसे भेजनेसे डर रही थी। उसने अपना दिल खोला। अब्बास खाँ इसपर बहुत जोरसे हँसा और बोला—'नादान! सल्तनतके हर शख्सका बाप सल्तनतदां होता है। अगर खुदा-न-खास्ता मेरा साया तेरे सरसे उठ भी गया तो मेरी रूहका साया और तेरे शहंशाहका साया तुझपर रहेगा। नेकदिल शहंशाह तुझे देखेगा।' अब्बास खाँ अपनी फौजको लेकर चला गया। हमीदा रोती रह गयी।

अकबर अपनी प्रजाकी भलाई-बुराईका सदा ध्यान रखता था। उसे मालूम था कि अब्बास खाँके बाद उसकी लड़की हमीदा वहाँ रह गयी है। उसकी खैर-खबर रखना अकबरने अपना कर्तव्य समझा और इसी कामके लिये एक रातमें भेष बदलकर वह अब्बास खाँके महलमें आकर दाखिल हो गया।

चाँदनी रात थी, वहाँ हौजमें हमीदा नाव चला रही थी। छोटी-सी डोंगीमें बैठे-बैठे वह गीत गाती जा रही थी और मग्न अकबर उसे सुन रहा था। अकबर गीतसे ऐसा मस्त हो गया, जैसे बीनसे मृग। वह वहीं खड़ा रहा। नाव जब किनारे लगी तब हमीदा चीख उठी। अकबरका ध्यान तब टूटा और उसे यह बताकर कि वह उसके बापकी अनुपस्थितिमें इसलिये छोड़ा हुआ अकबरका एक आदमी है कि उसकी सब खैर-खबर ली जाती रहे।

हमीदा अपने इस हितैषीको पाकर बहुत खुश हुई। साथ ही शहंशाहपर भी उसे अगाध श्रद्धा हो गयी।

× × ×

अकबरको हमीदा बहुत अच्छी लगी, वह उसे हमेशा ही देखते रहना चाहने लगा। हमीदाकी कोयल-सी आवाज रह-रहकर उसके कानोंमें गूँजती।

दूसरी रातको फिर वह उसी भेषमें हमीदाके सामने अचानक पहुँचा। उसने जान-बूझकर हमीदाके सामने कई ऐसे काम किये कि हमीदाको हँसी आ गयी। अकबर यहाँ छिपकर आया था; इसलिये उसे इस बातका भी डर बना हुआ था कि कहीं कोई उसे देख न ले।

× × ×

हमीदा भी धीरे-धीरे अकबरसे प्रेम करने लगी। वह रोज रातको हौजमें नाव डाले, मोमबत्ती जलाये, अकेली उसके इंतजारमें बैठी गाती रहा करती; अकबर भी हमेशा ही नये ढंगसे आ-आकर उसे एक बार डरा दिया करता। फिर दोनों नावमें बैठकर बहारोंके मजे लूटा करते। इसी तरह कई दिन हँसी-खुशीमें बीत गये।

× × ×

एक दिन खबर आयी कि चाँदबीबीका किला जीत लिया गया है; लेकिन अब्बास खाँकी शहादतकी कीमतके

बदले। अकबरको इस खबरसे बड़ा धक्का लगा। वह इस खबरको लेकर हमीदाके सामने जानेमें बहुत घबराने लगा। लेकिन अब्बास खाँ-जैसे मनसबदारकी मौतकी खबर छिप भी कैसे सकती थी। अफवाह हमीदाके पास भी पहुँच ही गयी। वह बिलबिला उठी।

रात आयी, अकबर राज्यके सारे कामोंसे छुट्टी पाकर एकान्तमें पहुँचा। अब उसका समय हमीदाके लिये रह गया था। वह वहाँ जाना चाहता था। लेकिन आज उसकी हिम्मतने हथियार डाल दिये थे। वह हमीदाके बूढ़े बापका साया उसके सरसे उठवा देनेका जिम्मेदार था। वह इसी अपराधके कारण आज उसके सामने जानेसे डरता था। लेकिन उसके नेक दोस्त टोडरमलने उसे समझाया और कहा—'शहंशाहे हिंद! हमीदाका सरपरस्त अब्बास खाँ नहीं, बल्कि उसके मुल्कका मालिक है। उसकी ही जिम्मेदारी है हमीदाके जान-मालकी हिफाजतकी। एक हमीदा नहीं, इस मुल्ककी करोड़ों हमीदा और अब्बास खाँकी जानोंके हुजूर मालिक हैं। आज इस दुःखके मौकेपर जाकर उसको तसल्ली देनेका जिम्मा आपका ही है। यह आपका फर्ज है। और हिंदुस्तानका नेक बादशाह अपने फर्जसे कभी पैर पीछे नहीं हटायेगा।'

अकबर हमीदाके पास गया। आज हमीदाका महल सुनसान और अँधेरा पड़ा था। जैसे कोई राहगीर रास्तेमें लुटा-पिटा पड़ा हो—हताश, नाउम्मीद। अकबर पैर तो आगे बढ़ाता, लेकिन उसकी हिम्मत फिर जवाब दे देती। टोडरमल भी आज साथ था। वह उसे बढ़ाता। अकबर हर कदमपर पीछे लौट चलनेकी बात सोचता, लेकिन उसका कोई भी कदम नहीं मुड़ा।

× × ×

हमीदा अपने आरामगाहमें औंधी पड़ी थी। वह तब भी सिसक रही थी। कुछ देर बाद अकबरका प्यार-भरा हाथ उसकी कमरपर फिरा, उसने मुड़कर देखा। अपने प्यारे सिपाहीको शानदार लिबासमें देखकर एक बार तो वह फूली नहीं समायी, पर दूसरे ही क्षण बोली, 'सिपहिया! तुम शायद आज खुश हो, तभी तो शानदार कपड़े पहनकर आये हो; मेरे अब्बा, खुदा उन्हें जन्नत बख्शे, आज हमसे दूर हो गये हैं। मुझे आज कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। तुम भी मुझे अच्छे नहीं मालूम हो रहे हो, सिपहिया!'

टोडरमलको पहले 'सिपहिया' सुनकर तो ताज्जुब हुआ था, पर दुबारा वही शब्द सुननेपर उसको अकबरने सारा रहस्य बता दिया। वह बहुत घबरायी। भागकर बराबरके कमरेमें छिप गयी।

टोडरमलने अकबरको समझाया कि 'औरतका सच्चा सरपरस्त उसका खाविन्द होता है और हमीदाका दुःख तभी दूर हो सकता है, जब अकबर उससे शादी कर ले; क्योंकि यह लड़की उसे ही चाहती है।' अकबरको उसकी बात माननी पड़ी।

अकबरने हमीदाको जाकर बताया कि हमीदा अकबरके दिलका ताज बनेगी और उसका नाम तब ताज होगा। हमीदाको खुशी और अफसोस दोनों ही हुए। वह राजी भी हो गयी।

× × ×

अकबरके हरममें हमीदा ताज होकर आ तो गयी, लेकिन वहाँ उस-जैसी और भी कितनी ही थीं। नारी स्वभावसे ही अपने पतिको संसार समझती है और उसपर वह एकाधिकार भी चाहती है। जब उसपर यह अधिकार नारीको नहीं मिलता, तब वह इधर-उधरसे सहायता लेकर यह अधिकार पाना चाहा करती है। हरममें बीरबलकी बेटी शोभावती और राय वृन्दावनदास-जीकी बेटी लीलावती बहुत आया-जाया करती थीं। ताजसे उनकी दोस्ती हो गयी।

उनसे वह कृष्ण और गोपियोंकी कथा और श्रीविट्ठल-नाथजीके विषयमें सुना करती। विट्ठलनाथजीके बहुत-से

आश्चर्यजनक कार्य सुना करती। एक दिन उसने विट्ठलनाथजीसे एक ताबीज शोभावतीके द्वारा मँगवाया कि उसका पति उसके वशमें रह सके।

ताबीज आ गया। लेकिन वह छिपा नहीं रह सका और जब दूसरी सौतोंको यह पता चला, तब वे चिढ़ गयीं। उन्होंने अकबरके कान भरे। अकबरने इसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। लेकिन जब बात बढ़ती देखी, तब वह ताजके पास गया और उससे इधर-उधरकी बात करते हुए ताबीजपर, जो इस समय भी ताजके गलेमें था, बातें करने लगा। ताजने भेद नहीं छिपाया और साफ-साफ बता दिया।

अकबरने ताबीज तुड़वाकर देखना चाहा, लेकिन ताजने विरोध किया। इसपर अकबरको क्रोध आ गया। उसने खुद ताबीज गलेसे खींच लिया और उसे खुलवाकर पढ़ा। उसमें लिखा था, 'कामन टामन टोटका, ये सब डारो धोइ। पिया कहै सो कीजिये, आपुहि ते बस होइ॥' अकबर इस दोहेको पढ़कर विट्ठलनाथजीपर बहुत श्रद्धा करने लगा और उनसे मथुरामें ताजके साथ मिलने भी गया।

ताजपर उक्त घटनाका और श्रीविट्ठलनाथजीके उपदेशोंका इतना असर पड़ा कि वह श्रीकृष्ण-प्रेममें लीन हो गयी। अकबरने भी उसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा दे दी। दीक्षा लेकर वह फिर आगरे लौट आयी।

अब आगरेमें ताजका महल श्रीकृष्ण-पूजाका केन्द्र बन गया। सदा कीर्तन आदि होते रहते। सौतोंको, यहाँतक कि हिंदूरानी जोधाबाईको भी इससे चिढ़ हुई। उन्होंने अकबरके कान भरने चाहे, पर अकबरपर अब इन बातोंका कोई असर नहीं पड़ा। उसने ताजसे इस सम्बन्धमें कोई बातचीत नहीं की।

ताजका प्रेम इतना बढ़ गया कि परमप्रेमास्पद भगवान् उसके वशमें हो गये। वे रोज रातको ताजके बुलानेपर चौसर खेलने आया करते और ताज भी मग्न होकर चौसरमें लग जाती। वह प्रायः जीतती ही। एक दिन ताज बोली—'गोविन्द! तुम कैसे खिलाड़ी हो, कभी जीत ही नहीं पाते!'

गोविन्द भोली मुसकानसे बोले—'ताज! मेरे भक्तोंकी जीतमें ही मेरी जीत है। मुझे कभी यह चाह नहीं होती कि मैं अपने भक्तोंसे जीतूँ। उनसे तो मैं सदा ही हारा हूँ, मैं उनका खरीदा हुआ दास हूँ। वे अपनी भक्तिके मूल्यसे मुझे खरीद लेते हैं। फिर अपने मालिकसे जीतना क्या?'

ताजको इस बातसे मतलब ही कहाँ था कि गोविन्द क्या कह रहे हैं; लेकिन बाहर खड़ा अकबर इस आवाजको सुन चुका था। उसे ताजपर शक हुआ। वह अंदर आया और चिल्लाया, 'ताज! तुम्हें जितनी आजादी दी गयी, तुम उसका उतना ही नाजायज फायदा उठाने लगी हो!'

'क्या कह रहे हैं, सरताज?'

'यहाँ कौन था?'

ताज हँसी और बोली—'मेरे भगवान् श्रीगोविन्दजी महाराज यहाँ थे ही नहीं, बल्कि अब भी हैं, आलमपनाह!'

अकबर चौंका। उसने देखनेकी कोशिश की पर उसे फिर दिखायी कुछ भी नहीं पड़ा। वह बोला—'कहाँ?'

'ये यहाँ।'

मुझे यकीन नहीं। मैं तो देख नहीं पा रहा। अगर भगवान् यहाँ हैं तो मुझे उनकी उपस्थितिका सबूत दो और महलके इन बुझे हुए दीपोंको पुनः जला दो। ताजने भगवान्से प्रार्थना की। दीप जल गया और तब भगवान् स्वयं बोले—'नादान! तेरी माया, मोह और लोभसे सनी गंदी आँखें मुझे देख सकती भी नहीं।

मैं हर जगह हूँ—यहाँ भी, वहाँ भी, तेरे सरपर भी और तेरे पैरोंमें भी; पर जबतक ये माया, मोह जिंदा हैं तू मुझे कैसे देख सकता है ?'

अकबर गद्गद हो गया। उसे ताजपर श्रद्धा हो गयी। अपनेसे ग्लानि होने लगी। उसने कहा—'ताज ! मुझे तुमपर शक हुआ था। पर खुदा करे हर शौहरको ऐसा शक हो। मैंने तुझे पापी समझकर खुद एक पाप किया है। आओ, अब मथुरा चलकर तुम्हारे गोविन्दके दर्शन कर इस पापको धो डालूँ।'

× × ×

दूसरे दिन ही अकबर और ताज शाही ठाटसे मथुरा चल दिये। तीसरे दिन विट्ठलनाथजीके और श्री-गोविन्दजीके दर्शन किये। वहीं एक सप्ताहतक अखण्ड कीर्तन हुआ। फिर एक दिन भगवान् श्रीगोविन्दने दर्शन दिये। ताज भगवान्के स्पर्शके लिये आगे बढ़ने लगी, किंतु एक सप्ताहके निर्जल उपवाससे उसमें ताकत नहीं रही थी। अकबरने चाहा कि सहारा दे, पर वह उसे छूनेका साहस नहीं कर सका।

वह खिसककर गोविन्दके चरणोंतक पहुँच गयी और वहीं अन्तिम साँस लेकर निश्चिन्त हो गयी।

अकबर भरे गलेसे बोला—'जिसकी चीज थी, उसीने ले ली !' वह वहाँसे आगरे लौट आया। कवियित्री ताजकी यादमें उसके महलकी जगह ताजमहलका निर्माण करा दिया।

अपरिग्रह

[देशके नवीन निर्माणमें इसका स्थान]

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्०ए०, काव्यतीर्थ)

हमारे प्राचीन आचार्योंने साधारण जनताके लिये वर्णाश्रम-धर्मके आधारपर दैनंदिन जैसा जीवन-क्रम निर्धारित किया था, वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, सार्वभौम एवं शाश्वत था। आधुनिक युगमें विज्ञानके विकासके साथ-साथ जनसाधारणके जीवनमें जो अंधाधुंध परिवर्तन बड़े वेगसे हो रहा है, उससे जनसमुदायकी वास्तविक सुख-शान्तिमें उपचय अथवा अपचय हो रहा है—यह विषय सर्वत्र विद्वानोंके लिये विचारणीय हो रहा है। हिंस्र-वैज्ञानिक साधनोंसे सम्पन्न एक देश दूसरे देशोंको पराधीन करके अपने देशवासियोंके भौतिक-शारीरिक सुख-की वृद्धिके लिये दिन-रात प्रयत्नशील है। नये-नये हिंसक शस्त्रास्त्रोंके आविष्कारकी होड़ लगी है, जिस होड़में सारे संसारकी शक्तियाँ लग रही हैं और जनता सम्भाव्य महायुद्धके त्राससे चिन्ताग्रस्त हो रही है। उन देशोंके कुछ दूरदर्शी विचारवान् लोग इस त्रासको दूर करनेके विचारसे यदा-कदा जंगलों और पहाड़ोंके शान्त वातावरणमें बैठकर विचार करने लगे हैं। इसमें हमारे देशके अग्रणी लोग भी हाथ बँटा रहे हैं। यद्यपि ये अन्तरङ्ग गोष्ठीमें प्रवेश नहीं पा रहे हैं, तथापि अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिकी पूँजीके कारण इनके स्वरमें शक्ति भासित हो रही है और आशा की जाती है कि दिनोंदिन इनके विचारका मूल्य बढ़ता जायगा। यह हमारे देशके लिये आधुनिक युगमें कुछ कम गौरव-की बात नहीं है। परंतु विचारणीय यह है कि वास्तवमें हम कहाँतक गौरवके पात्र हैं। हमारी वास्तविक स्थिति-का भेद खुल जानेपर क्या हम बाह्य जगत्में आदर पाने-के अधिकारी रह सकते हैं ? क्या हमारे पास पूर्वजोंका दिया हुआ सुखी जीवनके रहस्यका मूल मन्त्र अविकृत रूपमें रह गया है ? क्या हम दिनोंदिन उस निधिको खोकर पशुत्वकी ओर नहीं जा रहे हैं ? जिस पाञ्च-भौतिक शरीरको हमारे पूर्वजोंने अनित्य एवं तुच्छ समझकर हमें शरीरके द्वारा लोक-सेवा आदि धर्मोपार्जन-

का अमूल्य उपदेश शास्त्रोंके द्वारा दिया था, क्या आज हम उसको देहात्मवादके चक्करमें पड़कर भौतिक सुखको ही सर्वस्व समझकर रात-दिन उसीके साधन जुटानेमें सारे धार्मिक विचारों एवं आचार-परम्पराको तिलाञ्जलि नहीं देते जा रहे हैं ? दुर्भाग्यवश हमें जिस परिस्थितिमें और जिन लोगोंके हाथसे छिनकर स्वराज्य मिला है, वह हमारे स्वाभाविक जीवनके विकासके लिये सर्वथा प्रतिकूल और असहायक है । अंग्रेजोंका सम्पर्क हमारी भौतिक वृद्धिके लिये सहायक रहा हो, परंतु हमारे नैतिक जीवनके लिये वह सर्वथा घातक सिद्ध हुआ । आजतक भी हम उस टका-पंथी सभ्यताके विषमय प्रभावसे नहीं छूट रहे हैं, प्रत्युत भूतकी तरह वह हमें अधिक वेगसे आक्रान्त कर रहा है, जितना वह अंग्रेजोंके समक्षमें कभी नहीं कर पाया था। ऐसी लोकोक्ति भी है कि शत्रु पड़ोसीका मृतात्मा अगतिक रहकर पड़ोसीके लिये अधिक दुःखदायी होता है । इस सम्बन्धमें सबसे अधिक बेमेल बात यह है कि अभी हमारे देशका शासन-सूत्र जिन लोगोंके हाथमें है, उनमें अधिकतर ऐसे ही लोग हैं, जिनका जीवनक्रम और विचार-शैली इस देशके लिये अधिकांशतः प्रतिकूल है । वे देशवासियोंको सुखी बनानेके लिये जो-जो कार्य-क्रम काममें ला रहे हैं और जिस विचारधाराका प्रचार कर रहे हैं, वह सर्वथा शुद्ध भारतीय ढंगकी नहीं है और देशवासियोंके जीवनमें उलझन पैदा कर रही है । ये हमारे नेता पाश्चात्त्य विचारधाराकी भारतीय विचार-धाराके साथ बेमेल खिचड़ी पका रहे हैं । अतः विशुद्ध भारतीय जीवनपद्धतिके पोषक विचारवाले भारतीयोंका कर्तव्य है कि यथासमय वे भारतीय जीवनादर्शकी पुष्टिमें आवाज बुलन्द करें । यदि वे आलस्य एवं प्रमादमें पड़े रह गये तो देशमें अनाचार और अत्याचार-की शीघ्र ही इतनी अधिकता हो जायगी कि ऋषियोंका यह देश एकबारगी पुनः आसुरी वृत्तिके लोगोंका स्थान बन जायगा और पापी पेटकी पूर्ति एवं भुक्खड़ इन्द्रियों-की तृप्तिके अतिरिक्त मनुष्य-जीवनका कोई लक्ष्य ही शेष नहीं रह जायगा ।

अब हमें विशुद्ध भारतीय जीवनकी रूप-रेखापर दृष्टिपात करना है ।

मनु भगवान्‌ने कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
(४।१६०)

नीतिकार विष्णुशर्माने कहा है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ॥

फिर मनुने कहा है—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥
(४।२०४)

उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें भारतीय जीवनका लक्ष्य ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दृष्टिसे संक्षेपमें बतला दिया गया है । सारार्थ यह है कि विद्योपार्जनके द्वारा समाजमें पात्रता (मान्यता) प्राप्त करके न्याययुक्त मार्गसे धनोपार्जन करके भोजनाच्छादनसे अवशिष्ट धनको मनुष्य धार्मिक कामोंमें व्यय करनेसे ही सुखी हो सकता है, धनको केवल शारीरिक सुखमें लगानेसे और अपने पड़ोसियोंको तरसानेसे अथवा उन्हें विपत्तिमें भी सहायता न देकर कोई मनुष्य सुख एवं शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । पड़ोसियोंसे विरक्त अथवा उनकी सहानुभूतिसे रहित व्यक्ति शारीरिक सुखके अपार साधनसे सम्पन्न रहते हुए भी मानसिक सुख कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे तोंदवाला मनुष्य स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । मानसिक शान्तिके अभावमें शारीरिक सुख-की कोई गणना नहीं है । बड़े-बड़े सेठ-साहूकार लोग रात-दिन धनोपार्जनकी नयी-नयी चिन्तामें निमग्न रहकर

बड़े बेचैन रहते हैं। उन्हें न नींद आती है और न भोजन रुचता है। दूसरी ओर एक संतोषी व्यक्ति सूखा-रूखा भोजन और मोटा-गाढ़ा कपड़ा शरीराच्छादन-मात्र प्राप्त करके शुद्ध नैष्ठिक और स्वस्थ जीवन बिताते हुए समाजमें आदरणीय और परलोकभीरु रहते हुए शान्तिमय वातावरणमें अपना समय बिताता है। अपनी इस तुच्छ आवश्यकताके लिये उसे किसी दूसरे मनुष्यपर भरोसा नहीं करना पड़ता। कहीं यात्रामें भी गया तो धोती, अँगोछा, आसन और जलपात्रके अतिरिक्त उसके पास कोई सामान (luggage) नहीं, जिसे ढोनेके लिये कुलीकी आवश्यकता पड़े। किसीके घर अतिथि भी बना तो ऐसे व्यक्तिके लिये भात, रोटी, दाल और साग-भाजीके अतिरिक्त चाय, बिस्कुट, मिठाई और मोहनभोगके आयोजनकी आवश्यकता नहीं। ऐसे ही अतिथिके सत्कारका विधान गृहस्थोंके लिये नैत्यिक पञ्चमहायज्ञोंके अन्तर्गत किया गया है। यदि प्राचीन कालके सादे जीवनवाले, अल्प आयवाले गृहस्थोंको आजकलके स्वराजी मन्त्रियोंका सत्कार करना पड़ता तो एक बारमें ही उनका दिवाला निकल जाता। इस देशमें शास्त्रकारों और ऋषियोंने मनुष्य-जीवनके सुखका रहस्य यही बतलाया था कि बिना किसी दूसरे व्यक्तिको क्षति पहुँचाये अपने हाथ-पैर हिलानेसे जो वस्तु सुविधापूर्वक प्राप्त हो सके—उतनेसे ही जीवन-निर्वाह करना। जिस वस्तुके अर्जनमें दूसरेके श्रम या दूसरेके पैसेका प्रयोजन पड़े, उस वस्तुसे दूर रहनेमें ही कल्याण है। दूसरेको चकमा देकर, ठगी अथवा चोरीसे येन-केन-प्रकारेण पैसा बनाकर अपने सुख-साधनको जुटाना लोग परम हेय समझते थे। समाजमें ऐसे लोगोंकी पूछ नहीं थी। ब्रह्मचारी ऐसे लोगोंके द्वारपर भिक्षाटनके लिये नहीं जाते थे और न अतिथि उनका सत्कार स्वीकार करते थे। आज समाजमें और संस्कारमें चोर और भलामानस एक समान ही आदर पा रहे हैं, यदि उनके पास पैसा हो, वे चंदा दे सकते हों और अधिकारियोंको दावतें दे सकते हों। 'टके सेर भाजी और टके सेर खाजा'का बाजार लग रहा है।

सबसे सूक्ष्म रहस्य भारतीय जीवनका था—यम-नियमका सेवन। नियमकी अपेक्षा भी यमको अधिक महत्त्व दिया गया है। यमके पाँच (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) अङ्गोंमें हमें यहाँ अपरिग्रहकी विशेषरूपसे चर्चा करनी है। यों तो वे सारे अन्योन्याश्रित हैं, पर अपरिग्रहका स्थान देशके नये निर्माणमें सर्वोच्च है। इसका तात्पर्य है—व्यर्थ वस्तुका संग्रह नहीं करना। जितनेसे तत्काल काम चल सके, उतनेका ही संग्रह करना और अन्ततोगत्वा जीवनकी आवश्यकताको क्रमशः कम करते जाना, ताकि संन्यासाश्रममें ममताशून्य होकर लँगोटीको भी त्याग देनेमें कष्ट प्रतीत न हो और अन्तमें शरीरके त्यागमें कष्ट न हो। यह नित्यके अभ्यासका विषय माना गया था। इसमें क्रम (graduation) का हिसाब रखा गया था। जितनी ही कम सामग्रीसे जो व्यक्ति अपना जीवन-निर्वाह कर सकता था, उतना ही वह समाजमें आदरणीय समझा जाता था। नारदबाबा दिन-रात सर्वत्र घूमते थे, पर न तो उन्हें बेडहोल्डर चाहिये था और न कोई सामान ढोनेवाला कुली। चाणक्यकी झोपड़ीमें लोढ़ा, सिल और कमण्डलुके सिवा कोई वस्तु नहीं थी। यह थी हमारी सभ्यता, जिसकी नींव गुरुके आश्रममें ही दी जाती थी। दूसरी ओर पश्चिमकी सभ्यतामें, उसके अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्तोंमें जीवनकी आवश्यकताओंको क्रमशः बढ़ानेकी प्रेरणा दी जाती है, (Create your wants and try to meet them)। बड़े दुःखकी बात है कि हमारे आधुनिक नेतागण अपने देशके इस जीवन-रहस्यको न समझकर या समझते हुए भी उसका तिरस्कार करके गांधीजीके जीवनादर्शोंकी हत्या करते हुए जनताको अंधा-धुंध जीवनके स्तरको ऊँचा करनेकी सीख दे रहे हैं। इस लेक्चरबाजीमें आर्योंका कर्म-विपाकका सिद्धान्त

ताकपर रख दिया जाता है और सब मनुष्योंको एक समान सुखी बनानेकी नित्य नयी-नयी योजना बनायी जा रही है। द्रव्योपार्जनकी होड़ लगी हुई है। किसी भी उपायसे हो (By fair or foul means) रुपया हासिल करना चाहिये। जो लोग अधिकारके पदपर पहुँचे हुए हैं, वे प्रजाकी कमाईका काफी पैसा वेतन और भत्तेके रूपमें पा रहे हैं। ठाटकी जिंदगी बिता रहे हैं। आलीशान महलोंमें रह रहे हैं। उनके लड़के-लड़कियाँ सर्वश्रेष्ठ विद्यालयोंमें शिक्षा पा रहे हैं। उनके लड़के-लड़कियोंके विवाहमें राजा-महाराजाओं-जैसा ठाट होने लगा है। कांग्रेसी शासनके अधिकारियोंमें बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जो बहुत ही सामान्य स्थितिमें कलतक थे; उनका यह राजसी ठाट साधारण जनतामें ईर्ष्या पैदा कर रहा है। और दूसरी ओर जमींदारोंकी जमींदारी कानूनके द्वारा छीनकर उन्हें बात-की-बातमें भिखारी बना दिया गया है। यह आर्थिक उलट-फेर किया गया है गरीबों और दलितोंको ऊँचा उठानेके नामपर। पर ऐसा कुछ होता दीखता नहीं। भाग्य और किस्मतका खेल यहाँ भी लगा हुआ है, केवल हमारा विचार गंदा किया जा रहा है। हमारे दर्शन और स्मृतियोंके कल्याण-कारक सिद्धान्तोंका गला घोंटा जा रहा है। हमारी तृष्णाका मुँह विस्तृत किया जा रहा है, हमारे जीवनको अशान्त और बेचैन बनाया जा रहा है। धन और धन-से सुख सबके भाग्यमें नहीं लिखा रहता। धन और शारीरिक सुखके लिये शाश्वत धर्मका त्याग मनुष्यको कभी नहीं करना चाहिये। 'सुख-दुःख अनित्य और क्षणिक हैं। केवल धर्म ही एक नित्य वस्तु है, जो मनुष्यके देह-त्यागपर भी साथ जाती है।' इस भारतीय अमर सिद्धान्तका तिरस्कार जितना अभी हो रहा है, फलतः जितना अनाचार, चोरी, डकैती, घूसखोरी आदि अभी समाज और शासनमें दृष्टिगोचर हो रहा है, उतना कभी नहीं था। देशका इतिहास इसका साक्षी है।

देशके विचारशील नेतागणोंको इस परिस्थितिपर ध्यान देकर देशवासियोंके समक्ष अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिके अनुकूल आर्थिक एवं नैतिक योजनाओंका कार्यक्रम रखना चाहिये। उसमें सर्वप्रथम उन्हें अपना जीवन भारतीय ढंगका, गांधीजीके ढंगका बनाना चाहिये। गांधीजी आज जीवित होते और चाहते तो किसी भी पदको विभूषित कर सकते थे, इसे हमें भूलना नहीं चाहिये। कौन जानता था उनके देशवासी इतनी जल्दी उनकी बातोंको भूल जायँगे। अब भी सम्हलनेका समय है।

आशा

स्यामघन कब बरसैगो आय ?
कब अमिलन संताप मिटैगो, बिरह निदाघ नसाय ?
कब मम मन-मयूर नाचैगो, उर आनँद न समाय ?
कब चित चातक चहकि उठैगो, स्याम स्वाति-जल पाय ?
स्याम-मिलन बिनु कछु नहिं भावै, कछु नहिं मोहि सुहाय।
स्याम-मिलन रस ही साँचो रस जीवन मैं सरसाय॥

एक योगीकी इच्छामृत्यु

[सत्य घटना]

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

यह सृष्टिका सनातन एवं दैवी सत्य है कि कोई भी प्राणी अपनी इच्छासे नहीं जन्मा है, अपनी इच्छासे नहीं जीता और न अपनी इच्छासे कोई मरता है। जन्म और मृत्यु तो सृष्टिका विधान है। कोई जान-बूझकर मरना नहीं चाहता और मरना चाहे भी तो सहजभावसे इच्छामात्रसे मर नहीं सकता, आत्महत्या करना दूसरी बात है। मृत्यु दो प्रकारकी होती है, एक पूरी, दूसरी अधूरी। संसारी प्राणी प्रायः अधूरी मृत्युसे ही मरते हैं—अर्थात् शरीर डूब या जल जानेसे, बिजली या विषके प्रभावसे, दिल या दिमाग 'फेल' हो जानेसे, अर्थात् शरीर जीर्ण होकर इन्द्रिय-संचालनशक्ति-शून्य हो जानेसे अथवा किसी आकस्मिक कारणसे अनिच्छा-पूर्वक। जीनेकी इच्छा रहते हुए भी लाचारीसे मर जाना ही अधूरी मृत्यु है। पूरी मृत्यु है स्वस्थ सहज प्रयाण। यह बिरले योगियोंको ही प्राप्त होती है और यह योग किसी विशेष शास्त्र-अध्ययन अथवा गुप्त कठोर साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं। योगीके लिये यह अत्यन्त आवश्यक नहीं कि वह विद्वान् हो। यहाँ हम एक निरक्षर योगी-की इच्छामृत्युका स्वल्प परिचय देंगे।

साधु-जीवनमें इनका प्रचलित नाम नागा (निर्मोही) महाबीरदास था। मध्यप्रदेशमें कटनीके पास विजय-राघवगढ़ इनकी जन्मभूमि एवं निवासस्थान था। ये ब्राह्मण थे, विवाहित थे और इन्हें एक कन्या भी हुई थी; परंतु कालान्तरसे स्त्री एवं पुत्रीकी मृत्यु हो जानेपर गृह-जंजाल अकेले न सम्हाल सकनेके कारण, अथवा गृह-जंजाल चलाना अब व्यर्थ समझकर इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और साधु हो गये। साधु-संगतिमें अनेक स्थानोंका भ्रमण करते हुए इन्होंने बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानोंमें काल बिताया। अबसे लगभग चालीस वर्ष पूर्व ये रमते-रमते डभौरा ग्राम (मध्यरेलवे स्टेशन डभौरा, जिला रीवाँ, विन्ध्यप्रदेश) आये और नदी-किनारे एक जीर्ण-शीर्ण शिवालयको देख उसीमें अपना डेरा लगाया। आस-पासके गाँवोंमें फसल तैयार होनेपर 'झोली' माँगकर गुजर करने लगे। समयान्तरसे प्रयत्न और उद्योगसे जीर्ण मन्दिरको सुधारा, एक सुन्दर बगिया लगायी, एक-दो शिष्य भी मिल गये और कुछ कृषिभूमि भी प्राप्त की। अब उनका अखाड़ा जम गया और स्वयंके परिश्रमसे एक नया मन्दिर बनाया। समय-समयपर भजन-कीर्तन और दैनिक पूजा-आरती होने लगी।

बाबा वास्तवमें निरक्षर थे और उनकी बोल-चालकी भाषा भी ग्रामीण थी। वे योग-विषयमें कुछ जानते थे या नहीं, अथवा उन्होंने कभी कुछ योगसाधन किया था या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता; क्योंकि उनसे कभी योग-चर्चा नहीं सुनी गयी।

मेधावी मानवने आकाश-पाताल चीरकर भयानक भौतिक ज्ञान और साधनोंका उपार्जन किया है; परंतु आश्चर्य और खेदका विषय है कि वह अपने जन्म, जीवन और मृत्यु कुछ भी नहीं जान पाया है। मनुष्य मनुष्यको अति निकट रहकर भी नहीं पहचान पाया है। हमारे जीवनमें कितने ही लोगोंका दीर्घकालिक अति निकट एवं घनिष्ठ सम्पर्क होता है; फिर भी हृदय एवं मनकी संकीर्णताके कारण हम परस्पर कोसों दूर एवं अपरिचितकी भाँति होते हैं। इस नगरमें बाबाके विषयमें यही बात चरितार्थ होती है कि चालीस वर्षके सम्पर्कमें कोई उन्हें न पहचान पाया,

और अब मरनेके बाद समझदार लोगोंने जाना और कहा कि 'बाबा योगी था।'

उनकी आयु पचासी (८५) वर्षकी हो चुकी थी। यद्यपि वे आहार, संयम, व्यवहार और नियमके निष्पक्ष एवं कठोर पालक थे, फिर भी शरीर अपने धर्मके अनुसार जीर्ण हो चला था। इतनेपर भी वे चलते-फिरते-बोलते थे। उन्होंने अपने शिष्यसे कहा कि 'मठ (जगदीश-मन्दिर, अहमदाबाद) के अमुक-अमुक भाइयोंको तार भेज दो, वे जल्दी मेरी जगहपर आ जायँ; मेरा अन्तिम समय है, मैं अब इस शरीरको छोड़ूँगा।'

वास्तवमें ऐसी बात कोई कहे तो लोग विश्वास न करके उपहास करते हैं कि भला अपनी मृत्युको भी कोई जान सकता है। अपनी इच्छासे भी कोई मर सकता है! अस्तु, शिष्यने तार दे दिया और एक गुरुबन्धु वहाँसे आ भी गये।

मेरा उनसे घनिष्ठ प्रेम था और उनकी बात सुनकर मैं उनके दर्शन करने गया एवं कुछ उपचार बताने लगा, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "अब तो 'तैयारी' है। उपचार या किसी भी बात या वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। जो कुछ करना या होना था, अब-तक सब हो गया। हमने आपसे जो कुछ कहा-सुना हो, उसके लिये क्षमा करना।"

वे बैठे हुए थे, प्रयाणकी तैयारीमें। उनका यह उपवासका छठा दिन था। उन्होंने मुझे सप्रेम बैठनेका आदेश दिया और प्रेमपूर्वक कुछ वार्ता करने लगे। मैं गम्भीरतापूर्वक उनकी इस 'प्रयाण'-तैयारीकी बात एवं साधनापर विचार करने लगा।

उपवासके दस दिन पूरे हो जानेपर, ग्यारहवें दिन, ठीक एकादशी (फाल्गुन शुक्ल, सं० २०१४ वि०) को ब्राह्म मुहूर्तमें उन्होंने अपने शिष्यसे कहा, 'मुझे बैठा दो और देखो क्या होता है।' शिष्यद्वारा बैठा दिये जानेपर उन्होंने 'आदौ राम तपोवनादि गमनम्' एवं 'आदौ देवकिदेव' इत्यादि सुनानेको कहा, फिर कुछ कीर्तन करनेको।

लोग बाबाके आदेशके अनुसार इसी पाठ एवं कीर्तनमें लग गये, उसी समय बाबाने 'प्रयाण' कर दिया। किसीको आभास न हो पाया कि बाबाके कथनका तात्पर्य क्या था और क्या 'देखना' है, 'क्या होगा।'

बाबा कई दिन पहलेसे कह रहे थे कि मुझे लेनेके लिये खाली विमान आते हैं, लौट जाते हैं; मेरा बुलावा है, मुझे जाना है, मुझे गङ्गाजी ले चलना, गङ्गाजी ले चलनेकी तैयारी करो।

परंतु उन्हें गङ्गाजी न ले जाया जा सका। यहाँसे यमुनाजी, मऊघाट (जिला बाँदा) ले जाकर वहीं विसर्जन करना पड़ा। नाविकोंने कहा, 'नावमें मुर्दा ले जानेसे हमें जातिसे बहिष्कृत कर दिया जायगा, भोज लगेगा।'

बाबाके प्रयाणके पश्चात् तेरहवें दिन स्थानीय ब्राह्मण-परिवारोंमेंसे एक-एक व्यक्तिको मिष्टान्न भोजकी व्यवस्था करके निमन्त्रण दे दिया गया। किंतु जहाँ गिने-गिनाये व्यक्तियोंके लिये परिमित भोजन-सामग्रीकी व्यवस्था की गयी थी, वहाँ एक घरसे एक व्यक्ति आनेके बदले, तीन-तीन, चार-चार आये। उनकी ऐसी योजना हो चुकी थी कि ऐसी दशामें सामग्री पूरी नहीं पड़ेगी और बाबाके नामपर अखाड़ेका उपहास हो जायगा। फिर भी सब लोगोंने पेटभर खाया और सामग्री दूसरे दिनके अन्य व्यक्तियोंके भोजके लिये काफी मात्रामें बच गयी। यह कोई चमत्कार था अथवा क्या रहस्य था, कोई न जान पाया।

अब कहते हैं, 'बाबा योगी था।'

संसारकी यह कितनी विचित्र बात है, अति निकट

एवं घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी मानव मानवको नहीं पहचान पाता, वरं तिरस्कार करता है, उपहास करता है और मर जानेके बाद उसकी पूजा करता है, उसके जीवनसे शिक्षा एवं प्रेरणा लेता है, उसका प्रचार करता है, उसकी समाधि बनाता है और उसपर फूल चढ़ाता, धूप जलाता है। विशेषकर महापुरुषोंके विषयमें यही होता है। मुहम्मद और ईसा इसके विशेष उदाहरण हैं।

बाबाके विषयमें कोई विशेष पूर्व-वृत्त अथवा उनका 'फोटो' प्राप्य नहीं है। उनकी आकृति, यदि किसीने इलाहाबादके स्वर्गीय 'हंडिया' बाबाको देखा हो, उन्हींकी-सी समझनी चाहिये।

भेंट

[गद्यगीत]

(लेखिका—श्रीदिनेशनन्दिनी डालमिया)

ए गोपकुमार, मैं तेरा क्या प्रिय साधूँ ?

यमुनाकी गहन नीलिमा और धरित्रीकी उज्ज्वल हरीतिमाके अणुओंके संयोगसे एक नवीन स्वप्न-लोकका निर्माणकर उसके रिक्त सिंहासनपर तेरा राज्याभिषेक कर देती; परंतु चराचरका तू पहलेसे ही एकमात्र स्वामी है, फिर महिपालोंके महिपाल !

अपने लघु उपहारसे तुझे कैसे लुभाऊँ ?

वैशाख और ज्येष्ठकी कड़ी धूपमें निराहार रह, पञ्चाग्नि धधका उसकी निश्चल लंबी लपटोंमें इस कनक-वपुको तपाकर, सावन-भादोंकी घनघोर वर्षा और आँधीको पारिजातकी श्रीसुषमा-से सुकुमार शरीरपर सहर्ष झेल,

पूस-मासकी ताड़का-सी रातोंको तारा-प्रतिबिम्बित आकण्ठ जलमें बिता,

परब्रह्म परमेश्वरको अपने कठिन तपसे प्रसन्नकर तेरे लिये देवदुर्लभ अमरताका वरदान प्राप्त करती; किंतु—हे पुरुषोत्तम ! वेदोंने कल्पारम्भसे तुझे 'अक्षर' कहकर सम्बोधित किया है, फिर क्या मेरा यह प्रयास हास्यास्पद न होगा ?

ओ अगमकी अक्षय निधि ! नवघननीलाभ ! मेरी असफलता और अमरताके प्रतीक ! अखिल मानव-भावनाओंके चिर सत्य ! इस अकथ वेदनाके परिपूर्ण परमानन्दैक-रस-सार कृष्ण कमलको जो मेरी हृदय-भूमिमें सहज ही प्रस्फुटित हुआ है, आज तोड़ तेरे पादारविन्दोंमें तव प्रीत्यर्थ समर्पणकर कृतकृत्य हो जाने दे !

क्योंकि रविनन्दिनीकी सीमित दृष्टिका संकेत है कि मायापतिकी क्षेमकरी सृष्टिमें उक्त विभूतिसे बढ़कर तेरे योग्य अन्य कोई भेंट नहीं !

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह

तत्त्व-चिन्तामणि

(सात भागोंमें)

भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥=), सजिल्द १)
भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य ॥।=), सजिल्द १।)
भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य ॥≡), सजिल्द १-)
भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य ॥।-), सजिल्द १≡)
भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य ॥।-), सजिल्द १≡)
भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य १), सजिल्द १।=)
भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य १=), सजिल्द १॥)

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १५, सातोंका मूल्य ५॥।≡), सजिल्द ८॥-), डाकखर्च अजिल्दका ३।=) सजिल्दका ३॥=)।

इसके पाँच भाग छोटे आकारमें (गुटका-संस्करण) भी छपे हैं

भाग १—सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य ।-), सजिल्द ॥)
भाग २—सचित्र, पृष्ठ ७५२, मूल्य ।=), सजिल्द ॥-)
भाग ३—सचित्र, पृष्ठ ५६०, मूल्य ।-), सजिल्द ॥)
भाग ४—सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य ।=), सजिल्द ॥=)
भाग ५—सचित्र, पृष्ठ ६२१, मूल्य ।=), सजिल्द ॥-)

इन पाँचों भागोंका मूल्य १॥।), सजिल्द २॥।), डाकखर्च अजिल्दका १॥।) सजिल्दका २)।

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके २४ वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥) डाकव्ययसहित। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ; हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठ-विज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठ कला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौनिर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'पर कौन क्या कहते हैं—

महामहोपाध्याय डा० पं० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

"इस अङ्कको पढ़नेसे भारतीय संस्कृतिका जागता हुआ एक चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय संस्कृतिका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किसी एक ग्रन्थमें सकल-साधारण लोगोंके समझने योग्य शब्दोंमें आजतक देख नहीं पड़ा था। ××× इस घोर कलिकालमें, जब कि चारों ओरसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर इतना प्रहार हो रहा है और इसके रक्षक ही जब इसके भक्षक हो चले हैं, इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशितकर भारतीयोंके हृदयमें संस्कृतिके संस्कारको पुनः जगाया है। प्रत्येक भारतीयको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और अपने पास सदा रखना चाहिये...। परीक्षाकी बधाईके स्थानमें यही अङ्क उपहारस्वरूपमें दिया जाय। इसका प्रयत्न लोग करें। ×××"

हिंदीके प्रसिद्ध और गम्भीर लेखक डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०—

"××× लगभग नौ सौ पृष्ठोंकी इतनी बहुविध सुपाठ्य और रोचक सामग्री इस अङ्कमें एकत्र देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, कला और जीवनके कितने ही महत्त्वपूर्ण अंशोंपर प्रकाश डाला गया है। कलाके चित्रोंका चुनाव कल्याणके लिये एक नवीन आयोजन है। ×××× भारतीय संस्कृतिकी सामग्री तो वस्तुतः अपरम्पार है। उसका जितना अधिक व्याख्यान एवं रूप-प्रकाशन किया जाय, स्वागतके योग्य है। ×× इस अङ्कके सम्पादन-प्रकाशनसे एक अभावकी पूर्ति हुई है।××××"

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

वर्ष ३१
अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०१४, सितम्बर १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—मुख देखनकौं आई [कविता] (श्री-परमानन्ददासजी) ...	११५३
२—कल्याण ('शिव') ...	११५४
३—आत्मकल्याणके लिये तमोगुणका त्याग आवश्यक (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)	११५५
४—सत्सङ्ग-सुधा	११५८
५—अध्यात्मचिन्तनके अमृत-कण (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)	११६७
६—प्रार्थनामय जीवन ...	११७०
७—विद्यार्थी बन्धुओंसे (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ...	११७४
८—संघर्षमें सहिष्णुता (श्रीभगवानदासजी झा, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)	११८०
९—क्रोधकी निन्दा [कविता] (संकलित)	११८२
१०—वास्तविक स्वराज्य क्या है ? (श्री-विनोबा भावे)	११८३
११—भारी भूल [कविता] (संकलित)	११८५
१२—मनुष्यत्वको जीवित रखनेका उपाय—अर्थशौच (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	११८६
१३—श्रीराम-चरणानुराग [कविता] ...	११८९
१४—निराशा (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	११९०
१५—और, जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ? (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	११९२
१६—सर्वश्रेष्ठ दान [कहानी] (श्री'चक्र')	११९४
१७—प्रेमकी प्रभुता [कविता] ...	११९७
१८—राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्री-सुदर्शनसिंहजी)	११९८
१९—श्रीकृष्णको प्रबोध [कविता] (पं० श्रीसर्वेन्द्रजी झा) ...	१२०४
२०—तृष्णा-तरुणी (पं० श्रीहरिशंकरजी शर्मा)	१२०५
२१—सनातनधर्मके आधारभूत नियम (श्री-सुषमा शास्त्री)	१२०६
२२—दोहावलीमें राजनीतिक ध्वनि (श्री-गङ्गाधरजी मिश्र शास्त्री) ...	१२०७
२३—समाजका मेरुदण्ड—गृहस्थ-आश्रम (डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्) ...	१२०९
२४—'प्रिया-प्रसाद' [कविता] (महाकवि घनानन्द) ...	१२१३
२५—सनातनधर्मनियमाः (कश्चन सनातनधर्मा)	१२१५

चित्र-सूची

तिरंगा

१—मुख-दर्शन-लालसा	११५३

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

Murdoch
with
Sagar

मुख-दर्शन-लालसा

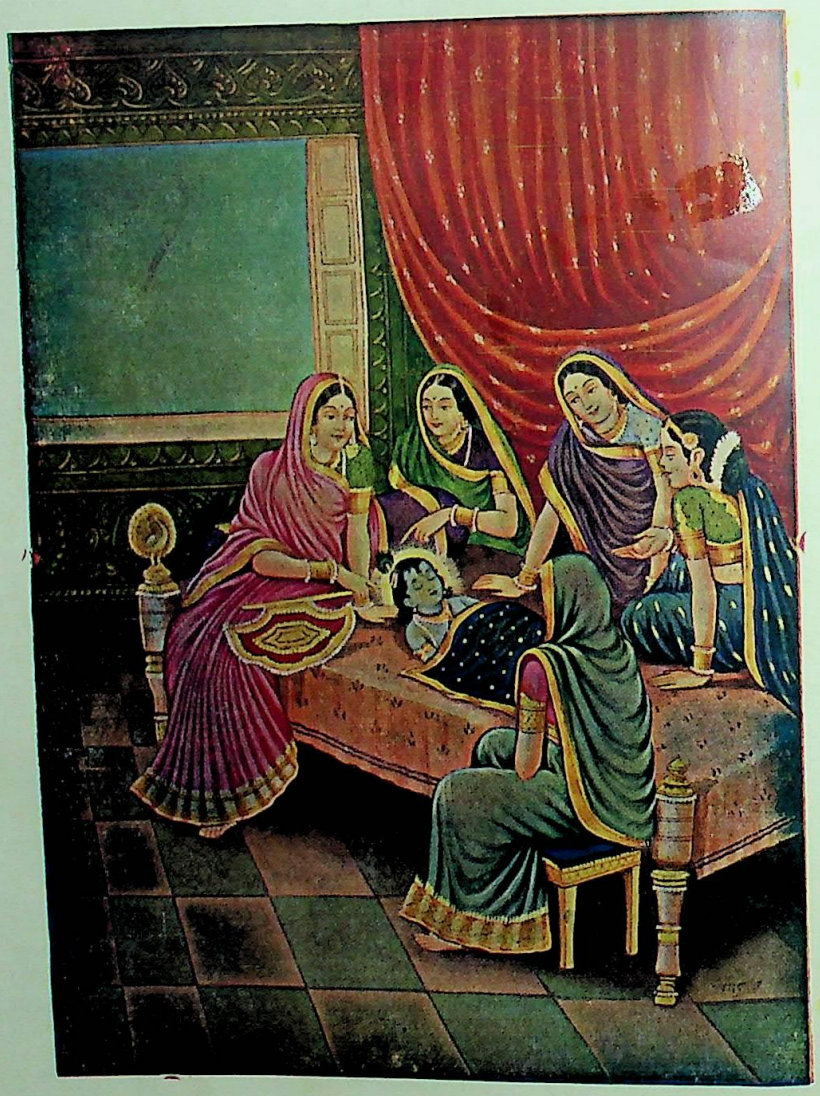

लालको मुख देखन हौं आई

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

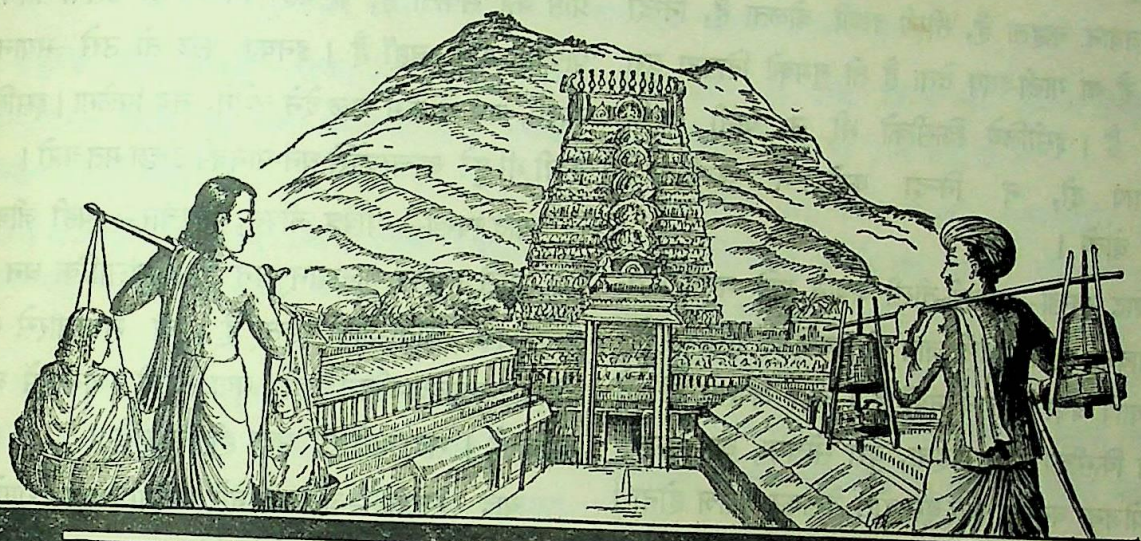

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१४, सितम्बर १९५७ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ३७०

मुख देखन कौं आई

लाल कौ मुख देखन कौं हौं आई ।
काल मुख देख गई दधि बेचन जातहिं गयौ बिकाई ॥ १ ॥
दिन तें दूनौ लाभ भयौ, घर काजर बछिया ब्याई ।
आई हौं धाय थँभाय साथ की, मोहन देहु जगाई ॥ २ ॥
सुन प्रिया बचन बिहँस उठ बैठे, नागर निकट बुलाई ।
परमानंद सयानी ग्वालिनि सैन सँकेत बताई ॥ ३ ॥

याद रक्खो—मीठी वाणी सभीको प्यारी लगती है और सूखी तथा तीखी सभीको खारी। तुमको यदि कोई कड़ी जबान कहता है, तीखी वाणी बोलता है, निन्दा करता है या गाली-शाप देता है तो तुमको कितना बुरा लगता है। इसीलिये किसीको भी न कभी गाली-अभिशाप दो, न निन्दा करो, न रूखी-तीखी जबान बोलो।

याद रक्खो—रूखी-तीखी जबान यदि मनमें हित-की भावना रखकर बोली जाय तो यद्यपि वह वाणीका दोष है तथापि बड़ा अपराध नहीं है। बड़ा अपराध तो है मनसे किसीका बुरा चाहना, बुरा सोचना, बुरा करने-की योजना बनाना और बुरा होते देखकर प्रसन्न होना। मुँहसे बहुत मीठा भी बोले पर मनमें ये दोष भरे हों तो यह बहुत बड़ा अपराध है; इससे सदा बचो। कभी किसी-का न बुरा करो, न बुरा चाहो।

याद रक्खो—कोई यदि तुम्हें गाली दे, रूखी या रोषभरी जबान कहे, मिथ्या निन्दा करे, प्राणोंको जलाने-वाली विषभरी जबान कहे तो उसे सह लो। तुम्हारा बुरा तो होगा ही नहीं, परम कल्याण होगा। जो वाणी-के बाणोंसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाता है, वह मनुष्योंमें महादरिद्र है; क्योंकि उसकी वाणीमें दारिद्र्य भरा है। इतना ही नहीं, वह अपना अनिष्ट अपने हाथों कर रहा है। उसके पुण्योंका नाश और पापका संग्रह हो रहा है, जिसका बुरा फल उसे भोगना पड़ेगा। उसे भूला हुआ मानकर उसपर दया करो।

याद रक्खो—जो पुरुष दूसरोंकी कही कड़वी, रूखी वाणी सुनकर दुखी नहीं होता, वरं गाली देनेवालेका कल्याण मनाता है, उसके पुण्य पुष्ट होते हैं और वह भविष्यमें महान् सुखका भागी होता है; अतः दुःख न मानकर उसका कल्याण चाहो।

याद रक्खो—इस समय कपट, छल, चोरी, हिंसा, असत्यका व्यवहार करनेवाला भी पूर्वकर्मवश धन-मान प्राप्त कर सकता है; पर यह निश्चय ही उसके वर्तमान पापोंका फल नहीं है। इनका फल तो उसे भयानक रूपमें, जब ये कर्म फल देने लगेंगे, तब मिलेगा। इसलिये कभी भी बुरे आचरणोंसे धन-मानकी इच्छा मत करो।

याद रक्खो—पवित्र जीवन, सदाचार—यही जीवन-का सबसे बढ़कर मूल्यवान् धन है। सांसारिक धन तो प्रारब्धवश आता-जाता रहता है। जो सदाचारसे भ्रष्ट होकर अपवित्र-जीवन हो गया, वही वास्तवमें बड़ा दरिद्र है। सदाचारी तो सदा ही धनी है।

याद रक्खो—जो अपनेमें बिना हुए गुणोंको दिखाता है, दूसरोंसे अपनेमें बिना हुए गुण सुनना चाहता है और सुनकर उन्हें मूक रहकर भी प्रकारान्तर-से स्वीकार करता है, उसमें सद्गुणोंका आगमन, विकास और निवास बंद हो जाता है। बुराइयों और दोषोंको रहनेके लिये तथा प्रचुरमात्रामें बढ़नेके लिये स्थान तथा सुयोग मिल जाते हैं, जो मनुष्यके भयानक पतनमें कारण होते हैं। अतएव अपने सच्चे गुणोंको भी छिपाओ, उनको भी स्वीकार न करो और मिथ्या गुण तो कभी किसीसे कहो ही मत, दूसरा बताता हो तो उसको समझाकर उसका भ्रम दूर कर दो। अच्छा मनुष्य तो अपने सच्चे गुण सुनकर ही लजाता है, अपने सच्चे गुणोंका प्रकाश करनेमें अत्यन्त सकुचाता है। फिर अपने मिथ्या गुण और मिथ्या प्रशंसा तो वह सहन ही कैसे कर सकता है। अतएव मिथ्या गुण कभी मत सुनो, कभी मत मानो। अपनी मिथ्या प्रशंसा और मिथ्या गुण-श्रवणको विष या जलती हुई अग्निके समान समझकर उनसे दूर भाग जाओ। उनका सदा दृढ़तासे त्याग करो।

'शिव'

आत्मकल्याणके लिये तमोगुणका त्याग आवश्यक

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्वगुणका सेवन ही परम श्रेयस्कर है। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रह जाते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।'

इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणी पुरुष अर्चिमार्गके द्वारा उच्च लोकोंमें होते हुए परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। राजसी मनुष्य यहीं रह जाते हैं—यानी पुनः मनुष्ययोनि पाते हैं। इसीसे उनके लिये 'गच्छन्ति' न कहकर 'तिष्ठन्ति' (स्थित रहते हैं) कहा गया है और घृणित वृत्तियोंमें लगे हुए तामसी मनुष्य अधोगतिको जाते हैं। 'अधः' के दो भेद हैं—महायन्त्रणादायक नरकादि लोकविशेष और शूकर-कूकरादि, कृमि-कीटादि योनिविशेष। इनमें महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरक महान् कष्टदायक होनेके कारण विशेष निम्नश्रेणीके हैं।

इसीसे भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'हे अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी (पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि) योनिको प्राप्त होते हैं; फिर उससे भी अत्यन्त नीची गति (कुम्भीपाकादि नरकों) में जाते हैं।'

भगवान्‌ने कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर प्रदान ही इसलिये किया है कि वह तामसी परिवारमें उत्पन्न होकर भी साधनद्वारा मुक्तिको प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌की ओरसे मनुष्यमात्रको मुक्तिका अधिकार है; पर जब मनुष्य स्वयं ही मुक्तिकी अवहेलना करके तामसी वृत्तियोंके सेवनमें लग जाता है, तब क्या किया जाय।

तामसी वृत्तियोंमें प्रधान तीन हैं—प्रमाद, निद्रा और आलस्य। प्रमादका अर्थ है न करनेयोग्य कर्मका करना और करनेयोग्यका न करना। दैवी सम्पत्तिके गुणोंका सेवन कर्तव्य है। यही पुण्यकर्म है, मनुष्य इनका सेवन नहीं करता और आसुरी सम्पदाके गुणोंका सेवन कभी भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उनके फलस्वरूप अधोगति, आसुरी योनि तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। फिर भी वह उनका सेवन करता है। यही प्रमाद है। यह तमोगुणका एक प्रधान स्वरूप है। ऐसा तमोगुणी पुरुष न भगवान्‌को मानता है, न धर्मको और न माता-पिता आदि गुरुजनोंको। वह अशुभ कर्म करता है, व्यर्थ चिन्तन और बकवाद करता है, सबकी निन्दा करता है और पूर्ण उद्दण्डताके साथ मनमाने आचरण करता है तथा उसीमें गौरवका अनुभव करता है।

तमोगुणका दूसरा स्वरूप है—(सत्) कर्मकी अवहेलना करना, उसे टालते रहना, उत्तरदायित्व न मानकर व्यर्थ समय नष्ट करना, जीवनके अमूल्य क्षणोंको व्यर्थ बिताना—यह आलस्य है, इसीको दीर्घसूत्रता कहते हैं। इनके अतिरिक्त तीसरा स्वरूप है—रात-

दिन अधिकांश समय सोनेमें ही बिताना। ध्यानमें बैठे तो नींद; काम करने बैठे तो नींद; सदुपदेश, कथा-भागवतादि सुनने बैठे तो नींद; अतिथि-सत्कारमें लगे तो नींद; कोई कामकी बात सुना रहे हैं तो नींद; कर्तव्यपालनमें भी नींद। बस, खाया और तानकर सो गये। ऐसे लोग देखे गये हैं जो आठ-आठ, नौ-नौ घंटे सोनेमें बिता देते हैं और जागते हैं तो अपने समयको खाने-पीनेमें तथा गप्प-गुलछर्रे उड़ाने, ताश-चौपड़ खेलने, व्यर्थ बकवाद करने और निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें ही खो देते हैं। फिर सो जाते हैं। इन दुर्गुणोंसे ग्रस्त प्रमादी मनुष्योंको ही समाजमें उद्दण्ड, निरङ्कुश, स्वेच्छाचारी, अकर्मण्य, आलसी, दीर्घसूत्री, आवारे आदि नामोंसे पुकारा जाता है। इन्हें न कर्तव्य-का ज्ञान है, न विनय-नम्रताका ध्यान है, ये बात-बातमें अकड़े रहते हैं, किसीका कोई अङ्कुश नहीं मानते, मनमानी करने या पड़े रहकर समय नष्ट करनेमें सुखका अनुभव करते हैं, तुरंत काम करना जानते ही नहीं; टालते रहनेमें ही आराम देखते हैं। इस प्रकार प्रमाद, आलस्य-निद्रामें पड़े हुए मनुष्य मानव-जीवनके परम लाभ भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

महाभारत, उद्योगपर्वके अन्तर्गत एक सनत्सुजातीय-पर्व है। इसमें ब्रह्माजीके सनकादि चार पुत्रोंमेंसे सनत्सुजातके द्वारा धृतराष्ट्रको उपदेश दिये जानेका प्रसङ्ग है। धृतराष्ट्रने पूछा—'भगवन्! मैं सुना करता हूँ, आपके सिद्धान्तमें तो मृत्यु है ही नहीं और देवता आदिने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था, तो इन दोनोंमेंसे कौन-सी बात ठीक है?' इसके उत्तरमें सनत्सुजातने कहा—'प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमादके कारण ही आसुरी सम्पदावाले (तमोगुणी) लोग मृत्युसे पराजित हैं और अप्रमादसे ही दैवी सम्पदावाले (सात्त्विक) महात्मा अमृतको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं × × × × मिथ्या भोग-विषयोंमें आसक्ति हो जानेके कारण मनुष्यकी ज्ञानशक्ति लुप्त हो जाती है और वह सब ओरसे विषयोंका चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है। यह विषय-चिन्तन ही (प्रमादका कारण होकर) मृत्युके समीप पहुँचा देता है। फिर काम, क्रोध आदि मिलकर मनुष्यको मृत्युके मुखमें डाल देते हैं।' सत्य ही है जो विषयपरायण मनुष्य ऐश-आराम, भोग-विलास, काम-क्रोधमें जीवन बिताता है, उसकी आयु घटती ही है। तमोगुण इन प्रमाद, आलस्य, निद्राके द्वारा ही जीवात्माको बाँधता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।
(१४। ८)

जैसे मजबूत रस्सेसे बाँध देनेपर पशु कहीं भी भागकर नहीं जा सकता, वैसे ही तमोगुणके प्रमादा-लस्यनिद्रारूपी रस्सेसे बँधा मनुष्य बँधा-बँधा ही मर जाता है। यह अनुभवी महापुरुषोंका मत है।

कामोपभोगपरायण तमोगुणी मनुष्य ही आसुरी सम्पदाका बद्ध प्राणी है। आसुरी सम्पदाके मुख्य दुर्गुण तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।' इन्हीं दुष्ट दुर्गुणोंको अपनानेसे मनुष्यका घोर अधःपतन होता है। अतएव दृढ़तापूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागसे प्रमादका त्याग हो जाता है और प्रमादके त्यागसे इनके पूर्ण त्यागमें सहायता मिलेगी। ये एक दूसरेको बढ़ानेवाले एक दूसरेके सहायक और पूरक हैं।

भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मनुष्य-देह दिया है। देवता भी इसकी आकाङ्क्षा करते हैं।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

भगवान्‌की इस अहैतुकी कृपाका समादर करके मनुष्य-देहका यथार्थ लाभ उठाना चाहिये। इसके लिये तमोगुणसे तो बचना ही चाहिये। रजोगुणका भी यथासाध्य भगवत्सेवामें ही प्रयोग करना चाहिये।

रजोगुणका कार्य कर्म-प्रवृत्ति है; अतः ऐसे ही कर्मोंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये जो भगवान्‌की प्रीति बढ़ानेवाले, लोकहितकर हों। रजोगुणजनित चञ्चलतासे दूर रहना चाहिये। रजोगुण यदि सत्त्वमुखी नहीं हुआ तो तमोगुणके साथ मिलकर तमोगुण-सा ही बन जाता है। ये दोनों ही सत्त्वगुणसे दूर हैं और दूर ले जानेवाले हैं। इनमें तमोगुणसे रजोगुणकी दूरी उतनी नहीं है, जितनी सत्त्वगुणकी है। जैसे एक (१) का अङ्क है, उसपर शून्य (०) लगा दिया तो दस हो गये; एकसे नौकी दूरी हो गयी। पर यदि उसपर एक शून्य और लगा दिया जाय और १०० का अङ्क हो जाय तो उसकी एकसे निन्यानबेकी दूरी हो जायगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण तो मानो सौकी संख्या है, रजोगुण दसकी तथा तमोगुण एककी। रजोगुण तमोगुणसे दस ही गुना दूर है, इसलिये इनके मिलनेमें देर नहीं होती; पर सत्त्वगुण तो सौगुना दूर है। अतएव तमोगुणसे अपनी रक्षा चाहनेवालोंको रजोगुणसे भी सतर्क रहकर उसका यथायोग्य त्याग करना चाहिये। तमोगुणका तो सर्वथा त्याग आवश्यक है। सारे पापोंका उद्गमस्थान तमोगुण है। तमोगुणी मनुष्य भगवान्‌के यहाँ तो जा सकते ही नहीं। उन्हें नरकोंमें भी ठौर नहीं मिलती; क्योंकि वहाँ वे इतनी अधिक संख्यामें ठूँसे जाते हैं कि फिर थोड़ी ही जगह रहती है।

मनुष्य-शरीर सहज ही नहीं मिलता, बहुत कम जीव मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यलोकमें अधिक मनुष्योंके लिये स्थान ही नहीं है। आजके युगमें हमारे देखनेमें पृथ्वीपर मनुष्योंकी संख्या लगभग तीन अरब होगी। पर अन्यान्य जीवोंकी तो संख्या ही नहीं है। एक-एक क्षुद्र मोतियोंमें छोटे-छोटे अरबों जीव रह सकते हैं। उनके लिये पर्याप्त स्थान है। आज किसी स्थानमें यदि अरब मनुष्य पैदा कर दिये जायँ तो स्थानकी बड़ी ही कठिनता हो जाय। देवताओंका स्थान भी इतना संकुचित नहीं है, जितना मनुष्योंका। अतः मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जो तमोगुणमें रत हो कामोपभोगमें ही जीवन बिता देता है, वह आत्महत्यारेकी गतिको प्राप्त होता है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इन सब बातोंपर विचार करके मानव-जीवनको काम, क्रोध, लोभसे बचाकर भगवान्‌की सेवारूप सत्त्वगुणके कार्योंमें ही लगाना चाहिये, यद्यपि संसारमें रहनेवाले लोगोंको काम, क्रोध, लोभका सामना करना पड़ता है और वे काम, क्रोध, लोभ तामस, राजस—दो प्रकारके होते हैं। जैसे—

(१) अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मर्यादित रमण करना राजस है, उससे नरकोंकी प्राप्ति नहीं होती; पर जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित सङ्ग होता है, वह तामस है, फिर चाहे वह अपनी पत्नीसे ही क्यों न हो। उससे अधःपतन होता है।

(२) अपनी संतान, प्रजा आदिके हितके लिये पिता और शासकका अभिनयके रूपमें क्रोध करना राजस है, उससे अधःपतन नहीं होता। पर दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये जो अनुचित क्रोध किया जाता है, वह तामस है और उससे अधःपतन होता है।

(३) आजीविकाके लिये सत्य और न्यायकी रक्षा

करते हुए धन कमानेकी इच्छा करना और अनुचित व्ययसे धनको बचाना उचित लोभ है, अतः राजस है। इससे अधःपतन नहीं होता; क्योंकि ऐसा लोभी मनुष्य तो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीके धनको विषवत् समझता है और माता-पिता, आतुर, अनाथ, सत्पात्र, धर्मकार्य आदिके निमित्त धनका व्यय करनेमें उत्साही रहता है। पर जो धनको चाहे जैसे भी प्राप्त करनेकी लालसासे अन्यायपूर्वक झूठ, कपट, छल, चोरी, बेईमानीसे धन कमाना चाहता है और उचित स्थानपर माता-पिता, गुरु, अनाथ-गरीबकी सेवा आदिमें धनका व्यय करनेमें कंजूसी करता है, उसका वह अनुचित लोभ तामसी है और उस तामसी पुरुषका अधःपतन होता है।

यह होनेपर भी मनुष्यको राजसी काम, क्रोध, लोभसे भी बचना चाहिये; क्योंकि राजसी होते-होते ये तामसी हो जाते हैं और बुद्धिनाशमें कारण बनकर हमारा सर्वनाश कर देते हैं। अतएव तमोगुणके कार्यरूप इन काम, क्रोध, लोभको तो समूल नष्ट करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा भगवत्कृपाके आश्रयसे इनका विनाश सहज ही किया जा सकता है।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

६७. श्रीगोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हिय मैं ठौर।
नंदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और?
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इतउत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोकलाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

इस पदके आधारपर ऐसी भावना कीजिये कि सचमुच सामने उद्धव-लीला हो रही है तथा एक प्रेम-रस-निमग्ना व्रजसुन्दरी कह रही है—'उद्धव! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है; पर हृदयमें जगह ही नहीं—दूसरी वस्तु, दूसरी चर्चा कहाँ रखूँ? हृदयको तुम देख लो, इसमें तो केवल श्यामसुन्दर-ही-श्यामसुन्दर भरे हैं। मैं चाहूँ, तो भी क्या करूँ, जबकि जगह ही नहीं बच रही है। उद्धव! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दरको छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसीको कैसे बिठाऊँ? मेरे श्यामसुन्दरने मेरे हृदयको चारों ओरसे घेरकर छा लिया है; उनके रहते हृदयमें दूसरेको कैसे बिठाऊँ? नहीं-नहीं, उद्धव, असम्भव है! प्राण भले ही जायँ, पर अब इस हृदयमें दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता; यहाँ तो बस, नित्य-निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे।

उद्धव! तुम्हें विश्वास नहीं होगा—वह मूर्ति, प्यारे श्यामसुन्दरकी मूर्ति कभी एक क्षणके लिये भी हृदयसे नहीं हटती। मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरकी वह छवि मेरे हृदयमें रहती है। मैं जिस क्षण अपनी दृष्टिको बाहर किसी और पदार्थकी ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दरकी छवि है; हृदयमें भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं। दिनभर जबतक जागती रहती हूँ, तबतक श्यामसुन्दर, एकमात्र श्यामसुन्दर ही नजरोंके सामने रहते हैं। रातमें जिस क्षण सोनेकी चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरका वह तिरछी चितवनयुक्त मुखारविन्द सामने रहता है। स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ—श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े हैं, मेरी ओर तिरछी चितवन-

से देख रहे हैं। मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं; मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं; फिर पकड़नेके लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पानेपर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस, हँसते हुए आकर मुझे हृदयसे लगा लेते हैं। आँखें खुल जाती हैं—मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, स्वप्न था। पर फिर सामने देखती हूँ—नहीं, नहीं, वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं। इस प्रकार उद्धव! एक क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरकी वह घुँघराली अलकोंवाली छवि मेरे मनसे नहीं हटती। उद्धव! एक क्षणके लिये भी प्यारे श्यामसुन्दरके सिवा और कोई वस्तु नजर ही नहीं आती। नाराज मत होना—तुम श्यामसुन्दरके प्यारे सखा हो, तुम्हारी बात मैं नहीं सुन पा रही हूँ; पर न सुननेके लिये लाचार हो गयी हूँ। उद्धव! कोई उपाय नहीं रह गया है। उद्धव! न जाने श्यामसुन्दरने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मनसे ही इस योगकी बात सुना रहे हो; पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो हम गाँवकी ग्वारिनें योग लेकर क्या करेंगी। सचमुच तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो; अरे, तुम जिस श्यामसुन्दरकी बात सुना रहे हो, उसके हृदयकी तो बात ही तुम नहीं जानते। तुम कहते हो—'श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसारके एकमात्र स्वामी हैं।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक अपने-आपको व्रजमें आकर भूल गया। तुम्हें एक दिनकी बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे। विश्वास करो, उद्धव! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं। मेरा सब कुछ उनका है और उनका सब कुछ मेरा है। तुम्हें सुनाती हूँ—मथुरा जानेके कुछ ही दिनों पहले मैं उससे रूठ गयी थी। श्यामसुन्दरके सखा! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं। आँखोंके सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुँह फेरकर बैठ गयी। वे आये, बड़े प्रेमसे मेरे हाथोंको पकड़कर बोले—'प्रियतमे! अपराध क्षमा करना, मैं देरसे आया; तुम मेरी प्रतीक्षामें व्याकुल थी, पर क्या करूँ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था कि मैं तुमसे दूर हूँ; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सब कुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था। विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी! मेरे हृदयमें तुम्हारे सिवा और किसीके लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिये.....' उद्धव! अब बोला जाता नहीं, कण्ठ भर आया; अब आगे तुम्हें उस दिनकी बात नहीं सुना सकूँगी। मेरे प्यारे श्यामसुन्दरकी उस दिनकी झाँकी, उस दिनकी लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी, चाहनेपर भी तुम्हें नहीं सुना सकूँगी। नाराज मत होना, सुननेपर भी तुम समझ नहीं सकोगे। उद्धव! उद्धव! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये—मेरे प्रियतमके हृदयकी बात, हृदयका रहस्य तुम नहीं जान सके। तुम्हारे सर्वेश्वरके हृदयमें क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते। उद्धव! उनका हृदय, ओह! क्या बताऊँ, मेरे पास है। यह देखो, देख सको तो देखो, तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदयमें क्या कर रहा है; पर तुम अभी नहीं देख सकोगे। जाने दो, उद्धव! हम गँवारी ग्वालिनोंको मरने दो, श्यामसुन्दरका नाम ले-लेकर मर जाने दो। उद्धव! उद्धव!! भूलते हो—लोकलाजको, कुल-कानको, यश-अपयशको तो आजसे बहुत पहले जला चुकी हूँ, सबको भस्म कर चुकी हूँ। वे सब-के-सब न जाने कभी जलकर खाक हो गये, और बह गये उस अजस्र धारामें, श्यामसुन्दरके प्रेमकी प्रबल धारामें। उनकी गन्ध भी नहीं बच रही है। उद्धव! यदि तुम देख सकते तो देख पाते कि मेरे हृदयमें क्या भरा है, प्यारे सखा! श्यामसुन्दरके सखाके नाते

तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा ! क्या करूँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही हैं। देखो, मेरे शरीरके सूखे ढाँचेके भीतर दृष्टि ले जाओ—वहाँ देखो, देखो, केवल श्यामसुन्दरका प्रेम-समुद्र लहरा रहा है। तरङ्ग-पर-तरङ्ग उठ रही है। उसमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम अगाध प्रेमसमुद्रके अतल तल-में डूबे हुए हैं। वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर। वह देखो, मैं श्याम-सुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ·····ओह, तुम नहीं देख पाते। क्या करूँ, जाने दो।

उद्धव ! उस प्रेम-समुद्रमें डूबे हुएको, बिल्कुल तलमें जाकर विलीन हो जानेवालेको तुम बाहर लाना चाहते हो ? प्रेमके समुद्रको तुम घड़ेमें अँटाकर रखना चाहते हो ? सोचो, कितनी भूल कर रहे हो। देखो, उद्धव ! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ेमें नहीं आ सकता। अरे, मैं पगली हो गयी हूँ—क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ! मैं भूल गयी, उद्धव ! बस, इतना ही कहना है, व्यर्थकी चर्चा हमें मत सुनाओ। हम ग्वालिनें योगकी बात, ज्ञानकी बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं, उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा, तुम्हारा यह ज्ञान हमें भुला नहीं सकता। मैं चाहूँ तो भी नहीं भूल सकती। सुनो, प्यारे सखा ! बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ। आजसे बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होंने मेरे इस शरीररूप घड़ेको अपने प्रेमसे भर दिया। भरकर फिर क्या किया, बताऊँ ? सुनो, चारों ओरसे स्वयं ही पहरेपर बैठ गये। कानोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, आँखोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, नाकके छिद्रोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, मुँहको बंद करके वहाँ भी वे बैठ गये। और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें—सब जगह पहरा देने लगे। उद्धव ! प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीरके भीतर देखो, तब पता चलेगा—देखो, श्यामसुन्दर रसरूप होकर, प्रेमरूप होकर भीतर भरे हैं। यह शरीरका घड़ा भरा है प्रेमसे और सर्वथा सब ओरसे बंद है। इसे तुम क्षार-समुद्रमें, योगकी खारी चर्चामें डुबाना चाहते हो। यह भी कभी सम्भव है ? उद्धव ! इस प्रयासको छोड़ दो। यह प्रेमका घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें कभी डूबनेका नहीं है। यह तो डूबेगा श्यामसुन्दरके मधुर सुधामय प्रेमसमुद्रमें। स्वयं श्यामसुन्दर आयेंगे, स्वयं इसका मुँह खोलकर इसे अपनेमें मिलाकर एक कर लेंगे। प्यारे सखा ! उपाय नहीं है। लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दरके हाथोंसे भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें डूबेगा ही नहीं। ओह ! मैं सचमुच पागल हो गयी हूँ, क्या-क्या बक रही हूँ। क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होशमें नहीं हूँ, यह पगली-का प्रलाप है। जले हुए—झुलसे हुए हृदयमें ज्ञान नहीं बच गया है कि विचारकर तुमसे बात करूँ; कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ।

प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँसे कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षणके लिये भी कहीं बाहर नहीं गये। वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यहीं रहेंगे। मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे। अनन्त काल-तक रहेंगे। अभी-अभी कलकी बात है। तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकालकी बात है। मेरे प्रियतम प्राणनाथ वनसे गाय चराकर लौट रहे थे। मैं उस क्षण घरके भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी कि श्यामसुन्दर तो पास ही हैं। इतनेमें वंशी बजी, चेत हुआ; सोचा भ्रम हो गया है, श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी उस मुरलीकी मधुर ध्वनिको। मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु मेरा नाम ले-लेकर मुरलीमें सुर भर रहे थे। बाहर आयी, देखा—आह ! कैसी अनुपम

छवि थी। नील कमलके समान सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघके समान समस्त शरीर संध्याकालीन सूर्यकी रश्मियोंमें झलमल-झलमल कर रहा था, मुखपर धूलिके कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेदकी कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघराली अलकें बार-बार मुखपर आ जाती थीं और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकोंको बार-बार बायें हाथसे हटाते रहते थे। आह, उन आँखोंकी शोभा क्या बताऊँ? तुरंतका खिला कमल उस शोभाके सामने फीका पड़ जाता था। मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन डालकर मुझे देख लेते थे। मैं देख रही थी और वे मस्तानी चालसे, अत्यन्त मधुर चालसे चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे। उद्धव! उद्धव!! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी, मुझपर उनकी मनोहर मुस्कान जादूका काम कर रही थी। इतनेमें ही वे बिल्कुल मेरे पाससे होकर निकले। मित्र! क्या बताऊँ? रोक न सकी अपनेको, उनमें मिल जानेके लिये, अपने आपको उनमें मिला देनेके लिये दौड़ पड़ी। वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोटपोट-से होने लगे। अपने सखा सुबलको उन्होंने कुछ इशारा किया। मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े, मैं भी आगे बढ़ी। मैं और वे दोनों आमने-सामने थे। मैं झमूरेकी तरह नाच रही थी। वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती; वे हँसते, मैं हँसती। इस प्रकार न जाने कितनी देर हमलोग खेलते रहे। पर मैं अब अपनेको सम्हाल न सकी। मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरने ही जा रही थी, बस गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़े आये और उन्होंने अपनी सुकुमार भुजाओंका सहारा देकर मुझे बैठा दिया। पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे इशारा करके उन्होंने कहा—'री! नेक इस बावलीको सम्हाल।' उद्धव! .....अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्दको व्यक्तकरनेकी शक्ति नहीं। आह, उद्धव! मेरे प्यारेके सखा—मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ। नहीं-नहीं, मित्र! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं; कल नहीं, कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी। सचमुच उद्धव! मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कि कल ही वह घटना घटी थी; इसलिये सुनाती गयी। पर प्यारे सखा! प्यारे श्यामसुन्दरके सखा! मोहनके सखा! वह घटना रोज ठीक शाम होते ही आँखोंके सामने नाचने लगती है। ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ, वैसे ही हो रहा है। अब कुछ होश हुआ है; सोचती हूँ—प्राणनाथ मथुरामें हैं, मैं तो पगली हो रही हूँ, इसीलिये उन्हें पास अनुभव करती हूँ। जो हो, मित्र! वह मुख-सरोज, वह श्याम मेघ-सा शरीर, वे कमलके समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मुस्कान कभी भूली नहीं जाती। निरन्तर वे ही, वे ही आँखोंके सामने नाचते रहते हैं। प्यारे मित्र! श्यामसुन्दरके सखा! मेरे प्राणनाथका हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निठुरता नामको भी नहीं है। उन्हें हमारी दशाका पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं। इसीलिये प्यारे उद्धव! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ—इतनी ही कृपा, बस, इतनी कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दरसे, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वरसे कह देना—आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुखसरोजको, उसी श्यामसुन्दर शरीरको ही कमल-दल-से नेत्रोंको, उसी ललित मस्तानी चालको, उसी मन्द मुस्कानको आँखें खोज रही हैं। आँखोंको बस, इतनी ही प्यास है। प्यारे उद्धव! मेरी ओरसे कह देना—बस, एक बारके लिये, एक ही बारके लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जायँ, खूब सुखसे रहें! एक बार बस, एक बार दासीके नयनोंकी प्यास बुझाकर चले जायँ। उद्धव! इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ—तुम मेरे प्राणनाथको, मेरे हृदयेश्वरको मेरे हृदयका यह संदेश सुना देना।

६८. मन लगाना कोई बड़ी बात नहीं है। कई बार कहा जा चुका है कि यदि आप सचमुच व्रजलीलामें मन लगाना चाहेंगे तो श्रीकृष्णकी कृपासे यह इतना आसान है कि बस, चकित रह जाइयेगा। सोचिये—यमुना है, यमुनाका जल हवाके झोंकोंसे हिल रहा है, इसका बीस सेकंड चिन्तन कीजिये। फिर देखिये—सुन्दर घाट है, नीलम, पन्ने, माणिक्यसे जड़ा हुआ घाट संध्याकालीन सूर्यकी किरणोंमें चम-चम कर रहा है, इसमें भी बीस सेकंड लगाइये। फिर देखिये—घाटकी चार सीढ़ियाँ हैं, एक, दो, तीन, चार·····इस प्रकार सीढ़ियोंको गिननेमें बीस सेकंड। फिर देखिये—घाटपर व्रजसुन्दरियाँ घड़े भर रही हैं। घड़ोंमें पानी भर रहा है, यमुनाके जलसे घड़े भर रहे हैं—इसके चिन्तनमें बीस सेकंड। फिर देखिये—व्रजसुन्दरियाँ घड़ोंको सिरपर उठा-उठाकर रख रही हैं, इस उठानेकी क्रियाको बीस सेकंड तक देखिये। फिर सोचिये, दूरपर श्रीकृष्ण खड़े हैं और गोपियाँ आपसमें उनकी ओर इशारा कर रही हैं। इस इशारेकी क्रियामें बीस सेकंड। इस प्रकार अनन्त चीजें आपको मिलेंगी, जिनमें मनको निरन्तर फँसाया रख सकते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कभी कुछ। फिर होगा यह कि आपका मन वृन्दावन बन जायगा। वहाँ दिन-रात मधुरतम लीला चलती रहेगी। यहाँ भले ही प्रलय होता रहे, पर आपका मन मधुर वृन्दावनमें सैर करता रहेगा; किंतु चाह रखकर, लगनसे, तत्परतापूर्वक करनेसे यह होगा। फिर कुछ भी हो, आपका शरीर और मन सब वृन्दावनमें है, आपको क्या फिक्र है? भावना दृढ़ होनेपर बड़ी सुन्दर अनुभूति होगी। दाहिने दृष्टि डालियेगा, ऐं यहाँ तो मेंहदीकी कतार है। बायें देखियेगा, ऐं यहाँ तो जूही-बेला खिल रहे हैं। पीछे देखियेगा—यहाँ तो यमुना लहरा रही हैं और सामने—यहाँ तो श्रीराधाजीका महल है। यही आकाश आपको वृन्दावनका आकाश दीखेगा।

६९. जैसे संध्या होती है, बस, वैसे ही श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये अपने प्राणोंकी व्याकुलता लेकर अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ करती हैं; पर उनका यह शृङ्गार कभी भी अपने सुखके लिये नहीं होता। उनके मनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं होती। गोपीप्रेमका यही विशेषत्व है, वहाँ अपने सुखकी कामनाकी गन्ध भी नहीं है। उन प्रेमवती व्रज-सुन्दरियोंके जीवनकी समस्त चेष्टाएँ एकमात्र इसी उद्देश्यसे स्वभावतः होती हैं कि हमारे प्रियतम कृष्णको सुख पहुँचे। उन्हें चेष्टा नहीं करनी पड़ती, यह उनका स्वभाव बना हुआ है। अतः उनका अपने शरीरको सजाना भी अपने लिये बिल्कुल नहीं होता। अस्तु, संध्या होते ही व्रज-सुन्दरियाँ अपनेको सजाना आरम्भ करती हैं; पर यह सजाना जहाँ आरम्भ हुआ कि उसी क्षण श्रीकृष्णकी गाढ़ स्फूर्ति होकर वे इस बातको भूल जाती हैं कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ। उन्हें ऐसा अनुभव होता है—यह सामने, बिलकुल मेरे सामने, मेरे प्रियतम खड़े हैं, मुझसे थोड़ी ही दूरपर खड़े हैं। फिर थोड़ा बाह्य ज्ञान होता है, सजाना आरम्भ करती हैं, पर सजाने जाकर अपने-आपको विचित्र बना लेती हैं। ओढ़नीको पहन लेती हैं, साड़ीको ओढ़ लेती हैं, आँखोंमें लगानेका काजल तो चरणोंमें लगा लेती हैं और चरणोंमें लगानेका आलता आँखोंमें लगा लेती हैं। कानकी बालीको नाकमें पहन लेती हैं और नाकके बुलाकको कानमें पहन लेती हैं। गलेका हार कमरमें एवं कमरकी करधनीको गलेमें धारण कर लेती हैं। इस प्रकार उनका भेष विचित्र बन जाता है—किसी दिन कैसा, किसी दिन कैसा; प्रतिदिन ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ी हो ही जाती है। परंतु श्रीकृष्ण उनके इस भेषको देखकर अप्रसन्न होनेकी बात तो कल्पनासे भी दूर है, प्रेमानन्द-रस-सागरमें डूब जाते हैं। उनको देखकर श्रीकृष्णकी आँखोंसे विमल प्रेमकी अश्रुधारा बहने लगती है। वे अपने हाथोंसे उन गोपसुन्दरियोंके वस्त्र-आभूषण ठीक करते हैं, यथास्थान पहना देते हैं। यह

है प्रेमकी महिमा—इसमें बाहरके साज-शृङ्गारके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। श्रीकृष्ण तो प्रेमका आस्वादन करते हैं; बाहरका रूप उनकी आस्वाद्य वस्तु नहीं है। उनकी आस्वाद्य वस्तु है—प्राणोंकी व्याकुलताभरा निर्मल प्रेम।

साधक साधना प्रारम्भ करता है, तब उसके मनमें यही बात—एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मेरे प्रभु जिस बातसे प्रसन्न हों, वही करना है। वह पहले प्रत्येक चेष्टा भली भाँति विचार-विचारकर करता है कि वे अधिक-से-अधिक किस बातसे प्रसन्न होते हैं। फिर यह उसका स्वभाव बनता चला जाता है। इस बातके लिये ही पहले उसकी प्रार्थना होती है—'मेरे नाथ! मैं तुम्हारे हाथोंका यन्त्र बन जाऊँ।' यह प्रारम्भमें होता है—आगे तो प्रेमीकी ऐसी दशा होती है कि उसे केवल वही जानता है।

७०. यह सिद्धान्ततः ठीक है कि महापुरुषोंको साक्षात् भगवान् मानकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेसे भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति बड़ी शीघ्रतासे होती है। पर किसी विशेषके प्रति मनुष्यमें प्रथम तो भगवद्बुद्धि होना कठिन है; हुई भी तो वह आगे चलकर हट सकती है और इस प्रकार अपराध बननेसे उसकी उन्नति रुक सकती है; और कहीं वह आदमी, जिसमें भगवद्-बुद्धि की गयी, भगवत्प्राप्त न हो (अधिकांशमें ऐसा ही होता है; भगवत्प्राप्त महात्मा तो बिरले ही होते हैं), साधकमात्र है, तो उससे कोई खास लाभ नहीं होता। और यदि दम्भी हो, ऊपरसे बना हुआ प्रेमी हो, तब तो निश्चय ही साधकके लिये पश्चात्ताप होनेके लिये अवकाश है। इसलिये सर्वोत्तम, सबसे श्रेष्ठ निर्भय मार्ग यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जीवनको समर्पित करके उनका पवित्र मधुर स्मरण, उनका प्रेममय भजन तथा सत्सङ्गमें रहकर जीवन बिताते हुए समस्त विश्वको ही अपने इष्टका रूप समझकर यथायोग्य सबकी सेवा की जाय। यही आत्मसमर्पणकी तैयारी है। फिर पूर्ण आत्मसमर्पण तो भगवान् कराते हैं। एक और आवश्यक प्रार्थना यह है कि जीवनमें किसीको तत्त्वनिर्णय-के झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा करनेवालोंका रास्ता प्रायः बंद-सा हो जाता है; क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन, उनका प्रेम और उनकी परम पवित्र लीला मन-वाणीके विषय नहीं हैं। जो भी वाणीसे कहा जाता है, शास्त्रोंमें सुननेको मिलता है, वह तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति संकेत है। भक्तको चाहिये कि वह सिद्धान्त-निर्णयके फेरमें बिल्कुल न पड़कर सरल श्रद्धासे आत्मसमर्पणकी तैयारी—श्रीकृष्ण, श्रीराधारानीके चरणोंमें न्यौछावर हो जानेकी तैयारी करे। वह केवल तैयारी ही कर सकता है; असली आत्मसमर्पण तो होगा तब, जब श्रीकृष्ण स्वयं इस आत्मसमर्पणको स्वीकार करेंगे। उसके पहले प्राणोंकी समस्त व्याकुलता लेकर तैयारी करनी होगी। कोई ज्ञानी कहे कि ब्रह्मप्राप्ति ही सबसे ऊँची स्थिति है तो उसमें भगवद्भाव करके, प्रभु हमारी परीक्षा ले रहे हैं—यों समझकर उसे प्रणाम करके उपराम हो जाना चाहिये। भूलकर भी कभी वाद-विवाद या बहस नहीं करनी चाहिये। करने चाहिये केवल दो काम—जीभसे अखण्ड नामोच्चारण एवं मनसे अखण्ड श्रीकृष्णलीलाओंका चिन्तन। इसमें जो सहायक हों, उन्हें जोड़ते चले जाना चाहिये। बाधक हों, उन्हें तुरंत फेंकते जाना चाहिये।

७१. एक ही भगवान् अपनेको दो रूपोंमें बाँटकर लीलाका आस्वादन करते हैं। श्रीराधाजी कृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही राधिकाजी हैं। उनमें सर्वथा सब ओरसे नित्य एकत्व ही है। ऐसा होते हुए भी अनादिकालसे लीलाका आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाके रूपमें वे नित्य सच्चिदानन्दमय रसमय प्रेमकाघनीभूत विग्रह धारण किये हुए हैं। श्रीगोपियाँ श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा हैं, अर्थात् स्वयं श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णको लीला-रसका आस्वादन करानेके लिये अनन्त गोपीरूप

धारण किये हुए हैं तथा अनादिकालसे वह सच्चिदानन्द-मयी लीला—श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनकी लीला चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी। साधनाके द्वारा मनुष्य पहले इन लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन करता है, फिर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा होनेपर ही उस लीलामें स्वयं भी सम्मिलित हो जाता है। इस दुर्लभ लीलाका दर्शन किसी-किसी ज्ञानयोगीको भी ब्रह्मप्राप्तिके बाद ही होता है। पर प्रेमपंथी भक्तके लिये भगवान्‌की कृपासे सीधा रास्ता निकल आता है और वह बिल्कुल सीधे एक विलक्षण ढंगसे इस लीलाका दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

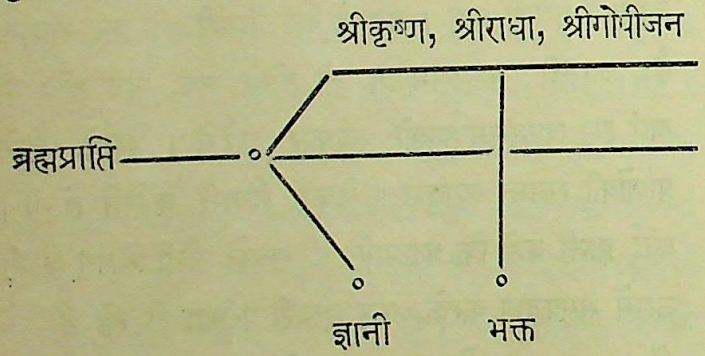

७२. श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, हृदय हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा दोनों सर्वथा सब प्रकारसे एक ही हैं। लीलाके लिये दो रूपोंमें अनादि कालसे बने हुए हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे।

श्रीकृष्णका स्वरूप है सत्-चित्-आनन्द। सत्‌में संधिनी शक्ति रहती है, चित्‌में चितिशक्ति (ज्ञानशक्ति) रहती है तथा आनन्द-अंशमें ह्लादिनीशक्ति रहती है। श्रीकृष्णकी संधिनी-शक्ति ही वृन्दावनके रूपमें प्रकट होती है। चितिशक्ति योगमाया आदि हैं। ह्लादिनी श्रीराधा हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण जो सत्-चित्-आनन्द हैं, वे ही वृन्दावन बने हुए हैं, वे ही योगमाया बने हुए हैं और वे ही श्रीराधा बने हुए हैं तथा श्रीराधा फिर अनन्त गोपियाँ बनी हुई हैं। और यही सत्-चित्-आनन्दमयी लीला अनादि कालसे चल रही है एवं अनन्त कालतक चलती रहेगी।

वृन्दावन, योगमाया, श्रीराधा—एक ही श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ तीन रूपोंमें हैं। असली बात तो श्रीकृष्ण जानें; पर मैंने एक दिन निवेदन किया था कि उसी सत्-चित्-आनन्दमयी लीलाकी छाया यहाँ पड़ती है और वही छाया इस विश्वके रूपमें दीखती है। यहाँके स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी, वन, पर्वत, समुद्र, नदी—सब उसी दिव्य सत्-चित्-आनंदमय दिव्य राज्यकी छाया हैं।

७३. व्रजप्रेमकी प्रत्येक लीलामें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वहाँ किसी भी गोपीके मनमें अपने सुखकी बिल्कुल इच्छा नहीं रहती, तथा वहाँके जो श्रीकृष्ण हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनको सुख नहीं चाहिये। वहाँ उनकी भगवत्ता छिपी रहती है तथा प्रत्येक गोपी यह समझती है कि श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ हैं, इनको सुख होता है, दुःख होगा। व्रजसुन्दरियोंकी चेष्टाओंमें यह भाव नहीं होता कि हमें सुख पहुँचे; अपनेसे-अपने जो प्राणवल्लभ हैं, उनको सुख कैसे मिले—यही इच्छा केवल रह जाती है।

यह भी यहाँ समझनेकी बात है कि वृन्दावनमें जो चिन्मय लीला होती है, वहाँ जो गोपियोंके पति हैं, वे भी हाड़-मांसवाले नहीं हैं, वे तो श्रीकृष्णकी ही एक-एक मूर्ति हैं। पतिरूपमें भी श्रीकृष्ण ही रहते हैं। पर पतिसे इनका कुछ भी कभी भी बिल्कुल कोई सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ तो गोपियाँ पतितकका त्याग करके श्रीकृष्णको भजती हैं, यह लीला दिखलानी है; इसीलिये यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं, पर उस रूपमें उनके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। वह लीला कुछ इतनी विचित्र है कि वाणीसे समझायी नहीं जा सकती। किसी दृष्टान्तसे समझना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। मान लीजिये, जैसे स्त्री-पुरुषका एक जोड़ा। उनका गुप्तरूपसे विवाह हो जाय, पर इस बातका किसीको पता लगे नहीं। अब स्त्री तो पतिव्रता है; वह पर-पुरुषका मुँह भी नहीं

देख सकती, बात करना तो दूर रही। अब वह प्रेममें पागल हो जाय। लोगोंको तो यह मालूम नहीं कि इसका विवाह हो गया है, इसलिये उसी पागलपनकी अवस्थामें उसका विवाह फिरसे किसीके साथ कर दिया जाय। उसे पता भी न चले। कुछ दिन बाद उसे कुछ होश होता है, तब क्या वह अपने पहले पतिको छोड़कर दूसरेका मुँह भी देख सकती है? कुछ-कुछ इस दृष्टान्तसे श्रीगोपीजनोंके प्रेमके स्वरूपका अनुमान हो सकता है। असली बातको समझना, बिना दर्शन हुए समझना कठिन है।

बहुत-सी ऐसी बातें हैं कि जिनकी दिव्यताको मलिन मनका प्राणी कदापि समझ ही नहीं सकता। आप पढ़ चुके होंगे भागवतमें—श्रीकृष्ण किसी गोपीका चुम्बन करते हैं, किसीका हृदय स्पर्श करते हैं। पर ये सभी लीलाएँ इतने परेके स्तरकी हैं, इतने ऊँचे दिव्यराज्यकी हैं कि जबतक मनुष्यकी सारी कामवासना सर्वथा मिटकर मन एवं आँखें दोनों चिन्मय न हो जायँ, तबतक वह समझ ही नहीं सकता कि असलमें क्या रहस्य है। संसारमें भी देखा जाता है कि पिता अपनी छोटी पुत्रीका मुख चूमता है। बहिन भाईका हृदय-स्पर्श करती है। बेटीको बाप हृदयसे चिपका लेता है, पर क्या वहाँ कभी कामविकारकी कल्पना भी होती है? फिर सच्चिदानन्दमय दिव्य पवित्रतम भगवत्-प्रेमराज्यमें कितनी निर्विकार तथा सर्वथा भगवन्मयी लीला होती होगी, इसका जरा अनुमान करना चाहिये। वहाँ स्त्रीका अङ्ग दीखता मात्र है, असलमें तो वह सर्वथा सब ओरसे चिदानन्दमय है। वहाँ जडताकी, कामकी तो गन्ध भी नहीं है। वहाँ उस लीलाके पढ़नेका इतना माहात्म्य है कि पढ़नेवाला यदि श्रद्धासे पढ़ेगा तो उसका काम-विकार नष्ट हो जायगा।

इस व्रजलीलाका भी एक रूप नहीं है। एक-से-एक बढ़कर ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी लीला होती है। अब कई लीलाएँ इतनी मधुर होती हैं कि उनमें श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ताको सर्वथा छिपाकर लीला करते हैं। उन बातोंको पढ़कर साधारण आदमी तो यही समझेगा कि यह तो किसी कामी पुरुषकी बात है; परंतु वह है असलमें उन भगवान्‌की लीला कि जिनके संकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हैं। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिप जाता है, वहाँ तो वे बैठकर श्रीराधाके लिये रोते हैं। 'हाय रे, भगवान्‌की स्मृति नहीं छूटे'—इस प्रकार जिनकी स्मृतिके लिये इतनी व्याकुलता ऋषि-मुनियोंको होती है, वे ही प्रभु निरन्तर श्रीराधाजीके लिये व्याकुल रहते हैं।

७४. जैसे भी हो, पूर्ण चेष्टा करके मनुष्य इस संसारको भूलकर श्रीकृष्णकी चिन्मयी लीलामें मनको तन्मय कर दे, तभी वास्तवमें जीवनकी कृतकृत्यता है। और यह तभी होगा, जब ठीक-ठीक पूरी लगनके साथ इसमें जुड़कर साधनामय जीवन बना लिया जाय।

व्रजप्रेममें मधुरभावकी सेवाका अधिकार पानेके लिये दो तरहकी साधना करनी पड़ती है। एकको बाह्य साधना कहते हैं और दूसरीको आन्तरिक साधना। बाह्य साधनाका रूप यह है कि इस शरीरके द्वारा, जो पाञ्चभौतिक है, निरन्तर जप, कीर्तन, श्रवण, पूजन आदिमें मनुष्य लगा रहे, सांसारिक झंझटोंमें कम-से-कम समय लगाये तथा आन्तरिक साधनाका यह रूप है कि मनसे दिव्य चिन्मय शरीरकी भावना करके उस शरीरके द्वारा निरन्तर चौबीसों घंटे सेवामें शामिल रहे। यही करते-करते जब प्रेम प्रकट हो जाता है, तब भगवान् भावनाको ही असली बनाकर दिखा देते हैं। दूसरे शब्दोंमें तब भगवान्‌की वास्तविक चिन्मयी लीला प्रकट हो जाती है तथा जब पाञ्चभौतिक शरीर छूट जाता है, तब फिर प्रेमके और भी ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास होता है और अधिकारके अनुसार

साधक जब प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें पहुँचता है, तब उसे सेवाका अधिकार मिलता है। यही वैष्णव आचार्योंका, शास्त्रोंका एवं प्रेमी संतोंका सिद्धान्त एवं अनुभव है।

यहाँ जिस दिव्य शरीरकी भावना की जाती है, वही दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें योगमायाके द्वारा पहुँचा दिया जाता है। वह शरीर किसी गोपीके गर्भसे जन्म धारण करता है तथा फिर थोड़ी-सी उम्र होते ही श्रीकृष्णके दर्शन होकर प्रेमकी ऊँची-ऊँची अवस्थाएँ—प्रेमके बाद स्नेह, स्नेहके बाद मान, मानके बाद प्रणय, प्रणयके बाद राग, रागके बाद अनुराग, अनुरागके बाद भाव और भावके बाद महाभाव। इन अवस्थाओंमें पहुँचते ही श्रीकृष्णकी वंशी बजती है तथा वह गोपी घर-द्वार छोड़कर सदाके लिये निकल पड़ती है। वहाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें पहले-पहल उसे सेवाका अधिकार मिलता है। उसके बाद सदाके लिये वह साधक नित्य लीलामें सम्मिलित हो जाता है। यह एक क्रम है—जो गोपीभावसे साधना करते हैं, उनके लीलामें शामिल होनेका क्रम है। जो सखाभावसे सेवाकी भावना करते हैं, उनका क्रम भी मिलता-जुलता ही होता है; पर सखागण रासलीलामें अधिकार नहीं पाते, उन लोगोंकी अन्तिम स्थिति बनमें गाय चराने, साथ खाने, मौज उड़ाने, कंधे चढ़नेतक ही है। इनका क्रम भी ऐसा होता है कि बाहर एवं अन्तर साधना करते-करते जब प्रेम प्रकट होता है, तब वे भगवान्‌के सखा बनकर यहीं लीला शुरू कर देते हैं, फिर उनका पाञ्चभौतिक शरीर छूटनेपर व्रजके किसी गोपके घर वे बालकके रूपमें जन्म लेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक भावकी साधनाका यह एक क्रम है; पर इतना ही हो, ऐसी बात नहीं है; यह तो एक नियम है। श्रीकृष्णके चाहनेपर तो वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है; पर प्रायः इसी तरहसे साधकलोग साधनामें अग्रसर होते हैं।

७५. आपपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि आपके मनमें व्रजप्रेमकी बात सुननेकी इच्छा होती है। आप निकुञ्ज-लीला सुनना चाहते हैं और मैं सुनाऊँ—इससे बढ़कर मेरा एवं आपका सौभाग्य और क्या हो सकता है? पर मैं जो सुनाने जा रहा हूँ, वह सबके सुननेकी वस्तु सर्वथा नहीं है। मेरी तो यह धारणा है तथा अनुभवी संतोंसे भी बार-बार यह सुन चुका हूँ कि जिसके मनमें तनिक भी कामविकार है, उसे इसे कहने-सुननेका अधिकार ही नहीं है। अतः कम-से-कम इस लीलाके सम्बन्धमें सावधानी रखेंगे। मैं सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीराधाकृष्ण नहीं हो गये हैं, जिसके मनमें कभी भी श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी मधुमयी लीलाओंको सुनकर किसी प्रकार भी, तनिक भी कोई-सा भी संदेह होता हो, जो प्रिया-प्रियतमके प्रेमके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करनेके लिये तैयार न हो, जिसका श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी अपार, असीम, अनन्त भगवत्तापर, उनकी अपार असीम कृपापर दृढ़, अटूट, अडिग, अचल, अटल विश्वास नहीं हो गया हो, उसे ये बातें, जो मैं मधुर लीलाके सम्बन्धमें आगे लिख रहा हूँ, कभी नहीं पढ़नी चाहिये।

ऊँचे स्तरकी एक लीला होती है और वह नित्य चलती रहती है। वह है परकीया भावकी लीला। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही विलक्षण प्रेमलीला होती है तथा श्रीराधारानीका प्रेम कितना ऊँचा है, यह दिखलाया जाता है। इस परकीया भावकी लीलामें होता क्या है कि भगवान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर सभी गोपियोंके एक-एक पति बनते हैं तथा राधारानीके भी एक पति श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। फिर

वहाँकी प्रत्येक लीलाके द्वारा सिद्ध किया जाता है कि पवित्र प्रेम क्या वस्तु है, प्रेममें कितना त्याग होता है। सबसे कठिन जो आर्यपथ, कुलधर्म है, उसका त्याग भी श्रीराधा एवं श्रीगोपीजन सहज ही कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठाकी लीला है तथा प्रेमप्राप्त कतिपय वैष्णव आचार्योंने एक-से-एक बढ़कर लीलाएँ लिखी हैं और अनुभव करके लिखी हैं। अवश्य ही यह इतनी ऊँची प्रेममयी लीला है कि सबके कहने-सुननेकी चीज बिल्कुल नहीं है। यह इतनी ऊँची बात है तथा इसमें इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि असलमें तो श्रीकृष्णकी कृपासे ही कोई बिरला साधक इसे थोड़ा-बहुत समझ सकता है।

अध्यात्मचिन्तनके अमृत-कण

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

(१) भगवान् इस जगत्के बीचमें किस प्रकारसे हैं ? उसी तरह जिस तरह मालामें सूत्र। ऊपरसे देखनेसे जान पड़ता है कि एक ही लड़ी है, पर उसमें अलग-अलग मणि हैं। हाँ, वह सत्ता जिनके कारण इनमें एकीकरण होता है वह सूत्र है। यदि यह सूत्र नहीं होता तो सब मणि अलग-अलग बिखरे हुए होते। संसारमें भी इसी भाँति सब प्राणी पृथक्-पृथक् हैं, सबका भाग्य अलग है, सबका कर्म अलग है; पर उस भगवान्के कारण ही इन सबमें एकता बनी हुई है। मणियोंमें सूत्रकी तरह वह सबके भीतर सूत्र-रूपसे रहनेवाला है। सूत्रकी उपमा बड़ी प्राचीन है। गीताकी तो उपमा प्रसिद्ध ही है, पर उससे भी प्राचीन अथर्ववेदकी है। वहाँ भगवान्को 'सूत्रस्य सूत्रम्' कहा गया है (अथर्व० ११ काण्ड ८ सूक्त)। हमें उसकी स्थितिका पता नहीं चलता। ऊपरसे तो कुछ दिखलायी नहीं पड़ता, पर भीतर-भीतर वह सर्वत्र विद्यमान है।

हमें चाहिये इस सूत्रको पकड़ना। अपने भीतर है वह सूत्र; यदि उद्योग करके उसे पकड़नेका उद्योग हम करें तो क्या उसका पता नहीं लगेगा ? क्यों नहीं लगेगा ? वह बाहर थोड़े ही है ! पर उस उद्योगके प्रकारमें अन्तर पड़ता है। भक्तलोग तो सदा यही कहते आये हैं कि उसको पूर्ण-रूपसे जानना नितान्त दुष्कर है। वह कृपा करके जना दे, तभी मनुष्य जान सकता है। 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' पर उसकी वह कृपा तो हम पायें, अपनेको उसकी दयाका अधिकारी तो बनायें। यह कब हो सकता है ? यह तभी हो सकता है जब हमारा प्रेम उसकी ओर हो। वह स्वयं खिंच जाय, प्रेमपाशमें बद्ध हो जाय। यह एक उपाय है उसको अपनी ओर करनेका—उसकी दयाके भंडारके खुल जानेका। हाँ, भंडारके खुलनेकी बात कैसी ? वह तो सदाव्रत सदासे चल रहा है; पर हम तो इधर ही इतने फँसे हैं कि उधर ताकनेका भी हमें समय नहीं है। उसके घर-तक पहुँचनेकी तो बात ही न्यारी है। उसके सदाव्रत-के पास तो कोई पहुँचे ? पर हम तो उधर देखते ही नहीं। 'प्रेय'में इतने मस्त हैं कि 'श्रेय' को भुला बैठे हैं। आपसे प्रार्थना है कि हे भगवन् ! हमारी दृष्टि प्रेयसे हटकर श्रेयकी ओर हो। संसारसे हटकर हम आपकी ओर चलें, जिससे हमारा मानव-जन्म सफल हो। बस, आज इतना ही।

(२) हे भगवन् ! कौन मुँह लेकर हम आपसे विनती करें ? आपके देखते-देखते न जाने हमने कितने अपराध किये हैं। आपके स्वरूपको जानते हुए भी हमें उसकी वास्तविकताके बारेमें विश्वास नहीं है। आप सर्वत्र विद्यमान हैं, इसे जानकर भी हम पाप करते हैं। आप सहस्राक्ष हैं—आप विश्वचक्षाः हैं, इसे जानकर भी हम अँधेरेमें पापा-चरण करते हैं कि कहीं मनुष्य हमें देख न ले। प्रत्येक जीव आपसे उत्पन्न हुआ है तथा उनमें आपकी ही सत्ता विद्यमान है—इस ज्ञानको रखते हुए भी हम आपके जीवोंकी हिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा किया ही करते हैं। क्या कहें और कितना कहें। मुँहसे आपके गुणोंको गाते हैं, पर उसके अर्थ-पर श्रद्धा नहीं करते। जान तो यह पड़ता है कि हम मनुष्य-का अधिक ध्यान रखते हैं, ईश्वरका कम; क्योंकि हम मनुष्योंकी आँखें बचाकर अनर्थ करनेपर अपनेको अपराधी नहीं मानते। पर हम तनिक भी अपने हृदयमें विचार नहीं करते कि आपकी आँखोंसे ओझल हम भला कभी हो सकते हैं।

आपकी आँखें कहीं-न-कहींसे हमें झाँकती हैं। 'दिवालोंको भी आँखें होती हैं' यह अन्य विषयमें प्रयुक्त होनेवाली कहावत कितनी सच्ची है। दिवालोंके भीतरसे भगवान्‌की आँखें हमें देख रही हैं। जब यह भावना हमारे हृदयमें दृढ़रूपसे घर कर लेगी, तब भला, हम कभी बुरा काम कर सकते हैं। मानते हैं सब, विश्वास रखते हैं सबपर; पर हृदयमें इतनी दृढ़ता नहीं कि सच्ची बातोंपर जाकर बैठ जाय।

पर सबसे जरूरी बात तो यही है कि हमारा भगवान्‌में विश्वास जीता-जागता हो, सोया हुआ न हो। हमारे मनमें जितना विश्वास दृढ़ होगा, उतना ही भगवान्‌की ओर हृदय बढ़ेगा या उतना ही अधिक दैवी सम्पदाओंका मनमें आविर्भाव होगा। अतः अपने मनको बार-बार यही समझाना चाहिये कि देखो, भगवान्‌की शक्तिमत्तापर विश्वास रखो। उसके सामने अपने भावको कह सुनाओ। वह तनिकमें सुन लेगा और जान लेगा और उचित समझेगा तो उसका उपाय कर देगा। उसकी अखण्ड शक्तिमत्ताके विश्वाससे तनिक भी मत डिगो। इसे व्यावहारिक कार्यमें ले आओ और आचरण करो, यही तुमसे कहना है।

(३) भगवान्‌का स्वरूप क्या मनुष्योंके प्रयत्नोंसे जाना जा सकता है? वह इतना विचित्र है, इतने विरुद्ध गुणोंका उसमें युगपत् समावेश है कि उसे यथार्थरूपसे जानना बड़ी ही कठिन बात है। बिना भगवान्‌की दयासे वह ज्ञात नहीं हो सकता। 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' बिना उसकी दयाके मनुष्य पङ्गु-सा बना रहता है। जो समुद्र-सा अनन्त है, उसका पता भला जलबिन्दु लगा सकता है? उसके वास्तव विस्तारका पता इतना लघु-जीव क्या लगा सकता है? उसीकी कृपा यदि हो, तभी यह काम साध्य हो सकता है।

दूसरे ढंगसे उसका पता चल भी सकता है। यह जीव परमात्माका ही तो अंश ठहरा। अतः यदि यह अपने स्वरूपका पूरा पक्का परिचय पा जाय तो इसके द्वारा परमात्मासे भी परिचय पा सकता है। पर अपने स्वरूपका पता लगाना सीधा नहीं। इन्द्रियोंके साथ अपना इतना मिश्रण हो गया है कि इन्द्रियोंके विषयको हम अपना ही विषय समझ बैठे हैं, जिससे अपना सच्चा स्वरूप जानना दुरूह-सा हो गया है। दोनोंकी एकता इतनी दृढ़ है कि एकसे दूसरेका परिचय अवश्यमेव मिल सकता है; पर अपनेको भी जानना सरल व्यापार नहीं। इन्द्रियोंके प्रपञ्चसे आत्माको अलग निकाल रखना परिश्रमका काम है, पर हमें विरतोत्साह नहीं होना चाहिये। रूईकी बत्तीके भीतरसे जैसे सींकको निकाला जाता है, वैसे ही पञ्चकोषोंसे आत्माको अलग निकालना चाहिये। जब शुद्ध चैतन्यका परिचय मिल जाता है, तब उस परमात्माके स्वरूपका भी परिचय मिल जाता है। पर कहनेसे करनेमें बड़ा भेद है। भगवान्‌की कृपासे ही यह सुसाध्य है। अतः हे दयासागर! ऐसी दयाका विस्तार कीजिये कि हमें अपने स्वरूपका तो परिचय मिल जाय। दया तो आपने बहुत की है और कर ही रहे हैं; पर अभीतक यह दया शेष है जरा एक बार और दया कीजिये। हमारा कुछ काम तो निकल जाय। आपके लिये तो यह सरल-सी चीज है, पर हमारे लिये यह नितान्त दुष्कर है। बिना कृपाके सिद्ध होती दिखायी नहीं पड़ती। यही आपसे प्रार्थना है।

(४) हे दयानिधान! किसी प्रकारसे हमारे चित्तसे अप्रसन्नताको दूर कीजिये। पता नहीं, यह क्यों आ धमकती है। हम स्वयं जब आनन्दरूप ठहरे, तब निरानन्द होनेकी कौन-सी बात है, पर चित्तमें कभी-कभी बड़ा विषाद होता है। संसारके विविध विषम दुःखोंके कारण-ही ऐसी स्थिति आ जाती है, पर यह तो होगी ही। संसारमें जन्म-धारणका दण्ड ही ऐसा है कि दुःखकी ज्वाला उत्पन्न हो। पर यही चाहिये कि प्रपञ्चकी चिन्तासे दूर हटे। भरसक पूरी चेष्टा करनी चाहिये कि चिन्ता पास न फटकने पाये। भगवान्‌के अनुग्रहसे ही यह साध्य है। उनकी इच्छा हो तो आज ही परम वैराग्यका उदय हो जाय। चित्त संसारसे एकदम उपरत हो जाय। चिन्ता तनिक भी न सताये। अहा! छोटे बालकोंका जीवन कितना निश्चिन्त होता है। घनघोर संग्रामस्थलके पास भी बालक उसी भाँति खेलते हुए देखे गये हैं जिस प्रकार किसी शान्त स्थानमें। उनके मनमें भयकी भावना ही नहीं है। वे तो प्रेमसे एक दूसरेको आलिङ्गन करते हैं। पासमें ही वर्तमान युद्धकी सत्तासे भी वे सर्वथा अपरिचित रहते हैं। बस, बालकोंसे निश्चिन्तताकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। किसी भी दशामें हो, चिन्ताका भाव मनमें न आना चाहिये; परंतु यह स्थिति कठिन है। गीतामें आदर्श पुरुषोंके लक्षणमें

निश्चिन्तताका स्थान आता है। अतः ऐसी दशा साधारण पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकती। पर फिर भी उद्योग करते रहना चाहिये। भगवान्‌का नामस्मरण सतत करते रहनेसे और उनकी सहज सुहृदतापर विश्वास करनेसे निश्चिन्तता बनी रहती है। फिर किसी प्रकारकी चिन्ता पास भी फटकने नहीं पाती और प्रफुल्लता बनी रहती है। अतः मनुष्योंको चाहिये कि वे चिन्ता दूर करनेके लिये भगवान्‌के सहज सौहार्दपर विश्वास करके सदा नामस्मरण करते रहें—यही सुलभ साधन है।

(५) भगवान्‌की विभूतिकी इयत्ता नहीं है। जिधर देखिये, उधर ही उनकी विभूति दिखलायी पड़ती है। संसारके समग्र प्राणी उन्हींकी सत्तासे अनुप्राणित हैं। वह वही वस्तु है, जिससे उनमें प्राणका संचार है, जीवन धारण करनेकी शक्ति है। उसीके आधारपर इस जगत्‌की सत्ता है। विमल मोतियोंकी मालाकी स्थिति जिस प्रकार सूत्रके बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस जगत्‌की परम्पराके भीतर वह सूत्रके समान वर्तमान है। मालामें सूत्रकी स्थितिका पता नहीं चलता; क्योंकि वह सूक्ष्मरूपसे उसके भीतर वर्तमान रहता है। यही बात भगवान्‌के लिये भी चरितार्थ होती है। वे सबके नियन्ता हैं, आधारपीठ हैं; पर वे नितान्त सूक्ष्म हैं और इसीलिये उनकी सत्ताका अनुभव प्रत्यक्षरूपसे हमें साधारणतया नहीं होता। परंतु हैं वे अवश्य मणियोंकी मालामें सूत्रकी तरह। इसीलिये वे 'सूत्रात्मा' कहलाते हैं।

आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने भीतर उस सूत्रको पहचानें, अपने जीवन देनेवालेके रूपको जानें। हमें अपनी इन्द्रियोंको बाहरसे रोककर भीतर ले जानेका उद्योग करना चाहिये। तभी उसका पता चलेगा हमें। किंतु यह कुछ कठिन है अवश्य। सदा विषयमें आसक्त मानवोंके लिये भगवच्चिन्तन नितान्त दुरूह व्यापार है। इसीलिये भक्तको विषय-चिन्तन छोड़ना पड़ेगा। भगवान् मुझे इस कृपासे समन्वित करें, यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

(६) मनुष्यका मन ही विचित्र कारखाना है, जिसमें तरह-तरहकी वस्तुएँ तैयार होती हैं। इन चीजोंका नाम है—विविध वृत्तियाँ और वे साधारणतया दो विभागोंमें विभक्त की जाती हैं—भली और बुरी। सुवृत्ति और कुवृत्ति दोनोंका उद्गम-स्थान मन ही है। प्रायः प्रबलता कुवृत्तियोंमें ही देखी जाती है। वे सदा इस फेरमें रहती हैं कि हम किस प्रकार अन्य वृत्तियोंको धर दबायें। सुवृत्तियाँ भी अपनेको प्रबल बनाकर अन्य वृत्तियोंको दबानेकी चेष्टा सदा किया करती हैं। यही देवासुर-संग्राम है। देवोंकी तरह असुर भी कश्यपकी संतानें हैं—उनकी माता अदिति है, तो इनकी माता दिति। पिता तो एक ही ठहरे। देवासुरोंने समुद्रका मन्थन एक बार ही किया था, पर अध्यात्ममें ये सदा मनरूपी समुद्रका मन्थन किया करते हैं। कभी एक प्रवृत्ति मनको अपनी ओर खींचती है तो कभी दूसरी। इसी खिंचावमें पड़ा हुआ मन मन्थनके कष्टका अनुभव करता रहता है। प्रसन्नताका उदय तभीतक रहता है, जबतक दैवीवृत्तिकी स्थिति बनी रहती है; अन्यथा नहीं।

गीताके १६ वें अध्यायमें इसी द्वन्द्वयुद्धका वर्णन है। दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद्‌का वहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है, जिनमेंसे पहली सम्पत्तिके लोग ही मोक्ष पानेके अधिकारी हैं। दूसरी सम्पत्तिवाले तो केवल नरकमें ही जाते हैं। दोनों वृत्तियोंका उदय एक ही स्थानसे हुआ, पर गुण-भेदसे दोनोंमें इतना अन्तर पड़ गया। सात्त्विक वृत्ति मोक्षका कारण होती है और तामसिक बन्धनका। राजसिक वृत्तिका सम्बन्ध दोनोंसे है; क्योंकि रजसे ही तो क्रिया होती है और इसका पुट दोनों वृत्तियोंमें बना ही रहता है। हमें शक्तिभर आसुरी वृत्तियोंको दबाकर दैवी प्रवृत्तियोंको आगे बढ़ाना चाहिये। यही उन्नतिका मार्ग है। बिना दैवी सम्पत्ति पाये मनुष्य मोक्ष पानेका अधिकारी ही नहीं होता।

(७) भगवान्‌की सुधि भी हो तो कैसे हो। विषय भला मनुष्यको कभी चैन लेने देते हैं? वे तो लगातार मनको अपनी ओर खींचते रहते हैं। इन्द्रियोंके बन्धनके हेतु होनेसे ही 'विषय'की सार्थकता है और इन्द्रियाँ भी हमारी कैसी विचित्र हैं। वे स्वभावसे ही बाहरकी ओर जानेवाली हैं। जब जाती हैं, तब बाहर ही जाती हैं। उनको खींचकर अन्तर्मुख करना साधारण कार्य नहीं है। पर बिना इस अत्यावश्यक कार्यके किये कुछ हो भी तो नहीं सकता। अपना प्रयत्न तो होना ही चाहिये। साथ-साथ भगवान्‌की दयाकी भिक्षा भी सदा माँगनी चाहिये। उनकी दया हो जाय, तो इन्द्रियोंके स्वभावके बदलनेमें कितनी देर लगती है।

यह संसार तो अपने ही प्राचीन तथा नवीन कर्मोंका फल है। प्राचीन कर्मराशिके भोगनेके लिये ही मनुष्योंको यह चोला मिला है। यहाँ आकर भी विविध व्यापार मनुष्य

करता है। इनका भी तो फल भोगना ही पड़ता है। विषय-से—यह तो हमारा अनुभव है—कभी भी अवकाश मिल नहीं सकता। यदि वह बन्धनका कारण न हो तो वह विषय ही नहीं है। विषयमें फँसना तो स्वाभाविक है, पर उससे अपने-को बचाना या फँसकर भी निकल जाना बड़ी बुद्धिमानीका काम है। जान-बूझकर अपने पैरोंकी बेड़ियोंके बढ़ानेमें मनुष्य क्यों लगा हुआ है? बेचारा कर्मोंका दास बना हुआ है। स्वतन्त्र थोड़े ही हैं। यह सब कुछ है, पर फिर भी उसे प्रयत्न कर बाहरसे मुँह मोड़कर भीतर जानेकी चेष्टा करनी ही चाहिये। इसीमें तो मनुष्यका बड़प्पन है।

हे भगवन्! मैं तो देखता हूँ दिनोंदिन मैं इस प्रपञ्चमें अधिकाधिक फँसता जाता हूँ। सुलझना तो अलग रहा, यहाँ तो नित्य ही उलझन बढ़ी चली जाती है। हे दयालो! बिना तुम्हारी दयाके कुछ होता नहीं दीखता। दीन जानकर दया करें। यही सदा-सर्वदा विनीत प्रार्थना है। ॐ शान्तिः।

प्रार्थनामय जीवन

(१)

भगवान् ही आरोग्य, समृद्धि और शान्तिके अक्षय स्रोत हैं। विपत्ति और विषादके बादल तभीतक मँडराते हैं, जबतक हम भगवान्‌को स्मरण करके उनकी शरणमें नहीं जाते। भगवान्‌की शरणमें जाते ही हमारे संशयकी गाँठ खुल जाती है और भयका भूत भाग जाता है। भगवान्‌की कृपासे आकाश निर्मल हो जाता है और जीवनमें ज्ञानका पवित्र सूर्योदय हो जाता है।

संसारमें जिसको भी धन, मान या ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह भगवान्‌से ही प्राप्त हुआ है। जबतक उनकी कृपा-दृष्टि नहीं होती, तबतक जीव दरिद्रता, अपमान और मोहकी ही गलियोंमें चक्कर काटता है। यदि हम सुख और शान्तिमय जीवन चाहते हैं तो हमें एकमात्र भगवान्‌की ही शरणमें जाना चाहिये तथा अपने प्रत्येक विचार, भाव और कर्मद्वारा उनकी ही आराधना करनी चाहिये।

आध्यात्मिक उन्नतिको भौतिक उन्नतिसे विपरीत या पृथक् मानना अज्ञान है। आध्यात्मिक उन्नति ही वास्तव-में भौतिक उन्नतिका ठोस आधार है। आध्यात्मिक उन्नतिके बिना भौतिक उन्नति अधूरी और अस्थायी है। केवल भौतिक उन्नति मनुष्यको पूर्ण सुख और शान्ति प्रदान करनेमें असमर्थ है। सच्ची आध्यात्मिक उन्नतिके साथ रोग, ऋण आदि भौतिक कष्ट नहीं टिकते। सच्चे अध्यात्मवादीका शरीर और मन नीरोग रहते हैं। आत्मवादी उत्साही, धीर और कर्मठ होता है। वह क्रोध, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारोंसे मुक्त रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है।

आधुनिक मनोविज्ञानने प्रयोगों और परीक्षणोंद्वारा शारीरिक और मानसिक आरोग्यके लिये नैतिकता और आध्यात्मिकताको अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें स्वीकार कर लिया है। द्वेष, क्रोध आदि मनोविकारोंसे बड़े भयंकर शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। चिन्ता और भय रक्तमें विषका प्रवाह करके रचनात्मक शक्तियोंको जंग लगा देते हैं। इन मनोविकारोंसे छुटकारा पाना बड़ा कठिन होता है। इसके लिये मानसशास्त्रियोंने सबसे उत्तम उपाय आत्मसंकेत या आत्मनिर्देश बताया है। मनको अन्य सब विषयोंसे हटाकर कुछ देर शरीर और मनको शान्त और सहज स्थितिमें रखना चाहिये। तब अपने मनको भय आदि मनोविकारोंसे विपरीत मनोभावोंके निर्देश देने चाहिये। धीरे-धीरे कई बार कहना चाहिये कि 'मैं निर्भय हूँ। मैं प्रत्येक बाधाका वीरतापूर्वक सामना करनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हूँ। मैं निर्भयतापूर्वक जीवनमें उन्नति करता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ।' ऐसी ही निर्भयताकी स्थितिमें अपने मानसचित्र बना लेने चाहिये। निर्देश देते समय उन चित्रोंको अपनी कल्पनामें दोहराना चाहिये। यही संक्षेपमें आत्मसंकेत या आत्मनिर्देशकी विधि है। आत्मनिर्देश दिनमें दो या तीन बार देने चाहिये। इसके लिये सर्वोत्तम समय रातको सोनेसे पहले और प्रातःकाल शय्या त्यागनेसे पहलेका होता है।

आत्मनिर्देश या आत्मसंकेतका सर्वोत्तम रूप ईश्वर-प्रार्थना है। आत्मसंकेतका प्रयोग आधुनिक मनोविज्ञान हर प्रकारकी शारीरिक और मानसिक उन्नतिके लिये करता है। बहुत-से मानसशास्त्री भौतिक उन्नतिके लिये भी आत्मसंकेतकी विधिका प्रयोग करनेका परामर्श देते हैं। यही बात

ईश्वर-प्रार्थनाके लिये भी संतलोग बतलाते हैं। संतोंका कहना है कि हमें अपनी हर कठिनाईके समय करुणा-सागर प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। हमें अपनी प्रत्येक समस्या स्पष्टरूपसे उनके सामने रखकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। चिन्ता करना और समस्याओंको हल करना उनका काम है। जो कुछ हमें करना चाहिये और जो कुछ हम कर सकते हैं, वह हम करें। शेष सब प्रभुके ऊपर छोड़ दें। इस प्रकारका प्रार्थनामय जीवन सुख, शान्ति और सेवाका जीवन होता है। वहाँपर कोई अभाव नहीं होता, कोई बेचैनी नहीं होती। ऐसा भक्तिमय जीवन पूर्णताका जीवन होता है। वह ईश्वरका ही जीवन होता है।

भगवान्‌की अनन्त शक्तियोंमें और उनकी अकारण कृपालुतामें हमें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। वे हमारी हर आवश्यकताको स्वयं ही जानते हैं और उसकी पूर्ति अवश्य ही करेंगे। जो कुछ हमारे कल्याणके लिये आवश्यक है, वही वे करेंगे। जब भी हमें जिस वस्तुकी आवश्यकता होगी, तभी भगवत्कृपासे वह हमें अवश्य प्राप्त होगी। इस विश्वासको अडिग रखते हुए हमें भगवान्‌की स्तुति मन, वचन और शरीरसे करनी चाहिये। शरीरसे स्तुतिका अर्थ है कि हम अपने कर्तव्यकर्म ठीक प्रकारसे करते रहें।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'अपने कर्मसे उसकी पूजा करके मनुष्य सफलता प्राप्त करता है।'

भगवान्‌पर अविचल विश्वास एक ऐसी अक्षय पूँजी है, जिसको लेकर आप अपनी जीवन-यात्रा बेखटके प्रारम्भ कर सकते हैं; क्योंकि वह अवश्य ही सफलतापूर्वक समाप्त होगी। समाजमें चारों ओर आपकी निन्दा हो रही हो, आपके ऊपर बहुत-सा ऋण चढ़ा हुआ हो, आपके शरीरमें भयंकर रोग और मनमें चिन्ता, भय, क्रोध आदि विकार भरे हों—ऐसी घोर निराशाकी स्थितिमें भी आपके लिये आशाकी एक किरण बची है और वह किरण है ईश्वर-प्रार्थना। आप स्वयं अपने भाग्यके निर्माता हैं। दृढ निश्चयके द्वारा आप अपने भाग्यको बदल सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका अपना जीवन उसके लिये एक ब्रह्माण्डके सदृश होता है और इस ब्रह्माण्डका कर्ता-धर्ता परमेश्वर उसका अपना मन होता है। मनुष्यका अपना मन ही उसके सौभाग्य और दुर्भाग्य, सफलता और असफलता, दुःख और सुख, हानि और लाभ, जीवन और मरण, यश और अपयश, बन्धन और मोक्षका एकमात्र कारण होता है। दुर्भाग्य तभीतक है जबतक आप दूसरोंको अपने भाग्यका निर्माता माने हुए हैं। जब स्वयं आपने ही उनको अपने भाग्यका निर्माता मान लिया, तब इस प्रकार आपने स्वयं ही अपने भाग्यके निर्माणका अधिकार उनके हाथोंमें सौंप दिया। अब अपने इस अधिकारको उनसे वापस ले लीजिये। परिस्थितियोंको दोष देना अपनी जिम्मेदारीसे बचना है। अपने लिये अच्छी और बुरी परिस्थितियोंके निर्माता आप स्वयं हैं। परिस्थितियाँ आपके प्रतिकूल तभीतक हैं, जबतक आप उनको अपने प्रतिकूल माने हुए हैं। सब कुछ आपके दृष्टिकोणपर निर्भर करता है। आप अनुकूल मानिये तो परिस्थितियाँ आपके अनुकूल हो जायँगी। सर्वत्र अपने परम हितैषी प्रभुके दर्शन कीजिये। वे करुणामय सदा सर्वत्र सबके अनुकूल हैं। वे सबको सुखी देखना चाहते हैं।

जैसे हमारे विचार, भाव और कर्म होते हैं, वैसा ही हमारा जीवन होता है। कामनासे संकल्प और संकल्पसे कर्म होता है। हमारे संकल्प शुभ होंगे तो हमारे कर्म शुभ होंगे। अतः प्रभुसे सदा यह प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे संकल्प शुभ हों। जिस मनमें स्थिर शुभ संकल्प नहीं होते, यहाँ चिन्ता, भय, संशय और विषाद अपना डेरा डाले रहते हैं। ये दुर्भाव मनकी रचनात्मक शक्तिका ह्रास करते हैं। चिन्ता और भयसे मुक्त रहनेके लिये स्थिर शुभ संकल्पका अभ्यास आवश्यक है। किसी शुभ संकल्पके लिये समर्पित जीवन ही सार्थक और सुखमय होता है। निरुद्देश्य जीवन विपत्तिमय, विशृङ्खलित होता है। अपने जीवनका एक महान् लक्ष्य निश्चित कर लीजिये। अपना लक्ष्य महान् बनाइये और उसको निश्चित तथा विस्तृत रूपसे एक नोटबुकमें लिख लीजिये। यह नोटबुक आपके लिये सबसे अधिक पवित्र और महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें आपके आत्माकी अभिव्यक्ति है, जो आपके लिये भगवान्‌की अभिव्यक्ति है। आत्म-दर्शन ही ईश्वरका दर्शन है।

अपने आपको जानो, अपने अंदर छिपी अपनी योग्यताओंको पहचानो, अपने अंदर सोयी पड़ी अपनी दिव्यताको जगाओ—यही सनातन दिव्य संदेश है। तुम ईश्वरके रूप हो, ईश्वरने तुम्हें किसी महान् कार्यके लिये

भेजा है। वह महान् कार्य क्या है, इसका निश्चय केवल तुम स्वयं ही कर सकते हो। दूसरा कोई इस विषयमें तुम्हें प्रामाणिक परामर्श नहीं दे सकता। अपने विषयमें अन्तिम निर्णय तुम स्वयं ही कर सकते हो और तुम्हें ही निर्णय करना चाहिये। आत्मनिर्भर बनो। अपने पैरोंपर खड़े होकर ही तुम उन्नतिके पथपर आगे बढ़ सकते हो। अपना बोझ दूसरोंपर मत डालो। अपने विषयमें कोई निर्णय करनेका उत्तरदायित्व दूसरोंको मत सौंपो। अपने भाग्यविधाता स्वयं बनो। तुम्हारे अंदर बैठा हुआ ईश्वर तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करेगा। अपने अंदर स्थित परमात्माको स्वयं अपना कार्य करने दो।

आत्मनिर्माण ही तुम्हारे जीवनका पवित्र लक्ष्य है। दूसरोंको हानि न पहुँचाते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करो और अपनी उन्नतिके द्वारा दूसरोंकी यथाशक्ति सेवा करो। अपने अंदर सत्य, अहिंसा, समता, पवित्रता, अक्रोध, क्षमा, अभय आदि सद्गुणोंका विकास करो। मैत्रीभावका, आत्मभावका विस्तार करो। सब प्राणियोंमें परमात्मा ही हैं। उनको सुखी बनाकर हम परमात्माको सुखी बनाते हैं। समस्त प्राणी हमारे हितैषी हैं। सबकी शुभ कामनाएँ सदैव हमारे साथ हैं। इस प्रकारकी रचनात्मक भावनाओंसे आप अपने व्यक्तित्वमें वह महान् आकर्षण-शक्ति उत्पन्न करते हैं, जो आपकी अभीष्ट समृद्धियोंको आपके जीवनमें खींच लाती हैं। सच्चे आत्मवादीकी प्रत्येक अभिलाषा पूर्ण होती है। उसका प्रत्येक संकल्प कार्यरूपमें परिणत होता है। वह सत्यसंकल्प होता है।

अहिंसा और सत्यसे ही आत्मवादी जीवनका प्रारम्भ होता है। सच्चा अहिंसक ही अपने मन, वचन और कर्ममें सत्यका आचरण कर सकता है। हिंसकके मनमें भय रहता है। भयके कारण वह अपने विचार सत्यतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकता। उसके मनमें ऐसे विचार आते हैं, जो संसारके लिये हानिकारक होते हैं। इसीलिये वह उनको व्यक्त करनेमें डरता है। अहिंसावादीके मनमें लोक-कल्याणके विचार आते हैं। उनको वाणीसे व्यक्त करनेमें तथा कार्यरूपमें परिणत करनेमें अहिंसावादीको हार्दिक प्रसन्नता होती है। अतः वह मन, वचन और कर्ममें एक-सा रहता है। इसी एकताके कारण उसका व्यक्तित्व सुसंगठित होता है। सुगठित व्यक्तित्ववाला मनुष्य अपने प्रत्येक कार्यमें सफल होता है।

मनसे सच्चा होनेका अर्थ यह है कि हम वही सोचें, जो हमें क्रियात्मक जीवनमें अवश्य उतारना है। शब्दोंद्वारा हम जो कुछ भी करनेका निश्चय एक बार कर लें, उस निश्चयके ऊपर मनको एकाग्र रखना चाहिये। अपने प्रत्येक निश्चयको हम तबतक बराबर अपने मनमें दोहराते रहें, जबतक हम उस निश्चयको कार्यरूपमें परिणत न कर लें। सत्यव्रती वही सोचता है जो उसे करना होता है और जो कुछ सोच लेता है, उसे करके ही छोड़ता है।

अपरिपक्व अवस्थामें प्रायः ऐसा होता है कि हम आज कोई निश्चय करते हैं और कल उसे भूल जाते हैं और छः महीने बाद हमें फिर उस निश्चयकी याद आती है। इस बीचमें हम इसी प्रकार छः सौ निश्चय और करते हैं तथा उनको भी इसी प्रकार भूल जाते हैं। ऐसे निश्चयको हम निश्चय नहीं कह सकते। यह तो अनिश्चय है। जब हम अपनी अभिलाषाको निश्चित और स्थिर कर लेंगे, तभी सफलता प्राप्त करेंगे। अपने जीवनकी एक मुख्य दिशा तो हमें निश्चित कर ही लेनी चाहिये और उसी एक दिशाकी ओर अपने जीवन-प्रवाहको मोड़ना चाहिये। एक मुख्य लक्ष्य निश्चित कर लेनेके बाद अन्य साधारण विषयोंमें भी उसीके अनुसार आप निश्चय कर सकते हैं; परंतु जबतक जीवनका कोई प्रधान लक्ष्य निश्चित न हो जाय, तबतक कोई योजना या कार्यक्रम नहीं बन सकता, न कोई व्यवस्थित अध्ययन ही किया जा सकता है। किसी भी मनुष्यकी वास्तविक सफलताका आरम्भ तभी होता है, जब वह अपने जीवनकी एक दिशा निश्चित कर लेता है, जिसमें उसकी अधिकांश शक्तियोंका विकास और उपयोग हो सके। तभीसे उसका वास्तविक जीवन आरम्भ होता है।

सद्बुद्धिकी प्रेरणा देनेवाले, सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभुका स्मरण करते हुए आप अपने जीवनका एक लक्ष्य निश्चित कर लें, उस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये एक विस्तृत योजना और कार्यक्रम बना लें तथा अपने अधिकांश विचारों और प्रयत्नोंको उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये समर्पित कर दें। सोते और जागते, काम करते और आराम करते आपको बस, एक अपने उस लक्ष्यका ही ध्यान रहे। वह एक इच्छामात्र न रहकर आपकी लगन बन जाय। उसे आप अपना कार्य न समझकर ईश्वरका कार्य समझें और उसमें तन्मय हो जायँ। ईश्वरका कार्य होनेके कारण वह अति महान् और पवित्र कार्य है। उस कार्यके द्वारा आप ईश्वरकी पूजा कर रहे हैं।

एक निश्चित लक्ष्य और लगनके बिना कुछ नहीं होता। जीवनमें अच्छी वस्तुओंकी इच्छा तो सबको होती है। धन, प्रतिष्ठा और कीर्ति सब चाहते हैं; परंतु केवल चाहनेसे कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती। इच्छा जबतक लगनका रूप नहीं धारण कर लेती, तबतक उसमें शक्ति नहीं आती। लगनसे ही इच्छा-शक्ति प्राप्त होती है। प्रायः हम स्वयं ही यह नहीं जानते कि हम चाहते क्या हैं। हम स्पष्ट रूपसे नहीं सोचते। सफलताके लिये स्पष्ट चिन्तन आवश्यक है। हमारे लक्ष्यका एक स्पष्ट और निश्चित चित्र हमारे मानसिक नेत्रोंके सामने रहना चाहिये। जो यह निश्चित रूपसे जानता है कि उसका लक्ष्य क्या है और जो उसको प्राप्त करनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ है, वह केवल इच्छा करके ही नहीं रह जाता। वह अपनी इच्छाको तीव्र करके उसको लगनका रूप प्रदान करता है। एक सुविचारित योजनापर आधारित अपने प्रयत्नोंद्वारा वह अपनी इच्छाको निरन्तर सबल बनाता है। अपनी योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये वह दूसरोंका भी सहयोग प्राप्त करता है तथा सफलताके लिये विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करता रहता है।

विश्वासपूर्वक प्रार्थनाका अर्थ यह है कि भगवान्‌से प्रार्थना करनेके बाद हमें उस विषयमें कोई चिन्ता, उद्विग्नता या संशय शेष नहीं रहना चाहिये। प्रार्थनाके बाद हमें उस विषयमें पूर्णतया निश्चिन्त हो जाना चाहिये और विश्वास रखना चाहिये कि हमारी प्रार्थना अवश्य सफल होगी। भगवान् आपकी प्रत्येक प्रार्थना सुनते हैं। वे आपके बोलनेसे पहले ही सुन लेते हैं, परंतु फल आपको आपके विश्वासके अनुसार ही मिलता है। आप उनपर विश्वास कीजिये। वे ही आपकी प्रत्येक समस्याको हल कर रहे हैं।

आपकी प्रत्येक समस्याका हल आपके पास ही मौजूद है। आप जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब उन्होंने पहले ही आपको दे रखा है। आपके पहचाननेभरकी देर है। आपका विश्वास टिकनेभरकी देर है। आपको चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌पर विश्वास करके आप प्रसन्न रहिये और प्रसन्नताके साथ अपने समस्त दैनिक कार्य उचित रीतिसे सम्पन्न कीजिये।

अपने जीवनके मुख्य लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अपने प्रयत्न विश्वास, धैर्य और उत्साहपूर्वक जारी रखिये। अपने लक्ष्यके बारेमें जो लेख आपने लिखा है, उसको कम-से-कम एक बार रोज बोल-बोलकर पढ़िये। इससे वह योजना आपके मानस-पटलपर अङ्कित हो जायगी। जब आप किसी योजनाको रोज बोल-बोलकर पढ़ते हैं, तब उसको आपका अचेतन मन भी ग्रहण कर लेता है। जब अचेतन मन किसी योजनाको स्वीकार कर लेता है, तब वह उसकी सफलताके लिये तेजीसे कार्य करता है। अचेतन मन ही ईश्वरके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, वही प्रार्थनाको ईश्वरतक पहुँचाता है तथा उसके द्वारा ही हमें ईश्वरका पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। ईश्वरीय पथ-प्रदर्शनसे सफलता प्राप्त होती है।

ईश्वर-प्रार्थनाके लिये देश या कालका या विधि-विधानका कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर-प्रार्थना आप चाहे जब और चाहे जहाँ कर सकते हैं। आजतक आपने कभी भगवान्‌को स्मरण नहीं किया, परंतु आज अचानक घोर विपत्तिमें पड़नेपर आपको प्रभुकी याद आयी है तो अब संकोच मत कीजिये। वे आपको इस बातका उलाहना नहीं देंगे कि आपने अच्छे दिनोंमें उनको क्यों नहीं याद किया। आप तो जब भी उनको याद करें, तभी वे आपको सहायता, सद्बुद्धि और पथ-प्रदर्शन देनेको तैयार हैं। विश्वासपूर्वक आप उनसे जो कुछ भी माँगेंगे, वही वे आपको प्रदान कर देंगे। कमी आपके माँगनेमें है। वे तो मुक्तहस्त हैं। जितना भी आप माँगेंगे, उतना ही मिलेगा। परंतु माँग उनके सामने स्पष्ट और निश्चित रूपमें रखिये। कब और कहाँपर आपको किस वस्तुकी प्राप्ति आवश्यक है, यह उनको बतला दीजिये। विश्वास कीजिये, वे आपकी हर आवश्यकताकी पूर्ति करेंगे।

आपको तो केवल उनसे कहना है, उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है, उनसे बातें करनी हैं। भक्त लोग उनसे बात करते हैं। भगवान्‌से उनको अपने हर प्रश्नका उत्तर प्राप्त होता है।

आप अपनी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक समस्या भगवान्‌के सामने रखिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनपर विश्वास कीजिये। घरमें और बाजारमें, काम करते समय और खाली बैठे समय, सोते और जागते, कोई काम आरम्भ करते समय और समाप्त करते समय आप प्रार्थना कीजिये कि आपको सदैव भगवान्‌का पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो। अकेले प्रार्थना कीजिये और सबके साथ मिलकर भी प्रार्थना कीजिये, अपने लिये भी प्रार्थना कीजिये और दूसरोंके लिये भी प्रार्थना कीजिये, अपनी आत्मशान्तिके

लिये भी प्रार्थना कीजिये और दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये भी प्रार्थना कीजिये। अपने समस्त जीवनको प्रार्थनामय बना लीजिये।

यदि अपने अंदर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमका अभाव अनुभव करते हैं परंतु भक्त बननेकी महत्त्वाकाङ्क्षा आपके मनमें है, तो इसके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। उनसे कहिये 'हे प्रभो ! हमें अपनी अविचल भक्ति प्रदान कीजिये। अभी हमें सकाम भक्ति प्रदान कीजिये और बादमें निष्काम भक्ति भी प्रदान कीजिये। अभी हमारी इच्छाएँ पूर्ण कीजिये और बादमें हमें ऐसा बना दीजिये कि हमारे मनमें आपके प्रेमके अतिरिक्त कोई इच्छा शेष न रहे। अभी हमारे जीवनको प्रार्थनामय बनाइये और बादमें इसको केवल स्तुतिमय, प्रेममय बना दीजिये।' अन्तमें हम यही कहें 'हे प्रभु ! हमारी नहीं, 'तेरी ही इच्छा पूर्ण हो।'

विद्यार्थी बन्धुओंसे

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

ज्ञान आत्माका लक्षण है। जिसमें चैतन्य नहीं, ज्ञान और अनुभवकी शक्ति नहीं, वह जड है। जीवनमें पद-पद-पर और प्रतिपल ज्ञानकी आवश्यकता होती है। ज्ञानके बिना जीवन अन्धकारमय है। ज्ञानका प्रकाश ही मनुष्यको हिताहितका विवेक तथा मार्ग और कुमार्गका दर्शन कराता है। अतः उसकी अधिकाधिक उपासनामें हमें निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। पर दो बातोंका सदा ध्यान रखें। एक तो इसका कि ज्ञानका अन्त नहीं, इस जीवनका अन्त है; इसलिये ज्ञानके विकासमें कभी आलसी न बनें और जो कुछ प्राप्त किया है, उसमें इतिश्री मानकर अहंकार न करें। दूसरी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि ज्ञान केवल मार्ग-दर्शन करता है; पर अच्छे और बुरे मार्गको जान लेनेके बाद भी यदि हम बुरेका त्याग और अच्छेको स्वीकार नहीं करते तो वह ज्ञान पङ्गु है। अतः हमारा सदा यह ध्येय और प्रवृत्ति रहनी चाहिये कि हम निरन्तर असत्‌की ओरसे हटकर सत्‌की ओर बढ़ते रहें, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़ें और जीवनको पतनकी ओर न ले जाकर सात्त्विक और उन्नत बनायें।

वैसे तो हमें सारा जीवन ही ज्ञानोपासनामें बिताना है, थकना नहीं है, रुकना नहीं है; पर जीवनका एक ऐसा भी समय नियत किया गया है, जिसमें अन्य सारी प्रवृत्तियाँ गौण होकर ज्ञानोपार्जन ही प्रधान रह जाता है। वह है—विद्यार्थी-जीवन। करीब पाँच वर्षकी आयुसे पचीस वर्षतककी आयुका यह महत्त्वपूर्ण काल है, जिसके ऊपर अगले सारे जीवनका दारोमदार है। इस समयको पुराने महर्षियोंने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' की संज्ञा दी है। इन्द्रियोंके विविध भोग-विलासोंकी ओरसे मुँह मोड़ते हुए संयमपूर्वक अपने ध्येयमें एकाग्र हो जाना ही ब्रह्मचर्यका प्रधान लक्ष्य है। जबतक हमारे मन, वचन और शरीर विविध प्रवृत्तियोंमें लगे रहते हैं, बँटे रहते हैं, तबतक सफलता और सिद्धि पूर्णरूपसे नहीं मिल सकती। विद्यार्थी-जीवन साधनामय है। उसका साध्य ज्ञानकी अधिकाधिक प्राप्ति करना है।

अब हमें सोचना यह है कि इस विद्यार्थी-जीवनको हम कैसे बितायें। कौन-सी बातें हमारी ज्ञान-वृद्धिमें सहायक हैं और कौन-सी बाधक ? मैं स्वयं एक विद्यार्थी हूँ। पाठशाला-की शिक्षा तो पाँचवीं कक्षातक पायी; पर उसके बाद मुझे ज्ञानकी भूख इतनी लगी कि हजारों ग्रन्थोंको पढ़नेपर और करीब-करीब सारा जीवन अध्ययन और लेखन आदि-में बितानेपर भी मेरी वह भूख शान्त नहीं हुई। मुझे अपनी अपूर्णताका अनुभव हो रहा है। यद्यपि पूर्ण होना तो बसकी बात नहीं, फिर भी जहाँतक जीवन है, स्वास्थ्य और बुद्धि काम देती है, वहाँतक विद्यार्थी ही बना रहूँगा—ऐसा लगता है। इसलिये अपने जीवनके अनुभव कदाचित् मेरे विद्यार्थी बन्धुओंको कुछ लाभ पहुँचा सकें, इस आशासे उन्हें अपना कर्तव्य समझकर उनके सम्मुख रख रहा हूँ—

मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न है; इसलिये मेरी कही हुई बातें सबको पसंद नहीं आ सकतीं, यह मैं भलीभाँति जानता हूँ। इसलिये जिन्हें जो पसंद हों, ग्रहण करें; पर मेरा नम्र अनुरोध है कि मेरे करीब पैंतीस वर्षके विद्यार्थी-जीवनके अनुभवोंकी उपेक्षा न कर उन्हें जरा गम्भीरतासे सोचें और समझें।

विद्याकी प्राप्ति ही जिसका लक्ष्य है, उसीका नाम विद्यार्थी है; और विद्या पानेका सबसे पहला सूत्र है—

'विनय'। 'विद्या ददाति विनयम्' के स्थानमें 'विनयो ददाति विद्याम्' भी कह सकते हैं। विनयका अर्थ है नम्रता, गुणों और गुणीजनोंका आदर करना और निरहंकार रहना। जब मनुष्य अपनेको दूसरोंसे अधिक बुद्धिमान्, ज्ञानवान् या शक्ति-सम्पन्न मान लेता है, तब विनय-गुण पनप नहीं पाता; दूसरोंसे जो ज्ञान उसे मिलना चाहिये था या ग्रहण करना चाहिये था, उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आज हमारे जीवनमें इस विनय-गुण, अनुशासन, नम्रता और गुणग्राहकताकी कमी बहुत ही खटक रही है। हम अबतक माता-पिता और घर-कुटुम्बवालोंको या जो भी हमारी तरह स्कूलोंमें विशेष पढ़े-लिखे नहीं हैं, उन्हें मूर्ख, बुद्धू और पुराण-पंथी मान लेते हैं। बहुत बार उनका अनादर भी कर बैठते हैं। अपनेको अधिक ज्ञानवान्, समझदार, बुद्धिमान् और प्रगतिशील मान लेते हैं। पर हमें एक बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि केवल स्कूलोंमें जाने तथा किताबोंको पढ़ लेनेसे ही अपनेको विशेष बुद्धिमान् मान बैठना भूलसे खाली नहीं है। घरेलू कहावत है कि 'पढ़नेसे गुनना बड़ा है' अर्थात् अनुभव-ज्ञान पुस्तकीय ज्ञानसे बहुत उच्च स्तरका होता है। जिन्हें हम अपढ़ मानते हैं, उन्होंने चाहे अक्षरों और अङ्कोंको न सीखा हो, पर जीवनके अनुभवोंसे उन्होंने जो शिक्षा पायी है, उसकी उपेक्षा किसी तरह भी नहीं की जा सकती। उनके कहने और करनेमें अनुभवोंका ठोस आधार है। वृद्ध व्यक्ति चाहे स्वयं विशेष काम न कर सके, पर उसने अपने जीवनमें समय-समयपर जो अच्छे-बुरे अनुभव किये हैं, जिन सुनी और समझी बातोंको प्रयोगमें लाकर या प्रयोग होते देखा है, वे बहुत कामकी हैं; क्योंकि प्रयोगोंके आधारपर ही उसके ज्ञानकी ठोस भूमिका बनी है। अतः अपढ़ समझकर किन्हींका अनादर करना अपनी प्रगतिको रोकना है। हाँ, यह सही है कि वृद्ध लोगोंके अनुभवकी परिस्थितियोंमें काल-भेदसे अन्तर आ गया है। कुछ बातें रूढ़ि और अन्धविश्वासके रूपमें भी उनमें घर किये दिखायी देंगी; पर कुछ बातोंको लेकर ही हम उनको हीन समझ अनादर करें तो उनके अनुभवोंका जो लाभ हमें मिलना चाहिये था, उससे हम वञ्चित रह जायँगे। सभी बातें किन्हींकी मान्य हों, उन व्यक्तियोंमें सभी गुण ही हों—यह भी आवश्यक नहीं। कमियाँ क्या हममें नहीं हैं? प्रत्येक व्यक्तिमें गुण और दोष रहते हैं। हमारी दृष्टि, बुद्धि और वृत्ति तो गुण और अच्छाइयोंको ग्रहण करनेकी ही होनी चाहिये। दोष अपनेमें खोजें और गुण जहाँ कहीं भी मिले, ग्रहण करें।

अनुशासन यानी किसी योग्य व्यक्ति या उसके निर्धारित नियमोंका ठीक ढंगसे पालन करना जीवनको ऊँचा उठानेमें बड़ा सहायक होता है। स्वच्छन्द व्यक्तिकी जीवन-नौका डगमगाती रहती है। मनकी स्थिति सब समय एक समान नहीं रहती और बुद्धि भी समय-समयपर उचित और अनुचित निर्णय कर बैठती है। इसीलिये उसीके भरोसे—'मैं कर रहा हूँ वही ठीक है, सोच-समझकर ठीक ही तो करता हूँ; मुझे कहनेवाला कौन है, मेरे सामने वह जानता ही क्या है?' इत्यादि कहना और मनमानी करना खतरेको मोल लेना है। क्योंकि अभी उसकी बुद्धि और ज्ञान अनुभवोंके थपेड़े खाकर परिपक्व नहीं हुआ है, इसलिये उसे कदाग्रही न बनाकर सदा अपनेसे विशेष अनुभवी व्यक्तियोंकी सलाहसे, मार्ग-प्रदर्शनसे लाभ उठाना चाहिये। आखिर हम जिन गुरु, माता-पिता या गुरुजनको विशेष अनुभवी समझते हैं, उनका कहा मानना, उनकी हित-शिक्षाको अपनाना, उनके विधि-निषेधपर विचार करना हमारे लिये हितकर मार्ग है। उच्छृङ्खलता जीवनको पतनोन्मुख करती है। गुरुजनोंका प्रदर्शित मार्ग और हित-शिक्षा उत्थानका पथ है।

दूसरी जरूरी बात व्यसनों और कुसङ्गतिसे बचना है। हमलोगोंकी यह सहज प्रवृत्ति है कि बुरी बातोंका अनुकरण और अनुसरण बहुत जल्दी कर बैठते हैं। कुसङ्गति अनेकों खराबियोंकी जड़ है। बुरे व्यसन भी इसीके कारण हममें घर कर लेते हैं। एक लड़का बीड़ी या सिगरेट पीता है तो वह अपने सहपाठियोंको भी उसका चस्का लगानेका प्रयत्न करता है। स्वयं सिनेमा जाता है तो साथियोंको भी प्रेरणा देकर साथ ले जाता है। अश्लील और गंदे गायनों और अन्य कुत्सित भाव-भङ्गियोंमें वह रस उत्पन्न कर देता है। बस, थोड़े ही समय बाद हम भी बीड़ी और सिगरेट, सिनेमा और होटलोंमें पैसे बरबाद कर दुर्व्यसनोंमें फँस जाते हैं, फैशनोंके गुलाम बन जाते हैं और अपनेको पतनके गर्तमें गिरते देखकर भी उसमें उन्नति तथा गौरवका मिथ्या अनुभव करने लगते हैं। घरकी आर्थिक स्थितिको भी भूल जाते हैं। कितनी कठिनाईसे हमारे

माता-पिता या कुटुम्बीजन हमें पढ़ाते हैं और हमपर कितनी आशाएँ लगाये बैठे रहते हैं कि जब यह पढ़-लिख जायगा, तब अच्छी कमाई करके हमको सुखी बनायेगा, अच्छे काम करके वंशको दिपायेगा। पर उनकी सारी आशाएँ हमारे इन कारनामोंसे धूलमें मिल जाती हैं, उनके सुखमय स्वप्न ढह जाते हैं। स्वयं कष्ट उठाकर, लड़केकी पढ़ाई-लिखाईमें तंगी भुगतकर, कर्जा लेकर, सम्पत्ति बेचकर जो फलकी आशा की जाती है, यदि हम उसके विपरीत सिद्ध हुए, हमारे फैशनों और फिजूलखर्चों, दुर्व्यसनोंसे वे ऊब गये, तो कहिये हमारी वह शिक्षा किस कामकी ?

विद्यार्थीका जीवन शक्ति-संचय और वृद्धिका जीवन है, शक्तिको बिखेरने और बरबाद करनेका नहीं। ब्रह्मचर्यका यही संदेश है कि सब बातोंको भूलकर ब्रह्म, आत्मा या अपने ध्येयमें तन्मय हो जाओ। दुर्व्यसनों और कुसंगतियोंसे शक्ति बिखर जाती है, उसका अपव्यय होता है। बीड़ी, सिगरेट, चाय, होटल, सिनेमा, गंदी और फालतू पुस्तकोंका पढ़ना, आवारोंकी तरह इधर-उधर घूमते रहना, कुचक्रोंमें अगुआ बनना आदि प्रवृत्तियोंमें जब शक्ति बिखरती है, तब विद्याध्ययनमें वह रस नहीं रहता, ध्यान और प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिये इनका निषेध केवल आर्थिक दृष्टिसे नहीं, पर गम्भीर और उच्चस्तरकी ज्ञानप्राप्तिमें इनके महान् बाधक होनेके कारण भी है। हमारी आजकी शिक्षा-प्रणालीमें अनेक दोष हैं। एक तो विषयों और पुस्तकोंका बोझा बहुत अधिक है और परीक्षा पास करना ही आजके विद्यार्थीका लक्ष्य है; अतः किसी विषय, भाषाका ठोस और गम्भीर ज्ञान होना कठिन हो जाता है। कुंजियोंके सहारे या तिकड़मबाजीसे परीक्षाएँ पास भी कर लीं, तो भी वह रहेगा तो छिछला ही। फिर यदि ध्यान पढ़नेमें पूरा न रहकर अन्य प्रवृत्तियोंमें बिखर गया तो पल्ले ही क्या पड़ेगा ? गम्भीरतासे सोचिये। इस समयके जीवनका प्रभाव सारे जीवनपर, घर, समाज, देश और राष्ट्रपर पड़नेवाला है। केवल एक व्यक्तितक सीमित न रहकर जिन बातोंका इतना गहरा प्रभाव पड़ता हो, उनके प्रति ध्यान देना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। आज जो विद्यार्थी फैशन, दुर्व्यसन और कुसंगतियोंमें पड़ गया, उसकी आदतें दृढ़ हो जानेपर वह तो जीवनभर उनका फल भोगेगा ही, पर साथ ही अपने जीवनकी प्रेरणासे दूसरेको भी ले डूबेगा। एक-दूसरेका अनुकरण बढ़ते-बढ़ते वह संक्रामक रोग या विषाक्त हवा देश और राष्ट्रतक व्याप्त हो जायगी। आपने कभी सोचा है कि केवल बीड़ी-सिगरेट-जैसे छोटे-से और मामूली दुर्व्यसनसे राष्ट्रके कितने अरब रुपये बरबाद होते हैं और परिणाम तिलभर भी अच्छा न होकर शारीरिक स्वास्थ्य आदिकी दृष्टिसे भी सर्वथा खराब ही होता है। ऐसे केवल घाटेके सौदेको हमारे विद्यार्थी कभी न अपनायें। यदि कोई साथी किसी दुर्व्यसनमें फँस गया है तो अपना कर्तव्य समझें कि उसे हर तरह बचाया जाय और बुरी बातोंसे दूर किया जाय।

सिनेमाको मनोविनोदका एक साधन मानकर प्रायः सभी विद्यार्थी न्यूनाधिकरूपमें देखने जाते हैं। कुछ अच्छे शिक्षाप्रद फिल्म भी होंगे; पर उनसे उन्होंने कितना लाभ उठाया और गंदे तथा अश्लील फिल्मों और उनके गायनोंने उनके जीवनमें कितनी हलचल पैदा कर दी, कितनी बुरी-से-बुरी बातोंकी ओर प्रेरणा दी—इन बातोंको तौला जाय तो इसके दोष स्वयं सामने आ जायँगे। पैसेकी बरबादी तो है ही। बहुत-से विद्यार्थी, जिन्हें घरवाले पैसा नहीं देते या देनेकी सामर्थ्य नहीं रखते, चोरी करना सीख जाते हैं, कर्ज लेना शुरू कर देते हैं। पहले एक-दो बार किसी साथीने मुफ्त दिखा दिया तो क्या हुआ, फिर तो चस्का लगनेपर छूटता नहीं। जब भी समय मिला, साथी मिले, पुस्तकों और शिक्षासम्बन्धी प्रश्नों-की जगह यही चर्चा छिड़ती है कि 'आज कहाँ और कौन-से सिनेमाघरमें कौन-सी फिल्म दिखायी जा रही है। एक कहेगा, मैंने अमुक फिल्म देखी, बहुत बढ़िया थी, तो दूसरा कहेगा कि 'अमुक फिल्मने तो कमाल कर दिया, गजब ढहा दिया। अरे यार ! तुमने देखी या नहीं ? जरूर देखना, बड़ा मजा आयगा। अरे, तुम भी कैसे बुद्धू हो कि अभीतक पुस्तकों तथा घरके पचड़ेमें ही पड़े हो। दुनियाकी सैर करो, हवा खाओ। क्या बढ़िया गाने, कितना सुन्दर नाच और अमुक अभिनेत्रीका कैसा रूप और हावभाव ? किस ढंगसे अङ्गोंका संचालन करती, मुसकराती, आँखें मटकाती है कि बरबस उसीकी ओर ध्यान खिंच जाता है। उसका प्रेमका गाना तो बहुत ही शानदार और निराला था, उसका दृश्य अभी भी आँखोंके सामने नाच रहा है। भुलाना चाहनेपर भी नहीं भुला सकता।' तो सुननेवाला कहता है—'क्या करें यार ! पैसा नहीं और घरवाले जाने देते नहीं।' तो उत्तर मिलेगा—'चलो, आज मेरे साथ चलो, घरवाले तो यों ही बकझक करते रहेंगे।' इस तरह कितना बुरा असर उस स्वच्छ और पवित्र जीवनपर पड़ता है। चरित्रकी कमजोरियों

और नैतिक पतनका यह एक मुख्य साधन बन गया है। देशकी बरबादीका कारण तो है ही। गाँव-गाँवमें यह रोग फैल गया है। श्रमजीवियोंके गाढ़े श्रमका पैसा खुले हाथ लूटा जा रहा है। इधर बेकारी और उधर यह ख्वारी। विद्यार्थियोंको तो इससे सदा ही दूर रहना चाहिये; क्योंकि इससे उनका मन बहक जाता है, फैशनका भूत उनपर सवार होता है। चटक-मटक और भड़कीले गाने सात्त्विकता और ब्रह्मचर्यमें आग लगा देते हैं। इधर रातका जागना और बिजलीकी चकाचौंध उनकी आँखों और स्वास्थ्यपर बुरा असर डालती है। उधर जीवनमें अनियमितता तथा पढ़ाई-लिखाईमें शिथिलता आ जाती है। स्कूलके समयके अतिरिक्त सुबह और शाम ही घरपर कुछ पढ़ाई हो सकती है और सिनेमाका शौक इन दोनों समयोंको नष्ट कर देता है। शाम होते ही सिनेमा पहुँचते हैं और बहुत देरतक जगने और देरसे सोनेके कारण प्रातःकाल समयपर उठ नहीं पाते। इधर उसके दृश्य मनमें हलचल पैदा करते रहते हैं, इसलिये स्थिर चित्तसे जितना समय विद्याध्ययनमें देना आवश्यक है, नहीं दिया जाता। इस प्रकार हर दृष्टिसे इस दुर्व्यसनसे हानि-ही-हानि है। लाभ क्या तथा कितना है, स्वयं सोच लें। यही बात होटलोंमें जाकर चाय, अंडे आदि बुरी चीजोंके खानेका चस्का लगाने और पैसा बरबाद करनेके सम्बन्धमें है। वहाँका वातावरण भी हानिकारक ही है।

लंबे कालसे एक गलत धारणाने हममें घर कर लिया है कि शारीरिक श्रमकी अपेक्षा बौद्धिक आजीविका अधिक महत्त्वकी और उच्चस्तरकी है। इसलिये श्रमकी ओरसे हमने मुँह मोड़-सा रखा है और श्रम करनेवालोंको अपनेसे हीन मानने लगे हैं। हमारे विद्यालयोंमें औद्योगिक शिक्षा नहीं दी जाती, केवल ऑफिस आदिमें काम करने योग्य शिक्षा ही दी जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि आजके अधिकांश विद्यार्थियोंका भविष्य संशय और खतरेमें है। पढ़ाई छूटनेके बाद उन्हें नौकरीके सिवा कोई रास्ता दिखायी नहीं देता और सरकारी नौकरियाँ सीमित व्यक्तियोंको ही मिल सकती हैं। अतः बहुत-से सुशिक्षित व्यक्ति आजीविकाका प्रश्न स्वयं हल नहीं कर पाते। बेकार ऑफिसोंमें चक्कर काटते रहते हैं। Wants की ओर मुँह बाये वे ध्यान लगाये रहते हैं। यह स्थिति हमारे लिये बहुत ही शोचनीय है। उत्पादनका प्रधान स्रोत श्रम और उद्योग है। उसके सम्बन्धमें कोरे रह जानेसे और श्रमके प्रति हीन भावनाके कारण हम स्वावलम्बी नहीं बन सकते। सरकारसे शिक्षामें क्रान्ति लानेका निवेदन करना ही चाहिये, साथ ही विद्यार्थियोंको भी श्रम और सेवाके प्रति अधिक लक्ष्य देना चाहिये। आजकी स्थिति यह है कि श्रमजीवियोंके लड़के जब पढ़-लिखकर तैयार होते हैं, तब अपने पुश्तैनी पेशेसे हटकर अच्छा काम समझकर ऑफिसोंमें बाबू कहलानेमें ही अपना गौरव समझते हैं। एक दर्जीका लड़का यदि अपने घरका पेशा न सीखा तो उसके जरियेसे जो बनी-बनायी आमदनी जमे-जमाये कामद्वारा होनेवाली थी, एक तरह तो उससे हाथ धो बैठा और फिर अपने तथा परिवार-के लोगोंके कपड़े सिलानेमें मुँहमाँगा दाम दूसरोंको देकर, खर्च बढ़ाकर आफत मोल ली। यही हाल अन्य पेशेवालों और व्यापारियोंका हो रहा है। घरके चालू और जमे-जमाये कमाईके साधनोंमें लड़के भाग नहीं लेते, अतः घरवालोंको सहायता नहीं मिलती। उन्हें अपने कामोंके लिये दूसरे आदमीको नौकर रखना पड़ता है और उनके शिक्षित लड़के बेकार रहकर उनके लिये भारस्वरूप बन जाते हैं। उन पढ़े-लिखोंका बढ़ा हुआ खर्च वे सहन नहीं कर पाते। वास्तवमें चाहिये तो यह था कि शिक्षित होकर अपनी बुद्धिमानीसे अपने घरके काम-धंधोंमें उचित सुधार कर उसे अधिक अच्छे रूपमें चलाते हुए कमाईमें वृद्धि करते। शिक्षाका अर्थ केवल पुस्तकोंको पढ़ लेना नहीं, पुस्तकें तो साधनमात्र हैं। उसका वास्तविक उद्देश्य तो है बौद्धिक विकास। शिक्षित व्यक्तिकी बुद्धिका विकास इतने अच्छे रूपमें होना चाहिये कि वह जिस काममें हाथ डाले, उसे अपनी बुद्धिके द्वारा नया रूप दे दे। जो खराबियाँ तथा कमियाँ हों, उन्हें मिटाकर कम समयमें अच्छे रूपमें वह काम विशेष उपयोगी और अधिक लाभप्रद बना दिया जाय।

आजके विद्यालयोंमें शिक्षा कम होती है, छुट्टियाँ अधिक और उधर विद्यार्थी बात-बातमें छुट्टियोंकी अभिवृद्धि कराने-का प्रयत्न करते रहते हैं। मेरी रायमें इससे वे स्वयं अपना अहित कर रहे हैं। इससे जो अध्ययन ५-६ वर्षमें पूरा हो सकता है, उसके लिये दस वर्ष लग जाते हैं। इस तरह उनकी आयुके महत्त्वपूर्ण चार वर्ष बरबाद ही तो हुए। मेरी अपनी शिक्षाके समय महीनेमें केवल दो और कुछ पर्वों-की ही छुट्टियाँ होती थीं और पढ़ाईका स्तर इतना अच्छा था कि उस समयकी पाँचवीं कक्षाकी शिक्षा आजकी सात-आठ-वींसे भी अच्छी और ऊँची ही पड़ती थी। अब भी मेरे यहाँ अंग्रेजी आदिकी पाँचवीं कक्षाकी पुस्तकें पड़ी हैं, जो आज-

के सातवीं-आठवींवालोंको भी भारी लगती हैं। यही बात योग्यता-के सम्बन्धमें है। हमारे अध्यापक आठवीं-दसवीं कक्षातक पढ़े होते थे। उनकी योग्यता आजके बी० ए०तक पढ़े लोगकीतुलनामें कम तो नहीं थी, अधिक ही रही होगी और वे इतने अच्छे ढंग-से पढ़ाते थे कि ट्यूशनकी कभी भी किसीको आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आजकी स्थिति आपके सामने है। पढ़ाईका खर्च तो पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है, समय भी अधिक लगता है। पर योग्यताका विकास बहुत ही कम हो पाता है। बारह महीनोंमें ६ महीनोंसे अधिक छुट्टियोंमें ही चले जाते हैं और उन छुट्टियोंका उपयोग हम क्या तथा कैसा करते हैं, यह सभी जानते हैं। इसपर जो आज अमुक साहब स्कूलमें आये, इसलिये छुट्टी, आज लड़कोंकी चाय-पार्टी हुई, आज हमारी टीम जीत गयी, आज बाहर जा रही है, इस तरहकी कभी कोई, कभी राजनैतिक दूसरी जगहकी घटनाको लेकर छुट्टियाँ करवाकर हम खुशी मनाते हैं, यह सर्वथा बेसमझी है। चाहिये तो यह था कि हम व्यर्थकी छुट्टियोंको कम करवानेका आन्दोलन कर अपने समय और जीवनकी बरबादीको रोकते। जिस पढ़ाईमें दस वर्ष लगते हैं, उसे पाँच या सात वर्षोंमें पूरा करनेका प्रयत्न करते, जिससे बचे हुए समयमें अन्य किसी प्रकारका ज्ञानोपार्जन करते, आजीविकाका प्रश्न हलकर अपने घरवालोंको सुखी बनाते। पढ़ाईमें पाठ्यक्रमका अनावश्यक बोझ, जो अत्यधिक बढ़ गया है उसे कम करवाया जाय। जिन विषयोंकी हमें जीवनमें आवश्यकता नहीं पड़ती, उनके लिये व्यर्थ श्रम तथा समय न देकर, जिन विषयोंकी शिक्षाके बिना हम आजीविका-का प्रश्न हल नहीं कर पाते और जीवन-निर्माणमें जिन विषयोंका बड़ा भारी महत्त्व है, उन औद्योगिक तथा धार्मिक शिक्षादि विषयोंको अनिवार्य करवा दिया जाय। अपने हितकी बातें हमें गम्भीरतासे सोचनी चाहिये। अपनी संगठन-शक्तिका उपयोग, हो-हल्ले और फालतू कामोंमें न करके ऐसे जीवनोप-योगी, परमावश्यक, एकान्त हितावह कार्योंमें ही किया जाय।

अपनी छुट्टियोंका उपयोग हमें किस प्रकार करना चाहिये, यह भी बहुत विचारणीय और आवश्यक समस्या है। मेरा सुझाव है कि परीक्षासे पहलेकी छुट्टियोंमें तो परीक्षा-की तैयारीमें खूब श्रम किया जाय और परीक्षा होनेके बाद गरमी आदिकी जो लंबी छुट्टियाँ पड़ती हैं, उनका उपयोग ज्ञानके प्रसारमें किया जाय। अपने घर, कुटुम्ब, मुहल्ले तथा गाँवमें जो बहुत-से भाई-बहन अपठित हैं, उन प्रौढ़ों और श्रमजीवियों आदिको अक्षरज्ञान कराकर अच्छे ग्रन्थोंको पढ़ने और आवश्यक बातोंको समझनेकी योग्यताका उनमें विकास किया जाय। आज करोड़ों विद्यार्थी स्कूलों तथा कॉलिजोंमें शिक्षा पा रहे हैं। यदि वे इन राष्ट्रोपयोगी कार्योंमें भाग लें, एक-एक विद्यार्थी कम-से-कम एक अशिक्षित-को शिक्षित बना दें, जो कोई कठिन काम नहीं है और जिसके द्वारा अपनी योग्यताका विकास भी होता है, तो देशके करोड़ों रुपये सहजमेंही बच सकते हैं। लंबी छुट्टियोंका उपयोग शिक्षा-प्रसारके कार्यमें किया जाय तो देशकी बहुत जल्दी उन्नति हो सकती है। साधारण छुट्टियोंका उपयोग हम अच्छे ग्रन्थोंके अध्ययनद्वारा अपने ज्ञानके विकासमें कर सकते हैं। विद्यालयोंमें तो सीमित विषयोंका ही ज्ञान मिल सकता है, जब कि ज्ञानका क्षेत्र बहुत ही विशाल है। इसलिये अपने बचे हुए समयको अन्य उपयोगी बातें जाननेमें लगाना उचित होगा। सम्भव हो तो उत्पादन-श्रम भी किया जाय।

विद्यार्थी-जीवन संयमपूर्ण, सादगीपूर्ण, साधनामय और सेवामय होना चाहिये। हम अपने जितने काम स्वयं कर सकें, उनका भार और खर्च दूसरोंपर न डालें। उदाहरणार्थ स्वच्छ रहनेके लिये कपड़े जब अपने हाथसे धो सकते हैं, तब दूसरे घर-वालों या धोबीसे धुलवानेकी बुरी आदत क्यों डाली जाय। सम्भव हो तो घरके कामोंमें भी मदद करें। इससे जीवनोपयोगी अनेक बातोंकी शिक्षा तथा अभ्यास सहजमें होकर भावी जीवनमें बड़ा लाभ हो। अपने विद्यार्थी बन्धुओंकी हम मामूली बातोंके द्वारा कितनी सेवा कर सकते हैं, इसका एक दृष्टान्त दूँ। जो विद्यार्थी कमजोर है, उसे हम पढ़ाईमें थोड़ी मदद दें तो उसका ट्यूशन-खर्च बचाकर उसे परीक्षा पास करने योग्य बना सकते हैं। इसी तरह परीक्षा पास कर लेनेके बाद हमारी पाठ्य पुस्तकें जो यों ही बेकार पड़ी रहती हैं या नष्ट होती हैं, उन सबको उस कक्षामें आनेवाले गरीब विद्यार्थियोंको दे दें तो इससे उनकी कितनी परेशानी कम हो जायगी। अनेकों विद्यालयोंमें छात्रोंका अपना संगठन है। उसमें वे ऐसा नियम बना लें कि परीक्षा पास कर लेनेके बाद सभी छात्र अपनी पाठ्य-पुस्तकें वहाँके स्टोरमें जमा करा दें और फिर वे कमजोर स्थितिके, उसी पाठ्यक्रमको पढ़नेवाले विद्यार्थियों-को दे दी जायँ। इस तरह हम अपनी अनावश्यक पुस्तकों-का प्रयोग दूसरोंके हितके लिये करने लगें तो कितना अच्छा हो। इस प्रकार हमारे हजारों-लाखों रुपयोंका खर्च सहज ही बच सकता है। वैसे घरमें पड़ी हुई पुस्तकें यों ही नष्ट हो

जाती हैं। उनका ऐसा अच्छा उपयोग करनेकी ओर हम शीघ्र ही ध्यान दें।

आज हममेंसे अधिकांश व्यक्ति लेखक और कवि बननेका स्वप्न देखते हैं और यह शुभ लक्षण ही है। पर इसके लिये जो तैयारी करनी चाहिये, वह हम नहीं करते और थोड़ा कुछ लिखकर, किसी तरह पत्रोंमें प्रकाशित कराके अपनेको लेखक और कवि मान बैठते हैं। यह हमारे विकासमें बाधक है। ठीक है, कुछ व्यक्तियोंमें प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा भी होती है, पर अधिकांश व्यक्तियोंको तो कठिन श्रम करके ही अपनी शक्तिका विकास करना पड़ता है। इसलिये लेखक और कवि बननेसे पूर्व विशाल और गम्भीर अध्ययन करनेमें लग जाना चाहिये। उस ठोस ज्ञानके आधारपर हम जो कुछ लिखेंगे, वह छिछले ज्ञानवाले और उतावले लेखक और कवियोंकी तुलनामें उच्चस्तरका ही होगा। इसलिये लेखक और कवि बननेकी उतावली न करके उसके लिये आवश्यक योग्यताका विकास करनेमें ही दत्तचित्त होना चाहिये। कई विद्यार्थियोंमें तो दूसरोंके लेखों, ग्रन्थों तथा कविताओंसे इधर-उधरसे सामग्री लेकर या चुराकर नाम कमानेकी प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह तो सर्वथा त्याज्य है। हम काम करनेका ही लक्ष्य रखें, नाम कमानेका नहीं। अच्छा तथा ठोस काम करनेसे नाम तो स्वयं हो जायगा, यह मेरा परिपक्व अनुभव है। हाँ, आप अपने विचारों तथा भावोंको लिखिये; और अपने अध्यापकों आदिको दिखाकर उनसे सुझाव लीजिये, पर छपानेकी उतावलीमें पड़कर कच्ची बातोंको पक्की न मान बैठिये।

पढ़ाई समाप्त होते ही हम समझ लेते हैं कि अपना काम पूरा हो गया। हमने परीक्षा पास कर ली, मानो अब तो बहुत बड़ा गढ़ जीत लिया। अतः पढ़ाई छोड़नेके बाद ज्ञानको बढ़ानेका कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इससे पढ़ी हुई विद्या विस्मृत हो जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। हम पढ़ाईका उद्देश्य परीक्षा पास करनेतक ही सीमित न रखें और जीवनभर ज्ञानवृद्धिके लिये सजग विद्यार्थी बने रहें।

वक्तृत्व-कलाका महत्त्व आजके युगमें बहुत बढ़ गया है। इसलिये विद्यार्थी-जीवनमें हमें अपनी वक्तृत्व-शक्तिका ठीकसे विकास करनेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये। एक अच्छा वक्ता यदि अपने विषयको श्रोता और जनताके हृदयतक ठीकसे पहुँचा सके, उन्हें आन्दोलित कर सके, तो उसकी पूछ और प्रभाव बहुत बढ़ जायगा। स्वपक्ष-प्रदर्शन और जन-हृदयका परिवर्तन करनेवाले वक्ताओंकी बड़ी ही आवश्यकता है! जनता झुकनेको तैयार है, झुकानेवाला चाहिये और वह झुकानेकी शक्ति वक्तृत्व-कला एवं सच्चरित्रतापर ही आधारित है।

मन, वचन और शरीर—इन तीनोंकी स्वस्थता और शक्तिसम्पन्नताकी बड़ी आवश्यकता है। अपने मनको पवित्र एवं दृढ़ बनानेकी ओर हमारा सारा ध्यान रहना चाहिये। ईश्वर-भक्ति, महापुरुषों एवं गुरुजनोंकी सेवा, धार्मिक सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और सदाचारका पालन उच्च तथा आदर्श जीवनके लिये बहुत ही आवश्यक है। हमारा वचन-व्यवहार बहुत नपा-तुला हो, अनावश्यक गप्पबाजी और बकवाससे हम दूर रहें। गाली-गलौज और असभ्य शब्दोंका उच्चारण तो हमारे मुखसे होना ही नहीं चाहिये। शिष्टाचार और सच्चरित्रताका हम पूरा ध्यान रखें। आजकल कुछ विद्यार्थी अपने साथ पढ़नेवाली बहिनोंके साथ जिस तरहका अशिष्ट व्यवहार करते हैं, वह बहुत ही लज्जाजनक है। अपनी बहिनोंको घूर-घूरकर देखना, अशिष्टता एवं छेड़खानी करना, उनका पीछा करना आजकी विद्यार्थी-जीवनकी बहुत बड़ी कमजोरी है। थोड़े वर्ष पहलेकी और अब भी बहुत-से अशिक्षित ग्रामीण व्यक्तियोंकी आदर्श भावना हमारे भारतीय जीवनका उज्ज्वल पृष्ठ है। हमारे पूर्वज अपने कुटुम्ब या जातिकी ही नहीं, गाँवकी बहिन-बेटीको भी सदा पवित्र भावनासे अपनी माँ, बहिन, बेटी मानकर व्यवहार करते रहे हैं; तब हम उनके सपूत अपनी उन विद्यार्थी बहिनोंके साथ इस तरहका अनुचित व्यवहार करें, यह बहुत ही अशोभनीय है, असहनीय है। विद्यार्थी-जीवनके आदर्श—ब्रह्मचर्यके लिये तो यह सर्वथा विपरीत एवं घातक है। हमें दृढ़-संकल्प और हित तथा मितभाषी होना चाहिये। साथ ही शारीरिक शक्तिके विकासके लिये भी हमें उचित श्रम और स्वास्थ्यके आवश्यक नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। इस समयका बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य तथा बुरी आदतें सारे जीवनको ले डूबेंगी। अतः सँभल-सोचकर कदम उठाना चाहिये।

जिस प्रकार दुष्ट संगतिसे मनुष्यका पतन होता है, उसी प्रकार सत्-संगतिसे उत्थान होता है। हमें अपने हितैषी गुणीजनोंका सम्पर्क निरन्तर और सुदृढ़ बनानेका प्रयत्न

करना चाहिये। हर व्यक्तिके जीवनमें आपदाएँ, विपदाएँ, अच्छाइयाँ, बुराइयाँ आती हैं। हमारे लिये उस समय सत्पथ-प्रदर्शक और हितैषी सहायकका सहयोग बहुत ही आवश्यक होता है, अन्यथा जीवन-नौका डगमगा जाती है। सुदृढ़ और अच्छे सहारेके बिना हम लड़खड़ा जाते हैं। हमारी उलझी हुई समस्याओंको जो सुलझा सके, हिताहितका ज्ञान करा सके, कुमार्गपर जाते हुएको हटा सके, बुरी आदतोंको छुड़ा सके, कष्टमें सान्त्वना, सहयोग और सहारा दे सके, ऐसे अनुभवी पुरुषका सत्सङ्ग हमें अवश्य करना चाहिये। गुणी व्यक्ति चाहे किसी जाति, सम्प्रदाय, आयु तथा अवस्थाका हो, हमें उसका आदर करते हुए गुण-ग्रहण और सेवाद्वारा लाभ उठाना चाहिये।

आज जो धर्मके प्रति हममें अश्रद्धा बढ़ रही है, यह भी एक विचारणीय समस्या है। धर्म जीवनके उत्थानका सही मार्ग है। इसमें जो रूढ़ियाँ तथा खराबियाँ आ गयी हैं, उन्हें हम न अपनायें, पर धर्मको कभी भी हीन न समझें। सदा श्रद्धाके साथ जीवनमें उसे धारण करते रहें। बस, आज तो इतना ही, अन्य बातें फिर कभी।

संघर्षमें सहिष्णुता

[गांधी-विचारधारापर आधारित विवेचन]

(लेखक—श्रीभगवानदासजी झा, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

मानव-जीवन वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी। हम अपने निजी अस्तित्वपर विश्वास करते हैं; पर साथ ही हमारा यह भी कर्तव्य है कि सारा समाज जीवित रहे। हम अपनेको अकेले बनाये रखकर क्या करेंगे? पर जब वैयक्तिकता उचित सीमासे अधिक बढ़ जाती है, तब हमारे मनमें संघर्ष उत्पन्न होता है। यही संघर्ष भौतिक रूपमें प्रकट होकर द्वन्द्व या संग्रामका रूप ग्रहण कर लेता है। हम सुनते हैं कि अमुक-अमुक देशोंमें संघर्ष छिड़ गया है, दो व्यक्तियोंमें संघर्ष हो गया या अमुक स्थलपर संघर्षका वातावरण सृष्टि हो गया। तो संघर्ष है क्या? संघर्ष विचारों, भावनाओं, परिस्थितियों, परम्पराओं, जीवनके शाश्वत सिद्धान्तों आदिके प्रति असहमति है, जिसका मूल उद्भव वैयक्तिकताका अथवा 'अहं' का आधिक्य है। मानव-मनमें विचार उठते हैं, भावनाएँ जगती हैं, उसके सामने जीवनकी परिस्थितियाँ आती हैं, वह विशिष्ट परम्पराओंमें रहता है और उसके पास पूर्वजोंकी अक्षय निधिके रूपमें जीवनके शाश्वत सिद्धान्त हैं। पर क्या इनके प्रति सहिष्णुता प्रकट की जाय या अपने आत्मगौरवके प्रदर्शनार्थ असहमति? सहिष्णुता विनम्रताकी प्रतीक है, सुन्दर शिष्टताकी जननी है; पर असहिष्णुता उग्रताकी प्रतीक बनकर असत्य और हिंसा-की परिपोषक है। जीवन सौन्दर्यके लिये है, गंदगीके लिये नहीं। मानव संघर्ष करनेके लिये इसलिये तैयार हो जाता है कि संसार यह देखे कि वह कितना वीर है। एक व्यक्तिने हमें गालियाँ दीं, हमें मारा, हमारा अहित किया। क्यों? यह दिखानेके लिये कि उसमें यह सब करनेकी सामर्थ्य थी। उसका मन संघर्ष करके हँस उठता है। उसकी आत्मगौरवकी वृत्ति तुष्ट हो जाती है और उसके भीतरके सवेग हर्षकी उसे प्राप्ति होती है। संघर्षकी विजय संघर्षकर्ताका लक्ष्य है। इसके प्राप्त होते ही उसकी महती मनोकामना पूर्ण हो जाती है। वह सोचता है कि यदि चुप होकर शान्त हो जाते और प्रतिशोध न लेते या उठाकर पछाड़ न देते तो फिर हमारी क्या रहती। दुनियाके सामने हम मुँह दिखानेयोग्य भी न रहते। बस, यही द्वन्द्वात्मक स्थिति है, जो विक्षिप्त स्थितिकी प्रतीक है। अतएव संघर्ष करना पागलपन है। संघर्षके प्रति सहिष्णुभाव प्रकट करना ही महानता है। मारनेवालेको भी क्षमा कर देना और उसे

अपनी वृत्तियोंके सुधारनेका अवसर देना महानता है। संघर्षमें बहुधा आत्मसंयम खो जानेकी पूरी सम्भावना रहती है। संयम-विहीन होनेसे क्रोध उत्पन्न होगा और क्रोधसे विवेकहीनता प्रकट होगी। विवेकहीनता अज्ञानताको जन्म देगी और अज्ञानता समस्त दुःखोंका मूल है। अतएव आत्मसंयम ही आत्मशासनकी कुंजी है। संघर्षमें भी सभ्यता बनाये रखना अहिंसा है। संघर्षके लिये उतारू होनेपर भी उस व्यक्तिके प्रति शिष्टता दिखाना दूसरे व्यक्तिका धर्म होना चाहिये। असभ्यताकी विजय कोई विजय नहीं। मारना सरल है, पर शिष्टताका व्यवहार करना नीच व्यक्तिके बूतेकी बात नहीं। सोचिये, आप नीच कहलाना चाहते हैं या शिष्ट और सभ्य? 'अहं'का प्रदर्शन क्यों? केवल आत्मतुष्टिके लिये। पर इस आत्मतुष्टिकी कालावधि कितनी! किसीको डाँटकर हर्ष और अपने पदके गौरवका अनुभव कीजिये। फिर देखिये कि वह हर्ष कितनी देर रहता है। कदाचित् वह जलके बुलबुलेकी भाँति ही समाप्त हो जायगा और रह जायगा केवल संताप और मनकी मलिनता। दूसरोंके विचारों और भावनाओंका सतत विरोध करना आजके मानवका मूलभूत संघर्ष है। विवादमें लड़ पड़ना हमारे मनकी संकुचित वृत्तियों और अस्वस्थ असहिष्णुताका परिचायक है। गांधीजीने एक स्थलपर कहा है—'यह समझ लेना अच्छी आदत नहीं कि दूसरेके विचार गलत हैं और सिर्फ हमारे ही ठीक हैं तथा जो हमारे विचारोंके अनुसार नहीं चलते, वे देशके दुश्मन हैं। कितनी संकीर्णता है ऐसा समझनेमें। यह तो राजनीतिका वह पहलू हुआ, जिसमें सभी दल अपनी-अपनी हाँकते हैं और समाजमें अराजकता और अनैतिकता फैलाते हैं। अपनेको अच्छा घोषित करना बड़ा सरल है, पर वैसा बनाना उतना सरल नहीं। नम्र बनकर समझौतेकी वृत्ति अपनाना उत्तम है। नम्रताका अर्थ है 'अहंभाव' का आत्यन्तिक क्षय।"

संघर्ष करनेवालोंको यह प्रतीति होती है कि लड़कर ही विजय प्राप्त हो सकती है। भौतिक विजय अस्थायी है। सच्ची विजय हृदयकी विजय है। प्रेमसे जो विजय प्राप्त होगी, वह स्थायी, सुदृढ़ और कामकी होगी। आखिर विजय प्राप्त करनेकी लालसा क्यों? क्या आप स्वयंमें लीन रहकर अपना कल्याण नहीं कर सकते? सोचिये, एक मनुष्य है। वह आगे बढ़ना चाहता है, पर दूसरेका अहित करते हुए। सच्ची बात तो यह है कि कोई किसीका हित-अहित नहीं कर सकता। सब उसके प्रारब्धसे होता है। आप 'निमित्त' अवश्य बन जाते हैं। पर जब केवल निमित्त बननेका ही प्रश्न है, तब अच्छेमें निमित्त क्यों न बना जाय! उससे अपनी आत्माको सच्चा संतोष प्राप्त होगा। करके देखिये। शत्रुतामें वह आनन्द कहाँ, जो प्रेम, सहयोग और सौहार्दमें है? दूसरोंके मनमें अपना विश्वास पैदा करनेका प्रयत्न करें। उससे आप कुछ गवाँयेंगे नहीं। यदि परिस्थितिवश असहयोग भी करना पड़े तो उसमें भी प्रेमभाव रखें। अर्थात् धर्मयुद्ध करें। 'जिस असहयोगमें प्रेम नहीं, वह राक्षसी है और जिसमें प्रेम है, वह ईश्वरीय है।' दूसरोंपर संदेह क्यों किया जाय? 'संदेह करनेवालेका कहीं ठिकाना नहीं।' उसका नाश निश्चित है; क्योंकि आँखें होते हुए भी उसे अपना मार्ग नहीं दिखायी देता। वह न तो अपने स्वरूपको पहचानता है और न दूसरोंके। वह अंधा है तनसे भी और मनसे भी। संदेह 'अहं'से उत्पन्न होता है। अतएव अपनेको केवल एक रजकण मानो। ईश्वर ऐसे व्यक्तिकी ही सहायता करता है। लोग ईश्वरको न मानकर केवल अपने पुरुषार्थको ही सब कुछ समझते हैं। हमारे एक मित्रने एक बार ईश्वरको गालियाँ देकर पानी बरसा लिया। वे बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे कि 'यदि ईश्वर होता तो गाली सुनकर भी पानी बरसाता?' निवेदन किया गया कि ईश्वर हम और आप-जैसा तुच्छ

नहीं, वह महान् है। वह सर्वशक्तिमान् है, वह आपकी गालियाँ सुनकर आपसे संघर्ष करनेकी तनिक भी इच्छा नहीं करता; क्योंकि वह संघर्षमें सहिष्णु रहता है। वह क्रोध नहीं करता, वरं विवेकसे काम लेता है। वह आपको खोखला संतोष देकर आपके मनमें विरक्तिकी भावना उत्पन्न करना चाहता है और वह होगी। हमारे मित्र बीमार पड़े और बन गये आस्तिक। अपनी भूलोंको स्वीकार करना सच्चा धर्म है। भूलोंके साथ संग्राम कीजिये, मनकी स्वस्थ वृत्तियोंके साथ नहीं। 'जो कुछ करें या कहें, सब ईश्वरको साक्षी बनाकर करें या कहें।' जीवनमें संतोषका महत्त्व है; क्योंकि उससे अपरिग्रह पैदा होता है। अपरिग्रह सच्ची सभ्यताका लक्षण है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये, त्यों-त्यों सच्चा सुख और संतोष बढ़ता है और सेवा-शक्ति बढ़ती है। सेवा-भाव ही सच्ची सहिष्णुता है। 'सेवा करनेवालेको अपनी लाज, आबरू, मान आदि सबका होम करना पड़ता है। उसके सामने तो ईश्वरका अंश मानव ही रहता है।'

पर इसका यह अर्थ नहीं कि अपने मनुष्यत्वका ध्यान न रखा जाय। वास्तवमें मनुष्यत्वका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही केवल ईश्वरको छोड़कर किसीसे भय न खायेगा। अपने स्वरूपकी रक्षा करना सबका धर्म है; पर यह रक्षा संघर्ष करके न हो, वरं प्रेम और सहिष्णुतासे हो। तभी वह सच्ची रक्षा होगी। उसमें दृढ़ता होगी। अनुभवसे देखिये कि प्रतिपक्षीके साथ उदार व्यवहार करके हम अपने लिये जल्दी न्याय प्राप्त कर लेते हैं।

संघर्ष वाचालतासे फलता-फूलता है। अतएव मौन धारण करना सीखिये। स्मरण रखें कि मौन कभी-कभी वाचालतासे अधिक काम कर देता है; क्योंकि मौनकी शक्ति बड़ी होती है। आप मौन बनकर निर्बल नहीं होंगे; क्योंकि निर्बल दूसरोंके कहनेसे नहीं होता। निर्बल वह, जो अपनेको निर्बल समझे। आप सबल समझकर ही दूसरोंसे प्रेम कीजिये। गांधीजीने कहा है—'मैं नौजवानोंको सलाह यही दूँगा कि जबान बंद करनेका अभ्यास करें।'

क्रोध न करें। क्रोध संघर्षका मित्र है। हम इनकी मित्रताको विनष्ट करनेका प्रयत्न करें। अर्थात् प्रेमके संघर्षमें क्रोध न करें। क्रोध करना ब्रह्मचर्यका खण्डन है। प्रेममें प्रायश्चित्त भी है। संघर्ष हो जाय तो प्रार्थना, उपवास और क्षमायाचनाके साधनोंसे अपनी दुष्प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त कर लें। महात्मा गांधीका प्रायश्चित्त था एक विदीर्ण और क्षत-विक्षत हृदयकी प्रार्थना कि 'परमात्मन्! मेरे अनजानमें किये गये पापोंको क्षमा कर।' प्रायश्चित्त करना सच्चा धर्म है। वह शाश्वत है और सम्प्रदायवादके संकुचित अर्थसे ऊपर उठा हुआ है। धर्म मानवताकी सेवाका दूसरा नाम है और सेवाका सच्चा अर्थ सहिष्णुता, क्षमा और प्रेम है, संघर्ष और द्वन्द्व कभी नहीं।

क्रोधकी निन्दा

रोष न रसना खोलिये बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि॥
मधुर बचन कटु बोलिबो बिनु श्रम भाग अभाग।
कुहू कुहू कलकंठ रव का का कररत काग॥

वास्तविक स्वराज्य क्या है ?

(श्रीविनोबा भावे)

आज अपने देशमें लाखों-करोड़ों बच्चे ऐसे हैं, जिनके लिये पोषणकी और शिक्षणकी योजना नहीं है। ये सारे बच्चे देशके आधार हैं। उनके लिये क्या किया जा रहा है ? माता-पिता जो कुछ भी करते हैं, वही होता है। देशके लिये बच्चे अच्छे निकलें, ऐसी कोई योजना नहीं बन रही है। समाजकी तरफसे बच्चोंका ध्यान रखने-जैसी कोई बात नहीं। ऐसा तो नहीं है कि श्रीमान्‌के बच्चे ही बुद्धिमान् होते हैं। शंकराचार्य दरिद्रकुलमें पैदा हुए थे और बुद्धभगवान् बड़े कुलमें पैदा हुए थे। दोनों महान् निकले। तो बच्चोंमें गरीब और अमीरका भेद नहीं है। हीरा किस खानमें निकलेगा, यह कोई नहीं जानता। लेकिन उसकी खोज तो होनी चाहिये। खान खोदेंगे नहीं, तो हीरे कैसे निकलेंगे। बच्चोंके लिये पोषणकी और शिक्षाकी योजना यदि नहीं बनती तो देश क्षीण होता है। इसलिये बच्चे जिन माता-पिताके होते हैं, उन्हींके नहीं, वे तो देशकी सम्पत्ति हैं। बच्चे सारे देशके हैं, यह ख्याल होना चाहिये।

तो भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदानमें क्या सोचा जा रहा है ? आगेकी जो जनता अर्थात् बच्चे हैं, उनका समानरूपसे पोषण और शिक्षण हो। लेकिन इन दिनों लोगोंके मनमें भ्रम बैठा है। वे सोचते हैं कि हर कोई काम सरकार करेगी। जैसे भक्तोंकी अनन्य श्रद्धा भगवान्‌पर होती है, वैसे ही इनकी अनन्य श्रद्धा सरकारपर होती है। यह बड़ी भयानक बात है। बच्चे तो आपके हैं, न कि सरकारके; फिर उनकी जिम्मेवारी सरकारपर क्यों डालते हैं ? लड़का बीमार हुआ तो स्वास्थ्यमन्त्रीको बुलायेंगे या स्वयं सेवा करेंगे ! अगर यह सब सरकारपर छोड़ देंगे और स्वयं कुछ नहीं करेंगे तो देशकी उन्नति नहीं होगी।

फिर सरकारमें कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो हममें नहीं है ? वह बलात् या सैन्य-शक्तिसे कोई काम करा सकती है या फिर सम्पत्तिके माध्यमसे करा सकती है। सम्पत्ति भी कौन-सी है उसके पास ? अपने पासका एक हिस्सा करके रूपमें हमने उसे दे दिया है, वही तो। सरकार स्वतन्त्र उद्योग तो करती नहीं। हम जो देते हैं, वही उसको मिलता है। हम गरीब हैं, परंतु हमारी सरकार हमसे भी गरीब है; क्योंकि कितना भी हुआ, तो भी हमारी सम्पत्तिका हिस्सा ही उसके पास है। हम कुएँ हैं और सरकार है बाल्टी। ३६ करोड़ लोग दो हाथोंसे पैदा करेंगे, तो वह अधिक होगा कि सरकारको हम जो देते हैं, वह अधिक होगा ? हाँ, सरकारका धन दीख पड़ता है, क्योंकि वह इकट्ठा हुआ है, हमारा दीख नहीं पड़ता; क्योंकि वह घर-घरमें बँटा हुआ है। सरकारकी पाञ्चवर्षिक योजना है। उसमें वह चार-पाँच हजार करोड़ रुपया पाँच सालमें खर्च करेगी। देशमें ३६ करोड़ लोग हैं, तो हर मनुष्यके लिये महीनेमें दो, सवा दो रुपये याने हर मनुष्यपर एक दिनमें पाँच पैसा सरकार खर्च करेगी। यह हुई सरकारकी बड़ी योजना। एक बच्चा सूत कातकर एक घंटेमें पाँच पैसा कमा लेता है। तो सरकारकी योजनाकी अपेक्षा बच्चा भी अधिक कमा लेता है और पाँच पैसेमें सरकार करेगी क्या ? रेलवे, शाला, खेती, व्यापारकी वृद्धि, कारखाने खोलना, विज्ञानकी खोज, साहित्यको प्रोत्साहन, भाषाका प्रचार—यही सब तो होगा। यह कुल पाँच पैसेमें होगा। ज्यादा लोग स्वयं उठ खड़े हो जायँ तो इससे अधिक कर सकते हैं। आखिर सरकार-के पास उतनी सम्पत्ति नहीं, जितनी लोगोंके पास है।

सम्पत्ति कैसे प्राप्त होती है ? परिश्रमसे । तो परिश्रम कौन करते हैं ? लोग करते हैं । इसलिये सरकारकी पैसेकी शक्ति जनताकी शक्तिके बराबर नहीं हो सकती । अब रही कानूनकी शक्ति । क्या आप समझते हैं कि सरकारका कानून है, इस लिये चोरियाँ नहीं होतीं ? दण्ड देनेसे, सजा देनेसे, शासन करनेसे क्या समाज बदल सकता है ? समाजमें जो सद्भावना है, इसलिये समाज जो नीतिपर चल रहा है, वह कानूनके कारण नहीं । सज्जनोंने समाजको धर्म सिखाया है, इसके लिये समाजको अच्छे-अच्छे ग्रन्थ दिये हैं । मान लो समाज नहीं होता तो हम सब जानवर बनते । सरकारका कानून तो कोई पढ़ता नहीं। अतः लोगोंमें जो सज्जनता है, वह लोगोंकी सम्पत्ति है । सरकारके पास ऐसी शक्ति नहीं है, जो समाजको अच्छी नीतिपर ले जाय । न प्रेरक शक्ति है, जो सत्कर्मकी प्रेरणा दे । कर्म-प्रेरक शक्ति जितनी समाजमें है, उतनी सरकारमें नहीं । भौतिक सम्पत्ति भी जितनी समाजके अधिकारमें है, उसका एक अंश सरकारके पास है ।

तो इस हालतमें सरकार सब करेगी, ऐसा जो हम सोचते हैं, वह ठीक है क्या? यह लोगोंको सोचना है। अगर हम पुरुषार्थहीन बन जायँ और सरकार सब कुछ करेगी, ऐसा मान लें तो हमारा समाज उन्नति नहीं कर सकता । इसलिये जो हमारा समाज है, समूह है, वह स्वयं अपने लिये कुछ करे । समाजके लिये प्रत्येक व्यक्ति त्याग करे, तभी हम प्रगति करेंगे । इसलिये सर्वोदयमें सब लोग उठ खड़े होते हैं और अपनी उन्नतिके लिये अग्रसर होते हैं । गोवर्धन पर्वत उठानेमें वृन्दावनके कुल बच्चे, बूढ़े, जवान, बहनोंका हाथ लगा था । भगवान्‌ने एक अँगुलीका ही सहारा दिया था । वह भगवान्‌की विशेषता है । भगवान् कुल स्वयं कर लेते हैं । काम तो उन्हींसे होता है; परंतु वे कहते यह हैं कि तुम सब करो, फिर हम सहायता करते हैं । हम आलस्यमें रहें तो भगवान् कुछ नहीं करते । इसलिये सबका हाथ लगना चाहिये । उसमें बच्चे भी क्यों छूटें ! बच्चे भी खाते हैं, तो देशके लिये वे कुछ नहीं दे सकते ? दो हाथ भगवान्‌ने उन्हें दिये हैं । सूत कातें तो महीनेकी दो गुंडी देशको दे सकते हैं ।

भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदानसे हम क्या करना चाहते हैं ? अपना स्वामित्व नहीं, गाँवका स्वामित्व । भूमि सबको मिलेगी । गरीबोंको भूमि देंगे, उतनेसे ही नहीं होगा; और भी उनको देना होगा, वह सम्पत्तिदानमेंसे देना होगा । प्रत्येक गाँवमें एक-दो कार्यकर्ता होंगे, उनका भी प्रबन्ध गाँववालोंको करना होगा । लेकिन इतनेसे नहीं होगा । यह तो एक सामाजिक कार्य हुआ । क्रान्ति नहीं हुई ।

भारतमें महारोग है, उसका निराकरण हम करना चाहते हैं, उसके कारणोंको ढूँढ़ निकालकर मूलसे उखाड़ना चाहते हैं, तो वह क्रान्ति होगी । केवल एकाध रोगीको मदद पहुँचानेसे क्रान्ति नहीं होती । वह तो दयाभाव है। रातको जागते हैं, आँख बिगड़ती है, दवाइयाँ लेते हैं, डाक्टर चश्मा लगाता है । परंतु उधर आँख बिगाड़नेका कारखाना चल रहा है । वैसे ही दरिद्रीकी हम कुछ मदद कर देते हैं तो वह दया होती है । पर जब दरिद्रताका मूल ही खोदते हैं तब क्रान्ति होती है । मान लो लड़का आया और उसने कुछ जानकारी चाही, आपने दे दी, उसका अज्ञान मिटा; परंतु उसका अज्ञान उतना ही मिटा, जितना उसने पूछा । वह तो अज्ञानी रहा ही । क्रान्ति तब होगी, जब उसको पढ़ना-लिखना सिखायें । वह स्वयं पढ़ सके, इस तरह मनुष्यको समूल सहायता पहुँचायें तो क्रान्ति होगी । ऊपर-ऊपरसे मदद करना दया है । घरमें नौकर रखते हैं—समयपर उसकी कुछ अधिक सहायता भी करते हैं, यह क्रान्ति नहीं है । उसको अपने समाजका मालिक बनायें, तब क्रान्ति होती है ।

अकबर बादशाह तेरह सालका था। उसका एक गुरु था। अकबरको वह अच्छी तरह शिक्षा देता था। अकबर सोचता कि कबतक यह शिक्षा लेनी है, कभी समाप्त होगी या नहीं? मैं राजा कब बनूँगा? सिंहासन तो रिक्त ही पड़ा है। अब मुझे राजा बनना ही चाहिये। एक दिन वह सिंहासन-पर बैठ गया और पहला हुक्म दिया कि मेरे गुरुको जेलमें कैद करके डाल दो। राज्यकी सारी व्यवस्था अपने नियन्त्रणमें ले लेनेके बाद अकबर गुरुसे मिलने गया। कहने लगा कि 'अपराधी मैं हूँ, मुझे क्षमा कीजिये। आपने ही मुझे विद्या सिखायी। लेकिन मैं सहन नहीं कर सका। लगता था कब मैं राजा बनूँ।' गुरुने कहा कि 'ठीक है, अब मुझे तीर्थयात्रापर जाने दो।' अकबरने व्यवस्था कर दी। वह यात्रापर चला गया। तो यह गुरु और वह शिष्य कबतक बना रहेगा? गुरु गुरु ही बना रहा और शिष्य शिष्य ही बना रहा तो क्रान्ति नहीं होती; क्रान्ति तब होगी जब गुरु अपना सारा ज्ञान शिष्यको देकर उसको उसके पाँवपर खड़ा कर दे।

केवल दया करनेसे नहीं चलेगा। सबको स्वावलम्बी बनना होगा। आपत्तिमें मजदूरोंको दान-धर्म करनेसे नहीं बनेगा। मजदूरको जब हम अपने समान मालिक बनाते हैं या उसके समान अपना जीवन बनाते हैं तब क्रान्ति होती है। कहा गया है 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'—शिव होकर शिवकी पूजा करनी चाहिये। जबतक स्वयं गरीब नहीं बनते, तबतक गरीबोंकी सेवा नहीं कर पायेंगे। हम मालिक बने रहें और मदद-सहायता देते रहें, यह ठीक नहीं। बच्चे भी अपना परिश्रम दे सकते हैं। जो खाता है, वह पहले दे और बादमें खाये। एक बार देनेसे नहीं चलेगा। जितनी बार खाते हो उतनी बार देना है। यह जब होगा तब तुम्हारी उन्नति होगी।

यह जो कार्य हो रहा है, उसका श्रेय मुझे नहीं है, मेरी माँको है। बचपनमें पेड़को पानी दिये बिना माँ खाने नहीं देती थी। तो बच्चोंको बनाना माताका काम है, वे बच्चोंको देश-धर्मकी दीक्षा दें। यह कौन कर सकेगा! जो स्वयं करेगा, वह दीक्षा देगा। सेवा करके खाना, यह मनुष्यका लक्षण है; ऐसे ही बिना सेवा खाना बंदरका लक्षण है। ऐसी भावनाका दर्शन होगा, तभी हमको स्वराज्यका अनुभव होगा।

भारी भूल

एक तौ दियो है तोहि मानस को तन, दूजे,
उत्तम बरन, तीजे उत्तम बरन देह।
तेहू पर परम कृपा करि कृपानिधान,
कैरा बैरा बौरा गुंग बावरो कर्‌यौ न एह॥
कहत 'किसोर' जोर अच्छरको आयौ, भयौ
चतुर कहायौ, पायौ प्रेम पंथ निज गेह।
धृक् तोकौं अधम अभागे कृतहीन जोपै,
ऐसे मैं न ऐसे दीनबंधु सौं लगायौ नेह॥

मनुष्यत्वको जीवित रखनेका उपाय—अर्थशौच

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मनुजीका कथन है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

आज मानव-समाजमें जो अशान्ति दिखायी दे रही है, उसका एक महान् कारण अर्थशौचका अभाव है। हमारा जीविकोपार्जन शुचि अर्थात् पवित्र तरीकोंसे नहीं हो रहा है। 'अर्थशौच'का अर्थ है कि हम जो धन कमायें, वह पवित्रता, सचाई, ईमानदारी और परिश्रमसे ही कमायें। धनका उपार्जन धार्मिक दृष्टि-से ही हो। उसमें अनुचित उपायोंका अवलम्बन न किया जाय। सद्गृहस्थको यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसकी कमाईमें कोई अधर्मका पैसा न आ जाय। अधर्मकी कमाई ही दुःखोंकी जड़ है। अधर्म-का पैसा एक प्रकारकी अग्नि है, जो ईमानदारीकी कमाईको भी नष्ट कर देती है।

एक बारकी बात है एक दूधवाला दूधमें पानी मिलाकर बेचा करता था। आधा दूध, तो आधा पानी। उसे सच्चा समझकर लोग उसका दूध खरीदते थे। दो-एक बार किसीको संदेह भी हुआ; उसे सावधान भी किया गया; किंतु वह न माना। उसकी कपड़ेकी थैली रुपयोंसे भरती गयी। उसे देख-देखकर वह बड़ा प्रसन्न होता। प्रायः चुपचाप अपने रुपयोंको गिना करता। एक दिन संयोगवश थैलीको एक बंदर उठा भागा और एक वृक्षपर जा बैठा। वृक्ष एक नदीके किनारे लगा हुआ था। दूधवाला बहुत चीखा-चिल्लाया, भागा-दौड़ा। बंदरको बहुत-से प्रलोभन दिये गये पर वह न माना। एक मुट्ठी रुपये ग्वालेकी ओर फेंक देता, दूसरी मुट्ठी नदीमें फेंक देता। यह क्रम बहुत देरतक यों ही चलता रहा। ग्वाला नदी-किनारे खड़ा-खड़ा रोता रहा। अन्तमें सारी थैली खाली हो गयी, ग्वालेके पास आधी रकम ही शेष रही। यह उसकी वह कमाई थी, जो वास्तवमें उसे मिलनी चाहिये थी। धर्मकी कमाई ही बचती है।

हमें एक परचूनके दूकानदारने अपनी आर्थिक हालतके बारेमें सुनाते हुए कहा था—'आजकल मेरी यह छोटी-सी दूकान आप देखते हैं, किंतु मैंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े उतार चढ़ाव देखे हैं। हजार-हजार रुपये कमाये और खर्च किये हैं।'

हमने पूछा—'हजार रुपये कमानेवाला गिरता-गिरता भी दो-चार सौसे कम क्या कमायेगा? यह सब क्या क्यों कैसे हुआ रे?'

वह पुनः बोला, 'मैंने एक छोटी-सी रकमसे काम शुरू किया था। दूकानपर एक नौकर था। कुछ पैसे जमा किये; फिर अकेलेने अपनी दूकान चलायी। उसमें साधारणतः अच्छी रोटी मिलने लगी। तृष्णाएँ बढ़ चलीं। तृष्णाका वेग बड़ा बलवान् है। आरम्भमें यह लक्षित नहीं होती, किंतु धीरे-धीरे भीतर-ही-भीतर बढ़ती जाती है और अन्तमें तो इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्यको अंधा कर देती है। मुझे सट्टेका शौक लगा। मेरा सङ्ग एक ऐसे व्यक्तिसे हुआ, जो सट्टेसे धनिक बन गया था। मैंने भी वही प्रारम्भ किया। आय अनाप-शनाप बढ़ती गयी। बढ़ते-बढ़ते मेरी आय हजार रुपये महीनेतक हो गयी। धनकी लालसा फिर भी बढ़ती गयी। धन ही मेरा साध्य बन गया। मैं अपने सामने किसीको कुछ भी न समझता था। एक दिन जब मैं अपनी प्रतिष्ठाके सर्वोच्च शिखरपर था, पासा यकायक पलटा। एक ही दाँवमें मैं सब हार गया। वरं कुछ ऋण भी हो गया। उसे अपनी

चीज और घरवालीका जेवर बेचकर चुकाना पड़ा। जैसे वह धन आया था, वैसे ही पलक मारते चला गया और मुझे पहलेसे कहीं दीन-हीन छोड़ गया। अब मैं फिर अपनी पुरानी दूकानपर वैसे ही थोड़ा-बहुत कमाकर निर्बाह करता हूँ।'

धनसे मोक्षके अनेक साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं, पर संसारके सभी पदार्थ गुण-दोषमय होते हैं। धन भी ऐसा ही है। समझदार मनुष्यका यह काम है कि वह पदार्थोंका इस रीतिसे उपयोग करे, जिससे उसको गुणोंका लाभ मिले, दोष दूर ही रहें। धनको यदि ईमानदारी और धर्मसे न कमाया जाय तो उसमें विष-जैसा असर आ जाता है। वेश्याएँ जितना धन कमाती हैं, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। चोर-डाकू लूट-मार करके बहुत-सा धन कमाते हैं। न कभी वेश्याको किसीने फूलते-फलते देखा है न चोरकी झोपड़ीपर फूँस रहा है। रुपयेसे लदी रहनेवाली वेश्याकी अन्तगति भयंकर यातनाओंसे भरी होती है। कोई उसे कफन भी देनेवाला नहीं मिलता। नगरपालिकाके अनाथ फंडसे भंगी उसका शरीर फूँकते हैं। इसी प्रकार डकैत या तो पुलिसकी गोलीका शिकार बनते हैं अथवा सड़-सड़कर जेलके सीखचोंमें मरते हैं। यह है पापकी कमाईका विष, जो अन्त समयतक दण्ड देता रहता है।

जिस प्रकार एक स्थानपर पड़ा हुआ जल दुर्गन्धादिसे दोषयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार यज्ञ-दान, धर्म-कर्ममें व्यय न किया हुआ धन भी प्रमाद आदि दोष उत्पन्नकर धनीको नष्ट करता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

एक बार गुरु नानक किसी गाँवमें गये तो समस्त गाँववालोंने उनका खूब आदर-सत्कार किया। गाँवके जमींदारने यह सुना तो नानकजीको दावत दी। अनेक सुस्वादु भोजन, मिठाइयाँ और सब्जियाँ बनवायीं; बड़ी धूमधाम रही।

उधर एक गरीब किसान भी श्रद्धा-भक्तिसे भरा गुरुजीके लिये ज्वारकी मोटी-मोटी रूखी रोटियाँ लाया। गुरुजीके सामने दोनोंका भोजन था। एक ओर जमींदारके बढ़िया पकवान, दूसरी ओर ज्वारकी सूखी रोटियाँ!

गुरुजीने किसानकी रोटियाँ ले लीं और बड़े स्वादसे उन्हें खाया।

जमींदार क्रुद्ध था। उसने इतने बढ़िया-बढ़िया पकवान, भोजन-मिठाइयाँ इतने व्ययसे इतने कुशल रसोइयोंसे बनवायी थीं। उससे न रहा गया। उसने गुरुजीसे पूछा—

'महाराज! आपने मेरा भोजन ग्रहण न कर इस गरीब किसानकी ज्वारकी सूखी रोटियाँ क्यों ग्रहण की हैं?'

गुरु बोले—'अपनी रोटियाँ इधर लाओ।'

फिर गुरुजीने जमींदारकी रोटीको निचोड़ा, तो उसमेंसे खूनकी बूँदें टपकने लगीं। लोग यह चमत्कार देखकर चकित थे। इसके बाद उन्होंने उस किसानकी रोटीको निचोड़ा। जनताने देखा कि उसमेंसे दूधकी बूँदें टपकने लगीं।

गुरुजी बोले—'ये रक्तकी बूँदें उन गरीबोंकी हैं जिनसे जुल्म, अत्याचार, मार-पीट, बेईमानीके हिंसक प्रयोगद्वारा रुपया लूटा गया है। यह धन अधर्मसे इकट्ठा किया गया है। दूसरी ओर इस किसानने धूपमें कठोर परिश्रम और पुरुषार्थ करके पसीनेकी कमाईसे ये रूखी ज्वारकी रोटियाँ बनायी हैं, धर्मको सदा सामने रखा है। यह न झूठ बोला है न किसीपर अत्याचार, छल-कपट किया है। इसका पैसा सत्य, न्याय और धर्मके अनुकूल है। ऐसी कमाईमें समृद्धि और लक्ष्मीका निवास है। जैसा भाव होता है, वैसी ही बुद्धि बनती है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही

अन्न कमाया जाता है। जैसे उपायोंसे अन्न कमाया जाता है, उसमें वैसे ही गुण-अवगुण आ जाते हैं। पापकी कमाईसे मुक्त रहो।'

यह सुनकर जमींदारको सब पुरानी बातें याद आने लगीं। उसने स्मृतिके कोषमें देखा कि उसका असंख्य धन, जिसपर उसे इतना अभिमान था, अनाथोंपर निर्मम अत्याचार, झूठ, फरेब, मिथ्याचार करके कमाया गया था। इसी कारण उसका आतिथ्य अस्वीकार किया गया था।

श्रीभगवद्गीतामें वैश्यके स्वभावजन्य कर्मोंके विषयमें कहा गया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

अर्थात् खेती, गौओंकी रक्षा, व्यापार वैश्यके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले कर्म हैं। पर उसे भी चाहिये कि जो धन कमाये, वह सत्यताके व्यापारसे अर्जित करे। वैश्यको उचित है कि धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ धनोपार्जन करे, यह ध्यान रखे कि उसके पास अधर्मकी एक पाई भी न आने पाये। बेईमानी, ठगी, चोरबाजारीसे, कम तौलकर या किसी ग्राहकका जी दुखाकर जो धन कमाया जाता है, वह न केवल पापकी कमाई है, अपितु बड़ा दुःखदायी भी है। पापसे धन कमानेवालेका चित्त अशान्त रहता है, समाज और इष्ट-मित्रोंमें उसकी निन्दा और अपयश होता है; ऐसा धन कमानेवाले विषयभोगमें रचे-पचे रहकर यह लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं। अधर्मकी कमाई कमानेवालेको नष्टकर फिर स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

हमारे यहाँ धनको लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्मी हमारी धनकी देवी हैं। इसकादूसरा अभिप्राय यह है कि हम धनको देवीके रूपमें पूज्य, पवित्र और धर्मकी वस्तु मानते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें भी हमने अर्थको स्थान देकर अर्थशौचका महत्त्व स्पष्ट किया है। जब हम लक्ष्मीजीकी पूजा करते है, तब अप्रत्यक्ष रूपसे हम यह कहते हैं 'कि हे लक्ष्मीदेवि! हम जो कुछ जीविकोपार्जन करेंगे, उसमें तुम हमारी सहायक रहोगी, हम केवल धर्मकी ही कमाई लेंगे। धर्मकी कमाई ही खायँगे, उसीसे विद्या पढ़ेंगे, यज्ञ करेंगे, दान देंगे। तुम हमारी मतिको सत्य, न्याय, धर्मकी ओर रखोगी। हमारे साथ सदा न्यायभाव रहेगा। यदि हम अनजानमें अर्थशौचका पालन न कर सकेंगे तो हम अपने पापके लिये दण्डके भागी होंगे। हम केवल अपने परिश्रमकी कमाई ही स्पर्श करेंगे।'

एक बार एक महात्मा भिक्षाके लिये एक धनी व्यक्तिके द्वारपर पहुँचे और बोले—'बच्चा! हमें अपनी ताजी कमाईमेंसे कुछ भिक्षा दो।' धनिक कुछ न समझा। उसने महात्माको आदरसे बैठाया। अंदरसे एक बर्तनमें भिक्षा लाया और बोला, 'महाराज! लीजिये भिक्षा।'

महात्माने उसे देखा और उत्तर दिया, 'बच्चा! मैं तो तेरी ताजी कमाईमेंसे भिक्षा माँगता हूँ।'

धनिक—'महाराज! ताजी कमाईसे आपका क्या तात्पर्य है?'

महाराज—'बच्चा यह तो तुम्हारे बाप-दादाकी कमाई है। उनकी भुजाओंने इसे कमाया था। उनके परिश्रमसे यह अर्जित हुई। उनके स्वर्गवासी होनेपर यह तुम्हारे हाथमें चली आयी। जबतक उनके हाथमें थी, यह ताजी कमाई थी। तुम्हारे हाथमें आकर यह बासी, निष्प्राण हो गयी। इसमें तुम्हारा समय, भुजाओंका बल या मानसिक परिश्रम—कुछ भी तो नहीं लगा। गृहस्थको स्वयं धनोपार्जन करना चाहिये और अपनी पाँच उँगलियों-की कमाईसे ही दान करना चाहिये। अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान करना चाहिये। अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान देनेसे पुण्य-फल प्राप्त होता है। नीति कहती

है कि धनको धर्मसे ही कमाये। अनुचित पैसा कदापि न ले। कमाये हुए धनकी धर्मसे ही रक्षा करे और रक्षा किये हुए धनका धर्ममें यथाशक्ति व्यय करे।'

यह कहकर महात्मा चले गये। धनिकको सोचनेके लिये एक नयी दिशा मिली। वह समझता था कि दूसरोंसे उसके पास आयी हुई कमाईके दानसे उसे पुण्य-फल मिलेगा, पर उसकी यह धारणा निर्मूल निकली। अपने पसीनेकी कमाई करनेकी उसे प्रेरणा मिली।

वेदमें कहा गया है—'देवो देवेषु वनते हि वार्यं' (ऋग्वेद ६। ११२) धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्गुणी हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्पकालमें नष्ट हो जाती है।

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः। (अथर्ववेद ७। ११५। ४)

ईमानदारीकी कमाईका धन ही ठहरता है। बेईमानीकी आयसे कोई फूलता-फलता नहीं।

संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं है। सबका कल्याण, सबकी सहायता और सबको आगे बढ़ानेके लिये धन कमानेका विधान है।

रयिं दानाय चोदय। (अथर्ववेद ३। २०। ५)

हे मनुष्यो! धनका दानमें विनियोग करो।

कस्यस्विद्धनम् (यजुर्वेद ४०। १)

धन किसी व्यक्तिका नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्रका है। धनपर कब्जा जमाकर मत बैठो, वरं उसका सदुपयोग करो।

ईमानदारी और धर्मकी कमाईसे ही हमें आन्तरिक सुख और शान्ति मिल सकती है। बेईमानीकी कमाई चाहे एक पीढ़ीतक टिक जाय, पर फिर कुसंतान-द्वारा नष्ट हो जाती है। दुराचारी अमीरोंकी संतान निकम्मी, आलसी और दुश्चरित्र होती है। वह सारी संचित सम्पत्ति नष्ट कर देती है। अधर्मके पापसंस्कार ही उसे नष्ट कर देते हैं।

आज मनुष्य संकटमें है। अशौचके अभावमें हम मनुष्यत्वकी कुछ भी परवा नहीं करते। असत्य व्यवहार, झूठ, कपट, मिथ्याचारद्वारा अधिक रुपया लूटनेकी पाशविक इच्छा हमें मानवके दिव्य गुणोंका संग्रह नहीं करने देती। हम अपने परिचित बन्धुतकको ठगकर किसी प्रकार धनसम्पन्न हो जाना चाहते हैं। रिश्वत, खाद्य पदार्थोंमें मिलावट, कपट और धोखेबाजी तभी दूर की जा सकती है, जब अर्थशौचकी भावना हमारे मन और सामाजिक आचार-व्यवहारमें रहे। पापकी कमाईके प्रति हम घृणा करें। जिसपर हमारा श्रम या शक्ति नहीं लगी है, ऐसी कमाईको हम स्पर्शतक न करें। यदि कोई इस प्रकारकी कोई वस्तु या रुपया हमें दे भी तो हमें उसका विरोध करना ही उचित है। जितना हम ईमानदारीसे कमायें, उसीमें हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहें—यही हमारा प्रयत्न होना चाहिये। अर्थशौचके नियमके पालनसे ही हमारे मनुष्यत्वकी रक्षा हो सकती है। उसके अभावमें तो हम पिशाच ही बन सकते हैं, मनुष्य नहीं।

श्रीराम-चरणानुराग

चित जब राम चरन अनुरागै॥
तरुनि तनय तन धनमय मायिक जगत स्वप्न तें जागै।
गरुड़ ग्यान हित मान त्यागि नित मानत गुरु करि कागै॥
भक्ति बिबेक बिकास होत हियँ, बिषय बासना भागै।
बिषय बिषम बिष बलित लता मैं अमल अमिय फल लागै॥

निराशा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

अभी कुछ दिन हुए, समाचार-पत्रोंमें एक ऐसे महान् व्यक्तिके निधनका समाचार छपा था, जो अपनी मृत्युके ढाई मास पूर्व एक उच्च पदके लिये बहुत ही उत्सुक थे। जिस समय वे इधर-उधरका सब कुछ परिश्रम कर रहे होंगे, मृत्यु उनके पीछे खड़ी मुस्करा रही होगी। उस संवादको पढ़ते समय मुझे महापुरुष टालसटाय-की एक कहानी याद आ गयी। एक बड़े धनी तथा उच्च पदवाले पुरुषको बड़े परिश्रमसे एक दुर्लभ जानवर-की मखमल-जैसी मुलायम खाल मिल गयी। वे उसे लेकर अपने नगरके सबसे बड़े मोचीके यहाँ पहुँचे और उसे आदेश दिया कि उनके पैरका बहुत बढ़िया जूता बनाये। चलते समय चेतावनीके रूपमें वे कहते गये—

'ध्यान रखना, यदि चमड़ा खराब हुआ तो तुम्हारी खाल उधेड़ दी जायगी।' भयभीत मोचीने बड़ी सावधानी-से काम प्रारम्भ किया। अपने सबसे चतुर सहायकसे उसने चमड़ा काटनेके लिये कहा। उस सहायकके हाथ अनायास पूरा जूता काटनेके बदले स्नानके समय उपयोग करनेयोग चप्पल यानी स्लिपर काट बैठे। मोची यह देखकर घबरा गया और मारे डरके काँपने लगा। इतनेमें ही उस रईसके घरसे एक नौकर भागता हुआ आया। उसने कहा कि 'उसके मालिक अभी जूता बनानेका आदेश दे गये हैं। पर वे घर जाते ही हृदयकी गति बंद हो जानेके कारण संसारसे बिदा हो गये हैं। चूँकि यह चमड़ा उन्हें बहुत प्यारा था, अतएव उसका चप्पल या स्लिपर बना दिया जाय, ताकि उसे पहनाकर उन्हें कब्रमें दफनाया जायगा।'

ठीक यही परिस्थिति हमारी है। हम सोचते बहुत कुछ हैं; पर होता वही है, जो विधिका विधान होता है—जो नियति कराती है। मनुष्य तो यन्त्रपर बैठा मायाका चक्कर खा रहा है—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् रामने भी स्वीकार कर लिया कि—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
मच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

'जो सोचता हूँ, वह मुझसे उतना ही दूर चला जाता है। जो कल्पना भी नहीं की थी, वह होकर रहता है। सोचा था कि सबेरे चक्रवर्ती नरेश बनूँगा; पर तपस्वी बनकर जंगल जा रहा हूँ।'

इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य कर्तव्य ही क्यों करे, जो होना होगा, वह होकर रहेगा। पर यह तो उलटा सोचना हुआ। उपदेश तो यह है कि परिणाम-की, आगेकी, फलकी सोचे ही क्यों? केवल अपने कर्तव्यका पालन करता चले। यदि हम इतना ही करें तो जीवनकी सबसे कलुषित वस्तु हमें न प्राप्त होगी—निराशा। संसारमें निराशासे बढ़कर भयंकर तथा वेदनामय और कोई वस्तु नहीं है। यदि हम आशा नहीं करेंगे तो निराशा कहाँसे होगी। आशासे ही निराशाका जन्म होता है। इसीलिये अष्टावक्रने अपनी गीतामें कहा है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।

'जो आशाका दास हुआ, वह संसारका दास बन जाता है।' किंतु आज संसारमें जो कुछ विपत्ति है, वह केवल इसलिये कि—

यास-उम्मीद के दोराहे पर, सर झुकाये खड़े हैं दीवाने।

आशा-निराशाके दोराहेपर हम सर झुकाये, बेबस खड़े हैं। यदि हमको निराशाका भय न हो, उसकी चिन्ता न हो, यदि हमको केवल इतना संतोष होना आवश्यक हो कि हम अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं, शेष भगवान्‌के हाथमें है, तो हमको कहीं भी सिर झुकानेकी आवश्यकता नहीं है। हमको सीना तानकर, छाती फुलाकर चलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा।

दैव-भय

प्रश्न हो सकता है कि यदि मनुष्यको आशा-निराशाका बन्धन न रहे तो वह भगवान्‌से भी नहीं डरेगा। पहली बात तो यह कि भगवान् डरनेकी वस्तु नहीं हैं। डरनेके लिये हैं भी नहीं। यदि हम परम पिताको करुणाका सागर, उदारताका स्रोत तथा जीवनका रक्षक समझते हैं, तो उनसे भय करनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अपने पितासे पुत्र तभी डरता है, जब उससे कोई भूल होती है, पाप होता है। यदि हम शास्त्रमें विहित कर्तव्योंपर चलते रहें तो भगवान्‌के सामने, उनके यहाँ जानेमें यह सुख, यह संतोष, यह निर्भयता रहेगी कि हमने कोई भूल नहीं की, पाप नहीं किया। रही फल-कुफलकी बात। कर्तव्यका पालन सचाईसे हो और फिर भी कुफल हो, यह हो नहीं सकता। प्रत्यक्षमें हमको जो फल दिखायी देता है, वह वास्तविक फल नहीं है। यदि व्रत या तपस्यासे दुर्बलता, दुर्बलतासे रोग, रोगसे मृत्यु हो जाय तो क्या व्रत तथा तपस्या ही दोषपूर्ण होगी? पहले तो प्रत्येक पूजा या उपासना या कर्तव्यके पालनमें—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

शरीरका ध्यान रखना होगा, वही सब धर्मोंका साधन है। फिर इसे ध्यानमें रखकर किये गये व्रतोपवाससे यदि मृत्यु होती है तो बुराई क्या है? मृत्युका हर एकके जीवनमें एक ही दिन निश्चित है। यदि मन तथा शरीरकी शुद्धिके साथ वह भी आ गयी तो परलोक ही बना।

तीन बन्धन

मानव-जीवनके तीन बन्धन हैं। वह इन बन्धनोंको पहचानता नहीं; केवल अपने छोटे-से जीवनमें पद, महत्त्व, धन आदिके पीछे भागता रहता है। वह भूल जाता है कि सब कुछका परिणाम है मृत्यु—जीवनका अन्त है मृत्यु। अतएव इस जीवनमें जो कुछ कमाया जाता है, प्राप्त किया जाता है, वह यहीं पड़ा रह जायगा और मनुष्यके पास रहेगा क्या····कुछ नहीं।

तीन बन्धन हैं—अविद्या, काम, कर्म। अज्ञानमें हर प्रकारकी वासना लगी रहती है। उससे कर्मके लिये प्रेरित होकर केवल वासनाका पोषण होता है। ज्ञानकी अग्निसे ये ग्रन्थियाँ, ये बन्धन नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान हो जानेपर ज्ञानी संसारका सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मको जाननेवाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है, तब संसारका छोटा-मोटा पचड़ा नीरस और मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है।

इस जीवनमें हमको बहुत कुछ करना है। जब शरीर पाया है, तब उसका धर्म भी निभाना पड़ेगा। मनुष्यका चोला मिला है तो मानवधर्मसे विमुख होना अपने चोलेका ही अनादर करना है। यह जीवन केवल कर्तव्यके लिये है। कर्तव्यका पालन परलोकका साधन तथा आशा-निराशाके ऊपर उठकर चलना है। तभी हम वास्तवमें जीवनका सुख प्राप्त कर सकेंगे, मनुष्य बन सकेंगे।

और, जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ?

[मत्सर, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[पृष्ठ ८७९ से आगे]

भाई किशोरलाल मश्रूवाला कहते हैं—'जीवन-शोधनमें'—

'किसीकी विशेषताको देखकर उसके प्रति आदर प्रदर्शित होनेके बदले ईर्ष्या उत्पन्न होना और उसकी त्रुटियाँ खोजनेकी ओर दृष्टि जाना अथवा दूसरे लोग उसके प्रति आदर प्रदर्शन करें या उसकी प्रशंसा करें तो उससे जल-भुन जाना । ऐसे व्यक्तिमें श्रेयार्थीकी योग्यता आना सम्भव नहीं ।'

× × ×

वस्तुतः हम यदि अपनी उन्नति करना चाहते हैं, पास-पड़ोसियोंकी उन्नति करना चाहते हैं, समाज, देश और संसारकी उन्नति करना चाहते हैं, तो हमें मत्सरसे छुटकारा लेना ही पड़ेगा ।

कारण, मत्सरकी प्रतिक्रियाएँ बड़ी भयंकर होती हैं ।

मत्सरके कारण क्रोध मुझे आ घेरता है ।

भय मुझे सताने लगता है ।

जुगुप्सा मेरी नस-नसमें व्याप्त हो जाती है ।

शोक मुझपर हावी हो जाता है ।

सामनेवालेको देखकर जो मत्सर होता है, वह यदि तीव्र हुआ तो क्रोध आये बिना नहीं रहता ।

भले ही उस व्यक्तिने मुझे कोई हानि न पहुँचायी हो, मेरा कुछ भी न बिगाड़ा हो; फिर भी उसे देखकर मुझे लगता है कि हाय, यह तो मुझसे आगे बढ़ गया, मुझसे बाजी मार ले गया ।

धीरे-धीरे मेरा क्रोध बढ़ने लगता है । मन-ही-मन मैं उसका अनिष्ट-चिन्तन करने लगता हूँ । मैं ऐसा सोचने लगता हूँ कि इसका बुरा हो, यह अपने पदसे गिर जाय, जनताकी दृष्टिमें यह मुझसे नीचा माना जाय ।

जब कभी कोई भी मौका मिलता है, मैं उसे नीचे गिरानेका प्रयत्न करता हूँ । उसे देखते ही मेरी जबान बेकाबू हो जाती है और अंटशंट बकने लगती है । मैं उसपर ताने कसता हूँ, उसे गालियाँ देता हूँ । उसे देखकर मैं दाँत पीसने लगता हूँ, होठ चबाने लगता हूँ । यहींतक बस नहीं । वातावरण यदि उत्तेजक हो जाता है और वह भी मेरे ढेलेका जवाब पत्थरसे देनेपर उतारू हो जाता है तो मेरी आँखें लाल हो उठती हैं, नथुने फड़कने लगते हैं और मैं उसपर शारीरिक आक्रमण भी कर बैठता हूँ ।

मेरा प्रतिद्वन्द्वी यदि बलमें, शक्तिमें, सामर्थ्यमें मुझसे कम बैठा, तब तो क्रोधका जाल फैलता है, अन्यथा उसके देखते ही भय मुझे अभिभूत कर लेता है । शक्तिशाली कुत्तेको देखकर जिस प्रकार दुबला-पतला कुत्ता अपनी पूँछ सिकोड़कर रह जाता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी दुम दबाकर भाग जाता हूँ । मेरी इच्छा होती है कि वह मेरे सामने न पड़े । सड़कपर यदि मैं कहीं उसे देख लेता हूँ तो कतराकर निकल जाता हूँ । उससे भागनेकी, उससे मुँह छिपानेकी भावना मुझमें आ जाती है ।

भयका यह भाव बढ़नेपर अपने प्रतिद्वन्द्वीको देखते ही मेरा शरीर काँपने लगता है, मेरा चेहरा फीका पड़ जाता है, मुझे रोमाञ्च हो उठता है । यहाँतक कि वह यदि अचानक मेरे सामने आ पड़े तो कड़कड़ाती सर्दीके दिनोंमें भी मेरे माथेपर पसीना आ जाता है ।

मेरा प्रतिद्वन्द्वी मेरे लिये जुगुप्साका पात्र बन जाता है। उसे देखकर मैं अपना मुँह फेर लेता हूँ, आँखें मूँद लेता हूँ, नाकपर रूमाल रख लेता हूँ, कानपर हाथ धर लेता हूँ और यहींतक नहीं, मैं उसे देखकर थूकने लगता हूँ।

अपनी विवशता देखकर शोक भी मुझपर हावी हो जाता है। प्रतिद्वन्द्वीको देखकर मैं ठंडी साँसें भरने लगता हूँ। हाय! हाय! मेरे दुःखका पार नहीं है।

साँई घोड़नके अछत गदहन पायो राज।

इस भावनाके उद्रेकमें मैं छाती भी पीटने लगता हूँ और रोने भी!

× × ×

सोचनेकी बात है कि मत्सरके बहाने इस सारी फजीहतको निमन्त्रण देनेकी क्या जरूरत है? इसके फेरमें पड़कर इस तरह क्रुद्ध होने, दुखी होने, जलने, मुँह बिचकाने और रोने-धोनेकी क्या आवश्यकता है?

× × ×

आप शायद कहें कि ठीक है, हम इस मुसीबतमें नहीं पड़ना चाहते; क्रोध, घृणा, जुगुप्सा, शोक आदिको बुलाकर अपनी शान्ति और प्रसन्नतामें बाधा नहीं डालना चाहते; पर करें क्या, मत्सरकी भावनाएँ घूम-फिरकर हमें घेर ही लेती हैं और हम उनके चक्करमें फँसकर जलने लगते हैं—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

× × ×

बात तो सही है, पर काँटा काँटेसे ही निकलता है। जिन कारणोंसे मत्सरकी भावनाएँ पैदा होती हैं, उन कारणोंको हम दूर कर दें तो बस है। फिर इस आगमें जलने-भुननेका प्रश्न ही नहीं उठेगा।

× × ×

हमें सोचना है कि यह मत्सर होता क्यों है?

इसीलिये न कि हम अपनेको दूसरोंसे छोटा मानते हैं?

इसीलिये न कि हमारा हृदय संकीर्ण है?

इसीलिये न कि हम कामनाओंके दास हैं?

अर्थात्

मत्सरका कारण है—

(१) हीनताकी भावना,

(२) हृदयकी संकीर्णता और

(३) कामनाओंकी दासता।

× × ×

मत्सर हृदयके भीतर छिपा रहता है तो मनुष्य भीतर-ही-भीतर घुला करता है। मत्सर बाहर आता है तो सबसे पहला उसका रूप होता है—परायी आलोचना और परनिन्दा।

उसके बाद उसकी ट्रेनमें आ बैठते हैं—क्रोध, भय, जुगुप्सा, शोक, हिंसा, द्वेष आदि अनेक विकार।

ये सब व्याधियाँ मानवको संत्रस्त करती हैं, दुखी करती हैं और जला-जलाकर भस्म कर देती हैं!

नतीजा?

यही कि मानवका आत्मोन्नति करना तो हो जाता है समाप्त और उसका 'प्रोग्राम' बन जाता है—दूसरोंको गिराना, दूसरोंकी उन्नतिमें, दूसरोंके उत्कर्षमें रोड़े अटकाना और रात-दिन दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन करना।

आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

× × ×

सर्वश्रेष्ठ दान

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'प्रभु ! आज इस दीनका गृह श्रीचरणोंसे पवित्र हो !' वैशालीके दण्डनायक करबद्ध हो तथागतके सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ उपवनके बाहर ही छोड़ दिया था। बड़ी श्रद्धासे प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होनेपर वे खड़े हो गये थे और जब भगवान् बुद्धने उनकी ओर दृष्टि उठायी, उनका कण्ठ गद्गद हो उठा। 'भिक्षुसङ्घका स्वागत करनेका सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है।' पता नहीं क्या बात हुई, दण्डनायकके मुखपर दृष्टि पड़ते ही तथागतके विशाल नेत्रोंमें एक अद्भुत तेज आ गया। केवल चिरंजीव आनन्दने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागतका स्वर गम्भीर था। 'तुम दान करो ! प्रथम-प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' उपस्थित गणनायकों तथा सम्मान्य नागरिकोंने एक दूसरेकी ओर देखा। भिक्षुवर्गमें भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ एक साथ उठीं दण्डनायककी ओर। उनमें घृणा, तिरस्कार, अवहेलनाके भाव थे—'यह कृपण है !'

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गये। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गयी। उनका शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा—'वैशालीका प्रचण्डपराक्रम, उग्र-तेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा। कुछ बखेड़ा उठेगा !' कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार। दो क्षण पश्चात् दण्डनायकका अत्यन्त हताश स्वर सुन पड़ा—'जैसी प्रभुकी आज्ञा !' उनका मस्तक और झुक गया। वे शीघ्रतासे मुड़े और उपवनके बाहर हो चले।

'प्रभु ! वह रो पड़ा।' चिरंजीव आनन्द प्रभुके पृष्ठभागमें खड़े थे। उनकी दृष्टिके ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अतः दण्डनायकके नेत्रोंमें जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करनेपर भी बिन्दु झलमला उठे थे, आनन्दसे वे छिपे नहीं थे। अब उन उदारका हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभुसे प्रार्थना कर रहे थे—'आपकी अस्वीकृतिने उसे वेदनासे झकझोर दिया है। प्रभु प्रातः उसपर कृपा कर सकते हैं।'

एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसोंका प्रबन्ध करने लगें—इसे वे उनके त्यागव्रतसे च्युत हो जाना मानते हैं। यह सब जानते हुए आनन्दने प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि प्रभु कोई ऐसा उत्तर दे दें, जिससे उस दुखी गृहस्थको आश्वासन प्राप्त हो जाय। 'यह तो निश्चित है कि दण्डनायक आज विपुल दान करेगा। कल वह कृपण कहने योग्य रहे, यह शक्य नहीं है।'

'उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया !' प्रभुके नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूरसे कुछ कह रहे हों—'उसके आगतको न जानकर तुम दुखी हो रहे हो।'

'कुछ होनेवाला है—इस सद्गृहस्थके साथ कुछ अद्भुत होनेवाला है।' आनन्द अब शान्त हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि भविष्यका स्पष्टीकरण तथागत-का स्वभाव नहीं है, वे उसका संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

'वैशालीका प्रचण्ड दण्डनायक--सम्मानित गण-श्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगरमें जिस ओरसे निकल जाय, महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनोंसे उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायकका अपमान! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों और भिक्षुओंसे भरी सभामें उसका अपमान! गौतमके शत्रु इससे संतुष्ट हो सकते थे। उन्होंने दण्डनायकके सैनिकोंके प्रधानको उभाड़नेका अवसर पा लिया था।

'प्रभु!' साथके सैनिक स्वतः उत्तेजित थे। दण्डनायकके लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया। उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे, मुख अरुण हो उठा था--'भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है।'

'भद्रसेन! तुम भगवान्‌को अपशब्द कहनेकी धृष्टता कर रहे हो!' दण्डनायकने दृष्टि कठोर कर ली। 'केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है!'

'आपका अपमान किया उस.....।'

'चुप रहो!' झिड़क दिया दण्डनायकने। 'शूरको कुछ समझदार भी होना चाहिये। मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ।'

भद्रसेन भकुआ बन गया। सैनिक मुँह बाये खड़े देखते रहे। गौतमके शत्रुओंको कोई समय ही नहीं मिला। दण्डनायक चुपचाप अपने रथपर आ बैठे। उनके मुखपर क्रोध नहीं, अपार उदासी छायी थी। वे किसी प्रकार अपने अश्रु रोके हुए थे।

× × ×

'भद्रे! कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' अपने भव्य भवनमें पहुँचते ही फूट पड़े दण्डनायक। 'हम कृपण हैं! हमारा यह ऐश्वर्य कलुषित है। प्रभुके स्वागतके योग्य नहीं है यह। फेंक दो! लुटा दो इसे!'

'प्रभुने हमारा आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया!' वह भावमयी महिला भी सुनते ही सूख गयी। कितने उत्साह-से वह पूरे सप्ताहसे लगी थी तथागतके स्वागतकी प्रस्तुतिमें। क्षण-क्षण उसके नेत्र द्वारकी ओर जा रहे थे और उसे यह क्या सुनना पड़ा? उसके शरीरमें तो जैसे रक्त ही नहीं रह गया। फटी-फटी आँखोंसे देखती रह गयी अपने स्वामीकी ओर--'प्रभु नहीं पधारेंगे!'

'पधारना तो पड़ेगा उन्हें!' दण्डनायकका नैसर्गिक ओज उनकी निराशामें भी मरा नहीं था। अब वह जाग पड़ा--'भगवान् किसीको अस्वीकार कर नहीं सकते। उन्होंने कहा है--प्रथम दान करो।'

'करो दान!' उस भावमयीको कहाँ आपत्ति थी? वह तो जैसे उन्मादिनी हो उठी है--'यह सब दान कर दो!' अपने अङ्गके आभूषण उतारकर फेंकने प्रारम्भ कर दिये उसने। तथागत दान किये बिना उसके आँगनमें नहीं आना चाहते तो वह दान करेगी, अपना सर्वस्व दान कर देगी।

'तुम ठीक कहती हो!' दण्डनायकने बाधा नहीं दी पत्नीके पागलपनमें। उन्होंने भी मानो दानके स्वरूपकी प्रेरणा प्राप्त की पत्नीसे। 'प्रभुने प्रथम कोटि-का दान करनेका आदेश दिया है। यह सब दान कर ही देना है।'

सेवक क्या कर सकते थे। उन्हें तो स्वामीका आदेश स्वीकार करना था। दो दण्ड भी नहीं बीते जब उपवनमें तथागतने एक भिक्षुसे सुना--'दण्डनायक अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। उन्होंने नगरमें घोषणा करा दी है और उनकी अपार सम्पत्ति अब राजपथपर सेवक उनके सौधसे फेंक रहे हैं।'

'आनन्द कहता है कि कल मुझे उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिये!' प्रभुके अधरोंपर स्मित आया।

चिरंजीव आनन्द चौंके। 'कल भी प्रभु उसका आग्रह स्वीकार करनेकी बात तो नहीं कह रहे हैं।'

'भिक्षुको कलके प्रबन्धकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये!' तथागतके स्वरमें उलाहना नहीं, स्नेह था।

'कल वह और प्रतीक्षा करे, इसमें कोई हानि नहीं दीखती ।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते ।' आनन्द अपने मनमें ही सोच रहे थे । 'कल उस सद्गृहस्थके आनेपर प्रभु यह बात कह कैसे सकते हैं । अब उसे कल निराश करनेका कौन-सा मार्ग हो सकता है ।'

वह कल बहुत दूर तो था नहीं । रात्रि व्यतीत हुई और कल आज बनकर आ गया । प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण होनेपर सबने देखा कि कलकी भाँति आज भी दण्डनायक करबद्ध सम्मुख खड़े हैं ।

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है ।' आज भगवान्‌ने दण्डनायकको प्रार्थना करनेका भी अवकाश नहीं दिया —'तुम दान करो प्रथम । प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो ।'

'जैसी प्रभुकी आज्ञा !' बुद्धकी वाणीने उपस्थित समुदायको उतना चकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायककी शान्त स्वीकृतिने । दण्डनायकने अपने सर्वस्वदानकी चर्चातक नहीं की । उन्होंने तो कलकी भाँति ही मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथकी ओर ।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभुके पृष्ठप्रान्तमें थे । आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक । आज उनकी दृष्टि बड़ी सावधानीसे दण्डनायकके मुखपर स्थिर थी । आज इस सद्गृहस्थके नेत्रोंमें अश्रु नहीं झलमलाये । आज इसके मुखपर अद्भुत गाम्भीर्य आया ।

गणनायक, सम्मान्य नागरिक, श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुगण— आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक दण्डनायककी ओर नहीं देख सका । आज सबके नेत्र प्रभुकी ओर उठ गये । 'प्रभु इन्हें कृपण क्यों कहते हैं ? क्या रहस्य है तथागतके इस अद्भुत व्यवहारका ? वैशालीके दण्डनायकसे और किस दानकी इन्हें आशा है ?'

तथागतने प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त कर दिया था । वे आसनसे उठ चुके थे । अब तो उनसे कल कोई जिज्ञासा की जा सकती है ।

× × ×

'प्रभु आ रहे हैं ?' कितने उल्लाससे गृहस्वामिनी स्वयं दौड़ी आयी थी द्वारतक ।

'भद्रे ! हमने अभी प्रथम कोटिका दान नहीं किया है ।' दण्डनायक आज क्षुब्ध नहीं थे । उनका स्वर शान्त-गम्भीर लगता था—'मुझे लगता है कि प्रभुकी प्रीति मैं पा गया हूँ । वे हमारी परीक्षा नहीं ले रहे हैं, हमें कोई परमपुनीत पथ प्रदान करना चाहते हैं; किंतु हमारा निमन्त्रण आज भी स्वीकृत नहीं हुआ है ।'

'प्रभु नहीं पधारेंगे ?' वह भावुक महिला विह्वल हो गयी ।

'वे अवश्य पधारेंगे !' दृढ़ श्रद्धा थी दण्डनायकमें । 'तुम पगली मत बनो ! प्रथम हमें प्रथम कोटिका दान करना है ।'

'क्या रहा है अपने पास अब ?' उस महान् महिलाने कहा—'यह सदन और मेरे ये वस्त्र—यही बाधा बने होंगे । इन्हें शीघ्र दे डालो । मैं जीर्ण वस्त्र पहन लेती हूँ । हमारा काम एक तृण-कुटीरमें चल जायगा । सेवकोंको विदा कर दो ।'

'कल यह भी पर्याप्त नहीं सिद्ध होगा !' दण्डनायकने पत्नीको चौंका दिया ।

'क्या ?'

'हमने केवल अबतकका संग्रह दिया है । दण्डनायक कह रहे थे । 'मेरी आय पर्याप्त अधिक है । आगेकी आयकी व्यवस्था कहाँ की हमने ।'

'उसे हम दे डाला करेंगे दीनोंको !' पत्नीको कोई संकोच नहीं था। 'प्रभु स्वीकार करें तो उसे भिक्षुसङ्घको अर्पित कर दो।'

'प्रभुने मुझे कहा है—तुम्हीं प्रथम कोटिका दान कर सकते हो।' दण्डनायक इस बार स्पष्ट हुए। 'इसमें तुम्हें कुछ संदेश नहीं सुन पड़ता ? मैं अपनी आगेकी समस्त आय अध्ययनशील विद्यार्थियोंके निर्वाहके लिये अर्पित कर रहा हूँ। मैं उनके लिये ही उपार्जन करूँगा। गृहका निर्वाह अब तुम कैसे करोगी, तुम सोचो।'

'विद्यादान प्रथम कोटिका दान है।' वह महिला प्रफुल्ल हो उठी। उसे विश्वास हो गया, प्रभु अवश्य कल उसके यहाँ पधारेंगे। 'मेरी बात मत सोचो। हमारा काम उटजमें चल जायगा। मुझे वस्त्र सीना आता है और वह हमारे निर्वाहको पर्याप्त है !'

× × ×

'भन्ते ! तुम्हारा निमन्त्रण बुद्धको स्वीकार है।' प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण करके प्रभुने सम्मुख करबद्ध खड़े दण्डनायककी ओर देखा और उनके निमन्त्रण देनेकी प्रतीक्षा किये बिना ही बोले—'जबतक तुम चाहो, तबतकके लिये स्वीकार है; किंतु प्रथम कोटिका दान किया नहीं तुमने।'

'प्रभु !' दण्डनायकका कण्ठ भर आया था। वे बोलनेमें समर्थ नहीं थे। तथागतकी यह महती कृपा ! एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण एक साथ तो उन्होंने महाराज शुद्धोदनका भी स्वीकार नहीं किया था।

'प्राणियोंको अभय कर देना—अपने महान्-से-महान् अपराधीको क्षमा।' तथागतने समझाया। 'दण्डका सर्वथा त्याग—यही सर्वश्रेष्ठ दान है। समस्त जीवोंको अभय दे देनेके समान कोई दान नहीं।'

'प्रभुको कोई और श्रद्धालु निमन्त्रित करेंगे !' दण्डनायकने एक बार फिर चौंका दिया सबको। उन्होंने अब तथागतके चरण आगे बढ़कर पकड़ लिये। 'मुझे तो अब इनमें स्थान देनेकी कृपा करें।'

तथागतने उस दिन आग्रह करके निमन्त्रण लिया। वे पधारे भिक्षु-सङ्घके साथ दण्डनायकके भवनमें; किंतु उसी दिन सायंकाल भिक्षुसङ्घमें एक भिक्षु भी बढ़ गया। वे दण्डनायक थे और उनकी सहधर्मिणी भिक्षुणियोंके आवासमें उपस्थित हो चुकी थी सदाके लिये।

प्रेमकी प्रभुता

गहन गुहा तें भालु दुहिता बिबाहि लायौ,
ताकौ अरुझायौ मन रोम की लतान मैं।
सिन्धु मैं सिधारि मारि संखासुर लीन्हौ संख,
नाग जमुना मैं नाथि आयौ निज थान मैं॥
त्रिबली तरंग नाभि भौंर भ्रम्यौ ताकौ मन,
काहू के न आई प्रेम प्रभुता प्रमान मैं।
चंचरीक चतुर उदार दारु दारिबे मैं,
कुंठित कुठार होत कञ्ज कलिकान मैं॥

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

६७—अपनी धुनमें

'कनूँ ! कहाँ जा रहा है तू ?' यह श्याम बहुत चपल है। इसे यदि दाऊ सम्हालता न रहे तो पता नहीं क्या कब करे यह। अब स्नान करके भीगे वस्त्रों ही वनमें भागा जा रहा है। ऐसी क्या शीघ्रता है ? गायें तो सब यहीं हैं और सखा भी यहीं हैं। कोई विचित्र घटना भी नहीं हुई। किंतु श्यामके लिये विचित्र घटना या अद्भुत वस्तुओं-की क्या कमी है। इसने कोई पक्षी, कोई पशु, कोई पुष्प देख लिया और दौड़ पड़ा।

'लौट आ। पहले वस्त्र पहिन ले।' दाऊ पुकार रहा है। वह न पुकारे तो उसका छोटा भाई कितनी देरमें लौटेगा, इसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं।

'दादा ! मैं आया अभी !' गीली अलकोंसे बूँदें झर रही हैं। शरीर अभी पोंछातक गया नहीं है। दौड़ते-दौड़ते ही पीछे मुख घुमाकर मोहनने हाथ उठाकर हँसते हुए कहा और फिर आगे दौड़ गया।

'इसे पुष्प लेनेकी इतनी शीघ्रता है।' दाऊ अपनी गीली कछनी बदल रहा है। वस्त्र बदलकर छोटे भाईके वस्त्र लेकर उसके पास ही दौड़ जाना चाहता है। कृष्णको देरतक भीगे वस्त्रोंमें नहीं रहने दिया जा सकता। दाऊको अपने वस्त्र बदलनेमें शीघ्रता करनी है।

गायें जल पीकर तटके निकट ही हरी-हरी घास चरनेमें लगी हैं। वे दूरतक फैलकर चर रही हैं। गोपकुमारोंने स्नान किया है कालिन्दीमें। अब वे वस्त्र बदलने, गीले वस्त्र धोने या सुखाने तथा अपने लकुट, शृङ्ग, छीके आदि सम्हालने-में लगे हैं।

'तू वस्त्र बदल पहले !' श्यामसुन्दर दौड़ा-दौड़ा आया है वनसे लौटकर। वह कदम्बके कई बड़े-बड़े सुन्दर पुष्प, यूथिकाके पुष्पगुच्छ और कनेरके लाल-लाल फूल ले आया है। दाऊ चाहता है कि वह अपना आगेका कार्यक्रम थोड़ी देर स्थगित रखे और वस्त्र बदल ले।

'मैं अभी वस्त्र बदलता हूँ, तू तनिक खड़ा रह।' कन्हाई अपनी धुनमें है। वह सदा अपनी ही धुनमें रहता है। इस समय उसे बड़े भाईका शृङ्गार करनेकी धुन है और बिना उसे पूरा किये उसे कछनी बदलनेको प्रस्तुत कर लेना सरल नहीं है।

गीला पीतपट कटिसे चरणोंतक चिपका हुआ है। इन्दीवर सुन्दर श्रीअङ्गकी छटा उससे झाँक रही है। भीगा हुआ है पूरा अङ्ग। अलकोंसे बिन्दु गिर रहे हैं और भाल, कपोल, कंधे, वक्षपरसे अभी जल फिसल रहा है। घनश्याम हाथोंमें पुष्प लिये अपने बड़े भाईके सम्मुख खड़ा है और उसकी किंचित् आर्द्र अलकोंमें उन्हें बड़े यत्नसे सजा रहा है।

'हो गया। ले, पहिन तू इसे।' दाऊके हाथोंमें कन्हाईका पीतपट है और उसे शीघ्रता है।

'तू तनिक रुक जा। हिल मत।' कन्हाई अपनी धुनमें है। उसे जल्दी करनेका कोई कारण ही नहीं दीखता।

६८—मनुहार

'दादा, तू आज उदास क्यों है ?' श्यामसुन्दर आया और बड़े भाईका हाथ अपने हाथमें लेकर पास बैठ गया है। 'तू खेलता तो है नहीं।'

'कनूँ, तू खेल। मेरा जी खेलनेको नहीं होता।' आज दाऊ गुमसुम बैठा है। पता नहीं, किसकी व्यथाने इसे क्षुब्ध किया है आज।

'मैं नाचूँ ? देखेगा तू ?' मोहन देखता है कि आज हठ करनेसे कोई लाभ नहीं। कहनेसे दाऊ खेलने भी लगे तो ऐसे बेमनके खेलमें भला, क्या आनन्द आना है।

'हाँ, तू नाच।' दाऊने छोटे भाईको प्रसन्न करनेके लिये कह दिया। वैसे आज उसमें जानें क्यों उत्साह नहीं है।

'नहीं, दादा ! तू आ और यहाँ बैठ।' कन्हाई थोड़ी देर ठुमुक-ठुमुक नाचता रहा। हाथ मटकाकर थिरकता रहा। किंतु दादा आज ताल नहीं देता, साथ देनेको आता नहीं और प्रशंसा भी करता है तो वह पूरे उल्लाससे पूर्ण कहाँ है ? ऐसे नृत्यसे क्या लाभ। नाचना बंद करके कृष्णचन्द्र आ गया बड़े भाईके पास और हाथ पकड़कर उठाने लगा। एक कदम्बकी नीचे झुकी डालपर वह दाऊ-को बैठनेको कह रहा है।

कदम्बकी मोटी शाखा झुक आयी है भूमिसे दो हाथ ऊपरतक और उसका अगला भाग फैलकर ऊपर उठ गया है। कुछ पाटल आभा लिये अत्यन्त सुन्दर पुष्पोंसे लदा है यह राज कदम्ब। अपने अनुजके आग्रहसे दाऊ दोनों हाथोंसे शाखाको पकड़कर उचककर बैठ गया उसपर।

दोनों चरण नीचे लटकाये नीलाम्बरधारी दाऊ कदम्बकी शाखापर बैठा है और उसकी दाहिनी ओर शाखासे पीठ टिकाकर, बड़े भाईकी जानुका सहारा लिये भूमिपर यह मयूरमुकुटी, पीतवसन, वनमाली श्यामसुन्दर ललित त्रिभङ्गीसे खड़ा हो गया है। फेंटमेंसे मुरली निकालकर अधरोंपर धर ली है इसने और देख रहा है बंकिम दृगोंसे बड़े भाईकी ओर।

मुरली तो प्रतिदिन बजती है, अनेक बार बजती है, किंतु आजका मुरलीका स्वर·····। आज वंशीमें आलाप नहीं है और न तान है। आज तो स्वरोंकी थिरकन है, मूर्छनाओंकी परस्पर ठेल मठेल है। आज बाँसुरीके संगीतमें नृत्य है।

झूम रहे हैं तरु, झुकी पड़ती हैं लतिकाएँ, पत्ता-पत्ता फड़क रहा है। गौएँ हुंकार कर रही हैं, बछड़े कूद रहे हैं, वनपशु उछल रहे हैं। मोहनके मस्तकका मयूरपिच्छ झुक-झुक पड़ता है दाऊकी ओर और नेत्र बार-बार तिरछे हो उठते हैं। बड़े भाईकी आज मोहन मनुहार कर रहा है और दाऊ ?

दाऊके भावमुग्ध दृग अपने अनुजके मुखपर स्थिर हो गये हैं। भूल गया है वह अपने आपको भी।

६९—लहालोट

धुम्! यह श्यामसुन्दर बहुत नटखट है। दबे पैर इस प्रकार आया है, जैसे बिल्ली कभी-कभी आखेट देखकर सावधानीसे चलती है। और आते ही सहसा विचित्र स्वरमें चिल्ला पड़ता है।

दाऊ आज नीमकी शीतल छायामें बैठकर वन-श्री देखनेमें लगा था। गायें चर रही हैं, बालक उछल-कूद करके थक गये हैं और अब शृङ्गारके लिये कुसुम, किसलय, गुञ्जादि चयन करनेमें लगकर वनमें बिखर गये हैं। मोहन दीखता नहीं, तो वह भी मयूरपिच्छ या पुष्पस्तबक लेने गया होगा। दाऊ शिलापर शान्त बैठा है, बायें पैरकी पालथी मारे और खड़े दाहिने घुटनेको दोनों भुजाओंमें पकड़े। मौलिश्रीके सुमन झर रहे हैं उसपर। उसकी अलकोंमें वे नन्हे पुष्प उलझ गये हैं।

'हैं!' वृन्दावनमें तो ऐसा शब्द करनेवाला कोई पशु-पक्षी अबतक देखा नहीं गया। शब्द न सिंह-जैसा है न उलूक-जैसा। उलूककी 'घू-घूकी गूँज और सिंहकी दहाड़' दोनोंका जैसे मेल हो गया हो। इतना विचित्र शब्द और पीठके पीछे इतने निकट? दाऊ एकदम चौंककर मुख घुमाकर देखने लगा।

दोनों हाथ पंजेके समान आगे किये, शरीर झुकाये, अपना सुन्दर मुख खोले श्यामकी यह अद्भुत छटा—दाऊ खुलकर हँस पड़ा। यह तो कनूँ है उसका। 'अरे!' इतना ही कहा उसने और हाथ बढ़ाया पकड़नेको।

'दादा डर गया!' कृष्णका हास्य अब रोके नहीं रुकता। वह खिलखिलाकर हँस रहा है, हिल रहा है, सिर झकझोर रहा है और साथ आये बालकोंमेंसे कभी एकको और कभी दूसरेको दोनों भुजाओंसे पकड़कर झुका पड़ता है।

'दादा डर गया!' मोहन हँसीसे लहालोट हो रहा है। उसका मुख अरुण हो रहा है। उसके विशाल नेत्रोंमें अश्रु भर आये हैं और अलकें मुखके चारों ओर अस्त-व्यस्त हो रही हैं।

'दादा, तू डर गया न?' अपने बड़े भाईके गलेमें दोनों भुजाएँ डालकर अब यह उसकी गोदमें ही हँसीसे लोटपोट हो रहा है।

कन्हाई इतना प्रसन्न हो रहा है तो दाऊको क्या पड़ी कि प्रतिवाद करे—'मैं डरा नहीं।'

७०—सेवा

'दादा, तू सुबलकी गोदमें सिर रखकर सो जा।' कन्हाईको जब जो धुन चढ़ गयी, सो चढ़ गयी। अपनी धुन तो वह पूरी ही करेगा। अपने बड़े भाईका हाथ पकड़कर वह खींचने लगा है। स्वयं अपने हाथों इस तमालके नीचे किसलय तथा कुसुमदल बिछाकर शय्या बनायी है बड़े श्रमसे इसने। अब उस श्रमको सफल भी तो होना चाहिये।

'क्यों?' दाऊने पूछ लिया।

'तू थक गया है। देख, मैंने तेरे लिये कितनी सुन्दर शय्या बनायी है।' कितना बढ़िया तर्क है! श्यामने शय्या! बनायी है, इसलिये दाऊ थक गया है।

'मैं थक गया हूँ?' दाऊ मुसकराया।

'हाँ, हाँ, तू थक गया है। भद्रसे पूछ देख।' जो थका है, उसे स्वयं पता नहीं है। उसे अब भद्रसे सुबलसे, तोकसे या और किसीसे पूछ लेना चाहिये कि वह थका है या नहीं। किंतु इतनी खटपट क्यों की जाय? कन्हाई कहता है, यही क्या कम प्रमाण है?

'किंतु, कनूँ! मैं थका नहीं हूँ।' दाऊ अब छोटे भाईको खिझा रहा है—'मुझे थकान जान नहीं पड़ती।'

'तू थक गया है, खूब थक गया है। तुझे नहीं जान पड़ता है तो क्या हुआ।' श्याम पूरे बलसे कह रहा है। 'मैंने तेरे लिये ही तो शय्या बनायी है। चल, सो जा।'

कृष्णचन्द्रने शय्या बनायी है, वह हाथ पकड़कर आग्रहपूर्वक खींच रहा है तो दाऊको थक ही जाना चाहिये। दो घड़ीसे सखाओंके साथ मोहन शय्या बनानेमें जुटा जो रहा है।

इधर-उधर बिखरी सहस्रशः रंग-बिरंगी गायें। ये प्रायः सब चर चुकी हैं। मध्याह्नमें अब जल पीकर खड़ी या बैठी पागुर कर रही हैं। कभी-कभी पूँछ या कान हिला देती हैं।

गोपकुमार भी यत्र-तत्र मण्डली बनाकर बैठे हैं और कोई-कोई शिलापर या दूर्वापर लेट गये हैं।

तमालकी सघन छायामें हरित दूर्वापर आम्रकिसलय एवं दूसरे कोमल दलोंकी अच्छी मोटी शय्या है और उसपर नन्हे उज्ज्वल, पीत, नील, लाल सुमनों तथा पाटल-दलोंके अद्भुत चित्र बने हैं। सुबलकी गोदमें सिर रखकर नीलाम्बरधारी स्वर्णगौर दाऊ लेटा है उसपर। कमलपत्रोंसे कुछ गोपकुमार उसे व्यजन कर रहे हैं।

कछनी कसे कन्हाई अग्रजके चरणोंके पास बैठा है और एक चरण गोदमें रखकर धीरे-धीरे दबा रहा है। झुका है कमल मुख, झुके हैं विशाल नेत्र, झुककर चरण दबा रहा है श्याम। इस समय अग्रजकी चरण-सेवामें तन्मय है वह।

'कनूँ!' दाऊ बड़े स्नेहसे पुचकार रहा है। वह चाहता है कि कन्हाई अब विश्राम करे।

'दादा, तू सोया नहीं? पहले तू सो जा!' श्यामके आग्रहकी रक्षाके लिये दाऊको नेत्र बंद कर ही लेने पड़ेंगे।

७१—भूख

'दादा! मुझे भूख लगी है।' कन्हाईकी भूख उसके उदरमें नहीं रहती, पदार्थमें रहती है। जब कोई पदार्थ और उसे प्रस्तुत करनेवाला श्यामको भोजन कराना चाहता है, मोहन भूखा हो उठता है।

'मेरे छीकेमें अभी तेरे लिये भोजन बचा है।' दाऊ अपने छोटे भाईके लिये प्रायः अपने छीकेमें कुछ-न-कुछ बचा रखता है। सखाओंके साथ भोजन करते समय श्याम स्वयं तो कुछ खाता ही नहीं। यह तो दूसरोंको खिलानेमें ही रह जाता है। अब वन-भोजनके घंटेभर पीछे ही इसे भूख लग गयी तो आश्चर्यकी क्या बात है।

'मैं बासी नहीं खाऊँगा।' कन्हाईको कब क्या रुचेगा और कब क्या नहीं रुचेगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। इससे कौन पूछे कि घंटेभर पीछे वही भोजन बासी कैसे हो गया, जो घंटेभर पूर्व ताजा लगता था?

'फल खायगा? देख, मैं मीठे-मीठे फल तोड़ लाता हूँ।' एक कंधेपर हाथ रखकर यह कनूँ कितने आग्रहसे देख रहा है। सचमुच कितना भूखा है। इसका मुख सूख-सा रहा है। दाऊको सूझता ही नहीं कि क्या पाये और अपने अनुजको तुष्ट करे।

'फल तो भरे पेटपर खाये जाते हैं।' मोहनने मुख बिचका लिया।

'दूध पियेगा? नन्दाको पुकारूँ?' पुकारते ही नन्दा दौड़ी आयेगी और श्याम कमलपत्रका दोना लेकर उसके थनोंके नीचे बैठ जाय तो फिर नन्दाके थनोंकी धारा रोकनेसे भी रुकनेवाली नहीं है।

'माँ कहती थी कच्चा दूध नहीं पीना चाहिये।' कृष्णचन्द्रने यह प्रस्ताव भी स्वीकार नहीं किया।

'तब क्या खायगा?' दाऊ व्याकुल हो उठा है।

'दही खाऊँगा! तू खायगा न?' दूरसे नूपुरों, कङ्कणोंकी झंकार आ रही है और यही है श्यामसुन्दरके भूखका रहस्य। बड़े भाईकी अनुमति चाहिये उसे और भोजनमें साथ भी।

'मुझे तो भूख नहीं है।' दाऊ हँस पड़ा।

'तब मैं भी नहीं खाऊँगा।' मुँह बनाकर श्याम बैठ गया।

'अच्छा, अच्छा! मैं खाऊँगा। तू दही माँग ला।' कन्हाईका मुख सूख रहा है। यह भूखा है। इस समय क्या उसे रूठने दिया जा सकता है।

'माँग क्यों लाऊँगा। मेरे वनमेंसे दही बेचने जायँगी और मेरा भाग नहीं देंगी?' पूरे उत्साहसे श्याम खड़ा हुआ और दौड़ गया।

× × × ×

इधर-उधर गोपकुमार दही खानेमें लगे हैं। पत्थरपर, पत्तेपर, हाथपर सब शीघ्रतासे चाट रहे हैं। बंदरोंको तो जैसे निमन्त्रण मिल गया है और एक मुखसे फूटी दही भरी दहेंड़ी लिये यह दौड़ता आया कन्हाई। हाथ, पैर, शरीर —सब दहीसे उज्ज्वल हो रहे हैं। बड़े भाईके आगे वह फूटा दहीभरा पात्र रखकर बैठ गया है।

वे दूर खड़ी गोपकुमारियाँ—उनके वस्त्र फट गये हैं, आभूषण टूट गये हैं, शरीर और वस्त्रोंपर दही फैला पड़ा है; किंतु वे इतने मुग्ध भावसे क्या देख रही हैं? वे देख रही हैं भूख। पर वह कहाँ है, दाऊमें या श्याममें? श्याम तो बड़े भाईको इतने आग्रहसे अपने हाथों दही खिलानेमें लगा है, जैसे भूख उसे नहीं, दाऊको ही लगी है।

७२-अभियोग

'मैया! दाऊको मार तो तू!' संध्याके समय गोचारणसे लौटा धूलिधूसर श्याम मैयाके पास दौड़ा आया और मैयाका एक हाथ पकड़कर दाऊकी ओर देखने लगा। दाऊ चकित-से रह गये। आज अपने छोटे भाईसे उनका कोई झगड़ा तो हुआ नहीं, फिर पहुँचते ही कनूँ यह कौन-से अभियोगकी भूमिका बना रहा है?

'तुमने अपने छोटे भाईको खिझाया है?' मैया हँसती-सी दाऊसे पूछने लगी।

'नहीं मैया!' कृष्णचन्द्र बीचमें ही बोला। 'दाऊ दादा खेलते-खेलते थक गया था। मैं कहता था कि सुबलकी गोदमें सिर रखकर तमालके नीचे सो जा, मैं तेरे पाँव दबा दूँ। यह मेरी बात कभी झटपट नहीं मानता। देख, इसके चरण कितने लाल-लाल हो गये हैं। तू इसे मार, मैया!'

'हाँ, तेरे पाँव लाल तो हो गये हैं!' मैयाको और अधिक हँसी आयी। 'तू कन्हाईकी बात क्यों नहीं मान लिया करता? अच्छा ठहर!' इधर-उधर देखा मैयाने, किंतु कहीं कोई छड़ी तो पासमें दीखती नहीं। उसने बड़ी भारी मथानी उठायी, जैसे सचमुच उसे दाऊको आज पीटना ही है और सो भी इतनी भारी मोटी मथानीसे।

श्यामने मैयाका हाथ छोड़ दिया। झपटकर दोनों भुजाएँ बड़े भाईके कण्ठमें डालकर लिपट गया। मैया यदि मथनी चलाये ही तो वह स्वयं झेल लेना चाहता है।

नीलाम्बरधारी कमललोचन श्रीबलरामके कण्ठसे लिपटा यह पीतवसन नीलसुन्दर। दोनों भाइयोंके श्रीअङ्ग गोरज-मण्डित। दाऊके भावभरे दीर्घ दृग्। मथानी उठाये अधरोंमें हँसती, क्रोधका नाट्य करती मैया यशोदा। श्यामके रतनारे नेत्र भर आये हैं। मुख घुमाकर मैयाकी ओर देख रहा है वह। उसके नेत्रोंमें उलहना, भय और पता नहीं क्या-क्या है।

'दादा! उठ। हम दोनों माँके पास चलेंगे। बड़े भाईका कण्ठ छोड़कर हाथ पकड़ा उसने। 'हम दोनों माँके बेटे रहेंगे। मैयाके बेटे नहीं रहेंगे। यह तुझे मारती है।'

मैयाकी ओर कुछ रोषपूर्वक देखते, बड़े भाईको हाथ पकड़कर खींचनेका प्रयत्न करते, कृष्णचन्द्रकी यह अपूर्व छटा!

मैया ठगी-सी रह गयी अपने पुत्रकी शोभा देखकर।

७३-मिलन

आज दाऊका जन्मनक्षत्र है। यह जन्मनक्षत्र कोई अच्छी बात नहीं। न दो-चार बरसपर आता न दो-चार महीनेपर, प्रत्येक महीने पहुँचा ही रहता है और जन्मनक्षत्र आया तो मैया वनमें नहीं जाने देगी। कन्हाई दिनभर पृथक् रहेगा। पूजा-पाठ, स्वस्तिवाचन, हवन-दान-दक्षिणा आदिमें श्याम बहुत उत्साह दिखाता है; किंतु दाऊको कोई विशेष रुचि नहीं इनमें। मैयाका भय, बाबाका संकोच, माँका आग्रह—नहीं तो वह सबको अँगूठा दिखाकर अपने छोटे भाईके साथ वनमें भाग जाय। कृष्णचन्द्र भी चाहता है कि उसका दादा अपना जन्मनक्षत्र मनाये और दाऊ आज घरमें है। वनमें नहीं जा सका वह। हवन, गोदान, पूजा-पाठ, वाद्य-गीत, बड़ा महोत्सव होता है इस दिन और आज भी हुआ है; किंतु दाऊको लगता है कि वह एक बड़े भारी जनहीन मरुभूमिमें पड़ गया है, जहाँ एक नन्हा झींगुरतक 'चीं' नहीं करता सुनायी पड़ता। सुनसान-सुनसान। सब कोलाहल, सब धूम-धड़ाका, सब भीड़-भाड़; किंतु दाऊको जैसे यह सब दीखकर भी नहीं दीखता। वह अनमना-सा है। मैया जानती है, माता रोहिणी जानती हैं, अपने अनुजसे पृथक् यह ऐसा ही गुमसुम हो जाता है।

'कनूँ आ रहा है।' बड़े तेज कान हैं दाऊके। सबसे पहले वंशी-ध्वनि इसीके कानोंमें पहुँचती है। माता रोहिणी पुकार रही हैं, मैया द्वारतक पीछे लपकी आयी है, बाबा 'हाँ, हाँ' करते पकड़ने दौड़े आ रहे हैं। गायोंके झुंड-के-झुंड दौड़ते आ रहे हैं और उन कूदती-उछलती सहस्रों गायोंके

बीचमें यह नीलाम्बरधारी नन्हा-सा दाऊ सीधा ताली बजाता दौड़ा जा रहा है।

'हम्मा !' गायोंके पद ठक-से रुक गये हैं। वे सूँघ लेना चाहती हैं। वे असमंजसमें पड़ गयी हैं—'उन्हें गोष्ठमें जाना है या वनमें ? दाऊ तो वनकी ओर जा रहा है।' वे खड़ी हो गयी हैं। पीछे देखने लगी हैं और कुछ मुड़ भी पड़ी हैं। 'दाऊ उन्हें देखता क्यों नहीं ? पुचकारता क्यों नहीं ?' वह तो उनके बीचसे दौड़ा जा रहा है। वे उसकी ओर मुख करके 'हम्मा हम्मा' कर रही हैं।

'दादा !' आज श्याम नहीं देखता कि द्वारोंपर किनके थालोंमें नीराजन-दीप हैं। वह नहीं देखता पुष्प झरते छज्जोंकी ओर बंक दृगोंसे। न कहीं आज उसे पुष्प फेंकना है न मुस्कराना है। आज वह नाचता ही नहीं। उसकी मुरली भी आज विचित्र गतिसे बजती है। वह मार्गके इधर होता है, उधर होता है और बार-बार उझकता है दोनों पंजोंके बल—'दादा !' इन गायोंके अपार समूहके आगे उसका दादा दीखता नहीं उसे।

'दादा !' दोनों हाथ फैलाकर दौड़ा कन्हाई और वह दौड़ा आ रहा है दाऊ। दोनोंका मिलन·····जैसे युगों पश्चात् मिल रहे हों दोनों।

गायें गोष्ठोंकी ओर दौड़ी जा रही हैं—लक्ष-लक्ष गायें। उनके पीछे नीलाम्बरधारी, निर्मल गौर वर्ण यह दाऊ और उसके सामने नाचता, वंशी बजाता, कूदता, हँसता यह वन-पुष्पोंसे सजा, गोरज-धूसर श्यामसुन्दर। आज अपने दादाको छोड़ इसे जैसे और कहीं देखना ही नहीं है। गोपकुमार दोनोंको घेरकर नाचते हैं, गाते हैं और तब मण्डली थोड़े पद चल लेती है। आजका यह मिलन-महोत्सव·····।

७४—श्याम पहले जगा

'श्यामसुन्दर ! उठ लाल ! देख तो कितना सबेरा हो गया ! देख, तेरा मयूर आँगनमें कैसा नाच रहा है।' मैया बहुत धीरे-धीरे हाथ फेर रही है मोहनके शरीरपर। वह बार-बार रुक जाती है—अभी जगाये या न जगाये ? किंतु देर होनेपर यह ठिकानेसे कलेऊ भी नहीं करता।

एक ही शय्यापर नीलाम्बर ओढ़े दाऊ और पीतपट ओढ़े श्याम सो रहे हैं। मैया चाहती तो है कि अब दोनों पृथक् सोना सीखें, पर कन्हाईको बड़े भाईके बिना नींद ही नहीं आती।

'देख तो, कितनी देरसे बेचारे ये नन्हे पक्षी तुझे पुकार रहे हैं। कितने सुन्दर पक्षी आये हैं आज ! तेरी कामदा बुला रही है तुझे।' मैया धीरे-धीरे पुकार रही है।

श्यामसुन्दर हाथसे मुखपरसे पीतपट हटाता है, तनिक नेत्र खोलकर मुस्कराता है और फिर मुख ढककर सो जाता है। बार-बार वह यही कर रहा है। मैया अपलक देख रही है उसका बिखरी अलकोंसे घिरा चन्द्रमुख। झीने पीतपटमेंसे इस मुखकी शोभा·····।

'तू कहता था न, मुझे दाऊसे पहले उठा देना ! तू नहीं उठेगा तो मैं दाऊको जगाती हूँ।' मैयाने स्नेहसे फिर पुचकारा।

अब कन्हाई मुखसे पीतपट हटाकर देखने लगा। सचमुच दाऊ अभी सो रहा है। चरणोंसे पीताम्बरको हटाकर पैताने कर दिया इसने और बैठ गया नेत्र मलते-मलते। एक बार मैयाकी ओर देखकर मुस्कराया और फिर दोनों पैर लटकाकर शय्यासे उतर गया।

'दादा !' एक हाथसे शय्या पकड़कर दूसरेसे दाऊके ऊपरका नीलाम्बर खींच लिया मोहनने। जैसे बादलोंमेंसे चन्द्रमा निकल पड़ा हो। दाऊने नेत्र खोले और अपने छोटे भाईको हँसते देख झटसे बैठ गया, उतर गया शय्यासे।

'दादा ! मैं तुझसे पहले उठ गया !' कृष्णचन्द्र बहुत प्रसन्न हो रहा है। दाऊ उतरकर उसके पास आ खड़ा हुआ है।

'अच्छा, अब आओ तो तुम दोनों !' मैयाने एक-एक हाथ पकड़ा। दोनोंकी अलकें बिखरी हैं। दोनोंके नेत्रोंमें अलस भाव है और काजल दोनोंके नेत्रोंका फैल रहा है। दोनोंके मुखपर मधुर हास्य है। दोनोंकी नीली-पीली कछनियाँ ढीली-ढाली हो रही हैं। दोनों बार-बार जम्हाई ले रहे हैं और अलस पदोंसे अटपट चल रहे हैं। मैया दोनोंका मुख धोयेगी अब। वह दोनोंको गोदमें लेकर बैठ गयी है सम्मुख जल रखकर और दोनों मैयाके गलेमें हाथ डालकर, कंधेपर सिरपर रखकर एक क्षण और सो लेना चाहते हैं !

७५—संकल्प

'दादा, ये राक्षस बहुत बुरे होते हैं।' श्यामसुन्दरने अपने विशाल दृग बड़ी विचित्र भङ्गीसे अग्रजकी ओर उठाये।

'हम सब असुरोंको मार देंगे।' दाऊके भ्रूमण्डल भी कठोर हुए और वह अपने छोटे भाईके पास बैठ गया।

कन्हाई इतना गम्भीर बने, उसका यह नित्य प्रसन्न चञ्चल अनुज इस प्रकार सचिन्त दिखायी दे—दाऊ इसे किसी प्रकार सह नहीं सकता।

कल जब गोचारणसे गोष्ठमें लौटे, बाबाकी पौरीपर एक बिचारी बुढ़िया रो रही थी। झुकी कमर, काँपते अङ्ग, पके केश, झुर्री पड़ा शरीर—हाथमें लठिया टेककर वह बड़ी कठिनतासे आयी थी और अब तो उससे उठा भी नहीं जाता था। वह रो-कलप रही थी। बिलख रही थी। बड़ी दूरसे बाबाकी शरणमें आयी थी। राक्षसोंने अकारण उसकी झोपड़ी जला दी। उसके फलशाली वृक्ष काट दिये। वह निरपराध—वह दीना मुनियोंको कुछ फल भेंट कर आया करती थी, यही था उसका अपराध। उस अनाथाका आवास, उसकी जीविका! हाय! अब क्या करे वह? कंसके अनुचरोंके विरुद्ध कौन उस कंगालिनीकी बात सुनेगा?

'माँ!' मोहन न गोष्ठमें गया और न घरमें, उसने एक ओर फेंका लकुट एवं शृङ्ग और जाकर बैठ गया उस वृद्धाके अङ्कमें। दाऊ उसके पास सटकर खड़ा हो गया। श्यामसुन्दर पटुकेसे उसके नेत्र पोंछ रहा था, किंतु मोहनके विशाल दृग् झरते जा रहे थे।

'मेरे लाल!' बुढ़िया तो निहाल हो गयी। वह कन्हैयाको ऐसे चिपटाये थी छातीसे, जैसे बँदरिया अपने बच्चेको चिपका लेती है।

बुढ़ियाकी झोपड़ी—बाबाने अपनी सिंहपौरीके समीप उसे सुन्दर आवास दिया है। मैया उसके पैर छूती है। उसे अब अभाव क्या है। राक्षसोंने उसकी झोपड़ी क्या जलायी, वह तो राजमाता हो गयी। ऐसा सौभाग्य उसे भला, कहाँ मिलना था।

बुढ़ियाका राक्षसोंपर कोई रोष नहीं। वह रात ही हँसती थी और कहती थी—'मेरा तो उपकार ही किया उन्होंने।' किंतु यह कनूँ कलसे गम्भीर हो गया है। आज वनमें आकर भी उछल-कूदमें इसे उल्लास नहीं।

लाल-लाल कोंपलोंसे लदे अश्वत्थके नीचे बायें जानुपर कुहनी टेककर बायें करकी मुट्ठीपर चिबुक रखे, बायीं ओर कुछ झुका, दाहिनी जाँघपर दाहिना कर शिथिल डाले यह कृष्णचन्द्र आज गम्भीर हो गया है। इसके दृगोंमें एक संकल्प है और भ्रूमण्डलमें बंकिम दृढ़ता। पवन भी स्तब्ध हो रहा है भयसे। मस्तकका मयूरपिच्छ भी निस्पन्द बन गया है। दाऊ अपने अनुजको इतना गुमसुम नहीं देख सकता। वह अलकोंपर हाथ फेरता दाहिने सटकर बैठ गया है—'हम सब असुरोंको मार देंगे।'

'सब राक्षस बुरे होते हैं। हम सबको मारेंगे।' तोक समझता है—इन राक्षसोंमें दम कितना होता है। बड़े मोटे देखनेको होते हैं, पर कन्हाईने चपत मारी तो बरसाती छत्ते-जैसे फच् हो जाते हैं। दाऊ सबको मारेगा तो क्या वह दस-पाँच भी नहीं मार सकता। अपना लकुट लेने दौड़ गया है वह।

७६-करुणा

'कनूँ, तुझे किसने मारा है?' सुकुमार कन्हाईकी पीठपर कटिदेशमें एक नन्ही-सी खरोंच आ गयी है। रक्त आया नहीं है; किंतु छलछला आया-सा लगता है। नन्ही खरोंच—किंतु श्याम कितना सुकुमार है! दाऊके कमल-दलके समान सहज अरुण नेत्र सर्वथा किंशुकारुण हो उठे हैं और उनमें जल भर आया है। भ्रूमण्डल कठोर हो गये हैं और मुख तमतमा आया है। उसके रहते कोई उसके भाईकी ओर अँगुली उठा सकता है। कौन है वह!

'कहाँ? मुझे किसने मारा?' श्यामको पता ही नहीं कि उसे खरोंच भी आयी।

'यह क्या है?' दाऊके नेत्र तो वहीं स्थिर हो गये हैं।

'यह?' मोहन इस प्रकार सोच रहा है, जैसे बहुत गम्भीर बात है यह। इसे तो कोई लंबी, उजली दाढ़ीवाले ऋषिको आसन लगाकर, नेत्र बंद करके, दस-पाँच दिन सोचना चाहिये। 'उस लताने।' एक ओर अँगुली दिखायी भोलेपनसे।

'तू उसके फूल लेने गया था?' आज जब यह उधर गया ही नहीं, तब लतासे खरोंच कैसे आयेगी!

'ना, फूल तो मैं कदम्बके लाया हूँ। उस कदम्बके।' अब इसका कोई समन्वय है कि फूल पूर्वके कदम्बसे ले आये और खरोंच पश्चिममें दूरस्थित लतासे लगी!

'तब लताने कैसे मारा?' दाऊ ठीक सोचता है कि मोहन बता नहीं रहा है। किंतु मोहन कैसे बता दे कि श्रीदामासे झगड़नेमें उसके हाथके नखसे अनजानमें ही खरोंच आयी है। बेचारा श्रीदामा—कितना दुःख होगा उसे! इस दाऊका ही क्या ठीक ठिकाना है कि क्या कर बैठे। कभी तो यह बड़ी-से-बड़ी बातपर हँस देता है और कभी

तनिकमें लाल हो जाता है और फिर इसका क्रोध·····।

'तब इस पत्तेने मारा है।' कोई सजीव, सहृदय, सज्ञान प्राणी तो मोहनको जान-बूझकर तनिक भी कष्ट देनेका विचार कर नहीं सकता। खरोंच आयी है, तब किसी निर्जीवका काम होगा यह। वृक्षसे टूटकर गिरे एक पीले पत्तेको हाथमें उठाकर कृष्ण इस प्रकार देख रहा है, जैसे जान लेना चाहता है—निश्चय कर लेना चाहता है कि इसीने मारा है उसे या नहीं।

'कनूँ!' दाऊके मुखकी अरुणिमा लुप्त हो गयी है। भ्रूमण्डल सरल हो गये हैं और नेत्रोंमें अद्भुत भाव है। वह एकटक अपने अनुजके श्रीमुखको देख रहा है।

'दादा!' अधरोंपर मन्द स्मित लिये श्याम भी एकटक देख रहा है अग्रजको। अब इन दोनों भाइयोंकी दृष्टिमें क्या भाव है—श्रुतिपारद्रष्टा ब्रह्माके लिये भी यह अज्ञेय है।

७७—डाँट पड़ी

'दादा, कनूँ धूपमें नाच रहा है। देख न, रेत कितनी तप रही है।' भद्रने दाऊसे कहा। आज श्यामसुन्दर सखाओंको खिझा रहा है। सुबल, भद्र, तोक—सबने कह लिया; किंतु वह किसीकी सुनता ही नहीं।

'कनूँ!' दाऊने पुकारा। किंतु कन्हाई कहाँ सुनता है। धूप पड़ रही है, रेत तप चुकी, उसके भालपर स्वेदकण चमकने लगे हैं, उसका मुख लाल-लाल हो गया है; किंतु उसका ध्यान सखाओंको खिझानेकी ओर है। सबको खिझानेके लिये वह और शीघ्रतासे नाच रहा है। जान-बूझकर पैर इस प्रकार पटकता है कि नूपुर अधिक-से-अधिक शब्द करें। हाथ नचाता है और घूमता है।

'कनूँ!' दाऊने कुछ अधिक ऊँचे स्वरसे पुकारा—'चल, छायामें आ जा। रेत तप रही है।'

कनूँ सुनता नहीं, देखता नहीं किसीकी ओर। वह मुसकराता जाता है, नाचता जाता है। उसकी एक-एक भङ्गीमें नटखटपन है। जैसे वह कहता हो—'मैं नाचूँगा। क्या करोगे तुम सब? मैं कहाँ किसीकी चिन्ता करता हूँ।'

'कनूँ!' पूरे उच्चस्वरसे डाँटकर पुकारा दाऊने। 'यह तपती रेत और ये सुकुमार चरण—नहीं, अब और सहा नहीं जा सकता।'

दाऊका स्वर सुनकर कन्हाईने देखा बड़े भाईकी ओर और नृत्यको उठे उसके पद जैसेके वैसे रह गये। दाऊ तो क्रुद्ध हो गया है। अब भागनेसे भी क्या लाभ? अपने दादासे भागकर जाया भी कहाँ जा सकता है? वह तो दस पैंडमें पकड़ लेगा। हाथ ढीले हो गये। मुख झुकाकर धीरे-धीरे चलकर कृष्णचन्द्र बड़े भाईके सामने आकर खड़ा हो गया। ऊपर मुख करके भयकातर नेत्रोंसे बड़े भाईके मुखकी ओर देख रहा है वह। उसके विशाल नेत्रोंमें आँसू भर आये हैं। उसकी कातर भङ्गिमा कहती है—'दादा, मुझे मार मत। मैं फिर ऐसा हठ नहीं करूँगा।'

दाऊने अपने भयाकुल भाईका मुख देखा, भरे नेत्र देखे और खींचकर हृदयसे लगा लिया। श्याम चिपक गया है बड़े भाईसे और हिचक-हिचककर रोने लगा है। दाऊके कंधेपर मुख छिपा दिया है इसने। हिचकने-सिसकनेके वेगसे इसका सिर और पीठ हिल रही है। रोता है—रोता जा रहा है कन्हाई।

दाऊके नेत्र झर रहे हैं। श्यामकी अलकोंको भिगाती जा रही हैं बड़ी-बड़ी बूँदें। छोटे भाईकी पीठ एवं सिरपर हाथ फेरते-फेरते दाऊ बड़े स्नेहसे कह रहा है, 'कनूँ! तू धूपमें मत खेला कर! तेरे चरण देख तप गये हैं। रो मत! रो मत, कनूँ!'

श्रीकृष्णको प्रबोध

(रचयिता—पं० श्रीसर्वेन्द्रजी झा)

बार बहु बरजौं तुम्हैं गुपाल।
खेलन कतहुँ धूप मति जैये, मानहु बचन रसाल॥ १॥
चरन अरुन अंबुज अनूप अति, ह्वै जै हैं अति लाल॥ २॥

तृष्णा-तरुणी

(लेखक—पं० श्रीहरिशंकरजी शर्मा)

उचित मात्रामें, न्याययुक्त स्वार्थ सबका होता है। उसकी कोई निन्दा नहीं कर सकता। ऐसे स्वार्थके बिना काम भी नहीं चलता। निन्दा तो उस स्वार्थकी है, जो दूसरोंकी हित-हानि करके सिद्ध किया जाता है। सब अपने-अपने न्याय्य स्वार्थपर आरूढ़ रहें तो किसी प्रकारकी अशान्तिकी आशङ्का नहीं हो सकती। जो लोग अपने औचित्यपूर्ण स्वार्थको भी लात मार देते हैं, वे तो निश्चय ही सच्चे त्यागी, तपस्वी और महान् व्यक्ति हैं। आजका संसार अन्यायपूर्ण स्वार्थका केन्द्र और तृष्णाका आगार बना हुआ है। अपना स्वार्थ तो है ही, दूसरोंका स्वार्थ हड़पनेके लिये भी पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है और अनधिकार चेष्टाएँ बढ़ती चली जा रही हैं। एक राष्ट्र दूसरेपर चढ़ता दिखायी देता है और एक समुदाय दूसरे समुदायपर। यहाँतक कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण कर रहा है। जो लोग भले प्रकार खा-पी रहे और सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं, वे भी दूसरोंकी सुख-सुविधा लूटनेको तैयार हैं। सारे विश्वमें यही अंधेर मचा हुआ है—इसी प्रकारकी मलिन मनोवृत्ति बढ़ रही है। महाकवि कबीरने कहा है—

देख पराई चोपरी मत ललचावे जीउ।
रूखा-सूखा खाइ कै ठंडा पानी पीउ॥

जिस प्रकार न्यायसे प्राप्त सुख-साधनोंके उपयोग-भोग करनेका सबको अधिकार है, उसी प्रकार उचित और वैध साधनोंद्वारा अर्जित अपना यश और वैभव बढ़ानेका भी सबको हक है। भोगेच्छाओंकी अधिक वृद्धि करना और उनकी पूर्तिके लिये औचित्यकी मर्यादाको भङ्ग करना ही तृष्णा तथा स्वार्थान्धता है। तृष्णा धन-वैभवकी ही नहीं, बल्कि यश, सत्ता, अधिकार, पद, प्रभुता और परिवारकी भी होती है। आज सभी प्रकारकी तृष्णाओंमें लोग लिप्त हैं। चोरी-जारी, मार-धाड़, अपराध-प्रवृत्ति इत्यादि दुर्गुण तृष्णा-तरुणीके ही विकृत रूप हैं। ज्यों-ज्यों स्वार्थमयी आधुनिक सभ्यताका जटिल जाल फैलता जाता है, त्यों-त्यों तृष्णा-तरुणीका रूप भी भयंकर होता जाता है। यदि डाकुओंका एक झुंड अपनी अनुचित स्वार्थ-सिद्धिके लिये डाका डालता है तो वह निन्दनीय, दण्डनीय और घृणित समझा जाता है; परंतु यदि एक राष्ट्र अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये दूसरे राष्ट्रपर आक्रमण करता और सहस्रों-लाखों निरपराध नागरिकों या सैनिकोंके रक्तकी धारा बहाता है तो उसकी 'वीरता' की प्रशंसा की जाती है। जो सैनिक जितने ही अधिक मनुष्यों की हत्या करता है, वह उतना ही बहादुर समझा जाता है। यह 'तृष्णा' भयंकर और अन्यायपूर्ण स्वार्थान्धता नहीं तो क्या है। महाराज भर्तृहरिजीने ठीक ही कहा है—हम तो वृद्ध होते जा रहे हैं, परंतु हमारी तृष्णा तरुणी होकर जोर पकड़ती जाती है। हमारी शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही है, परंतु तृष्णाका दौरात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। जबतक तृष्णाका अन्त न होगा, तबतक संसारमें शान्ति नहीं हो सकती। एक्ट-पैक्ट तो सब कृत्रिम उपाय हैं। राजनीतिक शान्ति-सभाएँ और सुरक्षा-परिषदें स्वार्थ-सिद्धिके ही सुन्दर, सुघरे और परिष्कृत रूप हैं।

माया मरी न मन मरे, मर-मर गये शरीर।
आशा-तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥

निःसंदेह यह समय तृष्णा-तरुणीको नष्ट करनेका है। न्याय, सत्य, धर्म, औचित्य, औदार्य और न्यायका पालन करनेसे ही तृष्णाका नाश हो सकता है। इन भावनाओंको क्रियात्मक रूप देनेके लिये आत्मचिन्तन, विवेक, आस्तिकता और कर्मण्यता अपेक्षित हैं। हृदयोंमें—'जियो और जीने दो'—की पुण्य प्रवृत्ति जाग्रत् होनी चाहिये। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आदर्श आगे रहना चाहिये। कबीरने एक बात और बड़ी अच्छी कही है—

साईं इतो दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साध न भूखा जाय॥

× × ×

उर्दूके एक महाकविने भी इस सम्बन्धमें बड़ी अच्छी बात कही है, वे अपरिग्रह-भावनाको लक्ष्यमें रखकर कहते हैं—

तलब बढ़ने न दे अपनी ज़रूरी रिज़्क़ की हद से।
बचा लेगी क़नाअ़त तेरी तुझ को कुफ़्र की ज़द से॥

आवश्यकतासे अधिक व्यय नहीं बढ़ाओगे तो पाप-प्रहार—कुफ्रकी ज़दसे बच जाओगे। इसी भावको महाकवि दोक्स पीपरने नीचे लिखे शब्दोंमें व्यक्त किया है—

'Covet no more than you want'

आवश्यकतासे अधिक धनकी लिप्सा न करो।

सचमुच यही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति तो और भी महान् है। इसमें तो स्वयं भूखा रहकर दूसरोंको भोजन करानेकी भावना है। परिश्रमपूर्वक ईमानदारीसे जो मिल जाय, उसीमें संतोष कीजिये। उतनेमें ही अपने परिवार-का पालन-पोषण और मेहमानोंका आतिथ्य भी करना चाहिये। अन्याय-अत्याचार और पर-पीडन या शोषणके लिये हमारी संस्कृतिमें कहीं स्थान ही नहीं है। कहाँका साम्राज्यवाद और कहाँका आक्रमण। सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति। आकाश, पाताल, पृथिवी, सब शान्त और स्वयं शान्ति भी शान्त। तृष्णाका नाश कीजिये, तो सुख तथा शान्तिका स्रोत उमड़ पड़ेगा, हमारा कल्याण होगा और सारे संसारमें कल्याणमयी भावना दौड़ जायगी।

सनातनधर्मके आधारभूत नियम

१. दृश्यमान चराचर जगत्का मूलकारण, अधिनायक और अन्तिम प्रश्रय एकमेव परमेश्वर है। अतः उसकी नित्य निर्गुण अथवा सगुणरूपमें उपासना करनी चाहिये।

२. आत्मा अखण्ड चेतनतत्त्व है और विविध रूपोंमें अर्थात् ब्रह्म, देवता, पितर, अतिथि और पशुरूपमें प्रतिभासित है; अतः उसकी सम्पुष्टिके लिये नित्य यज्ञ करना चाहिये।

३. आध्यात्मिक तथा लौकिक धर्मोंका एकमात्र मूल प्रतिपादक वेद है। वेदोंका स्वाध्याय करना द्विज-मात्रका कर्तव्य है।

४. भारतीय लौकिक संस्कृति और सनातन संस्कारोंको नित्य नूतन रखनेके लिये वेद तथा वेदसमर्थित दर्शन, सूत्र, स्मृति, पुराण तथा साहित्यका नित्य स्वाध्याय अपेक्षित है।

५. वर्ण एक वैदिक समाज-विधान है। उसकी व्यवस्था जन्म, गुण, कर्म और स्वभावपर निर्भर है। इहलोक और परलोकके लाभार्थ उसका पालन करना चाहिये।

६. वेद और शास्त्र-प्रतिपादित वृत्तिका पालन करना सदाचार है। स्वेच्छया वृत्ति-निर्धारण भ्रष्टाचार है। गुण, स्वभाव तथा शास्त्राज्ञाके विपरीत कर्म सर्वथा त्याज्य हैं।

७. उपासना, स्वाध्याय और शास्त्रप्रतिपादित कर्ममें सामञ्जस्य स्थापित करनेसे वैयक्तिक, जातीय, राष्ट्रिय उन्नति सम्भाव्य है।

८. सत्य, अहिंसा, प्रेम, सद्व्यवहार, निर्वैरता, अपरिग्रह, अस्तेय, धैर्य, संयम, पवित्रता, दया, सहिष्णुता आदि गुण हमारे शास्त्र-प्रतिपादित कर्मके परिचायक हैं। इनके प्रभावमें समस्त कर्म 'धर्म' कहलाते हैं; इनके अभावमें समस्त कर्म 'अधर्म' बन जाते हैं।

९. संस्कृत भाषा उपासना, स्वाध्याय और समाज-का समन्वयकारी माध्यम है। उसकी रक्षा करना धर्म-का अङ्ग है।

—सुषमा शास्त्री

'दोहावली' में राजनीतिक ध्वनि

(लेखक--पं० श्रीगङ्गाधरजी मिश्र, शास्त्री)

लोकशीलके प्रवर्तनमें दोहा-छन्दकी परम्परा अत्यन्त वयोवर्धक सिद्ध हो रही थी । ऐसे समयमें सामाजिक आदर्शके अमर प्रवर्तक श्रीगोस्वामीजीने जन-जीवनमें राजनीतिक चेतनाका उद्बोधन भी आवश्यक समझा और अपनी साधनाकी अध्यात्म-शक्तिकी सार्थकताको सुस्पष्ट करनेके लिये राजनीतिक जीवनका नितान्त मार्मिक चित्र उपस्थित किया । अपने युगकी राजनीतिक अधोगतिका जीवन-प्रवाहके प्रत्येक स्तरतक पहुँचकर गोस्वामीजीने परिचय कराया है । जिस दिन राजनीति तथा अध्यात्मके समन्वयादर्शके लिये मानव-समाजकी आँखें खुलेंगी, उस दिन गोस्वामीजीके इस महाकाव्यकी महनीयता देशको महिमामय बनायेगी । अभी तो दोहा-साहित्यका अध्ययन शिक्षा-केन्द्रोंमें अनैकान्तिक शान्ति तथा उच्छृङ्खल विनोदकी कल्पना जगानेके लिये भ्रमवश कराया जा रहा है । आजके युगको राजनीतिक कहा जाता है । साहित्य अपनी सप्राणतामें सर्वदा युगान्तर राजनीतिका प्रवर्तन करता है । इस ओर चूँकि देशके मनीषियोंका अभी समुचित ध्यान नहीं गया है, इसलिये महामना श्रीतुलसीदासजीकी युगान्तर राजनीतिक चेतनाका प्रायः तिरस्कार हो रहा है ।

गोस्वामीजीने अपने युगकी राजनीतिक उद्दण्डताका हासोन्मुख रूप तथा उसकी प्रतिक्रियाका प्रभाविष्णु प्रत्यक्ष कराया है । उदाहरणके लिये देशकी राजनीतिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें महाकविका यह मर्मोद्गार सुनिये—

गोंड गँवार नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ॥

राजशक्तिके उस पतनसे राजपरिचारक-वर्गका समाजद्रोही कण्टक बन जाना नितान्त स्वाभाविक हो गया । देखिये—

प्रभु तें प्रभुगन दुखद लखि प्रजहि सँभार राउ ।
कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ॥

जिस प्रकार हाथकी चोटकी अपेक्षा हाथमें पकड़ी हुई तलवारकी चोट अत्यन्त कठोर तथा भयङ्कर होती है, उसी प्रकार राजाकी अपेक्षा राजशक्तिके परिचारक जनताके लिये अधिक दुःखद होते हैं । इसलिये इसका ध्यान रखते हुए राजाको प्रजाकी देखभाल स्वयं करनी चाहिये । इसका कारण यह है कि राजाकी किसी एक कमजोरीका थाह पाते ही नौकर लोग तीन प्रकारकी युक्ति लगानेके लिये तैयार हो जाते हैं । दैशिक जीवनकी इस पशु-प्रवृत्तिका परिचय करानेके लिये महाकविने लिखा है—

त्रिबिध एक बिधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट ।
सूधे टेढ़े सम बिषम सब महँ बारह बाट ॥

अर्थात् परिस्थितिवश यदि नापकजन एक भी अनुचित कार्य करते हैं तो उनके अनुचरलोग तीन प्रकारसे करते हैं । वे सरल-प्रकृति सज्जनोंसे कुटिल व्यवहार करते हैं, सामञ्जस्यमें विषमता लाते हैं और सब कार्योंको नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं । इस प्रकार राजशक्तिकी ओरसे भी त्रुटि सामाजिक प्रगतिकी बाधक ही नहीं, किंतु सामाजिक ध्वंसका कारण बन जाती है । दुष्ट राजाकी दुर्नीति समाजके लिये अभिशाप होती है, इस तथ्यका परिचय करानेके लिये गोस्वामीजीने अनेक दोहोंकी रचना करके समाजको आत्मदर्शनके लिये दृष्टि दी है । देखिये,—समाजध्वंसक राजाकी समता समाज-घातक बारूदके गोलेसे कराते हुए गोस्वामीजीने लिखा है—

काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल ।
पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल ॥

समय गोला चलाता है, पृथ्वी तोप होती है । भयंकर दुर्नीतिकी बारूद बनती है । पाप ही पलीता होता है । पृथ्वीका रक्षक राजा कठोर तथा भारी गोला होता है अर्थात् समाजका दुर्भाग्य ही दुर्नय राजासे प्रजाका संहार कराता है । ध्वंसोन्मुख समाजपर दुष्ट शासनकी कैसी प्रतिक्रिया होती है, इसे समझानेके लिये महाकविने बड़ी चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना की है:—

चढ़े बघूरें चंग ज्यों ग्यान ज्यों सोक समाज ।
करम धरम सुख संपदा, ज्यों जानिबे कुराज ॥

हवाके बवंडरमें पड़ी हुई गुड्डीकी जैसी दशा होती है, वैसी ही शोकमय समाज-ज्ञानकी स्थिति होती है । दुष्ट शासनकालमें वही दशा सत्कर्म, सद्धर्म, आनन्द तथा ऐश्वर्यकी हो जाती है । इस प्रकार राजनीतिक जीवनकी हीनताका अनेक रूपोंमें प्रत्यक्ष कराते हुए गोस्वामीजीने आदर्श राज्य-शासनकी कल्पनाके अनेक मार्मिक चित्र दिये हैं । गोस्वामी-

जीने राजाको सूर्यके समान देखकर समाजके लिये सौभाग्यका सूचक माना है—

बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु सो होइ॥

प्रजाके सौभाग्यसे राजाको सूर्यके समान होना चाहिये। सूर्य जिस प्रकार जलको खींचते हैं, इससे किसीको किसी प्रकारकी प्रतीति नहीं होती; परंतु वही सूर्य जब बादलके रूपमें जलकी वर्षा करते हैं, तब सारे संसारके प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार राजाको प्रजाजनोंके अभ्युदया-कर्षणकी किसी प्रकार उपेक्षा न कर उनसे ऐसा कर (टैक्स) लेना चाहिये, जिसे देते समय उन्हें किसी प्रकारके कष्टकी प्रतीति न हो और उसके उपयोगसे प्रजामें सौभाग्यका मङ्गलभाव जग जाये। सूर्यके साथ ही माली और किसानके रूपमें नीति-कुशल राजाको देखते हुए गोस्वामीजी निम्न-लिखित बात कहते हैं—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥

माली जिस प्रकार मुरझाते हुए पौधोंको सींचता है, अनावश्यक बढ़नेवालोंको काट-छाँटकर अलग कर देता है, कमजोर पौधोंको लकड़ीका सहारा देकर गिरनेसे बचाता है एवं उसके बाद उनके फल-फूलका सत्प्रयोग करता है, तथा किसान जिस प्रकार खेत तैयार करता है, उसमें उर्वर खाद डालता है, बीज बोता है, समय-समयपर जलसे सींचता है, एवं अन्न-प्राप्तिके निमित्त फसलोंकी पशुओंसे रक्षा करता है, उसी प्रकार राजाको प्रजा-जीवनमें सौभाग्यकी अनुभूति करानेके बाद ही उनके शक्ति-सदुपयोगके आदर्शको प्रतिष्ठित करना चाहिये।

समाजके शरीरका रूपक दिखाते हुए गोस्वामीजीने राजाके पूज्य आदर्शको पिताके रूपमें देखा है।

रसना मंत्री दसन जन तोष पोष निज काज।
प्रभु कर सेन पदातिका बालक राज समाज॥

इस दोहेपर विचार करते हुए इसकी टीकामें प्रमुख साहित्य-सेवी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारने स्पष्ट लिखा है—

"राजा पेट है, मन्त्री जीभ है और अन्य कर्मचारी दाँत हैं। जैसे दाँत भोजनको कुचलकर और जीभ उसका स्वाद लेकर तथा अपनी लार साथ देकर उसे पेटमें पहुँचा देती है, और पेट रस बनाकर सारे अङ्गोंको पुष्ट और संतुष्ट करता है, उसी प्रकार मन्त्री और अन्य राजकर्मचारी राजाके लिये अपना-अपना काम ठीक करते हैं और बदलेमें राजा उन सबका पोषण करता है और उन्हें संतुष्ट करता है। सेना और पदातिजन राजाके हाथ और पैर हैं। जैसे हाथ-पैर पेटकी रक्षा करते हैं और पेट हाथ-पैरको पालता-पोसता है, उसी प्रकार सेना-पदाति राजाकी रक्षा करते हैं और राजा उनका पालन-पोषण करता है। राजा माता-पिताके समान है और सारा राज-समाज राजाका बालक है। जैसे माता-पिता बालकका पालन-पोषण करते हैं, वैसे ही राजा सारे 'राज-समाज' को पालता-पोसता है।"

समाजस्रष्टा राजाके 'सत्' प्रभावकी ऐसी चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना कई दोहोंमें मिलती है। सम्भवतः यही कारण है कि शासकोंकी महनीयताका ध्यान रखते हुए गोस्वामीजीने उनको 'समाजके मुख' के रूपमें देखा है।

मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।

—जैसी उक्ति कहकर गोस्वामीजीने सेवकोंको हाथ-पैर और नेत्रके समान होने तथा सेवक और स्वामीके बीच प्रेममय व्यवहारके प्रतिष्ठित होनेकी बात कही है। इस प्रकार राजशक्तिकी सप्राणताका परिचय कराते समय गोस्वामीजीकी राजनीतिक बुद्धिका हमें परिचय प्राप्त होता है। ××× अङ्गदके पैरकी अविचलताके रूपमें महाकविने अचल शासनकी शुभसाधनाका प्रत्यक्ष कराया है। देखिये, रूपक और उत्प्रेक्षाकी काव्यमयी चमत्कृतिके साथ भारतके राजनीतिक संदेशका चरम तत्त्व निम्नलिखित दोहोंमें ध्वनित हुआ है—

भूमि रुचिर रावन सभा अंगद पद महिपाल।
धरम राम नय सीय बल अचल होत सुभ काल॥

यह पृथ्वी ही मानो रावणकी सुन्दर सभा है और राजा ही अङ्गदका चरण है। धर्मरूपी राम तथा नीतिरूपी सीताके बलसे राजा-रूपी अङ्गदका पैर शुभ क्षणसे अविचल होता है। इस प्रकार भारतीय राजनीतिमें नीतिके साथ धर्मकी महत्ताको गोस्वामीजीने पूर्णतया स्वीकार किया है। राजनीति-की अधोगतिको दूर करनेके बाद ही व्यावसायिक क्षेत्रकी हीनताको हटाया जा सकता है। आदर्श शासनके अभावमें व्यावसायिक क्षेत्रमें धोखेबाजीका बढ़ना नितान्त स्वाभाविक है। गोस्वामीजीने भी कहा है—

प्रीति सगाईं सकल बिधि बनिज उपायँ अनेक।
कल बल छल कलि मल मलिन डहकत एकहि एक॥

कलियुगके पापोंसे मलिन मनवाले लोग सब प्रकारसे प्रेमका नाता जोड़कर वाणिज्य आदि अनेक प्रकारके उपायोंसे 'कल-बल-छल' के द्वारा एक दूसरेको धोखा देते हैं।

आज देशके राजनीतिक जीवनमें जो विरोधी शक्तियोंका असंतोष चारों ओर बढ़ता दिखायी दे रहा है, उसे गोस्वामीजीकी काव्य-कलाका प्रवर्तन आदर्शात्मक सामञ्जस्यके रूपमें प्रतिष्ठित कर सकता है। जबतक साहित्यका सामाजिक दृष्टिसे भी मूल्याङ्कन नहीं होगा, तबतक निरर्थक मस्तिष्कको उलझनमें डालनेवाले 'वाग्जाल' के (जो चारों ओर सामाजिक-मनोवृत्तिको दूषित कर रहे हैं) घातक प्रभावको नहीं रोका जा सकेगा। अपने युगकी शासन-व्यवस्थासे मस्त प्राणी सर्वदा इसी प्रकार अभिशापकी भाषा सुनाते हैं—

राज करत बिनु काजही ठटहिं जे कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरुराज ज्यों जइहैं बारह बाट॥

सम्भवतः यही कारण है कि गोस्वामीजीने रामराज्यकी सर्वसुख-सुलभताका अनेक रूपोंमें परिचय देकर युगकी राजनीतिक चेतनाको अनुप्राणित किया है।

समाजका मेरुदण्ड—गृहस्थ-आश्रम

(लेखक—डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्)

ब्रह्मचर्य जीवनका निर्माण है। कैशोर-कालमें संयम और साधनाद्वारा शक्ति, ज्ञान और शीलका उपार्जन ब्रह्मचर्य-का धर्म है। ब्रह्मचर्यमें अर्जित स्वस्थ शरीर, उज्ज्वल विद्या और उदात्त शीलकी निधिको लेकर मनुष्य जीवनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। गृहस्थ-आश्रम ब्रह्मचर्यमें उपार्जित विभूतियोंके उपभोग और उपयोगका काल है। ब्रह्मचर्यके साधना-कालमें इन्द्रियोंका संयम अस्वाभाविक रूपसे प्रवृत्तियों-के दमनके लिये नहीं वरं जीवनके स्वस्थ विकास और संस्कृतिके संतुलित दृष्टिकोणके लिये है। जहाँ निर्माणकालमें शक्तिके ऊर्जस्वी विकासके लिये संयमको बहुत महत्त्व दिया गया है, वहाँ यौवनकी परिपक्व अवस्था-में मर्यादित कामके उपभोगको भी उचित स्थान दिया गया है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका विधान आदर्शरूपमें ब्रह्मचर्यकी महत्ताको प्रतिष्ठित करनेके लिये है। हनूमान्, भीष्मपितामह आदिके उदाहरण केवल आचारपथके ज्योतिःस्तम्भ हैं। विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके उसके धर्मोंका निर्वाह करना भी भारतीय जीवन-व्यवस्थामें अत्यन्त गौरवपूर्ण माना गया है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य एक अध्यात्मनिष्ठ और मर्यादामय जीवनकी सामान्य संज्ञा है। जीवनके प्रथम आश्रमके रूपमें प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य इसी सामान्य जीवनका एक विशेष रूप है। बृहदारण्यक उपनिषद्में मर्यादामय भोगका स्वस्थ और संयमित जीवन भी ब्रह्मचर्य ही माना गया है। प्रथम आश्रममें ब्रह्मचर्य केवल संचय और संयमसे ही विशेषरूपसे लक्षित है, किंतु शेष जीवनमें मर्यादामय जीवन भी एक प्रकारका ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि मर्यादामय उपभोगका जीवन भी ब्रह्म अथवा आध्यात्मिक जीवनकी साधनाके पूर्णतः अनुरूप है।

वस्तुतः गृहस्थ-आश्रम ही सामान्य लोकजीवनका केन्द्रिय रूप है। ब्रह्मचर्य जीवन-तरुका मूल है। उसकी दृढ़तापर ही जीवन-वृक्षकी स्थिति सुरक्षित है। गृहस्थ उसका स्तम्भ है। वही उसका मध्य और महनीय भाग है। जीवनमें उसकी सबसे अधिक उपयोगिता है। गृहस्थके स्तम्भसे ही जीवन तरुकी सब शाखाएँ निकलती हैं और उसीके आश्रयसे वे पल्लवित, पुष्पित और फलित होती हैं। शास्त्रोंके जीवन-विधानमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—तीनों आश्रमोंका पोषण गृहस्थका धर्म माना गया है। इसीलिये गृहस्थ-आश्रमको ज्येष्ठ आश्रम माना गया है। मनुस्मृतिमें कहा है कि 'गृहस्थ आश्रम ज्ञान और अन्नके द्वारा अन्य तीनों आश्रमोंका धारण करता है। अतः वह ज्येष्ठ आश्रम है।' जिस प्रकार वायुका आश्रय लेकर समस्त जन्तु जीवनके धर्मोंमें प्रवर्तित होते हैं, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थका आश्रय लेकर जीवनके धर्मोंमें प्रवर्तित होते हैं। एक शब्दमें गृहस्थ-आश्रम समस्त आश्रमोंका उपजीव्य है।

गृहस्थ-आश्रमकी यह केन्द्रियता और महत्ता भारतीय

संस्कृतिके स्वस्थ दृष्टिकोणका प्रमाण है। ब्रह्मचर्य और संन्यासकी महत्ताके कारण पश्चिमी आलोचकोंको प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि भारतीय संस्कृतिमें त्याग और तपकी ही प्रधानता है। मनोवैज्ञानिक इसमें विकृतिके लक्षण भी देखते हैं। वस्तुतः ब्रह्मचर्य और संन्यासका उद्देश्य प्रकृतिके दमन-द्वारा जीवनको विकृत करना नहीं है। एक सहज संस्कारद्वारा आध्यात्मिक मूल्योंमें प्रकृतिका अन्वय ही भारतीय संस्कृति-का मूल उद्देश्य है। संस्कृतिके हितके लिये प्रकृतिकी मर्यादा ही इसका मर्म है। संयम, तप, त्याग और मर्यादा इसके साधन हैं। भारतीय जीवनका वास्तविक स्वरूप सामाजिक स्नेह और सम्बन्धोंका आनन्द है। गृहस्थ-आश्रम इसी आनन्दका तीर्थराज है। तीनों आश्रमोंकी त्रिवेणी इसी तीर्थराजमें संस्कृतिके संगमका निर्माण करती है। ब्रह्मचर्य और संन्यास जीवनकी धाराके दो मर्यादाकूल हैं। इन सुदृढ़ कूलोंके बीचमें गृहस्थ-जीवनकी आनन्दमय स्रोतस्विनी सुरक्षित और स्वच्छन्द गतिसे प्रवाहित होती है।

गृहस्थ-आश्रम भारतीय जीवन-व्यवस्थाका हृदय है। हृदयके समान ही उससे प्रवाहित होनेवाली जीवनवाहिनी धाराएँ समाजके समस्त अङ्गोंका परिपोषण करती हैं। हृदय-के समान ही वह सामाजिक जीवनके स्वास्थ्य और उसकी समृद्धिका आधार है। गृहस्थ-आश्रमकी कल्पनामें जीवनके दृष्टिकोणकी बड़ी स्वस्थ और समृद्ध अभिव्यक्ति हुई है। ब्रह्मचर्य-आश्रमकी साधनाद्वारा परिपक्व यौवनके उपभोग तथा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनके मानवीय धर्मोंके परिपालनका गृहस्थ-आश्रममें अपूर्व समन्वय हुआ है। उपभोग और आचारके इस समन्वयमें जीवनके पूर्णत्वकी अत्यन्त स्वस्थ कल्पना प्रतिफलित हुई है। जीवनकी वीणाके समस्त तार गृहस्थके वाद्यदण्डपर ही सधे हुए हैं। गृहस्थके दण्डपर इन तन्तुओंके समवायसे जो अनेकरूप जीवन-रागिनियाँ निःसृत हुई हैं, वे भारतीय सामाजिक जीवनको अनन्त रस और आनन्दसे आप्लावित करती रही हैं। इन रागिनियोंमें जीवनके समस्त स्वर समाहित हैं। इसी रस, राग और आचार-मयी व्यवस्थाने भारतीय जीवनके प्रतिदिनको एक अपूर्व आनन्दपर्व बना दिया है।

गृहस्थ-आश्रमकी इस व्यवस्थामें सबसे महत्त्वपूर्ण बात उपभोग और आचारका समन्वय है। संन्यासका बहुत कुछ महत्त्व होते हुए भी भारतीय संस्कृतिमें जीवनके उपभोग और आनन्दको पूर्ण महत्त्व दिया गया है। गृहस्थ-आश्रमकी केन्द्रियता इसका प्रमाण है। किंतु भारतीय संस्कृतिमें इस उपभोगकी मर्यादाको मानवीयता-का मुख्य लक्षण माना है। गृहस्थ-आश्रमके पूर्व ब्रह्मचर्यके विधिवत् पालनकी महत्ता इसी मर्यादाका अङ्ग है। ब्रह्मचर्यसे अभिप्रेत संयम और सदाचारका जीवन भारतीय जीवन और संस्कृतिका सामान्य लक्षण है। इसीलिये संयम और सदाचारको गृहस्थके उपभोगमय जीवनमें भी आवश्यक माना गया है। उपभोगके अतिरिक्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनकी प्रतिष्ठा और समृद्धिके लिये जो धर्म और आचार गृहस्थके कर्तव्य माने गये हैं, उनका पालन संयमसे प्राप्त होने-वाले चरित्रबलके बिना सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्यमें उपार्जित शक्ति और संयम सफल गृहस्थकी आवश्यक पीठिका हैं। मनुके अनुसार इन्द्रियोंकी दुर्बलताके दास गृहस्थके धर्मोंका धारण और कर्तव्योंका पालन नहीं कर सकते। संयम, प्रेम, उदारता गृहस्थके आवश्यक गुण हैं। संयम उपभोगकी मर्यादाका मन्त्र है। सामाजिक जीवनके जिन अनेक अङ्गोंके पोषणका भार गृहस्थपर है, वह भी प्रेम और उदारताके बिना सम्भव नहीं है। गृहस्थके स्वार्थमय भोगकी एक सीमित मर्यादा है, इसके अतिरिक्त उसके अधिक संस्कृत और समृद्ध जीवनका रूप परार्थ है। परिवार, कुटुम्ब तथा अन्य आश्रमोंके रूपमें समाजका पालन प्रेम और उदारताके बिना सम्भव नहीं। प्रेम परार्थ-भावका सार है। इसके निर्वाहके लिये भोगकी मर्यादा और आचारका संयम आवश्यक है।

स्त्री-परिग्रह गृहस्थ-आश्रमका द्वार है। काम जीवनकी एक अनिवार्य वृत्ति है। किसी भी संस्कृतिमें इसका समुचित स्थान स्वस्थ दृष्टिकोणका सूचक है। व्यक्तिके स्वास्थ्यके साथ-साथ जातिकी परम्परा भी कामपर अवलम्बित है। उच्छृङ्खल काम विकृतिका लक्षण है। पशुओंके जीवनमें भी इसकी प्राकृतिक मर्यादा है। मनुष्यजीवनमें इस मर्यादाकी स्थापना और पालनका भार मनुष्यकी विकसित और समृद्ध चेतना-पर है। ब्रह्मचर्य-निर्माणकालमें इसी मर्यादाकी सुदृढ़ और सचेतन प्रतिष्ठा है। गृहस्थ-आश्रमके स्त्री-परिग्रहमें कामके उपभोग और जातिके विस्तारके साथ-साथ दोनोंमें इस मर्यादाको मान दिया गया है। उच्छृङ्खल काम सामाजिक व्यवस्थाके उच्छेद और नैतिक अनर्थोंका मूल है। भारतीय गृहमें नारीका मान, पतिके अतिरिक्त नारीके अन्य सात्त्विक स्नेह-सम्बन्ध, गृहस्थ पुरुषके अनेक रूप, कर्त्तव्य आदि सब इसी मर्यादाकी शृङ्खलाएँ हैं। मनुके 'न स्त्री स्वातन्त्र्य-

मर्हति' में लोगोंको इसका शास्त्रीय आधार मिला है, किंतु मनुका यह नारी-स्वातन्त्र्यका निषेध निश्चय ही नारीका अपमान नहीं है। मनुने नारीको रक्षणीया माना है और नारीकी रक्षाको संस्कृतिका एक आवश्यक अङ्ग माना है। आधुनिक युगकी अर्थ और काममयी सभ्यतामें वैधानिक रीतिसे स्वतन्त्र होकर नारी कितनी सुरक्षित रहेगी, यह बहुत संदिग्ध है। नारीकी मान-मर्यादा-गौरवके बिना उसकी स्वतन्त्रता उसके जीवनकी विडम्बना बन सकती है। भारतीय शास्त्रकार अनियन्त्रित कामके अभिलाषी पुरुषको सदा संदेहकी दृष्टिसे देखते आये हैं। उनका यह संदेह पूर्णतः सत्य है। संयम और संस्कारके लिये पुरुषको बड़ी सचेष्ट साधनाकी आवश्यकता है। कैशोरमें ब्रह्मचर्यका विधान और गृहस्थमें संयम और मर्यादाका मान इसी साधनाके अङ्ग हैं। पुरुषके उच्छृङ्खल अनाचारसे नारीको सुरक्षित रखनेके लिये ही शास्त्रकारोंने उसे रक्षणीया बनाया है। उनका विश्वास है कि कई कारणोंसे नारी अपनी रक्षामें असमर्थ है। समाजकी पुरुष-प्रधान व्यवस्थामें नारीकी स्वतन्त्रता पुरुषके अनाचारका कारण बन सकती है।

किंतु नारीकी स्वतन्त्रताका निषेध करके भी शास्त्रकारोंने परिवार और समाजकी व्यवस्थामें नारीको जो गौरव दिया है, तथा मान-मर्यादाके साथ जो समृद्ध और संतोषमय जीवन प्रदान किया है, वह कदाचित् स्वतन्त्रतामें भी उसके लिये दुर्लभ होगा। संस्कृतिमें नारीकी मान-मर्यादाकी प्रतिष्ठाके बिना वैधानिक स्वतन्त्रता उसे अनेकविध अनाचारोंका शिकार बना सकती है। वस्तुतः उसके मान-मर्यादा ही उसकी स्वतन्त्रता और सुरक्षा हैं। रक्षणीया नारी भी भारतीय परिवारकी स्वामिनी है। उसकी स्वतन्त्रताके अपहरणका उद्देश्य केवल बाहरी अनाचारोंसे उसकी सुरक्षा है। इसीलिये नारीको पूजनीया माना गया है। मनुका यह वचन कि 'जहाँ नारियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ ये पूजित नहीं होतीं, वहाँ समस्त क्रियाएँ निष्फल होती हैं, प्रवञ्चित नारीका अश्रुपरिमार्जन मात्र नहीं है वरं भारतीय संस्कृतिका मर्म-मन्त्र है। भारतीय मध्यवर्गमें आज भी नारीका जितना मान है, वह भारतीय समाजमें उसके गौरवमय पदका प्रतीक है। माता, पत्नी, बहिन और पुत्रीके रूपमें नारीको जो पवित्र और पूज्य पद मिला है और इस चतुर्विध व्यवस्थामें उसे जो समृद्ध और आनन्दमय जीवन मिला है, वह नारी-स्वातन्त्र्यके अभिमानी अन्य समाजोंमें अविदित है। नारीकी स्वतन्त्रताका निषेध और उसकी रक्षणीयताका प्रतिपादन शास्त्रकारोंकी अनुदार नीतिका सूचक नहीं है। इसमें उनका उद्देश्य सामाजिक श्रेय और स्वास्थ्यके साथ-साथ नारीका हित और गौरव रहा है। इसीलिये उन्होंने सुरक्षाको केवल पुरुषके अधिकार और आरोपणसे सम्भव नहीं माना है। नारीका शील ही संस्कृतिका गौरव है। उसके शीलकी रक्षा उसके सहयोगके बिना नहीं हो सकती। बलपूर्वक नारीका बन्धन उसके शीलकी सुरक्षा नहीं है। शीलको अपना गौरव न माननेवाली स्त्रियाँ घरकी चहारदीवारीमें बंद होनेपर भी अरक्षित हो सकती हैं। अनर्थ और अनाचारके लिये सामाजिक जीवनमें अनन्त छिद्र हैं। अतः जो शीलके गौरवमें विश्वास करके उसकी रक्षाको अपना धर्म मानती हैं, वे ही वास्तवमें सुरक्षित हैं। पुरुष केवल उसका अङ्गरक्षक है। अपने शील और गौरवकी रक्षा नारीका आत्मतन्त्र अधिकार है। बाहरी दृष्टिसे उसे रक्षणीया बनाकर शास्त्रकारोंने उसके इस अधिकारको सफल बनानेकी केवल एक सामाजिक परिस्थिति प्रदान की है।

अस्तु, ब्रह्मचर्यमें अर्जित स्वास्थ्य, शक्ति, शील और ज्ञानकी विभूति लेकर स्त्री-परिग्रहपूर्वक गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना तथा विधि और मर्यादापूर्वक इसके धर्मोंका पालन करना जीवनकी पूर्णता और परितृप्तिका मार्ग है। व्यक्तिगत जीवनके स्वास्थ्य और सामाजिक श्रेयके दृष्टिकोण-के कारण गृहस्थके अर्थ और काम स्वार्थमय उपभोगके रूपमें नहीं स्वीकृत किये गये हैं। अन्य आश्रमोंके पालन, दान, अतिथि-सत्कार और मानवीय सम्बन्धोंकी व्यापकताके द्वारा विभाजित करके अर्थ और भावना दोनोंके वैभवको अधिक समृद्ध बना दिया गया है। ब्रह्मचर्य-कालमें भोजन, ज्ञान आदिके रूपमें समाज और संस्कृतिका जो अनुदान मनुष्यको मिलता है, उसे अनेक रूपोंमें चुकाना गृहस्थका धर्म है। समाज और संस्कृतिकी श्रेय-परम्पराएँ इसी विधिसे प्रगतिशील रह सकती हैं। इन अनुदानोंको शास्त्रोंमें 'ऋण' कहा गया है। अनुग्रहपूर्वक प्राप्त होनेवाली वस्तु ही ऋण है। पूर्वजों-से हमें जीवन प्राप्त होता है, यह पितृ-ऋण है। ऋषियोंसे हमें ज्ञान प्राप्त होता है, यह ऋषि-ऋण है। देवताओंकी अनुकम्पा हमारे धर्म और मङ्गलकी रक्षा करती है। यह देव-ऋण है। इन तीन अनुदानोंसे संस्कृत और समृद्ध होकर ब्रह्मचर्यकी साधनाद्वारा मनुष्यका जीवन समर्थ बनता है। समर्थ होकर इन ऋणोंका चुकाना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थके इन धर्मोंको यज्ञकी एक सामान्य संज्ञा दी गयी है। विशेषतः अग्निके होमपर्वको यज्ञ कहते हैं, किंतु वस्तुतः यज्ञ

जीवनकी भारतीय कल्पनाका एक मूल और सामान्य सिद्धान्त है। होमके समान निष्ठा, पवित्रता और हितकी भावनासे किया जानेवाला प्रत्येक जीवनकर्म यज्ञ ही है। व्यक्तिगत जीवनकी कृतार्थता और सामाजिक श्रेयके साधक कर्म मुख्य-रूपसे पाँच माने गये हैं। ये पाँचों कर्म पुण्य और परार्थताकी महत्ताके कारण 'पञ्चमहायज्ञ' कहलाते हैं।

पितरोंसे मनुष्यको जीवन और पोषण प्राप्त होता है, अतः उनके इस ऋणका चुकाना भी गृहस्थका एक प्रमुख कर्तव्य है। पितृलोक और जन्मान्तरकी कल्पनाके माननेके कारण श्राद्ध आदिके द्वारा पितरोंका तर्पण करना इस ऋण-से उऋण होनेका मार्ग माना गया है। श्राद्ध भी पितरोंकी कृतज्ञताओंके स्मरणका एक साधन है। आजके वैज्ञानिक युगमें लोग पितृलोक, तर्पण आदिको न मानें, तो भी अन्य रूपमें पितरोंका स्मरण और मान पितृ-यज्ञका आधुनिक रूप बन सकता है। महापुरुषोंके स्मारक स्मृतिपर्व आदि पितृ-यज्ञके ही आधुनिक रूप हैं। पूर्वजोंके गुण और गौरवके लिये हम उनका स्मरण करें और उनकी स्मृतियोंसे प्रेरणा ग्रहण करें, यही पितृ-यज्ञका उद्देश्य है।

ऋषि और आचार्योंसे हमें ज्ञान और विद्या प्राप्त होती है। श्रुति और स्मृतियोंमें संकलित प्राचीन ऋषियोंका ज्ञान उनकी दी हुई साधनाओंका फल है। आचार्यगण श्रम और साधनाद्वारा इस अमूल्य ज्ञानका संरक्षण करते हैं। शिष्योंको यह ज्ञान प्रदानकर वे इसकी परम्पराको आगे बढ़ाते हैं। ज्ञानकी यह परम्परा मानवीय संस्कृतिकी अनमोल विभूति है। इस परम्परासे मानवीय गौरव प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारियोंका कर्तव्य है कि वे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेपर इस परम्पराकी प्रगतिमें सहयोग देकर अपना कर्तव्य-पालन करें। पूर्वकालका संचित ज्ञान हमें एक ऋणके रूपमें ही प्राप्त होता है। उस ज्ञानकी परम्परामें सहयोग देकर हम उस ऋणको चुका सकते हैं। इस सहयोगके दो मार्ग हैं—एक स्वाध्याय और दूसरा अध्यापन। स्वाध्याय सभी वर्णोंका साधारण धर्म है। दीक्षान्तके समय प्राचीन आचार्य अपने शिष्योंको यह आदेश देते थे कि तुम स्वाध्यायमें प्रमाद मत करना; किंतु स्वाध्याय अपने लिये है। इससे ब्रह्मचर्य-कालमें प्राप्त की हुई विद्या व्यक्तिके जीवनका आलोक बनी रहती है। यह सजग विद्या व्यक्तिके जीवनका उन्नयन करके लोक-हितकारिणी भी होती है, किंतु इसके साथ-साथ इस विद्याका प्रसार और प्रचार भी ज्ञानकी सनातन परम्पराकी प्रगतिके लिये आवश्यक है। अध्यापन इसका मार्ग है। शास्त्रोंमें यह अध्यापन ब्राह्मणोंका ही अधिकार माना गया है। विद्याके लिये जीवन अर्पण करनेवाला ही सच्चा ब्राह्मण है। ऐसा व्यक्ति ही अध्यापनका अधिकारी है, किंतु सभी व्यक्ति ऐसे नहीं हो सकते और न सबके ऐसा होनेपर सामाजिक व्यवस्थाका संतुलन रह सकता है। जो उक्त कारणसे अध्यापनके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिये ज्ञानकी परम्पराकी प्रगतिमें सहयोग देनेका एक तीसरा मार्ग है। वे आर्थिक सहायता-द्वारा विद्याके प्रचारमें सहायता दे सकते हैं। इस प्रकार विद्या-की परम्परामें सहयोग देना सभी गृहस्थोंका अधिकार और कर्तव्य है।

देवताओंकी आराधना देव-यज्ञ है। होम, पूजा, उपासना आदि इसकी विधियाँ हैं। प्राचीन श्रद्धामय युगमें तो देव-पूजा जीवनका प्राण थी। विज्ञान और अश्रद्धाके इस युगमें आज वह उस रूपमें माननीय न भी हो, तो भी एक दूसरे रूपमें देव-पूजाका मानवीय संस्कृतिमें सनातन स्थान है। वस्तुतः देवता मानवीय जीवनकी कुछ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विभूतियोंके प्रतीक हैं। ब्रह्मा सृजनात्मिका शक्तिके, विष्णु पालनी शक्तिके और रुद्र संहारिणी शक्तिके प्रतीक हैं। सरस्वती ज्ञानकी देवी हैं। लक्ष्मी जीवनके, सौन्दर्य और श्रीकी संज्ञा है। इस प्रकार सभी देवता जीवनकी सांस्कृतिक विभूतियोंके प्रतीक हैं और किसी-न-किसी रूपमें उनकी आराधना मानवीय जीवनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

पितृ-ऋण और देवताओंके अतिरिक्त विश्वके समस्त जीवोंके प्रति भी मनुष्यका एक सामान्य कर्तव्य है। इन जीवोंमें सभी प्राणी सम्मिलित हैं। मनुष्यका इनमें एक पृथक् और विशेष स्थान है। मनुष्य प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ है। अतः समस्त जीवोंका पालन उसका धर्म है। इसके साथ-साथ मानवीयताके नाते मनुष्यके प्रति उसके कुछ विशेष कर्तव्य हैं। सामान्यतः प्राणियोंके प्रति मनुष्यके कर्तव्यको भूत-यज्ञ अथवा जीव-यज्ञ कहते हैं। भूतयज्ञका अभिप्राय जीवोंको भोजन और आश्रय देकर उनका पालन तथा रक्षण है। चींटियों, मछलियों आदितकको भोजन देनेकी परम्परा इसी यज्ञका रूप है। गायके लिये एक रोटी निकालनेकी तथा कुत्तेके लिये टुकड़ा छोड़नेकी प्रथा आजतक प्रचलित है। किसी भी रूपमें हो, प्राणियोंका पालन मनुष्यका एक पवित्र कर्तव्य है।

प्राणियोंमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। अतः उसका सत्कार मनुष्यका विशेष धर्म है। परिवार-सम्बन्ध और परिचय-की सीमाओंके अन्तर्गत मनुष्यका सत्कार अधिक सहज और स्वाभाविक है, किंतु केवल इन सीमाओंके अन्तर्गत मानवीय शील और सद्भावोंका निर्वाह मानवीय संस्कृतिके लिये पर्याप्त नहीं है। अतः भारतीय धर्मशास्त्रमें मनुष्य-मात्रके प्रति एक साधारण कर्तव्यका विधान किया गया है। यह महान् कर्त्तव्य मनुष्य-यज्ञ कहलाता है। अतिथि-सत्कार इसका एक सामान्य रूप है। एक अपरिचित आगन्तुकके प्रति स्नेह और सद्भावका विधान करके भारतीय धर्मशास्त्रोंने मानवीय संस्कृतिके बीज-मन्त्रकी प्रतिष्ठा की है। यह उदार मानवीय भावना भारतीय संस्कृतिकी अनन्य विभूति है। ग्रामीण समाजमें अपरिचित अतिथियोंके सत्कार-की उदार भावना अभी चली आ रही है। आज होटल और धर्मशालाएँ सत्कारकी नवीन व्यवस्थाएँ कर रही हैं। किंतु इसके साथ-साथ आतिथ्यमें जो सरस मानवीय भावना थी, वह भी विलुप्त हो रही है।

ये पञ्चमहायज्ञ गृहस्थके प्रधान धर्म हैं। इनकी व्यवस्था इतनी व्यापक है कि इनमें मनुष्य-जीवन और समाजकी एक समृद्ध कल्पना सफल हुई है। इन पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा प्रत्येक गृहस्थ कृतार्थ हो सकता है। ये जीवनमें कृतार्थता, पूर्णता और आनन्दके साधक हैं। ये गृहस्थके नित्यकर्म हैं, काम्य कर्म नहीं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको इन्हें अपना धर्म मानकर केवल जीवनकी कृतार्थताके लिये करना चाहिये, अन्य किसी फलकी कामना-से नहीं। आधुनिक भाषामें हम यह कह सकते हैं कि ये जीवनके साध्य हैं, साधन नहीं। इनकी साधनाका मूल्य और आनन्द इनके पालनमें ही है, इनसे प्राप्त होनेवाले अन्य आगन्तुक फलोंमें नहीं।

'प्रिया-प्रसाद'

चौपाई

राधा राधा राधा कहौं। कहि कहि राधा राधा लहौं॥ १॥
राधा जानौं, राधा मानौं। मन राधा रस ही मैं सानौं॥ २॥
राधा जीवन, राधा प्रान। राधा ही राधा गुन गान॥ ३॥
राधा बृंदाबन की रानी। राधा ही मेरी ठकुरानी॥ ४॥
राधा ब्रजजीवन की ज्यारी। राधा प्राननाथ की प्यारी॥ ५॥
राधा राधा राधा एक। सर्बोपर राधा हित टेक॥ ६॥
राधा अतुल रूप गुन भरी। ब्रजबनिता कदंब मंजरी॥ ७॥
राधा मदनगुपालहि भावै। मुरली मैं राधा गुनगावै॥ ८॥
राधा रस प्रसाद की साधा। रसिक राय कैं राधा राधा॥ ९॥
या राधा कों हौं आराधौं। राधा ही राधा रट साधौं॥ १०॥
राधा बचन, मौन हूँ राधा। राधा राधा राधा राधा॥ ११॥
सोएँ राधा, जागें राधा। राति द्यौस राधा ही राधा॥ १२॥
राधा हेरौं, राधा सुनौं। राधा समझौं, राधा गुनौं॥ १३॥
राधा मेरी स्वामिनि साँची। थिर चित ह्वै राधा हित नाची॥ १४॥
राधा जो कछु कहै, सो करौं। महल टहल टकोर अनुसरौं॥ १५॥
राधा राधा गीत सुनाऊँ। राधा आगें राग जमाऊँ॥ १६॥
राधा कौं बहु भाँति रिझाऊँ। तीखी बातनि चाख हँसाऊँ॥ १७॥
राधा की चटकीली चेरी। चित ही चढ़ी रहति नित नेरी॥ १८॥
राधा रुचिहि लियेई रहौं। बिहरत गृह बन गोहन गहौं॥ १९॥
रूप उज्यारी राधा देखौं। भागन को सुख कहा बिसेखौं॥ २०॥
राधा सब ही भाँति लड़ाऊँ। राधा रीझें राधा पाऊँ॥ २१॥
राधा सौं कछु कहौं कहानी। परम रसीली अति मनमानी॥ २२॥
चाँपत चरन तनक झुकि जाऊँ। छुवै सीस राधा के पाऊँ॥ २३॥
चरन हलाय जगाएँ जागौं। बहुरि औंघि नित पायनि लागौं॥ २४॥
राधा धरयौ बहुगुनी नाऊँ। टरि लगि रहौं, बुलाएँ जाऊँ॥ २५॥
राधा की जूठनि ही जियौं। राधा की प्यासनि ही पियौं॥ २६॥
राधा कौ सुख सदा मनाऊँ। सुख दै दै हौंहूँ सुख पाऊँ॥ २७॥
राधा ढिग जब श्याम निहारौं। समय उचित सुख टहल बिचारौं॥ २८
राधा पिय पै बिजना ढोरौं। श्रमजल सुखऊँ, मन रस बोरौं॥ २९॥
पिय मय ह्वै प्यारी हित पालौं। ललना लाल परस्पर लालौं॥ ३०॥
राधा मोहन एकै दोऊ। नैन प्रान मन प्रेम समोऊ॥ ३१॥
राधा हिलग कहत नहिं आवै। मोहन ही राधा रुचि पावै॥ ३२॥
राधा मोहन मोहन राधा। हिलनि मिलनि बिहरनि बिन बाधा॥ ३३॥
राधा प्रेम रसामृत सरसी। केलि-कमल-कुल-सुषमा दरसी॥ ३४॥
राधा मन मैं मन दै रहौं। राधा के मन की सब लहौं॥ ३५॥
राधा कों स्वभाव पहिचानौं। राधा की रुचि रचना ठानौं॥ ३६॥
राधा मन की मोसों बोलै। गुपत गांस अपनी रुचि खोलै॥ ३७॥
हौं राधा की, राधा मेरी। कीरति की घर जाई चेरी॥ ३८॥
राधा की मनभावति लौंड़ी। राधा की आनंदनि औंड़ी॥ ३९॥
राधा चीर उतारन पाऊँ। भाग बड़ाई कहा जनाऊँ॥ ४०॥
राधा मो कर पाय झवावै। भाग भरी महावरौ द्यावै॥ ४१॥

राधा कौं हौंसनि हौं प्यारी। जाते तन कौं करति न न्यारी ॥४२॥
गल बिहारी हूँ सौं ऐंडनि। राधा के गुमान की पैंडनि ॥४३॥
उसरि भरौं हित ढरौं अंग सौं। करौं टहल रसमसी रंग सौं॥४४॥
अड़े दाय कौ काम परै जब। बिन बहुगुनी सँवारै को तब ॥४५॥
मेरौ सुख हौंही भर देखौं। राधा कौ सुख अंतर लेखौं ॥४६॥
लेखौं सुख, जब जब मुख देखौं। राधा कौं सुख कहा बिसेखौं॥४७॥
राधा कौ सुख मेरें सुख है। मदन गुपाल निहारै मुख है॥४८॥
चेरी, पै अभिमान भरी हौं। ठकुरायनि या भाँति करी हौं॥४९॥
राधा की बलिहार भई हौं। राधा यौ अपनाय लई हौं॥५०॥
राधा बिन कछु और न सूझौं। सुरझि सुरझि अभिलाष उरूझौं
राधा आँखिन आगें रहै। राधा मन कौ मारग गहै ॥५२॥
रोम रोम राधा की ब्यापनि। रसिक जीवनी राधा जापनि॥५३॥
राधा रटि सोई ह्वै जाऊँ। तब पाऊँ राधा को गाऊँ॥५४॥
राधा बरसाने की जाई। ह्वै सँकेत नंदीसुर आई॥५५॥
राधा की हौं कहौं कहा लौं। ब्रज बन राधामई जहाँ लौं॥५६॥
राधा के हित बंसी बाजै। राधा राग भरे सुर साजै॥५७॥
राधा बंसी की ठकुरायनि। सुर पाँवड़े बिछावति चायनि॥५८॥
नाम गाम सब राधा मेरैं। राधा ही के बसौं बसेरैं॥५९॥
सो राधा न स्याम बिन रहै। मेरे मन मैं राधा यहै ॥६०॥
या राधा की महा अगम गति। प्रेम पुंज मतिवती परम रति॥६१॥
या राधा कौ प्रेम कहै को। या राधा कौ नेम गहै को॥६२॥
राधा रमन रमनहू राधा। एकमेक ह्वै रहे अबाधा॥६३॥
मिलन बिछोह कछु न सुधि परैं। अचिरज रीति राधिका धरैं॥६४॥
या राधा कौ रस अपरस है। रस मूरतिकौ परम परस है॥६५॥

दोहा

कहिबो सुनिबो समझिबो राधा ही कौ होय।
राधा के हित की कथा भूलि सुमिरिहै सोय ॥ ६६ ॥
राधा अकथ कथा कहौं, यह कहिबे की नाहिं।
राधा के जिय की दसा प्रीतम के हिय माहिं ॥ ६७ ॥
ब्रजमोहन आनंदघन, बृंदाबन रस धाम।
अभिलाषनि बरसत रहै राधा हित अभिराम ॥ ६८ ॥
मधुर केलिरस-झेलि सों, रसना स्वाद-सुरूप।
सुफल सुबानी बेलिको, राधा नाम अनूप ॥ ६९ ॥
मेरे मन दृग रीझिकी, राधा ही कों बूझि।
राधाके मन रीझिकी, मोहि बूझि अरु सूझि ॥ ७० ॥
राधा मेरे प्रान है, राधा प्रान गुपाल।
साँस-कंठ धारे रहौं, राधा-मोहन माल ॥ ७१ ॥
आनँदघन बरसत सदा, राधा-जीवन स्याम।
उज्ज्वल रसमें गौरता, प्रेम अवधि अभिराम ॥ ७२ ॥
दोऊ मिलि एकै भए ललित रँगीली जोट।
जमुना तट निरखौं सदा तरु बेलिनि की ओट ॥ ७३ ॥
निपट लटपटे अटपटे, भरे चटपटी चोंप।
राधा मोद पयोद रस प्रगट केलि कुल कोंप ॥ ७४ ॥
ब्रजमोहन उर अवनि मैं राधा सुपद बिहार।
रोम रोम आनंदघन भीजे रसिक उदार ॥ ७५ ॥
राधा हित आनंदघन मुरली गरज रसाल।
राधा ही कें रस भरे मोहन मदन गुपाल ॥ ७६ ॥
राधा के आनंद कौ मनमोहन मन साखि।
राधा को अभिलाष जो, राधा पिय अभिलाषि ॥ ७७ ॥
राधा रसिक सँजीवनी, राधा जीवन लाल।
राधा मोहन मैं सबै ब्रजबन बेलि तमाल ॥ ७८ ॥
राधा मेरी संपदा, जिय की जीवन मूल।
राधा राधा रट सदा रोम रोम अनुकूल ॥ ७९ ॥
राधा मोहन मुख लगी मुरली ह्वै दिन राति।
राधा ही राधा बजै अति मोहन धुनि जाति ॥ ८० ॥
राधा रास सिरोमनी, राधा केलि कुलीन।
राधा सकल कला भरी, रस मूरति हित लीन ॥ ८१ ॥
जो कछु है सो राधिका, मो कछु और न चाह।
राधा पद पन पैज कौ राधा हाथ निबाह ॥ ८२ ॥
राधा सब ठाँ, सब समै, रहति बहुगुनी संग।
तान रमन गुन गान की लै बरसावति रंग ॥ ८३ ॥
राधा अचल सुहाग के ललित रँगीले गीत।
रागनि भीजी बहुगुनी रिझवति राधा मीत ॥ ८४ ॥
राधा चाहनि चाह सौं, राधा चाहनि चाह।
राधा ही रससिंधु मैं, राधा राधा थाहि ॥ ८५ ॥
राधा मो दृग पूतरी, भई स्याम लखि स्याम।
राधा राधारमन कौ अनुपम रूप ललाम ॥ ८६ ॥
राधा पिय प्यासनि भरी, आनँद घन रस रासि।
स्याम रँगमगी सगमगी राधा रही प्रकासि ॥ ८७ ॥
राधा राधा नाम कौ, रसनै महा सवाद।
या प्रबंध कौ नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद ॥ ८८ ॥
प्रिया प्रसाद प्रबंध कौं पाय सवादहि लेत।
नित हित सहित सनेह च्वै रसना इह सुख देत ॥ ८९ ॥
राधा मंगल मालती, सरस मधुब्रत स्याम।
जमुना तट राजत सदा रसिक सँजीवनि धाम ॥ ९० ॥

—महाकवि घनानन्द

सनातनधर्मनियमाः

भारतवर्षके नाना नगरोंमें सनातनधर्म-संस्थाएँ तथा सभाएँ विद्यमान हैं, जो अनवरत धर्मप्राण जनताके समक्ष नित्य-नैमित्तिक देव-पितृ-मानव-हितकारी सद्धर्ममूलक कर्मका वाचिक और रचनात्मक दिशा-निर्देश करती रहती हैं; पर खेद है कि उनके नियम परस्पर समान नहीं हैं। यद्यपि भगवान् भूतेश्वरकी भव्यभावनाओंका प्रतिनिधिभूत 'श्रीसनातनधर्म' स्वयं विराट्स्वरूप है, सभी नियम उसके अनेक सिद्धान्तोंके आंशिक परिचायक हैं; तथापि उसकी सार्वभौम सत्ता और समताको समक्ष रखकर नाना संस्थाओं तथा सभाओंमें एकसूत्रता स्थापित करनेकी आवश्यकता चिरकालसे अनुभव की जा रही थी; फलतः एक महात्मासे प्रसादरूपमें प्राप्त 'सनातनधर्मनियम' सनातनधर्मी जगत्के सामने अनुवाद-टिप्पणीसहित उपस्थित कर रहे हैं। नाना नगरोंकी अनेकविध श्रीसनातनधर्म-संस्थाओंके मान्य अधिकारियोंसे प्रार्थना है कि इन नियमोंको अपनाकर श्रद्धेय संस्थाओंके पवित्र संघटनका पुण्यकार्य करें। ये नियम मूलतः संस्कृतमें हैं। यहाँ इनका हिंदी-अनुवाद दिया जा रहा है; असमिया, उड़िया, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिळ, तेलुगु, पंजाबी, मराठी, मळयालम आदि भारतकी प्रमुख प्राकृत भाषाओंमें तथा विदेशी प्राकृत भाषाओंमें ठीक-ठीक अनुवाद करके इनका व्यापक प्रचार किया जा सकता है। इन नियमोंका मूलमें अथवा प्राकृत अनुवादमें नित्य पाठ करना चाहिये। मन्दिरों, तीर्थस्थानों, सनातनधर्मविद्यालयों, सभा-भवनों, धर्मशालाओंमें इन्हें संस्कृत अथवा प्राकृतभाषानुवादरूपमें लिखवाकर अथवा उत्कीर्णकर इनका धर्मप्राण जनतामें सत्प्रचार करना चाहिये। धर्मप्रचारके पुण्यकार्यमें सतत निरत समाचारपत्रोंमें इनकी व्याख्या प्रकाशित करनी चाहिये। सायं-प्रातः संध्योपरान्त, भगवद्विग्रहपूजनके बाद, विद्याध्ययनसे पूर्व तथा सत्सङ्ग-प्रसङ्गमें इन सत्यसनातन नियमोंका माहात्म्यसहित पाठ करना चाहिये। इनके नित्यपाठसे भगवद्-भक्तिमें आस्था, श्रीसनातनधर्मके प्रति दृढ़ विश्वास, जगत्के लौकिक धर्मके प्रति जागरूकता तथा आत्मज्ञानका अक्षय लाभ होगा—ऐसा महात्माजीका उपदेश है।

(१)

अथ श्रीसनातनधर्मनियमान् प्रवक्ष्यामः।

प्रमेयस्य जगतो मूलमधिनायकं निलयस्थानमेकमेव परमेष्ठि सत्यं ब्रह्म सगुणं निर्गुणं वा नित्यमुपासितव्यम्।

प्रमेय जगत्के मूल[1], अधिनायक[2] तथा निलयस्थान[3] एकमेव[4] परमेष्ठि सत्य[5] ब्रह्म[6]की सगुण[7] अथवा निर्गुणभावसे[7] नित्य उपासना करनी चाहिये।

(२)

ब्रह्मदेवपितृमनुष्यपशुरूपेषु सक्रियं भासमतोऽखण्डचेतनस्य पुराणयास्य जीवस्य निःश्रेयसाय नित्यं यष्टव्यम्।

ब्रह्म[6], देवता[9], पितर[10], मनुष्य[11] और जन्तुओंमें सक्रिय भासमान अखण्डचेतन[12], पुराण इस आत्मा[13]के कल्याण[14]के लिये नित्य यज्ञ[15] करना चाहिये।

(३)

आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिककर्मणां मूलं षडङ्गो वेदो नित्यं निष्कारणं द्विजेनाध्येयो ज्ञेयश्च।

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक कर्मोंके

---

१. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

२. एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥—मनुः

३. ब्राह्मं लयं ब्रह्मदिनान्तकाले
भूतानि यद् ब्रह्मतनुं विशन्ति।—भास्कराचार्यः।

४. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।

५. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

६. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।

७. स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥

८. अयमात्मा ब्रह्म।—माण्डूक्योपनिषद्।

९. द्युस्थानो देवगणः।

१०. अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु।—अथर्ववेद

११. सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।

१२. अविनाशी अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।

१३. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि।

१४. (अ) देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(आ)आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

१५. यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।

मूल[1] षडङ्ग वेदका नित्य और निष्कारण स्वाध्याय और ज्ञान द्विजमात्रका[2] कर्तव्य है।

(४)

स्मृतिसूत्रदर्शनपुराणवेदान्तसाहित्येतिहासानां स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां द्विजानां संकल्पाश्च संस्काराश्च नूतनीभवन्ति।

स्मृति, सूत्र, दर्शन, पुराण[3], वेदान्त, साहित्य और इतिहास[4]के स्वाध्याय-प्रवचन[5]द्वारा द्विजोंके संकल्प और संस्कार[6] नूतन रहते हैं।

(५)

वैदिकं समाजविधानं वर्णः जन्मगुणकर्मस्वभावैः व्यवस्थीयते; तत्पालनमुभयत्र मानवस्य निःश्रेयसाय भवति।

वैदिक समाज-विधान 'वर्ण'की जन्मगुणकर्मस्वभावपर व्यवस्था की गयी है, उसका पालन मनुष्यके इहलोक-परलोकके लिये कल्याणप्रद है।

(६)

वेदशास्त्रप्रतिपादिता वृत्तिः सदाचाराय, स्वेच्छामोह-पराग्रहमूला वृत्तिः मिथ्याचाराय भवति।

वेदशास्त्रद्वारा प्रतिपादित वृत्ति सदाचार है; स्वेच्छा, मोह, हठसे की हुई वृत्ति मिथ्याचार है।

(७)

सत्यविवेकाहिंसापरिग्रहास्तेयाभयाद्वेषसहिष्णुतासंयम-शौचदयाधैर्यैः शास्त्रविहितं कर्म परिचीयते सर्वत्र।

शास्त्रप्रतिपादित कर्मकी[7] सत्य, विवेक, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, अभय, अद्वेष, सहिष्णुता, संयम, शौच, दया और धैर्यसे पहचान होती है।

(८)

उपासनास्वाध्यायविहितवृत्तीनां सामञ्जस्येन वैयक्तिकी, जातीया, राष्ट्रिया समुन्नतिः सम्भाव्यते।

उपासना, स्वाध्याय और शास्त्रविहित वृत्तिके[10] सामञ्जस्यसे जातीय, वैयक्तिक तथा राष्ट्रिय समुन्नतिकी सम्भावना है।

(९)

स्वाध्यायोपासनाव्यवहारान् सम्यक् साधयन्ती वेदलोकाङ्गभूतामरभाषा शाश्वतं परिपालनीया।

स्वाध्याय, उपासना और व्यवहारको साधनेवाली वेद और लोकमें[11] अङ्गीभूत संस्कृतभाषाका शाश्वत परिपालन करना चाहिये।

माहात्म्य

परमाङ्कनिबद्धान्[12] ये प्रसिद्धान् सर्वशास्त्रतः।
पठन्ति नियमांस्तेषां धर्मे प्रीतिर्भवेद् ध्रुवम्॥
समाहृत्य तु शास्त्राणि धर्मग्लानिं निशाम्य च।
नृन् नियन्तुमिमे प्रोक्ता नियमाश्च सनातनाः॥
यज्ञस्वाध्यायवृत्तीनां सामञ्जस्यं प्रकुर्वतः।
गच्छतः स्खलनं क्वापि न हि दोषाय कर्हिचित्॥

—कश्चन सनातनधर्मा।

---

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

२. स्तुता मया वरदा वेदमाता पावमानी द्विजानाम्।

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

४. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्॥ पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥ —महाभारत।

५. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

६. स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

७. (अ) तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ। य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(आ) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(इ) सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता ज्ञात्या ज्ञेयास्त एव हि॥ —मनुः

(ई) जिनका जन्म जिस वर्णमें हो, उसीके सदृश गुण-कर्म-स्वभाव हों तो अतिविशेष है। —स्वामिदयानन्दरचितः संस्कारविधि, पृष्ठ २३४

८. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

९. (अ) वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(आ) सत्याज्जायते, दमया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।

१०. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।

११. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

१२. चार नियम ३६ (९–४=३६) वर्णोंके हैं, पाँच नियम ४५ (९–५=४५) वर्णोंके हैं। सर्वतोमुखी परमाङ्क ९ का सूचक है।

॥ श्रीहरिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३।।।), दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६।।।=), तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०।।।)

साइज १०×७।। नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

इसमें १०×७।। साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका बन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७।। नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम।

बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पकविमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्‌जी, १७-लक्ष्मीनारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७॥ नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।।।=)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूपमाधुरी, ३-त्रिभुवनमोहन राम, ४-दूल्हा राम, ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीराम-चतुष्टय, ९-भगवान् बालकृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बरधर शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २≡), दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित ३॥=) एवं तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्च-सहित ५=)।

विशेष सूचना—१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ तथा १०×७॥ की तीनों—कुल छः प्रतियाँ एक साथ लेनेपर उनके दाम १२≡), बाद कमीशन ॥।), बाकी ११।≡) पैकिंग-डाकखर्च २॥।≡), कुल १४।=) भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस (चित्रावली-विक्रय-विभाग), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

एक नयी पुस्तक ! प्रकाशित हो गयी !!

अध्यात्मविषयक पत्र

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६४, श्रीशेषशायीका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य ॥), डाकखर्च रजिस्ट्रीसहित ॥≡)।

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीगोयन्दकाजीके द्वारा समय-समयपर सत्सङ्गी भाइयोंके नाम दिये हुए ५४ पत्र हैं, जिनमें साधकोंकी अनेक शङ्काओंका समाधान करनेका प्रयत्न किया गया है। इसमें नामजपकी महिमा और क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता; अनासक्त भावसे घरमें रहकर ही ध्यानसहित जपकी प्रेरणा; श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌की शरण और प्रार्थनासे मनकी स्थिरता; ईश्वर, प्रकृति, कर्म, कर्मफल, आयु आदिके विषयमें विचार; सोऽहम्‌की उपासना, मुक्ति, सांख्यशास्त्र और वेदान्तका रहस्य; भगवान्‌के दर्शनका उपाय तथा विश्वास; प्रेम, नाम-जप और अर्थ-भावसहित रामायण-पाठ करनेका विषय, कर्मके पाँच हेतु; व्यवसायमें झूठ-कपटके सर्वथा त्यागसे कल्याण, आदि-आदि विषयोंका विस्तृत विवेचन है।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेके पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इससे भारी डाक-व्यय और समयकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

वर्ष ३१] * [अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०१४, अक्टूबर १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—रुक्मिणीका श्रीकृष्णको संदेश [कविता] (श्रीसूरदासजी) ...	१२१७
२—कल्याण ('शिव') ...	१२१८
३—गीताका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१२१९
४—तमासे चार दिनके [कविता] (श्रीबेनी कवि)	१२२९
५—सत्सङ्ग-सुधा	१२३०
६—श्रीरामदर्शन (पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)	१२४०
७—श्यामका आठों याम मनमें निवास [कविता]	१२४४
८—श्रीकृष्णका प्राकट्य (श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण)	१२४५
९—समयका सदुपयोग कीजिये (श्रीअगरचंदजी नाहटा) ...	१२५५
१०—प्रार्थनामय जीवन (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ...	१२५८
११—अकथमहिमा [कविता] ...	१२६१
१२—हिंदू-गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	१२६२
१३—शरीर अनित्य है [कहानी] (श्री'चक्र')	१२६५
१४—आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल-भागनेका दुष्परिणाम (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	१२६९
१५—प्रभु-प्रार्थना [कविता] (श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)	१२७२
१६—मानस-माधुरी (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)	१२७३
१७—परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र) ...	१२७८
१८—श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ...	१२७९

चित्र-सूची

तिरंगा

१—श्रीकृष्णको पत्र-दान	१२१७

चार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीकृष्णलीला पत्र-दान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

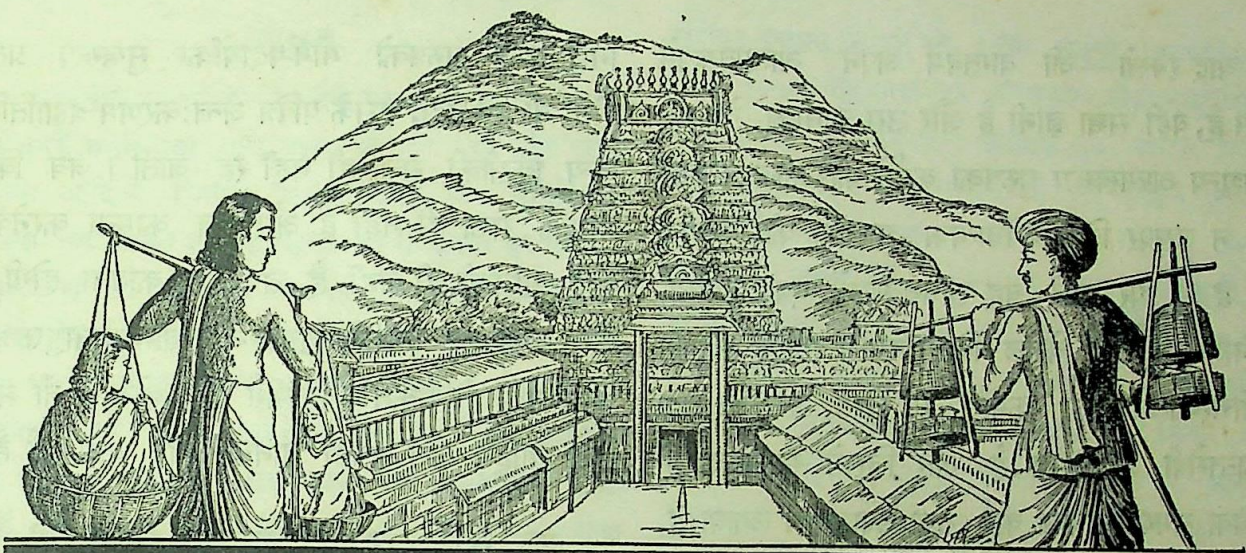

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१४, अक्टूबर १९५७ { संख्या १० पूर्ण संख्या ३७१

रुक्मिणीका श्रीकृष्णको संदेश

पाती दीजौ स्याम सुजानहि ।
मुख संदेस सुनाइ दीजियौ, मोहि दीन करि जानहिं ॥
श्रीहरि जोग रुकमिनी लिखितं, बिनय सुनौ प्रभु कानहिं ।
बाँचत बेगि आइयौ माधौ, धरौ जात मेरे प्रानहि ॥
समुझत नाहिं दीन दुख कोऊ, हरि भख जंबुक पानिहिं ।
मनि मरकट कौं देत मूढ़मति, मृगमद रज में सानहिं ॥
कब लौं दुःख सहौं दरसन बिनु, भई मीन बिनु पानिहि ।
सूरदास प्रभु अधर सुधाधर, बरषि देहु जिय दानहि ॥

कल्याण

याद रक्खो—जो वास्तवमें अपने आत्मस्वरूपमें स्थित है, वही सच्चा ज्ञानी है और उस ज्ञानीका—देहात्म-भावशून्य आत्मस्वरूप पुरुषका कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। न उसपर विधि-निषेधात्मक शास्त्रका कोई शासन ही है। पर यदि वह साधनकालमें एकान्त-वासी, ध्यानाभ्यासी तथा केवल विचारपरायण रहा है तो वह ज्ञानोत्तरकालमें शुभ कर्मोंसे भी विरत, उदासीन तथा एकान्तसेवी ही रहता है और जिसने साधन-कालमें अधिक समय निष्काम कर्म तथा उपासनामें लगाया है, उसके द्वारा निष्कामभावसे सहज ही शुभ कर्म—लोकोपकारी कर्म होते रहते हैं। स्वरूपतः कर्म करना या न करना उसकी पूर्व प्रकृतिसे सम्पर्क रखता है। वस्तुतः वह सदा-सर्वदा कर्मरहित है; क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमानी कोई रहता ही नहीं।

याद रक्खो—ज्ञानी पुरुष अवश्य ही विधि-निषेधके बन्धनमें नहीं है; तथापि उसके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका यानी पापोंका आचरण कभी हो ही नहीं सकता; क्योंकि साधनकालमें ही उसका अन्तःकरण भोग-कामना, वासना आदिसे विमुक्त होकर विशुद्ध हो चुकता है। उसके अन्तःकरणमें जब शुद्ध भोग-कामना ही नहीं रहती, तब दूषित पाप-संस्कार तो रह ही कैसे सकते हैं? उसका हृदय सर्वथा कामना-वासना-शून्य होता है, इससे उसके द्वारा पापाचरण होना सम्भव नहीं, क्योंकि पापाचरणमें एकमात्र हेतु भोग-कामना ही है।

याद रक्खो—आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्म-निष्ठ ज्ञानी पुरुषको भोग-पदार्थोंका सुखरूप प्रतीत होना तो दूर रहा, उसके पवित्र अन्तःकरणमें ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं रह जाती। जब किसी भोगकी सत्ता ही नहीं है और जब कामना करनेवाला कोई अहंकारी ही नहीं है, तब भोग-कामना होगी ही कैसे? अतएव ज्ञानीके द्वारा आसक्ति-कामनायुक्त कर्म कभी नहीं हो सकते। किसीमें यदि होते हैं तो समझ लेना चाहिये उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है।

याद रक्खो—कर्म-संस्पर्शशून्य होनेपर भी जब-तक प्रारब्ध शेष है, तबतक अहम्भावरहित ज्ञानीका शरीर रहेगा और तबतक उस शरीरमें प्रारब्धानुसार अनुकूल-प्रतिकूल भोग भी दिखायी देंगे। ज्ञानीका शरीर सर्वथा नीरोग भी रह सकता है और बहुत रुग्ण भी। उसका बहुत मान-यश हो सकता है और घोर अपमान-अकीर्ति भी। उसके संतान-सुख पूरा रह सकता है और पुत्रोंकी मृत्यु भी हो सकती है।

परंतु ज्ञानीके अनुभवमें संसारकी सत्ता नहीं रहती और संसारका मिथ्यात्व सिद्ध हो चुकता है, इसलिये किसी भी सांसारिक अनुकूल या प्रतिकूल घटना या स्थितिसे वह कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत या विचलित नहीं होता। उसके लिये प्रारब्धवश अनुकूल-प्रतिकूल प्रसङ्ग आते दिखायी दे सकते हैं; परंतु प्रत्येक प्रसङ्गमें वह यथायोग्य व्यवहार करते रहनेपर भी उससे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त ही रहता है। उसका निश्चय होता है—यह सब असत् प्रपञ्च है और केवल व्यवहारके लिये ही इसकी सत्ता है।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उपक्रम

पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें उनके महान् ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी भारी जलन पैदा हो गयी और उसने शकुनि आदिकी सम्मतिसे जुआ खेलनेके लिये युधिष्ठिरको बुलाया तथा छलसे उनको हराकर उनका सर्वस्व हर लिया। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई द्रौपदीसहित बारह वर्ष वनमें और एक साल छिपकर रहें; इस प्रकार तेरह वर्षतक समस्त राज्यपर दुर्योधनका आधिपत्य रहे और पाण्डवोंके एक सालके अज्ञातवासका भेद न खुल जाय तो तेरह वर्षके बाद पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इस निर्णयके अनुसार तेरह साल बितानेके बाद जब पाण्डवोंने अपना राज्य वापस माँगा, तब दुर्योधनने साफ इन्कार कर दिया। उसे समझानेके लिये द्रुपदके ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध पुरोहितको भेजा गया, परंतु उसने कोई बात नहीं मानी। तब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

जब पूरी तैयारी हो गयी, तब भगवान् वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप जाकर उनसे कहा—'यदि तुम घोर संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूँ।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा—'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ! मैं कुलके इस हत्याकाण्डको अपनी आँखोंसे देखना तो नहीं चाहता; परंतु युद्धका सारा वृत्तान्त भलीभाँति सुनना चाहता हूँ।' तब महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान करके धृतराष्ट्रसे कहा—"ये संजय तुम्हें युद्धका सारा वृत्तान्त सुनायेंगे। ये युद्धकी समस्त घटनावलियोंको प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेंगे। सामने या पीछेसे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या केवल मनमें आयी हुई, ऐसी कोई बात न होगी, जो इनसे तनिक भी छिपी रह सके। ये सब बातोंको ज्यों-की-त्यों जान लेंगे। इनके शरीरसे न तो कोई शस्त्र छू जायगा और न इन्हें जरा भी थकावट ही होगी।

"यह 'होनी' है, अवश्य होगी; इस सर्वनाशको कोई भी रोक नहीं सकेगा। अन्तमें धर्मकी जय होगी।"

इतना कहकर महर्षि वेदव्यास चले गये। उनके जानेके बाद धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय उन्हें पृथ्वीके विभिन्न द्वीपोंका वृत्तान्त सुनाते रहे, इसीमें उन्होंने भारतवर्षका भी वर्णन किया। तदनन्तर जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लगातार दस दिनोंतक युद्ध होनेपर पितामह भीष्म रणभूमिमें रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें अकस्मात् भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनाया (महा० भी० १३)। उसे सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा ही दुःख हुआ और युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये उन्होंने संजयसे कहा; तब संजयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूह-रचना आदिका विस्तृत वर्णन किया। इसके बाद धृतराष्ट्रने विशेष विस्तारके साथ आरम्भसे तबतककी सारी घटनाएँ जाननेके लिये संजयसे प्रश्न किया। यहींसे श्रीमद्भगवद्गीताका पहला अध्याय आरम्भ होता है। महाभारत, भीष्मपर्वमें यह पचीसवाँ अध्याय है। यहाँसे बयालीसवें अध्यायतक 'गीता' कही गयी है।

पहला अध्याय

इस पहले अध्यायको गीताग्रन्थकी अवतारणा समझना चाहिये। इसमें दोनों ओरके प्रधान-प्रधान योद्धाओंके नाम गिनाये जानेके बाद मुख्यतः अर्जुनके बन्धुनाशकी आशङ्कासे उत्पन्न मोहजनित विषादका ही वर्णन है। ऐसा विषाद भी सत्सङ्गके प्रभावसे कल्याणकी ओर अग्रसर करानेवाला योग (साधन) बन जाता है, इसलिये इसका नाम 'अर्जुन-विषादयोग' रखा गया है।

इसमें सर्वप्रथम धृतराष्ट्रने संजयसे इस प्रकार प्रश्न किया—'संजय! कुरुक्षेत्रमें युद्धकी अभिलाषासे एकत्र हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? युद्धके पूर्व वहाँ क्या-क्या बातें हुईं? और किस प्रकार युद्ध आरम्भ हुआ?'

धृतराष्ट्रद्वारा किये गये इस प्रश्नका कि 'मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?' कोई-कोई विचारक यह भाव निकालते हैं कि 'उन्होंने युद्ध किया या नहीं?' किंतु यह भाव युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि संजय उसे ही यह कह चुके हैं कि 'दस दिनोंसे युद्ध हो रहा है और आज भीष्मजी मारे गये हैं।' यह बात जान लेनेपर ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता कि 'युद्ध हुआ या नहीं?' अतः धृतराष्ट्रके पूछनेका यही भाव है कि 'वहाँ परस्पर क्या बातें हुईं? और युद्ध किस

प्रकार हुआ ?' इसी भावके अनुसार उत्तर देते हुए संजयने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

'महाराज ! उस समय पाण्डवसेनाकी वज्र-व्यूह-रचना देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया और उनको युद्धके लिये उत्तेजित करता हुआ बोला—'आचार्य ! आपके शत्रु द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न आपको मारनेके लिये ही पैदा हुआ और आपसे ही युद्ध-विद्या सीखकर आपका ही सामना करनेके लिये उसने यह अद्भुत वज्र-व्यूह-रचना की है। इसमें उसने बड़ी बुद्धिमानीका कार्य यह किया है कि पाण्डवोंकी थोड़ी-सी सेना भी बड़ी विशाल दिखायी देने लगी है। हम आशा करते हैं कि आप अपनी सेनाका व्यूह उससे भी अद्भुत एवं प्रभावशाली बनायेंगे; क्योंकि आप पाण्डवोंके तथा हम सबके भी आचार्य हैं, व्यूह-रचना-कलामें अत्यन्त निपुण हैं। यदि पाण्डवोंकी सेनामें भीम और अर्जुनके समान पराक्रमी योद्धा हैं तो अपने पक्षमें भी आप और भीष्म-जैसे शूरवीर योद्धा विद्यमान हैं, जो अतिशय बलवान् होनेके साथ ही युद्धमें मेरे लिये प्राण देनेको उद्यत हैं। अतः हमारी सेनाका ही बल अधिक है। सेनाके संरक्षण-कार्यमें भीमकी अपेक्षा भीष्म ही अधिक बलवान् हैं। इसलिये आप सब लोग भीष्मकी ही रक्षा करें। मुझे भय है कि कहीं शिखण्डी आकर भीष्मको मार न डाले; क्योंकि जन्मकालमें स्त्री होनेके कारण शिखण्डीपर शूरवीर भीष्म अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। मेरा विश्वास है कि भीष्मकी रक्षा होनेपर हम सबकी रक्षा हो सकती है; क्योंकि भीष्म अकेले ही सबकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं।'

दुर्योधनकी यह बात भीष्मजीने भी सुन ली थी, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए और दुर्योधनका हर्ष एवं उत्साह बढ़ानेके लिये सिंहनाद करके उन्होंने अपना विजयसूचक शङ्ख बजाया। इसके पश्चात् कौरवसेनामें और भी बहुत-से शङ्ख, नगारे, ढोल और मृदङ्ग आदि जुझाऊ बाजे सहसा बजने लगे। यह युद्ध आरम्भ होनेकी सूचना थी। पाण्डवोंने भी उसके प्रत्युत्तरमें अपने-अपने शङ्ख बजाये, जिससे सारी पृथ्वी और आकाश गूँज उठा तथा उस भयानक ध्वनिसे कौरवपक्षके सैनिकोंका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा।

उस समय धृतराष्ट्रके सैनिक व्यूह-बद्ध हो सुव्यवस्थित खड़े थे और उनके द्वारा अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार आरम्भ होना ही चाहता था। यह अवस्था देख अर्जुन वीरोचित शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे—

'अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके मध्यभागमें खड़ा कर दीजिये। मैं पहले देख तो लूँ कि ये कौन-कौन वीर युद्धकी कामना लेकर यहाँ खड़े हुए हैं और इस रणक्षेत्रमें किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना होगा। युद्धमें दुर्योधनकी दुर्बुद्धिका निवारण न करके उसका प्रिय करनेकी इच्छासे ये जो लोग यहाँ पधारे हुए हैं और युद्धके लिये तैयार खड़े हैं, इन सबको आज मैं देखूँगा।'

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें भीष्म और द्रोण आदिके सामने अपने रथको ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा—'इन कौरव योद्धाओंको देखो।' अर्जुनने देखा—पितामह, आचार्य और बन्धु-बान्धव सामने खड़े हैं। उन्हें देखकर वे दयासे द्रवित हो उठे और शोकातुर होकर भगवान्से बोले—'प्रभो ! ये सब तो मेरे स्वजन हैं, इनको देखकर न तो मुझे युद्ध करनेका साहस होता है और न मैं युद्ध करनेमें किसीका कल्याण ही समझता हूँ। यदि इन सबको मार दिया जाय तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा—यह मेरी मान्यता है। इन स्वजनोंका विनाश करके प्राप्त किये हुए राज्य, सुख-भोग और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? इस लोकके राज्य या सुखकी तो बात ही क्या है, तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। नीतिके अनुसार जो कुछ भी कहा जाय, किंतु धर्मकी दृष्टिसे विचार करनेपर मैं तो इन आततायियोंको भी मारनेमें पाप ही समझता हूँ। लोभके कारण भ्रष्ट-चित्त हुए ये दुर्योधन आदि कुलक्षय और मित्र-द्रोहके दोषको नहीं समझते तो न समझें; किंतु मैं तो जानता हूँ कि कुलके नाशसे उसका सनातन धर्म नष्ट हो जाता है और धर्मके नाशसे कुलकी नारियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, जिससे वर्णसंकरता फैलती है। इसके परिणामस्वरूप श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाएँ नष्ट हो जानेसे कुलघाती पुरुषोंके पितर और वे स्वयं भी नरकमें जाते हैं। मैं अपनी ओरसे युद्ध न करूँ, उस दशामें यदि कौरव योद्धा अस्त्ररहित मुझको अस्त्र-शस्त्रोंसे मार डालें तो वह मरना भी मेरे लिये कल्याणकारी ही होगा।'

भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर और धनुष-बाण त्यागकर अर्जुन शोकाकुल-चित्त हो रथके पिछले भागमें बैठ गये।

दूसरा अध्याय

इस अध्यायमें कर्मयोगका वर्णन होनेपर भी उपदेशका

आरम्भ सांख्ययोगसे ही हुआ है। सांख्ययोगके साधनमें आत्मानात्म-विवेक ही मुख्य है। आत्मतत्त्वका वर्णन अन्य अध्यायोंकी अपेक्षा इसमें अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है, इसलिये इसका नाम 'सांख्ययोग' रखा गया है।

अर्जुनके हृदयमें मोहवश करुणाका स्रोत उमड़ पड़ा था। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी, वे विषादमें डूब रहे थे। उसी अवस्थामें भगवान्‌ने उनसे कहा—'अर्जुन! इस घोर संग्राममें यह अज्ञानजनित कायरता तुझमें कहाँसे आ गयी? यह श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य नहीं है और न यह स्वर्ग तथा कीर्ति प्रदान करनेवाली ही है। यह तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। यह तो नपुंसकता है, इस तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ।'

अर्जुनने कहा—'भगवन्! भीष्म और द्रोण तो मेरे लिये परम पूजनीय हैं, मैं उन्हें बाणोंसे कैसे मारूँ? उन्हें मारकर राज्य या सुख भोगनेकी अपेक्षा तो मैं भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना ठीक समझता हूँ। युद्धमें होनेवाले बन्धुजनोंके नाशकी आशङ्कासे मुझमें दीनता और कायरता आ गयी है। इसी दोषके कारण मेरा क्षात्रस्वभाव दब-सा गया है और मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसका निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया हूँ, मेरे मनपर मोह छा गया है। प्रभो! मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ। अतः मेरे लिये जो कल्याणकारी कर्तव्य हो, उसका उपदेश कीजिये। मेरी समझमें तो यही आया है कि त्रिलोकीका राज्य मुझे मिल जाय, तब भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता; अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

इतना कहकर अर्जुन चुप हो गये। उनके इन वचनोंको सुनकर भगवान् इसलिये मुसकराये कि 'अर्जुन अभी-अभी कह चुका हैं कि मैं आपके शरणागत हूँ, मुझे कर्त्तव्यका उपदेश कीजिये, और अब स्वयं ही युद्ध न करनेका निश्चय प्रकट कर रहा है।'

फिर वे दुःखित अर्जुनसे बोले—'पार्थ! आज तू उन लोगोंके लिये शोक कर रहा है, जो शोक किये जाने योग्य कदापि नहीं हैं और बातें पण्डितोंकी-सी कर रहा है। किंतु जिनके प्राण चले गये, उनके लिये, एवं जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते। जिनके प्राण चले गये, उनके लिये तो शोक करना वृथा है ही; जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी शोक करना व्यर्थ है; क्योंकि उनके प्राण जानेवाले हैं। शरीर तो नाशवान् है, वह नष्ट होकर ही रहेगा और आत्मा अविनाशी है, अतः उसका कभी नाश हो नहीं सकता। किसी भी दृष्टिसे देखा जाय, शोक करना नहीं बनता। तू, मैं और ये सब राजालोग वर्तमान शरीर धारण करनेसे पहले भी थे और भविष्यमें भी रहेंगे। शरीरका क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण यह परिणामी है। जिस प्रकार बाल, युवा और वृद्धावस्थाका होना इस स्थूल शरीरका विकार है, उसी प्रकार जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना सूक्ष्मशरीरका विकार है। इस तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहके वशीभूत नहीं होता। सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं। अतः तुझे धैर्यपूर्वक इनको सहन करना चाहिये। जो इन सुख-दुःखोंको समान समझता है, जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वही अमृतत्व अर्थात् मोक्षका अधिकारी होता है। तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने यह सिद्धान्त निश्चित किया है और यह युक्तियुक्त भी है कि 'जो वस्तु सत् है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तु मिथ्या है, वह सदा स्थिर नहीं रहती।' इसके अनुसार सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तथा यह जड शरीर क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण असत् हैं तथा देहमें स्थित सर्वव्यापी चेतन आत्मा नाशरहित, अप्रमेय, अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अखण्ड, एकरस और पुरातन होनेसे सत् है। आत्मा नित्य, अव्यक्त और अक्रिय होनेसे न किसीको मारता है और न किसीसे मरता है; क्योंकि वह उत्पत्ति, विनाश, क्षय, वृद्धि, परिणाम आदि विकारोंसे रहित है, शरीरकी भाँति जन्मने-मरनेवाला नहीं है। अतएव शरीरका नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। वस्त्र बदलनेकी भाँति एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आत्माका जो जाना-आना-सा प्रतीत होता है, वह सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक है—वास्तविक नहीं। वास्तवमें तो आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थाणु, अचल, सनातन, अचिन्त्य, निराकार और निर्विकार है। इसलिये न यह शस्त्रसे कटता है न आगसे जलता है, न पानीसे गलता है और न हवासे सूखता ही है। शरीरकी उत्पत्तिके पहले और शरीरके विनाशके बाद भी आत्मा अव्यक्त ही है। केवल शरीरके सम्बन्धसे उसकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है। वास्तवमें तो वह जन्म-मरणसे रहित ही है। अतएव आत्माके लिये किसी प्रकारसे भी शोक करना संगत नहीं है।

'जैसे बादलोंमें सदा व्याप्त रहनेवाला आकाश बादलोंके गरजने-बरसने आदि विकारोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सबके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहकर भी विकाररहित आत्मा शरीरके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता। इस आश्चर्यमय आत्माके तत्त्वको सुनकर भी सब समझ नहीं पाते, समझनेवाला तो कोई बिरला ही होता है। कोई ज्ञानी महात्मा ही यथार्थरूपसे आश्चर्यकी ही भाँति इसे अनुभव करते, कहते और सुनते हैं। नित्य रहनेसे आत्माका कभी किसी प्रकार भी विनाश हो नहीं सकता और शरीर क्षणभङ्गुर, परिणामी एवं अनित्य होनेके कारण सदा टिक नहीं सकता। अतः आत्मा और शरीरके लिये शोक करना संगत नहीं है। आत्माकी नित्यता समझ लेनेपर तो किसीको युद्धसे भय होगा ही नहीं।

'अपने क्षात्रधर्मकी ओर देखकर भी तुझे भयसे कम्पित नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। निष्कामभावसे किया हुआ धर्ममय युद्ध मुक्तिको देनेवाला है और सकामभावसे किया हुआ वही युद्ध स्वर्ग प्रदान करता है। अपने-आप प्राप्त हुआ ऐसा धर्ममय युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियको ही मिलता है। यदि तू इस धर्ममय संग्रामसे मुँह मोड़ लेगा तो धर्म और कीर्तिको खोकर पापका ही भागी बनेगा। संसारके मनुष्य तेरी कभी न मिटनेवाली अपकीर्तिकी सदा चर्चा करेंगे। किसी सम्मानित पुरुषकी अपकीर्ति फैल जाय तो वह उसके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायिनी होती है। जिन महारथी वीरोंके हृदयमें तेरे लिये परम सम्मानका भाव है, वे तुझे भयसे भागा हुआ समझेंगे। उनकी दृष्टिमें तू अत्यन्त तुच्छ हो जायगा। तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे न कहनेयोग्य वचन भी कह डालेंगे। इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखकी बात और क्या होगी? यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गलोक प्राप्त करेगा और यदि तेरी जीत हुई तो तू इस पृथ्वीका राज्य भोगेगा। दोनों ही अवस्थाओंमें तेरे लिये लाभ-ही-लाभ है। यह समझकर तू युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके खड़ा हो जा। यदि तुझे स्वर्ग और राज्य—इन दोनोंकी इच्छा न हो, तो भी क्षत्रियके नाते अपना धर्म समझकर तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान मानकर युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार धर्मयुक्त युद्ध करनेसे तू कभी पापका भागी नहीं होगा, प्रत्युत निष्कामभावसे यही कार्य करनेपर परम श्रेय प्राप्त कर लेगा।'

यहाँतक भगवान्‌ने ज्ञानयोग और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इस अन्तिम (अड़तीसवें) श्लोकमें बतलाये हुए समभावको सांख्यकी दृष्टिसे इसी अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें बतलाया गया है और कर्मयोगकी दृष्टिसे इसीके आगे अड़तालीसवें श्लोकमें बतलायेंगे। इसी भावको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

'अर्जुन! यह समबुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी (गीता २। १५) और इसी बुद्धिको अब तू कर्मयोगके विषयमें सुन, जिसके अनुसार साधन कर लेनेपर तू कर्मोंके बन्धनका नाश कर डालेगा। इस निष्कामकर्मयोगका साधन आरम्भ करके साधक किसी कारणवश यदि उसे बीचमें ही छोड़ दे, तो भी उसका बीज नष्ट नहीं होता। सकाम साधनोंकी भाँति इसमें त्रुटि होनेपर कोई विपरीत परिणाम निकले या कोई पाप लगे—ऐसा दोष इस कर्मयोगके साधनमें नहीं है। इस कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे उद्धार कर देता है। इस कर्मयोगमें एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। एवं जो विवेकहीन और भोगासक्त हैं, उन पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनेक भेदोंवाली और अनन्त होती हैं। वे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तचित्त होनेके कारण वेदोंमें बतलायी हुई नाना प्रकारकी विस्तृत यज्ञरूपा सकाम क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, वे क्रियासाध्य सुखके उपभोगमें ही आसक्त रहते हैं और कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस कारण उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। इसलिये तू निष्काम, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तुमें स्थित और योगक्षेमको न चाहनेवाला बन; क्योंकि इस प्रकारके साधनद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वेदोंमें बतलाये हुए सम्पूर्ण साधनोंका फल उसीके अन्तर्गत आ जाता है।'

जिस कर्मयोगकी भगवान्‌ने उपर्युक्त शब्दोंमें प्रशंसा की, उसीका स्वरूप वे इस प्रकार बतलाते हैं—

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं। तू कर्मफलका हेतु मत बन अर्थात् कर्मके फलमें आसक्ति, वासना और ममता मत कर। साथ ही तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो। तू आसक्ति त्यागकर, योगस्थ होकर कर्म कर। सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होना ही योगस्थ होना है। यह समभाव ही 'योग' नामसे कहा गया है। इस समत्वरूप बुद्धियोगकी अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये तू समबुद्धिरूप योगका आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु

बननेवाले मनुष्य अत्यन्त दीन हैं। समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनोंसे लिप्त नहीं होता, अतः तू समबुद्धिरूप योगके लिये चेष्टा कर; क्योंकि यह समबुद्धिरूप योग ही कर्मोंके बन्धनसे छूटनेका उपाय है। यही कर्म करनेकी कुशलता है। समबुद्धियुक्त ज्ञानीजन कर्मफलको त्यागकर निर्विकार परमपदको प्राप्त होते हैं। अतः योगसाधन करते-करते जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलसे ऊपर उठ जायगी, जब तू वैराग्यको प्राप्त होगा और तेरी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल एवं स्थिरभावसे स्थित हो जायगी, तब तू परमात्माकी प्राप्तिरूप योगको प्राप्त हो जायगा।'

इसपर अर्जुनने चार प्रश्न किये—(१) स्थिर-बुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है? (२) वह कैसे बोलता है? (३) कैसे बैठता है? (४) और कैसे चलता है?

पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके लक्षण इस प्रकार बतलाये कि 'वह मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है।'

फिर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें उसके बोलनेका प्रकार यह बतलाया कि 'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर मनमें उद्वेग न होनेके कारण जो उद्वेगरहित वचन बोलता है तथा सुखोंकी प्राप्तिमें निःस्पृह होनेके कारण स्पृहायुक्त वचन नहीं बोलता एवं राग, भय और क्रोध नष्ट हो जानेके कारण जो राग, भय और क्रोधयुक्त वाक्य नहीं कहता, इसी प्रकार जो पुरुष स्नेहरहित होनेके कारण शुभ वस्तुके प्राप्त होनेपर तो प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन नहीं करता और अशुभके प्राप्त होनेपर उसकी द्वेषबुद्धिसे निन्दा नहीं करता, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।' यहाँ 'मुनि' कहकर भगवान्‌ने उसकी वाणीके संयमकी बात कही है।

इसके बाद तीसरे प्रश्न उत्तरमें भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार यों बतलाया है कि 'जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर बैठता है, वैसे ही स्थिरबुद्धि पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सर्वथा हटाये हुए रहता है। यदि मनुष्य हठ और विचारसे भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करना छोड़ देता है तो इससे उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किंतु उनमें उसकी आसक्ति बनी रहती है। भगवत्प्राप्त स्थितप्रज्ञकी आसक्ति भी नहीं रहती, यही उसकी विशेषता है। आसक्तिका नाश हुए बिना बलवती इन्द्रियाँ यत्नशील विवेकी पुरुषके भी मनको बलात्कारसे विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह वैराग्ययुक्त चित्तसे इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण हो जाय। मेरे परायण हुए बिना मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे विषय-कामना होती है। कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे मूढ़भाव और उससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। इस प्रकार विवेकशक्तिका नाश होनेसे वह अपने परमार्थ-साधनसे गिर जाता है।'

इसके पश्चात् भगवान्‌ने चौथे प्रश्नके उत्तरमें स्थिरबुद्धि पुरुषके आचरण बतलानेके लिये पहले साधकके विषयोंमें विचरण करनेकी विधि इस प्रकार बतलायी है कि 'प्रथम स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ, अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। उस प्रसन्नताके होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। किंतु उपर्युक्त साधनसे रहित पुरुषके अन्तःकरणमें न तो अध्यात्मविषयक बुद्धि होती है और न उसमें आस्तिकभाव ही होता है, आस्तिकभाव हुए बिना शान्ति नहीं मिलती, फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है। जैसे जलमें वायु नावको भटकाती और डुबो देती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको विचलित कर देती है। इसलिये जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे सर्वथा वशमें कर ली गयी हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। साधनहीन अयुक्त और योगयुक्त सिद्ध पुरुषमें तो रात-दिनका अन्तर है। जिस नित्यशुद्धबोधस्वरूप परमानन्दमें योगयुक्त जागता है अर्थात् परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है, वह संसारी मनुष्योंकी रात्रि है अर्थात् उसका उन्हें बिल्कुल ही अनुभव नहीं है तथा जिस नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं अर्थात् सांसारिक सुखका अनुभव करते हैं, तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है अर्थात् ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें वह सुख सुख ही नहीं है;

क्योंकि वह पुरुष तो सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा-वाले समुद्रकी भाँति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूप-में अचलभावसे स्थिर रहता है। उस स्थितप्रज्ञ पुरुषके हृदयमें संसारके सम्पूर्ण भोग उसी प्रकार कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जैसे समुद्रमें नदियाँ; क्योंकि उसमें कामनाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वह शान्ति-को प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं। अतः जो सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके ममता, अहंता और स्पृहासे रहित हुआ संसारमें विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त करता है ?' यहाँ भगवान्‌ने 'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया है। यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है। इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोहित नहीं होता। अन्तकालमें भी इस ब्राह्मीस्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है। अतएव मनुष्यको इस प्रकारकी स्थितिमें नित्य स्थित रहना चाहिये।

तीसरा अध्याय

इस तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि इसमें कर्मयोगका ही तत्त्व विशेषरूपसे समझाया गया है। दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने पहले सांख्ययोग और फिर कर्मयोगका विषय अलग-अलग कहा; किंतु अर्जुनने उसका तात्पर्य ठीक-ठीक नहीं समझा, अतः प्रश्न किया कि 'जनार्दन ! आप कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? आप मिले हुए-से वचनोंद्वारा मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः कृपया एक बात निश्चित करके कहिये, जिससे कि मेरा कल्याण हो !'

भगवान्‌ने कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ कहीं नहीं बतलाया; किंतु दूसरे अध्यायके उनचासवें श्लोकमें आये हुए 'बुद्धियोग' शब्दको, जो कि समबुद्धिरूप कर्मयोगका वाचक है, अर्जुनने भूलसे ज्ञानयोगका वाचक समझ लिया। उसी श्लोकमें आये हुए 'कर्म' शब्दको, जो कि सकाम कर्म-का वाचक है, अर्जुनने भूलसे युद्धरूप घोर कर्मका वाचक समझ लिया। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकमें कहा हुआ 'बुद्धियुक्त' शब्द समभावयुक्त कर्मयोगीका वाचक है और उसमें उसीकी प्रशंसा की गयी है; किंतु अर्जुनने उसे ज्ञानयोगीका वाचक समझकर उसीकी प्रशंसा मान ली तथा उसके उत्तरार्द्धमें 'तू योगका साधन कर, योग ही कर्मोंमें कुशलता है।' इस कथनसे उन्हें भ्रमवश यह संदेह हो गया कि भगवान् कहीं तो ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं और कहीं योगकी। इसीसे अर्जुनने बिना समझे ऐसा प्रश्न किया।

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन ! इस लोकमें मेरे द्वारा दो प्रकारकी निष्ठा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।' भाव यह है कि सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने सूर्यके प्रति यह योग कहा था और पूर्व अध्यायमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक ज्ञान-योगकी दृष्टिसे तथा इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे अर्जुनके प्रति कहा है। दूसरे अध्यायके उनचालीसवें श्लोकमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि 'सांख्ययोगविषयक बुद्धि तो तुझे कह दी, अब तू कर्मयोगविषयक बुद्धि मुझसे सुन।' यदि अर्जुनका ध्यान इस कथनकी ओर चला जाता, तब तो उनको ऐसी शङ्का ही नहीं होती। यहाँ भगवान् स्पष्ट करते हैं कि 'मैंने मिले हुए-से वचन न तो कहे हैं और न अभी कह रहा हूँ। मैंने तो अलग-अलग विभाग करके ज्ञानयोगके साधकोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोगके साधकोंके लिये कर्मयोग बतलाया है और बतला रहा हूँ तथा मैंने शास्त्र-विहित निष्काम कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको कहीं श्रेष्ठ भी नहीं बतलाया है। मेरा कहना तो यह है कि मनुष्योंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंकी दृष्टिसे कर्तव्य कर्म साधनरूप है, अतः अवश्य करना चाहिये।

'क्योंकि कर्म किये बिना नैष्कर्म्य-सिद्धिरूप कर्मयोगकी निष्ठा नहीं प्राप्त होती और कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ही ज्ञाननिष्ठाकी भी सिद्धि नहीं होती। साधारण मनुष्य एक क्षणके लिये भी सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता। बाहरसे कर्मोंका सर्वथा त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है और मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। अतः मनुष्यको निष्कामभावसे करने योग्य कर्मोंको करते रहना चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, बिना कर्म किये शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता; शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा भी है और निष्कामभावसे उसका पालन करनेसे परम श्रेयकी प्राप्ति होती है। यज्ञादि कर्तव्य कर्मोंका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करने-वाला चोर है तथा कर्तव्यपालन करके यज्ञशेषसे शरीर-निर्वाह-के लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है। इसके विपरीत जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये ही भोजन बनाकर खाता है, वह पापी है; क्योंकि

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है, वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ शास्त्रविहित कर्म करनेसे होता है। कर्म वेदसे और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। अतः सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा शास्त्रविहित यज्ञादि कर्मोंमें व्यापक हैं। इसलिये परमात्माको सब जगह अनुभव करते हुए शास्त्रविहित कर्मोंको निष्काम-भावसे करना चाहिये; क्योंकि जो इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म नहीं करता, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-जीवी पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

'जो शास्त्रके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमार्थ-ज्ञानद्वारा परमात्माको यथार्थ रूपसे प्राप्त हो जाता है, उस आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट पुरुषके लिये कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। संसारमें उस पुरुषके द्वारा कर्म किये जाने और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंसे उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है। फिर भी वह लोकसंग्रहके लिये कर्म करे तो उसके लिये कोई मनाही नहीं है। इसलिये मनुष्यको अनासक्त-भावसे कर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि अनासक्त-भावसे कर्म करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है और पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म अवश्य करना चाहिये; क्योंकि साधारण मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषके आचरणों-का अनुकरण करते और उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं, इसलिये महापुरुषोंको भी लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये।

"पार्थ! मेरे लिये तो न कुछ कर्त्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य ही है; फिर भी मैं लोकसंग्रहके लिये कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करने लग जायँ। इस अवस्थामें सब लोग तो नष्ट-भ्रष्ट होकर वर्णसंकर बनें और मैं इसमें निमित्त माना जाऊँ। अतः कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्य कर्म और उनके फलमें आसक्त होकर जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त कर्मोंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको अनासक्त भावसे शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, उन कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करनी चाहिये, बल्कि स्वयं शास्त्रविहित कर्म करते हुए उनको भी कर्मोंमें लगाना चाहिये। वास्तवमें तो सम्पूर्ण कर्म प्रकृति-जन्य गुणोंसे ही होते हैं; किंतु अहंकारी मनुष्य अज्ञानसे 'मैं करता हूँ' इस प्रकार मान लेता है। गुण-कर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला तत्त्ववेत्ता तो 'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं' यों मानकर उनमें आसक्त नहीं होता और अज्ञानी मनुष्य गुण-कर्मोंमें आसक्त हो जाता है। उन अज्ञानियोंकी बुद्धि कर्म करनेसे विचलित न हो, इस बातको ध्यानमें रखकर तत्त्ववेत्ता ज्ञानीको भी लोकसंग्रहके लिये शास्त्रोंके अनुकूल कर्मोंका आचरण करना चाहिये।"

इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना उचित सिद्ध करके भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी कि 'तू मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशा, ममता और संतापसे रहित होकर युद्ध कर।'

भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी मनुष्योंके उद्धारके लिये यह उपदेश दिया है; अतः जो मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक निष्काम भावसे उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंका आचरण करते हैं, वे भी उन कर्मोंके बन्धनसे छूट जाते हैं किंतु जो भगवान्‌में दोषदृष्टि रखकर इस सिद्धान्तके अनुसार कर्म नहीं करते, वे अज्ञानी कल्याण-पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने-अपने स्वभावके अनुसार सभी मनुष्योंको कर्म करने पड़ते हैं। ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार ही शास्त्रविहित कर्म करनेकी चेष्टा करता है। अतः स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें राग-द्वेषका त्याग करना चाहिये। राग-द्वेष ही साधकके कल्याण-मार्गमें शत्रु हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि राग-द्वेषके वश होकर अपने धर्मका त्याग कभी न करे; क्योंकि दूसरे वर्ण और आश्रमका धर्म अच्छी प्रकारसे पालन करनेपर भी अपने लिये पाप और भयदायक है तथा अपना धर्म साङ्गोपाङ्ग पालन न हो सके, तब भी कल्याणकारक है; इसलिये आसक्ति और कामनासे रहित होकर श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये।

इसपर अर्जुनने यह पूछा कि 'मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि 'आसक्तिस्वरूप रजोगुणसे उत्पन्न और क्रोधका उत्पादक काम ही अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला, बड़ा भारी पापी और साधकका वैरी है। सम्पूर्ण पापोंकी उत्पत्तिका यही मूल है। जिस प्रकार

धुएँसे अग्नि, मैलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका रहता है, इसी प्रकार विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामसे उनका ज्ञान ढका रहता है। पर यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें स्थित रहकर उनके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करता है। अतः पहले इन्द्रियोंको और फिर मनको वशमें करके इस पापी कामको मार डालना चाहिये; क्योंकि शरीर और प्राणोंसे तो इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे मन और मनसे बुद्धि श्रेष्ठ और सूक्ष्म है एवं बुद्धिसे आत्मा अत्यन्त श्रेष्ठ, सूक्ष्म और महान् है। इस प्रकार समझकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये।'

चौथा अध्याय

इस चौथे अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' है। यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे 'परमार्थ-ज्ञान', 'कर्म' शब्दसे 'कर्मयोग' और 'संन्यास' शब्दसे 'ज्ञानयोग' समझना चाहिये।

दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकसे लेकर तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस योगकी व्याख्या की गयी, उसीके लिये भगवान्‌ने बतलाया कि 'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा था। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना था। परंतु इधर बहुत समयसे वह योग इस पृथ्वीपर लुप्तप्राय हो गया था। तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिये मैंने वही पुरातन योग आज तुझे बताया है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य—गोपनीय विषय है।'

इसके बाद अर्जुनके यह प्रश्न करनेपर कि 'आपका प्राकट्य तो पीछे हुआ है और विवस्वान् आदि बहुत पहलेसे हैं, फिर आपने उन्हें कब किस तरह योगका उपदेश किया?' भगवान् अपने अवतारके रहस्य एवं दिव्य जन्म-कर्मकी बात बताते हुए कहते हैं—'मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं; उन सबको तू नहीं जानता, पर मैं जानता हूँ। मैं साक्षात् परमेश्वर, अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं ही साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ, श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार तथा पापियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—निर्मल और अलौकिक हैं, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है। पहले भी बहुत-से मनुष्य, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे, अनन्यभावसे मेरे शरण होकर मेरे अलौकिक जन्म-कर्मोंके ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो मुझे प्राप्त हो चुके हैं; क्योंकि जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

'किंतु जो इस रहस्यको नहीं जानते, वे मुझको न भजकर देवताओंको भजते हैं; क्योंकि देवतालोग उनकी माँगकी पूर्ति शीघ्र ही कर देते हैं। पर मैं जब उनका हित होता है, तभी उनकी माँगकी पूर्ति करता हूँ, नहीं तो नहीं करता; क्योंकि गुण और कर्मोंके अनुसार चारों प्रकारके वर्ण मेरे द्वारा ही रचे गये हैं, किंतु कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा न रखनेके कारण सृष्टि-रचनादि कर्मोंसे मैं बँधता नहीं। दूसरा जो कोई भी मुझको या मेरे जन्म और कर्मोंके इस रहस्यको जानता है, वह भी नहीं बँधता। पूर्वकालके भी बहुत-से मुमुक्षुओंने इस प्रकार समझकर निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण किया है। तुमको भी उसी प्रकार करना चाहिये।

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित रहते हैं। कर्मकी गति गहन है; अतः शास्त्र-विहित कर्म, निषिद्ध कर्म और अकर्मका भी तत्त्व जानना चाहिये। मैं तुम्हें कर्म और अकर्मका तत्त्व बतलाऊँगा, जिससे तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे। शास्त्रविहित क्रियाओंमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फलोंका भोग करानेकी और पुनर्जन्मकी हेतु नहीं बनतीं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। लोक-प्रसिद्धिके अनुसार मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; वह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है। जो मनुष्य इस प्रकार देखता है, वही मनुष्योंमें ज्ञानी, योगी और समस्त कर्मोंको करनेवाला है। जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प (आसक्ति) से रहित हैं एवं ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जिसके सारे कर्म भस्म हो गये हैं, ऐसे मनुष्य-को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। जो पुरुष सांसारिक

आश्रयसे रहित तथा परमानन्दमय परमात्मामें नित्य तृप्त है एवं कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह भलीभाँति समस्त आवश्यक कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वह आशा और परिग्रहसे रहित, अपने मनको वशमें रखनेवाला, जितात्मा पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके लिये कर्म करता हुआ भी पापका भागी नहीं होता। अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों और ईर्ष्यासे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करके भी कर्मोंसे नहीं बँधता; क्योंकि उस आसक्ति और अभिमानसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थितचित्त और लोक-संग्रहके लिये यज्ञरूप कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। इसलिये तुझे निष्कामभावसे लोकसंग्रहके लिये यज्ञरूप कर्मोंका आचरण करना चाहिये।'

आत्माके उद्धारके लिये निष्कामभावसे कोई भी शास्त्र-विहित कर्म किया जाय, उसीका नाम 'यज्ञ' है। इसी भावको लेकर यहाँ 'यज्ञ'के नामसे भगवान्‌ने कई प्रकारके कल्याण-कारक साधन बतलाये हैं।

जिस ब्रह्मचिन्तनरूप साधनमें स्रुक्-स्रुवादि उपकरण, हवन करनेयोग्य द्रव्य, अग्नि, यज्ञकर्त्ता और प्राप्तव्य फल—ये सब ब्रह्म ही हैं, वह 'ब्रह्मयज्ञ' है। निष्काम-भावसे देवताओंका पूजन करना 'देवपूजनरूप यज्ञ' है। सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अपनेआपको विलीन कर देना, परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो जाना 'आत्मा-परमात्माका अभेददर्शनरूप यज्ञ' है। श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर अपने वशमें करना 'इन्द्रिय-संयम-रूप यज्ञ' है। वशमें की हुई और रागद्वेषरहित इन्द्रियों-द्वारा शब्दादि विषयोंको ग्रहण करते हुए भी उनसे प्रभावित न होना, हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहना 'विषयहवनरूप यज्ञ' है। परमात्माके स्वरूपमें योगद्वारा मन-का निरोध करनेपर इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओं, का स्वतः ही रुक जाना और साधकका ज्ञानस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाना 'आत्मसंयमयोगरूप यज्ञ' है। ईश्वरार्पणबुद्धि-से लोकसेवामें द्रव्य लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है। मन-इन्द्रियोंका संयम, एकादशी आदि व्रत-उपवास और धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप-यज्ञ' है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-भक्ति), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना), धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्गयोगका अनुष्ठान करना 'योगरूप यज्ञ' है। अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त हो यत्नपूर्वक भगवत्प्राप्तिविषयक गीतादि शास्त्रोंका अर्थ और भाव-सहित अध्ययन करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है। बार-बार बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा खींचकर शरीरके भीतर ले जाकर उसे रोक देना 'अपानमें प्राणका हवन करनारूप आभ्यन्तर 'कुम्भक' है; इसीको 'पूरक प्राणायाम' कहते हैं। बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोक देना 'प्राणमें अपानका हवन करनारूप बाह्य कुम्भक' है; इसीको 'रेचक प्राणायाम' कहते हैं। न तो बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोकना और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर ही रोकना, प्रत्युत अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पाँचों वायुभेदोंको वहीं रोक देना, प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें हवन करनारूप 'केवल कुम्भक' है; इसीको 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' कहते हैं।

उपर्युक्त यज्ञोंके द्वारा पापोंका नाश होनेपर साधक अन्तःकरणकी प्रसन्नतारूप अमृतको प्राप्त होकर सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। किंतु यज्ञरहित पुरुषको इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। इनके सिवा और भी बहुत प्रकारके क्रियासाध्य यज्ञोंका वेदोंमें वर्णन है। उन यज्ञोंका तत्त्व जानकर निष्काम-भावसे साधन करनेपर मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है। इन यज्ञोंमें द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, ज्ञान ही उनकी परमावधि है। ऐसे ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंसे दण्डवत् प्रणाम, सेवा और सरलतापूर्वक प्रश्नद्वारा जानना चाहिये; क्योंकि इसको जानकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं होता और इस ज्ञानसे मनुष्य प्रथम सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें और फिर परमात्मामें अनुभव करता है। संसारमें जितने भी पापी हैं, उन सबमें सबसे महान् पापाचारी भी इस ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे तर सकता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है। इसलिये इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। साधक समबुद्धिरूप योगका साधन करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर स्वतः ही उस ज्ञानका आत्मामें अनुभव करता है। श्रद्धासे साधनकी

तत्परता और उससे इन्द्रियोंका संयम होनेपर यह ज्ञान प्राप्त होता है एवं ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। परंतु जो विवेक और श्रद्धासे रहित संशयात्मा है, वह मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। उस संशयात्माके लिये इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख नहीं है। इसके विपरीत, जिसने समबुद्धिरूप योगके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर दिया है, जिसने विवेकके द्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वाधीन अन्तःकरणवाले मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते। इसलिये मनुष्यको समबुद्धिरूप योगमें स्थित होकर अज्ञानजनित संशयका विवेकरूप तलवार-द्वारा छेदन करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

पाँचवाँ अध्याय

इस पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन है। सांख्ययोगका ही पर्यायवाची शब्द 'संन्यास' है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' रखा गया है।

'कर्मसंन्यास'का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्मोंके प्रति कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना। यही 'ज्ञानयोग' है। इसीकी प्रशंसा चौथे अध्यायमें (श्लोक ३३ से ३८ तक) की गयी है तथा निष्कामभावसे कर्म करनारूप कर्मयोगकी प्रशंसा भी भगवान् जगह-जगह करते आये हैं। इसलिये अर्जुनका यह कहना उचित ही है कि 'आप कर्मसंन्यास यानी ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनोंकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये।'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि 'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याण करनेवाले हैं; परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साधन करनेमें सुगम है। जो न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, वह कर्मयोगी हर्ष-शोक और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेके कारण सदा संन्यासी ही समझा जाने योग्य है; इसीलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। वास्तवमें उन दोनोंका फल एक होनेसे वे दोनों एक ही हैं। दोनों साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर दोनोंका फल एक—परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। इस तत्त्वको न जाननेवाले मूढ मनुष्य सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं। किंतु इस तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी महात्मा ऐसा नहीं कहते; क्योंकि सांख्य यानी ज्ञानयोगके साधनद्वारा ज्ञानयोगियोंको जिस परमपदकी प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा कर्मयोगियोंको भी उसी परम पदकी प्राप्ति होती है। अतः सांख्यके और योगके साधनका फल एक होने-से उन्हें एक देखना ही यथार्थ देखना है तथा पहले कर्म-योगका साधन किये बिना ज्ञानयोगका साधन कठिन है। इतना ही नहीं, कर्मयोगमें यह विशेषता भी है कि भगवान्‌के स्वरूपका मनन करनेवाला मुनि कर्मयोगके साधनद्वारा शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा भगवान् ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। इन सब कारणोंसे ज्ञान-योगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, किंतु देहमें अभिमान रहते हुए सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं हो सकती; इसलिये तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना आदि क्रियाओंको करता हुआ यह समझता है कि सब इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता तथा जो कर्मयोगी सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। वह ममत्वबुद्धिसे रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करता है। अतः वह कर्मोंके फलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है, किंतु सकामी पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये।

अब सांख्ययोगीकी स्थितिके विषयमें बतलाया जाता है। जिसका अन्तःकरण वशमें है, ऐसा सांख्ययोगी पुरुष न कुछ करता है और न करवाता है। वह नौ द्वारोंवाले शरीर-रूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—यों मानता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें आनन्दपूर्वक स्थित रहता है। परमेश्वर न तो मनुष्योंके कर्तापनकी सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं, किंतु स्वभाव ही बरत रहा है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

सर्वव्यापी परमात्मा न तो किसीके पापकर्मको ग्रहण करते हैं और न किसीके शुभ कर्मको ही । जीव अज्ञानके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्त्ता-भोक्तापनकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं । तत्त्वज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी भाँति परमात्माका साक्षात् करा देता है । परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका बार-बार मनन करना चाहिये । बार-बार मनन करनेसे मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है । फिर बुद्धिसे निश्चय किये हुए उस ब्रह्मका ध्यान करनेसे बुद्धि भी उसमें विलीन हो जाती है । ब्रह्मके स्वरूपमें इस साधककी जो स्थिति होती है, उसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं । सविकल्प समाधिमें ब्रह्मके नाम, रूप और ज्ञानका अनुभव रहता है । फिर अपने-आप ही ब्रह्ममें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है । तब उस पुरुषके सारे पाप ज्ञानके द्वारा नष्ट हो जाते हैं और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाता है । परमगतिको प्राप्त होनेपर उसका विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और चाण्डाल आदि सबमें समभाव हो जाता है । मन-बुद्धिका समतामें स्थित हो जाना ही ब्रह्मप्राप्तिकी कसौटी है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है; इसलिये जिसकी समतामें स्थिति है उसकी ब्रह्ममें ही स्थिति है । उसी पुरुषको जीवन्मुक्त कहते हैं। वह स्थितप्रज्ञ, ब्रह्ममें स्थित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष अनुकूलको पाकर हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलको पाकर उससे द्वेष नहीं करता ।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगके अनुसार दूसरा यह साधन भी है कि सारे संसारके पदार्थोंसे अनासक्त होकर अपने आत्मामें ही उस आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान किया जाय । इस प्रकार ध्यान करनेपर उसे अक्षय सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सांसारिक सुखभोगोंको दुःखका हेतु, विनाशशील और क्षणभङ्गुर समझकर विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता । जो साधक इस जीवनकालमें ही शरीर छूटनेसे पहले विवेकके द्वारा काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही योगी है और वही सुखी है । वह ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित योगी अपने आत्मामें ही आनन्द और ज्योतिःस्वरूप परमात्माका अनुभव करता है एवं उसीमें रमण करता है । इस साधनके प्रभावसे वह विज्ञानानन्दघन निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । ज्ञानके द्वारा जिनके सारे पाप और संशय नष्ट हो चुके हैं और जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, उन काम और क्रोधसे रहित, संयतचित्त ज्ञानी महात्माको सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त हैं ।

इसके सिवा परमात्माकी प्राप्तिका और भी उपाय बताया जाता है 'संसारके बाहरके विषयभोगोंको बाहर ही त्यागकर नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करे तथा प्राण और अपान वायुको सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वशमें करे । ऐसा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित तथा मोक्षके परायण हुआ पुरुष नित्यमुक्त ही है ।'

इसके अतिरिक्त परमात्माकी प्राप्तिका अन्य उपाय भी बताते हैं—'भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी जानकर मनुष्य परमशान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

(क्रमशः)

तमासे चार दिन के

पाय प्रभुताई कछु कीजिये भलाई, यहाँ
नाहीं थिरताई, बैन मानिये कबिन के ।
जस अपजस रहि जात है जगत बीच,
मुलक खजाना गये "बेनी" साथ किन के ॥
और महिपालन की गिनती गिनाऊँ कहा,
रावन से ह्वै गये, त्रिलोकी बस जिन के ।
चोपदार चाकर चमरपति चमूपति,
मंदिर मतंग ये तमासे चार दिन के ॥ १ ॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

७६. व्रजप्रेममें केवल त्याग-ही-त्याग है। उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नहीं है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असंख्य गोपियाँ बनती हैं, वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनोंमें तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका अपना-अपना एक भाव रहता है। श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं; परंतु किसी भी गोपीके हृदयमें अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, सभीकी चेष्टा इसी-लिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढंग होता है और सबका ढंग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नहीं, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. जहाँ अपनी इन्द्रियोंके सुखकी वासना होती है, वहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ काम है।

२. जहाँ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है।

३. काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमें सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमें आनन्द मिले; और प्रेममें प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दुःख क्यों न मिलें।

४. उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही हैं, जिनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचाने-वाला होता है।

५. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती हैं।

६. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं।

७. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं।

८. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त संसारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड़ देती हैं।

९. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं।

१०. श्रीगोपियोंमें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड़ देती हैं।

११. श्रीगोपियाँ अपने आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं।

इस प्रकार उनके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है। यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्यागकर देती हैं इसलिये कि मेरे प्रियतमको सुख पहुँचे। उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहाँ जानेसे हमें सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोंके कई भेद हैं। मुख्य चार भेद हैं—

१. नित्य गोपियाँ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियाँ, दासियाँ एवं सहचरियाँ; श्रीचन्द्रावली एवं उनकी

दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि। ये अनादिकालसे हैं। इनमें कोई हेर-फेर अब हुआ हो, या होगा—यह बात बिल्कुल नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अनादिकालसे हैं, वैसे श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ भी अनादिकालसे हैं और अनन्तकालतक रहेंगी। इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ हैं, वे सब-की-सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं। कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार साधनासे सम्मिलित हुई हैं। उनमें—

२. कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

३. कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

४. कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर सम्मिलित हुए हैं। अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपी-देह पाकर उस लीलामें सम्मिलित होगा।

अब तीन तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ और एक प्रकारकी हैं नित्य गोपियाँ। इन्हीं नित्य गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अंशमें, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं। जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अंशकी लीलामें प्रवेश करते हैं, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमें स्वयं भी सेवाका अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य सखियाँ हैं, दासियाँ हैं तथा स्वयं श्रीराधारानी एवं श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग-अलग भाव होता है अर्थात् एक-से-एक बढ़कर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है। सबसे ऊँचा एवं सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही होता है।

इस प्रेम-लीलामें स्वकीया एवं परकीया—ये दो भाव होते हैं। स्वकीया सर्वथा निकुञ्जकी लीला है, महावाणीमें इसीका संक्षिप्त वर्णन है। परकीयामें गोष्ठ एवं निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं। अस्तु, इस गोष्ठ-निकुञ्जकी सम्मिलित लीलामें जितनी गोपियाँ हैं, सब परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैंने आपसे कहा था कि स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी एक-एक छायाका निर्माण करके उन गोपियोंके एवं स्वयं श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है। श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय।

अब एक बात याद रखिये—जैसे मूलमें एक श्रीकृष्ण हैं, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही हैं। पर राधारानी ही स्वयं श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एवं अनन्त सखियों-दासियों तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती हैं। इसको कायव्यूह-निर्माण कहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह-तरहकी लीला रच-रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य गोपियोंके रूपमें अनादिकालसे प्रकट किये हुए हैं। इन्हीं नित्य गोपियोंके यों तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एवं चन्द्रावलीजीका है। श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग-अलग होते हैं। उस दिन जो खण्डिताके पद पढ़े थे, वह इन्हीं दो दलोंको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था। श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते हैं, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती हैं और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही संक्षेपमें मानलीलाका सूत्र है। इसके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर रूप हैं एवं अत्यन्त विलक्षण-विलक्षण लीलाएँ होती हैं; सबका वर्णन कोई भी कर ही नहीं सकता, क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं।

पर असलमें बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये। श्रीकृष्णको अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं; तथा मान करनेमें भी कितना ऊँचा-ऊँचा भाव होता है, यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बातें लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ। बीचमें यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एवं श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैब्या आदि दोनों इस चेष्टामें रहती हैं कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी-अपनी सखीके कुञ्जमें ले जायँ। श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोंकी वञ्चना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं। श्रीकृष्णको दोनोंको ही प्रसन्न करना पड़ता है। उसके सामने उसकी सुननी पड़ती है, उसके सामने उसकी।

यों तो यह लीला अनिर्वचनीय है और इसके किसी भी अंशको पूरा-पूरा समझना असम्भव है। पर पढ़-सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पड़ती है तथा जिन संतोंको जो अनुभव हुआ है तथा ऋषि-महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हींको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमें जो आयेगा, लिख सकता हूँ।

यह लीला अनन्त है; जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है। उसी लीलामेंसे एक प्रकारकी लीलाका उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ। श्रीकृष्णकी एक लीला है, जिसे दैनन्दिनी लीला कहते हैं, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रातःसे लेकर राततक चौबीस घंटे एक-एक प्रकारकी होती है। इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं। स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है। यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ। इस लीलाका बहुत संक्षेपमें यह रूप है—श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है। श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती हैं। यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। इसी रूपको 'नित्य-किशोर एवं नित्य-किशोरी' का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमें सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह रोज नयी-नयी होती रहती है और नयी-नयी ही होती रहेगी; क्योंकि असलमें यह जड-जगत्की लीला नहीं है, यह है स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूत लीला। अतएव इसमें नित्य-नूतनता रहेगी ही।

सूत्ररूपसे ही बहुत संक्षेपमें लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है। यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है—प्रातःकाल निकुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके इशारेसे शुक-सारिका आदि पक्षी उन्हें जगाते हैं। जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह-तरहसे सेवा करती हैं। सेवा होनेके बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते हैं तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हें सुला गयी थीं, वहीं जाकर चुपचाप सो जाते हैं। राधारानी भी घर आकर सो जाती हैं। फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती हैं। वे हाथ-मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामें जाकर गाय दुहते हैं। फिर स्नान करते हैं। इधर सखियाँ राधारानीको उठाती हैं। मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती हैं, फिर शृङ्गार करती हैं। इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हें रसोई बनानेके लिये बुला रही हैं।' उनकी साससे कहकर वह उन्हें ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं। उनके बने हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते हैं। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती है कि इनके हाथकी रसोईको

श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते हैं तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायेगा, उसकी आयु बढ़ेगी। यशोदा सोचती हैं कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसीलिये नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती हैं। इसके बाद मैया स्वयं बहुत तरहसे कहकर राधारानीको भोजन कराती हैं। फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमें जाते हैं। वे गाय चराने जाते हैं तथा राधारानी एवं सखियाँ वनमें फूल चुननेके बहानेसे तथा सूर्य-पूजाके बहानेसे वनमें चली जाती हैं। वहाँ वृन्दादेवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है। श्रीकृष्ण भी संकेतपर पहुँच जाते हैं। वहाँ मिलन होता है एवं ढाई पहरतक तरह-तरहकी लीला होती है। इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती हैं। वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती हैं, स्नान करती हैं तथा शृङ्गार करके अपने महलकी अटारीपर चढ़कर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं। सायंकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है। मैया श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर उनका मुँह चूमती हैं, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हें कुछ जलपान कराती हैं। श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बड़े-बड़े गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमें खूब नाच-गान होता है। नन्दबाबाके दोनों बगलमें बैठकर श्रीकृष्ण एवं दाऊजी तमाशा देखते हैं। फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमें सुला देती हैं। जब मैया चली जाती हैं, तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर संकेत बँधा होता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत-सी भोजन-सामग्री भेजती हैं। सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरामृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती हैं। राधारानी एवं सखियाँ भोजन करती हैं, फिर शृङ्गार करके वृन्दादेवीकी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं। श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाका मिलन होता है। वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एवं भोजन आदि करके किसी कुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातः उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है। इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। जिन भक्तोंको इस लीलाके दर्शन हुए हैं, उन्होंने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोंने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है। ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके हैं और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं। जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बड़े संकोच और संक्षेपसे उन्होंने वर्णन किया है। वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है। मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके। भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोड़ों भक्तोंमें कोई बिरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते हैं, तब कहीं जाकर इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्णरूपसे अपने आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें न्यौछावर कर देता है, उन्हींकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रतिदिन नयी हो जाती है, उसका मन हटना ही नहीं चाहता। यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है। मैं तो बहुत ही साधारण व्यक्ति हूँ—न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान लगा है, न दर्शन हुए हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे ये बातें सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मेरे लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र

करनेके लिये एवं आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ।

७७. जैसे एक लीला फिल्मकी रील है—

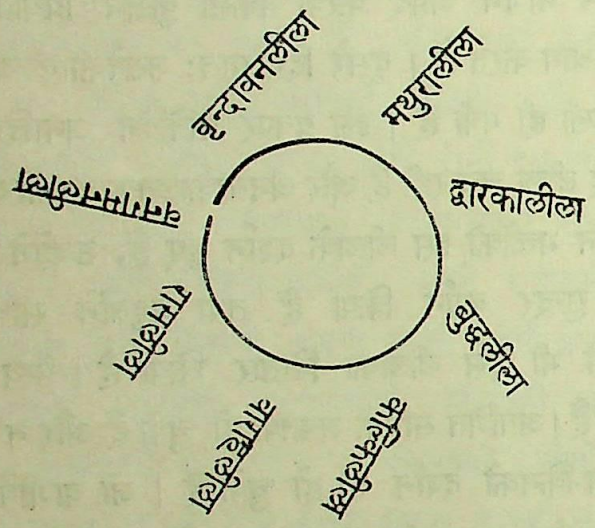

अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई हैं और अनन्त कालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब-की-सब भगवान्‌के शरीरमें वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रखी हैं। अब यही फिल्म घूमेगा और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा, भगवान्‌की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा। जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पड़ी। फिर श्रीगोपीजनोंका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि संयोग-वियोग दोनों होते हैं; फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है। उसीमेंकी पहली, संयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं हैं, यहाँसे कहीं गये ही नहीं। इससे और भी परेकी लीला थी, किंतु सबको उद्धवने थोड़े ही देखा था!

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ, श्रीकृष्ण एवं गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ-कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हें होते हैं, तब उद्धवकी आँखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता! व्रजमें मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है; यदि मुझे तुम एक झाड़ी, लता, घासका तिनका ही बना दो, तो फिर तो मेरा काम बन जाय। श्रीगोपीजनोंके चरणोंकी धूलि मुझपर उड़-उड़कर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुंजन बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, तौ बर मागउँ जाय॥
कृपा करि देहिं जो।

"हाय! मैं कैसे इस व्रजमें लता बन जाऊँ? अरे, कम-से-कम, मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाँही तो इस प्रकार पड़ जायगी; बस, इतना ही मेरे लिये अलं है। पर हे भगवन्! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है। मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बनकर मैं सदाके लिये रह जाता। हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय। मैं उनसे जाते ही यही माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता; केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नहीं। पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नहीं।" यह दशा हुई थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए। इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ; केवल दर्शन-दर्शन हुए, सो भी थोड़े-से अंशके ही।

यह बड़ी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। इनके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है; क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय जब कि कोई सीमा हो।

जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी-ही-नयी होती जायगी, एक-से-एक विलक्षण आती जायगी; जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी। शास्त्रमें आजतक जिन-जिन लीलाओंका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोड़ा है। बहुत-सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है। तथा ऐसी भी बहुत-सी लीलाएँ हैं, जिन्हें आजतक किसीने नहीं देखा है। वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिल्कुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीत नहीं होती कि 'हमें अब कुछ देखना बाकी रह गया है।' जैसे समुद्रमें डूब जानेपर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर जल-ही-जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला-सिन्धुमें डूब जानेपर वह स्वयं लीलामें तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोड़े रहता है कि अभी कुछ बाकी है। पर जैसे समुद्रमें विचित्र-विचित्र इतनी बड़ी तरङ्गें उठती हैं कि जिनकी कोई तुलना नहीं; किसी वर्षमें ऐसी तरङ्गें आती हैं कि वैसी हजारों वर्षके इतिहासमें नहीं मिलतीं। वैसे ही लीलासिन्धुमें भी ऐसी-ऐसी तरङ्गें आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; फिर दूसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; तीसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड़ जाती है और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड़ जाती है। तरङ्गोंकी कोई सीमा नहीं कि कब कैसी तरङ्ग आकर पहलेवालीको फीकी—छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नहीं कि न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेंगे कि पहलेवाली सब-की-सब फीकी हो जायँगी। पर फीकीका यह अर्थ नहीं है कि पिछली लीलासे मन उपराम हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है। यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पड़ती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला-समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ। फिर तो तरङ्गें आयेंगी ही। उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हें सख्यरसका आनन्द प्राप्त था। पर भगवान् तो कृपालु हैं। उन्होंने देखा—बिचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एवं मेरे सखापनका आनन्द ही पाता है; अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ। उद्धव गये। पहले तो उन्होंने ज्ञानकी चर्चा की; पर इसके बाद जब गोपियोंकी कृपासे गोपियोंकी विरह-लीलाका दर्शन हुआ, तब उनके होश उड़ गये—हाय! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया। उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोंने और भी कृपा की तथा उन्हें उससे भी ऊँची एक लीलाका थोड़ा-सा अंश दिखलाया। इसके बाद और भी कृपा हुई होगी, हमलोगोंको उसका क्या पता।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्रीकृष्णका साक्षात् हो चुका था। फिर भगवान्‌ने कृपा करके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंकी बात उन्हें दिखायी, सुनायी। इसी प्रकार जैसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है। जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है। वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है—लालसा बढ़ाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने आपको न्योछावर कर देना। वहाँ किसी राजाके सीमित महलमें देखनेकी वस्तुएँ थोड़े ही हैं। भगवान्‌की लीलावाले महलमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्त कालतक देखनेपर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

७८. मान लीजिये एक बहुत बड़ा सम्राट् है। अब वह जिस समय दरबारमें रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है। पर जब वह महलमें जाता है, तब बच्चा उसकी दाढ़ी पकड़कर खींचता है और रानी उसकी सेवा करती है। रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बड़े भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राट्पनका रोब नहीं रहता। वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति हैं। सम्राट् हैं दरबारमें, महलमें तो उसके स्वामी हैं, उसपर उसका अधिकार है। राजदरबारका कानून, बैठना-उठना, बात-चीत, हँसना-बोलना, सब मर्यादासे सीमित रहता है; वहाँ सम्राट्पन (ऐश्वर्य) बात-बातमें रहेगा। पर महलमें सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर-गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है। भगवान्‌के बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते हैं, कोई बहुत बड़े अधिकारीकी तरह काम करते हैं, यहाँतक कि युवराज-की तरह, भगवान्‌के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं; पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नहीं हो सकता; वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते—जानतक नहीं सकते कि उनकी शकल-सूरत कैसी है।

भगवान्‌का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्या-का रूप—ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं। बहुत ऊँचे-ऊँचे संत उनकी इस ऐश्वर्य-लीलामें स्थान पाकर भगवान्‌की तरह-तरहकी सेवा करते हैं। पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं, युवराजतकपर हुकुम चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंका हुकुम ब्रह्मा विष्णु-महेशतकपर चलता है। अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमें दिन-रात आनन्दिन रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नहीं कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखें, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नहीं मिलती कि जाकर देखें—बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है।

जो दिन-रात श्रीकृष्णको रोबमें बैठे देखता है, उसे क्या पता कि ये ही श्रीकृष्ण महलमें जाकर न जाने क्या-क्या करते हैं। वह तो दिन-रात दरबारी कानूनकी मर्यादामें रहता है। मर्यादाकी जो लीला होती है, उसीमें उसका मन पगा हुआ होता है।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढ़-कर, राज्यमें क्या हो रहा है—यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता। वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हैं, वे कभी इस प्रापञ्चिक जगत्‌की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते हैं। पर जो दिन-रात मिश्रीके रसको चख रहा है, उसका गुड़पर मन थोड़े ही चलता है। वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमें छका रहता है कि क्या पूछना। उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने-कहनेकी भी फुरसत नहीं होती।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझें कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाड़ी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बड़े-बड़े अफसर सब प्रबन्ध करते हैं। सारा प्रबन्ध उन्हींका रहता है तथा उनके प्रबन्धमें ही स्पेशल जाती है। पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी। मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढ़े। पर वस्तुतः मैं तो इनका चाकर हूँ। ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामें स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो, तो उसकी देख-रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं बड़े-बड़े देवता ही करते हैं, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी हैं।

जो वैसे भक्त हैं या अवतार लिये हुए हैं, वे सब कानून मानते हैं; पर उनका यहाँका कानून मानना

वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पड़े। मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है। पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही ऐसे जो कोई बिरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार लिये होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं।

कल्पना कीजिये—सम्राट्को मजाक सूझे और इसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमें घूमे। अब कोई राजका चपरासी हो। उस बेचारेको तो पता है नहीं कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है। अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदलकर जब दरबारमें हम रहें, तब आना होगा।' अब जब वह रानी जायगी, तब चपरासी तो उसके साथ भी वही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है। ठीक उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमें प्रवेश करने देगा। वहाँ दरबारमें भी केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है, वेष बदले हुए यहाँ आयी है; और लोग तो जानते भी नहीं कि यह कौन है। रानी वहाँ दरबारमें खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है; पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते हैं पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी कभी-कभी लीला किया करते हैं।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है—भगवान् द्वारकामें गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिनें दहीके मटके लिये दरबारमें आती हैं। भगवान् तो सब जानते हैं—पहले अदबसे बात होती है। फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमें, यहाँ गद्दीसे उतरो।' सारा दरबार ठक् हो जाता है कि भला, ये गँवारी ग्वालिनें कितनी बढ़-बढ़कर बातें कर रही हैं। श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं; यदि सीधे मनसे नहीं चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा!' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमें याद नहीं कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार देती हैं। सारा दरबार चकित रह जाता है। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमें आती है तथा तरह-तरहकी लीला करती है; पर लीला देखकर यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोंके दास हैं। ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्र-गोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जातीं।

और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जब-तक बिल्कुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके रहस्यका अनुमान लगाना भी बड़ा ही कठिन होता है। किसी भी दृष्टान्तसे इसके वास्तविक रहस्यको समझा नहीं सकता।

७९. भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं। उनमें किसीमें भी मन लग जानेपर तो महीने-के-महीने बीत जाते हैं, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है। पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है। समाधि हो जाती है। परंतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तबतक चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये दस-बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कड़ाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला, फिर यह लीला, फिर यह। इस प्रकार जागनेसे सोने-

तक मन-ही-मन चिन्तनका तार चलता रहे। बाहर तो सुन रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं, किसीसे बात कर रहे हैं अथवा बैठकर नामजप कर रहे हैं, पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये। खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बड़ी आसानीसे हो सकता है।

८०. वैष्णवसिद्धान्तका तो यह एक निचोड़ है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड़ ले। भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ। भगवान् हमारे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ। भगवान् हमारे पुत्र हैं, मैं उनका पिता हूँ। भगवान् हमारे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खींचे—बस, उसीको एक बार दृढ़ करके जोड़ ले और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसों घंटे सेवामें लगा रहे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोड़ता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं। विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण। यही उत्कण्ठा, जैसे-जैसे भजन-स्मरण बढ़ता है, वैसे-वैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बढ़ने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई कि उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते हैं और फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी गणनामें आ जाता है।

लीलाचिन्तन करते-करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र-विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं। मान लें आप ध्यान कर रहे हैं, भोजनकी लीला चल रही है। बड़े, पकौड़ी, साग एवं तरह-तरहकी मिठाइयाँ मन-ही-मन परस रहे हैं और भावना कर रहे हैं—श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे मैं खा रहा हूँ। अब वहाँ मनमें खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहाँ इस मुँहमें आ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नहीं हुआ, आज थोड़ी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

कभी-कभी ऐसा भक्तोंको हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं। वह गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड़ गयी। वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया। अब हो तो रहा था ध्यान, पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे। ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकड़ी जल रही थी। खीर उतारी, कटोरेमें ढाली, कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुलीपर पड़ी, अँगुली हिली, हिलनेसे कटोरा गिर गया। आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमेंसे खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खड़े हैं।

मधुर भावके, गोपीभावके संत लोग तो विचित्र-विचित्र तरहकी लीला करते हैं। वहाँ तो बड़े-छोटेका संकोच ही नहीं। कभी चपत लगा देते हैं। श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं। अब वे गोपीभावापन्न संत उन्हें मनाते हैं। मनाते समय श्यामसुन्दर तरह-तरहकी शर्तें पेश करते हैं। यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा। वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई। अब उसमें कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं। वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमें है।

एक बार दो भक्त थे। वृन्दावनकी बात है। दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे। सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे। एक दिनकी बात है कि राधा-कुण्डमें जल-विहारकी लीला चल रही थी। वे उसीके ध्यानमें लगे हुए थे। लीला होते-होते श्रीप्रियाजीके

कानोंका कुण्डल जलमें गिर गया। अब संत तो वहाँ सखीके वेषमें थे। अतः उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबराकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे। इधर ध्यानमें तो एक-दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये। लोगोंने देखा कि आँखें बंद हैं, श्वास धीरे-धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं। उनके एक मित्र थे। उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था। उनको लोगोंने समाचार दिया। वे स्वयं भी पहुँचे हुए थे। उन्होंने आकर देखा—देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है। बस, चटसे वे उन्हींकी बगलमें बैठ गये। ध्यानमें ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जड़में छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया। कुण्डल पाकर इन्होंने उसे प्रियाजीके कानोंमें पहना दिया। पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया। अब पान तो ध्यानमें दिया था। पर उसी समय आँखें खुलीं। देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है। दोनों मित्र हँसने लग गये। और लोगोंने कुछ नहीं समझा। केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे। जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब ऊँची स्थितिमें पहुँच जाते हैं, तब एक दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते हैं। यह योगकी बात नहीं है। यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थीं, वैसे ही यहाँ भी कोई-कोई ऐसे मित्र होते हैं, जो मिलकर एक दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं। फिर उनसे एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी-कभी पता लग जाता है; सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है; क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित हैं। जो चाहिये, वही कर देंगे। पहले तो चिन्तनमें जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी। पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली। चिन्तनका अभ्यास होते ही मन दिन-रात वहीं फँसा रहेगा। आपके मनमें जो चित्र आता है, उसमें भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है; क्योंकि आप उसे ऐसा मानते हैं कि यह तो भावनाका चित्र था। सेवा हुई, नहीं हुई; चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेंगे। भगवान् देखते हैं कि यह तो हमें भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यों बनें? नहीं तो, फिर गर्मीके दिनोंमें आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पंखा झलनेसे फुरसत नहीं मिले। बाहर कुछ भी करते रहेंगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पंखा झलते ही रहेंगे। बाहरके काममें भले त्रुटि हो, पर पंखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा। कहीं किसी झंझटके काममें फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये।

जैसे × × × में गर्मीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह! आज बहुत गर्मी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमें ही पंखा झलना चलता रहेगा। पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है। भोजन करानेकी लीलाका चिन्तन करते हुए जैसे धीरे-धीरे चबा-चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे ही अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोड़ा, तोड़कर मुँहमें रखा, अब चबा रहे हैं। फिर मनमें आयेगा थोड़ा नमकीन,

खाते तो ठीक रहता। बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही-बड़ेको तोड़कर मुँहमें रख रहे हैं। पर वह करनेसे होगा। आप जो भाव करेंगे, उसी लीलाको वे सच्ची बना देंगे। पहले तो सुन-पढ़कर दस-बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर, पीछे उनकी कृपासे नयी-नयी लीलाएँ अपने-आप ध्यानमें आने लग जायँगी। आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके साथ भी ऐसी घटना हो सकती है। वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं, सामने बैठकर खा सकते हैं। पर सारी बात इसपर निर्भर है—अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमें लग जायँ। फिर कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। मधुर-से-मधुर लीला एक-पर-एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस देख-देखकर निहाल होते रहियेगा। फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा। पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा।

नन्ददासजी जब मरने लगे—अन्तमें यह पद गाते हुए मरे—

देखो, देखो री, नागर नट निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजै मुकुट लटक।
काछिनि किंकिनि कटि
नंददास गावै तहाँ निपट निकट।

अर्थात् मैं बिलकुल नजदीक खड़ा होकर यह लीला देख रहा हूँ। यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये। आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना करें तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बड़ी बात है?

श्रीरामदर्शन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने पवित्र 'रामचरितमानस'में धनुषयज्ञके पूर्व श्रीजनकपुरमें स्थित महाराजके परमरम्य बागमें श्रीरामदर्शनके लिये श्रीजनकनन्दिनीके जिस पावन प्रेम-प्रयासका सरस-सरल भाषामें वर्णन किया है, उसका विवरण न श्रीवाल्मीकीय, न अध्यात्मरामायणमें आया है। अवश्य वह प्रसन्न-राघव नाटकमें पाया जाता है; परंतु उसमें श्रुतिसिद्धान्तके रहस्यका विकास नहीं हुआ है, जैसा कि मानसमें हुआ है।

श्रुति कहती है कि योगके बिना विद्वान्‌का भी यज्ञ नहीं सिद्ध होता—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।

(ऋक्संहिता मण्डल १। १८ मन्त्र ७)

ज्ञानी जनकजीके उपदेशक योगी याज्ञवल्क्यजीका कथन है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है—

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

और श्रुति भी कहती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदारण्यक० ४। ५। ६)

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।

(छा० उ० ८। ७। १)

और योगानुशासनमें उसके लिये विधि है—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

(योग० १। २०)

इसलिये इस प्रेम-दर्शनसे श्रीजानकीजीने आगम-निगमद्वारा ही अपना कर्त्तव्य पालन करके यज्ञकी सफलता प्राप्त की है और प्रत्येक सौभाग्य-काङ्क्षिणी कन्याके लिये आदर्श स्थापित कर दिया है, जिसका वर्णन क्रमशः आगे होगा।

गोस्वामीजीने इस श्रुति-रहस्यको सरल-सरस भाषामें लिखकर अपने विमल निबन्धको अति मञ्जुल बनाया

है और इसलिये सुजन-समाजमें समुचितरूपसे सम्मानित हुआ है। कहा भी है—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
(मानस)

महामुनि श्रीविश्वामित्रजीके पूजनका समय जानकर और उनकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणजीके साथ श्रीरामजी फूल लेने गये। श्रीजनक महाराजके बागको देखकर दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए और मालियोंसे पूछकर पुष्प लेने लगे।

इसी समय सयानी सखियोंके साथ श्रीसीताजी वहाँ श्रीगौरीकी पूजाके लिये अपनी पूज्या माताजीकी आज्ञासे आयीं और स्नान करके उन्होंने बड़े अनुरागसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर माँगा।

एक सखी सीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने गयी थी और उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा और प्रेममें विह्वल होकर सीताजीके पास आयी। उसकी दशा देखकर और सखियोंने उसके 'पुलक गात जलु नैन' और हर्षका कारण पूछा। उसने कहा कि 'दोनों राजकुमार बाग देखने आये हैं। सब प्रकारसे सुन्दर हैं। मैं किस प्रकार उनका वर्णन करूँ।'

गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

यह सुनकर तथा सीताजीके हृदयमें उत्कण्ठा जानकर सब सयानी सखियाँ प्रसन्न हुईं। तब एक और सखी कहने लगी, 'ये वे ही राजकुमार हैं, जो सुना है कि कल मुनिके साथ आये हैं और जिन्होंने अपने सौन्दर्यसे सबको मोहित कर लिया है। जहाँ-तहाँ उनकी छविका लोग वर्णन कर रहे हैं—अवश्य चलकर उनको देखना चाहिये। वे देखने योग्य हैं।'

सखियाँ श्रुतिस्वरूपा हैं। उनके वचन श्रुतितुल्य हैं। 'आत्मा वा द्रष्टव्यः'का ही श्रीरामजीके दर्शनके लिये सुन्दर अनुवाद है—

अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥

सखीके वचन सीताजीको बड़े सुहावने लगे। श्रुतिका आदर्श है 'आत्मा वा श्रोतव्यः'—इसलिये दर्शन करनेके लिये लोचन अकुला उठे। देवर्षि श्रीनारदजीकी बात भी याद आ गयी और पवित्र प्रेम उत्पन्न हो गया एवं सीताजी चकित होकर इधर-उधर देखने लगीं। मन इस बातकी चिन्ता कर रहा था कि राजकुमार कहाँ चले गये—यही श्रुतिका 'मन्तव्यः' और 'अन्वेष्टव्यः' है।

सब सखियोंने लताकी ओटमें सुन्दर श्याम और गौर राजकुमारोंको दिखलाया। उनके रूपको देखकर जनककुमारीके नेत्र ललचा उठे। वे ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने अपना खजाना ही पहचान लिया। श्रुतिका आदेश है—'आत्मा अन्वेष्टव्य है और विजिज्ञासितव्य है।' इसलिये सीताजीके लोचनोंने अपने रामको पहचान लिया। पहचाननेके बाद श्रुति कहती है कि आत्माको जानकर अपनी बुद्धि (प्रज्ञा) तद्रूप कर लेनी चाहिये—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत।
(बृहदारण्यक ४।४।२१)

इसके अनुसार श्रीसीताजीकी दशाका वर्णन गोस्वामीजीने बड़े सुन्दर और प्रेमरससे भरे शब्दोंमें किया है—

थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

उसी समय लता-भवनसे दोनों राजकुमार प्रकट हुए। रामजीको देखकर सब सखियाँ अपने आपको

भूल गयीं, परंतु एक चतुर सखी धीरज धरकर सीताजीका हाथ पकड़कर कहने लगी—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू ।
भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥

तब सीताजीने सकुचाकर नेत्र खोले और सम्मुख रामजीकी शोभाको देखकर और पिताजीके प्रणको याद करके मनमें क्षुब्ध हुईं ।

ऊपर चतुर सखीने जो ध्यानकी बात कही है, वह गम्भीर ध्यानकी है, जिसको श्रुति 'निदिध्यासितव्य' के शब्दसे कहती है । हाथ पकड़कर सीताजीको ध्यान छोड़नेके लिये कहनेसे स्पष्ट है कि ध्यान श्रवणसे छूटनेवाला नहीं था, बल्कि हाथके झटकेसे; क्योंकि ध्यान निदिध्यासनके रूपमें परिणत हो गया था । इस तरह श्रुतिके वचन भलीभाँति इस पावन प्रेमचरितमें चरितार्थ हो गये । अर्थात्—

(१) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (बृह० ४ । ५ । ६)

(२) साऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । (छा० ८ । ७ । १)

(२)

जब सखियोंने सीताजीको प्रेमके वशमें देखा, तब वे भयसे कहने लगीं—बड़ी देर हो गयी । एक सखी मनमें हँसकर कहने लगी, कल इसी समय फिर आयेंगी । सीताजी सखीकी रहस्यमय वाणी सुनकर सकुचा गयीं । देर हो जानेके कारण माताजीका भय लगा । बहुत धीरज धरकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आयीं और अपनेको पिताके अधीन जानकर लौट चलीं । मृग, पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने सीताजी बार-बार घूम जातीं और श्रीरामजीकी छवि देख-देखकर उनकी प्रीति कम नहीं बढ़ती थी । शिवजीके धनुषको कठोर जानकर मनमें विसूरती हुई श्याममूर्तिको हृदयमें रखकर लौट गयीं । यह प्रसङ्ग भी वेदान्तदर्शनके—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । (४ । १ । १)

—के अनुसार ही है । सीताजीका बार-बार देखना और सखीका कहना कि फिर आयेंगी—प्रत्ययकी आवृत्ति करना उचित है । श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य भी इस विषयका समर्थक है—

तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः

(शां० भा० ४ । १ । १)

(३)

योगदर्शनके अनुसार—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य (उत्साह), (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञाका होना साधकोंके लिये आवश्यक है । इसीलिये पूर्व पावन प्रेमचरितमें इन सबका विवरण निम्नलिखित चौपाइयोंमें भी मिलता है—

(१) श्रद्धा—

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी ।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी ॥

(२) वीर्य (उत्साह)—

तासु बचन अति सियहि सोहाने ।
दरस लागि लोचन अकुलाने ॥

(३) स्मृति—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत ।

(४) समाधि—

देखि रूप लोचन ललचाने ।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥
थके नयन रघुपति छबि देखें ।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी ।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥

(५) प्रज्ञापूर्वक—

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी ।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥

जिस प्रज्ञाका वर्णन ऊपर आया है, उसको योगदर्शनमें ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इसीके विषयमें श्रुति कहती है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत,
(बृ० ४ । ४ । २१)

और इसीको श्रीभगवद्गीतामें—'स्थितप्रज्ञ' आदि शब्दों-द्वारा प्रतिपादित किया गया है । इस प्रज्ञाको प्राप्त करनेसे सत्य वस्तुका ज्ञान होता है—संशय और भ्रम नहीं रहते । श्रीसीताजीके हृदयमें इस समय संशय, अश्रद्धा और अज्ञानका आभास उपस्थित था । धनुषकी कठोरताके कारण सुन्दर श्याममूर्तिके द्वारा उसके तोड़े जानेमें संशय, पिताके प्रणके कारण नारद-वचनमें श्रद्धाकी मात्राका कम होना तथा श्रीरामजीके हृदयमें सीताजीके प्रेमका क्या परिणाम हो रहा होगा, इसका अज्ञान—इन सबको दूर करनेके निमित्त श्रीसीताजी फिर श्रीगौरीजीके मन्दिरमें पधारीं और प्रेमपूर्वक विनय करके उन्होंने भगवतीके चरण पकड़ लिये। श्रीभवानीने प्रसन्न होकर कहा कि (१) "हमारा आशीर्वाद सत्य है; सीताजी, आपकी मनःकामना पूरी होगी। (२) नारदवचनमें श्रद्धा रखना, वह सदा शुचि और सत्य होता है । (३) 'करुणानिधान सहज सुंदर साँवरा' आपके स्नेहको जानता है ।"

इस आशीर्वादको सुनकर श्रीसीताजीकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हो गयी अर्थात् विशेष अर्थवाली हो गयी—संशय और भ्रम सब दूर हो गया, श्रीरामजीके हृदयकी बात उन्हें ज्ञात हो गयी। क्योंकि श्रीभवानीजीकी स्तुतिमें सीताजीने कहा था—'बसहु सदा उर पुर सबही के', इसलिये पार्वतीजीने श्रीरामजीके हृदयके भावको प्रकट करा दिया और साथ ही नारदजीके वचनकी सत्यता कहकर श्रीसीताजी-के हृदयमें 'उपजी प्रीति पुनीत'को निश्चल तथा अनुमोदित कर दिया । अब श्रीसीताजीको अत्यन्त हर्ष हुआ और उनके वाम अङ्ग फड़कने लगे । बार-बार पूजन करके वे अपने मन्दिरको चली गयीं । ऋतम्भरा प्रज्ञा सब दूसरे संस्कारोंका बाध करनेवाली होती है (तज्जः संस्कारोऽन्य-संस्कारप्रतिबन्धी); इसलिये अब कोई भी संदेह नहीं रहा । श्रुतिका वचन कि 'उस परमात्माको जानकर प्रज्ञाको तदनुकूल करना चाहिये' पूर्णरूपसे चरितार्थ हो गया । जिस सुखका अनुभव सीताजीको हुआ, उसका वर्णन श्रीगीता इस तरह करती है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
(६ । २०-२१)

यह बुद्धिग्राह्य सुख ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा ही प्राप्त होता है और योग-सेवासे श्रद्धा-वीर्यादिकी प्राप्तिका वर्णन ऊपर हो चुका है तथा तत्त्वमें स्थित करनेके लिये श्रीगौरीजीके आशीर्वादका कथन भी आ चुका है ।

(४)

शिक्षा

भगवान्‌का अवतार धर्म-स्थापनके लिये होता है, इसलिये उनकी आदिशक्तिका अवतार, जो उनकी आत्म-माया है, अपने पावन चरित्रसे धर्मरक्षाकी शिक्षा देता है ।

(१) श्रीसीताजी श्रुति तथा योगके आदेशका पालन करके यह बतलाती हैं कि शास्त्रविधिके प्रमाणको मानकर प्रत्येक कर्म करना उचित है । परमार्थ-साधनके लिये निगमागम-अनुमोदित पद्धतिका अनुसरण सबके लिये कल्याणकारक है ।

श्रीगीता भी यही कहती है—

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(१६ । २४)

(२) व्यवहारमें अपनेको सर्वश्रेयस्करी सीताजीने पिता और माताके अधीन रहकर यह आदर्श स्थापित किया है कि प्रत्येक कुमारीकन्याके प्रेमकी मर्यादा 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' के आदर्शसे शोभाको प्राप्त होकर श्रेयस्कारिणी होती है; इसीलिये श्रीसीताजीके इन वाक्योंपर ध्यान रखकर उनके चरित्रका यथाशक्ति अनुकरण करना उचित है—

(१)

नख सिख देखि राम कै सोभा ।
सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ॥

(२)

धरि बड़ि धीर रामु उर आने ।
फिरी अपनपउ पितु बस जाने ॥

(३)

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी ।
भयउ बिलंबु मातु भय मानी ॥

यद्यपि देवर्षि नारदके वचनोंका स्मरण करके श्रीसीताजीके हृदयमें पुनीत प्रेम उत्पन्न हुआ, तथापि माता और पिताकी बातको सर्वोपरि समझकर अपने प्रेमको मर्यादाके अधीन रखकर उन्होंने अपने चारुचरित्रसे कुलको पवित्र कर दिया है ।

परमोपयोगी पावन प्रेमका प्रसङ्ग लिखनेसे निगमागमसम्मत मानसकार श्रीगोस्वामीजीको अन्तःसुखकी प्राप्ति हुई और उन्हीं पूज्यपादकी कृपासे जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक रामचरितमानसका अनुशीलन करेंगे, अवश्य ही उनके हृदयमें शान्ति और सुखकी उपलब्धि होगी । इस सुभग कविता-सरिताकी छवि तो सीताजीके स्वयंवरकी सुन्दर कथा ही है ।

सीय स्वयंबर कथा सुहाई ।
सरित सुहावनि सो छबि छाई ॥

(मानस)

श्यामका आठों याम मनमें निवास

नैन मन जब तैं आइ बसे ।
तब तैं आठौं जाम दिवस निसि निमिषौ नाहिं खसे ॥
सबके नैन प्रपंचहि निरखत सबके मन संसार ।
इहाँ जगत आवन पावत नहिं, निरतत नंदकुमार ॥
ललित त्रिभंग पीत पट सोभित, गल गुंजनकी माल ।
मुकुट मयूर पिच्छ, कुंचित कच, मृगमद तिलक सुभाल ॥
कर मुरली, कटि किंकिनि राजत पग नूपुर झनकार ।
नीलस्याम बदनारबिन्द पर काम कोटि सत वार ॥
अधर मधुर मुसक्यान मनोहर, तिरछी चितवनि जाल ।
मुनि-मन बिहग अगम्य निरखि छबि आइ फँसत ततकाल ॥
नित्य प्रकासित स्याम-सूर्य, तहँ जग तम जात डराय ।
दुस्साहस करि जाय कबहुँ जौ, बिनु मारे मरि जाय ॥

श्रीकृष्णका प्राकट्य

(श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका भाषण)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः ।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी स्मृति सदा बनी रहती है तो उसके प्रभावसे समस्त पापों तथा अशुभोंका नाश, कल्याणकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्ययुक्त ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है।' आज उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवका मङ्गलमय दिवस है, इस महान् मङ्गलमय अवसरपर आप, हम सब भगवान् श्रीकृष्णका पवित्र स्मरण करके जीवनको पवित्र और मङ्गलमय बनायें।

अवतार तथा अवतारके कारण और स्वरूप

अवतारका अर्थ है—अवतरण, परब्रह्मका उतरना। भगवान् सर्वातीत हैं, सर्वमय हैं, सर्वव्यापक हैं, सदा-सर्वत्र विराजित हैं; पर उन्होंने अपनी 'सर्वभवन-सामर्थ्य'से—मायासे—योगमायासे अपनेको ढँक रक्खा है। अपनी इच्छासे ही लीलाके लिये कभी-कभी वे इस आवरणको किसी अंशमें हटाकर लोकके सामने प्रकट हो जाते हैं, यही उनका अवतरण है। इसीका नाम अवतार है। यह अवतार स्वयं अक्षर ब्रह्म, भगवान् विष्णुका भी होता है और किसी शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर भी होता है। भगवान्के इस अवतारको श्रीशङ्कराचार्य-सरीखे अद्वैतवादी महापुरुषोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। जो लोग यह कहते हैं कि 'कोई मनुष्य अपनी उन्नति करते-करते जब महान् गुणोंसे सम्पन्न होकर उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उसीको भगवान्का अवतार कहते हैं,'—यह ठीक नहीं है। यह तो 'आरोहण' है—चढ़ना है, अवतरण—उतरना नहीं। भगवान् तो अवतरित होते हैं।

ये अवतार अनेक प्रकारके होते हैं—लीलावतार, पुरुषावतार, अंशावतार, कलावतार, गुणावतार, युगावतार, आवेशावतार, विभवावतार और अर्चावतार आदि। सभी अवतारोंमें लीलाके लिये अवतरण होता है, अतः सभीको अवतार कहा जाता है और इन अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जब सबका भगवान्से प्रादुर्भाव है, तब सभी पूर्ण हैं। शास्त्र कहते हैं—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वैर्गुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥

'ये सभी नित्य हैं, शाश्वत हैं; इनके हानोपादानरहित अप्राकृत देह हैं, प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हैं। ये जन्म-मृत्यु आदि सर्वदोषरहित, सर्वगुणसम्पन्न, पूर्ण और ज्ञानस्वरूप, परमानन्दसंदोह हैं।' इनमें देश, काल या शक्तिके कारण किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है। शक्तिके प्रकाशकी न्यूनाधिकतासे ही इनमें तारतम्य माना जाता है। एक बलवान् पुरुषमें पाँच मन बोझ उठानेकी शक्ति है; पर जहाँ एक छटाँक वजन ही उठाना है, वहाँ एक छटाँक वजन उठानेपर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाँच मन उठानेकी शक्ति नहीं है। शक्ति तो पूरी है, पर वहाँ शक्तिके प्रकाशका प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार पूर्ण शक्तिमान् भगवान्के अवतारमें प्रयोजनानुसार किसीमें कम शक्तिका प्रदर्शन है, किसीमें अधिकका। इस शक्तिके प्राकट्य और अप्राकट्यके तारतम्यको लेकर ही पूर्णत्व और अंशत्वका कथन है। इसीसे कहा गया है—

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः ॥

''भगवान् जब अपने अशेष गुणोंको प्रकट करते हैं, तब वे 'पूर्णतम' हैं; जब सब गुणोंको प्रकट न करके बहुत-से गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्णतर' हैं और जब उनसे भी कम गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्ण' कहलाते हैं।'' श्रीलघुभागवतामृतमें कहा है—

अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता ।
पूर्णत्वं च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता ॥

"अनन्तशक्तिशाली भगवान् जब अल्पशक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब वह अवतार 'अंश' कहलाता है और जिसमें अपनी इच्छासे बहुत-सी शक्तियोंको प्रकट कर देते हैं, वह 'पूर्ण' कहा जाता है।"

शक्ति क्या है ? इस विषयमें कहा है—

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा और तेज आदि गुण ही शक्ति कहलाते हैं। इन शक्तियोंका प्राकट्य और अप्राकट्य ही तारतम्यका कारण है।' नहीं तो भगवान्के सभी अवतार पूर्ण हैं।

जहाँ जैसा लीलाक्षेत्र होता है, वहाँ उसीके अनुसार शक्तिका प्रकाश होता है—शक्ति समान होनेपर भी वहाँ प्राकट्यके भेदसे फलमें भी भेद दिखायी देता है। जैसे—

शक्तिः समापि पुर्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः।
शीताद्यार्तिश्च येनाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत्॥

'नगरको जलानेके लिये एक दीपकमें जो शक्ति है, अग्निपुञ्जमें भी वही शक्ति है। (इस दृष्टिसे) दोनों ही समान हैं, पर अग्निपुञ्जकी एक विशेषता है—शीतादि कष्टको दूर करना हो तो वह दीपककी ज्योतिसे नहीं होता; शीतनाशका सुख तो अग्निपुञ्जसे ही मिल सकता है।'

इसी प्रकार अवतारोंकी अंश-कलादिरूपमें अभिव्यक्ति होती है।

परब्रह्म भगवान्के ही रूपान्तर भूमापुरुष अन्तर्यामी भगवान् शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर असुरसंहार, साधुसंरक्षण तथा धर्मस्थापनादिरूप लीलाके लिये अपने इच्छानुसार देश आदिके आवरणको हटाकर ज्ञान या क्रियारूप अंशसे लोकमें प्रकट होते हैं, तब उन्हें 'अंशावतार' कहा जाता है। पर कभी-कभी अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण स्वयं भगवान् परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम किसी सत्त्वादिको आधार न बनाकर अपने नित्य अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूपसे—जो दिव्य शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिरूपसे अप्रकट है—असुरोद्धार, साधुपरित्राण, धर्मस्थापनादि प्रयोजनसहित प्रधानतया साधननिरपेक्ष अपने सम्बन्ध या दर्शनमात्रसे ही सबका उद्धार करनेके लिये अपने माधुर्य और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपसे अंशांशसहित अपनेको इच्छित लोकमें प्रकट करते हैं, तब उसे 'पूर्णावतार' कहते हैं। यह अवतार कहलानेपर भी वस्तुतः 'स्वयं भगवान्का पूर्ण आविर्भाव' होता है। ऐसा पूर्ण आविर्भाव बहुत कम हुआ करता है। यही परात्पर ब्रह्मका पूर्णाविर्भावपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्णावतार बहुत कल्पोंमें होता है, परंतु स्वयं भगवान्का पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें होता है। इस परिपूर्णाविर्भावमें समस्त अंश-कलाओंका भी समावेश रहता है, जैसे स्वाभाविक ही करोड़ रुपयोंमें सौ, दो सौ, हजार दो हजारका रहता है। इसीसे श्रीकृष्णको 'नारायण ऋषिके अवतार, अंशावतार, भगवान् श्रीनारायणके कृष्णकेशावतार, क्षीरोदशायी, सहस्रशीर्षा, वैकुण्ठाधिपति महानारायण, श्वेतद्वीपपति विष्णु भी कहते हैं और इसीसे इस साधननिरपेक्ष उद्धार करनेवाले आविर्भावमें भी असुरोद्धार, साधुपरित्राण और धर्मसंस्थापन आदि अंशकलावतारोंके कार्य भी सुसम्पन्न होते देखे जाते हैं। परंतु वास्तवमें श्रीकृष्ण साक्षात् परात्पर पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्वमय, सर्वातीत, अप्रमेय, दिव्यानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुणरहित, स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणवारिधि, आनन्दाकार, सर्वशक्तिविशिष्ट, अंशकलापूर्ण 'स्वयं भगवान्' हैं। अन्य अवतार 'अंश-कला' हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

'भगवान्' शब्दका अर्थ

अष्टाङ्गयोगी लोग इन्हीं भगवान्को 'परमात्मा', उपनिषद्निष्ठ वेदान्ती 'ब्रह्म' और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' कहते हैं—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥
(स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(१।२।११)

श्रीकृष्ण ही ये स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। 'भगवत्' शब्दकी निरुक्ति है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

'अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री,

अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्य—ये छः भग जिसमें स्वरूप-भूत रूपसे नित्य वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज—इनका नाम भग है। ये सब अनन्तरूपसे जिसमें वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य निरन्तर स्वरूपतः वर्तमान हैं।

'न्यायविवरण'में भगवान् वासुदेवकी पूर्णताके सम्बन्धमें कहा गया है—

पूर्णानन्दः पूर्णभुक् पूर्णकर्ता पूर्णज्ञानः पूर्णभाः पूर्णशक्तिः।
पूर्णैश्वर्याद् भगवान् वासुदेवो विरुद्धशक्तिर्न च दोषस्पृगीशः॥

षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में पूर्ण आनन्द, पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, विरुद्ध-शक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व विद्यमान हैं।

भगवान्में विरुद्ध धर्मोंका आश्रय

भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं; जो विरुद्धधर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने ब्रह्ममें विरुद्ध-धर्मोंका समाश्रय बतलाया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और महान्से भी महान् है।'

आसीनो दूरे व्रजति शयानो याति सर्वतः।
(कठ० १।२।२१)

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सर्वत्र चला जाता है।'

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह पास भी है।'

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।
(नृसिंहोत्तरतापनी, षष्ठ खण्ड)

'जो तुरीय भी है, अतुरीय भी है, आत्मा भी है और अनात्मा भी है, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी है, वीर भी है, अवीर भी है, महान् भी है, अमहान् (लघु) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।

पुराणोंमें कहा है—

अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः॥
(ब्रह्मपुराण)

यों नित्य युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय परब्रह्मका लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए ही जन्म ग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्ध-धर्माश्रय होनेका वर्णन किया है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है। ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो। गीतोक्त यह कथन भी 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'का ही वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्ण महान् भोगी होकर भी परम योगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्ता होकर भी सदा अकर्ता, दृश्य होकर भी अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्म लेनेवाला होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, (प्रेमीके सामने) महामुग्ध होकर भी परम चतुर, (प्रेमके राज्यमें) सकाम होकर भी नित्य पूर्णकाम, (प्रेम-राज्यमें) दीन होकर भी नित्य अदीन, भक्त-प्रेमवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धनयुक्त भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, भक्तगम्य होकर भी परम अगम्य, ममता-युक्त होकर भी नित्य निर्मम, अनेक होकर भी सदा एक, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्यतृप्त और सर्वसम्बन्धयुक्त होनेपर भी सर्वसम्बन्धविरहित हैं। ये बातें उनके लीला-चरितमें सुस्पष्ट हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह स्वयं भगवान्

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्री-कृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनका वह

स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है। वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छासे अपने नित्य सच्चिदानन्दवपु-को प्रकट करते हैं—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

पद्मपुराण, पातालखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे लीलास्वरूप भगवान् श्रीरुद्रको दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक निष्क्रिय ब्रह्मरूपकी व्याख्या करते हुए कहा है "रुद्र! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूपको देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है, सच्चिदानन्दमय है। मेरा यह रूप पाञ्चभौतिक आकारवाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओंसे ही यथार्थ देखा जाता है। इसलिये वेद इसे 'निराकार' कहते हैं। प्राकृतिक सत्त्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत—स्वरूपभूत हैं तथा उन दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है, इससे मुझे 'निर्गुण' कहा गया है। मैं अपने चैतन्य अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझ-को 'व्यापक' ब्रह्म कहा जाता है। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं; इसलिये शास्त्र मुझको 'निष्क्रिय' कहते हैं।"

अतएव श्रीकृष्णका श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णस्वरूप ही है। महाभारतमें श्रीकृष्णका परब्रह्म होना स्थान-स्थानपर सिद्ध है—उनकी लीलासे भी और उनके सम्बन्धमें कहे हुए महापुरुषोंके वचनोंसे भी।

सच्ची बात तो यह है कि महाभारतके महानायक ही हैं—सच्चिदानन्दघन अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वात्मा परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण। समस्त महाभारत आद्यन्तमध्यमें भगवान् श्रीकृष्णके गुण, माहात्म्यसे ही परिपूर्ण है। भगवान् व्यासदेव, मार्कण्डेयमुनि, नारद, अङ्गिरा, भृगु, सनत्कुमार, असित, देवल, परशुराम, भगवान् ब्रह्मा, पितामह भीष्म आदिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका महाभारतमें स्थान-स्थान-पर विशद वर्णन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपना महत्त्व बतलाया है। यहाँ भीष्मपितामहके दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥
वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम्।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ॥
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥
(भीष्मपर्व अ० ६६। ६७)

'राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वलोकमय, सनातन, अविनाशी, नित्यशासक, धरणीधर और अचल हैं। इन चराचर-गुरु भगवान् श्रीहरिने तीनों लोकोंको धारण कर रक्खा है। ये ही विजयी हैं, ये ही विजय हैं, ये ही योद्धा हैं और सबके परमकारण परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप तथा तम और रजसे विवर्जित हैं। ये श्रीकृष्ण जहाँ हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। भरतश्रेष्ठ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं, ये समस्त देवताओंके परम देवता हैं। कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर या इनके अतिरिक्त दूसरा कोई दिखायी ही नहीं देता। ये भगवान् ही सर्वभूतमय हैं, ये ही सबके आत्मा हैं, ये ही महात्मा हैं और पुरुषोत्तम हैं। नरनाथ! ये भगवान् केशव सम्पूर्ण लोकोंके पितामह हैं। ये परम तेज हैं। मुनिजन इनको हृषीकेश कहते हैं। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। भगवान् जनार्दन महान् भयमें निमग्न उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं।'

महाभारतका गहराईसे अध्ययन-मनन करनेवाले पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि महाभारतके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। महाभारतके आदिपर्वमें ही कहा गया है—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनः।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते।

यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥

इस महाभारतमें सनातन भगवान् वासुदेवकी महिमा ही गायी गयी है । वे ही सत्य हैं, वे ही ऋत हैं, वे ही पावन और पवित्र हैं । वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं, नित्य अविचल ज्योतिःस्वरूप सनातन पुरुष हैं । मनीषी विद्वान् उन्हींकी दिव्य लीलाओंका वर्णन करते हैं । यह सत् और असत्‌रूप सारा विश्व उन्हींसे उत्पन्न हुआ है । ध्यानयोगके बलसे समन्वित जीवन्मुक्त संन्यासीगण दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति अपने अन्तःकरणमें इन्हीं परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ।

भगवत्पादाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थ महोदयने 'श्रीमहाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थमें इस बातको उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया है ।

महाभारतान्तर्गत विश्वविख्यात सर्वलोकसमादृत श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(७ । ७)

'धनंजय ! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रकी मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १८)

''मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ । इससे लोक-वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ।''

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
(१० । ३९)

'अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, सो मैं ही हूँ । चराचरमें कोई ऐसा भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।'

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
(९ । १८)

'मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान तथा अविनाशी कारण हूँ ।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्यधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ—सबका आधार हूँ ।'

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।'

'सब मुझसे ही प्रवर्तित हैं ।'

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।

'मैं सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय हूँ ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
(५ । २९)

'मैं समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर हूँ ।'

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
(१० । ४२)

'यह सारा जगत् मेरे एक अंशमें स्थित है ।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

'जो मुझे सर्वत्र देखता है, जो सबको मुझमें देखता है ।'

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

'मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ ।'

अर्जुनने गीतामें कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

'भगवन् ! आप परमब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र, सनातन-पुरुष, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु हैं ।'

श्रीमद्भागवतमें तो श्रीकृष्णके परब्रह्मत्व उनकी स्वयं भगवत्स्वरूपता तथा उनके अनन्त महत्त्वका ही वर्णन श्रीव्यासदेवजीने किया है । उसकी तो रचना ही उन्हींकी स्वरूपव्याख्या तथा लीलाकथाके वर्णनके लिये हुई है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ''जब भगवान् श्रीकृष्ण 'पूर्ण परात्पर ब्रह्म', 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा', सर्वथा सच्चिदानन्द-मयस्वरूप हैं, तब उनका स्वरूप और आकार प्राकृत तथा उनके कार्य—स्नान, भोजन-शयनादि तथा अन्यान्य व्यवहार-बर्ताव प्राकृत मनुष्यके-से क्यों दिखायी पड़ते हैं ?'' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान् स्वयं 'सर्व-भवन-समर्थ' हैं,—वे

चाहे जैसे बन सकते हैं और यहाँ तो वे मनुष्य-लीला ही करते हैं। दूसरे, उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका उत्तर गीतामें दे दिया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

'मैं समस्त लोगोंकी दृष्टिमें प्रकाशित नहीं होता। इसलिये मूढ़ लोग मेरे इस अजन्मा और अविनाशी स्वरूपको नहीं जान पाते—मुझको जन्म-मृत्युशील प्राकृत देहधारी मानते हैं।'

'मैं सम्पूर्ण भूतोंका महान् ईश्वर हूँ, मेरे इस परमभाव (उत्कृष्ट माहात्म्य) को वे मूढ़लोग नहीं जानते और मुझे मनुष्यके सदृश शरीर धारण किये देखकर मुझे प्राकृत-शरीरधारी मनुष्य मान लेते हैं और मेरा अपमान करते हैं।'

श्रीयामुन मुनिने कहा है—

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् .....।

उस ब्रह्म और श्रीकृष्णमें एकत्व है जैसे किरणोंमें और सूर्यमें होता है।

अतएव दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रसविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्धधर्माश्रयी साक्षात् पूर्णब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु हैं।

गीतामें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत और भगवान् श्रीकृष्णका महत्त्व

उन्होंने गीतामें अवतारके प्रसङ्गमें अपने इस पूर्णाविर्भाव तथा अपने अंशावतारोंका वर्णन सांकेतिक भाषामें सूत्ररूपसे बहुत सुन्दर किया है। वे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इन श्लोकोंका साधारण शब्दार्थ है—

'मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको (अपने स्वभावको) स्वीकार करके अपनी मायासे (योगमायाको साथ लेकर) उत्पन्न—उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)॥ ६॥

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ॥ ७॥

'साधु पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)'॥ ८॥

साधुका परित्राण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण-संस्थापन—भगवदवतारके ये तीन कार्य सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनोंका वर्णन तथा इनके लिये प्रकट होनेकी बात आठवें श्लोकमें आ जाती है। फिर छठे और सातवें श्लोकमें—'सम्भवामि' और 'आत्मानं सृजामि' कहनेकी क्या आवश्यकता थी। तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे अपने प्रकट होनेकी बात ही कही गयी है—छठे तथा आठवें तथा दोमें 'सम्भवामि' सातवेंमें 'आत्मानं सृजामि' कहा है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है—तीन श्लोकोंमें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत है। मैं अज, अव्ययात्मा और सर्वभूतमहेश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके आत्ममायासे प्रकट होता हूँ, इसमें अपने 'विरुद्धधर्माश्रयी' परब्रह्म स्वरूपके पूर्णाविर्भाव-का संकेत है। दूसरेमें सदुपदेशके द्वारा धर्मग्लानि तथा अधर्मके अभ्युत्थानका नाश करनेवाले 'आचार्यावतार'का संकेत है तथा तीसरेमें साधुसंरक्षण, दुष्टदलन और धर्म-संरक्षण-संस्थापन करनेवाले 'अंशावतार' का संकेत है।

श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं—यह गीताके उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' और 'आत्ममायया सम्भवामि' पदोंके गाम्भीर्यपर ध्यान देकर समझनेसे और भी सुस्पष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वरूप तथा इसकी लीलाओंके जानने-समझनेका फल बतलाते हुए कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'अर्जुन! मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो मनुष्य तत्त्वसे—यथार्थरूपसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, (वह जन्म-मरणसे छूटकर) मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिस जन्म और जिन कर्मोंको जाननेसे जाननेवालेका जन्म होना बंद हो जाय, वे जन्म-कर्म कैसे विलक्षण हैं और वे केवल भगवान्‌के ही हो सकते हैं—यह सहज ही समझमें आ सकता है।

आज इन्हीं ज्ञानविज्ञानस्वरूप, पूर्ण परात्पर ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वातीत, सर्वमय, षडैश्वर्यपरिपूर्ण, अचिन्त्यानन्तैश्वर्यशक्तिस्वरूप, महान् योगेश्वरेश्वर, प्रकृति-स्वामी, अचिन्त्यानन्त, कल्याणगुणगणाकर, पञ्चाशत्-ईश्वरीयगुणसम्पन्न, सकलगुणमय, नित्य निर्गुण, स्वरूप-भूतदिव्यगुणसम्पन्न, सदास्वरूपसम्प्राप्त, सर्वज्ञ, नित्यनूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, सर्वसिद्धिनिषेवित, आदर्श कर्मयोगी, धर्मसंस्थापक, दुष्ट-दलन, असुरोद्धारक, हतारिगतिदायक, गीतोपदेशक, अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यस्वरूप, प्रेमानन्दरसमय, शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुररसनिषेवित, श्रीराधानायक, श्रीराधात्मस्वरूप, श्रीराधापादाब्जमधुकर, श्रीराधाप्राणेश्वर, श्रीराधाराधित, श्रीगोपीजनमनमोहन, श्रीगोपीकान्त, श्रीगोपी-जनजीवनधन, मुरलीमनोहर, शिखिपिच्छधारी, श्रीमथुरानायक, श्रीरुक्मिणी-रमण, श्रीद्वारकाधीश, दिव्यनायक, दिव्यसखा, दिव्यबालक, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पुत्र, आदर्श प्रेमी, सकलकलानिपुण, नृत्यगीतवाद्यविशारद, ललितकला-कुशल, अश्वचालनकलाचतुर, भक्तप्रिय, भक्तभक्तिमान्, भक्तभयहारी, भक्तसर्वस्व, भक्तचरणरजोऽभिलाषी, भक्त-प्रतिज्ञारक्षक, भक्ताधीनस्वभाव, भक्तऋणयुक्त, शरणागत-वत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन, देवकी-वसुदेव-कुमार, नन्द-यशोदा-नन्दन, व्रज-बालक, व्रजबालसखा, सुदामार्जुन सखा, पाण्डवदूत, कृष्णासखा, परमवदान्य, परम-शूर, परमराजनीतिज्ञ, शौर्य-वीर्य-निधि, युद्ध-कला-विशारद, शार्ङ्गधन्वा, रण-नीति-निपुण, महापुरुषप्रधान, अखिलजगद्गुरु, महान् आदर्श पुरुष, महामानव, लोकनायक, लोक-संग्रह-कारी, इन्द्रियमनोवशकारी, अद्भुतजन्मकर्मा, षोडशकलापूर्ण, सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य-महोत्सव है। ये भगवान् नित्य हैं, इनकी लीला नित्य है। तथापि इनका प्राकट्य होता है भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको।

श्रीकृष्णका आविर्भाव

भाद्रपदकी अँधियारी अष्टमीकी अर्धरात्रिको कंसके कारागारमें परम अद्भुत चतुर्भुज नारायणरूपसे इनका प्राकट्य हुआ। देवकी इनके चतुर्भुजरूपकी तीव्र प्रभाको नहीं सह सकीं और बोलीं—विश्वात्मन्! अपने इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अलौकिक रूपको छिपा लो।' भक्तवत्सल भगवान्ने श्रीवसुदेव-देवकीको उनके पूर्व-पूर्व जन्मोंकी याद दिलाकर बताया कि 'मैं सर्वेश्वर प्रभु ही तुम्हारा पुत्र बना हूँ' और फिर प्राकृत शिशुका-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार शिशुरूप भगवान्को नन्दालयमें श्रीयशोदाके पास सुलाकर बदलेमें यशोदात्मजा जगदम्बा महामायाको ले आये। भगवान् शिशुको ले जाने, वहाँ सुलाने और कन्याको लेकर कारागारमें लौट आनेकी क्रियाको भगवान्की मायासे किसीने नहीं जाना। नन्दालयमें तो कुछ भी, किसीको भी पता नहीं लगा। श्रीविष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवतमें इस लीलाका तथा इसके आगेकी समस्त लीलाओंका बहुत सुन्दर वर्णन है। उसे पढ़-सुनकर जीवनको सफल बनाना चाहिये।

हमारे पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बहुत सुन्दर लिखा है—

भादौं की थी असित अष्टमी निशा अँधेरी।
रस की बूँदें बरस रहीं फिर घटा घनेरी॥
मधु निद्रा में मत्त प्रचुर प्रहरी थे सोये।
दो बंदी थे जगे हुए चिन्ता में खोये॥
सहसा चंद्रोदय हुआ ध्वंस हेतु तम वंश के।
प्राची के नभ में तथा कारागृह में कंस के॥

प्रसव हुआ, पर नहीं पेट से बालक निकला।
व्यक्त व्योम में विमल विश्व का पालक निकला॥
वय किशोर, घनश्याम मनोहर आभा तन की।
मोहक छवि थी अमित इन्दु शतकोटि मदन की॥
चार भुजाओं में गदा, शङ्ख, चक्र थे पद्म था।
मन्दिर-की ले मान्यता वन्दित बंदी-सद्म था॥

पिता हुए आश्चर्य चकित, थी विस्मित माता।
अद्भुत शिशु वह मन्द-मन्द हँसता मुसुकाता॥
सुनकर अपना स्तवन मुदित हो मुख से बोला।
गूढ रहस्य अतीत जन्म का मानो खोला॥
'माँगा मुझ-सा पुत्र था तुमने कर आराधना।
सिद्ध हुई वह पूर्व की आज तुम्हारी साधना॥

डर न कंस का करो, मुझे गोकुल पहुँचाओ।
और यहाँ नवजात नंदतनया को लाओ॥'
यों कह लौकिक बाल सदृश होकर वह रोया।
क्लेश असह वसुदेव-देवकी का सब खोया॥
सुरसुन्दरियों के सुभग हाथ सुमन से सज उठे।
घन-गर्जन के साथ ही देव नगाड़े बज उठे॥

एक एक कर बाधाओं की कड़ियाँ टूटीं।
परों की बेड़ी टूटी, हथकड़ियाँ छूटीं॥

लोह अर्गला हटी, आप खुल गयीं किवाड़ें।
द्वार हुआ उन्मुक्त, सुप्त प्रहरी जो ठाढ़े॥
दोनों जननी जनक के दूर हुए बन्धन वहाँ।
क्यों न मुक्त हों, मुक्ति के आये जीवन धन वहाँ॥
कुसुम वृष्टि हो रही, सृष्टि थी रस में डूबी।
पुत्र वत्सला एक व्यथा से बैठी ऊबी॥
सुत को उर से लगा देवकी दुख से रोई।
मेरे लल्ला को मत मुझ से छीने कोई॥
धीरज दे वसुदेव प्रिय शिशु को अपनी गोद ले।
प्रस्थित गोकुल को हुए, शेष छत्र बनकर चले॥
कालिन्दी बढ़ रही, न मिलती थाह कुछ कहीं।
चञ्चल तुङ्ग तरङ्ग भयानक भँवर उठ रहीं॥
कण्ठ मग्न थे पिता, पुत्र ने पाँव बढ़ाया।
ले पद पद्म पराग नदी ने शीश चढ़ाया॥
कैसा जादू-सा हुआ, बाढ़ कहाँ को बह गयी।
वह अगाध जलराशि थी घुटनों तक ही रह गयी!!
सुप्त यशोदा गोद मोद प्रद बालक देकर।
लौट गये वसुदेव नन्द तनया को लेकर॥
मिला अमित आनन्द नन्द को चौथेपन में।
अतिशय भरा उछाह गोप गोपीजन मन में॥
बजी बधाई नंद घर, बंदी यश गाने लगे।
वसन-विभूषण-रत्न-धन द्विज-याजक पाने लगे॥

महानुभावोंकी विलक्षण मान्यता

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके महानुभाव तो मानते हैं कि जिस समय कारागारमें श्रीवसुदेव-देवकीके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे, उसी समय नन्दबाबाके घरपर भी यशोदानन्दन प्रकट हुए थे। श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धके पञ्चम अध्यायके प्रथम श्लोकमें आया है—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।

'श्रीनन्दजीके आत्मज (पुत्र) उत्पन्न होनेपर उन महामनाको परमाह्लाद हुआ।' श्रीनन्दजीके यहाँ भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट न हुए होते तो शुकदेवजी 'आत्मज उत्पन्ने' पुत्र पैदा हुआ न कहकर 'स्वात्मजं मत्वा' 'अपना पुत्र मानकर' कहते। इन महानुभावोंका कहना है कि श्रीवसुदेव-देवकीकी भक्ति ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्यमयी थी और श्रीनन्द-यशोदाकी ऐश्वर्यगन्धशून्य विशुद्ध वात्सल्यमयी। इसीसे वसुदेव-देवकीके सामने भगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज अद्भुत बालकके रूपमें आविर्भूत हुए। भगवान्के इस ऐश्वर्यमय रूपको देखकर उन्होंने समझा कि श्रीभगवान् नारायण हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं; अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर इनकी स्तुति की और भगवान्ने भी पूर्व-जन्मोंकी स्मृति दिलाकर अपने साक्षात् भगवान् होनेका परिचय दिया। इसमें ऐश्वर्य प्रत्यक्ष है। तदनन्तर वात्सल्य-भावका उदय होनेपर कंसके भयसे उन्होंने भगवान्से बार-बार चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज साधारण शिशु बननेके लिये अनुरोध किया।

इससे यह सिद्ध है कि श्रीवसुदेव-देवकीका वात्सल्य-प्रेम ऐश्वर्यमिश्रित था और भगवान्का ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूप ही उनका आराध्य था तथा वे उसीको पुत्ररूपमें प्राप्त करना तथा देखना चाहते थे। परंतु श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य-प्रेम विशुद्ध था, उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका तनिक भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही आविर्भूत हुए और उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। पुत्र समझकर गोदमें उठा लिया और नवजात बालकके कल्याणार्थ जातकर्मादि करवाये।

यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् उसी रूपमें भक्तके सामने प्रकट होते हैं, जो रूप भक्तके मनमें होता है। श्रीमद्भागवत-में श्रीब्रह्माजीने कहा है—

यद् यद् धिया त्वं उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

'भगवन्! आपके भक्त जिस स्वरूपकी निरन्तर भावना करते हैं, आप उसी रूपमें प्रकट होकर भक्तोंकी कामना पूर्ण करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें जो यह स्पष्ट वर्णन नहीं आया है—इसका कारण यह बताया जाता है कि श्रीशुकदेवजी भक्तराज परीक्षित्को कथा सुना रहे थे। परीक्षित्का सम्बन्ध वसुदेव-जीसे था। अतः उन्हें विशेष आनन्द देनेके लिये शुकदेवजीने नन्दालयमें भी भगवान्के प्रकट होनेका स्पष्ट वर्णन नहीं किया; परंतु उनका प्रेमपूर्ण हृदय माना नहीं और इस श्लोकमें उनके श्रीमुखसे 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' रूपमें रहस्य प्रकट हो ही गया। श्रीमद्भागवतमें और भी संकेत है—कंसने जब गोकुलसे लायी हुई यशोदाकी कन्याको देवकीकी कन्या समझकर उसे मारनेके लिये शिलापर पटकना चाहा, तब वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी और देवीरूपसे प्रकट हुई। उस समय भागवतमें उसके लिये

'अदृश्यतानुजा विष्णोः' अर्थात् 'कंसने भगवान्‌की अनुजा (छोटी बहिन) को देखा'—यों लिखा है। पर यदि भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रीदेवकीके पुत्र होते तो यशोदाकी कन्याको भगवान्‌की 'अनुजा' कहना युक्तियुक्त तथा सत्य न होता। किंतु परमानन्दघनविग्रह भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् जिस समय कंस-कारागारमें वसुदेव-आत्मजरूपमें प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय गोकुलमें नन्दात्मजके रूपमें भी प्रकट हुए थे तथा उसीके थोड़ी देर बाद योगमाया कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं। श्रीहरिवंशमें आया है—

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥

अर्थात् 'देवकी और यशोदा गर्भकाल पूरा होनेके पहले ही आठवें महीनेमें दोनोंने एक ही साथ प्रसव किया था।' इसपर यह कहा जा सकता है कि 'जिस समय देवकीजीके भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए, उसी समय यशोदाजीके योगमाया प्रकट हुईं।' पर ऐसा कहना बनता नहीं; क्योंकि श्रीमद्भागवत (१० । ३ । ४) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'श्रीभगवान्‌से प्रेरित वसुदेवजीने पुत्रको गोदमें लेकर कारागारसे बाहर निकलनेकी इच्छा की, उस समय 'योगमाया' प्रकट हुईं।' अतएव कारागारमें भगवान्‌का और गोकुलमें योगमायाका प्राकट्य आगे-पीछे हुआ, एक ही समय नहीं हुआ था। इसपर यह कहा जा सकता है कि गोकुलमें 'भगवान् प्रकट हुए, इसमें स्पष्ट प्रमाण क्या है ? तो इसके समाधानमें 'श्रीकृष्ण-यामल' का कहना है कि नन्दपत्नी यशोदाके यमज संतान हुई थी; पहले एक पुत्र हुआ, तदनन्तर एक कन्या हुई। पुत्र साक्षात् श्रीगोविन्द थे और कन्या थी स्वयं अम्बिका (योगमाया)।' यशोदाकी इस कन्याको ही वसुदेवजी मथुरा ले गये थे—

नन्दपत्न्यां यशोदायां मिथुनं समपद्यत।
गोविन्दाख्यः पुमान् कन्या साम्बिका मथुरां गता॥

इस स्पष्टोक्तिसे योगमायाको 'श्रीकृष्णकी अनुजा' कहा जाना भी सार्थक हो गया।

इसपर कहा जा सकता है, 'फिर श्रीवसुदेवजी जब शिशु श्रीकृष्णको लेकर गोकुल गये, तब वहाँ उन्हें केवल शिशु बालिका ही क्यों दिखायी दी, बालक क्यों नहीं दिखायी दिया ? और बालक भी था तो फिर वह बालक कहाँ गया ? वहाँ दो बालक होने चाहिये।' इस शङ्काका समाधान यह है कि इनके वहाँ पहुँचते ही उसी क्षण इनका बालक उस बालकमें विलीन हो गया। इन्हें पता ही नहीं लगा कि वहाँ कोई बालक और भी था। वरं महानुभावोंने यहाँतक माना है कि जिस समय कंसके कारागारमें देवकीने यह प्रबल इच्छा की कि श्रीभगवान्‌के चतुर्भुज रूपका गोपन हो जाय, उसी समय यशोदाहृदयस्थ भगवान्‌का द्विभुज बालकरूप उस चतुर्भुज रूपको छिपाकर देवकीके सामने आविर्भूत हो गया। **(यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्रीदेवकीच्छाजायत, तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपाच्छादनपूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते—'वैष्णवतोषिणी')** यशोदाके यहाँ प्रकट भगवान् वहाँसे तुरंत यहाँ आकर प्रकट हो गये और उनमें भगवान्‌का शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप तुरंत वैसे ही विलीन हो गया, जैसे बादलमें बिजली विलीन हो जाती है—

वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवोऽखिलात्मनि।
लीनो नन्दसुते राजन् ! घने सौदामिनी यथा॥
(श्रीकृष्णयामल)

श्रीभागवतमें भी देवकी और यशोदा दोनोंके सामने ही प्रकट होनेका एक संकेत है—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥
(१० । ३ । ८)

यहाँ 'देवकी' शब्द 'देहली-दीपक' न्यायसे श्रीदेवकीजी और श्रीयशोदाजी दोनोंका ही वाचक है; क्योंकि यशोदाजीका भी दूसरा नाम 'देवकी' था। श्रीहरिवंशपुराणमें आया है—

द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च।
अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया॥

'नन्दभार्या यशोदाके यशोदा और देवकी—दो नाम थे, इसीलिये उनका नामसाम्यके कारण वसुदेव-पत्नी देवकीसे सख्यभाव था।'

इस वाक्यसे भी यह कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषामें श्रीशुकदेवजीने दोनों जगह भगवान्‌के प्राकट्यकी बात कह दी।

एक अस्पष्ट संकेत और भी है—

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।
न तल्लिङ्गपरिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः॥

नन्दपत्नी यशोदाको यह तो ज्ञात हुआ कि संतान हुई है; परंतु श्रम और निद्रा (भगवत्प्रेरित स्वजनमोहिनी माया) के कारण अचेत होनेसे वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या कन्या ।

इससे भी नन्दालयमें भगवान्‌के प्राकट्यका संकेत है ।

महानुभावोंका कहना है कि भगवान्‌के दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म' । 'ऐश्वर' मायायुक्त है और 'ब्राह्म' स्वरूप मायातीत है । अचिन्त्यानन्त-अतुलनीय-कल्याण-गुणगणसम्पन्न स्वमायाविशिष्ट 'ऐश्वर'रूपके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डका सृजन-पालन आदि होता है । भगवान्‌का शुद्ध ब्राह्मस्वरूप उत्पादन-पालनादि लीलाओंसे रहित केवल आनन्द-प्रेममय है । अतः वसुदेवजीके यहाँ जिस रूपका प्राकट्य हुआ था, वह 'ऐश्वर'रूप था और 'नन्दात्मज' रूपसे ब्राह्म-स्वरूप भगवान् अवतरित हुए थे । श्रीवसुदेव-जीके यहाँ आविर्भूत 'ऐश्वर'रूप नन्दात्मज ब्राह्मस्वरूपमें विलीन हो गया था । रास आदि मधुरतम लीलाओंमें 'ब्राह्म' स्वरूप प्रकट था और असुरादि-वध, अग्नि-पान आदि लीलाओंमें 'ऐश्वर' स्वरूप रहता था । जब भगवान्‌को श्रीअक्रूरजी मथुरा ले गये, तब 'ऐश्वर'स्वरूपसे भगवान् उनके साथ चले गये और भगवान्‌का विशुद्ध आनन्द-प्रेममय ब्राह्म-स्वरूप गोपनरूपसे गोपाङ्गनाओंके साथ व्रजमण्डलमें रह गया । यही 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'का रहस्य है ।

यद्यपि श्रीमद्भागवतमें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा यह क्लिष्ट कल्पना-सी भी है, तथापि महानुभावोंके उपर्युक्त विवेचनके अनुसार श्रीभगवान् 'नन्दात्मज'रूपमें भी अवतीर्ण हुए हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है—भगवान् श्रीकृष्ण रासमण्डलमें कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंमें प्रत्येक दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपमें प्रकट हुए थे । मिथिलामें श्रुतदेव ब्राह्मण और मिथिलानरेश बहुलाश्व दोनों ही भक्तोंके घर एक ही साथ पार्षदोंसहित अलग-अलग गये थे । द्वारकामें नारदजीने सोलह हजार रानियोंमेंसे प्रत्येक रानीके महलमें भगवान् श्रीकृष्णको विभिन्न लीला करते देखा था । ऐसे सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ स्वयं भगवान् श्रीवसुदेव-देवकीके यहाँ कंसके कारागारमें और श्रीनन्द-यशोदाके घर गोकुलमें पृथक्-पृथक् प्रकट हो जायँ, इसमें कौन बड़ी बात है ?

जो कुछ भी हो, आज इन लीलामय पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्‌का प्राकट्य-महोत्सव है । आजका दिन समस्त विश्वके लिये मङ्गलमय है । इन्होंने व्रजमें वात्सल्य-सख्य-मधुरभावकी अनुपम लीलाएँ कीं, असुरोंका उद्धार किया, कंसादिका उच्छेद-साधन करके समाज-कल्याण किया, कुरुक्षेत्र-के रणाङ्गणमें महान् आश्चर्यप्रद सर्वलोककल्याणकारी समस्त देशकालपात्रोपयोगी विविध अर्थमयी दिव्य भगवद्वाणीस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य गान किया, राज्यों तथा राजाओं-का निर्माण किया, स्वयं सदा निरपेक्षस्वरूप स्थित रहकर विभिन्न विचित्र लीलाएँ कीं और अन्तमें अपने दिव्य देहसे ही सबके देखते-देखते परमधामको पधार गये ।

इनके स्वरूप, तत्त्व, रहस्य तथा सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यादि अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणोंका वर्णन कोटि-कोटि जन्मोंमें ब्रह्मा, शेष, शारदा भी नहीं कर सकते—मेरा तो यह अपने मन तथा 'निज गिरा पावन करन हित' उनके गुणोंका किंचित् स्मरणमात्र है । इसमें भी उनकी कृपा ही कारण है । मेरी निस्सीम नीचता और अधमताका पार नहीं और उन सहज कृपालुकी कृपाका पार नहीं । अस्तु,

प्रणाम और प्रार्थना

हमारा यह विश्व, परमपावन भारतभूमि, द्वारकापुरी, कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण, मथुरामण्डल, व्रजभूमि, गोकुल, नन्दालय अति धन्य हैं, जहाँ स्वयं भगवान्‌ने प्रकट होकर विविध प्रकारकी दिव्य और आदर्श लीलाएँ कीं । लोकपितामह ब्रह्माजीके शब्दोंमें हम भी उनके प्रति प्रणाम और प्रार्थना करें—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

अहो ईड्य नव घन तन स्याम । तडिदिव पीत बसन अभिराम ॥
मोर पिच्छ छवि छाजत भाल । नैन बिसाल सु उर बनमाल ॥
रस पुंजा गुंजा अवतंस । कँवल बिषान बेत्र बर बंस ॥
मृदु पद बृंदाबिपिन बिहार । नमो नमो ब्रजराज कुमार ॥

बोलो ब्रजबाल नन्द-यशोदालालकी जय ।

समयका सदुपयोग कीजिये

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

संसारमें यदि सबसे बहुमूल्य या अनमोल कोई वस्तु है तो वह समय है। धन आदि पदार्थ एक बार चले जानेके बाद फिर भी मिल सकते हैं, पर बीता हुआ समय वापिस नहीं आ सकता। इस मानव-जीवनमें हमें कितने लंबे समयका संयोग मिला है, पर हम उसका सही मूल्याङ्कन नहीं कर पाते। इसलिये बहुत-सा समय व्यर्थ ही बरबाद कर देते हैं। समय तेजीसे चला जा रहा है, थोड़ा-थोड़ा करते हमारे जीवनकी जितनी घड़ियाँ हैं, सब पूरी हो जाती हैं और अन्तमें हमें शरीर-कुटुम्ब, धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि सभी चीजोंको छोड़कर चले जाना पड़ता है। अपनी आयुका जितना समय है, उससे एक सेकंड भी बढ़ाया नहीं जा सकता। अतः प्रायः लोगोंको अन्तिम समयमें बड़ा पश्चात्ताप होता है कि अपनी इतने वर्षोंकी लंबी आयुमें हम कुछ भी अच्छा और इच्छित काम नहीं कर पाये; थोड़ा समय और मिलता तो अवश्य ही अपने अधूरे कामोंको पूरा कर लेते तथा जिन अच्छे कामोंको हम नहीं कर पाये, उन्हें भी करके अपना भविष्य सुखमय बना लेते।' पर उस समयका ऐसा पश्चात्ताप कुछ भी कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि आयुको थोड़ा भी बढ़ा लेना हमारे वशकी बात नहीं। इसलिये जीवनका प्रत्येक पल सत्कर्मोंमें ही लगाते रहना परमावश्यक है। न मालूम अन्तिम घड़ी कब आ पहुँचे। अञ्जलि-जलके समान आयु निरन्तर क्षीण हो रही है और मृत्युका निश्चित समय हमें ज्ञात नहीं। तब प्रमाद क्यों? वास्तवमें हम समयका सही मूल्य समझ नहीं पाते या समझते हुए भी उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। एक-एक मिनटका कितना महत्त्व है—इसका अनुभव करनेके लिये दो-चार रात-दिनके व्यवहारके दृष्टान्त यहाँ दिये जा रहे हैं।

(१) हमें परदेश जाना है। रेलगाड़ी या हवाई जहाजके छूटनेके निश्चित समयसे पहले या उस समयतक यदि हम स्टेशनपर नहीं पहुँच पाते और एक मिनटकी भी देर हो जाती है तो हम अपने गन्तव्य स्थानपर समयपर नहीं पहुँच सकते। तब हमारे लिये अपने उस एक मिनटकी देरी या भूलका क्या परिणाम होगा, इसका भलीभाँति अनुभव होकर बड़ा ही क्षोभ तथा पश्चात्ताप होता है।

(२) एक आदमी, जो बहुत अधिक बीमार है और अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है, उससे मिलनेके लिये हमें जाना है अथवा उसने तुरंत मिलनेके लिये हमें बुलाया है। यदि हम थोड़ी-सी ढील कर देते हैं और वह व्यक्ति चल बसता है तो हमें उस थोड़े समयकी देरका कितना दुःख होगा। जीवनभर इस भूलका शूल हमारे हृदयमें चुभता और अखरता रहेगा।

(३) बाजारमें वस्तुओंके भावोंमें बड़ी घटा-बढ़ी हो रही है और हमारे पास उन वस्तुओंका भरपूर संग्रह है; पर हम किसी कार्यवश या आलस्यवश यों ही बाजार जानेमें देरी कर देते हैं और हमारे पहुँचनेसे एक ही मिनट पहले बहुत ऊँचे दामोंमें सौदा हो जाता है, पर जब हम पहुँचते हैं तब कोई खरीदार नहीं रहता या मंदीकी रुख हो जाती है, जिससे हमें हजारों रुपयोंकी क्षति उठानी पड़ती है, तब हमें सचमुच ही एक मिनट पहले न पहुँच सकनेका यानी एक मिनटकी देरका कितना बड़ा पश्चात्ताप होगा! उस एक मिनटका मूल्य लाखों-करोड़ोंका भी हो सकता है।

(४) कलकत्ते-जैसे शहरमें किसी भीड़-भाड़वाले चौराहेपर हम खड़े हैं और हमें दूसरे रास्तेकी ओर जाना है। रास्तेमें प्रतिपल मोटरें आदि चल रही हैं। यदि हमने उस चौराहेको पार करते समय तनिक भी असावधानी की और मोटरें आदि जिस तेजीसे चल रही हैं, उसकी गतिका अनुमान लगानेमें भूल की, तो वह जरा-सी भूल हमारे लिये घातक सिद्ध होती है। मान लीजिये, एक गाड़ी वेगसे दूरसे आती हुई दिखलायी देती है, हमने सोचा कि उसके यहाँ पहुँचनेमें एक-दो मिनटकी देर है, हम रास्ता पार कर जायँ। पर वह एक मिनट-में ही वहाँ पहुँच जाती है और संयोगवश हमारे साथ टकरा जाती है। इस प्रकार एक मिनट ही नहीं, एक सेंकडमें भी कोई बड़ी घटना घट जाती है। बहुत बार रेलगाड़ियोंकी भिड़ंत एक ही सेकंडकी असावधानीसे हो जाती है और सैकड़ों नर-नारियोंका अकस्मात् विनाश हो जाता है। इसी तरह नदीमें पानी बढ़ रहा हो, हम नावमें बैठे हों, नावमें पानी आना आरम्भ हो गया हो, पर नदीका किनारा पास ही हो। यदि किसी तरह एक मिनट पहले हम सावधान होकर तटपर पहुँच जाते हैं; तब तो ठीक, पर यदि एक सेकंडकी ही देर की

और मनसूबेमें या इधर-उधर विचारमें पड़े रहे तो जीवन खतरेमें ही समझिये। नदीकी बाढ़, आग आदिके समय भी जो व्यक्ति कुछ पहले सचेत हो जाते हैं, वे अपनी जान और मालकी रक्षा कर लेते हैं; पर यदि एक मिनटकी भी असावधानी की तो सब 'स्वाहा' समझिये। वहाँ एक मिनट या सेकंडका कितना बड़ा महत्त्व तथा मूल्य है। सोचिये, इस तरह जीवनमें अनेक बार थोड़े-से समयका भी कितना बड़ा मूल्य होता है—इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको हुआ करता है; फिर भी हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करते। यही विचित्रता है।

हमारे विचारोंमें प्रतिक्षण अच्छे और बुरे भावोंका द्वन्द्व चलता रहता है। यदि अच्छे विचारोंके समय हम कोई कार्य कर लेते हैं तो जीवन सफल हो जाता है। पर जिस समय बुरे विचारोंका वेग चल रहा हो और उसके आवेशमें कुछ अकरणीय कार्य कर बैठे तो वह कलङ्क सारे जीवनभर नहीं धुल पाता। इसीलिये हमारे लिये एक-एक क्षणका सदुपयोग करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।

हम अपनी आयुके महीनों, दिनों, घंटों और मिनटोंका हिसाब लगायें और उसमें हमारा कितना समय किन-किन कार्योंमें लग रहा है, इसकी तालिका बनायें तो पता लगेगा कि सत्-कार्योंके लिये हमारे पास कितना कम समय है। मनुष्यके २४ घंटेके दिन-रातमें ७-८ घंटे सोनेमें, २-३ घंटे खाने-पीनेमें, तथा ५-७ घंटे व्यापार-धंधे या नौकरी या आजीविकासम्बन्धी कार्योंमें चले जाते हैं। अब जो ५-४ घंटे बच रहते हैं, उन्हें हम यदि व्यर्थकी गप्पें लड़ानेमें, परायी निन्दा-चुगली करनेमें, ताश-चौपड़ खेलने या सिनेमा देखने आदिमें लगा देते हैं तो कहिये, इस मनुष्य-जीवनके पानेकी सफलता ही क्या हुई? अपनी आयुका समय तो कीट-पतंग, पशु-पक्षी—सभी किसी-न-किसी प्रकार पूरा करते ही हैं। यदि उसी तरह हमने भी अपना जीवन बरबाद कर दिया तो हमारे ऋषि-मुनियोंने जिस मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता बतलायी है, उसे पाकर भी हमने क्या फल पाया? यदि हमने अपने समयका दुरुपयोग किया, दूसरोंके सताने या किसीका बुरा करनेमें या अन्य पाप-प्रवृत्तियोंमें जीवनका प्राप्त अमूल्य समय लगा दिया तो उसका कटु फल हमें अनेक जन्म-जन्मान्तरोंतक भोगना पड़ेगा!

वैसे तो हम जल्दीसे जाते हुए समयका ठीक अनुभव नहीं कर पाते और कहते हैं कि क्या करें, समय बहुत जल्दीसे चला गया, हमें तो उसका कुछ भी पता नहीं चला। पर यदि हम सेकंडकी छोटी सुईवाली घड़ीपर लक्ष्य रखते हुए एक सेकंडमें वह सुई किस तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और किस गतिसे ६० संख्यावाले पूरे चक्करपर घूमकर एक मिनट पूरा होनेकी सूचना देती है—इसपर ध्यान दें तो हमें एक-एक सेकंडमें भी कितनी देर लगती है, इसका ठीक अनुभव हो सकेगा। इसी तरह जब हम किसी व्यक्तिकी प्रतीक्षा करते हैं तो उसके न आनेतकका समय हमें बहुत लंबा प्रतीत होता है। विरहीको रात कितनी बड़ी लगती है, इसपर विचारें तो समयकी गतिका ठीक अनुमान हो जायगा।

वास्तवमें हम अपना सारा समय बेपरवाहीसे व्यर्थकी बातोंमें खो देते हैं या आवश्यकताओंको बढ़ाकर उनकी पूर्तिके लिये कोल्हूके बैलकी तरह रात-दिन चक्कर लगाते रहते हैं। इधर कहते हैं, सत्कार्योंके लिये समय नहीं है।

हमारे जीवनमें समयका कोई ठीक विभाजन नहीं है। इसलिये हम अपना काम, जितने समयमें करना चाहिये, नहीं कर पाते। जिनके हृदयमें कुछ काम करनेकी भावना है, उन्हें अपने समयका विभाजन यानी समय-क्रम निश्चित कर लेना चाहिये। इस विषयमें पाश्चात्य लोग बहुत ही आगे बढ़े हुए हैं। वे अपने सभी कार्य नियत समयपर करते हैं और अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते। इसलिये जिन आवश्यक कार्योंमें जितना समय देना चाहिये, उतना देते हुए भी खेल-कूद, मनोरञ्जन और सभा-समितियोंमें भाग लेने एवं भाषण आदि कार्य-क्रमोंमें सम्मिलित होनेका भी समय निकाल ही लेते हैं। इधर हमारी सबकी शिकायत यही रहती है—क्या करें समय नहीं मिलता, इसीसे इच्छा होते हुए भी काम नहीं कर पाते।' समयकी पाबंदीमें भी जितने पाश्चात्यलोग दृढ़ हैं, हम उतने ही ढीले हैं। साधारणतया हमारा कोई भी कार्य या प्रोग्राम ठीक समयपर प्रारम्भ नहीं हो पाता। किसी मीटिंग या भाषण आदिमें उपस्थित होनेके लिये जो समय दिया जाता है, उस समयपर बहुत ही कम लोग पहुँच पाते हैं। प्रायः लोग देरीसे आनेके अभ्यस्त हो गये हैं और कह देते हैं 'अमुक समय दिया है तो क्या, यह तो 'हिन्दुस्तानी टाईम' है, 'अंग्रेजी टाइम' थोड़े ही है, अतः आधे घंटे बाद ही कार्य आरम्भ होगा।' इस धारणासे लोग धीरे-धीरे बहुत देरसे

पहुँचते हैं। इससे नियत समयपर आनेवालोंका समय उनकी प्रतीक्षामें व्यर्थ जाता है। उधर अंग्रेजोंकी ओर देखिये—किसी भी प्रोग्रामका जो समय होता है, उससे दो-चार मिनट पहले उस प्रोग्रामस्थलपर कोई भी दिखायी नहीं देता और ठीक समयके एक-दो मिनटोंमें ही, जो आनेवाले होते हैं, सभी एक साथ आ जाते हैं और निश्चित किये हुए समयमें ही सारा कार्य पूरा कर लेते हैं। हमें पाश्चात्त्य लोगोंसे समयका ठीकसे उपयोग करने और नियत समयपर कार्य प्रारम्भ करनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इससे हमारे समयकी बहुत-सी बचत हो जायगी। यद्यपि आजकल कलाईपर घड़ी बाँधने और जेबमें या घरोंमें दीवालघड़ियाँ रखनेका भारतमें बहुत प्रचार हो गया है, फिर भी ठीक समयपर कार्य करनेका अभ्यास अभी नहीं हो पाया है। घड़ियाँ हमें समयकी सूचना देती रहती हैं और अलार्म (घंटीका शब्द करनेवाली) घड़ी तो सोतेको भी जगा देती है, फिर भी हम यदि उसकी आवाजको न सुनें और समयपर कार्य करनेकी आदत न डालें तो दोष किसका ? हमारे इस जीवनका समय बँधा-बँधाया है। जितने वर्ष, महीने, दिन, घंटे, मिनट, सेकंड मिले हैं, हम उनका उपयोग किस प्रकार करें—यह हमींपर निर्भर है। हम समयका सदुपयोग करें या दुरुपयोग करें, उसे व्यर्थ नष्ट करें या उसमें कोई-कोई रचनात्मक कार्य करें—यह सब हमारी भावना, अभ्यास तथा प्रवृत्तिपर ही निर्भर है। जो समय गया, वह जब वापिस आनेका नहीं और आयुका एक-एक क्षण क्षय हो रहा है; तब हम पूर्ण सचेत रहकर जीवनके प्रत्येक क्षणको सार्थक क्यों न बनायें !

ज्ञानी महात्मा तो कालके सबसे छोटे अंशको, जिसका और कोई टुकड़ा नहीं हो सकता, एक 'समय' कहते हैं। हम जो सेकंड आदि सूक्ष्म समय मानते हैं, उतने समयमें तो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनन्त समय बीत जाता है और ऐसे सूक्ष्म समयमात्रको भी प्रमादमें न खोया जाय, व्यर्थ बर्बाद न किया जाय और बुरे कामोंमें न लगाया जाय—यही ज्ञानी पुरुषोंका हम सब प्रमादी मनुष्योंके लिये संदेश है। देखिये, भगवान् महावीरने अपने प्रधान और ज्ञानवान् शिष्य इन्द्रभूति गौतमको सम्बोधित करते हुए कितने सुन्दर, हृदयस्पर्शी और तथ्यपूर्ण दृष्टान्तों तथा शब्दोंद्वारा सचेत और जाग्रत् किया है। उत्तराध्ययन-सूत्रके दसवें अध्यायमें वे कहते हैं—'गौतम ! समय-मात्र भी प्रमाद न कर। बीता समय लौटता नहीं तथा प्रति क्षण आयुष्य क्षीण हो रहा है, इसका ध्यान रख ! मनुष्यजन्म पाना दुर्लभ है; स्वस्थशरीर, उच्चकुल आदि अन्य साधन मिलने और भी कठिन हैं। इनको पाकर आलस्य तथा पापकार्यों आदिमें समयको बर्बाद न कर।'

इसी आशयकी कुछ गाथाओंका भाषान्तर नीचे किया जा रहा है—

'जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक रहे हैं और समस्त बल क्षीण होता जा रहा है। हे जीव ! समयभरके लिये प्रमाद न कर।'

'जबतक इन्द्रियाँ काम दे रही हैं, शरीर स्वस्थ है, जो कुछ करना हो, कर लो।'

अधिकांश लोग अच्छे कामोंके लिये—'क्या करें, समय नहीं मिलता,' यही शिकायत करते रहते हैं; पर समय तो उतना ही है। बात यह है कि इन्होंने अपना समय दूसरे किसी कार्यमें लगा रखा है। दिनके चौबीस घंटे तो सभीके लिये एक समान हैं। उन्हें चाहे गप्पें हाँकने-सुनने, उपन्यास पढ़नेमें लगायें चाहे सत्सङ्गमें। हम जिस कार्यको बहुत आवश्यक समझते हैं या जिस कार्यका हमें अभ्यास पड़ जाता है, उसी कार्यमें हमारा समय लग जाता है। जिन कामोंमें अभी हमारा समय लगा हुआ है यदि उन कामोंसे, जो सत्कर्म हम करना चाहते हैं, उनको अधिक महत्त्व एवं आवश्यक समझने लगें तो उन दूसरे कामोंमें समय न देकर उन कामोंमें समय देने लगें। जीवन-व्यवहारमें हम प्रतिपल देखते हैं कि जब दो काम एक साथ करनेके होते हैं, तब जिस कामको हम अधिक जरूरी या महत्त्वका समझते हैं, उसीमें हमारी प्रवृत्ति हो जाती है। दूसरे कामको समय मिला तो कर लिया, न मिला तो नहीं सही। इसी प्रकार यदि हम सत्कर्म करनेके लिये वास्तविक इच्छा रखते हैं तो दूसरी प्रवृत्तियोंको छोड़कर या उनमेंसे थोड़ा-थोड़ा समय बचाकर भी सत्-कार्य अवश्य कर सकते हैं। कुछ गहरे विचारके साथ यदि हम सोचें तो हमारा बहुत-सा समय अनावश्यक कार्योंमें ही लगा रहता है। कुछ असत् कार्योंमें भी असत्-संगति या अभ्यासके कारण लग जाता है। पहले हमें आलस्य तथा अनावश्यक कार्योंमें समयका जो अपव्यय होता है, उसको बचाना चाहिये। विचार करनेपर, बहुत-सी बातें, जिन्हें हमने

आवश्यक समझ रखा है, उतनी आवश्यक नहीं लगेंगी। दूसरी बात, हमें अपनी आवश्यकताओंको कम करते जाना है। तीसरी बात, जिन आवश्यक कार्योंमें हमारा जितना समय लगता है, उनमें उससे कम समय लगानेका प्रयत्न करना चाहिये।

उदाहरणार्थ—एक आदमी स्नान करनेमें एक घंटा लगा देता है, तो दूसरा दो-चार मिनटोंमें ही कर लेता है। हम भी यदि उन कामोंको जल्दीसे निपटानेका ध्यान रखें और बीस या पचास प्रवृत्तियोंमेंसे दो-दो चार-चार मिनट भी समय बचायें तो बहुत-से समयकी बचत अनायास हो सकती है। बुरी आदतें और बुरे कामोंको छोड़नेके लिये तो हमें पूरा तैयार हो जाना चाहिये। फिर हमारे पास समयका अभाव नहीं रहेगा और प्रभु-भजन, आत्मचिन्तन, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, परोपकार, प्रभु, गुरु एवं माता-पिताकी सेवा, जनसेवा, धर्मप्रचार, लेखन आदि सत्-कार्योंमें हम समयका सदुपयोग करके अपने जीवनको सार्थक बना सकेंगे। हमलोग आजसे ही निश्चित कर लें कि एक-एक सेकंड किन-किन कामोंमें लग रहा है, इसकी भलीभाँति जाँच करके अनावश्यक और बुरे कामोंसे हटकर अच्छे कामोंमें ही समय लगायें।

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

सामूहिक प्रार्थना

प्रत्येक देश और प्रत्येक युगमें संतोंके आशीर्वादके चमत्कार देखे और सुने जाते हैं। संतोंका समस्त जीवन ही प्रार्थनामय होता है। जिसको वे आशीर्वाद देते हैं, उसकी भलाईके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं। यों तो आशीर्वाद या शुभकामना सदा ही कल्याणकारिणी होती है; परंतु जब उसके पीछे श्रद्धा और विश्वासका बल हो, तब तो वह अवश्य ही वरदान सिद्ध होती है। इस सिद्धिमें उस व्यक्तिके अपने विश्वासका भी बहुत कुछ हाथ होता है, जिसको आशीर्वाद दिया जाता है। दो व्यक्तियोंकी श्रद्धा मिलकर जब एकाकार हो जाती है, तब वह एक अजेय शक्ति बन जाती है। परस्पर पूर्ण हार्दिक सहानुभूति रखनेवाले जो व्यक्ति जिस भी वस्तुकी उत्कट कामना करेंगे, वह वस्तु उनको निःसंदेह प्राप्त होगी। वह वस्तु इस अनन्त विश्वमें जहाँ भी कहीं होगी, वहींसे उनकी ओर खिंची चली आयेगी। दो अभिन्न-हृदय मित्रोंके लिये इस विश्वमें कुछ भी अलभ्य अथवा असम्भव नहीं है। अपने लिये की गयी प्रार्थनाकी सफलतामें संदेह किया जा सकता है, परंतु दूसरोंकी भलाईके लिये की गयी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। जब एक मित्र अपने मित्रके दुःखनिवारण या इष्ट-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करता है, तब भगवान् उसकी प्रार्थना बहुत शीघ्र सुनते हैं। भगवान्‌की इच्छा यही प्रतीत होती है कि हम अपने-अपने लिये नहीं बल्कि एक-दूसरेके लिये प्रार्थना करें। भगवान् चाहते हैं कि हम अपने साथ रहनेवालों तथा अपने पड़ोसियोंकी सेवा करें।

सेवाका पथ ही वास्तवमें आनन्दका पथ है। अपने मित्रों और प्रेमियोंके लिये तथा अपरिचित अतिथिके कष्टनिवारणके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देनेमें जो अलौकिक सुख है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। जिनको दयामय प्रभुकी शक्ति और करुणामें पूर्ण विश्वास है, वे ही आत्मोत्सर्गके पथका वरण करते हैं। अपने लिये कलके लिये कुछ भी बचाकर रखनेकी चिन्ता वे नहीं करते। प्रभुने जो कुछ उन्हें आज दिया है, वह सब वे सेवामें लगा देते हैं; क्योंकि उनको पूर्ण विश्वास है कि कलकी चिन्ता तो करुणासागर परमात्माको स्वयं है। अतः क्यों न आज हम सेवा और त्यागका पूरा आनन्द लूट लें। भगवान्‌के खजानेमें आनन्दका अभाव तो कभी होगा नहीं। वे तो आनन्दके अक्षय भंडार हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब उनका ही दिया हुआ है। जिसने आज दिया है, क्या वह कल कहीं चला जायगा? जो सर्वव्यापी है, वह जायगा कहाँ? जो करुणाका सागर है, उसकी करुणामें कमी कैसे आ सकती है? बल्कि वह तो यही चाहता है कि हम सेवाका मार्ग ग्रहण करें।

आइये, हम सेवाके सुखमय पथको अपना लें। आजसे ही अपने क्षुद्र स्वार्थ, लोभ तथा अहंकारका त्याग करें। अपने कुटुम्बियों और मित्रोंके लिये ही नहीं, अपितु अपरिचितोंके भी कष्ट-निवारणके लिये आत्मोत्सर्ग करना सीखें। अपने क्रोधके द्वारा दूसरोंको कष्ट पहुँचाना बंद करें, दूसरोंको क्षमा करना प्रारम्भ करें तथा अपनी गलतियोंके लिये दूसरोंसे क्षमा माँग लें। यह तपस्याका पथ ही सच्चे आनन्दका पथ है। धनके त्यागसे भी बड़ा मानका त्याग है। किसीने हमारा अपमान कर दिया या हमें बुरा-भला कह दिया तो उसको क्षमा करना ही मानका त्याग है। यह बहुत उच्च कोटिका त्याग है। धनका त्याग सहज है, परंतु मानका त्याग बड़ा कठिन है। यह जितना ही कठिन है, उतना ही अधिक आनन्दमय है। तपस्यासे ही आध्यात्मिक आनन्दरूपी अमृत प्राप्त होता है।

अपने दैनिक जीवनमें हम जिन-जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आयें, उन सबके प्रति हमें सहयोग और सहानुभूतिका भाव रखना चाहिये। सहयोगसे सहयोग और प्रेमसे प्रेम पैदा होता है। जिसे हम अपना मित्र समझेंगे, वह हमारा मित्र बन जायगा और जिसे अपना प्रेमी समझेंगे, वह प्रेमी बन जायगा। यदि हम दूसरोंकी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे, तो वे भी हमारी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे। जब हम दूसरोंके अंदर सद्गुण देखते हैं, तब वे भी हमारे अंदर सद्गुणोंका दर्शन करते हैं। जब हम दूसरोंको अच्छे निर्देश देते हैं, तब वे भी हमें अच्छे निर्देश देते हैं। जब हम दूसरोंकी उन्नतिमें विश्वास करते हैं, तब वे भी हमारी उन्नतिमें विश्वास करते हैं। जैसा भाव हम दूसरोंके प्रति रखते हैं, वैसा ही भाव वे हमारे प्रति रखते हैं तथा हम स्वयं भी अपने प्रति वैसा ही भाव रखते हैं। दिनभरमें हम जो भी सोचते और करते हैं तथा जिन व्यक्तियोंके साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उन सबकी छाप हमारे व्यक्तित्वपर पड़ती है, जिसके द्वारा हम सफलता या असफलता प्राप्त करते हैं।

अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यमें सफलता प्राप्त करनेका सबसे बड़ा साधन हमारे मित्रोंका सहयोग है। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें निश्चितरूपसे सहायक सिद्ध हो सकनेवालोंके साथ ही हमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। जो अपने लक्ष्यके प्रतिकूल हों, उनके साथ सम्पर्कको नीतिपूर्वक बचा जाना चाहिये। एक महान् मनोवैज्ञानिकका कथन है कि कोई भी दो व्यक्ति जब सम्पर्कमें आते हैं, तब उनके मिलनसे एक अदृश्य चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह अदृश्य शक्ति उन दोनोंकी पृथक्-पृथक् सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य रखती है और उतने ही अंशोंमें उन दोनों व्यक्तियोंके लिये हितकर या अहितकर सिद्ध होती है, जितने अंशोंमें वे एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति या द्वेष रखते हैं। यही कारण है कि अपने प्रति द्वेष या अन्य किसी प्रकारका दुर्भाव रखनेवाले व्यक्तिका सम्पर्क अत्यन्त घातक सिद्ध होता है, जब कि परस्पर प्रीति रखनेवाले दो मित्रोंका सम्पर्क दोनोंके लिये ही अत्यन्त सुखद और हितकर होता है।

अपने सच्चे हितैषी मित्रोंके साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ सम्पर्क रखना दोनों ही पक्षोंके लिये परम हितकर है। अतः प्रत्येक व्यक्तिका यह परम पवित्र धर्म है कि अपने हितैषियोंसे मिलना-जुलना और पत्र आदिद्वारा प्रीतिका आदान-प्रदान करनेमें प्रमाद न करें। प्रीतिसे ही शक्ति, उत्साह और कार्यशीलताका संचार होता है। प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही धन और यशका अर्जन करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। मित्रोंके प्रोत्साहनसे ही घोर निराशामें आशाकी किरण दिखायी देती है और धैर्य तथा विश्वासके सहारे मनुष्य मंजिलतक निरन्तर बढ़कर सफलता प्राप्त करता है।

किसी भी संस्थाकी उन्नति और सुख-शान्तिका प्रधान कारण उसके सदस्योंका पारस्परिक सहयोग होता है। पृथक्-पृथक् सदस्योंमें विद्या-बुद्धि और परिश्रमशीलता कम होनेपर भी सहयोगके बलपर वे उन्नति करते हैं। एकके विद्याभावको दूसरा दूर करता है तथा दूसरेकी निर्बलताको तीसरा दूर करता है। वास्तवमें एक आदर्श संस्थाके सदस्योंकी प्रतिभा अथवा योग्यता व्यक्तिगत न रहकर सामूहिक हो जाती है। सबका एक मत, एक स्वर, एक लक्ष्य और एक कार्य होता है। प्रत्येक सदस्य व्यक्ति न रहकर समष्टिका एक अङ्ग बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जब समूहके ही स्वार्थको सम्मुख रखता है, तब प्रत्येककी अपनी योग्यता और शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। ज्ञान और शक्तिके नये-नये स्रोत खुल जाते हैं।

प्रत्येक कुशल नेता सहयोगके मूल्यको समझता है और अपने अनुयायियोंमें प्रयासपूर्वक सहयोगभावना बढ़ानेके लिये सदैव सचेष्ट रहता है। सहयोगसे ही अनुशासन उत्पन्न होता है। अपनी संस्थाके नेता और प्रत्येक सदस्यके साथ पूर्ण

हार्दिक सहानुभूति रखनेसे ही हम अनुशासनका पालन कर सकते हैं। अनुशासनके बिना कोई भी परिवार, उद्योग या राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक कुशल उद्योगपति अनुशासन और सहयोगके महत्त्वको समझता है तथा अपने उद्योगमें किसी जिम्मेदारीके पदपर नियुक्ति करते समय सबसे पहले यही देखता है कि उम्मीदवारमें दूसरोंका सहयोग प्राप्त करनेका तथा स्वयं अपना सहयोग दूसरोंको प्रदान करनेका स्वाभाविक गुण है या नहीं। अभ्यासके द्वारा सहयोगभाव जबतक स्वभावमें नहीं परिणत हो जाता, तबतक वह स्पष्टरूपसे दूसरोंको नहीं दिखायी देता। यह तो हृदयका सेवा-भाव है, जो चेहरेपरकी प्रत्येक रेखामें, हमारे प्रत्येक कार्यमें स्पष्ट झलकता है। सेवा-भावको अपनाना ही सामाजिक जीवनमें लोकप्रिय बननेका रहस्य है। यही मित्र बनानेकी कला है। यही दूसरोंका प्रेम प्राप्त करने ी कुंजी है।

हमारे दैनिक जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण समय या तो अपने परिवारमें व्यतीत होता है या उन लोगोंमें, जिनके साथ रहकर हम अपनी आजीविकाके लिये कार्य करते हैं। परिवारसे हमारे सामाजिक जीवनका प्रारम्भ होता है और यही हमारे लिये सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था रहती है। परिजनोंके सहयोग और स्नेहपर ही बहुत कुछ हमारी सफलता और उन्नति निर्भर करती है। हमारा पारिवारिक जीवन ही हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यका आधार होता है तथा स्नेही परिजनोंसे ही हमें धनोपार्जन, विद्योपार्जन और यशोऽपार्जनकी प्रेरणा और क्षमता प्राप्त होती है। स्वास्थ्य-शास्त्रियोंने स्वास्थ्यके तीन आधार-स्तम्भ बताये हैं—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन तीनोंका ही ठीक रहना परिवारके पारस्परिक सहयोगपर निर्भर है। जैसा हम भोजन करते हैं, वैसा ही हमारा शरीर, हृदय और मस्तिष्क बनता है। इसमें भी भोजन बनाते समय तथा भोजन करते समय घरमें कैसा वातावरण रहता है, उसका महत्त्व अधिक है। स्नेहपूर्ण वातावरणमें प्रसन्नतासे किया हुआ रूखा-सूखा भोजन अधिक उपयोगी होता है। कलहपूर्ण वातावरणमें बना हुआ अच्छे-से-अच्छा भोजन भी विष बन जाता है। भोजन करते समय यदि मनमें अशान्ति हो, तो भी उस भोजनको विष ही समझिये।

सजीव और निर्जीव पदार्थोंमें भेद यह है कि सजीव पदार्थोंमें विद्युत् प्रवाहित होती रहती है। हमारा प्रत्येक विचार एक विद्युत्-तरङ्गके रूपमें हमारे मस्तिष्कसे निकलता है। ये विचार-तरङ्गें बड़ी द्रुत-गतिसे चलती हैं और अपने आस-पासके वातावरणको ही नहीं, बल्कि समस्त विश्वको प्रभावित करती हैं। परिवारके प्रत्येक सदस्यकी विचार-तरङ्गों-की छाप परिवारके समस्त वातावरणपर तथा घरकी प्रत्येक वस्तुपर पड़ती है। यदि ये विचार-तरङ्गें बलवती हों तो घरके बाहर भी काफी दूरतकके वातावरणमें हम इन विचार-तरङ्गोंके अमृत या विषका अनुभव कर सकते हैं। यही कारण है कि लोकोपकारके विचार रखनेवाले महापुरुषोंके निवासस्थानके निकट पहुँचते ही हमें अलौकिक शान्तिका अनुभव होता है तथा हमारे मनके क्षुद्रभाव शान्त होकर हममें भी उदारताका संचार होने लगता है। इसी विद्युत्के माध्यमसे महापुरुषोंका सत्सङ्ग हमारे अंदर नया जीवन फूँकता है। इसी विद्युत्की प्रबलताके कारण संतोंके स्पर्शमें रोग-निवारणकी जादूभरी शक्ति होती है। जैसे एक जलते हुए दीपकसे दूसरे बिना जले दीपकको प्रकाश प्राप्त होता है, वैसे ही महापुरुषोंके सत्सङ्गसे हमें प्रकाश प्राप्त होता है। यह शक्ति सद्विचारोंके अभ्याससे प्राप्त होती है।

जिस घरमें सद्विचारोंकी विद्युत्-तरङ्गें प्रवाहित होती हैं, उस घरमें घुसते ही हम इन तरङ्गोंको पहचानकर यह जान सकते हैं कि इस घरमें रहनेवाले प्रायः किस प्रकारके विचार करते हैं तथा उनके मध्य परस्पर कैसे सम्बन्ध हैं। हम प्रायः अपने परिवारके सदस्योंके बारेमें ही सोचते हैं और रात्रिमें जब सो जाते हैं, तब भी अंदर-ही-अंदर हमारे मनका जो प्रदेश जागता रहता है, वह उन्हीं विषयोंपर विचार करता रहता है, जिनसे हम जाग्रत् अवस्थामें विशेष प्रभावित रहते हैं। अतः पारिवारिक जीवनके मधुर या कटु अनुभव निद्राकालमें भी हमारा पीछा नहीं छोड़ते। बल्कि निद्राकालमें वे और भी प्रबलरूपसे अपना कार्य करते हैं। खास तौरसे रात्रिमें सोते समय सबसे अन्तमें तथा सबेरे जागनेपर सबसे पहले हमारा मन जिस विचारधारामें बहता है, उसी विचार-धारामें वह अंदर-ही-अंदर दिन-रात बहता रहता है। अतः ये ही दोनों वेलाएँ आध्यात्मिक साधनाके लिये सबसे उत्तम मानी जाती हैं। इन दोनों वेलाओंमें मनको उत्तम सात्त्विक विचारोंमें ही तल्लीन रखनेका अभ्यास करना व्यक्ति और परिवार दोनोंके लिये श्रेयस्कर है।

सद्विचारों और सद्भावनाओंका अभ्यास जब साथ बैठकर सामूहिक रूपसे मिलकर किया जाता है, तब उसके बहुत प्रबल संस्कार हमारे हृदयोंपर पड़ते हैं। जब सारे सदस्य

परिवारकी सुख-शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी विद्युत्-तरङ्गें मिल जाती हैं और वे उनके हृदयोंको एक-दूसरेके निकट ला देती हैं। दिनमें यदि कोई कटु प्रसङ्ग आया हो तो उसका मैल सायंकालीन प्रार्थनामें हृदयोंके इस पुण्य संगमसे धुल जाता है और एक चिरनवीन प्रेमकी धारा सबके हृदयोंमें बहने लगती है। इसी प्रकार प्रातःकालीन प्रार्थना हमारे पारिवारिक अभ्युदयके लिये नित्य नवजीवनके द्वार खोलती है तथा हमारे अंदर नित्य नवीन आशा, विश्वास, उत्साह और धैर्यका संचार करती है।

अपने-अपने परिवारकी रुचि और परिस्थितिके अनुसार हम सामूहिक प्रार्थनाकी अलग-अलग रूप-रेखा बना सकते हैं और इस रूप-रेखाको परिवर्तनशील परिस्थितियोंके अनुसार चाहे जब बदला जा सकता है। सामूहिक प्रार्थनाके लिये घरमें एक स्थान निश्चित कर लिया जाय, जहाँ सब लोग नित्यप्रति एक निश्चित समयपर एकत्र हों। अपने-अपने आसनपर या एक सम्मिलित दरी या चटाईपर सब आरामसे कमर सीधी करके बैठ जायँ। अपने-अपने चित्तको अन्य सब विषयोंसे हटाकर एकमात्र आनन्दघन परमात्मामें ही केन्द्रित कर दें। इसके बाद आँख मूँदकर कुछ देर मौन प्रार्थना की जा सकती है। या कोई एक व्यक्ति किसी संतकी वाणी बोलता या गाता रहे तथा अन्य लोग या तो चुपचाप सुनते रहें या उसे दोहराते रहें। इसके अतिरिक्त यह भी एक रूप है कि कोई एक सदस्य या गृहपति गद्यात्मक भाषामें अपने शब्दोंमें परिवारके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना करे और अन्य सब लोग मौन रहते हुए उसकी प्रार्थनामें मानसिक योग देते रहें। उदाहरणके लिये गद्यात्मक भाषामें यह प्रार्थना की जा सकती है—

'हे प्रभु ! हमारे परिवारके सब सदस्योंमें परस्पर सहयोग और सद्भावना हो। हम एक-दूसरेके अपराधोंको क्षमा करें तथा अपने-अपने अपराधोंके लिये एक-दूसरेसे क्षमा-याचना करें और पाश्चात्ताप करें। हम परिवारकी उन्नतिके लिये एक निश्चित लक्ष्य बनाकर उसकी प्राप्तिके लिये एक निश्चित योजना बनायें तथा उस योजनाके अनुसार मिलकर परिवारकी श्रीवृद्धिके लिये कार्य करें। हे प्रभु ! हमारे परिवारके प्रत्येक सदस्यको विद्या-बुद्धिसे तथा हमारे घरको धन-धान्यसे सम्पन्न बना। हम सबको यशस्वी, तेजस्वी, विद्वान्, लक्ष्मीवान्, स्वस्थ और सुशील बननेकी प्रेरणा प्रदान कर। हम सबके मित्र बनें तथा सब लोग हमारे मित्र बनें। हम सबको अपने मित्रके रूपमें देखें। हम सबके अंदर सद्गुण ही देखें, बुराई केवल अपने अंदर देखें। सब हमारे मित्र हैं, दसों दिशाएँ हमारी मित्र हैं तथा आप हमारे परम मित्र हैं। हम सबके अंदर आपका दर्शन करें। हे प्रभु ! सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका भला हो, किसीको दुःख न प्राप्त हो। सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो और सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करके अपनी अभीष्ट सफलता प्राप्त करें। हम भी अपनी अभीष्ट-सिद्धि तथा आपका सतत और अनन्त प्रेम प्राप्त करें। आप सदैव हमारे हृदय-मन्दिरमें विराजते रहें और हर समय हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें। हे प्रभु ! आप सदैव हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आप सदैव हमारे लिये मङ्गलमय विधान कर रहे हैं। हमें सद्बुद्धि प्रदान कीजिये कि हम आपके ऊपर भरोसा करके चिन्ताएँ छोड़ दें और शान्तचित्त होकर अपने कर्तव्योंका पालन करें। हे प्रभु ! हमने अब आपके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है और अब हम आपके द्वारा आलोकित कर्तव्यपथपर चल रहे हैं। आपकी ज्योतिर्मयी प्रेरणासे अब हम आपके अमृतपथपर चल रहे हैं।' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अकथ महिमा

चतुरानन सम बुद्धि बिदित जो होहिं कोटि धर।
एक एक धर प्रतिन सीस जो होहिं कोटि बर॥
सीस सीस प्रति बदन कोटि करतार बनावहिं।
एक एक मुख माहिं रसन फिर कोटि लगावहिं॥
रसन रसन प्रति सारदा कोटि बैठि बानी बकहिं।
नहिं जन 'अनाथ' के नाम की महिमा तबहुँ न कहि सकहिं॥

हिंदू गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतीय शास्त्रकारोंने समस्त हिंदूजातिके उपकार तथा अधिकाधिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर पाँच ऐसे दैनिक कर्मोंका विधान रखा है, जिससे जीवन पूर्ण बनता है। प्रत्येक बड़े कर्मको 'यज्ञ' शब्दसे सम्बोधित किया गया है, जिससे उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

ये पाँच महायज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ, (४) अतिथियज्ञ और (५) भूतयज्ञ। 'शतपथब्राह्मण' नामक ग्रन्थमें इन पाँचोंका बड़ा माहात्म्य बताया गया है। यहाँतक कहा गया है कि जो पुरुष इनको यथाशक्ति नहीं करता, वह देवताओं, पितरों और ऋषियोंका सदा ऋणी रहता है। जैसे किसी कर्जदारको सदा अपने कर्जको देनेका ही भय लगा रहता है, उसी प्रकार उपर्युक्त कर्मोंको न करनेवाला सदा मन-ही-मन डरता रहता है। उसका कल्याण नहीं होता और मनमें सुख-शान्ति नहीं रहती। अतः प्रत्येक महायज्ञका अर्थ समझ लेना चाहिये और यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

१—ब्रह्मयज्ञ

अर्थात् ब्रह्म (ईश्वर)-चिन्तन। यह दो प्रकारसे किया जा सकता है—(१) वेद-मन्त्रोंसे परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना। दिनका प्रारम्भ इसी यज्ञसे प्रारम्भ होना चाहिये। ईश्वरीय उपासनासे मनुष्यका सम्बन्ध उच्च दैवीशक्तियोंके साथ हो जाता है और उसमें ब्रह्मतेजका उदय होता है। (२) स्वाध्याय। गृहस्थको चाहिये कि वह प्रातः नियमपूर्वक वेद, भगवद्गीता, रामायण, योगवाशिष्ठ आदि सद्ग्रन्थोंमेंसे किसीका भी नित्यप्रति पाठ करे, उन्हें समझनेका प्रयत्न करे, उनपर विचार करे, अपने जीवनकी आलोचना करे और यथाशक्ति अपने आचरणको उसके अनुकूल बनाये।

स्वाध्याय हमारे आत्मविकासका एक प्रधान अङ्ग है। इसलिये उच्चतम ज्ञानसे परिचित होते रहना आवश्यक माना गया है। परमार्थचिन्तनके साथ स्वाध्याय होनेसे जीवन आनन्दसे व्यतीत होता है। स्वाध्यायमें कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं—जैसे धर्मपुस्तकका गहरा अध्ययन, उसके अर्थोंपर पर्याप्त चिन्तन, विचार और श्रद्धापूर्वक उसपर आरूढ़ होनेका व्रत। श्रद्धा और नियमका होना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूसरोंको दिखानेमात्रके लिये स्वाध्याय करता है तो वह ढोंग करता है। अध्ययन और आचरणका संयोग होना चाहिये। स्वाध्याय छोड़ना नहीं चाहिये, अन्यथा पाप लगता है। उसमें आलस्य भी न होना चाहिये। इसीसे 'शतपथ'में कहा गया है—

'जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। इसी प्रकार स्वाध्यायका क्रम प्रतिदिन नियमपूर्वक चलना चाहिये। यदि कोई स्वाध्याय नहीं करता, तो यह बात वैसी ही होती है जैसे इन देवताओंके काम न करनेपर होती। इसलिये उत्तम व्यक्तिको नियमसे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।'

२—देवयज्ञ

देवयज्ञका अर्थ है अग्निहोत्र, हवन, यज्ञ इत्यादि। इसे देवयज्ञ इसलिये कहा गया है कि इसमें दिव्य पदार्थोंद्वारा शास्त्रोंके मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए प्राकृत शक्तियोंकी शुद्धि तथा पुष्टि होती है। हवनसे वातावरण पवित्र बनता है, दिव्य भावनाओंका विकास होता है, प्राणिमात्रकी भलाई होती है। वायु शुद्ध होती है, वर्षाका जल शुद्ध और पुष्ट होता है, जिससे अन्नादि वनस्पतियाँ और ओषधियाँ अच्छी होती हैं। सद्-भावनाका प्रसार होता है। वेदमन्त्रोंके उच्चारण और सामूहिक ईशचिन्तनसे परमात्माकी शक्तियोंका प्रकाश हमें मिलता है।

३—पितृयज्ञ

'पितृ'का अर्थ है हमारे बड़े। यह यज्ञ हमें उन सम्बन्धियोंके प्रति आदरका भाव रखना सिखाता है, जो हमसे बड़े हैं, पूज्य हैं, हमारे लिये हितकारी हैं, जो बाल्यावस्थासे लेकर बड़े होनेतक हमारी रक्षा करते

रहे हैं। इन्हें हम सम्बन्धानुसार विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं—माता, पिता, पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही इत्यादि। ये सब पितर कहलाते हैं।

दूसरे प्रकारके पितर हैं—जो महात्मा, ऋषि, मुनि हमारे धर्मग्रन्थोंके निर्माता। इन्होंने जीवनको अच्छी तरह देखा है, अनुभव किया है और वे सचाइयाँ निकाली हैं, जो शास्त्रोंके रूपमें हमारे निकट विद्यमान हैं। तीसरे प्रकारके पितर वे देवी-देवता हैं, जो ईश्वरीय शक्तियोंके प्रतीक हैं और सदा हमारे चारों ओर कल्याणकारी वातावरणकी सृष्टि करते हैं, संहारक—विनाशकारी शक्तियों-को हटाते हैं और हमें पोषक शक्ति देते हैं। चौथे वे हैं, जिनकी मृत्यु हो चुकी है। इस यज्ञ-द्वारा उपर्युक्त सभी प्रकारके पितरोंके प्रति श्रद्धा दिखानेका विधान है।

यह कार्य दो प्रकारसे किया जाता है। पहला उपाय है, श्राद्ध और दूसरा तर्पण। अर्थात् पहला उपाय तो यह है कि पितरोंके वचनों और चरणोंमें असीम श्रद्धा रखना और दूसरे उस श्रद्धासे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें तृप्त करना। हमें चाहिये कि जीवित पितरों (समस्त गुरुजनों) के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करें, उनकी सेवा करें, अपने-आप दुःख उठाकर उनको सुख पहुँचायें, भोजन-वस्त्रादि द्वारा उन्हें प्रसन्न रखें।

मृत पितरोंके उपकारोंका स्मरण, चिन्तन करते हुए उनको सद्भावसे धन्यवाद देना, स्वयं उनके सदाचरणको अपने जीवनमें धारण करना, उनकी प्रचार की हुई सचाइयोंका प्रचार करना, उनकी स्मृतिमें कुएँ, तालाब, धर्मशालाएँ और अन्य परोपकारकी संस्थाएँ खुलवाना—ये सब पितृ-यज्ञकेअन्तर्गत ही हैं। इसमें पितृसंज्ञक शक्तियोंका आदर करना इष्ट है। इस आदरभावसे हम स्वयं अपना ही हित करते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे हमें पितरोंकी सद्भावनाएँ मिलती रहती हैं।

४—मनुष्य-यज्ञ या अतिथि-यज्ञ

हिंदू-संस्कृति अतिथिको भी देवता मानकर श्रद्धा करना सिखाती है। अतिथिका समयके अनुसार सेवा-सत्कार करना हमारा धर्म है। यदि भोजनके समय या अन्य कभी कोई परिचित या अपरिचित व्यक्ति घरमें आ जाय, तो उसको मधुरभाषण, जल, आसन, भोजन, वस्त्र इत्यादि देकर सत्कार करना अतिथियज्ञको पूरा करना है। यदि कोई व्यक्ति हमारी सहायता या सहयोग चाहे तो यथासाध्य हमें अवश्य देना चाहिये।

५—भूत-यज्ञ या बलि-वैश्वदेव

'भूत' शब्दका अर्थ है 'जीव'। ऊपर मनुष्य-जातिकी भलाईका विधान स्पष्ट किया गया है। किंतु हिंदू-संस्कृति बड़ी उदार है। वह केवल मनुष्यकी ही नहीं, वरं जीवमात्रकी भलाईमें विश्वास करती है।

इस यज्ञमें पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि उपकारी तत्त्वोंके संरक्षण, पालन-पोषण और सेवाका विधान है। ये सभी 'भूत' शब्दमें आ जाते हैं। हमारा जीवन पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति इत्यादि सबपर टिका हुआ है। गौ, बैल-जैसे उपकारी पशु और मोर, हंस, तोता, पुष्प इत्यादि हमारे नित्यप्रतिके मित्र हैं। वृक्ष हमें फल-भोजन इत्यादि देते हैं। फूलोंके पेड़ोंसे घर-उद्यानकी शोभा बढ़ती है। उनकी हरियाली हमारे मनको हरा कर देती है। हिंदू-संस्कृतिने भूत-यज्ञके अन्तर्गत हमें यह शिक्षा दी है कि हम पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति-जैसे उपयोगी और कल्याणकारी तत्त्वोंके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

यह दो प्रकारसे सम्भव है। जहाँ पशु-पक्षियोंके लिये उचित भोजन या जलका प्रबन्ध नहीं है, वहाँ गोशाला या पशुशालाओंका प्रबन्ध करना, पशुओंके लिये जल पीनेके स्थान बनवाना, पुराने कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत करवाना और बीमार पशुओंके निःशुल्क इलाजका प्रबन्ध करना। गौ पालना या दूध देनेवाली गौका दान करना। दूसरे, वृक्षारोपण करना और पुराने वृक्षोंकी सेवा-सहायता करना, उद्यान लगाना, पौधोंको सींचना। इस प्रकार हमारी संस्कृतिमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी सेवाका विधान है। भारतीय संस्कृतिके पुनःस्थापनद्वारा कैसा मनोरम दृश्य उपस्थित हो जाता है, इसका वर्णन एक कविने किया है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि ।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं बत गृहाणि वनानि ॥

अर्थात् जहाँ दूध बिलोनेका घोष नहीं सुनायी देता और जहाँ छोटे-छोटे बच्चोंके खेलने-कूदनेका कोलाहल नहीं सुन पड़ता और वृद्धजनोंकी पूजा नहीं होती, वह घर नहीं बल्कि एक तरहका जंगल है। इसी प्रकार वाटिकामें छोटे-छोटे वृक्षोंको हरे-भरे देखना, पेड़ोंको अपने हाथसे सींचना, उनके फूलों-पत्तोंको सँवारना अद्भुत आनन्दकी सृष्टि करनेवाला है।

इस प्रकार अधिक सुख और शान्तिके लिये प्रत्येक सद्गृहस्थको उपर्युक्त पाँच कर्म अवश्य करने चाहिये। हमारा जीवन ऐसा हो, जिससे अधिक-से-अधिक लोगोंकी भलाई और उन्नति हो सके। समस्त समाजमें हमारी अपनी ही आत्माका विस्तार दिखायी दे रहा है। एक ही ईश्वरका नाना रूपोंमें प्रकाश है। इस दृष्टिसे यह सब हमारा ही एक परिवार है। सब हमारे बन्धु-बान्धव ही हैं। हमारा सबके साथ एक रक्तका सम्बन्ध है। यदि हम किसीका बुरा करते हैं या उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं तो वास्तवमें हम अपना ही बुरा करते हैं और अपने आपको ही ठगते हैं।

रहो और रहने दो !

मनुष्यो ! तुम संसारमें आनन्द और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये आये हो। तुम्हारे मन, वचन और कर्ममें वे शुभ शक्तियाँ रखी गयी हैं, जो संसारभरके लिये कल्याणकारी हैं। तुम्हारे स्वयंके कार्योंकी संसारके सुख-शान्तिपर प्रतिक्रिया होती है। यदि तुम्हारे संकल्प अच्छे हैं और कार्य उत्तम भावोंसे होते हैं तो निश्चय ही तुम संसारकी सुख-वृद्धि कर सकोगे।

तुम संसारमें आनन्दपूर्वक रहना चाहते हो तो दूसरोंको आनन्दपूर्वक रहने दो। तुम यदि समझते हो कि दूसरेको सतानेसे तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ता तो यह तुम्हारा भ्रम है। वास्तवमें तुम्हारी ठगी, धोखेबाजी, अत्याचार स्वयं तुम्हें ही नष्ट करते हैं। तुम अपनी ही आत्माका हनन करते हो।

समाजमें कोई भी अलग नहीं है। सब एक बड़े शरीरके अङ्ग हैं। पूरा समाज एक विशाल शरीर है। क्या तुम यह पसंद करोगे कि तुम्हारे शरीरका एक हाथ दूसरे हाथको काट डाले, एक पाँव दूसरे पाँवको चोट पहुँचाये, दाँत खुद तुम्हारी जीभको काट डालें, हाथ सिरको तोड़ डालें। नहीं, तुम यह कदापि पसंद नहीं करोगे। इससे तुम्हारा अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

इस मानवसमाजके भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी इसी प्रकार तुम्हारे सामाजिक शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। कोई व्यक्ति हाथकी तरह है, कोई आदमी पाँवोंकी तरह; कोई नेत्र है तो कोई कान, नाक, मुँह, हृदय, जिगर, फेफड़ोंकी जगह है। सबके परस्पर मिलकर चलनेसे ही समाज विकसित होता है, आगे बढ़ता है, पनपता है।

यदि तुम किसी व्यक्तिपर हिंसा, बलात्कार, झूठ, कपट या अत्याचार करते हो तो वास्तवमें स्वयं अपने आपको ही घायल करते हो। यदि तुम रहनेका अधिकार माँगते हो तो दूसरोंको स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द और निर्भयतासे जीते रहने दो।

तुम दूसरोंको अधिक दिन धोखेमें न रख सकोगे। एक-न-एक दिन तुम्हारा पाप प्रकट हो ही जायगा। फिर तुम्हें जो अपमान सहन करना पड़ेगा, उसकी पीड़ा सहस्रों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसी होगी। पापपर अधिक दिनतक पर्दा नहीं डाला जा सकता।

दुर्योधन समझता था कि भरी सभामें द्रौपदीकी मानहानि करके वह कोई पापकर्म नहीं कर रहा है। कंस समझता था कि देवकीके पुत्रोंकी हत्या करनेमें कुछ अनुचित नहीं है। रावण समझता था कि महासती सीताको अपहरणकर लङ्का ले जानेमें कुछ भी बुराई नहीं है। वाली स्वयं अपने भाईकी सम्पत्ति हड़पने और सतानेमें दुर्व्यवहार नहीं मानता था।

किंतु पाप तो सिरपर चढ़कर बोलता है। पापीको

नष्ट कर देता है। दुर्योधन, कंस, रावण, वाली इत्यादि सबके पाप ही उन्हें खा गये, सदाके लिये श्मशानमें जलकर वे राख हो गये और छोड़ गये अपने पापोंकी काली छाया! पाप अथवा दुराचार चाहे कैसा भी क्यों न हो, मनुष्यका सपरिवार नाश कर देता है।

पाप कभी-न-कभी, देर-सबेर अवश्य प्रकट होता है और सर्वनाशका कारण बनता है।

तुम्हारी ईमानदारी, सज्जनता, सचाई, निष्पक्षता आदिका बच्चोंपर, आनेवाली नयी पीढ़ीपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसे स्वयं माता-पिता होते हैं, वैसे ही उनके पुत्र-पुत्री आदि होते हैं। पापाचारके वातावरणमें पले हुए बच्चे स्वभावतः दुष्ट हो जाते हैं।

सद्गृहस्थीमें हमारे मनोविकार स्वच्छ होते रहते हैं, उनका विष दूर होता रहता है। बच्चों और धर्मपत्नीके सुखद सम्पर्कमें लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारोंका शोध होता है। इसलिये ईमानदारीका जीवन ही हर प्रकारसे वरणीय है, पूरे समाजका हित करनेवाला है।

अत्याचार, अन्याय, हिंसा, झूठ, कपट, व्यभिचार तुम्हारी आत्माके गुण नहीं हैं। इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियाँ तुम्हें गुलाम नहीं बना सकतीं।

तुम तो निर्विकार सत्-चित्-आनन्द आत्मा हो। पूर्ण शान्त आत्मा हो। स्वतन्त्र हो। स्वच्छ हो। न्यायकारी हो। मानसिक संतुलनसे पूर्ण हो। परमात्मा सर्वव्यापी और न्यायकारी है। आत्माके रूपमें वह तुम्हारे अंदर विराजमान है। विवेकको सर्वोपरि मानना, दिव्यशक्तियोंका विकास करना, मानवताको ऊँचा उठाना—इन सत्प्रवृत्तियों-में ही तुम्हारी महानता संनिहित है।

शरीर अनित्य है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

लोग पागल कहते हैं वैद्यराज चिन्तामणिजीको, यद्यपि सबको यह स्वीकार है कि उनके हाथमें यश है। नाडीज्ञानमें वे अद्वितीय हैं और उनके निदानमें भूल नहीं हुआ करती। वे जब चिकित्सा करते हैं, मरतेको जीवन दे देते हैं; किंतु अपने पागलपनसे उन्हें जब अवकाश मिले चिकित्सा करनेका।

इतना निपुण चिकित्सक—उसके हाथमें लोहेको सोना करनेवाली विद्या थी। वह अपना व्यवसाय किये जाता—लक्ष्मी पैर तोड़ उसके घरमें बैठनेको प्रस्तुत कब नहीं थी; किंतु पता नहीं कहाँसे एक जटाधारी भभूतिया साधु आ मरा इस बेचारे ब्राह्मणके यहाँ। इसे किसे पता क्या-क्या कह गया और पाँच-सात ताड़पत्र दे गया। उन ताड़पत्रोंपर क्या लिखा है, कोई कैसे बताये। वैद्यराज प्राणोंके साथ उन्हें चिपकाये फिरता है। घरकी जमा पूँजी भी इसने फूँक डाली। धुन चढ़ी थी इसे पारद-भस्म बनानेकी। ताँबेको सोना बनाना चाहता था। घर आता सोना छोड़कर स्वप्नके सोनेके पीछे इसने घर भी फूँक डाला।

सनकी है चिन्तामणि। उससे कोई पूछे, समझाये तो हँस देता है। सारे संसारको मूर्ख मान लिया है उसने। अब उसे अमर बननेकी सनक चढ़ी है। बहुत उमंगमें होगा तो अपने उन सड़े-गले ताड़पत्रोंका एकाध श्लोक बोल देगा।

अब यह चिड़ियोंके समान आकाशमें उड़ने और अमर बननेकी धुनमें है। ऋषि-मुनियोंकी बातोंपर हमें संदेह नहीं करना चाहिये; किंतु ये बातें ऋषियोंके योग्य हैं। इनका रहस्य वे ही जानते थे। ऐसी बातोंके पीछे पड़नेसे इस कलियुगमें कोई लाभ नहीं।

आज बारह वर्ष तो हो गये चिन्तामणिको। क्या

पाया उसने ? कितने माशे स्वर्ण बना सका ? अबतक अपने काममें लगा रहता तो सोनेका महल बना लेता। घरपर मोटर ही नहीं, हवाई जहाज खड़ा कर लेता और मनमाना उड़ता आकाशमें। रही अमर होनेकी बात, सो इस युगमें तो कोई अमर हुआ नहीं, होता नहीं।

अब बच्चे भूखके मारे पड़ोसियोंके घर चक्कर काटते हैं। पण्डितानीकी साड़ीमें पेबंद लगते हैं। लोग ब्राह्मण समझकर अन्न घर न पहुँचा दिया करें तो चूल्हेमें चूहे डंड करें और पण्डितजीको अपनी सनकसे अवकाश नहीं। आज नर्मदा-किनारे जानेको टिकट कटा रहे हैं और कल हरद्वार या कामरूपको। कर्ज ले-लेकर अब यात्राएँ करने लगे हैं। इतनी लंबी यात्रा करके, इतना कष्ट उठाकर जब लौटेंगे—शरीर सूखकर काँटा हुआ मिलेगा। लायेंगे कुछ घास-फूस और उनकी बातें सुनो उस समय लगेगा जैसे संसारका सारा खजाना लूट लाये हों।

'यह बाजारमें मिलनेवाला कृष्णवर्ण शूद्र पारद है।' पण्डितजीकी सनक अब उनके एक शिष्यपर भी चढ़ने लगी है, उसे भी वे चौपट करनेपर तुले हैं। उसे पारदमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण बताया करते हैं—'स्वर्ण बन सकता है पीतवर्ण वैश्य पारदसे। आकाशमें उड़नेकी शक्ति तथा अमरत्व प्रदान करनेमें उज्ज्वल क्षत्रिय पारद समर्थ है और यदि कहीं रक्तवर्ण विप्र पारद मिल जाय—मुक्तिका साधन ही मिल गया समझो।'

वैद्यराजकी कल्पनासे बाहर भी इन पारदोंका कोई अस्तित्व है, मुझे तो इसमें पूरा संदेह है। वैसे वे कहा करते हैं—'भगवान् दत्तात्रेयने रसेश्वर-सम्प्रदायका प्रवर्तन किया। सिद्ध रसका सेवन करनेसे अनामय, सुपुष्ट, अमर शरीर प्राप्त होता है और तब उस शरीरसे निर्विघ्न योगके साधन किये जा सकते हैं।'

यह सब उन ताड़पत्रोंमें नहीं लिखा हो सकता। इन बारह वर्षोंमें ये पण्डितजी यही सब संग्रह करते रहे हैं। पारदके सम्बन्धमें कहाँ क्या लिखा है, यह सब अब आप इनसे पूछ सकते हैं। यह बात दूसरी है कि उसमें कितना सत्य है और कितना ऐसे ही सनकी लोगोंका लिखा है, यह जाननेका कोई साधन अब किसीके पास नहीं है।

'हिंगुलोत्थ पारद भी केवल शुद्ध शूद्र पारद ही है। उससे सेवा ही सम्पन्न हो सकती है। रोगीके लिये औषध बननेसे अधिक उसका उपयोग नहीं है।' वैद्यराजकी सम्मति है कि—'यह शूद्र-युग है। इसमें शेष तीनों पारद लुप्त हो गये हैं। अब उन्हें भगवान् दत्तकी कृपाके बिना पाना असम्भव है।'

घरके लोगोंको चाहे जितना शोक हो, यह अनिवार्य था कि वैद्यराज भगवान् दत्तकी कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न करते। उन्होंने क्या मार्ग अपनाया कृपा प्राप्त करनेका, किसीको बता नहीं गये, केवल चले गये घरसे। इस बार अकस्मात् चले गये घरसे बिना किसीसे कुछ कहे और अब महीना बीत गया, उनका कोई समाचार नहीं है।

× × ×

गिरनारके शिखरोंकी चढ़ाई आज भी सुगम नहीं है। यद्यपि श्रद्धालु सम्पन्न जनोंने सीढ़ियाँ बना दी हैं, फिर भी दत्तशिखरतक पहुँचते-पहुँचते लगभग दस सहस्र सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। कौन हाँफ नहीं जायगा। उससे पर्याप्त आगे वह महाकाली-शिखर—दूरसे ही उसे प्रणाम कर लिया जा सकता है। कोई अत्यधिक साहस करे, तो भी उसे रात्रि गोरख-शिखरपर व्यतीत करनी चाहिये और प्रातः भगवान् दत्तात्रेयकी पादुकाका वन्दन करते आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रकार वह महाकालीकी गुफामें उनके श्रीचरणोंतक पहुँच सकता है।

महाकाली-शिखरतक कदाचित् ही कोई यात्री पहुँच पाता है। इससे अधिक एकान्त चाहिये तो फिर कहीं शेरकी माँद चुननी होगी। वैसे शेर तो आते हैं गिरनारके पदप्रान्ततक। यह महाकाली-गुफा तो उनके क्रीड़ाक्षेत्रमें है। सिंहवाहिनीके भवनमें सिंह न आवे तो आवेगा कहाँ।

आजकल एक वृद्ध आ बैठा है महाकाली-गुफामें। गौर वर्ण, तनिक दुहरा देह, जिसपर झुरियाँ पड़ी हैं, मस्तकके समस्त केश उज्ज्वल, बढ़ी हुई सफेद दाढ़ी-मूँछें; किंतु वह साधु नहीं है। उसके शरीरपर एक कुर्ता है मैला-सा और कटिमें मैली धोती है। सम्भवतः यात्राने उसके वस्त्र मैले कर दिये हैं और यहाँ उन्हें स्वच्छ करनेको साधन

कहाँसे पाये वह। उसके पास एक लोटा है, एक कम्बल है बिछानेको, एक चद्दर है—बहुत सीमित सामग्री है उसके साथ।

पासके स्रोतमें स्नान कर लेता है और लोटेके जलसे जगदम्बाकी मूर्तिको भी स्नान करा देता है। आप इसीको पूजा कहते हों तो कह लें; क्योंकि पूजाका और कोई उपकरण उसके पास नहीं है। आज सात दिन उसे यहाँ आये हो गये। ये सात दिन उसने केवल समीपके स्रोतके जलपर काटे हैं। अब चाहे तो भी शरीरमें इतनी शक्ति नहीं कि गिरनारकी चढ़ाई पार करके गोरख-शिखरतक भी पहुँच सके।

'वहाँ शेर आते हैं। संध्यासे पहले गोरखशिखर लौट आना!' सात दिन पूर्व जब वह जूनागढ़से चला था, उसका विचार जानकर एक स्थानीय सज्जनने उसे सावधान किया था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया था। लौट आने तो वह आया नहीं। सिंहवाहिनीकी शरणमें जो पड़ा है, उसे शेर कैसे खा जायगा? आज सातवीं रात्रि प्रारम्भ हुई है। पिछली छः रात्रियोंमें तो उसने शेरको देखा भी नहीं। वैसे वनमेंसे वनपशुकी दहाड़ आती है, इसमें अद्भुत क्या है?

आज उसे स्नान करनेमें कष्ट हुआ है। अब उठनेमें चक्कर आता है। चलते समय नेत्रोंके आगे अन्धकार छा जाता है। कदाचित् कल स्रोततक खिसककर जाना पड़े। अन्नमें प्राण हैं इस युगमें और सात दिनसे वह केवल जल पीकर रहा है।

'मा! जगज्जननी! यदि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो मुझे तुमने इधर क्यों आकृष्ट किया?' आज वह जगदम्बाकी मूर्तिके सम्मुख घुटने टेके बैठा है रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही—'अब मैं यहाँसे जानेवाला नहीं हूँ। मेरा शरीर यहीं छूटेगा। भगवान् दत्तको मैं कहाँ ढूँढूँ। तुम सर्वेश्वरी हो, सर्वशक्तिमयी हो और यहाँ गिरनारकी—दत्तके आश्रमकी अधिष्ठात्री होकर बैठी हो। मैं तुम्हें ब्रह्महत्या देकर मरूँगा! कपालिनी! इस ब्राह्मणका कपाल तुम्हारी मुण्डमालामें रहकर भी तुम्हें कोसता रहेगा!'

ब्राह्मण अपनी हठपर उतर आया था। उसका परम बल है अनशन और वह अनशन किये बैठा था जगद्धात्री जगदीश्वरीके द्वारपर—उस द्वारपर जहाँसे कोई कभी निराश नहीं लौटा। पागल ब्राह्मण—अरे, माँके यहाँ अनशनकी आवश्यकता? जहाँ सहज स्नेहसे माँसे कुछ भी माँग लिया जा सकता है, अपनी अश्रद्धासे आकुल अविश्वस्त ब्राह्मण वहाँ अनशन किये बैठा है।

'हैं!' मरण इतना सरल नहीं है। ब्राह्मण भयसे चौंक पड़ा। उसे लगा कि गुफामें शेर आ गया है और वह पीछेसे उसे सूँघ रहा है। उसने चौंककर पीछे देखा—कुत्ता, केवल एक कुत्ता था उसके समीप। सिरसे पैरतक काला, सुपुष्ट कुत्ता और वह अब भी पूँछ हिलाता ब्राह्मणको स्नेहपूर्वक सूँघे जा रहा था। जैसे वह प्रयत्न कर रहा था पहचाननेका कि यह व्यक्ति उसका कोई परिचित है या नहीं।

'कुत्ता! यहाँ! इस समय अर्धरात्रिमें!' ब्राह्मण उस तगड़े, सुन्दर काले कुत्तेको इस प्रकार देख रहा था। जैसे कोई अद्भुत प्राणी देख रहा हो—'कैसे आया यह? मुझे क्यों सूँघ रहा है? भोंकता क्यों नहीं?'

ब्राह्मणको अधिक सोचते रहनेका समय मिला नहीं। कुत्ता उसके कुर्तेका छोर मुखमें लेकर बार-बार खींचने लगा था। ब्राह्मणको लगा, वह कुछ कह रहा है। 'क्या चाहते हो तुम? कहाँ ले चलना चाहते हो मुझे? तुम्हारे साथ चलूँ?'

ब्राह्मण किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ। कुत्तेने कुर्ता छोड़ दिया और आगे-आगे चलने लगा। अब ब्राह्मणने उसका अनुगमन करना स्वीकार कर लिया था।

× × ×

'रससिद्धि सांसारिक विषयभोगमें लिप्त रहकर मानवको पशुप्राय बननेमें सहायक होनेके लिये नहीं है!' ज्योत्स्ना-स्नात स्वच्छ शिलापर जलस्रोतके समीप एक ज्योतिर्मयी मूर्ति आसीन थी। दो श्वान शिलासे नीचे बैठे थे। तीसरा भी ब्राह्मणको कुछ दूर छोड़ दौड़ आया था और उनके पास ही शान्त बैठ गया था। ब्राह्मणकी दृष्टि गयी उधर—धन्य हो गया जीवन। प्रणिपात करते वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। कुछ क्षण लगे आश्वस्त होकर उठनेमें।

उसके कण्ठसे स्वर नहीं निकल रहा था। प्रभुके संकेत-पर वह शिलाके समीप बद्धाञ्जलि बैठ गया था। प्रभु अपने मेघगम्भीर स्वरमें कह रहे थे—'अक्षीणवासन सत्पुरुष अपनी साधनासे सृष्टिमें सत्त्वगुणको सुरक्षा देते रहें, उनका संकल्प लोकमें मङ्गलका विस्तार करे, इसलिये मैंने रससिद्धिका प्राकट्य किया।'

'यह क्षुद्र आज्ञाका अनुवर्तन करेगा।' किसी प्रकार ब्राह्मण कह सका।

'आज्ञाके अनुवर्तनकी बात नहीं।' भगवान् दत्तात्रेय प्रशान्त बने थे। 'रससिद्धि किसीकी किसी कामनाकी पूर्तिका साधन नहीं। वह सृष्टिका निगूढ़ रहस्य है और केवल उन सिद्धसत्त्व अधिकारियोंके लिये है, जिनका 'अहं' सर्वात्माको अर्पित हो चुका है।'

'श्रीचरणोंके समीप आकर भी मैं अभागा ही रहूँगा।' ब्राह्मण क्रन्दन कर उठा।

'अच्छा, तुम देखो!' प्रभुकी अर्धोन्मीलित दृष्टि एक बार उठ गयी ब्राह्मणकी ओर।

'हे भगवन्!' कुछ क्षणमें चीत्कार कर उठा ब्राह्मण। वह क्या देख रहा है—उसकी स्त्री मर गयी, पुत्र वृद्ध हुए और मर गये। पौत्र मरणासन्न पड़ा है·····उसके कुलमें कोई नहीं रहा। कोई नहीं रहा उसके परिचितोंमें, सम्बन्धियोंमें। वह जिससे स्नेह करता है, वही मर जाता है। मृत्यु—मृत्यु! आज यह, कल वह, परसों तीसरा—वर्ष जैसे छोटे हो गये हैं। उसे रोना—केवल मरनेवालोंके लिये रोना रह गया है। क्यों जीता रहे, किसके लिये? अमरत्व—उसे अमरत्वका प्रसाद मिला है रुदन! चिल्ला उठा वह—'नहीं चाहिये ऐसा अमरत्व!'

'इस शरीरका धर्म है नष्ट होना। तुम जिन्हें अमर मानते हो, वे भी मरेंगे।' ब्राह्मण जब उस दृश्यसे उपरत होकर आश्वस्त हुआ, प्रभु कह रहे थे—'ब्रह्माको भी जब मरना है, तब उनकी सृष्टिके प्राणी अमर कैसे हो सकते हैं। आज जो रससिद्धिसे अमर हुए हैं, उनका अमरत्व कल्पपर्यन्त है। केवल ब्रह्माके एक दिन वे जी सकते हैं। मृत्यु शरीरका धर्म है।'

'मैं मूर्ख हो गया था।' ब्राह्मणमें अब कोई आग्रह रह नहीं गया था।

'तुम रससिद्धिका संकल्प लेकर आये, वह तुम्हें प्राप्त होगी।' भगवान्‌के अद्भुत भाव कौन समझे—'किंतु इस शरीरके शान्त होनेतक संतोष करो। इसके प्रारब्धको पूर्ण हो लेने दो। शरीर और उसके सुख-भोगकी वासनाएँ समाप्त कर लो पहिले इसी शरीरमें।'

× × ×

वैद्यराज चिन्तामणि दूसरे महीने घर लौट आये। उनके पुत्र और स्त्रीको ही उन्हें पहिचाननेमें प्रयत्न करना पड़ा। स्वर और आकृतिमात्र ही तो थी वह। सुन्दर सुपुष्ट शरीर एक तरुण आकर कहे कि 'मैं चिन्तामणि हूँ' तो कोई झटपट कैसे विश्वास कर ले। क्या हुआ जो उसके केश उज्ज्वल थे। बड़ा आश्चर्य हुआ लोगोंको।

'आपने रससिद्धि प्राप्त कर ली?' चिन्तामणिसे बार-बार पूछा गया यह प्रश्न; किंतु उन्होंने किसीको उत्तर नहीं दिया। हँसकर इसका उत्तर वे टाल दिया करते थे।

इस बार घर आते ही वे जुट गये अपने व्यवसायमें। सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। इनका पागलपन तो गया। एक वर्षमें ही उन्होंने कन्याका विवाह कर दिया। बड़े पुत्रको अपने व्यवसायमें लगा दिया।

'सती! शरीरका ठिकाना नहीं। मौत सिरपर खड़ी है। मन इन बाल-बच्चोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाओ तो अच्छा।' बार-बार वे स्त्रीको समझाते रहे हैं और ये बातें अब महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं, जब कि फिर वैद्यराज सहसा घरसे चले गये हैं। इस बार वे एक कागज छोड़ गये हैं। उसमें लिखा है—'शरीर अनित्य है। अब इसके लौटनेकी आशा नहीं करना चाहिये। प्रभुके भजनमें ही सबका मङ्गल है। तो वैद्यराजको भी रससिद्धि नहीं मिली? वे भी अमर नहीं हो सके?'

आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्राय: ऐसे समाचार देखने, पढ़ने एवं सुननेमें आया करते हैं कि अमुक व्यक्तिने अमुक कारणसे आत्महत्या कर ली अथवा अमुक व्यक्ति घर छोड़कर निकल भागा आदि-आदि। यहाँ इस लेखमें इस प्रकारकी चेष्टाओंके दुष्परिणामके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

बहुत-से स्त्री-पुरुष, बालक एवं बालिकाएँ आवेशमें आकर आत्महत्या कर लेते हैं—यह उनकी बिल्कुल नासमझी है। सभी योनियोंमें मनुष्य-योनिको ही श्रेष्ठ बताया गया है; यह बात शास्त्रसंगत, युक्तिसंगत एवं प्रत्यक्ष भी है ही। मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण सुखोंका उपभोग किया जा सकता है एवं सबको सुख पहुँचाया जा सकता है। और किसी प्राणीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सबको सुख पहुँचा सके; तथा इस प्रकारका सुख अन्य किसी योनिमें भी नहीं है। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि मनुष्य-जीवनके अतिरिक्त और किसी जीवनमें अपने आत्माका कल्याण भी नहीं हो सकता। और तो और, इस मनुष्य-शरीरको पानेके लिये देवतालोग भी तरसते हैं। जो लोग आत्महत्या करके ऐसे अमूल्य शरीरसे हाथ धो बैठते हैं, उनसे अधिक बेसमझ और कौन हो सकता है? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥

अर्थात् यह मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है, वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है—यह बात अच्छे-अच्छे ग्रन्थ कहते हैं।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी कहते हैं कि जीव जब चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तंग आ जाता है, तब उसके कष्टको देखकर भगवान् ही अपने परम दयालु स्वभावके कारण कृपा करके उसे मनुष्यका शरीर प्रदान करते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और दयासे जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। उत्तम देश, उत्तम समय, उत्तम जाति, उत्तम सङ्ग, उत्तम धर्म—ये सब ईश्वरकृपासे मनुष्य-शरीरमें ही मिलते हैं, जो हमलोगोंको प्राप्त है। इतना ही नहीं, परमदयालु ईश्वरने हमें बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा सभी अनुकूल पदार्थ प्रदान किये हैं; उन सबका ठीक-ठीक उपयोग करनेकी आवश्यकता है। इनका ठीक उपयोग करनेसे कल्याण एवं दुरुपयोग करनेसे अधोगति हो सकती है। उपर्युक्त समग्र साधनोंसे सम्पन्न होकर भी जिसने अपने आत्माका कल्याण नहीं किया अर्थात् इस लोक और परलोकको नहीं सुधारा, उसकी शास्त्र बड़ी निन्दा करते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

'ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो संसार-सागरसे पार नहीं होता, वह कृतघ्न है, मन्दमति है तथा आत्म-हत्या करनेवालेकी जो गति होती है, वही गति उसकी होती है।'

आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गतिके विषयमें शुक्ल-यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके, जिसको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, तीसरे मन्त्रमें कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई भी मनुष्य आत्महत्या करनेवाले होते हैं, वे नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन

भयंकर लोकोंको बारंबार प्राप्त होते हैं, जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं।'

आत्महत्यारोंके दो प्रकार होते हैं—एक तो वे आत्महत्यारे हैं, जो मनुष्यका शरीर पाकर अपने कर्तव्य-का पालन नहीं करते और दूसरे वे आत्महत्यारे हैं, जो इस मनुष्यशरीरको काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष और हठके कारण नष्ट कर देते हैं। दोनोंकी ही दुर्गति होती है। किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, प्राणोंका वियोग करना तो महान् मूर्खता ही है।

कोई-कोई विद्यार्थी हाईस्कूल अथवा कालेजकी किसी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जानेके कारण इस भय और लज्जाके कारण कि 'मैं परीक्षामें फेल हो गया, अब मैं किसीको भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहा, लोग मुझे क्या कहेंगे?' मूर्खताके कारण आत्महत्या कर लेते हैं। कोई-कोई व्यक्ति घरकी लड़ाई तथा अन्यान्य झंझटोंके कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं। इसी प्रकार दहेजकी प्रथा बढ़ जानेके कारण रुपयोंकी व्यवस्था न होनेसे बड़ी आयुतक विवाह न किये जानेपर लड़कियाँ अपने भविष्यका विचार न करके माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं। कई बहुएँ सासके ताने न सह सकनेके कारण ही आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष विष खाकर जलमें डूबकर या अग्निसे शरीरको जलाकर अथवा कोई-कोई ऊँचे स्थानसे कूदकर मर जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा, इसके फलस्वरूप मुझे सुख मिलेगा कि दुःख भोगना पड़ेगा इत्यादि। किसीके शरीरसे कोई दोष घट जाता है, तो वह उसके कारण ही आत्महत्या कर लेता है। वह यह सोचता है कि मैं बड़ा पापी हूँ, मेरा तो जीवन ही भ्रष्ट हो गया। किंतु वास्तवमें सोचा जाय तो यह सब उसकी मिथ्या कल्पना ही है। कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी क्यों न हो, उसके भी उद्धारका भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उपाय बताया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान कुछ भी नहीं है। (फलतः) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चय-पूर्वक जान ले कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

भगवान् कितना आश्वासन दे रहे हैं! अपने आत्माके कल्याणके लिये किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि उसका शरीर बना रहा तो साधन करनेपर एक दिन वह अपना उद्धार भी कर सकेगा। किंतु मनुष्य-शरीर खो देनेपर तो उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं रह जायगा, उसके लिये तो खतरा-ही-खतरा है; क्योंकि जबतक मनुष्य-शरीर उसे प्राप्त है, वह समय पाकर सब कुछ कर सकता है। भगवत्कृपासे धनहीन धनवान् और मूर्ख भी पण्डित हो सकता है; सब समय स्थिति एक-सी नहीं रहती। किंतु आत्महत्या कर लेनेपर तो सिवा दुःख भोगनेके जीव और कुछ नहीं कर सकता—यह बात निश्चित है। आत्महत्या करनेवाला यह समझता है कि आत्महत्या कर लेनेपर इन सब दुःखोंसे उसे छुटकारा मिल जायगा; किंतु बात सर्वथा ऐसी नहीं है। यह मनकी मूर्खतापूर्ण सूझ है; क्योंकि जीवित अवस्थामें जो दुःख है, उससे बहुत अधिक दुःख तो आत्महत्या करनेके समय होता है और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक दुःख आत्महत्या कर लेनेपर परलोकमें भोगना पड़ता है।

उदाहरणके लिये मान लीजिये किसीने आत्महत्या-का विचार करके अपनेपर किरासन तेल छिड़ककर आग लगा ली। किंतु जब उसका शरीर जलता है, उस समय उसे महान् पीड़ाका अनुभव होता है और वह भीतरसे

चाहता है कि मैं किसी प्रकार बच जाऊँ। किंतु वह प्रायः बच ही नहीं पाता और भयानक कष्ट पा-पाकर प्राण त्यागता है, उसके शरीरमें बहुत जलन होती है। यदि कोई बच जाता है तो वह भी बहुत ही कष्ट पाता है।

कोई आत्महत्याके लिये विषपान करता है। विषपान कर लेनेपर जब विष चढ़ता है, तब बहुत ही क्लेश होता है और मनुष्य तड़फड़ाता है, चिल्लाता है, जोर-जोरसे रोता है, घरवालोंको अपने द्वारा विषपान किये जानेका परिचय देता है। घरवाले डाक्टर-वैद्योंको बुलाकर विष निकालनेके विविध प्रयत्न करते हैं। जब किसी भी प्रकारसे विष शान्त नहीं होता, तब उसे सभी घरवालोंके सामने तड़फ-तड़फकर मरना पड़ता है। उस समयका दृश्य बहुत ही भयानक होता है।

इसी प्रकार कोई नदी, तालाब, कुएँ आदि जलाशयमें डूबकर मरता है। एक बार तो वह अपने निश्चयानुसार कूद पड़ता है; किंतु जब पानीमें दो-चार डुबकियाँ लगा लेता है और उसका गला घुटने लगता है, पानी पेटमें भर जाता है, तब उसे बड़ी यन्त्रणा होती है और यह इच्छा होती है कि मुझे कोई बचा ले। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर हाथ-पैर पीटता है और अपनी सामर्थ्यभर जलसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है, बचानेके लिये दूसरोंसे संकेत भी करता है। किसी-किसीको संयोगवश कोई निकाल भी लेते हैं। डाक्टरोंको बुलाया जाता है, वे पानी निकालते हैं, इंजेक्शन देते हैं, मालिश करते हैं। फलतः कोई-कोई जी भी जाता है, नहीं तो अधिकांश मृत्यु हो जाती है। जिसे कोई भी निकाल नहीं पाता, वह तो प्रायः मर ही जाता है। कैसे भी क्यों न हो, बिना मौतके असमयमें शरीर-त्याग करनेवालेको अत्यन्त कष्ट होता है—यह निश्चित तथा प्रत्यक्ष भी है ही। उपर्युक्त दृश्योंको देखकर घरवालोंको तो अपार दुःख होता ही है, दूसरे लोगोंको भी उनका वियोगजन्य दुःख देखकर महान् कष्ट होता है। कोई-कोई तो विवाहित एवं अधिक आयुके होनेपर भी किसी कारणवश आत्महत्या कर लेते हैं एवं अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चोंको सदाके लिये महान् संकटमें डाल जाते हैं। वे यह सोचनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं करते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर मेरे माता-पिता आदि तथा मेरे आश्रित स्त्री एवं नन्हे-नन्हे बच्चोंकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा, इनका कैसे भरण-पोषण होगा। यह तो इस लोकमें होनेवाले दुःखका वर्णन हुआ। परलोकमें तो उन्हें जो कष्ट एवं दुःख भोगना पड़ता है, वह अवर्णनीय है। हमारे प्रातःस्मरणीय त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने आत्महत्यारेकी बड़ी दुर्गति बतायी है।

असमयमें शरीर त्यागनेके कारण प्रथम तो आत्महत्यारेको कोई भी योनि नहीं मिलती, वह प्रेतयोनिमें भटकता रहता है। उसके बाद शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होता है और वह तदनन्तर रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमें गिराया जाता है। नरकोंकी विभिन्न घोर यातनाएँ उसे दी जाती हैं, जिनका वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें आता है। इस प्रकार असमयमें मरनेकी जो प्रवृत्ति है, वह आसुरी स्वभाव है। आसुरी स्वभाववालोंका वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक ४ से २१ तकमें किया है, उसे वहाँ देख सकते हैं। उन आसुरी स्वभाववालोंकी जो दुर्गति होती है, वही असमयमें प्राण त्यागनेवालेकी होती है। आसुरी स्वभाववालोंकी दुर्गतिका वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक १६ में किया है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फँसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

आगे इसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

'हे अर्जुन! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए

वे मूढ़ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर उससे भी अतिनीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं।'

इसी आशयका जगह-जगह पुराणोंमें भी वर्णन आता है। शास्त्रोंकी इन सब बातोंपर विश्वास करके इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, भय, अज्ञान, राग-द्वेष आदिके कारण संकटमें नहीं डालना चाहिये।

कितने ही भाई घरके क्लेशके कारण कष्टका अनुभव होनेपर लज्जा, भय और क्रोधके वशीभूत हो घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। दूरदर्शी न होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं; किंतु बाहर निकलनेपर जब सोने, खाने-पीने आदिका महान् कष्ट अनुभव करते हैं, तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हैं। उनके मनमें घर लौट जानेकी बात भी आती है; किंतु इस लज्जाके कारण वे नहीं जा पाते कि लोग उन्हें क्या कहेंगे। इस प्रकार भ्रमित-चित्त हुए त्रिशङ्कुकी-सी मनःस्थितिको लेकर या तो वे किसी वेषधारी दम्भी साधुके फेरमें पड़ जाते हैं या भटकते फिरते हैं। वे सदा चिन्तित रहते हैं एवं भयानक संकटमें पड़ जाते हैं। उनकी प्रत्यक्ष दुर्दशा होती है और उनके वियोगमें उनके घरवाले भी दुखी होते हैं। अतः घर छोड़कर निकल भागना भी महान् मूर्खताका ही द्योतक है। यह भी काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण ही होता है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक २१ में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

प्रभु-प्रार्थना

(लेखक—श्रीहरिशंकरजी शर्मा)

तुम्हीं माता-पिता, तुम्हीं बन्धु-सखा, तुम ही बल-वित्त हमारे प्रभो!
तुम्हीं ज्ञानकी खान, प्रधान-महान्, तुम्हीं रखवारे-सहारे प्रभो!
बल-बुद्धि प्रदान करो हमको, दुखी-दीनोंके दुःख-दरिद्र हरें,
सत्कर्मके पालनमें रत हों, प्रिय धर्मके हेतु ही जीएँ-मरें!

सब शुद्ध, प्रबुद्ध, समृद्ध रहें, जन-जीवनमें वह भाव भरो;
अघहीन, अदीन, प्रवीण बनें, सुखी, स्वस्थ, शतायु-चिरायु करो,
विपदाएँ पड़ें, बड़े विघ्न पड़ें, मुँह सत्यसे नाथ! न मोड़ें कभी;
मर जाएँ अभी, या जिएँ जुग सौ; पर धर्म-सुकर्म न छोड़ें कभी।

सत ज्ञान सुकर्म समन्वित हो, सत साधन संचित ही धन हो,
सुख-शान्तिका स्रोत सभी के लिये शुचि सत्य-अहिंसा का जीवन हो।
निजता-परता भ्रम-भाव मिटे, सन्मित्र समान चरें-विचरें,
सदाचार का सम्पति साथ रहे, तप-त्याग करें, ध्रुव धर्म धरें।

पशुता का प्रदर्शन हो न कभी, निज नाश निमित्त न युद्ध ठनें;
ऋजु रीति-सुनीति, प्रतीति बढ़े; यह विश्व विशाल कुटुम्ब बने।
जग में समता सुख-स्नेह भरें, जग भो हो सदा सुखकारी हमें,
पर-द्रव्यमें लोभ या मोह न हो, प्रिय माता-सी हो परनारी हमें।

अपवर्ग या स्वर्ग से भी बढ़ के हो स्वदेश सदा हितकारी हमें,
जिस भूमि ने जीवन-जन्म दिया, जननी वह प्राणों से प्यारी हमें।
कर पालन-पोषण पुष्ट किया, उसका नित गौरव-गान करें;
धन-धाम तो क्या, चरणों में प्रभो! हँसते हुए प्राण प्रदान करें।

मानस-माधुरी

[तुलसी-कलाकी एक झलक]

(लेखक--पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

सामन्ती व्यवस्थाका पूर्ण प्रस्फुटित काल था, अकबरका; पर हिंदू-शास्त्रके अनुसार राजा होता था प्रजाका प्रतिनिधि और प्रजाके सुख-दुःख उसके अपने थे। उस कालमें गोस्वामी तुलसीदास लोक-हृदयको दिशा देनेवाले कविके रूपमें अवतरित हुए। उन्होंने मानवीयताकी ऐसी पकड़ बतायी कि मद, मोह, लोभ, अहंकार, घृणा, क्रोध तथा तिरस्कारके भाव महामहिमशाली चक्रवर्ती महिपालोंतकके पास न फटकने पायें और वे न केवल अपनी प्रजाके हितू रहें वरं उनके अपने सगे बन जायँ। गोस्वामीजीके काव्यमें इन वृत्तियोंकी विशिष्ट छटा देखनेको मिलती है, सुख-दुःखमें जहाँ दोनों वर्गोंका दुईभाव इकाईमें बदल जाता है। अपने विषयके लिये हम केवल तुलसीका रामचरितमानस चुनते हैं और उसमें भी अयोध्याकाण्ड।

राजाका प्रथम धर्म है—लोक-हृदयकी लीलाओंकी परख और तब उन लीलाओंको शील, सौजन्य और कला प्रदान करना। पहले लोक-हृदयको संवेदनशील बनाना और तब उस हृदयपर प्रतिष्ठित होना। शासनसूत्रका वास्तविक रूप तो यही है। दूसरा धर्म है अपनी प्रजाके छोटे-बड़े, ऊँच-नीच—सबको पहिचानना और उनके बीच शुद्ध-बुद्ध-सुहृद् आचरण-द्वारा अपनी इकाई स्थापित करना। तीसरा धर्म है—अपने राज्यान्तर्गत वन, पर्वत, नदी, नालों, क्षेत्रों तथा विहारोंको जानना। चौथा धर्म है अपने घरके भीतरका प्रेमाचरण कि घरेलू वातावरणमें उनकी छाप ऐसे छाकर रह जाय कि उनका संयोग ही शुभ प्रतीत हो और वियोग अतीव कष्टकर और अनिष्टकर। इतना ही नहीं, उनके पाले हुए पशु-पक्षी जीव-जन्तु भी उनपर प्राण निछावर करने लगें। पाँचवाँ और मुख्य धर्म है—समग्र वातावरणका परिष्कार कि खल स्वयं उनसे दूर भागें, कुटिलाईका परित्याग कर दें और उनकी रीति-नीतिसे न केवल मानववर्ग अपितु देवगण भी प्रसन्न होने लगें। उनके सदाचरणकी छाप पड़ने लगे जड और चेतनतकपर और सब ओर स्वतः ही शान्ति और सुखका प्रसार होने लग जाय। समस्त लोक (केवल अपना लोक ही नहीं) उनका ऐसा हितू हो जाय कि पग-पगपर उनके कार्योंको अनुमोदन मिलने लगे सब ओरसे। तात्पर्य यह कि राजामें नर और नारायणके गुण समा जायँ और उसके अपने सत्य, शील, शौर्य तथा शक्तिके गुण प्रजावर्गमें अवतरित और वितरित हों।

प्रजा हो उसकी समग्र चेतन लोक और चेतन-लोकमें गणना हो सागर-सरिताकी, वन-उपवनोंकी, स्रोत-निर्झरोंकी, हिमखण्डों तथा शिलाखण्डोंकी और लता-गुल्म, तड़ाग एवं वारिधिमालाकी। वसन्त त्रिविध समीर लिये, मेघमाला शीतल छाँह लिये और वृक्षदल फल-फूल लिये सेवामें निरत रहें और संकेतमात्रपर अष्ट सिद्धियाँ और नव निधियाँ प्रस्तुत हो जायँ। राजाका अभिषेक तब हो, जब एक तो प्रजा-मानस-में उसने अपना स्थान बना लिया हो और दूसरा पर्यटन और परिवीक्षणद्वारा जान-पहचानकर उसने अपने राज्यकी परिधि बाँध ली हो। तीसरी बात यह कि धरणीका भार उतार देनेके प्रयास उसने किये हों असंतोंके मूलोच्छेदनद्वारा। अपनी मान्यताएँ गोस्वामीजी रामके विषयमें हनूमान्‌के मुखसे यों कहलाते हैं—

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

भक्तको अपने देवताके दर्शन हों देशके राजाके रूपमें, भाईके रूपमें, पिता-पुत्र-मित्रके रूपमें, वन-वाटिकाके रूपमें, पशु-पक्षियों और कोल-भील-किरातोंके रूपमें। इस प्रकारसे लोककी सारी व्यवस्था स्नेह और आनन्द, शौर्य और उत्साह, मङ्गल और कल्याणकी रेशमी डोरियोंसे सध-बँध जाय।

तुलसीके चरित्र-चित्रण तथा घटनाओंके निर्माणमें सांकेतिक भाषाका प्रचुर प्रयोग रहता है। हर बात कहनेके लिये थोड़ी भूमिकाका प्रश्रय आवश्यक है। देश-काल, रीति-नीतिका विचार भी आवश्यक है। प्रसन्नताकी मुद्रामें कठिन कार्य भी सुगम प्रतीत होगा। मनुष्य अपने चारों ओर विचारों और आचरणोंका वातावरण बनाता चलता है। हर समय उसके दो संसार बनते रहते हैं—आन्तरिक अथवा मानसिक (भीतरी विचारोंवाला) तथा बाह्य (जिसमें इन्द्रियोंसमेत वह विचरण और आचरण करता है)। यदि दोनों संसारोंमें साम्य है, सुषमा है, समृद्धि है, तब किये कार्य सब सिद्ध होते हैं। केवल थोड़ी बुद्धि लगानी आवश्यक है। महाराज दशरथ गुरु वसिष्ठके पास जाते हैं रामके युवराज बना देनेकी बात कहनेपर 'सुदिन' और 'सुअवसरु' देखकर और 'मुदित मन' होकर। दशरथ भूमिका बाँधते हैं—

'भए राम सब बिधि सब लायक'

तथा—

सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमारे अरि मित्र उदासी॥
सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही।

अभी अपने विषयतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि चतुर और ज्ञानी वसिष्ठजी महाराज कहते हैं—

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार॥

अर्थात् हे राजन्! आपने तो स्वयं ही समय विचार कर बात कही है, पूरी होगी ही। गुप्त संकेत राजाके देखिये।

मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥

अर्थात् मेरे जीवनकालमें ही यह कार्य हो जाय। (जैसे भावी राजाके मुखमें बैठी बोल रही हो कि रामको राजा करते ही दशरथ शरीर त्याग देंगे) 'लोग सब'में दूसरा संकेत निहित है 'समग्र प्रजावर्ग'का। 'लोग'का अर्थ है—चेतन समाज, जिसका संकेत ऊपर आ चुका है। अर्थात् संत-महात्मा, कोल-भील, जंगली जीव तथा वनवासी जनता और ग्रामीण समाज आदि। गुरुजी फिर कहते हैं—

सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥

अर्थात् जब यह भाव मनमें उदित हो कि राम राजा हों, तभी सुमङ्गल है। हमारे बिचारमें राज्याभिषेक रामका तभी हो गया, जब राजा दशरथको यह आभास मिला कि राम 'अरि, मित्र, उदासी'—सबके प्रिय हो गये। अनुमोदन उस वृत्तिका मिला गुरुके वचनोंद्वारा। यह है आन्तरिक राजतिलक। इसकी व्याख्या आगे की जायगी।

अब देखिये कि उत्साह और आनन्दके आवेशमें भी राजा लोकधर्म नहीं भूलते और प्रत्येक मुख्य कर्म करनेके पूर्व जनताकी अभिरुचि जाननेके लिये उत्सुक रहते हैं। वे कहते हैं कि गुरुकी आज्ञा तो हो चुकी। पर—

जौ पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥

चतुर मन्त्री सबका प्रतिनिधि बनकर बोलता है—

'जग मंगल भल काजु बिचारा।'

राम तो भूतमात्रके प्यारे हैं, तब समस्त संसारका कल्याण होगा। यह बात तो सत्य है कि 'सत्यसंध' राजा दशरथ और उनके परम आज्ञाकारी पुत्र राम, और क्षत्रियोचित रीतिके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है। पर रामराज्यकी तो नीति ही निराली है—प्रेम, विश्वास, आत्मतोष और लोकहितवाली। रामका तो आदर्श ही लोकरञ्जन और लोकरक्षण था। केवल राजतिलक होनेसे कोई राजा नहीं होता। राम तो तभी मानवीय भावनाओंके राजा हो चुके, जब राजा दशरथने उन्हें परख लिया और उनको राजा बना देनेका संकल्प कर लिया। राज्य पाकर ही राम १४ वर्ष-पर्यन्त वनोंमें, मुनियोंमें, भारतके ग्रामोंमें, कोल-भीलों और हिंसक जन्तुओंके बीच विचरे हैं। यदि वे अरण्यमें न जाते तो कैसे जान पाते कि वहाँ नारियोंका अपहरण हो जाता है, कन्द-मूल-फलपर जीवननिर्वाह हो जाता है और पर्णकुटियोंमें रहना होता है तथा कुशाकी चटाइयोंपर सोना पड़ता है। बिना वनमें गये वे महादानव रावण और कुम्भकर्णका कैसे विनाश कर पाते और उनको सागर सुखा सकनेवाले अपने बलकी परीक्षाके अवसर कहाँ मिल पाते। यदि वनवासकी लीलाएँ न होतीं तो लोक कैसे जान पाता कि ऐसे भक्तवत्सल राजाके परम भक्त हनुमान्‌में कितना अपरिमेय बल और बुद्धि-कौशल था और वे सीता-रामके कहाँतक अन्तरङ्ग थे। नीति और सदाचरणके दृष्टान्त कहाँ देखनेको मिलते?

अपना विश्वास कि राम राजा होकर वन गये, हम आगे प्रतिपादित करेंगे। यहाँ समझ लेनेकी बात इतनी है कि जहाँ अंगरेज कवि शेक्सपियरकी कलाकी इतनी विरुदावली गायी जाती है कि वह एक महान् नाटककार था और वाक्-वैचित्र्यमें पटु था, वहाँ तुलसीके केवल एक ग्रन्थ रामचरितमानसकी कला तो देख ली जाय। कथामें नर-नारायणका निरन्तर समन्वय चलता है, निर्गुण और सगुण उपासनाकी धारा बहती है, भक्ति और नामकी व्याख्या चलती है और रूपक तो रचा जाता है नर-चरित्रका कि राम सीताके लिये वनमें विलाप करते दिखायी देते हैं, हनुमान्‌द्वारा संदेश भेजते हैं और एक रजकके छोटे-से तानेपर जगदम्बा सीताका परित्याग कर देते हैं; पर नरेतर गुण उनमें समय-समयपर स्पष्ट झलक मारते हैं। देवताओंकी बात पूरी करना उनका देवोचित ध्येय है और नर-चरित्रके द्वारा उसे सम्भव कर दिखाना कलाकारकी कला-चातुरी है। आरम्भसे दोहरा नाटक चला देना और अन्ततक उसे निभा देना सामान्य खेल नहीं है कि यह रहस्य भाई लक्ष्मण भी न जान पायें और शिव और हनुमान्‌को भी धोखा हो जाय कि पृथ्वीपर राम अवतरित हो गये। पूर्ण-लिप्त रहते हुए, रामके सम्पूर्ण चरित्र दर्शाते हुए, चाहे जब गोस्वामीजी हाथ झाड़कर अलग खड़े होकर स्वयं लीला देखने लगते हैं और संकेत देते हैं कि यह कथा तो शंकर-भगवान् पार्वतीजीको सुना रहे हैं (मैं जनताको नहीं सुना रहा)। उधर यह भी दिखा देते हैं कि कथा कहते-कहते शंकरजी पुलकायमान हो जाते हैं। इस प्रकारसे 'रामचरितमानस' कितनी सचेष्ट कृति है।

अब संकेत देखिये कि भवानी और शंकर वास्तवमें कौन हैं। वे हैं श्रद्धा और विश्वासके रूप—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

भगवान् रामचन्द्र क्या हैं? वे हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

सीता क्या हैं ? वे हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

राम वे हैं कि जिनके विशद चरित्र शास्त्र और पुराणोंमें वर्णित हैं और जिनका खेदरहित (संशयरहित) होकर चारों वेदोंने वर्णन किया है। महेशको बताया गया है—'सेवक, स्वामि, सखा सिय पीके'। तुलसीदासजी कहते हैं—

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौ हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥'

कौसिल्या कौन हैं ? वे हैं 'दिशिप्राची'। दशरथ कौन हैं ? वे हैं—

'...अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥'

जनकको श्रीरामके चरणोंमें 'गूढ़ सनेहु' था, पर वह स्नेह—

'राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ।'

नामके विषयमें कहा गया है—

'नाम रूप दुइ ईस उपाधो ।'

और—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

पर यह भी कहते हैं—

सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेखें॥

इस भाँतिसे 'अगुन' और 'सगुन' का भेदभाव मिटाकर कह दिया—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

अन्तमें गोस्वामीजी बता देते हैं—

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार ।

राम-नामका स्मरण हितकर बताकर उसे भाँति-भाँतिके रूप-बोधोंसे समझाते हैं और उसका प्रभाव भी बताते हैं। कहते हैं कि राम-नाम—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

'सहस नाम सम'

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

उपर्युक्त दोनों वर्ण 'रा' और 'म' हैं। 'राम-लखन सम'—

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥

'नर नारायन सरिस सुभ्राता'

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥

'कंज मधुकर से'—

'जीहि जसोमति हरि हलधर से'

एकु छत्रु एकु मुकुट मनि सब बरननि पर जोउ ।

और—

'समुझत सरिस नाम अरु नामी ।'

कथाका क्रम ऐसे चलता है कि त्रेता युगमें एक बार शंकरजी कुम्भज ऋषिके पास गये और उनके प्रश्न करनेपर उन्हें शंकरजीने राम-कथा सुनायी। जब शिवजी दक्षकुमारीके साथ वहाँसे लौटे, तब उन्होंने देखा कि गुप्तरूपसे रामावतार हो गया है, किसलिये—

रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥

और शिवजीने ज्ञानद्वारा जान लिया कि रावणने वैदेहीका हरण किया है और —

बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥
कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें॥

अब स्पष्ट कर देते हैं—

सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥

क्योंकि—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥

शिवजी उमासे कहते हैं—

हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु ॥

वह कथा यह है कि जय और विजय नामक दो द्वारपाल भगवान्‌के थे। वे ब्राह्मणोंके शापसे राक्षस हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए और पहलेको भगवान्‌ने नृसिंहरूप धरकर और दूसरेको शूकररूप धरकर मारा। वे ही दोनों दानव महाबली और सुरविजयी रावण और कुम्भकर्ण हुए। उनके कारण एक बार भगवान्‌ने शरीर धारण किया। जो पूर्वमें कश्यप और अदिति थे, वे ही दशरथ और कौसिल्या हुए। फिर बली दैत्य जलंधर उत्पन्न हुआ, जिसकी स्त्रीके पातिव्रत्यके कारण शिवजी भी उससे हार मान गये। तब भगवान्‌ने—

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥

वही जलन्धर रावण हुआ। रामने मारकर उसे परमपद दिया। एक कल्पमें नारदके शापवश भगवान्‌को अवतार

लेना पड़ा। फिर स्वायम्भुव मनु और शतरूपाके लिये सुतरूप धारण करना पड़ा। पर चतुर रानी शतरूपाने 'सुतविषयक रति' माँगी थी। वह सब भगवान्‌ने दे दिया और कह गये कि—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

और—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥

एक अवतारका कारण राजा प्रतापभानुकी कथा है, जो ब्रह्मशापसे दस शीश और बीस भुजावाला रावण हुआ, विमाताका पुत्र विभीषण और छोटा भाई कुम्भकर्ण हुआ। उन्हींके चरित्रोंका वर्णन श्रीतुलसीदासने रामचरितमानसमें किया है।

इतनेसे ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तुलसीकी रचना कितनी कलात्मक, रहस्यात्मक और जटिल है। उन्हें भगवान् रामको नरचरित्रमें प्रदर्शित करना था; पर यह जानते हुए कि अंशोंसहित वे अवतरित हुए हैं और जिस-जिसको जो वरदान दे चुके हैं, वे उन्हें उसी रूपमें पूरे करने हैं। रहस्य तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, इतना गूढ़ है कि पार्वतीने चक्कर खाया, निरन्तर वनमें साथ रहते हुए लक्ष्मणने पता न पाया, राजा दशरथको पिता होते हुए भी पूरा ज्ञान न हो पाया और अतीव निकटके दास हनुमान् तकको भ्रम हुआ। इतना सब प्रबन्ध रामायणमें तुलसीने बाँधा है और नवधा भक्ति, वेद-शास्त्रकी रीति-नीति, निर्गुण-सगुणके मर्मकी व्याख्या और माया-जीवका सम्बन्ध-वैचित्र्य और प्रसार—सब दर्शाया है। एक मानसिक परिष्कारकी नीति चलती है कि पाठककी मनोवृत्तिका सुधार होता जाय, उसमें रसदशा उत्पन्न हो और व्यवहारकौशल और ज्ञान प्राप्त हो और दूसरा ऊपरी तौरपर कथानक चलता है कि जिसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकारके काव्योंका आनन्द प्राप्त होता रहे। यह काव्यकी पद्धति कितनी ऊँची और सौम्य है! विचार करनेकी बात है कि इसके आगे शेक्सपियर आदिकी कृतियाँ कितनी पिछड़ जाती हैं। भरतकी भक्ति-भावना अलगसे अपना एक आदर्श उपस्थित करती चलती है।

अब उस बातपर आते हैं कि कैसे जाना जाय कि वन जानेके पूर्व ही राम राजा हो गये थे। इसके अनेक स्थलोंपर अनेक प्रकारसे संकेत मिलते हैं। अयोध्यापुरीकी प्रजा तो रामजन्मसे ही रामपर न्योछावर थी। हम जन्मवाली बात ही पहले लेते हैं। जन्म होता है और राम रोते हैं—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँद मगन सकल पुरबासी॥
एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥
एहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥
कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

और—

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद॥

राजा होनेवाली बातके सम्बन्धमें राम स्वयं कौसल्या मातासे कहते हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

एक ओर कौसल्या रामसे कहती हैं—

तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

और दूसरी ओर राम लक्ष्मणसे राजाओं-जैसे अधिकारसे कहते हैं—

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइहि सब बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥

और—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

फिर आगे प्रसङ्ग आता है—

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

और—

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी॥

मन्त्री रामसे वनमें कहते हैं—

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥

उधर वनमें वनवासी कोल-किरात रामसे कहते हैं—

अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारें आगमनु राउर कोसलराय॥

तुलसीदासजीसे स्वयं कहे बिना नहीं रहा गया और उनको भी रामकी राजासे ही उपमा देते बनी। कहते हैं—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥
जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

—इत्यादि। राजाकी रीति-नीति तो कार्योंके करने और कर्त्तव्योंके निबाहनेमें ही परखी जाती है। राम किस समय किससे क्या कहते हैं और किस प्रकार आचरण करते हैं, समझनेकी बातें हैं। राम बन जानेको उद्यत हैं, उस समय

पहले तो सीताके तन-मनकी दशा देखिये । जब उनका राज्याभिषेक होता है, तब दोनोंकी क्या दशा होती है—

सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥
राम सीय तनु सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥

और फिर प्रजाके मनके उद्गार सुनिये—

सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहु ओर निबाहू॥
अस अभिलाषु नगर सब काहू।

दशरथके मनमें रामका क्या स्थान है—

तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥
सुभग बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥

राम सहजभावसे कैकेयीसे कहते हैं—

मन मुसकाइ भानु कुल भानू। राम सहज आनंद निधानू॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

तथा—

मुनि गन मिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

कैकेयी स्वयं रामके लिये कहती हैं—

तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत रहहू॥

रामको कैकेयीके वचन कैसे लगे—

रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाए॥

राम दशरथजीसे कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ, कहि पुलके प्रभु गात॥

समयानुसार थोड़ी-सी बात कहकर राम यहाँकी व्यवस्था समाप्तकर चल दिये और उनकी दशा देखिये—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥

वे कौसल्यासे कहते हैं—

आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंबु अनुग्रह तोरें॥

माताके इशारेपर राम सीताको नीति सिखाते हैं—

राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥

तथा—

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

रामके लिये प्रजाके मनमें क्या स्थान है? इसका अनुमान निम्नाङ्कित पदोंसे लगाइये—

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥
मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ॥

और—

खरभरु नगर सोचु सबु काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥

तथा—

एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी॥
जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा। कवनि रामु बिनु जीवन आसा॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचर गन सूखत पानी॥

माता कौसल्या संकेत करती हैं—

जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥

तथा—

पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥

इतनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोसलपुरवासी राजा रामकी पूर्णरूपेण प्रजा हो चुके थे और राम सबके तन, मन, धन, धाम, शील, विवेक और हृदयके अधिकारी, अधिष्ठाता और राजा हो चुके थे। राजतिलक सारना तो केवल एक प्रथामात्र थी जो शेष रह गयी थी। जब राम वन जाने लगे, तब गुरु वसिष्ठके द्वारपर जा और विप्रोंको बुला पहले उनको परितोषा, फिर याचकोंको दान दिया और सखावृन्दोंको अखिल प्रीति (भक्ति) प्रदान की। दास-दासियोंको गुरुको सौंपा और पुरजनोंको आदेश दिया कि माताओंकी सम्हाल रखें। तब राम गणेश, पार्वती और शंकरकी वन्दना करके चल दिये। पर धीरे-धीरे प्रजा तो उनके साथ हो ली। रामको तब मायाका प्रश्रय लेना पड़ा? एक राजाकी भाँति ही राम मन्त्रीको क्या अनुशासन दे चुके हैं। मन्त्रीके ही मुखसे सुनिये—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राज पद पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

लगता तो यह है कि कोई राजा आज्ञाएँ दे रहा है, एक ऐसे एवजी करनेवालेको जिसे राज्यमद तुरंत हो जायगा और जिसे राजाकी नीतियोंका ज्ञान ही नहीं है। रामने क्या किया था—

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

इस प्रकारसे राम केवल अयोध्याके ही राजा नहीं थे। वे समस्त भारत-भूमिके राजा थे। वह बँधकर केवल राज-

धानी अयोध्यामें ही कैसे रह सकते थे। उन्हें तो वाली-सुग्रीवका निबटारा करना था, रावण-विभीषणका न्याय करना था, अंगदको सखा और दास बनाना था, शबरी, गीध और अहल्या तथा निषादराजका कल्याण करना था। मुनियों और ग्रामवासियोंको अपने दर्शन और भक्ति देनी थी। इसीका तो संकेत है—

'नव गयंदु रघुबीर मन राज अलान समान।'

भरतजी सेना, प्रजा, गुरु, महर्षियों तथा माताओंको लेकर उस एकछत्र राजाका तिलक सारने चले थे, यह जानते हुए कि 'राजा राम अवध रजधानी'। रामके तर्क और राजनीतिका फिर पूर्ण प्रस्फुटन और परिपाक चित्रकूटमें हुआ है, जब सकल समाजसहित भरत उनसे मिले हैं और उन्होंने अपने श्वशुर जनकजीका स्वागत-सत्कार किया है तथा उपदेश और प्रवचनोंद्वारा उन्हें मन्त्र-मुग्ध किया है। ये सब कैसी अनोखी और कलात्मक बातें हैं। स्थानाभावके कारण लेखका कलेवर नहीं बढ़ाना चाहिये; नहीं तो श्रीरामके सुन्दर चरित्र-की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र)

सप्रेम राम-राम। आपका पत्र मिला। आपने अपने योग्य खास-खास बातें लिखवाकर भिजवानेके लिये लिखा सो ठीक है। नीचे खास-खास बातें लिखी जाती हैं। यदि हो सके तो उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१—भगवान्‌के नामका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभाव और गुप्तरूपसे मनसे स्मरण करना चाहिये। यदि मनसे स्मरण न हो सके तो श्वासद्वारा या वाणीद्वारा करना चाहिये।

२—भगवान्‌के सगुण और निर्गुण अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान विश्वास और प्रेमपूर्वक करना चाहिये। स्वरूपका ध्यान करते समय उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य रहना चाहिये।

३—मनसे भगवान्‌के समर्पण होकर वे करायें, वैसे ही हँसते-हँसते करना और उनके प्रेममें मग्न हो जाना चाहिये। जब यह स्थिति हो जाती है, तब परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

४—महापुरुषोंका सङ्ग श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये। श्रद्धाकी कसौटी यह है कि उनकी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक बाजीगरके बंदरकी भाँति नाचा जाय। इससे भी बढ़कर बात यह है कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति उनके संकेतानुसार चला जाय। उससे भी बढ़कर यह है कि हम सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह उनके संकेतपर नाचते रहें। आनन्द और उत्साह साथमें रहना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका सङ्ग करना। सत्सङ्गके अभावमें गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंका या महापुरुषों-के लेख-पत्रादिको पढ़ना तथा उनका अर्थ और भाव समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना।

६—ज्ञान, आचरण, पद, गुण और अवस्थामें या और भी किसी प्रकारसे जो श्रेष्ठ हों, उनके चरणोंमें प्रतिदिन नमस्कार करना तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी यथायोग्य सेवा करना।

७—दुखी, अनाथ और आपत्तिग्रस्त लोगोंके दुःख-निवारणके लिये यथाशक्ति तन, मन, धन और जनसे उनका हित करना।

८—संसार और शरीरको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर अभ्यास और वैराग्यद्वारा मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना।

जबतक शरीर है, तबतक ऊपर लिखी हुई बातोंको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्। शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

'भगवान् श्रीहरिके नामकीर्तनसे शारीरिक-मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है, स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मसम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित, अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणीके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। खेद है कि कुछ विशेष कारणोंसे गतवर्षमें हुए नाम-जपकी संख्याका हिसाब अभीतक तैयार नहीं हो पाया है। इसके लिये हम कृपालु जपकर्ताओंसे हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हैं। जपकी संख्या तथा स्थानोंकी नामावली 'कल्याण' के अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१—यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२—इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ सं० २०१४ (७ नवम्बर १९५७) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१५ (४ अप्रैल १९५८) तक रहेगा। जप इस अवधिके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१५ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत ही उत्तम है।

३—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४—एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए–सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्री पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता–'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**

सम्पादक 'कल्याण', गोरखपुर

नोट—इस सम्बन्धमें पत्र-व्यवहार करते समय कृपया अपनी सदस्य-संख्या अवश्य लिखें।

॥ श्रीहरिः ॥

दीपावलीके शुभ अवसरपर अपने-अपने घरोंको सुसज्जित कीजिये

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे—१-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २-श्रीव्रजराज, ३-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४-श्रीराम-दरबार, ५-भुवनमोहन राम, ६-भगवान् शंकर, ७-भगवान् नारायण, ८-श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

साइज १५×२० नं० २, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३॥।), दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६॥।=), तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०॥।)।

साइज १०×७॥ नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥।=)

इसमें १०×७॥ साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छबि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका बन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ॥।=)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम।

बहुरंगे—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पकविमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्‌जी, १७-लक्ष्मीनारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७॥ नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।॥=)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूपमाधुरी, ३-त्रिभुवनमोहन राम, ४-दूल्हा राम, ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीराम-चतुष्टय, ९-भगवान् बालकृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बरधर शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजके—एक चित्रावलीका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २≡),दो चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्चसहित ३॥=) एवं तीन चित्रावलियोंका पैकिंग और डाकखर्च-सहित ५=)।

विशेष सूचना—१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ तथा १०×७॥ की तीनों—कुल छः प्रतियाँ एक साथ लेनेपर उनके दाम १२≡), बाद कमीशन ॥।), बाकी ११।≡), पैकिंग-डाकखर्च २॥।≡), कुल १४।=) भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस (चित्रावली-विक्रय-विभाग), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५८ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया जिल्द ॥।)।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, विनय, सच्चा सुख, परोपकार, सत्सङ्गसे लाभ और कुसङ्गसे हानि, नैतिक पतनसे बचनेका उपाय, विनम्र संदेश शीर्षक लेख, आरती तथा दैनिक वेतन और मकानभाड़ा चुकानेके नकशेके साथ-साथ रेल, डाक, तार, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर तथा पुराने पैसेकी नये पैसेमें परिवर्तन-सारणी आदि सूचनाएँ और माप-तौलकी सूची, घरेलू ओषधियाँ तथा स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र दिये गये हैं।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १।=), दोके लिये २≡), तीनके लिये ३), छःके लिये ५।=) तथा बारहके लिये १०=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १॥-), दोके लिये २॥), तीनके लिये ३॥), छःके लिये ६।-) और बारहके लिये १२) भेजना चाहिये।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। यहाँ आर्डर देनेके पहले सभी पुस्तकें अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपका समय और पैसे बच सकते हैं।

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

काशीके प्रसिद्ध ज्यौतिषाचार्य पं० श्रीसीतारामजी झाने तैयार करके प्रेसमें छपनेके लिये दे दिया है। इस बार कुछ विशेष बातें और दी गयी हैं। तैयार हो जानेपर सूचना प्रकाशित की जा सकती है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण

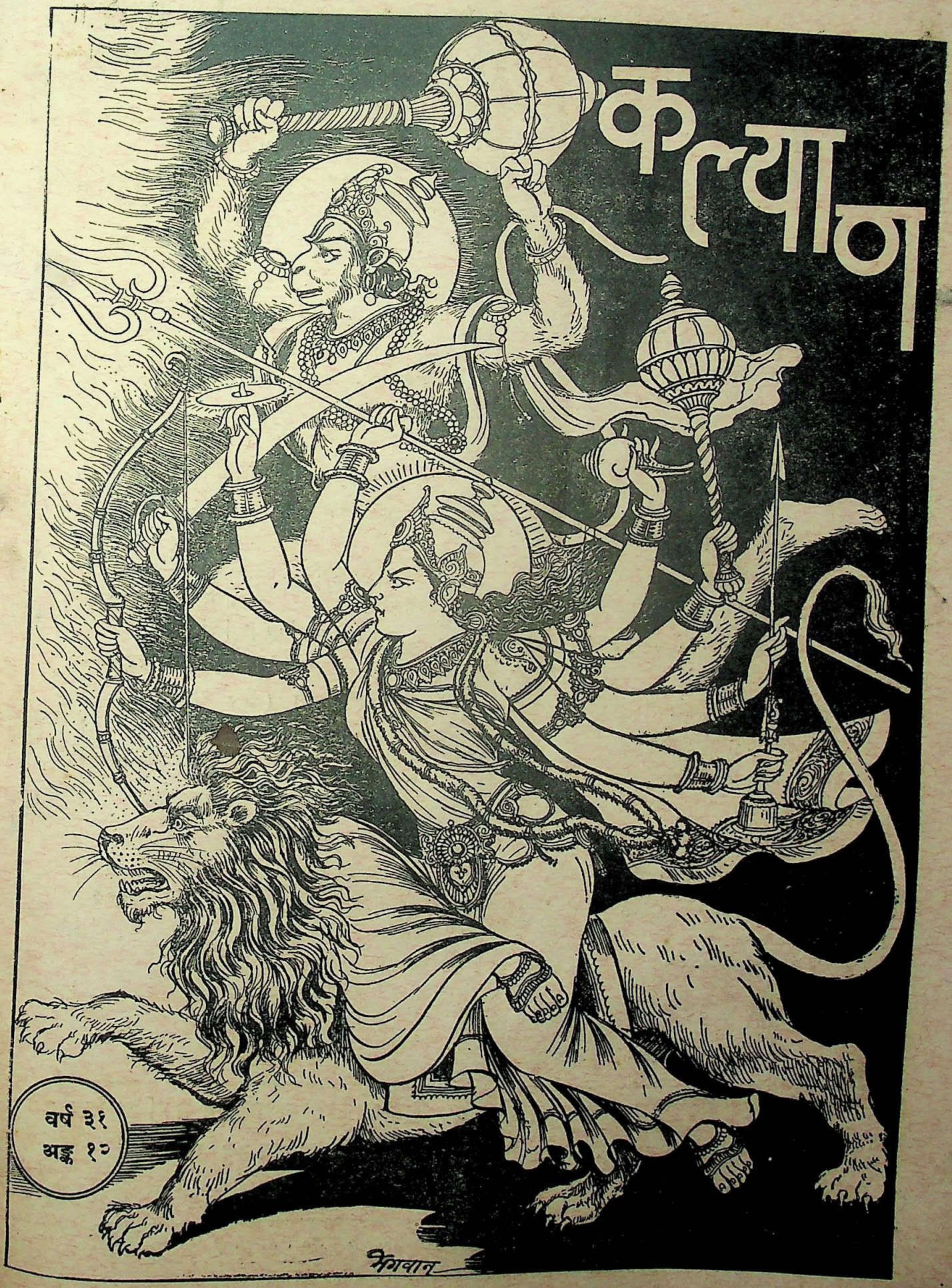

वर्ष ३१
अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१४, दिसम्बर १९५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—भगवान् श्रीरामका देवर्षिको उपदेश [कविता] (संकलित) ...	१३४५
२—कल्याण ('शिव') ...	१३४६
३—गीताका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१३४७
४—लालकी अलकैं [कविता] (संकलित)	१३५८
५—सत्सङ्ग-सुधा	१३५९
६—चित्त-निग्रह (स्व० श्रीमगनलाल देशाई)	१३६७
७—शब्दकी महिमा (श्रीविनोबा)	१३७१
८—प्रार्थनामय जीवन (श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी)	१३७५
९—पीतपट मैं लिपटिगौ [कविता] (संकलित)	१३७६
१०—अध्यात्मशास्त्रका राजमार्ग (सेठ मोतीलाल माणेकचंद उपनाम श्रीप्रताप सेठ) ...	१३७७
११—सर्वात्मभावकी साधना (श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्०ए०, डी० ओ० सी०, विद्याबारिधि) ...	१३७९
१२—राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शन सिंहजी)	१३८२
१३—सखाओंके साथ खेल [कविता] ...	१३८८
१४—विश्वशान्तिका अमोघ उपाय (लाला श्रीहरदेवसहायजी) ...	१३८९
१५—भक्त प्रेमनाथजी हकीम (प्रेषक—स्व० श्रीशिवकुमारजी केडिया)	१३९४
१६—मनुष्य-जीवन और उसका उद्देश्य (ब्रह्मचारी श्रीअद्वयचैतन्यजी)	१३९७
१७—कामना-पूर्तिसे सुखकी इच्छा ही दुःख है [कहानी] (श्री'चक्र')	१४००
१८—'क्रन्दनका अविरल संसार !' [कविता] (रचयिता—श्रीब्रह्मानन्द 'बन्धु') ...	१४०३
१९—नारी और नौकरी (प्रो० श्रीरामनारायणजी सोनी, एम्०, कॉम्०, एल्०, एल्० बी०) ...	१४०४
२०—भगवान् श्रीकृष्ण षोडश-कलापूर्ण (श्रीसुतीक्ष्ण मुनिजी) ...	१४०६
२१—सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ? (एक यात्री) ...	१४०७

चित्र-सूची

तिरंगा

१—देवर्षिकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट १३४५

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

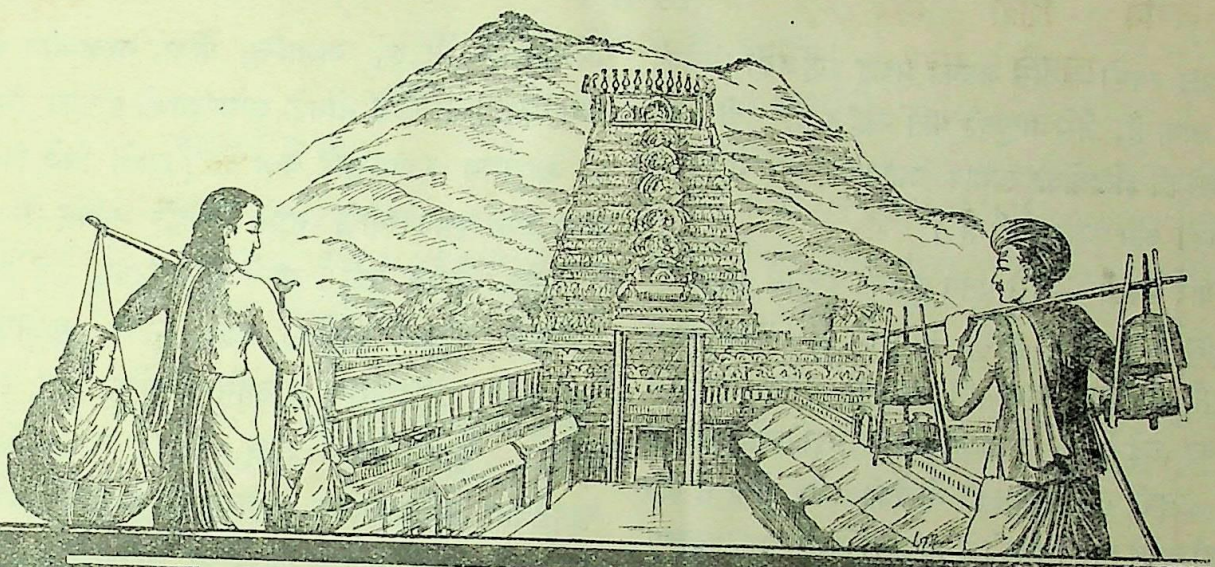

कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरणम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर पौष २०१४, दिसम्बर १९५७ { संख्या १२ पूर्ण संख्या ३७३

भगवान् श्रीरामका देवर्षिको उपदेश

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरगाई ॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता । प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

(रामचरित० अरण्य० ४२ । २–५, ४३)

याद रक्खो—जैसे जलका प्रवाह सहज ही नीचेकी ओर जाता है, जैसे वायुकी गति सहज ही टेढ़ी होती है, वैसे ही इन्द्रियोंका स्वभाव आत्माकी ओर न जाकर भोगोंकी ओर जाना ही है।

याद रक्खो—जैसे पतंग सुखकी इच्छासे सहज ही अग्निकी ओर जाकर झुलस मरता है, जैसे मत्त गजराज सुखकी इच्छासे सहज ही नकली हथिनीकी ओर दौड़कर गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंका प्रवाह और उनकी गति सहज ही भोगोंकी ओर होती है और वे वहाँ अपने साथ चित्तको ले जाकर, चित्तके साथ तादात्म्य-को प्राप्त आत्माका पतन और बन्धन करा देती हैं।

याद रक्खो—यह इन्द्रियोंके साथ भोगोंकी ओर जानेवाला चित्त ही आत्माके पतनमें मुख्य कारण है। अतएव चित्तको निगृहीत और विशुद्ध-भावापन्न बनानेके लिये नित्य सत्सङ्ग करो। चित्तको सदा वैसे ही सङ्गमें रक्खो—वैसे ही साधन दो, जिनसे भोगोंकी दुःखमयता, निस्सारता और पतनकारिताका यथार्थ तथा दृढ़ निश्चय होता है।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही देवता है और भोगोंमें आसक्त भोग-चिन्तापरायण स्वेच्छाचारी अपवित्र चित्त ही असुर है। दैवी और आसुरी सम्पदा चित्तमें ही निवास करती हैं।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही तुम्हारा परम हितकारी नित्य बन्धु है और भोगोंमें भटकनेवाला अपावन चित्त ही तुम्हारा सबसे बड़ा वैरी है। अतएव सदा-सर्वदा चित्तको निगृहीत और विशुद्ध बनानेके प्रयत्नमें दृढ़तासे लगे रहो। इसीका नाम साधन है।

याद रक्खो—चित्त बिना आलम्बनके नहीं रह सकता, इसको कोई आलम्बन चाहिये। इस समय चित्तने भोगको आलम्बन बना रक्खा है। भोगका परिणाम है—दुःख, अशान्ति, पीड़ा, नरक-भोग और जन्म-मृत्यु। इसलिये भोगके आलम्बनको हटाकर चित्त-का आलम्बन भगवान्‌को बना दो। इसके लिये विशेष चेष्टा तथा सावधानीके साथ चित्तको भगवत्-सम्पर्क-में रखनेका प्रयत्न करो। सच्चे भगवद्भक्तोंका सङ्ग करो, भोगासक्त नकली भक्तोंका नहीं, सच्चे ज्ञानियोंका सङ्ग करो, इन्द्रियाराम ज्ञानाभिमानियोंका नहीं; सच्चे निष्काम कर्मयोगियोंका सङ्ग करो, धन-मानाधिकार चाहनेवाले कर्मवादियोंका नहीं; सच्चे पुण्यात्मा पुरुषोंका सङ्ग करो, पुण्यके नामपर पाप-सेवन करनेवालोंका नहीं; विषय-विराग, भगवदनुराग बढ़ानेवाले और तमोमय मोहका नाश करके आत्मज्ञानकी विमल ज्योति जगाने-वाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो, भोगवासना बढ़ाने तथा भोगोंकी महत्ता बतानेवाले पतनकारी साहित्यका नहीं; और मनमें सात्त्विकता बढ़ानेवाले पदार्थोंका ही भोजन करो; रज-तम बढ़ानेवाले पदार्थोंका नहीं।

याद रक्खो—जैसा सङ्ग होगा, जैसा वायुमण्डल होगा, जैसा खान-पान होगा, जैसे साहित्यका अध्ययन होगा, चित्त वैसा ही बनेगा; और जैसा चित्त होगा, वैसी ही चेष्टा-क्रिया होगी और उसीके अनुसार वैसा ही जीवात्माको अच्छा-बुरा फल प्राप्त होगा या उसकी अच्छी-बुरी गति होगी।

याद रक्खो—आत्माका सुदृढ़ निश्चय अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका बल भोगोंकी ओर लगे हुए चित्तको आत्मामें या भगवान्‌में लगानेमें पूर्ण समर्थ है। अतः आत्मामें सुदृढ़ निश्चय करके तथा भगवान्‌की कृपाके बलका अनन्य आश्रय लेकर चित्तको आत्मस्थ या भगवच्चरणाश्रित कर दो। तुम्हारा जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[भाग ३१, सं० ११, पृष्ठ १२९३ से आगे]

बारहवाँ अध्याय

इस बारहवें अध्यायमें मुख्यतया अनेक प्रकारके साधनोंसहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें जो भगवान्‌के अनन्य भक्तकी विशेष प्रशंसा कही गयी, उसे सुनकर अर्जुनने पूछा—'भगवन्! जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको, और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्द निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अत्युत्तम योगवेत्ता कौन हैं?'

इसपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अत्युत्तम योगी मान्य हैं। परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं; किंतु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है। परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार कर देता हूँ। इसलिये तू मुझमें ही मन-बुद्धिको लगा। इस प्रकार साधन करनेसे तू मुझमें ही निवास करेगा। यदि तू मनको मुझमें अचल भावसे स्थापित करनेमें समर्थ नहीं है तो अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा कर। यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेमें ही तत्पर हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा। यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करके सब कर्मोंके फलका त्याग कर; क्योंकि मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, उस विवेक-ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और कामनापूर्वक किये हुए ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अब उपर्युक्त परम शान्तिको प्राप्त भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं। जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, तथा जो योगी लाभ-हानिमें निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और भगवान्‌में दृढ़ निश्चयवाला है, वह भगवान्‌में अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला भगवद्भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी भगवद्भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जो प्रियको पाकर हर्षित नहीं होता, अप्रियको पाकर द्वेष नहीं करता, प्रियके नाशमें शोक नहीं करता, प्रियके अभावमें उसकी इच्छा नहीं करता, शुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता और अशुभ कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष भगवान्‌को प्रिय है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें सम तथा आसक्तिसे रहित है एवं ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है तथा रहनेके स्थानमें ममता और

आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्त भगवान्‌को प्रिय है। परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष भगवत्परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे साधक भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय

'क्षेत्र' (शरीर) और 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। केवल अज्ञानसे ही इन दोनोंकी एकता-सी हो रही है। क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है एवं क्षेत्रज्ञ चेतन, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। अतः इस अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंके स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे विभाग किया गया है। इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया है।

खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार फल होता है, इसी प्रकार इस शरीरद्वारा मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है—इस दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष इस मनुष्य-शरीरको 'क्षेत्र' और जो इसको जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इन सब क्षेत्रों (शरीरों) में जो क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) है, वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मा-का ही स्वरूप है। इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जानना ही ज्ञान है। इसलिये उस क्षेत्रका जो स्वरूप है, जैसा उसका स्वभाव है, वह जिन विकारोंवाला है, जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है तथा उस क्षेत्रज्ञका भी जो स्वरूप है और वह जैसे प्रभाव-वाला है, वह सब संक्षेपसे बतलाया जाता है।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा, विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा तथा युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है। उनमेंसे पहले क्षेत्रका स्वरूप और विकार बतलाये जाते हैं। मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया), बुद्धि और अहंकार तथा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इनका सूक्ष्मभाव (पाँचों तन्मात्राएँ), श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये दस इन्द्रियाँ तथा एक मन एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व मिलकर 'क्षेत्र (शरीर) का स्वरूप' है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—ये सात 'क्षेत्रके विकार' हैं।

अब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये जाते हैं। श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणी-को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि-की सरलता, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना, परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहने-का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रीतिका न होना, आत्मतत्त्वमें नित्य स्थिति और परमात्माके स्वरूपका सर्वत्र अनुभव करना—ये सब ज्ञानमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' हैं और इनसे विपरीत मान, दम्भ, हिंसा आदि अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' हैं।

अब ज्ञानके द्वारा जानने योग्य परमात्माका स्वरूप बतलाया जाता है। जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है, वह आदि-रहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् ही कहा जा सकता है न असत् ही। वह सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें आकाशकी भाँति सब-को व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणातीत होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर-रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा श्रद्धालु मनुष्यके लिये वह अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है। जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है, तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें पृथक्-पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है। वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करने-वाला, रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सब-को उत्पन्न करनेवाला है। वह परब्रह्म परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति एवं अन्धकार और अज्ञानरूप मायासे अत्यन्त परे है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य है तथा सबके हृदयमें विशेषरूपसे

स्थित है। यहाँतक क्षेत्र, ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया। भगवान्‌का भक्त उपर्युक्त तत्त्वको जानकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

अब शेष दो बातें क्षेत्रके विषयमें और दो बातें क्षेत्रज्ञके विषयमें बतलानेके लिये प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) और पुरुष (जीवात्मा)—ये दोनों ही अनादि हैं तथा उपर्युक्त इच्छा-द्वेष आदि विकार और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि कार्य (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा करण (बुद्धि, अहंकार, मन और श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) को उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति है। यह कहकर 'जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है,' इस बातका स्पष्टीकरण किया गया है।

अब 'क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के स्वरूप'का वर्णन करते हैं। जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोगनेमें हेतु है। परंतु प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्त्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा कहा गया है। इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा आत्मामें अनुभव करते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा अनुभव करते हैं। परंतु इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं न जाननेके कारण तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उनके कथनानुसार श्रद्धासहित तत्परतासे साधन करते हैं; अतः वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको तर जाते हैं।

जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब जगत्‌का विनाश हो जाता है, किंतु चराचर भूतोंमें नाश-रहित परमात्मा समभावसे सदा स्थित हैं, उन भूतोंका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता—यह समझना ही असली समझना है। यहाँ शरीरको उत्पत्ति-विनाशशील कहकर क्षेत्रका स्वभाव बतलाया गया है।

सबमें समभावसे स्थित अविनाशी परमात्माको देखनेवाला पुरुष शरीरके नष्ट होनेपर भी अपनेद्वारा अपना नाश नहीं करता। यहाँ शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश मानना ही अपने द्वारा अपना नाश करना है। इस तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिद्वारा किये जा रहे हैं—इस तत्त्वको समझनेवाला पुरुष 'प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—' इस प्रकार मानता है और आत्माको अकर्ता मानता है; अतः यह मानना ही ठीक है। जिस क्षण मनुष्य भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्माके ही संकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता।

अब 'क्षेत्रज्ञका प्रभाव' बतलाते हैं। अनादि और गुणातीत होनेके कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता। तथा जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरको प्रकाशित करता है अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे सम्पूर्ण जडवर्ग प्रकाशित होता है।

अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान तथा उसका फल बतलाते हैं। यह क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है तथा क्षेत्रज्ञ चेतन, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। इन दोनोंके इस तात्त्विक अन्तरको जाननेके साथ-साथ जो कार्यसहित प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्म-स्वरूपमें अभिन्नभावसे प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वे महात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्तिका तथा वे किस प्रकार किस अवस्थामें जीवात्माको कैसे बन्धनमें डालते हैं और किस प्रकार इनसे छूटकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो सकता

है, तथा इन तीनों गुणोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके क्या लक्षण हैं—इन्हीं त्रिगुणसम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है । पहले साधनकालमें रज और तमका त्याग करके सत्त्वगुणको ग्रहण करना और अन्तमें सभी गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये—इस तत्त्वको समझानेके लिये उन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है । इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रखा गया है ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे उस ज्ञानोंमें भी अत्युत्तम परम ज्ञानको पुनः कहा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं । इस ज्ञानके द्वारा निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपको अभिन्नभावसे प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते; क्योंकि उनके अनुभवमें एक सच्चिदानन्द परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ।

अब महासर्गके आरम्भमें होनेवाली प्राणियोंकी उत्पत्तिकी बात कही जाती है । भगवान्‌की महद्ब्रह्मरूप मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी योनि (गर्भाधानका स्थान) है और भगवान् उसमें चेतनसमुदायरूप गर्भकी स्थापना करते हैं । उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतप्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितने शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और भगवान् बीजको स्थापित करनेवाले पिता हैं ।

अब तीनों गुणोंके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्ति आदिका वर्णन किया जाता है । सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं । उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुख और ज्ञानके अभिमानसे बाँधकर मनुष्यको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित कर देता है । कामना और आसक्तिसे उत्पन्न रागरूप रजोगुण इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है । समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है । सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है । रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण और वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है । जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता (आलस्यका अभाव) और विवेक-शक्ति जागती है, उस समय यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है । रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, सांसारिक प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका आरम्भ, मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं । तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब उत्पन्न होते हैं । जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है, रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है; क्योंकि श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है । सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष कीट, पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं ।

अब गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत-अवस्थाका फल बतलाया जाता है । जिस समय समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमात्माको तत्त्वसे जान लेता है, उस समय वह परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको लाँघकर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दरूप परमात्माको प्राप्त होता है ।

यह सुनकर अर्जुनने पूछा—'प्रभो ! इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुषके क्या-क्या लक्षण होते हैं और किस प्रकारके आचरण होते हैं तथा मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंको लाँघ सकता है ?'

इसपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशके, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिके और तमो

गुणके कार्यरूप मोहके प्रवृत्त होनेपर तो उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता, साक्षीके सदृश स्थित हुए जिसको विचलित नहीं कर सकते और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—यों समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक हुआ स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित ज्ञानी सुख-दुःख, मिट्टी-पत्थर-सुवर्ण, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है एवं जो मान-अपमानमें तथा मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम होता है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है। जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा परमात्माको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है। ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुख—ये सब परमात्माके ही नाम हैं; इसलिये परमात्मा ही इनके परम आश्रय हैं।

पंद्रहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया गया है। एवं क्षर पुरुष (क्षेत्र), अक्षर पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और पुरुषोत्तम (परमेश्वर) —इन तीनोंका वर्णन करके, क्षर और अक्षरसे भगवान् किस प्रकार उत्तम हैं, वे किसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं, उनको पुरुषोत्तम जाननेका क्या माहात्म्य है और किस प्रकार उनको प्राप्त किया जा सकता है—इत्यादि विषय भलीभाँति समझाये गये हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तम-योग' रखा गया है।

भगवान् वैराग्य उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे संसारका वृक्षके रूपमें वर्णन करते हुए शरणागतिके द्वारा परम पद प्राप्त करनेकी बात अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे—'आदिपुरुष परमेश्वर जिसके मूल हैं और ब्रह्म जिसकी मुख्य शाखा हैं, ऐसे संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं; तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है। उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं। किंतु इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा बताया जाता है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अत्यन्त दृढ़ मूलवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको उत्कट वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्तिका विस्तार हुआ है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं, जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते। उस स्वयंप्रकाश परम पदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और अग्नि ही; वही परमात्माका परम धाम है।

अब जीवात्माके स्वरूप और तत्त्वको जाननेके लिये कहा जाता है। इस देहमें यह सनातन जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको खींच करके फिर जिस शरीरमें जाता है, वहाँ ले जाता है। यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन—इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है; परंतु शरीरको छोड़कर जाते हुए, शरीरमें स्थित हुए और विषयोंको भोगते हुए—इन तीनों गुणोंसे युक्त आत्मतत्त्वको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं। यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।

अब भगवान्‌का स्वरूप और प्रभाव बतलाया जाता है। सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, वह भगवान्‌का ही तेज है। और भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे

सब भूतोंको धारण करते हैं और रसस्वरूप (अमृतमय) चन्द्रमा होकर अपनी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाले प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य—इन चारों प्रकारके भोजनको पचाते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा भगवान्से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका दूर होना) होता है और सब वेदोंद्वारा भगवान् ही जानने-योग्य हैं तथा वेदान्तके कर्ता और वेदोंके जाननेवाले भी वे ही हैं।

अब क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तमका स्वरूप, उसको जाननेकी महिमा और उसका फल बतलाया जाता है। इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी—दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है। क्योंकि भगवान् नाशवान् जडवर्ग—क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हैं और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हैं; इसलिये लोकमें और वेदमें भी वे 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तमरूप जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर उन वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है। इस प्रकार यह अत्यन्त रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र भगवान्के द्वारा कहा गया; इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

सोलहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें देव-शब्दवाच्य परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले और उनको प्राप्त करा देनेवाले सद्गुणों और सदाचारोंका, उन्हें जानकर धारण करनेके लिये 'दैवी सम्पद्' के नामसे और असुरोंके-जैसे दुर्गुण और दुराचारोंका, उन्हें जानकर त्याग करनेके लिये 'आसुरी सम्पद्'के नामसे विभागपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'दैवासुर-सम्पद्-विभागयोग' रखा गया है।

भगवान् अर्जुनको मुक्तिदायक 'दैवी सम्पदा'के लक्षण बतला रहे हैं—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन एवं भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचारसे आहार-व्यवहारकी पवित्रता, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो 'दैवी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

अब भगवान् 'आसुरी सम्पदा'के लक्षण कहते हैं। दम्भ (पाखण्ड), घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब 'आसुरी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं। दैवी सम्पदा मुक्तिका और आसुरी सम्पदा बन्धनका कारण मानी गयी है। अर्जुन ! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको प्राप्त है। इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्य-समुदाय दो ही प्रकारका है—एक तो दैवी प्रकृतिसे युक्त और दूसरा आसुरी प्रकृतिसे युक्त। उनमेंसे दैवी स्वभाववाले मनुष्योंके लक्षणोंका तो विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया, अब तू आसुरी स्वभाववाले मनुष्य-समुदायका भी विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुन। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य कार्यमें प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्यसे निवृत्त होना—इन दोनों बातोंको नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि होती है, न श्रेष्ठ आचरण होता है और न सत्यभाषण ही होता है। वे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहा करते हैं कि 'जगत् आश्रयहीन, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है; अतएव केवल काम ही इसका मूल है। इसके सिवा और क्या है ?' इस मिथ्या ज्ञानका अवलम्बन करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के विनाशमें ही कारण बनते हैं। वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर अज्ञानसे शास्त्र-विरुद्ध कल्पित

सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं। वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेकर विषय-भोगोंके भोगनेमें तत्पर रहते हैं और 'इतना ही सुख है' ऐसा मानते हैं। वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंका संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। वे सोचा करते हैं कि 'मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस अभीष्टको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है तथा इतना और हो जायगा। वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं-को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ मैं सब प्रकारकी सिद्धियोंसे युक्त, बलवान् और सुखी हूँ। मैं धनी और बड़े कुटुम्ब-वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा।' इस प्रकार वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं। वे अनेक प्रकारसे भ्रमितचित्त होकर, मोह-रूप जालसे समावृत और विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरी सम्पदावाले मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं। वे अपनेआपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी मनुष्य धन और बड़प्पनके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यज्ञ करते हैं। वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते रहते हैं। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार शूकर-कूकर आदि आसुरी (नीच) योनियोंमें ही डालता हूँ। वे मूढ़ मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको पाते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये; क्योंकि इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, जिससे वह परम गतिरूप मुझको प्राप्त कर लेता है। जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही। इसलिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जान-कर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये।'

सतरहवाँ अध्याय

इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया है। फिर पूजा, यज्ञ, तप आदिमें श्रद्धाका सम्बन्ध दिखलाते हुए अन्तिम श्लोकमें श्रद्धारहित पुरुषोंके कर्मोंको असत् बतलाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायमें त्रिविध श्रद्धाकी विभाग-पूर्वक व्याख्या होनेसे इसका नाम 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' रखा गया है।

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्य सुनकर अर्जुनको यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ हैं—यह तो ठीक है; परंतु ऐसे मनुष्य भी तो हो सकते हैं जो शास्त्रविधिको तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग देते हैं, पर यज्ञ पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं। उनकी क्या स्थिति होती है, इस जिज्ञासाको लेकर अर्जुनने पूछा—'श्रीकृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति किस कोटिकी है—सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?' यहाँ अर्जुनके इस प्रश्नसे चार प्रकार-के मनुष्योंकी सम्भावना हो सकती है—

(१) जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है;

(२) जो शास्त्रविधिका तो किसी अंशमें पालन करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं है;

(३) जिनमें श्रद्धा तो है, परंतु जो शास्त्रविधिका पालन नहीं करते;

(४) जो शास्त्रविधिका पालन भी नहीं करते और जिनमें श्रद्धा भी नहीं है।

इन सबका क्या स्वरूप है, अब प्रश्न यह होता है कि इनकी क्या गति होती है और इनका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ आया है?

इन प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके होते हैं। एक तो सात्त्विक

हैं, जो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं और इसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। दूसरे राजसी हैं, जो सकामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं; इनको जीते-जी इस लोकके सुख और मरनेपर स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है; इनका वर्णन इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग कर देते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है—ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजसी तथा तामसी भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है, वे आसुरी सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। इस अध्यायके पाँचवें, छठे, तेरहवें, उन्नीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें इनका वर्णन आया है।

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने बतलाया कि मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीनों प्रकारकी हो सकती है। सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह जीव (मनुष्य) श्रद्धामय है, इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है, वैसी ही उसकी निष्ठा है। सात्त्विक मनुष्य देवताओंको, राजसी यक्ष-राक्षसोंको तथा तामसी लोग प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं; किंतु जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपका अनुष्ठान करते हैं तथा दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त हैं एवं जो शरीररूपसे स्थित आकाशादि भूत-समुदायको सुखाते और अन्तःकरणमें स्थित परमात्माके अंशरूप जीवको क्लेश पहुँचाते हैं, वे अज्ञानी आसुरी स्वभाववाले हैं।

भोजन, यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको भानेवाले—ऐसे भोज्य पदार्थ सात्त्विक हैं, अतएव सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय लगते हैं। कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले भोज्य पदार्थ राजस हैं; सुतरां वे राजस पुरुषोंको प्रिय लगते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र है, वह तामस है, इसीलिये वह तमोगुणी मनुष्योंको प्रिय लगता है। जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है। जो केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलके उद्देश्यसे किया जाता है, वह यज्ञ राजस है तथा शास्त्रविधि और अन्नदानसे रहित एवं मन्त्र, दक्षिणा और श्रद्धाके बिना किया जानेवाला यज्ञ तामस है।

आहार और यज्ञके भेद बतलाकर अब तपका स्वरूप और उसके भेद बतलाये जाते हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य आदि जो किसी भी प्रकार अपनेसे बड़े हैं) और ज्ञानीजनोंका पूजन (सेवा, आदर-सत्कार), पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरका तप है। उद्वेग न करनेवाला, प्रिय, हितकारक और यथार्थ भाषण तथा वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—यह वाणीका तप है। मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी पूर्ण पवित्रता—यह मनका तप है। फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किया हुआ पूर्वोक्त तीन प्रकारका तप सात्त्विक है; किंतु जो सत्कार, मान और पूजा आदिके लिये या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप राजस है। जो मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीड़ा देते हुए अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस है।

अब दानके भेद बतलाये जाते हैं। दान देना ही कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देशकाल और पात्रके प्राप्त होनेपर बदला न चाहकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। जो क्लेशपूर्वक तथा बदलेमें अपना सांसारिक स्वार्थसिद्ध करनेकी इच्छासे अथवा फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान राजस है। जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह तामस है।

अब ॐ, तत्, सत्के प्रयोगका महत्त्व बतलाया जाता है। ॐ, तत्, सत्—ये तीनों सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके नाम हैं। उसी परमात्मासे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये; इसलिये वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं। 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं। 'सत्'—इस परमात्माके नामका सत्यभाव, श्रेष्ठ भाव और उत्तम कर्ममें प्रयोग किया जाता है। यज्ञ, तप और दानमें जो निष्ठा है और जो उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म है, वह 'सत्' है। बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप और जो कुछ भी शुभ कर्म है, वह सब 'असत्' है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्काम भावसे केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परम श्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे।

अठारहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें पूर्वोक्त समस्त अध्यायोंका सार संग्रह करके मोक्षके उपायभूत सांख्ययोगका 'संन्यास' के नामसे और कर्मयोगका 'त्याग' के नामसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित वर्णन किया गया है इसलिये तथा साक्षात् मोक्षरूप परमेश्वरमें सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास (त्याग) करनेके लिये कहकर उपदेशका उपसंहार किया गया है इसलिये भी इस अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यासयोग' रखा गया है।

उपर्युक्त उपदेशको सुनकर अर्जुनने कहा—'हृषीकेश! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।'

इसपर भगवान् बोले—'अर्जुन! कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका फल त्यागनेको त्याग कहते हैं। कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त, अतएव त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है। परंतु अर्जुन! संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है, बल्कि वे तो अवश्य-कर्तव्य हैं; क्योंकि ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति एवं फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है, परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। शास्त्रविहित कर्मोंको दुःखरूप समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे उन कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दे तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं पाता, अतः शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्यकर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनकी आसक्ति और फलका त्याग करना ही सात्त्विक त्याग है। जो मनुष्य पापकर्मका त्याग तो करता है पर उनसे द्वेष नहीं करता, बल्कि उनका त्याग करना ही मनुष्यत्व है—इस भावसे उनका त्याग करता है; और शास्त्रविहित कल्याणकारक कर्म तो करता है पर उनमें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है; क्योंकि किसी भी शरीरधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है। कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् भी अवश्य प्राप्त होता है। किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता; क्योंकि उनके द्वारा होनेवाला कर्म कर्म ही नहीं है।

यहाँतक त्यागका तत्त्व बतलाकर अब भगवान् संन्यास (सांख्य) का तत्त्व बतलाते हैं। सांख्यशास्त्रमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धि (निष्पत्ति)के ये पाँच हेतु कहे गये हैं—अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), तेरह करण (दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार), नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और दैव (पूर्वकृत शुभा-शुभ कर्मोंके संस्कार)। मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों कारण बनते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन-बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव

नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। ज्ञाता (जाननेवाला), ज्ञान (जिससे जाना जाय) और ज्ञेय (ज्ञानका विषय)—इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तथा कर्ता (करनेवाला), करण (जिससे कर्म किया जाय) और क्रिया (चेष्टा)—इन तीनोंके संयोगसे कर्म होते हैं। उन सबमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं। जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित समभावसे स्थित देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भावों-को अलग-अलग जानता है, वह राजस ज्ञान है। परंतु जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर उसमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है तथा जो युक्तिरहित, तात्त्विक अर्थसे शून्य और तुच्छ है, वह तामस ज्ञान है। जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वह सात्त्विक है। (यहाँ 'सात्त्विक कर्म' में तो सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है और पहले नवें श्लोकमें 'सात्त्विक त्याग' के नामसे कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग बतलाया गया है; यही इन दोनोंका भेद है।) परंतु जो कर्म बहुत परिश्रम-साध्य होता है तथा सांसारिक भोगोंके इच्छुक या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस है। जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहता है, वह सात्त्विक है। जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्म फलका इच्छुक लोभी, दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त रहता है, वह राजस है। जो कर्ता अयुक्त (मन-इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला), साधन और शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त, दूसरोंकी जीविकाका नाशक, शोकयुक्त, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह तामस है।

सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन-तीन भेद हैं। जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपमें जानती है, वह सात्त्विकी है। मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थरूपमें नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है। जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी धर्म मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह तामसी है। जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। परंतु फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामको पकड़े रहता है, वह धारणशक्ति राजसी है तथा दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता—उन्हें धारण किये रहता है, वह धारणशक्ति तामसी है।

अब सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार तीन प्रकारके सुख बतलाये जाते हैं। साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे जिस सुखमें रमण करता है और जिससे उसके दुःखोंका अन्त हो जाता है, वह आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें अमृतके तुल्य होता है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक है। जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले (भोगकालमें) अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य होता है, इसलिये वह राजस है। जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस है। पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी प्राणी या पदार्थ नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है।

अब उपासनासहित कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक नियत कर्म बतलाये जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म उनके पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभाजित किये गये हैं। अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, धर्मपालनके लिये कष्ट-सहना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्षमा, मन-इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, वेद, शास्त्र, ईश्वर और

परलोक आदिमें श्रद्धा, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन और परमात्माके तत्त्वका अनुभव—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव (निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर शास्त्रानुसार शासनद्वारा प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति प्रजाका पालन करनेका भाव)—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सभी वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य जिस रीतिसे भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है, वह रीति बतलायी जाती है। जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। अतः अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको निष्कामभावसे करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। अतएव दोषयुक्त होनेपर भी स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।

अब उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा (संन्यास) का वर्णन किया जाता है। जिसकी कहीं भी आसक्ति और स्पृहा नहीं रही है तथा जिसने अपने अन्तःकरणको वशमें कर लिया है ऐसा मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि (परमात्माके यथार्थ ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है, जो ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। उस नैष्कर्म्यसिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त करके मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह प्रकार संक्षेपमें बताया जाता है। जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक, अल्प और नियमित भोजन करता है, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करता है, जिसने सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लिया है, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले लिया है तथा जो अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण है, वह ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थितिके योग्य होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्नचित्त योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही। इस प्रकार समस्त प्राणियोंमें सम भाव रखनेवाला योगी परमात्माकी परा भक्ति (ज्ञानकी परा निष्ठा) को प्राप्त कर लेता है। उस परा भक्तिके द्वारा वह परमात्माको, जो और जैसे वे हैं, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उनको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही उनमें प्रवेश कर जाता है।

अब भगवान् भक्तिप्रधान कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं—'अर्जुन ! मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है। इसलिये तू सारे कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और चित्तको निरन्तर मुझमें लगाया रख। उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्त लगाया रखकर तू मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा; पर यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा,' तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा क्षत्रियपनका स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगा। जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा; क्योंकि शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार घुमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। इसलिये तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर फिर जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा ही कर।'

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर न मिलनेके कारण भगवान् अर्जुनपर दया करके पुनः बोले—'अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अत्यन्त गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे मनको अचल कर दे, मेरा ही नित्य निरन्तर भजन कर, मेरा ही प्रेमपूर्वक पूजन कर और मुझको ही विनयपूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझीको ही प्राप्त होगा—

यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पण कर) तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माकी ही शरणमें चला आ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार गीताके उपदेशका उपसंहार करके भगवान् अर्जुनसे इसका माहात्म्य बतलाते हुए कहते हैं—

'अर्जुन ! तेरे हितके लिये कहा हुआ यह गीतारूप परम रहस्यमय उपदेश तुझे किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न सुनना न चाहनेवालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता हो, उससे तो कभी कहना ही नहीं चाहिये, किंतु इन दोषोंसे रहित मेरे भक्तोंसे प्रेमपूर्वक उत्साहके साथ अवश्य कहना चाहिये; क्योंकि जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें निष्कामभावसे कहेगा, वह निस्संदेह मुझीको प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें दूसरा कोई भी नहीं है; यही नहीं, पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं। जो पुरुष हम दोनोंके धर्ममय संवादरूप इस गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिरहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा। पार्थ ! क्या इस गीताशास्त्रका तूने एकाग्र चित्तसे श्रवण किया ? और क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?'

इसपर अर्जुनने कहा—'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

इसके अनन्तर संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन् ! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना। श्रीव्यासजी-की कृपासे दिव्यदृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्य-युक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करते हुए मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार पुलकित हो रहा हूँ। राजन् ! विशेष क्या कहूँ—जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह एक परम रहस्यका विषय है। इसको परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परंतु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं, जो भगवान्के शरण होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसका अभ्यास करते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धा-भक्तिके साथ सदा इसका श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार साधनमें लग जायँ; क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिसे इसका मर्म जाननेके लिये इसके अंदर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं एवं भगवदाज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तः-करणमें प्रतिदिन नये-नये उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण होकर शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

लालकी अलकैं

लालकी अलकैं अतरभरी।
चारु कपोलन पै इत उत सखि ! झूमति है बिखरी॥
कहर करैं निरखत ही सजनी ! बावरि मोहि करी।
'मोहनिदास' कतल करिबे कौं हरदम सान धरी॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

९८. महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही क्षणभरमें जीवन सुधर सकता है। दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं, उनका नाम धनुर्दास था। एक वेश्या थी—हेमाम्बा नाम था। बड़ी सुन्दरी थी। उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्‌में भक्ति बिलकुल नहीं थी। शरीर खूब हट्टा-कट्टा था। लोग उन्हें पहलवान कहते थे। बिचारेके अंदर कामवासना नहीं थी, रूपका मोह था। उसे रूप बड़ा प्यारा लगता था। दिन बीतने लगे। रङ्गजीके मन्दिरमें उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुजजी महाराज मन्दिरमें आया करते थे। लाखोंकी भीड़ होती थी। कीर्तनका दल निकलता था। पहलवानजी और वेश्याके मनमें भी उत्सव देखनेकी एक साल इच्छा हुई। वे लोग भी आये। कीर्तनमें लोग मस्त थे। भगवान्‌की सवारी सजायी गयी थी। हजारों आदमी आनन्दमें पागल होकर नाच रहे थे। पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी। वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे। श्रीरामानुजाचार्यजीकी दृष्टि पड़ गयी। इतने बड़े महात्माकी दृष्टि पड़ी। भाग्य खुल गया। श्रीरामानुजाचार्यजी बोले—यह कौन है? उनको दया आ गयी थी। लोगोंमें यह बात प्रसिद्ध थी ही। सबने सारा हाल कह सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ। पहलवानजी आये। श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा—'भैया! लाखों आदमी भगवान्‌के आनन्दमें डूब रहे थे, पर तुम मलमूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे। ऐसा क्यों?' पहलवानने बताया—'महाराजजी! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है। हेमाम्बा-जैसी सुन्दरता हमने और कहीं भी नहीं देखी। इसीलिये मेरा मन दिन-रात उसीमें फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले—'भैया! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड़ दोगे?' पहलवान बोले—'महाराजजी! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमें नहीं आता।' आचार्यजी बोले—'अच्छा, साँझको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना। केवल मैं रहूँगा।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये। श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आज एक अधमका उद्धार करो। एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवनमोहन रूपकी एक हल्की-सी झाँकी दिखा दो।' इतने बड़े महात्माकी प्रार्थना खाली थोड़े जाती। अस्तु,

साँझको पहलवान आये। श्रीरामानुजाचार्यजी पकड़कर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले—'देख, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है?' पहलवानने दृष्टि डाली। एक क्षणके लिये जनसाधारणकी दृष्टिमें दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वयं भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरके बाद होश हुआ। होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड़ लिये और बोले—'प्रभो! अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ—ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उसे मन्त्र दिया। वे उनके बहुत प्यारे शिष्योंमें तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किञ्चित् जाननेपर भी अन्तःकरणकी मलिनताके कारण विश्वास नहीं कर पाते।

९९. सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है। उद्धव जब व्रजसुन्दरियोंको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमें खूब फटकारे गये। वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि 'देखो श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये हैं।' जब उद्धवने यह देखा, तब वे दंग रह

गये। फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें। पर ललिताजीके हुकुमसे रोक दिये गये। उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें। ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अंधे बनकर वहीं चलो। यह प्रेमका विनोद था। पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती थी। इसीलिये एक अंशसे ललिताजीने अवतार धारण किया तथा उद्धवने भी एक अंशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिंदू बेगमके पास पलीं। बेगम उन्हें बहुत छिपाकर रखती थीं। पर एक दिन बादशाहने देख लिया। उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी ही नहीं थी। बेगम उस लड़कीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लड़कीके समान ही मानती थी।

एक दिन बेगमने उस लड़कीसे कहा कि 'बेटी! तू एक दिन मेरा शृङ्गार कर दे; क्योंकि तुम्हें जैसा शृङ्गार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा।' उस लड़कीने मामूली शृङ्गार कर दिया। बेगम बादशाहके पास गयी। उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया। वह बोला—'बेगम! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ; सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है।' अन्तमें बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैंने शृङ्गारके लिये प्रार्थना की। उसने मुझे मामूली ढंगसे सजा दिया। यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता।' बादशाहके मनमें पाप आ गया। बेगम उसे लड़की मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी। किंतु मनमें पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन शुरू हो गयी। बड़े-बड़े हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ। फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है, किसी महात्माकी कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा। उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे। वे बुलाये गये। सूरदासने कृपा-परवश होकर जाना स्वीकार कर लिया। वे आये तथा अकबरको देखकर कहा—'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है; तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टि की है, उसीके कारण यह हुआ है।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा, तमाशा देखो।' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास आया है, वह बुलाता है। बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची। दोनों एक दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते-ही-देखते अपने-आप जलकर खाक हो गयी। सबको बड़ा अचम्भा हुआ। अकबरने प्रार्थना की। उसीपर सूरदासने एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे।'

पता नहीं, यह घटना कहाँतक सत्य है; पर सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे जन्म धारण करते हैं। इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि किस भेषमें कौन है; सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है।

१००. जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक-ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है।

हालकी बात है। वृन्दावनमें एक महात्मा हैं। वे इस समय भी हैं। खूब भजन करते हैं। पर पहले बहुत नास्तिक थे। कलकत्तेमें रहते थे। दलाली करते थे। श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते थे। बुरी तरह नास्तिक थे। कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी। वे भी मजाक उड़ानेके लिये देखने गये। रासलीला हो रही थी। कौन-सी लीला थी, यह हमें याद नहीं है। मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बातें बतायी थीं। पर अब पूरी तरह याद नहीं है। जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी

जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हींको दर्शन हुआ। बस, उसी क्षणसे सब छोड़-छाड़कर वृन्दावन चले आये और माला फेरते हैं।

१०१. वृन्दावनके वृक्षोंकी भी बड़ी विचित्र बात है। एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वयं जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एवं भाईजीको सुनायी थीं।

एक पेड़ था। उसे काटनेकी तैयारी हुई। रातमें एक मुसलमान दारोगा (Sub-Inspector) को स्वप्न हुआ कि 'देखो मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमें पेड़ होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ।' वह मुसलमान था, पर सब पता-ठिकाना—आदमीका नामतक स्वप्नमें बताया गया था। इसलिये उसे जाँचनेकी इच्छा हुई। जाँचनेपर सब बातें ज्यों-की-त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नहीं था।

दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी—एक साधु जङ्गल-में एक लताके नीचे शौच होने जाते थे। वहाँ कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते। फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ—ठीक याद नहीं, जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहींकी एक चमारिनने बड़ी भक्तिसे उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमें लाज नहीं आती। मैं रोज तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं। देखो, व्रजके लता एवं वृक्षोंके नीचे शौच मत जाया करो।' भागवतमें तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहाँके पेड़ प्रायः बड़े-बड़े ऋषि हैं, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं।

१०२. व्रजमें अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव होते हैं। एक साधु थे। भगवान्‌के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नहीं हुआ। सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें। वहाँ किसी-न-किसी रूपमें दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। व्रजमें आये। न जान, न पहचान। एकादशीका दिन था। फलाहार कहाँ मिले? एक बालक आया। बोला, 'बाबाजी! मेरी माँ एकादशी करती है, ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है।' बाबाजी गये, बुढ़ियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया। भरपेट खाकर फिर बोले—'वह बालक कहाँ गया माई?' बुढ़िया बोली—'बालक कौन?' वे बोले—'जो हमें लाया था।' बुढ़िया बोली—'मेरा न तो कोई लड़का है, न मैंने किसीको भेजा था। आप आ गये। मैंने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती रहती हैं।

१०३. श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे। आप तो फिर भी मनुष्य हैं। किसी दिन कृपा करके यदि एक हल्की-सी स्वप्नमें भी झाँकी उन्होंने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवन भर रोते ही रह जायँगे।

१०४. महाप्रभु संन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो-रोकर बेहोश होने लग गये। बड़ा विचित्र दृश्य था। सभी धूलिमें लोटकर छाती फाड़कर रो रहे थे। आँखोंसे आँसूका फव्वारा छूट रहा था। एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी आँखोंमें आँसू नहीं थे। ये अद्वैता-चार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे। ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस-पचास वर्षतक लगातार इन्होंने तुलसी-गङ्गाजलसे भगवान्‌की पूजा की थी और केवल यही वर माँगते रहे थे कि 'हे नाथ! जीवोंका दुःख देखा नहीं जाता, अवतार लेकर जीवोंको भक्त बनाओ और सबका दुःख मिटा दो।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य-महाप्रभुका अवतार हुआ था

सब रो रहे थे, पर इनकी आँखोंमेंसे आँसूकी एक बूँद भी नहीं निकली। महाप्रभु सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे। महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे। महाप्रभुने कहा—'आचार्य! अब लौट जाइये।' अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभो! साथ जानेके लिये नहीं आया हूँ; केवल यह कहनेके लिये आया हूँ कि मेरे-जैसा अधम प्राणी, पत्थरके हृदयवाला प्राणी, नीरस प्राणी संसारमें दूसरा आपको नहीं मिलेगा। आप देखिये, आपके जाते समय ऐसा कोई भी नहीं कि जिसकी आँखोंसे आँसूकी धारा न बह रही हो; पर मेरी आँखोंमें एक बूँद भी आँसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले—'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ, मुझे आपसे काम लेना था। मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश-से होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैंने अपने कौपीनमें एक गाँठ बाँधकर आपके प्रेमको रोक रखा है। पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये।' यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी। खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड़ खाकर गिर पड़े और रोने लगे।

देखें, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता। पर यह ठीक है कि जो प्रेममें रोना चाहेगा, नहीं रोनेके कारण जिसके हृदयमें पीड़ा होती है, उसे भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही। पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी हो—इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हों। उनके रहस्यको कौन जाने। मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये—अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण।

१०५. कुछ साल पहले एक प्रेमी सज्जन वृन्दावन गये थे। नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे। वर्षाका मौसम था। यमुनाजीमें खूब पानी था। संध्याका समय था। इतनेमें खूब वर्षा हुई। टीले, जमीन, रास्ता दीखना बंद हो गया। नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जंगलके पास खड़े थे। इतनेमें देखा कि कुछ गायें आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढ़े हुए पीछे-पीछे आ रहे हैं। मुझे घटना ठीक-ठीक याद नहीं है। वे शायद रास्ता भूल गये थे। बच्चोंसे पूछा। एक बच्चा बड़ा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिंचता चला जा रहा था। कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा। ये पीछे-पीछे चले। उसने मना किया, पर ये माने नहीं। उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌का दर्शन तो वे जब ठीक समझेंगे, आवश्यक समझेंगे, तब हो जायगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये।

१०६. एक ब्राह्मण थे। ऐसी घटना हुई—एक सालके भीतर परिवारमें जितने थे, सभी मर गये, वे अकेले बच गये। श्राद्ध आदि करनेमें ऋण हो गया, मकान गिरवी रखकर रुपया लिया। फिर एक जगह आठ-दस रुपये महीनेकी नौकरी कर ली, इसीसे पाँच-सात रुपये बचाकर किश्तका रुपया भरते जाते थे और बहुत कम खर्चमें काम चलाकर विहारीजीके मन्दिरमें भजन करते रहते थे।

यह नियम है कि तमस्सुककी पीठपर किश्तका रुपया चढ़ा दिया जाता है। पर उस महाजनके मनमें बेईमानी थी; वह मकान हड़पना चाहता था; इसीलिये चढ़ाता नहीं था। जब रुपया करीब सब भर गया, केवल आठ-दस रुपये बाकी बचे थे, तब उसने पूरे रुपयेकी सूदसहित नालिश कर दी। सम्मन आया, बिचारे ब्राह्मणदेवता विहारीजीके मन्दिरमें बैठे थे। सुनकर बहुत दुखी हुए, बोले—मैंने तो सब रुपये भर दिये हैं, केवल आठ-दस रुपये बाकी हैं। उसकी विकलता देखकर सम्मनवाले चपरासीको दया आ गयी।

उसने कहा—'कोई गवाह है ?' ब्राह्मणने कहा—'कोई नहीं।' वह बोला—'तो बड़ी दिक्कत है।' ब्राह्मण बोला—'हाँ, एक गवाह विहारीजी हैं।' भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला कि चपरासीकी समझमें यह आ गया कि सचमुच कोई विहारीजी नामका एक व्यक्ति इसका गवाह है। उस चपरासीने जाकर मुन्सिफसे कह दिया कि हुजूर ब्राह्मण ईमानदार है। महाजन बेईमान है। उस ब्राह्मणका एक गवाह है विहारीजी। उसके नामसे सम्मन निकाल दें। मुन्सिफ भी भला आदमी था। उसने सम्मन निकाल दिया। वही चपरासी फिर आया। ब्राह्मण वहीं बैठे थे। बोले, 'यहीं कहीं होगा। तुम यहीं कहीं साटकर चले जाओ।' भगवान्‌की लीला थी। उसने समझा क्या हर्ज है। लोगोंको तो पता था कि विहारीजीका अर्थ ये विहारीजी हैं। इसलिये सब लोग हँस रहे थे कि यह कितना मूर्ख है।

तारीख आयी। उसके पहले दिन रातमें ब्राह्मणने मन्दिरमें जाकर रहनेकी आज्ञा माँगी; पर पुजारी आदि तो हँसते थे, उसके बहुत रोनेपर उन सबने आज्ञा दे दी। वह रातभर रोता रहा। सुबह उसे नींद आ गयी। देखता है कि विहारीजी आये हैं और कह रहे हैं—'रोते क्यों हो, तुम्हारी गवाही मैं जरूर दूँगा।' नींद खुलते ही वह तो आनन्दमें भर गया और उसे तनिक भी संदेह नहीं रहा—पूरा विश्वास था कि ये मेरी गवाही जरूर देंगे।

लोगोंमें हलचल मच गयी। उसने कहा—'तुमलोग देखना मेरी गवाही विहारीजी जरूर देंगे।' बहुत-से आदमियोंने सोचा—चलकर कोर्टमें आज तमाशा देखेंगे। पर भगवान्‌की लीला! आँधी-पानी आ गया, फलतः बहुत कम आदमी जा सके, फिर भी कुछ-कुछ पुण्यात्मा भाग्यसे चले गये।

कोर्टमें मुन्सिफके सामने मामला पेश हुआ। मुन्सिफने पूछा—'गवाह आया है ?' ब्राह्मण बोला—'हाँ, हुजूर आया है।' चपरासीने आवाज लगायी—'विहारी गवाह हाजिर हो!' पहली बार कोई जवाब नहीं, दूसरी बार कोई जवाब नहीं। तीसरी बार जवाब आया—'हाजिर है।' इतनेमें लोगोंने देखा—एक व्यक्ति अपने सारे शरीरको काले कम्बलसे ढाँके हुए आया और गवाहके कठघरेमें जाकर खड़ा हो गया। उसने जरा-सा मुँहका पर्दा हटाकर मुन्सिफको देख लिया। बस, मुन्सिफके हाथसे कलम गिर गयी; वह एकटक कई मिनटतक उसकी ओर देखता रहा। उसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो वह बेहोश हो गया हो।

कुछ देर बाद मुन्सिफ बोला—'आप इसके गवाह हैं ?' वह काले कम्बलवाला बोला—'जी, हाँ।' आपका नाम ? 'विहारी।'—आपको मालूम है, इसने रुपये दिये हैं ?—इसपर बड़ी सुन्दर उर्दू भाषामें विहारी गवाह बोले—'हुजूर! मैं सारे वाक्यात अर्ज करता हूँ।' इसके बाद बताना शुरू किया। अमुक तारीखको इतने रुपये, अमुक तारीखको इतने रुपये—तारीखवार करीब सौ तारीखें बता दीं। मुद्दईका वकील उठा और बोला—'हुजूर! यह आदमी है कि लायब्रेरी, कभी आदमीको इतनी तारीख याद रह सकती है ?' विहारी गवाह बोले—'हुजूर! मुझे ठीक-ठीक याद है, जब यह रुपये देने जाता था, तब मैं साथ रहता था।' मुन्सिफ—'क्या रुपये बहीमें दर्ज हुए हैं ?' विहारी गवाह—'जी हाँ, सब दर्ज हुए हैं, पर नाम नहीं है। रोकड़ बहीमें उन-उन तारीखोंमें रकम जमा हैं, पर इसका नाम नहीं है। दूसरे झूठे नामसे जमा है।' मुन्सिफ—'तुम बही पहचान सकते हो ?'

विहारी—'जी हाँ।'

मुन्सिफने उसी समय कोर्ट बर्खास्त किया और दो-चार चपरासियोंके साथ मुद्दईके मकानपर चला गया। साथ-साथ विहारी गवाह थे। किसीने गवाहका शरीर नहीं देखा, केवल मुन्सिफने मुँह देखा था।

वहाँ पहुँचकर विहारी गवाहने आलमारी बता दी। बहीका इशारा कर दिया कि उस बहीमें है। मुन्सिफने

बही निकलवाकर मिलाना शुरू किया । गवाहने जो तारीखें बतायी थीं, उन्हीं-उन्हींमें उतनी-उतनी रकम दूसरे उचन्तके नामसे जमा थी । अन्तिम तारीख कई पन्नोंके बाद थी । पन्ने उलटनेमें देरी हो गयी । पर वह भी ठीक मिली । पर इतनेमें ही लोगोंने देखा कि बिहारी गवाहका पता नहीं । क्या हुआ, कहाँ गये, कुछ पता नहीं चला । मुन्सिफ कोर्टमें आया । मुकदमे-को डिसमिस कर दिया और स्वयं त्यागपत्र लिखकर साधु हो गया । वे ब्राह्मण और मुन्सिफ शायद दोनों अभी तक वृन्दावनमें जीवित हैं । यह घटना कहीं शायद छपी भी है । सम्भव है, मुझे कुछ हेर-फेरसे सुननेको मिली हो । पर घटना सर्वथा सच्ची है तथा इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है । यदि मनुष्यका भगवान्‌पर सच्चा विश्वास हो तो आज भी ऐसी, इससे भी अद्भुत घटना हो सकती है, होती है ।

सांसारिक कार्योंमें सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्‌के लिये तो दोनों ही समान हैं । असलमें भगवान् भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु हैं; उनसे हम जो चाहें, वही वे करनेको तैयार हैं । हाँ, चाह सच्ची और दृढ़ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है ।

१०७. चटगाँवमें एक कृष्णानन्दजी साधु हैं । इस समय भी हैं । उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव है । उन्होंने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मँगवायी । मँगानेपर उनको पसंद नहीं आयी, बोले—'तुम गड़बड़ करते हो, यह नहीं चल सकती । मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूँ; जो मूर्ति मेरे हृदयमें है, वही मूर्ति मुझे चाहिये । नहीं तो तीन दिन बाद मैं तुम्हें गङ्गामें फेंक दूँगा ।' भगवान्‌को तो विश्वास चाहिये । वे देखते हैं केवल सच्चा विश्वास । उनका विश्वास ठीक था । तीन दिनमें पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है । इस बार गोरखपुरमें उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था । ऐसा जान पड़ता है मानो जीवित पुरुषका फोटो हो । ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात् बन सकती है ।

१०८. भगवान्‌के विषयमें एक विलक्षण बात है । वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देंगे, फिर निश्चय समझिये, बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देंगे ! यह नहीं कि भजन करो, स्मरण करो । केवल मनमें यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देंगे । भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ संसारके विषयोंतकके-लिये यह नियम लागू है—सबके लिये लागू है ।

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमें आजतक तो ऐसा नहीं हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले-पहल होगा ?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो संसारके इतिहासमें पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा ।

व्रजप्रेमका नियम है—अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है । पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमें तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पड़ेगा, तो ठीक मानिये, उसके लिये ही नया नियम बनेगा । ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देंगे ।

१०९. जब दिव्य वृंदावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्‌में प्रकाश होता है, तब उसमें भी कई रहस्यकी बातें होती हैं । गतबार जो नन्द-यशोदा हुए थे, उनके विषयमें भागवतमें लिखा मिलता है कि वे दोनों तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे । होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द-यशोदा हैं, उन्हींका इनमें आवेश हो जाता है । भागवत-की यहाँवाली जो लीला है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है; पर किसी-किसी अंशमें उसमें प्राकृत संयोग भी

रहता है; क्योंकि यह लीला प्रकट ही इसीलिये की जाती है कि इसके द्वारा और-और भक्तोंको इसमें शामिल किया जाय। जो नित्य लीला है, उसमें कंस आदिका वध नहीं होता। वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमें उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कलममें भी है, विश्वके अणु-अणुमें है; पर प्रकट वहीं उस वृन्दावनमें हुआ करती है। नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमें उनका आवेश हो जाता है। श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा—ये दोनों भी कभी साक्षात् आते हैं, पर कभी उनका आवेश भी होता है। जैसे इस बार जो लीला हुई थी, उसमें नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था।

असल बात तो यह है कि इसका तत्त्व समझना असम्भव-सा है; क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहींतक बनता है, जबतक वह लीला सामने नहीं आती। सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता। केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है। भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं। जहाँपर आपको यह घड़ी दीख रही है, वहीं अनादि कालसे जो लीला हुई है, अनन्त कालतक जो होगी, वे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं; क्योंकि वस्तुतः घड़ीकी जगह स्वयं भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमें हैं। जबतक आपको घड़ी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेंगे। और जब घड़ीका दीखना बंद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेंगे, उस समय यह ज्ञान भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घड़ी थी। यह घड़ीका दीखना एवं घड़ीका ज्ञान तो तभीतक हैं, जबतक भगवान् नहीं दीखते। उनके दीखनेपर तो वे-ही-वे रह जायँगे। इसी प्रकार उनकी कोई-सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नहीं बनेगा कि कौन नित्य है और कौन पीछेकी है; क्योंकि असलमें तो जो कुछ भी है, वह सब भगवान् हैं। यह तो समझानेके लिये है। जबतक भगवान् नहीं दीख रहे हैं, तबतक भेद-ज्ञान—यह ऊँचा, यह नीचा, यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हें ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वाल-बाल, जो स्वयं भगवान् ही बने थे—इन दो प्रकारके ग्वाल-सखाओंमें क्या भेद था? तो वास्तवमें तो कोई भेद नहीं है; क्योंकि पहले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमें कई साधनसिद्ध भी सखा थे। दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए वे सब-के-सब स्वयं श्रीकृष्ण ही बने थे; सखाओंमें भी नित्य सखा एवं साधन-सिद्ध सखा—ये दो भेद तो हैं ही। आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्‌की नित्य लीलामें सम्मिलित हुआ, वह साधन-सिद्ध सखा माना जायगा। पर यह मानना भी हमारी-आपकी दृष्टिसे है; श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो वे-ही-वे सदासे हैं और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्‌के मालिक—तीनों बने हुए हैं; परंतु जबतक हम अपने-आपको अनुभव करते हैं, तबतक यह ऊँचे-नीचेका भेद बना ही रहेगा। इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता।

शास्त्र एवं संत कहते हैं—जो है, भगवान् है; जो नहीं है, वह भगवान् है; तथा है, नहीं है,—इन दोनोंसे परे भी भगवान्‌का रूप है, जो अनिर्वचनीय है। पर यह स्थिति भी तो वाणीमें आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता। यही बात दिव्य लीलाके रहस्यमें भी है। देखनेपर ही कोई यत्किंचित् समझ सकता है कि वह क्या वस्तु है।

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है—जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है।

बिल्कुल कोई वस्तु भगवान्‌के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं। पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख-दुःख होता है, अहंकार है, तबतक साधना करो। परंतु यह अहंकार, यह सुख-दुःख भी उन्हींका रूप है; फिर साधना क्यों करें? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दुःख मिट जाय।

११०. मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टि-तत्त्वका, भगवान्‌के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमें न पड़कर सरल चित्तसे भगवान्‌का चिन्तन करे, साधनामें जुट जाय। बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामें जुट जाय। नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नहीं हुआ, तब तो फिर आज हमारा सबसे खराब दिन बीता। नहीं होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले-ले, तब होगा।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोंमें वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वयं ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीस घंटे वहीं साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये। उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है। जैसे मान लें एक सेवा है—हाथ-पैर धुलाना। अब दिनभरमें न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पड़ेगा। लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगड़ें, पर साधक उतनी देरके लिये, चाहे बीस सेकंड ही क्यों न हो, सब काम छोड़कर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा। अभ्यास होनेपर लोगोंको पता नहीं चलेगा। लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है।

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है—आपने जो समझा होगा, उससे बिल्कुल नयी बात है। उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है। वह तो केवल वही जान सकता है, जो स्वयं इस ओर पैर बढ़ाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय; फिर सारी बात समझमें आती जायगी और बिल्कुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वयं केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे हो, एक बार चेष्टा करके भगवान्‌की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें। जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीज़ नया-नया दृश्य मनके सामने भगवान्‌की दयासे आने लग जायगा। फिर यह जरूरत नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुनें। भगवान्‌की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी—प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयगी कि मन आनन्दमें डूबा रहेगा। केवल आप ही उसका आनन्द लेंगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेंगे। भगवान्‌की पूरी कृपा आपकी सहायता करेगी। जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेंगे। आरम्भिक साधनामें किसी दिन तो बेगार-सा बड़ा बुरा मालूम होगा; क्योंकि मन भागना चाहेगा। पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़ें; अपने-आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी। कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा; पर मन भाग-भागकर वहीं चला आयगा। बिल्कुल ऐसा हो जायगा मानो अपने-आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक-पर-एक आती रहेगी। पर प्रारम्भमें थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। फिर आगे चलकर सच मानिये भगवान्‌की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा।

चित्त-निग्रह

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

जीवात्माको कर्त्ता और भोक्ता बनानेवाला चित्त ही है। शरीर चाहे जो क्रिया करे, परंतु उस क्रियामें यदि चित्तका साथ न हो तो उससे मनुष्यको कर्तृत्व नहीं मिलता। शराब पीकर बेहोशीकी हालतमें खून करके उसके दोषसे भी खूनी छूट जाता है। भाँग पीकर बकनेवाले आदमीको होश आनेपर इस बातकी खबर ही नहीं रहती कि वह क्या बक गया था; क्योंकि दोनों प्रसङ्गोंमें चित्त नशेसे परवश होकर केवल संयोगवश कर्म करता है। जो कुछ हमलोग चित्तसे करते हैं, वही किया हुआ समझा जाता है और चित्तसे न किया हुआ कार्य किया नहीं माना जाता। शरीर जड है; इसलिये वह स्वयं कुछ कर सके, ऐसी बात नहीं है। विशुद्ध आत्मा नित्य असङ्ग और चेतन है, इसलिये वह भी कुछ करता नहीं। शरीर और आत्मा दोनोंके बीचका चित्त ही आत्मासे शक्ति प्राप्तकर आत्माके साथ जुड़कर कर्म करता है और जीवात्माको कर्ता-भोक्ता बनाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें ले जानेवाला चित्त ही है। चित्तसहित चेतनका शरीरमें प्रवेश करना ही 'जन्म' कहलाता है; और वैसे ही शरीर छोड़ना 'मरण' कहलाता है।

जैसे झूठ बोलना और झूठसे बचना—ये दोनों शक्तियाँ मनुष्यमें होती हैं, जैसे बाण छोड़ना और बाणको वापस लेना—ये दोनों शक्तियाँ एक ही मनुष्यमें होती हैं, उसी प्रकार विचार और अविचार—ये दोनों शक्तियाँ चित्तकी हैं। चित्त विचार करके करता है तो शुभ करता है और अविचारसे करता है तो अशुभ करता है। शरीरकी क्रिया रोकनेसे नहीं रुकती, जबतक चित्त न रोका जाय। हमको जिस प्रकारका जीवन वहन करना है, उसी प्रकारका चित्त बनाना पड़ेगा। जैसे मूर्ख हाँकनेवाला गाड़ी, घोड़े और बैठनेवालेको गड्ढेमें जा गिराता है और बुद्धिमान् हाँकनेवाला निश्चित स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकार मूर्ख चित्त शरीर, इन्द्रियों और आत्माको विपत्तिमें डालता है और विज्ञ चित्त उन्हें निश्चित स्थानपर ले जाता है। न तो शरीरमें कोई फेर-फार होता है, न आत्मामें होता है; होता है तो वह चित्तमें ही होता है। शरीर और आत्मामें फेर-फारकी इच्छा भी बेकार है; क्योंकि कर्ता चित्त है। इसलिये सारे शास्त्र, सारे धर्म इस चित्तको कल्याण-मार्गपर चलानेके लिये ही अनेकों उपाय बतलाते हैं। चित्तको कल्याण-मार्गपर ले जानेकी युक्तियाँ भी अनेक हैं। इस प्रकार रास्ते विभिन्न होनेके कारण धर्मके रूप भी अनेक हो गये। शरीर नश्वर है; और परमात्मा है ही; परंतु चित्तका निग्रह किये बिना कल्याण नहीं होता, यह तो सर्वसम्मत है। जो शाश्वत है, वह परमात्मा है। नास्तिकोंके मतमें भी कोई-न-कोई शाश्वत पदार्थ है ही। इन्द्रियोंका भोग यदि किसी सिद्धान्तमें इष्ट माना भी जाता हो, तो भी वह अन्ततः इन्द्रिय-निग्रहके लिये, चित्तकी शान्तिके लिये ही है। सुखकी इच्छा रखनेवालोंको चित्तपर दृष्टि रखनी चाहिये। जैसे ऊधमी बालककी मा बराबर ध्यान रखती है कि बालक कहाँ गया, उसी प्रकार जिज्ञासु पुरुषको बार-बार यह खोज रखनी चाहिये कि चित्त-देवता कहाँ विराज रहे हैं। चित्तके ठहरनेके दो स्थान हैं—एक इन्द्रियोंके भोग और उनके लिये प्रवृत्ति तथा दूसरा आत्मा और उसके लिये प्रवृत्ति।

जैसे जलका प्रवाह स्वभावतः नीचेकी ओर होता है, जैसे वायुकी गति स्वाभाविक ही वक्र होती है और जैसे अग्निकी शिखा स्वभावतः ऊपरकी ओर उठती है, उसी प्रकार चित्तका स्वाभाविक प्रवाह इन्द्रियोंके द्वारा भोगकी ओर होता है। जैसे पतङ्गका स्वाभाविक पतन अग्निकी ओर होता है और उसके द्वारा नाशकी ओर जाता है। जैसे नदीका प्रवाह स्वभावतः समुद्रकी ओर होता है और वह अपने नाशके लिये होता है, उसी प्रकार चित्तका प्रवाह भी इन्द्रियोंके भोगोंकी ओर स्वाभाविक है, और इससे वह अपना, इन्द्रियोंका और देहका नाश ही करता है। परंतु यह उसका स्वभाव है। जैसे भोगकी ओर जानेकी वृत्ति चित्तकी है, वैसे ही भोगकी ओरसे लौटनेकी शक्ति भी उसमें है। निगृहीत चित्त भोगसे लौटता है और अवश चित्त भोगमें फँसा रहता है। चित्तकी सामर्थ्यपर बड़प्पन और छोटापन, दिव्यता या पशुताका भेद निर्भर है। निगृहीत चित्त ही देवता है और भोगमें भटकनेवाला चित्त ही पशु है। निगृहीत चित्त ही परम हितकारी बन्धु है और भोगोंमें विचरनेवाला स्वच्छन्दचित्त सबसे बड़ा वैरी है। पशु-पक्षी सब भोगाधीन होनेके कारण पामर हैं। भोगाधीन चित्त पामर है, दरिद्र है, पराधीन है। भोगमात्र पराधीन है और यह पराधीनता दूसरेसे आशा करवाती है। जो सुख दूसरेके आश्रित होता है, उसकी स्थिरता दूसरेकी स्थिरता और अनुकूलतातक ही होती है। मनुष्यमें भी छोटाई-बड़ाई

चित्तकी वशताके ऊपर ही है। जिसका चित्त विशेष निगृहीत होता है, वह दूसरोंसे बड़ा है, देवतारूप है; क्योंकि उसका चित्त विशेष निगृहीत है। निगृहीत चित्तमें विशेष सामर्थ्य, शक्ति और सिद्धिका उदय होता है, और अनिगृहीत चित्त भोगसे विविध सामर्थ्यका नाश करता है। भोग पल-पलमें पुण्यका नाश करता है। अभोग पल-पलमें चित्तको निगृहीत करके विविध शक्तिका संचय करता है। जैसे समान आयवाले खर्चीले और कंजूस—दो मनुष्योंमें कंजूस धन-संचय करता है और खर्चीला उससे वञ्चित रहता है, उसी प्रकार निगृहीत चित्त पल-पल शक्तिका अर्जन करता है और अनिगृहीत चित्त शक्तिका क्षय करता है। एक मनुष्य भोग-विशेषमें निगृहीत होता है और दूसरेमें अनिगृहीत। इससे जितना भोगमें निग्रह होगा, उतनी ही उसमें सामर्थ्य विशेष आयेगी। पाँच प्रकारके भोग होते हैं। पाँचों प्रकारके भोगसे जिसकी चित्तकी वृत्ति उपरामताको प्राप्त हो गयी है और इस कारण जिसका चित्त आत्मामें सदाके लिये स्थापित हो गया है, वह मुक्त है। चित्तकी भोगमें स्थितिका नाम है जन्म-मरण; चित्तकी आत्मामें स्थितिका नाम है मोक्ष। भोगमें चित्तको रखते हुए जो मोक्षकी इच्छा करता है, वह मानो कमरमें भारी पत्थर बाँधकर सागर तैरनेका इच्छुक है। चित्तसे भोगका त्याग किये बिना, चित्तको भोगमेंसे हटाये बिना कभी चित्त आत्मामें स्थिर होनेका नहीं।

जैसे एक देह छोड़े बिना दूसरा देह सामान्य मनुष्यके द्वारा नहीं धारण किया जा सकता, उसी प्रकार भोगमेंसे चित्तको हटाये बिना आत्मामें चित्तकी स्थिति मुमुक्षुके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती।

चित्त आलम्बनके बिना नहीं रह सकता। चित्तका भोग ही आलम्बन है। भोगसे परिणाममें दुःख तो दीखता है, परंतु आत्माके सुखका अनुभव नहीं होता; इसीसे वह भोग त्यागकर आत्मामें स्थिति नहीं कर सकता। अपने पिताके यहाँ पाली गयी कन्या बड़ी होनेपर विवाह होनेके बाद ससुराल जानेमें हिचकती है, उसी प्रकार चित्त भोग त्यागनेमें हिचकता है। जब ब्याही कन्या परवश होकर ससुराल जाती है और वहाँ पतिसुखका अनुभव करती है, वह वहाँ कठिनतासे रहती है, पर जब पतिगृहमें एकता प्राप्त करती है, तब पितृगृहको भूल जाती है। इसी प्रकार चित्तको जब आत्मसुखका अनुभव होता है, तब वह भोगसुखको छोड़ देता है। आत्मसुखका अनुभव हुए बिना चित्त भोगसुखके रसको छोड़ नहीं सकता। भले ही शरीरसे भोग न भोगे; परंतु उसके अन्तरमें तो भोगकी लालसा तभी छूटती है, जब वह आत्मसुखका अनुभव करता है। भोगसुख खण्डित है, क्षणिक है। आत्मसुख अनन्त है। जैसे वस्तुका सुख तभी तक भोगा जाता है, जबतक वह वस्तु रहती है, उसी प्रकार भोगका सुख भोग-पदार्थ प्राप्त होनेतक भोगा जाता है। जैसे मणिका प्रकाश सुलभ है और दीपकका प्रकाश पराधीन है, उसी प्रकार आत्मसुख सुलभ और नित्य है तथा भोगसुख दुर्लभ और अनित्य है। भोगसुख वस्तुके अधीन है और वस्तु पल-पल कालके गालमें चली जा रही है।

केवल भोग-वस्तु ही कालाधीन नहीं, बल्कि भोग भोगनेके साधन—देह और इन्द्रियाँ भी कालाधीन हैं। इसलिये भोग-पदार्थ, देह, इन्द्रियाँ—सब कालाधीन और पराधीन हैं; और इसमें भी भोगसुख भोगके प्राप्ति-कालमें ही रहता है। भोगसे सुख चाहनेवालेको अनेकों क्लेश और कष्ट सहकर भोग प्राप्त करने पड़ते हैं। प्राप्त भोगकी कालसे और परायेसे रक्षा करनी पड़ती है, इन सबमें उसको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव करना पड़ता है। भोग प्राप्त करनेके विचारसे जबसे उद्यम शुरू होता है, तबसे उस भोगको प्राप्तकर भोगनेके समयतक तो भोगकी इच्छावालेको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव होता है। प्राप्तिके कालमें सुखका लेश अनुभव करनेके बाद, फिर वृत्ति अन्य भोगकी प्राप्तिमें या प्राप्त भोगके क्षणमें लीन हो जाती है। यों एक क्षणके सुखके लिये अनेक क्षणके लंबे समयमें जीव दुःखका अनुभव करता है और इस भोगको प्राप्त करने तथा भोगनेमें भोगके साधन शरीर, इन्द्रियों और बलका नाश ही होता है।

विषयभोग और रसभोग—ये दो मुख्य भोग हैं। विषयभोगसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तका बल नष्ट होता है, शरीर क्षीण होता है, वीर्य नाशको प्राप्त होता है, प्राण क्षीण होता है। भोगमात्र पिछले भोगके लिये शरीरको अशक्त करते चले जाते हैं और फिर दूसरे भोगकी वासना प्रदान करते जाते हैं। यह भोगोंकी विशेष खूबी है। भोग भोगनेसे सदाके लिये भोगकी इच्छा मरती नहीं। परंतु भोगके रसका, भोगेच्छाका बीज वह बोता जाता है और उसकी प्राप्तिके लिये आसक्ति प्रदान करता जाता है। यह बड़ी विचित्रता है। प्रत्येक भोग दूसरे भोगोंकी प्राप्तिकी वासना और उसको प्राप्त करनेकी आसक्ति प्रदान करता रहता है। ऐसी परम्परा रहती है, तब चित्त भोगसे कैसे तृप्त हो। शरीर, भोग और साधनके कम होने और नाशको प्राप्त होनेपर भी

भोगेच्छा न तो घटती और न नाशको प्राप्त होती है, बल्कि ताजी होती जाती है और इसी कारण वह दूसरे शरीरको उत्पन्न करती है। इसीका नाम है पूर्वदेहका मरण और नये देहका जन्म।

देह धारण करना और त्याग करना तथा फिर दूसरा देह धारण करना—यह चक्र न जाने कितने कालसे जीवका चलता आ रहा है। अनेकों दुःखों और क्लेशोंका अनुभव होनेपर भी चित्त इससे विराम नहीं प्राप्त कर रहा है; क्योंकि उसको दूसरा आलम्बन नहीं मिला। जिसे शराबकी लत पड़ गयी है, वह अनेकों प्रकारके दुःख उठाता हुआ भी आदत होनेके कारण जैसे उसको छोड़ नहीं सकता और दुःखमें पड़ा रहता है, उसी प्रकार चित्त दुःख पानेपर भी भोगको नहीं छोड़ सकता।

जैसे नदीके पानीको समुद्रमें जानेसे रोकनेके लिये सुदृढ़ बाँधके सिवा अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तिको भोगकी ओरसे दृढ़ आग्रहपूर्वक हटानेके सिवा लाख उपाय करनेपर भी वह आत्माकी ओर नहीं लग सकता।

आत्माका अर्थ है—नित्य, सुप्राप्त, शाश्वत, विकार-विनाशरहित अखण्ड सुखका धाम। और भोगका अर्थ है—अनित्य, दुर्लभ, विकारी, विनाशी तथा क्षणिक सुख और अखण्ड दुःखका धाम। इसलिये चित्तको भोगकी ओरसे हटानेके लिये आग्रहपूर्वक भोगविशेषसे निवृत्तिरूप वैराग्यका प्रबल बाँध उसके प्रवाहको रोकनेके लिये बाँधना चाहिये और साथ-ही-साथ दूसरी ओर उस प्रवाहको आत्माकी ओर बहानेका अभ्यास करना चाहिये। वैराग्य और अभ्यासके बिना चित्त आत्मामें स्थितिलाभ नहीं कर सकता।

जैसे पर-स्त्रीलम्पट पुरुष परस्त्रीकी ओरसे मुख मोड़कर यदि अपनी स्त्रीमें पूर्णरूपसे मग्न हो जाय, तभी वह पर-स्त्रीका ख्याल छोड़ सकता है, नहीं तो फिर परस्त्रीमें रत हो जाता है, उसी प्रकार भोगसे लौटा हुआ चित्त आत्मामें स्थिर होनेपर ही भोगको भूल सकता है, नहीं तो फिर भोगोंमें लौट आता है।

अब प्रश्न यह है कि पाँचों भोगोंसे चित्तको कैसे लौटाया जाय तथा आत्मामें उसकी स्थिति कैसे करायी जाय। प्रत्येक भोगके लिये पृथक्-पृथक् उपायोंके साथ पहले 'वैराग्य' के विषयमें समझना है।

चित्त भोगकी इच्छा करता है, उसके पहले चित्तकी शान्त अवस्था होती है। चित्त जब शान्त होता है, किसी भी संकल्प या इच्छासे रहित होता है, तब वह अखण्ड सुखका अनुभव करता है। संकल्प, इच्छा, भोग-विचार शान्त चित्तको अशान्त करते हैं। अशान्त चित्त दुःख और क्लेशका अनुभव करता है। अबतक भोगोंमें लगे चित्तको लौटाकर अखण्ड सुखकी इच्छा करनेवाले जिज्ञासुको सर्वप्रथम जीवन-यात्रा चलानेके अतिरिक्त सारे व्यसनों और भोगोंको त्यागनेका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनमें सबसे प्रथम सारे व्यसनोंका त्याग करे। व्यसन उसे कहते हैं, जिसके न होनेपर देह तो नष्ट होता नहीं, परंतु जिसके न मिलनेपर मनको चैन नहीं पड़ता। बीड़ी, पान, सुपारी, तंबाकू, अफीम, शराब, चाय, काफी, इत्र, फुलेल आदि जो-जो व्यसन हों, जो मनोरञ्जनके लिये किये जाते हों, उनको आग्रहपूर्वक छोड़े—बलपूर्वक छोड़े। इन व्यसनोंके छोड़ देनेपर चित्तको बहुत आराम मिलता है। चित्तमें शक्ति और स्फूर्ति आने लगती है। खूबी यह है कि ज्यों-ज्यों चित्त व्यसनोंके अधीन होता जाता है, त्यों-ही-त्यों चित्त, शरीर और इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट होती जाती है और धन भी नाशको प्राप्त होता जाता है एवं ज्यों-ज्यों व्यसन छूटता जाता है, त्यों-त्यों बल, बुद्धि, तेज और धन बढ़ता जाता है। इसलिये साधकको कोई भी व्यसन नहीं रखना चाहिये।

इसके बाद किसी भी दूसरेकी कोई भी वस्तु लेने अथवा अपने व्यवहारमें लानेकी बात मनसे भी न सोचे। पर-स्त्री-भोग, पर-धन-हरण, परवस्तुको जाने या अनजाने लेनेकी इच्छा भी न करे। इस साधनासे व्यभिचार चोरी आदि दुराचार, सब बंद हो जाते हैं और अपनी सच्ची मेहनतकी कमाईसे जो कुछ मिले, उसीसे निर्वाह करनेका बल आता है। सच्ची मेहनतकी कमाईसे प्राप्त रोटीमें चित्त शुद्ध करनेकी अद्भुत सामर्थ्य है। अधर्मयुक्त, दूसरेसे छीनी हुई, झूठ-कपट और चोरीसे की हुई कमाईका सूक्ष्म संस्कार भी बुद्धिको मलिन करता है। श्रेयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपने हककी, सच्ची मेहनतकी कमाईके सिवा किसीसे कुछ भी न लेना—दान भी न लेना चाहिये।

फिर ऐसी साधना करे कि अपनी कोई भी क्रिया किसीको दुःख देनेके आशयसे न की जाय। प्रत्येक क्रिया करनेके पहले यह जान ले कि इस क्रियासे किसीको दुःख तो नहीं होता? यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है, इसको 'अहिंसा' कहते हैं। अहिंसाका विस्तृत अर्थ है। अहिंसाका सर्वाङ्गीण पालन करने-

वाला मुक्ति पाता है। डाक्टर रोगीका आपरेशन करता है, वह हिंसा नहीं है। डाक्टरकी यह क्रिया रोगीको दुःख देनेके लिये नहीं, उसे दुःखसे मुक्त करनेके लिये होती है। राजा चोरको दण्ड देता है, वह हिंसा नहीं है; क्योंकि उसकी यह क्रिया चोरको चोरीके दुर्व्यसनसे मुक्त करती है, वह चोरके सुखके लिये होती है। अहिंसाका सारांश यह है कि क्रियाका आशय दूसरोंको दुःख देना कभी नहीं होना चाहिये। किसीके हककी रक्षा करनेमें—जिनका हक नहीं है, उनको दुःख हो तो वह हिंसा नहीं है। बिना हकवाले हक न होनेसे दुखी होते हैं, हकवालेकी क्रियासे नहीं।

इसके बाद जिज्ञासु अपने हकके भोगोंमें भी सुखका अभाव देखकर उनसे वृत्ति हटाकर आत्मामें लगाये। जीवन-निर्वाह मात्रके लिये भोजन करे, जीभके स्वादके लिये नहीं। शरीर-रक्षामात्रके लिये वस्त्र पहने, सुन्दरता दिखलानेके लिये नहीं। कीमती वस्त्र पहनना, बाल सँवारना, फैशनवाले कपड़े, आभूषण पहनना आदि सबका धीरे-धीरे त्याग करे। बिना स्वादका सादा भोजन करे। पाँचों इन्द्रियोंके जो सम्पूर्ण भोग हैं, उनका धीरे-धीरे त्याग करता जाय। भोगमें सुख समझकर भोगोंमें लिपटा हुआ जीव जब उनमें सुखके बदले दुःख देखता है, तभी उनसे पीछे हट सकता है।

'भोगमें सुख है' इस प्रकारका प्रतिपादन करनेवाला साहित्य जगत्में बहुत पाया जाता है। नाटक, सिनेमा, उपन्यास, कहानी, समाचारपत्र, मासिकपत्रिका, चित्र, परम्परासे चली आयी बातों और भावनाओंने—भोगमें सुख न होनेपर भी 'उसमें सुख है' ऐसा निश्चय मनमें गहरा धँसा दिया है। जैसे शराबके नशेमें बकते हुए आदमीसे हीरेका मूल्य पूछो तो वह कुछ नहीं बता सकता—क्योंकि उसे उसका पता ही नहीं होता, उसी प्रकार भोग-सुखके नशेमें पड़े हुए जीवको आत्मसुखकी कोई कल्पना ही नहीं होती। जबतक नशा नहीं उतरता, तबतक व्यसनी यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाता कि वह कौन है। उसी प्रकार भोग-वासनामें फँसा जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता। इसलिये जिज्ञासु 'भोगमें सुख है' यह बतलानेवाले सारे सङ्गको छोड़ दे, भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ दे। अर्थात् उनके साथमें उतनी ही बात करे, जितनी व्यवहारके लिये अनिवार्य हो। दूसरी बातोंमें पड़े ही नहीं। भोग और भोगीका सङ्ग छोड़े बिना लाखों उपायोंसे भोग छूटनेवाले नहीं हैं। भोग और भोगीके सङ्गमें रहकर भोग छोड़नेकी इच्छा करनेवाले मूर्ख हैं, संसारको ठगते हैं, दम्भी हैं या वासनावाले हैं। भोग 'मुझ ज्ञानीका क्या कर लेगा' यह कहनेवाला मूर्ख है, शठ और ठग है, पामर है, दयाका पात्र है।

ज्ञानी वह है, जो भोग और भोग-वासनाको समूल छोड़ चुका है। इस प्रकार भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ते समय, भलोंको भोग त्याग करनेवाले तथा भगवत्पथमें चलनेवालोंका संग कराये। जगत्में जिसके पास जो होता है, वही दूसरोंको देता है। भोगी दूसरोंको भोग देता है, साधु दूसरोंको सज्जनता देता है; इसलिये अपनेको जैसा बनना हो, वैसा ही सङ्ग करे। आत्मज्ञानका मनन, भोगमें दुःख देखनेका अभ्यास, संसार नाशवान् और मिथ्या है—यह भावना, एकान्तवास, पवित्र स्थानमें निवास, हरिभक्ति, यथाशक्ति व्रत और उपवास, एवं सत्यका सेवन करे; नीति और सदाचारका पालन करे; मुक्तोंकी जीवनी तथा ईश्वरके अवतारोंकी महिमाकी कथाएँ बाँचे और सुने; साधुओंका सङ्ग करे; मृत्युभयको सदा मनमें रखे; सम्बन्धियोंके सम्बन्ध क्षणिक हैं—जाने तथा मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्या करनेके लिये आया हूँ, क्या करता हूँ और क्या करना चाहिये—इत्यादि विषयोंपर एकान्तमें बैठकर या किसी निर्लोभी, ज्ञानी साधुकी सेवामें रहकर विचार करे; लघु सात्त्विक भोजन करे। न्याय और नीतिके अनुसार, लोकनिन्दा न हो—इस प्रकारकी आजीविका करे। ऐसा कर्म करे, जो प्राणिमात्रके लिये सुखरूप हो। दया रखे, सुपात्रको दान करे, पुण्य-कर्म करे, देवताका पूजन करे, वृद्ध, ज्ञानी, आश्रित तथा साधुकी सेवा करे, ध्यान और अभ्यास करे, जप करे, बाहर और भीतरसे पवित्र रहे, प्राणिमात्रका भला चाहे। प्राणिमात्र परमात्मस्वरूप हैं, यह जानकर सभी प्राणियोंकी यथाशक्ति अपनी क्रियाओंसे सेवा करे। इन और ऐसे ही दूसरे उपायोंसे तथा संतों एवं शास्त्रोंके आज्ञानुसार आचरण करनेसे चित्त भोगोंसे हटकर धीरे-धीरे स्वप्रयत्नमें आगे बढ़ता जायगा। परमात्माकी शरणमें रहे तथा भगवान् सारी आपत्तियोंसे, भोगमात्रसे चित्तको हटाकर निजस्वरूपमें लगा लें, इसके लिये बारंबार उनसे प्रार्थना करे।

शब्दकी महिमा

(लेखक—श्रीविनोबा)

शब्दकी हम बहुत कीमत करते हैं। शब्दमें जो शक्ति है, वह किसी चीजमें नहीं देखी। हमारे जीवनपर जो शब्दका असर है, उसके अनुभवसे हम यह कह रहे हैं। पाणिनिका एक सूत्र है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु
प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'

'एक शब्दका भी उच्चारण ठीक-ठीक स्वर्गमें तथा इस लोकमें भी कामधुक् होता है। अपनी इस संस्कृत भाषामें शब्द-शक्ति बहुत पहले प्रकट हुई। आपलोग जानते हैं कि अंग्रेजी भाषामें लाखों शब्दोंका संग्रह है। परंतु वह केवल शब्द-संग्रह होता है, उससे शब्द-शक्ति प्रकट नहीं होती। एक-एक यन्त्रके असंख्य पुर्जे होते हैं। एक-एकका अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यन्त्रसे १०-१०, ५०-५० शब्दोंका उपयोग होता है, परंतु ऐसे शब्दभंडारसे शब्दशक्ति बढ़ती है, यह नहीं। वह तो ऐसा है—जितना जीवनमें परिग्रह बढ़ेगा, कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द बढ़ेंगे। वह तो शब्दोंका ढेर ही होगा। उससे विचार-सम्पदा नहीं बढ़ती। वैसे अंग्रेजीमें विचार-सम्पदा बहुत है। लेकिन हम संस्कृतमें जो शब्दकी महिमा देखते हैं, वह महिमा वहाँ नहीं है। ५० नयी-नयी चीजें बनेंगी तो ५० नये शब्द उनके लिये होंगे। परंतु ऐसे शब्दके संग्रहसे व्यर्थ परिग्रह हो जाता है। यह अब पाश्चात्य लोग भी समझ गये हैं। इसलिये आप एक-एक यन्त्रके एक-एक पुर्जेको नाम नहीं देते। आँकड़ोंमें नाम देते हैं। किसी यन्त्रका पुर्जा खरीदना है तो कहेंगे फलाने यन्त्रका पुर्जा नम्बर फलाना-फलाना। आँकड़ोंमें ही माँग की जायगी। इस तरह यन्त्रोंके पुर्जोंके अनेक नाम देनेके बजाय आँकड़ोंसे काम लेने लगे। परंतु संस्कृतमें हम क्या देखते हैं?

संस्कृतमें विचारके प्रतिनिधि रूपमें शब्द बनाये गये हैं। उदाहरणके लिये पृथ्वी' एवं 'जमीन' हैं। इंग्लिशमें कहते हैं 'अर्थ', लैटिनमें कहेंगे 'टेरा'। इस तरह एक शब्द 'अर्थ' और एक शब्द 'टेरा'। लेकिन संस्कृतमें पृथ्वीके लिये पचास शब्द मिल जाते हैं। 'पृथ्वी' यानी फैली हुई। 'धरा'—धारण करनेवाली। 'भूमि'—तरह-तरहके पदार्थोंके जन्म देनेवाली। 'गुर्वी'—भारी, वजनदार। 'उर्वी'—विशाल। 'क्षमा'—सहन करनेवाली। हम लात मारते हैं तो भी वह सहन करती। इस प्रकार एक-एक शब्द एक-एक गुणका वाचक है। एक-एक शब्दके साथ उसका एक-एक गुण ध्यानमें आयेगा। अब कवि कवितामें कोई भी शब्द रख देते हैं। देखते हैं कितनी मात्राका शब्द चाहिये। इतनी मात्राका चाहिये तो वे रख देते हैं कवितामें और एक छन्द बना लेते हैं। समझते हैं कि छन्द बनानेके लिये ही इतने शब्द हैं। ये छन्दके लिये नहीं हैं। विशेष गुणदर्शनके लिये, एक-एक वस्तुके लिये अनेक शब्द हैं। जब हम व्यापक फैली हुई 'पृथ्वी' कहते हैं, तब हम उस पदार्थकी तरफ अंदरसे देखने लगते हैं।

इस तरह संस्कृत-शब्दोंमें विचार भरा है। इसलिये हरेक शब्द हमसे बात करता है। इस तरह अंग्रेजी-शब्द बात नहीं करता। 'वाटर' शब्द हमसे बात नहीं करता। हम ही उससे बात करें, तो बात अलग है। लेकिन संस्कृत-शब्द हमसे बात करने लगता है। 'पयः'—पोषण करनेवाला। 'पानीयम्'—तृप्त करनेवाला। 'उदकम्'—अंदरसे बाहर आया हुआ। 'समुद्रम्' छोटा-सा शब्द दिखता है लेकिन वह बात करता है। 'सम्' यानी चारों तरफ समान फैला हुआ। 'उद्' ऊँचा उठा हुआ, ऊँचा आया हुआ पानी। 'रम्' यानी आह्लाददायक, खेलता हुआ, आनन्द-दायक है। तो 'समुद्र'=सम्+उद्+रम्। 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत्।'

वेदने कहा है—इस हृदयमें समुद्रके समान असंख्य भावनाएँ उठती हैं। यह हृदय यानी समुद्र ही है। समुद्रका दृश्य इस हृदयमें प्रकट होता है। 'सी' कहेंगे तो क्या होगा? है एक पदार्थ। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'दुग्धम्' दोहन किया हुआ, सारा रूप। 'घृतम्'—अत्यन्त पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं मे चक्षुः'। विश्वामित्र कहता है 'मेरी आँख घी है।' अंग्रेजी या किसी दूसरी भाषामें यह नहीं देखा गया कि कोई कहे 'मेरी आँख घी है।' 'घृतं मे चक्षुः' कहा गया तो इसका अर्थ यह है—'मेरी चक्षु इतनी पवित्र है कि उसमें किसी प्रकारका पाप ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है। वह अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ है।'

'अग्नि' यानी 'फायर'। फायर कहनेसे कुछ हुआ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि' अञ्जनादग्निः, रूप प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया। 'वह्नि' को वाहक है, ले जाता है,

संदेश-वाहक है। यज्ञमें आहुति डालते हैं तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान्‌के पास पहुँचाता है। तो 'अग्निमीळे पुरोहितम्' के बदले 'वह्निमीळे पुरोहितम्' यह नहीं चलेगा। बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा। इस तरह एक-एक शब्दका विशेष महत्त्व है। संस्कृतमें एक-एक शब्दका व्यक्तित्व है। 'पीयूषम्', 'अमृतम्' 'सुधा'—ये तीन शब्द अमृतके लिये हैं, परंतु हरेकसे विशेष अर्थका बोध होता है। 'अमरा निर्जरा देवाः' अमरकोशका आरम्भ ही इस वाक्यसे होता है। 'अमराः' अलग है और 'निर्जराः' भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन जो बूढ़े हैं, रोगसे पीड़ित हैं, क्या वे अमर होना पसंद करेंगे? वे भगवान्‌से प्रार्थना करेंगे कि मुझे जल्दी ले जाओ। इसलिये 'निर्जराः' कहा है। 'निर्जराः' यानी जरा-रहित। जरारहित होंगे, तब तो वे अमर हो सकते हैं।

संस्कृतका शब्दकोश भी काव्यमय है। एक शब्दकी कितनी तरहसे व्युत्पत्ति होती है! एक शब्दके अनेक अर्थ और अनेक अर्थोंका वाचक एक शब्द। इसलिये वाक्-प्रकाशन निर्मलतासे संस्कृतमें जितना होता है, उतना शायद ही किसी दूसरी भाषामें होता होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि इस देशमें शब्द-शक्ति बहुत है। अरबी, ग्रीक, लैटिन—इनमें भी कुछ शक्ति है। उनकी संस्कृतसे कुछ तुलना हो सकती है। परंतु संस्कृतका शब्द जैसा व्याख्यान देना शुरू करता है वैसे उनके शब्द नहीं देते। 'घट' शब्द है। 'घट' यानी घड़ा। परंतु 'घट'का शरीर अर्थ भी होता है। घड़ेमें पानी रखते हैं, वैसे यह शरीरमें क्या है? पानी ही तो भरा है। हम स्वागत करते हैं पानी भरे हुए घड़ेसे, पूर्ण कुम्भसे। हम क्या दिखाना चाहते हैं? वह सारा हमारा हृदय भक्तिभावसे भरा है—इस अर्थमें वह 'घट' शब्द काम देगा। नानकने कहा है—'प्रभू घट-घटमें भरा है।' हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं। सब भरे हैं। ये, पता नहीं, किन चीज़ोंसे भरे हैं। यह भी हो सकता है कुछ नाहक चीज़ोंसे भी भरे होंगे। कहनेका मतलब यह है कि 'घट' शब्दकी यह खूबी है। वह खूबी पॉट कहनेसे प्रकट नहीं होती; क्योंकि घटकी एक घटना है न? यह हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो 'घट' शब्द घटनाका सूचक है। इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमें अपने अंदर पैठने नहीं देते लेकिन यहाँके शब्द हमको अपनेमें प्रवेश देते हैं। इसीलिये शब्दकी शक्ति प्रकट होती है।

'चक्षु' शब्द है। 'चक्ष' धातु निर्मलता, स्वच्छताका द्योतक है। आँखसे हम जितना बोलते हैं, उतना मुँहसे नहीं बोलते। हमको गुस्सा आता है, तो आँख बोलती है, अंदर करुणा है तो आँख बोलती है। शब्दसे अधिक प्रकाश आँख देती है। उसी तरह 'व्याचक्षत' का अर्थ है व्याख्यान देना। चक्षुसे ही 'व्याख्यान' शब्द निकला है। हम हिंदुस्तानके लोग उतना व्याख्यान सुनना नहीं चाहते, जितनी हमारी महापुरुषोंके दर्शनपर श्रद्धा है। उनके आँखसे जो दिखता है, वह किसीसे भी प्रकट नहीं होता। उनकी आँखोंमें कारुण्य भरा रहता है। 'कारुण्य' यानी क्या? मर्सी, काईन्डनेस—कुछ भी कहें; वह अर्थ प्रकट नहीं होता। परंतु 'करुणा' क्या कहती है? कुछ-न-कुछ करनेकी प्रेरणा देती है। हृदयमें प्रेम है। परंतु करनेकी प्रेरणा नहीं, तो वह करुणा नहीं। करुणा चुप नहीं बैठती। लोग पूछते हैं 'बाबा घूमता क्यों हैं? थकता कैसे नहीं इतना घूमनेपर भी?' तो यह करुणा है, जो घुमाती है। वह कुछ करनेके लिये बाबाको प्रेरित करती है। वह उसे बैठने नहीं देती। किसी बच्चेको बिच्छूने काटा तो क्या हम देखते ही रह जाते हैं? एकदम सेवा करनेके लिये दौड़े जाते हैं। करुणा हमें आसनपर बैठा नहीं रहने देती, उठनेकी ही प्रेरणा देती है। अब यह हमारी 'बुद्धि' है। वह बोध देती है, यह उसका विशेष लक्षण है। अपने सामने शुभ्र वस्त्र हम देखते हैं। शुभ्र यानी क्या? 'शुभ्र' यानी पवित्र। 'शुभ्र' का अर्थ सिर्फ 'ह्वाइट' नहीं। 'शुभ' शब्दके साथ उसका सम्बन्ध है। शोभासे ही उसका सम्बन्ध है। तो सौन्दर्य-पावित्र्य एक कर दिये गये हैं। सामने 'शुक्र' का आकाशमें उदय होता है। शुक्र पवित्र है। 'शुचि' शब्दसे 'शुक्र' हुआ है। उसे देखते हैं तो पावित्र्यकी भावना प्रकट होती है। अब 'सूर्य' है, वह प्रेरणा देता है। 'सू' धातुसे 'सूर्य' बना। 'सू' यानी प्रेरणा देना। 'मित्र' शब्द है। मित्र क्या करता है? प्रेम करता है। सूर्यको 'मित्र' संज्ञा हिंदुस्तानके लोग देते हैं। उसकी किरणोंसे उनके प्रखर होते हुए भी हम घबराते नहीं। मित्र तो वे होते हैं, जो हमसे कार्य कराते हैं। हम सोते रहते हैं तो वह जगाता है, बैठे हैं तो काम करवायेगा। यह सारा यत्न करनेवाला मित्र है। तो 'मित्र' संज्ञा केवल सूर्य-वाचक ही नहीं है, प्रेमसे सबकी सेवा करनेवाला—ऐसा भी अर्थ उसमें आता है। हम यहाँ बैठे हैं। कमरेके दरवाजे बंद हैं, सूर्य वहाँ उग रहा है। वह क्या करता है? बाहर ही बैठ जाता है। हमारी सेवा करना चाहता है। सेवकके नाते हमारे दरवाजेपर हाथ रखकर खड़ा रहता है। हम थोड़ा-सा

दरवाजा खोलेंगे तो थोड़ा-सा ही अंदर आयेगा। एकदम पूरा खोल देंगे तो अंदर मुक्त प्रवेश करेगा। परंतु दरवाजा बंद है, इस वास्ते धक्का नहीं देंगा दरवाजेको। खड़ा रहेगा बाहर। यह 'मित्र' की मर्यादा है। कभी गैरहाजिर नहीं रहेगा। स्वामी चाहे सोता रहे देरतक, पर वह नहीं सोयेगा। इस तरह सेवकका पूरा चित्र सूर्यमें हम देख सकते हैं। इस प्रकार शब्द हमसे बोलते।

इस प्रकारकी साहित्य-शक्ति भारतमें है, इसपर आपका अभीतक ध्यान नहीं गया। ध्यान तबतक नहीं जायगा, जबतक हम जीवनके अंदर प्रवेश नहीं करेंगे। 'सुमन' माने उत्तम पुष्प। उसे हम अर्पण करते हैं। यानी हमारा स्वच्छ निर्मल जो मन है, उसे हम अर्पण करते हैं। यह 'सुमन' की खूबी दूसरे शब्दोंमें नहीं है। यह सब ध्यानमें रखकर हमको हमारा चिन्तन ठीक ढंगसे करना है। तभी हिंदुस्तानका चिन्तन दूसरे देशोंसे भिन्न होगा।

आज क्या कहते हैं? बाहरसे—'इम्पोर्टेड' शब्द लाते हैं। उन शब्दोंको हम अपनी भाषामें ठूँसते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे जीवनमें वह शब्द ऐसिमिलट नहीं होता।

अब सेक्युलर स्टेटकी कल्पना है। बिल्कुल एकाङ्गी कल्पना है। वह हमको ऐसिमिलेट नहीं हो सकती। यूरोपमें वैसी परिस्थिति थी तो वहाँ वैसा रिवाज चल सकता था। हिंदुस्तानमें 'धर्म' शब्द निकला। धर्म माने क्या? 'सबको धारण करना'। स्टेटको भी धारण करना है। स्टेटका धर्मसे ताल्लुक नहीं, ऐसा कोई कहता है तो उसका हिंदुस्तानमें बिल्कुल ही अलग अर्थ होता है। ऐसा है क्या कि सेक्युलर यानी परलोकका विचार नहीं करना चाहिये, इहलोकका विचार करनेवाली ही यह संस्था है? फिर भी एकता, समताको मानते हैं। यानी यह विरोधी कल्पना कैसे मान सकते हैं? इहलोककी प्रतिष्ठा करेंगे और सबको समान वोटका अधिकार देंगे तो, अब बताइये, समान वोट-अधिकारका अधिष्ठान क्या भौतिक सृष्टिके अनुकूल है? इसका उत्तर उनके पास नहीं है। बाह्य समानता तो किसी भी हालतमें नहीं हो सकती; क्योंकि एक शख्स बलवान् होता है तो दूसरा दुर्बल। तो हमारे शरीरसे इसका सम्बन्ध नहीं है। अब बुद्धिके आधारपर निर्णय किया गया हो तो किसीको बुद्धि होती है, किसीको नहीं होती। एक घरमें ज्ञानी भी होता है और अज्ञानी भी होता है। तो क्या न्याय है सबको एक वोटका अधिकार देनेका? इसका उत्तर आध्यात्मिक सृष्टिमें गये बिना मिलेगा नहीं। जहाँ आपने एक वोटका अधिकार सबको दिया है, वहाँ आत्मिक एकता आपने कबूल की। अगर बुद्धितक ही आप सीमित रहना चाहते हैं 'तो हरेक मनुष्यको एक वोट' यह विचार समाप्त हो जाता है। फिर भी सबको एक वोट दिया गया है। तो क्या साम्य देखा आपने? क्या भौतिक साम्य देखा है? नहीं! आत्मिक साम्य देखा है? इसका मतलब यह है कि आपने आत्माकी एकता मान्य की। तो हम केवल भौतिक चिन्तन करते हैं, यह दावा नहीं रह सकता। यानी सेक्युलर स्टेटमें 'स्पिरिच्यूअल व्हैल्यू' मान्य की। 'सेक्युलर स्टेट' शब्दकी न्यूनता ध्यानमें आयी, तब सबको एक वोटका अधिकार दिया गया। ठीक शब्दोंका उपयोग करते हैं तो ठीक है। अन्यथा उससे गलत भी धारणा होती है। 'इंडिपेंडेंस' यह कितना निकम्मा शब्द है। दुनियामें क्या होता है? हर शख्स एक दूसरेपर अवलम्बित है—तो कहाँ है इंडिपेंडेंस वहाँ। लेकिन स्वराज्य पाज़िटिव अर्थ बताता है। स्वयमेव राज वह होता है। वह स्वयं प्रकाशित होता है। आज यहाँ तो हम परदेशकी ही बुद्धि लेते हैं, तो यह स्वराज्य कैसा होगा? केवल हमारा राज हम चलाते हैं, इतनेसे हो गया स्वराज? वेदमें आदित्यको स्वराज्यकी उपमा दी है। सूर्य है 'स्वराट्'; क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित है। चन्द्र है पर-प्रकाशित। वेदमें अम्भृणी सूक्तमें कहा गया है—'यतेमहि स्वराज्ये'—'स्वराज्यके लिये हम यत्न करें। आप क्या समझते हैं—उस जमानेमें किसीका उन ऋषियोंपर राज्य था कि वे परतन्त्र थे? ऐसा अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जबतक बुद्धि आत्मनिष्ठ नहीं होती, तबतक स्वराज्य नहीं। अंदरसे प्रकाश मिलेगा, तब स्वराज्य प्रकट होगा। परंतु आप कहते हैं इंडिपेंडेंस; परंतु किसीका किसीसे बनता नहीं।

अब कहते हैं 'सोशलिस्टिक स्टेट' बनाना है। हिटलरका भी एक प्रकारका 'सोशलिज्म ही' था। शब्दसे कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। व्यक्तिको समाजसे अलग निकालते हैं और समाजको व्यक्तिसे अलग समझते हैं तो कैसा अर्थ निकलेगा? पहले जो कल्पनासे अलग नहीं हो सकते, उनको अलग कर दिया और फिर दोनोंके बीचका झगड़ा मान्य किया। अब कहते हैं, उसको मिटानेके लिये 'सोशलिज्म' लाना चाहिये।

आज हरेक अपना-अपना इन्टरस्ट देखता है। सारा चिन्तन ही गलत ढंगका चल रहा है। जबतक हम अपने

शब्दकी शक्ति नहीं पहचानेंगे और पश्चिमसे शब्द लेते जायँगे, तबतक हमारा चिन्तन ऐसा ही गलत ढंगसे जारी रहेगा। हम अपने शब्दोंमें चिन्तन करेंगे तो सारी दुनियासे हमारा चिन्तन मित्र रहेगा। यह सारा साहित्यिकोंको करना है। अंग्रेजी, चीनी, जापानी, फ्रेंच—अनेक भाषाओंमें साहित्य है। यह ठीक है—जो अच्छी चीज है, हमारे लायक है, वह वहाँसे लेनी चाहिये। ऐसी ही चीज हम लें कि जो हमारे शब्दोंमें पैठती है। अगर वह चीज हमारे शब्दोंमें ठीक पैठती है तो वह कल्पना हमारे लिये ठीक है; अगर नहीं पैठती तो गलत है। बहुत-से गलत शब्द हमारे चिन्तनमें पैठ गये हैं। परिणामस्वरूप गलत चिन्तन होता है। इसलिये शब्द-साधनका कार्य साहित्यिकोंको करना चाहिये। ठीक शब्द लोगोंके सामने रखने चाहिये। तब बहुत-से झगड़े मिटेंगे।

आज एक भाईने हमसे कहा 'अनेक संत पुरुष हो गये। उन्होंने कई बातें कही हैं। परंतु बिना फोर्स क्या कोई काम हो सकता है?' यह सोचनेकी बात है कि इतने संत-महात्मा हो गये, इसीलिये हम आज जैसे हैं, वैसे बने हैं। अगर वे नहीं होते तो हम जानवर बने रहते। सोचते नहीं, हम कहाँसे कहाँ आये हैं। महाभारतमें प्रसङ्ग है। सवाल उपस्थित हुआ कि पत्नीपर पतिका हक है कि नहीं। कठिन सवाल मालूम हुआ। बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वान् वहाँ थे; परंतु 'भीष्म, द्रोण, विदुर भए विस्मित'—कोई भी उसका जवाब नहीं दे सका। परंतु आजका बच्चा-बच्चा उसका जवाब जानता है। विदुर यानी क्या? पाणिनिका सूत्र है—'यथा विदुर-भिदरौ।' अत्यन्त भेद करनेमें प्रवीणको भिदुर कहते हैं। भिदुर यानी तोड़ने-फोड़नेवाला। तोड़ने-फोड़नेवाला तो वज्र होता है। वज्रको 'भिदुर' कहते हैं। सूत्रमें यही बताया गया है कि विद् और भिद्—ये ही दो ऐसे धातु हैं, जिनसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर विशेष अर्थवाले शब्द बने हैं। 'भिद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर भिदुर' बना, जिसका अर्थ होता है भेदन करनेमें प्रवीण। और 'विद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर 'विदुर' बना, जिसका अर्थ है—महाज्ञानी। ऐसा महाज्ञानी वहाँ बैठा है, फिर भी निर्णय नहीं हो सका। सवाल यही था कि 'चैतन्यमय प्राणको बाजीपर लगा सकते हैं कि नहीं' धर्म-राज धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ राजा थे। उनको द्यूतका निमन्त्रण दिया गया तो वे 'नहीं' न कह सके। समझते थे कि 'नहीं' कहना धर्मके विरुद्ध है। आज तो कानून भी कहेगा कि द्यूत खेलना 'इल्लिगल' है, 'इम्मारल' है। लेकिन उस वक्त युधिष्ठिर 'नहीं' न कह सके। डर था अधर्म होगा। कितनी छोटी-छोटी कल्पनाएँ थीं। परंतु वहाँसे आप-हम यहाँतक आये हैं। यह सारा सत्पुरुषोंका कार्य है।

आज दुनियामें सब 'वर्ल्ड-पीस'के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन बनता कुछ नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि संतों-महापुरुषोंने जो कार्य किया, उसका कुछ भी असर नहीं हुआ है। 'पीस' इसलिये नहीं है, क्योंकि उस शब्दमें कुछ भी अर्थ नहीं है। वह शब्द ही अर्थशून्य है। जिसको हम 'शान्ति' कहते हैं, वह 'पीस' नहीं है। ×·····× ·····

×·····× किसी देशपर व्यापारी-बहिष्कार डालते हैं। यह बिल्कुल 'पीसफुल ऐक्शन' है। लेकिन इसमें भी हिंसा होती है। तो यह शान्ति नहीं है। तो 'शान्ति' शब्द-का 'पीस'के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। 'पीसफुल' यानी प्रत्यक्ष लाठी नहीं चलायेंगे, अपितु युक्ति-प्रयुक्तिसे किया हुआ काम भी 'पीसफुल' माना जाता है। इसलिये 'पीस' विश्व-शान्ति करनेमें निकम्मी है। पाश्चात्य शब्दके परिणाम-स्वरूप हमारे चिन्तनमें सारे विचार-दोष आते हैं। इसीलिये साहित्यिकोंके सामने इतना ही कहना है कि आप शब्द-शुचित्वकी तरफ ध्यान दें। शुद्ध शब्दका आविष्कार होगा तो आचार-विचार शुद्ध होगा।

एक भाईने हमसे पूछा—'तुम दान क्यों माँगते हो?' यह सवाल ही क्यों पैदा होता है? दानका अर्थ मालूम नहीं, इस वास्ते यह सवाल पैदा होता है। शंकराचार्यने दानका अर्थ बताया है—'दानं संविभाजनम्'। 'दा' धातुका अर्थ ही 'विभाजन' होता है। 'दा' का अर्थ है—दो टुकड़े करना। विभाजन करना—यह मूल अर्थ है। अब ये सारी चीजें मालूम हों, तब तो शङ्का नहीं आयेगी। यह मालूम नहीं है, इसलिये दान खराब मालूम होता है। दया खराब, करुणा खराब, वैराग्य खराब, संन्यास खराब। तो बताइये, क्या अच्छा है? यानी इससे अच्छे-से-अच्छे अर्थवाले शब्द खतम हो गये। तो आखिर बचा क्या? इसलिये हमको लगा कि हम कुछ अपने विचार आपके सामने रख दें।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(४)

रचनात्मक विचारधारा

रचनात्मक विचारधाराके द्वारा हम अपना और दूसरोंका जीवन-निर्माण करते हैं। भविष्यके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण रखनेसे ही हम उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करनेमें समर्थ होते हैं। जो स्वप्न हम विश्वासपूर्वक देखते हैं, वे भौतिक रूप धारण करके हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं। विश्वास हमारे लिये सफलताके द्वार खोलता है। विश्वासके द्वारा ही हम भगवान्‌के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ होते हैं। जैसा हमारा विश्वास होता है, वैसी ही सफलता हमें प्राप्त होती है। परंतु समस्या तो यह है कि विश्वास कैसे उत्पन्न हो। समस्त सिद्धियोंका साधन विश्वास है, परंतु विश्वासका साधन क्या है ?

हमारा विश्वास हमारे मनकी एक अवस्था है। मनकी एक अवस्था होनेके कारण यह चाहे जब उत्पन्न किया जा सकता है। अपने मनको हम जैसी आज्ञा देते हैं, वैसा ही विश्वास वह करने लगता है। जैसे विचार हम प्रायः करते रहते हैं, वैसा ही हमारा विश्वास बन जाता है। हमारे मनमें आनेवाला प्रत्येक विचार अपनी छाप छोड़ जाता है। अतः हमें अपने मनको रचनात्मक विचारोंमें लगाना चाहिये। जब हम एक लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं और उसको प्राप्त करनेके लिये योजना बनाकर कार्य करने लगते हैं, तब हमारा विश्वास बढ़ने लगता है। प्रयत्न करनेसे हमारा विश्वास दृढ़ होता है और विश्वास दृढ़ होनेसे सफलता प्राप्त होती है।

प्रयत्न करनेका सबसे बड़ा लाभ यही है कि इससे हमारे मनमें निरन्तर सफलताके विचार आते रहते हैं, जिससे हमें सफलता प्राप्त करनेका पूर्ण विश्वास हो जाता है। हमें सदैव सफलता, समृद्धि और विजयके ही विचार करने चाहिये। अपनी समस्त रचनात्मक शक्तियोंको जाग्रत्, एकाग्र और क्रियाशील करके अपने निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़नेसे हमारे मनमें सफलता और विजयके ही विचार आते हैं। जैसे विचार हम बार-बार मनमें लाते हैं, वैसी ही शक्तियाँ इस अनन्त ब्रह्माण्डसे हमारी ओर आकर्षित होती हैं और हमारे स्थिर विचारको स्थूल रूप प्रदान करती हैं।

किसी एक ही विचारको बार-बार दोहरानेसे वह विचार दिन-पर-दिन शक्तिशाली होता जाता है। उसी विचारको जब अनेक व्यक्ति मिलकर दोहराते हैं, तब वह और भी शीघ्र मूर्तरूप धारण कर लेता है। जो राष्ट्र मिलकर सहयोगपूर्वक राष्ट्रनिर्माणकी योजनाओंको उठाते हैं, वे शीघ्र उन्नतिके शिखर-पर पहुँच जाते हैं। लेखक और वक्ता जिस प्रकारके विचारों-का प्रचार जनतामें करते हैं, वैसे ही भविष्यकी ओर वे संसार-को ले जाते हैं। आज संसारके ऊपर जो अणु-युद्धकी विभीषिका छायी हुई है, उससे त्राणका उपाय यही है कि आजके नेता और पत्रकार युद्धकी शब्दावलीको त्यागकर शान्ति और सहयोगकी शब्दावलीमें विचार करना और लिखना-बोलना प्रारम्भ करें। पारस्परिक सहयोगके नारोंका प्रचार करके ही हम विश्वको भावी स्वर्ण-युगकी ओर ले जा सकते हैं।

ईश्वरकी अनन्त शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए हमें विश्व-शान्तिके लिये संकल्प और उद्योग करना चाहिये। करुणामय प्रभुसे हमें प्रार्थना करनी चाहिये कि मनुष्य-जातिमें भगवद्भक्तिका प्रसार हो और सबको सुख, समृद्धि और शान्ति प्राप्त हो। जैसी हम प्रार्थना करें, वैसी ही कल्पनाएँ भी करनी चाहिये। कल्पना हमारी आत्माकी निर्माणशाला है। कल्पनाद्वारा निर्मित मूर्तिमें जब विश्वास जीवन डाल देता है, तब हमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

अपने और दूसरोंके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोणका यही अर्थ है कि हम उज्ज्वल भविष्यके चित्र अपनी कल्पना-दृष्टिके सामने रखें। दूसरोंके प्रति शुभ कामनाका वास्तविक रूप यही है कि हम उनके उज्ज्वल भविष्यमें विश्वास करें। जिसके सुखमय भविष्यमें हमारा विश्वास ही नहीं है, उसके प्रति हमारी शुभ कामनाका कोई मूल्य नहीं है। विश्वासके बिना शुभ कामना या प्रार्थनाके शब्द थोथे होते हैं। कोई संत जब किसी दुष्टके उद्धारके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी प्रार्थना इसीलिये सफल होती है कि वे उसको दुष्टके रूपमें नहीं, बल्कि एक सज्जनके ही रूपमें देखते हैं। वे उसकी अच्छाइयोंको ही देखते हैं, जिससे वे अच्छाइयाँ बढ़ती जाती हैं और बुराइयोंको निकाल बाहर करती हैं।

रचनात्मक दृष्टिकोणवाला मनुष्य जब किसीके अंदर कोई दुर्गुण देख लेता है, तब यही विचार करता है कि इसके अंदर सद्गुण कैसे जागेंगे। इसी प्रकार जब वह किसीको कष्टमें पड़े हुए पाता है, तब विचार करता है कि इसको सुखमय जीवनका स्वर्णिम प्रभात कब दिखायी देगा। जब वह देखता है कि कोई व्यक्ति अपने उद्योगमें असफल हो गया है, तब उस असफलताको वह अस्थायी असफलता मानता है और उसके कारणोंका विश्लेषण करके उस असफल व्यक्तिको पुनः उद्योगकी ओर उत्साहित करता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति किसी असफलताको अन्तिम असफलता नहीं मानता, बल्कि प्रत्येक असफलतासे शिक्षा ग्रहण करके उसको अन्तिम सफलताकी सीढ़ी बना लेता है। बिगड़ी हुईको बनाने तथा बनी हुईको और सुन्दर बनानेकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह जिधरसे भी निकल जाता है, उधर ही अपने रचनात्मक दृष्टिकोणसे अमृत-वर्षा करता जाता है।

इस संसारमें हम जिस व्यक्तिके प्रति जैसा दृष्टिकोण रखते हैं, वह हमारे लिये वैसा ही सिद्ध होता है। जिसको भी हम अपना मित्र समझते हैं, वह हमारा मित्र सिद्ध होता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति सबको मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे देखता है और सबको अपना मित्र बना लेता है। यही बात अन्य वस्तुओं और घटनाओंके विषयमें भी सत्य है। मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण रखनेसे समस्त वस्तुएँ और घटनाएँ हमारे लिये मङ्गलमय सिद्ध होती हैं।

इतना ही नहीं, जिस वस्तुका हम जिस रूपमें कुछ समयतक एकाग्रचित्तसे ध्यान करते रहते हैं, एक निश्चित अवधिके बाद वह वस्तु वैसी ही बन जाती है। इस विषयमें वेदका वचन है—

स मनसा ध्यायेद् यद् वा अहं किंचन मनसा।
ध्यास्यामि, तथैव तद् भविष्यति तद्ध स्म तथैव भवति॥

(गोपथ ब्राह्मण पू० १।९)

अर्थात् पुरुष मनमें संकल्प करे—मैं जिस वस्तुका मनसे जिस रूपमें ध्यान करूँगा, वह वैसी ही बन जायगी। वस्तुतः वह वस्तु वैसी ही बन जाती है।

भगवान् मङ्गलमय हैं और उनका विधान मङ्गलमय है। यह समस्त सृष्टि उनकी रचना है, अतः इसकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना सदैव सबके लिये मङ्गलमय है। सबका अभ्युदय और कल्याण अवश्य होगा। सुखमय जीवनके द्वार सबके लिये सदैव खुले हुए हैं। उस ओरसे हमने ही स्वयं अपने द्वार अभीतक बंद कर रखे थे। आइये, अपने विश्वासके द्वारको खोलकर हम भगवान्‌के राज्यमें प्रवेश करें।

हे मन! तू रचनात्मक विचारधाराको अपना ले और भगवान्‌की अपार करुणामें विश्वास कर। सबके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना कर तथा सबके उज्ज्वल भविष्यके स्वप्न देख। सब जीव भगवान्‌के प्यारे हैं और सबके योग-क्षेमकी व्यवस्था भगवान्‌ने कर रखी है। सबको अपने कर्तव्य-पालनकी योग्यता भगवान्‌ने दी है और वे सबका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आरोग्य और सौभाग्यका स्रोत हमें प्राप्त हो गया है। भगवान् ही सुख और समृद्धिके अनन्त भण्डार हैं। उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करके हम अब पूर्णतया प्रसन्न और आनन्दमग्न हैं। हम पूर्णतया स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

पीतपट मैं लिपटिगौ

मंजुल मुकुट केर निकट घरीक रह्यौ,
उत तैं उचटि लौनी लटनि मैं लटिगौ।
कहै 'बलभद्र' लौनी लट तैं उलटि फेरि,
ग्रीवा कल कंठ की निकाई मैं सिमटिगौ॥
भूल्यौ भूल्यौ फिर्‌यौ फेरि भाई सी भुजानि बीच,
अंगुरीन नाभी तैं अचाक आइ डटिगौ।
कब कौ भुलायौ मन अटक्यौ निपट आली,
कटि के निकट पीतपट मैं लिपटिगौ॥

अध्यात्मशास्त्रका राजमार्ग

(लेखक—सेठ मोतीलाल माणेकचन्द, उर्फ श्रीप्रताप सेठ)

'मैं हूँ या नहीं' इस सम्बन्धमें तो बुद्धिका कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि इस 'मैं' के अस्तित्वके सम्बन्धमें बुद्धिका यह दृढ़ निश्चय कि 'अभी तो मैं हूँ ही' ज्ञानसे यानी कार्य-कारणसे नहीं हुआ। यह पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका निश्चय बुद्धिके जन्मसे ही है। इसके विपरीत हमें 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी शक्य नहीं है; क्योंकि ऐसा अनुभव तो तभी हो सकता है, जब 'मैं हूँ' यह अनुभव न रहे परंतु 'मैं हूँ' यह अनुभव तो मृत्युमें भी नहीं छूटता। इसीलिये तो मृत्यु कोई चीज नहीं है; क्योंकि 'मैं' यानी आत्मा मृत्युके तथा जगत्के भी पहले पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका अनुभव है। इसलिये 'मैं हूँ', इसके विपरीत 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव हमें कदापि नहीं हो सकता। परंतु बुद्धि जब उस 'मैं' को विषयदृष्टिसे देखती है, तब वह 'मैं' नित्य अविनाशी है अथवा मरणशील है—ऐसा प्रश्न बुद्धि-में उत्पन्न होता है। जबतक 'मैं' बुद्धिकी कक्षामें है, तब-तक यह कैसे माना जाय कि कल 'मैं मर नहीं जाऊँगा।' इस प्रश्नका मिट जाना सम्भव नहीं। कदाचित् यह प्रश्न मिटेगा भी तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध आये बिना नहीं रहेगा। यानी 'मैं' को जाननेमें जाननेवाला भी 'मैं' ही और जाननेकी वस्तु भी 'मैं' ही—ऐसा कर्ता-कर्म-विरोध आता है और यह विरोध अनुभव-की दृष्टिसे ग्राह्य नहीं है।

'मैं' को बौद्धिक ज्ञानसे जाननेमें दूसरी अड़चन यह आती है कि वस्तुका ज्ञान होनेमें, वस्तुको कैसा विपर्यस्त स्वरूप प्राप्त होता है, यह जान लेना अध्यात्मशास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। परंतु वस्तुके पूर्व स्वरूपको और वस्तुज्ञानके पश्चात्-के उसके स्वरूपको हम जान नहीं सकेंगे; क्योंकि वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेकी कोशिश हम ज्ञानसे ही करेंगे, परंतु ज्ञानमें आते ही वह वस्तु विपर्यस्त हो जाती है। इसलिये वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेके लिये हमें अनुभवका ही सहारा लेना पड़ेगा।

वस्तुका मूल-स्वरूप ज्ञानमें आते समय कैसे विपर्यस्त हो जाता है, यह बात जहाँ ज्ञान नहीं रहता परंतु अनुभव मात्र रहता है, वहीं जान सकते हैं। वे स्थितियाँ केवल दो ही हैं—

एक तो सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता, परंतु अनुभव मात्र रहता है; क्योंकि सुषुप्तिसे उठनेके बाद हम 'सुखसे सोये थे' इस सुषुप्तिके अनुभवको हम बतलाते हैं। इसमें सापेक्षता नहीं है, केवल अनुभवमात्र है। और इससे सुषुप्तिमें केवल अनुभव मात्र ही था, ज्ञान नहीं था—यह सिद्ध होता है। सुषुप्तिमें 'मैं' कुछ भी नहीं जानता था, वहाँ अन्धकारमय स्थिति थी, आदि-आदि बातें हम जागनेके बाद जाग्रतिकी अपेक्षासे ही कहते हैं और इन सब सापेक्ष बातोंसे ही सुषुप्ति-स्वरूप बनता है। इससे आप समझ सकेंगे कि सुषुप्तिका मूलमें कोई स्वरूप ही नहीं था और न कोई अर्थ ही था। वह तो केवल आत्म-स्थितिमात्र थी। परंतु जाग्रत् होनेके बाद जब सुषुप्ति ज्ञानमें आयी, तभी वह विपर्यस्त हो गयी यानी ज्ञानमें आनेपर उसको सुषुप्तिका रूप और सुषुप्तिका अर्थ मिल गया।

वस्तु या क्रिया ज्ञानमें आते समय ही विपर्यस्त हो जाती है, इसके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है—

व्यवहारमें हमारी हजारों क्रियाएँ होती हैं, परंतु क्रियाके होते समय हमको उन क्रिआओंका ज्ञान नहीं रहता। यानी हमने अमुक क्रिया की—ऐसा ज्ञान क्रिया करते समय नहीं रहता। हमने अमुक क्रिया की, ऐसा ज्ञान क्रियाके बाद ही होता है और वह उचित ही है; क्योंकि जिस वस्तु या क्रियाका ज्ञान होता है, वह वस्तु या क्रिया ज्ञान होनेसे पहले ही होनी चाहिये, इस बातको तो सभी जानते हैं। परंतु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त हो जाती है, यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। क्रिया होते समय न तो उसका रूप रहता है और न कोई अर्थ ही रहता है। रूप और अर्थ ज्ञानमें ही आते हैं और बादमें हम कहते हैं कि हमने अमुक क्रिया की।

अध्यात्मका अभ्यास करनेवालोंसे सविनय निवेदन है कि (१) आत्माका लक्षण और (२) वस्तु या क्रियाका ज्ञानमें आते ही विपर्यास हो जाना ये—दोनों बातें उन्हें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यानी हमारे ज्ञानमें शुद्ध वस्तु तो कभी आती ही नहीं। जो आती है, वह विपर्यस्त होकर ही आती है।

उपर्युक्त दोनों बातें अध्यात्मके साधकोंको खूब अच्छी तरह ध्यानमें रखनी चाहिये और सदा इसका विचार करते रहना चाहिये। तभी उनकी अध्यात्मसाधनामें

प्रगति होगी । अध्यात्म-साधनमें ये दोनों बातें बहुत ही उपयोगी हैं । 'आत्माके वैलक्षण्य' इस पहली बातकी अपेक्षा 'ज्ञानमें आनेवाली सभी बातें विपर्यस्त होकर ही आती हैं'—यह दूसरी बात अधिक विचार करने योग्य है; क्योंकि ज्ञानमें आनेवाली वस्तु या क्रियामात्रविपर्यस्त होकर आती हैं; परंतु वे विपर्यस्त होकर आती हैं, यह बात हमारे ध्यानमें आती ही नहीं । और यह सम्पूर्ण जगत् इसी विपरीतताका ही परिणाम है । इसलिये अध्यात्मके साधकोंको इन दोनों बातों-पर खूब विचार करना चाहिये ।

हमें जो जगत् दिखायी देता है, वह सत्य है ही—यह आप समझते हैं । परंतु वह जगत् सत्य न होकर विपर्यस्त स्थितिमें यानी 'मैं' से पृथक् स्वरूपमें ही आपके सामने खड़ा है । वस्तुतः वह जगत् न होकर 'मैं' ही है; परंतु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त होकर 'मैं' से पृथक् विषयरूप दिखायी देता है और वही 'मैं' आपको जगत्के स्वरूपमें दीखता है । अतएव आपको जगत्के स्थानपर 'ब्रह्म' यानी 'मैं' ही दीखना चाहिये और वह सहज स्थितिकी दृष्टिसे ही दीखेगा । हम सदा सहज स्थितिमें ही रहते हैं, परंतु वहाँ जगत्का पता भी नहीं रहता । क्रिया होते समय यानी केवल इन्द्रियोंके देखते समय तो यह जगत् ब्रह्मस्वरूप ही रहता है । परंतु ज्ञानमें आनेके बाद 'जगत्' रूपमें भासने लगता है ।

उपर्युक्त सुषुप्तिके और क्रियाके उदाहरणसे आप अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वस्तुको ज्ञानमें जब रूप और अर्थ प्राप्त होते हैं, उसके पूर्व वह वस्तु और क्रिया ब्रह्मस्वरूप ही रहती है, इसलिये 'मैं'को केवल बौद्धिक ज्ञानसे न जानकर उस 'मैं' को 'मैं' की विलक्षणतासे पूर्ण ज्ञानके द्वारा ही जानना चाहिये । इसीसे 'यह कैसे माना जाय कि 'कल मैं मर नहीं जाऊँगा ।' इस प्रश्नका समाधान हो जायगा । 'मैं' का वैलक्षण्यपूर्ण ज्ञान यानी 'मैं'का कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं, 'मैं' के सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान होनेके बाद 'मैं' का कभी मरना सम्भव नहीं । 'मैं' के स्वरूपका यह ज्ञान हो जाता है । 'मैं कभी नहीं मरूँगा' इसके सम्बन्धमें आत्माके वैलक्षण्यको जान लेना यानी आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है, यह भलीभाँति समझ लेना ही आत्माका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका राजमार्ग है ।

'मैं'का ज्ञानमें आना कभी भी सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः ज्ञान ही ज्ञानको कैसा जानेगा । इस प्रकार आत्माके वैलक्षण्यको जान लेना—बस, इसीको 'ज्ञान' संज्ञा देना उचित है; क्योंकि आत्मस्वरूपका यही यथार्थ ज्ञान है । इसी ज्ञानको वेदोंमें 'नेति-नेति' कहा है; क्योंकि आत्मा यदि ज्ञानमें आता है तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो जाता है और ज्ञानमें जो-जो बातें आती हैं, वे सभी विपर्यस्त होकर ही आती हैं—यह ऊपर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है । ज्ञानमें कभी भी न आना ही आत्माका स्वरूप है । इस आत्मस्वरूपमें न तो कर्ता-कर्मका विरोध है, आत्मा विपर्यस्त ही होता है । अतएव 'आत्मा' कभी ज्ञानमें आता ही नहीं यह ज्ञान ही यथार्थमें 'ज्ञान' संज्ञाका पात्र है ।

मीला जाणू जाता तो मी न राही तत्वता ॥
नसे मीला जाणण्याची अवश्यकता । मीच म्हणनी ॥
(ज्ञानेश्वर)

और भी एक जगह कहा है—

मीचे ज्ञान बुद्धि सी । होणे असंभव असे तिशी ॥
हे दावी वैलक्ष्यण्याचे लक्षणाशी आणि विषया मध्ये ॥

'मैं'का यदि बुद्धिमें आना सम्भव ही नहीं तो 'मैं' का मरना भी सम्भव नहीं; क्योंकि जो बात बुद्धिमें आ ही नहीं सकती, उसके लिये बुद्धि यह कैसे कह सकती है कि 'वह मरनेवाला है' । इसलिये 'मैं' जन्म-मरणके परे है, यह बात उसके वैलक्षण्यसे सिद्ध होती है । एक महाराष्ट्र कविने वैलक्षण्य-की दृष्टिके सम्बन्धमें कहा है—

सी दृष्टिकी जिस जड़ी अजडत्व थारे ।
नासाग्रदृष्टि कितो काय तिमी कथारे ॥

यहाँपर ऐसी शङ्का होना सम्भव है—"यदि आत्माका कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है—यह मानते हैं, तो फिर शास्त्रोंमें जो ऐसा कहा है कि '**ज्ञानान्मोक्षः**', '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**' यानी ज्ञानके बिना मोक्ष—कैवल्य नहीं मिलता, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं और ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं; तब फिर हम तो ऐसे-के-ऐसे ही अज्ञानी, दुखी, कष्टपूर्वक मरने-वाले ही रह जायँगे ।' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आत्मा कभी ज्ञानमें नहीं आ सकता, यही '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**', '**ज्ञानान्मोक्षः**'में वर्णित ज्ञान है । आत्माको पूरा जाने बिना वह ज्ञानमें आता नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है । 'यह मनुष्य गोविन्द नहीं'—यों कहना तभी सम्भव है, जब गोविन्दका सच्चा ज्ञान हो । गोविन्दके ज्ञान बिना ऐसा कहना बनता ही नहीं । इसी प्रकार 'आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं' यों कहनेका अर्थ यही है कि आत्मा विलक्षण पदार्थ है,

इसलिये वह ज्ञानमें आने योग्य नहीं है। अतः यों कहनेमें आत्माका पूरा ज्ञान सिद्ध है और इस ज्ञानमें न कोई कर्ता है और न कर्म है। अतः यहाँ कर्ता-कर्म-विरोध भी नहीं आता। कर्ता-कर्म-विरोध तो 'आत्मा ज्ञानमें आता है' यों माननेसे होता है। परंतु आत्मा विलक्षण पदार्थ होनेके कारण ज्ञानमें आ ही नहीं सकता। इसलिये वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो ही नहीं सकता और आत्माके ज्ञानमें न आनेसे वह विपरीत भी नहीं होता। 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यों कहनेमें जो एक आत्मस्वरूपका ज्ञान है, वही दीखता है; क्योंकि 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यह ज्ञान ही बतलाता है कि वह आत्मज्ञान इतर पदार्थोंके ज्ञानके सदृश विधेयात्मक न होकर निषेधस्वरूप है अर्थात् जो-जो पदार्थ तुम्हारे ज्ञानमें आते हैं, वे सब आत्मा नहीं हैं—इस प्रकार यह निषेधात्मक ज्ञान है। अब यह बात अच्छी तरह समझमें आ गयी होगी कि कर्ता-कर्मका विरोध न हो और ज्ञान विपर्यस्त न हो, ऐसा आत्माका सच्चा ज्ञान करा देनेके लिये ही वेदोंमें 'नेति-नेति' वाक्यसे आत्माका ज्ञान करवाया गया है। यही अध्यात्म-शास्त्रका राजमार्ग है।

सर्वात्मभावकी साधना

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

इधर कुछ ही वर्षोंमें दो-दो महायुद्ध हो जानेके कारण इनके साथ किसी-न-किसी प्रकारसे सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंको किसी-न-किसी कारणसे बड़ा ही श्मशान-वैराग्य उत्पन्न हो गया है। कुछ तो परमेश्वरको भी खोजने लगे हैं; कहा भी है—'दुखमें सुमिरै सब कोई राम।' और कुछ लोग सत्य और अहिंसापर, तथा कोई वश न चलनेपर उपवासपर ही उतारू हो गये हैं। और कुछ लोग 'बातोंसे ही गढ़ जीत लेंगे'—यों मानकर भेंट-मुलाकात तथा बातचीतके चक्करमें पड़े हैं और मनको दिलासा देते हैं कि 'बातचीत तो चिरकालकी शान्तिके लिये करनी चाहिये।' कुछ नहीं तो, इसमें समय तो निकल ही जाता है। बात तो चन्द्रमा और मङ्गल ग्रहतक पहुँचनेकी होनी चाहिये। फिर जहाँतक पहुँचें, वहींतक ठीक। निस्संदेह भावनाएँ ऊँची ही होनी चाहिये और उत्साह भी खूब रखना चाहिये। अतएव एक देश 'पञ्चशील' का उपाय बतलाता है, तो दूसरा न्याय-युक्त शान्तिका उपाय बतलाता है; तीसरा खाने-पीने और आरामका ठेका लेनेवाली परोपकारी राज्यसत्ताका उपाय बतलाता है; चौथा राज्यमात्र-को विघटन करने (Dissolve) का उपाय बतलाता है और पाँचवाँ इन सबके स्थानमें शान्तिके लिये एकाधिकारपूर्ण चरम प्रभु-सत्ताका उपाय बतलाता है। इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। कुछ नहीं तो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'भाई! हमने शान्तिका अमोघ उपाय बतलाया परंतु लोगोंने माना नहीं, दुनिया उसके अनुसार चली नहीं; फिर हम क्या करें?' और सबके मनमें ऐसा लगता है कि यदि मेरी दवा की जाय तो कल सबेरे ही बुखार उतर जाय। ऐसी भगवान्‌की माया है। कहावत भी है कि 'पैसेसे कोई पूरा नहीं और अक्लसे कोई अधूरा नहीं'। और यदि इन सब डाक्टरोंको आलोचनाके लिये बुलाइये तो आपकी कोई न सुने। अन्यथा जैसे डाक्टर, वैद्य और हकीम, जलोपचारवाले, सूर्योपचारवाले, प्रकृति-चिकित्सक आदि परोक्षमें एक दूसरेकी टीका-टिप्पणी करते रहते हैं, उसी प्रकार इन लोगोंकी भी टीका-टिप्पणी, निन्दा-स्तुति और छिद्रान्वेषण चलता ही रहता है। इससे खूब पढ़ने-लिखने-वाले विद्वानोंके समान सीधे-सादे और अपढ़ लोग भी चक्करमें पड़ जायँ तो इनमेंसे किसको सच और ठीक मानें? और फिर ऐसा भी होता है कि प्रत्येक पक्षमें कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत गुण भी होता है—इससे चीज वैसे ही चलती रहती है।

फिर कुछ लोग अपने पास सब कुछ जानने और समझने तथा तौलनेका समय न होनेके कारण पंचायतकी तरह 'भाई तुम्हारी बात ठीक है, और तुम्हारी भी ठीक है, और तुम्हारी बात भी गलत नहीं है'—इस प्रकार सबको सही बतलाकर अपनी समाधान करनेकी योग्यता स्थापित करते हैं। और कुछ लोगोंको मोलियरके नाटकके बनावटी डाक्टरके समान कोई माने या न माने, बलात् डाक्टर बनकर बैठना पड़ता है। मैं भी अपनेको इस बड़े जत्थेसे अलग नहीं करता; यदि करूँ भी तो कौन मानेगा—यद्यपि एक जगह मैंने लिखा तो है कि हमलोगोंकी शान्तिकी खोजके मार्गमें मुख्य कठिनाई इस कारणसे उत्पन्न होती है कि सारे संसारको चलानेवाले परमेश्वर—सबके कर्ता, हर्ता और भर्ताको तथा उसके बतलाये हुए सुखदायक धर्ममार्गको त्यागकर हमलोग सीधे सुख-

शान्ति और समृद्धिकी खोजमें निकल पड़ते हैं, और यह भूल करके सत्यके अन्वेषणके मार्गमें रास्तेमें ही लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। इस प्रकार बिसुक गयी गायको रखनेका फल अर्थात् केवल श्रममात्र हमारे हाथ लगता है। हमारे इस प्रयासका ऐसा ही फल होता है —

आशा के उमरेठा गया, एक चवन्नी लाया।
दूध-सी उजली धोती खोयी, आठ कोस भटकाया॥

एक ब्राह्मणको उमरेठासे भोजन करनेके लिये चौरासीमें निमन्त्रण मिला। चार आने दक्षिणा और भोजन तो मिला; क्योंकि यही वहाँ रिवाज है; परंतु नफेमें बेचारेने दूध-सी उजली धोती खो दी और आठ कोस भटकना पड़ा सो अलग। कुछ लोगोंको पुरानी लीक, राजमार्गको छोड़कर इधर-उधर जानेका शौक लग जाता है, उनको भी पगडंडी छोड़नेपर भटकना ही पड़ता है। किसी बिरलेको भले ही मनचाही वस्तु मिले, नहीं तो प्रायः दूसरोंकी झोंपड़ीमें आश्रय लेना पड़ता है, या जीवन ही बदल जाता है, अथवा बाघ-भालूके मुँहमें जाना पड़ता है, या डाकू-लुटेरोंके हाथमें पड़कर उनका गुलाम बनना पड़ता है। इसीलिये लोग लीक-लीक चलते हैं, अथवा अपनी गाड़ीको लीक-लीक चलाते हैं। संसारको सागर कहें, या वन-जंगल, इसमें बिना किसी मार्गदर्शकके जानेमें नयी-नयी कठिनाई, नयी-नयी जोखिम रहती है। आज भी हममेंसे बहुत-से लोग भयके सामने आनेपर खरगोशकी तरह आँखें मूँदकर बैठ जाते हैं; परंतु बड़े-बड़े लोग तो देख ही रहे हैं और प्रत्यक्ष कह रहे हैं कि संसार आज एक महान् भयके किनारे पहुँच गया है, जो जगत्के इतिहासमें अतुलनीय है।

इस संसारके ऊपर मँडराते हुए महान् विनाशक संग्राममें दो चीजोंकी वृद्धि हुई है—विषैले शस्त्र और विषैला मन। अणु-बम, हाइड्रोजन-बम, जहरीले कीटाणु फैलानेवाले बम, विषैली वायु फैलानेवाले बम—ये सारे विषैले शस्त्र एक ओर बढ़ गये हैं तो दूसरी ओर कामना, क्रोध, अधिकारके लोभ और धन लोलुपताके कारण एक दूसरेके पतन तथा विनाशकी भावनासे भरा हुआ मन है। प्राचीन कालमें जब लोगोंके मनमें काम, क्रोध और लोभकी कमी थी, तब उनकी गाड़ी लीक-लीक चलती रही तथा बहुत ईर्ष्या-द्वेष या वैर-हिंसा भी नहीं थे। कोई सिकंदर या नादिरशाह या महमूद आता था तो राजाको पराजित करता था या लोगोंको लूटता था या मूर्त्तियोंको तोड़ता था और फिर वापस चला जाता था। तुम अपने घर और मैं अपने घर। परंतु अब तो युद्ध बंद होनेके बाद अथवा बंद करनेके बाद दसों वर्ष सुलह-शान्तिकी शर्तोंमें ही चले जाते हैं। कान्फ्रेंस, परिषद् और समितियोंका ताँता लगा ही रहता है। दोनों पक्ष एक दूसरेको उल्लू बनानेकी चेष्टामें रहते हैं। फिर दोनों ही समझ लेते हैं कि चलो, समय तो कटा! जैसे प्रेमीलोग समझते हैं कि 'हजारों रात बातोंमें गँवाना ही कमाई है', उसी प्रकार इनके लिये भी जितने ही दिन युद्ध टल गया, उतना ही अच्छा! कोई एक शील उपस्थित करता है तो कोई दो-तीन शील तो कोई पञ्चशीलका सुझाव रखता है। परंतु कोई भी स्वयं संयमका मार्ग नहीं पकड़ता। दूसरोंको संयममें रखनेके लिये सभी तैयार रहते हैं। कोई अधिकारी रैयतको लूटता है तो कोई अपने संस्थानोंको चूसता है और कोई जलकी भाँति लोगोंके रक्तको भी नहीं छोड़ता। इस प्रकार कोई शान्ति-सुव्यवस्थाके बहाने, कोई समृद्धिकी नदी बहानेके बहाने, कोई दूसरोंको खान-पान और धन-धामकी पूरी सुविधा कर देनेके बहाने, अपने लोगोंको या दूसरे लोगोंको कर, व्यापार या दूसरी युक्तियोंसे अपना शिकार बनाते ही रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नैतिक या धार्मिक मार्गपर चलनेसे ही अपना ठिकाना लगेगा; परंतु ऐसे लोग बहुत कम हैं। ऐसा कहनेवाले भी लोग थोड़े ही हैं और फिर उसको काममें लानेवाले तो और भी थोड़े हैं। विचार करनेपर जान पड़ता है कि आजकल संनिपातवाले त्रिदोषके लक्षण स्पष्ट दीख रहे हैं। पहले भी काम, क्रोध और लोभ थे, यह ठीक है; परंतु उनसे मनका दोष कुपित नहीं हुआ था। वात, पित्त और कफ—ये शरीरके मल हैं और राग-द्वेष तथा अभिनिवेश—ये मनके मल हैं। शरीरके मलके कुपित होनेपर रोग होता है और मनके मलके कुपित होनेपर मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। इसीलिये संसारके धन्वन्तरि कहते हैं—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

स्त्री, खान-पान और धनमें संतोष रखना चाहिये; तथा विद्योपासना, जप और दान देनेमें उदारता रखनी चाहिये। परंतु आज तो सभीमें दौड़-धूप, उछल-कूद करके माल लूट लेनेकी कुछ ऐसी अद्भुत अभिलाषा जाग उठी है कि रावणके, राजा नलके या पाण्डवोंके समयमें भी ऐसी बात नहीं थी। यह बात तनिक-सा विचार करनेपर समझमें

आ जाती है। रावण या बालीके भाइयोंने भी तो पहले-पहल संयमका ही उपाय दिखलाया था। मुझको तो ऐसा लगता है कि आजकल जितनी ही अधिक परिषदें—पार्लामेंट होती हैं, उतना ही अधिक लोगोंमें गहरा राग-द्वेष बढ़ता जा रहा है। इस बातको तो अलग ही रहने दीजिये कि आजके लोकतन्त्रका अर्थ ही है—पक्षापक्ष, विरोध और वैरकी बालूके ऊपर खड़ी की गयी इमारत। अतएव 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के कारण तथा उसमें अनेक दलबंदियाँ होनेके कारण कोई रास्ता नहीं बन रहा है। चीनके मन्त्री चाऊ एन लाई तथा रूसके विधाता स्टालिन तो स्पष्ट कह देते हैं कि हमारे यहाँके लोक-तन्त्रमें तो अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) ही है और सर्वथा ठीक है। परंतु इस बातको जाने दीजिये। तथ्य तो यह है कि मनुष्योंके मनका आयोजन ही बुरा हो गया है। इसी प्रकार राज्योंका आयोजन भी लीकसे उतर गया है और वैज्ञानिकों-की बुद्धिका आयोजन भी गड़बड़ाध्यायके अध्ययनमें लग गया है। जितना परिश्रम वे लोग पदार्थोंके अन्वेषणके पीछे करते हैं, उतना यदि मानवके मानसके विषयमें करनेमें लगाते तो काम बन जाता! कहा भी है कि युद्धमें, बीमारीमें, श्मशानमें अथवा पुराणोंके बाँचनेमें जो मनोवृत्ति होती है, वह यदि स्थिर रह जाती तो संसारके दुःखोंके सभी झंझटोंसे लोग छूट जाते। परंतु मनरूपी हाथीको यह टेव पड़ गयी है कि नदीमें नहाकर बाहर निकलते ही वह सूँड़में धूल भर लेता है और उसे अपने शरीरपर डालने लगता है। इस प्रकार शरीरको भिगोकर पीछे उसपर सूखी धूल पोतनेमें उसे क्या मजा मिलता है, इसका पता तो उसीको होगा; अन्यथा 'अपनी-अपनी तानमें रहें सभी मस्तान' कैसे हुआ जाता।

हमारे भीतर फैले हुए राग-द्वेषकी मुख्य भूमिका यह है कि हम सबको एक दूसरेसे अलग समझते हैं। ईशोपनिषद्में जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार यदि हम यह समझते होते कि 'समस्त भूत-प्राणीमात्र आत्मामें ही हैं और सब भूतोंमें एक ही आत्मा व्यापकरूपसे स्थित है, तथा प्रकृतिके वैविध्य, द्वन्द्व और संग्रामोंको प्रकृतिके थैलेमें डालकर उसको ऊँचे लटका देना है, तो फिर किसीकी निन्दा-स्तुति, पक्षापक्षी तथा लड़ाई-झगड़ेकी कल्पना ही कैसे होती। सच्चा साम्य—एकत्व तो आत्मामें ही है; शेष प्रकृतिमें तो अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, गोरे-काले, मोटे-पतले, गरीब-अमीर, मेधावी-मूर्ख, पुण्य और पाप—सब प्रकारका वैषम्य-वैविध्य है और रहेगा। एकको सम करोगे तो दूसरा उभड़ आयेगा। अर्थात् एक आत्मा सर्वत्र समान रूपमें है, उसको देखो और प्रकृतिके पीछे मत पड़ो। संसारमें जितना गहरे उतरोगे, उतना ही अधिक कीचड़में फँसोगे। लोग जानते हैं कि जिस राज्यपर विश्वास करेंगे, वही सिरपर सवार हो जायगा, अथवा अधिनायकतन्त्रका पूर्णाधिकार आ बैठेगा। स्टालिनके कारनामेकी अब निन्दा की जा रही है, परंतु काम बिगड़ जानेपर बुद्धिमानी किस कामकी। युद्धमें, शान्तिमें या सत्याग्रहमें कट मरना, गोली, अश्रुगैस या बमका शिकार होना किसीको भी पसंद नहीं है। परंतु यह सब फल है—ईश्वरको भुलाकर जगत्में तल्लीन होनेका।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सर्वात्मभावकी प्राप्तिका साधन क्या है। इसमें जादू, चमत्कार या 'एक-दो-तीन, साढ़े तीन'का हुनर लगानेका काम नहीं है। इसका उपाय प्राचीनकालसे हमारे पूर्वजोंने बता रखा है। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बतलाया है कि जबतक सर्वात्मदृष्टि नहीं हो जाती, तबतक सबको भगवान् समझकर प्रणाम करते रहना चाहिये। सारे जगत्में जहाँ-जहाँ विभूतिवाला, श्री-सम्पन्न या तेजस्वी प्राणी दीख पड़े, उसको प्रभुकी विभूति, प्रभाव या मूर्त्तस्वरूप समझे। यह सारा जगत् ही प्रभुरूप है, ऐसा अनुभव करे। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, जल, पृथ्वी, मनुष्य, गौ आदि प्राणी, तुलसी आदि वृक्ष—इन सबमें प्रभु व्याप्त हो रहे हैं, ऐसा अनुभव करे। इन सबोंमें जहाँ अन्तःकरण अधिक आकर्षित हो, वहीं प्रभुको, परमात्माको पूजे। इस प्रकार मूर्ति-पूजाके समान घड़ी-घंटा न बजानेपर भी सर्वात्मभावका उत्तमोत्तम साधन सर्वपूजा हो जाती है और एक प्रकारसे बन्धुकी, प्रियकी, प्रियाकी अथवा प्रिय-के सौन्दर्यकी, सत्ताकी या समृद्धिकी, विद्याकी, कलाकी या साहित्यकी उपासना करनेवाले भी आत्माके इस महाप्रतीक-की ही उपासना कर रहे हैं। मूर्त्तके द्वारा ही हम अमूर्तकी पूजा करते हैं। कवि तो हमको कहते ही हैं—

'आस पास आकाशमें विश्वपतीका वास।'

परंतु इस विश्वपतिको केवल आकाशमें ही नहीं देखना है। जगत्में बाहर-भीतर, चारों ओर, दसों दिशाओंमें वह भरपूर है। हम उसके भीतर, बैठकर सारी इधर-उधरकी और सुख या दुःखकी, पुण्य या पापकी हार-मालाएँ गूँथा करते हैं। इनमेंसे बच निकलना कठिन है, इसलिये पहले इन सबमें संयम करे, फिर केवल सत्कर्ममें लग जाय; पश्चात्

इन सत्कर्मोंको भी ईश्वरार्पण, निष्कामभावसे करे—ये सब जाने हुए मार्ग हैं, साधन हैं। अन्यथा, बंदूक और बमगोले बनाने और फोड़ने अथवा बातोंमें ही बड़े बननेका यत्न करनेसे दुनियाकी दशा पलटनेवाली नहीं है। ये सारे मौलिक साधन हमारे भीतर थे और आज भी थोड़े-बहुत हैं; इसीसे यह भारतदेश अहिंसा, सत्य और शान्तिके मार्गमें एकाएक एक ही दशकके भीतर संसारमें अग्रणी हो गया है। और रेडियोमें भी परमात्माके भजन और राम-रामकी आवाज सुन पड़ती है। यह एक ही भारतदेश है, जहाँ सर्वात्म-भावकी भावना सारे सांसारिक जीवनमें तथा जीवन-जगत्में व्याप्त हो रही है। हमलोग कहते हैं कि 'जननी जने तो भक्त जन'। युवतियाँ जगदम्बाके दीपके आस-पास गरबा गाती हुई नवरात्रमें आनन्द मनाती हैं; छोटी-छोटी बालिकाएँ शिव-पार्वतीका व्रत लेकर सर्वात्माको देखनेकी शिक्षा ग्रहण करती हैं। हम गायको, गङ्गाको, गो-रजको, नदीको, अग्निको तथा सूर्यको पूजते हैं। किसान अपने हल आदिकी, कुलाङ्गनाएँ अपने पतिकी, शिष्य अपने गुरुकी और आस्तिक विप्रकी पूजा करते हैं। यही अपनी संस्कृतिका यशोगान है, यही हमारी संस्कृतिकी पुण्यमयी, पावन करनेवाली धारा है। इसीमें सर्वतोमुखी कल्याण है। अपने लिये शान्ति है, दूसरे सबके लिये सुख है और परमात्माकी पूजा है। परंतु ये सब उसके रूप हैं, उसके अधिकारी हैं, उसके वकील हैं, प्रतिनिधि हैं, देव-देवीस्वरूप हैं। अच्छे-बुरे ये हैं; परमात्मा अच्छा-बुरा नहीं—वह तो निर्लेप है।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[भाग ३१, सं० ९, पृष्ठ १२०४ से आगे]

७८—विश्राम

'कनूँ, तू थक गया है। ला, तेरे पैर दबा दूँ।' भद्र धीरेसे श्यामके चरणोंके समीप बैठ गया।

'तू थक गया हो तो तेरे पैर मैं दबा दूँ।' कृष्ण इस समय अपनी मौजमें है। भद्र उसके पैर दबाने लगे तो कोई पत्ता लेकर वायु करने आ पहुँचेगा। यह सब इस समय उसे अभीष्ट नहीं। भद्रके पाससे अपने चरण उसने एक ओर खिसका लिये।

हरी-हरी कोमल दूर्वा है। कहीं-कहीं शङ्खपुष्पीके उज्ज्वल पुष्प हैं उसमें छोटे-छोटे। ऊपर मौलिश्रीकी घनी छाया है। दाऊ पालथी मारे बैठा है और बड़े भाईके समीप ही श्याम पेटके बल घासपर लेटा पड़ा है। दोनों चरणोंके लाल-लाल तलवे खिले कमल-से ऊर्ध्वमुख हैं और मोहन कभी-कभी चरणोंकी अँगुलियाँ नचा लेता है। दाहिनी कुहनी भूमिपर टेककर खड़े दाहिने हाथकी हथेलीपर चिबुक धरे, वक्षसे ऊपरका भाग पृथ्वीसे उठाये सामने नाचते मयूरको चुपचाप देख रहा है और मन्द-मन्द हँस रहा है।

'भद्र, गायें तो दूर चली गयीं। मैं जाऊँ क्या?' इस पूछनेका अर्थ बहुत स्पष्ट है। मोहन इस समय उठे, यह कौन चाहेगा।

'तू लेटा रह। मैं गायें घेर लाता हूँ।' भद्र उठा और उसने अपना लकुट उठाया। गायें दूर चली गयी हैं। सखा भी खेलनेमें लगे हैं। कन्हाई उछल-कूदकर थक गया है। अब इसे तनिक विश्राम कर लेना चाहिये।

'चल, मैं तेरे साथ चलता हूँ।' दाऊने भी भद्रके साथ गायोंको घेर लानेके लिये उठनेका उपक्रम किया।

'दादा, तू बैठ।' कन्हाईने पड़े-पड़े ही दोनों हाथ उठाकर दाऊके दोनों घुटने पकड़ लिये और धीरेसे अपना सिर उसकी गोदमें रख दिया।

पेटके बल घासपर लेटा है यह श्यामसुन्दर। दोनों चरण अब इसने उठा लिये हैं घुटनोंतक ऊपर और उन्हें पीठकी ओर मोड़कर हिलाता है, नचाता है। दाऊकी गोदमें सिर रखकर मजेसे कभी मयूरका नृत्य देखता है और कभी बड़े भाईके मुखकी ओर मुख घुमाकर देख लेता है। कुछ गुन-गुन करके मन-ही-मन गा रहा है।

'दादा, तू जायगा?' नटखट कहींका। गोदमें सिर रखकर, दोनों हाथोंसे दोनों घुटने पकड़कर तब पूछता है कि तू जायगा? अरे तू गोदमें सिर रखे लेटा रहे तो दाऊ जाना तो दूर, हिलना भी चाहेगा? छोटे भाईके सुन्दर

मुखकी ओर देखता दाऊ मन्द-मन्द हँस रहा है। उसे क्या आवश्यकता कि उत्तर दे।

७९—ऐश्वर्य

'दादा!' तोक दौड़ता हुआ आया, किंतु सम्बोधन करके फिर हिचक गया। दाऊके पास आकर धीरेसे कहा उसने—'दादा! आँधी आ रही है। तू उसे मना कर दे। कनूँसो रहा है न।'

'कहीं आँधी भी कोई मनुष्य या गाय है कि मना करनेसे मानेगी।' गोपकुमारोंने कुछ कहा नहीं, पर प्रायः सबके अधरोंपर हास्य आ गया। यह तोक अभी बहुत छोटा जो है—समझता नहीं कुछ।

'तू मेरा नाम लेकर उसे मना कर आ। कह देना कि अभी आयी तो अच्छा नहीं होगा।' यह दाऊ घूँसा दिखा रहा है। बाप रे! इसके घूँसेसे आँधी तो क्या, आँधीका बाप भी मान जायगा। तोक मना करने दौड़ गया है, किसी बालकके मनमें अब कोई संदेह नहीं है तोककी सफलताके सम्बन्धमें। कोई नहीं देखता कि गायोंने चरना बंद करके कान खड़े कर लिये हैं। बंदर वृक्षोंपर जा चिमटे हैं और वन-पशु चौकन्ने हो रहे हैं। आकाशमें चढ़ती हुई धूसर धूलिकी घनघटाकी ओर कोई आँख उठाकर देखतातक नहीं।

'दादा!' तोक फिर प्रसन्नतासे उछलता आया। इतनी देरमें भला, वह कितनी दूर गया होगा। इस बार दाऊके कानके पास मुख ले जाकर अपनी समझसे वह बहुत धीरे-धीरे बोल रहा है; पर उसका स्वर ऐसा है कि सुन सब रहे हैं। वह कह रहा है—'आँधी तो मेरा ही घूँसा देखकर भाग गयी। मैंने तेरा नाम तो लिया ही नहीं। मैंने कहा—'हमारा कनूँ अभी सो रहा है। तू भाग जा, नहीं तो हूँ।' और अपनी छोटी-सी मुट्ठी बाँध ली उसने फिरसे।

'तू क्या किसीसे कम है?' दाऊने प्रोत्साहित किया तोकको। श्याम सो रहा है। सघन तमालके नीचे लाल-लाल आम्र-किसलयोंकी शय्यापर भद्रकी गोदमें सिर रखकर वह सो रहा है। सुबलकी गोदमें उसके चरण ऐसे पड़े हैं, जैसे दो खिले कमल। पटुका उसने एक ओर हटा दिया है। बड़ी-बड़ी पलकें बंद हैं। वक्ष और उदर मन्द-मन्द हिल रहे हैं। सो रहा है कन्हाई। मण्डलीभद्र कमलके पत्तेसे वायु कर रहा है उसे।

दाऊ पास बैठा है सटकर। वह अपने निद्रित अनुजके अधरोंपर जो स्मितकी रेखा है, उसे देख रहा है। कभी-कभी धीरेसे कन्हाईके भालपर आयी अलकको हटा देता है। यह अलक भी कम हठी नहीं है। यह बार-बार भालपर चली आती है।

तोक आज संरक्षक बन गया है। कन्हाईकी दूसरी मूर्ति तोक—वैसा ही पीताम्बर-परिधान, नीलसुन्दर, गोपकुमारोंमें सबसे छोटा तोक तनिक दूर चरणोंकी ओर अपना छोटा-सा घूँसा बाँधकर खड़ा हो गया है। उसकी भङ्गी, उसके नेत्र, उसकी चेष्टा कहती है—'कोई बोल नहीं सकता। कोई आ नहीं सकता। न आँधी, न आँधीका सङ्गी साथी। हमारा कनूँ अभी सो रहा है।'

८०—अन्वेषण

'कन्हाई कहाँ है?' सायंकाल हो रहा है, गायोंके लौटनेका समय हो गया। गोपकुमार उन्हें घेरने भी लगे हैं। ठीक इस समय श्याम कहाँ चला गया? अभी थोड़ी देर पहले तो यहीं उछल-कूद कर रहा था। पता नहीं किस पक्षी या मृगके पीछे दौड़ गया। किसी कुञ्जमें पुष्प लेने भी चला गया हो सकता है। अब उसे झटपट आ जाना चाहिये। दाऊ इधर-उधर देखने लगा है।

'श्याम कहाँ गया? किधर गया?' अपने छोटे भाईके आँखोंसे ओझल होते ही यह दाऊ चञ्चल होने लगता है। वैसे यह सबमें गम्भीर है; किंतु कृष्ण कहीं गया तनिक दूर और इसने खोज प्रारम्भ की। फिर इससे बैठा नहीं रहा जा सकता।

'कनूँ! कहाँ है तू? आ। दौड़ आ। अब हम घर चलेंगे।' कृष्ण तो कहींसे बोलता नहीं। दाऊके गम्भीर स्वरकी केवल प्रतिध्वनि आ रही है। 'कितनी दूर चला गया श्याम?'

'तुमने मोहनको देखा है? वह किधर गया?' सब सखा तो यहीं हैं। अकेला कन्हाई चला कहाँ गया? ये सुबल, भद्र, श्रीदाम, तोक, अर्जुन, ऋषभ आदि सबके सब तो यहीं हैं। इन सबसे पृथक् होकर वह चला गया?

'तुम सब बताते क्यों नहीं हो? कन्हाई कहाँ छिपा है?' ये सखा कोई उत्तर नहीं देते। श्याम सचमुच कहाँ गया? यदि ये न जानते होते तो इस प्रकार क्या मुस्करा पाते? दाऊ समझ गया है कि उसका छोटा भाई कहीं पास ही छिपा है। वह परिहास कर रहा है।

'श्याम, कहाँ है तू ?' लेकिन श्याम कहाँ बोलता है। वह क्या दाऊकी पीठके पास कमर झुकाये, सिर उझकाये, सिकुड़ा-सिमटा मुस्करा रहा है। दाहिने हाथकी तर्जनी अधरोंपर रखकर सखाओंको चुप रहनेका संकेत कर रहा है। दाऊ जिधर घूमता है, उधर ही घूमता हुआ पीछे छिपता जा रहा है। कितने खिले हैं उसके नेत्र। कितना प्रसन्न है उसका मुख।

'अच्छा।' दाऊ हँस पड़ा खुलकर। ये सब सखा कहाँ देख रहे हैं ? क्यों ये उसके पीछेकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं ?

'दादा !' श्यामने देख लिया कि दाऊ जान गया। अब वह झटसे पीछे घूम पड़ेगा। पीछेसे ही दोनों भुजाएँ बड़े भाईके कण्ठमें डालकर चिपक गया है पीठसे और गर्दनके पास सिर रखकर हँस रहा है।

दादा इसे नहीं पा सका ढूँढ़कर। किंतु ढूँढ़नेपर इसे कभी किसीने पाया भी है ?

८१—तारक-दर्शन

'मैया ! यह कौन-सा तारा है ?' इस गर्मीकी ऋतुमें श्यामसुन्दर बड़े भाईके साथ एक ही शय्यापर खुले आकाशके नीचे सो रहा है। चन्द्रमाका उदय तो अभी दो घड़ी पीछे होगा। निर्मल नील गगन खिले तारकोंसे भर गया है। गो-चारणसे सायंकाल लौटे राम-श्यामको मैयाने स्नान कराया, वस्त्र बदलवाये, भोजन कराया। खा-पीकर अब ये दोनों लेट गये हैं शय्यापर। मैया पास आ बैठी है। कभी कन्हाई और कभी दाऊ मैयासे किसी बड़े चमकते तारेका नाम पूछ बैठते हैं। छोटे तारोंमें इन्हें अभिरुचि नहीं और हो भी तो इतने ढेरों तारोंका नाम मैया जानती कहाँ है।

'निर्मल दिशाएँ, शीतल-मन्द पवन चल रहा है। भूमि खूब सींची गयी है और अब भी पूरी सूखी नहीं है। उज्ज्वल कोमल दूधके फेन-जैसे आस्तरणके ऊपर राम-श्याम लेटे हैं। कभी उनमें एक उठ बैठता है और कभी दूसरा। दो क्षण किसी तारेको देख-दिखाकर या तो वे स्वयं लेट जाते हैं या मैया आग्रहपूर्वक लिटा देती है। मैया शय्यासे नीचे बैठी है सटकर। उसके इन चञ्चल पुत्रोंने शय्याका आस्तरण कुछ सिकोड़ दिया है स्थान-स्थानपर। बार-बार वह आस्तरण ठीक कर दिया करती है एक हाथसे।

'अरे, यह तो रंग-बिरंगा तारा है। लाल, नीला, बैंगनी, पीला। देख, दादा।' कन्हाईने पूर्व और दक्षिणके कोणपर एक तारा देखा है—बड़ा-सा। उस तारेमें कई रंग स्पष्ट दीखते हैं। वह कुछ काँपता-सा भी जान पड़ता है। मोहन उठ बैठा है शय्यापर और आकाशकी ओर मुख करके देख रहा है उसी तारेको।

'रंग-बिरंगा तारा ? कहाँ है ?' दाऊ भी बैठ गया है।

'वह—वह है न ?' श्यामसुन्दरने झुककर बड़े भाईके कण्ठमें दाहिनी भुजा डाल दी है। दाऊने भी अपनी बायीं भुजा कन्हाईके कंधेपर धर दी है। दोनों एक दूसरेकी ओर झुक गये हैं। दोनोंके सिर और कान सट गये हैं। कृष्ण-चन्द्र बायाँ हाथ फैलाकर ऊपर दिखा रहा है उस तारेको। दोनोंके मुख ऊपर उठे हैं। दोनोंके विशाल लोचन आकाश-की ओर लगे हैं।

'नीला और लाल—बहुत सुन्दर है यह तो।' दाऊने अपना हाथ छोटे भाईके कंधेसे उठा लिया है और प्रसन्न होकर ताली बजाने लगा है।

'मैया ! देख तो तू !' कृष्णचन्द्र अपनी खोजका यह तारा मैयाको भी दिखा देना चाहता है।

'हाँ, हाँ ! बहुत अच्छा तारा है, पर अब तुम दोनों सो तो रहो। मैं कहानी सुनाती हूँ।' मैयाको किसी तारेके देखनेमें कोई रुचि नहीं। उसके सम्मुख तो ये दो पूर्णचन्द्र बैठे हैं। भला, क्या होता है कोई नन्हा-सा तारा। मैया अब नहीं चाहती कि ये दोनों जागते रहें।

इन्हें अब सो जाना चाहिये।

८२—गो-सेवक

'नन्दा ! घास खायगी तू ? किंतु नन्दाको इस समय घासकी चिन्ता कहाँ है। वह तो आधे नेत्र बंद किये आनन्द-मग्न हो रही है। उसके चारों थनोंसे दूधकी धारा झर रही है।

'कामदा ! तू भी आ गयी ?' जब नन्दाको पुचकारा, सहलाया जा रहा है, तब कामदा क्यों नहीं आयेगी। आनेको तो अब कपिला, कृष्णा, चित्रा, गौरी सब आ रही हैं। सब दौड़ी हुंकारती आ रही हैं। उनके हृदयमें यह स्नेह पानेकी क्या कम उत्कण्ठा है।

दाऊ थोड़ी-सी घास ले आया है। दो-दो दूर्वादल वह इस प्रकार बाँट रहा है, जैसे किसी मन्दिरमें उसका पुजारी दर्शनार्थियोंको तुलसीदल बाँट रहा हो। गायोंके हाथ नहीं

हैं, यह तो ठीक; पर उनमें दूर्वा लेनेके लिये किस श्रद्धालुसे कम उत्सुकता है।

'हाँ, हाँ, तुझे भी दूँगा; तनिक ठहरो तो।' मुख ऊपर किये एक दूसरीके मध्यमें घुसती आती गायोंकी यह भीड़ बढ़ती ही जा रही है और दाऊकी नन्ही मुट्ठी ! किंतु उसकी मुट्ठी तो अनन्तकी मुट्ठी ठहरी।

'तुझे भी ? हाँ।' श्यामसुन्दर सहलानेमें लगा है गायोंको। गायोंके गर्दनके नीचेके भागको और कण्ठकी दोनों बगलोंको वह अपने अरुण कोमल करोंसे सहला रहा है। उसके दोनों हाथ व्यस्त हैं। गायें उत्सुकतासे गर्दन उठाकर मुख आगे कर देती हैं। मोहनके कंधेपर मुख रख देती हैं धीरेसे। वह कभी एक और कभी दूसरीको सहलानेमें लगा है।

रंग-बिरंगी सहस्र-सहस्र गायोंका यूथ वृन्दावनकी इस हरित भूमिपर पुष्पित सघन वृक्षोंके नीचे एकत्र हो गया है। मण्डलाकार हो गया है यह यूथ। एकके पीछे एक सब मुख उठाये आगे घुसनेके प्रयत्नमें लगी हैं। गोपकुमार पृथक् पड़ गये हैं इससे। वे सब चुपचाप दर्शक बन गये हैं।

गायोंके यूथके मध्यमें घिरे हैं राम-श्याम। दाऊके बायें हाथमें एक मुट्ठी दूर्वा और दाहिने हाथसे वह दो-दो तृण बाँट रहा है। गायें हुंकार कर रही हैं बार-बार। उनके स्तनोंसे दूध झर रहा है। बड़ी उत्सुकतासे दूर्वा मुखमें लेती हैं वे और लिये रहती हैं। उसे खा लेनेका स्मरण ही इस समय उन्हें नहीं है।

नील-पीत-वसन ये गौर-श्याम दोनों भाई—अलकोंपर आज नोवनेकी रस्सी लपेट रखी है दोनोंने। बायें कंधे एवं कक्षको घेरकर भी रस्सी लपेट ली है। पटुके कटिमें कस लिये हैं। आज दोनों पूरे गोपाल बने हैं गायोंके समूहसे घिरे।

ये गोसेवक ! गायोंसे भी बड़े देवताका पता सृष्टिमें सृष्टिकर्ताको भी नहीं।

८३—पूजन

'ऊँ, ऊँ, ऊँ!' आज दाऊ कुछ गुनगुना रहा है। बिना मुख खोले केवल नाकसे स्वरमात्र निकाल रहा है वह और कभी-कभी चुटकी बजा लेता है।

पुष्पित कदम्बकी एक मोटी शाखा कालिन्दीके कुछ ऊँचे तटसे नीचे जलके पासतक झुक आयी है। उस शाखाका अगला भाग फिर फैलकर ऊपर उठ गया है और फूलोंसे लदी एक मालती लता फैल रही है उस पूरी शाखापर। मालतीके हरे सघन पत्तों एवं उज्ज्वल ढेर-के-ढेर पुष्प-स्तबकोंके बीच-बीचमें कदम्बके पीताभ पुष्पोंकी छटा अद्भुत ही है।

दाऊ कदम्बकी शाखापर बैठा है और कालिन्दीके प्रवाहको देख रहा है। उसके नीचे लटके एक चरणको कलकल करती जलधाराकी लहरियाँ बार-बार स्पर्श कर रही हैं।

श्याम जिधरसे प्रवाह आ रहा है, उधर तनिक दूर तटपर अपनी अञ्जलिमें खूब बड़ा-सा, सुन्दर-सा पूरा खिला लाल कमल लिये झुककर कुछ देख रहा है। कुछ अनुमान कर रहा है। बैठकर अनुमान करके कमलपुष्पको धारापर छोड़ दिया उसने और फिर झुककर, मस्तक बायीं ओर लटकाकर देखने लगा—उसका पुष्प ठीक स्थानपर जाता है या नहीं।

दाऊकी दृष्टि नीचे गयी। बहुत सुन्दर सरोज उसके चरणोंसे आ लगा है। 'यह किसका पूजनोपहार है ?' दृष्टि तटके साथ आगे गयी। श्याम अब भी झुका देख रहा है और प्रसन्न हो रहा है। दाऊके नेत्र अद्भुत भावसे भर गये हैं।

'दादा, आऊँ मैं ?' कन्हाई एक हाथमें वंशी लिये दौड़ा-दौड़ा आया है। वह दाऊके मुखकी ओर देखनेके बदले उसके चरणोंके पास जलमें स्थिरप्राय अपने पद्मपुष्पको ही झाँक रहा है।

'आ जा !' दाऊ तनिक-सा हिला, किंतु श्याम तो इस अनुमतिसे पहले ही डालपर चढ़कर जाने लगा।

'दादा, यह तेरा पूजन कर रहा है।' बड़े भाईके बायीं ओर उससे सटकर, उसके कंधेपर दाहिना हाथ रखकर कृष्णचन्द्र बैठ गया है। अब भी उसकी दृष्टि नीचे पुष्पपर है।

'ये सुरभित श्वेत सुमन तेरे चरणोंके पास ही घूम रहे हैं।' दाऊ मालतीके पुष्प तोड़कर गिराता जा रहा है। कुछ मोहनकी अलकोंमें उलझ गये हैं और कुछ जलमें लटके श्यामसुन्दरके चरणोंके पास नाच-से रहे हैं।

कदम्बकी हरितिमासे भरी श्वेत पुष्पोंके मध्य पीत कुसुमोंसे सजी शाखापर बैठे गौर-श्याम और नीचे कालिन्दीके प्रवाहमें लटकते उनके अरुण सरोज-से चरणोंके पाससे बहुत-से श्वेत सुमनोंके मध्य विकच अरुण कमल। इन दोनोंमें किसने किसका पूजन किया ? कालिन्दी दोनोंके श्रीचरणोंका पूजन करके कृतार्थ हो रही है।

८४—कर्मयोगी

'कनूँ ! अपनी गायें थोड़ी देरमें पानी पीयेंगी। यहाँ कगार उतरने योग्य तो है नहीं। चल, यहाँसे हम सब चलें।' भद्रको भी यह फूलोंसे लदा हुआ यमुना-तट बहुत रुचा है, किंतु कगार ऊँचा है यहाँ। गायोंको जल तो पिलाना ही पड़ेगा।

तटकी भूमिको गायोंके उतरने योग्य बना लें हम सब। श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर देखा कि कहीं दादा मना न कर दे।

'यहाँकी भूमि उतरने योग्य बनेगी?' भद्रका संदेह अकारण नहीं है। क्या हुआ जो कगार रेतीला है और थोड़े श्रमसे गिर पड़ता है। बहुत ऊँचा है कगार। गायोंकी इतनी बड़ी संख्या उतर सके, इसके लिये कुछ हाथ-दो-हाथ पतला मार्ग बनानेसे काम नहीं चल सकता।

'बनेगी! बनेगी क्यों नहीं?' कन्हाईका स्वभाव ही सबसे भिन्न है। इसे असम्भव कुछ जान ही नहीं पड़ता। इससे तो पूछो कि 'आकाशके तारे खेलनेको मिलेंगे?' तो भी कहेगा—'मिलेंगे! मिलेंगे क्यों नहीं।' और जब यह हठपर उतर आता है, इसके लिये कुछ अशक्य नहीं। यह ऐसी युक्तियाँ सोच निकालता है कि कोई नहीं कह सकता कि अपने नन्हे पटुकेके छोरमें तारोंको उलझाकर खींच लेना इसके लिये सचमुच ही असम्भव है।

'दादा! तू मेरा पटुका और वंशी रख!' श्यामने कछनी समेट ली है, वनमाला उतार धरी है और अलकें पीछे कर दी हैं।

'तू बैठ, मैं मार्ग बनाये देता हूँ।' दाऊ उठ खड़ा हुआ है। कृष्णचन्द्र परिश्रम करेगा और वह बैठा रहेगा? उसका छोटा भाई व्यस्त बने, इससे तो वह अकेले ही मार्ग बना दे—यही अच्छा।

'ना, दादा! हम सब मिलकर मार्ग बनायेंगे!' श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर विचित्र भङ्गीसे देखा।

'अच्छा चल!' दाऊने भी पटुका और वनमाला उतारकर श्यामके पीतपटके साथ रख दिया।

शतशः गोपकुमार लग गये हैं कगार गिराकर मार्ग बनानेमें। कोई लकुटसे रेत गिराता है, कोई पैरसे और कोई दोनों हाथोंसे। कोई गिरी रेतको सम करता है, कोई नीचे ठेलता है, कोई बड़े डले लुढ़काकर हटाता है।

'तू रोटी खा आ, तब काम करना।' कन्हाई किसीको चिढ़ाता है, किसीकी प्रशंसा करता है, किसीपर रेतकी मुट्ठी डालता है, किसीको ठेलकर ढालपर लुढ़का देता है। सब हँसते हैं, परस्पर ठेलमठेल करते हैं, लुढ़कते हैं, पुकारते-चिल्लाते हैं और फिर भी पूरे उत्साहसे काममें लगे हैं।

धूलसे भरी अलकें और शरीर, स्वेदसे आर्द्र पूरा श्रीअङ्ग, कुछ अरुण बना हँसता मुखचन्द्र जुटा है श्यामसुन्दर मार्ग बनानेमें। वह बार-बार आग्रह करता है—'दादा, तू बैठ अब! देख, हमने कितना चौड़ा मार्ग बना दिया।'

'कनूँ, तू अब रहने दे!' दाऊ छोटे भाईको रोकनेका अत्यधिक प्रयास करता है।

जुटे हैं ये दोनों कर्मयोगी और इनका बनाया मार्ग—गायोंके लिये ये मार्ग बना रहे हैं।

विश्वके लिये इनको छोड़कर कोई दूसरा मार्गनिर्माता कहाँसे आयेगा?

८५—झगड़ा

'दादा! कनूँ मेरी सब रोटी खा रहा है।' सुबाहु आज बहुत रुष्ट है। क्रोधसे तमतमाया हुआ है इसका मुख। क्रोध करनेकी बात भी है। कोई किसीका छीका चुपचाप उठा ले और उसकी सामग्री उदरस्थ करने लगे, पूछनेपर मुँह बनाकर चिढ़ाये तो छीकेका स्वामी क्रोध नहीं करेगा?

'तू मेरे छीकेको ले ले; जितना जीमें आये, खा ले तू उसमेंसे।' दाऊके छीकेमें इतनी सामग्री रहती है कि उससे एक तो क्या चार-छः मजेसे छक सकते हैं।

'वह मुझे अँगूठा दिखाता है, मुँह चिढ़ाता है।' केवल भोजनका प्रश्न होता तो इतना बखेड़ा क्या था। सुबाहु इस प्रकार मान नहीं सकता। वह कह रहा है—'मैं लड़ूँगा उससे।'

'अच्छा चल!' दाऊ उठ खड़ा हुआ। सुबाहु अवस्थामें छोटा है। शरीरसे भी दुबला-पतला है। वह अकेला ही लड़ पाता तो दाऊ दादाके पास दौड़ा नहीं आता।

मालतीकी सघन कुञ्जमें श्यामसुन्दर एक छीका सामने रखे बैठा है। सुबाहुको देखते ही उसने अवशिष्ट रोटी मुखमें भर ली और उठ खड़ा हुआ। फूले हुए दोनों कपोल—दोनों हाथोंके अँगूठे खड़े करके, पूरी भुजा आगे फैलाकर सुबाहुको चिढ़ा रहा है वह। मुख भरा है, किंतु नेत्र मटकानेमें कोई कोर-कसर नहीं।

'कनूँ !' अरे दाऊ दादा भी पीछे है, कन्हाईको यह तो पता ही नहीं था। अब उसकी भोली भङ्गी देखने योग्य है। मुख लटकाये किसी प्रकार मुखका ग्रास निगल लेनेका प्रयत्न करते कितना सीधा, कितना सरल दीखता है यह बड़े भाईके सामने !

'दादा ! मुझे खूब भूख लगी थी।' मुख खाली करके श्यामसुन्दरने अग्रजके बिना पूछे ही अपनी निर्दोषता बतायी। इसे भूख लग जाय तो यह दो पद भी चल नहीं पाता। अचानक लगती है इसे भूख।

दाऊ अपने छोटे भाईका स्वभाव जानता है। किंतु इसका माखन खट्टा था और रोटी तो सर्वथा फेंक ही देने योग्य थी। ओह ! भूख ऐसी थी कि ऐसे पदार्थसे भी काम चलाना पड़ा।

'यह तुझसे लड़ने आया है।' दाऊके मुखपर स्मित आ गया है।

'आ, लड़ ले।' दादा प्रसन्न है तो श्याम झिझकनेवाला कहाँ है। यह लो, कछनी कस ली इसने।

'किंतु तू रोटी खाकर तगड़ा हो गया है और यह भूखसे दुबला हो रहा है।' दाऊ अन्याय नहीं होने देगा। 'तू इसे पहले अपनी छाक खिला।'

'मैं इसकी छाक नहीं खाऊँगा।' सुबाहुकी स्वीकृति अब कौन सुने ? श्याम तो अपना छीका लेने दौड़ गया है।

'दादा ! तू इसके हाथ पकड़े रह।' बेचारे सुबाहुके हाथ तो दाऊने पकड़ लिये और श्याम उसे बार-बार गुदगुदाकर भरता जा रहा है उसके मुखमें मोदक, नवनीत, दही-भात। दोनों भाई हँस रहे हैं और भोजनके ग्रास मुखसे भीतर उतारता भी सुबाहु झगड़ रहा है। उसे छोड़ते क्यों नहीं ये दोनों।

८६-वर्षामें

'कनूँ, भाग ! वर्षा आ रही है।' दाऊने अपने कम्बल-की 'घोघी' सिरपर रख ली और दौड़े वे छोटे भाईकी ओर। यह श्याम न आँधी देखता न पानी। कितनी दूर डाल रखी है अपनी कमरिया इसने। श्यामका कम्बल उठाकर उसकी भी घोघी बनाकर उन्होंने मोहनके सिरपर रखा—'सुनता नहीं, कितने जोरका पानी आ रहा है। देख उधर।'

'अरे !' अब दृष्टि गयी कृष्णचन्द्रकी। सचमुच पानी तो बड़े जोरसे आ रहा है। बड़ी भारी हरहराहट है और अब तो आँधी आ भी गयी है। वृक्षोंकी शाखाएँ झकोरे लेने लगी हैं, लताएँ झकझोर उठी हैं, गायें पूँछ उठाकर 'हम्मा, हम्मा' करती दौड़ी जा रही हैं भाण्डीर-वटकी ओर। वनपशु भी भाग रहे हैं।

'भाग, दादा ! भाग !' अब मोहन बड़े भाईका हाथ पकड़कर भागने लगा है। काले कम्बलकी घोघी ओढ़े ये दोनों भाई दौड़ते जा रहे हैं। गोपकुमार गायोंको भगाये आगे-आगे थोड़ी दूर निकल गये हैं। 'दादा, गुफामें चल।'

यह शरद् ऋतुकी वर्षा—अभी कुछ क्षण पूर्व धूप निकल रही थी। पता नहीं किधरसे मेघका एक खण्ड आ गया और देखते-देखते बड़ा हो गया। 'पड़, पड़, पड़' बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगी हैं तीव्र वायुके वेगमें तिरछी होकर। अब राम-श्याम भागे जा रहे हैं। उनका पूरा शरीर छिपा है काले कम्बलोंके नीचे। हरी-हरी दूर्वासे आच्छादित जलसे आर्द्र भूमिपर दोनोंके लाल-लाल चरण बड़ी शीघ्रतासे पड़ रहे हैं।

'दादा !' गुफामें पहुँचकर दोनोंने घूमकर बाहरकी ओर देखा। श्यामके मुखपर प्रसन्नता है। एक भाव है—'हम कैसे भाग आये।' अलकोंमें हीरक-कण-से जलके कुछ सीकर उलझ रहे हैं।

'बड़ी शीतल हैं !' गुफामें कुछ दूरतक बौछारकी बूँदें आ रही हैं। अपना एक हाथ बढ़ाकर श्यामने हाथपर बूँदें लीं और फिर खींच लिया हाथको।

'तू हाथ क्यों भिगाता है।' दाऊने छोटे भाईका हाथ पकड़कर खींच लिया पूरा और श्यामको अपने पास समेट लिया—'कितनी ठंड है।'

बाहर वृक्षोंकी शाखाएँ झूम रही हैं, लताएँ झुकी पड़ती हैं, बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही हैं। पृथ्वीपर जल बह चला है। दूर भाण्डीर-वटके नीचे गायों एवं गोपकुमारोंका समूह एकत्र हो गया है और यहाँ गुफामें कम्बलोंमें लिपटे, केवल मुख खोले, परस्पर सटे बैठे हैं ये राम-श्याम।

'दादा !' कन्हाई बीच-बीचमें ताली बजाता प्रसन्न होता है किसी वृक्षका हिलना या किसी पशुका भागना देखकर।

'तू हाथ बाहर मत निकाल।' दाऊ समेट लेना चाहता है अपने अनुजको।

'कितनी ठंड है !' पर यह चञ्चल जब माने।

८७-निर्भय

'मैया! आज वनमें मुझे तो लंगूरोंने घेर ही लिया था।' यह श्यामसुन्दर नित्य कोई-न-कोई नवीन समाचार लाता है वनसे। मैया वैसे ही आशङ्कित रहती है और उसपरसे यह समाचार। अब पूरी बात सुननेका धैर्य उसे कहाँ है। वह अपने इस सुकुमार पुत्रका एक-एक अङ्ग बड़ी व्याकुलतासे देख रही है कि कहीं बंदरोंने इसे नोचा तो नहीं।

''मैया! खूब बड़े-बड़े मोटे-मोटे लंगूर थे।' अब दोनों हाथ फैलाकर, मुख खोलकर, नेत्र फाड़कर कन्हाई बता रहा है—'बड़ी लंबी-लंबी थीं उनकी पूँछें। बड़े-बड़े दाँत थे। मुख फाड़कर सब मुझे डरा रहे थे। 'हूप, हूप' करके कूद रहे थे।''

गोचारणसे लौटकर कृष्णचन्द्र मैयाकी गोदमें बैठ गया है आते ही। मैया भूल गयी है कि इसके हाथ-पैर धुलाने हैं, मुख धोना है, वस्त्र बदलने हैं, जलपान कराना है। आते ही इसने ऐसा विवरण देना प्रारम्भ किया है कि मैयाका हृदय धक्-धक् करने लगा है। वह बार-बार पूछती है—'उन सबोंने तुझे कहीं काटा तो नहीं?' पर यह उत्तर देनेके बदले अपनी धुनमें कहता ही जा रहा है। कभी गोदसे उतरकर 'हूप, हूप' करके कूदकर बतलाता है, कभी मुख दिखाता है खोलकर, कभी हाथोंको पंजेके समान बनाता है।

'मैं तो बहुत डर गया था। दादाको बहुत पुकारा मैंने, पर दादा भी नहीं आया। यह तो उलटे ताली बजा-बजाकर हँस रहा था।' बड़े भाईकी ओर श्यामने देखा।

'तुम अपने छोटे भाईको सम्हालते नहीं?' मैयाने उलाहना दिया दाऊको। कैसा है यह दाऊ? यह तो अब भी ताली बजाकर सिर हिला-हिलाकर हँस रहा है। इतनी प्रसन्नता क्यों है इसे? क्या मिल गया है इसको?

'कनूँ, तुझे कोई काट भी सकता है क्या?' दाऊने मैयाके उलाहनेपर ध्यान ही नहीं दिया। उसने तो छोटे भाईका हाथ हँसते-हँसते पकड़कर हिला दिया।

'कहाँ? मुझे तो कोई कभी नहीं काटता!' श्यामसुन्दर अपनी दोनों भुजाएँ और उदर ऐसे देख रहा है, जैसे अभी ढूँढ़ रहा है कि किसीने कभी उसे काटा भी है क्या। 'मैया, मुझे कोई नहीं काटता! बताऊँ?'

'अच्छा रहने दे तू!' गोदसे उठनेको उद्यत पुत्रको मैयाने अङ्कमें समेट लिया। अब यह पता नहीं क्या बतायेगा। गायके, कुत्तेके, बिल्लीके—किसीके मुखमें हाथ डाल देना साधारण बात है इसके लिये।

वे लंगूर कैसे भागे, यह जाननेकी बहुत उत्सुकता हो तो अब आप किसी लंगूरसे जाकर पूछिये। मैयाने तो अपने लालको अङ्कमें दबा रखा है। उसे कुछ जानना नहीं। उसके पास यह दाऊ हँसता खड़ा है। कोई लंगूर उसके पास आनेका साहस नहीं कर सकता इस समय। उसकी गोदमें उसका लाल पूरा निर्भय है।

सखाओंके साथ खेल

सखनि सँग खेलत दोऊ भैया।
रुचिर खेल बहु भाँति, मुदित मन दाऊ, कुँअर कन्हैया॥
धावत मिलि गैयन के पाछे बोलत 'हैया हैया'।
ईश्वरपनो बिसारि, अग्य-से नाचत ताता थैया॥
कोमल किसलय लेइ बनाई एक नैक-सी नैया।
लाइ तराय दई जमुना मैं हँसि-हँसि जात बलैया॥
डूबन लगी तरी जलमें तब, 'हा मैया, री मैया'।
लगे पुकारन—'नारायन! अब तुम ही बनो खेवैया'॥
लरत कबौं, रूठत, रिझवत, पुचकारत दै गलबैयाँ।
धन्य भाग्य ये हरि के प्यारे नैक नैक-से छैया॥

विश्वशान्तिका अमोघ उपाय

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

भौतिक विज्ञानसे मनुष्यको भोगके साधन अधिक प्राप्त हुए। बाह्य सुख भी मिला। पर विज्ञानकी उन्नतिके परिणामस्वरूप संसारके सभ्य और उन्नत कहलानेवाले देशोंमें भी मानवका संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंकी होड़ लग गयी। पचास वर्ष पूर्वके युद्धोंमें बंदूक और तोपोंको ही अधिक प्रभावशाली संहारक साधन माना जाता था। सन् १९१४-१८ की लड़ाईमें टैंकों, तोपों और साधारण हथगोलोंसे काम लिया गया। इसके बीस वर्ष बाद दूसरे युद्धमें अधिक संहार करनेवाली मशीनी तोपें, तरह-तरहकी मशीनगनें और हवाईजहाज युद्धके साधन बने। अणुबमका भी श्रीगणेश हुआ। अमरीकी अणुबमोंने जापानके नागासाकी और हीरोसीमा नगरोंको कुछ ही क्षणोंमें विध्वंस कर दिया। युद्धमें रत सैनिकोंका ही नहीं, लाखों निरपराध स्त्रियों, बालकों और वृद्धों, बीमारोंका भी निर्दय संहार हुआ। करोड़ोंकी सम्पत्ति खाक हो गयी। इस दुर्दशाका प्रभाव जापान, जर्मनी आदि अंग्रेज-अमरीकाके विरोधियोंपर पड़ा। जापानने शस्त्र डाल दिये, जर्मनी और इटली भी पराजित हुए। प्रथम विश्वयुद्ध-की समाप्तिकी तरह द्वितीय विश्वयुद्धके अन्त होनेपर संसारके भिन्न-भिन्न देशोंने मानवता और सभ्यताके नामपर भविष्यमें युद्धोंको बंद करनेकी कोशिश आरम्भ की। विश्वशान्तिके नामपर सुरक्षा-परिषद् और तरह-तरहके संगठन बनाये गये। पर साथ-साथ अपने-आपको सभ्य और शान्तिप्रिय कहलाने-वाले रूस, अमेरिका, इंग्लैंड इत्यादि देशोंने अधिक-से-अधिक मनुष्योंका शीघ्रातिशीघ्र संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रों-की दौड़ोंको और भी तेज कर दिया। अणुबमसे उन्नति करके परमाणुबम, हाइड्रोजनबम और राकेटतक तैयार किये। मानवताके नामपर अपील करने तथा सभ्य एवं प्रगतिशील कहलानेवाले देशोंके राजनीतिज्ञों और विशेषज्ञोंने सारे संसारको ज्वालामुखी-पर्वतपर खड़ा कर दिया। न मालूम कब यह ज्वालामुखी फट पड़े तथा संसार, और हो सकता है इन भीषण अस्त्र-शस्त्रोंके बनानेवाले भी, उसीकी ज्वालाओंसे भस्म हो जायँ।

अहिंसाका प्रभाव

संसारके शान्तिप्रिय विचारक और सहृदय लोग इस मानव-विनाशके साधनोंकी होड़से चिन्तित हैं। इस सर्वनाश-को रोकनेके लिये अहिंसा, सह-अस्तित्व और पञ्चशील आदि उपाय बताये जाते हैं। यदि ईमानदारीसे अमल हो तो विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये अहिंसा एक अमोघ साधन है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

'अहिंसामें स्थित होनेपर अहिंसक योगीके समीप (सहज वैर रखनेवालोंका भी) वैर छूट जाता है।'

हमारे देशमें भी ऐसे योगी महापुरुष हुए हैं, जिनके आश्रमोंके निकट सिंह और हिरन साथ-साथ रहते थे। कुछ वर्ष पहले ही वनोंमें रहनेवाले ऐसे महापुरुष थे, जिनके चारों ओर दूर-दूरतक किसी भी पशुपर चलायी हुई गोली व्यर्थ जाती थी, या बंदूक चलती ही नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसे समयका उल्लेख मिलता है जब कि न राजा थे न राज-दण्ड, अपितु अहिंसा और प्रेमके कारण जनता ही सारे सांसारिक व्यवहार बिना किसी कानून और दबावके स्वयं करती थी। प्रसिद्ध विचारक श्रीएच० जी० वेल्जने 'आनेवाली बातें' पुस्तकमें विश्वशान्तिके भविष्यकी बाबत लिखा है कि 'जब युद्धके वर्तमान साधन और विज्ञानके दुष्प्रभाव समाप्त हो जायँगे, मानवशक्तिसे ही उपयोगमें आनेवाले चक्की, चूल्हे, चरखे, गाड़ी आदि ही साधन होंगे, तब संसारके लोग भाई-भाईकी तरह मिलकर विचार करेंगे। संसारसे युद्धोंका भय दूर होगा। सब लोग भाईचारेसे बसेंगे।' लार्ड टैनीसन्‌ने भी 'मेरा स्वप्न' कवितामें ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।

साधारण उपायोंसे इतने बड़े संसारमें शान्ति स्थापित करनेमें शीघ्र सफलता मिलनेकी सम्भावना नहीं। अत्यन्त प्रभावशाली 'अहिंसा-साधना'की आवश्यकता है। यदि दृढ़ सिद्धान्तोंको सम्मुख रखते हुए कार्य आरम्भ कर दिया जाय तो आज नहीं कल, सबेर नहीं कुछ देरमें, अवश्य सफलता मिलेगी—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

इस धर्मका थोड़ा व्यवहार भी बड़े भयसे रक्षा करता है, करेगा। आज हमारे देशके कुछ प्रभावशाली सज्जन बार-बार अहिंसाका उपदेश देते हैं। पर फिर भी वैर, कलह

और अशान्ति बढ़ती जा रही है । जाति, प्रान्त, भाषा इत्यादिके नामपर नित्य वैमनस्यके कारण उत्पन्न होते जा रहे हैं । प्रश्न होता है कि 'अहिंसाका सिद्धान्त माननेपर भी यह दोष क्यों ?' इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसाकी परिभाषा क्या है, अहिंसा किसे कहते हैं, अहिंसाके प्रचारक नेता उसपर कहाँतक अमल करते हैं ।

अहिंसाकी परिभाषा

अहिंसाकी दुहाई देनेवाले कुछ सज्जन अपने विरोधियोंके विरुद्ध कटु शब्दोंका प्रयोग करते, गोलियों और लाठियोंके द्वारा शान्ति स्थापित करनेकी कोशिश करते, स्वयं मांस खाते और मांसको प्रोत्साहन देते हैं, फिर भी अपने-आपको अहिंसक प्रकट करते हैं । कुछ लोग पशु-पक्षियोंकी हिंसाको हिंसा नहीं मानते, केवल मनुष्यतक ही हिंसाको सीमित रखते हैं । पर यह ठीक नहीं । महर्षि पतञ्जलिने अहिंसाको मनुष्यके हृदयको शुद्ध और ज्ञानका प्रकाश करनेवाला 'सार्वभौम महाव्रत' बतलाया है । महर्षि व्यासने महर्षि पतञ्जलिकी अहिंसाका भाष्य करते हुए कहा है—

सर्वथा सर्वदा प्राणिनामविद्रोहोऽहिंसा ।

अर्थात् सदैव सब प्रकारसे प्राणिमात्रके प्रति विद्रोह या उन्हें नुकसान पहुँचानेकी भावना न रखना अहिंसा है । 'अहिंसा' और 'हिंसा' दोनों शब्द बहुत प्राचीन हैं । 'हिंस्' धातुका अर्थ है—मारना । वेदका एक महान् आदर्श है—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' प्राणीमात्रकी हिंसा मत करो । योगदर्शनके सूत्र २ । ३४ में लिखा है—

हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता.....

तथा मनुमहाराजने—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

—स्वयं हत्या करनेवालेको ही नहीं, समर्थन करने और अनुमति देनेवाले इत्यादिको भी हत्यारा बतलाया है । भगवान् बुद्धने ब्राह्मण धम्मिय सुत्तमें लिखा है—

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनं च समारम्भा अट्ठनावति मागमुं ॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्य सब्बे भावन्ति मच्चुनो ।
अन्नानां उपमं कत्वा न हनेय्यं न घयेत ॥

'पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा या बुढ़ापा । पशुओंकी हिंसासे वे अट्ठानवे हो गये । दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भयभीत होते हैं । औरोंको भी अपने-जैसा ही समझकर न उनका हनन करें न आघात करें ।'

सम्राट् अशोकने, जिनका चक्र-चिह्न हमारे देशके राष्ट्रध्वजमें रखा गया है, गिरनारके शिला-शासनमें प्राणी-मात्रकी हिंसाका निषेध किया है । सम्राट् अशोक और हर्षके समयमें पशुहत्या करनेवालोंको प्राणदण्डतककी सजा दी जाती थी । जैनधर्मके पंच-महाव्रतोंमें अहिंसा-व्रत आद्य माना गया है । जैन मुनियोंके उपदेशोंसे कुछ मुसल्मान बादशाहोंने भी विशेष दिनों तथा विशेष स्थानोंमें पशुहत्यापर प्रतिबन्ध लगाया । जैनधर्ममें सूक्ष्म प्राणियोंकी हत्या और उन्हें कष्ट देनेतकका निषेध किया गया है । चीनी यात्री फाहियानने लिखा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्तके समय देशभरमें प्राणी-हिंसा नहीं होती थी । दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसाँगने हर्ष तथा शिलादित्यके समय प्राणीमात्रके हिंसा-निषेधका उल्लेख किया है । हिंदू, जैन और बौद्ध ही नहीं, ईसाई और मुस्लिम महापुरुषोंने भी हिंसाको प्रोत्साहन नहीं दिया ।

महात्मा ईसा कहते हैं—

"Thou shalt not kill, and ye shall be holy men unto me; neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field."

'किसीको मत मार । जंगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा ।'

बाइबिलके एक अवतरणमें आया है—'मारे जानेवाले जानवरोंके लिये अपनी जबान खोलो ।'

कुरान-शरीफमें लिखा है—

'हरा पेड़ काटनेवाले, जानवरको मारनेवाले इत्यादिको खुदा माफ नहीं कर सकता । खुदा उसीपर दया करता है, जो उसके बनाये जानवरपर दया दिखाता है ।' सुरात-ए-हजमें लिखा है—'खुदा तुम्हारी कुर्बानीमें जानवरका मांस और लोहू नहीं चाहता, वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है ।'

उपर्युक्त सभी तथ्योंसे यह सिद्ध होता है, कि हिंदू-जैन ही नहीं, ईसाई एवं मुस्लिम मतानुसार भी मनुष्य ही नहीं, प्राणी-मात्रको कष्ट न देना, न मारना अहिंसा है । अहिंसाका सीमित अर्थ माननेके और कारण भी हो सकते हैं, यहाँ इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

बाइबलमें संत ल्यूककी वार्तामें जब संत जानसे सिपाही कहते हैं 'कि क्राइष्ट आनेवाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें वे तीन आज्ञा करते हैं—किसी मनुष्य-पर बलप्रयोग (Violence) नहीं करना, किसीपर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हें जो रोजी मिलती हो, उसीमें संतुष्ट रहना। वर्तमानमें जो अहिंसाका प्रयोग non-violence के अर्थमें किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तार-के कारण ही किया जाता है। अंग्रेजीके (Violence) का बल-प्रयोग न करना, यह अर्थ ही मौलिक है। खास करके राजनीतिमें इस शब्दके आ जानेके कारण 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्द मनुष्यकी हिंसाके लिये ही लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है और सामनेवालेको चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारोंका प्रयोग करना, अथवा किसीके साथ युद्ध या लड़ाई करनेके प्रसङ्गमें इसका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जैसे सत्याग्रह और Passive Resistance का अर्थ एक नहीं है, वैसे ही अहिंसा और Non-violence का अर्थ भी एक नहीं। वस्तुको यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है। उदाहरणके लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थमें मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है। पर आज हमारे अपने देशमें, जिसकी संस्कृति 'अहिंसाप्रधान' रही है, जहाँ आज भी करोड़ों मनुष्य प्राणी-हत्याको हिंसा मानते हुए मांसका किसी रूपमें व्यवहार नहीं करते, उस देशमें आज सरकारी स्तरपर पशुहत्या—मछली, मुर्गी, बंदर इत्यादिके वधको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कत्ल किये पशुओंके अङ्गोंसे दवातक तैयार करनेकी योजनाएँ बन रही हैं। राज्य तथा राज्य-समर्थन प्राप्त करके प्राणी-हिंसा बढ़ानेवाले साहित्य-प्रकाशनमें सहायता दी जा रही है। फिर भी, राजनीतिक लोग ही नहीं, उनके प्रभावमें आनेवाले कुछ धार्मिक साधु-संत और विद्वान् भी बढ़ी हुई प्राणी-हिंसाकी उपेक्षा करके अहिंसाका नाम लेकर प्रकारान्तरसे जीवहत्याको अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दे रहे हैं।

वाचिक अहिंसा तथा अमली हिंसाका दुष्परिणाम

बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और धर्मका नाम लेनेवालोंके बार-बार अहिंसाका उपदेश देनेपर भी प्राणियोंका वध जारी रहने या उसे प्रोत्साहन देनेके कारण मनुष्यतक सीमित अहिंसाके प्रचारसे कोई लाभ नहीं पहुँचा, हानि ही हो रही है। गाँव-गाँव, नगर-नगरमें एकता नहीं, परस्पर दुर्भावना बढ़ रही है, देशका वायुमण्डल विषैला बन गया है। प्रान्तवाद, जातिवाद, पक्षवाद और भाषावादके कारण मनुष्य मनुष्यका शत्रु बन गया है। शासक-दल भी परस्परके कलह और वैमनस्यसे नहीं बचा। प्रान्त-प्रान्तमें शासकदलके लोग छोटी-छोटी बातोंके लिये परस्पर लड़ रहे हैं। शासन और जनतामें सद्भावना और सहयोग न होनेके कारण साधारण बातोंके लिये विरोधी आन्दोलन होते रहते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि हमारा आजका अहिंसा-प्रचार दोषपूर्ण होनेके कारण जनतापर उसका कोई प्रभाव नहीं है।

अन्य प्राणी भी मनुष्यकी तरह प्राण धारण करते हैं, जीव हैं। जो व्यक्ति किसी भी प्राणीसे द्वेष रखता या उसकी हत्या करता-कराता है, उसके हृदयमें प्रेम तथा सद्भावना जाग्रत् नहीं हो सकती, हिंसाकी दुर्भावना ही रहती है। और जबतक प्राणीमात्रके प्रति अविद्रोह या प्रेमकी भावना उत्पन्न नहीं होगी, तबतक मानव-मानवके बीच भी अहिंसाका भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥'

'जो काम अपनी आत्माको बुरा लगता है, उसका अमल अन्य प्राणियोंके साथ न करो।' 'दूसरोंके उपकारके समान कोई पुण्य नहीं और दूसरोंको दुःख देनेके समान कोई पाप नहीं है।' ये अहिंसाके मूलमन्त्र हैं। इनपर अमल करनेसे ही शान्ति प्राप्त होगी।

जबतक पशुवध या मांसाहार जारी रहेगा, तबतक न युद्ध बंद होंगे न मनुष्योंमें परस्पर सद्भावना बढ़ेगी। संसारके प्रसिद्ध विचारक श्रीजार्ज बर्नार्ड शाने लिखा है—'यदि हम निरीह पशुओंके साथ अपने लाभके लिये इसी प्रकारका खिलवाड़ करते रहेंगे तो संसारमें जिस शान्तिके लिये हम इतने उत्सुक हैं, उसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हम वध किये पशुओंकी शत-शत कबरोंपर खड़े होकर ईश्वरसे शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, जब कि हम नैतिक नियमोंका उल्लङ्घन कर रहे हैं। इस प्रकारकी क्रूरता युद्धको जन्म देती है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व और मनुस्मृतिमें मांस खानेवालों-के लिये लिखा है—

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥

'जो मनुष्य दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और कोई नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है ।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अविश्वास्योऽवसीदेत् स इति होवाच नारदः ॥

श्रीनारदजी कहते हैं 'जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह विश्वासपात्र नहीं रहता, उसे दुःख उठाना पड़ता है ।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥

'जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, सदा बेचैन ही रहता है ।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवनैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः ॥
मांसं भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनु बुद्ध्यस्व भारत ॥
घातका हन्यते नित्यं यथा बध्येन बन्धकः ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंका मांस खाते हैं, वे भी उन प्राणियोंके द्वारा दूसरे जन्ममें खाये जाते हैं—मुझे इस विषयमें तनिक भी संदेह नहीं है । युधिष्ठिर ! जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—'आज मुझे वह खाता है, तो मैं भी उसे कभी खाऊँगा ।'

जाताश्चाप्यवशास्तत्र भिद्यमानाः पुनः पुनः ।
हन्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगर्द्धिनः ॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च त्रस्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥

'मांस-भक्षी जीव कहीं जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं, वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे जाते और पकाये जाते हैं, उनकी यह दुर्गति प्रत्यक्ष देखी जाती है ।'

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥

'जो निरपराध प्राणियोंको अपने सुखकी इच्छासे मारता है, वह जीवित अवस्थामें और मरनेके बाद भी सुख नहीं पाता ।'

उपर्युक्त शास्त्र-वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें उसके पापस्वरूप अनेक प्रकारके कष्ट ही नहीं भुगतने पड़ेंगे, अपितु जिन पशु-पक्षियोंका मांस उन्होंने खाया है, वे पशु-पक्षी दूसरे जन्ममें उनका मांस खायँगे । युद्धोंके क्रम बंद नहीं होंगे । जबतक मनुष्य पशुहत्या और मांसाहारके पापको नहीं छोड़ेगा, तबतक युद्धोंका कष्ट और विनाश बंद नहीं होगा । यह संदेह कि मांसाहार या पशुहत्या बंद होनेपर देशकी खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्यापर दुष्प्रभाव पड़ेगा, ठीक नहीं है । इंग्लैंडकी पार्लियामेंटके सदस्य स्वर्गीय श्रीपीटर फ्रीमैनने इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर देते हुए लिखा है—

खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्या

समय आ रहा है कि मांस खाना राक्षसपनकी तरह बुरा समझा जायगा । यह संसार केवल मनुष्यके उपभोगके लिये नहीं है । यह सारे जीव-जन्तुओंकी जागीर है और मनुष्य इसका ट्रस्टी या रक्षक है; क्योंकि वह अधिक उन्नति कर चुका है ।

श्रीफ्रीमैनने प्रश्न किया कि हर-वर्ष दो करोड़ नये पैदा होनेवाले मुखोंका क्या किया जाय ? आवश्यक तौर उन्हें मांसाहारी बनाकर उनका पालन नहीं किया जा सकता । आपने इस सारी समस्याका हल शाकाहारी भोजन बताया और निम्नलिखित आँकड़े पेश करके यह सिद्ध किया कि उतनी भूमिमें अधिक मात्रामें अच्छा शाकाहारी भोजन पैदा किया जा सकता है, जितनी भूमिमें मांसाहारी भोजन कम पैदा होता है ।

एक एकड़ भूमिमें प्रतिवर्ष निम्नलिखित चीजें पैदा हो सकती हैं—

मांसाहारी भोजन	पौंड	शाकाहारी भोजन	पौंड
गोमांस	१६८	गेहूँ-जौ आदि	२०००-२०५०
बकरेका मांस	२२८	सेम, मक्की आदि	३०००-४०००
सूअरका मांस	३००	आलू	२००००
मुर्गियाँ	३५०	गाजर	२५०००
		शलगम	३००००

इससे पता चलता है कि मांसके आँकड़ोंसे अन्नके आँकड़े दसगुना और सब्जियोंके आँकड़े १०० गुना अधिक हैं । आपने एक प्रश्नके उत्तरमें बताया कि देशकी हर एकड़ भूमिमें फलदार पेड़ आसानीसे लगाये जा सकते हैं ।

आपने अपने तर्ककी पुष्टिके लिये इंग्लैंडके कृषि-विषयक वैज्ञानिक सलाहकार श्रीजेम्स स्काट वाटसनका वक्तव्य, जो उन्होंने दिसम्बर १९५२ में बकिंघमूमें दिया था, उपस्थित किया। वक्तव्यका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है—

'बढ़ती हुई जनसंख्याके खाद्यकी व्यवस्था करनेका तरीका यह है कि मांसके स्थानपर सब्जियों और दूध आदिका प्रयोग किया जाय और दूसरा यह है कि जो अधिक मात्रामें मांस प्रयोग करते हैं उनकी आदतोंमें तबदीली लायी जाय। इस बातका अनुमान लगाया गया है कि यदि हम शाक आदिको ही प्रयोगमें लायें तो हम करीब-करीब स्वावलम्बी बन सकते हैं।'

उन्होंने इस बातका जिकर किया कि प्रथम विश्वयुद्धके दिनोंमें डेन्मार्क पूरे तौरपर शाकाहारी देश बन गया; क्योंकि वहाँके अधिकतर पशु मर चुके थे और बाहरसे मांस आदि मँगाया नहीं जा सकता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्धके अन्तमें वहाँके स्वास्थ्यके आँकड़े योरपमें सबसे अच्छे रहे।

१९३२ में लीग आव नेशन्सने १२ राष्ट्रोंकी एक कमेटी बनायी, जिसमें इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, स्वीडन आदि देश शामिल थे। इस कमेटीके जिम्मे इस बातकी जाँच करनेका काम लगाया गया कि युद्धके दिनोंमें एक सैनिकके लिये मांसका कम-से-कम कितना आवश्यक राशन चाहिये। इसका उत्तर यह दिया गया कि 'मनुष्य मांसके बिना निर्वाह कर सकता है, इसलिये मांस आवश्यक नहीं।'

श्रीफ्रीमैनने मांसाहारियोंको इस बातकी चुनौती दी कि वे पशुओंका मांस खानेका एक भी ठोस कारण पेश करें। आपने कहा 'जो भी व्यक्ति मांस खाना जारी रखेगा, वह तीसरे विश्वयुद्धको समीप लानेका कारण बनेगा; क्योंकि कुछ लोगोंको न केवल कम भोजन मिलेगा, बल्कि वे भूखसे मर जायँगे और जो शाकाहारी बन जायगा, वह संसारमें शान्ति कायम रखनेमें सहायता देगा।'

हमारे अपने देशमें अशोक, हर्ष आदिके समय, जब प्राणिवध कतई बंद था, न खाद्यकी कमी हुई और न सुरक्षाके साधन कमजोर हुए। उन दिनों किसी विदेशीने आक्रमण करनेकी हिम्मततक न की। जो लोग यह कहते हैं कि सैनिकोंके लिये मांस-भोजन आवश्यक है, ठीक नहीं कहते। उत्तर भारतके जाट, अहीर, गूजर आदि जो प्रायः मांस नहीं खाते, वे मांसभोजी सैनिक जातियोंसे किसी प्रकार भी शारीरिक शक्ति और युद्ध करनेके उत्साहमें कम नहीं। ६ नंबर जाट पलटनने प्रथम विश्वयुद्धमें फ्रांसके मोर्चेपर मांस खानेसे इनकार करके चने-गुड़-सब्जीपर गुजारा किया और दूसरे मांसभोजी सैनिकोंसे अधिक सफलता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि निरामिषभोजी भी किसी अन्यसे कम अच्छे सैनिक नहीं। अतः मांसाहार जारी रखनेके लिये सुरक्षा और खाद्य-समस्याकी आड़ लेना ठीक नहीं।

हृदयकी शुद्धि या आध्यात्मिक उन्नति

प्राणि-विज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार मनुष्यके दाँत, जीभ एवं आहार-पाचन करनेके अङ्गोंको दृष्टिमें रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, शाकभोजी जीव है। अतः मनुष्यके लिये मांस-भोजन प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक खाद्य है। मनुष्यका मन एक बहुत बड़ी शक्ति है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**—मन ही मनुष्यके बन्धन और मुक्तिका मुख्य कारण है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसाही उसका मन बनता है। **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।** आहार या भोजनके शुद्ध होनेपर मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे स्मृति या स्मरणशक्ति स्थायी रहती है। जिसकी स्मरण-शक्ति स्थिर है, वह प्रत्येक क्षेत्रमें उन्नति करता है। संसारमें जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे प्रायः सभी शाकाहारी थे। दूसरेका शोषण करना, साधन और शक्ति होनेपर भी प्राणिमात्रके कष्टको दूर करनेकी कोशिश न करना, दूसरेके कष्टका अनुभव करके दयाकी भावनाका उत्पन्न न होना इत्यादि भी हिंसाके ही अङ्ग और कारण हैं। पर सबसे बड़ी हिंसा है प्राणीसे प्राणका वियोग करना-कराना इत्यादि। जो सज्जन मानव-मानवमें सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करना चाहते हैं, जो युद्धोंको बंद करनेकी इच्छा रखते हैं, उनकी सेवामें नम्र निवेदन है कि वे अपने ही देशकी नहीं विश्वकी शान्तिके लिये भी प्राणिमात्रकी हत्या और कष्टको दूर करनेके लिये यत्नशील हों। अन्यथा, जैसा कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने कहा है—

'गवादि पशुओंके नष्ट होनेसे राजा और प्रजा दोनोंका विनाश हो जाया करता है।' इस वाक्यको सम्मुख रखते हुए राजा और प्रजाको विनाशसे बचानेके लिये पशुओंकी हत्याको बंद करावें। विश्वशान्तिका अमोघ उपाय है अहिंसा या प्राणिमात्रको न कष्ट देना, न मारना, न मरवाना।

अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः।

भक्त प्रेमनाथजी हकीम

(प्रेषक—स्व० श्रीशिवकुमारजी केडिया)

निकुञ्जोपासक श्रीप्रेमनाथजी हकीम लाहौरके सोने-चाँदीके व्यापारी लाला संतरामजी खत्रीके सुपुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९७१ में हुआ था। ये चार भाई थे। इनकी माता प्रेमकी मूर्ति थीं। वे परम भगवद्भक्ता थीं। वे अपने जीवनमें बार-बार वृन्दावन आया करती थीं। उनके भक्तिमय सात्त्विक जीवनका बालक प्रेमनाथ-पर अद्भुत प्रभाव पड़ा।

प्रेमनाथजीकी हिंदीकी शिक्षा पर्याप्त थी। उर्दू भी वे जानते थे। अंग्रेजीमें उन्होंने मिडिलतक शिक्षा प्राप्त की थी। सोलह वर्षकी आयुमें ये लाहौरके लब्धप्रतिष्ठ हकीम काशीनाथजीके साथ काम करने लगे थे। धीरे-धीरे इन्हें रोगों और उनकी ओषधियों-का ज्ञान होने लगा। इनकी बीसवीं वर्षगाँठ पूरी होते-होते काशीनाथजी हकीमका देहावसान हो गया। तबतक प्रेमनाथजीने गवर्नमेंटसे हकीमीका प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया और काशीनाथजीकी ही दूकानमें अपना औषधालय खोल दिया। धीरे-धीरे इनका अनुभव बढ़ता गया और कुछ ही दिनोंमें इनकी अच्छे हकीमों-में गणना होने लगी।

औषधालयके कार्यमें दत्त-चित्त रहनेके साथ ही ये सत्सङ्ग-पिपासु भी थे। सत्सङ्ग प्राप्त करनेके लिये ये सतत सचेष्ट रहते थे। फलतः इन्हें सत्सङ्ग मिल भी जाता था। जो महानुभाव मङ्गलमय भगवान्‌की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, दयामय प्रभु उनका मार्गप्रदर्शन करते ही हैं। करुणामय जगदीश्वरकी कृपासे प्रेमनाथजीके हृदयपर भक्तिकी छाप पड़ गयी। ये राजा तेजसिंहके मन्दिरमें नियमितरूपसे कीर्तनके लिये जाने लगे। वहाँ कीर्तन करनेवाले प्रभुप्रेमियोंकी भीड़ लगने लगी। हकीमजी उनमें प्रमुख थे। वे प्रति-दिन वहाँ दो-ढाई घंटेतक प्रेममग्न होकर भगवान्‌के नामका मधुर ध्वनिमें कीर्तन करते थे। इनका स्वर भी अत्यन्त मधुर था। लाहौरमें जहाँ-कहीं कीर्तनका आयोजन होता, हकीमजी अपना सारा कार्य छोड़कर वहाँ अवश्य उपस्थित होते।

हकीमजी गौरवर्णके अत्यन्त सुन्दर युवक थे। ये माथेपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और गलेमें तुलसीकी माला धारण करते थे। अत्यन्त सरल, स्नेही एवं शीलवान् थे। श्रीकृष्ण-लीलाके कितने पद इन्हें मुखस्थ थे। इनका मधुर पद-गायन सुनकर लोग आत्मविभोर हो जाते। अपने इन स्वाभाविक सद्गुणोंसे ये अपने समीपवर्त्ती लोगोंमें ही नहीं, अधिकांश लाहौरवासियोंके आदर एवं प्रेमके पात्र बन गये थे। इनकी लोकप्रियता एवं ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

भगवान्‌की दयासे इनका औषधालय भी अच्छी प्रकार चलने लगा। अधिकांश रोगियोंने डाक्टरोंके पास जाना छोड़कर इनके यहाँ आकर चिकित्सा कराना प्रारम्भ कर दिया। श्रीप्रेमनाथजी दरिद्र एवं असहाय रोगियोंकी कभी उपेक्षा नहीं करते थे, अपितु उनके साथ अत्यन्त स्नेहका व्यवहार करते थे एवं उन्हें निःशुल्क औषध देते थे। कभी-कभी सर्वथा विवश रोगियोंको पथ्य आदि भी वे अपने ही पाससे दिया करते।

एक बार उनके पास एक अत्यन्त दीन रोगी आया। प्रेमनाथजीने उसे दूधके साथ लेनेके लिये दवा दी। रोगी दूधका नाम सुनते ही उदास हो गया, पर संकोचवश वह कुछ कह नहीं सका। घर जाकर उसने उधार दूध लिया। दवाके साथ दूध पी लेनेके बाद वह अँगोछेसे हाथ पोछने लगा, तो उसने देखा,

अँगोछेके छोरमें एक रुपया बँधा था। रोगीको समझते देर नहीं लगी। वह तुरंत प्रेमनाथजीके पास आया और उनकी दयालुताके लिये उनका आभार प्रकट करने लगा। दीन रोगीके अँगोछेमें वह रुपया प्रेमनाथजीने ही चुपकेसे बाँध दिया था। इतना ही नहीं, प्रेमनाथजी अनाथ एवं लाचार रोगियोंके घर बिना बुलाये पहुँच जाते, अत्यन्त प्यारसे उन्हें देखते, सान्त्वना देते, निःशुल्क चिकित्सा करते तथा उनके खाने-पीनेकी भी कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देते। औषध देनेके साथ ही प्रेमनाथजी रोगियोंको भगवत्प्रेमकी बातें भी सुनाया करते। इस प्रकार इनके समीप आकर रोगी अत्यधिक लाभान्वित होते। उन्हें शारीरिक रोगसे ही नहीं, भवरोगसे भी मुक्त होनेकी औषध मिल जाती।

संवत् १९९०में, उन्नीस वर्षकी आयुमें, श्रीप्रेमनाथजी सर्वप्रथम अपने पिताके साथ वृन्दावन धाम गये। वह भूमि इन्हें अत्यन्त प्यारी लगी। फिर तो आप वर्षमें दो-दो तीन-तीन बार वहाँ जाने लगे और एक-एक बार दस-दस, पंद्रह-पंद्रह दिन ठहरने लगे। व्रजभूमि और रासमें इनकी अटूट श्रद्धा हो गयी। अतएव निधिवनमें श्रीहरिदास स्वामीके समाधि-मन्दिरमें आपने श्रीबाँकेविहारीजीके प्रधान सेवाधिकारीसे दीक्षा ले ली और आप प्रिया-प्रियतमके अनन्य भक्त हो गये। युगल-मन्त्र-जप इनके जीवनका साधन बन गया। गुरु-चरणोंमें आपकी अद्भुत श्रद्धा थी।

व्रजवासियोंको आप अत्यन्त प्यार करते थे। कोई व्रजवासी लाहौर पहुँच जाता तो उससे अपने ही यहाँ ठहरनेका आग्रह करते और उसकी खूब सेवा करते। यदि उसकी कोई आवश्यकता होती तो अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार उसकी पूर्ति करते। इतनेपर भी कुछ कमी रह जाती तो अपने परिचितोंसे चंदा इकट्ठा करके व्रजवासीको संतुष्ट करके ही लौटने देते।

वे व्रजवासियोंके भोलेपनसे अच्छी प्रकार परिचित थे। कोई व्रजवासी किसी बातपर इनसे नाराज हो जाता तो ये उसकी खुशामद करके, यहाँतक कि उसके पैर दबाकर अत्यन्त अनुनय-विनयसे उसे प्रसन्न कर लेते। व्रजमें आप जब भी जाते, व्रजवासियोंके घर जाकर उनकी सूखी रोटियाँ और छाछ माँगकर प्रसादकी भाँति अत्यन्त आदर एवं श्रद्धापूर्वक खाते और बदलेमें कुछ-न-कुछ उसे अवश्य देते। व्रजवासियोंको देखते ही आप पुलकित हो उठते थे। किसी भी व्रजवासीकी निन्दा इन्हें असह्य थी। व्रजवासियोंकी ये खूब सेवा करते, किसी भी व्रजवासीसे मिलकर इन्हें लगता जैसे ये व्रज-प्राण श्रीकृष्णको ही पा गये हों। कोई भी अपरिचित व्रजवासी इनसे मिलकर अपरिचयका अनुभव नहीं कर पाता था। उसके साथ आप सगे-सम्बन्धीसे भी अधिक गाढ़ आत्मीयताका व्यवहार करते। आप जब-जब व्रज पधारते, सभी व्रजवासी इन्हें घेर लेते। आपको श्रीगिरिराजजीकी परिक्रमामें बड़ा सुख मिलता था। शरीरान्तके दो वर्ष पूर्व तो आपने श्रीगिरिराजजीकी डंडौती परिक्रमा की थी। वह परिक्रमा ग्यारह दिनोंमें एक रास-मण्डलीके साथ पूरी हुई थी। उसमें कई भक्त, सत्सङ्गी एवं व्रजके प्रेमी महानुभाव भी थे। सब लोग दिनमें डंडौती परिक्रमाका कार्यक्रम पूरा करते और सूर्यास्त होते ही रुक जाते। रात्रिमें रासलीलाके द्वारा विश्वाधार नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी लीलाका आनन्द प्राप्त करते। आपने व्रजकी ८४ कोसकी भी यात्रा की थी।

संवत् १९९३ से श्रीसंतरामजी (प्रेमनाथजीके पिता) वृन्दावन-वास करने लगे और तब श्रीप्रेमनाथजीने श्रीतेजरामजीके मन्दिरमें जाना बंद कर दिया। अब वे अपने औषधालयमें ही नित्य कीर्तन, सत्सङ्ग एवं कथा-वार्ता करने लगे। सत्सङ्ग-प्रेमियोंका समुदाय वहीं एकत्र होने लगा।

श्रीप्रेमनाथजीकी धर्मपत्नी कृष्णा देवीका स्वभाव उनके सर्वथा अनुकूल था। कृष्णा देवीकी रुचि धार्मिक थी। प्रेमनाथजीकी एक कन्या थी, जिसका नाम चन्द्रावली था। उसका विवाह उन्होंने गुजरानवाला जिलेके एक सम्भ्रान्त आस्तिक परिवारमें कर दिया।

लाहौरमें आप प्रायः कोई-न-कोई रासमण्डली बुलाया ही करते। वहाँ श्रीनिहालचंदके मन्दिरमें रासलीला होती। रासमण्डलीका आप खूब सेवा-सत्कार करते। स्वयं बार-बार वृन्दावन तो आते ही, निर्धन सत्सङ्गियोंको अपने व्ययसे साथ ले जाते थे। अन्नकूट आदि महोत्सवोंमें आप अत्यन्त उत्साह एवं उल्लाससे भाग लेते और सहस्रों रुपये व्यय करते। इनकी सम्पूर्ण आय भजन-कीर्तन, व्रजवासी एवं साधु-महात्माओंकी सेवा, रासलीला तथा व्रजधामकी यात्रामें ही व्यय होती।

आप सपत्नीक प्रतिदिन सूर्योदयके पूर्व श्रीप्रिया-प्रियतमकी सेवामें बैठ जाते और पूजा-आरतीके अनन्तर घंटों युगल-मन्त्रका जप करते रहते। इनके जीवनका कण-कण और प्रत्येक क्षण श्रीराधाकृष्णके भजन, स्मरण, चिन्तन, लीला-दर्शन एवं कथा-श्रवणमें व्यतीत होता। औषधालयका कार्य तो इनका व्यय चलानेके लिये निमित्त मात्र था; किंतु भगवत्कृपासे रोगियोंको इनकी औषध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती थी।

इन पंक्तियोंके लेखकने स्वयं देखा है, श्रीनिहालचंदजीके मन्दिरमें रासलीलाका कार्यक्रम प्रायः चलता ही रहता था और उसका सारा व्यय हकीमजी ही वहन करते थे। एक बारकी बात है। वहाँ एक शूद्रा कुबड़ी थी। रासलीलामें हकीमजीकी आज्ञासे वह कुब्जा बनी। ठाकुर बने हुए बालकमें भगवान्‌का आवेश हो गया, उसकी कटि सीधी हो गयी। अब तो उसके मनपर अद्भुत भगवत्प्रभाव पड़ा। वह अपने पति श्रीठाकुरदासजीके साथ वृन्दावन-वास करने लगी। वृन्दावनमें ही उसने शरीर-त्याग किया।

श्रीप्रेमनाथजीने शरीर-त्यागके तीन दिन पूर्व ही सबसे मिलना छोड़ दिया था। विशेष सत्सङ्ग-प्रेमी एवं भजनानन्दी सज्जनोंसे मिलनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। सर्वसाधारणकी भीड़ न हो, इसके लिये उन्होंने पहरेकी व्यवस्था कर ली थी।

प्राण-त्यागसे कुछ समय पूर्व आपने महात्मा राधाचरणजी गोस्वामीका सत्सङ्ग-लाभ किया और अत्यन्त विनयपूर्वक उन्होंने कहा—'महाराजजी! मुझे भी वृन्दावन ले चलिये।'

गोस्वामीजीने बड़े प्रेमसे कहा—'अच्छे हो जाओ, फिर तुम्हें वृन्दावन ले चलूँगा।'

हकीमजी बोले—'महाराज! श्रीराधारानीकी कृपासे मैं आपके पहले ही श्रीधाम पहुँच जाऊँगा।'

मृत्युसे दो घंटे पूर्व उनके बहनोई मिलने आये। आपने उनके सामने धीरे-धीरे अत्यन्त शान्त मुद्रामें यह सवैया सुनाया—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अभेद, अछेद सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

सवैया पूरा होते-होते उनके नेत्र झरने लगे। सिसकते हुए आपने एक पद्य और कहा—

ऐसे नहीं हम चाहनहारे, जो आज तुम्हें, कल और को चाहैं।
फेंक दें आँखें निकारिके दोऊ, जो दूसरि ओर मिलावैं निगाहैं॥
लाख मिलें तुम से बढ़के, तुमहीको चहैं, तुमहीको सराहैं।
प्रान रहै जब लौं, तब लौं हम नेह कौ नातौ सदाही निबाहैं॥

इसके अनन्तर आप मूर्च्छित होने लगे। 'राधे-राधे' रटते हुए आपने अपनी इह-जीवन-लीला समाप्त की।

आपके आदेशानुसार आपका अस्थि-प्रवाह श्रीगिरिराज-जीकी मानसी-गङ्गामें किया गया।

भक्त श्रीप्रेमनाथजी हकीम इस धरतीपर केवल २८ वर्षतक जीवित रहे, किंतु इसी अल्पकालमें आपने दरिद्रनारायण एवं दरिद्र रोगियोंकी अद्भुत सेवा ही नहीं की, अपना जीवन इतना प्रभु-प्रेममय बना लिया था कि उनके सम्पर्कमें आनेवाले कितने ही जन भगवद्-भजन एवं प्रभुचिन्तनमें लगकर अपने कल्याणका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, फिर उन्हें निकुञ्जकी प्राप्ति हुई, इसमें तो संदेहके लिये स्थान ही नहीं। आपके जीवन-में कितने ही चमत्कार हुए, किंतु आप चमत्कारोंकी चर्चातक नहीं करते थे।

मनुष्य-जीवन और उसका उद्देश्य

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीअद्वयचैतन्यजी)

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

अर्थात्, मानव-जन्म, मुक्तिकी इच्छा और महापुरुष-का सङ्ग—ये तीन दुर्लभ फल देवानुग्रहसे ही मिल सकते हैं। इनमेंसे यदि दो मिल जायँ तो तीसरा अपने-आप ही मिल जाता है। जैसे—मानव-जन्म मिला और मुक्तिकी इच्छा भी उत्पन्न हो गयी तो महापुरुष या गुरुका सङ्ग जरूर मिल जायगा। हमें मानव-जन्म तो मिल गया, परंतु ऐसा जन्म पाकर भी उसके मूल उद्देश्यको भूल जानेके कारण हमें मुमुक्षुत्व या महा-पुरुषका सङ्ग नहीं मिलता। इन दोनोंमेंसे एक भी न मिला तो हमारा यह मानव-जन्म व्यर्थ हो जायगा। कहते हैं कि चौरासी लाख जन्मोंके बाद हमें यह मनुष्य-जन्म मिला है। बड़े परितापकी बात है कि ऐसे दुर्लभ जीवनका हम सदुपयोग नहीं कर रहे हैं और इसीलिये संसारसे छुटकारा न पाकर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'—इस प्रकार बार-बार जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें आवर्त्तन कर रहे हैं।

बड़े पुण्यफलसे यह मानव-शरीर हमें मिला और संसारके रोग-शोक, मृत्यु आदि दुःखोंको भी हमने जाना। थोड़ा-सा विचार करनेपर हमें यह पता लगता है कि सुख तथा शान्तिके लिये हम संसारमें जिस वस्तु-को चाहते हैं, वह वस्तु हमें सुखके बदले परिणाममें काफी दुःख पहुँचाती है। विषय-भोगोंसे इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख मिल सकता है, किंतु परम सुख कभी नहीं मिलता। ऐन्द्रिय सुख अनित्य और दुःखदायक है तथा परम सुख नित्य और आनन्ददायक है। इस परम सुख तथा शान्तिको प्राप्त करनेके लिये ही मानवकी यह यात्रा अनादिकालसे ही चल रही है।

विचारद्वारा इस बातको समझकर भी हम अपने लक्ष्यकी ओर तत्परतासे चलनेका प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। बल्कि जैसे ऊँट काँटा-घास चबानेसे खून निकलता देखते हुए भी काँटा-घास ही खाना चाहता है, वैसे ही हम भी संसारके भोगोंसे सुख उठाना चाहते हैं और फलतः सदा अशान्ति तथा दुःखोंके शिकार बने पछताते रहते हैं।

भागवतमें कहा गया है—

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

अर्थात् जो खुले हुए मुक्तिद्वारस्वरूप मनुष्य-जीवन-को पाकर भी चिड़ियोंके समान घरमें आसक्त रहता है, उसको पण्डित लोग आरूढच्युत अर्थात् ऊँचे चढ़कर गिरा हुआ कहते हैं।

अबतक हमने देखा कि मनुष्य-जन्म-प्राप्तिमें एक गम्भीर लक्ष्य या उद्देश्य छिपा हुआ है। अतएव प्रश्न होता है—यह उद्देश्य क्या है ? पर इसका पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि परम सुख तथा पराशान्तिकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका यथार्थ उद्देश्य है और वह परमसुख या पराशान्ति भूमामें—असीम वस्तुमें है, अल्प—असीममें नहीं—'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।' हमें इसी परम सुखको ढूँढ़ना है और यह निरतिशय सुख केवल आत्मज्ञानसे ही मिल सकता है। श्रीमच्छंकराचार्यने कहा है—

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म धारितम्।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया॥

अर्थात् जीवन्मुक्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिये ही नित्य-मुक्त आत्माने यह मानव-जन्म लिया है, न कि संसार-कामनासे।

असलमें मनुष्य है तो आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, नित्य आत्मा ही; परंतु यह ज्ञान उसे इसलिये नहीं होता कि वह अध्यास तथा अज्ञानके कारण अपने स्वरूपको भूला हुआ है। यह बात इस कहानीसे स्पष्ट हो जायगी। किसी दिन बाघका एक छोटा-सा बच्चा बकरोंके दलमें आ गया और बकरोंके साथ ही उसने अपना बचपन बिताया। बकरे-बकरियोंके संङ्गसे उसका पूरा चाल-चलन, खान-पान बकरेके समान हो गया था और उसने अपनेको एक बकरा ही समझ लिया। बकरा जैसे बोलता है, वह भी वैसे ही बोलने लगा। उसे अपने स्वरूपकी कुछ भी याद नहीं रही। किसी दिन एक दूसरे बड़े बाघने दूरसे देखा कि एक बाघ बकरोंके साथ घास चर रहा है और बकरोंके समान ही मिमिया रहा है। तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने धीरे-धीरे निकट पहुँचकर बकरोंमेंसे उस बाघको पकड़ लिया और कहा—'अरे तू! बाघका बच्चा होकर बकरोंके साथ घास क्यों चर रहा है ?' बाघको देखकर पहले तो उसने बकरेकी तरह चिल्लाना शुरू किया और भागनेकी भी कोशिश की। आगन्तुक बाघ उसे जितना ही समझाता 'तू बकरा नहीं है, बाघ है' वह उतना ही जोरसे में-में चिल्लाता। वह बाघ बड़ी विपत्तिमें पड़ गया; क्योंकि वह 'मैं बकरा हूँ' इस मिथ्या ज्ञानसे उसको मुक्त नहीं कर पाता था। अब अचानक उसके विचारमें एक नया उपाय सूझा। वह उस बकरे-बाघको पासके एक तालाबके किनारे ले गया और डाँटता हुआ बोला—'देख, इस जलमें तेरा और मेरा मुख—क्या दोनोंमें कुछ अन्तर मालूम होता है ?' ऐसे दिखलाने और समझानेसे उस बकरे-बाघका भ्रम तुरंत मिट गया और उसे ज्ञान हो गया कि वह वस्तुतः बाघ ही है, बकरा नहीं। इस ज्ञानके होते ही उसने इतने जोरसे गर्जन किया कि पासका सारा पहाड़-जंगल काँप उठा। इस प्रकार उसको स्वरूपका ज्ञान हो गया।

इसी तरह सच्चिदानन्द, नित्य आत्मस्वरूप होते हुए भी मनुष्यने देह, मन, बुद्धि आदिमें आत्मभावका आरोप करके सदा अपनेको ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि 'मैं देहविशिष्ट जीव हूँ'—यह उसकी मिथ्या प्रतीति टूट नहीं रही है।

श्रीशंकराचार्यने कहा है—

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥

अर्थात्, मैं सम, शान्त, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही हूँ, असत्-रूप देह नहीं हूँ—विज्ञजन इसीको ज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान हमें इसीसे नहीं मिल रहा है कि मिथ्या अध्यासके कारण हमारा यथार्थ स्वरूप ढँक गया है और 'मैं कौन हूँ ? इस प्रकारके विचारका भी उदय नहीं होता। यदि उपर्युक्त कहानीके आगन्तुक बाघकी तरह कोई सद्गुरु मिल जायँ तो हमारा यह देहात्माभिमानरूप अज्ञान तुरंत टूट सकता है और

'निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केसरी'—सिंह जैसे पिंजरेसे मुक्त होता है, वैसे ही हम भी संसार-जालसे मुक्त हो सकते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुत्व तीव्र होनेसे गुरु अवश्य मिल जाते हैं। अब देखना पड़ेगा कि केवल विचार और पुरुषकारकी सहायतासे इस मुमुक्षुत्व तथा मुक्तिके लिये कैसी साधना होनी चाहिये, जिससे मनुष्य तुरंत लक्ष्यपर पहुँच जाय।

सभी साधनाओंका एक ही उद्देश्य है—चित्तशुद्धि। शास्त्रोंमें भी चित्तका मल दूर करनेके लिये विभिन्न साधनोंका उपदेश दिया गया है। उनमेंसे साधन-चतुष्टय—(१) नित्यानित्य वस्तुओंका विवेक, (२) इहलोक और परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) शम-दमादि छः सम्पदाएँ और (४) मुमुक्षुत्व—ये चार साधन प्रधान माने गये हैं। यज्ञ, जप, पूजा, नित्यकर्म इत्यादि सभी निष्काम भाव-तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये जायँ तो उनसे भी चित्तकी शुद्धि अवश्य होती है। परंतु मनुष्य जब शास्त्रानुसार विचार और बुद्धिसे यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं स्वरूपतः ब्रह्म ही हूँ, मिथ्या देहाभिमानके कारण ही यह बन्धन है,' तब वह क्यों श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान), विचार इत्यादि अन्तरङ्ग यानी साक्षात् साधनोंको छोड़कर यज्ञ—पूजादिमें निरत रहेगा? जिनको 'तत्त्वमसि' सुनते ही पक्का निश्चय हो जाता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, उन उत्तम अधिकारियोंके लिये तो किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि उनके चित्तमें तनिक भी मल न रह जानेके कारण श्रवणके साथ ही उन्हें ब्रह्मज्ञान हो जाता है। किंतु दूसरे, जिन साधकोंके चित्तमें कुछ मल शेष रहनेके कारण केवल बुद्धि और विचारसे ही अद्वैतका निश्चय होता है, उनको भी इस निश्चयको पक्का और दृढ़ करनेके लिये 'मैं नित्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ेगा। इसीसे उनका चित्त पूर्णरूपसे शान्त तथा निर्मल हो जायगा। ऐसा साधन बताते हुए मुनि अष्टावक्रने विचारवान् साधकके लिये कहा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥

अर्थात् हे वत्स! यदि मुक्तिकी इच्छा करते हो तो विषयोंको विष समझकर छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, संतोष तथा सत्यका अमृत समझकर सेवन करो।

तदनन्तर मुनि फिर अज्ञाननाशका यह उपाय बतलाते हैं—

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

अर्थात् 'मैं एक और विशुद्ध बोधस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे निश्चयरूप वह्निसे अज्ञानरूप जंगलको जलाकर शोकहीन और सुखी हो जाओ।

अतः हमें अपनेको विश्वास और दृढ़ताके साथ समझाना पड़ेगा कि 'मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही हूँ' और इसके साथ-साथ विषयोंका त्याग तथा क्षमा, दया, सत्यादिका अभ्यास करना पड़ेगा। तभी हमारा चित्त पूरा शुद्ध होगा और तब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ बोध अपने-आप अवश्य उत्पन्न हो जायगा। फिर अज्ञानरूप कुछ भी बाधक नहीं रहेगा। विचारवान् साधकके लिये यही मार्ग उत्तम कहा जाता है। दूसरे मार्गोंपर चलनेसे वृथा समय नष्ट होता है, जो बहुत ही हानिकारक है; क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है—पता नहीं, कब समाप्त हो जाय। और मानव-जन्म ही मुक्तिका क्षेत्र है। इसलिये हमें इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेना है। अबतक हमने देखा कि अद्वैतका दृढ़ निश्चय यानी यथार्थ स्वरूपमें अवस्थान ऊपर कहे गये अन्तरङ्ग साधनोंसे ही शीघ्र हो सकता है।

दूसरी ओरसे भी थोड़ा-सा विचार कीजिये। यज्ञ, जप, पूजा, दैनन्दिन कर्म इत्यादि साधन द्वैतभावसे

ही किये जा सकते हैं। और विचारसे तो यह सिद्ध होता है कि द्वैतबोध मिथ्या है। अब मिथ्याके द्वारा सत्यकी उपासना कैसे हो सकती है। दो मिथ्याओंको जोड़नेसे एक सत्य नहीं होता, और अज्ञानसे भी अज्ञानका नाश सम्भव नहीं है। अज्ञानका विनाश तद्विपरीत ज्ञानसे ही होता है, जैसे अँधेरा तद्विपरीत उजियालेसे मिट जाता है। किंतु ज्ञानके नित्य होनेके कारण किसीको उसे प्राप्त नहीं करना पड़ता। तब क्या साधन करना पड़ेगा? जन्म-जन्मान्तरकी विपरीत भावनाके तथा देह-मनके प्रति मिथ्या आत्माभिमान-रूप अज्ञानके कारण यह नित्य ज्ञान ढक गया है, जैसे कभी सूरज बादलसे ढक जाता है। साधनका केवल यही उद्देश्य है कि इस अज्ञानरूप मलको हटा दिया जाय। यथार्थ सत्यस्वरूप आत्माके विचार, मनन और निदिध्यासनसे यह मल तुरंत ही हट जा सकता है। जैसे इस समय 'मैं देहविशिष्ट एक जीव हूँ' ऐसा बोध हो रहा है, वैसे ही उक्त साधनसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अडिग, दृढ़ प्रत्यय हो जायगा और फलतः रोग-शोक-पूर्ण संसारचक्रसे निकलकर हम इसी जन्ममें जीवन्मुक्तिरूप शाश्वत सुख पा लेंगे और तब हम भी कह सकेंगे—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्॥

हे गुरो! आपकी कृपासे मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, संसारबन्धनसे मुक्त हूँ; मैं नित्यानन्द-स्वरूप हूँ और पूर्ण हूँ।' यही आत्मसाक्षात्कार मानव-जीवनका लक्ष्य या उद्देश्य है।

ॐ तत् सत्।

कामना-पूर्तिसे सुखकी इच्छा ही दुःख है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'संसारमें सबसे अधिक दुखी पोप है!' श्रोता काँप उठते थे, लूथरकी वाणी वज्रके समान सीधी और भयंकर चोट करती थी। उसके प्रत्येक शब्द पोपद्वारा प्रचारित पाखण्डको छिन्न-भिन्न करनेवाले हथौड़े बन-कर गिरते थे—'वह पैसेके लिये सारे समाजको धोखा दे रहा है; किंतु स्वयं वह समझता है कि परमात्माको कोई धोखा नहीं दे सकता।'

'आपकी बात सच भी हो तो····।' एक श्रोता सभामें उठ खड़ा हुआ था।

'सच भी हो तो—क्या मतलब? सच ही है!' लूथरका घनघोष सुनायी पड़ा। 'पैसा देकर पापियोंके पापका क्षमापन-पत्र वह दिलाता है! पोपको पैसा देनेसे परमात्मा तुम्हारे पाप क्षमा कर देगा—तुम क्या इतने मूर्ख हो कि परमात्माको घूसखोर मानो!'

'मैं दूसरी बात कह रहा था।' श्रोता अभी खड़ा ही था। 'पोप महान् दुखी कैसे हैं। उनके पास क्या अभाव है? उन्हें कोई शारीरिक क्लेश भी तो नहीं।'

'अच्छा!' लूथर खुलकर हँस पड़े—'तुमने सुना नहीं, तुम्हारे पोप रात्रिमें एक क्षण सो नहीं पाते। उन्होंने सैनिकोंकी संख्या दुगुनी कर दी है।'

'डाकुओंपर परमात्माका क्रोध उतरे!' महिलाओंमेंसे अनेकोंने एक साथ शाप दिया। 'वे पूज्यपादरियोंको भी लूट लेते हैं और पोपको भी लूटनेपर तुले हैं।'

'उनके पास भी पोपका पाप-क्षमापनपत्र है। उन्होंने जन-साधारणसे कई गुने अधिक पैसे देकर उन्हें खरीदा है।' लूथरकी चोट बड़ी भयङ्कर थी। 'स्वयं पोपने उस पत्रको मुद्राङ्कित किया है। उसमें लिखा है—'प्रभुने तुम्हारे सब पिछले पाप और वे पाप, जो तुम आगे करोगे, क्षमा कर दिये!'

'क्षमापन-पत्रमें अवश्य यह लिखा होगा।' महिलाओं-के ही नहीं, दूसरे भावुक श्रोताओंके मुख भी लटक गये। 'उसमें लिखा तो यही होता है। पोप महान् उसे मुद्राङ्कित करते हैं।'

'अब वे डाकू कुछ भी करनेके लिये स्वतन्त्र हैं! वे पोपको लूट सकते हैं, उसकी हत्या कर सकते हैं।' लूथर अग्नि-वर्षा करते जा रहे थे। 'वे मुझे और आप सबको मार सकते हैं। उन्हें कोई पाप नहीं होगा। उन्हें परमात्मा क्षमा कर देगा; क्योंकि पोपने उन्हें क्षमापन-पत्र दे दिया है। पोप तो परमात्माको भी आज्ञा दे सकते हैं।'

'झूठी बात! बंद करो बकवास! ऐसा कभी नहीं हो सकता!' श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। 'सर्व-शक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता।'

'सज्जनो! मैं आपके मतसे सर्वथा सहमत हूँ।' लूथर—शब्दोंके जादूगर लूथर मुस्कराते हुए कह रहे थे। 'सर्वशक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता। न पोप और न उनके अनुचर। इसीलिये क्षमापन-पत्र पाखण्ड है। उसे लेकर डाकू लूटने और हत्या करनेके अपराधसे छूट नहीं सकते और हमारे-आपके पाप क्षमा नहीं हो जाते।'

शान्ति—निस्तब्ध शान्ति व्याप्त हो गयी सभामें। सूई गिरे तो उसका शब्द सुन लिया जाय। संत लूथरके शब्दोंके सत्य सीधे श्रोताओंके हृदयमें उतर गये थे।

'पाखण्ड स्वयं पाप है।' लूथर आगे बोल रहे थे। 'मुझे पता नहीं कि निर्णयके दिन इस घोर पापका प्रवर्तक कहाँ भेजा जायगा, उसे क्या दण्ड मिलेगा; किंतु दण्ड तो वह अभी भोग रहा है। रुपया कैसे आये, कहाँसे आये रुपया—इस चिन्तासे वह अशान्त है। चिन्ताने उसे इतना दुखी कर दिया है कि उसको निद्रा लानेके लिये अपने चिकित्सकोंकी सहायता लेनी पड़ती है। स्वयं उसपर परमात्माका अभिशाप उतर पड़ा है।'

× × ×

'मार्टिन लूथर मार डालने योग्य है!' पादरियोंका पूरा समुदाय विरोधी हो उठा था। 'वह पोपका विरोध करता है। उसे चौराहेपर खड़ा करके पत्थरोंसे मारते हुए टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये।'

पूरे देशके पादरी शत्रु हो गये थे। पादरियोंके संकेतपर चलनेवाली श्रद्धालु जनता भड़क उठी थी। समाजका उग्र एवं आवारा समुदाय सदासे धर्म-पुरोहितों-के हाथमें रहा है। पादरी प्रोत्साहित कर रहे थे इस वर्गको कि वे लूथरको पीड़ित करें। शासकोंमें भी समाजके धर्म-गुरुओंका आदेश अस्वीकार करनेका साहस नहीं था। लूथर आज या कल बंदी बना लिये जायँगे—निश्चित जान पड़ने लगा।

'लूथर! तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?' एक मित्रने ऐसे कठिन समयमें नित्य प्रफुल्ल लूथरसे पूछा। 'तुम कैसे इतने सुखी रह पाते हो?'

'मुझे चाहिये क्या कि मैं चिन्ता करूँ?' खुलकर हँसना लूथरका अपना स्वभाव है। अपने उसी निर्मल स्वभाव-से हँसते हुए वे कह रहे थे—'चिन्ता ही दुःखकी जननी है। जो कुछ चाहेगा, वह दुखी होगा। जितना चाहेगा पदार्थोंको, उतना दुःख पायेगा। मेरा पालक तो परमपिता परमात्मा है। वह दयामय है। मुझे जैसे चाहेगा, रखेगा। मुझे कुछ पाना है नहीं तो दुःख कहाँसे साहस पायेगा मेरा स्पर्श करनेका।'

'तुम कहते हो कि बाइबलका सर्वसाधारणकी भाषाओंमें अनुवाद होना चाहिये?' मित्रने एक दूसरा ही प्रश्न किया।

'यदि हमारा विश्वास हो कि बाइबल परमात्माका संदेश है, लूथर गम्भीर हो गये—'तो हमें उसे समझना

चाहिये। वह हमारी भाषामें न होगा तो हम उसे समझेंगे कैसे। लोग बाइबलके संदेशके अनुसार आचरण करें अथवा लोग बाइबलके वाक्योंको पढ़ें, भले आचरण उसके विरुद्ध करें—इन दोनोंमें कौन-सी बात श्रेष्ठ है, यह भी क्या तुम्हें समझाना होगा ?'

'तुम्हें शैतानने अपने सब तर्क सौंप दिये हैं।' मित्र हँस पड़ा। वह आक्षेप नहीं कर रहा था। पादरी-समुदाय जो बात लूथरके सम्बन्धमें लोगोंको सुनाता था, उसीको उसने हँसीमें कह दिया था।

'मनुष्यको बहका देना शैतानका स्वभाव है !' लूथर भी हँस पड़े। 'किंतु शैतानके तर्कोंसे देवदूतके तर्क दुर्बल नहीं हुआ करते। जब दोनोंके सम्मुख तर्क करनेका सुअवसर हो, विजयी तर्क देवदूतका होता है। एक बात और—शैतान अपनेको परमात्माका प्रतिनिधि बताकर लोगोंको बहकाता है, उन्हें अपना अनुगामी बननेको कहता है और देवदूत किसीको अपना अनुगामी नहीं बनाते। वे सबको सदा सीधे परमात्माके शरणापन्न होनेकी प्रेरणा देते हैं।'

'अच्छा, अब इन बातोंको छोड़ो ! मैं विशेष प्रयोजनसे तुम्हारे पास आया हूँ।' मित्रने गम्भीरतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। 'हमारे देवदूतको शैतान नष्ट करनेपर तुला है। तुम शीघ्र बंदी बनाये जानेवाले हो। देश छोड़कर आज ही तुम्हें प्रस्थान कर देना है। यात्राकी व्यवस्था हमलोगोंपर छोड़ दो।'

'परमात्मा जिसकी रक्षा करना चाहेगा, शैतान उसकी हानि करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा।' लूथर फिर हँस रहे थे। 'मेरे प्रति तुमलोगोंका प्रेम ही तुम्हें भयभीत कर रहा है; किंतु मैं अपनी कर्म-भूमि छोड़कर अभी कहीं नहीं जाना चाहता।'

'तुम बंदी कर लिये जाओगे और वे तुम्हें मार डालेंगे!' मित्रके स्वरमें कातर अनुरोध था। 'अब परमात्माके लिये यहाँसे कुछ समयके लिये बाहर चले जाओ ! हठ मत करो।'

'मृत्यु इतनी भयानक नहीं है कि उसके भयसे कर्तव्यका त्याग किया जा सके।' लूथर अपने निश्चयपर स्थिर बने रहे। 'परमात्माकी इच्छा पूर्ण हो ! क्या प्रभु ईसाने हमें यह समझाया और स्वयं अपने आदर्शसे सिखलाया नहीं है ?'

× × ×

'यह पोपके पाप-क्षमापन पत्रको पाखण्ड कहता है।'

'यह पवित्र बाइबलका सभी भाषाओंमें अनुवाद करा देना चाहता है।'

'यह शैतानका समर्थक है !' पादरियोंका रोष पराकाष्ठापर पहुँच चुका था। मार्टिन लूथर बंदी बना लिये गये थे। पादरी माँग कर रहे थे—'इसे प्राणदण्ड दिया जाय !'

लूथरके शिष्य और समर्थक भी यह आशा नहीं कर सकते थे कि उनको मुक्त कर दिया जायगा। उनकी बड़ी-से-बड़ी माँग इतनी थी—'लूथर मारा न जाय। उसे आजन्म कारावास दिया जाय।'

'तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो ?' पूछा गया लूथरसे।

'मैंने कोई अपराध नहीं किया।' लूथर निर्भय स्थिर खड़े थे। 'सत्यको स्पष्ट करना कोई अपराध नहीं है।'

'तुम्हारे ये अपराध !' न्यायाधीश स्वयं नहीं समझ पा रहे थे कि सचमुच लूथरने कोई अपराध किया भी है।

'पाप-क्षमापन-पत्र पाखण्ड है !' लूथरकी गम्भीर वाणी गूँजी। 'यदि ऐसा नहीं है तो क्या न्यायालय यह घोषणा करनेको उद्यत है कि जिनके पास पाप-क्षमापन-पत्र है या जो उसे प्राप्त कर लेंगे, उन्हें कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता होगी, उन्हें उनके किसी कार्यका दण्ड नहीं दिया जायगा ?'

'ऐसा कैसे सम्भव है !' न्यायाधीशने निकलनेका मार्ग निकाला । 'परमात्मासे पाप क्षमा करा देनेके लिये वे पत्र दिये जाते हैं ।'

'परमपिता परमात्मा पहलेसे जिनके पाप क्षमा कर चुका' लूथरने व्यंग किया—'वे निष्पाप नहीं हुए, यह आप कहना चाहते हैं । आप उन्हें दण्ड देंगे, जिन्हें प्रभु दण्डनीय नहीं मानता ।'

'न्यायालय तुम्हारे तर्क सुननेको प्रस्तुत नहीं है ।' सत्ताका सहारा लेनेके अतिरिक्त अत्याचार-दुर्बल शासनके पास ऐसी अवस्थामें और क्या आश्रय हो सकता था ।

'जानता हूँ !' लूथरने एक तीक्ष्ण व्यंग और किया । 'न्यायालय तो परमपिताके संदेश समझा देनेपर भी प्रतिबन्ध रखना चाहता है । वह नहीं चाहता कि लोग अपनी भाषामें उसे पाकर समझ लें और उसका आचरण करें; वह केवल इतनी अनुमति दे सकता है कि लोग उसके अक्षरोंको रट लिया करें ।'

'तुमने अपने अपराध स्वीकार कर लिये हैं !' न्यायाधीश विवश थे—कितनी विडम्बना थी, वे न्याय करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं थे । उनकी नियुक्ति एक निश्चित निर्धारित तन्त्रके अनुसार निर्णय करनेके लिये थी । उन्होंने अपनी पूरी क्षमता घोषित की—'यदि तुम क्षमा माँग लो तो छोड़ दिये जा सकते हो ।'

'क्षमा ! किसलिये ?' लूथर हँस पड़े । 'एक निरपराध पाखण्डका प्रसार करनेवाले वर्गसे क्षमा माँग ले !'

'तब तुम्हें प्राणदण्ड दिया जाता है !' न्यायाधीश उठ गये निर्णय सुनाकर । वे निर्णय ही सुना सकते थे, किसीको प्राणदण्ड देना उनकी शक्तिमें नहीं था । कम-से-कम लूथरको प्राणदण्ड तो वे और उनका शासन-तन्त्र नहीं दे सकता था—दे नहीं सका । कारागारसे लूथर निकल गये—कैसे निकल गये, एक रहस्य ही है ।

× × ×

'पोप आपके शत्रु हो गये हैं !' अनेकों शुभचिन्तकोंने समय-समयपर लूथरको सूचना दी—'आपको अधिक सावधान रहना चाहिये ।'

'अत्यन्त रोगाक्रान्त प्राणी चिड़चिड़ा हो जाता है । वह अपने चिकित्सकको ही मारना चाहता है ।' लूथर सच्चे दयार्द्र हृदयसे कहते थे । 'दुखी प्राणी दयाका पात्र है । उससे कैसा द्वेष और भय तो उससे क्या ।'

'संत मार्टिन लूथर !' जनताने सत्यके सम्मुख सिर झुका दिया था । श्रद्धावनत समाजने लूथरके उपदेशोंका आदर करना प्रारम्भ कर दिया था । उन समदर्शीके आदर्श व्यापक बनने लगे थे ।

'परमात्माकी कृपा-प्राप्तिकी कामना करो !' लूथरका प्रधान उपदेश था । 'यह प्रभुत्व और सम्पत्ति वहींतक आदरणीय हैं, जहाँतक चित्त उन्हें प्रभुका प्रसाद समझे और प्रभुकी एवं दीनोंकी सेवामें उनका सद्व्यय होता रहे । अन्यथा वे शैतानके सहायक बन जाते हैं । वे 'अधिक पाओ' इस कामनाको बढ़ा देती हैं । कामनाओंसे सुख-प्राप्तिकी अपेक्षा—यही तो दुःख है । इससे दयनीय कोई स्थिति नहीं कि मनुष्य स्वयं अपना दुःख बढ़ाता जाय ।'

'क्रन्दनका अविरल संसार !'

यही सोचकर वे मनमोहन लेंगे मेरा सुमधुर प्यार !
छेद करा डाले निज तनुमें सहकर भी भीषण दुख-भार !
तब उस बेचारी मुरलीको मिला हाय ! प्रियतमका प्यार !
पिया-मिलन परिहास नहीं है, क्रन्दनका अविरल संसार !!

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

नारी और नौकरी

(लेखक—प्रो० श्रीरामनारायणजी सोनी, एम्० कॉम्०, एल्-एल्० बी०)

आजकल सर्वत्र ही नारी-जागरणकी बात सुनी जाती है। 'उनपर सदासे अत्याचार होता आया है, अब वे शिक्षिता होकर अपना न्याय्य अधिकार चाहती हैं। पुरुषोंकी भाँति सभी काम करनेका, विशेषकर अर्थोपार्जनके लिये कार्य करनेका उन्हें अधिकार होना चाहिये। वे धनोपार्जनका कार्य न कर सकनेके कारण ही पुरुषोंकी गुलाम बननेको मजबूर हो रही थीं। पुरुष मनमाने ढंगसे इन्द्रियोंको चरितार्थ करता है; स्त्री वैसा करती है तो पूरा दोष समझा जाता है—वैसा करनेपर स्त्रियोंको इस लोकमें कितने ही कष्ट सहने पड़ते हैं और उन्हें परलोकका भय दिखलाया जाता है।' इस प्रकार विभिन्न प्रकारके यथेच्छाचाररूप अधिकारोंके लिये दावा सुननेमें आता है। बहुत-से युवक और युवतियाँ इन सब बातोंको प्रमाणित सत्य मान बैठे हैं और पाश्चात्य देशोंकी स्त्रियोंके ऐसे अधिकारोंका प्रसार दिखलाकर वे मानो हमलोगोंके लिये गन्तव्यपथ निर्देश कर रहे हैं।

यह अवश्य ही ध्यानमें रखनेकी बात है कि हिंदुओंके सिवा अन्य किसी भी जातिने आजतक भगवान्‌को स्त्रीरूपमें नहीं देखा, नहीं पूजा। किसीने कल्पना भी नहीं की। यदि सचमुच हम स्त्रीको हेय समझते, तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते, तो सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को स्त्रीके आकारमें कभी नहीं देखते, दुर्गाके रूपमें उनकी अर्चना न करते। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी बार-बार नारी-देवता (दुर्गा) की शरण लेनेपर असुरोंके हाथसे रक्षा होनेकी कथाएँ हमारे धर्मग्रन्थोंमें नहीं लिखी जातीं, विपत्ति पड़ते ही घर-घर चण्डीपाठ न होता। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' हमारी एक प्रचलित लोकोक्ति है।

भारतकी स्त्रियोंमें नौकरीका शौक बढ़नेसे विकट समस्याएँ उपस्थित होने लगी हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ जब अर्थोपार्जनके कर्मक्षेत्रमें उतर आती हैं, तब स्वाभाविक ही 'आवश्यकता और पूर्ति' के नियम (Law of demand and supply) के अनुसार वेतनकी दर घट जाती है। जितने स्थान स्त्रियोंको मिल जाते हैं, उतने स्थानोंपर पुरुषोंको कार्य नहीं मिलता—वे कामपर जाते तो उनमेंसे बहुत-से लोग विवाह करके कुछ दूसरी स्त्रियोंको नौकरीकी फजीहतसे बचा सकते; परंतु काम न मिलनेसे वे ऐसा नहीं कर सकते। अतएव उनकी बेकारीके साथ ही उनसे प्रतिपालित होनेकी सम्भावनावाली स्त्रियोंको भी धनोपार्जनके लिये नौकरी करनी पड़ती है। अतएव जितनी ही अधिक स्त्रियाँ नौकरीके क्षेत्रमें बढ़ती हैं, उतने ही विवाहोंकी संख्या घटती है। जब बेकार आदमी अपना ही पेट नहीं पाल सकता, तब वह विवाह कहाँसे करे। पाश्चात्य देशोंमें यह समस्या बहुत ही विकट हो गयी है और दुर्भाग्यकी बात यह है कि भारत भी इसी पथपर अग्रसर हो रहा है। इस प्रकार बहुत-सी स्त्रियोंके बहुत कालतक अविवाहिता रहनेसे और अर्थोपार्जनके क्षेत्रमें पुरुषोंके साथ प्रतियोगिता करनेसे स्वाभाविक ही पुरुष और स्त्रियोंमें एक द्वन्द्व—एक विद्वेषभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रतियोगिताके क्षेत्रमें दीर्घकालतक पुरुषोंके साथ कार्य करनेसे उनमें स्त्रीस्वभाव-सुलभ कोमलताके बदले पुरुष-सुलभ कठोरता आ जाती है। सहानुभूतिकी प्रेरणा कम हो जाती है, जो दीर्घकालके अभ्यासके अभावसे उनको मातृत्वके तथा गृहिणीत्व—विवाहित जीवनके और गृहस्थीके कामके लिये अनुपयुक्त बना देती है। मातृत्वके और गृहिणीत्वके काममें फिर उन्हें वैसा सुख नहीं मिलता, वरं कष्ट होता है। दूसरेकी सुख-सुविधाके लिये अपनी सुख-सुविधाका त्याग करनेकी प्रवृत्ति और शक्ति, जिसपर विवाहित जीवनकी सुख-शान्ति प्रधानतया निर्भर करती है, उनमें बहुत कम हो जाती है। अतएव वे अपने विवाहित जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेमें अयोग्य हो जाती हैं। इसीसे फिर तलाककी प्रवृत्ति बढ़ती है। जब स्त्री-पुरुष दोनों ही दिनभर काम करके थके हुए, नाना प्रकारके झंझटोंसे हैरान हुए और विविध तापोंसे तपे हुए घर लौटते हैं, तब उनमेंसे कौन और कब किसको सेवा और सहानुभूतिकी शान्ति-धारा सींचकर सुखी, शीतल कर सकेगा ? और यदि परस्पर आवश्यकतानुसार यत्न-सेवा-सहानुभूति ही नहीं मिलेगी, तब विवाहकी सफलता कहाँ है। तब तो वह घर घर नहीं है—बासामात्र है।

कहा जाता है कि 'जब गरीब घरोंकी या नीची कही जानेवाली जातियोंकी स्त्रियाँ घरके बाहर मेहनत-मजदूरी कर सकती हैं, तब फिर अमीर या बड़े घरोंकी स्त्रियोंके मार्गमें ही क्यों रुकावटें डाली जायँ। किसानोंके घरोंकी स्त्रियाँ खेती-बारीमें अपने यहाँके पुरुषोंके साथ पूरी मेहनत करती हैं।

व्यावसायिकोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। बढ़ई, दरजी, लुहार आदिकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके काममें इतनी दक्ष हो जाती हैं कि आवश्यकता पड़नेपर बिना पुरुषोंकी सहायताके भी वे अपना काम चला सकती हैं।'

यह निश्चित ही अच्छी चीज है। यदि बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ भी ऐसा कोई काम सीखें, जिसमें घरमें रहकर ही वे अपने पतिका बोझ हल्का कर सकें तो अच्छा ही है। अन्यथा दफ्तरके अफसरोंकी घुड़की-धमकी सहनेकी अपेक्षा अपने पतिकी सेवा कहीं अच्छी है। दूसरोंके बच्चोंको शिक्षा देनेके लिये स्कूलोंमें नौकरी करनेके पहले अपने बच्चोंकी शिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये। यह समझना भूल है कि घरका काम राष्ट्रका काम नहीं है। गत महायुद्धके समय ब्रिटेनके युद्ध-मन्त्रीने स्त्रियोंसे अपील करते हुए कहा था—'स्त्रियाँ समझती हैं कि साधारण काम करनेमें उनका समय नष्ट होता है; पर यह बात नहीं। किसी-न-किसीको तो राष्ट्रके लिये आलू बनाना और थालियाँ साफ करनी ही पड़ेंगी। बिना छोटे-छोटे काम सीखे बड़े कामोंकी योग्यता नहीं आती।'

आज पाश्चात्त्य समाजमें सत् उपायसे भी जीविकोपार्जन करना युवती शिक्षिता स्त्रियोंके लिये विशेष अपमानजनक है—शायद बहुत लोग इस बातको नहीं जानते। जगत्प्रसिद्ध लेखक Hall Caine के 'The woman thou gavest me' तथा H. G. Wells के 'Ann Veronica और Victor Hugo के 'Les Miserables' में कैंटाइनका उपाख्यान पढ़नेसे इसका पता लग सकता है। बहुत बार चरित्रहीनता आर्थिक उन्नतिमें सहायक होती है, इसीलिये बहुत-सी स्त्रियोंका पतन होता है। इसीसे देखा जाता है कि बहुत-सी पाश्चात्त्य स्त्रियोंको धनोपार्जनके कार्य करने जाकर ही वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ी है। 'The Great Social Evil' नामक पुस्तकमें Logan साहबने लिखा है कि 'वेश्याओंमें एक चतुर्थांश पहले होटलोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कल-कारखानोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कुटनियोंके फेरमें पड़कर और एक चतुर्थांश बेकारीसे और विवाहकी प्रतिज्ञा भङ्ग होनेसे वेश्यावृत्ति करती हैं।' बर्लिन और वायना नगरोंमें ५१ और ५८ प्रतिशत वेश्याएँ नौकरी-पेशा स्त्रियोंमेंसे आयी हैं।

'Our Freedom and Its Results' 'हमारी स्वतन्त्रता और उसके परिणाम' नामक पुस्तकमें ब्रिटेनके नारी-आन्दोलनकी एक प्रधाननेत्री रे इस्ट्रैची लिखती हैं कि 'स्त्रियोंके आर्थिक स्वतन्त्रताके मार्गमें कितनी रुकावटें हैं। इनमें कुछ तो प्राकृतिक हैं, जिनमें परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है और कुछ परम्परागत सामाजिक वहमोंके कारण हैं, जिनके दूर होनेमें बहुत समय लगेगा। गर्भ धारण करके बच्चा पैदा करना स्त्रियोंका प्रकृतिसिद्ध कार्य है, जो कभी पुरुषोंके मत्थे नहीं पड़ता। यद्यपि इसमें अधिक समय नहीं लगता, तथापि इसकी सम्भावनाके कारण स्त्रियोंको काम मिलनेमें बाधा अवश्य पड़ती है। लड़कोंको सीना-पिरोना, खाना पकाना भले ही सिखाये जायँ, पर इन कामोंके लिये वे घर नहीं बैठ सकते। स्त्रियोंकी शारीरिक शक्ति पुरुषोंसे कम होती है, यह मानना ही पड़ेगा। एक बात यह भी है कि चालीस वर्षकी आयु हो जानेपर स्त्रियोंमें शक्तिका ह्रास हो जाता है।' लेनिनकी राय थी कि 'स्त्रियोंको गृहस्थीके कार्य तथा बच्चोंकी परवरिशसे मुक्त कर देना चाहिये, जिससे वे देशकी सेवा कर सकें।' इसीलिये बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाका भार राष्ट्रने ले लिया। सूतिकागृह और शिशु-शालाओंकी व्यवस्था की गयी; किंतु बादमें यह अनुभव हुआ कि इनमें पले हुए बच्चोंमें वह बात नहीं आती, जो घरके पले बच्चोंमें होती है। मातृत्वके अभावमें बालकका व्यक्तित्व पूर्णरूपसे विकसित ही नहीं हो पाता, यह ध्रुव-सत्य है।

अन्तमें स्व० प्रेमचन्दजीके शब्दोंमें—

'मेरे विचारसे नारी सेवा और त्यागकी मूर्ति है, जो कुर्बानीसे अपनेको बिल्कुल मिटाकर पतिकी आत्माका अंश बन जाती है। आप कहेंगे 'मर्द अपनेको क्यों नहीं मिटाता? औरतसे ही क्यों इसकी आशा करता है?' मर्दमें वह सामर्थ्य नहीं है। वह तेजःप्रधान जीव है·····स्त्री पृथ्वीकी भाँति धैर्यवान् है, शान्तिसम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुषमें नारीके गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारीमें पुरुषके गुण आ जाते ह तो वह कुलटा हो जाती है।

'नारीके पास देनेके लिये दया है, श्रद्धा है, त्याग है, सेवा है। पुरुषके पास देनेके लिये क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकारके लिये हिंसा करता है, संग्राम करता है, कलह करता है·····।

'मुझे खेद है कि हमारी बहनें पश्चिमका आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारीने अपना पद खो दिया है और स्वामिनीसे गिरकर विलासकी वस्तु बन गयी है।'

भगवान् श्रीकृष्ण षोडश-कलापूर्ण

(लेखक—श्रीसुतीक्ष्णमुनिजी)

भगवान्‌का परिपूर्णतमरूप अवतार श्रीकृष्ण थे। तभी श्रीमद्भागवत (१ । ३ । २८) में **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** कहा गया है। श्रीकृष्णमें भगवान्‌के सभी गुण प्रकट थे, जो उनके चरित्रोंसे स्पष्ट हैं—इसमें लेशमात्र भी संशय करनेकी गुंजाइश नहीं है। संशय करनेवाले विनाशको प्राप्त होते हैं। वे सुखी नहीं हो सकते।

'संशयात्मा विनश्यति।' 'न सुखं संशयात्मनः।' (गीता)

'कृष्ण' शब्दका अर्थ—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष्ण' शब्द 'विष्णु' शब्दके अनुसार ही प्रागैतिहासिक है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वकलापूर्ण थे, यह उनकी समय-समयकी लीलाओंसे स्पष्ट हो जाता है; किंतु चन्द्रवंशमें अवतरित होनेसे वे षोडश-कलापूर्ण कहे जाते हैं। उन विशिष्ट सोलह कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रथमकला 'अन्न' है, जिससे जीवमात्रकी उत्पत्ति होती है—**अन्नाद्भवन्ति भूतानि** (गीता ३ । १४)। अन्नसे ही तृप्ति होती है, तभी छान्दोग्योपनिषद्‌में अन्नको ब्रह्म कहा गया है। **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्**—अन्नको ब्रह्म जानकर अन्नकी कभी निन्दा न करें। अन्नकी निन्दा करनेवाला ब्रह्मकी निन्दा करनेवालेके तुल्य पातकी—नरकगामी है। उद्भिज्जयोनि केवल अन्नके विकाससे उत्पन्न हुई, यह एक कलाका विकास है। इनमें प्राणमय कोष न होनेसे ये चल नहीं सकते, इसलिये इनकी 'जड' संज्ञा हुई।

(२) द्वितीय कलासे स्वेदजोंकी सृष्टि हुई। यह दूसरी कला अन्न और प्राणोंके मिलनेसे हुई, इसीसे स्वेदजोंमें चलने-फिरनेकी शक्ति आयी।

(३) तृतीय कला अन्नमय, प्राणमय और मनोमय-की है; इससे अण्डजोंका जन्म हुआ और इनमें प्रेम आया।

(४) चतुर्थ कला अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी है; इससे जरायुजोंकी सृष्टि हुई।

(५) पञ्चम कला अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दकी है। पञ्चकोष मनुष्यमात्रमें साधारणतया होते हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन अनेकों ग्रन्थोंमें आता है।

(६) षष्ठ कला विभूति (ऐश्वर्य) की है, जो मनुष्योंके कर्मानुसार न्यूनाधिक होती रहती है। किंतु भगवान्‌में वह एकरस परिपूर्ण है, तभी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति गीता अ० १० में अपनी विभूतियाँ गिनाते हुए अन्ततः श्लोक ४१ में कहते हैं कि 'सम्पूर्ण विभूतियाँ मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई हैं, इस प्रकार तू जान।'

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(७) सप्तम कला धर्मकी है, जिसके रक्षार्थ सदैव भगवान् सन्नद्ध रहते हैं। भगवान्‌की रची सृष्टि भी धर्मके आधारपर स्थित है। जहाँ धर्ममें कुछ भी विषमता (असमानता) आयी अथवा धर्मनाशक मण्डल उदय हुआ, वहीं भगवान् किसी-न-किसी रूपसे या स्वयं प्रकट हो धर्मकी रक्षा करते हैं। भगवान्‌ने अपना यही विरद गीता अध्याय ४, श्लोक ८ में सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

(८) अष्टम कला अर्थ है। सर्वप्रकारके अर्थ भगवान्‌की कृपासे सुलभ होते हैं। भगवान् ही परम अर्थ हैं।

(९) नवम कला 'ज्ञान' है—सब प्रकारका परिपूर्ण ज्ञान भगवान्‌में है। वे ज्ञानस्वरूप हैं। उनके कृपा-कटाक्षके बिना ज्ञानका प्रकाश होना असम्भव है।

(१०) दशम कला तेज (प्रकाश) है। संसारमें जितना प्रकाश (ज्योति) है, वह सब भगवान्‌की सत्तासे है, सारा विश्व प्रकाश्य है, भगवान् प्रकाशक हैं।

(११) एकादश कला 'यश' है। भगवान् यशके अथाह सागर हैं। संसारका कोई भी व्यक्ति उनके यशकी थाह नहीं पा सका, वेद भी 'नेति-नेति' कहकर चुप हो गये। शेषजी सहस्र मुख, दो सहस्र जिह्वाओंसे भगवान्‌के नित्य नवीन सुयशोंका गान करते रहनेपर भी उनकी थाह नहीं पाते।

(१२) द्वादश कला 'योग'की है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगियोंके ईश्वर—योगेश्वर थे।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो.....।

(१३) त्रयोदश कला 'सर्वज्ञता' है। भगवान् ही पूर्ण सर्वज्ञ हैं। शेष सबमें थोड़ी बहुत अल्पज्ञताका भास अवश्य झलकता है, ब्रह्माका बछड़े तथा ग्वालोंका छिपाना, शंकरका मोहिनीरूप देखकर मोहित होना, नारदका विश्व-मोहिनीके सङ्ग विवाह करनेके लिये भगवान्‌का रूप माँगना, इन्द्रका व्रजपर कोप करना आदि-आदि सर्वज्ञताके अभावका ही आभास नहीं तो और क्या है। इसलिये भगवान् ही सर्वज्ञ हैं।

(१४) चतुर्दश कला 'इच्छा' है। भगवान्‌की इच्छा-

शक्तिको सृष्टिका कारण माना गया है। इस इच्छाशक्तिके चार रूप (भेद) हैं—इच्छाशक्ति, योगमाया, महामाया और माया। भगवान् श्रीकृष्णने इन चारोंसे काम लिया है। श्रीकृष्णकी कोई भी इच्छा व्यर्थ नहीं गयी।

(१५) पञ्चदश कला 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' है।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥

(१६) षोडश कला 'सर्वसिद्धि' है। संसारके सभी कार्य भगवान्‌की कृपासे ही सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त षोडश कलाएँ पूर्णरूपसे श्रीकृष्णमें विद्यमान हैं,—जो श्रीमद्भागवत, गीता, महाभारत, हरिवंश आदिके पढ़नेसे स्पष्ट है। लेखवृद्धिके भयसे कलाओंका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया गया। बहुत सम्भव है विद्वत्-मण्डल कलाओंके सम्बन्धमें और भी प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। भगवान्‌के नाम, गुण, लीलाएँ अनन्त हैं। जहाँ बड़े-बड़े लोग थाह नहीं पा सके, वहाँ मुझ अल्पबुद्धिकी क्या गिनती है।

जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ?

(लेखक—एक यात्री)

यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर अनेक पर्याप्त पुण्योंकी कमाईसे प्राप्त होता है; इसपर भी प्राणी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर षट् विकारोंमें फँसा रहता है और पाप-कर्म करके इस मानव-शरीरको व्यर्थ खोकर फिर चौरासी लाख योनियोंमें जा गिरता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता हुआ रोता-कलपता रहता है; परंतु अब उसकी कोई नहीं सुनता, सुने भी कौन। उसने कर्म ही ऐसे किये हैं, जिनका परिणाम अपार दुःख है—

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

(मानस)

तो फिर यही प्रश्न होता है कि ये षट् विकार कैसे छूटें और स्थायी सुख-शान्ति कैसे मिले। इसका उत्तर निम्नलिखित विचारोंसे स्पष्ट है। इन विचारोंको अभ्यास-द्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये।

विचार १—मुझे एक दिन इस असार संसारको छोड़कर जाना होगा। हमारे पूर्वज, सम्बन्धी, इष्टमित्र हमारी आँखोंके सामने देखते-देखते चले गये और चले जा रहे हैं। जरा दिलकी गति रुकी और खेल खतम। महामारी, हैजा, इन्फ्लुयंजा आदि नगरमें आये कि हजारों चल बसे। फिर भी क्या हमारे जानेमें कुछ संदेह है? एक-दो दिनकी कोई क्या कहे, एक घड़ीभर भी जीवनका कोई निश्चय नहीं। रे मन! ऐसा निश्चय करके इस असार संसारसे धीरे-धीरे आसक्ति छोड़।

अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

(विनय०)

यह फानी-तूफानी दुनिया अन्तमें तेरा साथ नहीं देगी—

आयु गँवाई दुनियाँमें, दुनियाँ चले न साथ।
पैर कुल्हाड़ी मारिया मूरखने अपने हाथ॥

(नानक)

सहस्रबाहु और रावण-ऐसे महाबली योद्धा इस असार संसारसे खाली हाथ चले गये—

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते॥

(विनय०)

मदिरा पीकर जैसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसको अपना और पराया भान नहीं रहता, उसी तरह रे मन! तूने अपने देवदुर्लभ मानव-जीवनके वास्तविक कर्तव्यको भुला दिया है। अनेक पर्याप्त पुण्योंके बिना मानव-शरीर नहीं मिलता। जलचर, थलचर, नभचर आदि असंख्य प्राणियोंमें मनुष्यजाति ही श्रेष्ठ मानी गयी है। अनेक प्राणियोंमें कोई एक बिरला ही मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है। इसको पाकर जो अपना लोक-परलोक नहीं बना लेते, वे अपार दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

(मानस)

जगद्गुरु स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अपनी चर्पटपञ्जरिकामें लिखते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते॥

बार-बार दिन, सायंकाल, रात्रि आती है और देखते ही चली जाती है, एवं शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आकर चली जाती हैं। इस प्रकार कालकी क्रीडा निरन्तर होती रहती है, प्राणियोंकी आयु इस तरह क्षीण होती जा रही है। तथापि अरे मूढमते! इस असार क्षणभङ्गुर संसारकी

आशारूपी वायु तुझे छोड़ना नहीं चाहती। अब जो आयु बची है, उसीको सार्थक बना और अन्तर्यामी गोविन्द-भगवान्‌का निरन्तर प्रेमसे भजन कर।

निम्न कविताओंको विचारपूर्वक गुनगुनाते रहना चाहिये—

(क) है बहारे बाग दुनियाँ चंद रोज।
देख ले इसका तमाशा चंद रोज॥
ऐ मुसाफिर कूँचका सामान कर।
है बसेरा इस सरामें चंद रोज॥

(ख) जाना है, रहना नहीं, जाना बिस्वा बीस।
थोड़े दिनकी जिंदगी, भज ले श्रीजगदीश॥

(ग) मुट्ठी बाँधे आया जगमें,
हाथ पसारे जायेगा।

(घ) सिकंदर जब चला बसा दुनियाँसे, दोनों हाथ खाली थे॥

इन विचारोंका सोते-जागते समय अथवा निरन्तर ध्यान रखनेसे षट्‌विकार एवं पापकर्म घटते-घटते क्षय हो जायँगे और प्राणी स्थायी सुख-शान्ति प्राप्तकर मुक्त पुरुषकी भाँति जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें, हाथीके गलेसे फूलकी माला गिरनेके समान, प्रसन्नतापूर्वक शरीर छोड़कर परमधाम प्राप्त करेगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति कर, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥
(मानस)

उपर्युक्त विचारोंकी प्रतिदिन एक आवृत्ति अवश्य होनी चाहिये, ताकि थोड़े समयमें विचार दृढ़ हो सके और यह भी विचार रहे कि हमको ही अपने कर्मोंका हिसाब देना होगा, उसमें कोई साथी या मददगार नहीं होगा। यह ध्रुव सत्य है कि इस प्रकारके विचारोंको भलीभाँति सुदृढ़ कर लेनेपर छः मासके अंदर ही कार्य करनेका दृष्टिकोण बदल जायगा, पापकर्म करनेमें ग्लानि होने लगेगी और जीवन सुख-शान्तिमय होगा।

विचार २—प्रारब्ध और पुरुषार्थका विवेचन करके धन आदि भोगोंके लिये प्रारब्धपर ही विश्वास करना और योगके लिये पुरुषार्थपर भरोसा रखना। संसारके सब दुःख-सुख, लाभ-हानि प्रारब्धके अधीन हैं। चालाकी-बेईमानीसे जीवनका सुख-दुःख, हानि-लाभ हम तिलभर भी नहीं बदल सकते, वरं आगामी जन्मके लिये काँटे बो लेते हैं—यह हमें निम्नलिखित विचारोंद्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये—

(१) परारब्ध पहिले रची, पाछे रच्यो सरीर।
तुलसी चिंता त्याग दे, भज ले श्रीरघुबीर॥

(२) आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

'आयु, भोग, धन, विद्या और मृत्यु मनुष्यके गर्भकालमें ही विधाता रच देते हैं।'

(३) कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥
(मानस)

(४) सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ॥

(५) हँसि बोले रघुबंस कुमारा।
बिधि कर लिखा को मेटनिहारा॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम प्रारब्ध एवं कालकी विचित्र गतिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(६) यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसा न कलितं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

'हे लक्ष्मण! जिस इष्ट पदार्थके लिये हम चिन्ता करते हैं, कब मिले! कब मिले—ऐसी प्रतीक्षा करते हुए अनेकविध प्रयत्न करते हैं, वह प्रारब्धाधीन कालकी विचित्र गतिसे हमको नहीं मिलता, हमसे हजारों कोस दूर हो जाता है। इसी प्रकार जिसका हमें स्वप्नमें भी ध्यान नहीं होता, जिसे हम कभी भी देखना नहीं चाहते, वह अनिष्ट दृश्य सहसा हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। इस विषयमें लक्ष्मण! तू मुझको ही देख! प्रातःकाल मैं चक्रवर्ती सम्राट् होने जा रहा था, वही आज मैं जटाधारी तपस्वीका-सा वेष बनाकर वनमें जा रहा हूँ।'

अतः दृढ़ विश्वास रखें कि एक दिन इस अपार संसारको छोड़कर अकेले ही जाना होगा और भले-बुरे कर्मोंका भोग भोगना होगा। दूसरा यह विचार दृढ़ रखें कि धनादि भोग प्रारब्धके ही अधीन हैं, अतः उनके लिये पापकर्म करना अपनेको अपार दुःखमें डालना है। इन दो ही विचारोंको सुदृढ़ करनेसे जीवनमें स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त होगी और अन्त समयमें शरीर छोड़कर प्राणी परम गतिको प्राप्त होगा—

आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर।
कोई रथ चढ़ि चल रहा, कोई बँधा जँजीर॥

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३१

संवत् २०१३—२०१४ वि०

सन् १९५७ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिंग]

प्रतिसंख्या ।≡)

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के इकतीसवें वर्षकी विषय-सूची

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ-संख्या

निबन्ध

१—अध्यात्म-चिन्तनके अमृत-कण (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य) ११६७
२—अध्यात्म, भौतिकता और जीवन (श्रीप्रतापसिंहजी चौहान, एम्० ए०) ८२८
३—अध्यात्मशास्त्रका राजमार्ग (सेठ श्रीमोतीलाल माणेकचन्द, उपनाम श्रीप्रताप सेठ) ... १३७७
४—अनासक्ति (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) १३१०
५—अनेक तीर्थोंकी एक कथा ... ५९२
६—अपरिग्रह (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ) ११४६
७—अष्टोत्तरशत दिव्यदेश (आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी) ... ४८८
८—अहिंसा (श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम्० ए०, विद्यावारिधि) ... ८०१
९—आत्म-कल्याणके लिये तमोगुणका त्याग आवश्यक (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर) ... ११५५
१०—आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १२६९
११—आदर्श सम्पुट, प्रेम-चरणामृत (श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल-एल्० बी०) ८७९
१२—आनन्दतीर्थ-परम्परा और माध्वपीठ (श्रीअदमारुमठसे प्राप्त) ... ५६४
१३—आर्यसंस्कृति और संस्कृतकी अविच्छेद्यता (स्वामीजी श्रीगोविन्दानन्दजी शास्त्री) ... ७६०
१४—'इक दिन जाना है भाई!' (बाबू श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) ... १११२
१५—इक्कीस प्रधान गणपति-क्षेत्र (श्रीहेरम्बराज बाळशास्त्री) ४४८
१६—इच्छा त्याग (स्व० श्रीमगनलाल देसाई) ... ७२८
१७—उत्तर भारतकी यात्रा ३३
१८—उत्तर भारतके तीर्थ ... ३३—१४७
१९—उपनिषदोंकी प्रेरणा [श्रीकाका कालेलकर महोदय] (अनु० श्रीगोपालदासजी नागर) ७९८
२०—उपनिषद्-सुधा-धारा (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार) ९७८
२१—एक योगीकी इच्छा-मृत्यु [सत्य घटना] (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ... ११५०
२२—एक वैज्ञानिकका ईश्वरमें विश्वास [सात कारण] (श्रीयुत ए० क्रेसी मारिसन, न्यूयार्क ऐकैडेमी आव साइंसके भूतपूर्व सभापति) १०५२
२३—और जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ८७५, ११९२, १३३४
२४—कर भला, हो भला, कर बुरा, हो बुरा (बहिन श्रीकृष्णा सहगल) ८२४, ८६९
२५—कल्याण ('शिव') ७०६, ७७०, ८३४, ८९८, ९६२, १०२६, १०९०, ११५४, १२१८, १२८२, १३४६
२६—'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क—भक्तिअङ्क १०८६
२७—कलियुगका प्रभाव (कुमारी रैहाना तैयबजी) १३३९
२८—'काटत बहुत बढ़े पुनि जिमि तीरथ कर पाप' (पण्डित श्रीरेवानन्दजी गौड़, आचार्य, साहित्यरत्न, एम्० ए०) ... ६४८
२९—कामके पत्र ... १००६, १०८०
३०—काममें लाने योग्य आवश्यक बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा उपदिष्ट) ८३५
३१—काया-तीर्थ [योगियोंके तीर्थ-स्थान] (पीर श्रीचन्द्रनाथजी 'सैन्धव') ... ६५५
३२—क्या अहिंसाके अवतार भगवान् बुद्धका अन्तिम भोजन शूकर-मांस था? (प्रो० श्रीललितमोहन कार, काव्यतीर्थ, एम्० ए०, बी० एल्० का एक पुराना लेख) ... १०२०
३३—गरीबी और बेकारी (श्रीमेघराज अग्रवाल, बी०, एस्-सी०, ए० एम्० आई० ई०) ... ८७३
३४—गायत्री-जपकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७७७
३५—गीताका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२१९, १२८३, १३४७
३६—गोहत्या तथा हिंसाको प्रोत्साहन क्यों? (लाला श्रीहरदेवसहायजी) १०१०
३७—घटनाओंसे आध्यात्मिक संकेत (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य) ९२८
३८—चित्त-निग्रह (स्व० श्रीमगनलाल देसाई) १३६७
३९—जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी चौरासी बैठकें (पं० श्रीकण्ठमणिजी शास्त्री, विशारद) ... ५६९

४०–जगद्गुरु शंकराचार्यका धर्म-घोष ... ७१९
४१–जङ्गम-तीर्थ ब्राह्मणोंकी लोकोत्तर महनीयता (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ... ६४०
४२–जनताके कल्याणार्थ स्वामी श्रीरामदेवजी महाराजके विचार (प्रेषक––श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल) ७२५
४३–(श्री)जानकी-जयन्ती (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ८०८
४४–जीवनका उद्देश्य––शान्ति (प्रो० श्रीप्रियदर्शन रामेश्वरम्) ८५०
४५–जीवन्मुक्ति (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ७७१
४६–जो नहीं था, वह मर गया (श्रीप्रतापसेठजी) १०५५
४७–ज्यौतिषद्वारा तीर्थ-प्राप्तियोग (ज्यौ० आयुर्वेदाचार्य पं० श्रीनिवासजी शास्त्री 'श्रीपति') ६५४
४८–तीर्थ और उनका महत्त्व (श्रीगुलाबचन्द्रजी जैन 'विशारद') ६३६
४९–तीर्थ और उनकी खोज ... ५९४
५०–तीर्थके पाप (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ... ६५०
५१–तीर्थ-तत्त्व-मीमांसा (पं०श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ६१२
५२–तीर्थ-यात्राका महत्त्व, यात्रा-साहित्य तथा उत्तरप्रदेश (डा० श्रीलक्ष्मीनारायणजी टंडन 'प्रेमी' एम्० ए०, साहित्यरत्न, एन० डी०) ६५७
५३–तीर्थ-श्राद्ध-विधि (पं०श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ६९४
५४–तीर्थाङ्कका शुद्धि-पत्र ८९५
५५–तीर्थोंका माहात्म्य (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्य-प्रेमी 'डाँगीजी') ६४२
५६–तीर्थोंकी महिमा, तीर्थ-सेवन-विधि, तीर्थ-सेवनका फल और विभिन्न तीर्थ (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) ... ६२७
५७–तीर्थोंकी महिमा, प्रयोजन और उत्पत्ति तथा तीर्थयात्राके पालनीय नियम (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ६०२
५८–तीर्थोंकी शास्त्रीय एकान्त लोकोत्तर विशेषता (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ... ६२२
५९–तीर्थोंमें कुछ सुधार आवश्यक हैं ... ५९८
६०–तृष्णा-तरुणी (पं० श्रीहरिशंकरजी शर्मा) .. १२०५
६१–दक्षिण भारतकी यात्रा ... ३०१
६२–दक्षिण भारतके तीर्थ ... ३०५–९६
६३–दक्षिण भारतके यात्री कृपया ध्यान दें (श्रीपिप्पलायन स्वामी) ... ४४४
६४–दादू-सम्प्रदायके पाँच तीर्थ-स्थान (श्री मङ्गलदासजी स्वामी) ... ५८६
६५–दिगम्बर-जैनतीर्थ क्षेत्र (श्रीकैलाशचन्द्रजी शास्त्री) ५३८
६६–दुग्धं गीतामृतं महत् (डा० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्०) ... ८८०
६७–देवताके नामपर पाप (स्वामी श्रीशङ्करानन्दजी) ९४०
६८–दोहावलीमें राजनीतिक ध्वनि (श्रीगङ्गाधरजी मिश्र शास्त्री) १२०७
६९–द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग (पं० श्रीदयाशङ्करजी दूबे एम्० ए०, श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०, श्रीपन्नालालसिंहजी, पं० श्रीरामचन्द्रजी शर्मा) ४६३
७०–ना जाने का रूपमें नारायण मिल जायँ (डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी) ... ८८७
७१–नाथ-सम्प्रदायके कुछ तीर्थ-स्थल (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्दोपाध्याय एम्० ए०) ... ५८०
७२–नारी और नौकरी (प्रो० श्रीरामनारायणजी सोनी, एम्० काम्०, एल्-ए० बी०) १४०४
७३–नास्तिकको भी समझो ! (श्रीकाका कालेलकर, अनुवादक––श्रीगोपालदासजी नागर) ... ९८१
७४–निम्बार्क-सम्प्रदायके तीर्थ-स्थल (पं० श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थ) ५५८
७५–निराशा (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ... ११९०
७६–निष्काम कर्म (स्व० श्रीपानुगंटि लक्ष्मी-नरसिंह राव) ८५२
७७–परम पुरुषार्थ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९०३
७८–परम सेवासे कल्याण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८४६
७९–परमात्मा श्रीकृष्णके द्वारा पूजिता अद्भुत तीर्थ गोमाता (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ... ६४७
८०–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ७४६, ९५८, १०१७, १०३१, ११२७, १२७८
८१–परमेश्वरका परिचय (पं० श्रीसीतारामजी झा) ७६३
८२–पश्चिम भारतकी यात्रा ... ३९७
८३–पश्चिम भारतके तीर्थ ... ३९७–४४४
८४–पांडु जौहरी (श्रीरमणलाल सोनी, अनुवादक––श्रीजयशङ्कर पंड्या) ... १११६
८५–पागलकी झोली [रामनामदातव्य औषधालय] (श्रीमत्सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ७९३, १०७६
८६–पुण्य-पापसे सुख-दुःख कैसे मिलता है ? (श्री-नन्दकिशोरजी मोरपंखवाले) ... ९४२
८७–पुष्टि-मार्गका केन्द्र––श्रीनाथद्वारा (पं० श्री-कण्ठमणिजी शास्त्री, विशारद) ... ५६५
८८–पूर्व भारतकी यात्रा १४८

८९–पूर्व भारतके तीर्थ ... १४८–२०५
९०–प्रार्थनामय जीवन (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ११७०, १२५८, १३१५, १३७५
९१–प्रीतिका सदुपयोग (साधुवेषमें एक पथिक) १३०५
९२–फिल्मोर और उनकी साधना ... ८५५
९३–बालकोंके लिये कर्तव्य तथा ईश्वर और परलोकको माननेसे लाभ एवं न माननेसे हानि (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ७१२
९४–बुद्धिके साथ-साथ हृदयको विशाल बनाओ (संत विनोबाके एक भाषणका कुछ अंश) (प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी) ... १३०२
९५–भक्त चतुर्भुजदास (पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी० ए०, साहित्यरत्न) ... ८९२
९६–भक्त-जीवनका एक स्मरणीय प्रसङ्ग (विद्वान् श्रीयुत के० नारायणन्) ... १०६५
९७–भक्त प्रेमनाथजी हकीम (प्रे० स्व० श्रीशिवकुमारजी केडिया) ... १३९४
९८–भक्त मुत्तुस्वामी दीक्षितर् (विद्वान्, श्रीयुत के० नारायणन्) ७४०
९९–श्रीभगवन्नाम-जप १३४२
१००–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना—(चिम्मनलाल गोस्वामी) ... १२७९
१०१–भगवान्‌की लगन (डॉ० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ... ११०७
१०२–भगवान्‌की सोलह कलाएँ (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १०१४
१०३–भगवान्‌के साथ सम्बन्ध-स्थापना (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०) ... ७५२
१०४–भगवान् श्रीकृष्णका गोपालन (सेठ श्रीगोविन्ददासजी) १३१२
१०५–भगवान् श्रीकृष्ण षोडश-कलापूर्ण (श्रीसुतीक्ष्णमुनिजी) १४०६
१०६–भगवान् श्रीरामकी तीर्थयात्रा (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ६७६
१०७–भवभूतिका रामचरित्र-चित्रण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ७४१
१०८–भारतका परमहित (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७३८
१०९–भाव-जागरण (श्रीयोगराजजी थानी) ... १०८४
११०–भूमाका तत्त्व (डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १३०८
१११–भूल-भूलैयाँ (श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि') ९०२
११२–भूल-सुधार ९५४
११३–मध्य-भारतकी यात्रा २०६
११४–मध्य-भारतके तीर्थ ... २०७–३००
११५–मनका दृढ़ आधार (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य) ... १०५०
११६–मनुष्यत्वको जीवित रखनेका उपाय—अर्थ-शौच (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११८६
११७–मनुष्य-जीवन और उसका उद्देश्य (ब्रह्मचारी श्रीअद्वयचैतन्यजी) ... १३९७
११८–मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य [तीर्थ-यात्राके समय जूनागढ़में श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण] (प्रेषक–श्रीसन्मुखराय एस० वसावडा) ७५७
११९–महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर) ... ८१३
१२०–श्रीमन्महाप्रभु कृष्णचैतन्यदेवप्रदर्शित तीर्थ-महिमा (आचार्य श्रीकृष्णचैतन्यजी गोस्वामी) ६४३
१२१–महामना भरतकी कनक-परीक्षा (पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र) ... ७४४
१२२–मानव-समाज और तीर्थ-यात्रा (स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक) ... ६११
१२३–मानस-माधुरी (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) १२७३
१२४–मानसमें तीर्थ (श्रीघासीरामजी भावसार 'विशारद') ६५१
१२५–मुक्ति (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ७०७
१२६–मृत्यु-काव्य (श्रीसानेगुरुजी, अनु०—श्रीयुत बी० सी० चौहान और श्रीभास्कर चौधरी) ९५५
१२७–मृत्युका सौन्दर्य (प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०) ९८२
१२८–मैं कौन हूँ ? (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ७५४
१२९–राजनीति, धर्म और तीर्थ ... ६७३
१३०–(श्री) राधाके श्रीचरणोंमें नमस्कार (हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण) १३२४
१३१–(श्री) रामका नखशिख (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र) ९१५
१३२–(श्री) रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी) १०५७
१३३–(श्री) राम-दर्शन (पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) १२४०
१३४–राम-श्यामकी झाँकी (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी) ८१८, ८६३, ९४७, ९९०, १०६६, ११३५, ११९८, १३८२
१३५–(श्री) रामानुज-सम्प्रदायके पीठ—एक अध्ययन (आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ५५१

१३६–रूप-तत्त्व (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०) ८५८
१३७–लोकप्रियता (श्रीहरिभगवानजी एम्० एस्-सी०, विज्ञानरत्न) ८८९
१३८–वर्तमान बुरी स्थिति और उसे दूर करनेके लिये धार्मिक शिक्षा आवश्यक (चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचार्यजीके दीक्षान्त-भाषणसे) ... ७२२
१३९–वल्लभ-सम्प्रदायके सात प्रधान उपपीठ (श्रीरामलालजी श्रीवास्तवा, बी० ए०) ... ५६८
१४०–वास्तविक स्वराज्य क्या है ? (श्रीविनोबा भावे) ११८३
१४१–विदेशोंके सम्मान्य मन्दिर ... ४४६
१४२–विद्यार्थी बन्धुओंसे (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ११७४
१४३–विशेष मूर्तियाँ और तीर्थ (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ६८०
१४४–विश्व-मोहिनी [पुराण-कथा] (श्रीकरसनदास माणेक–अनु० श्रीशान्ति आँकड़ियाकर) ९३०
१४५–विश्वशान्तिका अमोघ उपाय (लाला श्रीहरदेवसहायजी) १३८९
१४६–विष्णु और लक्ष्मीकी एकरूपता (संत विनोबा) १०७९
१४७–(श्री) विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय और व्रजमण्डल (आचार्य श्रीछबीलेवल्लभजी गोस्वामी शास्त्री, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार) ... ५४८
१४८–वेदोंमें तीर्थ-महिमा (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ... ६२०
१४९–'व्रजभूमि मोहनी मैं जानी' (श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी० ए०) ६९०
१५०–शक्तिपीठ-रहस्य (पूज्य अनन्त श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज) ५२२
१५१–शब्दकी महिमा (श्रीविनोबा, प्रे०—श्रीदुर्गाप्रसादजी) १३७१
१५२–श्रीशिवकी अष्ट मूर्तियाँ (श्रीपन्नालालसिंहजी) ४८०
१५३–शुभचिन्तनका प्रभाव (स्वामी पारसनाथजी) ८०४
१५४–श्रद्धाकी जीत ['जनकल्याण'के सांनिध्यसे] (अनुवादक—श्रीजयशङ्करजी पंड्या) ... ९३८
१५५–श्रीकृष्णका प्राकट्य (श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) १२४५
१५६–श्रीमद्भागवतमें पुरुषार्थ-समन्वय (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ... ९२२
१५७–श्वेताम्बर-जैनतीर्थ (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ५४२
१५८–संघर्षमें सहिष्णुता (श्रीभगवानदासजी झा एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ... ११८०
१५९–संत-असंत (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०) ९७२
१६०–संयम साधे सब दुख जाय (जैनाचार्य श्रीमद्विजयतीर्थेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज) ... ७३३
१६१–संसारकी प्रतीति (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ९६३
१६२–संसार-बन्धन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ८९९
१६३–संसार मनोमात्र है (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) १०९१
१६४–संसारमें सार क्या है ? (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) १०२७
१६५–सघोष रामनाम-जपसे लाभ (महात्मा श्रीगोपीनाथजी परमहंस [शिष्य श्रीअवधविहारीदासजी नागाबाबा] की कृपासे प्राप्त) ९४१
१६६–सत्सङ्ग (स्व० श्रीमगनलालजी देसाई) ८४२
१६७–सत्सङ्ग-सुधा ७७९, ८३६, ९०७, ९९७, १०३९, ११०१, ११५८, १२३०, १२९३, १३५९
१६८–सद्गुणोंके उत्सवमें (श्रीमाँ) [अनु० श्रीश्यामसुन्दर झुनझुनवाला] ... ७२७
१६९–सनातनधर्मके आधारभूत नियम (श्रीसुषमा शास्त्री) १२०६
१७०–सनातनधर्मनियमाः (कश्चन सनातनधर्मा) १२१५
१७१–समयका सदुपयोग कीजिये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२५५
१७२–समाजका मेरुदण्ड—गृहस्थ-आश्रम (डा० श्रीरामानन्दजी तिवारी एम्० ए०, डी० फिल्०) १२०९
१७३–समाजमें विवाह-विभ्राट् (स्वामी श्रीपारसनाथजी) १०७३
१७४–सम्पादककी क्षमा-प्रार्थना ... ७०३
१७५–सर्वश्रेष्ठ तीर्थ (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी) ६२४
१७६–सर्वात्मभावकी साधना (श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, (विद्यावारिधि) १३७९
१७७–सर्वोपयोगी सार-सार बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर) १०९७
१७८–साधनकी सफलता (साधुवेषमें एक पथिक) १०४८
१७९–साधन-भूमि (साधुवेषमें एक पथिक) ... ७९१
१८०–साधनाका मूल्य ? (पं० श्रीविष्णुदेवजी) ... ७३४
१८१–सारा कार्य भगवान्का (श्रीकाक कालेलकर, अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर) ... १३०७
१८२–सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ? (एक यात्री) १४०७
१८३–सुराज्य (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र) ११०९
१८४–स्मृति-चित्र ['अमृत-पुत्र'] (श्रीमदन) ७६४
१८५–स्वतन्त्र भारतके दो आवश्यक कर्तव्य—शिक्षण-क्रान्ति और अपराधी-सुधार (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ९४३
१८६–स्वर्ग-नरक क्या हैं ? [अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकार्तिकेयजी महाराजके सत्सङ्गसे] (प्रेषक—श्रीशानानन्दजी) ... ७८८

८७–(श्री) स्वामिनारायण-सम्प्रदायके प्रमुख तीर्थ (पं० श्रीईश्वरलालजी लाभशङ्करजी पंड्या बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ५८९
१८८–हिंदू-गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी. एच्० डी०) १२६२
१८९–हिंदू-देवताओंके विचित्र वाहन, वेश और चरित्र (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी० एच्० डी०, ... १३२०
१९०–हिंदू-संस्कृतिका मातृवाद (श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री) १०८२
१९१–हीरे-मोती किस कामके ? (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ९८४
१९२–हृदयके उत्तम भावोंसे परम लाभ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ९६७

कहानी

१–कामनापूर्तिसे सुखकी इच्छा ही दुःख है (श्री'चक्र') १४००
२–कृष्णदीवानी ताज (श्रीसुनीता अग्रवाल) ... ११४२
३–दरिद्र कौन ? जिसको संतोष न हो (श्री'चक्र') ९३५
४–मूर्खता (श्री'चक्र') १०६१
५–शरीर अनित्य है (,, ,,) १२६५
६–शरीर ही मनुष्यका गृह है (,, ,,) ११२४
७–सर्वश्रेष्ठ दान (,, ,,) ११९४
८–'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य' (,, ,,) ८८४
९–स्वभावविजयः शौर्यम् (,, ,,) ९८६

संकलित गद्य

१–अमृत-प्राप्तिका उपाय एवं फल ... ९८०
२–अष्टोत्तरशत दिव्य विष्णुस्थान ... ४८६
३–अष्टोत्तरशत दिव्य शक्ति-स्थान ... ५१३
४–अष्टोत्तरशत दिव्य शिव-क्षेत्र ... ४५०
५–इक्यावन शक्तिपीठ ... ५१५
६–इक्यावन सिद्धक्षेत्र ५२८
७–इन्द्रिय-निग्रहका महत्त्व ९८९
८–(श्री) गणपतिपूजनविधि ... ७
९–चतुर्दश प्रयाग ५३१
१०–चार धाम ५२८
११–छः तीर्थ ३२
१२–जगद्गुरु शङ्कराचार्यके पीठ और उपपीठ ५४७
१३–तीर्थका फल किसको मिलता है और किसको नहीं मिलता ? ... ३१
१४–तीर्थमें क्यों जाना चाहिये ? (पद्मपुराण पातालखण्ड) २८
१५–तीर्थमें जाकर ६९३
१६–तीर्थ-यात्रा किसलिये ? तीर्थयात्रामें पाप-पुण्य ! ५९७
१७–तीर्थ-यात्राकी शास्त्रीय विधि (पद्मपुराण पातालखण्ड) २९
१८–तीर्थ-यात्रा कैसे करनी चाहिये ? (स्कन्द-पुराण, काशीखण्ड) ... ६०९
१९–तीर्थ-यात्रामें क्या करें ? ... ६९३
२०–तीर्थ-यात्रामें कर्तव्य ६३५
२१–तीर्थ-यात्रामें कर्तव्य, तीर्थ-यात्रामें छोड़नेकी चीजें ६१०
२२–दस अवतारोंकी जयन्ती-तिथियाँ ... ७०३
२३–दस महाविद्याओंकी जयन्ती-तिथियाँ ... ७०३
२४–(श्री) दुर्गा-पूजनविधि २०
२५–दो सौ चौहत्तर पवित्र शैव-स्थल ... ४५२
२६–नौ अरण्य ५३१
२७–पञ्च काशी ५३१
२८–पञ्च केदार ५३०
२९–पञ्च नाथ ५३१
३०–पञ्च सरोवर ५३१
३१–पाप करनेके लिये तीर्थमें नहीं जाना चाहिये (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड) ... ६१०
३२–पुण्यात्मा कौन है ? ८०७
३३–प्रधान बौद्ध-तीर्थ ५४६
३४–प्रसिद्ध शिवलिङ्ग ४८६
३५–भगवन्नाम सर्वोपरि तीर्थ (स्कन्द० काशी०) ... ६६८
३६–भगवान्‌की लीला-कथा—महान् तीर्थ ... ५९३
३७–भारतकी प्रधान गुफाएँ ... ५३६
३८–भारतके बारह प्रधान देवी-विग्रह और उनके स्थान ५२७
३९–भारतवर्षके मेले ५३३
४०–(श्री) मध्वगौड़-सम्प्रदायके तीर्थ ... ५७७
४१–मानस-तीर्थका महत्त्व (स्कन्दपुराण-काशीखण्ड) ३०
४२–मुख्य जल-प्रपात ५३५
४३–मोक्षदायिनी सप्तपुरियाँ ... ५२९
४४–(श्री) शालग्राम या विष्णु भगवान्‌का पूजन ... १४
४५–(श्री) शिव-पूजन-विधि ... १०
४६–श्राद्धके लिये प्रधान तीर्थ-स्थान ... ५३२
४७–सप्तक्षेत्र ५३१
४८–सप्त गङ्गा ५३१
४९–सप्त पुण्यनदियाँ ५३१
५०–सप्त बदरी ५३०
५१–सप्त सरस्वती ५३१
५२–समझने, याद रखने और बरतनेकी चोखी बात ६०१
५३–(श्री) सूर्य-पूजन-विधि ... १९
५४–स्वास्थ्यप्रद, ऊँचे शिखरवाले तथा तीर्थ-माहात्म्ययुक्त पर्वतादि स्थान ... ५३७

पद्य

१–क्रन्दनका अविरल संसार (श्रीब्रह्मानन्द 'बन्धु') १४०३
२–घरघाला बाँसुरी (निधिनेह) ... ११०८
३–चढ़नेवालोंको शाबास! (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ९२१
४–जनक-दुलारी ! (डा० श्रीरामकुमारजी वर्मा एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ८६२
५–जपत न काहे राम-नाम (स्व० जनार्दन झा, 'जनसीदन') १३०६
६–देवपूजा और भगवत्पूजाका फल (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ७०५
७–(श्री) द्वारकानाथकी वन्दना (,,) १
८–पुण्यमय तीर्थोंका संचार (पं० श्रीलम्बोदर-जी झा, बी० ए०) ६२६
९–प्रभु-प्रार्थना (श्रीहरिशङ्करजी शर्मा) ... १२७२
१०–बदरिकाश्रम-तीर्थ (पं० श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र') ६९२
११–'बस, इतनी-सी चाह' (श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-ला, विद्यावारिधि) १०६४
१२–भजनकी महत्ता, सकाम यज्ञसे नश्वर स्वर्गकी प्राप्ति (पाण्डेय श्रीरामनारायण-दत्तजी शास्त्री 'राम') ... ८३३
१३–भेंट [गद्यगीत] (श्रीदिनेशनन्दिनी डालमिया) ११५२
१४–विविध परमतीर्थ (श्रीब्रह्मानन्द 'बन्धु') ६३८
१५–'वे प्रदेश तीरथ कहलाते' (साहित्याचार्य पं० श्रीश्यामसुन्दरजी चतुर्वेदी) ... ५५०
१६–श्रीकृष्णको प्रबोध (पं० श्रीसर्वेन्द्रजी झा) १२०४

संकलित पद्य

१–अकथ महिमा ... १२६१
२–अद्वैत ... ५८८
३–आशा ... ११४९
४–ऋक्षराजद्वारा मणियुक्त कन्या-अर्पण (श्रीमद्भागवतके प्राचीन पद्यानुवादसे) ... १०८९
५–कृष्णावतारके विविध हेतु ७२६
६–क्रोधकी निन्दा ... ११८२
७–खोपरी परी रही ... ११११५
८–गङ्गाके द्वादशनाम तथा उनकी महिमा ... ६९७
९–गङ्गाष्टकम् ... ६९८
१०–गङ्गा-स्तुति (तुलसीदासजी) ६५३
११–(श्री) गणेशप्रातः स्मरणस्तोत्रम् ... ४
१२–(श्री) चण्डीप्रातः-स्मरणस्तोत्रम् ... ५
१३–चेतावनी ('किसोर') ११२६
१४–जगत्का धोखा ... ९६६
१५–(श्री) जगन्नाथाष्टकम् ... ७०१
१६–जीवन-जंजाल ... ९८३
१७–जीवनमें उतारनेके लिये ७२४
१८–तमासे चार दिनके (श्रीबेनी कवि) ... १२२९
१९–श्रीत्रिवेण्यष्टकम् ... ६९९
२०–दशमहाविद्यास्तोत्रम् ६९६
२१–दशावतारस्तोत्रम् ... ६९६
२२–दान-लीला (श्रीसूर-दासजी) ... १०७२
२३–नन्दनन्दन-चरण ... ७९०
२४–नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र-का मनोहर ध्यान ... २५
२५–नर्मदास्तोत्रम् ... ७००
२६–नवग्रहस्तोत्रम् ... ७०२
२७–नश्वर जगत् ... १०२४
२८–(श्री)पाण्डुरङ्गाष्टकम् ... ७०१
२९–पीतपट मैं लिपटिगौ ... १३७६
३०–प्यारेसे मनकी बात १०८५
३१–(श्री)प्रयागाष्टकम् ... ७००
३२–प्रार्थना ... ७१८
३३–प्रार्थना ... ८९१
३४–प्रार्थना ... ९२७
३५–'प्रिया-प्रसाद' (महाकवि घनानन्द) ... १२१३
३६–प्रेमकी प्रभुता ... ११९७
३७–बलराम-कन्हैयाकी बालक्रीड़ा (श्रीसूरदासजी) ... १२८१
३८–बालक्रीडा ... ८९७
३९–बाल-माधुरी ... १०२५
४०–ब्रह्मप्रातःस्मरणस्तोत्रम् ६
४१–भक्तका व्यङ्ग्य वचन १०१९
४२–(श्री)भगवत्प्रातःस्मरण-स्तोत्रम् ... ६
४३–भगवान् श्रीरामका देवर्षिको उपदेश ... १३४५
४४–भगवान् श्रीरामका मनोहर ध्यान ... २५
४५–भगवान् श्रीविष्णुका मनोहर ध्यान ... २४
४६–भगवान् श्रीशिवका मनोहर ध्यान ... २४
४७–भरतका आदर्श ... ७४५
४८–भारी भूल ... ११८५
४९–'मनको उपदेश' ... ७५६
५०–मनको उपदेश ... १३१९
५१–मनको प्रबोध ... ८११
५२–मन-मन्दिरमें सियाराम (स्व० लाला श्रीभगवान-दीनजी) ... ७२१
५३–मीनाक्षीपञ्चरत्नम् ... ७०२
५४–मुख देखन कौं आई (श्रीपरमानन्ददासजी) ११५३
५५–(श्री) यमुनाष्टकम् ... ६९९
५६–रसनाको उपदेश (श्रीतुलसीदासजी) ... ६७२
५७–(श्री) राधाजीकी वन्दना ९६१
५८–(श्री) राधाकृष्णका अलौकिक विहार ... १०४७
५९–(श्री) राधा-गोपाल-वन्दना ७६९
६०–(श्री) राधिका-ध्यान-प्रणाम ६९८
६१–(श्री) रामचरणानुराग ११८९
६२–(श्री) रामप्रातःस्मरणस्तोत्रम् ६
६३–रुक्मिणीका श्रीकृष्णको संदेश (श्रीसूरदासजी) १२१७
६४–लक्ष्मीके द्वादशनाम तथा नमस्कार ... ६९७

६५—लालकी अलकैं ... १३५८
६६—वंशीका विलक्षण प्रेम ८३५
६७—वनसे आवनी ... १३०४
६८—वन्दना ... ९०६
६९—(श्री)विश्वनाथ-नगरी (काशी)-स्तोत्रम् ... ७००
७०—विषयोंमें सुख नहीं ... ७८७
७१—विष्णुके एकादशनाम तथा प्रार्थना ... ६९७
७२—(श्री)विष्णुप्रातःस्मरण-स्तोत्रम् ... ५
७३—वृन्दावनकी चाह ... ५७९
७४—(श्री) वृन्दावनस्तोत्रम् ... ७०१
७५—व्रजका सुख (श्रीसूर-दासजी) ... २७
७६—व्रजकी स्मृति (श्रीसूर-दासजी) ... ६४६
७७—(श्री)शिवप्रातःस्मरणस्तोत्रम् ४
७८—शिवाराधन ही परम सिद्धि है ७९२
७९—श्यामका आठों याम मनमें निवास ... १२४४
८०—सखाओंके साथ खेल १३८८
८१—सच्चा सुजान कौन है ? १३४१
८२—सरस्वतीके द्वादश नाम तथा नमस्कार ... ६९७
८३—सर्वोपयोगी प्रातःस्मरण ३
८४—(श्री)सीता-ध्यान-प्रणाम ६९८
८५—सुतीर्थरूप माता-पिता ६१९
८६—(श्री)सूर्यप्रातःस्मरणस्तोत्रम् ५
८७—(श्री)हनुमत्प्रार्थना ... ६९८

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

१—आञ्जनेय (दास हनुमान्), शुचीन्द्रम् ... ३९४
२—ऋक्षराजका कन्यादान ... १०८९
३—कोदण्डराम स्वामी, मदुरान्तकम् ... २५९
४—गोदाम्बा और श्रीरंगमन्नार, श्रीविल्लिपुत्तूर ... ४९०
५—चारभुजाजी, मेवाड़ ... २९६
६—देवताओंकी पूजासे देवताओंमें श्रद्धा ... ७०५
७—देवर्षिकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट १३४५
८—देवी श्रीकन्याकुमारी ... ४५२
९—द्वारकाधीशजी, काँकरोली २९६
१०—नन्द-मन्दिर (नन्दगाँव) के श्रीविग्रह ... ९५
११—पद्मावती देवी (तिरुचानूर) ३४८
१२—पार्षद-सहित भगवान् श्रीबदरीनारायणजी ... ४८
१३—बलभद्रजी, श्रीसुभद्राजी, श्रीजगन्नाथजी ... १९७
१४—बालक राम ... १०२५
१५—भगवती श्रीमीनाक्षी देवी ३७४
१६—भगवान् दक्षिणामूर्ति, आवूर ६५४
१७—भगवान् दक्षिणा-मूर्ति, मायूरम् ... ६५४
१८—भगवान् बुद्ध ... ५४६
१९—भगवान् महावीर ... ५४६
२०—भगवान् श्रीएकलिङ्गजी, उदयपुर ... २१५
२१—भगवान् श्रीगणेशजी, उज्जैन ... २१५
२२—भगवान् श्रीचेन्नकेशव, बेलूर ३१४
२३—भगवान् श्रीद्वारकानाथ-जी, द्वारका (शृंगारयुक्त श्रीविग्रह) ... १
२४—भगवान् श्रीनटराज, (चिदम्बरम्) ... ४५२
२५—भगवान् श्रीनाथजी, नाथद्वारा ... २९६
२६—भगवान् श्रीरङ्गनाथजी, श्रीरङ्गम् ... ४९०
२७—भगवान् श्रीरामेश्वर ... ३७४
२८—भगवान् सुब्रह्मण्य, तिरुचेन्दूर ... २१५
२९—भगवान् सूर्यनारायण, आरसाविल्ली ... ३९४
३०—महिषमर्दिनी देवी, बेलूर ३१४
३१—माता-पुत्र ... ८९७
३२—मुख-दर्शन-लालसा ... ११५३
३३—यमुनाजी ... २९६
३४—युगल-छटा ... ७६९
३५—रणछोड़रायजी, डाकोर २९६
३६—राम-श्यामका खेल ... १२८१
३७—वरदराज भगवान्, विष्णुकाञ्ची ... ६०४
३८—वामन-भगवान् (त्रिविक्रम), शिवकाञ्ची ... ६०४
३९—विट्ठल भगवान्, पण्ढरपुर २५९
४०—विश्वनाथ-मन्दिरके शिखर, काशी तीर्थाङ्कका भीतरी मुखपृष्ठ
४१—वेङ्कटेश-भगवान्, तिरुमलै ३४८
४२—श्रीकृष्णको पत्रदान ... १२१७
४३—श्रीवृन्दावनेश्वरी ... ९६१
४४—सकाम यज्ञोंका फल—स्वर्ग-सुख ... ८३३
४५—सीतारामके विग्रह, कनक-भवन (अयोध्या) ... १४३

दुरंगा चित्र

१—भगवान्‌के विविध रूप, चार धाम तथा काशीपुरी तीर्थाङ्कका मुखपृष्ठ

रेखा-चित्र

१—तीर्थकी ओर ... १

मानचित्र

१—उत्तर-भारत (रेलवे-मान-चित्र) ... ६१
२—उत्तराखण्ड-कैलास ... ३४
३—दक्षिण-भारत (रेलवे-मार्ग) ३०१
४—पश्चिम-भारत (,,) ३९७
५—पूर्व-भारत (,,) १४८
६—भारतवर्षके प्रधान तीर्थों-का मानचित्र ... ४४८
७—भारतवर्षके प्रधान शक्ति-पीठ ५१७
८—मध्य-भारत (रेलवे-मार्ग) २०६

सादे चित्र

१—५३२। सूची तीर्थाङ्कमें देखनी चाहिये। बहुत लंबी तथा केवल तीर्थाङ्क-से सम्बन्धित होनेके कारण उसे यहाँ नहीं दिया गया है।

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करो।'

(गीता १८। ६६)

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ल ११, मङ्गलवार, दिनाङ्क [illegible] दिसंबर १९५७ ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्री[illegible]जीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बनाना चाहिये। पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्व-पर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि।

(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।

(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा।

(७) जहाँ कोई अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा।

(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

श्रीभगवन्नाम-प्रेमियोंसे प्रार्थना

विश्वके वर्तमान विषाक्त वातावरणमें भगवन्नाम ही हमें सुख-शान्तिका सुधा-बिन्दु प्रदान करनेमें समर्थ है। इसी कारण 'कल्याण'के इस वर्षके दसवें अङ्कमें प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे कार्तिक-पूर्णिमासे सोलह नामोंके मन्त्रका अधिक-से-अधिक जप करनेकी प्रार्थना की गयी थी। निश्चय ही नाम-प्रेमी भाई-बहिनोंने नियमितरूपसे जप करना आरम्भ कर दिया होगा। जिन महानुभावोंने अबतक जप प्रारम्भ न किया हो, उनसे सविनय निवेदन है कि वे इस प्रार्थनाको पढ़ लेनेके अनन्तर नामजप अवश्य प्रारम्भ कर दें और कार्तिक-पूर्णिमाके जितने दिन पश्चात् जप आरम्भ किया जाय, उतने दिनोंकी कमी अपने नियमित जपसे कुछ अधिक करके पूरा कर लें।

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

(सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य, ज्यौतिषतीर्थ पं० श्रीसीतारामजी झा, काशी)

आकार २४×३०=आठपेजी, सफेद ग्लेज २८ पौंडका कागज, पृष्ठ-संख्या ६४, गीन आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर टाइटल, मूल्य ।≡), डाकखर्च अलग।

इसके पचास हजार प्रतियोंके दो संस्करण प्रायः समाप्त हो चुके हैं। अब पंद्रह हजार प्रतियोंका तीसरा संस्करण छापा गया है। जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र ले लेनेकी कृपा करेंगे, जिससे गतवर्षकी तरह निराश न होना पड़े।

यहाँ आर्डर देनेसे पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंसे माँगना चाहिये। थोक-विक्रेताओंको १००० प्रतियाँ एक साथ लेनेपर ४०) सैकड़ेके हिसाबसे मिलेगा।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५८ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया जिल्द ॥।)

७०,००० प्रतियोंका प्रथम संस्करण हाथोंहाथ बिक गया, इसलिये १५,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है। विशेषाङ्क आदिके कामके कारण तीसरा संस्करण छापनेका विचार नहीं है; अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र ले लेनेकी कृपा करें। गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। सभी पुस्तकें अपने शहरके विक्रेताओंसे लेनेपर समय और पैसेकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७५

श्रीहरिः

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१—इस अङ्कके साथ 'कल्याण'का इकत[illegible] वर्ष पूरा हो रहा है। यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षक अन्तिम संख्या है। इस संख्याके साथ इस वर्ष[illegible]ल्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद बत्तीसवें वर्षक प्रथम अङ्क भक्ति-अङ्क (विशेषाङ्क) के रूपमें नि[illegible]गा। इसकी सूचना पिछले अङ्कोंमें दी जा चुकी है सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क अतिशय रोचक, आकर्षक, ज्ञानप्रद एवं स्फूर्तिदायक होगा। और यह सभी श्रेणी के नर-नारियोंके लिये अतिशय उपयोगी एवं स्थायीरूपसे संग्रहणीय सिद्ध होगा।

२—इस अङ्कमें लगभग ७०० सौ पृष्ठ होंगे। और बहुरंगे तथा एकरंगे आर्टपेपरपर छपे हु अनेक सुन्दर चित्र रहेंगे।

३—इस अङ्कका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक तथा इसके द्वारा निश्चितरूपसे लाभ होना सम्भव है अतएव जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवत यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये जिन्होंने अबतक चंदा नहीं भेजा है, वे ७॥) तुरंत भेजक ग्राहक बन जानेकी कृपा करें।

रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' लिखना न भूलें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें और, जहाँतक हो सके, प्रत्येक पुराने ग्राहक प्रयत्न करके दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुप भिजवानेका प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवा[illegible] जल्दी करनी चाहिये।

४—ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जायगा। इससे विशेषाङ्क [illegible] नंबरोंसे चला जायगा और पुराने नंबरसे वी० पी० द्वारा अङ्क दुबारा जायगा। ऐसा भी सम्भव है उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करके नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पत साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें।

५—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखक सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही कल्याण-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

६—गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-वि[illegible]ग' 'कल्याण'से सर्वथा अलग हैं। अत 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारत आर्डर भी 'मैनेजर, गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर, महाभारत-विभाग, गीताप्रेस'के नामसे अलग भेजें।

७—जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८॥।) भेजें। परंतु य ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी दे होना सम्भव है।

८—किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्कमें ही वर्षका चंदा समाप्त हु समझना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका ही मूल्य ७॥) है।

९—भक्ति-अङ्कको समयपर निकालनेकी चेष्टा अपनी ओरसे पूरी हो रही है। फिर भी श्रीहनुमान प्रसादजीके अस्वस्थ एवं बाहर होनेके कारण अनिवार्यरूपसे कुछ विलम्ब होनेकी सम्भावना है। ऐस स्थितिमें अङ्क कदाचित् जनवरीके मध्यतक प्रकाशित हो सकेगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, (गोरखपुर